

विषय-सूची

	पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या
१-एक प्रार्थना	...	४	१२-परमारथा और जीवारथा (श्रीआनन्दशक्ति बापूमाई भ्रुव, एम० ए०, ग्रो-वाइस- चैन्सलर हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी) ... ५०
२-ईश-स्तवन (आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी हिवेदी)	...	१	१३-धर्मिक इहश्यवादकी श्रेणियाँ (ग्रो० श्रीराधारभूत मुक्तजी एम० ए०, पी-एच० डी०, कल्यान-डॉ-विश्वविद्यालय) ... ५१
३-ईश्वरविषयक दर्पदेश [एक जिज्ञासुके साथ श्रीउद्दियावाचालीका ईश्वरविषयक सम्मानय]	३	१४-एकेश्वरवाद और विद्व-विज्ञु (पं० श्रीमदानी- शंकरजी महाराज) ... ६५	
४-तत्त्व-ईश्य-मीमांसा (श्रीगोवर्धनरीढावीश्वर श्रीजगदगुरु श्री ११०८ श्रीशंकराचार्य श्रीभारती- कृष्ण तीर्थ स्वामीजी महाराज) ... ८	...	१५-ईश्वर-निरूपण (परिषद्सदर श्रीवाल्कृष्णजी शमां) ८८	
५-ईश्वर-सिद्धि (श्रीकाञ्जी-प्रतिवादि-भवंकर- भट्टाचार्य जगदगुरु श्रीशंकराचार्यमानुज- मयप्रदायाचार्य श्री ११०८ श्रीमन्नन्ताचार्य स्वामीजी महाराज) ... ११	...	१६-प्राचीन धर्म और आधुनिक मन (सापु श्री टी० एल० वास्तानीजी) ... ७३	
६-ईश्वर-तत्त्व (श्रीमन्मात्रसम्प्रदायाचार्य दाश्विनेश-सार्वभौम, साहित्य-दर्शनानायाचार्य, तर्कवेद, स्यावरक गोव्याजी श्रीदामोदरजी शास्त्री) ... १५	...	१७-ईश्वर-प्रसंग (पं० श्रीविजुशेश्वर भट्टाचार्य एम० ए०, प्रिसिपक विष्वभारती, शान्ति- निकेतन) ... ७७	
७-ईश्वरमें विष्वास (पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिसिपल गवर्नर्मेयट-संस्कृत- कालेज, काशी) ... १७	...	१८-आग्रवास-सिद्धान्त (श्रीकृष्णप्रेमजी भिलारी) ८१	
८-जगातमें सबसे उत्तम और अवश्य आनन्देयोग्य कौन है ? ईश्वर (महामना पं० श्रीमदन- मोहनजी मालवीय) ... ३२	...	१९-ईश्वर क्यों और कौन ? (डा० श्रीभगवानदासजी एम० ए०, डो० लिट०, काशी) ... ९०	
९-ईश्वर-महिमा (श्रीजगदगुरु गोव्यमका) ... ४४	...	२०-ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है (स्वामीजी श्रीभोलेश्वराजी) ... ६२	
(१) ईश्वर क्षेत्रना वहीं भ्रुव सत्य है ! (२) ईश्वरके दरष्टविषयमें भी दद्या है ! (३) ईश्वर-येम ही विष्वप्रेम है !	...	२१-ईश्वर-चर्चा ('शिव') ... १०२	
१०-ईश्वर और उसकी प्राप्ति (श्रीआनन्दस्वरूपजी [साहेबजी महाराज] दयाकराग) ... ५४	...	२२-ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण (ग्रो० श्रीफिरोज कावसजी दावर एम० ए०, एल-एल० बी०) ११२	
११-ईश्वर (महामहोवाचार्य डा० श्रीगोपीनाथजी ज्ञा एम० ए०, डी० लिट०, वाइस-चैम्सकर इकाहावाद-विश्वविद्यालय) ... ५६	...	२३-ईश्वर और महेश्वर (श्रीयुत ईरेन्द्रनाथ दस एम० ए०, बी० एल०, वेदांतरब) ... १२३	
	...	२४-पार्थिववादकी भयानकता (चौधरी श्रीरमेश्वन्दन- प्रसादसिंहजी) ... १२७	
	...	२५-श्रीभगवान् और उनकी प्राप्तिके उपाय (पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ साम्याक) ... १३१	



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server

२७-श्रीभगवद्-रहस्य (रायबहादुर गजा श्रीदुर्जन-सिंहजी, जावडी) १४१	४५-प्रचलित नामितकताका विस्तार (चतुर्वेदी पं० श्राद्धारकाप्रसादजी शामो) २४६
२८-ईश्वर तर्कसिद्ध है (आचार्यमन्त्र पं० श्रीविष्णु वासन बोपट शास्त्री) १५१	४६-द्वैष्टर-प्रथमतामें सब आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं (डा० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर, सम्पादक 'कल्पवृक्ष') २४४
२९-क्या ईश्वर तर्कमें सिद्ध हो सकता है ? (श्रीयुत बकटाचलमर्तिजी पुस्तक पं०) १५६	४७-आमाके स्थवरधर्म में ग्राम्य और पाश्चाय मिद्दात्म (श्रमसी जीन डिलेयर, हर्ट्स. हंगर्लैण्ड)	२४८
३०-धनदायम (पं० श्रीरामनरेशजी विपाठी) १६१	४८-ईश्वर ब्रह्म स्वत्व है (साहित्याचार्य पं० श्राद्धनवार मिद्दुलालजी शास्त्री, काल्यतीर्थ, वेदात्मतीर्थ, पुस्तक पं०, पुस्तक ओ० पुल०)	२५३
३१-जिन स्वेच्छा तिन पाइया (भक्तवर श्रीयादवजी महाराज) १६४	४९-ईश्वरन्त्रूपूति (संन्यासी श्रीज्ञानानन्दजी उक्त श्रीमंतवर्ण यंग) २५६
३२-ईश्वरकी ध्रुव सत्ता (पं० श्रीगणेशदत्तजी शास्त्री, विद्यानिधि) १६६	५०-भगवद्गाम (स्वामी श्रीरामद्वासजी) २६०
३३-ईश्वर-शरणागति और प्रार्थना (श्रीरामद्वाल मजूसदार पुस्तक 'उत्सव') १७२	५१-ईश्वर क्या है ? (श्रीव्यामेन्द्र पी० होरविज्ञ, प्रो० हार्डकरालजे, न्यूयार्क) २६१
३४-ईश्वरका अभिनव ('सत्य') १८३	५२-जानिकानान और आनितकवाद (श्रीयुत पी० पृष्ठ०)	२६२
३५-ईश्वरवाद और समाज-धर्म (पं० श्रीसिद्ध विजयजी शास्त्री भिडे, संस्थापक 'गीतार्थसंस्कृत' पुस्ता) १८५	५३-अकरनारायण पुरुष बी० प०, दौ० एल०, मड्डास०	२६२
३६-ईश्वरप्रेम विना शान्ति असम्भव है (स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी) १८६	५४-नाम-महिमा (प्रो० श्राद्धनवार गव, बी०, डॉ० डांडकर)	२६७
३७-वर्तमानकाल और ईश्वर-स्मरण (ह० भ० श्री-विनायकनारायण जोशी, नाना महाराज गायरे) १९७	५५-ईश्वरकी मन्त्र (दिग्दिस्यामी श्रीमहज्ञानन्दजी मरम्बनी) २७५
३८-जगदीश्वर बोद्धान्तसे ही प्रतिष्ठाय है (पं० श्रीशश्वराचार्यजी शास्त्री, बोद्धान्ततीर्थ, वे० ग्रिं०, वे० भ०, विं० र०) २०६	५६-प्रभुका निवास (प्रो० श्रीजयेन्द्रशंख भगवानकाल दूरकाल पुस्तक पं०) २८०
३९-आधुनिक अनीश्वरवाद (पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्डे) २१२	५७-व्रत्यक्षी वस्त्रवड्यसत्ता (रवामीजी श्रीशिवानन्दजी)	२८२
४०-ईश्वर कहाँ है कैसा है और कैसे मिल सकता है ? (श्रीदिग्भवत्याकामन) २१४	५८-मिश्रेन्द्रीय मन्त्र मैकेशियम (फालूर बी० एल्फिन मरोदय) २८८
४१-आमितकवाद अनिवार्य (म० श्रीनारायण स्वामीजी महाराज) २२१	५९-ईश्वरके नामकी महिमा (पं० श्रीजगदाध-प्रसादजी चतुर्वेदी) २९२
४२-ईश्वर मानव-जातिके उद्भारक हैं (श्रीयुत सदानन्दजी सम्पादक 'मंसेज') २२३	६०-श्रीमद्विभागार्थ और ईश्वर (पं० श्रीयुत सुमनी चतुर्वेदी, साहित्याचार्य) २९३
४३-ईश्वर-प्रार्थनासे क्षाम (बहिन श्रीकमलावती जी पाठ्यक्रम) २२८	६१-दर्वेशाका सार्ग (जैनधर्मभूषण श्रहाचारी श्रीशीतलप्रसादजी) २९४
४४-ईश्वर और उसका नाम (दरिमन्त्रिप्रारथ्य श्रीरामचन्द्र हृष्ण कामत) २२९	६२-प्रश्नान्तरे परमेश्वर (रेखरेण्ड श्रीथर्थर ई० मैस्टरी)	३०१
		६३-ईश्वर नहीं नो कुछ नहीं (मातु श्राद्धोलस्टॉय, अन०-श्रीकार्णानाथ नारायणजी श्रिवेदी)	३०३
		६४-दृश्यतोमें ईश्वर (स्वामीजी श्रीदयानन्दजी)	३०४
		६५-बेद और ईश्वर (पं० श्रीपाद दामोदर सत्यरामकर, सज्जात्क 'स्वाध्यायमहावद्धम')	३१४

६६—वैदिक संहिताओंमें ईश्वर या पुरुष (श्रीमङ्गल-	
देवजी शास्त्री, एम० प०, डिं किल, लॉकसन) ३२०	
६७—वेदान्तके भिज-भिज मिद्दान्तोंके अनुसार ईश्वर-	
का व्याख्य (श्रीयुत श्रीधर मन्त्रमदार एम० प०) ३२२	
६८—वेदमें ईश्वर (प्रो० प० श्रीहेमेशचन्द्र चट्टो-	
पाठ्याव, प्रयाग-विश्वविद्यालय) ... ३२४	
६९—पुराणोंमें ईश्वर (श्री वी० आर० रामचन्द्र	
दीक्षितार एम० प०, मद्रास) ... ३२६	
७०—पुराण और ईश्वर (प० श्रीकृष्णदत्तजी	
भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, वी० प०) ... ३२८	
७१—वेदमें ईश्वर (श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल	
एम० प०, पुस्त-पुल० वी०) ... ३३०	
७२—द्रैतवादमें ईश्वर (आचार्य श्रीअनन्तलालजी	
गोस्वामी) ३३२	
७३—नैयायिकोंके ईश्वर (पण्डितवर श्रीपञ्चानन्दजी	
तकर्त्तन) ३३४	
७४ श्रीमद्गद्धर्वानांके ईश्वर (श्री एम० एन०	
नाटपत्राकार एम० प०, युना) ... ३४१	
७५—उपनिषद् और ईश्वर (श्रीमहानन्दजी मिद्दान्त-	
लंकार, आगुडेडमार्तंगड) ३४३	
७६—मांस्यमें ईश्वरवाद (छ० श्रीयताम्बुकुपाठ मन्त्रम्-	
दार एम० प०, प०-एस० ढी०, श्राव-पट-का) ३५०	
७७—योगदर्शनमें ईश्वर (प० श्रीलक्ष्मीधरजी	
वाजपेयी) ३५४	
७८—हिन्दू-धर्ममें ईश्वर (मर मर्वापली राघवकुमार,	
केटी०, डी-लिट० वाइस-चाल्सलर, आम्ब-	
विश्वविद्यालय) ३६२	
७९—घोद-धर्म और ईश्वरवाद (भिज-श्रीयोगेन शाकु	
जापान) [स० और प्र० सतीशचन्द्रगुह] ... ३६४	
८०—ईस्माई-धर्ममें ईश्वर (श्रीयुक्त पट्टविन अंबस,	
ईंग्लैंगड) ३६८	
८१—घोद-धर्ममें ईश्वर-भाव (श्रीयोगाचार्यालजी	
स्वना, मध्यी भारतीय घोद-भाव) ... ३७२	
८२—इस्लाम-धर्ममें ईश्वर (वैयद कामियशली	
विशारद, साहिग्यालंकार) ३७४	
८३—गिरव-धर्म और ईश्वरवाद (श्रीज्ञानी ज्ञान-	
हिंहजी वी० प०, अनु०-श्रीगुणदित्ताजी व्याज) ३७६	
८४—भिज-सफीमें ईश्वर (श्रीमनी भोक्तिया वाहिया) ३७८	

८५—ज्योश्नी-धर्ममें ईश्वरवाद(ग्रिमिपल श्री पैच०	
जै० पैम० जारापुरवाला वी० प०, पौ-पच०	
डी०, बार-पट-ला) ३८३	
८६—ओद्ध-धर्ममें ईश्वर (काठयनार्थ प्रो० श्रीलौट-	
मिंजी गौतम, एम० प०, पूल० टी०, पुम०	
आर० प० एम०) ३९०	
८७—श्रीम्बामिनारथणसम्प्रदायमें परमेश्वर	
(दार्शनिकपञ्चनन्द, यदुवंशनाचार्य, न्याय देवेपिक	
शास्त्री प० श्रीकृष्णावल्लभाचार्य स्वामिनारायण) ३९५	
८८—प्रद्वितिवादकी श्रुटियाँ(प्रोफेसर श्रीभीमनलालजी	
आचेय एम० प०, डी० लिट०) ३९७	
८९—विज्ञान और ईश्वरका अभिन्न (श्रीगणेशजी एग०	
प०, वी० प०-वी०) ४००	
९०—विज्ञान और ईश्वर (श्रीवासुदेवशरणजी एम०	
प०) ४०५	
९१—विज्ञानशास्त्रके ईश्वर (प० श्रीशास्त्राप्रसादजी	
मिश्र 'श्रीगमिपद' काठयोगनिपत्राकरणवेदान्त-	
मीमांसातकपुराणसीध) ४०६	
९२—ईश्वर-दर्जन (शुद्धार्देशभूषण देव० प० श्री-	
रमानाथजी गान्धी) ४१३	
९३—प्रामाण्याकां अभिन्न (आचार्य श्रीचिन्तनश्री	
ठाकुर) ४१३	
९४—ईश्वर सब भूतोंके सुतव (श्री प्रनन्दनराय	
कोपदेवक वी० प०) ४१६	
९५—दक्षि और शिव (प० श्रीगौरीशंकरजी	
डिवडी, माहिन्यरूप) ४२०	
९६—ईश्वरके नाम पत्र (मुण्डी श्रीकन्द्रायामजी	
एम० प०, एल-पुल० वी०, एडवोकेट) ... ४२४	
९७—ईश्वर (प० श्रीहन्मानजी वार्मी) ... ४२५	
९८—ईश्वरका साक्षात्कार और नाम-पत्र	
(स्वामीजी श्रीपुराणसानन्दजी महाराज) ४२८	
९९—ईश्वरीय सत्ता (श्रीपापाजी महाराज) ... ४२९	
१००—ईश्वर निगकार और गायकर दोनों ... स्वामी	
श्रीहरिनामदासजी उदासीन) ... ४३०	
१०१—मेरा ईश्वर (प० श्रीनेत्रवत्सरी अभय विजालंकार,	
आचार्य गुरुकुल-विश्वविद्यालय, कोलकाता) ... ४३३	
१०२—ईश्वर अनन्त है (प० श्रीगणाप्रसादजी महाता	
एम० प०) ४३४	

१०३—ईश्वर-सिद्धि (राववहादुर श्रीचिन्नतामणि विनायक वैद्य, पृम्०प०, पुङ्ग-पुल० बी०)	४३६	१२५—दाशंनिक विचारोंका केन्द्र ईश्वर (म० श्रीरघुवराचार्यजी वेदान्तकेसरी, न्याय-मोमांसोपालय, सर्कारेवदान्ततीर्थ, वेदान्त-शिरोमणि, दर्शननिधि)	४०५
१०४—स्वराज्य (स्वामीजी श्रीप्रक्षानपादजी महाराज) ४३८			
१०५—ईश्वर-स्वरूप (स्वामीजी श्रीसर्वदानन्दजी महाराज)	४४०	१२६—ईश्वरकी सत्ता, स्वरूप, स्थान, प्राप्तिके उपाय और कल (प० श्रीबाबुगमजी शुक्र पद्मार्थवाचस्पति)	५०६
१०६—ईश्वर प्रत्यक्ष है (स्वामीजी श्रीसोमतीर्थजी महाराज)	४४२	१२७—जीव और ईश्वर (ड० पुच० छब्बीय० बी० मोरेव० प० प०, पी-पृच० ही०, ही० लिट० एम० एल० सी०)	५०८
१०७—भगवान् मेरे अगीचेमे (श्रीयुत मोर्टन अलेकज़ेन्हर सम्पादक हामानिटी, अमेरिका) ४४३		१२८—ईश्वर पक है (श्रीमती आर० प० सुद्धारात्रमधी अग्रमल बी० प०, एक० गी०)	५११
१०८—कर्मकल ईश्वराधीन (प० श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ)	४४४	१२९—ईश्वर-प्राप्तिके उपाय	५१२
१०९—ईश्वर-समर्पण (रुसी ऋषि श्रान्तिकोलम रूपैरिक)	४४६	१३०—ईश्वर नहीं है, ऐसी बात न कहो (भिक्षु श्री-गौरीशंकरजी महाराज)	५१३
११०—आन्तरिक ज्योति (धर्मपत्नी स्व० जेम्म एलन)	४४९	१३१—प्रभा (श्री 'मोहन'जी)	५१४
१११—ईश्वर-मीमांसा (श्रीज्ञालाप्रसादजीकालोडिया)	४४२	१३२—अनीश्वरवादसे जगतका संहार (राजा बहादुर श्रीश्रीलक्ष्मीनारायण इरिचन्द्रन जगदेव प० आर० प० प० पुरानच-विशारद, विचाराचस्पति, टेक्काली)	५१४
११२—ईश्वर आत्मर्थ है (श्रीनृसिंहदामजी वर्मा)	४४५	१३३—ईश्वरके अस्तित्वका समर्थन (स्वामीजी श्रीतपोदनजी महाराज)	५१५
११३—ईश्वरकी महिमा (श्रीभगवानदामजी हालना)	४४६	१३४—भगवान (हनुमानप्रसाद पोदार)	५१७
११४—दशावतार (एक श्रेष्ठी महाशय)	४४८	१३५—क्षमा-याचन, (सम्पादक)	५१८
११५—लोग ईश्वरको वर्यों भूले जा रहे हैं ? (क० श्रीनिवासदासजी पोदार)	४६६		
११६—ईश्वरके ग्रन्ति विश्वार्थी भक्त (प०—प० श्री-नन्दकिशोरजी शुक्र वाणीभूषण)	४६८		
११७—ईश्वर और परमेश्वरका स्वरूप (आचार्य श्रीयालक्ष्मणजी गोस्वामी)	४७१		
११८—ईश्वरके अस्तित्वकी मिद्दि (प० श्रीमदन-मोहनजी शास्त्री, प्रिनिपल मारवाडी-संस्कृत-कालेज, काशी)	४७४		
११९—सब ईश्वर ही है (बाबा श्रीमाधवानन्दजी)	४८०		
१२०—भक्तकी परस्त ...	४८०		
१२१—ईश्वर-भक्ति (प० श्रीगयाप्रसादजी शास्त्री 'श्रीहरि')	४८१	१३६—प्रार्थना (प्रं विद्योर्गा हरिजी)	५२२
१२२—भक्तके भगवान् (भट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, साहित्याचार्य)	४८४	१३७—प्रदनावली	५२३
१२३—ईश्वर-प्रेमकी विभिन्न अनम्बाप० (प० श्रीप्रभु-दत्तजी श्वसाचारी)	४८४	१३८—उत्तरावली	५२४
१२४—पुकार (श्रीमती यशोदादेवी धर्मपत्नी म० कन्हैयालालजी पूडवोकेट)	४९०	(१) स्वामी श्रीउडियास्वामीजी महाराज	५२५
		(२) स्वामी श्रीअस्युतमुनिजी महाराज	५२५
		(३) स्वामी श्रीनिमलानन्दजी महाराज	५३०
		(४) स्वामी श्रीहरिवाचार्यजी महाराज	५३२
		(५) ब्रह्मचारी श्रीरामसारणदासजी	५३४
		(६) स्वामी श्रीविज्ञासुपीडी महाराज	५३५
		(७) स्वामी श्रीअनन्दाश्रमजी महाराज	५३५
		(८) स्वामी श्रीविज्ञानन्दजी महाराज	५३६
		(९) एक मातुक महातुमाव	५३६

परिशिष्टाङ्क

	पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ संख्या
(१०) सुखको खोईबाजे महाराजा	... २३७	(४१) ह० भ० प० उचमणि रामधनद्र	
(११) स्वामी परमहंसजी, राजघाट	... ५३८	पाङ्कारकर बी० ए०, मग्नादक 'मुमुक्षु' ६०५	
(१२) स्वामी श्रीअतुलानन्दजी महाराज	... २३८	(४२) प० श्रीमद्भगवन्नेहनजी शास्त्री, प्र०	
(१३) स्वामी श्रीकृष्णसिंहजी	... २३९	मारवाड़ी-संस्कृत-कालेज, काशी ... ६०६	
(१४) श्रीउचाळासिंहजी	... ५३६	(४३) स्वामी श्रीसत्यानन्दजी तीर्थ ... ६१०	
(१५) स्वामी श्रीभोलेशवाजी	... २४२	(४४) श्रीमहम्मद द्वारिज सत्यद एम प०,	
(१६) पण्डितश्वर श्रीपञ्चानन्दजी तर्करम	... ५४४	सन्दन ६११	
(१७) रमण महर्षि १४६	(४५) श्रीहनुमानप्रसादजी पोहार ... ६१२	
(१८) श्रीजयदशालजी गोयनदका	... ५४७	१३९-विद्र-परिचय ६१३	
(१९) श्रीपरमहंस वाबा श्रीअवधविहारी-			
दासजी महाराज, त्रिवेणीबाँध ५५१		
(२०) श्रीआनन्दस्वरूपजी 'साहबजी महाराज' २५२			
(२१) श्रीअंशेतिजो १८३		
(२२) गङ्गातीर-निवासी सरन	... १८८		
(२३) स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी 'कैलासाश्रम' २६६			
(२४) स्वामीजी श्रीकैश्वरानन्दजी अवधूत ...	५७२		
(२५) स्वामीजी श्रीकृष्णदेवजी ५७४		
(२६) स्वामी श्रीनिर्वाणप्रकाशजी ५७५		
(२७) स्वामी श्रीवृष्णकेतुजी उदासीन ...	५७६		
(२८) रायबहादुर जाला श्रीसोतारामजी			
बी० ए० ५७७		
(२९) महामहोपाध्याय प० श्रीप्रमथनाथजी			
तर्कभूषण ५८२		
(३०) सर ललूभाई साँवलदास १८२		
(३१) स्वामी श्राद्धमेदानन्दजी, अध्यक्ष श्रीराम-			
कृष्ण-वेदान्तान्त्रिम १८३		
(३२) श्रीआनन्दधनरामजी १८४		
(३३) रायबहादुर श्रीचिन्नामणि विनायक			
वैद्य एम० प०, पुल०-प० बी० ...	५८६		
(३४) डा० तारापद चौधरी एम० प०, पी-			
एच० बी० १८७		
(३५) श्रीयात्रवजी महाराज, बरवई १९०		
(३६) पण्डितश्वर श्रीमायारामजी वेदान्तसीर्थ २६१			
(३७) स्वामी श्रीशिवानन्दजी १९८		
(३८) श्रो-श्रोभीमयन्द्र घटर्जी बी० ए०, बी०			
एल०, बी० एम-सी०, एम० आह० इ०	... १९७		
इ०, एम० आह० इ०	... १९७		
(३९) श्रीनलिनीमोहन सान्याल एम०ए० ... ६०३			
(४०) श्रीपञ्चानन्दजी ६०४		

पट्टा

- १-प्रकल्पनीयकी कल्पना (प० श्रीअयोध्या-सिंहजी उपाध्याय 'हरिमोघ' प्र० हिन्दू-युनिविसिटी) १४
- २-जलखालो निज ध्यार (प० श्रीरामशङ्करजी मिश्र 'श्रीपति') ६७
- ३-सीत (श्रीसत्याचरणजी 'सत्य' एम० ए०, विशारद) ७२
- ४-प्रभुके प्रति (श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त) ... ७८
- ५-प्रार्थना (श्रीनवीनमिहंजी चौहान 'कंज') ... १२०
- ६-ईश्वरके प्रति (माहित्यरत्न श्रीश्यामनारायणजी 'पाण्डेय 'इयाम'') १२०
- ७-कौन ? (प्रेमयोगी मान') १३०
- ८-वह (श्रीरामाकान्तजी त्रिपाठी 'प्रकाश') ... १४०
- ९-मेरे मातिक ! (श्रीसत्यवतजी शर्मा 'सुजन' बी० ए०) १४०
- १०-ईश्वर सर्वव्यापक है (प० श्रीभगवनीप्रसादजी त्रिपाठी एम० ए०, एस०-एल० बी०) ... १८२
- ११-ईश्वर कौन है ? (प० श्रीरामनारायणदत्तजी 'पाण्डेय व्या० शास्त्री 'राम') २१०
- १२-ईश्वरकी महत्ता (माहित्यशास्त्री प० श्रीजगद्धारायणदेवजी शर्मा 'विविधकर' विशारद) २११
- १३-ईश्वर-स्वत्व (श्रीकृष्णलालजी विशारद 'हंस') २३७
- १४-कौन कहता है ईश्वर नहीं है ? (श्रीदयाशङ्करजी 'मगन') २४७
- १५-हे अनन्त ! (श्रीअवन्तविहारीजी माधुर) ... २५२
- १६-ईश्वरका स्वरूप (श्रीजगदीशजी का 'विमल') २५८
- १७ कृला-लालवरय (पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरद') २६६

पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या	
१८-नृमिंद्ररूप (श्रीदेवीप्रभाद्वजी गुप्त 'कुसुमाकर' शी० प०, पृ० ४७० शी०)	... ३५३	२०-दैश्वरमें विश्वास (श्रीआर्णिसन मार्हन्)	... ४१६
१९ जीवन-वेचित्रय (प० श्रीप्रेमनारायणजी श्रिपाठी 'प्रेम')	... ४३०	२१-दैश्वर-प्रद्वा (स्वामी श्रीविनेकानन्दजी)	... ४६२
२०-हरि-नाम (प० श्रीबलदेवप्रभाद्वजी मिश्र प०प०, प०, पृ० ४७० शी०)	... ४७३	२२-स० श्रीचन्द्रजी श्रीर वा० जहाँगीर (प्रेपक-श्रीसन्तप्रसादजी, सामुद्रेला)	... ४१६
२१-माक्षारकार (प० श्रीमोहनजाजी द्विवेदी शी०प०)	३८३	२३-प्रार्थना (सं० श्रीरामनरिमिहजी हरसलालका)	... ५२२
२२-स्वीकृत (श्री 'वचन')	... ५२०	२४-अस्त्वन् (गोलोकवासी प० श्रीमत्य-नारायणजी 'कविरत्न')	... ३१
संग्रहीत लेख और कविताएँ		२५-वापरी (कवीरदासजी)	... ८०
१-प्रार्थना	५५	२६-दैश्वर-भक्ति (गो० श्रीनुलस्योदामजी)	... ८०
२-वैदिक प्रार्थना	८	२७-श्यामको सुमिरा (स्वामी हरिदामजी)	... २४३
३-महिमा और स्तुति	८०	२८-श्रगम अग्नोचर (यारी याहेय)	... २७४
४-हिन्दुओंकी प्रार्थना	८८	२९-पार उतारी (नरसी मेहताजी)	... २७६
५-बौद्धोंकी प्रार्थना	८९	३०-लाज रमा (सदमाजी कमाई)	... २८१
६-जैनियोंकी प्रार्थना	९८	३१-प्रसु-विश्वास (सुन्दरदासजी)	... २९१
७-सिद्धोंकी प्रार्थना	१०८	३२-विनती (दरियासाहिब मारवाडवाज्जे)	... २९७
८-परसियोंकी प्रार्थना	१२८	३३-मन भयवानसे (जगर्जावनसाहेब)	... ३०२
९-ईसाहयोंकी प्रार्थना	१३८	३४-ईश्वर-विश्वास (पलटसाहिश)	... ३०२
१०-सुसलमानोंकी प्रार्थना	१४८	३५-दैश्वका यागिक (युलेशाह)	... ३१६
११-ईश्वराराधन (अचार्य श्रीविजयकृष्णजी गोस्वामी)	१५८	३६-गोपालको भट्टा (सुरदासजी)	... ३२३
१२-उत्तम रहस्य (श्रीअरविन्द)	१६१	३७-भगवन्-प्रेम (दयावाई)	... ३४२
१३ ईश्वर-प्रार्थना (मठाम्या गान्धीजी)	१६२	३८-साइरों (सीरावाई)	... ३६१
१४-हमारी प्रार्थना (विज्वक्ति श्रीरवीन्द्रभाय शाकुर)	१६३	३९-कालका औन जीनगा० (गुलाबम्याईजी)	... ३६४
१५-श्रीदरितामसकान्तन (प्रसु जगड़न्धु)	१६४	४०-विभुवत-कन्ती (दूलनशायर्जी)	... ३७२
१६-परमेश्वर (स्वामी श्रीद्वानन्दजी)	१६५	४१-प्रेम-प्याता (बुल्ला साहेब)	... ३७५
१७-ईश्वर-प्रेम (स्वामी रामतीर्थ)	१६६	४२-मै दाय हूँ (चरनदासजी)	... ३४१
१८-ईश्वर (श्रीगमकृष्ण परमहंस)	१६७	४३-भजन करो (सहजबाई)	... ३६४
१९-जीवारमाकी परमामाकं लिये पुकार (श्रीयुक्त जे० टी० सण्डरलैण्ड डी० डी०)	१६८	४४-राम (रेदासजी)	... ३६३
	२४०	४५-साइरकी याद (गर्वदासजी)	४१०
		४६-मिरजनदार माई (दादूदयालजी)	... ४२७
		४७-कल्याण-प्रार्थना	... ४२१



चित्र-सूची

बहुरंगे	पठ-मंस्त्रया	पठ-मंस्त्रया
१—भगवदाराधन	३५—महर्षि शशिहलय	११—११
२—भगवान् श्रीकृष्णरूपमें	३६—राजा जनक और शुकदेव मुनि	१२—१२०
३—भगवान् मत्स्यरूपमें	३७—२४	१३—भगवान् श्रीवलरामरूपमें
४—भगवान् कर्मरूपमें	३८—५६	१४—महर्षि वाल्मीकि
५—भगवान् वराहरूपमें	३९—८०	१५—भक्त-रक्षा
६—भगवान् श्रीनृसिंहरूपमें	४०—१०४	१६—श्रीशङ्कराचार्य
७—भगवान् वासनरूपमें	४१—१२८	१७—आदर्श दिनद्वा-मार्दी
८—भगवान् परशुरामरूपमें	४२—१४२	१८—४१—श्रीनामदेवजी
९—भगवान् श्रीरामरूपमें	४३—१७६	१९—४२—श्रीरामानुजाचार्य
१० नन्दनन्दन	४४—२००	२०—४३—श्रीवस्त्राचार्य
११—भगवान् बुद्धरूपमें	४५—२२४	२१—४४—श्रीनिवार्कचार्य
१२—भगवान् कल्किरूपमें	४६—२४८	२२—४६—चैतन्य महाप्रभु
१३—श्रीविष्णु भगवान्	४७—२७८	२३—४७—स्वामी निवानन्द
१४—श्रीभगवान् शंकर	४८—२८६	२४—श्रद्धेताचार्य
१५—भगवान् शक्तिरूपमें	४९—३२०	२५—भक्त हरिदास
१६—भगवान् गणेशरूपमें	५०—३४४	२६—५०—स्वामी श्रीगमानन्दजी
१७—भगवान् सूर्यरूपमें	५१—३६८	२७—५१—श्रीकर्मी साहेब
१८—भगवान् ग्रहास्त्रपमें	५२—३८२	२८—५२—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी
१९—भगवान् अद्विरूपमें	५३—४१६	२९—५३—श्रीपद्मार्हीजी और पृथ्वीराज
२०—भगवान् दत्तात्रेयरूपमें	५४—४४०	३०—५४—श्रीज्ञानेश्वर
२१—गायत्री देवी	५५—४६४	३१—५५—श्रीपक्नाथ
२२—महर्षि आश्रम	५६—४६६	३२—५६—श्रीतुकाराम
२३—मीरा	५७—४२१	३३—५७—समर्थ श्रीरामदामजी
२४—विश्वामी भक्त भ्रुव	५८—४४६	३४—५८—गुरु नानकजी
२५—जगत्-चतुष्पद	५९—४५६	३५—५९—श्रीश्रीचन्द्रजी
२६—प्रेमी भक्त सूरदास	६०—४६४	३६—६०—श्रागुरु गोविन्दसिंहजी
सादे		३७—६१—वनखण्डजी
२७—महर्षि वेदव्यास	६१—६	३८—६२—स्वामी रामतीर्थजी
२८—महर्षि पतञ्जलि	६२—६	(स्वामिनारायण) ४०१
२९—महर्षि कपिल	६३—६	३९—६३—स्वामी मंगलज्ञाथजी
३०—महर्षि जैमिनि	६४—८०	४०—६४—स्वामी मियागमजी
३१—महर्षि कश्याद	६५—८०	४१—६५—श्रीरामकृष्ण परमहंस्य
३२—महर्षि गौतम	६६—७२	४२—६६—श्रीश्रीप्रसु जगद्धनु
३३—देवर्षि नारद	६७—७२	४३—६८—स्वामी श्रीविवेकानन्द
	६८—८६	४४—६९—श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी

	पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या		
७०—स्वामी विशुद्धानन्द	...	८३६	८२—सुकरात	...	५०५
७१—स्वामी भास्करानन्द	...	८३६	८३—प्रसंग	...	५०५
७२—तैलक स्वामी	...	८३६	८४—टॉलस्टोय	...	५०५
७३—सिद्धारुद्ध स्वामी	...	८३६	८५—जेम्स एलन	...	५०५
७४—याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी	...	८५६	८६—भक्त-कामलता	...	५३०
७५—श्री याश्ची नचिकेता और यमराज	...	८५६	८७—सेंट फ्रांसिस	...	५७८
७६—ईश्वरवन्द्र विद्यासागर	...	८८८	८८ मेट ल्हैं	...	८७८
७७—देवननाथ ठाकुर	...	८८८	८९ सेंट कैंपेरिन	...	८७९
७८—स्वामी दयानन्द	...	८८८	९०—सेंट प्रिज़िवेंश	...	८७९
७९—कैशवचन्द्र मेन	...	८८८	९१—सेंट रेयर्ड	...	८७९
८०—महात्मा इंसा	...	९०४	९२ सेंट ट्रेस्मा	...	८७९
८१—महात्मा बर्योश्च	...	९०४	९३ गज-उद्घार	...	८१०



ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णापूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमवावश्यते ॥



स्त्री-शुद्ध-विड-द्विज-नृपा बधमास्तोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरूप्य वलेन यस्याश्वेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ }

गोरखपुर, श्रावण १९८९ अगस्त १९३२

{ मंख्या १
पूर्ण संख्या ७३

ॐ विश्वानि देवं सवितर्
दुरितानि परासुव
यद् भद्रं तत्र आसुव

वैदिक प्रार्थना

ॐ वाञ्छ मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य
म आणीथः, श्रुतं मे मा प्रहारीनेनाधीतेनाहोगत्रात्मन्दधास्यृतं वदिष्यामि ।
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारमवतु
वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (क्रष्णवेदीय शान्तिपाठ)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमवाच-
शिष्यते ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (शुक्र यजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

ॐ मह नाववतु ॥ मह नौ खुनक्तु ॥ मह वीर्यं करवावहै ॥ तेजस्मि नाव-
धीतमस्तु, मा विद्यपावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (कृष्ण यजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्ष प्राणशक्षुः श्रोत्रमयो वलमिन्द्रियाणि च
सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निरुक्त्या सा मा ब्रह्म निग्रहोदनिग्रहण-
मस्त्वनिराकरणं मे अस्तु । नदान्मनि निरते य उपनिषद्सु धर्माम्ने मयि मन्तु ने
मयि सन्तु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (सामवेदीय शान्तिपाठ)

ॐ भद्रं कर्णभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षमिर्यजत्राः ॥ म्यिर्गङ्गम्तुप्तु-
वांसस्तनूभिव्यगेम देवहिनं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥ स्वस्ति नः पृष्ठा
विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नमाक्ष्ये अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्ति नो वृहम्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (अथवेदीय शान्तिपाठ)

ॐ मधुवाता क्रतायतं, मधु क्षरन्ति मिन्दवः । माध्वीनः मन्त्वोपर्धीः ।
मधुनक्तमुतोषशो ॥ मधुमत पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता मधुमान नो
वनस्पतिः मधुमानऽस्तु सूर्यः । माध्वीगांवो भवन्तु नः ॥ (क्रष्णवेद १ । १ । १८)

ॐ यो देवोऽग्न्योऽप्यु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।

य ओषधीयु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नसो नमः ॥ (श्लो २ । १७)

महिमा और स्तुति

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिः सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्वशाङ्गुलम् ॥
(पु० श० २)

पुरुष एवेदः सर्व यद्भूतं यज्ञ भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यद्वन्नेनातिरोहति ॥
(पु० श० २)

एतामानस्य महिमाऽनो ज्यार्थं पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥
(पु० श० ३)

एको देवः सर्वभूतेषु गृढः
सर्वव्याप्तिः सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माद्यक्षः सर्वभूताधिवासः
मात्री चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥
(शता० ६।११)

एको वशी निर्दिक्याणां वहना-
मेकं वीजं वहन्ना यः करोति ।
तमान्तरस्थं येऽनुग्रह्यन्ति थीरा-
स्नेहां मुखं शाश्वतं ते तरेषाम् ॥
(शता० ६।१२)

नित्यो नित्यानां वेतनश्चेतनाना-
मेको वहनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं स्तोत्रयोगाधिगम्यं
शात्रा दैवं मुच्यते सर्वपाशोः ॥
(शता० ६।१३)

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टे
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(काठ० २।५।९)

यश्च किञ्चिन् जगत्सर्व दृश्यते श्रृंगेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्व व्याप्त्य नारायणः स्थितः ॥
(नारायणोपनिषद्)

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्याप्ति स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥
(शता० ३।११)

सर्वाद्विवन्ति भूतानि सर्वेण पानितानि तु ।
सर्वें लयं प्राप्नुवन्ति यः सर्वः सोऽहमेव च ॥
(सर्वोपनिषद्)

यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिं ।
प्रपद्ये शरणं देवीं दुःदुर्गे दुरितं हर ॥
(देवदुर्गनिषद्)

आविर्भूतं च सृष्ट्यादी प्रकृतेः पुरुषात्परम् ।
एवं द्व्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां धरः ॥
(गणपत्युपनिषद्)

राम एव परं ब्रह्म राम एव परं नमः ।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम् ॥
(राम० २० उ०)

निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे ।
अद्विनीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥
(यो० पू० १०)

अहं हरे तव पादेकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः समेनामुपतेगुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥

अज्ञातपश्चा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः भुव्राताः ।
प्रियं प्रियं व्युपितं विष्णणा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
(श्रीमद्भा० ६।११।२४, २६)

त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः ।
सिद्धानामपि सात्र्यानामात्रयश्चासि पूर्वजः ॥
दृश्यते सर्वभूतेषु गोषु च ब्राह्मणेषु च ।
दिक्षु सर्वांसु गगने पर्वतेषु नदीषु च ॥
(वा० रा० युद्ध० ११७।२०।२२)

त्वमादिदेषः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निश्रानम्।
वेत्सासि वेदं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

वागुर्यमोऽस्त्रिवरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्यः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥
(श्रीगद्गवद्गीता ११। ३८, ३९)

वेदानुदरते जगन्निवाहते भूगोलमुद्दिप्रते
दैत्यान् दारथते बलि छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्वं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान् भूर्यते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥
यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः
बैदैः साङ्गपदक्मोपनिपदैर्गार्थन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थितदत्तेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न यिदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तृति नैयायिकाः ।
अर्हग्रित्यथ जैनशासनरताः कर्तृति ग्रीमांसकाः
सोऽयं नो विद्वान् वाचिष्ठितफलं बैलोवयनाथो हरिः ॥

जाँठ कहाँ तजि चरन तुझहाँ ।

काके नाम पतितपावन जग, केहि अति दीन पियोरे ॥

कैने देव बराह विरदहित, हठि हठि अधम उधारे ।

खग, मृग, व्याघ, पश्यन, विटप जड़, जबन कबन मुर तारे ।

देव, दुर्ज, मुनि, नाम, मनुज सब मायाविवस बिचारे ।

तिनके हाथ दास तुलसी प्रसु, कहा अपनपौ हारे ॥

प्रसु भारे अबगुन चिन न धरो ।

समदरसाँ ह नाम तिहारे चाह तो पार करो ॥

इक नदिया इक नार कहावत मैलोहि नीर भरो ।

जब दोनों भिन पक बरन भये मुरसरि नाम परो ॥

इक लोहा पजामं गखत इक घर बधिक परो ।

पारस गुन अबगुन नहिं चितरैं कंचन करत खरे ॥

यह माया अभजाल कहावे मुरदास मिरारो ।

अबकी बार मार्हि पार उतारे नहिं प्रन जात टरो ॥

हिन्दुओंकी प्रार्थना

यो ब्रह्माणं विद्यथाति पूर्व
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशां
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपये ॥ १ ॥

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥ २ ॥

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम् ।
त्वमेकं जगत्कर्तृपातुप्रहर्तुं
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ॥ ३ ॥

भयानां भयं भीषणां भीषणानां
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां निथन्त् त्वमेकं
परेण्यं परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥ ४ ॥

जो सबने पूर्व व्रताको रचने हैं तथा उनके लिये वेदों-
को प्रकाशित करते हैं, मैं सुमुक्षु हांक आत्मबुद्धिसे
प्रकाशमान उन परम देवताके शरणापन्न होता हूँ ॥ १ ॥

हे जगनके कारण सत्त्वरूप परमात्मा, तुझे नमस्कार
हो । हे सर्व लोकोंके आश्रय, चित्तरूप, तुझे नमस्कार
हो । हे मुक्ति प्रदान करनेवाले अद्वैततत्त्व, तुझे नमस्कार
हो । शाश्वत और सर्वव्यापी व्रह्म, तुझे नमस्कार हो ॥ २ ॥

तुम्हाँ एक शरणमें जाने योग्य अर्थात् आश्रयस्थान हो,
तुम्हाँ एक पूजा करनेयोग्य हो । तुम्हाँ एक जगनके पालक
और अपने प्रकाशमें प्रकाशित हो । तुम्हाँ एक जगत्के
कर्ता, पालक और संहारक हो । तुम्हाँ एक निश्चल और
निर्विकल्प हो ॥ ३ ॥

तुम भयोंको भय देनेवाले हो, भयंकरमें भयंकर हो,
प्राणियोंकी गति हो और पावनोंको पावन करनेवाले हो ।
आत्मन्त उच्च पक्षोंके तुम्हाँ नियन्त्रण करनेवाले हो, तुम
परसे पर हो, रक्षण करनेवालोंका भी रक्षण करनेवाले हो ॥ ४ ॥

बयं त्वां स्मरामो बयं त्वां भजामो
बयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
सर्वेकं निधानं निरालम्भमीशं
भवाम्भोधिपोतं शरणं ब्रजामः ॥ ५ ॥

हम तुग्हारा स्मरण करते हैं, हम तुमको भजते हैं,
हम तुम्हें जगत्के साक्षीरूपमें नमस्कार करते हैं । एक-
मात्र सत्स्वरूप निरालम्भ तथा इस भवसागरकी तरणिरूप
ईश्वरके हम शरणमें जाते हैं ॥ २ ॥

बौद्धोंकी प्रार्थना

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।
बुद्धं सरणं गच्छामि । धर्मं सरणं गच्छामि ।
संघं सरणं गच्छामि ।
दुतीयस्मिं बुद्धं सरणं गच्छामि ।
दुतीयस्मिं धर्मं सरणं गच्छामि ।
दुतीयस्मिं बुद्धं सरणं गच्छामि ।
ततीयस्मिं बुद्धं सरणं गच्छामि ।
ततीयस्मिं धर्मं सरणं गच्छामि ।
ततीयस्मिं संघं सरणं गच्छामि ।
पाणानिपाना वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि ।
अदिश्चादाना वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि ।
कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी
सिक्खापदम् समादियामि ।
मुखावादा वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि ।
सुरा-मेरय-मज्जा-पमा-दृष्टाना
वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि ।

‘पूर्ण प्रज्ञ, अर्हन्, भगवान् (बुद्ध) को नमस्कार हो ।
पूर्ण प्रज्ञ, अर्हन्, भगवान् (बुद्ध) को नमस्कार हो । पूर्ण
प्रज्ञ, अर्हन्, भगवान् (बुद्ध) को नमस्कार हो । मैं बुद्धके
शरणमें जाता हूँ, धर्मके शरणापन्न होता हूँ, संघके शरणमें
जाता हूँ । द्वितीय बार मैं बुद्धके शरणापन्न होता हूँ, धर्म-
के शरणमें जाता हूँ, संघके शरणमें जाता हूँ । तीसरी बार
मैं बुद्धके शरणापन्न होता हूँ, धर्मके शरणमें जाता हूँ,
संघके शरणमें जाता हूँ ।’ ‘मैं जीवकी हिंसा न करनेकी
प्रतिज्ञा करता हूँ । मैं उस वस्तुके न लेनेकी प्रतिज्ञा करता
हूँ, जो मुझे न दी गयी हो । कामनाओंमें मिथ्याचरण न
करनेकी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ । असत्य वचनमें बचनेकी मैं
प्रतिज्ञा करता हूँ । मैं सुरा-मध्यादि मादक वस्तुओंमें वचने-
की प्रतिज्ञा करता हूँ ।’

जैनियोंकी प्रार्थना

अरिहंत नमो भगवन्त नमो
परमेश्वर जिनराज नमो ।
प्रथम जिनेश्वर प्रेमे पेस्वन
सिद्धं सघला काज नमो ॥
प्रभु पारंगत परम महोदय
अविनाशी अकलंक नमो ।
अजर-अमर अद्वृत अतिशय निधि
प्रश्वन जलधि मर्यंक नमो ॥

सिद्ध बुद्ध तूँ जगजन सज्जन
नयनानन्दन देव नमो ।
सकल सुरासुर नरवर नायक
सारे अहो निश सेष नमो ॥
तूँ तीर्थकर सुखकर साहिव
तूँ निःकारण बन्धु नमो ।
शरणागत भविने हितवत्सल
तुँ ही कृपारस सिन्धु नमो ॥

केवल कानाकर्णे दर्शित
लोकालोक स्वभाव नमो ।
वारित सकल कलंक कलुपगम
दुष्टि उपद्रव भाव नमो ॥
जगचिक्षामयि जगगुरु जगहित
कारक जगजन नाथ नमो ।

घोर अपार भवोदधि तारण
तृं शिवपुरणो साथ नमो ॥
अशरण शरण निराग निरंजन
निहपात्रिक जगदीश नमो ।
बोध दीनुं अनुपम दानेसर
ज्ञानविमल सूरीश नमो ॥

सिंखोंकी प्रार्थना

एह ओं सतनाम कर्त्तापुरुष निर्भूत निर्बैर
अकाल भूरत अजूनी सैमं गुहप्रसाद जप ।

आदि सच जुगादि सच है भी सच
नानक होसी भी सच ॥ बाह गुरु ॥

पारसियोंकी प्रार्थना

यातीम मनो यातीम चको यातीम पथओथनेम
अपओनो जरथुश्चरहे । प्रा अमेया स्पेन्ता गाथाओ
गेगुरवाइन । नेमो थे गाथाओ अपओनीश ।

अहया यासा नेमङ्ग्हा उस्तान—ज़स्तो रफेध्वा
महस्येयुश मङ्ग्हाओ पउरबीम स्पेन्तश्च अया
बिस्येंग पथओथनाम ।

बङ्ग्हेउश खतूम मनङ्ग्हो या पनेबीशा गेयूश्चा
उवर्नेम । या पथओथनाम हाइतिम य़मङ्ग्हदे ।

अहुनवृत्तिम गाथाम अपोनिम अपहे रनुम
बङ्ग्हमङ्ग्हदे । अहुनवृत्तियाओ गाथियाओ हन्दाना
य़मङ्ग्हदे । येंगहे हाताम आथवेस्तने पहितिवेंगहो
मङ्ग्हाओ । अहुरो बह्या अपत हच्चा याओंगहामचा ।

तास चा ताथोसना य़मङ्ग्हदे ।

नमस्त्वा यआरम्भेतीश जाय चा ।

नमस्त्वा यआरम्भेतीश जाय चा ।

नमस्त्वा यआरम्भेतीश जाय चा ।

अपेम़ बोहु बहेस्तम् भस्ति, उस्ना अस्ति,

उस्ता अहमार कथ्याह बहेस्ताह अपेम ।

पुश्यात्मा जरथुश्चके कर्म धन्य थे, वचन धन्य थे
और विचार धन्य थे । पवित्र (स्वर्णीय) आत्माओंने
धर्म-ग्रन्थोंका प्रकाश किया । हे दिव्य धर्म-ग्रन्थ ! तुम्हारा
हम स्तवन करते हैं ।

हे मङ्ग्ह ! तुम्हारी अर्चना करते हुए हम तुम्हारी
कृपा-प्रासादिकी अभिलापा करते हैं और तुम्हारी ओर हाथ
बढ़ाये तुम्हारे दानशील आत्माके प्रभावके लिये प्रार्थना
करते हैं । हम अथवा नग्रतापूर्वक विनती करते हैं कि
सबके प्रति हमारे कर्म सत्यभावनामे सम्पादित हों और
तुम्हारी उदारचित्तताके समझनेके लिये हम तुमसे करबद्ध
प्रार्थना करते हैं जिसमें हम गाँको आत्माके प्रति श्रद्धा
दिलाला सकें ।

हम पवित्र अहुनावद-गाथाओंकी श्रद्धापूर्वक स्मरण
करते हैं जो परम पावन हैं । अहुनावद-गाथाओंकी प्रार्थनाका
हम श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं ।

यपओथनेम नामक हा की हम उपासना करते हैं ।
पवित्रताके अधिष्ठातृ देवता दिव्य अहुनावद-गाथाओंकी हम
उपासना करते हैं । अहुनावद-गाथाओंकी प्रार्थनाकी हम
प्रार्थना करते हैं । हम उन नर-नारियोंका स्तवन करते हैं
जिन्हें अहुरमन्द (ईश्वर) ने पवित्रताके द्वारा उपासनामें
श्रेष्ठ माना है । पवित्रता सर्वोत्तम वस्तु है । आनन्द
उसको होता है जो पवित्रताके उद्देश्यमें ही पवित्र रहता है ।

ईसाइयोकी प्रार्थना

Almighty God ! unto whom all hearts be open, all desires known, and from whom no secrets are hid; cleanse the thoughts of our hearts by the inspiration of Thy Holy Spirit, that we may perfectly love Thee, and worthily magnify Thy Holy Name. Through Christ our Lord. Amen.

O Lord Christ ! we Thy faithful soldiers dedicate this new-born day to Thee, praying that it may shine in Thy service as a pure pearl in the chaplet of our life, O Thou Great King of Love, to whom be praise and adoration for evermore. Amen.

Teach us, O Lord ! to see Thy life in all men and in all the peoples of Thine earth, and guide our Nation through its leaders to preserve Thy peace, that the menace of war be far from our days. Through Christ our Lord. Amen.

To the most Holy and Adorable Trinity, Father, Son and Holy Spirit, Three Persons in one God; to Christ our Lord, the only Wise Counsellor, the Prince of Peace; to the Seven Mighty Spirits before the Throne; and to the glorious Assembly of just men made perfect, the Watchers, the Saints, the Holy Ones, be praise unceasing from every living creature; and honour, might and glory, henceforth and for evermore. Amen.

The peace of God, which passeth all understanding, keep your hearts and minds in the knowledge and love of God, and of His Son Christ our Lord; and the blessing of God, Almighty, the Father, the Son, and the Holy Ghost, be amongst you, and remain with you always. Amen.

मुसलमानोंकी प्रार्थना

विसिल्हाहिरहमानिरहीम ।

अलहम्दोल्लाहे रव्विल आल्मीन ।

अरहमानिरहीम । मालिके यौमिनीन ।

इत्याका ना' बहो व इत्याका नस्त' ईन ।

एह्येनस् सिरातलमुस्तकीम । सिरातल्लजीना
अल' अस्त' अलैहिम गैरिल मग़दूब' अलैहिम
• चलउज्जालीन । आमीन ।

सर्वशक्तिमान् प्रभु जो सबके हृदयको देखते हैं,
सबकी अभिलाषाओंको अग्रसे हैं और जिससे कोई भी
भेद लिया नहीं है, अपने दिव्य आत्माकी प्रेरणासे हमारे
हृदयके विचारोंको शुद्ध करें, जिससे हम प्रभुसे दर्शनः
प्रेम करें तथा प्रभुके पवित्र नामकी महिमा यथार्थतः
बढ़ावें । अपने प्रभु यीशूमसीहके द्वारा । आमीन ।

हे प्रभु यीशू ! हम तुम्हारे भक्त-संमिल इस नवजात
दिवसको तुम्हें समर्पित करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि यह
हमारे जीवनरूपी भालामें शुद्ध मुकाके समान तुम्हारी
सेवामें प्रकाशित होवे । हे प्रेमके अधिराजा, तुम्हारा
स्वतन्त्र और उपासना सदा-सर्वदा होती रहे । आमीन ।

हे प्रभु ! हमें शिक्षा दो कि सब मनुष्योंमें तथा
तुम्हारी पृथ्वीके समस्त देशोंमें तुम्हारे जीवनको देखें;
तथा हमारे राष्ट्रको इसके नेताओंके द्वारा अपनी शान्तिको
कायम रखनेके लिये सञ्चालित करो जिससे युद्धकी
भीषणता हमसे दूर रहे । हमारे प्रभु यीशूमसीहके
द्वारा । आमीन ।

पवित्रतम और पूज्य Trinity का—पिता, पुत्र और
पवित्र आत्माका जो एक ही ईश्वरके तीन रूप हैं, शान्तिके
राजकुमार, ज्ञानी, उपदेश प्रभु यीशूका, प्रभुके सिंहासनके
ममीय सात शक्तिमान् आत्माओंका, रक्षकों, सन्तों और
महात्माओंका सदा-सर्वदा प्रत्येक प्राशीके द्वारा स्वतन्त्र
हो तथा अचावधि और सदा-सर्वदा उसकी शक्ति और
ऐश्वर्यकी अभ्यर्थना हो । आमीन ।

ईश्वरीय शान्ति जो अचिन्त्य है, तुम्हारे हृदय और
मनको ईश्वर तथा उसके पुत्र हमारे प्रभु यीशूके प्रेम
और ज्ञानमें रत रखते । तथा सर्वशक्तिमान् परमपिता
ईश्वर, पुत्र (यीशू) तथा दिव्य आत्माओंका आशीर्वाद
(प्रसाद) तुम्हपर हो तथा सदा तुम्हारे साथ रहे । आमीन ।

दयालु, करुणामय प्रभुके नामपर अस्तित्वके
प्रभु, भगवान्की अभ्यर्थना हो । वह दयालु, करुणामय,
भर्य-दिवसका अधिपति है । वही ज्ञानमय है, वही
शक्तिमान् है । उस सत्यथामें हमारा तू भाग्य-बद्धसंक
वन, जो पथ तुम्हमें रथण करनेवालोंका है; उसका नहीं है
जो तुम्हें नहीं मानते तथा अधर्माचरण करते हैं ।

एक प्रार्थना



लीलामय ! तुम्हारी लीलाका रहस्य कौन जान सकता है ? कब तुम किस क्रीड़ामें रत रहते हो, और उससे संसारमें कैसेकैसे अचिन्त्य परिवर्तन हो जाते हैं, इस बातको कोई भी नहीं जान सकता । आज जगतमें जो कुछ हो रहा है, इसका क्या परिणाम होगा और इस मेलका कब दूसरा दृश्य आवेगा, कोई नहीं कह सकता । कितना परिवर्तन हो गया ? विद्वान् कहलानेवाले लोग तुम्हें स्त्रीकार करनेमें भी सकुचाने लगे हैं । कुछ उच्चशिक्षित लोग तो तुम्हारा नाम ही मिटानेको कमर कसे हुए हैं । इधर अविश्वासी पुजारी प्रायः तुम्हारे नामपर लोगोंको ठगनेमें लगे हैं । मन्दिर, मठ, मस्जिद, आश्रम, गिर्जा, विहार, तीर्थ किसीमें भी आज वह पहले-सा सगल विश्वास नहीं दिग्घायी देता; कथा वाँचनेवाले दसरोंको सिद्धान्त बतलाते हैं, पर स्वयं शंकाशील हैं; उपदेशक, आचार्य, सम्पादक, कवि और वक्ता लोगोंको ईश्वर, धर्म, कर्म, देशसेवा आदि जिन कार्योंके लिये बड़े-बड़े सुन्दर और जोशाले शब्दोंमें उत्साहित करते हैं, स्वयं उन्हीं कार्योंमें सच्चे हृदयसे कुछ भी करना नहीं चाहते, विलक्षण-अन्दर-ही-अन्दर विपरीत आचरण करते हैं । तुलसी-मूर, ज्ञानदेव-एकनाथ, कर्वाच-पलट, र्मा-महजो प्रभृति महान् आत्माओंकी कविताओं और भावनाओंसे बढ़कर कविता और भावनाका स्वरूप सामने खड़गा जाता है, परन्तु उनका-सा हृदय आज कहीं हूँड़े भी नहीं मिलता; फिर भी कहा जाता है कि हमारी उन्नति हो रही है, क्रमशः हम विकासको प्राप्त हो रहे हैं; यह उन्नति या विकास दैर्घ्य है या आमुरी, आत्माका है या अनात्माका, इस बातका निर्णय तो कौन करें, परन्तु इन्हा अवश्य कहा जा सकता है कि, यह सब तुम्हारी लीला है, तुम्हारे अभिनयका एक मीन है ।

खेलो, खब्र खेलो, खिलाड़ी ! सबको अपने साथ खेलाने रहो, यहीं तो तुम्हारा काम है । आप ही 'सब कुछ' बनकर, आप ही सदा 'सब कुछ' को लेकर 'सब कुछ' में खेलने हो और अठग रहकर देखते भी रहते हो; तुम्हारे खेलमें क्यों विराम हो, नये-नये पद्मे पड़ने रहे, मीन बदलते रहे, तुम्हारा लीला-प्रवाह सदा अविच्छिन्न गतिसे चलता रहे; इसमें हम क्यों आपत्ति करें ? तुम जबतक चाहो, हमें अपने संकल्पसे अलग कल्पितकर हमसे खेलते रहो, पर हमारी इन्हाँ आँखें जम्मर घोल दो कि तुम्हारे इस संकल्पके आधारपर टिके हुए अपने भिन्न अस्तित्वके सिवा शेष सब खेलोंमें, गिर्वाँनोंमें, सबमें सब समय केवल तुम्हारी ही छवि दीख पड़े, तुम और हम दो ही रह जायें, तुम हमे जानो और हम तुम्हें, तुम हमें देखो और हम तुम्हें ।

बस, यहीं एक प्रार्थना है !



हृशीरत्नवन

(लेखक—आपात्रे ५० श्रीमहावीरभगवानी दिक्षेत्री)

आगार्ति देव तद शक्तिरनन्तरुपा
ब्राह्मा चराचरमें मुकुन्द्रमेऽस्मिन् ।
तारापथे मुनि नरे च नरेश्वरे च
तोडेन्हले भक्ति मृद्गथपि साऽऽविरास्ते ॥

आगवन् ! आपकी शक्ति और सत्ताकी इच्छा नहीं ।
वह अनन्त है और इस चराचर त्रिमुखनमें अनेक स्थानात्री
बनकर ब्यास है । वह है कहाँ नहीं ? आग और पानीमें,
पृथ्वी और आकाशमें, भर और नरेश्वरमें, यहाँतक कि भर्तु
(इच्छा) और सूर्यिकातकमें भी वह अपना काम कर रही है ।

पद्मवामि तो मुकुन्दनायक मूर्तवाने
इदं हि नैकमपि वस्तु तया विहीनम् ।
एतन्मुद्भुत्युद्भुतं मनसा विचिन्त्य
पारं न यानि परमेश्वर ते महिमाः ॥

सुष्णेश्वर ! मैं तो उसे भूतमात्रमें विद्यमान देख रहा
हूँ । ऐसी एक भी तो वस्तु नहीं जिसमें आपकी शक्ति या
सत्ता न पायी जाती हो । परमेश्वर ! इन्हीं सब वारांका
विचार मम-ही-मम करके मैं हैरान हो रहा हूँ । आपकी
महिमा या महात्मा ओर-ओर नहीं । मैं पामर भला
उसके पार कैसे जा सकता हूँ ? वह तो मेरे लिये सर्वथा
असम्भव है ।

लोकैकदीपकमणी शुमणी त्वदीयं
स तं चक्राङ्गि शु यत्तिविरापहारि ।
तस्यैव क्षेत्रपि मुकुन्दविपते सरदेशो
रथमारदःकलगणेषु विराजतेऽमरम् ॥

समस्त छोड़ोंके लिये देशीज्ञमान श्रीपदका काल देखे-
बाले अनादा अस्तर जिस दीसिके द्वारा त्रिकोंकोक अन्धकार
दूर करते हैं वह उनकी निवाकी चीज़ नहीं । वह तो उन्हें
आपहीने दी है, आपहीकी हृष्टसे वह उन्हें ग्रास हुई है ।
परम्परा इससे कोई यह न समझे कि वह एकमात्र उन्हींके
हिस्सेमें पड़ी है । नहीं, आपकी वही शीर्षि, वही शक्ति,
वही सत्ता, अकृद्व जाकरे, गणिकोंमें पढ़े हुए रथःकल्पों-
तत्त्वों भी ज्ञात हैं । लोह, अकृद्व-सत्ता और वाक्यिमत्ता
इसकी अद्युत्ता ।

न ब्रह्मणः स्वपरमेदमतिष्ठान स्यात्
सर्वतमनः समवद्वाः स्वासुक्षानुमूले ।
संसेवता सुखदोरिव ते प्रसादः
सेवानुकृष्टपुदयो न विपर्ययेऽत्र ॥

यह अपना है, वह परापरा है—इसप्रकारकी भेद-
भुद्धि तो आपको कु ही नहीं गयी, उसका तो आपमें कल्पेश
भी नहीं । कारब्ध यह कि आप तो परब्रह्म, अतपूर्व सभीकी
आरम्भ है, सभीमें आप व्यापक है । इसीसे तत्त्ववेत्ता आप-
को समदर्शी और स्वयं सुखानुभवकर्ता कहते हैं । रागादि
दोषोंके सम्पर्कसे आप सर्वथा अद्भुते हैं । तथापि आपकी
सर्वध्यापकता और समदर्शिता एक विशेषता है । वह
वह कि जो आपकी सेवा करता है, जो अनन्यभावसे आपकी
शरण आता है—उसीको आप, उसकी सेवाके अनुरूप करप-
हुएके सदा फल देते हैं । उसे सेवानुरूप ही आपका
प्रसाद प्राप्त होता है । इसमें कदापि विपर्यय नहीं होता ।

युक्तं रिपौ सुद्धादि वा समदर्शनस्य
देवोद्देशोऽपि यदि ते हृदयं दर्शाद्यम् ।
तत्सम्प्रतं गतिविहीनमनात्मनीनं
दीनं जनं प्रति कुतः करुषावलेगः ॥

भगवन् ! आप समदर्शी हैं और समदर्शियोंका
क्षय कर्तव्य होता है, वह तो आपको बकानेकी बात नहीं ।
उनके सम्मुख चाहे शत्रु आ आप, चाहे भिन्न । आम-
समर्पणभर वह कर दे । फिर चाहे उसने जितना भीक्षण
आपराज किया हो, चाहे उसमें बड़े-से दोष ही क्यों
न हों । समदर्शियोंका हृदय तो, ऐसी दशामें, ऐसोंपर
भी क्षयाद्व दी हो जाता है । आपका हृदय भी ऐसा ही
है । तो फिर आप ही बकाह्ये—ज्या कारण है जो अब भी
आप मुक्ष दीन, गतिविहीन और पुरुषाहीन पामरपर हृषा नहीं
करते ? मेरे विकल्पमें आपको अपनी कल्पाकी याद क्यों
नहीं आती ?

अन्तुद्भुतेऽवमश्वेनेमृतांशुविद्वात्
स्वप्रियक्षसौ दिनमेकीक्षमिरप्रदेशः ।
तुष्णादेश्वर इक्षणुभिवेषकसाद्
अक्षादेश्वरशशेषप्रदीप्तवदीप्तं चतुः ॥

आपके पास करणाकी कमी तो है नहीं। कोटे-दो-कोटे या चढ़े-दो-चढ़ेकी तो बात ही नहीं; उसका तो अथवा सागर ही आपके विशाल हृदयमें छहरा रहा है। इस दशामें स्वामिन्! यदि आप मुझे उसका एक कण या एक खूँ दत्तक पानेका पात्र या अधिकारी न समझकर मुझ निःशरण और निराभय जनका तिरस्कार करेंगे तो मैं यही समझूँगा कि पीयूषवर्णी चन्द्रविष्वसे वज्रपात हो गया—उससे बिल्ली गिर गयी अथवा भुवन-भास्करने संसारको अन्धकारसे आङ्गूष्ठित कर दिया।

स्वामिन् निसर्गमलिनः कुटिलश्लेष्टः-
भेतादगेव च रिपुर्म भूत्युपाशः।
भूपलुवस्तव तथादिष्प च तस्य
शान्त्यै विषे हि विषमे विषमेव पथम्॥

स्वामिन्! बानक बहुत ही अच्छा बना है। देखिये, जैसा कि मैं स्वभावहीसे मलिन, कुटिल और चब्बल हूँ वैसा ही मेरा शत्रु काल भी नितान्त मलिन, कुटिल और चब्बल है। सम्मोहके लिये जगह इतनी ही है कि आपकी भौंह भी मलिन (काढ़ी) कुटिल (टेढ़ी) और चब्बल (चलावसान) है। अतएव आप अपने भू-निषेषसे समगुणवाले कृतान्तके कोषकी शान्ति सहज ही कर सकते हैं। व्योंगिक विष वाहे जितना भी विषम व्योंग न हो, उसका विकार उसीके सहर विषहीसे शान्त हो सकता है। उसके लिये आयुर्वेदमें इसी अचूक औषधका लिंगेवा है।

क्षीणः ऋतासिलकलः प्रविलीनधामा
त्वामाप्तिऽस्मि सवितारामिवामृतांगुः।
नास्त्येव वीननक्का भम काचिदन्या
पादार्पणे कुरुते गदि न प्रसादम्॥

मेरी दशा इस समय आमावास्याके चन्द्रमाके सहर हो रही है। उस तिथिको अपनी सारी कलाओंके नाशके कारण चन्द्र अस्पन्त ही चीण हो जाता है और उसका सारा तेज न मालूम कहाँ चक्षा जाता है। तब अपने पुनरुत्थावनका और कोई उपाय न देखकर वह सूर्यका आधय लेता है। और सर्व करणाका वरवर्ती होकर उस शरणार्थीको अपनी रथमयोंसे किर लिला देता है। भगवन्! मेरी दशा भी, आजकल उसी चन्द्रमाके सहर है। बन्न्य, जरा, भरणकी चिन्तासे मैं भी चीण हो रहा हूँ। मुझमें भी निष्प, साहित्य आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली कोई भक्ता

श्रेष्ठ नहीं। तेजस्करामे तो मेरा साथ सर्वथा हीं छोड़ दिया है। अतएव आपको परमकालिक दिनकर समझकर ही चन्द्रमाके समान मैं आपका आधय चाहता हूँ। यदि आप अपने पादार्पणके द्वारा मुक्षपर कृपा न करेंगे तो किर मेरा निकार नहीं—तो किर मेरी जीवन-कक्षा गधी ही समझिये।

पश्चात्पुरः प्रतिदिशश्च विमूश्य पश्यन्
कूरं कृतान्तहतकं फणिपाशपाणिम्।
भूमै पतामि कृपणं प्रलपामि पाद-
थेष्ठे कुठामि मगवन् कठिनोऽसि करमात्॥

आगे-पीछे, ऊरन-नीचे, इधर-उधर, जहाँ कहीं देखता हूँ, हाथमें नागावाक्ष लिये हुए क्रूरमा काल सर्वत्र ही मुझे दिखायी दे रहा है। भगवन्! अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किसको पुकारूँ? मैं आपके पैरों पढ़ता हूँ; मैं पृथ्वीपर लोटकर दरबवद प्रणाम करता हूँ। मैं दीनता दिखाता हूँ; मैं विनती करता हूँ। मुझे बचा लीजिये। अरे, क्यों इतने कठोर—क्यों इतने निर्दय हो गये?

किं कार्यमेभिरनिशं नरकुशै-
रुद्गंगकारिभिरुलब्धपैः प्रलपैः।
एवं विद्वन्नपि मुहुर्मुखं विरौपि
पश्यामि न त्वदितरं हि परं शरण्यम्॥

मैंने बहुत कुछ कहा; मैंने बहुत सिर पटका। पर अबतक आपने मेरी एक भी न सुनी। अतएव बार-बार उन्हीं बातांको दोहराने—उन्हींकी पुनरुत्थि करनेसे क्या लाभ? वह सब व्यर्थ होगा। इस तरहके इन निष्कळ प्रलापोंसे तो मेरा हृदय और भी उद्घिन हो उठता है। यह सब मैं जानता हूँ और अस्ती तरह जानता हूँ। परन्तु किर भी मैं करुणाजनक रुदन न करूँ—किर भी मैं न रोँ-धोँ—सो करूँ क्या? आपके सिवा मुझे कहीं अव्यक्त शरण मिलनेकी आशा तो नहीं। मेरे शरणवय सो एकमात्र आप ही हैं।

अन्यद्वीपि किमहं जगदेकबन्धो
बन्नुर्वे कोऽपि मम देव सुतोऽपि नास्ति।
तते पदान्विमुखस्य महावमस्य
हस्ते ततैव करुणामनुभिषे नतिमें॥

जगदेकबन्धो! मैं और अधिक बातें बाजा नहीं चाहता; और अधिक कहाँ-मुखमेंकी शक्ति भी मुझमें

महीं। मेरा कोई सहायक भी तो नहीं। आपसे छिपा नहीं; मैं तो बग्गु-बाल्लवोंसे भी रहित हूँ; संसारमें सुत-दारा आदि आरम्भीय भी मेरा कोई नहीं। अतएव, कल्पणा-सागर ! आपके पाद-पदमें सर्वथा विमुक्त मुक्त निःसहाय

और महाभ्रमके गति केवल आपके हाथ है। मुझे तो बस, एक आपका ही भरोसा है। चाहे पार लगा तीजिये, चाहे संसुरिके गहरे गतिमें पड़ा ही रहने दीजिये। 'यदिछ्छसि तत्कुर' [सङ्कलित]

ईश्वरविषयक उपदेश

[एक जिहादुके साथ श्रीउक्तिशावाचीका ईश्वरविषयक सम्पर्क]

जिहासु-ईश्वरकी सत्तामें क्या प्रभान्न है ?

स्वामीजी—यहले तुम यह बताओ, तुम आपे कहाँसे हो ?

जिहासु—हाथरससे ।

स्वामीजी—क्या तुम हाथरसमें को जानते हो ?

जिहासु—नहीं ।

स्वामीजी—क्या तुमने कलकत्ता को जानते हो ?

जिहासु—नहीं ।

स्वामीजी—इससे लिद होता है तुम सबको नहीं जानते और न तुमने सब वस्तुएँ ही देखी हैं।

जिहासु—जी ।

स्वामीजी—तो तुम अल्पज्ञ हुए ।

जिहासु—जी ।

स्वामीजी—इसी प्रकार सब जीव अल्पज्ञ हैं, किन्तु वे निरन्तर अधिकाधिक जानने—सर्वज्ञ बननेका प्रयत्न करते हैं। ऐसे ही कोई भी जीव संसारके सब पदार्थोंको नहीं बना सकता क्योंकि जीवकी शक्ति अल्प है; फिर भी वह इस प्रयत्नमें अवश्य रहता है कि वह अधिक-से-अधिक वस्तुओंकी रचना कर सके। वह अल्पशक्ति होकर भी सर्वशक्तिमान् बननेकी चेष्टा करता है। जीवकी यह प्रवृत्ति स्वामाधिक है और जबतक वह सर्वशक्तिमान् या सर्वज्ञ नहीं बन जाता तबतक उसकी दौड़-धूप शास्त्र भी नहीं होती। इससे लिद होता है कि कोई सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी है। अल्पज्ञता ही सर्वज्ञता का अनुभावक लिङ् है। अल्पज्ञ है, इसलिये कोई सर्वज्ञ भी होना चाहिये। अगल है, इसलिये इसका दूरविधा भी होना चाहिये। नियम्य है, इसलिये कोई नियामक भी होना चाहिये। इसप्रकार जो कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् या गत्तका रचनेवाला और उसका नियामक है वही ईश्वर कहकाता है।

ईश्वराराधन

ईश्वर सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है, वे आनन्द, शक्ति और अनुत्तरत्वके मूल हैं। वे कल्पणामय, एक, अद्वितीय, पवित्र, निरञ्जन, निराकार, स्वतन्त्र, अनुपम, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञायी हैं। ... वे ही सृष्टिकर्ता और प्रसिद्धालक हैं। इस सृष्टिके पहले कुछ नहीं था, वह ईश्वर ही थे; उस समय न दिन था, न रात। पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्ष, जल, वायु, पर्वत, नदी, वृक्ष, जला आदि कुछ भी नहीं थे। ईश्वरने अपनी इच्छासे इन सबका सृजन किया। ईश्वर ही मूल सत्य है। ईश्वरमें ही सब पदार्थोंकी सृष्टि हुई है। प्रत्येक पदार्थमें प्राणस्वरूपसे परमेश्वर ही अोत्प्रोत है। वे सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी और प्रत्येक घटनाके निरीक्षक हैं। उनसे छिपाकर कुछ भी नहीं रखता जा सकता। वे अनन्तर्यामी, असीम, अनन्त तथा भूम-जागीके आगोचर हैं, स्वर्यंज्योति और स्वयमभूत हैं। वे स्वयं यदि मनुष्यके हृदयमें प्रकट न हों तो मनुष्य उनके दर्शन करनेमें असमर्थ है। वे आनन्द, शान्ति और अनुत्तरके निर्कर्ता हैं। भंगलदाता, पवित्र और सचेत जाग्रत भावसे सर्वश्रृंग व्यापक हैं। इसप्रकार ईश्वरके स्वरूपका विवार करके उनकी पूजा करनेको आराधना कहते हैं। समस्त विश्वमें उनकी महिमा-के दर्शनकर भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम करना आराधना है।

ईश्वरके विन्दनका नाम ही ध्यान है। परमेश्वर हमारे हृदयमें विराजमान है, इसप्रकार सतत विन्दन करनेसे अन्तःकरणमें प्रभुका प्रकाश होता है और प्रभुकी दिव्य उपोतिके दर्शन होते हैं। ...

प्रभुका प्रकाश भिल्ले ही उनका स्वरूप करनेकी स्वयमेव इच्छा होती है। उनका गुण-कीर्तन और उसकी महिमाका नाम ही स्वरूप है। इस स्वरूपकी भी समाप्ति नहीं है। स्वरूप करते-करते वह मन आनन्द-सागरमें दूरने रुग्नता है तब उनके चरण-कर्मणोंमें आगमनमर्पण किये विना रहा ही नहीं जाता।

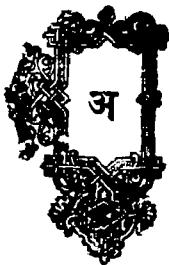
—प्राचार्य श्रीविजयकृष्ण गोखलामी

तत्त्व-रहस्य-मीमांसा

(बीगोवर्दनीठाड़ीकर श्रीजगद्गुड आ ११०८ श्रीशहराचार्य श्रीकारतीकृष्ण तीर्थ स्वामीजी महाराज)

हौत्रप्रिहेत्राप्रिहविष्प्रहोतु-
होमादिसर्वाकृतिभासभानम् ।
यद्ब्रह्मतदोधनितिश्चिन्मा

नमो नमः श्रीगुरुपादुकाम्याम् ॥



काम केना चाहिये इत्यादि । इस जिज्ञासासे प्रेरित होकर जो विचार करनेवाले हैं वे ही विद्वान् या विचारवान् हैं और जो नहीं करते हैं वे ही मूर्ख या विचारशून्य गिरे जाते हैं । परन्तु इस विषयमें सो शङ्का हो नहीं सकती कि मनुष्य-मात्रके मनमें उक्त जिज्ञासा कभी-न-कभी अवश्य ही उत्पन्न हुआ करती है ।

इस जिज्ञासाका अर्थन्त महत्व है; क्योंकि जबतक मनुष्य पता नहीं लगाता कि इस कहाँसे आये हैं, अब क्या हैं और कहाँ जानेवाले हैं, तबसक उसका अपने ज्येष्ठ या उच्चमें पहुँचनेवाले साज्जन या साधनोंकी ओर ज्यान ही नहीं छाए सकता । किर साधनोंकी प्राप्ति और उनके हाता अपने उच्चमें पहुँचनेकी आशा उसे कैसे हो सकती है ? अतः इस महत्वशाली विषयके दिग्दर्शनार्थ इस घोषणे प्रयत्न किया जाता है ।

इस विचारमें पहली आवश्यकता इस बातकी है कि प्रकृत आकांक्षाकी पूर्तिके लिये किस प्रमाणके आशारपर हमें अपने सिद्धान्तका निष्पत्त करना है । केवल छोड़िक या बाह्य दृष्टिसे देखनेवालोंका तो आश्रित्यूर्धक कहा है कि इस प्रस्तु-प्रमाणको ही मानते हैं और किसीको नहीं । परन्तु यह तो अपनिषदान्त है और इसके निराकरणके लिये अधिक प्रयत्नका आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि इसी बातके ऐहिकमें भी केवल हृग्नियोगवर विषयोंका भी अब केवल प्रस्तु-प्रमाणसे निष्पत्त नहीं होता, तब इस

जन्मसे पिछले तथा अगले जन्मों और परिस्थितियोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अर्थन्त असीन्द्रिय विषयोंका प्रस्तु-प्रमाणसे इस कैसे निष्पत्त कर सकते हैं ?

दूसरा प्रमाण है अनुमान । इससे जागरके कुछ काम तो हो जाते हैं, परन्तु सब काम नहीं हो सकते । शब्द-स्वर्णी प्रमाणके आशारपर ही लौटिक व्यवहार भी ग्रामाः निर्भर हुआ करते हैं । उदाहरणार्थ अनुमानसे हमें इतना ही सिद्ध हो सकता है कि हमारी भी कोई अन्मदात् अवश्य होती, परन्तु शब्द-प्रमाणको छोड़कर किसी प्रकारके अनुमानके बलसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि असुक यही हमारी माता है । किर पारलौकिक अतएव अर्थन्त असीन्द्रिय विषयोंका अनुमानसे क्या निष्पत्त हो सकता है ? इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने बताया है कि आत्मतत्त्वका ज्ञान आप वचनरूपी शब्द-प्रमाणसे ही प्राप्त हो सकता है ।

‘नावेदिवन्मनुतं तं बृहतं’

‘मातृमान् पितृमान् आत्मार्थवान् पुरुषो देद’

‘तं तौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि’

इत्यादि श्रुतियों—

‘शास्त्रयोनित्वात्’ इत्यादि वेदान्त-सूत्रां—

‘तीर्द्धदि प्रणिपातेन परिप्रक्षेन सेवया ।

उपदेश्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्त्रूतदर्शिनः ॥’

इत्यादि भगवद्गीता-बचनों और अन्यान्य प्रमाणार्थसे यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि शब्द-प्रमाणसे ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है ।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शब्द-प्रमाणपर अन्ध-भद्वा करनी चाहिये । युक्ति, विचार, अनुमान आदिका इसमें कोई काम नहीं है इत्यादि । तात्पर्य इतना ही है कि सावधारकररूपी अनुमतवाले गुहसे ही सिद्धान्तका अवश्य करना चाहिये । इसीलिये श्रुतिने कहा है कि ‘ओतथ्यो मन्त्रात्मो विदित्यासितम्यः,’ स्मृतिने ‘यस्त्वेण यानुसन्धते’ कहा और भगवान् श्रीकृष्णने भी ‘पदिप्रवेत्’ इस शब्दसे विचारपर बोर दिया है और—

‘बद्धेण्यः स्पान्निश्चितं बृहि तन्मे

किष्यस्तेऽहं शावि मां त्वां प्रपदम् ॥’

—इहनेको अर्थात् आङ्ग आङ्गनेवाले किया और शास्त्रान्तर अर्हुद्धर्म को भी आङ्ग न देकर अलेक प्रकारोंसे समझा-समझाकर सब शांकाओंका समाचार करते, अस्त्रमें ‘कथितेतत्कृतं पार्थ’ इत्यादि प्रथा पूढ़कर और ‘स्त्रियोऽपि गतसम्बद्धः करिष्ये वचनं तव’ अर्जुनसे यह उत्तर पाकर इसी तथाको अपने उज्ज्वल आचरणसे भी सिद्ध किया है कि आस्त्रचनके द्वारा अवश्य किये हुए सिद्धान्तको, मनन (अर्थात् तदनुकूल युक्तियोंके विचार) से अपनी उद्दिष्टी और विभिन्नासन (अर्थात् सतत धाराप्रवाहारूपी अनुसन्धान) से अपने इदयके अतिर अटल-रूपसे बैठाना चाहिये।

इस कार्यप्रयोगालीके अनुसार अब हमें पहले-पहल श्रवण करना है अर्थात् श्रुत्यादिरूपी शब्द-प्रमाणसे पता लगाना है कि परमात्मा, जीवात्मा और जगत्के सम्बन्धमें शांकोंका क्या सिद्धान्त है, उसके बाद उसी सिद्धान्तका मनन अर्थात् युक्तियोंसे स्थापन और पोषण करना है।

वैदिक सिद्धान्तके किसेवा किसारके साथ प्रतिवादनकी आवश्यकता नहीं है, यद्योंकि अपने-अपने साम्यदायिक राग-इर्ष्यों (Prepossessions and prejudices) और खाड़ाविक पश्चातां (Natural or unconscious partialities) को प्रयत्नपूर्वक अपने हृदयसे सर्वथा हटाकर केवल सत्यके जिज्ञासु (Seeker after truth) की हैसियतसे शांकोंका अध्ययन करनेवाले प्रत्येक मनुष्यको सर्वथा स्पष्ट होता कि वेदादि प्रम्योंमें वहाँ-जहाँ परमात्मा, जीवात्मा और जगत्के पारस्परिक सम्बन्धका विवेचनापूर्वक उल्लेख आता है, वहाँ-जहाँ इन तीनोंका एकत्र ही बताया जाता है—मेद नहीं, वैदिक भेदका सासार निवेद भी खूब पाया जाता है।

इस सिद्धान्तके समर्थनके लिये वैदिक मन्त्र आदि इत्यार्थी प्रमाणोंका विवरण किया जा सकता है; परन्तु यहाँ कठिनपय खास-खास प्रमाणोंको ही उद्दृष्ट करके सिद्धान्त बताया जाता है; क्योंकि इन प्रमाणोंका अर्थ हृष्टना स्पष्ट है कि सभ्ये जिज्ञासुके हृदयमें इब प्रमाणोंके अध्ययनके बाद अद्वैतके विवरमें शंका रह ही चहीं सकती।

एको देवः सर्वमृतेषु गृहः:

सर्वमापि सर्वभूतान्तरमा।।

‘भैश नानादिः किञ्चन।।

‘मूलोः स मूलुमध्यंति य इह नानेव एवत्ति।।

‘द्वितीयद्वै भवं भवति ।।

‘उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य मवं भवति तदात्मनं स्वयं अकुरुते ।।

‘स वशम् पुष्टे बशासावादित्ये स एकः ।।

‘सर्वैषि मूलानि अप्तमैवामूद्दित्रिनातः ।।

‘तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।।

‘बसिन् एकसिन् विशांतं सर्वमिदं विशांतं भवति ।।

‘ऐतदात्मयमिदं सर्वं ।।

‘ईशावास्त्वमिदं सर्वं ।।

‘स भरमा तत्त्वमसि खेतकेतो ।।

इत्यादि (उपनिषदोंमें मिलनेवाले) स्वयं प्रमाणोंका केवल उल्लेख करना ही पर्याप्त है और उपनिषदोंके सिद्धान्तके विवरणार्थ एक ही मायदृश्य-उपनिषद्को लेकर विचार करना भी पर्याप्त होगा, जिसके सम्बन्धमें मुक्तिकोपनिषद्में सब उपनिषदोंका वर्णन करते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-ने श्रीअनुमानजीसे कहा—

‘मायदृश्यमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये ।।

भर्त्यात् सुमुकुडोंकी मुक्तिके लिये केवल मायदृश्य ही पर्याप्त है। इस मायदृश्य-उपनिषद्ने तो आरम्भमें ही केवल अद्वैत-सिद्धान्तकी प्रतिज्ञा की है कि—

‘ओमित्येतद्विष्टमिदं सर्वं तस्मोपव्याख्यनम् ।।

‘भूतं भवति भविष्यति दिति सर्वमोक्षात् एव यज्ञान्यत्विकालातीतं तदप्योकार पव ।।

‘सर्वं हेतद्वद्वा अयमात्मा ब्रह्म।

अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्यत् कालके सब पदार्थ और विकालातीत पदार्थ भी ओंकार ही है, यह सब जगत् और यह जीव ब्रह्म ही है। इत्यादि, और आगे बढ़ते हुए मायदृश्य-उपनिषद्ने जाग्रत्, स्वप्न, सुपुसि इन तीन अवस्थाओंके प्यट्टिरूपी जीवोंका समष्टिरूपी जीवके साथ और इयत्वातीत निर्गुण परमात्माके साथ भी अकार, उकार, मकार और ओंकारके स्पष्टके द्वारा एकता बताकर परमात्मा, जीवात्मा और जगत्की वस्तुतः एकताके अत्यन्त स्पष्ट किया है। मायदृश्य-उपनिषद्के आधारपर (जो अहोंके हिसाबसे केवल बारह मन्त्राली और सबसे छोटी उपनिषद् है, परन्तु अधिके हिसाबसे मुक्तिको-विविदके अनुसार एवं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके कहनेके अनुसार सब उपनिषदोंकी शिरोमणि है), वहाँतक ब्रह्म

जा सकता है कि भाशद्वय-उपनिषदोंको मानें और अद्वैत-सिद्धान्तको न मानें, ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो सकतीं।

इसके अतिरिक्त और एक प्रकारसे भी अद्वैत-सिद्धान्त सिद्ध किया जा सकता है जो उपनिषदोंके बताये हुए सृष्टिक्रमको आननेवालोंके लिये सर्वथा निर्विवाद है। उदाहरणार्थ, तैतिरीयोपनिषद् ने जगत्की सृष्टिका वर्णन करते हुए—

‘सब त्यक्षमवत्’

अर्थात् जगत्की सृष्टिसे पहले जो परमात्मारूपी एक ही वस्तु थी, उसने आत्मा और अनात्मारूपी सब पदार्थोंका रूप धारण किया है। इत्यादि कहनेके अतिरिक्त जगत्की सृष्टिका संकल्प करनेवाले ईश्वरके संकल्पका इन स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है कि—

‘बहु स्यां प्रज्ञायेति’

अर्थात् मैं बहुत बहुँगा, जम्म लूँगा, इसमें ईश्वरका संकल्प यही था कि ‘बहु स्याम्’ (‘बहु कुर्यां’ नहीं) अर्थात् बहुत बहुँगा (बनाऊंगा नहीं) और ‘प्रज्ञायेत्’ (‘प्रज्ञनयेत्’) नहीं। अर्थात् वैदा हूँगा (वैदा करुँगा नहीं) जब ईश्वरने ऐसा संकल्प करके जगत्की सृष्टि की है और इस सब ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और सर्वय-संकल्प मानते हैं तब इस सबको विद्या होकर या तो स्वीकार करना होगा कि ईश्वरने ही सब जीवों और सारे जगत्का रूप धारण किया है, नहीं तो यह मानना होगा कि ईश्वरने स्वयं बहुत पदार्थरूपसे जम्म लेनेका संकल्प तो किया था; परन्तु ऐसा न करके उसने अपनेसे अभियोग पदार्थोंकी सृष्टि ही की है, इसलिये ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वय-संकल्प नहीं भाना जा सकता।

जो उपनिषदोंको नहीं मानते हैं और कहते हैं कि पूर्वसंहिता ही प्रमाण है उनके लिये तो पुरुषसूक्तका, जो पूर्वसंहिताके अन्तर्गत है—

‘प्रजापतिश्चरति गर्मे अन्तः-

अजायमानो बहुधा विजयते ।’

—इत्यादि पूर्क ही मन्त्र अद्वैतसिद्धान्तके समर्थनके लिये पर्याप्त है, क्योंकि इसमें स्पष्ट बताया है कि जो अब अर्थात् जन्मसंहिता परमात्मा है वही अनेक रूपसे अन्म छेता है, इत्यादि। इस प्रसंगमें यह भी कहना अनुचित

न होगा कि इस मन्त्रका आर्यसमाजके संस्थापक स्वामी ददानन्द सरसवीने भी अपने भाष्यमें यही अर्थ बताया है औ हमने ऊपर दिया है।

इसी प्रकारसे भी मन्त्रगवड़ीतासे भी अनेक प्रमाण उद्घटत किये जा सकते हैं जिनसे अद्वैतसिद्धान्त अवश्य निकलेगा। परन्तु उनमेंसे इम यहाँ केवल तीन ही स्लोकोंको उद्घेत करते हैं—

‘ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हर्विवद्याग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥’
‘इदं शरीरं कौतेयं क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
पतयो वेति तं प्राणुः क्षेत्रङ्ग इति तदिदः ॥’
‘क्षेत्रं चापि मां विद्धि सर्वेषांतु भासत् ।
क्षेत्रक्षेत्रगोर्हानं यतज्ञानं भतं भम ॥’

अर्थात् हवन-निकाया भी ब्रह्म है, हविण्य भी ब्रह्म है, अप्नी भी ब्रह्म है, हवनकर्ता भी ब्रह्म है, कर्मकी एकाप्रता भी ब्रह्म है और प्राप्तव्य भी ब्रह्म है।

शरीरका नाम क्षेत्र है, शरीरकी ममता करनेवाला (कि यह मेरा शरीर है) ‘क्षेत्रङ्ग’ है।

सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रश्च मैं ही हूँ; और मेरी सम्पत्तिमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञोंका ज्ञान ही ज्ञान है।

इस सम्बन्धमें यह बतलाना अप्रासंगिक न होगा कि आर्यसमाजके प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता और नेता श्रीहिन्द्रिसाद् वैदिक मुनिने भी अपनी ‘स्वाध्यायसंहिता’ में गीताके उपर्युक्त श्लोकोंका और इस लेखके आरम्भमें उद्घाट किये हुए अनेक वैदिक मन्त्रोंका भी यही अर्थ लिखा है जो हमने लिया है।

आत्म-तत्त्व-ज्ञानके यथार्थ ज्ञानको छिपाकर इन पदार्थोंके भेदकी प्रतीति करनेवाली भगवच्छिक्षिरूपी मायाके सम्बन्धमें भगवान् भाष्यकार शङ्करके बताये हुए मायावादका जो अनेक सम्प्रदायोंकी ओरसे विरोध किया जाता है उसके विषयमें वित्तारमें न उतरते हुए इस इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि मायावाद शङ्करका निर्णय किया हुआ कोई नया सिद्धान्त नहीं है, अलिंग उपनिषदोंमें स्थाय भीमन्त्रगवड़ीतामें पाया जाता है और भीमन्त्रगवड़ीतामें तो आरम्भसे लेकर अन्ततक गिरती करनेपर हजारों स्थान ऐसे भिन्नोंगे जिनमें मायावादका आत्मन्त स्पष्ट

उल्लेख है। उदाहरणार्थ उपमित्र, गीता और शीमद्वा-
गवतके कुछ प्रभाग—

‘मायान् प्रकृति विद्वान्मामिनं तु महेश्वरम् ।’

(बेताष्टरोपनिषद्)

‘नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायामायवृतः ।’

‘अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुहूर्तं जन्मतः ।’

‘दैवी द्वेषा गुणमयी मम माया दुरस्तया ।

मामेव ये प्रपञ्चन्ते मायमेतां तरन्ति ते ॥’

(गीता)

‘मायां ततान् जनमोहिनीम् ।’

‘रज्ज्वामहे मोगमवामवौ मया ।’

‘मन्यमान इदं सुष्ठुप्रसानमिह सज्जते ।’

(शीमद्वागवत)

‘यदिदं मनसा ताचा अध्युम्यां प्रदणादिभिः ।

नश्च गृहमाणं च विद्धि मायमनोमयम् ॥’

(शीमद्वा० ११।७।७)

अर्थात् जिस (जगत्) का मन, वाणी, चक्षु, श्रोत्र
आदि (इन्द्रियों) से ब्रह्म किया जाता है, उसे नश्च
और मनसे ही कल्पित मायामय जान।

इत्यादि इजारों प्रभागोंसे भगवान् शहूरका केवल
अद्वैत-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि विवर्तवाद भी अचरणः
स्थापित होता है।

अपने धर्मशास्त्रोंके इन प्रभागोंके विचारके बाद अब
अन्यान्य मज़हबोंके प्रभागोंका भी संछेपसे, समन्वयके
लिये, विचार किया जाता है। ईसाइयोंके वाहिकाओंमें
ऐस्ट्रेल ईसाके स्वर्ण बताये हुए ‘Ye are Gods’
(अर्थात् तुम सब ईश्वर हो) ‘The Kingdom of God
is within you’ (ईश्वरकी सारी दुनिया तेरे भीतर
है)। इत्यादि प्रसंगोंसे और विशेष करके उनके लास
प्रेम-पात्र शिष्य St John के Gospel, Epistles और
Revelation इन लोगों जबर्दस्त अन्योंसे स्पष्ट होता है
कि ईसाने ऐलेस्टाइन देशमें हमारे अद्वैत-सिद्धान्तका ही
प्रचार करनेका प्रयत्न किया था; परन्तु वहाँके दुराग्रही
दैत्यादियोंमें इसी कारणसे रुक्ष रोकर उनको बहाँकी
तालाकिङ रोमन राजमंडेटकी आज्ञासे शूलीपर चढ़ा
दिया था। तो भी उक्त प्रभ्योंका अध्ययन करनेवाले सब

जिप्पत्पात जिज्ञासुओंको आवश्य मानना होगा कि आज-
कलके पाश्चात्य ब्राह्मणके प्रभु, गुरु और रहक (Lord,
Master and Saviour) ईसाका तो सिद्धान्त अद्वैत-
सिद्धान्त ही है। इस सिद्धान्तको समझनेके लिये जो
आधिकारी हैं वे ऐसे ग्रन्थोंको ‘हमारी समझमें नहीं आता’
(Too mystical for us), कहकर एक और छोड़ते हुए
सेषट मेथ्यू (St. Matthew), सेषट ल्यूक (St. Luke),
सेषट मार्क (St Mark) आदिके ग्रन्थोंका ही जिनमें
आध्यात्मिक और ज्ञानकार्यकी बातें आती ही नहीं,
अन्यथा किया करते हैं।

मुसलमानोंमें भी ज्ञानकार्यका ही विचार करनेवाले
सुनियोंका मत तो अद्वैत ही है।

हसी प्रकारसे द्वैतप्रेषी चित्तवृत्तिमें रहनेवालोंके लिये सब
मज़हबोंमें पृथक् स्थान पाया जाता है और जो उत्तमाधिकारी
हैं उनके लिये अद्वैतका स्थान भी पृथक् मिलता है।

इन बासोंके विस्तारमें उत्तरनेकी आवश्यकता नहीं है।
केवल इतना ही कहना आवश्यक तथा पर्याप्त है कि
पुराने ग्रीसके तत्त्ववेत्ता प्लेटो (Plato) से लेकर अर्काचीन
तत्त्ववेत्ताओंमें स्वेडनबर्ग (Swedenborg), वर्ड्सवर्थ
(Wordsworth), ब्राउनिंग (Brownrig), कार्लोइल
(Canlyel), एमरसन (Emerson), बिशप बर्कसे (Bishop
Berkeley), हेगेल (Hegel), फिल्टे (Fichte),
इम्मेनुल कांट (Immanuel Kant), राल्फ वाल्टो ट्राइन
(Ralph Waldo Trine), थामस हिल ग्रीन (Thomas
Hill Green), विलियम वाकर एटकिन्सन (William
walker Atkinson), इला एलर विल्कराक्स (Ella
Wheeler Wilcox), प्रो० पॉल ड्यूसेन (Professor
Paul Deussen), आदि वडे-वडे तत्त्ववादियोंतकने
REALISM (सृष्टि-सृष्टिवाद या द्वैत) को अपसिद्धान्त
बताकर IDEALISM (ईष्टि-सृष्टिवाद या अद्वैत) को ही
माना है।

इस प्रसंगमें विशेषरूपसे सरण रखनेयोग्य विषय
यह है कि आजकल पाश्चात्य जगत्में हिन्दुस्तानके लिये
जो कुछ मान और प्रतिष्ठा है वह सब-की-सब भगवान्
शंकरके MONISM (अद्वैत) सिद्धान्तके आधारपर ही
है और किसी कारणसे नहीं। बासबमें तो पाश्चात्य
बगत भारतीय तत्त्वज्ञान (Indian Philosophy)
रखत्से शंकरसिद्धान्तको ही आनंदा है।

इस धर्मभूत अद्वैतवादी पर्यालोकवाद से प्रत्येक विचार-क्षीक मनुष्यके मनमें इस प्रकार उठता स्वाभाविक है कि वेद आदि सत्त्वासन-वर्जनव्याप्तिको न मानते हुए स्वतन्त्र विचार करनेवाले इतने बड़े-बड़े पात्रात्म सत्त्वासाधिकारोंने भी जो भूमित्वमें हमारे वेदाम्बाके अद्वैत-सिद्धान्तको ही माना है इसका कारण क्या है ? इस प्रकार तो एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह है कि वही रिद्धान्त सुक्षिप्त भी है और इसलिये स्वतन्त्र विचारकोंकी भी विचार होकर इसी रिद्धान्तको मानना पड़ा । अब इस सुक्षिप्तताको लेकर इसे संचेपसे यह विचार करता है कि श्रद्धैत-सिद्धान्तका किन-किंव युक्तियोंसे समर्थन और पोषण होता है भर्यात् अब अवश्यके बाद भ्रमनका आरम्भ करता है ।

प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें होनेवाले जिस प्रकार इस खेलके आरम्भमें हमसे उत्तेजित किया है कि हम कहाँसे आये हैं अब क्या है और कहाँ जानेवाले हैं इत्यादि, उसी प्रश्नको लेकर युक्तिसे विचार करनेपर अद्वैत-सिद्धान्तकी उत्तिष्ठृतता स्पष्ट हो जाती ।

अपने आत्माके स्वरूपभूत लक्षणका विचार करनेसे पहले इसी लक्षणके लक्षणोंकी भलीभांति समझकर आगे बढ़ता चाहिये । स्वरूपभूत लक्षण सो वही लक्षण है जो अपने लक्षणके साथ स्वाभावसे ही लक्षणसे लगा हुआ है, किसी तात्कालिक और बाह्य कारबद्धसे आया हुआ लक्षण नहीं है; क्योंकि बाहरके तात्कालिक कारणसे आये हुए सब लक्षण योद्धे समयके बाद अपने आप चले जाते हैं और उनके स्थानपर वे ही स्वाभाविक लक्षण आ जाते हैं जिनको उक्त आगाम्तुक लक्षणोंमें तत्कालके लिये देखा दिया था । उदाहरणार्थ अस्ति, सूर्य, गन्धकबाली भूमि आदि कारणोंसे बलमें आयी हुई उद्धता घट-घटकर छूट जाती है, सर्वदाके लिये लहर वहीं सकती । अतएव आगाम्तुक लक्षणोंकी पानेवाला प्रत्येक मनुष्य तुरन्त पूछता है कि इस (गर्भी आदि) का क्या कारण है ? इस प्रश्नसे ही स्पष्ट है कि उक्त गर्भी आदि गुण अब आदि पदार्थके लिये स्वाभाविक नहीं हैं ।

इति तत्त्वको ज्ञानमें रखते हुए विचार करनेपर अपने आप स्पष्ट होता है कि दुःख आत्माका लक्षण नहीं है, क्योंकि जब कोई रोता है तब वेदनेवाले सभी तुरन्त पूछते हैं कि वहीं रोते हो ? इस 'क्वौं' प्रश्नसे ही स्पष्ट है कि रोता तात्कालिक बाह्य कारणवारी है—स्वाभाविक

नहीं है अर्थात् आपमा आनन्दस्वरूप है । एक और प्रकारसे भी आत्माका आनन्दस्वरूप स्वाह किया का सकता है कि इम जिस पदार्थके लिया वह नहीं सकते और जिसकी ओजामें सर्वदा रहते हैं वही हमारा स्वरूप है । उदाहरणार्थ, इम व्याधिको इसलिये नहीं परन्तु करते और आरोग्यको ही चाहते हैं, क्योंकि आरोग्य ही हमारे लिये स्वाभाविक है—रोग नहीं । इसी प्रकारसे इम इसलिये दुःख नहीं चाहते और सर्वदा आनन्द ही चाहते हैं, क्योंकि दुःख हमारा स्वरूप नहीं—आनन्द ही हमारे स्वरूप है । इसी व्यापक नियमसे सारे वेदान्तका मनन किया जा सकता है । आनन्दके साधनके सम्बन्धमें हजारों भूमेद हो सकते हैं; परन्तु अपने लक्ष्य व्येद या साध्य आनन्दके सम्बन्धमें तो कोई भूमेद कभी भी नहीं होता । इसलिये आत्मा आनन्दस्वरूप है । और इम सभी तनिक भी दुःख न पाहते हुए केवल शुद्ध आनन्दको ही चाहते हैं, इसलिये आत्मा दुःख-लेशसे भी रहित, शुद्ध, अस्तरण, अपरिचित्त, आनन्दस्वरूप है ।

आनन्दके विभागोंका विचार करनेपर अन्तर्गत द्वंद्वस्वरूपसे जिन पदार्थोंकी खोजमें इम सर्वदा रहते हैं वे भी हमारे स्वरूपभूत लक्षणके अन्तर्गत हैं, इनका संचेपसे विचार करना है ।

पहली बात यह है कि इम मरना नहीं चाहते, जिन्दा रहना चाहते हैं । इसका कारण यही हो सकता है कि शाश्वत-अस्तित्व ही हमारा स्वरूप है—मृत्यु नहीं । इसलिये आत्मा अमर है ।

इसका निश्चय संस्कृत-भाषाके शब्दोंके व्याप्तिकारसे भी किया जा सकता है । संस्कृतमें 'जन्म' शब्दका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है अर्थात् जो वस्तु पीछे थी वह सामने आयी; 'उत्पत्ति' शब्दका अर्थ ऊपर आना है अर्थात् जो वस्तु नीचे दूधी या छिपी हुई थी वह ऊपर आ गयी; 'स्थिति' शब्दका अर्थ बाहर छोड़ना है अर्थात् जिस वस्तुको भीतर छिपाकर रखना या उसे बाहर निकाला । इन सीन शब्दोंके अतिरिक्त संस्कृत-भाषामें और कोई शब्द है वहीं, जिससे कि यह अमात्मक भाव उत्पन्न हो सकता हो कि जो वस्तु पहले नहीं थी उसका नया अस्तित्व हुआ ।

इसी प्रकारसे संस्कृतमें 'जाति' शब्दका अर्थ 'अद्वैत' है अर्थात् जो वस्तु सामने भी वह किय गयी । इससे स्पष्ट है कि जिस वस्तुका अविद्या है उसका स्थावरात्मक,

हमान्दर और मानवतर हो सकत है—जलव जली नहीं होता। इसी विषये भगवन् अद्विक्षये—

‘नासते विद्यते मातो नामाते विद्यते सतः ॥’

‘इस आदे कीकरी इष्ट लिपि है; और पात्रात्म विज्ञान-विद्याओंमें भी ‘Indestructibility of matter,’ ‘Conservation of energy’ आदि परिमाणिक शब्दों से वर्णिया जलिकार लिपि है। इसलिये आत्मा अवादि और अवश्य है अर्थात् जिकावाचार्य अदित्यवाचारा है जिसका वेदान्तकी परिभाषामें ‘सत्’ शब्दसे अवहार होता है।

आनन्दके अन्तर्गत दूसरी बात यह है कि इम पदार्थोंको जानेवेरी इष्ट करते ही रहते हैं और न जानेवेर दुखी होते हैं, अतः उपर्युक्त व्यापि (अर्थात् नियम) के अनुसार यह भी सिद्ध है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है—अज्ञानस्वरूप नहीं। अतएव भगवान् वे कहा—

‘अहनेनावृतं शानं तेन मुद्दिन्त जन्तवः ॥’
‘तेषामादित्यवज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥’

अर्थात् जैसे सूर्यको मेघ छिपा लेते हैं और उनके निकल जानेवेर वह इष्टिगोचर होता है, इसी प्रकारसे आत्मारूपी ज्ञान-सूर्य अज्ञानरूपी मेघसे छिपा रहता है और उसके निकल जानेवेर अनुभवगोचर होता है इत्यादि। इसलिये इमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि जैसे अप्रकट अधिको वर्षेवसे प्रकट किया जाता है, अप्रकट विज्ञानोंको उपरित साधनोंसे प्रकट किया जाता है और शिल्पकार वहे पर्यारसे उसके भीतर छिपी हुई अभीष्ट मूर्तिको बाहरके आवश्योंको काठकर प्रकट करता है, इसी प्रकारसे इमारे भीतर भी छिपे हुए ज्ञानको शिल्परूपी साधनसे प्रकट किया जाता है। बाहरसे ज्ञान कभी भी भीतर ढाका नहीं जाता, भीतरसे ही बाहर निकाला जाता है। परिं ज्ञान बाहरसे भीतर जाका जाय तो पूर्वोक्त नियमके अनुसार यही परिणाम हो सकता है कि गरम किये हुए जलकी आगमन्तुक गरमीकी भाँति वह आगमन्तुक ज्ञान भी बढ़ते-बढ़ते कूट जायगा—छार नहीं सकता। इसलिये अंग्रेजीमें शिल्पज्ञका नाम ‘Education’ है जिसका वीरिक अर्थ ‘Drawing out’ (बाहर लाऊना) है। वरि ज्ञानको बाहरसे भीतर ढाकें, तो उसका नाम Education नहीं होकर Injection होता। कुछ ही समय पहलेकी बात है कि क्षम्भसमें एक छड़की

बहुत बीमार होकर उम्रः ज्ञानस्वाभ करते ही अपनी मातृभावा के छोड़े भूकंठर दस-पन्द्रह नरी भाषाओंमें प्रृथम बोलने वाली थी और युरोपके बड़े-बड़े Scientists, Philosophers and Psychologists (विज्ञानवेत्ता, तत्त्वज्ञेता तथा मनोविज्ञानवेत्ता जनों) ने उस प्रसंगकी पूरी परीका करके विद्या होकर यही स्मीकार किया था कि भीतर छिपे हुए ज्ञानके बड़े-बड़े विभागोंके द्वारा उस बीमारीमें अपने आप कुछ गये होंगे और मातृभावावाला द्वारा बन्द हो गया होगा। अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाणसे भी सिद्ध ही गया कि आत्मा अस्तव्य ज्ञानस्वरूप है जिसका नाम वेदान्तकी परिभाषामें ‘विद्’ है।

आनन्द-सामग्रीके अन्तर्गत तीसरा अंश यह है कि केवल इम मनुष्य हो नहीं किन्तु अत्यन्त छोटे कूमी-कीट भी स्वतन्त्रतामें रहता जाते हैं—बन्धनमें नहीं। इस विज्ञानी अनुभवसे उपर्युक्त व्यापिके अनुसार स्पष्ट है कि आत्माका स्वरूपभूत अवधारणा है—बन्धन नहीं।

इससे आगे जौया अंश यह भी है कि इम सब अपने छिपे स्वतन्त्रता वाहते हुए साथ-साथ यह भी जाहा करते हैं कि इसीरी बातको सभी जानें। इसका अर्थ तो यही हो सकता है कि इम ईश्वरके अस्तित्वको जानें या न जानें, ईश्वरमें जो ईश्वरत्व है उस जाग्रणको इम अपनेमें बाहर हों अर्थात् इम असज्जमें ईश्वर-स्वरूप हों।

अतः सत्, विद्, आनन्द, मुक्ता और ईश्वरता—इन पाँच ज्ञानोंको जब इम अपने स्वरूपभूत ज्ञानस्वरूपसे उपर्युक्त मनके द्वारा समझ सकते हैं तब इमारे मनमें यह तो सिद्ध है कि परमात्माके जिसने लहर हैं वे सभी इमारे ज्ञान हैं अर्थात् परमात्मा, जीवात्मा और जगत्की वास्तविक एकता स्पष्ट हो गयी।

और भी एक प्रकारसे यह सिद्धान्त स्पष्ट हो सकता है कि जब परमात्मा सर्वव्यापी है तब उसको अवश्य ही सर्वरूपी भी होना ही चाहिये। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव-सिद्ध है कि जिस सूर्यिकासे घट बनता है वही उसमें जोत-प्रीत होती है (जननेवाला कुम्हार घटमें जोत-प्रीत नहीं होता), इसी प्रकारसे तन्तु और कल तथा स्वर्ण और भूषण आदिकी बातें हैं। अतः परमात्मा भी तभी सर्वज्ञतम्यावाही हो सकता है जब उसीसे जात बगा हो—उसके बातें जानेसे नहीं। अर्थात् ईश्वर

जगत्का उपादान-कारण या समवाय-कारण होनेसे सर्व-स्थापी है—निमित्त-कारण होनेसे नहीं। इसी तरहको—

‘वाकारमणं नामधेयं विद्धो मृत्तिकेस्वरं सत्यम्’

इस मृत्तिने तथा—

‘तदनन्तरं आरम्भणादिशब्देभ्यः’

इस वेदान्तसूत्रने और—

‘सुर्णाज्ञायप्राप्नानस्य सुर्णात्वं विनिश्चितम् ।

ब्रह्मणो जाप्तानस्य ब्रह्मतं च विनिश्चितम् ॥’

भगवान् शंकराचार्यके इस श्लोकने स्पष्ट कर दिया है। इन गुणियोंसे मनन करनेपर अद्वैत-सिद्धान्तके विषयमें शंका नहीं रह सकती।

परन्तु इसमें एक शंका ही सकती है कि अद्वैत परिणामवादके अनुसार क्यों न हो? इस प्रकारका पहला डार यह है कि शुक्ल गुणवैद्यकी ईशावास्यादि उपनिषदोंमें—

पूर्णिदः पूर्णिदं पूर्णात्पूर्णमुद्द्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवातिश्यप्ते ॥

—इस शान्ति-मन्त्रसे सिद्ध है कि अनन्त जीवों और जगत्के बननेके बाद भी परमात्मा पूर्ण ही रहता है, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि मृत्तिका, जकड़ी, तन्तु, सुवर्ण आदिसे घट, कुरसी, बच, भूषण आदिके बनाये जानेके बाद जिस मृत्तिका आदि पदार्थोंसे घट आदि बने हैं वह मूलस्वरूपसे किन नहीं रहते। यहाँ सो असंख्य पूर्ण पदार्थोंके निकलने और मूल-पदार्थके पूर्ण ही रहनेकी बात है, जो विकर्वाद या विन्द्र-प्रतिविन्द्रवादमें ही समंजस है।

दूसरा उत्तर यह है कि यदि परिणामवाद सत्य होता अर्थात् यदि परमात्मा ही स्थार्थमें उस-उस स्थेमें आता असः जगत् सत्य होता तो नाम-कृपात्मक जगत्के ज्ञानका नाम हमारे शास्त्रोंके अन्दर अज्ञान, मोह, भ्रम इत्यादि शब्दोंसे बर्णित नहीं किया जाता और अज्ञानके निवारणके लिये कर्म, उपासना, योगाभ्यास, अध्यात्म, मनन आदि साधनोंकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती। उपर्युक्त सब विचारोंसे निष्पत्त होता है कि इस निष्पत्त-द्वय-नुद्वय-मुक्त सविदानन्दभन्सत्वरूपी परमात्मस्वरूप हैं, उसी स्वरूपसे आये हुए हैं और इसीमें पहुँच जाना है क्योंकि उससे

इस जितनी दूर अपने मनसे चढ़े जाते हैं उतने ही दुखी हुआ करते हैं। अतः अब उसमें पहुँचनेके साधनका ही विचार करना है।

भगवद्गीतामें भरहरी अमृत और नारायणहरी श्रीकृष्णका रथी और सारथीका जो सम्बन्ध था उससे इस अत्यन्त मुक्तभासासे पता क्षाग सकते हैं कि कुःखमें पहुँचे तो शान्तिमय और आनन्दमय नारायणस्वरूपमें पहुँचनेके लिये नारायणको ही अपने शरीरादिहरी रथक सारथी बनाकर, उसके हाथमें खागम छोड़कर अर्जुनकी भौंति—

‘शिष्यसेऽहं शावि मां त्वा प्रपत्नम्’

—कहकर (अर्थात् भगवानका ही आशापालक शरणागत होकर) अद्वैत-सिद्धान्तको न भूलते हुए—

‘सर्वमूर्तेषु यः पद्येत् भगवद्वावस्त्वः ।

मूर्तनि भगवत्यात्मन्येव भगवतोत्तमः ॥’

(शीमद्भा० ११ । २ । ४५)

‘वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः’

(गीता)

‘सोऽहं मावेन पूजयेत्’

‘सकलमिदमहं च वासुदेवः परम पुमान् परमेश्वरस्स एकः ।’

—इत्यादि नियमोंके अनुसार उपासना करनी चाहिये। नर-नारायणके इस सम्बन्धका परिणाम वही होगा, जिसका गीताके अन्तिम श्लोकमें संज्ञयने वर्णन किया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीविजयो मूर्तिर्वृता नीतिमितिरम ॥

अर्थात् जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण सारथी हों और धनुर्धरी (भगवानकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यको पालनेवाला) नर रथी हो वहाँ सब प्रकारकी सम्पत्ति, सुख, शान्ति और आराम है।

उद्दारायं मुमुक्षोरभिषत्पुरा ब्रह्मसूत्राणि यानि
कृष्णद्वयपापनेन श्रुतिपरमतिना श्रौतशीषायवक्रा ।
इत्था मायं तदीयं निष्ठिलुभुतुं गृहतस्त्रोपदेश
निष्ठैतानन्ददायी जगति विजयते शंकरो देशिकेन्द्रः ॥

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ईश्वर-सिद्धि

(श्रीकाश्ची-प्रतिवादिभवयकरमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्ग्रामानुज-सम्प्रदायाचार्य श्री ११०८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

प्रथम श्रमाण्यमात्र माननेवाले बाह्यस्पत्यमतानुयायी ईश्वरको नहीं मानते, क्योंकि ईश्वर प्रथम नहीं है ।

दुसरमतानुसारी लोग अनुमानको भी प्रमाण मानते हुए देहातिरिक्त विद्यिक-विज्ञानस्कन्धली आत्माको मानते हैं और सर्वज्ञ-विज्ञान-सन्तानरूप ईश्वरको भी मानते हैं । वे ईश्वरको अनुमानसे ही सिद्ध करते हैं ।

तैनमतानुयायी देहातिरिक्त स्थिर आत्माको मानते हुए, स्थिर अहंक नामक ईश्वरको मानते हैं ।

मात्स्यमिकमतावलम्बी सर्वशून्यवादका पुरस्कार करते हुए शृण्यको ही ईश्वर कहते हैं ।

उपर्युक्त वे चारों वेदको प्रमाण नहीं मानते, अतएव नास्तिक कहलाते हैं । वेदको प्रमाण माननेवाले आस्तिक कहे जाते हैं ।

आस्तिकोंमें पातञ्जलमतानुयायी अनुमानसे ईश्वरको सिद्ध करते हैं ।

'तत्र निरतिशयं सर्वद्वीजम्' (१-१९)

इस पातञ्जलस्त्रमें ईश्वर-सांखकानुमान सूचित हुआ है । उनका यह कहना है कि संसारमें ज्ञान एकमें दूसरेका अधिक और उससे लीसरेका अधिक होता है, यों उत्तरोत्तर अधिकाधिक ज्ञानवान् पुरुष देखनेमें आते हैं । ज्ञानकी अधिकता ज्ञान-विषय पदार्थोंकी अधिकताके कारण होती है, जो जितना ही अधिक पदार्थोंका जाननेवाला होता है वह उत्तमा ही अधिक ज्ञानवान् कहलाता है । इस ज्ञानाधिकाधिकी अन्तिम सीमा भी होनी ही चाहिये, क्योंकि तारतम्यवान् पदार्थोंकी अन्तिम सीमा होती है, जैसे कि परिमाणकी । परिमाण तारतम्यवान् पदार्थ है, यथा — राहस्ये मूँग बदा, मूँगसे चना बदा, चनेसे छाँवला बदा, आँवलेसे नीमूँग बदा, उससे बेळ बदा, क्रमाणः यह बदाहृष्टे-बदते भक्त मान, पहाड़ी, पहाड़, आकाश आदितक पहुँच लाती है और उसकी अन्तिम सीमा विशु परिमाण माना गया है । इसी प्रकार ज्ञान-भूत्वकी अन्तिम सीमा सर्वपदार्थविषयक ज्ञान मानता होगा । तब सर्वविषयक-ज्ञानवान् अर्थात् एक सर्वज्ञ पुरुष अवश्य होना चाहिये । बस, वही ईश्वर है । इसी प्रकार ऐश्वर्के विषयमें भी मानना चाहिये, ऐस्वर्य भी तारतम्यवान् पदार्थ है, उसकी

भी अन्तिम सीमा होनी चाहिये । सर्वेक्ष्य ही वह सीमा है, तब सर्वेश्वरसम्बन्ध एक पुरुषकी सत्ता मानती पढ़ेगी, बस, वही सर्वेश्वर है ।

वैरोधिकमतावलम्बी भी अनुमानसे ईश्वरका साधन करते हैं । उनका अनुमान इसप्रकार है । हमलोग देखते हैं कि घट आदि कार्य-पदार्थोंके कर्ता होते हैं, कर्ताके जिन कार्य घट आदि पदार्थ नहीं बनते, तब पृथिवी, अंकुर आदि जिन कार्य-पदार्थोंके कर्ता प्रत्यक्षमें दिखायी नहीं देते, उनके कर्ता अवश्य होने चाहिये, क्योंकि वे भी कार्य हैं । वे कार्य हूस कारणसे होते हैं कि सावधय है । जिनके अवश्य होते हैं वे सब कार्य होते हैं । इसप्रकार जब पृथिवी, अंकुर आदि कार्य-पदार्थोंका कर्ता मानना पड़े और इम जीवोंमें इतना सामर्थ्य नहीं प्रतीत होता कि उन महान् पदार्थोंको इम बना सकें, तब हम जीवोंसे अतिरिक्त एक कर्ता अवश्य होना चाहिये, वही सर्वेश्वर है ।

नैयायिक भी ईश्वरको अनुमानसे ही सिद्ध करते हैं । किन्तु वैरोधिकोंके अनुमानसे नैयायिकोंका अनुमान भिन्न प्रकारका है ।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलमदर्शनात्

(न्याय० ४।१।१९)

यह न्यायसूत्र है । पुरुष-जीव प्रयत्न करता है, किन्तु नियमसे प्रयत्नका फल उसको नहीं मिलता । इससे यह सिद्ध होता है कि जीवके कर्मका फल पराखीन है । जिसके अधीन जीव-कृत कर्म-फल है, वही ईश्वर है । सभी अवेतन-पदार्थ किसी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही किसी व्यापारको करते हैं । जीवका धर्माधर्मरूप अवेतन-कर्म जिस चेतनसे अधिष्ठित होकर कर्म-फल-दानमें प्रवृत्त होता है, वह चेतन सर्वज्ञ परमेश्वर है ।

सांख्यमतावलम्बी वैरोधिकाशुक्त अनुमानोंका दूषण करते हुए स्वतन्त्र जीवातिरिक्त ईश्वरको न मानकर कहते हैं कि रागादिरिहित अणिमादि सिद्धिमान् अनित्य ज्ञानवान् सिद्धपुरुष ही वेद-शास्त्रमें ईश्वरके नामसे व्यवहृत है । इसके अतिरिक्त ईश्वर नामक पुरुष कोई नहीं है । सांख्य-शून्यमें —

‘ईशरासिद्धेः । मुकुबद्धोरन्यतराभावात् तरिसिद्धिः । उभयाप्यसत्करत्वम् । मुकुत्मनः प्रशंसा, उपासासिद्धस्य वा ।’

इन चार सूत्रोंमें यही बात कही गयी है ।

वेदप्रामाण्यवादी वेदान्ती लोगोंका कहना है कि ईशर अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता, ईशर-सिद्धिमें केवल शास्त्र ही प्रमाण है । वैशेषिकोंने ईशर-साधनमें जो अनुमान बताया है, उससे सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, सर्वशक्ति, परमद्यात्, सर्वकल्पाणपर्यं ईशरकी सिद्धि नहीं हो सकती । घटकों द्वान्त भावकर मही, महीधर, सागर, हुण, अंकुर आदि सावधव कार्योंके कर्त्ताका साधन किया जाता है, यह ठीक है । किन्तु इससे जीवभिन्न ईशरकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि मही आदिका जो कर्त्ता सिद्ध हो वह जीवभिन्न भी हो । यह सच है कि इमलोगोंमेंसे कोई इनके कर्त्ता नहीं है । इसीसे यह मान लेनेकी आवश्यकता नहीं है कि किसी भी जीवने हृनकी रचना नहीं की । मनुष्योंमें पृथ-से-एक बढ़कर ज्ञान-शक्तिशाली पुरुष देखनेमें आते हैं, मनुष्योंसे देवताओंकी शक्ति अधिक मानी जाती है, योगी, तपसी आदिकी विचित्र अलौकिक शक्तियाँ सब लोग मानते हैं, पेसे अलौकिक शक्तिशाली किसी जीवने ही हृन मही, अंकुर आदि पदार्थोंकी रचना की, पेसा मान लेनेमें क्या आपत्ति है ? सिवा इसके इन सब वीजोंके एक ही व्यक्तिने बनाया, इसमें ही क्या प्रमाण है ? इम देखते हैं कि छोटी कुटियाको एक ही मनुष्य बना लेता है, वडे-वडे राजमहलोंको अनेक मनुष्य मिलकर बनाते हैं, तब ऐसा भी तो हो सकता है कि मही-महीधर आदि वडी-वडी वीजें एक व्यक्तिकी बनायी हुई न होकर अनेक पुरुषोंकी बनायी हुई हीं । पेसी हालतमें उक अनुमानसे सकल-प्रदार्थ-निर्माण-वस्तु एक ईशरकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? और अनुमानसे जो ईशर सिद्ध होगा, वह बटके कर्त्ता द्वान्तभूत कुम्हरके समान लक्षण, अपशक्ति कर्मपरवर्त तुली ही सिद्ध होगा । मही-महीधर आदिके कर्त्तामें द्वान्तभूत बटके कर्त्ता कुम्हरसे कुछ अधिक ज्ञानशक्ति भले ही कार्यानुसार सिद्ध हो, किन्तु जिसप्रकारका ईशर शास्त्रसिद्ध है, वैसा अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता ।

‘अनुमानं द्वातसीन्द्वयोरेकज्ञाने नन्यस्य हानम् ।’

तामान्यवत्या अनुमानका यह कहना है, अर्थात् जिन दो पदार्थोंमें परस्पर-नियत सम्बन्ध पहले ज्ञात हो उनमेंसे

एकके ज्ञानसे दूसरेका जो ज्ञान होता है वह अनुमान है । अग्नि और धूम इनमें परस्परका सम्बन्ध जिनको भास्तुमूल है, उनको उन दोमेंसे एक धूमके ज्ञानसे अग्निका ज्ञान होता है, वही अनुमान कहाजाता है । प्रकृतमें मही-महीधर आदि पदार्थोंके कार्यत्वके साथ ईशर-कर्त्तृकर्त्तव्यका कोई भी सम्बन्ध दूरमें ज्ञान नहीं है, तब उस कार्यत्वके ज्ञानसे ईशर-कर्त्तृकर्त्तव्यका ज्ञान कैसे हो सकता है ? यही कारण है कि वेद-प्रामाण्यवादी वेदान्ती ईशरको केवल शास्त्रसे स्विद्ध मानते हैं । सामान्यवत्या वेदका लक्षण भी वैदिक लोग यही बताते हैं कि —

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न तुद्यते ।

यत्तं विदन्ति वेदेन तसाद्वेदस्य वेदता ॥

अर्थात् प्रत्यक्ष वा अनुमानसे जो उपाय जाना नहीं जाता, उसको जिससे जानते हों वही वेद है । यहीं उपाय शब्द होनेपर भी उससे वस्तुमात्रको लेना चाहिये । वेद ऐसे ही तत्त्वोंका धोधन करनेवाला है जो अन्य प्रमाणोंसे नहीं जाने जाते ।

जो ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, जिन दो पदार्थोंका परस्पर-नियत सम्बन्ध पहलेसे ज्ञात हो, उनमेंसे एकके ज्ञानसे दूसरेका जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको अनुमित्या अनुमान कहते हैं । कैसे ये दोनों प्रमाण हैं, कैसे ही शब्दोंके अवणसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी प्रमाण है, तब ईशरकी सिद्धि प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे न होकर शब्दसे हो तो इसमें क्या आपत्ति है ? क्योंकि तीनों ही तो प्रमाण हैं ।

स्वतःप्रामाण्यवाद

किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर वह ईश-साधन और स्वप्रयत्नलक्ष्य विदित हो तो उसकी और समुद्रकी प्रहृति हुआ करती है । प्रहृति ‘सकल्य-प्रहृति’ और ‘निष्कल्प-प्रहृति’ के नामसे दो प्रकारकी होती हैं । सकल्य-प्रहृति उसे कहते हैं जो भय या आङ्गोंके साथ होती है । निष्कल्प-प्रहृति वह होती है जिस प्रहृतिके समय समुद्रके हृष्टवर्णों कोई झंका या भय नहीं होता । इसप्रकारकी निष्कल्प-प्रहृतिके लिये वशार्थ-ज्ञानमें प्रामाण्य-ज्ञानकी भी आवश्यकता होती है । कठिन प्रयत्न-साध्य या बहुविवरण-साध्य कार्यमें समुद्रकी प्रहृति निष्कल्प-प्रहृति ही होती है और वह प्रयत्नस्य-ज्ञानके लिया हो वही सकती । लक्ष इस बातका विचार करना चाहिये कि अनुमानसे जिस

किसी भी बस्तुका अब ज्ञान होता है, उसके साथ उस ज्ञानमें प्रामाण्य-ज्ञान कैसे होता है। भीमांसकोंका वह कहना है कि किसी भी बस्तुका ज्ञान उत्पन्न होता है तो उस ज्ञानमें उस बस्तुके साथ यथार्थताका भी ज्ञान हो जाता है। उसके लिये स्वतन्त्र सामग्रीकी आवश्यकता ही नहीं, जिस सामग्रीसे किसी भी बस्तुका ज्ञान होता है उसी सामग्रीसे उस ज्ञानमें यथार्थताका भी भाग हो जाता है। अतएव दूरसे देखनेवाला अनुभव रजतका ज्ञान होते ही उसे केनेके लिये दौड़ पहुँचता है। उसको जो रजतका ज्ञान हुआ वह प्रभाव है वा अप्रभाव—इस तरहका विचार करते हुए वह प्रामाण्य-निष्ठयके लिये प्रतीक नहीं करता। इससे वह सिद्ध होता है कि उस उल्लेखों रजतका ज्ञान जिस समय हुआ था, उसी समय उस ज्ञानमें यथार्थताका जो ज्ञान हो गया था। अन्यथा वह रजत केनेके लिये कैसे दौड़ता? अयथार्थताका ज्ञान कारण-दोष और बाधक-ज्ञानसे होता है, स्वतः नहीं। दूरसे देखनेपर एक मनुष्यको रजतका ज्ञान हुआ और उसके लेनेके लिये वह दौड़ा गया, पास पहुँचनेपर उसको चाँदीके बदले सीप दिलायी दी, तब वह समझता है कि दूरसे देखनेपर जो मनुष्यको रजतका ज्ञान हुआ था वह यथार्थ नहीं था। इस प्रकार पूर्वज्ञानमें अयथार्थताको समझनेके लिये वहाँ दो कारण उपस्थित हैं, एक तो उसको सभीप पहुँचनेपर जो सीपका प्रत्यक्ष हुआ वह, इसीको बाधक-ज्ञान कहते हैं, दूसरा दूरव्यवहोका ज्ञान, यह कारण-दोष कहलाता है। वह निष्ठय करता है कि मुझे जो पहले रजतका बोध हुआ था उसमें दूरी कारण है। यह दूरस्थवदोष ही रजत-ज्ञानका कारण था। किन्तु यह बात पहले मालूम नहीं होती। पहले तो उसको जो रजत-ज्ञान हुआ था उसको वह यथार्थ ही समझता था, तभी तो वह रजतको लेनेके लिये दौड़ा गया था, सभीप जानेपर उसको सीप दिलायी थी, तब वह विचार करने लगा कि पहले रजतका बोध कैसे हुआ? प्रत्यक्षमें सीपका ज्ञान हुआ है, तब वह पहलेके ज्ञानको अयथार्थ ज्ञान लेता है और उसका कारण दूरस्थवदोष समझता है। अतएव ज्ञानमें यथार्थताहूपी प्रामाण्यज्ञान स्वतः यथार्थ स्वीय-सामग्री-ज्ञान-सामग्रीसे ही हो जाता है। अप्रभावका ज्ञान कारण-दोष और बाधक-ज्ञानसे होता है। यह भीमांसकोंका सिद्धान्त है, इसी सिद्धान्तको वेदान्तसे भी जानते हैं। नैवायिक आदि अन्य प्रभावकमी यथार्थ ज्ञानके गुणज्ञान-ज्ञान जानते हैं। जैसे अयथार्थताका ज्ञान कारणदोष-

ज्ञानसे होता है, जैसे ही यथार्थताका ज्ञान भी गुण-ज्ञानसे होता है। उनका यह सिद्धान्त है। इस विवरणपर बड़ा सम्बाद कोटिकम बाहु करता है। वह सब यहाँ नहीं किसी ज्ञान से सकता, वेदान्तसे स्वतःप्रामाण्यज्ञानहीं है। यहाँ इतना ही कहा जाता है।

हाँ, तो, अब ज्ञानमात्रमें स्वतः ही प्रामाण्य-ज्ञान होता है, तब वेदज्ञन ज्ञानमें भी यथार्थताका बोध होनेमें क्या आपत्ति हो सकती है? अबतक कारण-दोष-ज्ञान और बाधक-ज्ञान न हो तबतकके लिये वेदज्ञन ज्ञानकी यथार्थतामें कोई बाधा नहीं। वेदरूपी शब्द-राशि, अनाय-विभिन्नज्ञानाभ्यापानपरम्परागत अपौरुषेय निष्ठ्य निर्दोष अन्यत्रपर है। शब्दमें और परम्पराया शब्दज्ञन्य ज्ञानमें अप्रभावताका कारणभूत दोष अन्यकर्ताके अम-प्रभाव-विप्रलिङ्गा आदि ही हैं। जिस अन्यके कर्तामें अम-प्रभाव-विप्रलिङ्गा आदि दोष हैं वह अन्य कर्तृदोषके कारण अप्रभाव होता है। वेद अपौरुषेय अवार्ति किसी भी पुरुषका बनाना हुआ नहीं है और उसका अच्छायन ऐसे निष्ठ्यमोंके साथ अविभिन्नतासे बाहु जाता है कि जिससे उसमें एक अवरका जो वैपरीत्य वा न्यूनाधिक-भाव नहीं हो सकता, अतएव वह निष्ठ्य और निर्दोष है। सर्वज्ञ ईश्वर कल्यादिमें केवल उपदेश करता है, पूर्वकल्पमें वेद जिस रूपमें था, उसी रूपमें वह उपदेश करता है, अतएव ईश्वर भी वेदका कर्ता नहीं, उपदेशामात्र है। अब कि वेदका कोई कर्ता ही नहीं, तब वेदमें कर्तृ-दोष आ नहीं सकता। इस प्रकार वेदकी प्रभावताका भेजक कारण-दोषका अभाव है। बाधक-ज्ञान आज्ञातक न हुआ, न होगा, न हो ही सकता है। क्योंकि बाधक-ज्ञान प्रस्त्वहरूप वा अनुमानरूप होना चाहिये, वेदप्रतिपाद्य विषय प्रस्त्वहादि प्रभावान्तर्दोषका विषय नहीं है। केवल अलौकिक विषय ही वेदवेद्य है, तब उन विषयोंके विपरीत बस्तु-बोध करनेका सामर्थ्य अन्य प्रभावोंमें जैसे हो सकता है? अतः कारण-दोष-ज्ञान और बाधक-ज्ञानके अभावमें वेदकी प्रभावता अच्छायक रहती है।

इसप्रकार स्वतःप्रभावभूत निष्ठ्य निर्दोष वेदवेद्य प्रभावसे ईश्वर सिद्ध होता है, इसके विस्तर कोई भी प्रभाव काम नहीं कर सकता। यदि कोई प्रत्यक्ष वा अनुमानसे ईश्वरका अधाव सिद्ध करना चाहे तो, उनसे वह कहना चाहिये कि वे दोनों प्रभाव अलौकिक ईश्वरकी सत्तामें अब प्रभाव-

मही हो सकते तो उसका अभाव ही इनसे कैसे सिद्ध हो सकता है ? इन लोगोंके अनुभवमें पही बात आयी है कि जो प्रमाण विस बसुकी सत्ताका बोधन कर सकता है, वही उसके अभावका भी बोधन कर सकता है। इम अपनी आत्मासे भूतलग्न रखने हुए घड़ेको जानते हैं तो उन्हीं आत्मासे वहाँसे घड़ेको हठा लेनेपर घड़ेको अभाव भी जानते हैं। अन्य इन्द्रियोंसे नहीं। आख भीचकर कोई यह मही जान सकता कि सामने थका है या नहीं। किसी पेडपर पिशाच है कि नहीं, यह बात इम किसी भी इन्द्रियसे नहीं जान सकते। यहाँपर यह जान लेना चाहिये कि पिशाचकी सत्ता और अभाव दोनों ही हमारे

इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। आखसे देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि पेडमें पिशाच नहीं है, ल्योंकि पिशाच आखोंका विषय नहीं है, यथापि वहाँ पिशाच दीखता नहीं है, तो भी इम यह नहीं कह सकते कि पेडमें पिशाच नहीं है, ल्योंकि पिशाच इन्द्रियवेद नहीं है, अतएव उसका अभाव भी इन्द्रियातीत है। अतएव शास्त्रसिद्ध ईश्वरसत्ता-के विश्व बाधक-ज्ञान किसी भी प्रमाणसे ही नहीं सकता, इनप्रकार शास्त्रवेद ईश्वरकी सिद्धि निर्बाच है।

अकल्पनीयकी कल्पना

(लेखक—पं० आशदोधासिङ्गी उपाध्याय 'इरिओष' श्र० हिन्दू-युनिवर्सिटी)

शार्दूलविक्रीढ़ित

सोच व्यापकता-विभूति प्रतिमा है पार पाती नहीं।
होती है चकिता लिलोक विमुता विज्ञानकी विज्ञाता।
लेकातीत अचिन्तनीय-पथमें है चूकती चेतना।
कोई व्याकु अकल्पनीय-विभूती कैसे करे कल्पना ? १।
आती है सफरी-सूह-उरमें व्या सिंधुकी सिंधुता ?
व्या ज्ञाता खग-नन्द है गगनके विस्तार व्यापारका ?
पाती है न पिण्डिका अवनिकी सर्वान्तरका पता ?
कैसे मानव तो महा-महिमकी सत्ता-महता को ? २।
ऐसा अंजन पा सका न विसरे होती तमोहीनता ?
कोई दे न सका उसे सदय हो स्वामिकी-दिव्यता ?
जाता दूर कुआ न अन्व-दग्धके आलोक-माला गिरी ?
कैसे लोक लिलोक लोक-पतिको लोकोपयोगी बने ? ३।
जो है अन्तविहीन अन्त उसका कैसे कितीको गिरे ?
कैसे हो वह गीत गीत रथके जो देव गोतीत है ?
कैसे वित्त सके विकार उसको जो वित्तका वित्त है ?
कैसे लोचन ले लिलोक वह तो है लोचनोंमें छिपा ? ४।

वंशस्थ

कहे उसे तो भूति मानवीय क्यों ?
बने न क्यों मूरू लिलोककी गिरा ?
न वेदवाचा गदि वेदानीय है।
अमेदके मेद विमेदकी कथा । ५।

गीत

मूरू-भूत मन-वचन-अगोचर मन-नियमन ब्रतधारी ।
निन्तन-मनन-मन्त्र-अवलम्बन विनयन-रत अविकारी । ६।

विमु है विश-विमूति-विवामक ।

अपनी सकल अलौकिकतामें लौकिकता-परिचायक । २।
उसका है अकुण्ठपद इससे है वैकुण्ठ-निवासी ।
है वह सदस्तरुप इसङ्गिये सत्यलोकका वासी । ३।
क्षीर पिलाकर है अनन्त जीवोंका जीवन-दाता ।
इसीलिये वह क्षीरसिन्धुका स्वामी है कहरता । ४।
जैसे किसी वीजमें विटपीका विकास है वसता ।
जैसे रविके विपुल करोंमें है आलोक विलसता । ५।
वैसे ही विलाससे उसके लोक-सोक हैं बनते ।
पलक माते नम-तल जैसे वर वितान हैं तनते । ६।
बहु-सित-आनु भानु उस वारिधिक है विविच बहुते ।
उस महान-उपवनमें तारक हैं प्रसून-सम फूले । ७।
तेज उसीके तेजपुंजसे तेज-बीज है बोता ।
विरच विपुल-अलोक-पिण्डको लोक-तिमिर है ज्ञाता । ८।
वह समीर जीवन-प्रवाह बन जो पक-पल है बहता ।
उस अनन्त-जीवनके जीवनसे है जीवित रहता । ९।
सलिलकी सहितता उससे ही सहज सरसता पाती ।
रसा उसीके रस-सेचनसे है रसवती कहती । १०।

शार्दूलविक्रीढ़ित

लोकोंका नय हो गये प्रकृत्यमें भूलोप-दीता हुए ।
नाना-भूत-प्रसूत-बाषप-बणुके संसारम्यापी बने ।
छाये कञ्जलते प्रगड़तमके आमे महा शर्वी ।
सोता है वह शेष-भूत-मरमे है शेष-क्षायी अतः ॥१॥

ईश्वर-न्तत्व

(लेखक—श्रीममातृसम्प्रदाया वार्य दाश्चनिक-सार्वभौम, साहित्य-दर्शनाचाचार्य, उर्फ़त्तल, न्यायरत्न अगोस्तामी दामोदरजी शास्त्री)

गोविन्दचरणद्वयमुनो महदद्भुतम् । यत्पापिनो न मुहूर्नित पुष्टानित यदपापिनः ॥

स व पदार्थमें ईश्वर ही तुरवगम है । संसारमें अनेकानेक मरणोंका होना ही प्रथावरूपसे इस बातको सिद्ध करता है ।

बस्तुतः ईश्वरकी सत्तामें किसीको भी विवाद नहीं है; ईश्वर-सम्बन्धी जिसने मतभेद पाये जाते हैं, सब उसके लक्षण, अवृत्ति, कर्तव्य, प्रयोगान् और प्रमाणाद्यसे ही सम्बन्ध रखते हैं । उदाहरणार्थ, किसी स्थानपर 'माला है या ढोरी है, अथवा लकड़ी है या सर्प है' इत्यादि विकल्प विशेषणोंमें ही होते हैं; परन्तु कुछ बस्तु है, इस विशेषणमें किसीको भी विरोध नहीं होता । और यह कथन कि, 'ईश्वरकी सत्ताके न मानवेवाले मत भी हैं,' उसमें प्रबोध है अथवा अनभिज्ञोत्ति है । क्योंकि ईश् ('ऐश्वर्य करना' अर्थात्) भास्तुसे स्वभावन-विवरण विवेचनसे विशिष्ट कर्ता अर्थमें 'बरच्' प्रत्यय लगाकर महार्चि पाणिनिने अनादिसिद्ध ईश्वर-पदका मुख्यार्थ 'ऐश्वर्य स्वभाववादा' बताया है । सुतरां ईश्वर-पदके योगस्त्र अर्थमें ईश्वर नामक बस्तुकी सत्ता सिद्ध होती है ।

यह ईश्वर एक ही है, उसकी अनेकता अनेकित है या सिद्ध ही नहीं हो सकती । यह विषय आगे चक्कर स्पष्ट होगा ।

हाँ, यह बात दूसरी है कि व्यवहारमें किसी शब्दका प्रयोग रुद्धिसे किंवा वक्ताके योग्यनसे सुख्यार्थके अतिरिक्त अर्थका ज्ञान करानेवाले 'ज्ञानका' नामक अप्रभान्य सम्बन्धसे कभी असुख्यार्थके ज्ञानमें भी प्रयुक्त होता है । अतः भाँशिक ऐश्वर्यको लेकर जीवमें भी 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग कर दिया जाता है, अथवा केवल सामर्थ्यको निमित्त बनाकर बड़-पदार्थके लिये भी ईश्वर शब्दका प्रयोग हो जाता है, जैसे—'प्रायाशायके किये विच ईश्वर है,' इत्यादि ।

परन्तु जब ईश्वर शब्द अनादिपरम्परासे प्राप्त है, तब इसका अर्थ भी अवश्य है और वह अर्थ असुख्य (गौच) रूपमें विचारन्त नहीं हो सकता, क्योंकि मुख्यके विचार असुख्य (गौच) की सिद्ध ही नहीं हो सकती । ऐसी स्थितिमें स्थूलानिकनन-व्यापसे अवीक्षरवादका ईश्वरकी सत्ताकी उपेत्ति ही पर्याप्तान होता है ।

ऐसा ईश्वर अविद्याहृतमानसे प्रवृत्तिविहित ही सिद्ध

होता है, क्योंकि यदि एकसे अधिक ईश्वरको मानें तो उनके पेरवर्यमें या सो समानता माननी पड़ेगी या भिजता । यदि समानता मानी जाए तो एकसे अतिरिक्त ईश्वरका उपयोग नहीं देखनेमें आता; और यदि भिजता मानें तो वह विस्तृत वस्तुके अभावमें विसंवादी ऐश्वर्यवादा अनीश्वर छहरेगा । इसकिये एक ही ईश्वर सिद्ध होता है ।

ईश्वरके स्वरूपके विषयमें निराकार-साकारवाद भी सर्वेतिदान्तसम्बन्धयनयमें प्रकाश-प्रकाशित्यायसे परस्पर-विचोरी नहीं हैं । ईश्वरकी सचिदानन्दमयता भी अनुमानादि प्रमाणोंसे सिद्ध है, अर्थात् जिस अनुमानसे प्रकृत ईश्वर सिद्ध होता है, वही अनुमान ईश्वरको विकासमें एकरससत्ता, विन्मयता, आनन्दरूपता आदि धर्मोंसे विशिष्ट सिद्ध करता है । इतना ही नहीं, वस्त्र इसी चर्मिङ्गाइक-प्रमाणायसे वह सत्यभाषिता, दयालुता, निरेचता, निष्पत्तिपातित्व, राग-द्वेषादिशब्द्यत्व, सर्वकामत्व, प्रेमवशबदभावान्त्स, निलिङ्क कल्पण गुणोंसे भी निष्प तुन्द्र सिद्ध होता है ।

शब्द-प्रमाणायसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है, किन्तु इसके अधिकारी सब नहीं हैं । प्रायाश्वर-स्वतोप्रायाद्य मानने-वाके पुरुष ही शब्द-प्रमाणके अधिकारी होते हैं । इसी कारबाहसे इसका उपलेख पहले नहीं किया गया है । हाँ, यह दूसरी बात है कि वक्तामें सत्यवादिता प्रमाणित होनेपर यदि वह कोई नवी बात कहे तो वह भी प्रमाणित समझी जाती है, अस्त्रपूर्व परतः प्रायाश्वरवादमें आस्त्र-विशिष्ट ईश्वरकी सिद्धिके बाद ईश्वरोक्त वेदोंकी प्रमाणात्मासे अनुमान-हारा सर्वथा सिद्ध न होनेवाले सूक्ष्यादिक्रम प्रभृति अनेक विषयोंकी सिद्धि शब्द-प्रमाणायसे ही होती है ।

यही सहि आदि किया ईश्वरके कर्म हैं ।

यथापि किसी प्रयोगानको सामने रखकर ही चेतनमात्र कर्ममें प्रवृत्त होते हैं, तथा प्रयोगानके हारा ही किसी प्रवृत्तिमें अभीष्टके अभावका अनुमान होता है; ऐसी अवस्थामें ईश्वरके लिये भी किसी अप्राप्त इष्टसे प्रवृत्तिमें स्वकर्तव्यमें प्रवृत्ति होनेसे उसमें पर्वोक आह-कामताके अभावसे अभीश्वरत्वका अनुमान होता है । परन्तु यह दोष तभी आ सकता है जब प्रवृत्तिका कारब लेकर कार्य हो; परन्तु ऐसी बात नहीं है । निवारणः प्रवृत्तिमें

जो कारण होते हैं, स्वार्थ और कल्पा। और ईश्वरकी ईच्छाका प्रयोजक जीवोंके ऊपर उसकी कल्पा ही है, जिसे ऊपर दबाके नामसे सुनित किया गया है। अतएव जीवोंपर अनुग्रह करना ही ईश्वरका सृष्टि आदि कर्त्तव्यें प्रयोजन है। जो दृष्ट देखेके बीच है उसे दृष्ट देकर उसके पार्योंको दूर करनेमें स्वत्त्वाद्विते जाह्यि उसके प्रति निराकृकी प्रतीति होती है, तथापि बस्तुतः उसके जीवनकी शुद्धताका विचार करनेमें वह परम अनुग्रहरूप लिंद होता है।

इस अनुग्रहको प्राप्त हुए जीवका स्वभाव-सिद्ध सत्त्व-प्रधान अन्तःकरण शान्तिकी जीवोंमें परिणाम-ताप-संखार-भूत्सौंसे विशिष्ट सांसारिक शान्तिसे विरक्त होकर शुद्ध प्रसन्निके लिये परमीक्षित ही असन्नावना, विपरीत आवश्य और अदृष्ट जीवोंको निरूपत करनेवाले उपायोंमें जापता है। तथा अपने अधिकारानुसार इष्टकी प्राप्तिरूप विशिष्ट अनुग्रहका भाजन होकर कुरुक्षय होता है, प्रकारान्तर-से उसका भूतानुग्रहरूप प्रयोजन भी सिद्ध होता है।

ईश्वर-साक्षीकी विद्यिमें साधारणतः तीन प्रकारके निषेधक होते हैं—स्थायुलग्नव्याधावायामी, अन्युपागम-सिद्धान्ती और अल्पक। इनमें अन्तिम लग्नप्रकृती जातोंको कोई भी तात्काल्येवी पुरुष नहीं सुनेगा, क्योंकि तत्त्वान्वेषणमें अल्पकको कोई अधिकार ही नहीं है। दूसरे अन्युपागम-सिद्धान्तीको इच्छा तथा अधिकारके अनुसार दुन्तकी भास्त्वनितक निरूपिते ही कृतकर्त्तव्यमन्य होनेमें कोई दोष नहीं आता; और पहिले स्थायुलग्नव्याधावायामीकी प्रमाता तो अनुकूल ही होते हैं, तथा जो आमत होते हैं वह सदा तथा सर्वत्र ही इच्छावी होते हैं। इसप्रकार सर्वं सत्त्वानुग्र-हृषिके कोई भी जीवानवादी प्रतिकूल नहीं ठहरते हैं।

जब जो ईश्वरादी हैं, उनमें कोई तो विविध भारि और शक्तिमालामें अभेदवादी हैं और कोई भेदवादी हैं, तथा दूसरे कुछ तात्कालवादी हैं। अवश्वारमें जो अभेदवादी भी भेदवादी ही रहते हैं। सबकी इष्टिमें प्रसीद्यमान विकल्प अविद्या और अस्तिर है, इसलिये वह ग्रासंगिक अवस्था-ग्रन्थि है। सुखरी विकर्त्तव्य अस्त्रा विद्वान्निकृत-द्विविषयपरिष्यम्भावद या आरम्भवादसे जिस किसी प्रकार डपपक (सिद्ध) करके अवश्वार्थ कला स्नेहप्र प्रधान वस्तु (वरम सत्ता) में कोई विरोध नहीं रहता और अनादि दम्भवानुकूलश्चिं और अधिकारके अनुसार जो विसप्रकारसे कृतार्थ होनेवाला है वह उसी प्रकार कृतार्थ होता है। ऐसे कुछ ही अधिके अकाल-नाल-शाह्यि नुद्वेषे नमूना

अपनी-अपनी हड्डिके अनुसार कृतार्थ होता है।

अब निष्पत्त विवेकशील पुरुष सहज ही समझ सकते हैं कि उपर्युक्त समन्वयरूपी राज-पथमें समस्त वैदिक, अश्विदिक, अनीश्वरवादी, ईश्वरवादी पथिक, आर्वाक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक, मैथियिक, कायिल, पातञ्जल, जैमिनीय आदि पद्धतियोंसे एवं अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत-निषिद्धाद्वैतसे, तथा प्रत्यभिज्ञावाद, शास्त्रवादवाद, नावद्वावाद, रसवादवादरूप सम्मानोंसे आगी-पीछे पहुँचकर कभी-भी किस अप्राकृत नाना नामरूपादि विद्या विभूतिभूषित बस्तुकी ज्ञात अथवा अज्ञात साहाय्यतावे सर्वप्रधान वरम फलको प्राप्त होते हैं और जो तत्त्व गव्यपति, सूर्य, शक्ति, शिव और विष्णुरूपसे भक्तोंको उनकी भक्तिके अनुरूप अनन्त तृप्ति करता है, वही पदार्थ ईश्वर है।

इसप्रकार सुन्नरूपमें वह जोल जिला गया है और विसार करनेके लिये अवकाश भी नहीं है। यदि इस ओटे जोलसे किसीको भी, महाकवि भवशूतिके—

‘उत्पत्तयेऽस्ति मम कोऽपि स्मानधर्मो
कालो हृष्ये निरवर्षित्वपुला च पृथ्वी ।’

—इस शान्तिप्रद महावाक्यके अनुसार तृप्ति मिलती है, ऐसा ज्ञात होगा तो इस अङ्कुरसे महास्तन्ध शाला-प्रशालायुक्त वह कल्पतरु समृद्ध होगा जिसकी जागामें कोई ताप न ज्ञानेगा और जिसके फलका आस्ताद्वनकर अनन्त कालतक ध्रुवा-पिपासा आदि समस्त उपद्रव दूर हो सकेंगे।

अब जोलके अन्तमें न्यायाचार्य श्रीमतुदयनाचार्यकृत न्यायकुमुमाज्जिके इस पदासे—

द्वैतं श्रुतिनीतिसंलब्धज्ञेभ्योमिराक्षालिते
येषा नास्पदमाद्वासि इदेते ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रह्लृतविप्रतीपविधयोऽन्युज्ञेभ्यविजिन्तकाः
काले कालाणीक त्वयैव छप्यथा ते तारणीया नराः ॥ १ ॥

—प्रार्थना करता हुआ और उद्गुर्के एक विह मार्भिक मुक्तिके—

हिन्दूने सत्तमें जड़ता पाया तेरा,

अतिशये मुग्गले राग नावा तेरा;

दहरीने किया दहरसे तावीर तुक्के,

इनकार किरीसे न बन आया तेरा ॥

—इस सुधापितके भाव-परिवर्तीकृतके लिये पाठ्यकृत्य-से साहर अबुरोध करता हुआ विदा ज्ञाना है ॥ ४ ॥

॥ इस लेखमें किसीको कुछ प्रभव या व कम हो तो सूक्ष्मा मिळानेसे लेखक सावर सप्तमाण करने वा किलनेको सेवार है

ईश्वरमें विश्वास

(लेखक—पं० अगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिन्सेपल गवर्नरेट संस्कृत-कालेज, काशी)



‘स्याण’ मासिकपत्रके माननीय सम्पादक महाशयने विशेष समारोहके साथ ‘कल्याण’ के ईश्वराहुके रूपमें महायज्ञ-की आयोजना की है और उसमें देश-विवेशके ज्ञानी-मानी विद्वानोंको सम्मिलित होनेके लिये सम्मानपूर्वक आमन्वित किया है। यहूं देशके लिये अस्यन्त सौभाग्यका विषय है। बत्तमान-कालमें व्यहि और समष्टिस्पेच बगरकी मनोहृतिका प्रबाहु तीव्र गतिसे जिसप्रकार बहिर्भूत दौर रहा है, उसमें आद्या, ईश्वर, यही क्यों, अतीनिद्य बगरकी सत्ताके सम्बन्धमें भी आलोचना करना सम्भवका अपव्यव समझा जायगा, ऐसी सम्भावना है। ऐसी अवस्थामें यदि उनके निर्देशके अनुसार ईश्वर-तत्त्वकी चर्चा करनेका सुयोग एवं प्रकृति किसीकी हो तो वह देशका कल्याण-साधन करनेवाले ‘कल्याण’ के लिये उपयुक्त ही होगा। इमं श्रीभगवान्मुखे प्रार्थना करते हैं कि वे इस शुभ उद्योगमें सफलता प्राप्त करें।

उन्होंने व्यक्तिगतभावसे चार प्रश्न उत्तरके लिये मेरे पास भेजे हैं। परन्तु मैं इसे व्यक्तिगतरूपमें न लेकर कुछ अंशोंमें व्यापकरूपमें ही प्राप्त करता हूं। यथापि ये प्रश्न सम्पादक महाशयकी ओरसे ही आये हैं तथापि वस्तुतः ये किसी आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानासुके ही स्वाभाविक प्रश्न हैं। अतः इनका उत्तर व्यक्तिगतरूपसे देना समीक्षित नहीं मालूम होता। इसके दो विशेष कारण भी हैं—

(क) यदि ये प्रश्न केवल व्यक्ति-विशेषके प्रश्न होते, अर्थात् यदि वे जिज्ञातु होकर प्रतिविधिरूपसे प्रश्न न उठाते तो मेरा उत्तर भी ढीक-ढीक व्यक्तिगत होता, क्योंकि इन प्रश्नोंके किसी-किसी अंशका उत्तर देते समय अपने जीवनकी कुछ ऐसी आव्यन्तरीय और बाह्य घटनाओं-का उल्लेख करना आवश्यक है जो अन्तरंगरूपसे व्यक्ति-विशेषके प्रति किया जा सकता है। परं जिसका प्रकाशरूपमें कोकसमाजमें कोई भी अनुभवी व्यक्ति उल्लेख करना नहीं चाहेगा।

(ल) साधन-आगतका जो निगूँ रहस्य है, जिसकी प्राप्तिके लिये श्रीर्वकालतक सम्यस्तरूप सदगुरुकी कृपाका अवलम्बनकर तीव्र पुरुषार्थका प्रयोग करना पड़ता है, तांत्रिक-प्रकृति-विशिष्ट तथा साधनहीन पुरुषके सामने उस रहस्यकी आलोचना करना उचित नहीं है। वहाँ इस आलोचनाका यथार्थ फल उत्पन्न नहीं हो सकता।

इन्हीं दो बातोंकी सामने रख यथासम्भव संक्षेपमें अध्यव विशदरूपमें हन चारों प्रकौंकी आलोचना करनेमें प्रकृत होता हूं।

(१)

पहला प्रश्न यह है कि—‘इम ईश्वरमें विश्वास क्यों करें?’ इसका उत्तर देनेके एवं मेरा कहना है कि जिन सब वस्तुओंकी सत्ता तथा कियाको हम अनेकों कारणोंसे लैंकिक इष्टिये स्वीकार करनेके लिये बाध्य होते हैं, उनके विषयमें इसारे हृष्टमें विश्वासकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है? यहाँ ‘विश्वास’ शब्दसे प्रभकरताका क्या रहेश्य है, यह यही जानें। परन्तु यह निश्चित है कि विसे विश्वास कहा जाता है उसकी दो विशेष अवस्थाएँ हैं। इन्हीं दोनों अवस्थाओंका विश्लेषण करनेसे ही विश्वासके कारणके सम्बन्धकी धारणा बहुत कुछ स्पष्ट हो जायी। आस-पुरुषोंके मुखसे कोई बात सुनकर एवं उसके विचार करनेकी शक्ति न रहनेपर, अथवा उसके सम्बन्धमें कोई प्रबृत्ति न होनेपर, वह आस-वाक्य सत्य है, ऐसी धारणा स्वाभावतः ही मनमें उत्पन्न होती है। बास्य-कालमें जब बूढ़ी धार्ती या दादाजीके मुखसे अनोखी-अनोखी कहानियाँ सुनता था, वब हृष्य सरल था तथा सांसारिक संस्कार विशेषरूपसे चित्तमें सञ्चित नहीं हुए थे, उस समय कल्पनाके बलसे मनव्यके सामने उम सारी कहानियोंमें व्याप्त किये हुए हृष्य मानो जीवितरूपमें अंशोंके सामने आ जाते थे। उस समय लैंकिक ज्ञान तथा युक्तिका विकास बैसा न होनेके कारण सम्भव या असम्भवका निर्णय नहीं कर पाता था। फलतः कोई भी बात मनमें असम्भव नहीं जान पड़ती थी। जब दाढ़ी कहती कि अमुक वृक्षपर भूत रहता है, उसे सुनकर सचमुच ही सम्बाके समय अधधा शून्य रात्रिमें उस स्थान-

के पास होकर जानेमें शरीर काँप उठता था । भूत है, इस बातको सुनते ही सचमुच ही भूतकी सत्तामें विश्वास उत्पन्न हो जाता, उपर्युक्ती आवश्यकता अपेक्षित न होती, और न मनमें वैसी प्रहृति ही उत्पन्न होती । बहुतेरे इसे अन्धविश्वासके नामसे उकारींगे; परन्तु मेरा कथन यह है कि उपर्युक्त दोनों इष्टालोकोंसे यही बात समझमें आती है कि मनुष्यकी ऐसी एक अवस्था है जब शब्द-अवण करते ही अर्थबोधके साथ-साथ शब्दके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें मनमें इदं विश्वास उत्पन्न हो जाता है । यह विषय बहुत ही अटिक है; यहाँतक कि अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न मन-स्वस्थवेतालोंको भी यह सहज हो इदृशमें होनेवाला नहीं । तथापि सभी इस बातको भलीभांति जानते हैं कि इसको समझनेमें किसीको कोई कष्ट नहीं होता । यह जो सरल और स्वच्छ इवयकी बात कही गयी है, इसका उत्कर्ष किसी व्यक्तिविशेषमें इसमा अधिक रह सकता है कि किसी विषयमें वाक्य-उत्कारणके साथ-ही-साथ उसके विस्तरमें उसी विषयका इत्यरूपमें सकाळ ही आविर्भाव हो जाता है । कृत्रिम नक्षत्रपूर्णवि प्रक्रियामें, बालककी इष्टिके सामने इदं शब्द उत्कारण करके इष्टातुसार इत्य या वस्तु प्रकाशित की जा सकती है; इसका भी मूलकारण यही है । बेदान्तके ग्रन्थोंकी आलोचना करनेपर देखा जाता है कि शास्त्रोंमें वाक्य या शब्दमें अपरोक्ष ज्ञान किसप्रकार उद्भूत हो सकता है । इसके विषयमें अनेक प्रकारसे विवार किया गया है । शब्द-भाषाहर्म्यसे भनन्दक्षुके सामने शब्द-बोध्य अर्थका किस प्रकार आविर्भाव होता है, यहाँ उसपर आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं । पाश्चात्य देशोंके विद्वानोंने उसपर यथेष्ट आलोचना की है, एवं हमारे शास्त्रोंमें भी उसकी अनेक इत्यस्मर्यी बातोंका वर्णन हुआ है । सम्मोहन-क्रियामें आलक्षके शब्दके इशारेसे सम्मोहित व्यक्ति कैसे-कैसे अपूर्व इत्य देखता है, इस बातको बहुत लोग जानते होंगे ।

इससे स्पष्ट हो समझा जा सकता है कि विस्तरके कोमल स्था अपेक्षाहृष्ट स्वच्छ होनेपर विश्वासका बीज सहब ही अङ्गुरित हो जाता है । इसी कारण बालक या विद्यार्थितकी आसानीसे विश्वास कर सकती है, तर्कुबल उत्पन्न उत्तमी आसानीसे नहीं कर सकता । यह अन्धविश्वास होनेपर भी इस प्रकारकी एक अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं ।

आवश्यकस्थानें यूहमें वा समाजमें, आशारमें, उपवेशमें

आथवा आलोचनामें एवं सजानोंके संसर्ववर्ष कोमल-इवयमें इसप्रकारके हैशर-विश्वासका बीज बपन हो सकता है । बूसरे देशोंके सम्बन्धमें आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं, परन्तु हमारे देशमें प्राचीन कालमें शैशव-कालसे ही इसप्रकार विस्तरमें साधारणता: हैशरका विश्वास बद्धमूल हो जाता था । पिता, माता एवं गुरुजनोंके हृष्पयोंका प्रभाव शिष्यके विस्तर कम नहीं पड़ता है ।

यदि कोई पूछे कि 'विश्वासका कारण क्या है?' तो इसका उत्तर यही है कि वित्तकी बालकोचित कोमलता एवं स्वच्छताके ऊपर आस-वाक्यका प्रभाव ही इस विश्वासका कारण है । यह अन्धविश्वास होता है, इसमें सन्देह नहीं । क्योंकि इस विश्वासके मूलमें स्व-ज्ञानकी उज्ज्वल दीर्घिनहीं होती । केवल यही बात नहीं, यह अज्ञानके प्रदोषालोकमें ही हृष्टि एवं पुष्टि प्राप्त करता है । ज्ञानके सम्बूद्ध उत्तर होनेपर इसप्रकारका विश्वास व्यार्थ सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित न होनेसे सदाके लिये समूल ढलव जाता है । बेदव विश्वास युक्त और तर्ककी भयानकताको देखकर भयभीत हो उठता है और सांसारिक हृष्टके प्रभावसे निर्मल होकर अङ्गुरि (प्रहृति)के गर्भमें विलोन हो जाता है । जीवनके क्रमविकासकी प्रथमावस्थामें इसका उत्तर होनेपर भी यह पीछे बर्त्तमान नहीं रह सकता । परन्तु सभी अन्धविश्वास बेदव नहीं होते,—यदि किसी ज्ञानी महातुल्यके वचनोंसे शिष्यके हृष्पयमें विश्वासका बीज अङ्गुरित हो तो वह क्रमशः उष्टु होकर एवं शोधस्थ परिणामको प्राप्त हो जाता है । यह विश्वास तरुण शिष्यके विज्ञानहृष्टा प्रवीस न होनेपर भी क्षतुतः अज्ञानमूलक नहीं होता ।

इसप्रकार शैशवसुलभ विश्वासका उत्कर्ष तथा उसकी महत्ता आप्नूपमें विवेचित पुरुषके वाक्यकी व्यार्थतापर ही निर्भर करती है । यदि किसी समय यह ज्ञानमूल हो जाय कि विसको आप्त समझा गया था वह आप नहीं है तथा उसके वाक्य भी सत्य नहीं हैं;—यदि किसी समय प्रत्यक्ष अथवा भनुमान आविष्की सहायतासे इसप्रकारका ज्ञान उत्पन्न हो, तो इससे यह पूर्वकालीन विश्वास डलव होता है । मनुष्यके शैशवके सम्बन्धमें जो बात है, ज्ञानव-ज्ञाति अथवा समाजकी प्रारम्भिक अवस्थाके सम्बन्धमें भी वही बात होती है ।

सत्यके ऊपर प्रतिहित विश्वासमें अनेकों गुण हैं। युक्ति या तर्क किये बिना ही इसकी प्रेरणासे कर्ममें सहज ही प्रवृत्ति हो जाती है। पश्चात् धर्याविधि कर्मके द्वारा फलकी प्राप्ति होनेपर यह विश्वास इह और अचलरूप धारण्य करता है। अर्थात् सरल विश्वासके द्वारा उस समय संक्षयादिविहीन विभूत्यात्मक ज्ञानका उदय होता है। तब कुर्कु अथवा मास्तिकोंके कठोर युक्तिकालसे इसकी तनिक भी हानि नहीं होती। इसी प्रकारके विश्वासके ऊपर मानव-जीवनकी अथवा मानव-समाजकी पर्याय उत्पत्ति निर्भर करती है। किन्तु विश्वासके भूलमें विदि किसी मिथ्याका संलग्न हो तो इससे उसके द्वारा सभ्य फलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा इससे यथार्थ कर्मका भी विकास नहीं होता। इसप्रकारका विश्वास कुसंस्कारके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यह युक्ति, विचार और सत्यहर्षनके प्रबल आलोकमें, सूर्यकी किरणोंके स्पर्श करनेपर येवमालायोंके समान विलीन हो जाता है। जीवन-न्ययमें दीर्घकालतक यह मनुष्यके विलम्बमें स्थान प्राप्त नहीं करता या नहीं कर सकता।

विश्वासके स्वरूप एवं उसकी अध्यस्थाका संक्षेपमें वर्णन किया गया। ‘हम ईश्वरमें क्यों विश्वास करें?’ यह प्रभ प्राथमिक विश्वासके सम्बन्धमें उठ सकता है और उस चरम-विश्वासके सम्बन्धमें भी उठ सकता है जो कर्म करते-करते प्रत्यक्ष ज्ञानके उदय होनेपर हुदयमें प्रतिहित होता है।

प्राथमिक विश्वास-सम्बन्धी प्रकारका उत्तर यही है कि ज्ञान, गुरुज्ञन, अनुभूतिसम्बन्ध महायुरुष सभीने ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार किया है, तथा अगतके कल्पयात्मके लिये पुनः-पुनः वे उसका प्रधार भी कर गये हैं। उनके प्रायस्थान्य-सिद्धान्त अवताक प्रबल और प्रतिकूल प्रमाणोंके द्वारा लायिङ्ट नहीं हो जाते तबतक विद्यकी प्रकृतिके अनुसार उनके ऊपर विश्वास करना बहुतोंके लिये स्वामाधिक है। साधक अपनी आध्यात्मिक साधनामें विद्यार्थ उत्पत्ति कर लेनेपर किसी समय उसने जिस सरल विश्वासको सभ्य समझकर प्राप्त किया था, वह वास्तविक ही सभ्य है, इसका प्राप्त्यक्ष प्रमाण उसे पव-पद्धतपर मिलता रहता है। अन्त-जीवनमें मार्गीर अग्रसर होते-होते ऐसी-ऐसी आलौकिक प्रदर्शनाएँ घटती हैं, एवं ऐसी-ऐसी अदाचारण किम्बुतिकोंके निवारण जीवनमें अभ्यास-आचरण सुनः-पुनः प्रत्यक्ष होते हैं,

जिससे विश्वासकी पुरुष अतीविद्युत-धराद् एवं समस्त जगत्के अधिष्ठाता, किसी महावाक्षिसम्बन्ध सचाको स्वीकार करनेके लिये बाध्य होता है। साधारण मनुष्यका जीवन प्रायः साधारण पर्यामें ही प्रवाहित होता है, और उसमें उड्डे लंबीय घटना अथवा वैचित्र्य बहुत ही कम होता है। किन्तु किसी महावाक्षिसाली पुरुषके सहवासमें आनेपर उसके जीवनमें ऐसी-ऐसी अद्भुत घटनाएँ घटने लगती हैं जो साधारण मनुष्यके ज्ञान और अनुभूतिके राज्यसे सर्वथा बाहरकी जात हैं। यह घटनाएँ विविध प्रकारकी होती हैं। कुछ तो केवल भावके विकासके रूपमें होती है, कुछ भावके साथ बाह्य ज्ञातसे विकास सम्बन्ध रखती हुई और कुछ पूर्णतया वास्तविक जगत्के ऊपर प्रतिहित होती हैं। मैं अपने वक्तव्यको इष्टान्तद्वारा समझ करके समझानेही चेष्टा करता हूँ।

कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य गम्भीर रात्रिके समय अस्तम दूर अज्ञात देशके जनशून्य प्रान्तमें अथवा बन्धुमिके बीच होकर दीर्घकालतक चलते-चलते कलान्त एवं इताश होकर जीवनका भरोसा छोड़कर किरकतन्यविमूढ़ हो जाता है। उस एकाकी पथिकका कोई साक्षी सहायक नहीं, कोई सहारा नहीं, यहाँतक कि, कुछ भी पायेय भी नहीं है, स्थान अपरिचित है, मार्ग अज्ञात है, गन्तव्य स्थान बहुत ही दूर है और दूरतक देखनेपर कहीं कोई धर-द्वार अथवा ऐसा कोई मनुष्य नहीं दिखायी पदता जिसे देखकर प्राणमें उत्साहका सञ्चार हो, वह दिनभर भटकता-भटकता कलान्त हो रहा है, एक प्रकारमें उसे चलनेकी शक्ति भी नहीं रही है, चारों ओर रात्रिका अन्धकार फैला दुआ है, हिंस व पशुओंके आकर्षणका भी भय बना दुआ है और साथ ही भूलसे शरीर शिथिल हो रहा है। अगस्तक केवल स्थूल देह और स्थूल जगत्की दृष्टिसे ही भैने अवस्थाओंका बर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मानसिक तथा अन्यान्य प्रकारकी अशान्ति भी हो सकती है। इसप्रकारकी अवस्थामें एककर उस मनुष्यको कैसी अनुभूति होती होगी, इसका सभी अनुमान कर सकते हैं। इसप्रकारकी ज्ञान विपरिके समयमें, जब उसे आसन्न दृष्ट्युकी करात ज्ञाया सामने दिखाये रही है; यदि वह पलक मारते ही यह देखता है कि एक दिव्यप्रयोत्तिमंद गूर्जि लिंग व कल्पय स्थानमें एवं प्रशान्त मुखश्रीसे युक्त उसके दृष्टिपथमें शूष्य स्थानमें आविन्दूत होकर उसके समस्त

भयको हरण कर लेती है, उसे आशासन लेती हुई कहती है—

‘बस ! तुम अयमीत क्यों हो रहे हो ? देखो, सामने दीपक जल रहा है, वहाँ जाओ, तुम्हारे सारे अभाव दूर हो जायेंगे। मैं तुम्हारे साथ हूँ, भयको कोई कारण नहीं है।’ इस आशासनको सुनकर वह यदि देखता है कि सचमुच ही सामने पर्याकृतीमें दीपक जल रहा है और वहाँ एक मनुष्य मानो उसीकी प्रतीक्षामें बैठा हुआ है। यदि वह वहाँ आश्रय पाता है, भयसे ब्राता पाता है, गम्भीर स्थानका भाग पाता है, तथा राहका सार्थी पाता है, तो बताहये, इससे उसके हृदयमें किसप्रकारके भावोंका उत्पय होगा ? वह कितना ही नास्तिक अध्यया संसाध्याकान्ति किस क्ष्यों न हो, उसे मस्तक नत करके यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मनुष्यकी विचारसीमाके परे कोई छोकोत्तर शक्ति अवश्य ही है, जो असीम और मंगलमय है, जो सदा ही मनुष्यकी अवस्थाएँ देखती रहती है तथा जो घोर विपरितीं परम स्वेही भित्रके समान आविर्भूत होकर उसको रक्षा करती है। इस शक्तिको जाहे कोई हैरर कहें या किसी दूसरे ही नामसे उपकारें, उससे मुक्ते वहाँ कोई मतलब नहीं। परन्तु यह एक अज्ञानिक शक्ति-विशेष है, वह चैतन्यमय, प्रेममय एवं सब प्रकारसे असाधारण है, इस बातको स्वीकार करना ही होगा। ऐसा होनेपर बत्तुतः नामान्तरसे हैररकी सत्ता स्वीकार कर ली गयी। हाँ, कोई स्पष्टभावसे हैररके भीतर प्रविष्ट हो सकते हैं और कोई न भी हो सकते हैं। इसप्रकारकी अनेकों घटनाएँ मनुष्यके जीवनमें कभी-कभी घटती हैं, जो लौकिक कार्य-कारणके सम्बन्ध-हारा समझायी नहीं जा सकती। एवं जिनका एकमात्र जात्य मनुष्यका मंगल-साधन होता है।

इस प्रसंगमें मैं साधकके साधन-जीवनकी बात नहीं कहूँगा, क्योंकि लो यथार्थ साधक है, साधन-राज्यमें प्रवेश कर आध्यात्म-पथमें चक्षसे-चक्षते उनको तो मगावत्-शक्ति एवं भगवत्-सत्ताके दर्शन सैकड़ों हजारों बार हुआ ही करते हैं। जो सबे साधक हैं, वे सरल विश्वाससे प्रबृत्त होनेपर भी क्रमसः ऐसी-ऐसी अभिज्ञता और शक्तियोंका सञ्चय करते रहते हैं, जिससे उनका भगवान्में विश्वास केवल प्रारम्भिक अम्ब-विश्वासमें ही आवद्ध नहीं रहता;

वर्षिक इन अभिज्ञता और शक्तियोंके हारा वह विश्वास विशेषज्ञपसे उदाताको प्राप्त होता है।

सुतां वर्तमान जीवनकी साधनाके फलसे अथवा प्राप्त तुक्तियोंके कारण मनुष्य भगवान्की नाना विभूतियोंके और कलणाके प्रत्यक्ष दर्शनकर भगवान्की कल्पाशयमयी सत्तामें अविकलित विश्वास करनेमें समर्थ होता है। प्राथमिक सरल विश्वासका मूल क्षय है, इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है। यथार्थ विश्वास क्षयों और कैसे होता है, इसका उत्तर भी दिया जा चुका। प्रथम विश्वासके मूलमें हृदयकी सरलता और द्वितीय विश्वासके मूलमें जीवनकी विचित्र अभिज्ञता तथा भगवत्स्व-सम्बन्धी नाना प्रकारके प्रत्यक्ष दर्शनकी अधिकता होती है।

परन्तु संसारमें सभी लोग भगवान्में विश्वास कर सकेंगे ऐसी आशा नहीं की जा सकती। वास्तव-जगत्का चित्र देखनेपर समझा जा सकता है कि मनुष्यमात्रमें ही भगवत्विश्वास जीज्ञासुपरे निहित होनेपर भी सर्वत्र समझावसे उसकी सूखति नहीं प्राप्त होती। इसका भी एक समय होता है। मैं पहले यह बतला चुका हूँ कि दिशा, संस्कार, आचार, उपदेश, शास्त्र और महापुरुषोंके वाक्य आदि शुद्ध चित्रमें ही विश्वासोत्पत्तिके कारण हैं। परन्तु वहाँ भी कालका विचार अवश्य ही करना होगा। जीव जबतक स्थूल तथा अविश्वायी वस्तुकी प्राप्तिमें रुप होता है, अथवा अभाव होनेपर सहायताके लिये स्थूल-जगत्की ओर ही सत्तुप्य इक्षित देखता है, तबतक अतीनिद्रिय सत्ताकी ओर हमारी हृषि कर्णों जावनी ? किन्तु संसारचक्रमें धूमते-धूमते, नाना प्रकारके भोग एवं अभिज्ञताओंका सञ्चय करते-करते और नाना प्रकारकी सीमा साधनाएँ करनेपर भी निरन्तर शाव्य और प्रतिकूल घटनाओंसे मनोरथ-सिद्धि न होनेके कारण जीव जैसे एक शोर क्रमशः अपनी शक्तिकी क्षुद्रता-का अनुभव करता है, दूसरी ओर वैसे ही सांसारिक शक्तिकी अकिञ्चितकरताको भी उपवक्ष्य करता रहता है। आकांक्षाकी मात्रा बढ़ते-बढ़ते अस्तमें ऐसी अवश्या उत्पन्न होती है जब उसे ज्ञात होने लगता है कि आकांक्षाकी क्षुद्रता जगत्की किसी भी वस्तुके हारा नहीं हो सकती। कहनेकीआवश्यकतानहीं कि दीर्घकालके अनुभवके विजा ऐसी

आवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। परन्तु जब ऐसी आवस्था उत्पन्न होती है तब सचमुच ही जीव अपनेको निराभय अनुभव करता है। मनुष्यके जीवनमें इस निराभयमावका उदय ही एक परम पवित्र शुभ सुहृत्त है। क्योंकि इसी समझसे जगतकी ओरसे उसकी हट जाती है और वह जगतके ऊपर किसी अज्ञात और अविद्य शक्तिकी ओर देखता है। इसके बाद आकांशकी मात्रा जिस परिमाणमें घनीभूत होती है स्वाभाविक नियमानुसार तीक उसी परिमाणमें मनुष्यका सद्य जीविक-जगतको छोड़कर एक अनन्त सत्ताके क्षेत्रको स्पर्श करता है। अवश्य ही यह विधि और बोधपूर्वक नहीं होता। जबतक मनुष्यके अहंभावकी प्रधानता तरह-तरहसे उष्टु होती रहती है तबतक उसके लिये अपनेको एक विराट् सत्ताके आवित समझना सथा उस सत्तासे अपनेको सत्तावान् समझना असम्भव है। संसारके धात-प्रतिष्ठातसे जब अहंभाव क्रमशः भग्न हो जाता है, एवं जगतकी असारता इव्यक्त होती है, तब जगतके परे तथा जगतके आत्मभूत ईश्वरीय शक्तिकी किया तथा उसका भाव स्वयमेव प्रकट हो जाता है। इसीलिये जबतक मनुष्यका समय पूरा नहीं होता, अर्थात् जबतक भोगाभिमुखी प्रवृत्ति निवृत्त होकर शास्त्रभावको धारण करना आरम्भ नहीं करती, तबतक यथार्थस्पृह उसे भागवत्-सत्तामें विश्वास नहीं हो सकता। श्रीमद्भगवद्-गीतामें लिखा है—आर्त, विज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, ये जार प्रकारके मनुष्य भगवान्की भक्ति करते हैं, किन्तु इतनाहीमात्र कहनेसे काम नहीं छल सकता। क्योंकि, संसारमें ऐसे किन्तु नहीं आर्त मनुष्य देखे जाते हैं जो और विपत्तिके समय भी भगवान्की ओर नहीं लाजते।

इधर जिनको ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा है, अर्थात् जो विज्ञासु हैं वे सभी भगवान्की भक्ति ही करते हैं, यह भी जगतका इतिहास देखकर कोई स्वीकार न करेगा। इसी प्रकार जिनको अर्थाकोशी खोग भी सांसारिक अर्थी अर्थात् घनीकी उपासना ही किया करते हैं, अर्थसाभकी आशामें भूखकर भी वे कभी जगदीश्वरकी शरण प्राप्त नहीं करते। और, शुद्ध ज्ञानी भी ज्ञाननिह होनेपर भी सर्वज्ञानाधार श्रीभगवान्के आत्मसमरण करनेमें समर्थ नहीं होते। पूर्व-जन्मके सौभाग्य अथवा भगवान्की विशेष कृपाका सज्जार बुप विना भगवान्की ओर विचक्षण जग जानेकी आशा तुरारामात्र है, श्रीभगवान्में गीतामें भी

‘सुहृत्तिः’ इस विशेषके द्वारा समझ दिया है कि सुहृत्ति हुए विना केरल आर्द्ध, विज्ञासा, अर्द्धकी आवश्यका ज्ञान-स्वयंविद्वारा ही विच भगवान्की ओर आहृत नहीं होता। अतएव जो भगवान्में आवस्था स्थापन नहीं कर सकते, उनका जानी समय पूरा नहीं हुआ है, वही समझना होगा, और जिनके विचरणे अनावृत्यवास उत्पन्न हो गया है, उनका समय पूरा हो जानेके कारण ही आसाम्य, रिचा, संसर्ग प्रवृत्ति विभिन्नोंके अवकाशमेंसे विश्वास जाग उठा है। कर्मसरमें अप्रसर होते-होते ग्रस्त-ज्ञानके आविनांव-में वह विकास घनीभूत हो जायगा।

(२)

इसरा प्रभ यह है कि, ‘भगवान्में विश्वास नहीं करनेसे हानि क्या है?’ इस प्रश्नके उत्तरमें मेरा कहना यही है कि ‘यदि भगवान्में विश्वास करनेका कोई आध्यात्मिक मूल्य है तो वह मानना होगा कि विश्वास नहीं करनेसे अवश्य ही हानि होगी।’ परन्तु यात यह है कि विश्वास जिसप्रकार बलाद् उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार अविश्वास भी युक्त या तक्षके बदले दूर नहीं होता। पहले ही कहा जा सकता है कि मनुष्य जब अपने अहंभावकी सीमाको देखता है और समझता है कि किसी अविद्य-शक्तिके प्रतिष्ठातसे उसका पुरुलार्थ पद-पदमें झण्ड होता रहता है और जब वह यह अनुभव कर सकता है कि जिसे इम बाय जगद् कहते हैं, उसकी शक्ति भी परिमित और ससीम है, तब स्वभावतः उसका ध्याकृत्यविच विश-प्राकृतिक क्रम-विकासके नियमानुसार ज्ञानार्थकी आवस्था आविन्दूत नहीं होती तबतक बलपूर्वक भगवान्में विश्वास करनेकी बेहा निष्क्रिय-प्रयास-मात्र है। यथापि भगवान्में विश्वास कर सकनेपर मंगल-सोपानमें पदार्पणकर भी-भीरे परम मंगलके पथपर अग्रसर होनेका उपाय सहज ही हो जाता है तथापि जब-तक यह स्वभावतः ही इव्यक्तमें उद्दित नहीं होता, तबतक अविश्वाससे हानि होनेपर भी उसे स्वाभाविकरूपसे नतमस्तक होकर प्राप्त करना ही पदता है। कोई भगवान्में विश्वास करता है और कोई नहीं करता—इन दोनों ही भगवान्के द्वंगक्रम विश्वासके अन्तर्गत हैं। उनमें विश्वास न करना भी उनके नियमके बाहरकी बात नहीं है। आज जो अन्मवश

विश्वासके सोपानपर पैर रखनेके अविकारी हो रहे हैं, जब उनके सुनीचं भ्रतीत जीकरके इतिहासका अन्येषण विषय आप तो जात होगा कि वे भी एक समय अविश्वासी थे । सब मनुष्य सुनिके आविसे ही भगवान्‌में विश्वासी होनपर संसार-भेदमें नहीं आते ? पहले उदासीनता रहती है, वही उदासीनता आगे बढ़कर अविश्वासमें परिणत हो जाती है और अन्तमें वही अविश्वासके खण्डोङ्कमें देहीयमान हो उठता है । जिनमें अन्तर्दृष्टि होती है वे मनुष्यके बाहर आकार एवं स्थूल आवरण देखकर उसके विचरणी शुद्धताकी मान्मात्रा लिदेंगे नहीं करते, वे जानते हैं कि आज जो अविश्वासी है वही कहा अपने भोगोंके पूर्ण होनेपर तथा निवृत्तिसुखी गतिका पूर्वाभास प्राप्त होनेपर—अनन्त भक्तके स्थरमें उड़त हो उठता है । प्राचीन ईसाई-संप्रके इतिहासकी आजोवना करनेपर जात होता है कि ‘पाल’ (Paul) एक समय ईसाईयोंके घोर विदेशी समझे आते थे, कालान्तरमें वे ही ईसाई अन्तर्दंग भक्तोंमें विजे आने लगे । समस्त अधर्मोंके इतिहासमें बारमार ईसप्रकारके वृत्तान्त मिलते हैं ।

उपर जो कुछ कहा गया है, इससे कोई यह न समझें कि मैं अविश्वासका समर्थन कर रहा हूँ । मेरा कथन केवल यही है कि मनुष्यके जीवनमें अविश्वासका भी एक समय निर्दिष्ट रहता है । अविश्वास भी परिणाममें विश्वासका रूप धारण करता है भ्रतः वस्तुतः वह हानिकारक नहीं है । किन्तु जो अद्वृद्धर्शी हैं वे वर्तमान अवश्याको ही एक-मात्र अवस्था समझते हैं, इसीलिये वे कहते हैं कि भगवान्‌में विश्वास नहीं करनेसे उत्तम होनेकी सम्भावना है ।

‘सुतरा भ्यापकद्विसम्बद्ध ज्ञानीके दिव्य नेत्रोंके साथै अविश्वासकी भी एक मर्यादा होती है । अवरपर यी छोड़िक अपूर्ण दृष्टिसे अविश्वासके दोष एवं अपकार स्पष्ट ही देखेंगे आते हैं ।

‘ईश्वरमें विश्वास न करनेसे क्या हानि होती है,’ इस प्रकार उत्तरमें कहा जा सकता है कि परमार्थ-द्विसे हानि होनेपर भी इस अविश्वासके अविष्यदमें उड़ातिके किये आवश्यक होनेके कारण इस हानिको वस्तुतः हानि नहीं समझता आहिये । भगवान्‌को ज मानना वदि उसके अनन्मेका ही पूर्वाङ्ग हो तो वह हानि सामर्थिकमात्र है, किन्तु परिणामकी दृष्टिसे वह अवश्य ही स्वीकार करने

चोक्य है । परन्तु भ्यावहारिक दृष्टिसे भगवान्‌में अविश्वास करना घोर अपर्याप्त कारण है । इसा कहते हैं—

‘He that believeth and is baptised shall be saved; but he that believeth not shall be condemned.’ (Aristion’s Appendix--Mark 16--16)

अर्थात् जिसके चित्तमें विश्वास उत्पन्न हो गया है तभा जो भगवत्-शक्तिद्वारा अभिविक्त हो गया है, वह संसारसे उत्तरीय हो जायगा; परन्तु जो अविश्वासी है उसे भयंकर दुर्योगों भोगनी पड़ती है । गीतामें लिखा है—‘संशयामा विनश्यति ।’ इसप्रकार सभी धर्मोंमें विश्वासकी प्रशंसा और अविश्वासकी निन्दा पारी जाती है । जिनको अन्तर्जातके सूक्ष्म तत्त्व अवगत हैं, वे जानते हैं कि भ्रात और विषयके भेदसे वितरकी अवस्थामें परिवर्तन होता है । जिसका चित्त जिसप्रकारके भावबाला होता है, वह उसी प्रकारका फल प्राप्त कर सकता है । जिस किसी विषयमें विश्वास किया जाय, उसके साथ चित्त सम्बद्ध होता है और चित्त उसी भावसे भावित हो उठता है । ईश्वर यदि सत्य है और चित्त यदि इसपर विश्वास करके तज्ज्ञानसे भावित हो सके, ताहे वह विश्वास ज्ञानमूलक न हो—तो इसी विश्वासके बलसे भगवान्‌के साथ मनुष्यके चित्तका एक सम्बन्ध हो जाता है । इसके फलस्वरूप उस चित्तमें अज्ञातस्पृष्टे भगवत्-शक्ति नाना प्रकारसे उसपर कार्य करती रहती है । सत्यमें प्रतिष्ठित विश्वासके द्वारा इसी प्रकार जीरे-जीरे पूर्ण सत्यका बोध उत्पन्न होता रहता है । भगवान्‌में विश्वास कर सकनेपर मनुष्य उनकी आकर्षण-सीमामें पह जानेके कारण क्रमशः उनके निकटवर्ती होता जाता है, पिछ सांसारिक वासनाएँ उसे बाँध नहीं सकती । सत्य-विश्वासके प्रतापसे सैकड़ों दोष दूर हो जाते हैं । इसीसे अविश्वाससे होनेवाली हानिका अनुमान किया जा सकता है । निरय और आनन्दमय वस्तुमें विश्वास हुए विना अवरत्व और आनन्दमय सत्तामें स्थित होनेकी आशा दुरारामान है । निय वस्तुके साथ सम्बन्ध न होनेसे जीवको निरन्तर संसार-जड़में घूमना पड़ता है, भक्त, इससे अधिक हानि और क्षय हो सकती है । विश्वासका फल अमरता है और अविश्वासका फल मनुष्य-जड़की महिनता और अवधिकार है ।

तथापि यह जात याद रखनी आहिये कि यह कौन्किं दीहिका ही समाधान है । दिव्य दृष्टिसे सूख्य भी अमृतकी

आपा होनेके कारण अवंगाकका कहीं लेखामात्र भी ईश्वरकर नहीं होता ।

(३)

प्रथकर्ताओंका सीसरा प्रभु है कि 'ईश्वरके अस्तित्वमें कौन-कौनसे प्रभाण हैं?' इस प्रश्नका उत्तर होनेके पूर्व यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि सांसारिक विश्वास-दृष्टिसे ईश्वरकी सिद्धि अध्या खबरमें जो कुछ युक्तियाँ थी जायेगी, उनमेंसे कोई-सी भी ऐकालिंगाहरूपेण सर्वज्ञ गृहीत नहीं हो सकती? उदयनाचार्यने अपनी 'अनुमानिक' में नैवायिक पक्षको आलमन करते हुए ईश्वर-वाचक प्रभाणोंका खण्डनकर ईश्वर-साधक प्रभाणोंको सुचालूपेण प्रदर्शित किया है। उनके परवर्ती अनेक विद्वानोंने उन्हींका अनुसरण करते हुए इस विषयकी आलोचना की है। उत्थलेवेने 'सिद्धिव्रती' नामक ग्रन्थके 'ईश्वर-सिद्धि' नामक अंशमें, तथा अभिनव गुणाचार्यने 'ईश्वर-वृत्यभिज्ञा-विमर्शी' नामक ग्रन्थमें कारमीर-जीव-भागमके प्रतिनिधिरूप होकर ईश्वर-नामकी आलोचना की है। यामुनाचार्य 'सिद्धिव्रती' नामक अन्यमें, छोकाचार्य 'तत्त्वज्ञ' नामक ग्रन्थमें, तथा वेदान्तवेशिकाचार्य, श्रीनिवासाचार्य प्रभुतिने अनेकों स्थलोंमें श्रीबैणवस्त्रप्रदायके पक्षको लेकर ईश्वराद्वाकी आलोचना की है। इसप्रकार प्रथेक सम्प्रदायने अपने-अपने ग्रन्थोंमें अपने साम्बद्धायिक ईश्विकोंसे ईश्वर-नामकी समाकोचनाके प्रसंगमें सांख और बाधक युक्तियोंका तात्त्विक विचार किया है। प्राचीन ईसाई तथा अन्यान्य धर्म-सन्दर्भनी ब्रह्मोंमें, विशेषकर मध्ययुगीय Schoolmen भाषिके दार्शनिक विचारपूर्ण शास्त्रीय व्याख्यात्मक ग्रन्थोंमें इस आलोचनाके नैतिक, धैर्यिक और आगमिक उपपत्तिके अनुकूल बहुतेरी बातें किली गयी हैं। बर्तानाम समयमें भी जो मनीची पुस्तक विज्ञानवेता होते हुए भी ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास रखते हैं, वे भी युक्तिरूपरूपके अपनी-अपनी धारणाके अनुसार इस विषयमें अथ रख रख रहे हैं।

परन्तु इन सब आलोचनाओंको पढ़कर युक्तिके परिमाणित होनेपर भी किसीको ईश्वरमें तनिकस्ता भी विश्वास बहता है या नहीं, यह सत्तेका विषय है। प्रथम और द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें मैंने जो कुछ कहा है उससे स्पष्टतः समझा जा सकता है कि केवल युक्ति-वक्तव्य कोई कभी ईश्वरकी सिद्धि नहीं कर सकता। युक्तिके उपरान्तपर्वक प्रत्यक्ष करना होगा। केवल यही नहीं,

इत्तर ईश्वरकी सत्ताके सम्बन्धमें एक अनुमानिक ज्ञान होता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु युक्तिका प्रतिहित होना ही कठिन है। नैवायिक जिस पुस्तिद्वारा ईश्वरकी सिद्धि करते हैं, भीमासक कोग उस पुस्तिको युक्तिका आज्ञानामात्र समझते हैं। कार्य देखकर खेतनाकर्ताओंका अनुमान करना अथवा केवल कारणमात्रका अनुमान करना, एक विवाद-ब्रह्म विषय है। इसी प्रकार सर्वत्र देखा जाता है।

बल्लुतः प्रयोग-कुशल शक्तिशाली पुरुषके हाथसे अद्य-विशेष जिसप्रकार कार्यकारी होता है उसी प्रकार सिद्धि-सम्बन्ध शक्तिशाली पुरुषविशेषद्वारा प्रदर्शित युक्ति ही सार्यक होती है; जिन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति की है, तथा जो दूसरोंको प्रयोजन होनेपर, अवश्य-विशेषमें सम्पूर्ण विषयको प्रत्यक्षहस्तसे दिखाका देनेकी चमत्का रक्खते हैं, उनकी ही हुई युक्ति होनेपर भी दूसरोंको समझानेके लिये अविकल उपयोगी होती है। यदि ऐसा न होता तो बहुत दिन पूर्व ही विचारके द्वारा ईश्वरका अवश्य किसी भृत्यान्तिक्षय-सत्ताका रहस्य भीमासित हो जाता। सुसरा मैं ईश्वरके अस्तित्वके समर्थनमें जो युक्तियाँ उपस्थित कर्णेंगा, उन सबको आरेषिक ही समझना होगा। इस्तोकि अवश्य-विशेषमें वे युक्तियाँ प्रयुक्त न हो सकेंगी तथा प्रयुक्त होनेपर भी उनकी साराज्ञाना न रहेगी।

'ईश्वर' शब्दसे मेरा अभिनाश्य 'संसारकी सृष्टि, शिति और संहारके कर्ता' एवं अनुद्रव और निग्रहके हेतुभूत (कारण-स्वरूप) सविदानन्दमय अवस्थाकिसमन्वित सत्ता-विशेष' से है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस सत्तामें जो शक्तियाँ निहित रहती हैं उन शक्तियोंकी सम्भावस्थाको ही ईश्वरका 'ब्रह्मभाव' कहते हैं। वैष्णवकालमें कोई भी शक्ति प्रधान होकर इतर शक्तिको अभिभूतकर प्रकाशित ही उठती है, इससे केवल उसी शक्तिकी क्रिया दिखायी देती है। इसप्रकार शृण्य-पृथक् रूपसे सृष्टिमें अनन्त शक्तियोंकी क्रिया दृष्टिगोचर होती है। सृष्टिके अन्तमें किसी भी शक्तिकी उपलब्धि नहीं होती, तथा शक्ति और शक्तिमात्र अभिन्न भावसे पृकरस हो प्रकाशित रहते हैं। संसारमें जो कुछ है, अथवा होगा, सब ईश्वरसे उद्भूत है, ईश्वरमें स्थित है एवं ईश्वरमें ही विशेष होता है। इसलिये अवसर जगत्, अवसरके भावस्थानपर —जिसप्रकार कलाश तरंगोंका भावश्य होता है उसी प्रकार—ईश्वरसत्ताको अनुसन्धानपर्वक प्रत्यक्ष करना होगा। केवल यही नहीं,

सांसारिक सत्ता भी मूलतः ईश्वरीय सत्तासे अभिन्न है, इसकी भी उपराखित करनी होती। प्रकाशमें जगत् जिनमें विज्ञान हो जाता है, तथा उस समय जो अविद्या रहता है, उस विद्युद् ईश्वरीय सत्ताको भी समझका होगा। जगत्यांकी शिथितिके समय इसके संरचक, विद्यामक, दर्शक और बाह्यांकके भोक्तास्थानमें भी ईश्वरीकी सत्ता अनुसन्धान-योग्य है। जो कला और विद्यारूपा शक्तियाँ प्रवाहस्थानमें प्रवर्तित हो व्यावहारिक जगत्का कार्य-साधन कर रही हैं, उनकी मूल प्रवृत्ति अहंसे होती है वही ईश्वर है। इस-प्रकाशसे भी सर्वशक्तिके अधिनाताके रूपमें भी ईश्वरके अस्तित्वकी धारणा करनी होगी।

इस परिवर्त्यमान जगत्की पर्याप्तोचना करनेसे पता जागता है कि शक्तिका प्रस्तुत्यगतोचर व्यूह सत्ताके अन्तरालमें एक शक्तिमयी सूक्ष्म सत्ता बर्तमान रहती है। शक्तिके विना कोई क्रिया नहीं हो सकती। जिस किसी वस्तुमें क्रिया हो, उसके वृद्धिमें शक्तिको प्रेरणा रहती है, इस बातको मानना ही होगा। किसी कौशलादेसे शक्तिका निरोध कर सकनेसे उसके फलवस्तुप्रेरणा भी निवृत्त हो जाती है। मनुष्यके शरीरमें दर्शन, अवल प्रवृत्ति क्रियाएँ अथवा अहम, गमन, डर्सन आदि क्रियाएँ निरन्तर हो रही हैं। इन सब क्रियाओंके मूलमें एक शक्ति है, इसमें कोई सम्बेद नहीं। इसी प्रकार बाह्य-जगत्में वायुका सञ्चलन, मेघका गर्वन, विद्युत्की दीप्ति इत्यादि नाना प्रकारकी क्रियाएँ दीख पड़ती हैं। जब क्रियाके द्वारा ही शक्तिका अनुमान होता है, तब विद्यित क्रियाओंके पार्यवर्यसे शक्तिके पार्यवर्यको भी स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु जिन छोगोंमें अन्त-विज्ञानकी दृष्टिसे शक्ति-तत्त्वकी आङ्गोचना की है, वे जानते हैं कि एकज्ञातीय शक्तिसे अन्यज्ञातीय शक्तिका आविनीव होता है। शक्तियाँ केवल परस्पर सम्बन्धित हैं ऐसी बात नहीं है, उनके मूलमें एकके सिवा दूसरी शक्तिका पता नहीं कगता। एक ही महाशक्ति आङ्ग-नेतृत्वसे विज्ञ-भित्ति शक्तिस्थानमें प्रकाशित हो जिन्हें कार्य करती है—

'पैकैव सा महाशक्तिः तथा सर्वमिदं ततम् ।'

वाचोका यह महावचन भीसर्वी शासनदीके विज्ञानको भी सिर झुकाकर स्तीकार करना पड़ा है।

किन्तु इस शक्तिका तत्त्व स्था है? कहना नहीं होगा कि इस सम्बन्धमें विज्ञान अवश्यक कुछ भी समाचार नहीं कर

सका है। शक्तिके अवश्यक स्थपके विज्ञानके दृष्टिगत होनेमें अभी देर है। किन्तु उसके परिच्छिद्ध स्थपके सम्बन्धमें वैज्ञानिक जगत्में यथेष्ट गवेचना हो चुकी है। सिद्धान्त यह कि शक्ति ही घनीभूत होकर भौतिक सत्ताके स्थपमें आविर्भूत होती है, तब उससे ऐसे अनेकों भौमौका विकास होता है जिनका अस्तित्व विद्युद् शक्तिकी अवस्थामें सोजनेपर भी नहीं मिलता। बस्तुतः भौतिक स्थप नियन्त्रित अथवा बद्ध अवस्थामात्र है। क्योंकि शक्तिको यन्त्रहारा बद्ध न कर सकनेपर उससे स्थूल भावका विकास सम्भव नहीं है। दूसरे प्रकारसे इस बन्धनको मुक्त कर देनेपर अर्थात् स्थूल-भावसे स्थूलत्वको हटा लेनेपर सत्ता विद्युद् शक्तिके स्थपमें ही पर्यवर्तित हो जाती है। अतएव शक्ति और भौतिक सत्ता, अवस्थागत भेद रहनेपर भी वास्तवमें अद्वैत है। शक्तिकी इस नियन्त्रित अवस्थाको सृष्टिमें हम निरन्तर सर्वत्र देख रहे हैं। विद्युद् शक्तिके त्वरूपको साधारणतः कोई प्रत्यय नहीं देख सकता, तथा कोई शक्तिशाली उत्तर यदि उसे दिखाता भी दे तो साधारण जीव उसके सेवको सहन नहीं कर सकता। सांसारिक क्रिया, परियाम, विद्याक प्रमुख व्यापारोंसे साधारण मनुष्य के बहु शक्तिका अनुमान कर सकते हैं। इससे अधिक अप्रसर होनेका अधिकार साधारण मनुष्योंको तो ही नहीं, जड़-विज्ञान-वादी वैज्ञानिकोंको भी नहीं होता। जो छोग विचारशील एवं कर्मी हैं, अर्थात् जो लोग केवल प्रवाहके साथ ज बहकर अपने विवेक और विचारके आश्रयसे दृश्यमान बन्दुक सूक्ष्म तत्त्वको ढूँढ़ निकालनेके लिये उद्यमशील हैं, उन्हें यह स्वीकार करना ही होगा कि इस स्थूल सांसारिक अवस्थाके अन्तरालमें एक विराद् शक्तिमय अवस्था है। आसिक और नातिक, ईश्वरके विश्वासी और अविश्वासी समीको यह स्वीकार करना होगा, किन्तु प्रभ यह है कि इस शक्तिका स्वरूप क्या है? यह शक्ति जीतन्त्य है या जड़, इसका विवेचन करनेके पहले यह देखना होगा कि इसके साथ मानवीय इच्छा-शक्तिका कोई सम्बन्ध है या नहीं। क्योंकि, इच्छाको मध्यभूमिमें न रख सकनेसे एक और ज्ञान और दूसरी ज्ञानका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। क्रियासे केवल शक्तिका अनुमान किया जा सकता है। किन्तु वह शक्ति यदि इच्छारूपा न हो तो उससे ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। वैसे ही ज्ञानसे इच्छाका विकास किस

प्रकार होता है, इसे माननेसे, तथा इच्छाकी शक्तिके रूपमें उपलब्धि न होनेसे उससे कियाकी उपलब्धि होता पुरुष-द्वारा नहीं समझाया जा सकता। जिस विराट् भगवान्सिके तुलनम् अंशके प्रभावसे विश्वाक ब्रह्माकी अनन्त प्रकारकी कियाएँ लिप्यत्व होती हैं उसके साथ इच्छा-शक्तिका क्षय सम्बन्ध है, यही सर्वप्रथम विचारणीय है।

साचारण इष्टिसे सांसारिक कियाकारपको इच्छाकृत एवं अनिच्छाकृत, इन दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। इच्छासे जो कार्य लिप्यत्व होता है वह इच्छाकृत कार्य, तथा उससे जिन्हें सभी कार्य अनिच्छाकृत एवं स्वात्मकित्व होते हैं। मनुष्यके देहमें जो वाचिक्रिक कियाएँ होती हैं, उनमेंसे अधिकांश ही इच्छापूर्वक नहीं होती।

किन्तु इस बातको बहुत लोग जानते हैं कि ये सारी अनैच्छिक कियाएँ भी विशेष बेटा और कौशलके द्वारा दीर्घकालमें इच्छाके अधीन हो सकती हैं। अतएव दैहिक कियाओंमें जो साधारणतः इच्छाधीन नहीं होती, वह भी कालक्रमसे इच्छाधीन हो सकती है। इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि मनुष्यकी इच्छा-शक्ति यदि उस प्रकारसे परिचालित एवं परिशोधित हो तो उससे देहकी समस्त कियाओंको नियन्त्रित किया जा सकता है। जब इच्छाद्वारा किसी भी कार्यकी प्रवृत्ति, निवृत्ति अथवा परिवर्तन सम्भव है तो फिर वह स्वीकार किये जिन नहीं चल सकता कि इच्छा ही किया अथवा कार्यका मूल है। अबरथ यही यह दैहिक कियाके विषयमें कहा गया है। किन्तु यदि बाधा कियाका भी इसप्रकार इच्छिकियोंकी इच्छाद्वारा नियन्त्रित किया जाना सम्भव हो, तो बाधा कियाके मूलमें भी इच्छा-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं रह जाता। इस इच्छा-शक्तिकी मात्रा सर्वत्र समान नहीं है। इसलिये इससे जिनी बाधा कियाएँ लिप्यत्व होती हैं, वे भी सब क्षेत्रोंमें एक-सी नहीं होतीं। अर्थात् वह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इच्छा-शक्ति-की सीदता सर्वत्र एक-सी ही होती है। अतएव जिस शक्तिसे बाधाजगत् एवं अस्तर्जगतमें सब प्रकारकी कियाएँ लिप्यत्व होती हैं वह इच्छास्वरूप ही है, यही इसारा प्रतिपाद्य सिद्धान्त है। जिन जड़-शक्तियोंसे हम परिचित हैं बहुत: वे सभी केवल इच्छा-शक्तिकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। ऐसा न होता तो उन शक्तियोंके विपरीत इच्छा-शक्ति कार्य न कर सकती। भज्ञार्थज्ञानशक्ति, वैधुतिक शक्ति,

आज्ञाविक आकर्षण और विकर्षणशक्ति— ये समस्त शक्तियाँ विशुद्ध और संपूर्ण इच्छाके हास्त अधीन हो सकती हैं। कहेनेकी आवश्यकता नहीं, कि आविन्दूत इच्छाकी मात्राकी अवेक्षण जिन शक्तियोंकी मात्रा कम होती है, वे इच्छाके द्वारा अभिभूत होती हैं। एवं जिनकी मात्रा अधिक होती है वे प्रबल होनेके कारण इच्छाको अभिभूत कर रखती है। प्रातःन-इच्छा ही वर्षभावकालमें जड़-शक्तिके रूपमें प्रकटित होती है। वर्तमान इच्छा प्रातःन-इच्छाके विरोधी होनेके कारण जब प्रबल होती है तो प्रातःन-इच्छा स्वयमेव अभिभूत हो जाती है। जड़-शक्तिका यही दूसरा नाम घट्ट है, एवं इच्छा-शक्तिका दूसरा नाम पुरुषार्थ है। बहुत: इन दोनों शक्तियोंमें कोई भेद नहीं। बोध-क्षेत्रमें शक्तिका प्रकाश होनेसे यही इच्छा अथवा पुरुषार्थके रूपमें अभिभूत होती है। दूसरी ओर अबोध-मूर्मिमें अर्थात् बोध-राज्यके लक्ष्यदेशसे यदि शक्तिका विकास होता है तो उसकी अर्थ या जड़-शक्ति समझना चाहिये। बहुत: दोनों शक्तियाँ एक ही हैं।

जब हमारे परिचित ज्ञानका आलोक क्रमशः अधिकतर विशुद्ध होकर निर्मल प्रकाशके रूपमें परिणत होता है तब जास पढ़ता है कि बोधराज्यके तल-देशमें भी बोध होता है अर्थात् तब ज्ञानके विस्तारकी सीमा अनन्त हो जानेके कारण अज्ञानकी सीमा कहीं दूँदे नहीं मिलती। तब जान पढ़ता है कि सभी शक्तियाँ शुद्ध बोधभव्य क्षेत्रसे उत्तीर्ण हैं। अतएव अभिभूत शक्तिमात्र ही इच्छास्वरूपा है। यही विराट् भगवान्शक्ति, जिसे इच्छा-शक्ति या देशिक शक्तिके रूपसे वर्णन किया गया है, आगम-शास्त्रोंमें जगदुत्ता अथवा जगत्प्रस्तुतिके नामसे वर्णित हुई है। विश्वस्त्रकार कहते हैं—

'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी।'

संसारका मूलकारण अभीतक वैज्ञानिकोंके इतिहासमें यथार्थरूपसे नहीं आया है। आया होता तो इस कारण-रूपा शक्तिको वे इच्छाके रूपमें पहचान सकते, एवं अपनी इच्छाके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध अविक्षार कर विभ्वशज्ञाम अथवा बोधराज्यमें जानेका यथार्थ मार्ग प्राप्त करते। शक्तिको इच्छास्वरूपा न जाननेके कारण वे बागद-कार्यके मूलमें वैतन्यकी सत्ताका आविष्कार नहीं कर पाते हैं। शक्ति इच्छामयी है या नहीं, इसके जाननेका एकमात्र उपैय मही है कि जिसे हम इच्छा कहते

है, उसे विषुव और संयत करके उसके द्वारा सांसारिक शक्ति के ऊपर प्रभाव विस्तार किया जा सकता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना। इष्टके स्फुरणसे विष वाह शक्ति लाभित होती है अथवा विष्वद शक्ति उद्विक्त होती है तो इससे सिद्ध होता है कि एक और जैसे वाह शक्ति इष्टाभयी है वैसे ही दूसरी और इष्टकी भी शक्तिस्था है। इष्टके द्वारा अन्ततः अभिसिक्षणमें जो वाह शक्तिके ऊपर किया की जाती है वह वर्तमानकालके वैज्ञानिकोंको अक्षात नहीं है। जो योगी अथवा उच्च कोटिके साधक हैं वे तो इष्टाभयी ही किसी भी शक्तिका आहे जिसप्रकार उपयोग करनेमें समर्थ हैं, जगतमें इसके अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं।

पूर्वोक्त आलोचनासे समझमें आ गया होगा कि इष्टका और शक्ति मूलतः अभिभाव पदार्थ हैं, एवं इनके मूलमें वैतन्यमय प्रकाश नियतिनिर्व सत्ता अथवा परावशक्तिके रूपमें आगृहत है। जिस वैतन्यरूपा अस्तराह सत्तासे वास-विषुवध समुद्रके बहुःस्थलपर तरंगोंके उद्गमकी भाँति स्वभावकी प्रेरणासे इष्टाभयी शक्तिका आविभाव होता है तथा इष्टके द्वारा क्रमस्थिके नियमानुसार कियाका विकास होता है वही 'ईश्वर' पदार्थवस्तु है। इष्टरूपा शक्ति कभी उसमें अन्वर्णीन होकर वर्तमान रहती है और कभी उन्मेषको प्राप्त होकर वाह गति सम्पादन करते हुए प्रयत्न-स्थिकी सूचना करती है। जड़-जगतसे विन्मय ईश्वर-सत्ताको प्राप्त होनेके लिये सम्बद्धी शक्ति अथवा इष्टाभयमिसे होकर ही जाना होगा। विज्ञान-जगतमें जब इस शक्तिका स्वरूप कुछ विद्यार्थीरूपमें प्रकाशित होगा तब उससे मौलिक चित्-सत्ताके सम्बन्धमें उन्हें (वैज्ञानिकोंको) अनुमान करनेका अवसर मिलेगा। अप्रतिहत इष्टका अथवा शक्तिका वैतन्यमय ईश्वर आधार ही है।

सूक्ष्म हृषिसे जागतके कार्य-कारण-प्रवाहकी पर्याक्षेचना करनेपर ज्ञात हो जाता है कि विना कारणके कोई कार्य उत्पत्ति नहीं होता। केवल यही ज्ञात नहीं, विस्तक कार्य और कारणकी मात्राका समान होना भी अवश्यम्भावी है। किसी भी प्रकारके कार्यका तत्त्व समझसे समय इस नीतिको समर्थ रखना आवश्यक है। प्राप्त दर्शनिकोंने इसी नीतिका अवलम्बनकर कर्मवादकी स्थापना की है। कर्मवादका तात्पर्य स्थूलरूपेण यही है कि कर्मकी प्रकृति

और मात्राके अनुसार तज्जनित फलका आविभाव होता है। अतएव कर्मद्वारा जिसप्रकार फलका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार फलके द्वारा भी कर्मका अनुमान किया जा सकता है। प्रायःजगतमें सुख-नुःखकी विचित्र लीकाको देख उसके कारणका अन्वेषण करनेपर कर्मकी इस विशेषताको स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। सुख-नुःखरूप फल जिस असाधारण कारणसे उत्पत्ति होता है उसे ही कर्म अथवा अष्ट-संस्कार कहते हैं। इससे कोई यह न समझे कि वाह-अग्रतको कोई सत्ता सुख-नुःखका कारण नहीं है। यथार्थ ज्ञात तो यह है कि प्रत्येक कार्य अनेकों कारणोंसे उत्पत्ति होता है। उनमेंसे अधिकांश ही साधारण कारण होते हैं और कुछ असाधारण होते हैं। साधारण कारणोंके समूह समझावसे उपस्थित रहनेपर भी असाधारण कारणके बिना निर्दिष्ट कार्य सम्भव नहीं होता, क्योंकि यही इस कार्यका मुख्य कारण है। यह सच है कि सुख-नुःखके अनेकों स्थानिक कारण होते हैं, किन्तु उनसे सुख-नुःख उत्पत्ति नहीं हो सकते। इसके लिये किसी असाधारण कारणकी सहकारिता आवश्यक है। इसीको दर्शनिक लोग कर्म नामसे निर्देश करते हैं। जो सुख-नुःख भोगता है, सुख-नुःखके असाधारण कारण अथवा कर्मका उसीमें रहना युक्तिसंगत है। नहीं तो कार्य और कारणका वैयाप्तिकरवय-दोष आ पड़ेगा। एक आदमी कर्म करे और दूसरा उसका फल भोग करे, यह कार्य-कारण-स्थूलज्ञानसे नियन्त्रित भौतिक जगतमें सम्भव नहीं हो सकता। जो अग्रिमें हाथ ढालता है, उसीका हाथ जलता है, दूसरेका नहीं। इसी प्रकार जो कर्ता होकर सत्-असत् कर्मका अनुदान करता है उसीको भोक्ता बनकर अपने सुख-नुःखरूप फलका अनुभव करना होता है, दूसरेको नहीं। इसीलिये भोगकी सामग्रीके उपस्थित रहनेपर भी भोग-साधक कर्मके अभावमें बहुतोंके बान्धमें इष्टाभुलूप भोग-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती। फिर बहुता देखा जाता है कि विना चेहारे, विना प्रयासके, यहाँतक कि इष्टका और ज्ञानके अभावमें भी, बहुतोंको आशातीत जोग्य बस्तुकी प्रति हो जाती है। वीजके जैसे विना जैसे हृषी नहीं डगता, उसी प्रकार पूर्वकर्म जैसे उत्पत्ति महीं होती। यह जो अन्तर्गत कोटि जड़ाहर असंख्य प्रकारके विद्युत-स्थलवर धारण करके काळ-ज्ञातमें बहते जा रहे हैं, तथा उसके सामने

भगवन् प्रकारके सुख-दुःख उपस्थित करते हैं, इनके पीछे एक विशाल कर्म-शक्ति अनन्त प्रकारकी विविधताओं साथ लिये बर्तमान है।

कर्मसे ही फल होता है वह तीक है, किन्तु अचेतन कर्म केवल जड़-शक्ति है, वह किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्ती, चैतन्य-सत्ता के साक्षिय और प्रेरणाके बिना कभी परिवर्धालित नहीं हो सकती। लौकिक जगत्‌में भी जड़-शक्ति का स्वातन्त्र्य कहीं उपलब्ध नहीं होता। पीछे कर्ता न हो तो करण या यन्त्र स्वयमेव किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त नहीं हो सकते। जड़-शक्ति केवल करण या यन्त्रमात्र है, इसे सभी जानते हैं। यह सत्य है कि अधिमें दाहिका शक्ति होती है और यह भी सत्य है कि वह स्वर्वर्धम-से ही दाय वस्तुको दृढ़ करती है, किन्तु किसी निर्विघ्न वस्तुको दृढ़ करनेमें अधिके प्रयोगके लिये एक चेतन उपरकी आवश्यकता होती है। अधिमें अपने आप सत्तः प्रेरित होकर किसी निर्विघ्न वस्तुको नहीं जान सकती। कर्म-शक्ति भी इसप्रकार अधिके समान जड़-शक्ति है, इसीसे स्वाभाविक नियमानुसार सुख-दुःख उपलब्ध होता है। अवश्य ही, विस आधारपर कर्म सक्षिप्त होते हैं; सुख-दुःखके भोग भी उसी आधारसे होते हैं, इसके बतानेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु स्वभावके नियमानुसार फल-के उपलब्ध होनेपर भी उसका भोग्यरूपमें आविर्भाव होना किसी प्रबलतर शक्तिद्वारा नियमित होता है। अर्थात् कर्मसे ही फल होनेपर भी उसको भ्यवहार-क्षेत्रमें लानेके लिये किसी इच्छाशक्तिसम्पन्न प्रबल सत्ताकी प्रेरणा आवश्यक है। जगत्‌के अन्तर्यामीरूपमें जिन व्यापक आत्मा अथवा चैतन्य इच्छा-शक्तिका एकमात्र अधिष्ठान है उनके सङ्कल्पसे ही जीव कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। वही कर्मके साथी और भोगके साथी हैं, एवं उन्हींके ईक्षणके बरा कर्म भोगरूपमें परिणत हो भोक्ताके निकट उपस्थित होता है। इसीलिये उनको भोक्ताका कर्म-फल-दाता कहा जाता है। कर्मशक्तिके पीछे जो उसको प्रेरित करनेवाली यह चैतन्यसत्ता कार्य करती है, यही ईश्वर हैं।

जीव जो कर्म करता है उसके मूलमें भी ईश्वर-सत्ता है। एवं वह जो फलभोग करता है उसके भी मूलमें वही ईश्वर-सत्ता है। मूलमें इस विशुद्ध चैतन्यमात्रके न रहनेसे एक और जहाँ कर्म सम्बद्ध नहीं होता, दूसरी ओर उसी प्रकार फल भी नहीं हो सकता।

इस सत्ताकी प्रेरणा किसप्रकारकी है, इसे इष्टान्तद्वारा दिखाया जाता है। जिसप्रकार सूर्यके आलोकमें आँखबाला उरु नानप्रकारके रंगोंको देखता है, इस देखनेके मूलमें कारणकृपमें इस वस्तुओंका वैचित्र रहता है, एवं दृष्टाकी ईश्वरसि भी रहती है। परन्तु इनके होनेपर भी इसप्रकार विवित रंग न जीव पढ़ते, यदि इस वस्तु उत्तरवाल आँखोंके आकोकित न होती। इसी प्रकार जीव जो कर्म करते हैं उनका फल भी वे ही भोगते हैं, तथापि ईश्वरकी चैतन्य सत्तामें प्रतिष्ठित न होनेसे कर्म और भोग दोनों ही असम्भव होते। जो ईश्वरको न मानकर केवल कर्मसे ही फलकी उपस्थिति मानते हैं, उनके लिये भोगमें वैचित्र-को सिद्ध करना अस्यन्त कठिन है।

जगत्‌में अलङ्कृत कार्य-कारण-भाव अथवा नियमिकी देखकर उसके अधिष्ठाताके रूपमें विस सत्ताको स्वीकार करना अनिवार्य होता है, वही ईश्वर है। जिन्होंने जगत्‌के तत्त्वका जितना ही सूझभावसे विश्लेषण किया है वे उसना ही स्पष्टरूपसे समझ सके हैं कि जगत्‌के प्रत्येक विभागमें नियम वर्तमान रहता है। यह नियम अस्यन्त जटिल और दुर्बोध है। तथापि एक विभागके नियमके साथ दूसरे विभागके नियमोंका ऐसा धनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, जिससे जान पढ़ता है कि मूलमें एक ही नियम ज्ञेयभेदसे विभ-विभ नियमोंके रूपमें परिणत हो गया है। समस्त जगत्‌में तथा ज्ञान-राज्यमें इस नियमगत ऐक्यका आविष्कार ही विज्ञानकी चरम कीर्ति है। विशाल और वैचित्रपूर्ण विभ-विभ ज्ञानराज्यमें एक ही मूल नियमकी सत्ता एवं प्रभावको देखकर प्रत्येक विचारशील व्यक्तिकी धारणा होती है कि अनन्त प्रकारके सांसारिक वैचित्रके पीछे एक अखण्ड सत्ता विद्यमान है। उसी सत्तासे जब नियमोंका उद्भव होता है तब यह स्वेकार करना ही पड़ता है कि वह जीतन है, तथा वही जगत्‌की एकमात्र नियमक है। अतएव जो नियमवादी है, उन्हें भी नामान्तरसे ईश्वरकी सत्ताको माननेके लिये बाध्य होना पड़ता है। हाँ, तर्क-स्थलमें यह कहा जा सकता है कि नियमके साथ नियमकका होना आवश्यक है, ऐसी कोई बात नहीं। व्याप्ति कि यदि नियमको अनादिरूपसे स्वीकार करें तथा वह यात्रे सचमुच ही अलङ्कृतरूपमें प्रभागित हो जाय तो नियमके कर्ता या प्रबर्त्यिताके रूपमें निवासके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती। यह शङ्ख निराधार भी नहीं है। यथार्थ

बात यह है कि जिसे अनादि और अपरिवर्तनीय समझा जाता है, वास्तव में नियम वैसा नहीं है। साधारण ज्ञान से नियमका आदि अथवा अतिक्रम वाहे अनुभवमें न आवे, किन्तु ज्ञानकी निर्मलताके साथ-साथ क्रमशः समझमें आने कागता है कि नियमका आदि है तथा उसका रूपान्तर भी सम्भव है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस अवस्थामें नियमका नियमत्व इस खण्डित हो जाता है। जो इसकी उपलब्धि कर सकते हैं उनकी समझमें आ सकता है कि बद्द जीवके लिये जो नियम है, वह अधिकारी पुरुषके लिये स्वाधीन इच्छाकी सूखीतमात्र है। जिस अधिकारी पुरुषकी इच्छा सांसारिक नियमके रूपमें आरम्पकाश करती है वही जगत्का ईश्वर है। जह-जिज्ञान केवल नियमकी सत्ताको ही उपलब्ध कर सकता है, किन्तु जिनकी इच्छा इस नियमके रूपमें प्रकाशित होती है, उनका पता उसे नहीं रहता। नियमको अनादिरूपमें स्वीकार न करनेका कारण यही है कि इच्छाविशेषके प्रभावसे नियमका आदि और अन्त—दोनों स्थलविशेषमें उपलब्ध हो सकते हैं। अनादि एवं अखण्डनीय भावके ऊपर इच्छाशक्ति अथवा अन्य कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती। हाँ, लौकिक दृष्टिसे नियमका अनादित्व अथवा अखण्डनीयत्व दोनों स्वीकार किये जा सकते हैं।

जो ज्ञोग जिज्ञासुभावसे जगत्के इतिहासका अनु-सन्धान करते हैं हैं वे जानते हैं कि सांसारिक इष्टिमेज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति किसीके भी कामिक उत्कर्षके अवधि इष्टिगत नहीं होती। शक्ति वस्तुतः अव्यक्त होनेपर भी आधारविशेषके अवलम्बनमें अभिव्यक्त होती है तथा निर्दिष्ट कार्य करती है। आधार सर्वत्र एक प्रकारका नहीं होता, अतः शक्तिका विकास भी सर्वत्र समानरूपसे नहीं हो सकता। जो आधार जितना निर्मल होता है, जिसकी आधाराशक्ति जितनी अधिक होती है, उसमें उसी हिसाबसे शक्तिका विकास होता है। अवश्य ही इस किसी निर्दिष्ट शक्तिके सम्बन्धमें यह बात नहीं कहते। ज्ञान और क्रिया, दोनों क्षेत्रोंमें एक ही नियम है, किन्तु दोनोंके आधारमें विशेषता होती है, यही इनमें भेद है। अव्यक्त ज्ञान-शक्ति वैसे अनुन्त है, वैसे ही अव्यक्त क्रिया-शक्ति भी अनुन्त है। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं, उसका प्रतिबन्धक भी नहीं होता और उससे कोई कार्य भी निष्पत्ति नहीं होता। अतः क्रिया-मन्त्रादनमें समर्थ

अभिव्यक्त ज्ञान अथवा क्रिया-शक्तिका उत्कर्ष आधारके उपर ही निर्भर करता है। आधार यदि भलिन और आवरणसे आच्छादित हो तो शक्तिका विकास भी अच्छी तरह नहीं हो सकेगा। आवरणके दूर होनेपर शक्तिकी अभिव्यक्तिमें विष इट जाते हैं। अतः आवरणशून्य और बाह्य सत्ताके सम्बन्धसे शून्य विशुद्ध उपादानमें जो ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्तिका प्रकाश होता है, वह अपरिचित अप्रतिहत और अनन्त होता है। वस्तुतः यह ईश्वरका ही नामान्तर है। जीवमात्रके भीतर ज्ञान और क्रिया कुछ-न-कुछ अवश्य ही प्रकाशित रहती है, ऐसा न होता तो खेतन जीव जड़से पृथक् नहीं हो सकता। यही ज्ञान-क्रिया क्रमशः बदलते-बदले आधारविशेषमें पूर्णरूपसे प्रकाशित हो उठती है। ज्ञानमें शुद्ध आधारमें अभिव्यक्त इस पूर्ण ज्ञान-क्रिया अथवा चैतन्यका ही ईश्वरनामसे वर्णन किया गया है।

अलौकिक पर प्राकृतिक घटनाओंका अनुयन्धान-पूर्वक संग्रह करके जो तत्त्व निर्णय करनेका प्रयास करते हैं, उन्हें मालूम है कि बुधा सुदूर अतीत कालकी अथवा देशान्तरमें हुई घटना और दृश्यके समान कभी-कभी अनागत घटना तथा दृश्य किसी-किसीको प्रस्तुत हो जाते हैं। इसप्रकारकी घटनाएँ विरली नहीं होतीं। इस प्रसंग-में ऐसी घटनाओंका उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु सचमुच ऐसी बातें होती हैं, इसका समर्थन अनेकों प्रकारमें किया गया है। इसके तत्वकी आलोचना करनेमें दृश्य विहूल हो उठता है। जो दृश्य अबतक सुष्ठिके राजवर्षमें आविर्भूत नहीं हुए, जो घटना अभीतक कहीं नहीं थी, यदि इसप्रकारके दृश्य अथवा घटनाएँ—जो सांसारिक इष्टिमें बहुत समय पीछे आविर्भूत होनेवाली हैं—अभी स्पष्टरूपसे तथा यथार्थरूपसे प्रस्तुत हो जायें तो कोई भी विचारशील व्यक्तिहनके तत्वकी मीमांसा नहीं कर सकेगा, और मोहित हो जायगा। यथार्थतः जिसकी सत्ता इी नहीं है—व्यावहारिक भावमें ही नहीं, बल्कि प्रतिभासरूपमें भी जो नहीं है, वह वर्तमान ज्ञानमें किसप्रकार आ सकता है, यह जानना अस्थन्त कठिन है। अतीत ज्ञानके सम्बन्धमें व्यक्तिगत भावमें यह बात इतनी जटिल नहीं है; क्योंकि जितनें अनुभूत ज्ञान और क्रियाके संस्कारको स्वीकार करने तथा निमित्स-कारणकी सहकारितासे उसके उद्घोषनको मान लेनेपर अतीतका साक्षात्कार तो बहुत

कुछ जीवगत्य हो सकता है। अबरय ही विष्वव्यावहर-स्पर्शमें अतीतका ज्ञान व्यापक आधार—जिसमें समस्त संस्कार मिहित है—के स्वीकार किये जिन उत्तरण नहीं हो सकता। इससे एक विराट्-एवं आपेक्षिक निष्पत्ति-विशिष्ट आधारके अस्तित्वको स्वीकार करना अविद्यार्थ हो जाता है। जो जीवात्माके ‘एकत्रत्वाद्’ के सिद्धान्तको अनन्त हैं, उनकी ईष्टिसे यही वह व्यापक जीव है। सब देशोंके और सब युगोंके जाता जीव इसके विभिन्न अंश-मात्र है, किन्तु अतीत ज्ञानके द्वारा समझ जीवका अस्तित्व सिद्ध होनेपर भी ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। भविष्यत्-दृश्य अथवा घटना-विषयक प्रत्यक्षसे ईश्वरका अस्तित्व स्वभावतः प्रमाणित होता है। क्योंकि कालके प्रभावसे जो सत्ता अभी उदित नहीं हुई है, उसका दर्शन अतीत दर्शनके समान संस्कारके उद्घोषनद्वारा नहीं हो सकता। संस्कार विच अथवा लिंग-शारीरक आधारमें वर्तमान रहता है तथा उद्घोषक कारणोंके संविधानसे जाप्रत् होकर स्फृतरूपमें परिणत होता है। अबरय ही अविर्भावकी विशदतासे आभास-ज्ञान स्पष्टताको प्राप्त होता है—इतना ही नहीं, सृष्टि अपरोक्ष-अनुभूति-रूपमें भी दिखलायी दे सकती है। किन्तु अनागत प्रत्यक्षमें विच अथवा लिंग-शारीरकी कोई भी उपयोगिता नहीं है। असल बात यह है कि विच कारण-भूमिसे आश्रित भावमें सौत निकलता है और वह कार्यस्पर्शमें परिणत हो जाता है। अनागतसे वर्तमानकी ओर जो शक्तिका प्रवाह है यही कारणकी कार्यव्याप्तिके प्रति उत्सुखता है। भाव अथवा क्रिया जब अनागत-अवस्थामें रहती है, तब वह कारणके ही अस्तर्गत हैं। अतएव विच अथवा लिंग-शरीर-का अन्वेषण करनेसे कारणस्य भावका पता लगनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। वह अभी न तो काल-स्रोतमें पड़ा है और न वर्तमान अवस्थामें ही उपनीत हुआ है, इसलिये वस्तुतः उसका कोई संस्कार भी नहीं है, इसी कारण विच-व्याप्तिमें उसका कोई प्रतिविम्ब नहीं पड़ता। अतएव अनागत-दर्शनमें विच अथवा संस्कार किसीकी ज्ञात-सी भी अपेक्षा नहीं होती। जब प्रक्ष वह होता है कि तथ अनागत-दर्शन कहते हैं कि अनागत भी वस्तुतः वर्तमानसे भिन्न नहीं है। इसारे लिये जो अनागत है, व्यापक ज्ञानविशिष्ट पुरुषके लिये वह अनागत न हो-

कर बर्तमान ही हो सकता है। इस युगित्के अनुसार समझ जा सकता है कि जहाँ ज्ञान व्यापकतम है अर्थात् जिस ज्ञानमें किसी प्रकारका आवरण नहीं है, वहाँ कोई भी पदार्थ या घटना ज्ञानत ही रह सकता। वस्तुतः जो इमारे सामने अनागत है वही वहाँ वर्तमान है, यही बात अतीतके विषयमें है। जिस भूमिमें अतीत और अनागत नित्य वर्तमानरूपमें प्रकाशित होते हैं वही पूर्ण ज्ञान-भूमि है। वहाँ कालका भेद नहीं है, घटनाकी पृथक्ता नहीं है, भावकी विशिष्टता नहीं है और क्रियाका तारतम्य नहीं है, यही कारण-जगत् है। इसका जो अविहृता है वही ईश्वर है। अतएव किसी अविष्ट्य कारणसे ज्ञानाश्रक्तके लिये ईश्वरीय सत्ताके साथ जीव-सत्ताकी अभिष्टता सिद्ध होनेपर जीवको उपर्युक्त भविष्यत्-दर्शन होना कुछ भी आश्वर्यकी बात नहीं है। क्योंकि जीव-भूमिमें जो भविष्यत् है, इसप्रकारकी युक्त अवस्थामें ईश्वरीय-भूमिसे वही वर्तमान-रूपमें प्रकाशित होता है। इसमें सिद्ध है कि ज्ञानके पहले एक निर्मल अवस्था होती है जहाँ उपर्युक्त भविष्यत् भी नित्य वर्तमानरूपमें सदा प्रकाशमान रहता है। इसप्रकारकी एक नित्य वर्तमान अवस्था न रहती तो व्यक्तिविशेषके लिये कभी भी भविष्यत्-दर्शन सम्भव नहीं हो सकता। अतएव प्रमाणित भविष्यत्-दर्शनद्वारा ईश्वरीय-सत्ताका युक्त-पूर्वक अनुमान किया जा सकता है। ईश्वरका अस्तित्व बनानेके लिये वह एक अभ्यास प्रमाण है।

किसी कार्यकी उत्पत्तिमें प्रधानस्था उपादान और निमित्त वही दो प्रकारके सामर्थ्य देखे जाते हैं। जगत्-शूष्टी कार्यका विलेपण करते समय ठीक इसी प्रकार दो कारणोंके स्वीकार करना आवश्यक होता है। जिस उपादान-से जगत् निर्मित हुआ है उसे परमाणु, शिशु, माता पा कहा किसी भी भावसे उकारा जाय, उसे जह ही मानना होगा, किन्तु जेतनके संविधान विना केवल जह उपादान अपने-आप कार्यरूपमें परिणत नहीं हो सकता। यह जेतन सत्ता ही जगत्-सृष्टिके निमित्त-कारण है—इसके प्रभावसे जगत्का मूल उपादान विद्योभको प्राप्त होकर विभिन्न कार्योंके रूपमें परिणत होता है। इस अखिल जगत्का व्यापक निमित्त-कारण ही ईश्वर है। जो लोग निमित्तके विना ही उपादानके विद्यों एवं परिणामको स्वीकार करते हैं वे विषयस्त व्यवहारादी हैं, क्योंकि अनुसन्धान किये जिया ही व्यवहारकी गतिल लेना विचार-प्राप्तकी भीतिके विद्ध है।

असपूर्व सुहिप्रवाहमें निमित्तस्तप्ते ईश्वरका अस्तित्व प्रमाण्य-सिद्ध है। अवश्य ही इहिके और भी उत्कर्ष होनेपर यह समझ में आता है कि निमित्त और उपायानमें बस्तुत जोई पार्वत्य नहीं है। तब यह भी समझा जाता है कि एक ही यैतन्य-सत्ता अपनी इच्छासे नाना रूप भारसकर विचित्र जगत्के रूपमें प्रकाशित होती है।

जगत्की और देखनेसे सर्वत्र एवं प्रतिष्ठित एक घोर परिवर्तन होता हुआ दिखायी देता है, यह सर्ववादि-सम्मत है। अपरिवर्तनीय द्रष्टाके सामने परिवर्तनकी सार्थकता है। जगद्यापि इस शास्त्रत परिषयामाको कोई नित्य-द्रष्टा अवश्य है। न होनेसे परिवर्तनको कोई अर्थ ही न रहता। विशुद्ध व्यापक द्रष्टा जो समग्र जगत्के अस्तित्वोंके निविकाररूपेण प्रत्यक्ष कर रहा है, वही चिन्मय ईश्वर है। कहना नहीं होगा कि इस रूपमें इक्षुकिं ही अभिव्यक्त है एवं अन्यान्य शक्तियाँ विलोन अवश्यामें स्थित हैं।

(४)

ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें विचारशील साधारण व्यक्तिके बोधगम्य होने योग्य ऊपर जो कुछ बातें कही गयी हैं वे सभी युक्तिमात्र हैं, इसप्रकारकी बहुतेरी युक्तियाँ शास्त्रमें दिखायी गयी हैं एवं प्रतीक्ष्य ईश्वर-विचासी पण्डितोंने भी अपने-अपने ग्रन्थमें दिखायी हैं, बस्तुतः प्रयोजन होनेपर और भी बहुतेरी युक्तियाँ दिखायी जा सकती हैं। किन्तु इन युक्तियोंके द्वारा कोई कभी ईश्वरमें विश्वास करेगा, इसकी बहुत ही कम आशा है। शास्त्रवाक्य अथवा अनुभूतिसंबंध महापुरुषके वाक्यमें ईश्वर-की सत्ताके विषयमें उपदेश सुनकर निर्मल और अन्तः-प्रवेशोम्बुद्ध हृदयमें जो अस्फुट अद्वाका उदय होता है, विचारके द्वारा उसका समर्थन करना ही युक्तिका उद्देश्य है किन्तु जो आगम-प्रमाणकी प्रमाणताको नहीं मानते, उनके चित्तमें शुष्क युक्तिके द्वारा किसी विषयमें विश्वास उत्पादन करना असम्भव है। युक्ति और विचारका प्रधान कार्य असम्भावना-बोधको दूर करना है अर्थात् हृदय आस-वचन सुनकर स्वामावतः ही जिस विषयमें अद्वाकीशील होता है वह अर्थात्कि नहीं बाहिक सम्भवनीय है, वह दिखला देनेपर ही युक्तिका कार्य समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् साधन-प्रशास्त्रीहारा उसी भ्रद्वाके विषयीभूत, महा-पुरुषोंके उपरिष एवं युक्तिहारा समर्थित सत्यको प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। इस साधन-प्रशास्त्रीमें भूक्ताः योग ही

सर्वप्रधान है। कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रभृति इसीके ही एक-एक पर्वमात्र हैं। योगके अवलम्बनसे तब साध्य सत्य-को सम्पूर्णरूपसे प्रत्यक्षका विषयीभूत किया जाता है तब सभी संशय अपने आप ही दूर हो जाते हैं। ज्ञाता और ज्ञेयका मायिक भेद दूर होनेपर विशुद्ध ज्ञानके आलोकमें विशुद्ध यैतन्य-उपोति अपने आप ही प्रतिष्ठित होकर अस्तित्व स्वप्रकाश सत्तारूपमें स्थित होती है।

जो साधन-पथके पथिक हैं, उनके सम्मुख ईश्वरका अस्तित्व शुष्क युक्तिहारा प्रकाशित नहीं होता। ज्ञानकी जिस भूमिसे इस वर्तमान अवस्थामें जगत्को देखते हैं, जगत्का उस भूमिका अतिक्रम नहीं कर पाते, तबतक जगत्का अथवा अपना या तदत्तीत किसी सत्ताका बोध जैसा अब होता है, तब भी वैसा ही होगा। किन्तु एक बार यदि किसी अचिन्त्य कारणवश चित्तमें व्यापारके लिये भी चित्त-शक्ति सत्तारित होकर साथ ही ज्ञानकी भूमिकाको परिवर्तन कर दे, तो एक ही मुहूर्तमें इमारा दर्शन एवं सत्ताबोध अस्थानक अदृष्टपूर्व नवीन स्वरूप भारण कर लेगा। इस समय इस नास्तिक और घोर अविचारासी व्ययों न हों, लोकोत्तर शक्तिके प्रभावसे एकापक नवीन मनुष्यके रूपमें परिणत हो सकते हैं। जगत्में जहाँ ईश्वर-दर्शन या सत्य-ज्ञानका उदय हुआ है वहाँ इसी प्रकार ही हुआ है, युक्तिरूपहारा स्वप्न और परपत्रके विचारसे कहाँ नहीं हुआ। बस्तुतः मनुष्यके जीवनमें ऐसी बहुतेरी अनुभूतियाँ होती हैं जिनसे मनुष्यके उष्टिकोयका परिवर्तन होते कुछ भी देर नहीं कालाती।

प्रभकर्ता चौथे प्रश्नमें पूछते हैं कि आपके व्यक्तिगत जीवनमें ऐसी कौन-सी घटना घटी है, जिस पे ईश्वरकी सत्ता अथवा उसकी कल्पनाके प्रति विचास सुट्ट हो सकता है? मैंने यहले ही कह दिया है कि मैं व्यक्तिगत अनुभूतिको लोगोंमें प्रकाशित करनेमें असमर्थ हूँ। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि भक्तीभूति उनको युक्तारनेपर उनका उत्तर निकलता है, यह निश्चित है। ऐसी-ऐसी विषयशीलोंसे बहुत बार उन्होंने अद्वैतिक उपायोंसे मेरी रक्षा की है, जिनका प्रतीकार लौकिक उपायोंसे ही नहीं सकता था; और जिनका अरण आते ही उनकी कल्पना और प्रेमका भाव हृदयको अभिभूत कर डालता है। ज्ञानके राज्यमें, कर्म-भूमिमें तथा भावके मन्दिरमें उन्हींकी मङ्गलमयी सत्ता

एवं शक्तिका प्रतिनियत मैं कितने रुपोंमें अनुभव करता रहता हूँ, उसके वर्णनका परिचय कभी नहीं हो सकता।

ये विषय इतने गुण और गोपनीय है कि इसके सम्बन्धमें साक्षात्कारः किसीके साथ आलौचना करनेकी प्रकृति नहीं होती। मेरी व्यक्तिगत प्रकृति एक ओर जिस-प्रकार विश्वासशील है इससी ओर उसी प्रकार संशय-प्रणव है। अतएव मैंने अपने जीवनमें जो कुछ उपलब्ध किया है या कर रहा हूँ, उसको बड़ी ही कठोरताके साथ प्रकार प्रमाणकी कस्तीपर जाँचे विना स्वयं कभी सत्यस्पदे प्राह्य नहीं किया या नहीं करता हूँ। मेरे विश्वासमें जो सत्य है, वह सदा ही सत्य है, अतएव ऐसा करनेसे उसकी उज्ज्वलता बढ़ती ही है, घटती नहीं। प्राक्षिभासिक सत्तासे व्यावहारिक सत्ताको शाका-

कोकर्म पूर्ण करके पहचाने विना पारमार्थिक सत्यकी ओर अवश्य नहीं हुआ जा सकता। श्रीभगवानकी कृपा और सद्गुरुके अनुग्रहसे इस उद्देशमें प्रतिभासत्से व्यवहार, तथा व्यवहारसे परमार्थकी ओर जानेका मार्ग कुछ भालूम हुआ है, कुछ-कुछ तुल गया है। परन्तु अपने उपर्युक्तस्य उद्यमकी सहायतासे अब उनकी नित्य प्रकृति अन्तरमें जाग उठेगी, तब स्वभावके ज्ञातमें छलते-चलते, प्रयेक स्वरमें उनकी उपलब्धिं करता रहेगा। एवं सोपान-परम्परासे कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रेमरूपमें नित्य योगके विकास-से उनके अखण्ड सत्यमय, ज्ञानमय और आनन्दमय व्यवहारको प्राप्तकर अन्तमें लीका-अवसानमें उनके सर्वभावमय किस्तु सर्वभावातीत परमरूपमें स्थित हो सकेगा।
'युरोः कृपेव केवलम्' ॥

अध्यक्ष

निरखत जित तित ही तुम व्यापक ।

मुविसों नमलों प्रति पदार्थ तब कार्यकुशलता-ज्ञापक ॥
सन्ध्या प्रात रैन दिन षट ऋतु क्रमसों सब उपचाप ।
आवत जात अगत अभिनय-यन्त्र अविकल अपने आप ॥
गिरि उत्तंग शुंग नम उम्बत प्रकृति मनोहर देश ।
हिममंडित रविकरंजित नित करत उत्तंग अदोष ॥
शस्य इयाम अमिराम शेष बहु सजल सरित जल पावन ।
मलयज शीतल हीतल सुखप्रद और समीर सुहावन ॥
सुभग स्वच्छ स्वच्छन्द दुमावलि नम लता मृदु कामा ।
अचरज सरसावत दरसावत दरसावत तब माया ॥
रवि शशि अदि दाव योषित सम करत स्वकाज निरंतर ।
अद्भुत अमित परत नहिं तामे तिळ मरहूको अंतर ॥
अकथ प्रदर्शन पुण्य धंकिमे नित-नव नाचनहारे ।
विहसत अचर प्रमोद चमतकत चश्चल चार सितारे ॥
जगमगात प्रतिपल मुखमंडल अनुपम परम पुनीत ।
गावत जन अन्यक सुधनि सो विश्वरूप तब गीत ॥

—गोलोकवासी पं० सत्यनारायण 'कविरत' ॥

* इस क्लेशमें परिशिहांकमें मुद्रित होनेवाले प्रश्नोंके उत्तर हैं, क्लेशरूपमें होनेके कारण यह यहाँ छापा गया है—सम्पादक

जगतमें सबसे उत्तम और अवश्य जाननेयोग्य कौन है ?

ईश्वर



संसारमें सबसे पुराने ग्रन्थ वेद हैं।
वेदके विद्वान् भी इस बातको
मानते हैं कि ऋग्वेद कम-से-कम
४००० वार सहस्र वर्ष पुराना है
और उससे पुराना कोई ग्रन्थ नहीं।
ऋग्वेद पुकारकर कहता है कि

सुष्ठिके पहले यह जगत् अन्धकारमय

था। उस समके वीचमें और उससे परे केवल एक शानस्त्रप
स्वयम्भू भगवान् विद्वान् थे और उन्होंने उस अन्धकारमें
अपनेको आप प्रकट किया और अपने तपसे अयोर अपनी
ज्ञानमयी शक्तिके सज्जाकानसे सुष्ठिको रखा। ऋग्वेदमें
विलिए हैं—

तम आसीत्मसा गृह्णमअऽप्रकेतं सकिं सर्वमा इदम् ।
तुष्ठ्येनाभ्यपिहितं यदासीत्पस्त्वन्महिना जायतैकम् ॥

इसी वेदके अर्थको मनु भगवान् ने छिला है कि सुष्ठि-
के पहले यह जगत् अन्धकारमय था। सब प्रकारसे सोता
हुआ-सा विद्वानी पहला था। उस समय जिनका किसी
दूसरी शक्तिके द्वारा जन्म नहीं हुआ, जो आप अपनी
शक्तिसे अपनी महिमामें सदासे वर्तमान है और रहेंगे, उन
ज्ञानमय, प्रकाशमय स्वयम्भूने अपनेको आप प्रकट किया
और उनके प्रकट होने ही अन्धकार मिट गया। मनुस्मृति-
में लिखा है—

आसीदिद् तमो भूतमप्रशातमलक्षणम् ।
अप्रतर्कर्मितेयं प्रसुषिमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्तिदम् ।
महामूर्तदिवृत्तोजाः प्रदुरासीत्मोनुदः ॥
योऽसावतीनिव्यप्रातः सूक्ष्मोऽन्यकः सनातनः ।
सर्वमूर्तमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्दीमो ॥

ऋग्वेद कहता है—

हिरण्यगर्भः समर्वतात्रे
सूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दावार धृष्टी आमुतेऽमी
कस्यै देवाय हविषा विवेम ॥

य इमा विशा मुवनानि जुह-
दविहोता न्यसीदत् विता नः ।

स आदिषा द्रविणमिच्छमानः
प्रधमच्छदवराँ अविवेश ॥

विशतश्शुरुत विशतोमुखो
विशतो बाहुरुत विशतस्पात् ।

सं बाहुम्या चमति सं पतंत्रे-
श्चाबाहूमी जनयन् देव एकः ॥

योनः पिता जनिता यो विचाता
धामानि वेद भुवनानि विशा ।

यो देवानां नामधा एक पव
तं संप्रक्षं मुवना गन्त्यन्या ॥

और भी श्रुति कहती है—

‘आत्मा वा इदमेक एवाप्त आसीत्’

एकमेवाद्वितीयम्

भागवतमें भगवान् का वचन है—

भग्नेवासमेवाप्ते नान्यत्सदसतः परम् ।

पश्चादहं मदेतत्र योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

(२०-१३)

शिवपुराणमें भी लिखा है—

एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन ।

संसुज्य विश्वं मुवने गोपान्ते संचुकोष सः ॥

विशतश्शुरेवायमुतायं विशतोमुखः ।

तथैव विशतो बाहुर्विशतः पादसंयुतः ॥

श्चाबाहूमी च जनयन् देव एको मदेववरः ।

स एव सर्वदेवानां प्रमवशेष्वद्वक्षया ॥

अचक्षुरपि यः पश्चयत्यक्तोऽपि श्रुतेति यः ।

सर्व वेति न वेतास्य तमाहुः पुरुषं परम् ॥

भागवतमें लिखा है—

एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः

सत्यः स्वयंयोत्तिरनन्त आदः ।

नित्योऽक्षरोऽजस्मुखो निरक्षनः

पूर्णोऽद्वयो मुकु उपाक्षितोऽमृतः ॥

(१०-१४-११)

सब बेद, स्मृति, पुराणके इसी सत्यको गोस्वामी तुख्सीदासजीने थोड़े अक्षरोंमें यों कह दिया है—

व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी । सत चेतन धन आँदाशी ॥
आदि-अन्त कोठ जासुन पावा । मति-अनुमान निगम यश गावा ॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना । कर बिनु कर्म कै दिवि नना ॥
आननरहित सकल रस भोगी । बिनु वाणी वका नह भोगी ॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहे प्राण बिनु बास अशेषा ॥
अस सब माँति अलौकिक करणी । महिमा तासु जाइ किमि बरणी ॥

किन्तु यह विश्वास कैसे हो कि ऐसा कोई
परमात्मा है ?

जो वेद कहते हैं कि यह परमात्मा है वही यह भी
कहते हैं कि उसको हम आँखोंमें नहीं देख सकते ।

न सद्गते तिहति रूपमस्य
न चकुषा पदमति कक्षनेन् ।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-

स्तुतस्तु तं पदयते निकर्तु ध्यायमानः ॥

‘ईश्वरको कोई आँखोंमें नहीं देख सकता, किन्तु हममें-
में हर एक मनको पवित्रकर विमल बुद्धिये ईश्वरको
देख सकता है ।’ इसलिये जो लोग ईश्वरको मनकी आँखों
(बुद्धि) से देखना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने
शरीर और मनको पवित्रकर और बुद्धिको विमलकर ईश्वरको
खोज करें ।

हम देखते क्या हैं ?

हमारे सामने जन्ममें लेकर शरीर छूटनेके समयतक
बड़े-बड़े चित्र-विचित्र इश्य दिखायी देते हैं जो हमारे मनमें
इस बातके जाननेकी बड़ी उरकण्डा उपरक्ष करते हैं कि वे
कैसे उपजते हैं और कैसे विलीन होते हैं ? हम प्रतिदिन
देखते हैं कि प्रातःकाल पौफट होते ही सहज किरणोंसे
विभूषित सूर्य-मण्डल पूर्व-दिशामें प्रकट होता है और आकाश-
मार्गसे विचरता सारे जगत्‌को प्रकाश, गर्मी और जीवन
पहुँचाता सायंकाल प्रशिम-दिशामें पहुँचकर नेत्रपथसे परे हो
जाता है । गणित-शास्त्रके जाननेवालोंने गणनाकर यह
निश्चय किया है कि यह सूर्य पृथिवीसे नौ करोड़ अंडाईस
लाख सीस सहस्र मीलकी दूरीपर है । यह कितने आश्वर्य-
की बात है कि यह इतनी दूरीसे इस पृथिवीके सब प्राणियों-
को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता है ! अतः-अत्युपेक्ष

५

अपनी सहज किरणोंसे पृथिवीसे जलको शीघ्रकर सूर्य
आकाशमें ले जाता है और वहाँसे मेघका रूप बनाकर फिर
जलको पृथिवीपर बरसा देता है और उसके द्वारा सब घास,
पत्ती, वृक्ष, अनेक प्रकारके अष्ट और धान और समस जीव-
धारियोंको प्राण और जीवन देता है । गणित-शास्त्र बतलाता
है कि जैसा यह एक सूर्य है ऐसे असंख्य और है और इसमें
बहुत बड़े-बड़े भी हैं जो सूर्यसे भी अधिक दूर होनेके
कारण हमको छोटे-छोटे तारोंके समान दिखायी देते हैं ।
सूर्यके ग्रास होनेपर प्रतिदिन हमको आकाशमें अनगिनत
तारे-नक्षत्र-इह बमक्ते दिखायी देते हैं । सारे जगत्‌को
इपनी किरणोंसे सुख देनेवाला चन्द्रमा अपनी शीतल
चाँदनीसे रात्रिको उयोतिष्ठाती करता हुआ आकाशमें
सूर्यके समान पूर्व-दिशासे पश्चिम-दिशाको जाता है ।
प्रतिदिन रात्रिके आते ही दशों दिशाओंको प्रकाश करती
हुई नक्षत्र-तारा-ग्रहोंकी ऊपरि ऐसी शीभा आरण करती
है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । ये सब तारा-
इह सूर्यमें बड़े हुए गोलकोंके समान अलंबनीय नियमोंके
अनुसार दिन-से-दिन, महीने-से-महीने, वर्ष-से-वर्ष, बंधे
हुए मार्गोंमें चलते हुए आकाशमें धूमते दिखायी देते हैं ।
यह प्रत्यक्ष है कि गर्मीकी अंडुमें यदि सूर्य तीव्रतप्तसे
नहीं तपता तो वर्षाकालमें वर्षा अच्छी नहीं होती । यह
भी प्रत्यक्ष है कि यदि वर्षा न हो सो जगत्‌में प्राणीमात्रके
भोजनके लिये अस और कल न हों । इसमें हमको स्पष्ट
दिखायी देता है कि अनेक प्रकारके अष्ट और फलदारा
सारे जगत्‌के प्राणियोंके भोजनका प्रबन्ध मरीचिमाली
सूर्यके द्वारा हो रहा है । क्या यह प्रबन्ध किसी विवेक-
कृती शक्तिका रूप हुआ है जिसको स्थान-जंगम सब
प्राणियोंको जन्म देना और पालना अभीष्ट है अथवा यह
केवल जड़-पश्चात्योंके अचानक संयोगमात्रका परिणाम है ?
क्या यह परम आश्वर्यमय गोलक-मण्डल अपने आप जड़-
पश्चात्योंके एक दूसरेके स्वीकृतेके नियममात्रते उपरक हुआ
है और अपने आप आकाशमें वर्ष-से-वर्ष, सर्दी-से-सर्दी,
युग-से-युग धूम रहा है, अथवा इसके रचने और नियमसे
चलानेमें किसी वैतन्य शक्तिका हाथ है ? बुद्धि कहती है
कि है । वेद भी कहते हैं कि है । वे कहते हैं कि सूर्य
और चन्द्रमाको, आकाश और पृथिवीको परमात्माने रखा ।

सूर्योचन्द्रमसी धाता यथा शूद्रमक्तप्तम् ,
दिवश वृथिवीशान्तरिष्मयोस्मः ।

प्राणियोंकी रचना

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्राणात्मक जगत्की रचना हस्य वातकी घोषणा करती है कि हस्य जगत्का रचनेवाला एक ईश्वर है । यह चैतान्य जगत् अथवन्त आश्रय-से भरा हुआ है । जरायुसे उत्पत्ति होनेवाले मनुष्य, सिंह, हाथी, घोड़े, गौ आदि; अण्डोंसे उत्पत्ति होनेवाले पश्ची, पर्सीने और मैलसे पैदा होनेवाले कीड़े, पृथिवीको फोड़कर उगनेवाले वृक्ष, इन सत्रकी उत्पत्ति, रचना और इनका जीवन परम आश्रयन्त्रम् है । नर और नरीका समागम होता है । उस समागममें नरका एक अर्यन्त सूक्ष्म किन्तु चैतन्य शंश गर्भमें प्रवेशकर नारीके एक अथवन्त सूक्ष्म सचेत शंशसे मिल जाता है । इसको हम जीव कहते हैं । वेव कहते हैं कि—

बालाग्रशतभागस्य शतवा कृषितस्य च ।

मार्गो जीवः स दिशेयः स चानन्त्याय तत्पते ॥

एक बालके आगेके भागके खंडे-खंडे सौ भाग कीजिये और उन सौमेंसे एकके फिर सौ खंडे-खंडे टुकड़े कीजिये और इसमेंसे पुक टुकड़ा लीजिये तो आपको ज्ञानमें आवेगा कि उतना सूक्ष्म जीव है । यह जीव गर्भमें प्रवेश करनेके समयने शरीररस्पसे बढ़ता है । विज्ञानके ज्ञानेवाले विद्यालोगोंने अखूदीक्षण यन्मसे देखकर यह बताया है कि मनुष्यके शीर्यके एक विन्दुमें लाखों जीवाणु होते हैं और उनमेंसे एक ही गर्भमें प्रवेश पाकर टिकता और वृद्धि पाता है । नारीके शरीरमें ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि यह जीव गर्भमें प्रवेश पानीके समयसे एक नलीके द्वारा आहार पाये, इसकी वृद्धिके साथ-साथ नारीके गर्भमें एक जलसे भरा थैला बनता जाता है जो गर्भको चोटसे बचाता है । इस सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, अणु-से-अणु, बालके आगेके भागके दस इजारवें भागके समान सूक्ष्म वस्तुमें यह शक्ति कहाँसे आती है कि जिससे यह धीरे-धीरे अपने माता और पिताके समान स्पृह, रंग और सब अवयवोंको धारण कर लेता है? कौन-सी शक्ति है जो गर्भमें इसका पालन करती और इसको बढ़ाती है? वह क्या अद्भुत रचना है जिसमें बोके उत्पत्ति होनेके थोड़े समय पूर्व ही माताके स्नानोंमें दूध आ जाता है? कौन-सी शक्ति है जो सब असंख्य प्राणवन्नोंको, सब मनुष्योंको, सब पशु-पक्षियोंको, सब कीट-पतंगोंको, सब पेढ़-पल्लवोंको पालती है और उनको समयसे चारा और पाती पहुँचाती है? कौन-सी शक्ति है

जिससे चींदियों द्विमें भी और शतमें भी सीधी भीतपर चढ़ती चली जाती है? कौन-सी शक्ति है जिससे छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े पश्ची भानन्त आकाशमें दूर-से-नूरतक बिना किसी आकाशके डंडा करते हैं?

नरों और नारियोंकी, मनुष्योंकी, गौओंकी, सिंहोंकी, हथियोंकी, पक्षियोंकी, कीढ़ोंकी सूष्टि किसे होती है? मनुष्यों-से मनुष्य, रिंगोंसे रिंग, घोड़ोंसे घोड़े, गौओंसे गौ, मवूरों-से मवूर, हंसोंसे हंस, तोतोंसे तोते, कछूतरोंसे कछूतर, अपने-अपने माता-पिताके रंग-रूप अवधय किये हुए कैसे उत्पन्न होते हैं? छोटे-से-छोटे बीजोंमें किसी अधिकृत्य शक्ति-से बढ़ाये हुए बड़े और छोटे असंख्य वृक्ष उगते हैं तथा प्रसिद्ध और बहुत वर्षोंतक पत्ती, फल, फूल, रस, तेल, छाल और लकड़ीसे जीवधारियोंको सुख पहुँचाते, सैकड़ों, सहस्रों स्वादु, रसीले फलोंसे उनको शूल और पुष्ट करते बहुत वर्षोंतक श्वास लेते, पानी पीते, पृथिवीमें और आकाश-से आहार सीधते आकाशके नीचे झूमते-लहराते रहते हैं?

इस आश्रयमयी शक्तिकी सोजमें हमारा ध्यान मनुष्य-के रखे हुए एक घरकी ओर जाता है । हम देखते हैं हमारे सामने यह एक घर बना दुआ है । इसमें भीतर जानेके किये एक बड़ा द्वार है । इसमें अनेक स्थानोंमें पवन और प्रकाशके लिये खिलकियाँ तथा झरोसे हैं । भीतर बड़े-बड़े सम्मे और दालान हैं । धूप और पानीके रोकानेके किये छते और छोड़े जाने हुए हैं । दालान-दालानमें, कोठरी-कोठरीमें, भिज-भिज प्रकारमें मनुष्यको सुख पहुँचानेका प्रबन्ध किया गया है । घरके भीतरसे पानी बाहर निकालनेके किये नालियों बनी हुई हैं । ऐसे विचारसे घर बनाया गया है कि इहनेवालोंको सब अंतरुमें सुख देवे । इस घरको देखकर हम कहते हैं कि इसका रचनेवाला कोई असुर पुरुष था, जिसने इहनेवालोंके सुखके किये जो-जो प्रबन्ध आवश्यक था, उसको विचारकर घर रखा । हमने रथमें-वालोंके देखा भी नहीं, सो भी हमको निश्चय होता है कि घरका रचनेवाला कोई था या है और यह ज्ञानदान्-विचार-बान् पुरुष है ।

अब हम अपने शरीरकी ओर देखते हैं । हमारे शरीर-में भोजन करनेके किये मुँह बना है । भोजन चवानेके किये दांत हैं । भोजनको पेटमें पहुँचानेके किये गलेमें बाली बनी है । उसको पास परनके मारगके किये एक दूसरी बाली बनी हुई है । भोजनको इक्केके किये उड़रमें ल्पान बना

है । भोजन पचकर स्विरका रूप धारण करता है, वह हृदयमें बाकर हड्डी होता है और वहाँसे सिरसे पैरसक सब नामोंमें पहुँचकर मनुष्यके सम्पूर्ण जीवको शक्ति, सुख और शोभा पहुँचाता है । भोजनका जो अंश शरीरके क्षिये आवश्यक नहीं है उसके मल होकर बाहर जानेके लिये मार्ग बना है । दूध, पानी या अन्य रसका जो अंश शरीर-को पोसनेके लिये आवश्यक नहीं है, उसके निकलनेके क्षिये दूनरी नाली बनी हुई है । देखनेके लिये इमारी की आँखें, तुमनेके लिये दो कान, सूँघमेंको जासिकाके दो रथ्म और चलने-फिरनेके लिये हाथ-पैर बने हैं । सन्तानकी उन्पसिके क्षिये जनन-इन्जियाँ हैं । इम पूछते हैं क्या यह परम आश्रयमय रथना केवल जड़-पदार्थोंके संयोगसे हुई है या इसके जन्म देने और कुदियोंमें हमारे घरके रथयिताके समान किन्तु उससे अनन्तगुण अधिक किसी ज्ञानवान्, विवेकवान्, शक्तिमान् आत्माका प्रभाव है ?

मन और वाणीकी अद्भुत शक्तियाँ

इसी विचारमें दृढ़ते और उत्तराते हुए हम अपने मन-की ओर ध्यान देते हैं तो हम देखते हैं कि इमारा मन भी एक आश्रयमय वस्तु है । इसकी—इमारे मनकी विचार-शक्ति, कल्पनाशक्ति, गणनाशक्ति, रचनाशक्ति, स्मृति, धी, मेधा सब हमको चकित करती हैं । इन शक्तियोंमें मनुष्य-ने क्या-क्या ग्राह्य लिये हैं, कैसेकैसे काल्य रचे हैं, क्या-क्या विज्ञान निकाले हैं, क्या-क्या आविष्कार किये हैं और कर रहे हैं, यह योद्धा आश्र्वत नहीं उत्थान करता । इमारी बोलनेकी और गानेकी शक्ति भी हमको आश्रयमें ढुका देती है । हम देखते हैं कि यह प्रयोगवती रथना सृष्टिमें सर्वथा विस्तारी पड़ती है और यह रथना ऐसी है कि जिसके अन्त तथा आदिका पता नहीं जलता । हस रथनामें एक-एक जातिके शरीरियोंके अवयव ऐसे निष्ठमें बैठाये गये हैं कि सारी सृष्टि शोभामें पूर्ण है । हम देखते हैं कि सृष्टिके आदिये सारे जगत्‌में एक कोई अद्भुत शक्ति काम कर रही है जो सद्गते चक्री आयी है, सर्वथा व्याप्त है और अविनाशी है ।

इमारी कुदियोंके द्वारा होकर हस बातको स्वीकार करती है कि ऐसी ज्ञानार्थिमाका रथनाका कोई आदि, सनातन, आज, अविनाशो, सद-चिद-आनन्दस्वरूप जगत्-म्यायक, अनन्त शक्ति-सम्पद रथयिता है । उसी एक अनिवार्यतीय शक्तिको हम ईंधर, परमेश्वर, परब्रह्म, नारायण, भगवान्, बासुदेव,

शिव, राम, हृष्ण, विष्णु, विहोवा, गौड, खुदा, अहाह आदि सहयों नामोंसे पुकारते हैं ।

वह परमात्मा एक ही है

वेद कहते हैं—

‘एकमेवाद्वितीयम्, एकं सद्बिप्रा बहुधा वदन्ति, एकं सन्त बहुधा कल्पयन्ति ।’

एक ही परमात्मा है, कोई उसका दूसरा नहीं । एक-हीको विग्लोग बहुत-से नामोंसे वर्णन करते हैं । है एक ही, किन्तु उसको बहुत प्रकारसे कल्पना करते हैं ।

विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम इस बातके प्रसिद्ध उदाहरण हैं । युधिष्ठिरने पितामह भीष्ममे पृथा कि बसाइये, लोकमें वह कौन एक देवता है ? कौन सब प्राणियोंका सबसे बड़ा एक शरण है ? कौन वह है जिसकी स्तुति करते, जिसको पूजते मनुष्यका कल्याण होता है ?

इसके उत्तरमें पितामहने कहा—

जगत्प्रमुङ् देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।

स्तुत्त्रामसहस्रेष्ठं पुरुषः सततोत्तिः ॥

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकनहेत्वरम् ।

लोकाभ्यर्थं स्तुतजियं सर्वदुःखातिंगो भवेत् ॥

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।

परमं यो महद्वद्ध परमं यो परामणम् ॥

पवित्राणां पवित्रं यो महलानां च महलम् ।

देवतं देवतानां च मूरानां योऽव्ययः पिता ॥

अर्थात्, ‘मनुष्य प्रतिदिन उठकर सारे जगत्‌के स्वामी, देवताओंके देवता, अमन्त्र पुरुषोत्तमकी सहस्र नामोंसे स्तुति करे । सारे लोकके महेश्वर, लोकके अध्यक्ष (अर्थात् शासन करनेवाले), सर्व लोकमें व्यापक विष्णुको, जो न कभी जन्मे हैं, न जिनका कभी मरण होगा, जित्य स्तुति करता हुआ मनुष्य सब दुःखोंमें सुक हो जाता है । जो सबसे बड़ा तेज है, जो सबसे बड़ा तप है, सबसे बड़ा ब्रह्म है और जो सब प्राणियोंके सबसे बड़े शरण हैं, जो पवित्रोंमें सबसे पवित्र, सब मंत्र-तुल बातोंके मंगल, देवताओं-के देवता और सब प्राणीमात्रके अविनाशी पिता है ।’

इससे स्पष्ट है कि विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम तथा और ऐसे स्तोत्र सब एक ही परमात्माकी स्तुति करते हैं । और मनुष्यमात्रको उचित है कि नित्य सार्थ-प्राप्तः उस परमात्माका ध्यान करे और उसकी स्तुति करे ।

उसी एककी तीनि संज्ञा हैं

ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये उसी एक परमात्माकी तीनि संज्ञा अर्थात् नाम हैं। विष्णुपुराणमें लिखा है—

मुदिरित्यत्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवाभित्ताम् ।
सं संज्ञा याति भगवान् एक एव जनार्दनः ॥

यही बात बृहस्पतियपुराणमें भी लिखी है—

नारायणोऽश्वरोऽनन्तः सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
तेनेदमज्ञिनं व्याप्तं जगत्स्यावरजन्मभूम् ॥
तमादिदेवमज्ञरं केविद्वाहुः शिवाभित्तम् ।
केचिद्विष्णुः सदा सर्वं ब्रह्माणां केचिदुच्यते ॥

इसी प्रकार विष्णुपुराणमें स्वयं महेश्वरका वचन है—

विचा भिक्षो ह्याहं विष्णो ब्रह्मविष्णुहरास्वयम् ।
सर्गेरक्षलयगुणैः निष्कलोऽयं सदा हरे ॥
अहं भगवान्यं चेद एदोऽयं यो भविष्यति ।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति मेदे च बन्धनं मेदते ॥

भगवत्तमें भी स्वयं भगवान्का वचन है—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वरं उपद्रष्टा स्वयंदग्विवेषणः ॥
आत्ममायां समाविदयं सोऽहं गुणमयी द्विज ।
सुजन् रक्षन् इन् इवं द्वये संज्ञां कियोचिताम् ॥

इसलिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश हनको भिज्ञ-भिज्ञ मानना भूल है। ये एक ही परमात्माकी तीनि संज्ञा हैं।

इसीलिये शिवपुराणमें भी लिखा है—

शिवं महेश्वरैव रुद्रो विष्णुः पितामहः ।
संसारवैद्यः सर्वतः परमात्मेति मुख्यतः ।
नामाद्विमिदं नित्यं शिवस्य प्रतिपादकम् ॥

इसलिये यह स्पष्ट है कि 'ॐ नमो भगवने वासुदेवाय' 'ॐ नमो नारायणाय' 'ॐ नमः शिवाय' 'श्रीरामाय नमः' 'श्रीकृष्णाय नमः'—ये सब मन्त्र एक ही परमात्माकी बन्धना हैं।

उस परमात्माका क्या रूप है?

वेद कहते हैं—

'सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।'

भागवतमें भी लिखा है—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यग्बस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्यम् ॥
ऋग्विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियशक्तयाः ।
ज्ञानं मात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
इत्यादिभिः पृथग्भावैः भगवानेकं ईयते ॥

मग्न सत्य है, सदा रहा है, है भी, सदा रहेगा भी। वह ज्ञानमय, चैतन्य और आनन्दस्वरूप है। उसका स्वयं शरीर नहीं है, किन्तु विनाशमान शरीरोंमें पैकर वह संसारकी लीला कर रहा है। वह केवल निर्मल ज्ञानस्वरूप है, पूर्ण है। उसका आदि नहीं, अन्त नहीं। वह नित्य और अद्वितीय है। एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें दिखायी देता है।

दूसरे स्थानमें कहा है—

शरीरोंके भीतर वैद्य हुआ आत्मा पुराणपुरुष साक्षात् स्वयंप्रकाश, अज, परमेश्वर, नारायण, भगवान् वासुदेव अपनी मायामें अपने-रचित शरीरोंमें रम रहा है।

ब्रह्मका पूर्ण और अऽयन्त हृदयग्राही निरूपण—वेद, उपनिषद् और पुराणोंका सारांश—भागवतके एकादश-स्कन्द्प्रकाशकी सीरेसे अप्यायमें दिखा हुआ है।

राजा जनकने श्रवियोंमें कहा, हे श्रविण ! आपलोग ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं, अतएव आप सुके अब यह बताहैये कि जिनको नारायण कहते हैं, उन परब्रह्म परमात्माका ठीक स्वरूप क्या है ?

पिप्पलायन श्रविणे कहा—‘हे नृप ! जो इस विश्वके सूजन, पालन और संहारका कारण है, परन्तु स्वयं जिसका कोई कारण नहीं है; जो स्वप्न, जागरण और गहरी नींदकी दशाओंमें भीतर और बाहर भी वर्तमान रहता है; वेद, इन्द्रिय, प्राण और हृदय आदि जिससे सञ्जीवित होकर अर्थात् प्राण पाकर अपने-अपने कार्यमें प्रकृत होते हैं, उसी परम तत्त्वको नारायण जानो। जैसे चिनगारियाँ अझिमें प्रवेश नहीं पा सकतीं, वैसे ही मन, वायी, आँखें, तुङ्गि, प्राण और इन्द्रियाँ उस परम तत्त्वका ज्ञान प्रहण करनेमें असमर्थ हैं और वहाँतक न पहुँच सकनेके कारण उसका निरूपण नहीं कर सकतीं।

वह परमात्मा कभी जन्मा नहीं, न वह कभी मरेगा, न वह कभी यदता है और न बटता है; जन्म-मरण आदि-

से रहित वह सब बदलती हुई अवस्थाओंका साक्षी है, पूर्व सर्वत्र भ्यास है, सब कालमें रहा है और रहेगा, अविनाशी है और ज्ञानमात्र है । जैसे प्राण एक है तो भी हन्दियोंके निज होनेसे आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, नाक सूचती है इत्यादि भावोंके कारण—एक दूसरेसे भिन्न प्रतीत होते हैं, ऐसे ही भास्मा एक होनेपर भी भिन्न-भिन्न देहोंमें अवस्थित होनेके कारण भिन्न प्रतीत होता है ।

जितने जीव जरायुसे उत्पन्न होते हैं—भनुय्य, गौ, घोड़े, हाथी, सिंह, कुत्ते, भेड़, बकरी आदि—जो पश्ची-वर्ग अण्डोंमें उत्पन्न होते हैं, जो कीटवर्ग पसीने, मैल आदिसे उत्पन्न होते हैं और जो बृक्षवर्ग (पेड़, विट्ट) पृथिवीको फोड़कर उगते हैं, हन सबोंमें—सम्पूर्ण सुषिर्म—जहाँ-जहाँ जीवके माथ प्राण ढौढ़ता हुआ दिखायी देता है, वहाँ-वहाँ बछू है । जब सब हनिद्यायां सो जाती हैं, जब ‘मैं हूँ’ यह अहंभाव भी लीन हो जाता है, उस समय जो निर्विकार साक्षीरूप हमारे भीतर बैठा हुआ ध्यानमें आता है और जिसका हमारे जागरेकी अवस्थामें ‘हम अच्छे सेहेये’ ‘यह सपना देखा’ इसप्रकारकी स्मृति होती है, वही बछू है । इत्यादि ।

यह ब्रह्म कहाँ है ?

वेद कहते हैं—

एको देवः सर्वभूतेषु गृहः
सर्वव्यापी सर्वभूतन्तरात्मा ।
कर्मध्यक्षः सर्वभूताविवासः
साक्षी अतः केवलो निर्मुणश्च ॥

एक ही परमात्मा सब प्राणियोंके भीतर छिपा हुआ है, सबमें व्याप रहा है, सब जीवोंके भीतरका अन्तरात्मा है, जो कुछ कार्य सुषिर्में हो रहा है, उसका नियन्ता है । सब प्राणियोंके भीतर बस रहा है, सब संसारके कार्योंका साक्षी-रूपमें देखनेवाला, चैतन्य, केवल एक, जिसका कोई जोड़ नहीं और जो गुणोंके दोषसे रहित है ।

वेद, स्मृति, पुराण कहते हैं कि यह देवोंका देव, अधिमें, जलमें, वायुमें, सारे भुवनमें, सब ओषधियोंमें, सब वनस्पतियोंमें, सब जीवधारियोंमें व्याप रहा है ।

कहते हैं—

एव देवो विश्वकर्मा महारामा
सदा जनानां इदये सर्वविष्टः ।
इदा इदिस्यं मनसा य एव-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—वह परम देव विश्वकर्मा रखनेवाला सदा प्राणियोंके हृदयमें स्थित है । अपने-अपने हृदयमें स्थित इस महारामाको जो शुद्ध हृदयसे, विमल मनसे अपनेमें विराजमान देखते हैं वे अमर होते हैं ।

न तस्य कश्चित्पतिरक्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाभिपाचिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाचिपः ॥

लोकमें न उसका कोई स्वामी है, न उसके ऊपर आज्ञा चलानेवाला है, न उसका कोई चिह्न है । वही सबका कारण है । उसका कोई कारण नहीं, उसका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं, न उसका कोई रक्षक है ।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैत्यतम् ।
पति पतीनां परमं परस्ताद्
विद्याम् देवं भुवेश्वरीक्ष्यम् ॥

उस सब सामर्थ्ये और अविकार रखनेवालोंके सबसे बड़े परम ईश्वर, देवताओंके सबसे बड़े देवता, स्वामियोंके सबसे बड़े स्वामी, सारे विभुवनके स्वामी, परम घट्टनीय देवको हमलोगोंने जाना है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सोइ सच्चिदानंदघन रामा । अज विज्ञानस्प बलधामा ॥
व्यापक व्याप अखण्ड अनन्ता । अस्तिन असेष शक्ति भगवन्ता ॥
अगुण अद्वितीय मिरा गोतीता । समदर्शी अनवद्य अजीता ॥
निमंत निराकार निमोहा । नित्य निरंजन मुख संदेहा ॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी । ब्रह्म निरीह विरज अविनासी ॥
इहाँ मोहकर कारण नाहीं । रवि-सम्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥

यह परमात्मा जीवरूपमें प्रत्येक जीवधारीके हृदयके बीचमें विराजमान है ।

ईश्वर-अंश जीव अविनाशी : चेतन अगल सहज सुखराशी ।

स्वयं भगवान्ते गीतामें कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां इदंशेऽजुन तिष्ठति ।

इस विषयमें शाश्वतस्त्र्य मुनिने सब वेदोंका तत्त्व यों बरांन किया है—

एक सौ चतुर्वारीस तद्वत् हित और अहित नामकी नाइयाँ प्रत्येक मनुष्यके हृदयसे शरीरमें दौड़ी हुई हैं। उसके बीचमें चतुर्दशाके समान प्रकाशवाला एक मण्डल है, उसके बीचमें दीपके समान आत्मा विश्वजमान है, उसीको जानना चाहिये। उसीका ज्ञान होनेसे मनुष्य आवागमनसे मुक्त होता है।

यह आत्मा मनुष्यमें लेकर पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, हृत-विट्ठ समस्त छोटे-बड़े जीवधारियोंमें समानरूपमें विश्वजमान है—

वेदव्यासजी कहते हैं—

ज्योतिरात्मनि नन्यत्र समे तत्सर्वजननुः ।
स्वयं च शक्यते द्रुं मुसमाहितचतुर्मा ॥

अक्षकी ज्योति अपने भीतर ही है, वह सब जीव-धारियोंमें एक सम है, मनुष्य अनको अच्छी तरह जानन और स्थिरकर उनीसे उसको देख सकता है।

जीवामें स्वयं आगामनका बधन है—

समे सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्ते परमेश्वरम् ।
विनयत्स्वविनयन्ते यः पश्यति स पश्यति ॥
ज्योतिरात्मपि तज्ज्योतिस्तम्पः परमुच्यते ।
ज्ञानं ऊर्यं ज्ञानगमयं हृदि सर्वस्त्र विष्णुतम् ॥

वही परिषद्गत है जो विनाश होते हुए मनुष्योंके बीचमें विनाश न होते हुए सब जीवधारियोंमें बैठे हुए परमेश्वर-को देखता है।

सब ज्योतियोंकी वह ज्योति, समस्त अन्धकारके परे अमकाता हुआ, ज्ञानस्वरूप, जाननेके योग्य, जो ज्ञानसे पहचाना जाता है, ऐसा वह परमात्मा सबका सुहृद, सब प्राणियोंके हृदयमें बैठा है।

ऐसे वट-घट-स्थापक उस पृथक परमात्माकी मनुष्यमात्रको विमल भक्तिके साथ उपासना करनी चाहिये। और यह व्याख्यनकर कि वह प्राणीमात्रमें व्यास है, प्राणीमात्रसे प्रीति करनी चाहिये। सब जीवधारियोंको प्रेमकी इष्टिये देखना चाहिये। जैसा कि भक्तिरोमणि प्रह्लादजीने कहा है—

ततो हरै भगवति भक्ति कुरुत दानवाः ।
अत्मैप्येन सर्वत्र सर्वं भूतात्मनीये ॥
देतेया यध्यरक्षासि खियः शूद्रा ब्राह्मणः ।
स्वगा मृगाः पापजीवाः सन्ति अच्युतान्तः गताः ॥
पतावेद्वाहोऽस्मिन् पुंसः स्तार्यः परः स्मृतः ।
पकान्त भक्तिविन्दे यत्सर्वत्र तर्दाक्षणम् ॥
(श्रीमद्भा० ७।७।५२-५५)

अतएव हे द्रावनो ! सबको अपने ही समान सुख-दुःख होता है, ऐसी बुद्धि धारण करके सब प्राणियोंके आत्मा और ईश्वर भगवान् श्रीहरिकी भक्ति करो। देख, यज्ञ, रात्रि, खियाँ, शूद्र, वज्रवासी गोपाल, पशु, पक्षी और अन्य पातकी जीव भी भगवान् अच्युतकी भक्तिये निस्सन्देह मोक्षको प्राप्त हो गये हैं। गोविन्द भगवान्नके प्रति एकान्त भक्ति करना और चराचर समस्त प्राणियोंमें भगवान् है ऐसी भावना करना ही इस लोकमें सबमें उत्तम स्वार्थ है।

सनातन-धर्मका मूल

भगवान्नामुदेवो हि सर्वं भूतभवस्ति ।
पतञ्जानं हि मर्वस्स मृलं वर्मस्य शाश्वतम् ॥

यह ज्ञान कि भगवान् वामुदेव सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, समर्पूर्ण सनातन-धर्मका सद्वासे चला आता हुआ और मदा रहनेवाला मूल है। इसी ज्ञानको भगवान्नने अपने श्रीमुखमें गीतामें कहा है—

‘समोऽहं सर्वं संतेषु ।

मैं सब प्राणीमात्रमें एक समान हूँ। तथा यह कि—
दिव्यानविनयसंपत्तं ब्राह्मणं गति हर्षत्वानि ।
गृनि चैव श्वासकं च परिष्वासिः समदर्शीनः ॥

विद्या और विनयमें युक्त ग्राहणमें, गौ-बैलमें, हाथीमें, कुत्तेमें और चाराढालमें परिषद्गत लोग समदर्शी होते हैं, अर्थात् सुख-दुःखके विषयमें उनको समानभावमें देखते हैं। तथा यह भी कि—

आत्मैप्येन सर्वत्र समे पश्यति योऽर्जुन ।
मुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो भतः ॥

जो पुरुष सबके सुख-दुःखके विषयमें अपनी उपमामें समान इष्टिये देखता है उसीको सबसे बड़ा योगी समझना चाहिये। इसीजिये महायि देवव्यासजीने कहा है—

श्रूयतां चर्मसर्वसं श्रुत्वा चाप्यवचारेत्प्रम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥
न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
पृथ सामान्यिको धर्मः कामादन्यः प्रबतेत् ॥

सुनो धर्मका सर्वस्व और सुनकर इसके अनुसार आचरण करो। जो अपनेको प्रतिकूल जान पाए, जिस बातसे अपनेको धीका पहुँचे, उसको दूसरोंके प्रति न करो।

दूसरोंके प्रति हमको वह काम नहीं करना चाहिये जिसको यदि दूसरा हमारे प्रति करे तो हमको बुरा मालूम हो या या दुःख हो। संचेषणमें यही धर्म है, इसके अतिरिक्त दूसरे सब धर्म किसी बातकी कामनासे किये जाते हैं।

जीवितुं मः स्वयं चेच्छेत्कथ सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यदादात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥

जो चाहता है कि मैं जीऊँ, वह केसे दूसरोंका प्राण हरनेका मन करे? जो-जो बात मनुष्य अपने लिये चाहता है उसको चाहिये कि वही-वही बात औरोंके लिये भी सोचे।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय धर्म जिनका सब समयमें पालन करना सब प्राणियोंके लिये विहित है और जिनके उल्लंघन करनेमें आदमी नीचे गिरता है, इन्हीं सिद्धान्तोंपर स्थित हैं। इन्हीं सिद्धान्तोंपर वेदोंमें गृहस्तोंके लिये पञ्च-महायज्ञका विधान किया गया है कि जो भूजसे भी किसी निदोंपर जीवकी हिंसा हो जाय तो हम उसका प्रायशङ्कर करें। जो हिंसक जीव है, जो हमारा या किसी दूसरे निदोंपर प्राणीका प्राणाघात करना चाहते हैं, या उनका धन हरना या धर्म बिगादना चाहते हैं, जो इमपर या हमारे देशपर, हमारे गाँवपर आकर्मण करते हैं, या जो आग लगाते हैं या किसीको विष देते हैं—ऐसे लोग आत्मायी कहे जाते हैं। अपने या अपने किसी भाई या बहिनके प्राण, धन, धर्म, मानकी रक्षाके लिये ऐसे आत्मायी उरुहोंया जीवोंका, आवश्यकताके अनुसार आत्मरक्षाके सिद्धान्तपर वध करना धर्म है। निरपराधी अहिंसक जीवोंकी हिंसा करना अधर्म है।

इसी सिद्धान्तपर वेदके समयसे हिंदू लोग सारी सृष्टिके विरुद्ध जीवोंके साथ सहाय्य करते आये हैं। गौको हिंदू ज्ञोकमाता कहते हैं क्योंकि वह मनुष्य-जातिको दृश्य पिलाती है और सब प्रकारसे उनका उपकार करती है। इसलिये उसकी रक्षा करना तो मनुष्यमात्रका लियोग करन्वाला है। किन्तु किसी भी विरुद्ध वा निरपराधी

प्राणीको मारना, किसीका धन या प्राण हरना, किसीके साथ अत्याचार करना, किसीको मूँझें डगना, ऊपर लिखे धर्मके परम सिद्धान्तके अनुसार अकार्य अर्थात् न करनेकी बातें हैं। और अपने समान सुख-दुःखका अनुभव करने-वाले जीवधारियोंकी सेवा करना, उनका उपकार करना, यह विकालमें सार्वलैकिक सत्य धर्म है।

हसी मूल-सिद्धान्तके अनुभाव वेद-धर्मके माननेवालोंको उपदेश दिया गया है कि न केवल मनुष्योंको किन्तु पशु-पक्षियों तथा समस्त जीवोंको बलिवैश्वदेवके द्वारा निष्ठ कुछ आहार पहुँचाना अपना धर्म समझें। यह बात नीचे लिखे श्लोकोंसे स्पष्ट है।

बलिवैश्वदेवके श्लोक

ततोऽन्यदत्तमादाय भूमिभागं शुचौ पुनः ।

दद्यादशेषमूतेभ्यः स्वेच्छया तत्समाहितः ॥

दद्वा भनुष्याः पश्वो वयांसि

सिद्धाः सयक्षेषणमूतसहाः ।

प्रेताः पिशाचास्तरनः समस्ता

ये ज्ञात्मिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥

पिरीलिकाः कीटपतञ्जकाद्याः

बुमुक्षिताः कर्मनिर्बन्धवद्धाः ।

प्रयान्तु ते तृष्णिमिदं मयाज्ञ

तेष्यो विसृङ् सुखिनो मवन्तु ॥

भूतानि सर्वाणि तयाक्षमेत-

दद्व च विष्णुनं ततोऽन्यदस्ति ।

तस्मादद्वं भूतानिकामूत-

मज्जं प्रश्चच्छामि मदाय तेषाम् ॥

चतुर्दशो भूतगणो य एव

तत्र स्थिता वेऽस्मिन्मूतसहाः ।

तृप्त्यर्थमन्तं हि मया विसृङ्

तेषामिदं ते मुदिता मवन्तु ॥

इत्युच्चार्यं नरो दद्वावनं शद्वासमन्वितम् ।

मुवि भूतापकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः ॥

और-और यज्ञोंको करके मनुष्य सावधान होकर शृण्यवीपर सब प्राणियोंके लिये बलि रक्षे और कहे कि देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, मिद, यज्ञ, सर्प, प्रेत, पिशाच, तरु, चीटी, कीड़े, पतंग, जो भूखे हों और सुखसे अब चाहते हों, मेरे दिये जावसे उनकी वृति हो और वे सुखी

हों, हस्यादि कहकर गृहस्थ प्राणीमात्रके उपकारके लिये अद्भुतपूर्वक घोड़ा आकर निकाल दे ।

इसी धर्मके अनुसार सनातन-धर्मी नियतर्पण करने-के समय न केवल अपने पितरोंका तर्पण करते हैं किन्तु समस्त ब्रह्माण्डके जीवधारियोंका । यह नीचे लिखे श्लोकोंसे विदित है । यथा—

देवाः सुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्वराज्ञसाः ।
पिशाचाः गुह्यकाः सिद्धाः कूमाराण्डास्तरवः संगाः ॥
जलेच्चरा मूलिन्दमा वास्तवावराश्च जन्मतः ।
प्रतिमेते प्रयान्वयाशु मद्दत्तेनाग्नुनाऽक्षिलाः ॥
नररक्षु समस्तेषु यतनासु च ये स्थिताः ।
तेषामाप्यायनं यंतेदीप्ते सलिलं मया ॥
ये बान्धवाबान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः ।
ते सर्वे तृष्णिमायान्तु यश्चासमस्तोऽप्यमिच्छुति ॥

देवता, दैत्य, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूमाराण्ड, वृक्ष-वर्ग, पक्षीयाश्च, जलमें रहनेवाले जीव, वायुके आधारपर रहनेवाले जन्मतु, ये सब मेरे दिये हुए जलसे तृप्त हों । समस्त नरकोंकी यातनामें जो प्राणी हुआ भोग रहे हैं, उनके दुर्लभ शान्त करनेकी इच्छासे मैं यह जल देता हूँ । जो मेरे बन्धु-बान्धव रहे हों और जो बान्धव न रहे हों और जो किसी और जन्ममें मेरे बान्धव रहे हों, उनकी तृष्णिके लिये और उनकी भी तृष्णिके लिये जो सुझनेजब पानेकी इच्छा रखते हों, मैं यह जल अप्त्यन करता हूँ ।

वैश्वदेवमें जो अस्त कुसे और कौवोंके लिये निकाला जाता है उसको छोड़कर शोष बलिकी मात्रा बहुत कम होती है इसलिये वह 'सर्वभूतेभ्यः' सब प्राणियोंको पहुँच नहीं सकता । तथापि यह जानते हुए भी—बलिवैश्वदेवका करना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य इसलिये माना गया है कि वह उस पवित्र, उदार भावको प्रकट करता है कि मनुष्य मानता है कि उसका सब जीवधारियोंमें भाईपनका सम्बन्ध है और इस भावको अङ्गुष्ठोंके समान प्रेमके जलसे नियत संचकर जगत्के आकाशमें जीवधारीमात्रमें परस्पर भाईपनका आव स्थापित करनेका उल्लङ्घ और प्रशंसनीय भाग है ।

इस धर्मकी उदारताकी प्रशंसना कौन कर सकता है ? इसकी उदारता इस धर्मके बहु-से-बहु-परम पूजित आचार्य

महर्षि वेदव्यासकी, जो 'सर्वभूतहिते रतः' सब प्राणियोंके हितमें निरत रहते थे, इस प्रार्थनासे भी प्रकट है कि—

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे मद्राणि पश्चन्तु मा कष्टिदुःखमाग्नेवेत् ॥

सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग रहें, सब सुख-सौभाग्य देंसें, कोई दुखी न हो ।

उसी धर्मके प्राणाधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने सारे जगत्के प्राणियोंको यह निमन्त्रण दे दिया है कि—'सब और धर्मोंको छोड़कर तुम सुझ एककी शरणमें आओ । मैं तुमको सब पारोंसे छुड़ा लूँगा । सोच भत करो ।'

उन्हींने यह भी प्रतिज्ञा की है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे देष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां महसा मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

अपि ज्ञेषुदुरुचारो भजते मामनन्यभाक् ।

सामुरेव स मन्तव्यः सम्यद्यवसितो हि सः ॥

क्षित्रं भवति धर्मात्मा शशवच्छान्ति निगच्छुति ।

कैन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

मां हि पार्य व्यपाश्रित येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यात्मया शूद्रस्तोऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

कि 'मैं सब प्राणियोंके लिये समान हूँ । न मैं किसी-का द्वेष करता हूँ, न कोई मेरा प्यारा है । जो सुखको भक्षिते भजते हैं, वे सुखमें हैं और मैं उनमें हूँ; पारी-से-पारी भी क्यों न हो यदि वह और सबको छोड़कर मेरा ही भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये । योहे ही समयमें वह धर्मात्मा हो जायगा और उसको शाश्वती शान्ति भिल जायगी । हे अर्जुन ! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, जो कोई मेरा भक्त है, उसका बुरा नहीं होगा । हे कुम्तीके पुत्र ! मेरी शरणमें आकर जो पापयोनिसे उत्पत्ति प्राणी भी हैं और स्त्री, वैश्य और शूद्र—ये भी निश्चय सबसे ऊँची गतिको पावेंगे ।'

धन्य है वे लोग जिनको इस पवित्र और लोक-प्रेमसे पूर्ण धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ है । मेरी यह प्रार्थना है कि इस ब्रह्म-ज्योतिकी सहायतामें सब धर्मशील जन अपने ज्ञानको विशुद्ध और अविचलकर और अपने उत्साह-को नृत्न और प्रबलकर सारे संसारमें इस धर्मके सिद्धान्तों-का प्रचार करें और समस्त जगत्को यह विश्वास करा दें कि सबका इश्वर पक ही है और वह अंशरूपसे न केवल

सब मनुष्योंमें किन्तु समस्त जरायुज, अद्युज, स्वेदज, उद्दिज अर्थात् मनुष्य, पश्च, पची, बीट, पतंग, वृक्ष और विटप सबमें समानरूपसे अवस्थित हैं और उसकी सबसे उत्तम पूजा यही है कि इस प्राणीभावमें ईश्वरका भाव देखें, सबसे भिन्नताका भाव रखें और सबका द्वितीय चाहें।

सार्वजनीन प्रेमसे इस सत्य ज्ञानके प्रचारसे ईश्वरीय शक्तिका संगठन और विस्तार करें। अगत्से अज्ञानको दूर करें, अन्याय और अत्याचारको रोकें और सत्य, न्याय और दयाका प्रचारकर मनुष्योंमें परस्पर प्रीति, सुख और शान्ति बढ़ावें।



उत्तम रहस्य

जगन्में जो कुछ है, सब भगवानका प्रकाश है, ज्योंकि भगवान् ही एकमात्र सत् वस्तु हैं। उनकी मूर्ति या अंश-के अतिरिक्त और किसीका भी अतिरिक्त नहीं है। सभी जीव नाम-रूपकी सीमाके अन्दर असीमका ही आरम्भप्रकाश है। अवश्य ही भगवान्के प्रकाशका भी क्रम है। भगवान् विश्व, शुद्ध, परब्रह्म हैं। साधारण जीवमें भगवान्का अंशमायके आवरणसे आवद्ध है, जीव ज्ञानके प्रकाशद्वारा अपने देवताकी क्रमशः उपलब्धिकर सकता है। स्थानस्थानपर भगवान्की विशेष शक्तियोंका आविभव होता है, उनको विभूतिके नामसे पुकारा जाता है। किन्तु, जब वही अज, अध्यवात्मा ईश्वर स्वयं अगत्यके कल्याणके हिते अपनी मायाको बद्धीभूत करके मायिक देह भ्रष्ट करते हैं—मायव-शारीरमें जन्म ग्रहण करते हुए प्रतीत होते हैं—सर्वशक्तिमान् होकर भी मायवोचित शरीर-मन-बुद्धिके द्वारा कर्म करते हैं—तभी उनको अवतार कहा जाता है।

मनुष्यके अन्दर भी भगवान् हैं। मनुष्य जिस दिन इस बातकी सम्भूत्यसे उपलब्धिकरता है, उसी दिनसे वह भगवान्में विवास करता है। वेदान्तवादियोंमें वैद्यवादीयोंमें नर-नारायणके रूपको अवकलन करके इस तत्त्वको लूप विलक्षणा है। नर नारायणका सदैवका

साथी है। नर अर्थात् जीवात्मा जिस दिन वह समझ लेता है कि मैं नारायण अर्थात् परमात्माका सखा हूँ, उसी उण वह स्वरूपमें स्थित हो जाता है—उसी समयसे वह भगवान्के निकटं निवास करता है—‘निवसिष्यसि मध्येव।’ भगवान् सब समय ही सखारूपसे इमलोगोंके सभीप रहते हैं—इमलोगोंके हृदय-रथमें वे सर्वदा ही सारथी-रूपमें विराजित हुए इमलोगोंको चलाते हैं—

‘ईश्वरः सर्वभूतानां इदेशोऽर्जुन तिष्ठति।’

वे हमलोगोंके कितने अपने हैं, कितने निकटसम बन्धु हैं, हाय पकड़कर वे किसप्रकार हमलोगोंको चला रहे हैं—इस बातको हमलोग नहीं समझते। जिस दिन मायाका आवरण, अज्ञानका अनुष्ठान ईट जायगा, मनुष्य ईदिस्थित हीरीकेशके सम्मुख आयेगा, उनकी बायी सुनकर प्रसादको नह करेगा, उनकी शक्तिसे कर्म करेगा—उसी दिन वह अपनी मन-बुद्धिको भगवान्में सम्पूर्ण-भावसे समर्पण करनेमें एवं भगवान्के अन्दर निवास करनेमें समर्थ होगा, इसीको गीताने ‘उत्तम रहस्य’ बताया है॥

— श्रीधरविन्द

* Essays on Gita से



ईश्वर-प्रार्थना

(महात्मा गांधी)



शर-प्रार्थनाने मेरी रक्षा की। प्रार्थना-
के आश्रय बिना मैं कबका पागल हो
गया होता। अन्य मनुष्योंकी भाँति
मुझे भी अपने सार्वजनिक एवं
व्यक्तिगत जीवनमें अनेक कड़
अनुभव करने पड़े। उनके कारण
मेरे अन्दर कुछ समयके लिये एक

प्रकारकी निराशा-सी छा गयी थी। उस निराशाको दूर
करनेमें मुझे सफलता हुई तो वह प्रार्थनाके ही कारण
हुई। सत्यकी भाँति प्रार्थना मेरे जीवनका अंग बनकर
नहीं रही है। इसका आश्रय तो मुझे आवश्यकतावश लेना
पड़ा। मेरी ऐसी अवस्था हो गयी कि मुझे प्रार्थनाके
बिना चैन पढ़ना कठिन हो गया। ईश्वरके अन्दर मेरा
विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, प्रार्थनाके लिये मेरी
व्याकुलता भी उतनी ही दुर्घटनीय हो गयी। प्रार्थनाके
बिना मुझे जीवन नीरस एवं शून्य-सा प्रतीत होने लगा।

जब मैं दक्षिणी अफ्रीकामें था, उस समय मैं कई बार
ईसाइयोंकी सामुदायिक-प्रार्थनामें सम्मिलित हुआ, किन्तु
उसका सुशपर प्रभाव नहीं पड़ा। मेरे ईसाई भित्र ईश्वरके
सामने अनुनय-बिन्दु करते थे, किन्तु मुझसे वैसा नहीं
बन पड़ा। मुझे इस कार्यमें बिल्कुल असफलता रही।
परिणाम यह हुआ कि ईश्वर एवं उसकी प्रार्थनामें मेरा
विश्वास उठ गया और जबतक मेरी अवस्था परिपक्ष न
हो गयी, मुझे उसका अभाव बिल्कुल नहीं लगा। परन्तु
अवस्था डूँ जानेपर एक समय ऐसा आया जब मेरी
आत्माके लिये प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य हो गयी जिसना
शरीरके लिये भोजन अनिवार्य है। सच ऐसिये तो शरीरके
लिये भोजन भी हृतना आवश्यक नहीं है जिसकी आत्माके
लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता है। क्योंकि शरीरको स्वस्य
रखनेके लिये कर्ती-कर्ती उपचास (भोजनका स्वाग)
आवश्यक हो जाता है किन्तु प्रार्थनारूप भोजनका स्वाग
किसी प्रकार भी हितकर अथवा वाङ्मनीय नहीं
कहा जा सकता। प्रार्थनाका अवीर्य से कभी हो ही
नहीं सकता।

जगद्गुरुओंकी साक्षी

जगत्के तीन महान् गुरु गौतम बुद्ध, ईसा द्वं
सुहन्मदके लेखोंमें इस बातके अकाट्य प्रमाण भिलते हैं
कि उन्हें प्रार्थनासे ही प्रकाश मिला और वे प्रार्थनाके
बिना जीवित नहीं रह सकते थे। लाखों ईसाइयों,
हिन्दुओं तथा मुसलमानोंको आज भी ईश्वर-प्रार्थनासे
जितना आशासन मिलता है वैसा जीवनमें और किसी
बातसे नहीं मिलता। आप अधिक-न्यै-अधिक उम्मीदोंको
झूठा अथवा आप्म-विद्वान् कह सकते हैं। मैं तो यह
कहूँगा कि यह झूठ मुझ स्वयान्वेषीपर जादूका-सा काम
करती है, यदि झूठ ही हो तथापि वस्तुतः मेरे जीवनका
एकमात्र यही सहारा रहा है, क्योंकि इसके बिना मैं एक
पलभर भी जीवित नहीं रह सकता। राजनैतिक आकाश
निराशाके बादलोंसे धिरा हुआ रहनेपर भी मेरी आन्सरिक
शान्ति कभी भंग नहीं हुई। अधिक क्या, लोग मेरी इस
आन्सरिक शान्तिको देखकर मुझसे हँस्या करने लाते हैं।
यह शान्ति मुझे ईश्वर-प्रार्थनासे ही मिली और कहीसे नहीं।

मैं बिहान् नहीं हूँ, मैंने शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया
है, किन्तु मैं विनयपूर्वक इस बातका दावा करता हूँ कि
मेरा जीवन प्रार्थनामय है। प्रार्थनाका प्रकार कैसा होना
चाहिये, इस विवरमें मैं उदासीन हूँ। इसका निर्णय
प्रत्येक मनुष्य अपने लिये स्वयं कर सकता है। किन्तु मुझे
प्रार्थनाके कई ऐसे ढंग मालूम हैं जिनका खोर्गोंने अनुसरण
किया है और प्राचीन महात्माओंके बताये हुए भाग्यपर
कलना ही भेदस्कर होता है।

किसीके अन्दर ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न करा देना मेरी
शक्तिके बाहर है। संसारमें कई बातें ऐसी हैं जो स्वतं-
सिद्ध हैं और कुछ बातें ऐसी ही हैं जो बिल्कुल सिद्ध ही
नहीं हो सकती। रेखागतिके मूल-सिद्धान्तों (Axioms)
की भाँति ईश्वरकी सत्ता भी स्वतंसिद्ध है। सम्भव है कि
हमारा हृदय उसे प्राहण न कर सके। बुद्धिकी एहुचके
विवरमें तो मैं कुछ नहीं कहूँगा। बुद्धिका अवसरण बहुत
कष्टके अव्यवहार होता है, क्योंकि तज्ज्ञता तुलियोंसे

चैतन्यरूप हेषरके अन्दर विश्वास उत्पन्न नहीं कराया जा सकता। हेषर बुद्धिगम्य बस्तु नहीं है। वह बुद्धिसे परे है। हमारे पास बहुत-से ऐसे प्रमाण हैं जिनसे हम हेषरकी सत्ताको युक्तिमे सिद्ध कर सकते हैं, परन्तु इसप्रकारका युक्तिपूर्ण समाधान पाठकोंकी बुद्धिका अपमान करना होगा। मैं आपलोगोंसे अनुरोध करूँगा कि आप लोग तार्किक युक्तियोंका आश्रय छोड़कर एक नहींसे बचेंगी भाँति हेषरमें निश्चल विश्वास करना प्रारम्भ कर दें। यदि मेरा अस्तित्व है तो हेषरका अस्तित्व अवश्य है। केवल मेरे ही जीवनका नहीं, किन्तु मेरे और अन्य लोगों भनुष्योंके जीवनका यह एक आवश्यक अंग है। जाहे वे इसके विषयमें वाद-विवाद न कर सकें, किन्तु उनके जीवनसे हम यह देख सकते हैं कि वह उनके जीवनका एक अंग बन गया है।

श्रद्धा

मैं आप लोगोंसे केवल इतनी-सी प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग इस विश्वासरूपी खण्डहरका जीर्णोद्धार कीजिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि आप उस प्रकृत साहित्यको भूल जाहये जिसने आपको बुद्धिको चौरिया दिया है और आपके पायेको कमज़ोर बना दिया है। अद्वाके भार्गमें दीक्षित हो जाहये, जो विनयका चिह्न है और इस वातको स्वीकार कीजिये कि हम कुछ नहीं जानते, हम इस विश्वास ब्रह्मारणके अन्दर अगुसे भी अगु हैं। हम अगुसे भी अगु इसलिये हैं कि अगु अपनी सत्ताके नियमोंका पालन करता है, किन्तु हम ऐसे दीठ हो गये हैं कि प्रकृतिके नियमोंकी अवहेलना करते हैं। जिन लोगोंमें अद्वाका अभाव है उनको समझानेके लिये मेरे पास कोई युक्तिअध्यावा दलील नहीं है।

यदि एक बार आपने हेषरकी सत्ताको स्वीकार कर लिया तो फिर आपसे प्रार्थना किये बिना रहा नहीं जायगा।

बहुत-से लोग यह शृष्टापूर्ण दावा करते हैं कि हमारा सम्बद्ध जीवन ही प्रार्थनाभय है, अतः हमें किसी निर्दिष्ट समयपर एकान्तमें बैठकर प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें इसप्रकारकी भूखेता नहीं करनी चाहिये।

इमलोग तो किस गिनतीमें हैं, उन महापुरुषोंसे भी, जिनकी दृति निरन्तर ब्रह्माकार रहती थी इसप्रकारका दावा नहीं किया। उनके जीवन वास्तवमें प्रार्थनाभय थे; किन्तु

हमें यह कहना चाहिये कि हमारे लिये वे निश्चित समयपर प्रार्थना अवश्य करते थे और प्रतिदिन परमात्माके प्रति अपना भक्ति-भाव प्रदर्शित करते थे। यह ठीक है कि हेषर यह तरीं चाहता कि हम प्रतिदिन अपनी शरणागतिका उसके सामने हवाला दें, किन्तु हमारे लिये ऐसा करना आवश्यक है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि हम ऐसा करेंगे तो फिर कोई भी दुःख हमें नहीं सतायेगा।

हमारी प्रार्थना

(लेखक—श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर)

हे परमात्मन ! मानव-जीवनकी समस्त प्रार्थनाओं-के भीतर एक ही अत्यन्त गम्भीरतम प्रार्थना (आकांक्षा) है, उसे हम अपनी बुद्धिसे स्पष्ट जानें वा न जानें, उसे हम मुँहमें बोलें अथवा न बोलें, हमारे भ्रममें भी, हमारे दुःखमें भी, हमारी अन्नरात्मासे वह प्रार्थना (आकांक्षा) सदा-सर्वदा तुम्हारे अभिमुख मार्ग खोजनी रहती है ! वह प्रार्थना यही है कि हम अपने समस्त ज्ञानके द्वारा शान्तको जान सकें, अपने समस्त कर्मोंके द्वारा शिवका दर्शन कर सकें, अपने समस्त प्रेमके द्वारा अद्वैतको प्राप्त कर सकें। फलके लाभकी आशाको हम तुमसे निवेदन करनेका साहस नहीं कर सकते, किन्तु हमारी आकांक्षा यही है कि समस्त विघ्न-विक्षेप-विकृतिके मध्यमें भी इस प्रार्थनाको हम समस्त शक्तिके साथ सत्यरूपसे तुम्हारे समीप उपस्थित कर सकें। हमारी समस्त अन्य वासनाओंको व्यर्थ करके हे अन्तर्यामिन् ! केवल इसी प्रार्थनाको स्वीकार करो कि हम कभी-न-कभी ज्ञानमें, कर्ममें और प्रेममें यह उपलब्धि कर सकें कि तुम्हीं 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' हो।

(संक्षिप्त)

* केलिफोनियाके The Cultural World नामक ऐमासिक पत्रिकामें प्रकाशित लेखक अनुवाद ।

ईश्वर-महिमा

(लेखक — श्रीब्रह्मदयालजी गोयन्दका)

(१)

ईश्वर कल्पना नहीं भ्रुव सत्य है



इ भाई ऐसे हैं, जो ईश्वरको कल्पित मानते हैं परम्पुरविचार करके देखनेमें यही सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके तत्त्वको नहीं जानते। ईश्वर शेषविच्छिन्नी-के बरकी कल्पनाकी भाँति भनभोदक नहीं हैं। जो कल्पित होता है वह असत्य होता है और जो असत्य होता है वह विचार करनेपर ठहरता नहीं है। वह वस्तु उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाली होती है, प्रथममें दीखती हुई भी एक रूपमें नहीं रह सकती और उसका परिवर्तन होता रहता है, परन्तु जो वस्तु सद् होती है, उसकी न उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश होता है। वह सदा अनादि होती है, एक रूपमें रहती है और उसमें परिवर्तन नहीं होता।

यदि किसीको उस सद् वस्तुमें भूखसे विपरीतता प्रतीत होती हो तो यह उसकी भाँति है। इसमें सद् वस्तुमें कोई कलंक नहीं आता, जैसे किसीको नेत्रोंके दोषसे चन्द्रमा पीतवर्ण प्रतीत होता हो तो इससे चन्द्रमा पीला नहीं समझा जा सकता। चन्द्रमा तो पीतवर्णके दोषसे रहित शुद्ध और इवेत ही है।

जो वस्तु सद् होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता। जिसका कभी किसी कालमें अभाव नहीं होता, वही वस्तु सत्य है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी सत्तके लक्षण करते हुए गीतामें इसप्रकार कहते हैं—

नासतो विद्यते सावो नामावो विद्यते सतः।

उम्भोरपि इष्टोऽन्तस्त्वन्योऽस्त्वदर्शिः॥

(२ । ११)

असद् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं होता है और सत्तका अभाव नहीं है, इसप्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोद्धारा देखा गया है।

ऐसी सद् वस्तु एक विज्ञान-धर्मन्दर्शन परमात्मा है जो परमेश्वर, ब्रह्म, पुरुषोरम, अहाव, तुदा, गाँड़ आदि

अनेक नामोंसे संसारमें कथित किय गया है। सदके परिवर्तन होनेपर भी उसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन होनेवाले पदार्थ परिवर्तन होते-होते जिसमें जाकर शेष हो जाते हैं, जिसको सब लोग नियम, भ्रुव सत्य कहते हैं और जो सबका दृष्टा है उसीको हम ईश्वर मानते हैं। तर्कमें वाप्र करनेपर भी जिसका वाप्र नहीं होता और जो विज्ञानवान् पुरुषोद्धारा निर्णय किया हुआ सद् प्रशार्थ है उसीका नाम परमात्मा है। उसको विद्-शक्ति या चेतन-सत्त्व भी कहते हैं।

संसारमें दो पदार्थ हैं, एक चेतन और दूसरा जड़। उनको पुरुष और प्रकृति भी कहते हैं। चेतनके दो भेद हैं। एक जीवात्मा और एक परमात्मा। उनमें जीवात्मा अंश है और परमात्मा अंशी है। जीवात्मा नाना और परमात्मा एक है। यह जीवीस तत्त्वोंवाला संसार जड़का ही विकार है।

महामूलन्युहकारो बुद्धिरव्यक्तेन च ।

इन्द्रियाणि दौरैकं च पञ्च बेन्द्रियोऽचराः ॥

(गीता ११ । ५)

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल-प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियों, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विवर—ये जीवीस तत्त्व हैं।

जो जड़ है वह दर्शय है। जो चेतन है वह दृष्टा है। जड़को ज्ञेय और चेतनको ज्ञाता भी कहते हैं। वह ज्ञेय ज्ञाताके ही अधारपर है। भगवान् ने कहा है—

अद्वा बहुतेन कि हसेन तत्त्वार्जुन ।

विद्यमाहिमिदं कृस्तमेकाशेन स्थितो जगत् ॥

(गीता १० । ४२)

अथवा 'हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोगन है, मैं इस संपूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंश-मात्रसे धारण करके लियत हूँ ।'

जह अल्प है, चेतन अनन्त है। जह उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाला है, चेतन अजन्मा, नियम, अविनाशी है। जहमें हर समय परिवर्तन होता रहता है, इसलिये उसको जगन्मंगल भी कहते हैं। चेतनमें परिवर्तन वहीं होता परम्

मृद-चुंडिकारोंको आमिसे जड़के समझसे खेतमें जड़का बिकार भासित होता है, परन्तु जो बिचार करनेपर वैसे ही नहीं बहरता और निर्वेद अकाशमें अपने लेनोंके दोषसे मोरपञ्चकी भाँति प्रतीत होनेवाले तिरबरोंका होना भी बिचारसे सिद्ध नहीं होता।

परमात्मा कलिपत नहीं, भ्रुव सत्य है। यह बात सब शास्त्रोंसे भी सिद्ध होती है। भ्रुव, प्रह्लाद-सरीसे भक्तोंकी आत्मायाधिकाएँ वह विकृत प्रमाणित कर देती हैं। जैसे— समझमेंसे प्रकट होकर दूरसिंह भगवानका हिरण्यकशिष्यको मारना, प्रह्लादकी रक्षा करना और प्रह्लादको शिष्या देना। जैसे भ्रुवको बनमें दर्शन देना और उसको दिये हुए वरदानके अनुसार उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि होना—भ्रुवको राज्य भिल जाना और बिना पढ़े ही केवल भगवानके शास्त्र-के स्पर्शमाप्रसे श्रुति-स्मृतिका ज्ञान हो जाना। इसप्रकारका कार्य किसी कलिपत ईश्वरसे सिद्ध नहीं हो सकता।

ऐसी कथाएँ श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्रोंमें स्थान-स्थलपर अनेकों मिलती हैं। यह सब ऐतिहासिक सच्ची घटनाएँ हैं। कपोलकलिपत नहीं हैं। इन सबको उपर्यासोंकी भाँति कलिपत समझना निरी भूलता है। बिना हुई घटनाओंका इसप्रकार प्रचार होना, तथा अपने युगोंसे इतिहासरूपमें श्रद्धासहित उनका प्रचक्षित-रूपसे अस्तित्व बता आना सम्भव नहीं।

आधुनिक कालमें भी सूरदास, तुलसीदास, तुकाराम, नरसी, चैतन्य महाप्रसु और भीराबाई आदि अनेक भक्त महामाता हो गये हैं। उन महापुरुषोंके वचनोंसे भी ईश्वर-का अस्तित्व इतिहाससहित सिद्ध है। ऐसे पुरुषोंकी जीवनीमें और उनके वचनोंपर सर्वथा अविश्वास करना अपनी बुद्धिका परिचय देना है। उन महापुरुषोंकी जीवनकी जो घटनाएँ हैं उनपर बिचार करनेसे ईश्वरके अस्तित्वमें उत्तरोत्तर झड़ा बढ़ती है। ऐसे स्थानी और सच्चे पुरुषोंपर यह अविश्वास करना और यह कहना कि बुनियाँको धोखा देनेके लिये उन्होंने ये बातें फैक्ता हीं, उनपर कहाँक लगाना है। ऐसे पुरुषोंपर कहाँक लगानेवाले मूर्खोंके लिये सो किर कोई भी विश्वासका आधार नहीं बहरता।

ईश्वरकी सिद्धिमें अनेकों बलवान् युक्तियाँ भी प्रमाण हैं। बिचार करके देखा जाय तो ईश्वरके अस्तित्वको पक्ष और पक्षी भी सिद्ध करते हैं। किर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? जब कोई पुरुष जाठी लेकर कुसेको मारने जाता

है तो वह कुत्ता दूरसे ही उस जाठीको देखकर चिह्नाता है। अभी उसके बोट नहीं खाती, न उसके शरोरमें कोई पीड़ी ही होती है। परन्तु आनेवाले भवयको देखकर वह चिह्ना उठता है। उसके चिह्नानेका मतदब यही है कि मेरे चिह्नानेसे आनेवाले दुःखकी निवृत्ति हो जायगी। क्योंकि मेरी चिह्नाइटको सुनकर रक्षा करनेवाली कोई एक शक्ति नहीं है। इसप्रकार चिह्नानेसे उस कुत्तेकी रक्षा होती हुई भी देखनेमें आती है।

जिस द्यामयी शक्तिका सभी चराचर जीव आसना लेकर दुःख मिटानेके लिये कल्पणाभावसे आरंतनाद करते हैं और जिस द्यामयी शक्तिमें दुखियोंका दुःख मिटता है, उस शक्तिशालीको हम परमात्मा मानते हैं।

जो ईश्वरको नहीं मानते हैं, वे पुरुष भी जब उनपर भारी विपत्ति पड़ती है तब किसी एक शक्तिका आश्रय करके अपनी विपत्तिके नाशके लिये दीन होकर कल्पणापूर्व वचनोंका उत्थापन करते हैं। वे जिस शक्तिके आश्रयसे अपना दुःख मिटाना चाहते हैं, जिस शक्तिकी मानकर दीनता स्वीकार करते हैं और जिस शक्तिके द्वारा उनकी दीनतासे की हुई माँग पूरी होती है, उन लोगोंको भी उस शक्ति-शाली चेतन द्यामसिम्बु दीनबन्धुको ईश्वर समझकर हततह होना चाहिये।

वर्तमानमें भी जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास करके और उनकी शरण होकर प्रयत्न करते हैं उनको भी सफलता मिली है और मिल रही है। बिना हुई वस्तुके अस्तित्वका प्रचार होना सम्भव नहीं है। यदि ही भी जाय तो उनकी इतनी स्थिर स्थिति नहीं रह सकती।

संसारमें जो भी कुछ प्रतीत होता है उसके मूलमें अवश्य ही कोई भग्नान् शक्ति है। प्रतीत होनेवाले पदार्थका परिवर्तन माना जा सकता है परन्तु अभाव नहीं। क्योंकि बिना हुई वस्तुका अस्तित्व सम्भव नहीं है। जो सम्पूर्ण संसारका आधार है, जिसको मूल-कारण भी कहा जा सकता है, उसीको ईश्वर समझना चाहिये। क्योंकि कार्यके मूलमें अवश्य कारण रहता है। कोई भी कार्य बिना कारणके देखनेमें नहीं आता। कोई भी पदार्थ बिना आधारके नहीं रह सकता, प्रतएव इस सम्पूर्ण संसारका जो आधार और मूल-कारण है वह परमात्मा है। वह चेतन है, क्योंकि अह-पदार्थमें वयाविभाग नियमितरूपसे

सज्जातन करनेकी और उसको नियममें रखनेकी योग्यता नहीं होती। परमात्मा केवल युक्ति और शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध हो, सो बात नहीं, वह प्रत्यक्ष भी है। क्योंकि उनकी प्राप्तिके लिये जिन्होंने यत्र किया है उनको वे मिले हैं, मिल रहे हैं, अब भी किसीको उनका प्रत्यक्ष करना हो तो वह साधनोंके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है। जिन पुरुषोंको प्रत्यक्ष हुआ है, उनके बताये हुए साधनके अनुसार चेष्टा करनेसे चेष्टा करनेवालोंको प्रत्यक्ष होता है। अवश्य ही ऐसी अमूल्य वस्तुके लिये जिन्हें प्रयत्नकी आवश्यकता है उतना प्रयत्न होना चाहिये। साधारण वस्तुको प्राप्त करनेमें साधारण प्रयत्न करना पड़ता है, एक विशेष वस्तुके लिये विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता है। वर्तमानमें इंगलैण्डके महाराज पञ्चम जार्ज विलायतमें हैं। यदि कोई उससे प्रत्यक्ष मिलना चाहे तो उसके विलायत जाकर मिलनेके लिये उचित चेष्टा करनेपर मिलना हो सकता है। यदि किसी कारणसे न भी मिलना हो तो उसको यह तो समझ लेना चाहिये कि बादशाह पञ्चम जार्ज विलायतमें हैं, क्योंकि दूसरे मिलनेवालोंसे सुना जाता है और राजकी व्यवस्था भी उनकी आजानुसार नियमानुकूल होती देखी जाती है। इसी प्रकारसे उस असंख्य बाह्याण्डोंके मालिकसे कोई मिलना चाहे तो उसीके अनुसार प्रयत्न करनेसे उसका मिलना सम्भव है। किसी राजाये तो मिलना चाहनेपर भी मिलना हो भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि राजा प्रायः स्वार्थी होते हैं और वे विना प्रयोजन मिलना नहीं चाहते। परन्तु सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद् एवं विना कारण दया करनेवाले भगवान्की तो यह नीति है कि जो भी कोई उससे मिलना चाहे वे उससे मिलते ही हैं। वे कहते हैं—

‘य यथा मां प्रपद्यन्ते तोक्ष्यैव भजाम्यहम्।’

राजाके मिलनेके लिये थोड़ा प्रयत्न करके छोड़ देनेमें किया हुआ प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है परन्तु ईश्वरके लिये किया हुआ थोड़ा-सा भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। ‘नेहाभिक्षमनायोऽस्ति।’ ईश्वरकी प्राप्तिके लिये किये हुए कर्म-का नाश नहीं होता। ईश्वरका मिलना भी राजासे मिलनेकी अपेक्षा बहुत ही विलङ्घण है। ‘आश्वर्यवत् पश्यति कविदेनम्’ इन्द्रियों और मन-बुद्धिके द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुमें अत्यन्त विशेषता होती है। क्योंकि इन्द्रियों और अस्तःकरण अस्पृशकि

होनेके कारण वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते। जैसे विमान, पक्षी आदि बहुत दूरमें स्थित वस्तु नेत्रोंमें नहीं दीखती, अभ्यन नेत्रोंके अस्थन्त समीप होनेपर भी नहीं दीखते, तारे दिनमें आकाशमें स्थित होने हुए भी सूर्यके प्रकाशसे तिरोहित होनेके कारण नहीं दीखते, रात्रिके समय सूर्य पृथ्वीकी ओटमें आ जानेके कारण नहीं दीखता हृष्यादि। इन वस्तुओंके न दिखायी पहनेके कारण इनका अस्तित्व न मानना जैसे मूर्खता है, इसी प्रकार अल्प-बुद्धिवालोंमें ब्रह्मा और ग्रेमकी कमीसे उनके ईश्वर-प्रत्यक्ष न होनेके कारण उसका अस्तित्व न मानना मूर्खता है। जैसे सूर्यकी किरणोंमें जलके परमाणु रहते हैं परन्तु सूर्य होनेके कारण जेत्रोंमें प्रतीत नहीं होते और जैसे बहुत-से विषय इन्द्रियोंके खाली हो जानेके कारण नहीं प्रतीत होते। यथा बहिरेको शब्दका न सुनना, अन्धेको रूपका न दीखना हृष्यादि। इन्द्रियों मिले हुए सजातीय पदार्थोंको भी श्रूण-अलगा करने और पहचाननेमें असमर्थ हैं, जैसे गाय और बकरीके दूधके मिला देनेपर वह न अलग ही किया जा सकता है और न पहचाना ही जा सकता है। बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जहाँ इन्द्रियोंकी गम्य ही नहीं है। जैसे मनुष्यमें मन-बुद्धि होते हैं परन्तु वे इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते। मन-बुद्धिका ज्ञान भी अल्प और आनन्द है। किसी एक मनुष्यको आज हम मन-बुद्धिके द्वारा भर्मारमा समझते हैं। फिर उसीको थोड़े दिन बाद पापी समझने लग जाते हैं। एक मनुष्य कथा बाँच रहा है और बहुत-से मनुष्य कथा सुन रहे हैं। सुननेवालोंका उस पुरुषपर अपना-अपना अलग-अलग निश्चय है। कथा बाँचकर चले जानेपर श्रोतागण परस्पर विचार करने लगते हैं। एक कहता है कि पण्डितजी दम्भी हैं, क्योंकि वे दूसरोंको उपदेश देते हैं और स्वयं पालते नहीं। दूसरा कहता है दम्भी तो नहीं हैं परन्तु स्वार्थी हैं, कोई भेट चाहता है तो उसको बड़ी प्रसन्नतामें ले लेते हैं। तीसरा कहता है पण्डितजी भेटके लिये कथा नहीं बाँचते, यह बात बहुर है कि वे मान-बद्धाई चाहते हैं। चौथा कहता है—भेट और पूजा तो इनको शिर्योंकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करनी पड़ती है, असलमें तो इनका कथा करना इसलिये है कि श्रोताओंके सम्बन्धमें भगवान्का कथा करना इसलिये है कि श्रोताओंके सम्बन्धमें भगवान्का कथा करने मेरी आत्मा भी विचार हो जायगी। इस उद्देश्यसे पण्डितजी अपने और श्रोताओंके कल्पणाके लिये कथा करते हैं। एक परम ब्रह्माणु ग्यकि कहता है कि पण्डितजी तो लायं कल्पाण-

स्वरूप है, हमजोगोंके कल्याणके लिये ही हनकी समृद्धि किया है।

अब विचारणीय विषय यह है कि एक ही देशमें, एक ही कालमें, एक ही पुरुषहारा और एक ही किया हो रही है, उसमें भी लोग अपनी-अपनी तुदिके अनुसार निष्ठा-निष्ठा निष्ठा कर रहे हैं। ही सकता है कि इन पाँचोंमें से किसी एकका निष्ठा ठीक हो परन्तु चारकी गलती अवश्य ही माननी पड़ेगी। इससे यह बात निष्ठा हुई कि मन-तुदि-हारा किया हुआ निष्ठा भी ठीक नहीं समझा जा सकता।

एक मनुष्य किसी एक मनवाहको अच्छा समझता है, किर थोड़े विनके बाद वही उसको खराब समझकर दूसरेको अच्छा समझने लग जाता है। इससे भी वही सिद्ध होता है कि जबतक मन-तुदि पवित्र नहीं हो जाते सबतक उनका किया हुआ निष्ठा भी यथार्थ नहीं समझा जा सकता। इस विषयमें बहुत बड़े-बड़े तुदिमान् पुरुष भी चक्करमें पढ़ जाते हैं; किर एक साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है। जिन पुरुषोंकी आत्मा पवित्र है, जिन्होंने आत्मासे परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है उन पुरुषोंका जो निष्ठा है वही ठीक है। जबतक परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता तबतक अज्ञानी पुरुषोंको अपने आपके निष्ठा अस्तित्वके विषयमें भी अनेक प्रकारकी शंकाएँ होती हैं। किर ईश्वर, लोक, परलोक, शास्त्र और महात्माओंमें शंका होनेमें तो आश्रय ही क्या है।

शंका, विचार, अद्वा और निष्ठायादि मन-तुदिमें होते हैं। मन-तुदि परिवर्तनशील होनेके कारण अद्वा और विचार भादिमें समय-समयपर परिवर्तन होता रहता है।

स्वप्नमें मनुष्य निष्ठाके दोषसे अनेक प्रकारके पदार्थोंको देखता है, उनको वह पुरुष उस कालमें प्रत्यक्ष और सत्य मान लेता है परन्तु ज्ञानेके बाद उनका अस्त्यन्त अभाव देखकर असत् मानता है। इसी प्रकारसे जाग्रत्-अवस्थामें भी अज्ञानके कारण असत्-तुदि कर लेता है। इसलिये मन और तुदिके पवित्र और स्थिर हुए विन उनका किया हुआ अनुमान और निष्ठा ठीक नहीं समझा जाता। साधनोंके द्वारा जब मन और तुदि पवित्र हो जाते हैं तभी उनका किया हुआ निष्ठा यथार्थ होता है।

तुदिके द्वारा निष्ठा किये हुए पदार्थोंकी प्रस्तुतताकी अपेक्षा भी आत्मानुभवके द्वारा निष्ठा किये हुए पदार्थोंकी प्रस्तुतता विशेष है। जैसे पुरुष अपने अस्तित्वके विषयमें

समझता है कि मैं निष्ठा हूँ, इस निष्ठयका तीनों काल (भूत, अविष्य, वर्तमान) तीनों अवस्था (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) और तीनों शरीर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) में कभी भी अभाव नहीं होता। जो बात तीनों कालमें है वही सत्य है। सत्य अपनी आत्मा तीनों कालमें होनेके कारण निष्ठा सत्य है। इस सत्यका किया हुआ अनुभव ही सत्य है। परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव आत्मासे ही हो सकता है। जब आत्माका सम्बन्ध भन-तुदिसे कूटकर परमात्मामें जुड़ जाता है तभी आत्मा परमात्माका यथार्थरूपमें अनुभव करती है। वही असली अनुभव है। उसमें भूत नहीं हो सकती। अतएव आत्मानुभवकी प्रस्तुतताके समान भन-तुदिकी प्रस्तुतता नहीं समझी जाती। जिन पुरुषोंको परमात्माका यथार्थ अनुभव हुआ है उन पुरुषोंका ऐसा क्षयन पाया जाता है।

तीनों शरीरोंमें, तीनों अवस्थाओंका हर समय परिवर्तन होनेपर भी तीनों अवस्था और तीनों कालमें आत्मा निष्ठिकार-रूपमें सदा एकरस रहता है। इसी प्रकारमें एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्तिमें भी आत्माका परिवर्तन नहीं होता।

‘देहिनोऽस्मिन्न्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्त्र न मुक्तिः ॥

(गीता २।१३)

जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, जैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, इस विषयमें भी पुरुष मोहित नहीं होता।

यदि कहो कि देहान्तर-प्राप्तिको हम इसके सहज नहीं मान सकते क्योंकि पूर्व और पर-जन्मकी किसी घटनाका इनको ज्ञान नहीं है, यह ठीक है, परन्तु इस जन्ममें भी तो पूर्व और पर-कालकी घटनाओंका इमें समीक्षीयरूपसे ज्ञान नहीं है। साधारण मनुष्यको तो भावी कालका ज्ञान एक पक्षका भी नहीं हो सकता। योग-शास्त्रिके प्रभावसे योगीजन पूर्णपरके अस्त्वकी घटनाओंका ज्ञान करनेमें समर्थ होते हैं। भगवान् कहते हैं—

उक्तमन्तं स्थितं बाहि मुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुः ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यविश्यितम् ।

यतन्तोऽध्यक्षात्मानो नैनं पश्यन्त्यज्ञेतरसः ॥

(गीता १५।१०-११)

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे

मुक्त हुए को आज्ञानीजन नहीं जानते। केवल ज्ञानस्य नेत्रधारे ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं, योगीजन भी अपने हृत्यमें स्थित हुए। इस आत्माको बदल करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिव्हाने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यथा करते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते हैं।

साधारण पुरुषमें तो भूतकालका भी ज्ञान समीक्षीन-रूपसे नहीं देखा जाता। योगे दिन पूर्वकी बीती हुई बहुत-सी घटनाओंके लिये भी वह साफ इन्कार कर देता है कि मुझको ख्याल नहीं है, फिर बहुत पुराने ज्ञानेकी बातके भूत जानेमें तो आश्वर्य ही क्या है? दोन्हीन वर्षकी बाल्यावस्थाकी तो किसी घटनाका मनुष्यको प्रायः ज्ञान नहीं है। जन्मनके समय प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मनुष्यको भारी तकलीफ होती है और उस दुःखके कारण प्रायः सभी चिह्नाते हैं परन्तु उस चिह्नानेका और दुःखका किसीको ज्ञान नहीं है। फिर गर्भावस्थाकी घटनाका ज्ञान कैसे रह सकता है? इसपर यदि पूर्वजन्मकी घटनाओंके ज्ञानसे ही पूर्वजन्मकी सिद्धि मानी जाय तो उसके निरी मूर्खता नहीं तो और क्या कहा जाय? इससे वह बात सिद्ध हो गयी कि कुमार, युवा और जरावस्थामें देहके विकारसे आत्मा विकारी नहीं होता। इसी प्रकारसे देहान्तरकी प्राप्तिसे भी आत्मा विकारी नहीं होता। अतएव आत्मा अविकारी है और जो अविकारी है वही नित्य है। जो नित्य है वही सत्य है। वह सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सबकी आत्मा है ज्यांकि आत्मा ईश्वरका अंश होनेके कारण सबकी आत्मा परमात्मा ही है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वमूताशयस्थितः ।
अहमादिष्म मध्यं च मूतानामन्तं पदं च ॥

(गीता २०। २०)

‘ऐ अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ, तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मन्त्र और अन्त भी मैं ही हूँ।’ अतएव परमात्मा निविकार, अजन्मा, अविनाशी, नित्य, भ्रुव सत्य प्रमाणित हैं।

(२)

ईश्वरके दण्डविधानमें भी दया है

भगवान् दयाके असीम, अनन्त, अचाह सागर हैं, जो कुछ भी करते हैं, उसमें जीवोंके प्रति दया भरी रहती

है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अन्याय करते हैं बा उनकी दया लोगोंको पाप करनेमें सहायक होती है; बात यह है कि उनका कानून ही ऐसा है जो लोगोंको पापसे बचाता है और दया या पुरस्कारकृपसे जो कुछ भी विधान करता है, उसमें उनकी दया पूर्वस्थेय रहती है। घरमें माता-पिता और राख्यमें राजा आदिके जो नियम या कानून होते हैं उनमें भी दया रहती है परन्तु वह वहा परिमित है, उसमें कहीं स्वार्थ रह सकता है, अथवा भान्तिकर देखा विचान भी हो सकता है जो लोगोंके लिये अहितकर हो। राग-द्रेष, अहंकार और अल्पज्ञताके कारण भूत भी हो सकती है परन्तु श्रीभगवान्में ऐसी कोई बात नहीं है। इसीसे उनका कानून विभ्रान्ति, शंकारहित, ज्ञानपूर्व और स्नेहपूरित रहता है। जो मनुष्य ईश्वर-कृपासे श्रीभगवान्के कानूनका रहस्य समझ लेता है, वह तो फिर अपना जीवन उसीके अनुसार उच्छनेमें लगा देता है। उसमें ईश्वर-प्रेम, निर्भयता, शास्ति और आनन्दकी उत्तरोत्तर अपार वृद्धि होती है और अन्तमें वह श्रीभगवान्को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। अब यह समझना है कि भगवान्के कानूनका स्वरूप क्या है? विचार करनेपर भालूम होता है कि भगवान्की विधिका प्रधान लक्ष्य है—

जीवमात्रकी सर्वांगीण उन्नति और उन्हें परम श्रेयकी प्राप्ति

इसी लक्ष्यसक जीव आत्मानीमें पहुँच सके, इसीके लिये उनके नियम हैं। उन नियमोंका पालन वास्तवमें उसी मनुष्यके द्वारा सुगमतासे हो सकता है जो ईश्वरमें परम अद्वा और परम प्रेम रखता है। ईश्वरमें परम अद्वा और परम प्रेम होनेपर स्वाभाविक ही मनुष्यमें सदाचार और सद्गुणोंकी उत्पत्ति और उनका विकास होता है एवं दुराचार और कुरुंगोंका सर्वथा विनाश हो जाता है। शब्दोंमें जिन्हें सदाचार बताया है, वे ही ईश्वरीय कानूनमें सेव्य और पालनीय नियम हैं और जिन्हें दुराचार कहा है, वे ही ईश्वरीय कानूनके निषिद्ध और त्यज्य पदार्थ हैं। संज्ञोपमें सदाचार, सद्गुण और दुराचार, कुरुंगोंका स्वरूप यह है—

अहिंसा, सत्य, तप, त्याग, भ्रस्तेय, व्रह्यवर्ष, अपरिग्रह, बह, सेवा और महापुरुषोंका आज्ञा-पालन आदि सदाचार हैं।

दधा, शौच, शम, दम, समता, चमा, प्रसवता, ज्ञान, वैदेत्य और विभिन्नानन्दा आदि सद्गुण हैं।

हिंसा, असत्य, चोरी, जारी, अमहाय-भ्रष्ट, मातृक-वस्तु-सेवन, प्रमाद, निन्दा, धूत और कुदुभाषण आदि दुराचार हैं।

काम, क्रोध, लोभ, अविवेक, अभिमान, दम्भ, मरसरता, आज्ञास्य, भय और शोक आदि दुर्गुण हैं।

सदाचारसे सद्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा सद्गुणोंसे सदाचारकी उत्पत्ति-वृद्धि होती है, इसी प्रकार दुराचारसे दुर्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा दुर्गुणोंसे दुराचारकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। ये अप्योन्नत्यागित हैं।

सदाचार और सद्गुणोंका सेवन ही ईश्वरीय कानूनको मानना है और दुराचार और दुर्गुणोंका पालन ही उसका भंग करना है। ईश्वरके कानूनको माननेवाला उरुस्कारका पात्र होता है और कानूनको तोड़नेवाला दण्डका पात्र होता है। अवश्य ही उनका दण्ड भी दयासे अंतप्रेत है, इस विषयपर आगे चलकर विचार करना है। यद्युं तो गम्भीरताके साथ यह विचार करना चाहिये कि भगवान्‌के इस कानूनमें कितनी दया—अपरिमित दया भरी है। संहेपमें विचार कीजिये। अहिंसाके पालनसे मनुष्य निवैर और निर्भय हो जाता है, सत्यके पालनमें सत्यको प्राप्त होता है, चोरी न करनेसे विचासका पात्र होता है, ब्रह्मचर्यके सेवनसे उसके तेज और पराक्रममें वृद्धि होती है। परिव्रहके व्यागसे ज्ञान बढ़ता है, यज्ञ-तपसे इन्द्रियोंपर विजय और अन्तःकरणीकी शुद्धि होती है। त्याग, सेवा और महापुरुषोंके आशा-पालनसे समूर्य दोषोंका नाश, शम-कृमादि समस्त सद्गुणोंका आविर्भाव और वृद्धि होकर परमामाकी प्राप्ति हो जाती है।

इस सदाचारके पालनसे लोक-परलोकमें कितना अपरिमित लाभ होता है, यह ईश्वरके कानूनकी ही महिमा है।

अज्ञानके कारण मनुष्य काम-क्लोष-खोभाविके बश होकर असत्य, करट, चोरी-जारी आदि कुरुक्षर्म करके अपका और संसारके जीवोंका अहित करता है। इन दुराचारोंसे और दुर्गुणोंसे अपनी और जमलकी बड़ी हानि होती है, तबके तुल-शानितज्ज्ञ जात हो जाता है। इसी

ज्ञानःपतनसे बचानेके लिये भगवान्‌ने इनको निषिद्ध और त्याज्य बताया है। इस निषेधकी आज्ञामें भी उनकी दया भरी है। जो मोहवरा भगवान्‌की निषेधाज्ञाको न मानकर कानून-मंगरूपी पाप करते हैं, उनके लिये दयापूर्ण दण्डकी अवस्था की गयी है। श्रीभगवान्‌के कानूनमें प्रधानतया जो दण्ड दिया जाता है उसका स्वरूप है—

‘प्राप्त-विषय-भोगोंका नाश कर देना, भविष्यमें विषय-भोगोंकी प्राप्ति न होने देना या कम होने देना, अथवा विषय-भोगमें अक्षम बना देना।

विचार कीजिये, इस दण्ड-विधानमें कितनी दया भरी है—भोगोंके संसर्वसे कितनी हानि होती है, इसका निष्फलिति कुछ बातोंपर विचार करनेसे पता लगेगा—

(क) विषयोंके भोगसे आदत बिगड़ती है।

(ख) विषय-भोगोंमें रत मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिके मार्गपर आङ्गड़ नहीं हो सकता। तथा आङ्गड़ दुधा गिर जाता है।

(ग) विषय-भोगोंकी अधिकतासे बीमारियाँ होती हैं, शरीर-सुखका नाश होता है, शरीर चुप्पको प्राप्त होता है।

(घ) मन दुर्बल होता है, अन्तःकरण अशुद्ध होता है।

(ङ) विषय-सुख केवल भ्रमसे ही देखनेमें सुख-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह परिणाममें दुःखरूप है।

(च) विषय-सेवनसे पुण्योंका नाश और पापोंकी वृद्धि होती है।

(छ) बिना आरम्भके विषयोंका उपभोग नहीं होता, हिंसा बिना आरम्भ नहीं होता, हिंसामें संसारकी हानि और कर्ताको दुःखकी प्राप्ति होती है।

ऐसे दुःखरूप विषयोंके संयोगको नाश कर देना, भविष्यमें प्राप्ति न होने देना, या उन्हें घटा देना एक प्रकार-से बर्तमान और भावी हुँसोंकी प्राप्तिसे बचा लेना है। जैसे आगमें पढ़ते हुए पतंगके सामनेसे दोषक इटा लेना या उसको बुझा देना, अथवा उसके पास आते हुए पतंगों-के मार्गमें रुकावट ढाकना उनपर दया करना है, इसी प्रकार ईश्वर दण्डविधानके रूपमें जीवोंको विषय-भोगसे बचाने करके उनपर महान् दया करते हैं।

कभी-कभी ईश्वर जीवके पूर्व-पापोंके कारण उनके सी-कुमादि विषय वस्तुओंका वियोग न कराकर उनके द्वारा

उसकी हळके बिल्ड इसप्रकारके आचरण करवाते हैं, जिनसे उसको दुःखस्प फल मिलता है। इसमें पापका फल दुःख भोगनेसे पापका नाश तो ही ही, साथ ही श्लो-पुष्ट्रविके मनके विपरीत आचरण करने या उनके द्वारा अपमानित होनेसे उनके प्रति मनमें ज्ञेह-समझा हटकर एक प्रकारकी विकित उत्पन्न होती है, विरक्तिये विचक्षकी कृति उपराम होकर किसी-किसीको तो परमात्माके मार्गमें लग जानेके कारण शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

किसी-किसीको पापोंके फलस्वरूप ईश्वर बीमारी आदि देते हैं, जिससे दुखी हुआ मनुष्य कर्त्त्व-स्वरूपमें आर्तनाद करता है, कोई-कोई तो आर्त होकर भगवान्से दुःखनिवारणार्थ गजराजकी भाँति प्रार्थना करते हैं। जिससे वह दुःखसे मुक्त तो होते ही हैं, साथ ही भगवान्-की भक्ति भी पा जाते हैं।

पापोंके फलस्वरूप किसी-किसीकी श्रीभगवान् मान-बद्धाई-प्रतिष्ठाका नाश कर देते हैं, इससे उसका वस्तुतः बद्ध ही उपकार होता है। क्योंकि मान-बद्धाई-प्रतिष्ठाका रोग बहुत अच्छे-अच्छे दुखिमान् पुरुषोंको भी पतनके गद्देमें शात रेता है। अशानी जीव मान-बद्धाईरूपी जहरीले भावोंको सुन्दर-सुहावने समझकर उनसे लिपटे रहते हैं। दयामय परमात्मा दया करके उनके कल्याणके द्विये इनका नाश करते हैं। मान-बद्धाईके सुखका नाश करना एक प्रकारसे शापके रूपमें महान् वरदान है। क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गकी मान-बद्धाईरूपी भारी बाधा इसमें हट जाती है।

किसी-किसीके पूर्व-पापोंके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्राका निवाह भी कठिनतासे होता है। उसे पर्याप्त आङ्ग-बस्तु नहीं मिलता, इसमें वह दुखी और आर्त होकर भगवान्स्को पुकारता है। इसके सिवा वह आकर्षण्य और अभिमानको त्यागकर—अकर्मण्यता और इरामीपेतोंको छोड़कर अनेक प्रकारके परिश्रम और उत्थम करनेको तैयार हो जाता है, जिससे उसकी अकर्मण्यता मिटती है, मूठ बदल्यन् आकर्षण्य और अभिमान नष्ट होता है।

इसप्रकार ईश्वरके प्रत्येक दण्ड-विधानमें ईश्वरकी अपराद दया भरी है। वैसे रक्षोंके गहरे समुद्रमें ढुककी लगानेसे एक-से-एक बदकर रक्ष मिलते हैं, वैसे ही विचार-द्वारा श्रीभगवान्के दण्ड-विधानरूपी दयाके सागरमें ढुककी लगानेपर इसको और परदोकके हितकारक अनेक

अमूल्य रक्ष मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर-का कानून और उसका दण्ड-विधान दयासे परिपूर्ण है।

संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल दो पदार्थ हैं। मनुष्य अपने अनुकूल पदार्थको प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझता है, सुख-शान्तिको प्राप्त होता है तथा उस पदार्थसे भ्रम करता है। प्रतिकूलमें भूखेताके कारण ईश्वरका कोष समझता है, अशान्ति और शोकको प्राप्त होता है एवं उससे द्वेष करता है। परन्तु जो पुरुष उस सर्वशक्तिमान् दयामय सर्वज्ञ परम सुहृद परमात्माके तत्वको जानता है, वह शोक और मोहसे तरकर परम शान्ति और निर्भयताको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरके कानूनका रहस्य समझकर तो मनुष्य उत्पर मुख्य हो जाता है। ईश्वरका प्रत्येक नियम यापियों-के पाप और दुखियोंके दुःखको नाश करनेवाला है। वह पापोंकी दृढ़िमें सहायक नहीं है, जो पुरुष तत्व समझे बिना ही ईश्वरको दयालु समझकर ईश्वर-दयाके भरोसेपर नये-नये पापाचरण करता है, उसके पाप तो इतने बड़े-लेप हो जाते हैं कि फिर वे जप, ज्यान आदि प्रायशिक्षाओंसे भी, भोग विना, प्रायः नाश नहीं होते। विकित भजन-ध्यान होनेमें भी वे पाप प्रतिबन्धकरूप हो जाते हैं।

ईश्वरकी दया और न्यायके तत्वको जानेवाले पुरुष प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें अपरिमित सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, उनका वह दर्शन उन अज्ञोंकी अपेक्षा, जो विषय-भोगोंकी प्राप्तिमें सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, अस्यन्त ही विजयण होता है। वे समझते हैं कि-

१—यह अपने परम भ्रेमी न्यायकारी दयालु ईश्वरका किया हुआ विधान है।

२—प्रतिकूल पदार्थ जो जगत्की इष्टिमें दुःख कहासे हैं, प्राप्त होते हैं, तब पापोंके अणानुबन्धमें मुक्त मिलती है।

३—न्यायि आदिको परम तप समझकर भोगनेसे सक्रित पापोंका नाश होता है, अन्तःकरण स्वर्य-सदृश विशुद्ध और निर्भय हो जाता है।

४—भविष्यमें निषिद्ध पाप-कर्म न करनेकी ईश्वरीय आज्ञाका पालन करनेमें साक्षात्ती छोटी है, इससे आगामी पापोंका नाश हो जाता है। भोगसे पूर्वकृत पापोंके प्रारूप-का नाश हो गया, बर्तमानमें तप समझकर पापोंका फल भोगनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो गया, बर्तमानमें पाप नहीं हुए और सक्रित पापोंका नाश हुआ तथा निषिद्ध कर्मोंसे

त्वामसे भविष्यके पाप सिट गये, हसप्रकार वह पापोंसे सबैथा रहित होकर परमात्माका प्रेसी बन जाता है। आपसिंहाकर्म आस्तिक पुरुषोंको ईश्वरकी स्फुरि अधिक होती है, ईश्वर-स्मरणसे बढ़कर ईश्वर-प्राप्तिका कोई सुलभ साधन दूसरा नहीं है, इसीलिये तो किसी समझने कहा है—
सुखके माये सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
नलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम जपाय॥

अतएव हम सबको श्रीभगवान्के कानूनका रहस्य समझ कर उसके अनुसार चलना चाहिये। माता, पिता, गुरु और स्वामी आदिके कानूनके अनुकूल चलनेसे उनके अधिकारमें जो परिमित पदार्थ हैं, वही हमें मिल सकते हैं, परन्तु द्यामय ईश्वरके कानूनके अनुकूल चलनेसे हम समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमात्माके उस परमपदको प्राप्त हो सकते हैं जो मनुष्य-जीवनका सर्वोपरि प्रब्राह्म उद्देश्य है।

(३)

ईश्वर-प्रेम ही विश्व-प्रेम है

ईश्वर अनन्त और असीम हैं, चराचर विश्व ईश्वरके एक अंशमें उनके संकल्पके आधारपर विद्यत हैं। ईश्वर अपनी योगमाध्यके प्रभावसे विश्वकी रचना और उसका विनाश करते हैं। जब ईश्वर संकल्प करते हैं, विश्व उत्पन्न हो जाता है और जब संकल्पका ध्यान करते हैं तब विश्व नष्ट या तिरोहित हो जाता है। स्मृति-स्थिति पुरुष जिस-प्रकार अपने अनन्त संकल्पबलमें स्वप्न-सृष्टिकी रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर भास्मरूपमें व्याप्त रहते हुए ही संसारको रचते हैं। ऐसे इतना ही है कि स्वप्नदृष्टि पुरुष अज्ञानमें विद्यत और पराधीन होता है परन्तु ईश्वर ज्ञान-स्वरूप और सर्वतन्त्र-सर्वतन्त्र है। अतएव उन अनन्त चेतना परमेश्वरके किसी एक अंशमें यह संसार बैंसे ही प्रतिमासित है औसे अनन्त आकाशके किसी एक देशमें तारा समकता है। आकाशकी तुलना केवल समझानेके लिये है, वस्तुतः आकाशकी अमन्तता अस्त्र है और वह देशकालसे देशकालमें रहित होनेके कारण संवेद्या अपरिमित है, आकाशकी अमन्तता तो उसी प्रकार परमेश्वरके संकल्पके एक अंशके अमन्तर्गत है जिसप्रकार स्वप्नकी युहि स्वप्नदृष्टि पुरुषके संकल्पके एक अंशके अमन्तर्गत होती है। ईश्वरकी अमन्तता किसी भी संसारिक दृष्टान्तसे नहीं समझायी जा सकती, क्योंकि ईश्वरके सद्वा संसारमें कोई पराया है ही नहीं।

यह समस्त अनन्तकोटि व्रजायण परमात्माके एक रोममें विद्यत है, वास्तवमें जिन ईश्वरका यहाँ वर्णन किया जाता है, वे निरवश्व द्वोनेके कारण रोमयुक्त नहीं हैं। पर क्या किया जाय, लौकिक बुद्धिको समझानेके लिये इन लौकिक पदार्थोंके अतिरिक्त और साधन ही क्या है? अतएव ईश्वरका कोई भी तत्व, जो किसी सांसारिक उदाहरणके द्वारा समझाया जाता है, वह उनका एक अंशमात्र ही होता है। वस्तुतः अंशमात्रका समझाना भी समीचीनरूपसे नहीं होता। इसलिये यही मानना पड़ता है कि ईश्वरके संवक्ता समझना और समझाना अत्यन्त ही दुष्कर है, वह तो अनुभवरूप है, अति गम्भीर और रहस्यमय है, मगवल्क्यप-से ही जाना जाता है। भगवान्ने श्रीरामीतामें कहा है—

आश्र्वयत्परश्यति कीश्वदेन-

माश्र्वददृति तथैव चान्यः ।

(२ । २१)

कोई (महापुरुष) ही हस आत्माको आश्र्वयकी ऊंचेक्षता है और वैसे ही दूसरा कोई (महापुरुष) ही आश्र्वय-की ऊंचों (इसके तत्वको) कहना है।

हसप्रकार जो महापुरुष ईश्वरके तत्वका अनुभव कर लेने हैं, वे भी जब दूसरोंको सहजमें नहीं समझ सकते, तब अंशोंको तो बात ही क्या है! समझाना वायाकी विषय है। बुद्धिके द्वारा ईश्वरके तत्वका जितना अनुभव होता है, उतना वायाकी कह ही नहीं सकती और वास्तवमें तो ईश्वरका तत्व बुद्धिमें भी पूर्णरूपेण नहीं आ सकता। तथापि महापुरुष-द्वारा जो कुछ कहा जाता है उससे उस तत्वका समझना सहज हो सकता है परन्तु उनमें सुननेवाले मनुष्य भी अद्वा, येम, एकाग्रता और बुद्धिकी तीक्ष्णता तथा पवित्रतामें कभी रहनेके कारण यथार्थ समझ नहीं पाते। इसी कारण यह विषय समझने-समझानेमें अत्यन्त ही कठिन है। परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि उस अनन्त विज्ञानानन्दशब्दन परमात्माके किसी अंशमें प्रकृति या माया है और उस मायाके किसी अंशमें यह समस्त चराचर विश्व है। इस अवस्थामें ईश्वरके प्रति किया जानेवाला प्रेम स्वाभाविक ही समस्त विश्वके प्रति हो जाता है। क्योंकि ईश्वर ही विश्वके आधार है, ईश्वर ही विश्वके आत्मा हैं, ईश्वर ही विश्वमें व्याप्त हैं और ईश्वर ही विश्वके एकमात्र (अभिज्ञनिमित्ती-पदानन्) कारण हैं; वे अंशोंहैं और यह समस्त विश्व उनका

अंश है, या यों कहिये कि उनका अंग है। श्रीभगवान्‌ने स्वयं अर्खुनसे कहा है—

अथवा बहुवैतन कि ज्ञातेन तवर्जुन ।
विष्ट्वाहमिदं हस्तमेकाशेन स्थितो जगत् ॥

(गीता १०।४२)

अथवा हे अर्खुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ।

भगवान्‌के उपर्युक्त वाक्योंका अभिग्राय समझ लेनेपर वह निश्चय हो जाता है कि यह समस्त जगत् भगवान्‌के एक अंशमें स्थित है, भगवान् ही इम जगतरूपमें अभिव्यक्त हो रहे हैं, ऐसी स्थितिमें भगवत्प्रेमीका स्वाभाविक ही जगत्के साथ अक्रूतिप्रेम होता है । जिस मनुष्यने सोनेके तत्त्वको समझ लिया, उसका सोनेके आभृतणोंके साथ निश्चय ही प्रेम होता है, वह फिर कभी उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है; यदि करता है तो वह स्वयंके तत्त्वको नहीं जानता, इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्मप्रेमी पुरुष जगत्के जीवोंकी कदापि अवहेलना नहीं कर सकता ।

जो मनुष्य किसी एक पूज्य पुरुषके सारे अंगोंकी अद्वा और प्रेममें पूजा करता हो, वह उस पूज्य पुरुषके किसी एक उपर्यागको जला दे, या किसी एक अंगको काट डाले चाहे वह कितना ही छोटा हो, यह कैसे सम्भव हो मकना है ? उसके लिये तो पूज्य पुरुषका प्रयोक्त अंग ही पूज्य और प्रिय होता है । इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्माका प्रेमी पुरुष अपने आराध्यदेव परमात्माके अंश या अंगरूप किसी जीवके साथ क्या कभी हृष कर सकता है, क्या कभी उसका अहित कर सकता है या उसको दुःख पहुँचा सकता है ? कदापि नहीं । अतएव जो मनुष्य ईश्वरका प्रेमी है, वह स्वाभाविक ही विश्वका प्रेमी है । जैसे पूज्य पुरुषके सब अंगोंको प्रेममें पूजकर भी जो उनके किसी एक अंगको जलाता है, वह भक्त, प्रेमी या मच्चा पुजारी नहीं है, वैसे ही भगवान्में प्रेम करनेवाला पुरुष भी यदि किसी भी जीवका किञ्चित् भी अहित करता है या उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह न परमात्माका भक्त है, न प्रेमी है और न सच्चा पुजारी ही है । असलमें उसने परमात्माका तत्त्व ही नहीं समझा है ।

वर्तका ज्ञाता तो विश्वका स्वाभाविक प्रेमी होगा ही परन्तु इसमें यह वही समझ लेना चाहिये कि केवल विश्वप्रेम ही ईश्वरप्रेम है, क्योंकि विश्वके परे भी परमात्माका स्वरूप अनन्त और अपार है; विश्व उस परमात्माके एक अंशमें होनेके नाते विश्वप्रेम भी ईश्वरप्रेमके ही अन्तर्गत है । वस्तुतः विश्वसहित समझ परमात्माके साथ होनेवाला प्रेम ही ईश्वरप्रेम है ।

परमेश्वरकी दो प्रकृति हैं—एक जड और दूसरी चेतन । इन्हींको भगवान्‌ने गीतामें अपरा और परा प्रकृति कहा है । इनमें आकाश, वायु, तेज, जल, शृङ्खला, मन, उद्धि और भांकार ऐसे आठ प्रकारवाली अपरा प्रकृति जड है, जिसका यह चौबीस विकारोंवाला जड मंसार है और जीवात्मा परा प्रकृति है जिसको चेतन कहने हैं और जिसने उपर्युक्त अष्टधा अवरा प्रकृतिको धारण कर रखा है । शरीरसुक्त इस जीवके भी दो भेद हो जाते हैं—चर और अचर । मनुष्य, पशु, पर्यावरण आदि चर हैं और शृङ्खलता आदि अचर हैं; उपर्युक्त दोनों प्रकृतियोंमें संयुक्त संसारको ही विश्व कहते हैं; इस विश्वके साथ जो मनुष्य किसी हेतुको लेकर प्रेम करता है, वह भी ईश्वरके साथ ही प्रेम करता है, परन्तु उसका वह प्रेम चुद है । किसी भी हेतुसे किया जानेवाला प्रेम हेतुकी पूर्ति होनेके साथ ही समाप्त हो जाता है, इसीलिये वह देशकालमें सीमित होने और फलकी अनुपताके कारण चुद कहा जाता है । विशाल अनन्य ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत तो वही विश्व-प्रेम आ सकता है जो परमात्माके तत्त्वको जानकर हृष जड-चेतन विश्वके साथ निःन्वार्य-भावमें किया जाता है । यथापि इसमें भी देशकालकी परिमितता है यथापि यह तत्त्वज्ञानयुक्त और निष्काम होनेके कारण देश-कालाच्छिद्धि होनेपर भी सक्ता और सराहनीय माना जाता है । दासविक और मर्वारूप ईश्वर-प्रेम तो वही है जो हृष जड-चेतन जगत्सहित, देशकालरहित अपरिमित परमात्मामें विना किसी हेतुके होता है ।

अब यह समझना है कि चेतन और जड-जगन्‌के साथ—परा और अपरा प्रकृतिके साथ किसप्रकारका प्रेम करना चाहिये ।

चेतनके साथ प्रेम

१—मनुष्यादि मुस्लिमें अधिकारी जीवोंको, इस छोक और परकोक्के यथार्थ अन्तर्दृश और परम कल्पालके लिये

अपनी शक्तिके अनुसार तम-मन-धनसे हेतुरहित सहायता पहुँचाना ।

२-पश्च, पश्ची आदि जीवोंको, जिनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति लिये नहीं है, इस लोकमें रक्षा, हृषि और उनके हितके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तम-मन-धनसे स्वार्थ-हित सहायता करना ।

३-इसी प्रकार कुछ-क्षता आदिके साथ स्वार्थ-हित हित-प्रयोगार करना ।

जड़के साथ प्रेम

जो पश्चार्य जीवोंके लिये उपयोगी है और उत्तम गुण तथा कर्मोंकी हृदिमें सहायक है, उन पश्चार्योंकी उक्ति, हृषि और रक्षाके लिये लेणा करना और आमतिं तथा कामनाको स्थागकर लोक-शिक्षाके लिये उनका बयायोग्य उपयोग करना ।

जो पश्चार्य जीवोंके लिये अहितकारक है और दुर्गुण तथा कुछ-क्षमोंको बढ़ानेवाले हैं, उनके बढ़ाने और नष्ट करनेके लिये प्रयत्न करना और द्रौप तथा कामनाको त्याग-कर लोकसंग्रहार्थ उनका योग्यितस्तुपसे सर्वथा त्याग करना ।

जिमप्रकार उपयोगी पश्चार्योंकी हृदि, रक्षा और उपयोगार्थे उनके साथ प्रेम करना है, इसी प्रकार हानिकारक पश्चार्योंके स्व और त्यागमें भी उनके साथ प्रेम करना है, हानिकारक पश्चार्योंका अस्तित्व म रहनेमें ही इनका हित है और हितकी लेणा ही प्रेम है ।

इसी प्रकार मन, हृषि, अहंकार और समलक हिन्द्रियों आदिको तुराचार, दुर्गुण और भोग-विषयोंसे हटाकर सदगुणोंकी हृदिके लिये उन्हें ईश्वर-प्रक्षिप्तें—ईश्वर-सम्बन्धी विषयोंमें लाना उनके साथ प्रेम करना है ।

यह प्रेम साधकको ईश्वरकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध पुरुषोंको लोकसंप्राप्तके लिये करना चाहिये ।

यह विश्वप्रेम ईश्वर-प्रेमके असारंत है, ईश्वरमें प्रेम होनेपर यह आप ही हो जाता है, अतएव मनुष्यमात्रको ईश्वरके प्रति विशुद्ध और अनन्य प्रेम करनेके लिये प्राण-पर्याप्त प्रयत्न करना चाहिये । इस ईश्वर-प्रेमके कुछ साधन लिखकिलित है—

१-ईश्वरके गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी अमृत-मयी कथाओंका अवल, मनन और पठन-वाठन ।

२-भगवान्‌में अद्वा और निष्काम प्रेम करनेवाले पुरुषोंका संग ।

३-भगवान्‌के तत्त्वको याद रखते हुए प्रेमपूर्वक उनके नामका जप और कीर्तन ।

४-भगवान्‌की आङ्गाका पालन और प्रत्येक सुख-दुःखको भगवान्‌का विधान समझकर प्रसन्नचित रहना ।

५-संपूर्व जीवोंको भगवान्‌का अंश मानकर सबके हितके लिये कोशिश करना ।

६-ईश्वरके तत्त्वोंको जानने और उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये उत्करित रहना ।

७-एकाम्बरमें कल्पभावसे ईश्वर-प्रार्थना करना ।

इमप्रकार साधन करनेमें ईश्वरमें अनन्य विशुद्ध प्रेम होकर ईश्वरकी साक्षात् प्राप्ति होती है । फिर जड़-चेतन संसारमें तो उसका हेतुरहित प्रेम होना अनिवार्य ही है । ऐसे तत्त्वके जानेवाले प्रेमी भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

अदृष्टा सर्वभूतानां भैत्रः करण एत च ।

निर्मितो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

सन्तुष्टः सततं योर्मा यतान्मा दद्विनश्चय ।

मर्यादिनमन्मोतुद्वियो मद्रकः स म प्रियः ॥

(गात्र १२. १३७५)

जो सब भूतोंमें द्रौपभावमें रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु हैं एवं जो समलामें रहित, अहंकारमें रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम तथा ज्ञानात् अपराध करनेवालोंको भी अभय देनेवाला है, जो ज्यान-योगमें युक्त तुला निरन्धर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीरको जशमें किये हुए हैं और सुखमें इस निष्पत्यवाला है वह मुश्में अपेण किये हुए मन-सुखिवाला मेरा भक्त मुखको प्रिय है ।

उपर्युक्त विवेचनमें यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर-प्रेम ही विष्वप्रेम है ।

ईश्वर और उसकी प्राप्ति

(लेखक - श्री अनन्दस्युपर्जी [साईवजी महाराज] दयालगढ़)



भर है' यह विश्वास मनुष्यके हृत्यमें इतनी गहरी जब जमाये हुए हैं और यह विश्वास हृत्यना प्राचीन एवं विश्वस्यापो है कि हमें बरबस उस विज्ञ दार्शनिकी बुद्धिकी प्रशंसा करनी पड़ती है जिसने मनुष्यकी परिभाषा करते हुए पहले-पहल इसे ईश्वरको बोलनेवाला प्राचीन बतलाया था। यह मरण है कि सब मनुष्योंकी ईश्वरके सम्बन्धमें एक-सी भावना नहीं होती, परन्तु इसमें हृत्यनार नहीं किया जा सकता कि कोई एक सर्वोपरि अश्रव शक्ति—अज्ञात ईश्वरीय तत्त्व है। इस सम्बन्धमें छोटे-बड़े सभी श्रेणीके मनुष्य एकमत हैं कि हाँ सो वे प्रतिभाशाली वैज्ञानिक एवं अनेक-विद्या-विदारद दार्शनिक, जो देश-विदेशमें स्थानि एवं मान प्राप्त कर चुके हैं, हंगलैरडकी रॉयल सोसायटी (Royal Society) जैसी बड़ी-बड़ी संस्थाओंमें भाग लेते हैं और जिनके जीवन-का अधिकांश भाग गहन तत्त्वोंके विचारमें ही बीतता है, और कहाँ दृचिण असरिकोंके वे असम्भ जंगली लोग जो उन धने जंगलोंमें निवास करते हैं, जहाँ आधुनिक सम्बन्धोंका प्रकाश अभीतक नहीं पहुँच पाया है, तथा जो अपने अधिकांश जीवनको उदरदूरीकी पूर्तिमें ही विताने हैं। किन्तु इन दोनों प्रकाशके मनुष्योंके जीवनमें ऐसे क्षण आते हैं जब उनका जी उस सर्वोपरि अश्रव शक्तिके प्रभावके यामने नवमस्तक होना चाहता है। यह माना कि सम्भवताके अभिमानी मनुष्योंने ईश्वरमें जिन-जिन गुणोंका आरोप किया हैं, जंगली जातियोंको उन सबका ज्ञान नहीं है, परन्तु वे अपने दिलमें इस बातको खूब समझते हैं कि उनके जीवन, सुख तथा भोजनाध्यादानकी व्यवस्था किसी अलौकिक शक्तिके हाथमें है। इसलोग, जिनका जन्म ऐसे देशमें हुआ है जो आध्यात्मिक विकास एवं ईश्वरीय ज्ञानमें बहुत बदा-बदा है, अपने उन भाष्योंकी धारणाओंकी भले ही विज्ञानी उदावें, जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है परन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि इन लोगोंके सरल हृत्यमें ईश्वरकी जिज्ञासा उतनी ही मात्रमें है जितनी इमलोगोंके हृदयोंमें है। बात यह है कि मनुष्य यथापि ईश्वरकी सृष्टिमें सबसे उत्तमेका प्राचीन है फिर भी उसके

अन्दर पाश्विक तृतीयोंकी प्रधानता है। जब कभी किसी कारणमें उसके कार्योंमें बाजा पहुँचती है अथवा असफलता होती है तो समय इसकी आध्यात्मिक भावनाएँ जागृत हो उठती हैं। यहो कारण है कि वे असम्भ जातियाँ, जिनके जीवनका अधिकांश भाग पेट पालनेमें ही व्यतीत होता है, तथा सम्भ कहलानेवाले इमलोग, जिनकी तृतीयों सांसारिक कामनाओंके बोझसे सदा दबी रहती हैं, ईश्वरकी ओर तभी मुक्ति है। जब किसी शारीरिक बेतना, भय, आनन्द अथवा अन्य किसी कारणसे इमारे मनकी शक्तिकृद गति एक प्रकारमें निरन्तर हो जाती है। और यही कारण है कि योगिजन आध्यात्मिक साधनाके हारा अपने मन और इन्द्रियोंको पूर्णतया क्षमतमें करके निरन्तर ईश्वरका ध्यान कर सकते हैं।

उपरकी पंक्तियाँ लिखने समय इस बातको भुला नहीं सकते कि संसारमें ऐसे सहमों मनुष्य हो चुके हैं और अब भी हैं जिनका ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं है। इस छोटे-से निष्ठन्में इमारे लिये यह सम्भव नहीं कि हम उनके इस अविश्वासके कारणोंपर विचार करें अथवा उनके सिद्धान्तके गुण-दोर्योंका विवेचन करें, परन्तु इस इतना कह सकते हैं कि अधिकांश मनुष्योंका ईश्वरमें विश्वास न होनेमें प्रधान हेतु यह होता है कि वे जिस स्थितिमें सांसारिक विषयोंको देखते, समझते और हमसिये उनमें विश्वास करते हैं, ईश्वरको वे उसी स्थितमें देख और समझ नहीं पाते। इसप्रकार माननेमें वे यह कल्पना कर लेते हैं कि संमारमें उन्हीं पदार्थोंकी सत्ता है जिनका ज्ञान इन्द्रियोंके हारा प्रह्ला हो सकता है, अथवा संसारका प्रत्येक पदार्थ इन्द्रियग्राह्य है। वे इस बातको भूल जाते हैं कि इन्द्रियोंकी गति सीमित है, तथा प्रत्येक इन्द्रियका एक निर्दिष्ट त्रैत्र एवं निश्चिन व्यापार है। उन्हें ज्ञात नहीं कि उनके अन्दर पदार्थोंके ग्रहण करनेकी कृष्ण और शक्तियाँ भी हैं जो सुस होनेपर भी इन्द्रियोंसे कहीं अधिक सामर्थ्य-युक्त हैं। उनका ज्ञान वहाँतक सीमित है जहाँतक इन्द्रियोंकी पहुँच है, अथवा जहाँतक उनकी तक़ियुद्ध बहायोह कर सकती है। उन्हें अन्तज्ञान (Intuition) अथवा 'धार्मिक अनुभव' (Religious experience)

की जावर नहीं। वे हान एवं अनुभवका आंशिक स्पष्ट से ही उपयोग करते हैं।

राष्ट्रास्थानी-मतके अनुसार मनुष्यके लिये ईश्वरका साक्षात्कार उसी प्रकार सम्भव है जिसप्रकार हम नेत्रों-द्वारा सूर्यको देखते हैं, परम्परा आवश्यकता हूँस बातको है कि हम पहले उस चम्पुका पता क्लार्क जिसके द्वारा हमें ईश्वरका दृश्यम् ही सकता है, किर उसे जागृत कर उसके साथ उन विष्य किरणोंका सम्बन्ध होने वें जो आंशिक विश्वको प्रकाशित करती है। लोग हमें हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय भी है जिसे 'विष्य चम्पु' कहते हैं। परम्परा संसारमें बहुत योद्धे मनुष्य ऐसे हैं जो ईश्वरके दिये हुए हूँस सर्वोत्तम प्रसादका उपयोग करना अथवा उसकी कष्ट करना जानते हैं। मनुष्यके मनकी आधोगामिनी तथा विद्युत्सी वृत्तियाँ हूँतनी बढ़वती हैं कि बहुतोंको प्रारम्भिक साधन भी असम्भव-सा ज्ञात होता है, जो उनकी आध्यात्मिक शक्तिके अपव्यवहारोंके रोकने तथा ईश्वर-साक्षात्कारस्पी महान् कार्यमें हाथ डालनेके लिये अपेक्षित आध्यात्मिकताको उपयोग करनेके लिये आवश्यक है। इमारे शरीरोंमें आध्यात्मिकताकी जो सामान्य छहरे प्रबाहित होती रहती है, वे ही आध्यात्मिक साधनोंके अभ्यासमें भीतर-ही-भीतर केन्द्रीभूत होकर महान् शक्तिशालितो बन जाती है, जैसे बिल्लरी हुई सूर्यको किरणें आतंशी शीरेके द्वीप एकप्रिण द्वारा शक्ति-सम्पद हो जाती है। जब साधक अपने ध्यानको अभीष्ट केन्द्रमें पूर्णस्थेय क्षमामें समर्थ हो जाता है तब उसे यह अनुभव होने लगता है कि उसके अन्दर विष्योंको ग्रहण करनेकी एक नवीन शक्ति जागृत हो रही है। इसके अनन्तर हूँस नवीन शक्तिके द्वारा जो आनंदित अनुभव उसे होने लगते हैं, उनसे उसका अपने कार्यकी सिद्धिमें विश्वास बढ़ता है तथा उससे जगले आध्यात्मिक केन्द्र अथवा चक्रकी ओर बढ़नेके लिये उसे प्रोत्साहन मिलता है। इसप्रकार जब प्रत्येक नया चक्र क्षमशः जागृत होता है तो उसके साथ ही एक नवीन चेतना प्रस्फुटित होती

है, जो पूर्वचक्रकी जागृतिके समय अनुभूत हुई चेतनासे विश्वकृष्ण विलक्षण होती है, तब उसे अनुभव होता है कि प्रत्येक मनुष्यके लै होनेके बाद साधकके अन्दर आध्यात्मिकताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। अन्तमें जाकर साधक उम अवश्यको पहुँच जाता है जब उम चक्रकी जागृति होती है, जिसके द्वारा ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है।

इम उपर कह आये हैं कि हमारी प्रत्येक इन्द्रियका एक निर्विष्य व्यापार है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक इन्द्रियमें पञ्चतन्मात्राद्वयमें जो पञ्चमहाभूतोंके सूक्ष्म रूप हैं, एक तन्मात्रा अवस्थित है। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय अपने तन्मात्राके अन्दर होनेवाले स्पन्दनको ही ग्रहण करने तथा उसके अनुकूल व्यापार करनेमें समर्थ होती है। उदाहरणार्थ— नेत्रमें अग्नि या तेजकी तन्मात्रा अवस्थित है, इसलिये इम नेत्रोंके द्वारा केवल प्रकाश अथवा स्पष्टको ही देख सकते हैं। इसी प्रकार उस केन्द्र अथवा चक्रमें जिसके द्वारा ईश्वरका साक्षात्कार होता है, आमतत्त्व अत्यन्त विशुद्ध रूपमें अवस्थित है। और इस चक्रके जागृत हो जानेपर सारी आध्यात्मिक शक्तिके स्रोत—ईश्वर—से उद्भूत होनेवाली किसी आध्यात्मिक लहरके साथ इसका सम्बन्ध होते ही चक्रमें उसके अनुकूल व्यापार होकर ईश्वर-दर्शन उसी प्रकार संघटित हो जाता है जिस प्रकार हमारी आँखोंकी साथ सूर्यकी किरणोंका सम्बन्ध हो जानेपर सूर्यके दर्शन होते हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरके साक्षात्कारके लिये दो बातें आवश्यक हैं—

१—मनका निग्रह और २—अन्दर सोई हुई उदात्त शक्तियोंको जाग्रत करना। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त आध्यात्मिक करणका उपयोग किये बिना ही ईश्वरके अस्तित्वको भ्रस्तीकार करना उतना ही अनुचित है जितना आँखोंका उपयोग किये बिना ही सूर्यके अस्तित्वका निवेद करना !

जो हमारे भीतर-बाहर आरों ओर विष्य विराजित है, जो कर्म करके भी नियमित है वे ही ईश्वर हैं। ईश्वर असीम है। इस विश्वमें जितने स्वान हैं, वे उन सबमें व्याप्त हैं, इसीसे उन्हें विराकार कहते हैं।

—तेलंग सामी

ईश्वर

(लेखक—महामहोपाध्याय ढा० श्रीगंगानाथजी भा० एम०८०, ही० बिट०, वाइस-चान्सलर, इलाहाबाद-युनिवर्सिटी)



इश्वर हैं या नहीं ? यह प्रश्न अनादि-
कालमें चला आया है। उत्तरमें
दर्शनिकोंका अनन्त प्रयास होता
आया है। दर्शनके गृह विचारोंका
अवसर यह नहीं है। उससे उपकार
भी इनें गिनें ही लोगोंका होता है।
इससे सामान्य जनताकी बुद्धिमें
जो बासें—जो युक्तियाँ—आवें,
उन्हींका उपयोग यहाँ होगा।

(१) सबसे प्रबल युक्ति ईश्वर माननेके पक्षमें
चिरकालसे यह प्रसिद्ध है—

'नास्ति चेतः किमायातमस्ति चेत्तस्तिको हतः।'

ईश्वरवादी कहता है—'मैं ईश्वरको मानता हूँ—
भजन करता हूँ, यदि ईश्वर नहीं है तो मेरा यह सब
करना व्यर्थ होगा—इतना ही होगा—मेरा कुछ विचारेगा
नहीं। पर यदि ईश्वर है तो जो नास्तिक है—जो ईश्वरको
नहीं मानता, भजन नहीं करता, उसका सर्वथा सत्य-
नाश ही होगा।'—तात्पर्य यह निकला कि ईश्वरको
माननेमें ही सर्वथा कल्याण है।

(२) जब कभी मैं किसी चीजको देखता हूँ—
किताब, कुरुसी या मेज इत्यादि—तो उसी क्षणमें उसका
बनानेवाला कौन है, यह जिज्ञासा उठती है और किसी
वस्तुके प्रसंगमें यह मनमें नहीं आता कि इसका कर्ता
कोई नहीं है। फिर नदी, पर्वत, वृक्ष, फल, पुष्प
इत्यादिके प्रसंगमें भी यही युक्ति यहीं नहीं कमायी जाय ?
जैसे ग्रन्थका या मेजका बनानेवाला कोई पुरुष है, इसी
तरह पर्वत इत्यादिका भी कोई कर्ता अवश्य होगा।
जैसे मेज इत्यादि विना कर्ताके नहीं बन सकते, वैसे ही
फल-पुष्पादि भी विना कर्ताके नहीं बन सकते। 'Natural
laws' 'Nature' 'Chance' इत्यादिका आश्रय
लेना तो जलताढ़नभाग्र है। 'प्राकृत नियम' के अनुसार
नो सभी चीजें बनती हैं—बदूँ जो मेज बनाता है—
हियारोंसे जो लकड़ी काटी जाती है—यह सब 'प्राकृत
नियम' हीके अनुसार होता है। पर प्राकृत नियमके होने
कुएँ भी एक सज्जालक चेतन पुरुषकी अपेक्षा होती ही है।
इसी तरह नदी, पर्वत इत्यादि पश्योंकी उत्पत्ति प्राकृत
नियमके अनुसार होती है, सधायि सज्जालक पुरुषकी

अपेक्षा अवश्य होगी। मेज, कुरुसी इत्यादि स्थूल पदार्थ
जब बिना चेतन सज्जालकके नहीं उत्पन्न होते, तब सुख्दर
वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प, फल इत्यादि पदार्थ चेतन
सज्जालकके बिना केवल 'प्राकृत नियम' के अनुसार उत्पन्न
होंगे, यह बात मनमें नहीं बैठती।

इन सब विचारोंमें यह सिद्ध होता है कि ईश्वरके
अस्तित्वको मानना ही युक्तियुक्त है और इसीमें सर्वथा
कल्याण भी है। इस विषयमें विशेष सर्क-वित्तक करना
अनुचित, अनावश्यक और अविष्टकारक है।

श्रीहरिनाम-संकीर्तन

पश्च, पक्षी, कीटादि प्राणी जो स्वयं नामोवारकमें
भस्मर्थ हैं, वे हरिनामको सुनकर ही उत्तम गतिको प्राप्त
करते हैं। श्रीकृष्णके नाम-जपसे तो मनुष्य भाव ही तरता
है परन्तु अनि उच्चे स्वरमें संकीर्तन करनेमें यह दूसरोंको
भी तादता है। जप करनेवालेकी अपेक्षा उच्च स्वरमें
संकीर्तन करनेवाला साँगुण्डा अधिक फल पाता है। प्रेम-
पूर्वक उच्चरणमें श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तन करते रहनेपर
नमाम जीव अवश्यमाप्रमे ही मुक्त हो जाते हैं। ऐसा !
तुम्हारे सामने भ्रयानक ग्रलय आ रहा है, हरिनाम ले
दूसरा उपाय नहीं। अपने भावी कल्याणके लिये भ्रयानक
मोह और पापोंको छोड़कर सब प्रकारसे हरिनामको
अंगीकार करो। संकीर्तनरूप सूचके प्रभावसे पापशमी
अन्धकार नहीं हो जाता है। —प्रभु जपदन्धु

परमेश्वर

जिसके बहु, परमात्मा आदि नाम हैं, जो मन्त्रिवानन्दादि
लक्षणयुक्त हैं, जिसके गुरु-कर्म-स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ,
निराकार, सर्वश्यापक, अवन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमात्,
दयालु, न्यायकारी, सब सुषिका कर्ता, धर्म, इति, सब
अद्वितीयोंकी कर्मानुसार अपने सभ्य न्यायसे फलदाता आदि
लक्षणयुक्त है, उसीको मैं ईश्वर मानता हूँ। सब सभ्य विद्या
तथा जो पदार्थ विद्यामें जाने जाते हैं, उन सबका आदि
मूल परमेश्वर है। —सामी दशानन्दजी

परमात्मा और जीवात्मा

(लेखक—श्रीआनन्दसंकर बापूभाई भुव, एम० ए०, प्रो-बाइस चैन्सलर हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी)

(१) 'दा सुपर्णा समुआ सकामा
समाने वृङ् गरिवत्तमाते ।
तवोरन्यः पिपलं स्वाहृष्य
नभज्जन्मेऽमिचाकशीति ॥'

भावार्थ—एक वृक्षपर सदा साय रहनेवाले और एक दूसरे के मित्र पेसे थे पक्षी बसते हैं । उनमें एक मिठे फ़ड़ लाता है और दूसरा बिना साथे देखता रहता है ।

(२) 'यः सर्वेषु मूत्रेषु तिहन् सर्वेभ्यो मूत्रम्योऽन्तरोयं
सर्वाभिन् भूतानि न विदुयेष्य सर्वाणि भूतानि क्षीरां यः सर्वाणि
मृतान्यन्तरो यमयत्येष त अमान्तर्याम्यमृतः ।

भावार्थ—जो सर्वभूतोंमें रहता है, जो सर्वभूतोंके अन्दर है, जिसे प्राणी नहीं जानते, सर्वभूत जिसका शरीर है, जो अन्तरमें रहकर सब प्राणियोंका नियमन करता है, वही तेरा अन्तर्यामी और अमर आत्मा है ।

पूर्णोक्त अुतियोंके उपयोगकी आडोचना करते हुए डाक्टर आचारकरने किया है—‘जिन अुतियोंमें ‘सत्य’ और ‘अन्तर्यामित्य’ का प्रतिपादन किया गया है उनका अहैत्याकरणमें सर्वधा निषेध नहीं किया जाता । अहैत्याकरणमें वे दोनों ही पक्ष माने गये हैं । यदि सर्वप्रस्तवनमें तथा विद्यमन्त्र-नियामक-भावका विशेषरूपमें किष्टेष्ट किया जाय और उन भावोंमें लिग्गु लिद्वान्मनको कोज निकाका जाय तो हमें वह स्वह प्रतीत होगा कि ‘तत्त्वमसि’ ही परम सत्य है ।……तत्त्वदृष्टा को ज करते हुए भी यही सम्बन्ध सुरिवाह प्रतीत होता है ।’

जीव और ईरवरके परस्पर सम्बन्धके विषयमें यहाँ इन सवित्र विचार करना उचित है—

जीव और ईरवरका ‘सत्य’ क्या कहतु है—उन दोनोंकी मित्रताका क्या अभिप्राय है ? जगत्के व्यवहारके अनुसार ‘तुम’ और ‘मैं’ एक-दूसरेसे मित्र होते हुए विक्रताका सम्बन्ध स्वापित करते हैं । किन्तु जीवात्मा और परमात्माका सम्बन्ध इसप्रकारका नहीं हो सकता, वह सर्वसम्मत है । ईत्यादी भावते हैं कि परमात्मा

जीवात्माके अन्तरमें रहता है—घट-घटमें राम रम रहा है । किन्तु वे ‘अन्तर’ शब्दके गम्भीर अर्थपर विशेष मनन नहीं करते । अहैत्याकी इस विषयमें सिर्फ़ इतना ही कहते हैं कि ‘अन्तर’ शब्दके अर्थपर विचार करनेसे जीव और ईरवरका तात्त्वात्म्य इस शब्दसे फ़ालित होता है । एक वैतन्य दूसरे वैतन्यके अन्तरमें तात्त्वात्म्य-सम्बन्धके अतिरिक्त और किस रीतिमें रह सकता है ? जब और सावधव परायाके सम्बन्धमें अन्तर शब्दका उसके बाच्यार्थमें प्रयोग किया जा सकता है किन्तु वैतन्यके सम्बन्धमें यहाँ ‘अन्तर’ और ‘बहिर्’ शब्दोंका व्यवहार किया जाता है यहाँ इस देखते हैं कि इन शब्दोंका अर्थ ‘तत्त्व’(Reality) और ‘अतत्त्व’(Appearance) किया जाता है । एक सरक उदाहरण लीजिये । अमुक मनुष्य भीतरसे—अन्तरसे—बुरा नहीं है, यह प्रायः कहते हैं । यहाँ अन्तर शब्दका क्या अर्थ है ? अन्तरसे बुरा नहीं—इसका अर्थ यही है कि उसका तत्त्व—यात्यार्थ स्वरूप—सौजन्ययुक्त है, किन्तु उस मनुष्यका अतत्त्व—वाय रूप—निरर्थक है ।

आत्माको ज्ञान, इच्छा, भाव आदि वृत्तियोंसे जुदा समझना वर्तमान मानस-शास्त्र (Psychology) के प्रतिकूल है । आत्मा एक अस्तण्ड वस्तु है जो ज्ञानादि-वृत्तिरूपमें प्रकट होता है । यही आजकलका सर्वसम्मत मानस-शास्त्रका सिद्धान्त है । इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि जीवात्मामें परमात्मा है तब इस कथनका यही तात्पर्य समझना चाहिये कि जीवात्मा परमात्माका ही आभास है—उसका प्रकट स्वरूप है । जीवात्माका अस्तरसम तत्त्व, उसका स्वकीय स्वाभाविक—आगम्यक, उपाधिकृत नहीं—स्वरूप ही परमात्मा है । यही उसका भावार्थ समझना चाहिये ।

यदि ऐसे कि परमात्मा किसकी आत्मा है ? इसका यही उत्तर है कि वह तो स्वयं ही आत्मा है, उसकी और आत्मा कैसे हो सकती है ? परमात्मा अपनी ही आत्मा है अब्दाद अपने प्रकट स्वरूपकी आत्मा है । किन्तु उस प्रकट स्वरूप ‘मैं’ और ‘तुम’ सहित बाया और आन्तरि किया दूसरी क्या वस्तु हो सकती है ? इस प्रकट

का परमात्मा ही आत्मा है। इस सिद्धान्तसे अद्वैतवादी-का कोई विरोध नहीं।

द्वैतवादी परमात्मा और जीवको परस्पर भिन्न समझते हैं। वे परमात्माको जीवात्माका आत्मा नहीं मानते, किन्तु परमात्माको जीवके ज्ञानका विषय बताते हैं। यदि परमात्माको अपने ज्ञानका विषय मान किया जाय तो वह परमात्मा हमारे समझ विषयरूप होकर उपस्थित हो जाता है। यदि वह सामने विषयरूपसे उपस्थित हुआ तो वह हमारे अन्तरमें किस रीतिसे रह सकता है? विषय (Object) और विषयी (Subject) एक लकड़ीके दो छोरकी तरह जुड़े-जुड़े (Antithetic) हैं—एक छोर दूसरे छोर-के अन्तरमें केसे आ सकता है? द्वैतवादी इसमा तो आनन्दा ही है कि परमात्मा जीवात्माके अन्तरमें विराजमान है। अतएव, परमात्मा जीवात्माके ज्ञानका विषय नहीं, बल्कि उसका अन्तरम आत्मा है।

अब दूसरी युक्तिपर विचार कीजिये। जीव एक वस्तु है और परमात्मा दूसरी—इस भाँति संख्या करनेपर यह प्रभु उठता है कि उन दोनोंमें ऐसा कौन-सा तत्त्व अनुस्यूत है जो दोनोंको एक ही गत्तामें अथवा वर्गमें रखता है? यदि कहा जाय कि उपाधिरहित शुद्ध वैतन्य ही दोनोंमें सामान्य है तो अद्वैतवादीको यह सर्वथा स्वीकार है। अनुपर्हित-शुद्ध-वैतन्यरूपसे ही वह तत् और स्वभूका तादात्म्य मानता है।

'यथा यथा तत्वमसीति बन्धे
विशद्वच्छानुभवत्र हित्वा ।
संक्षय विज्ञानात्मा सदात्मने-
रक्षणमात् परिवेष्टते तु दुः ।
परं महाकामयशतेन कथयते
त्रिकालनरेत्रयमस्मद्भवतः ॥'

मात्रार्थ—जीव अल्पज्ञ है। ईश्वर सर्वज्ञ है। उनमें अल्पज्ञता और सर्वज्ञतारूपी विश्व भग्नोंको निकाल डालें तो दोनोंमें एक ही तत्त्व स्थित रहता है। ब्रह्म और आत्मा-

का एक प्रतिवादन करनेवाली 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिका यही तात्पर्य है।

प्रसंगवश एक और भी प्रभु विचारार्थ उपस्थित होता है। यदि उक्त विश्व भग्नोंको निकाल डाला जाय तो किर रहेगा यथा? इस प्रभुके उत्तरमें यह पूछा जा सकता है कि भग्नोंसे पर यथा कोई तत्त्व ही नहीं होता? यदि नहीं होता तो भग्नोंके अस्तित्व और स्वस्यपका निरूपण भी किस-प्रकार सम्भव हो सकता है? किसी भी आस्तिकोने—आत्म-वादी और ईश्वरवादी—आज्ञासक यह नहीं कहा कि भग्नोंसे पर तत्त्व होता ही नहीं। किन्तु इमारे देशमें तथा यूरोपमें इस सिद्धान्तको नास्तिकोने ही माना है। इस परिवर्षमान जगत्के पीछे कोई वस्तु अवश्य है, इस सिद्धान्तपर इस ईश्वरवाद अवलम्बित है। इसी प्रकार आत्मवादीका भी यही विश्वाय है कि सुख-नुःक भग्नोंके पीछे आत्माकी सत्ता अवश्य है।

एकोंक मुक्तिके अनुसार आप यदि यह कहें कि परमात्मा संग्रह सिद्ध होता है तो इसपर विरुद्धवादी वेदात्मीको कुछ भी आशेष नहीं। जगत्का कारण निर्गुण है, वह वह नहीं कहता। जगत्का कारण तो हमेशा संगुण ही माना जाता है। विरुद्धवादीमें संगुण नहीं माना जाता, यह कथन सर्वथा आन्तिकृष्ण है। यदि ऐसा होता तो संगुणको सिद्ध करनेके लिये शाक्खाचार्यने स्यवास्पदपर जो यज्ञ किया है उसे वे न करते। विरुद्धवादीवाँका इसमा ही कहना है कि संगुणवादी गुण और गुणी इसप्रकारके दो तर्कोंको जैसे अनियम तत्त्व मान बैठते हैं वैसे न मानकर उन दोनों तर्कोंका निरूपण एक परमतत्त्वके द्वारा करना चाहिये। निर्गुणवादी वह नहीं कहते कि 'संगुण'—गुणोंके कुलकालोंके लिये—शास्त्रकारोंने एक कल्पित पदार्थ रच दाका है। यदि गुण ऐसा पदार्थ है तो संगुण भी हो सकता है, किन्तु यदि गुणोंका परम तत्त्वस्य समझमें आ जाय और यदि वे गुण स्वतः स्वतन्त्र अस्तित्वरहित प्रतीत होने लगें, तो किर संगुण नहीं रहता, यही निर्गुणवादका तात्पर्य है।

(अनुवादक—पं० शीर्षांश्चसाद लेहता प८० प८०)

सर्वज्ञ परमेश्वरके अधीचरणोंकी सेवा न की जाय तो किर मुक्तार्थी चाहे विश्ववी लिया भी किस कामकी है?

—तिलकद्वार

धार्मिक रहस्यवादकी श्रेणियाँ

(लेखक—प्रो. अंतराधारकमक मुहर्जी पम० ए०, पी-एच० डी०, लखनऊ विश्वविद्यालय)



इसमय अनुभवका प्रारम्भ आत्म-समर्पण एवं आज्ञानुबर्तिसाके भावोंसे होता है। अन्तःकरणकी अन्तर्मुखी शृंगि होनेसे इन प्रारम्भिक अक्षयांशोंमें भी ईश्वरके साक्षिप्तका ज्ञान हो सकता है, किन्तु वह साधारण ईन्द्रियोंके द्वारा नहीं हो सकता। मनुष्यके ईन्द्रियजन्म व्यापारों तथा आत्म व्यापारिक क्रियाओंके द्वारा व्योगनेसे तथा संकल्प-नगरमें प्रारम्भिक प्रतिक्रियाओंके होनेसे इन ज्ञानकी उपलब्धि होती है। परन्तु अधिक प्रबल उकड़ाके कारण मनके संयोगाकी अवस्था क्रमशः ऊँची हो जाती है। बाह्यवलके अन्तर्गत सेल्ट जान (St. John) के निष्ठालिखित वचनोंमें इसी अवस्थाका व्यरूप वर्णित है—‘मनुष्य अपने जिवोंके निमित्त अपने प्राणोंका उत्सर्ग कर दे, इसमें बदकर उसका प्रेम क्षा हो सकता है ? यदि तुम मेरे आदेशका वालून करो तो तुम मेरे भिन्न ही हो। मैं अब तुम लोगोंको अपना अनुचर नहीं कह सकता, क्योंकि अनुचरको अपने स्वामीके काव्योंका ज्ञान नहीं होता। मैंने तो तुम्हें विद्रोहकर सम्भोजन किया है, क्योंकि मैंने अपने पितासे जो कुछ भी सुना है वह सब तुम्हें बताला दिया है।’

मनुष्यके अन्दर धार्मिक भावनाका प्रारम्भ पूर्ण निर्भरता एवं विश्वायतके ज्ञानसे होता है। इसके लिये रामानुजाचार्यने ‘किंकर’ शब्दका प्रयोग किया है जो इसके लिये सर्वथा उपयुक्त है। भागे चलकर मनुष्य और और ईश्वरके साथ समर्पण अथवा साहचर्यको प्राप्त होता है और इसके अनन्तर उसे ईश्वरके सौम्यर्थ एवं प्रेमका यथार्थ ज्ञान होता है। रसानिज्ञान मार्यादावकी कुशी है, उसके अन्दर भय और सम्मेलनका भाव नहीं रहता, वस्ति समानता एवं अन्योन्यविभरताका ज्ञान रहता है। इसप्रकार उस प्रेमीकी ईहिमे ईश्वर सृष्टिका नियामक एवं मनुष्योंकी कुदिका प्रेरक न रहकर केवल प्रेम एवं सौन्दर्यकी मूर्ति रह जाता है और आत्माका उसके साथ प्रेमका समर्पण हो जाता है।

श्रीकाल्याका परमात्माके साथ समर्पण और भी

बचिह हो जानेपर उसकी निष्ठालिखित तीन भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ बन जाती हैं।

(१) पहली श्रेणीको ‘साधारण अवस्था’ कहते हैं। इसके अन्दर आत्मामें सामान्यतया तो रसायाव ही रहता है, किन्तु समय-समयपर भावावेशमें उसे तरी मिळती रहती है। ज्यों-ज्यों उसकी शृंगियाँ अन्तर्मुखी होती हैं, त्यों-त्यों उसके बहाँकारका नाम होता जाता है और उसकी आत्मा परमात्माके रंगमें रँगती जाती है।

(२) दूसरी अवस्थाका नाम है ‘समञ्चस-अवस्था’ जिसमें आत्माका परमात्माके साथ समर्पण पहचानी अवस्थाकी अपेक्षा अधिक बनिछु होता है। इसके अन्दर बहाँकार तो रहता है, किन्तु भावावेश एवं चमत्कार पहलेकी अपेक्षा अधिक होते हैं। अनेक प्रकारकी मूर्तियाँ एवं रूपोंमें उसकी आन्यन्तर बेतना शूल्य हो जाती है और कभी-कभी उससे ईश्वरके साथ जीवके गाढ़ समानमें भी बाधा जाती है। इसप्रकारके चमत्कारोंका कारण ईश्वरकी कृपा ही बतालाया जाता है और साधक वहे अनुचर-विनयके साथ उस कृपाकी भिन्ना भाँगता है। धीर्घ अन्याससे आस्तरिक अवस्था सुगम हो जानेपर प्रयत्न धीरे-धीरे शिथिल हो जाती है और आत्मा विशुद्ध चेष्टा-हीन बन जाती है। सेल्ट थेरेसा (St. Theresa) ने अपने स्वलिखित जीवन-हृतान्तरमें इस अनुभवको छमताओंकी निष्ठा (Sleep of the Powers) कहा है।

(३) तीसरी अवस्था पूर्ण एकताकी अवस्था है, जिसे ‘समर्थ’ अवस्था कह सकते हैं। इस अवस्थामें भावावेश, चमत्कार, दिव्य ज्ञान एवं दिव्य गन्ध ये सब-के-सब लुप्त हो जाते हैं और आत्मा साथ तत्काले अन्दर निरन्तर पूरीभावसे स्थित रहती है, यथापि उसमें अहंभाव भव भी बना रहता है।

इसके अनन्तर चरम अवस्था जाती है, जिसमें बुद्धि आत्मासे पृथक् रहकर, ईश्वरके साथ आत्माका एकत्व देखकर आजन्म भवाती है। बंगालके बैण्डावसव्यदायमें गोपिकाओं-के प्रेमको इस अवस्थाका उदाहरण भाजा गया है। जिस-प्रकार किसी भाविकाको अपने प्रियतमके साथ नित्य

नवीन कीड़ा करते देख उसकी सखियोंको अस्पष्टिक आनन्द मिलता है, उसी प्रकार परमात्माके साथ आत्माके संयोग में अप्रत्यक्षपदे योग देकर बुद्धिको बढ़ा आकाद होता है। आत्माको आध्यात्मिक प्रेमकी सुकुमार लतिकाकी उपमा दी गयी है और बुद्धिके अप्रकट सहभोगको पश्चुप्ति-की ! गोविन्दलीकाशृतका अनुसरण करते हुए श्रीचैतन्य-चरितानुष्ठानकारने इतनी बात और किसी है कि लतिकाके द्वारा अप्रकटहृपदे अपना पोषण करनेमें पश्च-पुष्पको कहीं अधिक आनन्दकी उपलब्धि होती है।

संयोगकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न रंगोंके दर्शन होते हैं, जैसे सूर्यवर्षन, घनदर्शन, विशुद्धर्शन, नीलिमाका दर्शन इत्यादि। ये अवस्थाएँ आठ होती हैं और हन्दे 'आध्यात्मिक संयोगकी आठ कुञ्ज' कहने हैं। यह प्रसिद्ध है कि ईसाई योगी लोग ईसा अथवा उनके माता कुमारी मेरी (Virgin Mary) की मातुर्यभावमें उपासना करते थे। सेंयर थेरेसा (St. Theresa) ने किसा है कि, 'मुझे एक बार एक खर्गीय आत्मा दीर्ख पढ़ी जिसके हाथमें एक अभिमुख सुनहरा बाण था। उस बाणको वह अपने हृदयमें भौंक लेती, जिससे उसके हृदयमें दिल्ल्य प्रेमकी ज्वाला धघक उठती।' आगे थेरेसा किसी होती है कि 'बाणके भौंक लेनेसे उस दिव्य आत्माको आध्यात्मिक बेदना होती, शारीरिक पीड़ा नहीं; यद्यपि उस आध्यात्मिक बेदनाका अनुभव शरीरको भी काफी मात्रामें होता था।' इसप्रकार आत्मा और परमात्मामें ऐसी भद्र प्रणयवच्ची होती है कि उसका बर्णन मेरी शक्तिये बाहर है। प्रसिद्ध सफ़ी महिला रवियाके विषयमें कहा जाता है कि वह रात्रिके समय अटारोपर चढ़कर चुकारती—'हे परमात्मन ! दिन का कलश शान्त हो गया है, प्रेमीका अपनी प्रेयसीके साथ समागम हो गया है; किन्तु मेरा प्रेमी तो दू ही है, तेरे ही समागमसे मुझे आनन्द मिलता है।' मेवाड़की महारानी भीरा भी ऐसी प्रकारकी एक भक्त महिला थी। वह श्रीकृष्ण-प्रेममें दृढ़कर गाती—

हे री, मैं तो प्रेम-दिवानी मेरो दरद न जाने कोय ॥१८॥
सूली ऊपर सेव हमारी सोणे किस विष होय ।
गगन-मँडलपर सेज चियाई, किस विष मिलणे होय ॥९॥
धामलकी गति धायल जाने जो कोई धायल होय ।
बौहरकी गति जैहरी जाने, दूजा न जाने कोय ॥१०॥

दरदकी मारी बन ढोलूँ बैद मिलये नहिं कोय ।
मीराकी प्रसु पीर मिटै जब बैद सौंबहियो होय ॥३॥
सिलसोंके 'अन्धसाहब' में भी आध्यात्मिक प्रेमकी घनताका इसप्रकार वर्णन किया गया है मानो इस वीच-रूपी तुक्कहिमका उस परमेश्वरके साथ परिणय हुआ हो। उसके अन्दर प्रेमास्पदसे मिलमेकी वैसी ही दरकथा विश्लायी गयी है, जैसी बंगालके वैष्णव कवियोंके आच-काव्योंमें वर्णित है। अन्धसाहबके एक इसी प्रकारके पद-का आव नीचे दिया जाता है—

हे प्रियतम ! अपनी ही उच्छृङ्खलताके कारण तथा अपने ही कर्मोंसे मैं आपसे विकला हो गया । परन्तु जो कुछ होना था सो हो चुका; दरों विशालों एवं चारों महाद्वीपोंको मैंने छान छाला, मुझे कहीं भी आश्रय महीं मिला, कहीं शान्ति प्राप्त नहीं हुई । अब इस जीवन-सन्ध्यामें मैं फिर आपकी शरण आया हूँ। अपनी शरणागतवस्तस्तुताके कारण आप फिर मुझे अपनी शरणमें ले लीजिये । आपके बिना मेरा जीवन उसी प्रकार व्यर्थ है जिसप्रकार बिना दूधकी गाय और हृषकी कटी हुई शास्त्रा व्यर्थ होती है । यहाँमें जाय वह नार जहाँ मेरे प्रियतमके चरण महीं आते । प्रियतमके बिना मुझे अपने सारे मित्र और बन्धु यमदूत-से प्रतीत होते हैं ।

मेरे सारे उसम शंगार, मेरी प्रशस्त वेशभूषा, मेरे होटोपर पानकी लाली, मेरे कमनीय वज्रकी गरिमा, मेरे प्रेम और उरकण्ठाकी विचित्रता, मेरे भावोंकी सरसता—ये सब-को-सब फीकी एवं तीव्र मालूम होती हैं ।

'हे परमात्मन ! मुझे अपने नामका उपहार दो, मुझे अपनी गोदमें ले लो । हे प्रियतम ! आपके परमधारका कभी विनाश नहीं होता, मेरी जीवन-सन्ध्या समीप आ रही है, मेरे प्राणाधिक ! मैं आपके द्वारपर पका हुआ आपसे आश्रय माँगता हूँ ।'

सूजो (Suzzo) ने अपने अलौकिक अनुभवका इस-प्रकार वर्णन किया है—

'एक तेजस्वी युवा स्वर्गसे उत्तरा और मेरा हाथ पकड़कर मुझे एक सुन्दर इरित तृष्णसंकुल भूमिमें ले गया, तब उस युवाने अपने मन-ही-मन एक ऐसी मनोमोहक ताम द्वेरा कि उसके सुमधुर स्वरकी अतिशय मादकताके कारण वह अपनी सुख-नुष्ठ भूक गया और उसके हृदयमें

उत्कृष्ट भाग्यवद्यम् एवं उत्कृष्टाकी ऐसी बात आयी जिससे वह इतना और-ज़ोरसे धड़कने लगा मानो जिती ही हो आयगा। उसने उसपर अपना दाहिना हाथ उत्कृष्ट बड़ी कठिनतासे उसे थामा। उसके कपोल अभुधारासे तर हो गये। उसी समय उसने देखा कि 'माता' अपने शिशु (अनन्त ज्ञान) को हृदयसे क्षणाये उसके सामने लखी है और उस शिशुके शरीरपर 'मेरा हृदयबलम्' ये शब्द लिखे हैं।'

लुबा (Leuba) ने इस सम्बन्धमें केवल इतना ही लिखा है कि 'सूज़ोने उपर्युक्त अवतरणमें अपने लिये अन्य पुरुषका प्रयोग किया है, जैसा कि अंग्रेजीके मूल लेखमें स्पष्ट है; किन्तु उसने यह नहीं बताया कि सूज़ोने ऐसा क्यों किया। कारण यह है कि आवेशकी वशामें यथापि उसकी आत्मा देखनेमें बात ज्ञानशून्य थी किन्तु उसे तब भी इस बातका ज्ञान था कि वह अन्य पुरुषकी नाई हृष्टरसे प्रेम करती है एवं उसके समानमने आनन्दित होती है।' मेण्ड थेरेसाने भी इसी प्रकारकी द्विविध चेतनाका अनुभव किया था। उसने लिखा है—'संकल्प-शक्ति वास्तवमें प्रेम करनेमें लगी हुई है, किन्तु वह इस बातको नहीं समझती कि वह प्रेम किस तरह करती है। रही कुछिकी बात, सो वह यदि वास्तवमें समझती है तो ऐसी प्रक्रियासे समझती है जो उसकी समझमें नहीं आती और वह जो कुछ सुनती है उसे तो जिज्ञुक नहीं समझ सकती। मेरी समझमें तो वह समझती नहीं, क्योंकि मैं उपर बता चुकी हूँ कि वह अपनेको भी नहीं समझती। बाकी सब ऐसी पहेजी है जिसे मैं भी नहीं सुलगा सकती।'

सूफी धौलिया अल्ल-दुज़विरीके मतमें अहंकारका नाश किये जिना एकताकी सत्यताका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान एवं ज्ञान अहंकारके ही आधारपर हहते हैं। उसने अपना एक अनुभव इसप्रकार लिखा है—

वह इसरी आये हुए छोरोंको उपदेश दे रहा था उस समय मेरी आँख लग गयी। स्वप्नमें मैं क्या देखता हूँ कि दो दिव्य आत्माएँ स्वर्गसे उत्तरकर कुछ समयतक इसरीके उपदेशको सुनती रहीं। उनमेंसे पृथक् दूसरीसे कहने लगी—'यह मनुष्य एकताके सिद्धान्तको बताता रहा है, एकताके स्वरूपका वर्णन नहीं करता।' जागानेपर मैं देखता हूँ कि इसरी एकताका प्रतिपादन कर रहा है। उसने

मेरी ओर देखकर कहा कि 'एकताके स्वरूपका वर्णन सिद्धान्तकी रीतिसे ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।'

जीव और हृष्टरकी पूर्ण एकता ही प्रयोग अपनेके इत्यवादका आदर्श है। उसकी अभिव्यक्ति प्रेमकी भावामें होती है, सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध प्रेमका ही होता है। प्राचीन ब्रह्मादियोंके इत्यवादमें भी आत्मा एवं परमात्माका सम्बन्ध पति-पत्नीके सम्बन्धके रूपमें अभिव्यक्त किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषदमें लिखा है—

'जिसप्रकार अपनी प्रिय भायार्कि अंगस्पर्शके समय मनुष्यको न तो आन्तरिक ज्ञान रहता है और न बाह्य ज्ञान, इसी प्रकार जब इस मनुष्यका प्रज्ञासे संयोग होता है, उस समय न तो उसे बाहरका ज्ञान रहता है न भीतरका।'

इसी प्रकार प्लॉटिनस् (Plotinus) ने आत्माके हृष्टर-प्रेम एवं उसके साथ समागमकी इच्छाका इसप्रकार वर्णन किया है—

'उपरके लोकमें हमें वह सब्बा प्रेमास्पद मिलता है जिसे प्रासकर हम उसके साथ एकता कर सकते हैं, क्योंकि उसका शरीर हमारी तरह सूधिर-मांससे बना हुआ नहीं है। जिसने उस प्रियतमका दर्शन किया है वह मेरी बातको स्वीकार करेगा। जिस समय आत्मा उसमें मिलनेके लिये जाती है और उसके समीप पहुँचकर उसमें संयुक्त होती है उस समय उसे एक नया बीचन प्राप्त होता है और इस नयी परिस्थितिमें, उसे इस बातका ज्ञान होता है कि मेरा सब्बा जीवनदाता मेरे पास है, इसमें अधिक मुक्त और क्या आहिये? ऐसे मनुष्यको यह ज्ञान भी होता है कि हमें सब तरफसे मुँह मोड़कर केवल प्रेमास्पदका आश्रय लेना आहिये और सारे बन्धनोंको तोड़कर केवल तदाकार बन जाना आहिये; एवं इसीलिये हमें इस संसारके पदार्थोंसे शीघ्र उपराम होकर उनसे बळवनेवाली बेक्षियोंको तोड़ देना आहिये, ताकि इस अपनी सम्पूर्ण आत्मासे प्रियतमका आलिङ्गन कर सकें और हमारे शरीरका कोई ऐसा अंग बाकी न रहे जो उसके स्वरूपसे बळित रह जाय।

सुक्षियोंके मतमें फना अर्थात् एकताका अर्थ है उस प्रकाशोंके भी प्रकाशकी समितिमें रहना, जिसके अन्दर शाश्वत प्रभको ज्ञान धधकती रहती है और जिसे तदूप बन जाना। आत्माको उसके अन्दर जला देना जिससे कि वह समागमके आहेवसे पुनः जी उठे। (देखिये 'गुरुशने

राज')। प्रथेक धर्ममें सुरुणा हैवरके साथ जीवका जो सम्बन्ध माना गया है उसे प्रसिद्ध महाराष्ट्र सम्भ श्रीतुकारामने मानवीय तरंगों एवं अभिलाषाओंकी जोशीली एवं सजीव भाषामें इसप्रकार वर्णन किया है—

'विसप्रकार दुलहिन अपने नैहरसे सुसुरालको जाति दुई पीछेकी और ताकती जाति है और वही कठिनतामें आगे पैर बढ़ाती है उसी प्रकार मेरी आत्मा है केशव ! उमसे कब मिलेगी ?

जब शिशु अपनी माताको नहीं देख पाता उस समय वह बड़ा विकल होता है और चिल्हाता है। मछली पानीके बाहर निकाल दिये जानेपर तबहने लगती है। मेरी भी वही दशा है ।'

कहीं-कहीं तो जीव और हैवरके समानमका माधुर्य-प्रेमकी भाषामें बड़ा ही उत्करणार्पण वर्णन मिलता है। सभी रहस्यवादियोंने इस प्रेमका वर्णन किया है। वे इस प्रेमके उपरेको नहीं सह सकते। रहस्यवादियोंके सामने सदा वह प्रभ आता है कि हैवर अगतके अन्दर है या बाहर ? उनके अनुमत्वमें हैवरकी कृष्णता अधिवा अगदमत्वर्तितामें कोई विरोध नहीं है। ब्रह्मका स्वरूप सत् है। अहंतवादी अपनी बुद्धिमें उसे श्रहण नहीं कर सकता, किन्तु रहस्यवादीका हृदय उसे प्रेममयके रूपमें पकड़ सकता है। यद्यपि मविदानमरुपये हैवरका ज्ञान हो सकता है, किन्तु उसे इस एक पृथक् एवं अन्यम्याहृत सत्ता नहीं मान सकते। ईसाईयोंने हैवरके साथ अविकाश सम्बन्धके अनुभवको 'इमारे अन्दर हैसामसीह' इस चिह्नसे अभिव्यक्त किया है। मेषट पॉल (St. Paul) ने लिखा है कि 'ईसामसीहके अन्दर हैवरकी सारी पृथिवी मूर्त्तेस्वरूपमें विद्यमान है। इसप्रकार मवानीय आत्माओंके सम्बन्धका नाम ही संयोग हो जाता है। किन्तु किन्तु फिर भी हैवरसे उसका वैज्ञान्य बना हो रहता है, क्योंकि हैवरका अस होनेपर भी वह उसमें भिज है। श्री इन्ज (Dean Inge) का कहना है कि 'हैवर सारे सम्बन्धोंमें परे है और इसीलिये हैवरके अन्दर उसके तीनों स्वरूपोंका सम्बन्ध हो जाता है।'

* कन्या सामुख्याशी जाये । मारे पर तोनी पाहे ॥ १ ॥
तेसे शालैं माम्या जीवा । छीं मेटसों केशा ॥ २ ॥
चुकलिया माये । बाल डुडुर पाहे ॥ ३ ॥
जीवना बेगली आसोकी । दुक्क तेसा तक्कली ॥ ४ ॥

ईसाई-हैवरवादियोंके मतमें मनुष्य-जीवनका ध्येय हैवरतुस्य बन जाना और उसके कार्योंमें योग देना है। उनके यहाँ सैकड़ों वर्षोंसे इसी बातपर जोर दिया गया है। सूफ़ी रहस्यवादियोंका ध्येय है पहले हैवरकी अद्वितीय सत्तामें अपनेको विलीन कर देना और तदनन्तर उन्माद-की अवस्थासे किर स्वस्थताको प्राप्त होना। पहली अवस्थाका नाम 'फ़ना' है, जिसमें अहंकार उस अपरिचित्वात्मक सत्ताके साथ मिलकर नष्ट हो जाता है। दूसरी अवस्था वह है जिसमें योगीका अहंकार पुनः लौट आता है और उसकी स्थिति हैवरमें हो जाती है, उसमें हैवरीय गुणोंके विकास हो जाता है, उसके द्वारा हैवरीय तत्त्वकी अभियुक्ति होती है और संसारमें हैवरीय नियमकी पूर्ति होती है। ५५ हैवरका सतत कियाजील संकरण ही जीव और हैवरके जीवके अनन्त स्वयंधानको मिटा देता है। जूनायड़ने कहा है 'एकता हैवरका नाम है कि मनुष्य हैवरके हाथकी कउपुतली बन जाय, हैवर घटनी सर्वज्ञकिमत्ताके अनुसार उसके साथ जैसा उचित समझे विद्यान करे और मनुष्य उसकी एकताके समुद्रमें हृष जाय, वह अपनी अहंताको बिस्कूल नष्ट कर दे, यहाँतक कि न तो वह इस बातकी परवा करे कि उसे लोग बचा कहते हैं और न उन्हें उत्तर देनेकी ही किफ़ करे। वह हैवरीय एकताकी वयार्थताके कारण सब्जे साक्षियतमें इतना मप्प हो जाय कि न तो उसे बाध्यकान रहे और न वह इकिसी कामका ही रह जाय। क्योंकि हैवर अपने विधानके अनुसार उसके कार्योंका निवाह करता है, अर्थात् उसकी चरम अवस्था उसकी प्रारम्भिक अवस्था बन जाय और उसको वही दशा हो जाय जो उसके जन्मसे पूर्व थी।'

किन्तु वह और उसके अनुयायी उन्मादकी अवस्थासे स्वस्थताकी दशाको अच्छी समझते हैं। पहली अवस्थाको 'मनुष्योंकी मृत्युका क्षेत्र' और दूसरोंको 'बालकोंकी कीड़ा-स्थली' कहा गया है। उनका कहना यह है कि उन्मादकी अवस्था अच्छी नहीं है क्योंकि उसमें मनुष्यकी मात्राओंकी अवस्था विहृत हो जाती है और उसके होण-हवाश ठीक नहीं रहते एवं आत्मा काढ़में नहीं रहती। पारे पदार्थोंके तत्त्वका अन्वेषण या तो उच्छेषके रूपमें होता है या जीवनके

५५ He becomes endowed with divine attributes, displays the divine truth and fulfils the divine law in the world.—Nicholson. The Idea of Personality in Sufism, p. p. 14, 68 and 69.

रूपमें, अथात् विवेदके रूपमें अथवा स्वीकारके रूपमें होता है, इसकिए विवेदके तत्त्वकी तबतक उपकारिष्ठ नहीं हो सकती क्योंकि हृषीकेशाला अपने होदामें न हो।^५

रहस्यवादमें सर्वदा विरोध-सा प्रतीत होता है। ईश्वरके पुत्र, अङ्गाहके पैगम्बर अथवा ईश्वरके अवतारके रूपमें किसी मध्यवर्ती पुरुषके साथ अथवा स्वयं ईश्वरके साथ एक अद्वृत एवं घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किन्तु ईश्वर और योगी एक तरीं हो जाते, क्योंकि ईश्वरका समग्र स्वरूप योगीके अनुभवमें नहीं आ सकता। योगी होना बार-बार यही कहते हैं कि ईश्वर सत्ता एवं ज्ञान दोनोंके परे है। वार्ड (Ward) नामक अंग्रेज विद्वानने लिखा है कि 'ब्रह्मको माने विना अनेकताका कारण बतलाने अथवा अनेकोंका एक बनानेकी चेष्टा व्यर्थ एवं जोखिमसे पूर्ण मालूम होती है और ब्रह्मको माननेपर अनेकोंके अन्दर जो कुछ भी स्वतन्त्रता एवं निररोक्षता दीख पड़ती है उसका भी रहना कठिन है। किन्तु योगियोंका वास्तविक अनुभव तकहीं दोनों चरम कोटियोंको लिखा देता है। ईसाई-घरमें एकके अन्दर अनेकोंका भाव उस एकताके अन्दर व्यक्तियोंके सम्बन्धको घोटित करता है। मुख्यसमान एवं हिन्दू रहस्यवादियोंके मतमें एकके अन्दर अनेकताका भाव उस एक अपरिच्छिक तत्त्वके साथ उन अनेक रूपोंके सम्बन्धको बताता है जिनमें उसकी अभिव्यक्ति होती है। ये रूप पूर्ण पुरुष अथवा ईश्वरके अवतारके अन्दर प्रतिभासित होते हैं। ईश्वरका स्वरूप इन्हींके अन्दर और इन्हींके हारा बाननेमें आता है, अतः इन्हें हम ईश्वरका मूर्तरूप कह सकते हैं।'

किन्तु ध्रुवोंके भक्तिमार्गमें जीवात्माओंकी सत्यताको तो स्वीकार किया गया है किन्तु जीवात्मा एवं प्रकृति दोनों एकता-के अन्दर रहनेवाले सापेक्ष तत्त्व माने गये हैं। जीवात्मा एवं अन्य सापेक्ष सत्ताओंका भिज्ञ-भिज्ञ दर्शनों एवं मतोंमें भिज्ञ-भिज्ञ रूप बतातावा गया है, यद्यपि एक केन्द्रीय ईश्वरको वे सब-के-सब समानरूपसे मानते हैं। श्री-रामानुजाचार्यके मतमें भगवान् और उपनिषदोंके प्रतिपाद्य वह एक ही वस्तु है, किन्तु वे भगवान्को सुवृद्ध वह मानते हैं—जो प्रत्येक सहस्रका भावार है और जो सभी कुम गुणोंका भावार है। प्रकृति और जीव दोनों उन्हींसे

उपर द्वारा होते हैं और वे अन्तर्बोधीरूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं। भिज्ञ-भिज्ञ-सम्प्रदायवाले जीव और प्रकृति दोनोंको भगवान्-से भिज्ञ मानते हैं किन्तु उनके मतमें उन दोनोंका ईश्वरके साथ बैसा ही अविष्ट सम्बन्ध है जैसा सर्वके कुरुक्षेत्रका सर्वके साथ और ताङ्गोंका अकाके साथ होता है। उनके मतमें भगवान्का स्वस्य अविष्ट्य है, किन्तु उसकी प्रकृतिरूप प्रभवमें अभिव्यक्ति होती है। प्राकृतिक पदार्थ उनके हाथोंके अक्षर हैं। इन अक्षरोंकी आङ्गूष्ठित चाहे भिज्ञ-भिज्ञ हो, किन्तु उनसे बोधित ज्ञान एक ही है। अतः अवसारोंकी वास्तविक बटनाऊंका अथवा उनकी बालाऊंके सत्यासत्यका इतना महत्व नहीं है बल्कि उनके अन्दर ईश्वरीय प्रेम अभिव्यक्त हो रहा है। मध्य-सम्प्रदायवालोंने ईश्वरसिद्धान्तपर ज्ञोर दिया है। उन्होंने ब्रह्मको सो एक ही माना है किन्तु विशेष नामक पदार्थसे अनुभूतपूर्व भेदोंकी कल्पना की है। श्रीबल्भाचार्यके मतमें जीवात्मा ब्रह्मका ही अंत है। वह नियंत्रण एवं सत्त वही और ब्रह्मकी तरह कर्ता और भोक्ता दोनों ही है। ब्रह्म अपनी ईच्छा एवं कामासे अपने ही अन्दरसे सृष्टिको उत्पन्न करता है जिसप्रकार भक्ती अपने ही काहीरसे अस्त्र बनाती है और ऐसा करनेमें उनके अन्दर तत्त्विक भी लिंगार नहीं होता। ब्रह्मके ईच्छाके व्यापारसे जीवात्माके अन्दर रहनेवाला भानन्द-गुण सुप्त हो जाता है और इसी लिये जीव बन्धन, उक्तन एवं कामनाओंके बशमें हो रहा है।

श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्याचार्य एवं श्रीबल्भाचार्यसे भक्तिकी वह भावान् धारा प्रादुर्भूत हुई जो ईस्वी सनकी १६ वीं शताब्दीसे प्रारम्भ होकर भारतवर्षके भिज्ञ-भिज्ञ प्राप्तिमें फैल गयी। श्रीरामानुजाचार्यका प्रभाव उनकी अन्म-भूमि दिल्लियमें भौदी-धोरे चौप्य हो गया और फिर उत्तरीव भारतमें वहे ज्ञोरके साथ युन युक्त हुआ। श्रीरामानुज, जो इनके शिष्य थे, अपने गुरुसे भगवान् करके जाये और काहीमें रहने लगे। उनसे तीव्र महान् सम्प्रदायकी सृष्टि हुई, पहला सम्प्रदाय गोस्वामी तुलसीदासवालीका था, दूसरा कबीरका और तीसरा नामांजीका था। कबीरपर सृष्टि सिद्धान्तका भी प्रभाव पड़ा, तुलसीदासवालीने रामायणकी कथा रचकर अपनी काव्य-कलाको प्रचारित किया और नामांजीने अपने भक्तमाल-गामक अन्यमें हिन्दी-भाषामें अनेक भक्तोंके चरित्रका वर्णन किया। मध्य-सम्प्रदायसे वंगाके भावान् भक्त श्री-

चैतन्य महाप्रभुका विकास हुआ। उनपर बंगालके पूर्ववर्ती परमदीदास एवं विद्यापति—इन महात्माओंका भी प्रभाव पड़ा। श्रीबल्लभाचार्यका गुजरातमें खूब प्रभाव रहा और श्रीराधार्हे एवं नरसी मेहता इन्होंके उपदेशोंसे प्रभावित हुए। कि इसप्रकार उक्त दार्शनिक सम्बादायोंसे सार्वजनिक भक्तिका ज्ञोत फूट निकला। और इस बातपर ज्ञोर दिया गया कि भक्तिका उपदेश बोलचालकी भाषामें ही दिया जाय। यथापि बङ्गालका वैज्ञान-सम्प्रदाय अनेको मध्य-सम्प्रदायकी ही एक शास्त्र बतलाता है, किन्तु उसके सिद्धान्त श्रीबल्लभाचार्यके सिद्धान्तोंसे अधिक मिलते हैं। बंगालके वैज्ञान-सम्प्रदायके प्रधान आचार्य जीव गोस्वामी थे। इन्होंने ईश्वरका ऐसा समन्वित स्वरूप माना है कि जिसमें ‘ब्रह्म’, ‘परमात्मा’ एवं ‘भगवान्’ इन तीनों स्वरूपोंका अस्तर्भाव ही जाता है। भगवान् तर्की इष्टिसे सबसे ऊँची सत्ता है और ब्रह्म एवं परमात्मा ये दोनों उस समन्वित सत्ताके अपूर्ण रूप हैं। केवल ज्ञानकी अपरोक्षतामें ब्रह्म ही भगवान् है और इस अपरोक्षताका अनुभव तब होता है जब कर्ता और कर्मके भेदका ब्रह्मके अन्दर स्पष्ट अनुभव नहीं होता क्योंकि ब्रह्म वास्तवमें एक अमृत एकता-के स्वरूपमें प्रतिभासित होता है। आध्यारिमिक अनुभवका यह पहला छण होता है। केवल ज्ञानी ही इस अनुभवकी पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। यह वन्नकुकी सरथायामें एकता-का अनुभव है किन्तु वह एकता केवल त्रिलोक है और सर्वोच्च अन्तर्ज्ञानमें स्थूलताका पूर्वरूप है। इसप्रकार जीव गोस्वामीकी इष्टिमें जबतक आध्यारिमिक जीवनकी स्पृष्टता ही होती तबतक असेद्ज्ञान वास्तविक एवं अनुभवसिद्ध रहता है, इस अधूरे वर्षनके समन्वय-तत्त्वको ‘परमात्मा’ कहते हैं। समूर्ख समन्वय तो अनन्त गुणों एवं अनन्त शक्तियोंसे सम्बद्ध सरुज भगवान्में ही होता है। इसप्रकारकी समन्वय-इष्टि के कल प्रेममें ही होती है।

बंगालमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके हारा भक्तिका प्रचार

* मक्क नरसी मेहता श्रीबल्लभाचार्यसे बहुत पहले ही जुके हैं, यह निश्चबूर्षसे माना जाता है कि नरसीजीका जन्म सं. १४७० में और उनका परलोकवास सं. १५३६ में दुआ, परन्तु श्रीबल्लभाचार्यका जन्म सं. १५३६में हुआ था। अतएव नरसी-जीका भक्तिशाद श्रीबल्लभाचार्यसे मिलता-जुलता होनेपर भी नरसीजीपर आचार्यका प्रभाव पड़ा हो देसा नहीं कहा जा सकता।

होनेके साथ ही ईश्वरके सरुज स्वरूपकी भारणामें बड़ा भारी परिवर्तन ही गया। बंगालके वैज्ञान-सम्प्रदायमें ज्ञानके द्वारा ईश्वरके समूद्रके आन्तरिक अनुभवका अधिक उत्तेज नहीं मिलता। इस सम्प्रदायमें ईश्वरको ‘प्रेम और आनन्द’ का क्लीलाभय स्वरूप माना गया है। ईश्वरके स्वरूपमें क्लीलाभय आनन्दकी आनन्दरिक अभिभवकी आवश्यकता रहती है और यह अभिभवकी प्रेमसे ही हो सकती है। प्रेमके अन्दर इस अभिभवकी दो स्वरूप माने गये हैं। पहला तो यह कि शक्तिके अनन्त विकारोंमें ईश्वर सदा उसके साथ रहते हैं। शक्ति आनन्दका तत्त्व है और प्रेम ही उसका असरकी स्वरूप है। इस एकताके अन्दर ही मनुष्य ईश्वरके साथ अपनी पृक्ताका अनुभव कर सकता है। इसके अतिरिक्त शक्तिके अनन्त विकारोंमें शक्तिके साथ ही ईश्वर एक कालमें विद्यमान नहीं रहते। प्रेमकी सबसे ऊँची अवस्थासे एक तार्किक हलचल प्रारम्भ होती है, जिसके अन्दर पहले साहचर्यको स्वीकार किया जाता है और फिर उसका स्वरूप किया जाता है। आनन्दमें न्यूनाधिक्य करनेके लिये और साहचर्यके बारम्बार समर्थन एवं स्वरूपनसे आनन्दको अधिक घन बनानेके लिये उनके यहाँ एक कानून भी है। भावत-प्रेमकी तार्किक हलचलमें जीव एवं प्रकृतिकी सृष्टिका अभिप्राय यही है। ईश्वरके विनोदके लिये जीव साहचर्यके बारम्बार प्रारम्भ होता है, जो आनन्द प्राप्त होता है उसका स्वयं परमात्माको भी अनुभव नहीं है। इसप्रकार प्रेम, भक्ति एवं स्थागमें शक्ति एवं जीवको जिस आनन्दका आनन्दवामें अनुभव होता है, उसका अनुभव करनेकी ईश्वरमें भी प्रवृत्ति होती है। यही मनुष्यके ईश्वर-प्रेमके स्वरूपमें अभिभवक होती है। प्रेमके सबसे ऊँचे स्वरूपको प्रेमी ग्रहण करता है और ग्रहण करनेवाला प्रेम करता है। इसप्रकार भक्तोंके प्रेमके आनन्दिक अनुभवोंसे ईश्वरकी कूटस्व सत्ता एवं जगदन्तर्भार्ती सत्ताका सनातन विरोध मिट गया है। यहाँ भक्तोंवह एकता नहीं मिलती जो सारे सम्बन्धोंसे परे है, जो एकता समूद्रमें नमककी ढाईके लुक जानेसे अथवा बर्बादी दूँदके समूद्रमें गिरनेमें होती है, अथवा दीपककी झांकामें पर्तिगके जड़ जानेसे सम्बद्ध होती है। प्रेमको तार्किक प्राप्तिमें एक आवश्यक विरोध, एक अविद्यार्थ शुर्कि-सिन्दूरा नह हो जाती है।

एकेश्वरवाद और शिव-विष्णु

(लेखक—पं० श्रीमत्वानीशंकरजी)



हि

न्-प्राचीमें एकसे अधिक हैंशरका वर्णन जानकर अनेक स्तोर्गोंकी यह धारणा हो गयी है कि हिन्दू-धर्म हैशरको एक न मानकर अनेक मानता है और इसी कारण वे लोग हिन्दू-धर्मको हेय-हिंसे देखते हैं। हिन्दुओंमें भी अनेकों मनुष्य शिव और विष्णु-में भेद मानते हैं तथा दोनोंको परम्पर-विरुद्ध गुणाने समझते हैं। इसी कारण बहुधा श्रीव और वैष्णवोंमें परम्पर घोर विरोध और द्वेषभाव देखा जाता है। पूर्वकालमें तो दोनों और वैष्णवोंमें सिद्धान्त-भेदके कारण कभी-कभी वडो लडाई हो जाया करती थी। शिव और विष्णुमें भेद-ज्ञानसे ही लोग समझते हैं कि हिन्दू-धर्ममें एकेश्वरवाद न होकर अनेकेश्वरवादका सिद्धान्त है। इस अनेकेश्वरवादके अमर्पूर्ण सिद्धान्तके कारण भी कुछ लोग हैशरमें विश्वास रखना आवश्यक समझते हैं।

शिव और विष्णुकी एकता

यथार्थतः: मूलकारणस्वरूपमें शिव और विष्णु एक ही हैं, वह एक ही हैशर सांसारिक प्रयोजनके अनुसार भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादन करनेके कारण गुण और कर्म-की दृष्टिसे विभिन्न समझे गये हैं। परन्तु विभिन्न कर्मोंका सम्पादन करते हुए भी वह एक है, तथा उनके कार्यकलाप और गुण-कर्म परम्पर-विरोधी न होकर आवश्यक और सहायक है।

शिवके गुण और कर्मके रहस्यको लोग कम समझते हैं और इसी कारण उनमें शांका भी करते हैं; इसका कारण यह है कि उनके कर्म निहृति-मूलक होनेके कारण परम उच्च और रहस्यमय हैं। संसारकी सृष्टिके सञ्चालनके निमित्त यह आवश्यक दुआ कि प्रथम प्रकृतिका विकास हो। इस विकासके कारण आवरणकी स्थूलतासे प्रकृतिके अभ्यन्तरस्थ आरमाके द्वितीय गुण और शक्तिके बाह्य प्रकाशका स्वाभाविक ही हास हो गया। यही प्रकृति-मार्ग है। इसमें आधार-की उपस्थिति और हृदि होती है किन्तु इसके द्वारा उपायिकी स्थूलताके कारण अभ्यन्तरस्थ आरमाके प्रकाशका हास होता

है। जब प्रकृतिकी स्थूलता चरम सीमापर पहुँच जाती है तब उसके विकारको शुद्धकर सूक्ष्म अर्थात् सत्त्वस्वरूपमें लानेकी चेष्टा की जाती है जिसमें अभ्यन्तरस्थ आरमाका प्रकाश जो आधारकी बाह्य स्थूलताके कारण हास्को प्राप्त हो गया या क्रमशः विकसित होने लगता है, यही निहृति-मार्ग है। यह दोनों मार्ग आवश्यक हैं। पहले प्रवृत्ति-मार्गके कर्तव्योंके पालन किये विना निहृति सम्भव नहीं है। अतएव प्रवृत्ति-मार्ग भी निहृति-मार्गका सहायक है। हैशर जब पालन और धारण करनेके कार्यमें प्रवृत्त रहते हैं, (जो प्रवृत्ति-मार्ग है) तो वह विष्णु कहलाते हैं और वही हैशर जब निहृति-मार्गके कार्यमें नियुक्त रहते हैं, (जो जीवारमाका हैशरमें समिलन है) तो वह शिव कहलाते हैं। ताप्त्य यह है कि एक ही हैशरमें कार्य-भेदके कारण नाम-भेद पाया जाता है। जैसे गवनेमेण्टका एक ही अफसर मालके कामका अधिकारी होनेके कारण 'कलक्टर', फौजदारीके कामका अधिकारी होनेके कारण 'मजिस्ट्रेट', रजिस्ट्रीका अफसर होनेके कारण 'डिस्ट्रिक्ट-रजिस्ट्रार' कहलाता है, (तथा पहले स्युनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डका 'सेक्यरमैन' भी कहलाता था) अर्थात् एक ही स्पष्टिकी विभिन्न कार्योंके कारण विभिन्न संज्ञा हो जाती है, वेंमें ही एक ही हैशरकी भी विभिन्न संज्ञाएँ हैं।

श्रीविष्णु प्रवृत्ति-मार्गके नायक है। प्रवृत्ति-कार्यके साधनमें धन, धान्य, समृद्धि आदिकी आवश्यकता है। हृसीलिसे श्रीविष्णुकी दक्षि श्रीलक्ष्मी हैं जो धन-धान्यादि-की देनेवाली है। श्रीविष्णु अपने कार्यको यशद्वारा सम्पादित करते हैं। कर्योंकि इसके विना प्रवृत्ति-धर्मका पालन सम्भव नहीं है और इसी कारण वह अवतार धारण-कर कभी-कभी मर्यादोंमें भी प्रकट होते हैं, जो यथार्थतः उनके निमित्त यज्ञ अर्थात् स्थाग ही है। इसप्रकार विष्णुका कार्य व्यक्त है। सृष्टिके कष्याणार्थ जो वैदिक यज्ञ किया जाता है उसके भी अधिष्ठाता श्रीविष्णु ही है और इसी कारण उसका नाम यज्ञ-पुरुष है।

जब साधक प्रवृत्ति-मार्गके कर्तव्यको पूरा करके निहृति-मार्गके अनुसरण करनेमें प्रवृत्त होता है तो श्रीशिव शान, शोग और भक्तिको प्रदानकर उसे गुणमयी प्रकृतिसे जीव-

म्मुक्त करनेके लिये ईश्वरोम्मुख करते हैं। श्रीशिव स्वयं जीवन्मुक्तके परम आदर्श हैं और मनुष्य-शरीर जो पिण्डाण्ड है, वह किसप्रकार ठीक पिण्डाण्ड (लघु व्यापाण्ड) बनेगा, इसके वह प्रकाशक हैं। वह अगदगुरु होनेके कारण मुख्यको जीवन्मुक्त बनाते हैं। निष्ठि-मार्गमें स्यागके प्रधानता है और श्रीशिव स्वयं स्यागके परम आदर्श हैं; इसीलिये उनका नाम स्यागाराज (योगिराज) है। इसी गुणके कारण श्रीशिव समस्त सांसारिक भोगके पदार्थोंका स्याग करते हैं। आकाश उनका वज्र है; तथापि स्यागके चिह्नस्त्रूप वे केवल एक कौपीन धारण करते हैं और वह भी व्याघ्र-धर्मका। सर्प, जिससे प्राणी भयभीत होते हैं, आभूषण बनकर शिखके गले और सिरमें लिपटे रहते हैं, जो आभ्यन्तरीय प्रसुस धर्म: कुण्डलिनी-शक्तिके आमृत होकर उत्त्व-शक्तिमें युक्त होनेकी सूचना देते हैं। श्रीशिव सुगन्धित पुष्पोंको स्यागकर धूते और आकै-जैसे विष-चूड़ोंके पुष्पोंसे प्रसन्न रहते हैं, ज्योति योगबल-के कारण विष भी अमृत हो जाता है। वह शरीरमें चन्दनादिका लेप न करके विमृति रहता है, जिसका भाव यह है कि इन्द्रियोंके विकारोंको योगाभिम्में दग्धकर उसे शुद्ध, सास्त्रिक बनाकर विमृतिके रूपमें धारण करते हैं। कपालधारणका अर्थ अन्य मूर्ह्यवान् धातुके पात्रोंका स्याग करना है; इसका भाव यह है कि कपालके सहजार-चक्रमें शिवका वासस्थान है और वही उनको साधनद्वारा सोखना चाहिये।

जब कोई मृति (आङ्गृति) अपने उद्देश्यको सिद्ध-कर उससे अधिक कार्य करनेके योग्य नहीं रह जाती तो श्रीशिव उसको नष्टकर उसके द्वारा नवीन आकारकी रचना करते हैं जो नये रूपसे कार्य करता है। अतएव मृत्यु और मृतककी अस्थि, मुण्ड, धर्म, कपाल आदि यथार्थतः अमंगलजनक नहीं हैं, ज्योति मृत्युद्वारा शरीर-की सामग्रीको परिवर्तितकर नवीन आङ्गृति बना उससे संसारका मंगल ही करते हैं। इसप्रकार मृत्युसे ही जन्मके मंगलका विधान होता है। इसी परिवर्तन और पुनरुज्जीवन-का बोधक शिवका इमशान-वास है।

अहंकारके अधिभृता श्रीशिव है। साधक अहंकारको अपने स्वार्थसाधनमें न छानकर निष्ठि-धर्मका पालन करनेके लिये श्रीशिवको अर्पण करता है और इस अर्पणको ही मुण्डप्रशान कहते हैं। ऐसे साधकके अर्पित अहंकारकी

मुण्डकी माला जब वह अपने गलेमें धारण करते हैं तबसे उस अपितात्मा साधकके सब कर्म श्रीशिवकी ईच्छाके अनुसार होने लगते हैं। श्रीशिव ऐश्वर्यसूचक रथादिकी सवारी न करके वृद्ध वृषभकी सवारी करते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि वे मनुष्यके ही कल्याण-कर्ता नहीं हैं बल्कि पृथ्वीओंके भी कल्याण करनेवाले हैं। इसी कारण उन्हें पञ्चपति भी कहा जाता है। वृषभ धर्मका भी सूचक है, इससे सूचित होता है कि शिव धर्मके साक्षात्क है।

श्रीशिव आश्वर्णोंके द्वारा संसारके निमित्त अस्यन्त आवश्यक अद्वाका वितरण करते हैं, पर स्वयं निष्ठा माँग-कर निर्वाह करते हैं; इसप्रकार संसारको अहंकारशून्यता, दीनता और स्यागकी शिक्षा देते हैं। वह स्वयं परम स्यागी होते हुए भी आर्द्ध, दीन, निःसहाय, निर्धन, अंगहीन, विष्पूर्ण आदिके त्राता और पालक हैं। यही कारण है कि दीन, दीन, पंगु, अंगहीन, भूत, प्रेत, पिशाचादिकी जिससे लोग उनकी दुरवस्थाके कारण घृणा करते हैं, श्रीशिव सुधि लेते हैं और उनको अपना गण बनाकर रखते हैं।

श्रीशिव वन और पर्वतमें रहते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि वे उद्दिष्ट और स्यावर-जगतके भी सहायक और पालक हैं। उनके भोजन मुक्तपत्र: अंगकके कन्द-मूल-फल ही हैं, जो सभी स्यागके सूचक हैं। श्रीशिवके सामने अमृत और विष दोनों समान हैं। यही कारण है कि समुद्रसे हालाहल विषके निकलनेपर उन्होंने संसारकी रक्षाके लिये उसका पान किया और स्वयं नीककण्ठ बन गये।

निष्ठि-मार्गमें कामवासनाका दमन ही मुक्त बात है, अतएव श्रीशिवने काम-दहन किया। परमा सुन्दरी श्रीपार्वतीके अंधापर बैठे रहनेपर भी उनमें कामविकार नहीं होता। यथार्थ काम-दमन भी इसीको कहते हैं कि विषयके संस्पर्शसे भी कुछ क्षोभ न हो।

श्रीशिव जीवन्मुक्त अवस्थाके प्रदान करनेवाले हैं, परन्तु वह मायाके अतिक्रम किये विना प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव श्रीशिवकी शक्तिके (उमारूप समृद्धि तुरीय वैतन्य-शक्ति) जो समृद्धि महासुभिसिके (अविद्यान्धकारके) परे है, प्रकाशकी सहायतासे साधक इस अविद्यान्धकारके अतिक्रमकर ईश्वरको प्राप्त करता है। इस तुरीय-वैतन्यकी प्राप्ति अगदगुरु शिवकी फूलासे ही होती है, किन्तु अविद्यारी साधकको इस फूलाकी प्राप्ति नहीं होती।

श्रीशिव असादि सांसारिक वस्तुएँ अयोग्यको भी प्रदान करते हैं, परन्तु इस तुरीय-चैतन्यका बोध अर्थात् राजविद्या उसीको प्राप्त होती है जो उनके तृप्ति नेत्रके प्रकाशमें पवित्र, निर्मल और स्वच्छ ज़ंजता है। क्योंकि अपवित्रारमा उस सच्चालाइटको सहन नहीं कर सकता और न कोई उनको खोला ही दे सकता है।

उपर्युक्त महा अविद्यान्धकाररूप महासुरुषिके उपर श्रीकृष्ण अमादि जीवन-गीताका गान अपनी बंशी (क्षादिनी-शक्ति) द्वारा करते हैं। वर्तमान गीता उस गानका एक अंश है। यह विद्य-गीता-गान उसीको सुनायी देता है जो महासुरुषिरूप अविद्याको तुरीय-चैतन्यके प्रकाशसे अतिक्रमकर उससे उपर जाता है और यह जगदगुरु श्रीशिव और उनकी शक्ति उभा (महाविद्या) की सहायताद्वारा ही सम्भव है। इसकिये शिव अधिकारी सुमुक्षुको तारक-मन्त्र प्रदानकर अविद्यान्धकारमें सुख करते हैं। अर्थात् श्रीशिवको शक्ति विद्याके प्रकाशमें अविद्यान्धकारका नाश होता है। अविद्या ही मृत्यु है, इसका विद्याके द्वारा अतिक्रम होता है। इसी कारण श्रीशिवको मृत्युभय अर्थात् अविद्यारूपी मृत्युका जय करनेवाला कहते हैं।

तुरीय-चैतन्यकी छः शक्तियाँ हैं— ज्ञान, इच्छा,

क्रिया, मात्रिका, कुण्डलिनी और परा। यह तुरीय-चैतन्य-शक्ति शिवका द्वितीय शरीर है। विना इस शक्तिको आधार बनाये ईश्वरका कोई अवतार नहीं हो सकता। जगदगुरु शिवका निवास ललाटके सह्यारचकमें है—‘क्षमाटे सिद्धवर्णनम्’ (योगसूत्र)

परम्तु श्रीकृष्णका बास हृदयमें है—‘हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति।’

जगदगुरु श्रीशिवकी दीक्षाके विना कोई श्रीकृष्णको पा नहीं सकता। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने हिमालयमें शिवकी दीक्षा प्राप्तकर उनकी तपस्या की और उनको तृष्ण किया (यह कथा महाभारतके अनुशासन-पर्वके प्रथमाख्यायसे प्रारम्भ होती है)। श्रीकृष्ण भगवान्नकी इस तपस्याका मुख्य ताप्त्यं जगत्को यह उपदेश देना था कि वे दोनों एक हैं। अतः जगदगुरु शिवकी कृपाके विना कोई श्रीकृष्ण भगवान्नको प्राप्त नहीं कर सकता। लिखा है—

यो तौ संख्कपालभूषितकरौ हारास्थमालावरौ
देवौ द्वारवती शमशाननिरुयौ नामारिगो-वाहनौ।
द्विन्यज्ञौ बलिदक्षयज्ञमध्यौ श्रीदैलजावहूमौ
पापं भे हरतां सदा हरिहरौ श्रीवत्सगङ्गवरौ॥
शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोऽश्व हृदयं शिवः।
यथा शिवमयो विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥

जतलाओ निज प्यार

(लेखक—प० आरमाशंकरजी मिश्र ‘श्रीपर्ति’)

जगत्के जब झूठे व्यवहार,
तब तो नाथ ! तुम्हीं बन जाते मेरे प्राणधार।
यश-अपयश, सम्मान-निरादर, राग-विराग, दुलार ;
इस उलझनमें हमें उलझना, नहीं प्रभो ! स्वीकार।
साधु-असाधु, नराधिप-निर्धन, प्रबुध-अबोध, गँवार ;
करते हो क्या एक भावसे, सबको अंगिकार ?
माया भी झूठी काया भी, धन, दारा, परिवार ;
तब जो कुछ हो सार, बता दो, हमको हे करतार !
जो कुछ है, प्रस्तुत है श्रीपति, व्यथा-पूर्ण उपहार ;
तुकराओं या हृदय समझकर, जतलाओ निज प्यार !

ईश्वर-निरूपण

लेखक—पण्डितवर श्रीबालकृष्णजी शर्मा)



हिक सुखको हुःखसे मिश्रित तथा
आमुच्चिक सुखको नाशमान जानकर
दिवेको पुरुष हनकी कामना नहीं
करते; प्रत्युत दोनोंको समान ही
हुःखप्रद मानते हैं। हुःख असह-
नीय होता ही है, अतएव हुःखमय
संसारसे विरक होकर आस्थनिक दुःख-निवृत्तिका उपाय
जानेके लिये वे गुरुके पास जाते हैं। जैसे—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणोऽ
निर्वेदमायात् नास्त्वकृतः कृतेन ।
तदिज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे-
तस्मित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

(श्रुति)

तब गुरुके हारा यह उपदेश प्राप्त करके कि जीव-
मित्याज्ञानकी निवृत्तिमें होनेवाला जीवतस्वज्ञान मोक्षमें
कारण है और जीवतस्वज्ञानमें पुण्यहारा या साक्षात् ईश्वर-
तस्वका ज्ञान कारण है, वह ईश्वरकी जिज्ञासा करता है।
अतः ईश्वरका निरूपण करना आवश्यक है। जैसे—

‘द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरमेव च ।’
‘स हि तन्वतो ज्ञातः स्वात्म-
साक्षात्कारस्येषकरंति ।’
‘तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमिति
नाम्यः पन्था विद्यतेऽयनाम् ॥’

(श्रुति)

‘ब्रह्मसंस्थोऽभृत्यवेषति ।’
‘भिद्यते इदयत्रनिदिष्टवान्ते सर्वेषेशायाः ।’
‘क्षीयन्ते आस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥’
‘मामेव ये प्रपृथन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥’ (स्मृति)

ईश्वरको किसी-न-किसी रूपमें सभी मानते हैं, इस-
लिये उसका निरूपण व्यर्थ है। जैसे—

मठिके आश्रममें विद्वान् अणिमा आदि ऐश्वर्योंमें
मगपत्त महामुनि कपिल ईश्वर हैं, सांख्य-मतवाले ऐसा
मानते हैं। अविद्यादि क्षेत्र, कर्म, जाति, आशु, मोग
धर्माधर्मसे सर्वथा असम्बद्ध, शरीरधारणहारा वेदोंके

प्रकाशक, घटशट आदि बनानेकी विधि दिखानेवाले ईश्वर
हैं, यह योगशास्त्रका मत है। उपास्यस्तपसे वेदोंपरिदृष्ट मन्त्र-
विदोष ईश्वर है, ऐसा पूर्वभीमांसा कहता है। उत्तरमीमांसा
(वेदान्त) ईश्वरको निर्दीप, सचिदानन्दस्वरूप बतलाता
है। न्याय-वैदेविकका मत है कि ईश्वर सर्वज्ञ जगतका कर्ता
संख्याद्वि आठ गुणोंसे युक्त है। ईश्वर लोकविशद् अभिप्रा-
य और संपर्क धारण तथा वेदविशद् दारुवन और विशद् धू-
विश्वासन करनेपर भी निप्पाप और स्वतन्त्र है यह महा-
पाशुपत-मतका सिद्धान्त है। शैव ईश्वरको निर्जन्मुख्य
मानते हैं। चौराणिकोंका मत है कि ईश्वर सर्वज्ञत्व आदि
गुणोंसे युक्त पुरुषोत्तम है। याज्ञिक उमे यागमें प्रधान-
तथा यष्टियुपरूप मानते हैं। जैन दिग्म्बर अष्ट-
अविद्यात्मूलरूप मानते हैं। चार्वाक उमे लोकमें सबसे बढ़-
कर गुणी, प्रतापी शरीरवान् रूपमें मानते हैं। यहाँतक कि
शिष्यपी लोग भी उमे विश्वकर्मीरूपमें मानते हैं। तथापि
संगुणत्व, निर्गुणत्व, क्षणिकत्व, निस्त्वादिमें मतभेद होने-
के कारण उसका (ईश्वरका) निरूपण करना परमाकृत्यक
है। भगवान्मामें विवाद ही सर्वत्र धर्मोंके निरूपणमें प्रयोगक
होता है।

ईश्वरका रूप

ईश्वर नीरूप, निरवद्य, निर्मनम्, निष्क्रिय, निश्चय,
निरथन्त्र, निर्दीप, अतनु, विभु, नित्य सर्वविषयक अविकल
एक अनन्यसायारण ज्ञानेच्छाप्रयत्नोंमें प्रयुक्त, सुख-दुःख-
दृष्टरहित, संस्या-परम-महत-परिमाण-पृथक्त्व-संबोधा-
विभागका आश्रय, अष्ट आदिका अधिष्ठाता, स्वतन्त्र, सर्व-
शक्तिमान्, सर्वेश्वर, जगतका उत्पादक, पालक और नाशक,
प्रणववाच्य सजातीय द्विसीयरहित और पुरुषोत्तम है। जैसे—

‘निष्कर्ण निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।’
‘महातं विमुमरतानं मता धीरो न गोचति ॥’
‘ईशानो मूत्रमव्यस्थ ।’
‘अप्राणो द्वामनाः शुभ्रः ।’ (श्रुति)

ईश्वरके लक्षण

निरथज्ञानवत्व, निरथप्रयत्नवत्व, नित्येच्छावत्व, जग-
दुत्पादकत्व, जगतपालकत्व, जगज्ञानकत्व ईश्वरके
लक्षण हैं।

ईश्वरमें प्रमाण

ईश्वर बाह्येन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है; क्योंकि उसमें रूप नहीं है। रूपके कारण ही बाह्येन्द्रियोंसे इच्छा-प्रत्यक्ष होते हैं। ईश्वरका प्रत्यक्ष अन्तरिन्द्रिय मनमें भी नहीं हो सकता। अपने आत्मा और उसके गुणोंको छोड़कर परकीय आत्मा आदिका मानस-प्रत्यक्ष न होनेमें अपने आत्माके साथ मनके विलक्षण संयोगको कारण मानता पड़ेगा; परंतु यह विलक्षण संयोग जैसे परकीय आत्माके प्रति नहीं होता है वैसे ही ईश्वरके प्रति नहीं होता। अतः ईश्वरका मानस-प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता है। जैसे—

‘न तत्र चकुर्गच्छति ।’ (श्रुति)

‘अदाइमनसगोच्चरम् ।’ (स्मृति)

(१) परन्तु अबुमान-प्रमाणद्वारा ईश्वरको सिद्धिमें कोई वाधा नहीं होती। जितने कार्य होते हैं सब सकर्तृक (अर्थात् कर्तव्यके द्वारा) होते हैं, जैसे घट-पट आदि; जो सकर्तृक नहीं है, वह कार्य भी नहीं हो सकता, जैसे गगन। द्रष्टुक एवं अंकुर कार्य हैं, अतः इन दोनोंको जहर सकर्तृक होना चाहिये। तब इनका कर्ता कौन है ? वह कर्ता न तो जड़ हो सकता है और न जीव। अतः इनके कर्तृत्वरूपमें ईश्वरकी सिद्धि होती है। यदि कोई कहे कि ‘कर्ता परारी होता है, शरीररहित कर्ता कहीं नहीं देखा जाता है फिर ईश्वरको कर्ता कैसे माना जाय ?’ परन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वरको या तो सिद्ध कहेंगे या असिद्ध। यदि सिद्ध है तो क्यों ? इसका उत्तर यदि यह हो कि जगत्का कर्ता होनेमें वह सिद्ध है, तब उस ईश्वरमें कर्तृत्वके अभावका आरोपण करनेमें धर्मिग्राहक प्रमाण ही जाता रहेगा। यदि ईश्वरको असिद्ध मानें तथ कर्तृत्वका लक्षण फिसमें किया जायगा ? क्योंकि धर्मके अभावमें अभाव-ज्ञानका होना ही सम्भव नहीं है। यदि कोई दूसरी शंका करे कि ‘शरीरजन्यत्वका सकर्तृत्व व्याप्त है और शरीरजन्यत्व व्यापक है। व्यापकाभावसे व्याप्ताभावकी सिद्धि निर्विवाद है। द्रष्टुकादिको सकर्तृत्व माननेवाले नैयायिक शरीरजन्यत्व नहीं मानते हैं, तब शरीरजन्यत्वसे सकर्तृत्वका अभाव होनेके कारण सत्प्रतिपक्ष हो जायगा।’ परन्तु यह कथन भी सम्भव नहीं है। क्योंकि व्यर्थ विशेषणसे छोड़त साध्य व्याप्तत्वासिद्धि

नामक हेत्वाभासमें आ जानेके कारण सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये नीलधमहेतुसे वहिको सिद्ध करनेवाला बाढ़ी हेत्वाभास नामक निग्रह-स्थानमें निर्गृहीत (पराजित) हो जाता है। प्रकृत त्वकमें शरीर-विशेषण व्यर्थ है, अकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये अजन्यत्वमात्र ही पर्याप्त है, इसलिये शरीरजन्यत्व व्याप्तत्व असिद्ध हो गया। और यदि शरीर-विशेषणको इटाकर केवल अजन्यत्वको हेतु बनावें तो हेतुके पक्षमें न रहनेने स्वरूपको असिद्ध हो जायगी—‘मेयमुभयतः पाशाय रजुः !’ इसमें श्रुति आदि प्रमाण इसप्रकार है—

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,
‘विश्वतश्चुरुत् .. विश्वतोमस्त्वा
‘विश्वतोबाहुरुत् विश्वतस्पात् ।
सम्बहुभ्यां धर्मति संपत्तैः
‘आवामूर्मी जनयन्देव एकः ॥’ (श्रुति)
‘अहं सर्वस्य प्रभो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।’ (स्मृति)

(२) सृष्टिके आरम्भमें प्रथम वायवीय परमाणु ॥ में किया होती है, तत्पश्चात् क्रमशः परमाणुद्रव्यके संयोगसे द्रव्यणुक, तीन द्रव्यणुकोंके संयोगसे व्यणुक, चार व्यणुकोंके संयोगसे चतुरणुक—इसप्रकार महावायुकी सृष्टि होती है। इसके बाद क्रमशः महातेज, महाजल तथा महापृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। यह नैयायिकोंकी सृष्टि-प्रक्रिया है। सृष्टिके आरम्भका यह परमाणु-क्रियारूप कार्य किसीके प्रयत्नद्वारा ही हुआ होगा, क्योंकि कोई भी कार्य बिना किसी प्रयत्नके नहीं होता। परमाणु तो स्वयं जड़ है, अतएव परमाणुके प्रयत्नको कारण कहना आकाश-कुसुमके समान है। सृष्टिके प्रारम्भमें शरीरके अभावमें जीव भी प्रयत्नवान् नहीं कहा जा सकता जो परमाणु-क्रियाके कार्यको कर सके। अतः जिसके प्रयत्नसे परमाणु-क्रिया होती है वहाँ ईश्वर है। जैसे—

‘यदा स देवो जागर्ति तदेव चेष्टते जगत् ।
यदा स्वप्निति शान्ततमा तदा सर्वं निर्मलति ॥

॥ खिक्कोसे आनेवाली सर्व-किरणोंमें जो छोटे-छोटे गूँड़कण-से दोखने हैं, वे व्यणुक हैं, उसका लठाँ हिस्सा परमाणु है। यथा—

जालान्तरगते भानौ यत् सक्षम ईश्यते रजः ।
तस्व वष्टमो भागः परमाणुः स उच्चते ॥

अहो जन्तुरनीशोऽयमस्मनः सुखदुःखये: ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्णं वा शश्रेष्ठे वा ॥
'मयाच्यव्युषेण प्रकृतिः सूयते सच्चाचरम् ।'
'तपाम्यहमहं वयं निश्चाम्यसूजामि च ॥' (सृष्टि)

(३) भाकाशमें पक्षीके चौंचमें धारण किया हुआ काहुं चींचे नहीं गिरता है, यदि वह उसे छोड़ देता है तो नीचे गिर जाता है। इससे यह मानना होगा कि गुरुवा अश्य-पदार्थ प्रथमवाचके द्वारा अधिष्ठित होनेके कारण पतनको नहीं प्राप्त होते हैं। तब इन्हें बड़े ब्रह्माण्डको पतनसे बचानेमें किसीका प्रयत्न अवश्य काम कर रहा है। यह जीवारमा-के प्रयत्नको सामर्थ्यसे बाहरकी बात है। इसलिये जिसके प्रयत्नसे ब्रह्माण्ड धारण हो रहा है और पतनको प्राप्त नहीं होता, उसको अवश्य ईश्वर मानना पड़ेगा। जैसे—

'पतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गं वावापूर्वियं विधृते
तिष्ठतः ।' (श्रुति)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमादिश्च विमर्शन्यम् ईश्वरः ॥ (सृष्टि)

(४) घट-पटका विनाश जैसे प्रयत्नसे होता है, वैसे ब्रह्माण्डका विनाश भी विना प्रयत्नके नहीं हो सकता। इसलिये ताहश प्रयत्नके आश्रयमें ईश्वरकी सिद्धि होती है। जैसे—

एष सर्वाणि भूतानि समस्मित्याय मृतिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैन्तर्मनं सन्नामयति चक्रवत् ॥
सर्वभूतानि कौन्तेयं प्रकृतिं यान्ति मानिकाम् ।
करपश्ये पुनरुत्तानि कल्पादौ विसुजाम्यहम् ॥ (स्मृति)

(५) घट बनानेकी विधि कुलालको तथा पट बनानेकी विधि तन्तुवायको मालूम होती है, अव्यहार होनेके कारण उनका आदिमें किसी स्वतन्त्र पुरुषद्वारा निर्माण होना आवश्यक है। यद्यपि आजकल दूसरे कुलाल अथवा तन्तुवायकी रचना देखनेसे घटादिकी रचना की जाती है, परन्तु सृष्टिके आदिमें सर्वप्रथम कोई आदर्श निर्माता अवश्य रहा होगा। अतः आदर्श निर्माताके रूपमें ईश्वरको मानना ही होगा। ईश्वर ही कुलालादिका शरीर धारण करके पहले घट-पट आदि बनाकर लोगोंको शिक्षा देता है, पीछे प्रलय-पर्यन्त अविच्छिन्नरूपसे वह अव्यहार चलता रहता है। यदि कोई इसपर शंका करे कि जब प्रलय होता ही नहीं है तब सृष्टिका आरम्भ क्यों माना जाय? केवल पूर्व-अव्यहार ही उत्तर-अव्यहारके कारण होते हैं।

परन्तु यह कहना चुक नहीं है, क्योंकि जम्मादिका क्रमिक हास देल्कर, सम्प्रदायका भी किसी-न-किसी समय हास हो जायगा, यह निश्चित होता है और इस अनुभावसे प्रलयकी भी सिद्धि हो जाती है। जैसे पहले मानसी सृष्टि होती थी, पीछे व्यवस्थित मैथुनी सृष्टि होने लगी और अब देश-कालादिं-व्यवस्थासे हीन सृष्टि होती है— यह जन्मका हास है। पहले सहस्रशाला-वेदका अध्ययन किया जाता था, पीछे बदंग एक वेदका अध्ययन होने लगा और आजकल एक शास्त्रामात्रका अध्ययन होता है, यह अध्ययनका हास है। पहले शिलोऽच्छ-सृजि ब्राह्मण थे, पीछे अयाचित-सृजि हुए, आजकल उनकी कृषि, वाणिज्य, सेवा-सृजि हैं, यह सृजिका हास है। पहले ब्राह्मण यज्ञ-शेष-भोजी थे, पीछे अतिथि-शेष-भोजी हुए, आज अपने ही लिये बनाये हुए अपको खाते हैं। सत्ययुगमें धर्मके तप, शान, याग और दान यह चार चरण थे, वेतामें शान, याग और दान तीन चरण थे, द्वापरमें दो चरण थे याग और दान, कच्छियुगमें एक ही चरण दानमात्र रह गया है, वह भी अश्रद्धा आदि दोषोंमें दृष्टित काम-कोषादिमें समन्वित होकर प्रतिदिन हीनबल होनेके कारण स्वलित होता जा रहा है। यह धर्मका हास है। आगम भी प्रलयमें प्रमाण उपस्थित करता है। यथा—

'बात यथापूर्वमकल्पयत्' (श्रुति)
'यदा यदा हि धर्मस्य गत्वान्भवति भारत ।
प्रभ्युत्थानमधर्मस्य तदस्मान्मने सूजाम्यहम् ॥'
'परित्राणाय सावृत्तानि विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥' (स्मृति)

घटादिनिर्माणके प्रथम आदर्श ईश्वर है इसमें प्रमाण—

'नमः कुलांत्यः कर्मांस्यश्च' (श्रुति)
'पिताहमस्य जगतो मता षाता पितामहः ।'
'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मणतान्वितः ।
मम वर्तमानुरुत्तन्ते मनुष्याः पार्यं सर्वशः ॥
उत्तीर्णयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ॥' (स्मृति)

(६) प्रत्यक्षका कारण महानता है, वही सो परमाणु-का भी प्रत्यक्ष हो जाता। प्रयुक्तका प्रत्यक्ष होता है इसकिये उसे महान् मानना होगा। अब उस प्रयुक्तका असम्बाधिकारण किसको माना जा सकता है? इयुक्तके परिमाणको उसका असम्बाधिकारण नहीं मान सकते,

क्योंकि वह जानु है और अणु-परिमाणसे मानवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। परिमाण सजातीय उत्कृष्ट परिमाणको पैदा करनेमें ही समर्थ होता है। सजातीय अणु-परिमाण-को यदि उत्पादक मानें तो अणुक प्रत्यक्षका विषय न रह जायगा; और चतुरणुकसे लेकर घट आदि परम्परा किसीका भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, तथा घट आदि अन्य अवयवीका प्रत्यक्ष न होनेसे तट्रत गुण, क्रिया, ज्ञातिका 'भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। अतः काशन नहीं मान सकते। पुनः यदि द्वयुकु-रूपको कारण मानें तो वह भी युक न होगा क्योंकि उसके रस और अपर्णादिको लेकर विनिगमना-विरह होनेसे गौरव हो जायगा अतः अगस्त्या द्वयुकगत त्रिवसन्त्याको ही उसका कारण मानना होगा। द्वित्य आदि संख्या एक-एक करके गिननेमें उत्पक्ष होती है, और उस समय ईश्वरको छोड़कर द्वयुकका गिननेवाला दूसरा कोई है नहीं, जिससे त्रिवकी उत्पत्ति हो सके। इसलिये ईश्वरको मानना परमावश्यक है।

(७) वेदवाक्यसे उत्पक्ष शाद्वद्बोधके प्रामाण्यज्ञानके दिना बहुतर अनव्यय और अमसात्य यागादि क्रियामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती और प्रामाण्यका ज्ञान शाद्वद्बोध-प्राहृक सामग्रीसे नहीं हो सकता। यदि प्रामाण्यको स्वतः-प्राहृत्य मानें तो ज्ञानमें प्रामाण्यका सन्देह ही नहीं उठ सकता, क्योंकि ज्ञान यदि ज्ञात है तो उसमें प्रामाण्य भी ज्ञात ही हो गया, फिर संशय कैसे हो सकता है? यदि वह ज्ञात नहीं है तो भी अभिज्ञानके अभावमें संशय नहीं हो सकता। अतः प्रामाण्यको वक्ताके यथार्थ ज्ञानरूप गुणसे उत्पक्ष बुझा ही मानना ठीक है। तब वेद-वाक्यसे उत्पक्ष बोधमें रहनेवाले प्रमात्रके ज्ञापक ज्ञानके आश्रय-रूपसे ईश्वरकी सिद्धि होती है, क्योंकि धर्माधर्म आदि वेदार्थको स्वतन्त्ररूपसे जाननेकी शक्ति दूसरेमें नहीं है। यदि यह शंका की जाय कि 'प्रामाण्यको दूसरेके द्वारा प्राप्त मानें तो अनवश्या-दोष आ जायगा' पर यह युक नहीं है, क्योंकि अप्रामाण्य-ज्ञानसे अनार्किंगित ज्ञान रिद्द होता है न कि प्रामाण्यद्वारा निश्चित अनार्किंगित ज्ञान। ऐसी अवश्यमें सर्वत्र प्रामाण्य-विश्वयकी आवश्यकता नहीं होती; इसलिये अनवश्यारूप दोष भी नहीं लग सकता है।

(८) वेद-प्रणेश्वरसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है, इसके दो प्रकार है—'वेदाः सर्वज्ञप्रणीताः वेदवाद्' अर्थात् वेदवादके कारण वेद किसी सर्वज्ञद्वारा प्रणीत है

क्योंकि जो सर्वज्ञ-प्रणीत नहीं है वह वेद भी नहीं है, जैसे इतर वाक्य। यह केवल व्यतिरेकी अनुमान है। दूसरा 'वेदवाक्यमनि पौरुषेयाणि वाक्यवाद् अस्मद् वाक्यवद्'। अर्थात् इमलोगोंके वाक्यके समान वाक्यवद्वके कारण वेदवाक्य भी पौरुषेय हैं। यह अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान है। जैसे—

'तस्मात् यज्ञात् सर्वद्वृत ऋचः सामानि जश्निरे' (श्रुति)
'अनन्तरं च वक्त्रेष्यो वेदास्त्वय विनिःसृताः ।
प्रतिमन्बन्तरं चैषा शुतिरन्या विद्धीमते ॥'
'वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम् ।' (मृति)

(९) कुछ लोग ईश्वर-विश्वयक वेदवाक्यको अर्थवाद-वाक्यमें परिगणित करते हैं। परम्पुरा अर्थवाद-वाक्यका तात्पर्य विश्वर्थकी प्रशंसा अथवा निन्दासे होता है। अतः प्रशंसाद्वारा उस विधिमें प्रवृत्ति और निन्दाद्वारा निष्कृति होती है। जैसे—

'वापुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वापुरेव एनं मूर्ति गमयति'

यह अर्थवाद-वाक्य वायुकी प्रशंसाके द्वारा 'वायव्यं वेत्तमालभेत' इस विधिके अर्थमें प्रबर्तक होता है।

'सोऽरोदीत् तदरोदीत् तदेव रुद्रस्य रुद्रत्वम्'

यह अर्थवाद-वाक्य रजत-निन्दाद्वारा 'वहिंषि रजतं न देयम्' इस विधिके लिये रजत-दक्षिणा-दानसे निवृत्त करता है। अतः किसी विधिवाक्यमें प्रबर्तक-निवर्तकसाथे रहित ईश्वरकी सिद्धि होती है।

(१०) दिना व्याक्यानके वेदार्थका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और एकदेशदर्शी पुरुषके व्याल्यानमें विश्वास करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

'पौरीपर्वपरमामृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम्'

अर्थात् पूर्वपरका विचार छोड़कर किया बुझा अर्थ अन्यथा ज्ञान प्रदान करता है। इसलिये समस वेदोंके तथा उनके अर्थके विज्ञाताका ही व्याल्यान आदरणीय हो सकता है। इसप्रकारका विज्ञाता ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता, अतः ईश्वरको मानना आवश्यक है।

(११) जो शब्द लक्ष्यावृत्तिके अभावमें जिस अर्थ-में प्रयुक्त होता है, वह शब्द उस अर्थका वाचक है। जैसे स्वर्ग-शब्द सुख-विशेषके अर्थमें प्रयुक्त

उसका वाचक है, उसी प्रकार प्रणव, ईश्वर, ईशान आदि शब्दोंका प्रयोग अवाक्तरा-अर्थमें श्रुति, स्मृति, इतिहास आदिमें असंख्यों बार प्रयुक्त हुआ है, इसलिये तत्पदवाच्य ईश्वरको अवश्य मानना होगा। जैसे—

'अ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण्डिविषः स्मृतः ॥'
'समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद् गृणायोमिति पदम् ॥'
'तस्य वाचकः प्रणवः' (स्मृति)

(१२) कृति, स्पन्द, अपवृ, कार्य, अभिधा, इष्ट-साधनताको यदि विधि-प्रत्ययका कारण मानें तो उसमें आपत्ति, अनुपपत्ति आदि दोष आ जायेंगे इसलिये विधिका कारण आस-अभिप्राय ही मानना होगा। इसप्रकार वेदोक्त विधिके प्रत्ययके लिये अभिप्रायके आश्रयस्वरूप ईश्वरकी सिद्धि होती है।

(१३) संज्ञावाची उत्तम पुरुषके लिये एकत्र आदि संस्था बक्तामें आगोपित होती है,—‘अहं गच्छामि’। इस-प्रकार ‘एकोऽहं बहु-स्माम्’ इत्यादि वेदवाच्यमें उत्तम पुरुषके लिये एकत्र-संस्थायके आरोपणसे ईश्वरकी सिद्धि होती है।

(१४) काठक, कालापक प्रभृति वेदशास्त्रोंके नाम प्रसिद्ध हैं। अर्थात् अनन्त होनेमें उसके नाममें शास्त्र-

का नामकरण स्वीकार करना ठीक नहीं है। इसलिये ईश्वरने सृष्टिके आरम्भमें कठसंज्ञक शरीर धारण करके जिस शास्त्राका अध्यापन किया उसका नाम काठक हुआ, कठाप-संज्ञक शरीर धारण करके जिस शास्त्राका अध्यापन किया, उसका नाम कालापक हुआ, अतः नामानुषोधमें भी ईश्वरको मानना ठीक है।

(१५) समस्त वेद परम्परा या साक्षात् रूपमें ईश्वर-का ही तात्पर्य रहते हैं। जैसे, पुरुषस्त्रूमें सृष्टिकर्ता के रूपमें, रुद्राध्यायमें ऐश्वर्यरूपमें, मण्डल ब्राह्मणमें शब्द-व्याके रूपमें, मन्त्रविधिमें वज्रपुरुषके रूपमें, उपास्थानमें अवतारके रूपमें, तात्पर्य यह है कि सर्वथ उपास्थरूपमें ईश्वर ही प्रतिपादित हुआ है—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (श्रुति)

(१६) कुस्ताही स्वतः काष्ठको नहीं काट सकती, क्षीकोंकि वह अचेतन है। अचेतन खेतनद्वारा प्रयुक्त होकर ही कार्यको उत्पत्ति कर सकता है। अष्टष्ट समस्त कार्योंका उत्पादक है, परन्तु वह अचेतन है इसलिये उसका प्रयोक्ता (अधिष्ठाता) किसीको अवश्य ही मानना पड़ेगा। वह अधिष्ठाता ही ईश्वर है।

इसप्रकार ईश्वर मर्वन्तीभावेन सिद्ध है।

गीत

(लेखक—श्रीसत्याचरणजी 'सत्य' पम० ५०, विशारद)

सन्ध्य-गीत-सा मधुर रूप धर

शत सहस्र अब्दल अन्तर्गते, सद्गृह्ण हो ह अन्तर्गत !

(१)

अनहद-ध्वनि-सा मनोगगनमें
आशा-न्तवित् निराशा-घनमें
मत मयूर नृस-सा चब्रल,
चिरक उठो हे मुचनेश्वर !
सान्ध्य-गीत... ... ||

(२)

तरुण उषके मधु-प्रणयन-सा
मुद्दे सुमन-दल उन्नीलन-सा
शैनैः शैनैः स्वर्णाम मनोहर,
बिकसित हो हे अक्षिलेदवर !
सान्ध्य-गीत... ... ||

(३)

विश्व-छोरपर करण-रेखा
श्लक रही मिथ्या मद-हेखा
उद्दवल वारिद पहुँचपर आ,
शान्ति-सुधा बरसा स्फुरमर !
सान्ध्य-गीत... ... ||

(४)

निर्मम जग सब मलिन पाशमें
सिसक रहा है भग्न-आशमें
इन्द्र-धनुष-सा रक्ष आशा-पुल
मदिर तन्त्र छोड़ो हरिहर !
सान्ध्य-गीत... ... ||

प्राचीन धर्म और आधुनिक मन

(लेखक—साधु श्री टी० एड० वास्तवीजी)



तिहासकी घासलगा करते हुए एक कवि कहता है कि राष्ट्र के बल अपनी सामाजिक द्वारा ही स्वतन्त्र और महान् हो सकते हैं। एक राष्ट्रके हृषयमें जैसे विचार उठते हैं वैसा ही वह बनता है; और एक बात जब अन्तर्राष्ट्रामें स्वतन्त्रताका साम्राज्य निर्मित हो जाता है तो फिर समाज और राज्यके बाह्य बंद्रमें उसकी वृद्धिको कोई नहीं रोक सकता। बस्तुतः स्वतन्त्रता धर्मकी प्राप्ति है और राष्ट्र जिनना ही धर्ममें अनुप्त होता है उसका अध्ययन होता है। यूनान जब यह विश्वास करता था कि जीवनके आदर्शस्वरूपकी अभिभूकि इत्य (जगत) में होनी चाहिये, तब वह महान् राष्ट्र था, एथेन्स देश एथेना देवतीकी प्रतिमूर्तिमें अवस्थित था; जगत्करोंके द्वारा जनसमुदायमें शक्ति और सहायताके एक अद्यत्य जीवतमें उसका विश्वास था, और वाहाँ हेलासकी कीढ़ियाँ भी देवताओंकी पूजाके रूपमें मानी जाती थीं। मेरा विश्वास है कि ओलिम्पियन धर्म (Olimpion religion) में अनेकों अन्यविश्वासोंका निपत्तण हो गया था; परन्तु उसमें उस शक्तिके प्रति जीवन्त श्रद्धा भी जिसकी सत्ता सदाचारकी—‘सत्यं शिवं सुन्दरम्’ की सुषिकरती थी। पीछे एक समय आया जब यह धर्म नष्ट हो गया, और फ्रांसिस गालटन (Francis Galton) के कथनानुसार सामाजिक सदाचारका नाश होने लगा। तब नयी जातियाँ यूनानमें प्रवेश करने लगीं, और यूनानको बौद्धिक शक्तिये सम्पन्न होनेपर भी आत्मदुर्बलताके कारण रोमके शब्दों होना पड़ा। रोमका भी एक दिन पतन हुआ। १८० ई० में मार्कस औरिलियस (Marcus Aurilius) मर गया। उसके बाद १३० ई० तक रोमके अध्ययनकाल है। इस अधिकारमें रोममें धर्मभावनाको हीनता देखी जाती है। टेसिटस (Tacitus) जो पुरावृत्त (Annals) का रचयिता था, बौद्धिक शक्तिमें महान् होनेपर भी आत्मिक दृष्टिसे जैसा न था। जुवेनल (Juvenal) एक चतुर प्रेक्षक था, उसने अपने गीतकाव्यमें भूतकालर शोक ब्रह्म किया

है, परन्तु उसकी रचनामें धर्मादेशका नाम भी नहीं मिलता। कैसी आश्रयजनक बात है कि रोमका अध्ययन होते-होते हृषयोंने यूरोपको आक्रान्त कर दिया। धर्मकी हानि होते ही सामाजिक आखारमें कमी आ जाती है और फलस्वरूप राष्ट्रका अध्ययन हो जाता है। धर्मके समान राष्ट्रोंके लिये भी यह बात सच है कि वे केवल रोटीपर जीवन धारण नहीं कर सकते। भारतवर्षकी क्षमा अवस्था है? आज धर्म-सूर्योंको राहु ग्रस रहा है। कितने मनुष्य धरपर या मन्दिरमें ईश्वरकी पूजा करते हैं? कितने मनुष्य धर्म-ग्राह्योंका अध्ययन करते हैं? कितने मनुष्य ऐसे हैं जो अपने धरोंमें देवाकायके रूपमें पक आला कमरा रखते हैं? हमारे मन्दिरोंकी क्या अवस्था है? यदि कोई धर्माविद्याता हमारे बीच आज होते तो अधिकांश मन्दिरोंके अधिकारियोंको प्रभुके मन्दिरके लिये अयोग्य कहकर निकाल देते। उपेक्षा और संशयवादकी वृद्धि हो रही है; भारतकी सभ्यता और धर्मशास्त्रोंकी महत्त्वाका लकड़न किया जा रहा है; और नवयुवक मंकालोंकी इस बुद्धिहीन और अहंकारपूर्ण उकिका समर्थन करते हुए पाये जाते हैं कि यूरोपियन लाइब्रेरीकी एक आलमारी सभस्त भारत और अरबके देशी साहित्यकी तुलनामें रक्खी जा सकती है।

धर्मकी स्थितिमें इसप्रकार न्यूनता आ जानेके दो प्रधान कारण कहे जा सकते हैं—आर्थिक क्षेत्रकी वृद्धि और बुद्धिवादका उदय। पाश्चात्य सभ्यताके फैलनेमें जीवन-न्युद तीक्ष्ण हो गया है और मनुष्य दिन-रात जीविकोपार्जनके कामोंमें लगे रहनेके कारण जीवनके महान् प्रभावोंके चिन्तनके लिये कम समय पाते हैं। इसी प्रकार बुद्धिवादके प्रचारसे नवीन मनःसुष्ठि हो गयी है तथा चिन्तनकी नयी शैलीका आविर्भाव हुआ है, मनुष्यका दृष्टिकोण बदल गया है, लोगोंके मनमें श्रद्धाशीलता नहीं रह गयी है, स्वतन्त्र चिन्तन नवयुगके लिये आवश्यक हो गया है। इस संस्कृति (Civilization) की उपेक्षा नहीं कर सकते, और इसे बौद्धिक प्रशृतियों भी अनुस्याहित नहीं करना चाहिये। यहाँ तो मैं यह दिखलानेकी चेष्टा करूँगा कि प्राचीन धर्म अब भी हमारे लिये आवश्यक है, और

मेरा विश्वास है कि आधुनिक युगकी ओष्ठे भावनाओं और अभिलाषाओंकी पूर्ति भी इससे होती है।

इस लेखमें मैं केवल हिन्दू-धर्मके सम्बन्धमें ही कुछ कहूँगा। हिन्दू-धर्मका सर्व क्या है? 'हिन्दू-धर्म' यह शब्द प्राचीन पुस्तकोंमें नहीं मिलता। यह धर्म किसी व्यक्तिकिशेषके नामसे सम्बन्ध नहीं रखता; ग्रन्थोंमें इसे सनातन-धर्मके नामसे कहा गया है। इसके तत्त्व क्या है? एक अंगरेज आलोचक हिन्दू-धर्मका लक्षण करते समय हमें 'दर्शनके द्वारा न्यूनाधिक विकृत जीववाद' तथा उन: 'अज्ञातसे प्रभावित तन्त्रवाद' नाम देता है। परन्तु जीववाद कुछ असम्भव जातियोंका धर्म है, इसलिये इसे हिन्दूओंकी धार्मिक चेतनाके साथ एकीकरण करना भूलता है। क्योंकि यह चेतना स्वर्गलोकसे भी ओष्ठे वस्तुकी अभिलाषा करती है। एक दिशिणी महात्मा कहते हैं कि 'मैं हिन्दूप्रदक्षोंकी नहीं चाहता और न देवताओंको प्राप्त होने-बाले सुखोंको ही चाहता हूँ, मैं तो परम पदकी जिज्ञासा करता हूँ।' एक दूसरा यूरोपियन आलोचक सिखता है कि हिन्दू उसे कहते हैं जो अपने मुर्दोंको जबाता है; परन्तु क्या संन्यासी लिङ्गायत आदि कुछ ऐसे हिन्दू नहीं हैं जो अपने मुर्दोंको दफनाते हैं? निम्नलिखित हिन्दू-धर्मविद्यानोंसे हिन्दू-धर्म कहीं ओष्ठे है? कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि हिन्दू उसे कहते हैं जो जाति-पर्वतिमें विश्वास करते हैं; परन्तु चैतन्य, नानक और बहुतरे अन्य भक्तोंका इस वातामें विश्वास न था। कबीर मुसलमान होते हुए हिन्दू-धर्ममें एक पन्थके सङ्गालक माने गये हैं। उपनिषद् भी कहते हैं कि सनातन तत्त्व हिन्दू बाहरी बातोंमें परे हैं। फिर, जाति-पर्वतिमें केवल भारतमें नहीं है, बल्कि इसे आप यूरोप और अमेरिकामें भी पा सकते हैं। जन्दनमें वेस्ट-मिन्स्टरके रूपके जब नींगो राजकुमार खानका आतिथ्य किया था तो रूपके इस आचारपर दिल्ली अंग्रिकाके गोरोंने अपनी चुव्वता प्रकट की थी कि उसने एक भी ओंके साथ भोजन किया। जब रूसवेल्ट (Roosevelt) ने बुकर वार्षिगटनके साथ भोजन किया था तब उस भूतपूर्व प्रेसिडेंटके आचारके विचयमें सार्वजनिक आलोचना हुई थी। क्या इसलिये यह आलोचना नहीं हुई थी कि बुकर वार्षिगटन नींगो ये? अमेरिकामें इवारियोंका प्रक्ष अभी-तक इक नहीं हो पाया है। दुर्जन्यवद्धा अस्त्र देशोंके समाज ही भारतमें आत्मवका अभाव है। परन्तु

भारतके महात्माओं और आचार्योंने इसका समर्थन नहीं किया है। आर्ययुगमें दर्णाश्रम-ध्यवस्था आवश्यकी, परन्तु परवर्तीकालमें इसका जो रूप मिलता है ऐसी वह न थी। उस वर्णाश्रम-ध्यवस्थमें समाज-शास्त्र-सम्बन्धी हिस सत्यका एवं प्रमाण मिलता है कि सामाजिक गठनमें कर्मका विभाग होना चाहिये, सुम्बवस्थित समाजमें विभिन्न वृत्तियोंका होना आवश्यक है, एक तो शिष्टककी वृत्तिवाली शिशाशस्त्री, वैज्ञानिक और ब्राह्मण-वृत्तिका होना आवश्यक है, दूसरी सैनिक और राजसञ्चालक वृत्तिका होना आवश्यक है, तीसरी कृषि-व्यापार करनेवाली वैश्यवृत्तिका होना आवश्यक है, और चौथी हायसे काम करनेवाली शूद्रवृत्तिका होना आवश्यक है। परन्तु इनमें सभी आदरणीय हैं, क्योंकि सभी ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं।

मुझे प्रतीत होता है कि हिन्दू-धर्मके तीन स्वरूप हैं—एक दर्शन है, एक धर्म है और एक मार्ग है। और मेरे विचारमें यह तीनों स्वरूप वैष्णव, शैव तथा अन्यान्य हिन्दू-सम्प्रदायोंके लिये सामान्य हैं। पहले हिन्दू-धर्मका एक मार्ग, आर्यमार्गके रूपमें विचार करो। आर्यमार्ग केवल विश्वास ही नहीं है बल्कि प्रासिकी एक झौली है। हिन्दू-धर्म सम्प्रदाय नहीं है; यह अपने अनुयायियोंको आत्मसंयम और अनुभवके मार्गपर चलनेका आदेश देता है, और इसके साथ ही इस तथ्यको स्वीकार करता है कि ममुच्यकी प्रकृति और विकासमें विभिन्नता होती है, जीव अनुभवमय होते हैं, विभिन्न जीवोंको अपनी विभिन्न पात्रता उत्पन्न करनी पड़ती है, वह मार्ग तीन प्रकारका होता है, प्रथमोंमें इसे कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गके नामसे कहा है। एक विशेष अवस्थामें कर्ममार्गका उपदेश सबके लिये दिया गया है। इसके तीन नियम हैं। पहली उपासना है, जिसका अर्थ सामान्य यज्ञा अथवा प्रचलित विधिसे निष्ठ है। उपासनाका धर्य होता है आरमाके समीपमें बैठना, योगकी नीरवतामें प्रभुके नाद या शब्दका अनुभव करना। इसका दूसरा अर्थ धर्मग्रन्थोंमें 'ज्ञान' शब्दसे व्यक्त किया गया है। दूसरी उपासनासे हम भगवान्के ज्ञानसे मुक्त होते हैं, ज्ञानियोंके ग्रन्थों और उपदेशोंका स्वाज्ञाय करना ज्ञानिश्चयसे मुक्त होता है। राष्ट्रको स्वत्य पुत्र प्रदान करना तथा वंश-परम्पराका उच्छेद न होने वेना पितृकृण-से कृटना है। सबके प्रति हम आतिथ्य और सेवाके ज्ञात्य हैं और को कोग अपने बच्चों या कर्मोंके द्वारा उन विषय, ज्ञान, रोगी, भूते, हीन-वृक्षिया, उत्तमस्त्री तथा

मर्योंकी सहायता करते हैं, जिन्हें अच्छे घर तथा शिविरमें सामाजिक, आर्थिक अवस्थाकी कमी होती है, रमाजके बधार्य सेवक हैं। मुकिंके लिये कर्मका हीना रमावश्यक है, यह हिन्दू-धर्मका उपदेश है। कर्मको इबल अनासन्न-भावसे करना चाहिये। इसी बातको दिला बारतका कहानी है। तथापि ऐसे आदोषक मौजूद हैं तो हमें कहा करने हैं कि हिन्दू-धर्म कर्मका विरोधी है ! बनरेल सर ओमोरे क्रेग (General Sir O'moore-Creagh) अपने Indian Studies में कहते हैं कि 'हिन्दू-धर्मका एक सिद्धान्त समस्त सांसारिक अवहारोंसे अलग होना है। और इस सिद्धान्तके फलस्वरूप भारतके बहुतेरे महान् पुरुषोंने जनसाधारणमें सम्बन्ध रखनेवाले सांसारिक सम्बन्धको त्याग दिया है और भारत-भूमि धार्मिक तपस्थियोंमें भरी हुई है जो नंगे होकर अपने दुःखमय और कृशित शरीरको इसप्रकार कट देते हुए भूमा करते हैं कि उसका वर्गन करना अत्यन्त कठिन है, तथा वे हिन्दू आमीणोंके ऊपर, जिनकी दानशीलता असीम है, एक बड़े टैकसमें भी बदकर होते हैं।' इसप्रकार लिखकर लेखकने हिन्दू-धर्ममें कर्म-योग-सम्बन्धी उपदेशोंमें धर्मनी अज्ञानताका परिचय दिया है।

तब ज्ञानमार्ग आता है; और इम धर्म-ग्रन्थोंमें देखते हैं कि कर्मका ठीक अनुष्ठान होनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। कर्मके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना ही भारतीय अधियोंका विचार है। जबतक शुद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे तुम अपने हृदयको पवित्र न बना लोगे, तबतक आभक्षणकी प्राप्ति न होती। उपनिषद् कहते हैं कि 'जो विद्या और अविद्या दोनोंको जानता है वह विनाशको नहीं प्राप्त होता।' अविद्या कर्मको कहते हैं। आचार-निर्माणके लिये ज्ञान और कर्म दोनोंकी आवश्यकता है और इस ज्ञानमें ही विचारकी एकाधार प्राप्त होती है। यह ज्ञान-मार्ग अनानका, विचार-शक्तिका सार्ग है। विचारकी एकाधारासे भर्तिष्ठके नशील रन्ध्रों (Cells) की रचना होती है, यह अन्तर्जालको खोलती है और भास्माको सत्पके संयोगमें कासी है; और मैं बहुधा इसे अनुभव करता हूँ कि आधुनिक युगको भुवधा, अ्यसन और उत्तेजनाओंसे बचनेके लिये ज्ञानमय तपकी, ज्यान-शक्तिकी आवश्यकता है।

ईश्वरको जाननेके लिये शान्त वनों

तब भक्तिमार्गका नम्रवर आता है, जो ब्रेम या अद्वाका

पथ है। प्रह्लादने भगवान् विष्णुकी प्रार्थना करते समय सर्वे भक्तोंका यथार्थ स्वरूप बतलाया है—'हे प्रभो! चाहे जिस योनिमें मैं जन्म लूँ, तुम्हारे चरणोंमें मेरी अट्ट भक्ति हो।' राष्ट्रीय प्रगतिको आगे बढ़ानेके लिये आज ऐसे ही भक्तोंकी भारतको आवश्यकता है।

किसप्रकार यह कर्म, ज्ञान, भक्ति—त्रिपथ एकत्रित हो जर्ममें मिलते हैं, यह प्राचीन भारतका एक सामाजिक समन्वय है जिसके बर्यन करनेके लिये यहाँ समय नहीं है। हिन्दू-धर्म धर्मके रूपमें एक ऐसा विषय है जिसकी विशिष्ट ध्यास्या होनी चाहिये। अब मैं हिन्दू-धर्मके दार्शनिक रूपके विषयमें दो-चार शब्द कहूँगा। क्योंकि जो धर्म अन्तर्ज्ञान-आकाशके भीतर गहरा प्रविष्ट नहीं हुआ होता वह तो केवल एक सम्प्रदायमात्र है। धर्म प्राचीन भायों-की सर्वप्रथम प्रकृति थी। धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि दर्शन-विहीन पुरुष आवागमनके चक्रमें पदा रहता है। दर्शनका अर्थ है उस परमतत्वके साथ संयोग, जिसे शास्त्रोंमें आस्मा, जीवात्मा, विकास कहा गया है, महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा ही सुन्दर शब्दोंमें सांसारिक वस्तुओंकी तुलना बाँसुरीकी ध्वनिके साथ करते हैं। उन्होंने ठीक ही बतलाया है कि यदि बाँसुरी बाजानेवालेकी बाँसुरी न ले ली जाय तो उसकी ध्वनि एकदी नहीं जा सकती। इसी प्रकार यह निर्धारित है कि जब आस्मा देस लिया जाता है तो सब कुछ शात हो जाता है; आस्मा ही ज्ञानका आधार और अनुभवका स्रोत है। अनेकतर्में यह एकत्रिकी दृष्टि हिन्दू-अधियोंकी पुरुषतम वाणीद्वारा व्यक्त होती है। और एकत्रिकी भावनासे ओतप्रोत हो वे 'एकमेवाद्विनीयम्' इस मन्त्रका उद्धीष्ट करते हैं। इस रहस्यका कारण हिन्दुओंका 'लीकासिद्धान्त' है, जिस सिद्धान्तके साथ-साथ मायाका विद्वान् भी लगा हुआ है, जिस सिद्धान्तके विषयमें बहुधा आलोचक अमर्में पढ़ जाते हैं। क्योंकि मायाका अर्थ भ्रमात्मक नहीं बल्कि लैंगिक और अनित्य है। यहाँतक कि आपकल भी हिन्दू-सेवकोंके मुँहसे यह बात सुनी जाती है कि बाबूजीका क्रोध माया है, अर्थात् वह शीघ्र ही चला जायगा। इसी प्रकार अगतकी बसुर्पु माया है, तुम्हारे दुःख माया है, क्योंकि

वे भी चले जायेंगे और अपने स्थानमें स्थिर शान्तिको क्षोड़ते जायेंगे; हमारा व्यक्तित्व भी माया है, क्योंकि यह भी चला जायगा और हमको शानैः-शानैः जन्म-जन्मान्तर उच्च व्यक्तिगत्वा निर्माण करना पड़ेगा।

जिन्होंने अनेकमें एकको देखा है वे जानते हैं कि जगत्को जितना हम समझते हैं उसने वह कहीं विलक्षण है। वे जानते हैं कि एक ही कियारमक जीवन सबमें प्रवाहित हो रहा है। वे जानते हैं कि जगत्में व्यथार्थः कुछ भी विभिन्नता नहीं है, कोई ऐसा भेद नहीं है जो दूर न हो सके। क्योंकि हमसका मूल तत्व एक आरम्भ है। सर जगदीशचन्द्र योमने हमें पौधों और स्वनिंद्रियोंके निर्वचनके द्वारा विज्ञान दी है। मिठा कांसिस छार्विनने हमें विज्ञान दिलाया है कि पौधोंको भी मसिष्क होता है, तथा लक्षाओंमें चेतना होती है, जो अपने तन्तुओंसे सहारा खोजती है, जैसे मनुष्य अपनी अंगुलियोंमें तबतक खोजता रहता है जबतक उसे उपयुक्त आश्रय नहीं प्राप्त हो जाता। कैट्टेन मस्ट्रेव (Captain Musgrave) ने तो यहाँतक कहा है कि उन्होंने कोलम्बियामें एक ऐसा पौधा देखा था जिसे मसिष्क होता है तथा म्नायुजात्व और पाकाशय भी होते हैं। हस्ती जीवनकी एकताको प्रत्यक्ष करके आर्योंने सब जीवोंके प्रति अत्राका भाव रखता; अहिंसा भारतका धर्म बन गया, जो आजतक किसी भी दूसरे राष्ट्रका धर्म नहीं बन सका है। यदि वस्तुतः एक ही जीवन प्रत्येक रूपोंमें काम करता है तो किसप्रकार तुम किसी भी जीवका नाश करनेका साहस करोगे अथवा जगत्में किसीको भी हानि पहुँचाओगे? तुम कहते हो संसार दोषमय है। परन्तु हिन्दू-धर्म ढंकेकी चोट कहता है कि तुम गुणके बिना दोषका दमन नहीं कर सकते। अहिंसा और प्रतिरोधहीनता साथ-साथ चलती है। हिन्दू-धर्मका यह आदेश कैसा महत्वपूर्ण है—‘मरके साथ आत्माव रक्षो’ जिसप्रकार संस्कृति समर नहीं है, उसी प्रकार जीवन भी युद्ध नहीं है। समस्त राष्ट्रों और जातियोंका अन्तरम आरम्भ वही एक शाश्वत तत्व है। और प्रत्येकके पास एक अज्ञात तार है जिसको कूटे ही तुम गुप्त आरम्भमें सामर्ज्यकी व्यवि निकल पड़ती है। सबके साथ

बन्धुत्व रक्षो, क्योंकि तुम्हारा अन्तरारम्भ एक आहश सूक्ष्मसे असंलय सूर्य और सारामण्डल अर्धांत्र आकाश और पृथ्वीकी समस्त वस्तुओंसे तुम्हें बाँधता है। केवल यीनावलम्बन करो, अपने आरम्जीबनकी असीमतामें स्थित हो बाधो, जिस तुम्हें सब पश्चायोंमें उस अनन्तकी ज्योति छिट्की हुई दीख पड़ेगी। क्या तुमने अपने मनमें कभी सोचा है कि संसारकी किंती भी वस्तुको, यहाँतक कि एक बालूके कणको भी तुम अच्छी तरहसे क्यों नहीं समझ पाते? वह बालूका कण अनन्तसे अलग नहीं किया जा सकता; असीममें ससीमकी अभिव्यक्ति सृष्टि-कलाविद्वी पक्ष कल्पना है। उनको पूर्णतया कौन समझ सकता है? इस चेतनामें संयुक्त होकर विज्ञान अर्चनाका रूप भारत्य करता है, प्रकृति मन्दिर बन जाती है, हिताहास धर्म-प्रथ्य बन जाते हैं, ज्ञान उस आश्रयका साथी बन जाता है और जीवनका एकमात्र धर्म परमात्माके प्रति निर्य आरम्भ-समर्पण हो जाता है।

मेरे विचारसे ‘निर्य आरम्भसमर्पण’ हिन्दू-धर्मका आदेश और शाश्वत प्रयोजन है; यह वह कर्म है जिसके लिये आर्यवन्तके ऋषि-मुनि हमें आज भी सूचित करते हैं। कितने पुरुष चिकनी-चुपड़ी और दुर्बल बातोंसे नहीं, बल्कि जीवनके पराक्रमपूर्ण और शुभ कर्मोंसे इस सूचनाका उत्तर देंगे? शोक, आज भारतके घरोंमें हस्ती वातकी चिह्नाहट आती है और अनेकों मनुष्य चुपचाप दुःख सहते और मरते हैं। हिन्दू कहलानेवाले कितने मनुष्य उस परमात्मा-की सेवाके लिये दीन-दुर्ली, अकिञ्चन, अनज्ञान बननेके लिये तैयार हैं? चाहे जितने मनुष्य ऐसे हों—उनके नाम और धर्म चाहे जो हों, वे हिन्दू-धर्मके सबे अनुयायी हैं। और उनके प्रति ऋषिगण अपना ध्रेम प्रदान करते हुए उन्हें भारतकी सेवाके लिये आहूत करते हैं। भारतको इसप्रकारमें समझनेवाले लोग ही भारतकी सेवा करेंगे। और भारतीय पूर्वों, समुद्रों और जलतोतोंको उद्दीप आदरश्वादमें पुमः जीवित करेंगे। और उनके नाम अरण्यीय न होनेपर भी वे नवीन भारतराष्ट्रके निर्माणमें जीवन विसर्जने, क्योंकि जो लोग उस परमात्माकी निरय आरम्भसमर्पण करते हुए मरते हैं वे अमर हैं।

ईश्वर-प्रसंग

(लेखक—प० श्रीविष्णुशर भट्टाचार्य एम० ५०, प्रिमिपल विश्वभारती, शान्तिनिकेतन)

मे
री समझसे धर्म और ईश्वर—इन दो विषयोंपर आज्ञातक इतनी बातें कही जा सकती हैं कि यदि हजार वर्षोंका इस सम्बन्धमें कुछ भी न कहा जाय तो भी कोई हानि नहीं जान पड़ती। पूर्वमें जो कुछ कहा जा सकता है, उसके एक सामान्य अंशपर आलोचना करनेसे ही सब कुछ हो सकता है। किन्तु मनुष्यमें पुनरुत्थानकरनेकी एक इच्छा देखी ही जाती है।

मनुष्य नाना प्रकारकी बातें कहता है, वह सभी समय सभी बातोंको भद्रीभाँति समझ-सोचकर और उनका अनुभव करके ही कहता हो, ऐसा नहीं है। कभी-कभी तो मनुष्य ऐसी बातें कहने लगता है जिनके सम्बन्धमें वह कुछ भी नहीं जानता-समझता। वरं किसी-किसी समय तो वह अधिकतर ऐसी ही बातें कहा करता है। इस सरह करनेका परिणाम अच्छा होगा या बुरा, इसका वह कुछ भी विचार नहीं करता, किसी प्रकार कुछ-न-कुछ कहना ही उसका काम होता है; कह दिया, वस सूटी हुई। जहाँ अन्धकार हो और बहुत ही खुँधला प्रकाश हो, वहाँकी चीज साफ-साफ देखी या जानी नहीं जा सकती। वहाँकी एक ही चीजको भिजा-भिजा मनुष्य भिजा-भिजा रूपमें देखते हैं। कोई उसे ढूँढ़ा पेक कहता है, कोई मनुष्य और कोई भूत कहता है तथा कोई और ही कुछ बतलाता है। ऐसा भी मनुष्य होता है जो भूत या मनुष्यका निर्णय नहीं कर सकता। इसी प्रकारके और भी अनेक लोग हो सकते हैं। यदि ऐसे सब लोग एक जगह टूट दें हो जाय और उस बस्तुको लेकर तर्क करने लगे तो उनके तर्कके प्रहारोंसे वह स्थान गूँज उठेगा, युक्तियों और तर्कोंके प्रवाहमें दिशाएँ वह जायेंगी, परन्तु वयार्थ तत्त्वका पता तनिक भी नहीं लगेगा। यह बात नहीं है कि इन तर्कोंमेंसे कोई उस तत्त्वको जान ही नहीं सका हो या जानकर भी अच्छी तरह कह नहीं सकता हो, बात तो यह है कि वैसा होनेपर भी तर्कके व्यूहको भेदकर उस तत्त्वका ग्राह्य कर सकना अस्यन्त कठिन है। धर्म और ईश्वरके सम्बन्धमें यही दुमा

है। अस्तु। हमारे सामने अभी ईश्वरका प्रसंग उपस्थित है, इसलिये अब उसीकी आलोचना करनी है।

दोनों दल ढटे खड़े हैं, आज ही नहीं, अति प्राचीन कालसे; यहाँ ही नहीं, विदेशोंमें भी ऐसा ही है। क्योंकि यही जड़की बात है। एक दल कहता है 'ईश्वर है' दूसरा कहता है 'नहीं है।' दोनोंमें तुम्हुल द्वन्द्व छिका है, कोई-सा दल हटनेवाला नहीं, कोई-सा भी पश्च कमज़ोर नहीं। इस विषयपर जो कुछ कहना-सुनना था, प्राचीन लोग कह-कहकर चले गये। पर भजाएका अन्त नहीं आया। प्राचीन लोग जहाँ छोड़ गये थे, नवीनोंने वहाँसे फिर अद्वय उत्पादके साथ यात्रा शारदम् कर दी; परम्पर युक्त-तर्कोंकी कटा-कटी चल रही है, पता नहीं, इसका कब अन्त होगा। मेंदोंकी लड़ाइकी भाँति जो प्रबल होता है, वह दुर्बलको हटा देता है, परन्तु दुर्बलके हट जानेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि युद्धकी शुरुआतमें उसीका दोष था।

ये सब बाहरकी बातें हैं, बाहरी बातोंसे ईश्वरके होनेन-न-होनेका निर्णय असम्भव है। जो कहते हैं कि ईश्वर हैं, वही यह भी कहते हैं तर्कके द्वारा उसको प्राप्ति नहीं हो सकती। यह अपने अनुभवका विषय है। दूध, शहद, गुड़ आदि मीठे हैं या नहीं, यह बातोंसे समझाना कठिन है, अथवा समझाया नहीं जा सकता। या किसमें किसमा मिठास है, इस बातको हजार वर्षका समय मिलनेपर भी, स्वयं सरस्वती भी नहीं समझा सकती। इनको निजमें जरा-सा चखकर देखना होगा और चलनेके साथ ही पता लग जायगा। क्योंकि यह अनुभवका विषय है। गुड़ मीठा है या कड़ाआ, यह जाननेके लिये जैसे उसे चखकर देखना ही एकमात्र उपाय है, वैसे ही ईश्वर हैं या नहीं, इस बातको जाननेका भी एकमात्र उपाय अनुभव करके देखना ही है। अनुभव करनेका क्या उपाय है? जो कहते हैं कि ईश्वर है वे ही इस प्रश्नका उत्तर देंगे और उन्होंने दिया भी है। यदि कोई श्रद्धेय पुरुष कहते हैं कि मैं स्वयं जाकर अमुक गाँवोंको देख आया हूँ, तो वह उस गाँवका मार्ग भी जानते हैं, एवं दूसरोंको बतला भी सकते हैं। उनके बतलाये हुए पथको छोड़कर दूसरी राहसे

आमेपर यदि वह गाँव न मिले तो इसीसे यह निश्चय कर लेना अनुचित है कि वह गाँव ही नहीं है। उनके बतलाये हुए मार्गांसे चलकर देखिये, गाँव मिल गया तब तो ठीक ही है, जगदा ही निषट गया। और यदि न मिला तो कहना ही होगा कि गाँव नहीं है।

एक बात और भी समझनेकी है। एक आदमी प्यास से छपटाता है, उसको थोड़ा जल दिया गया, उसने यथाविधि पी लिया, उसकी प्यास बुझ गयी। एक मनुष्य रोगकी पीड़ासे प्यासकुर है, वैन्धने उसको औषध दी, रोगीने उसका यथाविधि सेवन किया। उसका रोग शान्त हो गया। यहाँ, यदि वास्तवमें जल और औषध न होती तो प्यासेकी प्यास और रोगीका रोग शान्त नहीं होता। जल और औषध थी, इसी कारण प्यास और रोगको निवृत्ति हुई। इसी प्रकार यदि मनुष्य यथाविधि ईश्वरकी उपासना

करता है और उसमें ईश्वरोपासनाके गुण (जैसे—

अद्वैट सर्वभूतानां भैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निराह्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

—आदि गीता अ० १२ श्लोक १३ से २०) प्रकट हो जाते हैं तो कहना चाहिये कि ईश्वर है, इसीसे उसकी उपासनासे उपासकमें इन गुणोंका विकास हुआ है। ऐसे भक्त तुलंभ होनेपर भी अलग्य नहीं है।

ईश्वरकी उपासना न करनेमे क्या ये गुण नहीं हो सकते? यह स्वतन्त्र प्रभ है। यहाँ तो जो ईश्वरकी उपासना करता है, उसके विषयमें कहा गया है। किन्तु इस प्रभके उत्तरमें अनेकोंने कहा है कि हो सकते हैं। एक रोगीकी अनेक दवाइयाँ हो सकती हैं और सक्तके लिये एक ही दवा उपयोगी भी नहीं है।

प्रभुके प्रति

(श्रीमैयिलाशरणजी गुप्त)

प्यारे, एक प्रभ उठ आया—

तूने मुझे बनाया है या मैंने तुझे बनाया?

यदि मैं ही कर्ता हूँ तेरा

तो कर्तृत्व मुझा क्या भरा?

मिथ्या हुआ स्वयं तब तो मैं

दंसा अब तो और अँधेरा!

अच्छा तर्क उठाया!

प्यारे, एक प्रश्न उठ आया।

यदि हे तू ही कर्ता-घर्ता

और अनन्तमें सबका हर्ता,

तो फिर क्यों प्रामाणिक मतिसे

बता मुझे मेरे सब-भर्ता,

मैंने तुझे न पाया।

प्यारे, एक प्रश्न उठ आया।

यदि असिद्ध तू भरी मतिसे,

तो फिर मैं पाऊँ किस गतिसे?

अद्वासे नत-मस्तक हांकर

यह करूँ क्या मनकी रतिसे?

हाँ, अब तू मुसकाया!

प्यारे, एक प्रश्न उठ आया।

ईश्वर-प्रेम



चिकित्सके पासका चिक्र है कि गंगा के इस पार बहुत सापु रहते थे और उस पार एक अस्त रहता था । उसके रागोरेशोंमें (अगलहक) शिवोऽहं बसा हुआ था । रात-दिन यह आवाज आया करती थी—‘शिवोऽहं, शिवोऽहं, शिवोऽहम् ।’ एक दिन वहाँ एक शेर आया । सापु इस पारसे देख रहे थे कि शेर आया और उसने महारामा-की ओर स्वरूप किया । वह महारामा शेरको देखकर उस स्वरसे कह रहा था ‘शिवोऽहं, शिवोऽहम् ।’ उसकी धारणामें यह जगा हुआ था कि यह शेर मैं ही हूँ, सिंह मैं ही हूँ । म्यं केसरीके शरीरमें स्वर भर रहा हूँ । ‘शिवोऽहं, शिवोऽहम् ।’ बनराजने आकर उसके कन्हेको पकड़ लिया तो वह (महारामा) आनन्दके साथ सिंहके स्वरमें नर-मांसका स्वाद ले रहे थे और आवाज निकल रही थी ‘शिवोऽहं, शिवोऽहम् ।’ दीवालीमें खाँड़के लिंगोंने बनते हैं । खाँड़के हिरन और खाँड़के शेर । अगर खाँड़का हिरन अपने-आपको नामरूपहित विशेषणके साथ समझे कि मैं हिरन हूँ तो क्या यह कहेगा कि खाँड़का शेर मुझको ला रहा है । यदि यह अपने-आपको खाँड़ मान ले तो खाँड़का स्वर कह सकता है कि खाँड़के रूपमें मैं ही इधर हिरन और उधर शेर हूँ । इसी तरह जब तुम जानो कि तुम्हारी असकियत क्या है, वह इस खाँड़के अनुरूप ईश्वरका स्वरूप है । अतः इस खाँड़के शेरकी दशामें तुम ईश्वरकी हैसियतसे यह कह सकते हो कि मैं इधर हिरन और उधर शेर हूँ ।

पगड़ी, पाकामा, दुपट्टा, चंगलसा, गौरसे देखा तो सच कुछ सूत है ।

दामनी तेही तो मालको गदा
पर निशाहे-हक्मे वह भी थी तिला ।

प्यारे ! यह महारामा वह दृष्टि रखते थे । जिस समय सिंह का रहा था उस समय वह क्यान्या स्वाद ले रहे थे । आज नर-रक्त इसारे मुँह आया । टौंग खाई तो भी ‘शिवोऽहं, शिवोऽहम् ।’ पर्वत पहजे ही पक्षका था, मगर हारकादा था ।

सिकन्दर जब भारतवर्षमें आया और उसने देखा कि जितने देश मैंने छीते, सबमें अधिक सचाईवाले बुद्धिमान और लूपबान् भारतवर्षमें ही देखे । उसने कहा इस भारतवर्षके सिर अर्धांत तस्व-वेताओं और ज्ञानियोंको देखना चाहता हूँ । सिकन्दरको सिंहमुके किनारे खे गये । वहाँ एक अवधूत बैठे थे । सिकन्दर सारे संसारका सज्जाट्, वहाँ जांगोटी भी नहीं । सामना किस गजबका है ! सिकन्दरमें भी एक प्रताप था । मगर मस्तकी निशाह से यह थी—

शहोंको रोब और हसीनोंको तुम्हो-नाज़ ।
देता हूँ, जबकि देखूँ उठाकर नज़रको मै ॥

सिकन्दरपर उस मस्तका रोब छा गया । उसने कहा—‘महाराज ! कृपा कीजिये । यहाँके जोग हीरोंको गुदबीमें लपेटकर रखते हैं । पश्चिममें बरा-जरा-सी छीड़ों-की बढ़ी कदर की जाती है । मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें राजपाट दूँगा, धन दूँगा, सम्पति दूँगा, हीरे-जवाहिरात दूँगा, जो कुछ चाहो सब दूँगा, लेकिन मेरे साथ चलो ।’ महारामा इसे जौर लोके ‘मैं हर जगह हूँ, मेरी हाईमें कोई जगह नहीं है ।’ सिकन्दर नहीं समझा । उसने कहा—‘अद्वय चालिये ।’ और वही लालच लिए दिलहाया । मस्तके कहा—‘मुझे किसी भी जाकी परवा नहीं, मैं अपना फेंका हुआ थक जाटेवाला नहीं ।’ सिकन्दरको कोप आ गया और उसने तेलवार लींग ली । इसपर सापु लिलिङ्डाकर हँसा और बोला—‘ऐसा मूठ तो तु कभी नहीं लोका था ।’ मुझको काटे कहाँ है वह तलवार ।

बचे रेतमें बैठकर रेत अपने पैरोंपर ढाकते हैं । आप ही घर बनाते हैं और आप ही ढाते हैं । रेतका स्था बिंदास ? जो पहचे थी वह अब भी है । प्यारे ! इसी तरह उस सापुकी वजा थी । यह शरीर उसको बाल्कोंके घरकी तरह है, जो जोगोंकी कपणामें उसकी समझका घर बना था । मैं तो बालू हूँ । घर कभी था ही नहीं । अगर तुम या जो कोई इस घरको बिगड़ाता है, वह अपना घर खारब करता है ।

तोरे क्या रोशनीसे न्योरे हैं ।
तुम इसारे होइम तुम्हरे हैं ॥

उत्तर सुनकर सिकन्दरके हाथसे तखवार छूट पड़ी ।
एक मंगिन थीं, जो किसी राजाके घरमें फादू दिया करती थी । कभी-कभी उसको सोना या मोती इनाममें मिल जाता था । कभी गिरे-पड़े उठा लाती थी । उसका एक लड़का था, जो बचपनसे परदेश गया हुआ था । जब वह पश्चिम वर्षका हुआ तो घर आया । देखा कि उसकी माँने घंटेपढ़ीमें लालोंको देर लगा रखता है । उसने पूछा—‘ये चीजें कहाँसे आयीं ?’ मेहतारानीने कहा—‘देढ़ा ! मैं एक राजाके यहाँ नौकर हूँ, ये उनके गिरे-पड़े मोती हैं, जिनका यह देर है । लड़का अपने मनमें कहने लगा, जिसके गिरे-पड़े मोती ऐसे उत्तम हैं, वह आप कैसों रूपवती होगी ? यह स्त्रयाल आया था कि उसके मनमें प्रेम छा गया और अपनी माँसे कहने लगा

कि मुझे उसके दर्शन कराओ । ये तारे-सितारे, यह चण्ड-सूर्य, ये फलकती हुई नदियाँ, यह सांसारिक रूप-सौन्दर्य उस सचाईके गिरे-पड़े भोती हैं । अरे, जिसके गिरे-पड़े भोतियोंका यह हाल है तो उसका अपना क्या हाल होगा ?

लगाकर ऐड फूलोंके किये तकसीम गुलशनमें ।
जमाया चाँद-सूरजको सजाये द्या सितरे हैं ॥

जिस समय कन्याओंका विवाह होता है, उनके डोलेपरसे हपये, पैसे, अशर्किवाँ व्योछाबर करते हैं और ऐ महाल्पाणो ! तुम उन चीजोंको चुनो । रामकी आँख तो उस दुर्लिङ्गके साथ लड़ी । जिसका जी चाहे इन मांतियोंको भरे । रामके पास तो जामा भी नहीं है, किर दामन कहाँसे काढ़े !!! ऊँ ! ऊँ !! ऊँ !!!

—स्वामी रामतीर्थ

बापजी

कबीर यह तन जात है, सके तो राखु बहेहि ।
साली हाथों वे गंय जिनके लाल करोहि ॥
आस पास जोचा खड़ समी बजावै गाल ।
मंक महलसे लै चला पेसा काल कराल ॥
तू मत जानै बाबरे मेरा है सब कोय ।
पिष्ठ प्रानसे बैवि रहे, सो अपना नहि होय ॥
साहिनेसे सब होत है बन्दे ते कलु नाहि ।
राई ते पर्वत करै पर्वत राई माहि ॥
सहिन-सा समरथ नहीं गरआ गहिर गंधीर ।
ओगुन छाँड़ै गुन गहै छिनक उतारै तीर ॥
मै अचराधी जनमका नस-सिस भरा बिकार ।
तुम दाता दुर्लभजना भेरी करै सम्भार ॥
अबगुन भेरे बापजी, बक्सु गरीब-निवाज ।
जो मैं पूत कपूत हौं तज पिंडों काज ॥
ओगुन किंच तो बहु किये, करत न मानी हार ।
मावै बन्दा बक्सिबे, मावै गरदन भार ॥
सप्तिव तुमहि दयाल हौं तुम लगि भेरी दौर ।
जैसे काग बहावको सूखै और न ढौर ॥
तुम तो समरथ साइर्ह इड़ करि पकरो माहि ।
बुरही लो पहुँचाइयो जनि छाँड़ो मग माहि ॥

—करीदामजी

ईश्वर-भक्ति

चतुराई चूल्हे परै, जम गहि जानहि स्त्राय ।
तुलसी प्रेम न राम-पद, सब जर मूळ न साय ॥
नाय एक बर माँगूँ मोहि छपा करि देहु ।
जन्म जन्म प्रभु-पद-कमल कबहुँ घैरै जनि नेहु ॥
बार-बार बर माँगूँ हरपि देहु श्रीरंग ।
पद-सरोज अनपायिनी भक्ति सदा सत्संग ॥
कामिहि नारि पियारि जिमि लोमिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागतु मोहि राम ॥
मरु कल्प-तरु प्रनतहित छष्टिधु सुख-धाम ।
सोइ निज महिल मोहि प्रभु देहु दया करि राम ॥
दीनानाथ दयाल प्रभु तुम कर्मि भेरी दौर ।
जैसे काग बहावको सूखत और न ढौर ॥
तुलसी बिलम न कीजिये भजि लीजै रघुनीर ।
तन तरकससे जात है साँस-दर्दिल तीर ॥
जो जैतन कहै जड़ करै, जड़हि करै जैतन्य ।
अस समरथ रघुनाथकहि, भजहि जीव सो धन्य ॥
हरि-माया-कृत दोष गुन, बिनु हरि-मज्जन न जाहि ।
भजिय राम सब काम तजि, अस जिचारि मनमाहि ॥
तुलसी सब छल छाँड़िके कीजै नम झनेह ।
अन्तर पद्मिनो है कहा, जिन देखी सब देह ॥

—योऽतुलसीदामजी

भागवत-सिद्धान्त

(लेखक—श्रीकृष्णप्रेमजी मिशनारी)



गवान्‌का स्वरूप जानने के लिये हमारे पास दो ही प्रमाण हैं—एक शास्त्र और दूसरा उन भक्तोंका अनुभव, जिन्होंने उनका प्रत्यक्ष दर्शन किया है। बहुत-से मनुष्य हन्मेंसे किसी भी प्रमाणको नहीं मानते, परन्तु यह उनके दुर्भावकी बात है; इससे भगवान्‌की सत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। उन लोगोंसे कोई यह पूछे कि आपके पास सन्नाट् पञ्चम जार्जे के अस्तित्वके लिये क्या प्रमाण है, तो वे यही उत्तर देंगे कि पुस्तकोंके अबलोकनसे तथा उन लोगोंके कथनसे, जिन्होंने उनका दर्शन किया है, हमने यह निश्चय किया है। परन्तु एक शंकालु पुरुष यह कह सकता है कि वे पुस्तकें सारी-की-सारी अंगरेजीकोंकी लिखी हुई हैं जो पश्चातर हित नहीं कहे जा सकते और जो लोग यह कहते हैं कि हमने सन्नाट् को आँखोंसे देखा है वे या सो झूठे हैं या मूर्ख हैं, उन्होंने किसी अभिनेताको, जो वास्तवमें सन्नाट् नहीं है परन्तु जिसे वहाँके लोगोंने सन्नाट् का पोशाक पहना दी होगी, धोखेपे सन्नाट् मान लिया होगा। इसपर वे कदाचित् यह कहेंगे कि ‘भाई! यदि तुम्हें किसी तरह भी विश्वास नहीं होता तो तुम विश्वायत जाकर स्वयं सन्नाट् का दर्शन कर सकते हो। माना कि, हम इहैं यह जाकर सन्नाट् का दर्शन कर सकते हैं किन्तु हमें सहजाईमें उनका दर्शन नहीं मिल सकता, इसके लिये हमें बहुत-से कष्ट उठाने पड़ेंगे। इसे अपना रोज़गार-चला छोड़कर हजारों मीलकी समुद्र-यात्रा एवं स्थल-यात्रा करनी पड़ेगी, तब कहीं हम उनकी शाँकीमात्र पा सकते हैं। यदि हम उनसे मिलकर उनके साथ साक्षात् रूपसे बातें करना चाहें तो हमें और भी अधिक कष्ट उठाने पड़ेंगे, किंतु भी यह निश्चय नहीं कि हम अपने उद्देश्यमें कृत कार्य हो ही जायें। यही बात किसी अंशमें भगवान्‌के लिये कही जा सकती है। यदि कोई मनुष्य उनका प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहे तो उसके लिये यह असम्भव नहीं है; वह अवश्य उनका भलीभांति दर्शन कर सकता है। परन्तु उसे अपने जीवन-का साधारण ढर्हा छोड़कर ऐसे एवं विनयके साथ उस

मार्गपर अवश्य उल्ला होगा, जिसे शास्त्रोंने एवं भक्तोंने बतलाया है। इसके अतिरिक्त जिसप्रकार सन्नाट्-में मिलनेके लिये मनुष्यको अपने अन्दर कहे एसे गुणोंका विकास करना आवश्यक होता है, जिनसे वह उनके दर्शनका पात्र बन सके, उसी प्रकार भगवान्-में मिलनेके लिये भी साधकोंका प्रेम, सत्यभावण, विनय, इन्द्रियनिपात, हृष्णाओंका दमन इत्यादि अनेक ऐसे गुणोंका विकास करना होता जो उसके अन्दर पहलेसे नहीं हैं। यदि मनुष्य इतना परिव्रम्म करे तो उसे इसका फल अवश्य मिलेगा, किन्तु हमसे कितने मनुष्य यह सब कष्ट उठानेके लिये प्रस्तुत हैं? इसकी अपेक्षा भारामसे घरमें बैठकर भगवान्‌की सत्ताका खण्डन करना कहीं सहज है।

मैं इस निबन्धमें भगवान्‌के अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये कोई तार्किक प्रमाण नहीं दृँगा, क्योंकि इसके लिये असली प्रमाण तो अनुभव ही है और दूसरे, इस विषयका निर्णय युक्तियोंसे हो भी नहीं सकता, चाहे वे कितनी ही तक्षण्यं पूर्व सक्षी क्यों न हों? किंतु भी भिज-भिज दर्शन-शास्त्रोंमें इसके विषयमें अनेक युक्तियाँ दी गयी हैं, जो अपने-अपने लेखमें भान्य हैं और जिन लोगोंको उन्हें जाननेकी इच्छा हो वे उन शास्त्रोंका अध्ययन कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अस्तित्वका युक्तियोंमें निर्णय करना हमारा उद्देश्य भी नहीं है; हमें तो यह देखना है कि शास्त्रोंमें उनका स्वरूप कैसा बतलाया गया है। कुछ लोग यह देखकर घबड़ा जाते हैं कि शास्त्रोंके भिज-भिज स्थलोंमें उनका भिज-भिज रूप एवं सम्बन्ध हैं और उनका शास्त्रोंके भिज-भिज स्थलोंमें विभिन्न दर्शन पाया जाता है। सन्नाट् पञ्चम जार्जे के दृष्टान्तसे ही यह बात भी स्पष्ट हो सकती है। पञ्चम जार्जे हृग्लैलदके अधीक्षर, भारतवर्षके सन्नाट्, एवं सन्नाट् भी भीरोंके पति हैं। उनके बीचों ही सम्बन्ध एक दूसरेसे भिज हैं। इन तीनों स्वरूपोंके लिये उन्हें भिज-भिज वेश भारण करना पड़ता है और उनके अधिकारोंका भी भिज-भिज रीतिसे बर्यान करना आवश्यक होता है। कुछ

छोरोंका उमके एक अधिकारसे सम्बन्ध है तो दूसरोंका दूसरे अधिकारसे, परन्तु सभी वेश और अधिकार हैं एक ही ध्यकिके !

इसी प्रकार श्रुतिमें भगवान्के किये यह कहा गया है—‘एकं सद्विप्रा बहुधा वदमित्स’ अर्थात् यद्यपि विद्वान् लोग उन्हें अनेक नामोंसे पुकारते हैं किन्तु वे हैं वास्तवमें एक ही । श्रीमद्भागवतमें, जिसकी रचनाका एक उद्देश्य श्रुतिके वास्तविक तात्पर्यको बतानाना था—‘वेदायर्थपरिवृहितम्’ इसी वातको विस्तारपूर्वक इसप्रकार कहा गया है—

वदन्ति तत्त्वविदस्त्वत्वं यज्ञानमद्यथम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दते ॥

अर्थात् तत्त्ववेत्ता पुरुष उस अद्वितीय ज्ञान-तत्त्वको ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् इन तीन नामोंसे पुकारते हैं ।

उपर्युक्त लोकके पूर्वानुसे यह ज्ञात होता है कि ऋषियोंने एक ही ज्ञान-तत्त्व माना है । इस अद्वितीय तत्त्वका वर्णन सभी भर्तोंके आस-ग्रन्थोंमें मिलता है; यही नहीं, एक अस्पष्ट आन्तरिक अनुभव अथवा विश्वासके रूपमें इस तत्त्वका ज्ञान प्रस्तुक मनुष्यके हृदयमें भी निर्दिष्ट है । किन्तु कुछ लोग इस अन्तर्ज्ञान अथवा विश्वासको अनेक प्रकारकी तार्किक युक्तियों अथवा भोगकी कामनाओंसे आकृत कर डालते हैं । शास्त्रका द्वारेष्य है, इस परम तत्त्वके स्वरूपका स्पष्टतया वर्णन करना, असप्तव उपर्युक्त लोकके उत्तरार्द्धमें यह कहा गया है कि उस परम तत्त्वके ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् ये तीन नाम हैं । अर्थात् जिसप्रकार उस परम तत्त्वको जाननेके ज्ञान, योग एवं भक्ति ये तीन उपाय हैं, उन्हींका अनुरूप इन तीन नामोंसे उनके तीन स्वरूपोंका निर्देश किया गया है ।

श्रीशंकराचार्यद्वारा निरूपित ज्ञान-मार्गसे मनुष्य उस परमतत्त्वके निर्विरोध, निराकार, निर्विकार, अवाकृष्णनसंगोचरस्वरूपका साकारकर सकता है, जिसे वेदोंने ‘नेति-नेति’ कहा है । परमतत्त्वके इस स्वरूपको ब्रह्म कहा गया है । ‘ब्रह्मतत्त्व वृहणवात् च तद्ब्रह्म’ अर्थात् जो स्वर्य हृष्ट अर्थात् महान् है और जो दूसरोंको भी हृष्ट बनाता है वह ब्रह्म है । अमेदज्ञानके साधनसे इसकी प्राप्ति होती है । इस साधनसे मनुष्यको वह अनुभव हो जाता है कि अगली सारी प्राप्तिभासिक अमेदज्ञानोंके मूढ़में भी वास्तविक एकता है वह ब्रह्म ही है ।

महर्षि पतञ्जलि-प्रणीत योगसूत्र एवं अन्य ग्रन्थोंमें बतलाये हुए योगमार्गका अनुसरण करनेसे मनुष्य उसी परमतत्त्वके दूसरे स्वरूपका साकारकर सकता है जिसे ‘परमात्मा’ कहते हैं और जिसका जीवात्मा एक अंश है । यह उस ईशरका अन्तर्यामी स्वरूप है, जो सारे भूतप्रायियोंके हृदयमें विशाजमान है, जो सारी क्रियाओंका निष्पक्ष साक्षी है, जो सारे भूतोंको समान इष्टिसे देखता है अर्थात् जिसकी इष्टिमें न तो कोई मित्र है और न कोई शत्रु है । चित्त-बृत्त-निरोधरूप योग-समाधिके द्वारा इस दूसरे स्वरूपका साकारक होता है ।

उस परमतत्त्वका सीमरा स्वरूप ‘भगवान्’ शब्दका बाध्य है । उसकी प्राप्ति भक्तिमार्गके अनुसरणसे होती है । सर्व, रज एवं तम इन तीन प्राकृतिक गुणोंसे अतीत होनेके कारण इस उन्हें निर्गुण भी कह सकते हैं, किन्तु वे ऐश्वर्यादि पद्मरूप एवं भक्त-चारस्त्वादि अनन्त गुणोंके सागर हैं । वे निक्षिय नहीं हैं, उनकी दिन्य लीलाएँ नित्य होती रहती हैं । वे निराकार नहीं हैं, उनका शुद्ध सर्वमय विग्रह है । वे निर्विशेष नहीं, किन्तु अगणित दिव्य शक्तियोंके आकर हैं । श्रुतिमें भी कहा है—‘पराऽस्य शक्तिविष्ठैव प्रथ्यते’ । उनके अनंदर सारे विरोधोंका सामाज्य हो जाता है और वे भक्तोंकी शाश्वत गति हैं । यद्यपि वे एक ही समयमें असंख्यरूप धारण कर सकते हैं, किन्तु उनका वास्तविक स्वरूप श्रीकृष्णका निरथविग्रह है । भागवतके ‘कृष्णान्तु भगवान् स्वयम्’ इस महावाक्यमें तथा ‘सम्मालृष्ण एवं परो देवस्तं ज्यायेत्’ अर्थात् ‘कृष्ण ही परमेश्वर हैं, उन्हींका ज्यान करो ।’ इस श्रुतिमें यही बात कही गयी है । ब्रह्मसंहितामें भी लिखा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अनादिरितिर्गोविन्दः सर्वकारणकरणम् ॥

—अर्थात् सच्चिदानन्दविग्रहवाले श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं, वे ही आदिरित आदिगोविन्द हैं, वे ही समल कारणोंके कारण हैं । इसप्रकारके अन्य सैकड़ों प्रमाण उद्भृत किये जा सकते हैं, किन्तु मैं अब केवल श्रीशंकराचार्यका एक वाक्य प्रमाणरूपमें उद्भृत करके विश्राम लौंगा । वे कहते हैं—

भूतेभन्तर्यामी हानमयः सच्चिदानन्दः ।

प्रहृतेः परः परात्मा यद्गुलातिकः स पथावम् ॥

—अर्थात् यतुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त भूतोंके हृदयमें रहनेवाले, ज्ञानमय, सचिदानन्दस्वरूप, प्रकृतिमें पर परमात्मा हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यष्टिपि श्रीशंकराचार्यने मुख्यतया ‘निर्गुण ब्रह्मवाद’ का उपदेश किया है, किन्तु वे इस बातको भलीभाँति जानते थे कि श्रीकृष्णका विग्रह अप्राकृतिक, अतएव निष्ठ है। यहाँ किसीको यह शंका हो सकती है कि श्रीशंकराचार्यने निराकार ब्रह्मके लिये ही ‘श्रीकृष्ण’ शब्दका प्रयोग किया है। पर यह शंका निर्मूल है, क्योंकि उन्होंने ‘यतुकुल-तिलक’ शब्दका प्रयोग किया है और इस शब्दसे द्विभुज रथ्यमसुन्दर-स्वरूपका ही ब्रोध होता है, जिसका आविर्भाव द्वापरयुगके अन्तमें श्रीहृन्दावन पूर्वं श्रीहारकाधाममें हुआ था।

इसमें यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक ही परम-तत्त्व तीन स्वरूपोंमें अभिभृत होता है, परन्तु यहाँपर यह प्रभ को सकता है कि इन तीन स्वरूपोंमें परमपर क्या सम्बन्ध है? कुछ लोग यह कहते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म ही उसका बास्तविक स्वरूप है और श्रीकृष्णादिके विग्रह काल्पनिक हैं। इस मिद्दान्तके अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही बास्तविक सत्ता है, दूसरे स्वरूप सभी एक प्रकारसे मायिक हैं। उदाहरणके लिये ‘वेदान्तसार’ नामक अन्यके रचयितानें लिखा है कि मायाके दो भेद हैं—विद्या एवं अविद्या। ब्रह्मके जिस स्वरूपकी उपलब्धि विद्यासे होती है वह ईश्वर है और जिसकी अविद्यामें उपलब्धि होती है वह जीव है; किन्तु उक्त दोनों प्रकारकी उपलब्धियाँ मायिक ही हैं। यह सिद्धान्त विल्कुल निषिद्ध है, क्योंकि इसके अनुसार भगवान् तो केवल अपरिपक्ष बुद्धियोंके ध्यानकी वस्तु रह गये। वे तो साधकके लिये एक ऐसी सुलभ सीढ़ी ही गये, जिसपर आरूढ़ होकर वह पर-ब्रह्मको प्राप्त हो सकता है और फिर उसकी आवश्यकता न रहनेपर उसे अपने पैरों-सले दृश्यकर नीचेकी ओर ढकेल सकता है।

इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त सर्वथा शास्त्र-विस्तृद है। दार्ढोंमें लिखा है कि ईश्वर मायातीत है। ‘स ईशो यद्यप्ते माया’ अर्थात् ‘माया जिनके अधीन है वही ईश्वर है’ बास्तवमें माया तो उसकी अनेक शक्तियोंमेंसे पूर्क विशिष्ट शक्ति है। इस विषयमें बास्तविक सिद्धान्त क्या है, इसे

भगवान्ने अपने श्रीमुखसे भगवत्तीता पूर्वं अन्य अन्योंमें बताया है। भगवान्का आदेश है—

यस्मात्प्रसरतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अर्थात् मैं वह यानी सारे भूतप्राणियोंसे परे हूँ और अहर अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मसे भी उत्तम हूँ।

‘चौदहवें अध्यायमें भी श्रीभगवान्ने कहा है ‘ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्’ अर्थात् ‘ब्रह्मकी प्रतिष्ठा यानी आधार मैं हूँ।’

श्रीमद्भागवतमें भी आपने फरमाया है—

मर्दीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।

—अर्थात् मेरी महिमाको ही परब्रह्म कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी इस निर्विशेष ब्रह्मरूप महिमाको श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीकृष्णके दिव्य विग्रहसे प्रादुर्भूत ज्योति माना है। वे कहते हैं—

ताहार अंगेर शुद्ध किरणमंडल, उपनिषद् कहे तारे ब्रह्म सुनिर्मल।

—अर्थात् श्रीकृष्णके श्रीशंगसे निकलनेवाले शुद्ध किरण-मण्डलको ही उपनिषदोंमें सुनिर्मल ब्रह्म कहा है।

हम उपर कह आये हैं कि भगवान्के अन्तर्यामी स्वरूपको ही परमात्मा कहते हैं। वे इसी रूपमें समस्त जीवोंके हृदयमें निवास करते हैं। श्रुतिमें शशीरस्पी वृक्षपर बैठे हुए दो मित्र पक्षियोंका वर्णन मिलता है। इनमेंसे एक अर्थात् जीवको फलका खानेवाला अर्थात् विषयोंके साथ-ही-साथ कर्मोंका भोक्ता कहा गया है और दूसरोंको अभोक्ता अर्थात् अनासक्त रहनेवाला बताया गया है।

द्वा सुपर्णा सुयुजा सखाया

समानं वृक्षं परिष्वस्त्राते ।

तयोरन्यः पिपलं स्वादूर्य-

नश्चतन्योऽमिच्चाकशीति ॥

निर्विशेष ब्रह्मका न तो किसी प्रकारके कर्मसे सम्बन्ध है और न उनके शुभाशुभ फलसे, किन्तु परमात्मा हमारे सारे कर्मोंके शूक साक्षी हैं और प्रत्येक कर्मका शुभाशुभ फल देते हैं। सर्वं भूतोंके हृदयरूपी गुहामें निवास करनेवाले आत्मा भी वही हैं—

अहमात्मा गुदाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

भ्रुति भी कहती है—

‘एको देवः सर्वभूतेषु गृहः
सर्ववयापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥’

अर्थात् सारे भूतोंके अन्दर छिपा हुआ एक देव है जो सर्वभ्यापी पूर्वं सर्वभूतोंका अन्तरात्मा है।

ब्रह्म किसीका स्वामी नहीं है क्योंकि वह तो निर्विशेष है किन्तु परमात्मा सबका स्वामी है, सबका सुहृद् है और अध्यक्ष ईश्वरके रूपमें सबके हृदयमें प्रतिष्ठित होकर सारे भूतप्राणियोंको इसप्रकार घुमाता है, जैसे कोई चक्रमें चढ़ी हुई बस्तुको घुमावे—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्राहृष्टानि मायथा ॥

—इन्हींको कृत्यु पुरुण, उत्तेज तथा सारे अवतारोंका बीज कहा गया है। गीताके निङ्गलिखित शोकार्द्धमें भगवानके हसी स्वरूपका वर्णन है—

विष्ण्याहमिदं कृत्यमेकं कांशन स्थितो जगत् ॥

—अर्थात् अपने परमात्मारूप एक अंशसे अखिल विश्वको व्याप करके मैं (भगवान्) अपने स्वरूपमें स्थित रहता हूँ।

यह ध्यान रहे, ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् ये तीन पृथक् तत्त्व नहीं हैं, किन्तु उस एक ही परमतत्त्वके तीन रूप हैं। इन तीनोंमें परत्पर क्या सम्बन्ध है, इस बातको श्रीजीवयोगस्वामीने एक दृष्टान्तके द्वारा समझाया है। उन्होंने लिखा है कि एक बार जब भगवान् श्रीकृष्ण श्रीद्वारकामें विराजते थे, उन्होंने एक तेजःपुत्रको आकाशमार्गसे अपनी ओर आने देखा। कुछ ही दृश्योंके अनन्तर उन्होंने देखा कि वह मनुष्यके आकारका है और इसके बाद जब वह आकृति और भी समीप आ गयी, तब भगवान् ने पहचाना कि ये तो देवर्णि नारद हैं। यहाँ नारदरूप वस्तु तो एक ही थी, परन्तु वह भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें कहीं अधिक स्थृतरूपमें और कहीं अस्थृतरूपमें प्रतिभासित हुई। सर्वप्रथम वे आकारहित नेजःपुत्रके रूपमें दिखायी दिये, यही निर्विद्येष व्यष्टिका साक्षात्कार है। इसके अनन्तर उनकी मनुष्याकृति स्पष्ट दिखायी देने लगी, यही परमात्माका स्वरूप है। अन्तमें अन्यमन निकट पहुँचनेपर वे नारदरूपमें पहचाने गये, यही भगवान्का सर्वांगीय ज्ञान है। यहाँ यह बात अवश्य विचारणीय है कि उक्त तीनों दृश्योंमें प्रतिभासित होनेवाली वस्तु एक ही है।

इसी बातको किञ्चित् भिन्न रूपसे समझानेके लिये एक दृष्टान्त दिया जा सकता है। एक मनुष्य अपने पितामाका उत्र है, अपने पुत्रका पिता है और अपनी पश्चिमीका पति है। इसप्रकार वह उत्र, पिता और पति तीनों ही है। उत्ररूपमें उसका भाव कुछ और ही है, रिताके रूपमें कुछ और ही और पतिके रूपमें उसका तीसरा ही भाव होता है, परन्तु इन तीनों भावोंका धारण करनेवाला मनुष्य सो एक ही है।

परमतत्त्वके तीन भावोंको हम गीताके द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं। ब्रह्मभावसे भगवान् श्रीकृष्ण यह फरमाते हैं—

जरामरणंयोऽथाप मामभित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः इत्यमध्यात्मं कर्म जातिरूपम् ॥

—अर्थात् जो लोग मेरा आश्रय लेकर जन्म-मरणके दबान्तरमें मुक्त होनेका यत्त करते हैं वे ही ब्रह्म पूर्व अध्यात्मतत्त्वको तथा कर्मके सम्बूद्धं रहन्म्यको जानते हैं।

परमात्माके भावसे श्रीभगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे देव्याऽप्तिं न प्रियः ।

—अर्थात् मैं समस्त भूतप्राणियोंमें समानरूपमें बर्तता हूँ, मेरी दृष्टिमें न तो कोई प्रिय है और न कोई देवका पात्र है।

भगवान्के भावमें आप फरमाते हैं—

‘इष्टोऽप्तिमे’ (अर्थात् तुम मेरे प्रेमयात्र हो), ‘प्रियोऽप्तिमे’ (तुम मेरे प्यारे हो)।

बहुत-मेरे लोग इस बातको देखकर चक्षरमें पढ़ जाते हैं कि जो श्रीकृष्ण कुछ ही अध्याय पूर्व यह कह आये हैं कि मेरेलिये कोई भी प्रिय नहीं है, वही अर्जुनमें अब यह कहने हैं कि ‘तुम मेरे प्यारे हो।’ किन्तु उपरके विवेचनमें यह विवेश्वाभास मिट जाता है। यहाँ ये परमात्माके भावमें कहने हैं और यहाँ भगवान्के भावसे।

शास्त्रके वचनोंकी मंत्राति खाताते समय यह समझ लेना आवश्यक है कि असुक वचनके अन्दर उस परमतत्त्वके कौन-मेरे स्वरूपका वर्णन है। यदि ऐसा न किया जायगा तो उनमें परम्पर विरोध एवं गद्बद्ध-सी विश्वायी देने लगती। उदाहरणतः अग्नितत्त्वको समझनेके लिये इस केवल अग्निका विचार कर सकते हैं अब वा दाहिका-कर्ति,

प्रकाशिका-शक्ति अथवा पाचिका-शक्तिके सहित उसका विचार कर सकते हैं, क्योंकि हन सारी शक्तियोंका अधिके स्वरूपमें समावेश हो जाता है। किन्तु अग्निकी विज्ञ-भिज्ञ शक्तियोंका ज्ञान हुए बिना भी अग्निका ज्ञान हमें हो सकता है।

इसी प्रकार सविदानन्द परमतत्त्वके भी तीन स्वरूप माने जा सकते हैं—निर्विशेष सविदानन्द अर्थात् परमात्मा, अन्तर्यामी-शक्ति-सम्बन्ध अर्थात् परमात्मा एवं अग्नित अचिन्त्य दिव्य शक्तियोंसे युक्त सविदानन्द अर्थात् भगवान्। प्रश्न के बल हतना ही है कि उस तत्त्वकी उपासना इम ज्ञानके हारा करते हैं अथवा योगके हारा अथवा भक्तिके हारा? शब्दके भिज्ञ-भिज्ञ कारणोंकी रखना उक्त तीन मार्गोंको बतलानेके लिये ही की गयी है और इस बातको ध्यानमें रखनेपर फिर हमें परस्पर-विरोधी वर्षनोंको पद-कर भ्रम नहीं होगा। उदाहरणः योगशास्त्रमें जिस प्राणायामकी प्रशंसाके पुल बाँधे गये हैं उसीके सम्बन्धमें श्रीशंकराचार्यने अपने 'अपरोक्षानुभूति' नामक ग्रन्थमें यह लिखा है कि ब्रह्माकारभूति कर लेना ही असली प्राणायाम है—'व्याहैवासीति या वृत्तिः पृत्को वायुरीरितः।' आगे चलकर उन्होंने यहाँतक कह दिया है कि अज्ञानी लोग ही आण-पीड़न करते हैं (अज्ञानां आणपीडनम्)। श्रीमद्भागवतमें तो अन्य सभी साधनोंको हरिनाम-संकीर्तन-में नीचा बतलाया है।

इसप्रकार हमने समझ लिया कि जो लोग यह मानते हैं कि भगवान् के बल भायिक कल्पना है अथवा ध्यानमें सहायता देनेमात्रमें ही उनकी उपर्योगिता है अथवा ब्रह्म-सायुज्यभुक्तिरूप अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्तिके पूर्व इस हृष्टर-रूप अन्तिम मायाका भी उच्छ्वेत करना होगा, वे बालवर्में भूलमें हैं। भगवान् स्वयं वह परमतत्त्व है और उनमें परे कोई वस्तु नहीं है। यथापि उनका प्रकाश सर्वभ्यापक, निर्तुण, निर्विशेष ब्रह्मके स्वरूपमें विद्यमान है, किन्तु उनका विज्ञ-विद्युत बालविक पूर्व विद्य है और उनकी विद्य शक्तियाँ अमन्त्र हैं।

इन शक्तियोंमेंसे एक शक्ति एक साथ अनेक रूपोंमें प्रकट होनेवाली भी है। ब्रह्मावतारकी प्रकट लीलामें आपने इस शक्तिको कहा बार विलक्षणा। उदाहरणः रासलीलाके समय उन्होंने गोपियोंके साथ अग्नित रूप भारणकर मृत्यु किया और दूसरी बार ब्रह्माजीका दूर्घ चूर्चु करनेके

लिये आपने सैकड़ों गोप-बालकों एवं बछड़ोंका रूप बारण किया।

इसी प्रकार अपनी अप्रकट लीलामें वे एक साथ अनेक रूपोंमें रहते हैं। इनमेंसे कुछ रूप विज्ञास-मूर्तियाँ कहलाती हैं और उन रूपोंमें प्रायः उन्हीं शक्तियोंकी अभिष्यक्ति होती है जो आपने अपने असली व्यरूप अर्थात् श्रीकृष्ण-दिग्ग्राहमें प्रकट की थीं। वैदुष्टाधिपति चतुर्मुख श्रीनारायणदेव एवं शैवोंके उपास्यदेव श्रीमद्भागवत इसी प्रकारकी विलास-मूर्तियाँ हैं।

इसी अप्रकट लीलाके दूसरे रूप अवतार है। बालवर्में तो वे परमात्मा (पुरुष) के ही रूप हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

पते चाशकला-पुमः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

—अर्थात् ये सारे अवतार (जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है) पुरुष (परमात्मा) के ही अंश हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं।

परन्तु पूर्णावतार एवं अंशावतारके इम भेदको लीक तरहसे समझ लेना चाहिये, ताकि इसमें कहीं भ्रमके लिये अवकाश न रह जाय। अवतारोंका भेद उनके अन्दर प्रकट होनेवाली शक्तिके भेदको लेकर ही माना गया है। सभी अवतारोंमें भगवान्की पूर्ण सत्ता रहती है, जहाँ कहाँ वे रहते हैं, सर्वशक्तिमान् होकर ही रहते हैं। किन्तु हननी बात अवश्य है कि वे अपनी लीलाके निमित्त कहीं किसी शक्तिको अभिष्यक्त करते हैं, कहीं किसीको। शक्तिकी अभिष्यक्तिके भेदको लेकर ही अवतारोंके भेद माने गये हैं, बालवर्में उनके अन्दर कोई तात्त्विक भेद नहीं है, क्योंकि सारे ही अवतार श्रीभगवान्-के ही स्वरूप हैं। हाँ, एक प्रकारके अवतार जो आवेशावतार कहलाने हैं उनके अन्दर यह बात पूरी तौरपे लागू नहीं होती, क्योंकि आवेशावतारमें श्रीभगवान्की किसी विशेष शक्तिका किसी जीवके अन्दर आवेश होता है।

महाराज एथु इसप्रकारके अवतार थे।

अस्त्रमें इम लीलावतार एवं गुणावतारके भेदको बतलायेंगे। मस्त्य, हृष्म, बामन इत्यादि लीलावतार श्रीभगवान्के नित्य स्वरूप हैं, वे समय-समयपर किसी लीलान्विशेषको विलक्षणेके लिये जगत्में प्रकट होते हैं

ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र वे तीन प्रसिद्ध देवता श्रीभगवान्‌के गुणावतार हैं। हस विषयको अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिये, क्योंकि कुछ लोग हन् तीनों देवताओंको भिज्ञ मानते हैं। यही कारण है कि कुछ लोग केवल श्रीविष्णुकी उपासना करते हैं और कुछ श्रीरुद्रकी। बास्तवमें हनके अन्दर भेद-भावना करना बड़ी भूल है और हम-प्रकारकी भेद-भावनाके कारण भिज्ञ-भिज्ञ सम्प्रदायके लोगोंमें जो मनोमालिन्य एवं द्रेष देखनेमें आता है वह किसी प्रकार भी शास्त्रानुमोदित नहीं है।

तीनों प्राकृतिक गुणोंमें अतीत होनेके कारण भगवान् स्वयं निर्मुण है, किन्तु ब्रह्मारहकी सृष्टि, स्थिति एवं संहारके लिये वे ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वरके रूपमें तीनों गुणोंसे युक्त हो जाते हैं। रजोगुणके सम्पर्कमें वे ब्रह्माका रूप धारणकर सृष्टिको उन्नत करते हैं, सत्त्व-गुणके संयोगसे वे विष्णु बनकर विश्वका पालन करते हैं और तमोगुणमें युक्त होकर वे रुद्ररूप धारण करते हैं और प्रलयकालमें विश्वका संहारकर उमे अपने अन्दर लीन कर लेते हैं।

इसीलिये भगवानके हन् तीनों रूपोंको गुणवतार कहते हैं और अनन्तत्कोटि ब्रह्मारहोंमेंमें प्रत्येक ब्रह्मारहके अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश पृथक् पृथक् होते हैं। हमारे हस ब्रह्मारहकी रचना करनेवाले ब्रह्माजीने बृहदावनमें बछड़ों और गोप-बालकोंको जब कन्दरामें छिपा लिया और भगवान् श्रीकृष्णने उन स्वका स्व प्रारण करके फिर ब्रह्माजीको अनन्तत्कोटि ब्रह्मारहोंका दर्शन कराया और जब ब्रह्माजीने देखा कि उन सारे ब्रह्मारहोंको रखनेवाले ब्रह्मा अलग-अलग भगवान् श्रीकृष्णके चरणामें दर्शवत्-प्रणाम कर रहे हैं, तो उनके आश्रयका पार नहीं रहा।

श्रीभगवान् एवं उनके विभिन्न स्वरूपोंके पारम्परिक सम्बन्धके विषयमें शास्त्रोंने जो कुछ कहा है उमका हमने ऊपर विवरणमात्र कराया है। भगवानकी स्वरूप-शक्तियोंके विषयमें अच्यवा जीवका भगवानके साथ क्षय सम्बन्ध है हस विषयमें हमने कुछ भी नहीं लिया है। हाँ, ऊपरकी पंक्तिमें हमने जो कुछ लिया है उममें कम-मे-कम यह बात समझमें आ सकती है कि भगवान्‌के स्वरूपके सम्बन्धमें जो भिज्ञ-भिज्ञ बातें शास्त्रोंमें कही गयी हैं, उनसे घबड़ानेकी आवश्यकता नहीं है और त

उन लोगोंसे इगदा करनेकी आवश्यकता है जो उनके अन्यान्य स्वरूपोंकी उपासना करते हैं। हम चाहे जिस रूपमें उनकी ऐजा करें, वे हमें उसी रूपमें प्राप्त होंगे। गीतामें आप अपने श्रीमुखमे फरमाते हैं कि सभी देवताओंकी ऐजा साक्षात् रूपमें अथवा अप्रकल्पसे मेरी ही ऐजा है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते भद्रयन्विताः ।

तेऽपि सामव कौतंत्य यजन्त्यविविपर्वकम् ॥

भिज्ञ-भिज्ञ सम्प्रदायोंमें श्रीकृष्णके ही किसी-न-किसी स्वरूपका प्रत्यक्षानुभवयुक्त वर्णन है। उनके गुण अनन्त हैं, अतएव उनका अनुभव भी अनन्त प्रकारमें प॑वं भिज्ञ-भिज्ञ भावोंके द्वारा हो सकता है। बास्तवमें जिन-जिन भावोंके द्वारा उनका अनुभव हो सकता है, उन्हींको लेकर हिन्दू एवं हनु भिज्ञ-भिज्ञ सम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई है। यदि कहीं उनके अन्दर परम्पर-विरोधी बातोंहाँ भी उल्लेख पाया जाता है तो यह बात ज्ञानमें रखनी चाहिये कि श्रीकृष्णके अन्दर सरे विरोधोंका सामन्य हो जाता है।

कुछ लोग हन् आपाततः विरोधी वचनोंको पढ़कर चहरमें पढ़ जाते हैं और यह मान बढ़ाते हैं कि शास्त्रोंमें भिज्ञ-भिज्ञ प्रकारकी बातें लिखी हुई हैं और उनमेंमें कौन-मीं बात थीक है यह निश्चयरूपमें नहीं कहा जा सकता। वे लोग भूलते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो उनमेंमें एक ही मिद्दान्तको मानते हैं और यह समझते हैं कि दूसरे सभी मिद्दान्त अमुखल हैं और इसीलिये वे दूसरे मिद्दान्तोंको माननेवालोंके साथ लक्ष्मी-भगवान् करने लगते हैं। वे भी भूल करते हैं। उक दोनों प्रकारके लोगोंमें विलयण एक तीव्रमात्रा ही समुदाय है जो उन दोनोंकी भूलोंमें बचनेके लिये सारे सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंकी एक-वाक्यता करनेकी जैषा करता है, जो एक असम्भव-सा कायं है। ये लोग भी भूलते हैं, वहोंकि भिज्ञ-भिज्ञ सम्प्रदायोंके मिद्दान्त हसप्रकारके नहीं हैं कि उनकी एक-वाक्यता हो सके और न उनके प्रवर्तनकोंका यह अभिप्राय या कि उनकी हसप्रकार एकवाक्यता कर दी जाय। हस-प्रकारके लोग बुझा यह कहा करते हैं कि 'नाहै !' हमने सो मारे घम्फोंके सारकोंसे ले लिया है और अमावस्यक बासोंको छोड़ दिया है, परम्पुरा हसप्रकारके प्रयत्न अस्तित्वात्मा प्रायः विकल्प हो जाते हैं। यह बात थीक है कि हमें

प्रत्येक वस्तुका सार ब्रह्मण करना चाहिये और भगवार वस्तुका परिस्थाग करना चाहिये, किन्तु हमें यह बात सदा प्यानमें रखनी चाहिये कि जबतक दाना पक न जाय तबतक उसे सुरक्षित रखनेके लिये तुर्पोंकी आवश्यकता होती है और समयसे पहले ही तुर्पोंको निकाल देनेका परिणाम यह होता है कि उनके साथ दाना भी मट हो जाता है—

स्मरतन्यः सततं कृष्णा विस्मरतन्योऽन जातु चित्।

—अथात् श्रीकृष्णको सदा स्मरण रखना चाहिये, एक भगवान् भी उनकी विस्मृति नहीं होनी चाहिये ।

यह विधि-निचेधारमक बचन अन्य सारे विधि-नियेषोंका राजा है । अन्य स्मरे विधि-नियेष हृसके भनुचर है । किन्तु हृसप्रकारके अधिक्षित स्वरणमें मनुष्यकी स्थिति जबतक हृ न हो जाय, तबतक धर्मशास्त्रोक्त नियमोंके पालनमें अवहेलना करना मूर्खता है । जो लोग उन सम्प्रदायोंकी एकवाक्यता करनेकी चेष्टा करते हैं, जिनके प्रवर्तकोंका अभिप्राय हृसप्रकारकी एकवाक्यता करनेका नहीं था, उनका एकमात्र आधार आगे चलकर कठिपय अस्पष्ट नैतिक सिद्धान्त ही रह जाते हैं । यही नहीं, ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें उनकी धारणा और भी अनिवित हो जानी है क्योंकि उनके ईश्वरके अन्दर सामान्यतया सभी प्रकारके गुण रहते हैं, परन्तु विशेष गुण कोई भी नहीं होता ।

सारे सम्प्रदायोंके मूलमें एकता अवश्य है और वह एकता भगवान्नको लेकर है; किन्तु वह एकता उनकी प्राप्तिसे ही हो सकती है और किसी उपायमें नहीं । सारे मार्ग उसी लक्ष्यकी ओर जाते हैं परन्तु उसकी प्राप्ति भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंतया उनके अन्दर बताये हुए साधनोंकी लिखी बना देनेसे नहीं होती, किन्तु ऐकान्तिक भ्रदामे किसी एक ही मार्गका अवश्यन्त्र करनेमें होती है ।

माम लीजिये, कोई मनुष्य किसी व्याधि-विशेषसे पीड़ित है और किसी चिकित्सकके चिकित्सालयमें औपचल केने जाता है तो वह वहाँ आकर क्या करता है? वह देखता है कि उसके सामने अनेक प्रकारकी दवाइयोंकी सीढ़ों बोतके सजावटी हुई रखती है । ऐसी दशामें क्या वह जितनी बोतके उसके हाथ क्या आर्च, उन सबकी दवाओंको निकाल अर्थे किये हुएका दिवार कर लेगा?

नहीं, पहले वह चिकित्सकको अपने रोगके कक्षण बतावेगा और चिकित्सक उन लक्षणोंमें उसकी व्याधिका निवान करके तब उसके अनुकूल दवा देगा, यद्यपि उसके रोगके लिये एक ही प्रकारकी औपचल उपयोगी होती है, किन्तु हृसका यह अर्थ नहीं है कि वाकी सब बोतके मूर्खी अथवा बनावटी हैं और फोड़ देने लायक हैं । वह हृस बातको अच्छी तरह जानता है कि वे वृस्ते प्रकारके रोगियोंके लिये हैं ।

यहाँ बात शास्त्रोंके सम्बन्धमें नमहनी चाहिये । हम शोग सभी रोगी हैं, श्रीकृष्ण-वैसुक्य-रोगमें भीकृत हैं । हम लोगोंने श्रीकृष्णकी ओरमें मुँह फेर लिया है और हृसीलिये हम आध्यात्मिक, आचिर्देविक एवं आधि-भौतिक इन तीन प्रकारके तापोंमें परिवर्त हो रहे हैं । हम स्वयं हृस बातका पता लगाने बैठ जाते हैं कि शास्त्रोंमें हृस रोगके निवारणके लिये कौन-कौन-से उपाय बताये गये हैं । किन्तु अपने बुद्धिजन्य ज्ञान एवं आधुनिक शिक्षाके गवर्नर्स आकर हम दिक्षुक यन्त्र अथवा किसी सुयोग्य कर्णधारकी सहायता लिये बिना ही शास्त्ररूपी महोद्धिको पार करनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं । ऐसी दशामें हम यदि पथभ्रष्ट हो जाते हैं तो हृसमें आश्रय ही क्या है? शास्त्रोंकी रचना हृसिलिये नहीं हुई थी कि लोग उनका हृसप्रकारसे उपयोग करें । प्रत्येक व्यक्तिले लिये शास्त्रके कुछ ही अंश उपयोगी होते हैं और अमुक व्यक्तिके लिये उसके कौन-से अंश उपयोगी हैं, इस बात को उमे किसी गुस्के द्वारा ही जानना चाहिये ।

अधिकारके दिना शास्त्रका अध्ययन करना बैमा ही है जैसा किसी रोगीका ऐसी दवा लेना है जो उसके लिये उपयुक्त न हो । हितकी अपेक्षा उसमें हानिकी ही अधिक सम्भावना रहती है । शास्त्रोंके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें आजकल कितना मतभेद फैल रहा है और लोग ढंकेकी ओट यह कहते हैं कि 'शास्त्र विलुप्त' निरर्थक एवं इस युगके लिये भुतुपुक्त है, वे हमारे लिये सहायक न होकर केवल बाधक हैं, हृस्यादि ।' इन सबका कारण यही है कि लोग आजकल बिना अधिकारके ही शास्त्रोंका अध्ययन करते हैं ।

यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि सारे मार्ग भगवान्नके निष्ठ घड़ूनानेवाले हैं और सारे सिद्धान्त उत्तीर्णे के किसी विशिष्ट लक्षणका विल्पन्य करते हैं । परन्तु

केवल हस बातको जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। इसके अनन्तर हमें यह देखना चाहिये कि हमें कौन-सा भाव अधिक सुखिकर है और फिर किसी ऐसे गुरुकी लोज करनी चाहिये जो हमें उस भावके अनुसर भारपर चलानेकी योग्यता रखता हो। ऐसा कर लेनेपर हमें पूर्ण श्रद्धा-के साथ अपने निष्ठित मार्गपर अन्तर्सर हो जाना चाहिये, किसी दूसरे मार्गकी परवा नहीं करनी चाहिये। अन्य मार्गोंके सम्बन्धमें हम यही समझें कि वे दूसरोंके लिये अभिप्रेत हैं, हमारे लिये नहीं। ऐसा करनेमें हम प्रगबाल, स्वभावाग्रही तथा सामाजिकी निरर्थक एवं विफल चेष्टा करनेवाले दोनोंकी भूलोंसे बच सकते हैं। वास्तवमें भगवन्-प्राप्तिके तीन ही सुख्य मार्ग हैं। ज्ञान, योग और भक्ति। यदि हम व्याघ्रस्थपमें उनकी प्राप्ति करना चाहते हैं तो ज्ञानके द्वारा कर सकते हैं; परमात्मरूपमें उनकी प्राप्ति करनेके लिये हमें योग-मार्गका अनुसरण करना होगा और भगवान्के रूपमें उन्हें प्राप्त करनेके लिये हमें भक्तिका आश्रय लेना पड़ेगा। श्रीभगवान्ने स्वयं उद्देश्यके प्रति कहा था—

न साधयति मां योगो न सांहयं धर्म उद्दृत ।
न स्वाध्यायस्त्वप्स्यागो यथा भक्तिर्मोर्जिता ॥

—अर्थात् न तो योगसे और न ज्ञानसे, न धर्मुद्धान्से, न वेदोंके अध्ययनसे, न तपस्यासे और न स्थागमें ही कोई सुखे पा सकता है; मैं केवल भक्तिसे प्राप्त होता हूँ।

सर्वतो भावेन तथा युक्तन्तः: उनकी शरणमें जानेके सिवा और कोई उपाय नहीं है। हमारा समर्पण सदांगीण होना चाहिये, उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं रहनी चाहिये और न हमें बदलेमें उनसे कोई याचना ही करनी चाहिये। यदि याचना करें भी तो केवल हस बातको कि 'हे प्रभो! आप हमें वह शक्ति प्रदान कीजिये जिससे हम पूर्णतया आपके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर सकें।' श्री-कृष्णके साथ आद्वान-प्रदान नहीं हो सकता और उनका बन जानेके बाद हमें न सो किसी और वस्तुकी इच्छा हो सकती है और न हमें परियामका ही भय हो सकता है। उन्हें आत्मसमर्पण करते समय न तो हमें यह चिन्ना होनी चाहिये कि हमारी हस कियासे हमारे कुदुमियोंको क्षेष होगा, अथवा हमारे मित्र हमारा उपहास करेंगे और न हमें यही चिन्ता होनी चाहिये कि भविष्यमें इसका

परिणाम क्या होगा? आत्मसमर्पणके बिना केवल शास्त्रीय सिद्धान्तोंका परिचय जीव और ब्रह्मकी एकत्राका ज्ञान, प्राकृतन सुकृतोंका सम्बन्ध तथा योग-सिद्धियोंके अव्याप्तिकर ये कुछ भी हमारे काम नहीं आ सकते।

अब प्रश्न यह होता है कि भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छाका क्या अर्थ है? इस संसारके शोकसे पार होनेकी इच्छा, परमात्माकी महान् सत्तामें अपनी भूद्व सत्ताको विलोन कर देनेकी अभिकाषा अथवा योगशस्त्रे चमल्कारों-को प्राप्त करनेकी इच्छा, इन सब इच्छाओंको हम भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं कह सकते। श्री-कृष्णको प्राप्त करनेकी इच्छाका अर्थ है स्वामो, पुत्र, सखा, पति अथवा प्रेमीके रूपमें उनका वरण करना और हसके लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें आत्मसमर्पण कर दें। संसारमें भी यदि हम किसी व्यक्तिका प्रेम प्राप्त करना चाहें तो हमें बदलेमें उसे प्रेमदान करना होगा। हम किसी बहुमूल्य उपहारके द्वारा अथवा अपनी बिद्रूता या सामर्थ्यके चमल्कारमें किसी सबे मित्रको नहीं रिक्ता सकते। यही बात श्रीकृष्णके सम्बन्धमें समझनी चाहिये। विविध प्रकारकी पूजाये अथवा अधिक लागतके मन्दिर इत्यादि बनवानेमें हमें अनेक प्रकारके फलोंकी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु उनसे हम भगवान्को प्राप्त नहीं कर सकते।

भगवान् पूर्ण स्वतन्त्र हैं। संसारकी कोई भी शक्ति, यहाँतक कि मन्त्रशक्ति भी उन्हें बरीमूत नहीं कर सकती। अनन्य-भक्ति और उससे भी ऊँचे दर्जेकी प्रेम-भक्तिके पाशमें वे बँध जाते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—

वर्णाकुर्वन्ति मां भक्ता: सत्पति सत्स्वामो यथा ।

—अर्थात् जिसप्रकार एक सती जो अपने सत्तरित्र पतिको वशमें कर लेती है उसी प्रकार भक्त मुझे वशमें कर लेते हैं।

भगवान् भक्तोंके हैं और भक्त भगवान्के (हम भक्तमें भक्त हमारे)। श्रीकृष्ण ही सनातन सत्य है और सब मिथ्या हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कोई कविकी कल्पना नहीं है, वे प्राचीन भारतवर्षके एक बीर दोषा ही नहीं ये चिनको अन्धश्रद्धालु आन्तिक कोण ईश्वर मामकर पूजने ज्ञान हैं, वे ह्यापरमुगके भक्तमें हस संसारमें प्रकट होते-

बाले अबतार ही नहीं ये वे तो साक्षात् परमेश्वर हैं एवं नित्य किंशोररूपसे अपने नित्यधारममें सकारांत तथा सखियोंके साथ नित्य विहार करते रहते हैं। उनकी मुरलीका निमाद औंकार-ज्ञानिसे भी महान् है और उनके कृष्णीय कलेवरकी नील कम्बिल उस नील ज्योतिसे भी अधिक प्रकाशयुक्त हैं जिसका योगीजन समाधिमें अपने हृष्य-भग्निदरमें दर्शन करते हैं।

यूरोपीय विद्वान् अले ही श्रीकृष्णको न मानें और इसके साम्यवादी वह कहते रहें कि ईश्वरके अस्तित्वमें विद्यात करना जनताकी उड़ातिमें रोढ़े अटकाना है। उनके इस कथनका क्या मूल्य है? साँचको आँच क्या है? लोग परमाणुओं पूर्व वहश्चोंके बारेमें तथा पूँजीवाद एवं भ्रमवादके सम्बन्धमें कितनी ही विद्वापूर्ण बातें करें, उनमें सर्वमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं आ सकता। एक बार प्यारे श्रीकृष्णकी छाँकी मिल जानेपर ये सारिके-सारे बाद भूलमें भिज जाते हैं। ये विद्वान्त अपनी इष्टिमें सत्य हो सकते हैं, किन्तु वास्तविक सत्यका इनके अन्दर आभास भी नहीं है। इस स्वप्नमय जगतमें यदि कोई वस्तु सत्य है तो वह एक श्रीकृष्ण ही है। जो लोग इनिहासकी सन्देहपूर्ण कथाओं अथवा निरे प्राकृतिक ज्ञान अथवा विज्ञानवादोंके पीछे उनमें सुँह मोड़ लेते हैं वे सोना बेचकर बदलमें भूल लेते हैं।

उपर इम जो कुछ कह आये हैं उसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जिन लोगोंने श्रीकृष्णके चरणोंमें आरम्भ-समर्पण कर दिया है वे इस बातको भलीभांति जानते हैं। किन्तु फिर भी यह संसार कितना ठोस, पूर्व सत्य प्रतीत होता है। ओ, पुश्ट एवं धन सभी मिथ्या हैं परन्तु इसें ये वास्तविक दिल्लायी देते हैं। श्रीकृष्ण ही एकमात्र सत्य है, चाहे अधिकांश लोग उन्हें केवल कल्पना ही समझते हों। यही तो उनकी माया है। जिसे अघटन-घटनापटीयसी अर्थात् असम्भवको भी सम्भव बना देने-बाली कहा गया है। उनकी तथा उनके भक्तोंकी कृपासे ही इस उस मायाके पर्देको खीरकर वास्तविक सत्यको प्राप्त कर सकते हैं।

भगवान्को प्राप्त करनेमें ही पूर्णता है। प्रेम ज्ञानसे ऊँचा है और वास्तवमें भगवान् ही प्रेमके स्थानी एवं

योग्य पात्र है, क्योंकि भगवान्के अतिरिक्त जितने भी हमारे प्रेमास्पद हैं वे सभी एक-न-एक त्रिन हमें छोड़कर छले जायेंगे या हमारा प्रेम उनके साथ अन्ततक नहीं निभ सकेगा। प्रेम प्रेमास्पदकी सेवा करना चाहता है, परन्तु वास्तवमें भगवान् ही हमारे मेघ बननेके बोग्य हैं।

ज्ञानियोंकी मुक्तिका गौरव उन्हींको मुबारक हो ! इसप्रकारकी मुक्तिकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी दासता कहीं अधिक मधुर है। अपनी आत्माका प्रभु बननेकी, अपने भावयका विद्याता बननेकी व्यों विन्ता करते हो ? क्या श्रीकृष्णमें बदल कोई प्रभु हमें मिलेगा ? कैवल्यकी इच्छा व्यों करते हो ? साधन करनेसे कैवल्यकी प्राप्ति अवश्य हो सकती है किन्तु श्रीकृष्णके संगको छोड़कर अकेला (केवल) रहना कौन प्रसन्न करेगा ? श्रीकृष्णका प्रेम न्यगं और अपवर्गके सारे सुखोंमें बदलकर है। यदि श्रीकृष्णका प्रेम प्राप्त हो गया तो किर इस संसारमें बार-बार जन्म लेनेमें भी क्या आपत्ति है ? उस प्रेमी प्रभुकी सेवाको छोड़कर अपनी मुक्ति बाहना, भक्तोंकी इष्टिमें यही सबमें बड़ी विपत्ति है। भक्त इसी विपत्तिसे सोच चाहते हैं।

श्रीभगवान्ने अपने श्रीमुखमें फरमाया है—

साकेष्यसार्द्धसामीप्यसारूप्यकृत्वमध्युत ।

दायमानं न गृह्णन्ति विना मर्त्सदनं जनाः ॥

अर्थात् मेरे भक्त मेरी सेवाको छोड़कर साकेष्य, सार्द्ध, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य इन पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे किसी भी मुक्तिको ग्रहण नहीं करते, जाहे मैं स्वयं उन्हें उसका दान करूँ ।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने निष्पलिखित श्लोकमें इसी भावको प्रदर्शित किया है—

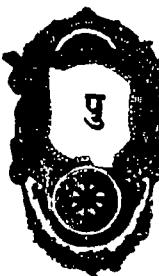
न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीशा कामये ।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्विकिरहेतुकी त्वयि ॥

— अर्थात् हे जगदीश ! मुझे न तो धनकी हृष्ण है, न मित्रोंकी, न सुन्दरी जीकी चाह है और न विद्वान्की। मेरी तो केवल यह अमिलाप्त है कि जन्म-जन्मान्तरमें मेरी तुम्हारे अन्दर हेतुरहित भक्ति वशी रहे।

ईश्वर क्यों और कौन ?

(केनक—दा० श्रीभगवानहासिंह॑ पृष्ठ ५०, डी० लिट्, काशी)



शत-दर-पुष्ट, इजारों वर्षसे मनुष्योंमें
ईश्वरकी चर्चा होती आती है। पशुओं-
का हाल कहना कठिन है पर मनुष्य
तो स्वाव ही कोई ऐसा होगा, पढ़ा
या अनयद, गैवार या नागरिक, जो
ज्ञान भी सोचने-विचारने योग्य सथानी
अवस्थाको पहुँचकर, कमी-न-कमी
कुछ-न-कुछ, ईश्वरकी चर्चामें न पढ़ा
हो और इस विषयमें कोई राय न रखता हो। किसी-किसीने
निश्चय कर लिया है और वह वह ज्ञातसे कहता है कि
ईश्वर-पदार्थ कोई नहीं है। अधिकांश मनुष्य मानते हैं कि
ईश्वर-पदार्थ कुछ है। पर क्या है, इसमें, 'मुख्य बुख्ये मति-
मिका' ! निर्जीवबद अरमा, परम्पर, मणि, धारुसे आरम्भ करके
सभी वृत्तादि, जन्म, मरण, कूर्म, विविध चतुष्पदादि,
मानवावतारादि, सूर्यीदिमें होती हुई, निराकार चतुर्पर्यन्त
पदार्थोंको मनुष्यकी तुलिने ईश्वर मान रखता है।

इस सब वास्तवाल, तर्क-वितर्क-कुर्तर्क-जाल, महा
क्षण्ड, माध्यापाणी, सरदर्दमें भादमी पढ़ता ही क्यों है ?
ख्वाहमख्वाह खेसदकी हुआत क्यों कोई समझदार भादमी
मोहल्ले ? ईश्वर हो या न हो, इसको क्या मतलब ?
सुनते हैं—सच या झूठ यह ठीक मालूम नहीं—सस
देशमें बोल्हेविक शासनने इस पर्याय, अपि च दुर्घट, अपर्याय
चर्चाको बन्द ही कर देनेका हुस्त दे दिया। पर यह भी
सुनते हैं कि चर्चा बन्द नहीं हुई, ओग मरने-मारनेको
तैयार होते हैं, पर इस चर्चाको नहीं छोड़ते। तो अपर्याय
कुछ कारण होगा। अच्छा, रसमें कारण हो या न हो,
इसको इससे भी क्या काम ? हमें यह देखना चाहिये कि
इसमें ईश्वरमें भी कोई कारण है या नहीं, जो बद्धात्
इसको विवर करता है कि इस प्रभापर विचार करें कि
ईश्वर है या नहीं ?

इस विषयपर पशु प्रायः नहीं विचार करते, ऐसा
आम पढ़ता है, निश्चयसे तो नहीं, पर सम्भवतः। मनुष्यके
वचे भी नहीं विचार करते। यह अपनी ही स्वृतिसे
तिक्त होता है। जब इस बहुत कोरे थे, इस और अबान-

नहीं देते थे। न अपने सामने इस समय जो छोटे वचे
देख पढ़ते हैं के अपने मनसे इसकी चर्चा आरम्भ करते
हैं ? वर्तोंकी ज्ञान बात है ? वे तो अपने भासा-पिताओं
दी खेलमें मग्न होकर भूल जाते हैं !

तथैव सूतः परिणालिताल्पुया

तथैव दित्वा स्वसुखं विर्विताः ।

श्रीब्रह्मा जननी विस्मरन्ति ॥

कुञ्जत्वार्तास्तु तुः स्मरन्ति ॥

'उसीने जम्य दिया, उसीने पाढ़ा, उसीने अपना
सर्वस सुख त्यागकर पोसा, उसीने खेलकी सामग्री दी,
उसीको खेलकी तुलमें बिल्कुल भूल जाते हैं, पर जब
फिर भूल लगती है, प्यास लगती है, तब पुनर्बार
उसीको याद करते हैं, उसीके पास दौड़े जाते हैं।'
एक प्रकार और है। माँसे रुठकर भी वचे
उससे हट जाते हैं और उसको तुरा-भला भी कहने
लगते हैं। पर इसका अर्थ न्यू ही यह है कि चाहे
सत्काल दुःख और रोकसे ईश्वरको 'नाम्येव' भी कहने
हों, हृष्यमें तो उनके वह वसा ही है और उसमें वे
बहुत आशा रखते हैं !

विसका मन ईश्वरके विचारमें, ईश्वरकी और नहीं
लगा है, उसको सिल्काना-समझाना उचित है। यदि सचि
ज्ञान जाय तो बहुत अच्छा है। ऐसे वर्तोंको बतलाया
जाता है कि यह पीने-खानेके पदार्थ हितकर हैं। पर यदि
उसको भूख-प्यास नहीं है, भइ-पेचसे हटता है, तो ज्ञाव-
दर्शकमें खिलाना-पिलाना बही भूल है। अधिक शृणा और
रोग ही ऐसा हींगे। बलाकारेय ईश्वरमें विज्ञान कराने-
का यह भी ऐसी ही भूल है।

सदान् बलकालर्थलक्षदान् मनुरब्रह्मीत् ।

—जब भूख-प्यास औरोगी सब आप ही माँ-बापके
पास दौड़े आवेगे, 'ज्ञान श्रीजिये' 'पाली श्रीजिये' ।

यदि संसारमें कुःस न हो, सृष्टु न हो और मनुष्य-
को कुःस और सृष्टुका भय न हो, उससे वचेनकी इच्छा
न हो, अपवा विना परकोक और ईश्वर माने यह मन
हूँ ही सके, यह इच्छा पूरी ही सके, तो ईश्वरका कोई

प्रयोगन मनुष्यके लिये न रह जाय और कोई किसी ईश्वरको न माने। अभाववश कहिये, प्रकृतिस्वभाववश कहिये, प्रयोग मनुष्यको दुःख भी होता है, मरण भी होता है, दोनोंका भय भी होता है, उससे बचनेकी इच्छा भी होती है और आत्मनितक बचावका कोई अलौकिक उपाय नहीं हीमिलता। इसलिये विश्व होकर पृथक् किसी ईश्वरको मानना और उसकी शरण लेना पद्धता है।

तबसे किसीको ईश्वरमें विश्वास करा देना यदि सम्भव है, तो भी वह तभी सम्भव है जब उस तरफ़को सुननेके लिये कोई शुश्रूषा जिज्ञासु हो। जिसको 'श्रोतुं इच्छा' 'ज्ञातुं इच्छा' ही नहीं उसके सभीप ईश्वरको कोई कैसे सिद्ध करेगा?

नायमन्मा प्रवचनेन प्राप्तः । नैव तकेण मतिरापनेया ।

अपने आप जब—

कालचक्र वहत्यस्मिन् घोरं सनतनामिनि ।

—उस जीवका समय आ जायगा और वह दुःख और शोकमें आकान्त पीड़ित होगा, तब व्यय ईश्वरकी लोकामें व्यग्र और एकाग्र होगा और तब वह तक सुनेगा और करेगा और ईश्वरको अवश्य पावेगा।

आत्मे जिज्ञासुरर्थार्थे मजते लभते च तम् ।

X X X

आगत होइ खोइ सम्पद सब परम अर्थ अरथावै ।

जिज्ञासा करि ज्ञान पाइ तब सब ज्ञामें मोहि भावै ॥

किमप्रकारके ईश्वरको पावेगा? यह उसके दुःख और भयके प्रकार तथा उसकी बुद्धिके विकासकी काषायप आप्रित है।

अप्यु देवो मनुष्याणां दिवि देवो मनीषिणाम् ।

बालानां काहुओहु वृष्ट्यात्मनि देवता ॥

बालकोंको काठ और यिही आदिके लिलौनोंमें देवता-बुद्धि होती है। उचित ही है, व्यासे यह भाशा क्यों की जाय कि वह रेखागणित, शीजगणितके प्रम्य एहे? पुण्य पवित्र अद्वाली नदीमें, स्वच्छ सरोबरमें, साधारण मनुष्योंको देवता-बुद्धि होती है। अच्छा ही है, नहानेसे शरीर स्वच्छ और मन प्रसन्न होता है, यदि तक शुद्ध हो और शुद्ध रखना जाय तो शरीर और मन शुद्ध होनेसे अस्तरः बुद्धिका विकास अधिकाधिक होता है। इससे पृथक् दर्जे जैसे ज्ञानेसे, मनीषी विद्वान् लेरोके देव आकाशमें

सूर्य, चन्द्र, तारा, महाप्रादि मिलते हैं। हीक है, अमन्त्र आकाशमें भरे हुए अग्नित 'ब्रह्मकि अण्डों' गोदांका ध्यान-ज्ञान करनेसे बुद्धिका भारी विकास होता है। अन्तमें और भी विकास होनेसे उस काषायप जीव पहुँचता है, जब उसको यह ज्ञान उदय होता है कि यह अन्त ब्रह्मार्थ और काल और आकाश सब चेतनाके, भेरे, 'मैं' के, आत्माके भीतर है और आत्मा ही सर्वव्यापक, सर्वाधार, सर्वज्ञ 'सर्वेभूताणां परमो महेश्वरः' है। सब जीव साक्षात् नहीं तो परमपर्या इसी आत्मबोधकी ओर चले जा रहे हैं।

मम वर्त्मनुवर्तनं मनुष्याः पार्यं सर्वेषाः ।
येऽप्यन्वदेवता भक्ता जगन्ते श्रद्धान्विताः ॥
त्रेतापि मायेव कौन्तेय यजन्त्यविवृप्तेकम् ।
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्त्यैव भजाम्यहम् ॥
केवित् कर्म बदन्त्यर्न, स्वभावमितरे जनाः ।
एके काले, परे दैवे, पुंसः कामयुतार्पे ॥
पतमेके वदन्त्यपि, मनुमन्ये, प्रजापतिम् ।
इन्द्रेभेके, परे प्राणं, अपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

ब्रैह्मव, आत्मैव, अहमव, सर्वाणि नामानि, सर्वाणि रूपाणि, सर्वाणि रूपाणि विमर्शि ।

वाहे किसी नामपर अन्तमें बुद्धि आकर अटक जाय, वही नाम इस अन्तिम मूल पदार्थका है। परिणाममें 'हा आह् इवोल्यूशन्' 'चांस' 'फोल' पेसे शब्दोंपर कुछ लोग सन्तोष कर लेते हैं। बहुत अच्छा। जिस नामसे सम्मोह हो जाय वही तुमको मुकाबल हो, वही 'गोह' है, अहाह है, बहा है, परमात्मा है।

पर योगा गहिरा सोचनेसे जान पड़ता है कि इन सब नामोंको पहिने—धोकेवाला एक अकेला 'मैं' ही—आत्मा ही है। यह व्यक्ति गुरु माननेयोग्य है या नहीं, यह बाक्य ब्रह्मवाक्य है या नहीं, वेदको मानना या बाह्यविलिको मानना या कुरानको मानना या सबको मानना, यह सत्य है या असत्य है, अन्ततः ईश्वर है या नहीं है, या है तो क्या है—इसका निर्णयता जो हो, वही न सर्वोक्तु ईश्वर होगा? तो वह कौन है?

गुरोर्मेष्यत्वनिर्णेता त्वं, ततोऽसि गुरोर्मुकः ।
सत्यासत्यविनिर्णेता त्वं, ततोऽसि तु सत्तमः ।
ईश्वरात्मित्वनिर्णेता त्वं, ततोऽसि परेश्वरः ॥

अहं ब्रह्मस्मि, तत् त्वं चासीसेव श्रुतिशासनम् ।
तत् साक्षाद्विचारणं सुसूक्ष्मेणानुमूलयताम् ॥

इसके निर्णयों तो तुम ही हो, मैं ही हूँ । 'मैं' अहम्, 'तुम' त्वम्, ही है । सब 'मैं' यों मैं, सब 'तुमों' मैं, जो पदार्थ अनुसूत है, जिसके बदले ही, जिसके हेतुमे ही, सब अपनेको 'मैं' और दूसरेको 'तुम' कहते हैं, जिसके ही बदले अनपढ़ आदमी भी जब चाहता है तै कर लेता है कि यह मज़बूत सही है और यह ग़लत, मनमाने कभी हिन्दूमे सुसलमान या हसाई, या ईसाई सुसलमानमे किर आयसमाजी हिन्दू बन जाता है, अपने आप निर्णय कर लेता है, कि बैद्र और पण्डित माननेयोग्य हैं, या कुरान और मुहा, या बाहविल और पाद्यी—वही पदार्थ, सबके भीतर भी बैठा, सबके बाहर भी भरा, अन्तिम

निर्णयोंता परमेश्वर है । वही पापकर्मके बदले दुःख और पुण्यकर्मके बदले सुख देता है ।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददतीति कुबुद्धिरेता ।
स्वयं इतं स्वेन फलेन युध्यते
शरीर है नित्यर यत्वया इतम् ॥
परस्परभयात्केचित् पापाः पापं न कुर्वते ।
राजदण्डमयात्केचित् यमदण्डमयात्परे ॥
न यमं यम इत्याहुरात्मा वै यम उच्यते ।
सर्वेषामेव दण्डनामात्मदण्डः परः स्मृतः ।
यतस्तु सर्वदण्डनामात्मा मूलप्रयोजकः ॥
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्तं पत च ॥

ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है

(लेखक—म्वामीजी भांभोलेशावाजी)

ईश्वराराधनं चर्मं ईश्वराराधनं धनम् । ईश्वराराधनं शानं ईश्वराराधनं परम् ॥
यस्मिन्नलिंयं स्थितं विश्वं य एको विश्वकारणम् । यस्मिन्नलिंयते विश्वं तमीश्वर भजाम्यहम् ॥



यथि ईश्वर सर्वत्र, सर्वदा सर्वमें
सर्वथा विराजमान है अथवा यों
कहना चाहिये कि मर्व ईश्वर ही
है, ईश्वरके मिवा अन्य कुछ नहीं
है । श्रुति कहती है कि निश्चय यह
सब ग्राह ही है । भगवानका गीतामें
वचन है कि यह सब वासुदेव ही
है । युक्ति भी है कि कारण विना कोई कार्यं नहीं होता,
तब इतने बड़े नियमित जगत्का कारण ईश्वर अवश्य है ।
इसप्रकार श्रुति, स्वृति और युक्तिमें ईश्वर सिद्ध है, फिर
भी सब मनुष्य ईश्वरको नहीं जानते, कोई विरला ही
ईश्वरकी कृपासे और गुह-शास्त्रकी सहायतासे ईश्वरको
जाननेमें समर्थ नहोता है । ईश्वरका न जानना सब अन्योंका
कारण है और ईश्वरका जानना सब अन्योंका विवरण करके
परम शान्ति प्राप्त करानेवाला है । जो भाग्यशाली
ईश्वरको जान जाता है, उसके लिये समल विश्व शान्तिमय
हो जाता है, न उसका कोई शान्त होता है न कोई मित्र !
उसके लिये सभी समाज होते हैं । न वह किसीसे राग

करता है और न किसीसे द्वेष । वह सबको समाज ही
प्यार करता है । सब मज़बूत उसके लिये एक हो जाते हैं,
वह जानना है कि सभी ईश्वरकी ओर ले जानेके मार्ग हैं,
इसलिये छोटा-बड़ा कोई नहीं है, सब समाज ही ईश्वरकी
आज्ञा है । शास्त्रोंमें भी उसे खेद प्रसीत नहीं होता, वह
समझता है कि सब शास्त्र भिन्न-भिन्न युक्तियोंमें उसी एक
जगतीश्वरके प्रदिपादक हैं । ब्राह्मण आदि वर्ण और
व्रह्मचर्यादि आश्रमोंमें भी उसकी इष्टि समाज ही होती है,
उसका निश्चय होता है कि बर्णाश्रम-व्यवहारमें भिन्न-भिन्न
दीर्घते हुए भी सबका पर्यावरण एक ईश्वरके जाननेमें है,
इसलिये अपनी-अपनी योग्यता और अपने-अपने अधिकारके
अनुसार सभी अच्छे हैं । जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश क्रममें
त्रिगुणी, मत्रिगुणी और तमोगुणी होते हुए भी और
अपना-अपना कार्य उत्पत्ति, स्थिति और क्षय करते हुए
भी अपने ही देश हो जाते हैं, क्षणोंकि वह सब देशोंमें
अपने आत्मा एक ईश्वरको ही देखता है, इसलिये परम

शान्तिका अनुभव करता है। ईश्वरको न जाननेवालेका निष्ठय इससे विपरीत होता है; वह मज़हबों, शास्त्रों, वर्णांश्रमादियें भिजाता देखता है और ऐसे देखनेके कारण किसीसे राग करता है, किसीसे दृश्य करता है, किसीको शत्रु समझता है और किसीको भिन्न मानता है; इसलिये वह सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा अशान्त ही रहता है। अपने मज़हबकी प्रशंसा करता है, दूसरोंके मज़हबोंकी निनदा करता है; अपने शास्त्रोंको प्रमाण जानता है, दूसरोंके शास्त्रोंको अप्रमाण मानता है, अपने वर्णांश्रमको उत्तम मानता है, दूसरोंके नीच मानता है अथवा वर्णांश्रमोंको मानता ही नहीं, न्यवधन्द होना श्रेष्ठ समझता है। अपने देशको देश और वहाँके रहनेवालोंको देशी समझता है। दूसरोंके देशको विवेशी और वहाँके रहनेवालोंको विवेशी समझता है। इसप्रकार ईश्वरको न जाननेवाला भेददर्शी सर्वदा दुखी रहता है और ईश्वरको जाननेवाला अभेददर्शी सर्वदा सुखी रहता है। ईश्वराराधनामें ईश्वर जाना जाता है, इसलिये ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है। इसीमें पुरुषका अर्थ है।

ईश्वराराधना पुरुषार्थ है परम्परु ईश्वरको जाने बिना ईश्वराराधना नहीं हो सकती और ईश्वरका जानना ईश्वरको जाने बिना नहीं हो सकता। बहुत-से भाई ईश्वरको मानते ही नहीं, तब ईश्वरका ज्ञान होना तो उनके लिये असम्भव-सा ही है, ईश्वरका सामान्य ज्ञान हुए बिना ईश्वराराधना नहीं हो सकती और ईश्वराराधना बिना पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, पुरुषार्थ सिद्ध हुए बिना दुःखों निवृत्ति नहीं हो सकती। ऐसे ईश्वरको न माननेवालोंको दुःख-सागरमें डूबते हुए देखकर वेदवेता उनपर कहणा करते हैं और उनको शोक-सागरसे पार करनेके लिये अनेक युक्ति-प्रयुक्तियोंसे ईश्वरका स्वरूप, ईश्वराराधनकी रीति और उसका कथ समझते हैं। जो श्रद्धालु भगवान्याजी उनके उपदेशको सुनकर उसका अनुकरण करते हैं, वे देव-संबंध अवश्य संसार-सागरसे तर जाते हैं और जो अश्रद्धालु, दुर्भाग्य उनके कथपर भ्यान नहीं देते, वे अनेकों वन्मतक अपनी कृतज्ञानाका दुःसह भोगते रहते हैं।

इस देवताओंके आदेशका सार शीखेकी व्याख्यायिका-द्वारा बिहासुधोंके हितार्थ दिलाकाते हैं और सब भाई-बहिनोंको सुनुदि देनेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं, ज्योंकि ईश्वर-हृषा बिना सुनुदि प्राप्त महीं होती और

सुनुदि प्राप्त हुए बिना कोई अपना हित-सम्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता, ऐसा हृद और विद्वान् पुरुषोंका निश्चित मत है।

पाँच पञ्च-संवाद

ईश्वरशरण—मित्रो ! काही घटा आकाशमें छायी है, मानो देवराज इन्द्रने दैस्योपर करी चढ़ाई है। अवाणिका सुन्दर है महीना, मैंह पढ़ रहा है मीना-झीना। शीतल, मन्त्र, सुगंध वरन चल रहा है, चलल मनको कर अक्षय रहा है। बिहासोंका मत है कि जहाँ पञ्च वहाँ परमेश्वर। यथापि ईश्वर सर्वत्र है परन्तु जहाँ पाँच पञ्च होते हैं, वहाँ ईश्वर प्रकट हो आता है। इस सब मित्रकर पाँच मित्र हैं, आओ, एकान्तमें बैठकर ईश्वरकी चर्चा करें। ईश्वरचर्चा करना ही मनुष्य-जन्मको सार्थक करता है, भोग भोगनेके लिये तो एक कम चौरासी लाल योनियाँ हैं ही, भगवाचर्चा तो केवल मनुष्य-योनिमें ही हो सकती है। इसीलिये मनुष्य-जनीर प्राप्त हुआ है। इस मनुष्य-शरीर-की स्वर्गके देवता भी वास्त्वा करते हैं कि हमको मनुष्य-शरीर मिले, तो इम सर्वदाके लिये अमर करनेवाले भगवाचर्चारूप असृतका पान करें। जिन भगवान् अधिकारियोंको ईश्वरके चरणकम्लके रजका स्पर्श हो जाता है, वे न स्वर्गकी हङ्कारा करते हैं, न चक्रवर्ती राज्य चाहते हैं, न अणिमार्दि देशर्थकी वाम्प्ता करते हैं और न रसातलके दिव्य भोग उनको रखते हैं। वाम्प्ते पदतकी उन्हें चाह नहीं होती, तब अन्य पदार्थकी तो बात ही क्या है? भगवाचरणप्रेमो मोक्षकी भी भूलकर चाहना नहीं करते, देशा बिहासोंका निश्चय है। जहाँ भगवाचर्चा हो, वह देश अन्य है, जिस कालमें भगवत्-कथा कहने या सुननेमें आये, वह काल पावन काल है। भगवत्-कथाके श्रीता और वत्सलोंको हङ्कारा बिना ही सर्व वाम्प्तिक वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। जितना समय भगवान्के गुणानुवाद करनेमें अवृत्ति हो, वही समय जीवनरूप है, नहीं तो मरणरूप ही है। इसलिये आप सबने जो कुछ ईश्वरके विषयमें निर्दर्श किया हो, कम-कमसे कहिये।

नयनसुस—भाई ! मेरी समझमें तो ईश्वरका नाम-ही-नाम है, असलमें ईश्वर-बीधुर कुछ है नहीं। जैसे कोई कहे कि सृगत्यानुवादीमें खान करके, गम्भीर-भगवत्-कथाके चम्दनका सिलक लगाकर, आकाशके पुरुषोंकी माला पहिनकर, राशन्तर-गका भगुच लेकर, गधेके सींगोंका

अनुच्छर वाय चढ़ाये हुए यह बन्ध्याका उत्र जाता है । यह बन्धन कहनेमात्र ही है, इसका अर्थ कुछ नहीं है, इसी प्रकार ईश्वर वायीसे कहनेमात्रका है, बस्तुतः कुछ नहीं है । भीरु मुख्योंने उसका नाम ले-लेकर बातका बतंगद वा राहिका पहाड़ बना दिया है अथवा शृण्ठ-भृतका बालकका हीआ न होता हुआ भी होता-सा कर दिया है । ईश्वर होता तो दिलायी न देता ? सबको नहीं, तो किसीको तो दिलायी देता ? आजतक किसीने ईश्वरको नहीं देखा, इस-लिये ईश्वर है ही नहीं । ईश्वरको बनानेवाले वेद स्वार्थी आद्योंके गपोंहैं, पुराण भंग पी-पीकर ऋषि-मुनि कहानेवाले, तुनियोंको बहानेवाले भूतोंके लिये हुए हैं । मेरी समझमें तो उनमें कुछ भी सार नहीं है । ईश्वरका तो मुझे नामतक नहीं सुहाता, ईश्वरका मानना ही सारी अब्दनितिकी जड़ है और यही हमारी उपतिमें आढ़ है । मैं तो ऐसा समझता हूँ, किर भी आप सब आपनी-आपनी दृष्टकथा कहिये, मैं भी सुनता हूँ । चतुरोंने जो कुछ सीखा है, मूँह पुरुओंसे ही सीखा है, आपकी बातोंमें से भी कुछ-म-कुछ सार तो मैं लिकाल ही लूँगा । आपलोग कहिये, प्रेमसे कहिये, मैं ध्यान लगाकर सुनता हूँ और आपकी युक्तियुक वात माननेको भी रैंयार हूँ । अच्छा, आरम्भ कीजिये, अुतिप्रकाशकी ! पहले आप ही आपनी बांसुरी बजाइये ।

श्रुतिप्रकाश—भाइयो ! श्रुति भगवतीपर मुझे पूर्ण विद्यास है, अति भगवतीसे ईश्वरके विचयमें मुझे जो शिक्षा मिली है, उसमेंने जो कुछ समरण है, मैं आपके सामने बर्दजन करता हूँ, सुनिये—‘ईशावास्त्व’ श्रुति भगवती कहती है—यह स्वावर-जंगामरूप सर्वं जगत् अग्निः-निमित्त-उपादान-कारणरूप ईश्वरसे व्याप्त है अर्थात् ईश्वरमें यह जगत् बना है और ईश्वरने ही जगतको बनाया है, उस ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त बनानी पूर्ण कर रखा है । जैसे कि उपादान-कारणरूप स्मृतिकाने घटशरावादि कार्यको व्याप्त कर रखा है, वैसे ही ईश्वरने इस जगत्की व्याप्त कर रखा है । अथवा जैसे राजाकी दृष्टिद्वारा नगरादि व्याप्त हुए होते हैं, वैसे ईश्वरसे जगत् व्याप्त किया हुआ है । अथवा जैसे मनुष्योंके शरीर कल्पादिसे व्याप्त होते हैं, वैसे ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त कर रखा है । अथवा जैसे सुखासित पुरुष आपनी सुगन्धमें जलको रमणीय बनाता है, वैसे ईश्वरने आपनी स्मृतिसे इस जगत्को व्याप्त करके रमणीय बना

दिया है । अथवा जैसे प्रहृष्टिकी कारणरूप बासमार्द जीवोंके मनको व्याप्त किये हुए हैं, वैसे अन्तर्यामी ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त कर रखा है । यह ईश्वर बायु आदि स्पसे बलता है, स्वरूपसे नहीं बलता, क्योंकि अक्षिय है । यह ईश्वर आदिद्वानोंको दूरसे भी दूर है, करोड़ों बड़ों भी दूर है उसे पा नहीं सकते और किंद्रानोंके लिये पाससे भी बास है, क्योंकि यह सबका प्रथयामादा है । यह ईश्वर इस चराकर दृष्टके भीतर है और बाहर भी है । जो इस ईश्वरको सब भूतोंमें और सब भूतोंको ईश्वरमें देखता है, वह अभेदवर्द्धी पुरुष किसीकी विनाश अथवा स्तुति नहीं करता । उस अभेदवर्द्धीको न शोक होता है, न भोग होता है । जो इस ईश्वरको वही जानते, वे भरनेके पश्चात् अनुचकाररूप तमसे चिरे हुए लोकोंको प्राप्त होते हैं ।

साम्बेदकी ‘केन’ भूति कहती है—यह ईश्वर श्रोत्रका भी श्रोत्र है ईर्धात् ईश्वरके सामर्थ्यसे श्रोत्र-इन्द्रिय अपना शब्द प्रहण करनेमें समर्थ होती है । यह ईश्वर मनका भी मन है अर्थात् मन जो सर्व विषयोंको उपलब्ध करनेका सामाचारण कराता है, वह मन ईश्वरकी शक्तिने अपने विषयों-को उपलब्ध करनेमें शक्तिमान् होता है । यह ईश्वर वायीकी वायी है अर्थात् वागिनिद्रिय ईश्वरके अनुप्रदेश सर्व उचारण करनेका व्यापार करती है । यह ईश्वर बक्षुका चक्षु है अर्थात् नेत्र-इन्द्रिय ईश्वरकी सहायतामें अपने विषय स्पष्टको ग्रहण करती है । भाव यह कि, श्रोत्रादि-की प्रहृष्टि जो अपने-अपने विषयोंमें होती है, उस प्रहृष्टिका कारणण भूत ईश्वर उसने विलक्षण चेतन-स्वरूप है, जैसे कि बकान आदिका बनानेवाला राज भकान आदिसे भिज होता है । भीरु पुरुष देह और श्रोत्रादि इन्द्रियोंमें आपमुद्दित स्वागतकर इस ईश्वरका आरम्भरूपसे साक्षात् करके असृत अर्थात् मरणाद्विषत्—अमर हो जाते हैं, हन्त्र, बायु और अग्नि आदि समर्थ देवता भी इस समर्थ देव ईश्वरके अधीन हैं, उसकी सहायता विना कोई किञ्चन् भी करनेमें समर्थ नहीं है ।

‘कठ’ श्रुति कहती है—‘३० यह ईश्वरका नाम श्रेष्ठ आलमन है, परम आलमन है, इस आलमनको जानकर ब्रह्मलोकमें महान्तराको प्राप्त होता है । यह जित्य जैतन्य-रूप आज्ञा न जन्मता है, न भरता है, यह कभी उत्पत्त नहीं हुआ है, आज है, जित्य है, शाश्वत है, पुराण है, वरोरके भरनेसे यह नहीं भरता । जो इसमें हम्मा जानी

हनम-किंवाका कर्ता भानता है और जो इसको इत बानी हनम-किंवाका कर्म भानता है, वे दोनों इसको नहीं जानते; न यह भानता है, न भाना जाता है, यह आत्मा-ईश्वर चरणाणु आदि सूक्ष्म से भी भलि सूक्ष्म है और आकाशादि महान्‌ये भी आवान्त महान्‌ हैं, समस्त भूत्योंकी उद्दिष्टपुरुष गुहामें रिथत है अबोद्ध दुखिसे जाननेमें आता है। इस आत्माकी महिमाको निष्काश वुल्फ अद्वाकरणकी प्रसादसे देखता है और देखकर चीतशोक हो जाता है यानी शोकमें लक्षित जन्म-मरणादिमें रहित हो जाता है। यह आत्मा जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें बैठा हुआ ही दूर चला जाता है यानी साक्षीरूपमें नियत रहता है और सुरुषि-अवस्थामें सोता हुआ सर्वत्र चला जाता है यानी विशेष ज्ञानके अभावसे सामान्य ज्ञानरूपमें सर्वत्र जाता हुआ-सा कहलाता है। यह अनिष्ट शरीरोंमें अशरीररूपसे नियत है, इस महान् विभु, आत्मा, ईश्वरको जानकर धीर पुरुष कर्तृत्वादिष्टपुरुष बन्धमें रहित हो जाता है, इसलिये शोकके कारण अज्ञानके निहृत हो जानेमें शोकरहित हो जाता है।

‘प्रभ’ श्रुति कहती है—जैसे पर्वी वृक्षके घोंगलेमें सम्प्रतिष्ठित होते हैं—भलो प्रकारसे रहते हैं, इसी प्रकार इस स्वर्यप्रकाश ईश्वरमें स्थूल, सूक्ष्म, पृथिवी, जल, नेत्र, वायु और आकाश सम्प्रतिष्ठित हैं। चक्षु द्रष्टव्य, भ्रोच भ्रोत्य, आशा आत्मव्य, रस रसवित्य, स्वक् स्वर्णवित्य, वाक् वक्त्य, इस्त आदात्मव्य, उपस्थ आनन्दवित्य, पायु विसर्जवित्य, पाद गमत्य, मन मन्त्य, दुख बोद्धव्य, अहंकर अहंकरत्य, विज्ञ वेतवित्य, तेज विश्वोत्तिवित्य और प्राण विधारवित्य ये सब इस स्वर्य-प्रकाश आनन्दस्वरूप ईश्वरमें सम्प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी आदि जब प्रणाली नहीं, किन्तु इष्टा, स्थापा, शोता, ज्ञाता, रसविता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता और विज्ञानात्मा पुरुष, ये सभी इसी परमात्मामें सम्प्रतिष्ठित हैं। जो इस आदारहित, शरीररहित, वर्जरहित, शुभ-शुद्ध अवश्रको जानता है, वह परम अवश्रको ही प्राप्त होता है और सर्व एवं सर्वज्ञ हो जाता है।

‘मुण्डक’ श्रुति कहती है—यह ईश्वर दिव्य है, अमूर्त है, पुरुष है, वाहर है, भीतर है, अज है, अप्राप्य है, अमन है, शुभ है और अपने कार्यसे पर जो अवश्र—अव्याहृत है, उससे भी पर है। इसमेंसे प्राप्त, नम, सर्व ईग्निर्वाण,

आकाश, वायु, व्योति, जल और विश्वको भारत करनेवाली पृथिवी उत्पत्त होती है। यह सब भूतोंका अन्तरारमा है, अग्नि इसका सिर है, चन्द्र-सूर्य इसके नेत्र हैं, दिशा ओक्र है, वेद इसकी वाली हैं, वायु इसका प्राण है, विश्व हृदय है और पृथिवी इसके पैर हैं। इससे भुक्तोरूप अग्नि उत्पत्त होता है, जिस अग्निका समिक्ष सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत्य, भूत्यधि और पृथिवी हैं। स्वर्णलोकको गया हुआ जीव सोमसे पर्वत्यमें भानता है, पर्वत्यसे वृष्णिराम पृथिवीपर भानता है, पृथिवीसे ओषधिरूप अवसर्वमें भानता है, अवश्रको पुरुष भ्रष्टव्य करता है, अवसरे बने हुए वीर्यको योचितमें सीचता है, उससे बहुत-सी प्रजा उत्पत्त होती है। अग्नादि चारों वेद, दीक्षा, यज्ञ, ऋतु, दृष्टिणा, संवत्सर, यज्मान और लोक जिनमें चन्द्र पवित्र करता है और सूर्य तपता है, वे सब अवश्र ईश्वरमें उत्पत्त होते हैं। देवता, साक्ष, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान, श्रीहि, यव, तप, अद्वा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विषि समुद्र, पर्वत और नदियाँ सब ईश्वरमें उत्पत्त होते हैं।

‘मायाहृष्टप’ श्रुति कहती है—यह आत्मा नह है, यही सर्व है, यह आत्मा चार यादवाला है। प्रथम पाद जाग्रत्-स्थान है, यहाँ यह बहिःप्रश्न यानी वाहरका जाननेवाला होता है। इसके सात अंग और उच्चीस मुख हैं, स्थूल इसका भोग है और इसका नाम वैश्वानर है। (यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल, पृथिवी और आहवनीय अग्नि ये सात अङ्ग हैं। सिर, चक्षु, प्राण, पेट, वस्त्र, पाद और मुख ये सात स्थान सात अंगोंके रहनेके हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण ये उच्चीस मुख हैं। दूसरा पाद स्वप्न-स्थान है। यहाँ यह अन्तःप्रश्न होता है यानी हृदयमें देलनेवाला होता है। जाग्रत् के समान वहाँ भी इसके सात अंग और उच्चीस मुख हैं। यहाँ यह वासना-मय भोगता है, तैजस इसका नाम है। तीसरा पाद सुषुप्त-स्थान है, जहाँ यह सोता हुआ न कुछ कामका करता है, न स्वप्न देखता है। सुषुप्त-स्थानमें एकीश्वर, प्रश्नानधन आनन्दमय होता है, आनन्दको ही भोगता है, यहाँ यह चेतोमुख होता है; प्राप्त इसका नाम है। यह सर्वेश्वर है, सर्वज्ञ है, अन्तर्दीर्घी है, करम है, सब भूतोंकी उत्पत्ति और नाश इससे होते हैं। चौदा पाद न आद्यःप्रश्न है, न बहिःप्रश्न है, न अभ्यन्तरः

प्रकृत है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञा है, न अप्रज्ञ है, अदृष्ट है, अध्यवहार्य है, अआह है, अलक्षण है, अचिन्त्य है, अप्रपञ्चरय है—सप्तशास्त्रिका अविषय है, एक आत्मा, इस आकारका प्रत्यय यारी अव्यभिचारी ज्ञान ही इसमें सार—प्रमाण है अथवा एक आत्म-प्रत्यय ही इसके ज्ञाननेमें प्रमाण है, वह प्रपञ्चसे रहित है, शान्त है, अहैत है, वह चौथा याद माना जाता है, वह आत्मा है, वह विशेष—ज्ञाननेयोग्य है, जो इसको जानता है, वह आत्माहारा आत्माको ही प्राप्त होता है।

‘तैतिरीय’ श्रुति कहती है—आनन्द ब्रह्म है, ऐसा जानो। आनन्दसे ही निश्चय ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही उत्पन्न हुए जीते हैं, आनन्दमें ही अन्तमें लय हो जाते हैं, यह वस्त्राकी भुग्यमे कही हुई विद्या है, यह विद्या हृदयाकाशरूप गुहामें परमानन्द अद्वैत-स्वरूप ब्रह्ममें समाप्त होती है। जो विद्वान् इसको जानता है, ब्रह्ममें स्थित होता है, ब्रह्म ही हो जाता है।

‘पेतरेय’ श्रुति कहती है—यह ब्रह्म ही हनुम है, यह प्रज्ञापति है। ये सब देवता, पृथिवी, वायु, आकाश, जल और ऊर्ध्वांति, ये पञ्चमहाभूत, ज्ञायुज, अरडज, स्वेदज, उक्तिज, ये चार प्रकारके स्थावर-जङ्गम प्राणी सब प्रज्ञानमें प्रतिष्ठित हैं, प्रज्ञान ब्रह्म है, जो इस प्रज्ञान ब्रह्मको जानता है, वह इस लोकसे उक्तमण करके स्वर्ण-कोहमें—स्वप्रकाशात्मक ब्रह्ममें सर्वं कामनाओंको प्राप्त होकर अमृत हो जाता है।

‘कान्दोग्य’ श्रुति कहती है—यह सद ही सृष्टिके पूर्व एक अद्वितीय था। सब जगत् इसीका स्वरूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह नू है। इस एकके ज्ञाननेसे सबका ज्ञान हो जाता है, जैसे सृष्टिका सत्य है, सृष्टिके कार्य घट-साराधारि वाणीमात्र होनेसे मिथ्या है, जैसे छोहा सत्य है, तलवार, चाकु आदि जोहेके कार्य कथनमात्र होनेसे मिथ्या हैं और जैसे सुवर्ण सत्य है, सुवर्णके कटक, कुरुदण्डादि कहनेमात्र होनेमें मिथ्या है, इसी प्रकार यह सदरूप आत्मा सत्य है और इसका कार्य नामरूप जगत् कथनमात्र होनेसे मिथ्या है।

सब सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता, विद्वान् सुखके लिये हृषिक्ष-संयमादि करते हैं। सुखको ज्ञाना चाहिये। सुख क्या है ? जो भूमा यारी भहान है, वह सुख है, सबमें सुख नहीं है, भूमा ही सुख है, भूमाको

ज्ञानना चाहिये। भूमा क्या है ? जहाँ दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं आनता, वह भूमा है; जहाँ दूसरेको देखता है, दूसरेको सुनता है, दूसरेको ज्ञानता है, वह असृत है और जो असृत है, वह भूमा है। जो भूमा है, वह अस्त्वं यारी चतुषुप्रत्य है, जो इस भूमाको ज्ञानता है, वह स्वराद् होता है और सब लोकोंमें उसका कामकार होता है।

‘बृहदाराशयक’ श्रुति कहती है—इस अचर परमेश्वरकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा बरते हैं। इस अचरकी आज्ञामें स्वर्ग और पृथिवी ढहरे हुए हैं। इसकी आज्ञामें निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक, मास, कर्तु और संवत्सर हैं। इस अचरकी आज्ञामें गङ्गा-यमुनादि नदियाँ हिमाचल-पर्वतमें निकलकर पूर्व दिशाको बहती हैं, इसीकी आज्ञामें सिन्धु आदि नदियाँ पश्चिम दिशाको बहती हैं। इस अचरकी आज्ञामें दानोंकी मनुष्य प्रशंसना करते हैं। देवता अन्य प्रकारसे जीनेमें समर्थ हैं, तो भी यजमानके दिये हुए पुरोहितादिको प्रसन्नतासे प्रहृष्ट करते हैं और अर्यमादि पितर श्राद्धमें दिये हुए पदार्थोंको लेते हैं। जो इस अचरको जानकर इवन करता है, यज्ञ करता है और तप तपता है, वह अनन्त कल पाता है। जो इस अचरको न जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृपया है और जो इसको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह आश्रण है। यह अचर अहृ द्वाकर भी दृष्टा है, अश्रु होकर भी ओरता है, अमत होकर भी मन्ता है, अविज्ञान होकर भी विज्ञाता है, इसके सिवा अन्य दृष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञान नहीं है, इसमें समस्त ब्रह्माशड ओतप्रोत है रजुमें भुजङ्गादिके समान आरोपित है।

हे मित्रो ! यह सचिवानन्दस्वरूप परमेश्वर ही ज्ञानने और देखनेयोग्य है। अबश, मनन और निदिप्यासनरूप आराधनासे ईश्वर ज्ञानने और देखनेमें आता है, ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है—परम पुरुषार्थ है।

नयनसुख—वाह भाई अतिप्रकाश ! वाह ! आपके कथनने तो मेरे छँपेरे हृदयमें प्रकाश कर दिया, मेरे कानोंका मैल निकल गया और मेरी आँखें खुल गयीं ! आप-नसरीखे विद्वानोंका जन्म ही सफल है, मैंने तो हृषा ही जन्म किया ! अच्छा भाई ! स्वतिवद्वम ! आप अपने चारोंहाथी जानगी विद्वान्नाहैं।

स्मृतिशङ्कम्—मित्रो ! यह समस्त चराचर ज्ञात् ईश्वरके अधीन है, ईश्वरकी कृपा ही मनुष्योंका वक्ष है, ईश्वरकी कृपा ही इस जग्म-जग्म, शोक-मोहमय संसाररूप रोगकी घोषित है। विश्वराज महादेवके गुणानुवाद ओच-इन्द्रिय-से सर्वदा सुने, अन्तर्यामी इवमें स्थित ईश्वरका सदा स्पृशन करे, नेत्र-इन्द्रियसे विश्वभावम् पूर्ण ऊपरिका विश्वरूप नावशाकामें वृक्षन करे, जिहा-इन्द्रियसे रसोंके भी इस महाविष्वके चरण-मकरवक्ता स्वाद के और नासिकासे अग्नरके समान भगवानके चरणकमलका सुन्दर विष्व गत्व दूर्दे, मुखमें जनार्थनके पवित्र मंगलरूप नाम या नामोंका उच्चारण करे, पादन यथाका गत्व फरे, इष्टमें भगवत्-प्रीतिके अर्थं यथाकिं दान दे और अन्य कार्य भी मुकुन्द भगवानकी प्रसवताके लिये करे, पवांसे भगवत्-मन्दिर और भगवज्ञानोंके स्थानपर जाय, वित्तमें चैतन्यमूर्ति सर्वसाक्षी विश्वेश्वरका अरथ करे, मनसे मनन, दुदिसे भगवत्-तत्त्वका निश्चय करे और अहंकार भगवत्तके अर्पण कर दे, इसप्रकार सर्व इन्द्रियोंमें जो परमेश्वरका अर्चन करता है, वह उस पूर्ण परमात्माकी कल्पणा प्राप्त करनेका पात्र होता है, ईश्वर ही सर्व चराचर है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। वह विश्वेश ही दाता, पाता, कर्ता, भोक्ता और भवका आश्रय यानी आधार है। वही एक सबकी उत्पत्ति करता है, उस नित्यमें ही सब स्थित है और उसी निय, परिपूर्ण, परात्परमें सब लक्ष्य होता है, वही निरुणा है, वही संग्रह है, मायादी है, मायातीत है, वही भक्तोंपर अनुकूप्या करनेके लिये अनेक विष्व मूर्ति धारण करता है।

परमेश्वरका कोई नाम नहीं है, उस नामविहीन ईश्वरके अपनी-अपनी भावावादोंके अनुसार भावुकोंने अनेक नाम दर्शन हैं। परं ब्रह्म, परापर, परासंवित्, परमशिव, परमात्मा, महाविष्व, भगवान्, परमेश्वर, कृष्ण, राम, लिख, दुर्गा, मारायश्च, इर, हरि, अनन्त, जगार्थन मुकुन्द, शोच, गणेश, सत्य, प्रक्षाण, वासुदेव, संकरश्च, प्रणुज्ञ, अग्निश्वर इत्यादि असंख्य नाम भावुकोंने कहे हैं। ये सब नाम उस एकके ही वाचक हैं। उस परेश, हृषीकेश, सचिदानन्द, अन्नवक्ता शुचि होकर आस्तिक्य-दुदिसे भाववान् अधिकारी सर्वदा ही तृप्तन करे। ऐसे,

घरमें और ईश्वरमें अदा होनेका नाम आस्तिक्य-मुदि है। उस भक्तिनुग्राहक देवकी कृपासे भुक्ति और मुक्ति सहज-हीमें ज्ञातव्यगत होती है, इसलिये उस पूर्णीय देवका निरन्तर आदर-सरकारसहित अनन्य दुदिसे पूजन करे। उस-की कृपा गुणहीनको विष्व गुणवाला बना देती है अर्थात् शान्ति, सम्प्रीति, चमा, आर्जन, विवेक, वैराग्य, शम, दम, बीरता, चीरता, उदारता आदि गुण भगवत्के भक्तमें अनायास ही आ जाते हैं। जिस भाव्यशालीको परमदेवकी कृपा कण्ठर भी प्राप्त हो गयी है, वह धन्य है और वही इत्याद्य—प्रश्नासनीय है।

ईश्वरभक्तिहीन जीवोंके लिये तत्त्वदर्शी अनुकोश करते हैं—शिवार्थनसे विहीन और शिवकी कथामृत पान किये बिना जो त्रिन चक्रा गया, वह दिन निश्चय दुर्दिन है और निष्कल है ! जो सुहृत् भगवत्-स्मरण बिना बीत गया, उस सुहृत्के लिये पश्चात्तापपूर्वक रुदन करना चाहिये। जो भाव्यहीन संसाररूप सर्पसे ढाने गये हैं उसके लिये सर्व अवस्थामें सर्वत्र सर्वदा हरिविन्दन सुन्दर भेषज भ्रष्टवा गारुदी मन्त्र है। विहान् कदापि न तो अन्यको भजे, न अन्यका चिन्तन करे और न अन्यको सुने, सर्वदा राममय होवे ! सर्वाधार, निराधार, पूर्ण प्रेमस्वरूप, हदात्मय सुकुन्द्र शंकरका नित्य चिन्तन करे !

ईश्वरमें ममता—इसप्रकार धाता, परमात्मा, भगवन्त, भवेश्वरमें उसकी करण्याके प्रभावसे भावुक ममता प्राप्त करे। निष्काम ममतायुक्त विष्णुके चिन्तन-परायण होकर भगवत्यामी समर्पण इन्द्रियोंको शीघ्र ही अनन्यमुखी करे ! मनको अनन्यविष्व अर्थात् अन्यके सम्पर्कमें रहित करके भगवज्ञन सुदुर्दि प्राप्त करता है और उसकी शम्भुमें परम प्रेमसंपुत्र अनन्य ममता हो जाती है। शम्भुमें अनन्य ममताका होना बहुत दुर्लभ है, वहे भावये शम्भुमें अनन्य ममता होती है। महाविष्णुमें अनन्य ममता ही मनुष्योंका आत्मजनन है, वही पर-आत्मजनन है। अनन्य प्रेमके योगसे विशेषकपवक्ता आत्मजनन लेकर भगवज्ञके हुद बुद पदमें सर्वदा जीव-आत्माको हनन करे, परम निर्मल होकर ज्ञेय—जीवको ब्रह्ममें लक्ष्य करे और मनको शुचिहीन करके जीवको शिवमें विलीन कर दे ! इसप्रकार जितेन्द्रिय अधिकारी ज्ञानी, योगी और मुनि हो जाता है और साक्षरी शान्तिरूप परमा सिद्धि—मोक्षको प्राप्त होता है। ऐसे ज्ञानके बिना भावस वही बुद्धती, वह निश्चित है।

इसी प्रकार इष्ट-प्राप्ति विना वीच दुःखके अन्तको नहीं प्राप्त होता, इसमें सम्भव नहीं है। जैसे अधिकी संविधिसे नवनीत—सम्बन्ध छीन हो जाता है, इसी प्रकार ईश्वरकी संविधिको पाकर शोक, भोग, भय, विना आदि दोष विकीर्ण हो जाते हैं। जैसे प्रज्ञवित्त अधिके सूक्ष्म काह शीघ्र ही जल जाता है, इसी प्रकार ईश्वर-दर्शनरूप अधिके समस्त दोष भय हो जाते हैं। विहान जगत्की चिन्ताको छोड़कर नित्य ईश्वरानुसन्धान करता हुआ संसार-सागरको गोपके समान तर जाता है। इसलिये ईश्वरप्रिम्तनमें प्रमाद न करना चाहिये, किन्तु बाधारहित स्थानमें स्थित होकर सर्वदा ज्ञानादि करने चाहिये। अतुल रसामृद ईश्वरका ज्ञान करता हुआ परमामृत-समुद्रमें सर्वदा ही प्रभा हो, इसलिये कहा है कि ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है।

नयनसुख—भाई स्मृतिवह्नि ! आप तो नित्य ईश्वरवह्नि और ज्ञानवह्नि ही हैं, अतिप्रकाशके कथनसे भी आपका ज्ञानात्मक विशेष संविकर और वित्ताकर्त्त है, क्योंकि अतिप्रकाशका नित्यस्थ सारगमित होते हुए भी गृह है, साधारणकी समझमें आना कठिन है, पर आपका कथन तो सारगमित होते हुए भी सरल और सीधा है, साधारण मनुष्यकी बुद्धि भी उसको प्रहव कर सकती है। आप धन्य हैं, जिनकी ईश्वरमें ऐसी अद्वा और अनन्य प्रेम है। मेरा चित्त जैसा आज प्रसन्न हुआ है, वैसा आयुमरमें कभी नहीं हुआ ! मुझे आशा होती है कि आपका सप्तसंग प्राप्त करनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो नित्य मेरा भी अवश्य ही कल्याण हो जायगा। मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। अच्छा भाई तर्ककुशल ! आप भी बालकी खाल निकालिये। अुति-स्तृतिको तो विहारोंने प्रमाण माना ही है, युक्ति भी प्रमाणरूप ही है।

तर्ककुशल—मिश्रो ! इन दोनों भाइयोंके समान ईश्वर-प्रेम तो सुझमें है नहीं, समान ज्ञा, लेकिन भी नहीं है, प्रत्यक्ष-तत्त्वको मैंने अभीतक समझा भी नहीं है। हाँ, इतना आनंद हूँ कि आत्मा-जीव शरीरसे मिल है और ईश्वर उसका नियामक है। जिन युक्तियोंसे हमारे आचार्योंने ईश्वर सिद्ध किया है, उन्हीं युक्तियोंको मैं आपके समझ वर्णन करता हूँ, सुनिए। ईश्वर प्रत्यक्ष-प्रमाणका विषय नहीं है, अनुमान-प्रमाणका विषय अवश्य है। हमारे ज्ञानार्थ मिश्र-विहित ने अनुमान-प्रमाणोंसे ईश्वरकी सिद्ध करते हैं—

(१) अंकुरादिरूप कार्य, कार्य होनेसे, किसी कर्तासे जन्म होता है। जो कार्य होता है, वह किसी कर्तासे जन्म होता है। कर्ता विना कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता, जैसे घटरूप कार्य कुलाळरूप कर्तासे जन्म है, वैसे अंकुरादि कार्य भी अवश्य किसी कर्तासे जन्म है। उन अंकुरादि कार्योंका कर्तापना किसी जीवमें तो हो नहीं सकता, ईश्वरमें ही हो सकता है। कोई कहे कि 'कर्ता विना केवल पृथिवी-बद्धके संयोग आदिसे अंकुरादिकी उत्पत्ति हो सकती है, ईश्वरको कर्ता माननेका क्या प्रयोजन है ?' इसका उत्तर यह है कि ईश्वररूप कर्ता विना केवल पृथिवी-बद्धके संयोग आदिसे अंकुरादि कार्योंकी उत्पत्ति मानेंगे, तो वह आदि कार्य भी कुलाळ आदि रूप कर्ता विना केवल मृत्तिका-जलके संयोग आदिसे उत्पन्न होने चाहिये। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, इसलिये अंकुरादि कार्योंकी उत्पत्ति ईश्वररूप कर्तासे ही मानती चाहिये। इससे स्वेदजादि शरीरोंकी उत्पत्तिका भी ईश्वर ही कर्ता है, ऐसा सिद्ध हुआ समझता ।

(२) सृष्टिके आदिकालमें हृष्णुकरूप कार्यका प्रयोजक जो परमाणुनिष्ठकियारूप कर्म है, वह कर्म, कर्म होनेसे किसी प्रयत्नसे जन्म है, जो कर्म होता है, वह किसी प्रयत्नसे जन्म होता है। जैसे घटरूप कार्यका प्रयोजक जो कपालनिष्ठ कर्म है, वह कर्मरूप होनेसे कुलाळरूप जीवात्मके प्रयत्नसे जन्म है, वैसे परमाणुओंका कर्म भी कर्मरूप होनेसे अवश्य किसीके प्रयत्नसे जन्म है। जीवात्माका प्रयत्न तो परमाणुओंके कर्मका कारण हो नहीं सकता, इसलिये ईश्वरका प्रयत्न ही उस कर्मका कारण है। इस विलक्षण प्रयत्नका आशय ईश्वर है, ऐसा सिद्ध होता है।

(३) आकाशमें स्थित गुरुस्वर्धमेवाके सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि द्रव्य उत्तिवाङ्के होनेसे, वीचे पतनके प्रतिबन्धक किसी प्रयत्नमें प्रयुक्त हैं, जो द्रव्य उत्तिवाङ्का होता है, वह द्रव्य पतनके प्रतिबन्धक प्रयत्नसे प्रयुक्त ही होता है। जैसे आकाशमें स्थित गुरुस्वर्धमेवाका वीचे पतनसे इहित पक्षीका शरीर उत्तिवाङ्का होनेसे वीचे पतनके प्रतिबन्धक प्रयत्नसे प्रयुक्त ही है। वैसे पक्षी-शरीरोद्धरणिष्ठ जीवात्माका प्रयत्न पक्षी-शरीरके नीचे पतनमें प्रतिबन्धक है, वैसे आकाशमें स्थित गुरुस्वर्धमेवाके सूर्य आदि भी उत्तिवाङ्के होनेसे वीचे पतनके प्रतिबन्धक किसीके प्रयत्नसे अवश्य प्रयुक्त होता है। किसी जीवात्माका प्रवद सूर्यादिके पतनका

प्रसिद्धमंडक हो नहीं सकता, ईश्वरका प्रयत्न ही सिद्ध होता है। ऐसे विज्ञान ये प्रयत्नके आज्ञायसे ईश्वर सिद्ध है।

(४) प्रयत्नकाकर्त्ता सर्व ब्रह्मायडका नाश, नाश होनेसे, किसीके प्रयत्नसे जन्म है; जो नाश होता है वह किसीके प्रयत्नसे जन्म होता है, जैसे घटका प्रथम सामाजिक नाश, नाशरूप होनेसे, जीवात्माके प्रयत्नसे जन्म होता है, जैसे ब्रह्मायडका नाश भी, नाशरूप होनेसे, अवश्य किसीके प्रयत्नसे जन्म होना चाहिये। वह प्रयत्न जीवात्माका तो हो नहीं सकता, ईश्वरका ही हो सकता है। उस विज्ञान प्रयत्नका आज्ञा ईश्वर सिद्ध है।

(५) घट शब्दके सुननेसे लोकोंको घटरूप अर्थका बोध होता है, पटरूप अर्थका बोध नहीं होता, जैसे ही पट शब्द सुननेसे पटका बोध होता है, घटका बोध नहीं होता। यह घट-पटादि शब्दरूप व्यवहार, व्यवहाररूप होनेसे, किसी स्वतन्त्र पुरुषसे प्रयोज्य है। अर्थात् घटसे घटरूप अर्थका और पटमे पटरूप अर्थका बोध है, इत्यादि संकेत किसी स्वतन्त्र सर्वज्ञ पुरुषमे पूर्वमें कर रखता है; जो व्यवहार होता है वह किसी स्वतन्त्र पुरुषमे प्रयोज्य ही होता है। जैसे किसी आधुनिक पुरुषका कलिपत्र किया हुआ लिपि आदि व्यवहार है। भिज्ञ-भिज्ञ देशोंमें भिज्ञ-भिज्ञ पुरुषोंने लोकोंको ककारादि शब्दोंका बोध करानेके लिये क, ख, ग, घ, क आदि लिपिकी कल्पना कर रखती है। उस लिपिको देखकर उस देशवालोंको ककारादि शब्दोंका बोध होता है। जैसे लिपि आदि व्यवहार, व्यवहार होनेसे किसी आधुनिक पुरुषमे प्रयोज्य है, उसी प्रकार घटादि व्यवहार भी, व्यवहार होनेसे किसी स्वतन्त्र पुरुषमे प्रयोज्य होना चाहिये, इस व्यवहारकी प्रयोजकता किसी जीवमें तो हो नहीं सकती, सर्वज्ञ स्वतन्त्र ईश्वरको ही इस व्यवहारका प्रयोजक मानना पड़ेगा।

(६) वेद-बाक्य-जन्म यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा शाब्द-प्रमा होनेसे वेदके बक्ता पुरुषके यथार्थ बाक्यार्थ-ज्ञानसे जन्म है, जो प्रमा होती है, वह बक्ता पुरुषके यथार्थ बाक्यार्थ-ज्ञानसे ही जन्म होती है, जैसे वैत्र नामक पुरुषके 'घटमान्य' (घट ला) इस बाक्यसे जन्म भैत्र नामक पुरुषकी प्रमा, शाब्द-प्रमारूप होनेसे, वैत्र नामक बक्ता पुरुषके उस बाक्यके यथार्थ ज्ञानसे ही जन्म होती है, जैसे वेद-बाक्योंसे भी अविकारी पुरुषोंको जो यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा उत्पन्न होती है, वह प्रमा भी शाब्द-प्रमा-

स्व होनेसे उस बेदके बक्ता पुरुषके उस बाक्यके यथार्थ ज्ञानसे अवश्य जन्म होती चाहिये। अतादि वेदोंका उत्पादक-रूप बक्तापना किसी जीवमें तो हो नहीं सकता, सर्वज्ञ ईश्वरमें ही हो सकता है, इसलिये ईश्वररूप बक्ताके यथार्थ बाक्यार्थ-ज्ञानसे ही ओताधीर्णमें वेद-बाक्य-जन्म शाब्द-प्रमा उत्पन्न होती है।

(७) अगादि वेद, वेदरूप होनेसे, किसी असंसारी पुरुषमे रचित होनेयोग्य है, जो शास्त्र असंसारी पुरुषका रचा हुआ नहीं होता, वह शास्त्र वेदरूप भी नहीं होता। जैसे प्रसिद्ध ईश्वरादि काव्य असंसारी पुरुषके रचे हुए नहीं हैं किन्तु कालिदास आदि संसारी पुरुषोंद्वारा रचित हैं, इसलिये वे वेद नहीं हैं, अगादि वेद काव्यके समान अवेदरूप नहीं हैं किन्तु वेदरूप ही हैं, इसलिये वे सब असंसारी पुरुषके रचे हुए हैं। अगादि वेदोंका उत्पादक संसारी पुरुष जीवात्मा तो हो नहीं सकता, किन्तु असंसारी ईश्वर ही वेदोंका उत्पादक सिद्ध होता है।

(८) वेद, बाक्यरूप होनेसे, पौरुषेय अर्थात् किसी पुरुषसे रचित होनेयोग्य हैं, जो शास्त्र बाक्यरूप होता है, वह शास्त्र पौरुषेय ही होता है, जैसे महाभारत बाक्यरूप होनेसे पौरुषेय है अर्थात् श्रीमात्सर्वपुरुषसे रचित है जैसे वेद भी किसी पुरुषसे अवश्य रचित होने चाहिये। वेदका कर्तापना किसी जीवात्मामें तो सम्भव है नहीं, ईश्वरमें ही सम्भव है, इससे ईश्वर सिद्ध होता है।

(९) द्रष्टव्यके परिमाणका असमावायिकारणरूप दो परमाणुनिष्ठ द्वित्व-संख्या अपेक्षा-बुद्धिसे जन्म होनेयोग्य है, एकत्व-संख्यासे अन्य संख्या होनेसे। जो संख्या एकत्व-संख्यासे अन्य संख्या होती है, वह संख्या अपेक्षा-बुद्धिसे ही जन्म होती है। जैसे दो घटोंमें स्थित द्वित्व-संख्यामे अन्य संख्या होनेसे 'यह एक' 'यह एक' इसप्रकारकी अपेक्षासे जन्म होती है, जैसे दो परमाणुनिष्ठ द्वित्व-संख्या भी एकत्व-संख्यासे अन्य संख्या होनेसे अपेक्षा-बुद्धिसे ही जन्म होती चाहिये। जीवात्माकी परमाणुविषयक अपेक्षा-बुद्धि नहीं हो सकती, ईश्वरकी अपेक्षा-बुद्धिसे ही उन परमाणुओंमें द्वित्व-संख्याकी उपरति होती है, ऐसी अपेक्षा-बुद्धिका आश्रय ईश्वर ही हो सकता है।

इसप्रकारके जब अनुमानोंसे ईश्वरकी सिद्धि होनेपर ईश्वर-उत्पादित-हेतुसे वेदोंमें भी प्रमाणरूपता सिद्ध हो सकती है, इसलिये वेद भी ईश्वरके समावयमें प्रमाणरूप हैं,

वेद कहते हैं—स्वर्गं सथा भूमिको उत्पन्न करता हुआ वह एक परमात्मादेव सर्वं विश्वका कर्ता है, सर्वं भुवनोंका रक्षक है। वह पुरुष ईश्वरकी उपासना करे। जो ईश्वर सामान्यरूपसे सबका जाननेवाला है, वही ईश्वर विशेष-रूपसे सबका जाननेवाला है। इस ईश्वरका ज्ञानमय तप है, यह ईश्वर इच्छा करता हुआ, हत्यादि अनेक वेदकी अतिरिक्त ईश्वरमें प्रभाणरूप है। 'हे अर्जुन! ईश्वर सर्वं भूतोंके हृदयदेशमें स्थित है।' ईत्यादि स्मृतियाँ भी ईश्वर-में प्रभाणरूप हैं। यदि सर्वं जगत्का कर्ता ईश्वर अधीकार न करें, तो नियन्ताका अभाव होनेसे सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहोंका विपरीत उदय-अस्त होना चाहिये, मध्यमरात्रको योग्य कालमें वृष्टि न करनी चाहिये, क्योंकि चेतन बिना अचेतन वस्तुओंका नियन्त कालमें गमन-आगमन नहीं हो सकता। सूर्य-चन्द्रादि ग्रहोंका नियन्त देश-कालमें उदय-अस्त देखनेमें अताहै और मेघमरात्रकी भी नियन्त काल-पर वृष्टि करता है, इसमें जाननेमें अताहै कि कोई सर्वज्ञ चेतन इस जगत्का नियन्ता है, जिसकी आज्ञासे यह सूर्य-चन्द्रादि नियमपूर्वक गमनागमन कर रहे हैं। सूर्य-चन्द्रादिका नियन्तापाना किसी जीवात्मामें हो नहीं सकता, सर्वज्ञ ईश्वरमें ही हो सकता है, इसलिये सूर्य-चन्द्रादिका नियमपूर्वक उदय-अस्त होना ईश्वरकी सिद्धि करता है, ऐसे ईश्वरकी आराधना अर्थात् ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है।

नयनसुख-आई तकंकुशल ! आपके अनुमान बहुत मुन्द्र और ईश्वरकी सिद्धि करनेवाले हैं, इसमें संशय नहीं है, आप चारों भाईयोंके बचनरूपी अज्ञने मेरी आँखें खोल दी हैं और मेरे नामको यथार्थ कर दिया है। अबतक तो मैं 'आँखोंका अन्धा, नाम नयनसुख !' यह था, आज आपके प्रतापमें मैं सबा नयनसुख हो गया। मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि ईश्वर है, वही सब कुछ करता-करता है, उसके सिवा दूसरा करनेकरनेवाला नहीं है, जो कुछ प्राप्त होता है, ईश्वरकी कृपासे ही होता है और ईश्वराराधना ही पुरुषार्थ है। माई ईश्वर-शरण ! आप हम सबसे चतुर और गम्भीर हैं, आपके पटकी थाह किसीको नहीं मिलती, आप बहुत कम बोलते हैं, यदि बोलते हैं तो ईश्वरके सम्बन्धमें ही बोलते हैं, संसारी बातें आपके मुखकमलसे नहीं निकलती, आपके दबावाद्वारा सुननेको मेरा मन बहुत ही उत्सुक है और

ये सीनों भाई भी उस्किठत दीखते हैं, कृपया हमारा मनोरथ पूरा कीजिये।

ईश्वरशरण-मित्रो ! जैसा तकंकुशलने कहा कि ईश्वर प्रथम-प्रमाणसे नहीं जाना जाता, केवल अनुमान-प्रमाणसे सिद्ध होता है, यह उनका कथन कुछ-कुछ ठीक ही है, परन्तु ईश्वर प्रथम या अनुमान-प्रमाणसे जाननेमें नहीं आता, केवल शाब्द-प्रमाण अर्थात् अतिसे ही जाननेमें आता है। ईश्वर रूप-रसायिसे रहित होनेके कारण ईश्वर्यों-का विषय नहीं, इसलिये प्रथम-प्रमाणमें जाननेमें नहीं आता। किंग सादृशयादिसे रहित होनेसे ईश्वर अनुमान-प्रमाणका विषय नहीं है, केवल अतिसे ही जाना जाता है। 'उपनिषद्स्वेच्छाविगतः' (उपनिषदोंमें ही अधिगत—प्राप्त है) इस स्मृतिसे और 'नावेदविन्मनुने ते तृहृष्टम्' (बैद्यन जाननेवाला उस बृहत्को नहीं जानता) इस विशेष-श्रुतिसे सिद्ध है कि वह केवल बैद्यसे ही जाना जाता है। यदि कोई शक्ता करे कि 'श्रुति तो वृहत्—ईश्वरको भग्न-वाणीका अविषय बताती है, तो फिर श्रुति उसका कैसे उपदेश करती है और जीव उसको मनसे कैसे जानता है, क्योंकि जीवके पास मन ही हो जानेका एक साधन है?' तो इसका उत्तर यह है कि अशुद्ध मनसे ईश्वर जाननेमें नहीं आता। वह निमंत् भननेमें अवश्य जाननेमें आता है, क्योंकि शुद्ध मन ब्रह्माकार होता ही है, ऐसा विद्वानोंका अनुभव है।

वाणी वैसरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा चार प्रकारकी है। एहली लीनोंमें ईश्वर जाननेमें नहीं आता, परा वाणीमें अवश्य जाननेमें आता है क्योंकि परा वाणी असंसारी होनेमें ईश्वरतात्त्वका निस्पत्त्य करनेवाली है, इस प्रकार अतिका उपदेश और अधिकारी मुमुक्षुका समझना बन सकता है। विचारकर देखा जाय तो यथापि ईश्वर किसी प्रमाणका विषय न होनेपर भी परम अपरोक्ष है क्योंकि वह सबका आत्मा है और आत्मा किसीको कही, कभी किसी प्रकार अपरोक्ष नहीं है। ऐसा अपरोक्ष ईश्वर भी जाननेमें नहीं आता, यह अनुयोंका दुर्भाग्य ही है। अहंकार और ममताकी आद आ जानेसे परम प्रथम ईश्वर भी विलायी नहीं देता, ईश्वरकी कृपा बिना और महान् पुरुषोंकी सेवा विळा ईश्वरका दर्शन नहीं होता। ईश्वरका नाम जपनेसे, ईष्टेयका ध्यान करनेसे, सबमें ईश्वर-भाव करनेसे, रागदेवका त्याग करनेसे ईश्वरकी कृपा होती है और ईश्वर-कृपासे ईश्वरका दर्शन होता है। ईश्वर-पूजनसे

सर्व शोककी चरम विहृति और चरमानन्दकी प्राप्ति होती है, इसीलिये विहान् चारम्बार यही कहते हैं कि ईश्वराराधना ही पुरुषार्थ है।

हे मित्रो ! यह सब जगत् ईश्वरार्थीन है, जीवोंको ईश्वरका ही बदल है। जिस किसीको जो कुछ प्राप्त हुआ है और होता है, ईश्वरका ही होता है, अपने बलसे कोई नहीं बदलता, ईश्वरके बड़ाये हुए ही बदलते हैं। अपने बलसे राखणा बड़ा था, उसको पछभरमें भगवान्नने भूलमें भिला दिया ! अपने बलमें हिरण्याक और हिरण्यकशिषु बढ़े थे, उनको भगवान्नने तुरत ही उनके पद और प्राणमें अट कर दिया ! सारांश यह कि जिस-जिसने गर्व किया उसीका ही गर्व भगवान्नने नीदा; शिवाल, दुर्घार्धनादिके वृत्तान्तमें यह बात स्पष्ट है। ईश्वर किसीका गर्व नहीं रहने देता, इसलिये भगवान् गर्वहारी कहलाते हैं। ईश्वर-कृपामें बहुत-से बड़ाईं पा चुके हैं और पा रहे हैं। ब्रह्मादि तीनों देव ईश्वरकी कृपामें ईश्वर कहलाते हैं और जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेमें समर्थ हीने हैं। मनकादि ईश्वरके अनुग्रहमें ही समस्त तत्त्वविद्योंके आदिगुरु हैं, ईश्वरके अनुग्रहमें देवर्णि नारद देवताओं और भगवत्त्रियोंके पूज्य हैं। ईश्वरकी दयामें उत्सानपात्रके पुत्र ध्रुवने ध्रुवपद पाया है। ईश्वरको आज्ञासे करयपादि सप्तऋचि सहिते आयिमें बेदोंका प्रचार करते हैं। ईश्वरके बलमें मरीचि आदि देवता देव, मनुष्यादि प्रजा उत्पक्ष करनेमें समर्थ होते हैं। ईश्वरके भोजने शेषनाग समस्त ग्रन्थाण्डको तृणके मध्यान अपने क्षणोंपर भारणा कर रहे हैं, ईश्वरकी प्रसन्नतासे विभिन्नने कल्पपर्यन्त लङ्घका अटल राज्य पाया है। बलि भी ईश्वरकी कहणामें रसातल-का सक्राद है और आगेके मन्वन्तरमें वह इन्द्रपद्मी पावेगा। ईश्वरके आशीर्वादसे बाह्यराज्य आगले मन्वन्तरमें सप्तऋचियोंके पदपर आस्त किये जायेंगे। इसप्रकार ईश्वरने अनुगृहीत बहुत-से देव, ऋषि, मुनि आदि अनेक प्रकारके दिव्य ऐश्वर्य पा चुके हैं और पाते हैं। ये योद्वेष-से नाम दिवदर्शनमात्र हैं, इनका नाम लेनेमें ही अस्तःकरण युद्ध होता है, ऐसा देवदेवताओंका निर्णय है। यह सब कल ईश्वराराधनका है। इसलिये ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है।

ईश्वर स्वरूपसे निष्ठ, कृद्य, अदृश, अजन्मा हैं, ऐसे होकर भी अपने भक्तोंपर उभका इसका गाढ़ प्रेम है कि

उनके प्रेमवसा होकर अपने छोलासे अनेक स्वरूप चारण करते हैं, चारम्बार अवतार लेकर अपने जनोंके हुँस निवारख करते हैं। भक्तकी प्रार्थना सुनकर तुरत ही उसका कटनिष्ठत करनेको ऐश्वर्यादे ही दौबते हैं, गलबको भी छोड़ देते हैं और मानो पास ही लड़े हुए थे, ऐसे शीघ्र ही आकर भक्तका हुँस दूर करते हैं, यह बात गजेन्द्र और द्वौपर्योंके इतिहाससे स्पष्ट है, ईश्वरने भक्तोंके हितके लिये वेद-पुराणादि अनेक शास्त्रोंकी रचना की है अथवा यों कहना चाहिये कि करायी है और अपने नामकी वह प्रताप दिया है कि जो उत्तरार्थमात्रसे पारोंका नाश करता है। यह बात अजामिलके इतिहासमें स्पष्ट है कि पुश्क्रके बहाने अचेत दशरथ 'नारायण' नाम लेकर वह परम गतिको प्राप्त हुआ। देवदेवताओंका निश्चय है कि जितना सामर्थ्य ईश्वरके नाममें पाय निवृत्त करनेका है, उतना सामर्थ्य मनुष्यमें पाय करनेका नहीं है। 'हर' लगे न किटकरी, रंग बकाशक आद्य ऐसा ईश्वरका नाम भी, जिसमें सर्वे कुछ नहीं और फल अल्प है, जिनमें जपा नहीं जाता, उनसे बढ़कर अभगवा और कौन होगा ? ईश्वर अपने भक्तोंको अपना स्वरूपतक भी देकर सोचा करते हैं कि तन, मन, धन, पुत्र, स्त्री, परिवार अर्यण करनेवाले भक्तोंको हमने कुछ भी नहीं दिया, वर्योंकि अपना स्वरूप तो हम रावण, कंस आदि राक्षसोंहों भी प्रदान करते ही हैं, किंतु भक्तोंको हमने क्या दिया, कुछ नहीं दिया ! ऐसा विचारकर जगदीश्वर भगवान् अपनेको भक्तोंके द्वारा समझते हैं। जो ऐसे दयालु ईश्वरसे विमुख हैं, उनके कल्याणका कोई नाम नहीं सूझता, ईश्वर उनपर करणा करे; इतनी ही ईश्वरसे प्रार्थना है कि ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है, यह बात उनकी समझमें आ जाय।

ईश्वराराधनागति परम पुरुषार्थ है। अपना बल-भरोसा छोड़कर जो ईश्वरके शरणमें आ गये हैं वे ही धन्य हैं, उनका ही जन्म सफल है। न उनको मरनेका शोक होता है, न जीनेका इर्ष होता है। न वे किसीकी निन्दा करते हैं, न सुनि करते हैं। वे सबमें ईश्वरके देखकर सबसे समाज सुहृदसाका बर्ताव करते हैं। मान-अपमान उनके लिये समाज होता है, प्राह्लि-अप्राह्लिमें भी वे पक-से रहते हैं, सर्वदा जिहासे ईश्वर-नाम जपते हैं, अथवा ईश्वरके गुणानुवाद गाते हैं, मनसे ईश्वरका ज्यान करते हैं, जो कुछ कर्य करते हैं ईश्वरके लिये करते हैं, अपना अंकार

किछित भी नहीं करते। अहंकार ही सब अनेकों का मूल है, अहंकार ने ही आनन्दस्वरूप ईश्वरको छिपा रखा है, अहंकार ही ईश्वर-दर्शनमें आहे है, अहंकार निमूळ कर देना ही ईश्वरशरणागति है। ईश्वरशरणागतिमें जैसा सुख है, वैसा सुख ब्रह्मांको भी नहीं है, इन्द्रादिका तो कहना ही क्या है? ईश्वरशरणागतिका उपाय ईश्वराधना है, ईशलिये ईश्वराधना ही पुरुषार्थ और वही परम पुरुषार्थ है। जैसे आमका वृक्ष लगानेवालेको मुख्य फल तो आम-फलकी प्राप्ति है और पत्र, पुष्प काषायदिकी प्राप्ति अवान्तर फल है, ऐसे ही शरणागतको ईश्वरकी प्राप्ति मुख्य फल है और विष्व भोगोंकी प्राप्ति अवान्तर फल है।

पाठक! इतना कहकर ईश्वरशरणने अपना व्याख्यान समाप्त किया और उसकी संगतिसे चारों भित्र भी ईश्वरशरण होकर सर्वदाके लिये सुखी हो गये। ईश्वर-शोभनम्। सबका सार यह है—

कुं—ईश्वर-चर्चा छीजिये, लौजै ईश्वर-नाम।

छीजे हरिहत काम वित्त निर्मल कर लीजे।

सबसे मनको मोड़, ईशमें रुप कर दीजे।

मेला! ईश्वर सब, विश्व शोकाकुल नदवर।

आश विश्वकी छोड़, नित्य शाश्वत मज ईशर॥

दो०—पठे सुने मार्द बहिन पाँच पञ्च-संवाद।

मेला! ईश-प्रसादसं, छढ़े मुकि-प्राप्ताद॥

ईश्वर-चर्चा

(लेखक—‘शिव’)

ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है

शर क्या है? उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है? वह निश्चाकार हैं या साकार? निर्गुण हैं या संगुण? इस जगत्के साथ उनका क्या सम्बन्ध है? हृत्यादि प्रश्नोंका एकमात्र निश्चित उत्तर न तो कोई आजतक दे सका है और न दे सकता है। आजतक ईश्वरके सम्बन्धमें जिसना वर्णन हुआ है, वह सब मिलकर भी ईश्वरके यथार्थ स्वरूपका निरेश नहीं कर सकता। क्योंकि ईश्वर मनुष्यकी बुद्धिके परे है, वह परम वस्तु मनुष्यकी बुद्धिमें नहीं समा सकती; बुद्धि तो प्रकृतिका कार्य होनेसे जह और परिचिन्ता है, वह उस अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वधार, सर्वान्तर्यामी, शिव शानानन्दधन चेतनका आकर्षण किसकाकार कर सकती है? जो वस्तु ज्ञानका विषय होती है, वह सीमित, प्रमेय और धर्मी वस्तु ही होती है; जो सीमित है, जिसका परिमाण हो सकता है, जो किसी धर्मवाली है, वह वस्तु ईश्वर नहीं हो सकती; बुद्धि या ज्ञान जिस पदार्थका निस्पत्त करता है, उस पदार्थका कोई एक निश्चित रूप ज्ञानमें रहता है, ऐसा ज्ञेय पदार्थ सबका प्रकाशक, सबका आधारउपोति नहीं हो सकता। जिसका प्रकाश बुद्धि

करती है, वह बुद्धिको प्रकाश देनेवाला कैसे हो सकता है? परमात्मा ईश्वर ज्ञेय नहीं है, प्रमेय नहीं है, प्रकाश नहीं है, वह तो स्वयं ज्ञाता, प्रमाता, वेतनज्योतिरूप सबका प्रकाशक स्वयंप्रकाश है। वह किसी भी बुद्धिका विष्वय विषय नहीं है, सारी बुद्धियोंमें विन्दा-प्रवणता उसीमें आती है। वह स्वयं प्रमाणाल्प और ज्ञानाल्प है। वस्तुतः ऐसा इहना भी उसको सीमाबद्ध करना है—उसका माप करना है। उसे कालासोत-गुणातीत कहना भी उसका परिमाण बोधना है। इसीलिये गनीवीणा यह कहा करते हैं कि ईश्वरका तत्त्व ईशर ही जानता है, वह स्व-संवेद्य है, दूसरा कोई उसे जान ही नहीं सकता, तब वर्णन कैसे कर सकता है? अबतक दूसरा रहता है तबतक जानता नहीं और दूसरा न रहनेपर वर्णनका प्रसंग ही असम्भव है।

‘ईश्वर अतकर्य है, प्रश्नेय है, वह कभी मनुष्यकी बुद्धिमें आ ही नहीं सकता, संसारकी किसी वस्तुने तुलना करने कर वह समझाया नहीं आ सकता, ऐसी विश्वतिमें उसे मालने-जानने या उसकी चर्चा और जानेकी चेहा करनेसे क्या काम है? जो चीज़ सिद्ध नहीं हो सकती, दीर्घ नहीं सकती, उससे उदासीन रहना ही बुद्धिमानी है।’ ऐसा विचारकर परमात्माकी चर्चा छोड़ देता हो

सम्मुखे भी बढ़कर है। उसकी कुछ ऐसी भाँति है कि वह ज्ञेय न होनेपर भी ज्ञेय-सा बनकर उपासककी आज्ञाम-बदलिकाको हटा देता है, जिससे वह उसके स्व-स्वरूपों पहचानकर कृतकृत्य हो जाता है। इसीलिये उस परम-तत्त्वको ज्ञेय भावकर उसकी उपासका करना परम आवश्यक आमा गया है।

इसीलिये तत्त्वज्ञ ईश्वरगतप्राप्त विष्णुविद्यियोंने अपने-अपने विलक्षण सत्य अनुभवोंको, जो सचमुच ही उन्होंने 'अधट्टकवद्वापटीदेवसी' शक्तिके आधार और स्वामी भगवान्नकी कृपासे समय-समयपर प्राप्त किये हैं, उन्होंको तर्फ भौं और उत्तियोंके द्वारा सिद्धकर लोगोंके सामने रखा और यथोचित साधनविधि बताकर भगवत्-प्राप्तिका मार्ग सुखम कर दिया है। दर्शन, पुराण आदि में इन्हीं माधवोंका उल्लेख है।

हमारी बुद्धि वहाँ जाकर थक जाती है और अपनेको आगे बढ़नेमें सर्वथा असमर्थ पाती है, वहाँसे भगवत्कृपाका प्रकाश और बद्ध इमारा पथप्रदर्शक और सहायक होकर इसे उस बुद्धिके परे, बुद्धिके अगोचर परम तत्त्वका साक्षात्-कार करा देता है। नहीं तो, जो सर्वथा अस्त्र और अधिनियम है, जो एक, केवल, शुद्ध सचिदानन्दघन रहते हुए ही अपने सगुणस्वरूपके द्वारा संकल्पमात्रसे विवित्र ब्रह्माण्डोंकी सुधि करते हैं; सगुण, साकार, विद्य, निष्ठ विश्वरूपसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्तकोटि ब्रह्म, विश्व और लक्षणोंसे विभक्त-से प्रतीत होकर पृथक्-पृथक्, सजन, पालन और संहार करते हैं, जो विविध देशों और काछोंमें विविध स्वरूपोंमें अवतारित या प्रकट होकर आदरशकतानुसार व्यूताधिक शक्तिका प्रकाशकर अपनी विकामियोहिनी जीवकीर्त्तिसे जगत्को मुग्ध और पावन करते हैं, जो जीवजाग्रत्में अस्तर्यामी आत्मारूपसे विराजित होकर विभिन्न-से भासते हुए जीवजीवोंमें बर्तमान रहते हैं। (यहाँ यह समझनेकी बात है कि विसप्रकार अनन्त-कोटि व्यक्तिरीरोंमें एक ही परमात्मा विश्व-संविधित जीवात्मारूपसे विराजमान है, ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-शरीरोंमें 'विष्णु-हरि-हर' विश्वमूर्तिसे एक ही परमात्मा विराजमान है, विश्वमूर्ति होनेपर भी तीनों एक ही हैं और गुणात्मित हैं।) जो अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डोंमें प्रकृतिके विकार-करने से जासनेवाले बह इत्य-प्रपञ्चका भेद भारकर अपनेको छिपाये हुए हैं और प्रयोगके रूपमें प्रत्येक समय एकसे

और पूर्ण है, उन परात्पर महाविष्णु, महाशिव, महा-प्राप्ति, महादेव, महाकार्ति, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि विविध नामों और रूपोंसे आक्षयात और पूजित निष्प, अविद्याशी, अनन्त, अखण्ड, परमसत्य, परमब्रह्म, सचिदानन्दघन, अनन्तशक्ति परात्पर भगवान्नका ज्ञान-सा आभास भी सनुव्यक्ति बुद्धिको कैसे सिद्ध सकता है? जो सन्तोषके वाक्योंपर विश्वासकर उनके शरणापद्म होता है, जो बुद्धिका अभिमान बोककर उनको कृपाका आक्षित होता है, वही शुद्ध और सूक्ष्ममुद्दि अद्वामय पुरुष भगवान्नकी कृपाका बहु प्राप्तकर उसके विद्यालोकमें परमात्म-प्रकाशकी ओर आगे बढ़ता है।

उन परमात्मा सहेतरके अखण्ड निष्पके अनुसार उनकी ज्ञोजासे जब उनकी सारी शक्तियाँ सिद्धकर साध्यस्थितिको प्राप्त हो जाती हैं, तब शक्ति और शक्तिकी अभिष्ठाताके रूपमें एक ब्रह्म-स्वरूप ही प्रकाशित रहता है। भगवान्नका निष्प विश्व भी उस समय स्वेच्छामें ही अन्तर्जाल रहता है। उन: जब उनकी अनन्त शक्तियाँ विविध विविध मूर्ति धारणकर किया करती हैं, तब वही ब्रह्म अनेक स्वरूपोंमें प्रकाशित होते हैं, वस्तुतः अनन्तकोटि विश्व-ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ उपग्रह हुआ है, जो स्थित है और जो क्षयोंके प्राप्त होता है, वह सब ईश्वरमें ही होता है। ईश्वरकी ही यह सुष्ठि, स्थिति और संहाररूप विविध भूतियाँ हैं। समस्त विश्व-ब्रह्माद्य अनन्त तरंगोंकी भूति उन एक ही अनन्त, असीम परमात्म-सागरमें स्थित है। वे भगवान् देवोंके देव, ईश्वरोंके ईश्वर, पतियोंके पति और गतियोंकी गति हैं; ये निराकार भी हैं, साकार भी हैं, निराकार भी नहीं हैं; साकार भी नहीं हैं, सदर्थे परे हैं, उनके लिये यह कहना या समझना कि 'ये ऐसे ही हैं' वस्तुतः उनका उपहास करना और अपनी अङ्गका पर्दा-फास करना है। हमारी बुद्धि जिस ईश्वरका वर्णन करती है, वह तो उनके एक बहुत ही स्वल्प-से अंशका, आभासका या अनु-भासका ही वर्णन होता है। वे तो गूँटोंके गुड़ हैं; उनका वर्णन कोई कैसे करे? क्षुद्र-सा जल-सीकर जलनिधिकी क्या याह लगावे? इसारी जो बुद्धि आँखोंके सामने प्रत्यक्ष दीखनेवाले पदार्थोंकी तहसक भी नहीं पहुँच सकती, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त सर्वज्ञोकमहेश्वर अनन्तशक्ति, शुद्ध सचिदानन्दघन परमात्माके समवन्धमें निश्चयरूपसे स्वा कह सकती है? उन ईश्वरके सम्बन्धमें तो सबसे बहा प्रमाण यही है कि जगद्के महापुरुष उन्होंकी कृपासे

प्राप्त अनुभवोंके द्वारा उनकी सत्ता समझाकर हमें उनकी उपासना करनेका उपरेका देते हैं। महापुरुषोंके बच्चोंमें विश्वास करनेवाले भद्रातु पुरुषोंके लिये तो ईश्वरका होना सहज ही सिंह है, उनके लिये तो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं, जो ईश्वरसे अधिक प्रत्यक्ष और सर्वप्रमाणित हो, परन्तु वह सौभाग्य सबको प्राप्त नहीं। ईश्वरमें विश्वास होना सहज बात नहीं है; ईश्वर-विश्वास भगवान्के अमररज्यका पर्वा हठा देता है, जिसमें मनुष्य ईश्वरके तात्पर्यके समझकर सर्वपाप-ताप-शून्य और कुत्सुक्ष्य हो जाता है।

ईश्वर-विश्वास और ईश्वर-कृपा

जैसे सूर्यके पूर्व उदय होनेसे पूर्व ही अमावस्याकी ओर निशाका नाश हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्का पूर्व विश्वास होनेके पूर्व ही, योदे ही विश्वाससे पाप-तापस्थी तम नष्ट हो जाता है। मनुष्य तभीतक पाप-चरण करता है और तभीतक संसारके विविध दुःखोंके दावानलमें दग्ध होता रहता है, जबतक कि उसका ईश्वर-के अस्तित्वमें विश्वास नहीं होता; 'ईश्वर है' इस विश्वास-से ही मनुष्य निर्निधार, निविकार, निःशङ्का, निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। भगवान्पर विश्वास करनेवाला पुरुष इस बातके ज्ञानता है कि भगवान् सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान्, परमदयातु, योगक्षेमवाहक, विश्वमर और परम सुहृद् है। ऐसी अवस्थामें वह काम, खोभया भय किसी कारणसे भी पाप नहीं करता। जब एक पुलिस-फफसरको देखकर परमुद्धर कानून-विरुद्ध काम करनेमें हिक्कता है, जब किसी सुयोग्य गुरुजनके सामने पाप करनेमें मनुष्य सुकृचाता है, तब वह सबके स्वामी और परमगुह भगवान्-को सामने समझकर पाप कैसे कर सकेगा? जब भगवान् विष्वमर और योगक्षेमका निर्वाह करनेवाले हैं तब वह अपने और परिवारके भरण-पोषणादिके लिये न्यायपथ-को छोड़कर पाप-पथमें क्यों आयगा? जब वह अपने परम सुहृद, परमदयातु, सर्वशक्तिमान् परमात्माको सर्वव्यापी-रूपसे सर्वद्वय देखता, तब ऐसा कौन-सा ताप या भय है, जो उसे जहा सकेगा या पापके मार्गमें छे जायगा? ईश्वर-का विश्वासी पुरुष तो बस्तुतः ईश्वरकी ही दयापर भरोसा करनेवाला बन जायगा, उसे पद-पवर, पद-पद्ममें भगवत्-कृपाका प्रत्यक्ष होता रहेगा। जो भगवत्कृपापर निर्भर रहता है, वह किसी काममें तुकी नहीं हो सकता। वह

प्रत्येक बातमें भगवान्का विश्वास समझकर और भगवान्के विधानको उनकी दयासे ओतप्रोत देखकर प्रकृद्वित होता रहता है, वह समझता है कि मेरे माध्यने मेरे लिये जो कुछ विधान कर दिया है वही परम कल्याणरूप है और वास्तवमें ही भी ऐसा ही। उसकी बुद्धिमें व्यथार्थ ही वह भाव नहीं आता कि भगवान्का कोई विधान कभी जीवके लिये प्रभमङ्गलरूप होता है। मङ्गलमय भगवान् अपने ही अंश जीवका अमङ्गल करी कर ही नहीं सकते। जब कभी वे किसीके लिये कोई दुःखका विधान करते हैं तो वह अरमन्त ही दयाके बश हो उसके कल्याणके अर्थ ही करते हैं। जैसे जननी अपने बच्चेके कल्याणके लिये कभी-कभी उसके साथ ऐसा न्यवहार करती है जो बच्चोंको बढ़ा कूर मालूम होता है और वह भूलने मातासे नाराज भी होता है, परन्तु माता उसके नाराज होनेकी कुछ भी परवा न कर अपने उस न्यवहारको नहीं छोड़ती, क्योंकि उसका हृदय स्नेहसे भरा है, वह बच्चेका परम हित चाहती है। इसी प्रकार स्नेह-मुखाके असीम सागर भगवान्, जिनके स्नेहकी प्रकृति दृढ़देवी ही विधकी सारी माताओंके हृदयमें वैष्णव उनको अनांदिकालमें स्नेहमय बना रखता है, अपने ध्यारे बच्चोंके लिये उनके हितार्थ ही दश्म-विधान किया करते हैं। उनका दश्म-विधान बैसा ही होता है, जैसे माता बच्चोंको आगे के सर्वीप जानेये रोककर उसे आळगा कर देती है, मर्ही मानता तो कभी-कभी बाँध देती है, अथवा उसके हाथमें छोरी या और कोई ऐसी चीज़, जो उसको चुकसान पहुँचानेवाली है और उसने मोहब्बता ले रखती है, जबरदस्ती छीन लेती है; और तुरे आचरण न छोड़नेपर बराती-धर्मकाती है। भगवान्के विधानद्वारा मनुष्यमें विषय-भोगोंके योग्य शक्ति न रहना, विषयोंसे अलग होने-को बाध्य होना, विषयोंका जबरदस्ती किन जाना या नाश है। जाना आदि कार्य इसी अर्थके हैं। वास्तवमें विषय-भोग—दुनियाके जन-साम, यश-कीर्ति, स्त्री-पुत्र आदि परार्थ तो मनुष्यको नरकाप्तिकी ओर ले जानेवाले हैं, जो इनमें रक्षण-प्रवता है वह दुःखन्दावानलमें दृश्य होनेसे नहीं बच सकता। भला, भगवान् जो हमारे परम सुहृद और परम हितैषी हैं, वे बस्तुएँ हमें क्यों देने लगे? और क्यों हमें हममें आसक्त रहनेकी स्वतन्त्रता प्रशान करने लगे? जो लोग केवल इन बस्तुओंकी रक्षा और प्रसिद्धि ही भगवान्की दया लक्ष्य है वे वही भूम करते हैं। वे

वस्तुएँ सो हमें संसार-सागरमें हुओनेवाली हैं, दयालु भगवान् इसे संसार-सागरमें डकेलनेके लिये इनको कैसे दे सकते हैं ? आता क्या कभी प्यारी सम्मानको जान-बूझकर भारम्भमें भीटे लगनेवाले जहर-भरे लड्डू दे सकती हैं ? क्या कभी उसे सोनेकी चिटारीमें रखकर कालनाय तरपे दे सकती हैं ? क्या कभी उसे लाल-लाल लपेंचाली आगमें भौंक सकती है ? फिर भगवान् ही ये विषय-भोग देकर ऐसा क्यों कर सकते हैं ? इसलिये बब ये विषय नहीं रहते, बब विषय-नाशहृष्ट सांसारिक इष्टिका कोई दुःख आता है, तब भगवान्के विकासी भक्तोंके विषय इर्ष्ये नाथ उठता है, वे उसको भगवकृपाये ओसप्रोते देखकर उसमें भगवकृष्णाकी माझीरी मूरतिके दर्शनकर शिशुकी भाँति उसको जोरमें पकड़ लेते हैं। उसमें उन्हें बबा आनन्द मिलता है, हम बातका प्रत्यय अनुभव होता है कि इमपर भगवान्की बड़ी प्यारी दया है।

इसका यह अर्थ नहीं, कि भगवान्से सांसारिक वस्तु माँगनेवालोंको वह नहीं मिलती है, वर्योंकि प्रत्येक वस्तु आती उन्हींके भयडारसे है, परन्तु ऐसी चीजोंके माँगनेवाले गलती करते हैं। भगवान्पर ही आख्या रखनेवाले विकासी अर्थार्थी भक्त यदि कोई ऐसी चीज माँगते हैं तो भगवान् उन्हें दे देते हैं और फिर उसी तरह उसकी सम्भाल भी रखते हैं जैसे आता छोटे शिशुके हठ पकड़ लेनेपर उसे आँख दे देती है, पर कहीं लग न आय इस बातकी ओर सतर्क इष्टि भी रखती है। भगवान्-की दयाके इस्त्यको जाननेवाला सबा निर्भर भक्त तो ऐसी चीजें माँगता ही नहीं। माँग भी नहीं सकता। उसको इष्टिमें इनका कोई मूल्य ही नहीं रहता। वह सो भगवान्-की इष्टिमें ही परम सुखी होता है। कभी माँगता है तो बस, यही माँगता है 'हे भगवन् ! मैं सदा तेरी इष्टिअनुसार यना रहूँ, तेरी इष्टिके विपरीत मेरे विषयमें कभी कोई शक्ति ही न उदय हो।' भगवान् मंगलमय हैं, उनकी अग्निष्ठामयी इष्टा भी कल्पाणमयी है, अतपर इस-प्रकारकी प्रार्थना करनेवाला भक्त भी मंगलमयी इष्टावाला अथवा सर्वथा इष्टारहित—निःस्पृह यन आता है। वह निष्य-निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें ही रहा रहता है और उसीमें उसको शान्ति मिलती है, जरा-सी देर भी किसी कारणसे भगवान्का विअरण हो जाता है तो वह उस महङ्गीसे भी अवश्युणा अधिक ब्याकुल होता है, जो

१४

जबसे अलग करते ही छटपटाने लगती है। वह संसारमें सर्वत्र, सब ओर, सब समय अपने प्रभुकी मुग्न-मन-भोगिनी धृतिको देखता और पक-पकमें पुकारित होता रहता है। सारा विषय उसे अपने प्रभुसे भरा दीखता है, इससे सामाविक ही वह सबकी सेवा करता है, सबको सुख पहुँचाता है। किसी भी भेषमें आये हुए पिताको पहचान लेनेपर जैसे सुपुत्र उसका अपमान और अहस नहीं कर सकता, उसे किंवित भी दुःख नहीं पहुँचा सकता, हसी प्रकार संसारके प्रत्येक जोबके भेषमें भक्त अपने भगवान्को पहचानकर उनका सरकार और हित करता है तथा प्राण-पश्यसे सुख पहुँचानेकी ही चेष्टा करता है। जो लोगोंके बीच किसी एक स्थान और मूर्तिविद्यापरमें ही भगवान्को मानकर अन्यान्य स्थानोंमें उनका अभाव आते हैं, वे भगवान्के स्वरूपको बहुत छोटा बना देते हैं, वे एक प्रकारमें भगवान्का लिंगस्तकर करते हैं, ऐसे लोगोंकी पूजासे भगवान् प्रसन्न नहीं होते, ऐसा भगवतमें कहा है।

मूर्ति-पूजा

इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्ति-पूजा नहीं करनी चाहिये। संसारमें ऐसा कौन है जो किसी-न-किसी प्रकारसे मूर्ति-पूजा नहीं करता; सारा जगत् ही मूर्तिपूजक है। जो अपनेको मूर्तिपूजक नहीं मानते, वे भी अपने किसी गुरु या नेताके विद्र या स्तेचू (पाण्यानिवित मूर्ति) को देख-कर उसका सम्मान करते हैं। भगवान्को न माननेवाला रहती भी लेनिनकी मूर्तियोंके सामने सलामी करता है। इश्वरोंका अभिवादन क्या मूर्तिपूजा नहीं है ? इश्वर कौन-सा सजीव पदार्थ है ? परन्तु उसका लोग बबा सम्मान करते हैं और उसके तनिक-मे अपमानमें अपना और अपने देशका अपमान समझते हैं। मातृ-भूमि—स्वदेश आदि नाम और उनके कल्पित रूपोंपर प्राण दे देना क्या प्रतीक-पूजा नहीं है ? मुसलमान भाई, जो महम्मद साहेबकी मूर्ति देखकर ही मूर्ति रखनेवालेको मानेको तैयार हो जाते हैं, क्या प्रकारान्तरसे मूर्तिको महत्व नहीं देते ? परन्तु इसमें और भक्तोंकी मूर्ति-पूजामें बबा अन्तर है, भक्त मूर्तिकी पूजा नहीं करता, वह सो केवल अपने प्रभु-की पूजा करता है। मूर्तिमें वह उन्हीं सचिदानन्दघन इष्टदेवको देखता है, उसकी इष्टिमें वह परथर, मिही या धारु नहीं है, वही सचिदानन्दघन सर्वव्यापी भगवान् है जिनके पृक अंतर्में सारे अब-चेतन विष-भ्रान्त भरे हैं,

परन्तु जो भक्तपर प्रसङ्ग होकर यहाँ इयामसुन्दररूपमें विराजित हो उसकी पूजा आण कर रहे हैं। इसीसे कहीं-कहींपर अगवल-भूतियोंका चक्षना, शोलना, हँसना, बरदान देना आदि सुना जाता है, जो बासबासमें सत्य है। भगवान् कहाँ नहीं है? वे भक्तके भावमें प्रसङ्ग होकर आहे जहाँ, वाहे जिस स्थानें अथवा अपने नित्य विद्युत्स्वरूपमें वाहे जब प्रकट हो सकते हैं।

‘हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेमते प्रकट होहिं मैं जाना॥’

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् शिवलीके वेदन हैं, जो सर्वथा सत्य हैं। अप्पि अन्यन्तरूपमें सब चीजोंमें व्याप्त है, परन्तु साधन करनेपर किसी भी वस्तुमें वह प्रकट हो सकती है, इसी प्रकार सर्वत्र निराकाररूपमें व्याप्त भगवान् भी भक्तके वश होकर व्यक्त हो जाते हैं। अवसार लेनेका भी यही रहन्य है।

अवतार

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् अवतार नहीं ले सकते। परन्तु येसा कहना भगवान्की सर्वशक्तिमातामें कभी करना है। भगवान् क्या नहीं कर सकते? इसीसे वे जब जहाँपर आवश्यकता समझते हैं, वहीं अपने दिव्य विद्याहों प्रकट करते हैं। एक बात यह व्यापारमें रखनेकी है कि भगवान्के अवतारोंमें कोई छोटाकड़ा नहीं है। सबमें पूर्ण भगवत्-शक्ति पूर्णरूपमें निहित है, साक्षात् भगवान् ही जब अवतारित होते हैं—इमारे बीचमें आते हैं, तब उनको शक्तिमें न्यूनार्धकाता का तो कोई सवारु ही नहीं रह जाता। यह दूसरी बात है कि कहाँ वे आवश्यक न समझकर अपनी कम शक्तियोंको प्रकट करें और कहीं अधिकको? कहाँ अधिक समयतक लीला करें, कहीं अल्प कालमें ही अन्तर्भौम हो जायें। परन्तु इसमें उनके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह सदा एकरस और समान है। उनका विरुद्ध ब्रह्मरूप गुणातीत है, उसमें किसी भी गुण या गुणारबक जगतका भाव नहीं है। उनका विद्युरूप शुद्ध सत्त्वगुणसम्बद्ध है, जो भूगुणोंकी कात सहकर उनके ऐर पलोटनेको तैयार हो जाता है, उनका विद्युरूप अच्छेजुरे सभी गुणोंसे सम्पूर्ण है—‘ये चैव सत्त्विका भावा राजसासामासाऽय ये। मत्त पद्वेति तात्त्विकि’ ‘मत्तः परतरं नाम्बद विद्युरिहस्ति चन्द्रजय’ भगवान् कहते हैं, सारे सारिक, राजस, तामस-भाव सुझासे ही दृष्टव्य आता, हे चर्णवधु! मेरे

आतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार उनके गुण-स्वरूप हैं। ब्राह्मणोंमें स्थित श्रीविष्णु सत्त्वस्वरूप है, श्रीमहा रवेशुगुणरूप हैं और श्रीशंकर तामसरूप हैं, यहीं शंकर जहाँ समष्टि-सदाशिवरूपमें रहते हैं, वहाँ परम कल्पाणमय, सत्त्वगुणमें भी ऊँचे उठे होते हैं। इसी प्रकार भगवती काली संहाररूपिणी—समोमयी हैं, माता शक्ति जगजननी सूजनकारिणी—इजोमयी हैं, जगदात्री माता उमा पोषणकारिणी—सत्त्वमयी हैं। इनके अतिरिक्त भक्तोंको परम आनन्द देनेवाले, भक्तोंके बीचन-धन, उनकी परमगति, परम आश्रय वे विद्य अवतार-विद्याह हैं, इनमें लीला और शक्तिके प्रकाशके तारतम्यमें श्रीराम और श्रीकृष्ण दो विशेष हैं। इनमें श्रीराम भर्यादाके आदर्श और सत्त्वगुणसम्बद्ध हैं और श्रीकृष्ण लोलामय और मर्वगुणसम्बद्ध है। ये और इसी प्रकार अन्यान्य सभी उन एक ही भगवान्के स्वरूप हैं, इनमेंसे जो स्वरूप, जिसको अच्छा लगे, जिसकी जिस स्वरूपमें प्रतीत हो, वह अपनी प्रकृतिके अनुसार सद्गुरुकी आज्ञासे उसीको अपने जीवनका ध्येय, परम इष्टदेव मानकर अनन्यभावसे उसीकी उपासनामें प्राप्योस्तर्ग कर दे। न दूसरेको बुरा बतावे और न दूसरेकी ओर लळकावे, ‘स्वधर्मं निघनं श्रेयः’ की भगवतुकिंको याद रखते हुए सन्देह-संशय-रहित होकर निश्चल-वित्तसे परम श्रद्धाके साथ सदा-पर्वदा अपने इष्टकी ही उपासना, मेवा और विनानामें लगा रहे। श्रीशंकरकी अनन्य उपायिका, अपना अनन्त जीवन सदाके लिये श्रीविष्णके चरणोंमें समर्पण कर देनेवाली भगवती उमाकी यह उक्ति सदा याद रखनी चाहिये—

महादेव अवगुन-मवन विष्णु सकृत गुण-धाम।
जाकर मन रम जाहि सन ताहि ताहि सन काम॥

साकार रूप मायिक नहीं है

कुछ लोग भगवान्के साकार, सगुण विद्य स्वरूपको मायिक बताते हैं और यह समझते हैं कि इसकी उपासना मन्द अधिकारियोंके लिये है, जो ऊँचे अधिकारी हैं वे सो इस मायिके परे शुद्ध सचिदानन्द ब्रह्मकी अमेद-भावमें उपासना करते हैं। शुद्ध भगवाँकी अमेद-पासवा भी उसम है, इसमें कोई सम्बद्ध नहीं, परन्तु भगवान्के साकार विष्ण लक्षणमें मायिक और मन्द

अधिकारियोंके सेवनयोग्य ही बतलाना बड़ी भारी गडती है। भगवान्‌ने तो श्रीगीता और श्रीभागवतमें इस दिव्य स्वरूपकी बड़ी अद्भुता गति है। वैशिक कुछ भक्तोंके मरणमें तो भगवान्‌ने श्राव-शब्द-वाच्य विविशेष स्वरूपको अपने आचारपर स्थित बतलाया है। कम-से-कम भगवान्‌का स्वरूप दिव्य, निय अमागिक है और श्राव-शानियोंके हारा भी सेव्य है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। हाँ, उस परम आनन्दमय दिव्य विद्रोहकी अवहेलना करनेमें ज्ञान-मार्गके उपदेशक उसके महान् सुखसे विद्वित जरूर रह जाते हैं। मार्यिक माननेवालोंके सामने भगवान् उस मुनिमनहारी अपने दिव्य साकार स्वरूपसे प्रकट नहीं होते। इसीमें तो मन्त्रोंका यह परम रहस्यमय मत है कि ज्ञानमार्गके पन्थी भगवान्‌के दिव्य साकार स्वरूपके दर्शन नहीं कर सकते। उनके मरणमें माया खुसी रहती है, इसमें उन्हें जहाँ-तहाँ माया ही दीखती है। वे भगवान्‌में भी मायाका आरोप करते हैं, कोई-कोई साकार, संग्रह भगवान्को ब्रह्मसे अभिन्न भानकर भी प्रायः कह देते हैं कि यह विद्याकी उपाधिसे युक्त है और हमारे लिये बैस ही हैं जैसे भगवान् असृत-समुद्रमें हृषे हुएके लिये एक गिलास जल। यह एक गिलास जल भी उस असृत-समुद्रका ही अभिन्नांश है परन्तु पक्त तो अलग गिलासमें है, (मायामें है) दूसरे अंश है, हम जब पूर्णमें स्थित हैं तो हमें इस उपाधियुक्त अंशसे क्या प्रयोगजन है? वास्तवमें यह अंहकारिक है। ऐसा कहना और मानना—अनुचित है, परन्तु जो ऐसा मानते हैं, मानें, उनके मानने-न-माननेमें भगवान्‌के स्वरूपमें कोई हानि-लाभ नहीं होता; अवश्य ही उनकी मूढ़तापर भगवान् हैंसते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

अवजानन्ति मां मदा मानुर्वी तनुमग्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

मूढ़ लोग मेरे इस परम रहस्यको न जानकर कि मैं समस्त विष-ब्रह्माण्डोंका अधीक्षर भक्तोंके प्रेमबद्ध और अपनी जगत्-लीकाओं द्वयवस्थित रक्षनेके लिये दिव्य विद्रोह प्रकटकर दिव्य लीका करता हूँ, मुझ मतुर्य-शरीर-धारी भगवान्‌को नहीं पहचानते हैं। मायासे उनके हृदयमें मोह हो रहा है। मेरी लीकाकी मायासे सरनेका उपाय मुझ मायापतिकी शरणागति ही है। (गीता ७। १४) परन्तु वे लोग मुझको नहीं भजते। मैं जो चर जड़-संसारसे

अतीत अचर भारमासे उत्तम हूँ, (गीता १५। १८) सबकी प्रतिहा हूँ (गीता १४। २७) सब चुर्लोंसे अंदे चुर्लीतम हूँ—

यो मामेवमसंमृद्धो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
सर्वविद्वन्नजति मां सर्वमावेन भारत ॥
(गीता १५। १९)

हे अर्जुन! इसप्रकार जो मूढ़तामें रहित तस्वीर पुरुष मुख पार्थसरथा वासुदेव श्रीकृष्णको 'पुरुषोत्तम' जानता है, वह सब कुछ जान गया है, वह किर सर्व भावसे केवल सुभको ही भजता है।

भगवान्‌को न पहचाननेवाला, शरीरधारी समझकर उनकी अवहेलना करनेवाला 'भगवान्' के शब्दोंमें ही 'मृष्ट' है और उनको सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम जाननेवाला ही 'असंमृद्ध' है। भगवान्‌ने इसको गुणतम रहस्य बतलाया है। (गीता १५। २०)

यही भगवान् निराकाररूपमें विश्वमें उसी प्रकार व्याप्त है जिसप्रकार सूर्यकी रसिमयाँ निराकाररूपमें जगतमें परमी हुई हैं। यह इष्टान्त पूरा भाव नहीं बतला सकता, केवल शास्त्राचन्द्रन्यायमें समझानेके लिये है। मनलब यह कि भगवान्‌के साकार विद्रोह दिव्य और निय हैं और वे महान् रहस्यमय परम तत्त्व हैं। इसका यह मतलब नहीं कि निराकार तत्त्व उनमें जुड़ा है या उनका अपेक्षाकृत लघु स्वरूप है। निराकार ही साकार है, साकार ही निराकार है, निराकार साकारका रसिम-स्वरूप है, तो साकार भी निराकारका ही प्रकट अग्रिमी भौति स्वरूप स्वरूप है। एक होते हुए ही दोनों स्वरूप निय हैं। यथापि यथार्थ ज्ञानी और भक्त निराकार-साकारमें वस्तुतः कोई स्वरूपगत भेद नहीं समझते तथापि ज्ञानीको निराकार और भक्तको साकार स्वरूप ही अधिक प्रिय है। ज्ञानी भगवान्‌के निराकार-स्वरूप ब्रह्ममें भिल जाना चाहता है, और भक्त सदा-सर्वदा भगवान्‌के साकार विद्रोहके चरणोंमें लोटे रहनेमें ही परमानन्दका अनुभव करता है। इसीसे यह रहस्य माना जाता है, कि ज्ञानी ब्रह्म बन सकता है, परन्तु (साकार संग्रह) भगवान् नहीं बन सकता। जहाँ वह भगवान् बनना चाहता है, वहाँ ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें उसे साकार संग्रह भगवान्‌की लीकाके आनन्दसे बहित होना पड़ता है, जो भ

सबसे बड़ा दुःख है। इसीलिये भक्त इस बासना-बीजको अपने अद्वितीय बड़ी सतर्कतासे सुरक्षित रखता है कि 'मैं कभी भगवान्‌की लीलासे अलग न रहूँ।' जन्म-जन्मान्तर-की परवा नहीं करता, किसने ही जन्म है, किसी भी योनिमें जाना पढ़े, परन्तु प्यारे भगवान्‌का हृषये कभी विछोड़ न हो, श्यामसुन्दर कभी आँखोंसे ओङ्काल न हों, वह प्राणघन प्रियतम मोहन सदा सामने नाचता रहे, उसकी अङ्गुष्ठिको देखता हुआ मैं सदा अपने जीवनको उसकी रुचिके अनुकूल बिताता रहूँ। जीवन उसकी लीलाका कीरणक बन जाय, उसमें अपनापन कुछ रहे ही नहीं।

भक्त कहते हैं—

न नाकपूँडं न च पारमेहृषं
न सर्वमौमं न रसाविष्टम् ।
न योगिसिद्धीपुनर्भवं वा
समज्ञस त्वा विरहय काङ्क्षे ॥
(भागवत ६। ११। २५)

वरं देवं मोक्षं न मोक्षावधि वा
न ज्ञान्ये वृणेऽहं वरेशादपीह ।
इदं ते वपुर्नीयं गोपालबद्धं
सदा मे भनस्याविरास्तां किमन्ये? ॥
(पश्चपुराण)

धर्मार्थकाममोक्षेषु नेत्राः प्रभं करदाचन ।
तत्पादपद्मकृजस्यावे जीवितं दीयतां प्रभं ॥
मोक्षसालोक्यसाक्ष्यान् प्रार्थये न वरावर ।
रुच्छामि हि महाभाग ! काश्यं तव सुन्दत ॥
(नारदपात्राच)

दिवि वा मुदि वा भमास्तु वासो
नरके वा भरकान्तक ! प्रकामम् ।
भवचीरितशारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥

हे भगवन् ! तुम्हें छौड़कर सुझाको भ्रुवोंक, हृषपद, सावंभीम-नाराय, पाताळ-राज्य, योगसिद्धि और अपुनभंव सुनिक आदि किसीकी भी इच्छा नहीं है। हे देव ! आप वरदाता ईर्षणोंके भी ईश्वर हैं, आप सब कुछ दे

सकते हैं। परम्परा मैं आपसे भोग या मोक्षतक्का कोई भी पदार्थ लेना नहीं चाहता। हे नाथ ! आप श्रीगोपालकाल-सूर्यिसे मेरे मन-मन्दिरमें सदा विराजित रहें, इसके सिवा मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। हे भगवन् ! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारोंमेंसे मुझे किसीकी भी इच्छा नहीं है। मेरे इस जीवनको सदा अपने चरणतलमें लुटाये रखें। हे धरणीधर ! हे महाभाग ! मैं साक्षोक्त्व, सास्त्रावधि भोक्त्रकी प्रार्थना नहीं करता। हे सुप्रत ! मैं तो केवल आपकी करुणा चाहता हूँ।

हे नरकान्तक ! मेरा निवास स्वर्गमें हो, पृथ्वीपर हो, आहे नरकमें हो, इसका मुझे कोई दुःख नहीं है, और सो क्या, मृत्यु-समयमें भी मैं तुम्हारे शरत्कालीन अरविन्दकी अवज्ञा करनेवाले चरणारविन्दका चिन्तन करूँगा।

इसी परम कल्याणमय बासना-बीजके कारण वह भगवान्‌की निष्ठ-लीलामें नियं सम्मिलित रहता है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह भगवत्तत्वके ज्ञानमे शून्य होता है या उसे कर्मवन्धनमें बँधे रहना पड़ता है, उसका कर्मवन्धन तो उसी दिन दृट गया था, जिस दिन उसने भगवान्‌को अपने प्राण सौंप दिये थे। ज्ञानकी सो बात ही क्या है, जब ज्ञानके मूल खोत भगवान् स्वयं उसके बाहर-भीतर नियं विहार करते हैं, वह ज्ञान सो उसे स्वयमेव ही ग्रास है। ज्ञानका चरम फल सुनिक उसके चरणोंका आश्रय पानेके लिये सदा लालायित रहती है, परम्परा वह सुनिको पिशाचिनी समझकर उसमें दूर रहता है और भक्तिको बड़े प्रेममें सदा हृषयमें छिपाये रखता है। 'सुनिक निरादरि भक्ति लुभाने।'

भगवान्‌की निष्ठ-लीला

भगवान्‌की निष्ठ-लीलामें कभी विराम नहीं है, स्थल जगत्की लीला तो हम सभी देखते हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश अमर्मे उसको उनकी लीला न समझकर कुछ और ही समझे हुए हैं। भगवान् तो स्पष्ट इशारा करते हैं कि तुम जगत्का जो रूप देखते हो, वह असली नहीं है, 'ऐसा

क मुकिमुकिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद्विक्षुलस्यात्र कमभम्युदयो भवेत् ॥

'जबतक भोग और मोक्षकी पिशाची इच्छा हृषयमें है तबतक वहाँ यक्ष-मुखका अनुदब देसे होगा ?'

मिलेगा नहीं,’ ‘न स्यमन्त्येह तथोपकम्भते’ हो तो मिले। परन्तु हम भगवान्‌की इस डकिपर ज्यान ही नहीं देते, और अपने मनोकलित स्वरूपके सत्य समझकर मुच्छ विषयोंके पीछे मारे-भारे फिरते और जित्य नया दुःख भोक्ते हैं। इस स्थूलके पीछे एक सूक्ष्म जगत्—अन्तर्जगत् है। उसमें प्रशान्ततया दी लार है—एकमें स्थूल विषय-बहान्डोंके सज्जालन-स्त्रीयोंको हाथमें लिये हुए अगवान्‌की विभिन्न अनन्त शक्तियाँ अनवरत किया करती हैं, स्थूल जगत्‌के बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन इस अमर्जगत्‌की शक्तियोंके जरा-से यन्त्र बुमानेसे ही हो जाते हैं। यह स्तर स्थूल और अपेक्षाकृत बात है, दूसरा सूक्ष्म और आन्तर्जगत्‌स्तर भी है जिसमें भगवान्‌अपने परिकरोंसहित निष्पत्ती-लोका करते हैं, जो मंसारकी समस्त लीलाओंका आधार है। और जिसमें एक-से-एक आगे अनेक स्तर हैं। भगवान्‌की परम कृपासे ही इन सारे रहस्योंका पता लगता है। मगुण साकार भगवत्-स्वरूपके अनन्य भक्त ही अमर्जगत्‌के इस सूक्ष्मतर स्तरमें प्रवेश कर सकते हैं और भगवत्कृपासे अधिकार प्राप्त होकर वे आगे बढ़ते-बढ़ते एक स्तरके बाव दूसरे स्तरमें प्रवेश करते हुए अनन्तमें उस सर्वोपरि परम सूक्ष्मतम स्तरमें पहुँच जाते हैं, जहाँ भगवान्‌की आत्मतम गुद्धतम मधुर लोलाएँ होती रहती हैं, इसी सूक्ष्मतम स्तरको श्रीरामभक्त ‘साकेत’, श्रीकृष्णभक्त ‘गोलोक’, श्रीशिवभक्त ‘कैलास’, परमधार, भगवान्कारण आदि कहते हैं। यही भगवान्‌का निर्य दिव्यधारा है, इसकी लीलाएँ अनिर्वचनीय होती हैं। यहीकी लीलाओंका कुछ बहुत ही स्थूल अंश और बहुत ही थोड़े परिमाणमें—अनन्त जलविष्ठिके एक जलकृष्णसे भी अल्प परिमाणमें श्रीअद्योत्पा, जनकपुर, चित्रकूट, पद्मबटी और श्रीहनुनाथ, मधुरा और प्रारकामें उस समय प्रकट हुआ था, जिस समय स्वयं भगवान्‌अपने कलिपय प्रिय परिकरोंसहित अयोध्यामें श्रीरामरूपमें और कृष्णावनमें श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे। उनका यह निर्यविहार आज भी बहाँ होता है, भगवान्‌जन देख पाते हैं! इसीसे वे लीलाधाम भगवान्‌को असि प्रिय हैं, श्रीरामचरितमालामें भगवान्‌श्रीराम इसी रहस्यका संकेत करते हैं—

यद्यपि सब बुझ बकाना। बद पुरान वीरति अग जाना ॥
अद्य सरिस प्रिय मोहिं न सोऽ। बह प्रसंग बानै काठ बोऽ ॥

ईश्वर-विश्वासकी आवश्यकता

को पथारे ज्ञानमार्गके उपासक या सब्दे भक्त हैं, उनके लिये तो यह प्रभ ही नहीं बन सकता कि ‘ईश्वर हैं या नहीं’ उनकी इटिमें यह प्रभ पागलके प्रलापके सिवा और कुछ नहीं है, जो चराचर विश्वको भगवान्‌में और भगवान्‌को विश्वमें व्याप देते हैं या जिनकी अँखोंके सामने भगवान्‌लिल त्रिमंग नवीन धनशयामस्वरूपसे सदा धिरकरे रहते हैं, उनके सामने ईश्वरके होने-न-होने-की चर्चा करना उनका अपमान करता है, ईश्वरको कोई माने या न माने, हसरसे उनका कुछ भी बनता-विगड़ता नहीं। और न ईश्वरका ही कुछ बनता-विगड़ता है। उल्लके सूर्यको न माननेसे सूर्यके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं पड़ती; ईश्वरके होनेकी बात तो उन लोगोंसे कहनी है जो मनुष्य होकर भी ईश्वरको भूले हुए हैं और इसके परिणामस्वरूप जो दुःखके अनन्त सागरमें दूबनेवाले हैं। भारतवर्षमें भी अनीश्वरवादी इन्द्रियाराम मनुष्य हुए थे परन्तु यहाँ इस बातका निर्णय अधिक-मुनियोंने प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर बहुत पहले कर दिया था, लोग प्रायः मान गये थे। कुछ ही समय पूर्वतक भारतमें मैसे आदमीका खोजनेपर मिलना मुश्किल था, जो ईश्वरपर अविश्वास रखता हो। श्रीआश्रामकराचार्य-सद्गुरु बेदान्तके महान् आचार्यसे लेकर ग्रामीण अशिल्हित किसानतक सभी स्त्री-पुरुष सरलभावसे ईश्वर और उनकी लीलाओंमें विश्वास करते थे। इसीलिये हमारे ईश्वरके प्रन्योग्यमें ईश्वर-सिद्धिपर विशेष उल्लेख नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है वह अधिकांश ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंके विषयमें ही मिलता है। ईश्वरके सम्बन्धमें जब कोई शङ्का ही नहीं रह गयी थी, तब उसके निराकरणकी क्या आवश्यकता थी? ईश्वर कुछ समयमें विदेशी भाषा-भावके अस्थधिक संसर्गमें हमारी संस्कृतिमें विकृति आरम्भ हुई और उसीका यह कठु कल है कि आज भारतमें जन्मे हुए भी कुछ लोग ईश्वरको और धर्मको स्वीकार करनेमें सकुचाते हैं, अथ ये विद्या-मुद्रिमें अपनेको किसीसे कम नहीं मानते। यह जड़ता अत्यन्त ही दुष्परिणामकारिणी होगी। भगवान्‌सुदुर्दि दें, जिससे भारत अपने सनातन सत्य आदर्शसे झुक न हो। आज जो दुःख-कष्टके पहाड़ दृट रहे हैं, इनका बहुत कुछ काह्य भगवान्‌के आध्यको मुक्ता देना है। और जबतक

भगवान्के अधिकारके सूक्ष्म सुखका प्रथल जारी रहेगा, तदतक सुख-शान्तिका स्फ़र कदापि सर्व नहीं हो। सकता।

सब फल ईडवर ही देता है

यदि हमें सुख-शान्तिकी भविलाला है तो हमारा सर्वप्रथम यही कर्तव्य होना चाहिये कि हम सर्वतोभावेन ईश्वरका आश्रय ग्रहण करें और उनके बलपर शान्तिके मार्गपर आगे बढ़ें, वह स्मरण रखना चाहिये, कि सुख-शान्तिका स्रोत भगवान्के चरणोंसे ही निकलता है। हमें किसी अन्य उपायसे—साधनसे या किसी अन्य देवताकी उपासनासे—जो सुख या सुखोत्पादक भोग मिलने हैं वे भी बहसे आते हैं; कारण, सजाना वही है। और जिस पदार्थ, मनुष्य या देवतामें मनुष्य विषयोंको प्राप्त करता है, वह पदार्थ, मनुष्य या देवता भी वस्तुतः भगवान् ही है। भगवान्ने कहा है—

कामैस्तंस्तैर्द्वैतशानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियतः स्वया ॥
यो यो यां यां तनुं मठः श्रद्धयाचितुमिष्ठति ।
तस्य तस्याचानं श्रद्धां तोषव विदधाम्यहम् ॥
स तथा श्रद्धा युक्तस्त्यारावनमीहत ।
कमते च ततः कामान् मैयै विहितानिदं तनु ॥
(गीता ७ । २०-२२)

विषयासक मनुष्य विषय-भोगोंकी कामनासे ज्ञानसं रहित हो जाते हैं और विषयोंकी प्राप्तिके लिये अपने-अपने खगवानुसार भौति-भौतिके नियम धारण करते हुए अन्य देवताओंके पूजते हैं। जो भक्त देवताके रूपमें मेरे ही जिस स्वरूपको प्रदाने पूजना चाहता है, उसकी मैं उसी स्वरूपमें श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ, किर वह मनुष्य श्रद्धाके साथ उसी देवताकी आराधना करता है और उसीके फलसे उक्त देव-स्वरूपके हारा उसे हचिछत बस्तुएँ मिल जाती हैं परन्तु मिलती हैं मेरे विधानके अनुसार ही यानी उतनी ही, जितनी मेरे उक्त देव-स्वरूपके अधिकारमें होती है और जिसी प्रदान करनेका उसका अधिकार होता है।

पूँ क आदमी किसी जिलेके अफसरकी मेवा करके उसे प्रसव करता है, जिकार्धी प्रसव होकर उसे उत्तमा ही चुरस्कार दे सकता है, जितना देनेका उसको राजाये अधिकार मिला हुआ होता है और वह देता भी है राजके छोरसे ही। वह जिकार्धी होकारा श्रिविविधि राजसनाका

एक अङ्ग है, राज्य शरीरका एक अङ्गबद्ध है, इससे उसकी पुजा प्रकारान्तरसे राज्याधीश नरेशकी ही पूजा होती है, परन्तु वह एक चुद्र जिलेके अफसरके रूपकी होती है, इससे उसे वह फल नहीं मिल सकता, जो स्वयं राजाकी सीधी पूजासे जिल सकता है, जिकार्धीका पुजारी राजा के महलका अम्लरंग सेवक नहीं बन सकता, परन्तु राजाका सेवक, महलके अङ्गर जानेका अधिकारी हो जाता है। 'महलका यानि मामपि'। भगवान् ने आगे कहा भी है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयनिवता ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यतिविधिपूर्कम् ॥

(गीता ९ । २३)

हे अर्जुन ! श्रद्धालु भक्त जो किसी फल-सिद्धिके लिये दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी वस्तुतः मेरी ही पूजा करने हैं, क्योंकि वे देव-स्वरूप भी मेरे ही हैं। परन्तु उनकी वह पूजा अविधिरूपक होती है। भगवान् ही सबके आधार, सञ्चालक, फलदाता, फलभोक्ता, स्वामी है, इस बातको नहीं जाननेके कारण ही मनुष्य भगवान्को छोड़कर सुखके लिये अन्य देवताओंका पूर्व अन्यान्य जड़ उपार्थोंका आश्रय लेते हैं। इसीमें वे बारम्बार दुःखोंमें गिरते हैं 'च्यवनित ते'। देवताओंके उपासक देव-लोकमें तो जा सकते हैं, परन्तु ईश्वरके अस्तित्वको न मानकर जह प्रकृतिके या केवल अर्थके उपासकोंकी तो बहुत बुरी गति होती है, वाहे वह अथेंपासना अविक्षित सुखके लिये हो या जाति अथवा राष्ट्रके हितकी कामनामें हो। जहाँ ईश्वरको भुलाकर केवल अर्थ-ज्ञानसे सुख, समृद्धि और अभ्युदयकी इच्छा और चेष्टा होगी, वहाँ पाप-पुण्य या सरकर्म-नुकर्मका विकार नहीं होगा, अविक्षित स्वाध्यके लिये दूसरी अविक्षित या राष्ट्रका सर्वनाश करनेमें कुछ हिचकिचाइट नहीं होगी, मनुष्य आधार्यमें अन्धा हो जायगा, परिणाममें उसे अव्यतम गति ही मिलेगी ! आजके मनुष्यों, जातियों और राष्ट्रोंमें इसी भावका पोषण हो रहा है और इसीमें द्रेष, वैर, हिंसा और ईत्यादीको संख्या बढ़ रही है। ईश्वरहित अहिंसा या सत्य भी रीढ़ ही छिह्न होकर प्रकारान्तरमें हिंसा और असत्यका स्व धारण कर लेते हैं; अभिमान, हृति, दर्प, असहिष्णुता आदि दोष तो सर्वज्ञका बाना परिणकर बदते रहते ही हैं। भगवन्किसे

शून्य के बल कुछ बाह्य आवश्यकोंसे सिद्धि, सुख और जीवित नहीं मिल सकती।

दैवीसम्पत्तिकी आवश्यकता

इसका यह अर्थ नहीं कि दैवीसम्पत्तिके गुणोंकी भक्तिमें जरूरत नहीं है, प्रत्युत भक्तिकी तो कस्तीटी ही दैवीगुणोंका प्रादुर्भाव है। ईश्वर-भक्तिमें ही दैवीगुण नहीं होते तो और किसमें होते? जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर-भक्तिमें दैवीगुणोंकी कोई आवश्यकता नहीं या कोई ईश्वर-भक्त होकर भी दैवीगुणोंसे हीन रह सकता है, वे भ्रम फैलाते हैं। यह बात वैमें ही है, जैसे कोई यह कहे कि सूर्यमें अनधकार है, या अप्रिमें दाहकता नहीं है। जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण अवश्य ही रहते हैं। हाँ, ईश्वर-भक्तके विना केवल दैवी-गुण चिरकालतक नहीं टिक सकते, किसी कारणमें कुछ आते हैं, परन्तु शीघ्र ही उनका विनाश हो जाता है। जहाँ स्थायी दैवीगुण है, वहाँ भक्ति अवश्य है और जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण भी अवश्य होने चाहिये।

ईश्वरवादियोंके पाप

इस बातको न माननेके कारण ही तो बड़ा अनर्थ हो गया। ईश्वरको माननेका दावा करनेवाले जोग दैवी-गुणोंकी परवा न करके इस भ्रममें पढ़ गये कि दैवी-गुण हों या न हों, जाहे इम कितना ही पाप क्यों न करते रहें, ईश्वर-भक्तिसे इमारा सब कुछ आप ही ठीक हो जायगा। इसमें कोई सम्बेद नहीं कि ईश्वर-भक्तिसे पूर्णके बड़े-न्से-बड़े महापातक भी आगमें सूखे हैं-जनके समान लकाल भ्रम हो जाते हैं, परन्तु जो भक्तिके बलपर पापोंको आश्रम देते हैं, भक्तिके सहारे पाप करते हैं, ईश्वरके नामपर भनमाना अनाकार, अस्याकार और अव्यविचार करते हैं, उनके पाप तो बद्धलेप होते हैं। आत-आतमें ईश्वरका नाम करनेवाले जोग अब दम्भसे भर गये, भनमाना पाप करने लगे, ईश्वर-भक्तिके लोगोंमें अकाचार होने लगा, भक्तका वेश अभिनवारकी लोगोंके कामाचारका साधन बन गया, दूसरोंपर भूड़ा देव जमाकर उन्हें कुसलाकर मृठी तसली या आशासन देकर डलसे बन देंडा, डलसे दूजा प्राप करना और उनकी बहिन-प्रेदिवोंपर कुरी नवारोंसे देखना आरम्भ हो

गया, मन्दिरों और लीयोंपर अभिनवारके छद्मे बन गये, भगवानकी भूतिसकके गहने उजारियोंहारा ही उराये जाने लगे, तब स्वामार्थिक ही ऐसे ईश्वरवादियोंके प्रति लोगोंमें अश्रद्धा, दृश्या और दुभ्रोचना उत्पन्न हुई और साथ ही यह भी भाव आज्ञा द्वारा कि अब ईश्वर इस लोगोंका कुछ भी बहने करता जो उसके नामपर इतना जुल्म करते हैं, तब उस ईश्वरको भावनेमें व्या लाभ है? यथापि लोगोंका यह निश्चय अमन्य है तथापि गहरा विचार न करनेपर ऐसा होना अस्यामार्थिक नहीं है। आग जो अनीश्वरवादी लहर वह रही है, इसमें इन भेदको स्वाक्षरमें भूमि हुए भेदियोंने-ज्ञानी और भक्त-रूपको कलहित करनेवाले मनुष्योंने वही मदद की है। यह सब दुष्टा और हो रहा है, परन्तु वास्तवमें बात तो यह है कि ऐसे लोगोंको ईश्वरवादी मानना ही भूल है, जो ईश्वरके नामपर पाप करता है, सर्वभ्यापी ईश्वरको मानकर भी पाप करते नहीं सकताता, छिपकर पाप करनेमें कोई संकोच नहीं करता, वह वास्तवमें ईश्वरको मानता ही कहाँ है? इन लोगोंके आवश्योंमें ईश्वरकी सत्तामें कोई अस्तर नहीं पहला और न सब ईश्वरभक्तोंका ही कुछ विगड़ता है।

उपसंहार

ईश्वरमें विश्वास होना यथापि वह सौभाग्यका विषय है, परन्तु यह सौभाग्य ईमलोगोंको प्राप करना ही पढ़ेगा। सत्संग, ईश्वरविश्वासी महामार्योंकी वाणी, सद-शास्त्रोंका अध्ययन, ईश्वर-प्रार्थना आदि उपायोंसे ईश्वरमें विश्वास बढ़ता है; इसलिये मनुष्यको वही सावधानीके साथ अपने आसपास सभी प्रकारका ऐसा वासावरण रखना चाहिये विसमें ईश्वर-विश्वास बदानेवाली ही सब चीजें हों। ऐसा करनेमें यदि कोई सांसारिक हानि हो तो उसे ईश्वरका आशीर्वाद समझकर सहर्ष स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि ईश्वरमें अविश्वास करनेमें बहकर अन्य कोई भी हानि नहीं है, इसमें मनुष्यका जितना पतन होता है, उतना अन्य किसी बातमें नहीं होता।

नित्य नियमपूर्वक भगवान्में विश्वास बदानेवाले प्रथम पढ़ने चाहिये, भगवान्-विश्वासी उल्लेखोंसे यथावसर विज्ञान-की चेष्टा करनी चाहिये। उनके अनुभव और उनकी विज्ञानोंको सब्द समझकर उन्होंके साथ उनके वस्तुओं

हुए साधनोंको कार्यान्वयित करना चाहिये। ऐसा करते-करते लब भगवत्में विश्वास बढ़ जायगा, तब भगवान्कपाळ सूर्य उदय होकर इसारे सारे अन्तर्राक्षरों दूर कर देगा, किर हमें सर्वत्र आनन्द, सब और शास्ति, सबमें विज्ञाना-नम्बद्धन परमात्माका भाव विद्यायी देगा। यदि और भी सौभाग्य हुआ तो सारी चेतना, समस्त आनन्द, समूर्य प्रेम, अखिल ज्ञान और विष्व माधुर्यकी घटमूर्ति, नव-जलधर, नवकिंशोर, नटवर, कलित श्रिभगवंतीमें मधुर-मुरुर्कीमें सुर भरते हुए हमारे ईष्टिगोचर होंगे, उस आनन्द सौन्दर्यरथि, जित-हास्य, धीतवसन और बनमालाजारी, गं-प-गो-पिका-परिवेष्टि क्षाम मूरतिको देखकर फिर कुछ भी देखना,

करना-धरना शेष न रह जायगा। उस विष्व आनन्द-रस-महोद्धिमें हृषकर हम गा उड़ौंगे—
मुकुके रंगनिपर इन्द्रको बनुव वारै,
अमल कमल वारै लोचन विसालपर।
कुँडलकी प्रमा पै कोटिक प्रमाफर वारै,
कोटिक मदन वारै वदन रसलपर॥
तनके बरन पै नीरद सजल वारै,
चपला अमकि भनमोहनकी मालपर।
चाल पै मराल वारै, मेरो तनमन वारै,
कहा कहा वारि डारै नंदद्रुके लालपर॥

ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण

(लेखक — श्रीफिरोड़ कावसनी दावर एम०३०, पल-एन०१०)



ईश्वर है? और यहि है तो वह कौन है और कहाँ रहता है? धार्मिक वृत्तिका मनुष्य जिसे माताके दूधसे ही ईश्वरके अस्तित्वकी चिक्का मिली है, इस प्रणालीको निरा नास्तिकताका धोतक तथा इसके उत्तर देनेकी चेष्टाको घटातापूर्ण धूंवं विफलप्रयास समझेगा। एक धर्मिहीन, असहाय एवं बिना पंखके पक्षि-शाशकके लिये, जो बगलकी कंठीमें क्षा हो रहा है यह देख नहीं सकता और ये भी ही दूरपर होनेवाली बातको भी सुन नहीं सकता, अपाहृकी याह लेने अथवा अपरिमेयका माप करनेकी चेष्टा कैसी दुःसाहस्रण समझी जायगी?

अवश्यक विज्ञान रूपाहृ, चौडाई और मांटाई इन तीन परिमाणोंका ही पास लगा सकता था, सम्प्रति प्रो० ईम्सटीन (Prof. Einstein) नामक आधुनिक वैज्ञानिकने गहराईको चौथा परिमाण बताया है। इतनी सीमित मात्राएँ व्या उस परात्पर पुरुषको अवगत कर सकती है जिसकी इयत्ताका अनुभव विज्ञानकी पहुँचके परे और दर्शन-शास्त्रकी गतिसे अतीत है? प्रसिद्ध पाश्चार्य दर्शनिक कैंट (Kant) ने लिखा है कि भौतिक सुष्ठि देख, काल और कार्य-कारबाहवपी त्रिभुज-प्राचीरसे परिवेष्टि है और इस उसीके अन्दर रहते, चलते, लिते तथा उत्थान होते हैं। मनुष्यके लिये उस अखिल

विश्वके इच्छिताको अपनी बुद्धिसे मापनेकी चेष्टा कैसी वाकिलशापूर्ण है जो देश और काल ही अपेक्षा अनन्त-गुना महान् है और देश-कालकी सहि जिसके द्वारा हुई है एवं जिसे अरबी-माचामें 'मुस्मृतुल असदाव' अर्थात् समस्त कारणोंका कारण कहा गया है? अंशका अंशीको जान लेना और जलसीकरके लिये जखनिजिका थाह लगाना कैसी असम्भव बात होगी? भौतिका रूपीने क्या ही अच्छा कहा है—‘तितली, जो वसन्त-बहुमुखमें पैदा होकर जाकोंमें अपनी जीवन-यात्राको समाप्त कर देती है, इस सारे बगीचेकी उपरति और स्थितिको कैसे जान सकती है?’ मनुष्य अपनी बुद्धिके द्वारा जो ऊँची-से-ऊँची कल्पना कर सकता है, ईश्वर उसकी अपेक्षा अनन्तगुना महान् है। प्रसिद्ध अंग्रेज कवि टेनीसन (Tennyson) ने ईश्वरको उत्ताकी वह सीमा बताया है जो सदैव ऊँची उठती रहती है (The height that is higher) गम्भीर तर्तुका अस्त्यन्त सूझम विशेषन करनेवाले उपनिषदोंके भी हारकर अन्तमें यही कहना पड़ा कि ईश्वरके सम्बन्धमें इस केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह यह भी नहीं है, यह भी नहीं है (नेति नेति)। फिर वह क्या है, इस सम्बन्धमें उपनिषद् भी योन चारण कर करते हैं, इसके सिवा उन्हें कोई दूसरा भाग नहीं सुझता। हिन्दू-शास्त्रोंमें ईश्वरको सद अपार्णु विज्ञान कहा गया है और इससे आगे हुआ कहना बनता भी नहीं।

किसी सज्जीव वार्थिक पदार्थकी परिभाषा द्वयस्पत्ने हो ही नहीं सकती। केवल निर्बोध वस्तुओंका ही ठीक-ठीक कहव बताया जा सकता है, जीवित तथा विकसित होनेवाले पदार्थोंका नहीं। परमात्मा सद् अर्थात् तीनों कालमें विद्यमान है। और इसीलिये उसका कोई भी लक्षण, चाहे वह कितना ही गम्भीर, विचाररूप परं सूखम् वर्णों म हो, उसके स्वरूपका तत्त्वतः पूर्णतया निर्देश नहीं कर सकता।

इसी असमर्थताके कारण नास्तिकोंने ईश्वरके अस्तित्व-को न भानना ही सुकर समझा और वास्तवमें ईश्वर है भी ऐसा ही, जो युक्ति और तरफे द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। किसी दार्शनिकके लिये ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणित करना उतना सहज नहीं, जितना एक गँगावरके लिये अपने मनमें यह कहना कि 'ईश्वर नहीं' है। तथापि अनन्तताके महासागरमें मैं अपनी हुदिस्ती जीर्ण नौकाओं को छोड़कर उसे धोके दूर दूषण-फिराकर पुनः किनारेपर छोट आना चाहता हूँ क्योंकि मुझे यह भय है कि बिना सोचे-समझे आगे बढ़कर कहीं मेरी यह तरी विशाल तरङ्गोंमें बिलीन न हो जाय। यथापि यात्रा शङ्खायुक्त है और निर्दिष्ट स्थान दूर है तथा स्पष्टतया भासता है, किर भी मैं आशा करता हूँ कि मेरे प्रशास्त उद्देश्यको व्याप्तमें रखते हुए सहज य सज्जन मेरी छटापर झमा करेंगे।

प्रसिद्ध अंग्रेज़ विड्नान् पड़मण्ड बर्क (Edmund Burke) ने कहा है कि मनुष्य धार्मिक प्राणी है। (Man is a religious animal) अतएव उसको इस विश्वकी पहेंडीके सुझकाये बिना ऐन नहीं पढ़ता। पेटकी ज्वाकाकी अपेक्षा आत्माकी ज्ञान-बुझक्षा कहीं अधिक प्रबल होती है और वह ज्ञानकी भूल जब एक बार भी आगृह हो जाती है तो वह कदापि भूल नहीं सकती। प्रसिद्ध अंग्रेज़ कवि रॉबर्ट ब्राउनिंग (Robert Browning)के 'Cleon' नामक काव्यमें एक दार्शनिकका वर्णन है जो किञ्चित् ज्ञान प्राप्त कर लेनेके अनन्तर सब कुछ जाननेके लिये उसके बाद पूर्ण एवं असीमको समझनेके लिये आकुक हो उठता है। वह कहता है कि ज्ञानशक्तिसम्पन्न मनुष्यकी अपेक्षा एक कुत्तेका जीवन अधिक सुखमय है क्योंकि उसके अनन्त जिज्ञासारूपी मीठी छब्बी और ज्ञानकी भूल नहीं होती। उसका कहना है कि मनुष्यकी

बुद्धि उसके लिये ईश्वरका आशीर्वाद भी है और अभिशाप भी, क्योंकि वह उसे रात-दिन ईश्वर-सम्बन्धी शंका-समाचारोंके भवंतव्याकामे मुमासी रहती है और उसे तब-तक ऐन नहीं लेने देती जबतक कि वह सर्वज्ञ न हो जाय। मनुष्यकी यही दशा है। उसे परमात्माने बुद्धि दी है जो उसके लिये सुख एवं दुःख दोनोंका कारण है और जो सदा जागरूक रहकर उसे भाँति-भाँतिकी शंकाओंसे व्यवित करती रहती है एवं उस दिव्य प्रदेशकी ओर उड़ना चाहती है जिसके सम्बन्धमें उपनिषदमें यह कहा है कि वहाँसे बायी भनके साथ छौटकर चली आती है।

यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

यह अपर कहा जा सका है कि ईश्वरको बुद्धिसे जात लेना उतना ही असम्भव है कि जितना अंशके लिये ध्यानी-को। स्थानी रामतीर्थने ठीक कहा है कि इसप्रकारकी चेष्टा सीदियोंसे चढ़कर स्वर्गमें पहुँचनेकी चेष्टाके सदाचार व्यर्थ है। ईश्वरके और इमारे बीचमें अन्धकारका जो पर्दा पषा हुआ है, उसे विश्वान बुद्धि एवं ज्ञानेनिश्चयोंकी सहायतासे भेदनेमें सर्वथा असमर्थ है। विश्वानकी गति पाञ्चभौतिक जगत् एवं प्रकृतिकी क्रीडाके आगे नहीं है, सारी दौद-धूप कर लेनेके बाद वैज्ञानिकोंके अन्तमें यह पता लगता है कि 'मैं अबतक चढ़करमें ही रहा और ईश्वरको जान लेनेके प्रयत्नमें एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका, जहाँसे चढ़ा या वहाँ अब भी हूँ।' वास्तवमें परमात्मा-तत्त्वकी वैज्ञानिक उङ्गसे छान-बीन करने और उसकी अपार शक्तिको तकंके द्वारा सीमाबद्ध करने तथा नापनेकी कोशिश करनेमें हम उस परापर पुरुषको बहुत छोटा बना देते हैं। एफ० एच० जेकबी (F. H. Jacobi) नामक पाश्चात्य विड्नाने कहा है 'वह परमात्मा नहीं रह जाता, जो हमारी समझमें आ सकती है। (A God whom we can understand would be no God) जो बन्दु भली-भाँति बुद्धिमें आ सकती है, उसके प्रति भय और आदर-का भाव किसके हृदयमें उत्पन्न होगा? उस व्यक्तिके सामने, जिसे हम समझ सकते हैं, अपने अधीन कर सकते हैं और जिसका विश्लेषण कर सकते हैं और इसप्रकार जो हमसे कहीं छोटा है, हम क्यों सिर मुकायेंगे? ऐसी दशामें ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कहाँ रहेगी? वह तो उसके उपासकज्ञ गुण बन जायगी, जो एक असम्भव बात होगी। प्रसिद्ध पाश्चात्य धार्मिक द्व्यो-

(Rousseau) ने कहा है कि ईश्वरको मैं जितना कम समझता हूँ, उसना ही अधिक भक्तिके साथ मैं उसकी प्रार्थना करता हूँ। (The less I comprehend God, the more devoutly do I pray.) उसकी यह उक्ति बहुत अंशमें उचित ही है। कल्पना और विश्वान, काम्य एवं कला तथा स्वाम् एवं क्षायादर्शनके द्वारा हम उस तिमिराच्छ भनिंदरके स्वामीकी आप्यह-सी मङ्गल ही पाते हैं जिसके कपाट उन लोगोंके लिये बन्द रहते हैं, जिनका उसके अन्तर्भूतमशब्दमें प्रवेश नहीं है। आन्तरिक ज्ञान-के द्वारा ही हम परमात्माको जान सकते हैं, नहीं, नहीं, अनुभव कर सकते हैं, जान नहीं सकते। साक्षात्कारके द्वारा उसे उपलब्ध कर सकते हैं। हम ईश्वरको जान नहीं सकते, ईश्वर बन सकते हैं और जिसप्रकार विनाशी अधिकी लपटके साथ मिलकर एक हो जाती है अथवा अङ्गकी बूँद समुद्रमें समा जानी है उसी प्रकार हम उसके स्वरूपमें उक्त-मिल जा सकते हैं। हमें किसी फळका ज्ञान द्वा प्रकारसे हो सकता है। प्रथम, यह है कि हम उसे किसी दैशिनिकके पास ले जायें जो हमें उसका परिमाण्य तथा सोल बताके, वह किन-किन तत्त्वोंसे बना है तथा उसकी जाति एवं अवान्तर-भेद क्या है, यह विश्वय करे और कदाचित् उसका फळिन लैनिं भावाका नाम बताकर हमें भयन्तीत कर दे। परन्तु वास्तवमें हम उस फळको नभी यथार्थ जान सकते हैं, जब हम उसका आस्वादन-कर उसे उदरस्य कर लेंगे। बाय-ज्ञानकी प्रक्रिया किसी अंशमें अवश्य काभासायक होती है, किन्तु वास्तविक अनुभव तो अपरोक्ष-ज्ञानमें ही मम्भव है। अतएव ईश्वरका साक्षात्कार बाय-प्रक्रियासे नहीं, किन्तु आन्तरिक प्रक्रियासे, चर्म-चक्षुसे नहीं किन्तु आभ्यन्तर-चक्षुसे, आम-शुद्धि, आरम्भान तथा आम-निश्चयसे ही हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि महान् दार्शनिक महान् आदिक भी हों। आज बेकन (Bacon) साहब यदि जीवित होते तो वे निष्ठालिखित अधीक्षिक बात भूलकर भी न कहते जो उन्होंने (यथापि तुम्ही नीयतसे नहीं) कही थी। वे कहते हैं—‘दर्शन-शास्त्रका अवश्यक मनुष्यको परमात्मासे विमुक्त बना देता है व्याप्तिके वह उसके परमात्माके अतिरिक्त अन्यान्य कारणोंपर अधिक और देता सिद्धान्ताता है; किन्तु शहन दार्शनिक विचार पुनः मनुष्यको ईश्वरी और मुक्ता देते हैं।’ यदि तुम्ही-ज्ञान शास्त्री

पूर्यतासे ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती, तो संसारके अलेक्टों प्रसिद्ध विद्वान् नास्तिक व्यर्थों बने रहते ? हस्तके विपरीत ऐसे अलेक्टों भगवत्प्राप्त सिद्ध पुरुष और योगी हो चुके हैं, जिन्हें अचर-ज्ञान भी नहीं था, यद्याँतक कि जो अपना नाम भी स्वयं नहीं किल सकते थे। परमात्माकी प्राप्ति बुद्धिके विकासका फळ नहीं है, अपितु आरम्भके उद्देश्यका परिणाम है, जो आभ्यन्तर-दृष्टिकी शक्ति बढ़ानेसे ही समझ हो सकता है, अधिक शक्तिसम्पद बौद्धिक वशमें धारण करनेसे नहीं। बुद्धिवादका बहमा तो आभ्यासिक ईश्वरकी मन्दसाकारा ही शोतक है। किन्तु चक्षिये, पहले तात्किं ग्रनाणोंसे निषट थे और देख लें कि हस्तप्रकारके ग्रनाणोंसे हमारा समाधान नहीं हो सकता। हस्तके अनन्तर आभ्यन्तर ज्ञानकी प्रक्रियाका उद्देश्य करेंगे, जो ईश्वरके साक्षात्कारकी एकमात्र कुञ्जी है।

ईश्वरवादी दार्शनिकोंने ईश्वरके अतिलक्षको पुष्ट करने-वाले ग्रनाणोंको तीन अंगियोंमें विभक्त किया है—

१—उस शास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले, जिसमें वस्तुओंके तत्त्व एवं स्वभावका विचार होता है (Ontological)।

२—सृष्टि-विकासके सिद्धान्तमें सम्बन्ध रखनेवाले (Cosmological)।

३—उस शास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले, जिसमें संसारके आदिकारणोंपर विचार किया गया है (Teleological)।

इङ्ग्लैंडके पादरी एम्सेल्सम (Archbishop Anse l'm) और प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक डेकार्टे (Descartes) इन दोनोंने पहली श्रेणीके ग्रनाणोंसे ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध किया है। इनका सिद्धान्त यह है कि हमारे भावतः-करणमें ईश्वरकी जो भावना है, वह ईश्वरकी प्रेरणासे ही है और उससे ईश्वरकी बाय-सत्ता सिद्ध है। ईश्वरकी कल्पना ही उसकी सत्यताका प्रमाण है। डेकार्टे की मान्यता यह थी कि जिसप्रकार गणित-शास्त्रमें त्रिमुखीकी कल्पनाके लिये यह मानना आवश्यक है कि उसके तीन कोण भिलकर दो समकोणके बराबर होते हैं, उसी प्रकार परमात्माकी कल्पनाके लिये उसका अस्तित्व आवश्यक एवं अनिवार्य है। महान् दार्शनिक हेगेल (Hegel) का भी हस्तसिद्धान्तकी ओर मुक्ताबधा व्याप्तिके उसका यह विचार था कि ईश्वर हमारी आवश्यका ही मूर्त-व्यष्टि है। उसकी आवश्यकता यह थी कि ईश्वरका विकास हमारे वार्षिक अनुज्ञाद-

का विषय है और हमारा अनुभव जितना अधिक गहन और स्थायक होगा, ईश्वरकी अभिव्यक्ति हमारे लिये उत्तमी ही अधिक वास्तविक होगी। किन्तु उपर्युक्त प्रमाणसे पूर्ण समाधान नहीं होता, क्योंकि ईश्वरकी कल्पनामें उसके अस्तित्वको सिद्ध करना दोषर्युक्त तर्क है। प्रो॰ नाईट (Prof. Knight) अपने ग्रन्थ 'Aspects of Theism' में (जिससे मुझे इस प्रभापर विचार करनेमें अत्यधिक सहायता मिली है) लिखते हैं कि उपर्युक्त प्रमाणका तभी कुछ मूल्य हो सकता है जब इसके द्वारा यह प्रमाणित हो सके कि ईश्वरकी भावना हमारी बुद्धिमें इतनी बढ़मूल हो गयी है कि वह हमारे अन्तःकारणसे निकल ही नहीं सकती। परन्तु यह सिद्ध करना आसान नहीं है। फिर एक बात और है। यदि हम हम प्रमाणका अनुसरण करें तो हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम 'Centaur' नामक भावानक जन्मके अस्तित्वपर भी विश्वास करें, जिसका आशा शरीर यूनानकी आख्यायिकाओंमें घोड़ेकान्या और आधा शरीर अनुष्ठानका-सा वर्णन किया गया है, क्योंकि इसप्रकारके जन्मकी कल्पना हम अपने मनमें अवश्य कर सकते हैं। अतः यह प्रमाण निश्चिक काल्पनिक है और वास्तविक तथ्यके सामने विस्फूल ही छहर नहीं सकता।

सृष्टि-विकास-सम्बन्धी (Cosmological) प्रमाणका स्वरूप यह है कि विना कारणके जगतमें किसी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती और उस कारणका भी कारण होमा चाहिये और इसप्रकार प्रत्येक कारणके कारणका अनुसन्धान करनेसे इम जगतके आदिकारणातक पर्हृच जाते हैं और वह आदिकारण ईश्वर है।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्ट्ट (Aristotle) के नतमें जगतका यह चरम एवं चेतन कारण संसारहृषी चक्रका प्रधान सञ्चालक है जो सबको बुमाता है किन्तु स्वयं अचल है, जो पूर्ण निराकार अतएव विष्य चेतनशक्ति है। उसकी मान्यता यह थी कि किया चाहे निरूप ही क्यों न हो, वह अगगित सांसारिक विवानोंके साथ नहीं हो सकती, जबतक कि अन्य सबका हेतु कोई मूल कारण न हो। किन्तु इसके विस्तृदृश्य (Hume) जैसे दार्शनिकके लिये यह तर्क उपस्थित करना विस्फूल सहज या कि कारणका अनुसन्धान ईश्वरका ही सीमित क्षेत्र हो। ईश्वरके भी कारणका पता क्यों न कानाया जाय?

यही नहीं, ईश्वरके कारणका पता लग जानेपर भी क्यों रुका जाय? इस अनुसन्धानके कार्यमें कहीं भी रुकनेकी क्या आवश्यकता है? फिर यदि हम आविकारण अर्थात् ईश्वरका पता लगाकर रुक जाते हैं, तो यह प्रतीत होता है कि हम ईश्वरको केवल विश्वासके आधारपर मान करते हैं। यह चाहे आवश्यक ही हो किन्तु ऐसी दशामें हमारी विचारपदसि वास्तवमें तर्क-प्रधान नहीं रह जाती। अतः यह प्रमाण भी जो बहुधा उपस्थित किया जाता है, तर्क-की कसौटीपर नहीं उत्तरता।

ईश्वरवादके पश्चात् सबसे अधिक सम्मान्य प्रमाण Teleological है, जिसके अन्तर्गत 'जगतकी सम्पोजनता' (Argument from design) का प्रमाण भी है। इसका स्वरूप यह है कि सृष्टिमें ऐसी अद्भुत स्थिरस्था एवं नियमितता है कि हमारे लिये यह मानना आवश्यक हो जाता है कि कोई महान् रचनेवाली शक्ति अवश्य है जिसने इस विवित्र संसारकी रचना की है। मान लीजिये कि एक दूटा-सा पुराना छक्का पत्थरोंमें लड़ा हुआ सबकपर जा रहा है, उसमेंमें पत्थर अमीनपर गिरते जा रहे हैं और विवित्राती बात यह है कि वे पत्थर इस क्रमसे गिर रहे हैं कि उनके संयोगद्वे अपने आप निम्न-लिखित वाक्य बन जाता है—

'बम्बई एक विशाल और सुन्दर नगरी है।'

यदि इसे कोई यह बात कहे तो क्या हम उसपर विश्वास करेंगे? एक चलती हुई गाड़ीपरसे स्वतः गिरनेवाले पत्थर क्या कभी इस नियमसे गिर सकते हैं कि उनके संयोगसे एक वाक्य बन जाय, जबतक कि किसी पुरुष-विशेषने यह काम न किया हो? इसी प्रकार सृष्टिके कार्य भी इतने नियमित होते हैं कि हम यह कभी नहीं मान सकते कि यह सारे कार्य परमाणुओंके आकस्मिक संयोगके ही फल हैं, अपितु इसे यह मानना पड़ता है कि कोई ऐसी चेतनशक्ति अवश्य है, जिसने किसी नियमित उद्देश्यको लेकर इस सारे विकासकी रचना की है। इसके अतिरिक्त हम इस बातका अनुभव करते हैं कि इस विकासके जितने भी विधान है, वे सब अनन्त होते हुए भी सामान्यसे युक्त हैं। इसलिये हम इस नियमित पर्हृचते हैं कि इन सबका विचायक एक सर्वज्ञ एवं अविनाशी अवश्य होना चाहिये।

किन्तु यह सिद्धान्त भी, जो सामान्यतया बहुत युक्त-युक्त प्रक्षीप द्वारा होता है, पूर्ण एवं वर्यापूर्ण नहीं है। यह

ब्रह्माण्ड यथापि अत्यन्त विशाल है किन्तु फिर भी ससीम है और हस ससीमके द्वारा ईश्वरका अनुमान करनेमें यह दोष आता है कि ससीम कार्यकलापसे हम एक असीम उपादान-कारणका अनुमान करते हैं, जाहे वे कार्यकलाप असंख्य ही क्यों न हों। हाँ, यदि हम किन्तु दूसरे प्रमाणोंसे यह निश्चय कर लें कि कोई ईश्वरीय शक्ति है, तब तो हम हसप्रकारका अनुमान कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। और ऐसा करनेपर हम लौटकर फिर उसी स्थानपर पहुँच जाते हैं जहाँसे चले थे। जबतक हम निखिल विश्वका पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर लें, तबतक (असप्ताहानी) हम उसके अनन्त विद्याओंके सम्बन्धमें अपना निर्णय कैसे दे सकते हैं? और कैसे हम हसप्रकार करनेके लिये अपनेको विश्वमें उपर उठा सकते हैं? ऐसा हम तभी कर सकते हैं जब हम ईश्वरके समान शक्तिसम्पन्न बन जायें। अतएव उपर्युक्त प्रमाणके द्वारा हम ऐसे उपर्युक्त कर सकते हैं जो विश्वका नियामक अधिका संयोजकमात्र है, विश्वके रचयिता अधिका उत्पादकका अनुमान हससे नहीं होता। हस सिद्धान्तमें हम केवल उसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिसका नियोग किया गया हो, सृष्टि नहीं। हस सिद्धान्तमें एक दोष और भी है। वह यह है कि विश्वके असंख्य विद्यान परम्परा ऐसे सम्बद्ध हैं कि कार्य-कारणके दोष अनुसन्धानके अनन्तर किसी मूल कारणातक पहुँचनेके बाले हम धूम फिरकर बहीं लौट आते हैं, जहाँसे हम चले थे और हसप्रकार यह Teleological प्रमाण अधिक व्यापक होनेके कारण स्पष्टित हो जाता है। योकि देखके लिये यह मान भी लिया जाय कि हस प्रमाणसे हम एक महान् शिल्पीका अनुमान कर सकते हैं किन्तु हसप्रकारका शिल्पी अपनी कारीगरीके लिये हमारी प्रशंसाका पात्र भले ही हो, पर प्रो० नाईट (Prof. Knight) के कथनानुसार हससे कोई ऐसी बात सिद्ध नहीं होती जिससे हमारे अन्दर उन शिल्पीके नैतिक चरित्रके प्रति अद्वा और आदरका भाव उत्पन्न हो।

किन्तु यथापि ये सारे प्रमाण तर्की कसौटीपर सरे नहीं उतरते, तथापि हनके अन्दर तथ्यका कुछ अंश अवश्य है, हसलिये हमें चाहिये कि उन्हें निष्पत्तेजन समझ-कर उनकी अवहेलना न करें, किन्तु उन्हें एक दूसरेका सहायक समझें। ईश्वरकी सिद्धि रेखागणितके किसी सिद्धान्तकी तरहसे नहीं हो सकती, किन्तु साथ ही हम

इस बातमें कैण्ट (Kant) से सहमत हैं कि ईश्वरके अस्तित्वका निवेद करना भी उतना ही निष्कल है। ईश्वर और आत्माकी अमरताका प्रश्न तर्कसे हल नहीं होता। निरे तर्कके आधारपर आस्त रहनेसे संसारके कारणके सम्बन्धमें ज्ञानका ही आधार लेना होगा। जिसे हक्सले (Huxley) नामक दार्शनिकने अज्ञातवाद (Agnosticism) का नाम दिया है।

इस सम्बन्धमें कैण्ट (Kant) ने ठीक कहा है कि—

'Both parties to the dispute beat the air; they worry their own shadow, for they pass beyond nature to a region where their dogmatic grips find nothing to lay hold of.'

'इस बादमें वादी-प्रतिवादी दोनोंका ही प्रयास घर्य है; वे अपने ही प्रतिविम्बपर आधार करते हैं, क्योंकि वे प्रकृतिका उल्लंघनकर ऐसे प्रदेशमें जा पहुँचते हैं जहाँ उन्हें अपने विधि-निवेदरूपी बाग्जालमें फँसानेके लिये कोई बस्तु मिलती नहीं।' यह ठीक है कि ज्ञान ही शक्ति है किन्तु वह ज्ञानकी बुद्धि-शक्तिमें सीमित है और हसलिये वह सदा परिच्छिन्न रहती है। महाकवि Browning ने अपने काव्य 'Cleon' में एक इरनेका इतान्त दिया है, जिसके उपर एक कथ्याकी प्रसिद्धा रही है और उसके सिरमें एक छिद्र है जिसमेंसे होकर जलका प्रवाह निकलता है। उस इरनेका जल जगत्की नदियों, समुद्रों और महासागरोंके जलसे सम्बन्धित है किन्तु उस लड़कीको केवल उसी जलका ज्ञान है जो उसके सिरमेंसे होकर निकलता है। हसी प्रकार ज्ञानकी राशि भी महान्, विस्तृत एवं शक्तिमय है किन्तु मनुष्यको उतनी ही परिमित राशिका ज्ञान है जिसका उसने स्वयं अर्जन किया है। और ऐसे परिमित ज्ञानके अन्दर उस अपरिमित शक्तिका समावेश किसी प्रकारसे नहीं हो सकता। हसलिये तर्कके आश्रयको तिलाऊलि देखर हम अपने अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ आश्रय आम्बतर-ज्ञान (Intuition) की शरण लेते हैं जिसके बिना हेतु वर्गसों (Henri Bergson) वर्टै पर्ट रस्सेल (Bertrand Russell) और केसरलिं (Count Keyserling) जैसे आजुनिक महान् दार्शनिकोंके भत्तके अनुसार सत्य तथ्यकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती, बुद्धिमत्त ज्ञानकी प्रक्रिया बाधा

(विषयाकार) होती है, इस प्रक्रियामें बाहरसे ज्ञानका अर्जन होता है; इसीलिये इसमें देसे सिद्धि होती है। इसके विपरीत आन्तरिक ज्ञानकी प्रक्रिया आन्तरिक (आत्माकार) होती है और इसके द्वारा सत्यका प्रकाश तत्काल ही हमारी बुद्धिपर पहता है, आन्तरिक ज्ञानका अर्थ है अन्तरका ज्ञान—वह ज्ञान जो भीतरसे उत्पन्न हो। या यों कहिये कि आन्तरिक ज्ञान (Intuition) का अर्थ सक्षिकर्षज्ञान अथवा अपरोक्षानुभव है। बुद्धि उसरभूमिकी भाँति निष्ठल, सम्बन्ध एवं सत्य-दर्शनमें असमर्थ है; उसकी गति इन्द्रियगम्य इस मिथ्या जगत्‌तक ही है। इसके विपरीत आन्तरिक ज्ञान असन्दिग्ध, उत्पादनशील एवं विकासशील है और वास्तविक जगत्‌में भगवान् द्वतन्त्र व्यापार ही इसका स्वरूप है। जंगली जातियाँ एवं लीब-जन्मत् नैसर्गिक बुद्धि (Instinct) से काम करते हैं जिसमें तर्कका प्रश्न नहीं होता और जो विषयका साक्षात् ज्ञान करा देती है। इस नैसर्गिक ज्ञान एवं आन्तरिक ज्ञानमें साइरण्य अवश्य प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः इन दोनोंमें महान् अन्तर है। उदाहरणतः एक छोटा बच्चा भी अकृत्रिम सरल पद्धतचना कर सकता है और वही काम एक ग्रौड विद्यार्थी और विद्यारशील पुरुष भी करता है। किन्तु उस विद्यानकी कवितामें जो सरलता है वह उसके गम्भीर विचार एवं विस्तृत अध्ययनका परिणाम है, जिससे वह बालक सर्वथा अनिन्द्य है। आन्तरिक ज्ञान (Intuition) में नैसर्गिक ज्ञानकी अपरोक्षता और बुद्धिज्ञ ज्ञानकी स्वानुभूति ये दोनों गुण विद्यमान रहते हैं। विज्ञानके लिये बुद्धिकी आवश्यकता है किन्तु योग (Mysticism) एवं धर्मके लिये आन्तरिक ज्ञान अपेक्षित है। आधुनिक दार्शनिकोंके मतमें दर्शनके लिये भी इसकी आवश्यकता है। आन्तरिक ज्ञानमें सजनकी शक्ति होती है और बुद्धिमें केवल निर्माणकी। आन्तरिक ज्ञानके द्वारा अस्तित्व और चक्ष-पदार्थोंका भी प्रहण हो सकता है किन्तु बुद्धिके द्वारा केवल निष्ठल पदार्थोंका ही बोध होता है। आन्तरिक ज्ञानका सम्बन्ध कविके हृदयकी ईश्वरीय कल्पना एवं विष्य प्रतिभासे है और बुद्धिका सम्बन्ध केवल वर्णविन्यास एवं मात्रा जोड़नेसे है जो गौण कार्य है। अवश्य ही बुद्धिकी उपयोगिता एवं व्यावहारिकतामें कोई सम्बद्ध नहीं है। आन्तरिक ज्ञानके द्वारा सत्यतत्त्वका निर्णय हो जानेपर बुद्धि उसे तर्ककी पोशाक पहनाकर

जानामें अभिष्यक्त करती है, जिससे केवल बुद्धिका आश्रय लेनेवाले लोग उसके आशयको समझ सकते हैं। यह आन्तरिक ज्ञान सर्वसाधारणके लिये सुलभ नहीं है, इनें-गिने आव्याचन् पुरुषोंको ही यह उपलब्ध होता है और वे लोग भी उसकी बाणीको तभी सुन सकते हैं, जब उनकी दृष्टिं वासनापै और मौतिक विकार पूर्णतया शान्त हो जाते हैं। ईसामसीहके शब्दोंमें वे ही लोग धन्य हैं जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, क्योंकि देसे पुरुष ही ईश्वरका साक्षात्कार कर सकते हैं। (Blessed are the pure in heart, for they shall see God.) प्रो० नाइट (Prof. Knight) इस सम्बन्धमें हमें आन्तरिक ज्ञानका एक विशेष गुण बताते हैं। उनका कहना है कि आन्तरिक ज्ञान स्वतःप्रकाश नहीं होता, किन्तु उसे उस अलौकिक वस्तुसे प्रकाश प्राप्त होता है जिसके बह अपना विषय बनाता है। आन्तरिक ज्ञान स्वयंप्रकाशरूप नहीं, किन्तु प्रकाशका ग्रहण करनेवाला क्षुकी है, कियाशील शक्ति नहीं, किन्तु कियाका आधार-भूत एक विचित्र करण है और जबतक वह उस पदार्थसे उद्भूत होनेवाले अलौकिक प्रकाशसे, जिसके बह ग्रहण करता है, नहीं जगमगा उठता, तबतक वह भन्द एवं प्रतिभावीन रहता है।

इसी आन्तरिक ज्ञानकी सहायतासे हम सृष्टिके अन्दर ईश्वरकी सत्ताका अनुभव करते हैं। जिन लोगोंको यह ज्ञान प्राप्त नहीं है उन लोगोंके लिये ईश्वरके अस्तित्वको अस्तीकार करना उतना ही सहज है जितना कि सूर्यके प्रकाशको चमगीबृका न मानना। किन्तु दर्शनकी शक्ति समाप्त हो जुकी है, उसने भी अब आन्तरिक ज्ञानकी आवश्यकता-को स्वीकार किया है और यह मान लिया है कि इसके द्विना सत्यकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इस आन्तरिक ज्ञानकी सहायतासे भी हम ईश्वरको पूर्णीत्या समझ नहीं सकते, उसका अनुभवमात्र कर सकते हैं और अधिक-से-अधिक उसकी सर्वशक्तिमात्रा की झलकमात्र पा सकते हैं। महासागरमें अपार जलराशि है किन्तु हम उसमें स उतना ही जल ले सकते हैं जितना हमारे दर्शनमें सभा सकता है। इसी प्रकार हमलोग अपने-अपने आध्यात्मिक विज्ञानकी मात्राके अनुसार ही ईश्वरका अनुभव कर सकते हैं। इस बातके कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि ईश्वरकी सत्ता अनुमानका विषय नहीं है किन्तु एक स्वतः-सिद्ध परमावश्यक तत्त्व है जो उस आन्तरिक ज्ञानकी

मित्तिपर रियत है। जिस आन्तरिक ज्ञानकी ओर हमारे अनुभवके अन्दर ऐसी इताके साथ जमी दुई है कि वह किसी प्रकार उत्तम ही नहीं सकती। ईश्वरका अस्तित्व विश्वासकी बस्तु है, तर्क एवं अनुमानका विषय नहीं। सर्वीमको समझनेके लिये असीमको मानना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि असीमके आधारके बिना सर्वीम समझमें नहीं आ सकता। अज्ञके आस्वादनके लिये हमें यह पहलेसे ही मान लेना पड़ता है कि हमारे मुखमें एक रसनेन्द्रिय है जिसके बिना हम स्वादका यथार्थ अनुभव नहीं कर सकते, और हम पाकशास्त्रके पारङ्गत बड़े विद्रान् वर्णों न हों। जिसप्रकार सर्वीममें पृथक् हम असीमका परिशान नहीं कर सकते उसी प्रकार असीमके बिना हम सर्वीमको भी छद्यकर्म नहीं कर सकते। जिसप्रकार 'केवल' (Absolute) से भिन्न हम 'सापेह' (Relative) को नहीं समझ सकते क्योंकि 'केवल' उसकी आधार-मिति है, उसी प्रकार 'सापेह' से पृथक् हम 'केवल' को नहीं समझ सकते। सभी प्रकारका ज्ञान सापेह है और हम सर्वोम एवं असीमका ज्ञान उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं विरोध-के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। पारस्परिक सम्बन्ध और विरोधी वस्तुओंकी अन्योन्याश्रयता, ये सभी प्रकारके ज्ञान-के लिये आवश्यक हैं। जिसप्रकार सर्वीमके अन्दर असीम-का भाव अभिप्रेत है उसी प्रकार असीमके अन्दर सर्वोमका भाव अन्तर्भृत है। कैट (Kant)ने भी ईश्वरकी सत्ता और आरम्भाकी अमरताको स्वतःसिद्ध तत्त्व माना है और कहा है कि ये तर्कसे सिद्ध नहीं हो सकते किन्तु इनका हमारे मैतिपर जीवनसे ज्ञानिष्ठ सम्बन्ध है।

यहाँ यह स्वीकार करना आवश्यक है कि हम तत्त्वोंको स्वतःसिद्ध मानना तर्ककी प्रक्रियाको छोड़कर अद्वा और विश्वासकी कोटिका अवलम्बन करता है। किन्तु इसप्रकार-के अद्वा-विश्वासमें और एक असम्भव ज़ब्दली मनुष्यके अन्त्य-विश्वासमें बड़ा अन्तर है और न यह विश्वास मध्यकालीन पादरी साधुओंके विवेकहीन तक्षण्यन्त्य विश्वासके मद्दस ही है। बलिक यह एक पश्चातरहित दार्शनिकका विवेक-युक्त विश्वास है जिसे इस प्रकारकी दार्शनिक दृष्टिसे भीमोसा करनेके बाद स्वयं उसकी बुद्धिने प्रेरणा की है कि तुम इस बस्तेको छोड़कर बुद्धिसे भी बड़े किसी दूसरे उपाय—आन्तरिक ज्ञान—की शरण लो। महाकवि टेलीसनके निष्ठ-मितिपर पद्मका भी यही आशय है—

By faith and faith alone embrace,
Believing where we can not prove.

अर्थात् हमें अद्वाका ही आश्रय लेना उचित है, क्योंकि जिस विषयको हम तर्कके द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते, वहाँ विश्वासके सिद्ध कोहै गति नहीं है।

आधुनिक तर्क-प्रधान युगमें भी यह प्रभ तर्कसे सिद्ध नहीं हो सकता। तथापि धार्मिक धूतिके मनुष्य कवियोंके-से आन्तरिक ज्ञानके प्रकाशकी महायात्रासे किसप्रकार उस परमार्थाको अपनी आशा और विश्वासका केन्द्र बनाते हैं, हस बातको इसी महान् एवं प्रतिमाज्ञाती कविने अपनी भव्य अमरद्वायामें इसप्रकार अद्वित किया है।

I stretch lame hands of faith and grope,
And gather dust and chaff and call,
To what I feel is Lord of all,
And faintly trust the larger hope.

अर्थात् मैं अद्वाके लूँके हाथोंको फैलाकर हधर-उधर टटोलता और धूल एवं भूसा इकट्ठा करके उस परमार्थाको उकारता हूँ। मैं समझता हूँ कि वह सबका प्रभु है और इसप्रकार उस महत्तर आशामें विश्वास करता हूँ, जाहे वह विश्वास दृढ़ न हो।

अवश्य ही हम प्रत्येक वस्तुमें विश्वास नहीं कर सकते और न हम सम्बद्धका क्षेत्र इतना बड़ा सकते हैं कि जिसमें हम प्रत्येक बातमें अविश्वास करने लग जायँ। तथापि यह मानना पड़ेगा कि अद्वा और संशय इन दोनोंमें अद्वा कहीं अविक शक्तिशाली, स्त्रियातापादिका और जीवनद्वयिती है। हम अद्वाके बिना तिलभर भी आगे नहीं बढ़ सकते, एक शब्द भी नहीं बोल सकते और तत्त्विक भी गम्भीर विचार नहीं कर सकते। बाह्यकर्मों भी कहा है।

We walk by faith, not by sight.

अर्थात् हम अद्वाके सहारे चलते हैं, नेत्रोंके नहीं।

अद्वाने मानव-जातिके मार्गमेंसे कठिनाहृतोंके दुर्गम पर्वतोंको दूर कर दिया और अपने उपासकोंके जीवनमें अमरतार उत्पन्न कर दिये। सैकड़ों वर्षोंतक दार्शनिक बाद-विश्वासमें मगज्जपती करनेके बाद भी जब बुद्धि असीमको नहीं समझ सकी है और वह अपने सिंहासनपर आन्तरिक ज्ञानको प्रतिष्ठित करना चाहती है, यदि आन्तरिक ज्ञानके द्वारा हम सत्यकी महाकामा भी पा

सर्वे, क्योंकि वहाँ तर्की गति नहीं है और यदि इस आन्तरिक ज्ञानकी करामातमें विद्यास करनेके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग निष्पत्ति लिये न हो सो क्या इस आन्तरिक ज्ञानस्थली उपकरणका विद्यकार करना इमारी बुद्धिमत्ताका परिचयक होगा ? दर्शन-शास्त्रके शास्त्रागारमें इससे बदकर शक्तिसम्पद कोई दूसरा शब्द नहीं है । इसका आध्यात्म छोडकर इन्द्रियोंके अनुभवका, जो इमारी सदा प्रबन्धना करती रहती है तथा इमारी सीमित बुद्धिके व्यापारका साहारा बोना और इनके सामर्थ्यमें अपार विद्यास करना, (यद्यपि वात्सल्यक वगतमें इसका कोई सूच्य नहीं है) और इसप्रकार नास्तिकताके घोर अन्धकारमें भटकना हमारे लिये कहाँतक उचित है ? अपेक्ष विद्येके पुरुषोंके लिये यह उचित है कि वे शास्त्रिपूर्वक इस प्रकार विचार करें और 'ईश्वरविद्यास' को छोडकर अपने मिष्ठ्य अभिमान और अज्ञानका परिचय न दें । रिक्टर (Richter) नामक पात्रात्म विद्वानने ईश्वरके सम्बन्धमें यह कहा है कि 'मनुष्यकी विचारशक्तिका सबसे उल्कृष्ट नमूना ईश्वरका विद्यास ही है ।'

आन्तरिक ज्ञानकी इस सीमापर पहुँचकर वर्णन-शास्त्र योगकी सहायता लेता है, जो आध्यात्मिक जीवनकी विद्या कहलाती है । दार्शनिकका काम है तर्क करना और विचारके घोडे दौड़ाना; किन्तु योगीका जीवन, उसकी इष्ट पूर्व वात्सल्य ईश्वरमय पुरुषके सहशा होती है । योगीको विद्यास होता है कि वह उन तथ्योंका भी आध्यात्मिक रीतिसे अनुभव कर सकता है जो बुद्धिको पहुँचके बाहर हैं । यद्यपि वह सत्यका अनुभव कर लेता है तथापि वह उसे सिद्ध नहीं कर सकता । उसके अनुभव-तक वही पहुँच सकता है जो आध्यात्मिक विकासमें उसकी कोटितक पहुँच गया हो । वह बहुत पहलेहीसे बुद्धि और इन्द्रियोंसे विद्या ले चुकता है । वह परमात्माको जानता नहीं किन्तु उसका अनुभव करता है; यही नहीं, परमात्माके साथ उसकी पृक्ता हो जाती है । उसके मन अथवा उसके हृदयकी क्रिया आन्तरिक ज्ञानके द्वारा होती है और उस आन्तरिक ज्ञानके द्वारा उसका अपने रचयिताके साथ सम्पर्क हो जाता है । उसकी भाषामें इहान्तों और रूपकोंका गहरा रङ्ग चढ़ जाता है; उसका जीवन पूर्णतया प्रेममय पूर्व स्थागमय बन जाता है । विद्यप्रकार सूर्यके प्रकाशको सिद्ध करनेके लिये हमें

किसी दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं होती, हस्ती प्रकार उसकी इष्टमें परमात्माकी सत्ता प्रमाणपेक्ष नहीं रह जाती । वह अपने निष्पत्ति मार्गपर आसुद रहता है । और उसकी इष्ट अपने जन्मयकी ओर छागी रहती है । वह उस उच्च दिव्य-जीवन-सम्पद बन जाता है, जिसके लिये छोग तृष्णित रहते हैं परन्तु इच्छा होनेपर भी अपेक्षित योग्यता अथवा उपर्यस्तत्व न होनेके कारण उसे प्राप्त नहीं कर सकते । प्लॉटीनस (Plotinus) नामक पात्रात्म दार्शनिकके जीवनका उद्देश्य यह था कि योगके द्वारा वह परमात्मामें विलीन हो जाय । उसका यह विद्यास था कि सत्यका ज्ञान तरकी द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता; वह सो तभी प्राप्त हो सकता है जब कि खोज करनेवाला अपनी अभीष्ट वस्तुके साथ बुलमिलकर एक हो जाय । जिसप्रकार शिल्पी अपने निकम्मे औजारोंको फेंक देता है, उसी प्रकार योगी तर्क और युक्तिका निराकरण कर देता है और योग द्वंद्व व्यापमें क्षमा जाता है, क्योंकि वे ही उसे अपने अभीष्ट व्यापर पहुँचा सकते हैं, जब वह उस चरम दशाको पहुँच जाता है जहाँतक अनुष्यकी पहुँच हो सकती है, तब उसके और ईश्वरके बीचका परदा सदाके लिये इट जाता है । किर वह ईश्वरके अतिरिक्त न तो कुछ जान सकता है, न देख सकता है, न अनुभव कर सकता है । वह सारी सुष्टिमें उस एकको ही देखता है और उसीमें विलीन हो जाता है । इसप्रकार वह उस विद्यके साथ अपनी एकता स्थापित कर लेता है जो उस विद्येश्वरकी ही क्षांको है (The vision of Him who reigns) ईरान-देशके महान् योगी शम्शातब्देज्जने इस अवस्थाका वर्णन अपने निष्प्रक्लिंसित पथमें बहुत ही सुन्दरतासे किया है जो उसके सर्वोक्तु काव्यमेंसे लिया गया है—

द्वै रा चूं बदर करदम यकी दीदम दु आलम रा ।
यकी बीनम, यकी जूम, यकी सानम, यकी दानम ॥

अर्थात् यद्यो ही मैंने द्वैत-बुद्धिको निकाल बाहर किया वैसे ही मुझे दोनों जगत् (आध्यात्मिक और आधिभौतिक) एक ही दिल्लायी देने लगे । अब मैं एकको ही देखता हूँ, एकको ही दूँ देता हूँ, एकको ही पहता हूँ और एकको ही जानता हूँ । युक्तिवादी मनुष्य इसप्रकारके महात्माको भले ही पागल समझें, जैसा कि बहुधा योग समझा करते हैं; किन्तु वह दिन दूर नहीं है जब इस दशा वातावा

तर्हये सिद्ध होना सुनेगे कि यह मस्तो ही दार्शनिक विचारकी चरम सीमा है।

भारतवर्षके कोग पहलेसे ही इस बातको मानते आये हैं। प्रो० मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) ने क्या ही ठीक कहा है कि संसारमें सर्वत्र धर्म और दर्शन-शास्त्रमें विरोध विखायी देता है। भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ दोनोंमें सामजिक्य है। वहाँ एक दूसरेका सहायक भाना आता है। परन्तु योगीको ईश्वरके साथ भिलम होनेपर वो अविर्वचनीय आनन्द निष्ठा है उसका कौन वर्णन कर सकता है? बिना उसका स्वयं अनुभव किये उसका आंशिक वर्णन भी नहीं हो सकता, क्योंकि आणीके द्वारा उसे दुर्सरोंको समझानेमें—जो एक प्रकारका भौतिक व्यापार है—उस आनन्दका बहुत-सा अंश बिकीम हो जाता है। ईश्वरानुभवकी अवस्थाका आंशिक वर्णन करना भी प्रत्येक व्यक्तिका काम नहीं। यह कार्य तो कोई ब्लेक (Blake), वर्ड्सवर्थ (Wordsworth), ज़काखुदीन रूमी, हाफिज, तुलसीदास, सूरदास, कबीर, चैतान्य, नरसी मेहता या भीरबाई—जैसे प्रतिभासम्पन्न महारथा ही कर सकते हैं, यथापि हम सभी कोग छाइते हैं कि हमें उस वशाका अनुभव प्राप्त हो और हमें पूर्य विश्वास और आशा है कि एक-न-एक दिन वह अवस्था हमें अवश्य प्राप्त होगी।

अब मैं अपने इस क्षुग्र वक्तव्यको महाकवि टेनिसन-की निश्चिलित उदास एवं सुन्दर प्रार्थनाके साथ समाप्त करूँगा—

Infinite Ideality ! Immeasurable Reality !
Infinite Personality ! Hallowed be Thy Name !

We feel we are nothing, for all is Thou
and in Thee;
We feel we are something, that also has
come from Thee.
We know we are nothing, but Thou wilt
help us to be.
Hallowed be Thy Name !

ओ! अनन्त आदर्श, अपार सत्य! असीम व्यक्तित्व! तेरे नामकी जय हो! हम अनुभव करते हैं कि हम कुछ नहीं, त वही सब कुछ है और तुश्शहीमें सब कुछ समाया हुआ है। हम अनुभव करते हैं कि हम कोई चीज़ हैं, परन्तु वह चीज़ तुम्हसे ही निकली हुई है। हम जानते हैं कि हम कुछ भी नहीं हैं, किन्तु हमें विश्वास है कि त हमें अपना अस्तित्व कायम करनेमें सहायक होगा। तेरे नामकी जय हो!

प्रार्थना

कुम्हलाई है 'केज' हियेकी कली,
इसे प्राण दे नाथ लिलाते रहो।
तड़पाती है याद तुम्हारी मुझे,
जियमें जिय ढाठ लिलाते रहो॥
मनमोहन श्याम दया करके,
प्रिय प्रेमका जाम पिलाते रहो।
यह प्रेम-भिस्तारी है द्वार पड़ा,
करो प्यार नहीं तुकराते रहो॥
—नवीनसिंह चौहान 'केज'

ईश्वरके प्रति

नमका सदैव शासियाना रहता है तना,
फरस महीका है बसन्तकी बहार है।
सूर्य चन्द्रमाकी जलती है ज्वाति दोनों ओर,
सुन्दर दिशाओंका हरेक कुला दार है॥
हरने पुढ़रे बने तरे बने फूल-फूल,
पंसा मलयाचलकी शहली बबार है।
न्याय करनेके हिये बैठते कहीं हो तुम,
कितना मनोहर तुम्हारा दरबार है॥
साहित्यरत्न दयामनारायण पाष्ठेय 'इयाम'

ईश्वर ध्रुव सत्य है

(लेखक—म० श्रीबलकरमजी विनायकजी)

मु किंद्रियिनी काशीपुरीमें जब चार्चांक्
हृष्टपति और सुरेशराचार्य (मरडन
मिश्र) का 'ईश्वरके अस्तित्व' पर
सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था, उस समय
मध्यस्थ बननेके लिये कोई भी विद्वान्
तैयार नहीं हुआ अथवा कोई भी
विद्वान् उभय पक्षको सम्मुच्छ नहीं कर
सकता था । भगवत्-अर्चां-विग्रह शालग्रामजीकी विष्णु-
प्रतिमाको दोनों पक्षवालोंने मध्यस्थ माना । चाँदीके कटोरेमें
शालग्रामजीको पश्चाकर मध्यस्थके आसनपर विचार-
मान करा दिया गया । पुण्यमाल्य अर्पण करके वरण किया
गया और शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ * । १८ दिनोंतक प्रतिदिन
विवाद होता रहा । जब नासिकाचार्य ईश्वरका खरडन
करते थे तब शालग्रामजी गलकर पानी हो जाते थे और
जब मरडन मिश्र ईश्वरके अस्तित्वका मरणन करते थे, तब
वे वास्तविक रूपमें परिणत हो जाया करते थे । प्रतिदिन^१
यही घटना संचालित होती थी । इस आश्रयमयी घटनासे
विद्वन्मरणली स्मित हो गयी । इसपर मिश्र-मिश्र
प्रकारकी टीका-टिप्पणियाँ होने लगीं । आसिकपुरीके
आसिक विद्वान् इस संघटनको भगवान् शालग्रामजीकी
लीका मानते थे एवं नासिकाचार्य इस लीका को
अस्त्राभाविक मानते थे और आश्रयमें निमग्न हो रहे थे ।
पर दोनों पक्षवाले इस बातको मानते थे कि इस विद्विके
द्वारा माननीय मध्यस्थने विवादपर अपना निर्णय
प्रकाशित किया है । किन्तु विद्विरूपमें, मूळ भाषामें
प्रकाशित निर्णयके तात्पर्यको समझना उस समयके

* पाठक इस बातपर आश्रय करते होंगे कि पाणिके
विग्रहको नासिकाचार्यने कैसे मध्यस्थ स्वीकार किया और भी-
सुरेशराचार्यने भी क्या समझकर मध्यस्थ बनाया । इस शहौदा
उत्तर वह है कि नासिकाचार्य तो पह समझे हुए थे, मूर्ति क्या
निर्णय देगी ? वह तो कुछ बोले-चालेगी नहीं, आप ही ईश्वरका
खण्डन हो जायगा, इसलिये इसे मध्यस्थ माननेमें इमारी कोई
इच्छा नहीं, उधर श्रीसुरेशराचार्यजीको भगवान्की कृपापर पूर्ण
विश्वास था । इसलिये वे आपत्ति करते ही क्यों ?

विद्वानोंके लिये भी कठिन था । नासिकाचार्य कहते थे
कि मध्यस्थने किसी पक्षको इराया नहीं, दोनोंकी प्रतिष्ठा
भव्यता रक्षी है । आसिक विद्वान् कहते थे कि भगवान्
की यह अद्भुत लीला ही ईश्वरके अस्तित्वका पुष्ट प्रमाण
है । जनता कहती थी कि निर्णय स्पष्ट है, पेसा स्पष्ट है
कि नासिकाचार्यको भी सिर सुकाकर मानना पड़ा है कि
जड़-चेतन सबमें वह चराचरपति ईश्वर म्यास है,
लीकावर है, प्रतिमामें अवस्थित होते हुए मध्यस्थ बनकर
पक्षपातरहित निर्णय करता है और उसकी लीला
समझमें नहीं आती ।

इसप्रकार निर्णयके विषयमें नाना प्रकारके विचार
उढ़य हो रहे थे । किन्तु किसीके निर्णयपर किसीको भी
सम्मोच नहीं हुआ । अठारहवें दिन रात्रिके समय
सुरेशराचार्यजीके पास नासिकाचार्य अकमात् था गये ।
आचार्यने उनका बड़ा सर्कार किया, विश्वर होनेपर
विद्विरूपजीने कहा—‘प्रसिद्ध पूरी हो गयी और आजसे
शास्त्रार्थ भी बन्द हो गया, अब मैं विद्वा मांगना आया हूँ,
आशा दीजिये ।’ आचार्यने कहा—‘अब इतने दिनोंपर
हमलोगोंने विवादमें झुट्टी पायी है, दो-चार दिन विश्राम
कीजिये तब प्रस्ताव कीजियेगा ।’

हृष्टपतिने कहा, अब तो एक दिनके लिये भी
ठहरना कठिन है ।

इतनेमें एक बृद्ध व्रातीय द्वारपर आया । हार सुला
हुआ था । वह बेरोकटोक भोजर चला आया और ‘ॐ
नमो नारायणाय’ कहकर प्रणाम करके बैठ गया । उसने
अपने तेजे दोनोंका ध्यान आकर्षित कर लिया । वह
पूर्वीपर बैठनेमें संकोच होने लगा । उम्हेंने उसे आदर-
पूर्वक समृद्धित आसनपर विचारमान कराकर पूछा—
‘कहिये, कैसे पधारे ?’ इसपर उस बृद्ध व्रातीयने सामवेदकी
‘भद्रोभद्रया’ श्रुतिको ऐसे स्वरसे गाया कि उसे सुनकर
आचार्यसमेत समृद्धित सभी सज्जन अकिञ्च हो गये ।
अबनंतर उसने श्रीसुरेशराचार्यजीको भगवान्की कृपापर पूर्ण
विश्वास था । इसलिये वे आपत्ति करते ही क्यों ?

कगातार परिश्रम करनेपर जो बहुमूल्य माणिक्य प्राप्त हुए हैं उन्हें देखनेकी हृच्छासे यहाँ आया हैं।' इसपर हँसकर आचार्यने कहा—'आप तो रक्ष देखने पले हैं पर यहाँ तो उस स्थानमें एक तृण भी देखनेको नहीं मिला। मध्यस्थके निर्णयको समझनेकी क्षमता भी हममें नहीं रही। अटकलसे टटोल रहे हैं किन्तु किसी तथ्यपर नहीं पहुँच पाते, घटना तो प्रसिद्ध ही है, आप ही उसका कुछ तात्पर्य बतलाइये।'

इसपर उद्घासित होकर उस बृद्ध ब्राह्मणने उच्चत्वरसे कहा—अच्छा, सुनिये—'वैदिकोंमें हरि और हर दो प्रतीक माने जाते हैं। इसिका निर्णय हृष्ट स्पष्ट है। उसे हरके द्वारा पूर्णस्पसे स्पष्ट कराइये। अलिये, विश्वानाथजीके मन्दिरमें। वहाँ चढ़े हुए बिल्व-पत्रोंमेंसे एकको उठाकर सूचिये और सिरपर चढ़ाइये। फिर देखिये, क्या होता है।' दोनों आचार्य उसके कहनेमें आकर उसी समय उठ पड़े। वहाँ जानेपर उस हृष्टने विविधक विविज्ञका पूजन किया और चारों हुए बिल्व-पत्रोंमेंसे एक उठाकर नास्तिकाचार्यको सूंघनेके लिये दिया। उसे सूंचते ही उनकी आँखें बन्द हो गयीं, उन्हें प्रकटी की स्त्री आगयी और वह सूक्ष्म सृष्टिमें विचरण करने लगे। उसमें उन्होंने अपनेको एक विचित्र घनमें, संकर्तृप्त अवश्यामें देखा। वह ग्रीष्मकी तस भूमिपर चलते-चलते मध्याह्नकालक बहुत तृष्णित और तृष्णित हो गये थे। भाँति-भाँतिके बंगलोंको पार करते हुए उन्हें कहीं भी जलाशय नहीं दृष्टिगोचर हुआ। उनका करण सूख गया था और जोभ कटपटा रही थी। आगे चलनेपर एक सुन्दर सरोबर दीक्ष पड़ा। वही प्रसन्नता हुई। पैर जोर-जोरमें आगे बढ़े परन्तु वहाँ पहुँचने ही उन्होंने देखा, एक रिह सरोबरमें जक ली रहा है और एक सर्प मारी रोके बैठा है, उपर गोष्ठ और चील मँडरा रहे हैं। किसी भी प्रकार प्राणीकी रक्षा सम्बन्ध म समझकर अस्यन्त स्वामार्थिक हृतिसे—उस हृतिसे, जो हृष्ट-स्थलके गुप्त-गहूरमें निहित रहती है और ऐसे ही अवसरपर उत्पित हो जाती है, उन्होंने चिह्नाकर कहा—'हे परमामन! हे जगदीश्वर! मुझे बचाओ।' इस चिह्नाइटको सुनकर सर्प सगवगाया और कल निकालकर कुकुलाकर छोड़ने लगा। उसकी कुफकार वहाँसक पहुँची, जहाँपर वह लड़े थे। धैर्य तो पहुँचे ही कुट गया था। वही हुई शरीरकी क्षमता और

देहाभिमानकी पराकाहासे विवरा होकर वही आँखें मूँद-कर बैठ गये और रोने लगे। इतनेमें छलोग भरता हुआ सिंह भी सभीप पहुँच गया और उसने गद्दनपर एक पला मारा। बड़े जोरसे चिह्नाकर उन्होंने कहा—'मारा रे, मरारे, राम राम!' अन्तमें परमेश्वरका नाम लेते ही प्रगाढ़ मिद्दा भङ्ग हुई और जागनेपर उनके सब कष्ट दूर हो गये। भयकर हृष्टका अन्त ही गया। सर्प और सिंह भट्टर हो गये। अब आँखोंमें आँसू और गलेमें लासलसाइट रह गयी थी। क्षाती अभीतक धड़क रही थी। उनकी दशा देख-देखकर वृद्ध ब्राह्मण मुस्करा रहे थे। जब कुछ देर बाद वह सांबधान हुए, तब आचार्यने पूछा—'कहिये, क्या हाल है?' विष्वपत्रने तो अपूर्व चमकाकर दिलाया। बच्चोंकी तरह आपका रोना और चिल्लाना देख-मुनकर बढ़ा आश्र्यपूर्व होता रहा। कहिये, क्या बात थी?

नत-मन्तक हो बड़े करण-म्बरसे नास्तिकाचार्यने कहा—'अन्तस्तलमें जो आपदा थीती है, जो कष्ट सहन करने पड़े हैं, उनका वर्णन किसी प्रकार हो नहीं सकता। एक तो मैं बहुत प्यासा था, जलाशयका कहीं पता नहीं, बहुत दौड़-धूपपर जब एक सरोबर दृष्टिगोचर हुआ, तो सिंह और सर्पके आक्रमणमें हृष्टमान भयका सङ्कार हुआ कि तृष्णाका लोप हो गया और किसी प्रकार प्राण-रक्षाकी ही विनता प्रबल हो गयी। इस संकटको दूर करनेके लिये कोई उपाय नहीं सूझी, विवरा होकर किसी अद्वय शक्तिके उपर अपनेको छोड़ दिया। अनाथ, अबोध बालककी तरह रोने और चिह्नानेके सिद्धा और कुछ हो ही नहीं सकता था। अर्यात् कृत्रिमता विलुप्त मिट गयी, चतुराहू और पवित्राहू जाती रही। सिंहके आक्रमणमें सौ निश्चय ही मुझे प्राणान्तका बोध हो गया। उस समय स्वामार्थिक हृतिके उदय होनेमें स्वतः 'मारा, मरा' के साथ 'राम, राम' शब्द मूँहमें निकल पड़े और उसी क्षण संकटका अन्त हो गया।

इस घटनामें हृष्टके अस्तित्वमें और हृष्टके राम-नाममें मुझे पूर्णस्पसे विवास हो गया है। मेरे प्रबल तर्क, मेरी अकाल्य युक्तियाँ न जाने कहाँ चली गयीं? इस अनुभवने मंत्रे जीवनमें भारी परिवर्तन कर दिया है। मेरा पक्ष गिर गया, मैं सचमुच शास्त्रार्थमें हार गया। परन्तु इस पराजयसे मैं क्षुध और दुःखिन नहीं हूँ, प्रत्युत बहुत प्रसन्न हूँ। क्योंकि वह मैं समझ गया कि

मासितक्षाद उस आतीर्थी तुलिका विकारमात्र है, जो देहात्मकादसे उत्पन्न होती है। उपनिषदके इन्द्र-विरोधम-संवादकी बाद सुने आ रही है। ऐसे अस्तःकरणसे आत्मीय तुलिका निरसन पूर्वान्पसे हो जाय, अब मैं यही बाहता हूँ और सुने आशा है कि एकान्त-स्थानमें वैठकर समूल कष्टहर 'राम-नाम' के अभ्याससे भेरा अस्तःकरण यह हो जायगा और सुने ईश्वर-पूर्ण भी प्राप्त हो जायगा। आत्मीय महर्षियोंकी तरह अब बदरीबनमें जाकर मैं बही कहँगा। आप कृपापूर्वक आतीर्थी दीजिये कि ऐसा ही

हो और यदि उचित समझे तो पूर्वकृत्योंके लिये कोई प्राप्यक्षित करा दीजिये।'

इसपर सुरेश्वराचार्यने कहा—'आपके सुखसे मुक्त यह बृत्तान्त सुनकर बड़ा हृष्ट हो रहा है। आपको जो अपूर्व अनुभव हुआ है उसकी साज्ञा और हरि-भारातनामें इतिहासपर हो जाइये। आपका पश्चात्याप ही सर्वोत्तम प्राप्य-क्षित है।'

इसना कहकर आत्मार्थने उन्हें हृदयसे लगाकर बिदा किया। (धर्मतत्त्व)

ईश्वर और महेश्वर

(लेखक—अंशुत इंगेन्ड्रनाथ दत्त एम०प०, बी००८० वेदान्तरत्न)

'कल्याण' के 'ईश्वराङ्क' में उपर्युक्त प्रसंग सम्बन्धतः अग्रासंगिक नहीं होगा, हसी भावनासे किञ्चित् आलोचना की जाती है।

उपनिषदोंमें ऋषियोंने द्विविच ब्रह्मका परिचय दिया है—निर्विशेष और सविशेष; निर्विकल्प, सविकल्प; निर्गुण, सगुण; निरस्त्वा और सोपानिधि। इस सम्बन्धमें अधिकाराचार्य कहते हैं—

'द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपमेदोपाधिविविशेषं, तद्-विवरीतं च सर्वोपाधिविविर्तेत्।'

ब्रह्म जब मायाकी उपाधिको अंगीकारकर 'मायी' होता है तब उसे 'महेश्वर' कहते हैं—

'मायिनन्तु मंदश्वरम्' (देवताइवतर उ०)

यही महेश्वर समस्त ईश्वरोंका ईश्वर है—परमेश्वर है।

तीनीश्वराणां परमं मंदश्वरम्। (देवताइवतर ६, ७)

वह सर्वेश्वर है, सब ईश्वरोंका ईश्वर है—

'अनन्तशक्तिश्चित् ब्रह्म सर्वेश्वरम्'

तब हम बूम-फिकर क्या पुनः उसी अनेकैश्वरवाद (Polytheism) पर आ गये ! ईश्वर तो एक है, फिर ऋषियोंने अनेक ईश्वरोंकी चर्चा कर्ये देखी ! क्या वे अनेकैश्वरवादी (Polytheist) ये ? यह आशंका निर्मल है, क्योंकि ऋषियाण यथापि अनेक ईश्वर मानते थे परम्परा जो ईश्वरोंका ईश्वर है वह महेश्वर, वह ब्रह्मण्यवेष एक और अद्वितीय है—वह एकैश्वरवादीका एकत्व (Unity) नहीं

है किन्तु अद्वितीय (Unique) है—इस बातकी ऋषियोंने सुनकरदसे जोख्या की है—'एक एव महेश्वरः' उनका यह सर्वत्र प्रचारित विश्वविल्यात मत है कि ब्रह्म ही 'एकमेव-द्वितीय' (कान्दोदय ३। २। १) है।

वही परतत्त्व है, उसके परे और कुछ भी नहीं है, वही पराकाष्ठा है, परमागति है।

पुरुषात् परं किञ्चित् सा काषा सा परा गतिः ।

(कठ० १। ३। ११)

'मतः परतं नान्यत् किञ्चिदस्ति चन्त्रयम्'

(गीता ७। ७)

यदि यही बात है, यदि महेश्वर एक है, यदि वही परतत्त्व है तो ऋषियोंने अनेक ईश्वरोंकी बात क्यों कही ? ये अनेक ईश्वर कौन हैं और महेश्वरके साथ इनका क्या सम्बन्ध है ? इसी प्रसंगकी आलोचना करनेके लिये इस निवाञ्छकी अद्वातारणा की गयी है।

पूर्व-विद्यामें 'ज्वाळुमशांकाश' मूर्ति भारणकर सूर्य उदय होता है और पश्चिममें अस्त होता है। इस सूर्यको केन्द्र बनाकर जो सब ग्रह-उपग्रह (जैमे-पृथ्वी, सौम, मंगल, मुख, द्वारपलि, शुक्र, शनि) चतुर्दिक् घूम रहे हैं, सूर्यके सहित उनकी समस्तिका नाम 'सौरमण्डल' है। संग्रहीयमें इसे (Solar System) कहते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी बहुत दिनोंतक यही धारणा थी कि विश्वके अन्दर हमारा यह 'सौरमण्डल' ही सर्वेसर्व है। यह जो असंख्य तारे आकाशके अन्द्रातपके नीचे लटक रहे

है, केवल दीपकमात्र है—(Serve as lamps by night.) परन्तु भारतीय ऋषियोंने कहा है कि सौरमण्डल (इमारे पहाँ सौरमण्डलको ब्रह्माण्ड या विश्व कहते हैं) असंख्य है—अगणित है—

संख्या चेत् रजसामस्ति विश्वानो न कदाचन ।
(देवीभागवत् ९ । ३ । ७)

अथात्, धूलिकणोंकी गिनती की जा सकती है किन्तु ब्रह्माण्डोंकी नहीं ।

यथा तरंगा जलवौ तथेमा सुष्टुपः प्रे ।
उत्पत्योत्पत्त लीनन्ते रजांशीव महानिले ॥

वैसे—समुद्रकी तरंगें अगणित हैं, वैसे ही महेश्वरकी सुष्टियाँ भी अनिलमें धूलिकणोंकी भाँति उत्पन्न और लग होती रहती हैं ।

पाञ्चाश्य विज्ञान, भी अब यही बात कहने लगा है । प्रोफेसर पॉडिंटन कहते हैं कि अबतक हम तीन सौ करोड़ तारा-स्थानोंका पता लगा सके हैं । ४

यह पृथ्वी, जिसपर हम निवास करते हैं हमारी इटिमें बहुत बड़ी प्रतीत होती है; इस्तेलिये हम कहते हैं 'विषुला च पृथ्वी' ।

परन्तु हमारी यह पृथ्वी सौरमण्डलका केवल एक छोटा-सा प्रह्लादात्र है, ब्रह्मसति या शनि इसकी अपेक्षा बहुत बड़े हैं । हमारा सूर्य पृथ्वीसे देस लाखगुना बड़ा है और ऐसे-ऐसे भी तारा-सूर्य हैं जो हमारे सूर्यमें भी दस लाखगुने बड़े हैं । † अब अनुमान कीजिये कि वे ब्रह्माण्ड कितने-कितने बड़े हैं ।

इस प्रसंगमें एक बार यदि अखिल विश्व-ब्रह्माण्डका संख्यान अर्थात् किसने देश मिलकर यह सहिकृपी वयनिका फैल रही है, इस बातपर विचार करते हैं तो

*Our sun belongs to a system embracing some three thousand millions of star—Eddington

† Compared with the earth the sun is gigantic in bulk a million times bigger. we have recently found a class of giant stars some of which are a million times bigger than the sun—(Sir Oliver Lodge's Making of man' p.137.)

वित्त आश्रयमें दूष जाता है । हम जानते हैं कि सूर्य पृथ्वीसे नव करोड़ मीलकी दूरीपर है परन्तु वैज्ञानिकोंने ऐसे-ऐसे तारा-स्थानोंका पता लगाया है जहाँकी आळोक-रशिमको पृथ्वीपर पहुँचते औदृढ़ करोड़ वर्ष लग जाते हैं । हम यह भी जानते हैं कि आळोक-रशिमकी गति प्रति सेकंड एक लाख विद्युतीय इजार भील है । जिस तारे-से पृथ्वीपर आलोक पहुँचते औदृढ़ करोड़ वर्ष लग जाते हैं उसकी दूरीका क्या दिक्काना ? यहाँ सो सारी मनुष्य-संख्या-का अन्त हो जाता है ज्योंकि उस दूरीकी यदि गिनती की जाय तो ८२ के अंकपर ११ शून्य आते हैं । यह संख्या करोड़को करोड़ गुना करनेसे भी बहुत अधिक है ।

ये जो अगणित तारा-सूर्य हैं—सम्भवतः उन प्रत्येकमें ही एक-एक सौरमण्डलका केन्द्रस्थल है । अर्थात् वैसे हमारे सूर्यको केन्द्र बनाकर मंगल, बुध, बृहस्पति आदि कितने ही प्रह ग्रह मिलते हैं, कौन जानता है, इन तारा-सूर्यके अधीन कितने कोटि प्रह-उपग्रह गगन-मण्डलमें विचरण कर रहे हैं ? ये सब प्रह-उपग्रह क्या जीव-शून्य हैं ? हम नेवंते हैं कि एक जल-विन्दु भी जीव-शून्य नहीं है, किन्तु वह अग्रुत जीवोंकी लीला-भूमि है । अतएव हमारी पृथ्वीसे मिल अन्यान्य प्रह-उपग्रह और हमारे सौर-मण्डल-से मिल अन्यान्य प्रह-उपग्रह सौरमण्डल जीव-शून्य हैं, यह समझना क्या दुःसाहम नहीं है ? सम्भवतः असीम सृष्टिमें कहीं भी जीवोंका अभाव नहीं है ।

पाञ्चाश्य जगत्के पिथागोरस, डैटो, केल्कार, स्वेदन-वर्ग प्रमुखि मनीषी हम बातपर विश्वास करते ये कि प्रत्येक भग्नालके अधिदेवता या Presiding director हैं यह बात इस देशके प्राचीन विद्याके सरदार ही है । ऋषियोंकी शिद्धा भी यही है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड-का अधिष्ठाता स्वतन्त्र ईश्वर है, वह त्रिमूर्ति (Trinity-Unity in Trinity) ब्रह्म-विष्णु-शिवास्मक है । ब्रह्म-सूर्यसे सृष्टि करता है, विष्णु-सूर्यसे पालन करता है और शिव-सूर्यसे संहार करता है ।

संख्या चेत् रजसामस्ति विद्वन्नान इदाचन ।

ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते ॥

प्रति विश्वं सन्त्येव ब्रह्मविष्णुशिवादेवः ।

(देवीभागवत् ९ । ३ । ७-८)

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अपने-अपने ब्रह्म-विष्णु-शिव विराजित

है। जब कि ब्रह्मारण ही अगश्यत हैं तब हनुमान-विष्णु-शिवादिकी संख्या भी अगश्यत ही है।

कोटिकोट्यपुतानीसे आज्ञानि कथितनि तु।
तत्र तत्र चतुर्वेदका ब्रह्माणो हरयो मवाः॥

ब्रह्मारणकी संख्या कोटि-कोटि अयुत-अयुत है। और उन सभी ब्रह्मारणोंमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी विवरित हैं।

ब्रह्माविष्णुशिवाना ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः ।

× × ×

ब्रह्माविष्णुशिवारीनां यः परः स महेश्वरः॥

‘ये ब्रह्मा, विष्णु और शिवगण ब्रह्मकी प्रधान-प्रधान शक्ति हैं। जो ब्रह्मा, विष्णु और शिवोंकी भी ऊपर हैं, वही महेश्वर हैं।’

इसी विषयमें लिङ्गपुराणमें भी लिखा है—

असंख्यताऽस्त्रद्वास्या असंख्यतः पितामहाः ।

हरयश्च द्वासंख्याताः एक पव महेश्वरः॥

असंख्य रुद्र, असंख्य ब्रह्मा और असंख्य विष्णु हैं किन्तु महेश्वर एक और अद्वितीय ही है। इस विषयमें विप्राद-विभूति उपनिषद्की उक्ति प्यान देनेयोग्य है।

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्तः स्थितानि पताहानि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि सावरणानि उद्भवति । चतुर्मुखपञ्चमुखपञ्चमुखसप्तमुखसप्तमुखद्वामुखादिसंख्याक्रमेण सहस्राविष्मुखान्तर्नीरायणांशौः रजोगुणप्रवानेनैककृष्णिकर्तुमिराधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वरादैर्नारायणांशौः सत्त्वतमेगुणप्रवानेनैककथितिसहारकर्त्तुमिराधिष्ठितानि महाजलीघमतस्यनुद्वानन्तसङ्घवत् अमनित ॥

‘इस ब्रह्माण्डके चारों ओर ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्मारण शुद्धिकी आवृत्ति अवरणमें आवृत होकर प्रकाशित हो रहे हैं। चतुर्मुख, पञ्चमुख, षष्ठमुख, सप्तमुख, अष्टमुख, संख्या-क्रमसे हजार मुखपर्यन्त नारायण-चांगा ब्रह्मा, विष्णु, हर, रजः-सत्त्व और तमोगुणकी प्रधानतासे विभिन्न होकर एक-एक ब्रह्मारणमें अधिष्ठित हुए सहि, स्थित और संहारका कार्य सम्पन्न करते हैं। महासमुद्रमें जैसे अनन्त मस्त्य और जल-मुद्रुरे कीका करते हैं, उसी प्रकार विष्णके महाकाशमें अनन्त ब्रह्मारण भग्नय करते हैं।’

गौदीय वैष्णवोंके प्रामाणिक ग्रन्थ श्रीचैतन्य-चरिता-सूतमें एक भाष्याविकाद्वारा यह सत्त्व समझाया गया है।

एक दिन ईरिकापुरीमें भगवान् श्रीकृष्णके दशनार्थ ब्रह्माजी आये, द्वारपालने जाकर श्रीकृष्ण भद्राशाजको खबर दी, श्रीकृष्णने द्वारपालमें कहा ‘जाकर पूछो, कौन से ब्रह्मा आये हैं, उनका क्या नाम है?’ द्वारपालने जाकर ब्रह्माजीसे यह बात पूछी ॥

इमारे ब्रह्मारणके चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारपालके इस प्रध-को सुनकर चक्रा गये, बोले—‘अरे, मैं ‘ब्रह्मा’—और दूसरा ब्रह्मा कौन?’ जाकर कहो कि सनकादिके पिता चतुर्मुख ब्रह्मा आये हैं।’

द्वारपालने चतुर्मुख ब्रह्माको श्रीकृष्णके निकट उपस्थित किया। भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मासे वयाविधि कुशल-प्रश्न पूछा। तदनन्तर ब्रह्माजी बोले—‘देव! आपके इस पूछनेका क्षा सार्वपर्यं था कि ब्रह्मा कौन-से आये हैं? मेरे अतिरिक्त जगतमें दूसरे ब्रह्मा कौन हैं?’+

श्रीब्रह्माजीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कराये और कुछ भ्यान-न्सा किया, उसी जगत् वहाँ अगश्यत ब्रह्मा आकर हकड़े हो गये ॥

चरितामृतकार वर्णन करते हुए कहते हैं उन अगश्यत ब्रह्माओंमें किसीके बीस, किसीके सौ, किसीके हजार, किसीके लाख, किसीके करोड़ और किसीके अरब मुख थे, जिनकी गणना नहीं हो सकती। इसी प्रकार लाखों-करोड़ों मुख-बाले रुद्र और करोड़ों नेत्रवाले इन्द्र भी आये। चतुर्मुख ब्रह्मा हनको देस्कर आश्रममें हृष गये और श्रीकृष्णके चरणोंमें लुट पड़े ।+

* एक दिन ईरिकाते कृष्णे दंखिवारे ।

ब्रह्मा आइला, द्वारपाल जानाइका कृष्णे ॥

कृष्ण कहेन ‘कोन ब्रह्मा, कि नाम ताहार?’

दारो असि ब्रह्मारे पूछे आरबार ॥

+ ‘कह गिया सनकपिता चतुर्मुख आइला ।’

+ कोन ब्रह्मा पूछिके तुम्हि कोन अभिशये?

आमा वह जगते आर कोन ब्रह्मा हये?

§ दुनि कृष्ण हासि तवे करिके ध्यान ।

असंख्य ब्रह्मारण आइला तत्क्षण ॥

+ शत विश सहस्रयुत लक्षवदन ।

कोटयान्दुर मुख कोरो ना हय गणन ॥

हृषण आइला लक्ष कोटि वदन ।

इन्द्रगण आइला लक्ष कोटि नयन ॥

× × × ×

कहना नहीं होगा कि यहाँ श्रीकृष्ण महेश्वर है। उन्होंने ब्रह्माको सम्बोधन करके कहा—‘ब्रह्माजी ! इस ब्रह्माण्डका विस्तार पक्षास करोइ योजन है, इस अति क्षुद्र ब्रह्माण्डमें आप चतुर्मुख हैं। परम्तु अन्य ब्रह्माण्डोंमें कोई सौं करोइ योजनका है, कोई लाख करोइ योजनका, कोई दस लाख करोइ योजनका और कोई कोटि करोइ योजन का विस्तारवाला है, उन ब्रह्माण्डोंके अनुरूप ही उनमें उतने ही अधिक मुख्याले ब्रह्म हैं। इसप्रकार मैं समस्त ब्रह्माण्डोंके गणोंका पालन करता हूँ।’*

अब हमारे चतुर्मुख ब्रह्माका भोइ नाश हुआ। उपमिवदोंमें जगह-जगह महेश्वरको ब्रह्म और ईश्वरको ब्रह्म अथवा हिरण्यगर्भ, परमेष्ठी अथवा प्रजापति कहा है—

ब्रह्मा देवानां प्रथम् सम्भूत् ।

विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोपा ॥ (मुण्डक ३।१९)

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् । (भेता० ३।४)

प्रजापतिश्चरसि गमेत्वंमेव प्रतिजायसे । (प्रभ० २।७)

सनगः परमेष्ठिनः (बृह० २।६।२)

ब्रह्म और ब्रह्माका सम्बन्ध समझानेके लिये एक ब्रह्म सत्राट् और राजाकी तुलनाका प्रयोग किया है। जैसे एक सत्राट्के अधीन अनेक राजा रहते हैं—ये सब राजा परस्पर स्वतन्त्र हैं, किन्तु सभी सत्राट्के परतन्त्र हैं। विष-ब्रह्माण्डके शासन और पालनका काम भी इसी प्रकार चल रहा है। जो सर्वोपरि है, वही महेश्वर है। जो सत्राट् स्वानीय है, उसीकी अधीनतामें असंख्य ईश्वर है। एक-एक ईश्वर (ब्रह्म) एक-एक ब्रह्माण्डका स्वामी है। ये सब ईश्वर परस्पर स्वतन्त्र हैं, किन्तु सभी महेश्वर-के अधीन हैं। ये सब ईश्वर जिस समय प्रजापति है उस समय महेश्वर प्रजापति-पति है।

देखि चतुर्मुख ब्रह्मार हैल चमकार ।

कृष्णर चरणे आसि कैल नमस्कार ॥

* एइ (विष) ब्रह्माण्ड पञ्चासत् कोटि योजन ।

अति क्षुद्र ताते तोमार चारि वदन ॥

कोन ब्रह्माण्डे सत कोटि कोन लक्ष कोटि ।

कोन नियुत कोटि कोन कोटि कोटि ॥

ब्रह्माण्डानुरूप ब्रह्मार शरीर बदन ।

एइ रूपे पालि आमि ब्रह्माण्डेर गण ॥

पति पतिनां परमं परस्तात् । (भेता० ६।७)

ये सब ईश्वर जब ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं, तब महेश्वर महाब्रह्मा, महाविष्णु अथवा सदाशिव हैं।

ये सब ईश्वर सवित्रमयक-मध्यवर्तीं पुरुष हैं।

य एष आदिसे पुरुषो दद्यते । (छान्दोग्य० ४।१।१)

और महेश्वर विशाट् पुरुषस्पृष्टे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों-के भीतर अधिष्ठित हैं। वह—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिक्षिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमङ्गोंके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

‘उसके हाथ और पैर सर्वत्र हैं, उसके नेत्र, तिर, मुख और कान सब जगह हैं। वह सबको व्याप करके स्थित है।’ अर्थात् एक-एक ईश्वर एक-एक Solar Logos है। और ब्रह्माण्ड या Solar System की संख्या जब अनन्त कोटि है, तब ऐसे Solar Logos की संख्या भी अनाणित है। और जो समस्त ईश्वरोंका ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर है, Central Logos अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिसके विशाट् देहके रोमकूपके परमाणु है, उसको नमस्कार है।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृतः ।

उसकी भाविमाका कौन वर्णन कर सकता है ? इसी-लिये भागवतमें देखते हैं, ब्रह्मा उनकी न्युति करते हुए कहते हैं—

काहं तमोमहदंस्वचराप्रिवार्म्-

संवेष्टिष्ठप्रसप्तसप्तितस्तिकायः ।

कंतादग्रीवा अगणितः परमाणुचर्या-

वातावरोमविवेषु च ते माहित्यम् ॥

(श्रीमद्भागवत)

कहाँ तो मैं क्षुद्र और कहाँ आप परम महात् ? पृथ्वी आदि सात तत्त्वोंब्रह्मार गठित एक ब्रह्माण्ड मेहा शरीर है और आपके शरीरके प्रत्येक रोमकूपमें ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड प्रवेश करते हैं और निकलते हैं, वातावर-पथमें जैसे परमाणु प्रवेश करते हैं और निकलते हैं। अहो ! आपकी कैसी अपार महिमा है ! ईश्वर और परमेश्वरमें यही मेद है !



पार्थिववादकी भयानकता

(लेखक—चौधरी श्रीधुनन्दनप्रसादसिंहजी)

नास्तिकवाद और अज्ञातवाद



चीनकालमें भारतवर्षमें नास्तिकवाद के बहुत असुरोंमें ही सीमित था, आर्यगण इससे मुक्त थे। चार्वाह्नि नास्तिकवादके आचार्य माने जाते हैं। पाश्चात्य देशोंमें इसी नास्तिकवाद (Atheism)ने आधुनिक अज्ञातवाद (Agnosticism) का रूप धारण किया है। जिसके अनुसार यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'ईश्वर है ही नहीं' वलिक यह कहा जाता है कि ईश्वरके अस्तित्व-सम्बन्धी ज्ञान और प्रमाण नहीं प्राप्त होते। तात्पर्य यह है कि अनुसन्धानके द्वारा यदि ईश्वरके अस्तित्वका पर्याप्त प्रमाण मिल जाय तो अज्ञातवादी(Agnosticists) उसमें विश्वास कर लेंगे।

हिमाटिजम

इस अज्ञातवादके मुख्य प्रचारकोंमें पूर्वमें लन्दनमें चार्ल्स ब्रैडलॉ और श्रीमती एनी वेसेण्ट थीं। श्रीमान् चार्ल्स ब्रैडलॉ एक पत्रके सम्पादक और सञ्चालक थे। एक बार वे लन्दनमें बाहर कहीं किसी कार्यवश गये थे, वहाँ उनकी स्त्री 'हिमोटाइज़' की गयीं और उनमें पूछा गया कि लन्दनमें जो पश्च छप रहा है तथा जिसका प्रफ शीघ्र ही आनेवाला है, वह कैसा छप है। उन्होंने बताया कि पत्रके असुक-असुक एडब्ली असुक-असुक लाइनोंमें असुक-असुक अक्षर उलटे छपे हैं। जब डाकने प्रफ आया तब देखा गया कि उपर्युक्त बातें अधरशः ठीक थीं। यह देखकर श्रीमती एनी वेसेण्टने श्रीचार्ल्स ब्रैडलॉसे कहा कि 'अब आप अपने पार्थिव अज्ञातवादके सिद्धान्त को परिस्थापन करें; क्योंकि अब यह सिद्ध हो गया कि मनकी गति केवल शरीरकी चेतन दशापर ही निर्भर नहीं करती, बल्कि शरीरकी बेहोशी (Hypnotised) की दशामें, शिथिलतामें भी वह दूर देशक चली जाती है।'

श्रीमान् ब्रैडलॉने उत्तर दिया कि, 'हुदावस्थाके कारण अब मैं बर्तमान सिद्धान्तको त्वागकर दूसरे सिद्धान्तका अन्वेषण करनेमें असमर्थ हूँ।' परन्तु श्रीमती एनी वेसेण्टने उसी विषयसे पार्थिववादका त्वाग कर दिया।

पार्थिववादका मुख्य सिद्धान्त यह है कि चेतनता शरीरके परमाणुओंके संगठन-विशेषका परिणाम है। यदि इस सिद्धान्तको सब माना जाय तो शरीरकी शिथिलतासे चेतनमें भी शिथिलता आ जानी चाहिये, परन्तु हिमाटिजम-में शरीरकी शिथिलताके कारण पात्रके बेहोश हो जानेपर भी चिकित्सी की गति अधिक बेगवती और तीक्ष्ण हो जाती है। एवं चेतना सुदूर स्थानका वस्तुका याथातथ्येन वर्णन कर सकती है। इससे सिद्ध है कि चेतना शरीरमें स्वतन्त्र और उक्षष है।

श्रीमान् जगदीशचन्द्र बोसके आविष्कारका मूल तत्त्व प्रकृतिमें पार्थिव्य है। कृषकी आकृति पशुकी आकृतिमें भिन्न होती है, इसी प्रकार मनुष्यकी आकृति भी पशुकी आकृतिमें भिन्न होती है। यदि चेतनको बाह्य-प्रकृतिका परिणाम माना जाय तो विभिन्न प्रकारकी आकृतियोंकी बाह्य-प्रकृति भिन्न होनेके साथ उनके अन्तर्गत चेतनाके स्वभावमें भी विभिन्नता होती चाहिये। परन्तु वस्तुतः विभिन्न चेतनकी बाह्य-प्रकृतिका स्पष्ट भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनके आभ्यन्तरमें एक ही मूल तत्त्व सिद्ध होता है। यह सिद्धान्त श्रीषुत जगदीशचन्द्र बोसने अपने वैज्ञानिक प्रयोगों-द्वारा निश्चित किया है। उनके यन्त्रमें मनुष्य अथवा उमिज्जतमें प्रतिघात (Impact) करनेसे उसका प्रतिफल (response) उस यन्त्रद्वारा जो लेखके आकार (Curves) में प्रकट होता है, वह दोनोंमें एक ही प्रकारका रहता है, भिन्न प्रकारका नहीं, इससे सिद्ध है कि एक व्यापक चेतन सब प्रकारकी प्रकृतिमें बर्तमान है और वह प्रकृतिसे स्वतन्त्र है।

इतिनियरोंका अनुभव है कि कभी-कभी इतिनमें कोई दोष न रहनेपर भी वह चलनेमें रुकता है, परन्तु वह रुकावट उसे विभाग देनेमें आपने आप दूर हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि लोहेमें भी चेतन है और उसमें शक्तिवाली होती है। दूसरी बात यह है कि इतिनमें अधिक गङ्गाजली आनेपर यदि उसे गङ्गाजलमें धोया जाता है और उसके पीपेमें (Boiler) गङ्गाजल भर दिया जाता है तो वह उत्तेजित हो जाता है, इससे सिद्ध है कि लोहेमें

केवल जेतनता ही नहीं, बल्कि गङ्गाजलकी पवित्रताका प्रभाव भी उसपर पड़ता है।

मेरा निर्दो अनुभव है कि जिस वृक्षके फलमें कोई हो जाते हैं उसकी छाली गङ्गाजीमें छाल हेनेसे कीबोका होना बहुत हो जाता है।

परलोकगत आत्मा

पात्रात्म्य देशके बड़े-बड़े विद्वान्-जैसे सर विलियम क्रुक, सर ओलिवर लाज, स्वर्गीय सर कोआयनन, 'रिंगू आफ रिंगू' तथा 'बार्डरलैरेड' के प्रासिद्ध सम्मानक मिस्टर स्टेट आदिको प्रत्यक्ष प्रमाणोंहारा ज्ञात हुआ है कि मृत्युके बाद भी जीवात्मा रहते हैं, तथा वे हहलोकके जीवोंके साथ बातचीत करते और संवाद भेजते हैं, एवं वे ऐसी-ऐसी घटनाओंका वर्णन करते हैं जो लोगोंको विल्कुल मालूम नहीं होती, परन्तु अन्वेषण करनेपर सर्वथा सत्य सिद्ध होती है। इससे भी पार्थिववादका खण्डन होता है।

प्रोफेसर मायर (Myer) अपने बृहत् प्रन्थ 'Human Personality' में, जो दो भागोंमें प्रकाशित हुई है, अनेक विवेचनीय प्रमाण देते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मरनेके बाद जीवात्मा वर्तमान रहता है तथा वह इहलोकके जीवोंके साथ बातचीत कर सकता है। लन्दनके आधिक अनुसन्धान-समिति (Psychical Research Society) ने भी उपर्युक्त सिद्धान्तकी पुष्टिमें प्रमाण संग्रह-कर उसकी रिपोर्ट प्रकाशित की है, इस समितिके सदस्य प्रायः स्थानान्तर विद्वान् और आचार्य हैं।

पूर्वजन्मकी स्मृति

विभिन्न देशके बालकोंमें पूर्वजन्मकी स्मृतिके अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं जो अनुसन्धान करनेपर सत्य सिद्ध हुए हैं। अनेक बालक विल्कुल वात्यावस्थामें गान-विद्या अवधारणितमें आवर्थ्यजनक निपुणता प्रदर्शित करते हैं, जिनका होना पूर्वजन्मके माने विना सम्भव नहीं है।

संक्षेप आकारका कारण होता है। प्राची-विज्ञानने एक अत्यन्त क्षुद्र कीटका पता लगाया है, उसे Amoeba कहते हैं। कीट-वर्गमें उसे आदि जन्मतु कह सकते हैं। उसके भीतर एक ही अवयव होता है जिसके हारा वह भोजन करता, चलता-किरता तथा मल-स्थाग आदि समस्त कर्म करता है। जब वह चलना चाहता है तो उस अवयवको बाहर निकालता है और उसे पैर बनाकर चढ़ने लगता है,

फिर विभाग लेते समय उसे भीतर समेट लेता है। जब वह भोजन करना चाहता है तो उसी अवयवको बाहर निकालकर मुख बनाकर भोजन करने लगता है। और मल-स्थाग करते समय उसी अवयवको बाहर निकाल, गुदा बनाकर मक्ख स्थाग करता है। अनेक बार विभिन्न प्रकारकी क्रियाएँ करते समय वही एक अवयव पाँच प्रकारकी आकृति भारण करता है। इससे भी पार्थिववादका अवहन होता है क्योंकि इसके हारा सिद्ध होता है कि प्रकृति इस्त्वा (चेतन) के अधीन है न कि जेतन प्रकृतिके अधीन।

सर्वभौम सुन्धवस्ता

विश्वमें समस्त कार्य सुन्दर नियमोंके हारा सुन्धवस्ति दीख पड़ते हैं। अत्युपेक्षित अपने समयपर आती हैं, प्रह सदा अपनी कक्षामें ही भ्रमण करते हैं; इत्यादि घटनाएँ विना सञ्चालक और सञ्चालकसंकी कैमे सम्भव हो सकती हैं? इसका एक और उत्तम प्रमाण यह है कि वर्षके स्फटिक (Crystal) में जो रेखागणितके बड़े-बड़े आकारोंके समान उत्तम-उत्तम आकार बने रहते हैं, जिनकी रेखाएँ आदि इसप्रकार वियमितरूपसे रिंची रहती हैं, तथा वह ऐसी सूक्ष्म और बृहत् होती हैं कि जिनका विना कम्पासके बनना असम्भव-सा जान पड़ता है, इससे भी ईश्वरकी सत्ता सिद्ध होती है।

बुद्ध और जैन-सम्प्रदाय

बुद्धने अपने जीवनमें कहीं भी यह नहीं कहा कि 'ईश्वर नहीं है।' बौद्ध-सम्प्रदायमें ईश्वरका नाम 'अविलोकितेश्वर' है। बुद्धके समयमें कर्मपर विशेष जोर देना आवश्यक था, इसलिये उन्होंने यह उपदेश दिया था कि वर्तमान जीवन अतीतकालके कर्मोंका फल है और वर्तमानकालके कर्मोंका परिणाम भविष्यतमें मिलेगा। बुद्धके इस सिद्धान्तकी सत्यतामें किसीको सम्देह भी नहीं हो सकता है।

जैनधर्म भी अन्तिम कारणस्थलप एक परायको मानता है और यही वेदान्त-शास्त्रका ग्रन्थ है।

प्राचीन निरीश्वरवाद

प्राचीन निरीश्वरवादका मूल-कारण उपनिषदोंमें विकला है। असुर विदेशन ब्रह्माजीके पास तत्त्वज्ञानकी शिक्षा केरे जाता है। परन्तु वह उसके उपदेशको उछटा ही समझता

है और देहको ही आत्मा यान लेता है। इस विषयका विस्तृत विवेचन 'कल्याण' की पिछली संख्याओंमें खासीजी श्रीओंनेवाचारीके लेखोंमें देखा जा सकता है। पीछे विरोधनकी यही भावना असुरोंके तत्त्वज्ञानका मूल आधार बन गयी। यही कारण है कि असुर लोग यशका विरोध करते थे जिसके परिणामस्वरूप देवासुरसंघाम होते थे। और असुर लोग असर्य-पथका अवलम्बन करनेके कारण सदा ही पराजित होते थे।

यही निरीश्वरवादका सिद्धान्त असीरिया(Assyria) क्षेत्र (असुरोंका देश), बैबिलन (Babylon), इजिप्ट (Egypt) आदि देशोंमें प्रचलित था, जिसके हाराये देश पार्थिव उच्चतिमें इनने आगे बढ़ गये थे कि पाश्चात्य देशकी सम्यतामें कोई अद्वित वहाँतक नहीं पहुँच सका है। देशाम-वाद-सिद्धान्तके कारण ही इन लोगोंमें सुर्दोंको गाढ़नेकी प्रथा थी। इजिप्ट (मिश्र) देशवाले तो अपने सुर्दोंको बहुत ही सुन्दर मकानोंमें रखकर बन्द करते थे तथा उनके पास भौति-भौतिके बहुमूल्य आशूषण, वस्त्र, अद्व-पान आदि भोगकी अनेकों सामग्रियाँ रखते थे। पुरातत्त्वेताओंने उन भूतकोंको तुरियोंको स्तोलकर यह पता लगाया है कि वे लोग अत्यन्त ही समृद्धिशाली तथा कला-कौशलमें बहुत ही प्रवीण थे। परन्तु प्रकृति नशर है, संसार विनाशी है, इसमें कुछ भी स्थायी नहीं रहता। इसीमें ये देश पार्थिव उच्चतिके उच्चतम शिखरपर चढ़कर आज पूर्णरूपेण नष्ट हो गये हैं। उनकी सम्यताका अब जगतमें नाम-निशान भी न रहा। कारण स्पष्ट है। उन लोगोंने केवल बाह्य-प्रकृतिको ही 'पत्परो नास्ति' समझा और आत्मा-परमात्मा-के अभिल्पको भी नहीं माना। इसीलिये उनके जीवनका एकमात्र लक्ष्य पार्थिव उच्चति ही रहा। अतः उनकी सम्यता इस पार्थिववादपर अवलम्बित होनेके कारण पूर्णरूपेण विनष्ट हो गयी और भारतकी आर्य-सम्यता परमात्म-तत्त्वपर अवलम्बित होनेके कारण करोड़ों लोगोंसे अमृतण चली आ रही है।

अतएव इमलोगोंको कदापि पाश्चात्य देशोंकी पार्थिव सम्यताकी एण्डिक चमक-दमकमें भूलकर अपनी सम्यता तथा इसके चरम लक्ष्य ईश्वरको न स्थागिता चाहिये, नहीं तो अपनी सम्यताके नष्ट होते ही किंव आदि देशोंके समाज हमारा भी सर्वज्ञाता हो जायगा, इसमें तात्पुर भी सम्भव नहीं है। बार्तमानकालमें आधुनिक पाश्चात्य पार्थिव

१०

सम्बताके नाशके छहण दीख पहते हैं और विवेकी पुरुष अपने ग्रन्थों और लेखोंहारा इसको खेतावनी जगतको दे रहे हैं। भारतवर्षके निवासियोंको पाश्चात्य देशोंके नास्तिक-वादका लखनूनकर तथा आस्तिकताका प्रचारकर अपना और उसका कल्याण करना चाहिये। स्वयं इस सर्वनाशी नास्तिकवादमें पवकर नष्ट होनेकी भूर्खला कदापि नहीं करनी चाहिये।

नास्तिकवाद समाज-धर्मसंकारी है

नास्तिकवादी आगन्तुक दुःखको सहन नहीं कर सकते, केवल वर्तमान जीवन ही उनका सर्वस्व होता है, वे मरणान्त-जीवनमें विश्वास नहीं करते। दूसरी बात यह है कि नास्तिक तारकालिक परिणामको ही मुख्य मानते हैं उसके अष्ट भविष्यपर वे विश्वास नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि जब कभी कोई असहनीय दुःख आ पड़ता है तो वे उसे सहन न कर सकते विश्वासके द्वारा आस्तम्भात कर बैठते हैं, क्योंकि उनका विश्वास होता है कि शरीरके नाशके साथ जीवनका अन्त हो जाता है और फिर कोई आरम्भ-जैसी वस्तु नहीं रह जाती। इसीसे वे आन्महत्या कर दुःखसे मुक्त होना चाहते हैं, वे इस बातको नहीं समझते कि शरीरके नाश हो जानेपर भी जीवात्मा रहता है। दुःखकी बात है कि अमेरिका आदि उच्चत कहलानेवाले देशोंमें इसप्रकारकी आत्महत्याकी संख्या बड़ी भयानक रीतिसे बढ़ रही है, नास्तिकताके विश्वास परिणामोंका यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। नास्तिकवादके प्रचारका एक अन्य भयानक परिणाम यह होता है कि मनुष्य किसीके जीवनकी परवा नहीं करता तथा किसीकी हत्या करनेमें तात्पुर भी सङ्कोच नहीं करता। आजकलकी राजनीतिक तथा अन्य प्रकारकी हत्याएँ इसी-के परिणाम हैं। यूरोपका महासमर इसी प्रकारकी एक हत्याके कारण हुआ था। हत्या ही क्यों, आजकलकी बदती हुई चोरी-डकैती भी इसी नास्तिकताका परिणाम है जिनमें शिवित कहलानेवाले लोग भी प्रमुखरूपसे भाग लेते था रहे हैं। नास्तिकताके प्रचारके यह प्रारम्भिक तुष्परिणाम है — 'आगे आगे देखिये होता है क्या ?'

कलिपत आस्तिकता

यह संसार परमात्माका व्यक्त शरीर है, भत: ईश्वर-ही और अप्रसर होनेकी पहचानी भी वही है। इस-

द्विये औ मनुष्य ईश्वरके शारीरभूत जगतके प्राणियोंका आदर नहीं करता, बल्कि उनकी उपेक्षा करता है, उनके प्रति ईश्वर करता है और उनका उपकार न कर सकता उनकी हानि ही करता है, वह ईश्वरमें विश्वास रखते हुए भी यथार्थरूपसे आस्तिक नहीं कहला सकता और न वह श्रीवनमें यथार्थ आस्तिक उच्छित ही कर सकता है। ईश्वर-की मुक्य पूजा है संसारके प्राणियोंकी सेवा और सहायता करना। आजकल आस्तिक छोरोंके प्रति इसी कारणसे पूजा की जाती है कि वे सदा प्रायः अपने स्वार्थ-साधनमें ही प्रवृत्त रहते हैं, तथा उसके किये दूसरोंकी हानि करनेसे भी नहीं हिचकते। परोपकारमें प्रवृत्त होना तो इनके लिये दूरकी बात होती है। ऐसे पुरुष व्यक्तिमें आस्तिक होनेपर भी कार्यरूपसे नास्तिक होते हैं।

यथार्थ आस्तिकता

यथार्थ आस्तिक वही है जो संसारके प्राणीमात्रको मरणान्तरका रूप समझते हैं, तथा उनकी सेवाको श्रीभगवानुकी मुक्य सेवा और पूजा मानकर दुःखित और भार्त प्राणियोंकी सहायतामें प्रवृत्त रहते हैं, तथा देय और समाज-

के यथार्थ कल्याणके साधनमें सदा योग देते हैं। ऐसे सज्जन साधकके प्रति श्रीपरमात्माकी हृषा होती है और वे भल्की श्रीविमां गिने जा सकते हैं। मानव-श्रीवनका यही परम काम भी है।

यदि नास्तिक भी सदा-सर्वका ओकोपकारके कार्यमें निःस्वार्थ-भावसे प्रवृत्त रहे तो उसे भी आस्तिक समझना चाहिये। परम् श्रापति इसमें यही होती है कि ऐसे पुरुष कालान्तरमें स्वार्थ-परायण हो जाते हैं, तब उनकी तुष्टि भट्ट हो जाती है जिससे हानिप्रद कार्यको ही वे उसमें समझकर करने लगते हैं और अपनी तथा औरौंकी हानि दरते हैं।

धर्म और नीतिकी खिसि परमात्मा और उसके ईश्वरीय नियम हैं, जिससे यह संसार चल रहा है। जो हनको नहीं मानते हैं वे वह किसना भी प्रयत्न करें, कालान्तरमें उनसे भूल होगी और स्वार्थवश होकर वे धर्म और नीतिका उड़ान करेंगे। अतएव आस्तिकता अर्थात् ईश्वरके अस्तित्व एवं ईश्वरीय नियमोंमें विश्वास करना, एवं तदनुकूल आचरण करना, सब प्रकारकी वाक्तिक उच्छितिका शूल करना है।

कौन ?

बल यल तेज वायु

किसके नियन्त्रणमें ?

रात दिन काल-चक्र

क्रमसे चलाता कौन ?

बीजमें असंस्त्व वृक्ष

वृक्षमें असंस्त्व बीज,

राईको सुमेरु, मेरु

राई है बनाता कौन ?

कौन है विराटसे भी

महत विराट एक ?

सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होके

बाणीमें न भाता कौन ?

सत्ता ओ—' महात्मा है

कण-कण जोत-ग्रोत

तेजोमय सूर्य चन्द्र-

में प्रकाश लाता कौन !

लीन कर लेता विश्व

एक अणु मात्र ही में

पल भी न होती देर

फेर उपजाता कौन ?

एकसे न एक रचे

एकसे अनेक रचे

नेक ओ—' अ-नेक रचे

त्रिगुण रचाता कौन ?

उर्णनाभिके समान

विस्फुलिंग ज्यौ कृशानु

एक ओ—' अनेक मान

करता-मिटाता कौन ?

अपनेसे अपनेको

करके अनेक रूप

अपनेसे अपनेको

बालसे कृदाता कौन ?

भैमारोती 'आज'

श्रीभगवान् और उनकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक — प० श्रीशूद्धेन्द्रनाथ सान्याल)

हम भास्तुद्विधि प्राणी ईश्वरके अस्तित्वके सन्दर्भमें क्या प्रमाण देश करें ? हम-जैसे ईश्विराम मनुष्योंकी बातों और युक्तियोंका मूल्य ही क्या है ? और लौकिक युक्तियोंद्वारा आगतक उनको सिद्ध ही कौन कर सका है ? व्यानिनिष्ठ ज्ञानी और नित्य आरम्भमर्पित भक्तके अचल ईश्वरसनपर वे सदा ही विरचित रहते हैं; और हम क्या प्रमाण दिलायें ?

इमलोगोंके द्वारा भगवान्-के अस्तित्वमें प्रमाण प्रदर्शित करना एक प्रकारसे पागलका प्रलाप ही समझना चाहिये । सूर्यके देवतानेके लिये जैसे दीपककी आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ईश्वरके अस्तित्वके सिद्ध करनेमें भी अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है । भक्त और ज्ञानियोंकी म्बानुभूति और सम्पूर्ण ज्ञानोंकी साज, साक्षात् ईश्वरवाणी भगवती श्रुति ही उनके अस्तित्वमें सर्वोत्तम और प्रबल प्रमाण है । जो श्रुति-प्रमाणको नहीं मानते, उनमें हमारा कुछ भी कहना नहीं है । मैं यथासाध्य श्रुति-प्रमाण, कुछ लौकिक युक्ति और यत्किञ्चित् धपने अनुभवके आधारपर ही यह विवरण लिखना चाहता हूँ, आशा है भगवत्तक महापुरुष मेरी इस ईश्वरापर क्षमा करेंगे ।

भगवान्-में सभी लोग विश्वास कर सकते हैं, या करेंगे, यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है । महर्षि नारदने अपने भक्त-सूत्रमें कहा है—‘सा कस्मै परमप्रेमरूपा ।’

यहाँ ‘कि’ शब्दका प्रयोग करके महापुरुष समझते हैं कि जो ‘कि’ शब्दवाच्य है, हमें उन्हें प्रेम करना होगा, इस ‘कि’ शब्दका अर्थ यह है भगवान् सदा ही प्रश्नार्ह हैं । अर्थात् जिनके सम्बन्धमें कितने लोग कितनी बातें कहते हैं, आजतक कितने प्रश्न हो चुके हैं और कितने बुद्धिमान् पुरुषोंने उनके कितने प्रकारसे उत्तम-उत्तम उत्तर दिये हैं, तथापि मानव-द्वयके इस पुरातत प्रश्नके विषयमें संकाहीन, सन्देहहीन, सबके लिये प्राणीय, सबको सन्तोषप्रद सदुत्तर भवीतक कोई भी नहीं दे सका है । अतएव जब-जब इस प्रश्नकी मीमांसा हुई, तब-हो-तब कुछ समयके बाद युवा उन्हेंहुआ हकड़ा हो गया ।

और वही प्रश्न कुछ नवीनरूपमें फिर सामने आ गया । नचिकेताको यमराजने कहा था—

दैवत्रापि विद्यकिरितं पुरा न हि सुविज्ञेयमपुरेव र्थमः ।
(कठोपनिषद्)

र्थमें देवताओंको भी आत्माके (ईश्वरके) अस्तित्वमें सन्देह हो गया था । कारण, यह विषय ‘न सुविज्ञेयम्’ है । सहज ही जाननेमें नहीं आता । यद्योंकि जगत्को धारण करने-वाला यह आत्मा ‘अणुः’ सूक्ष्म विस्तनसे भी अगम्य है ।

इसीसे कहा जाता है, सब लोग भगवान्-में विश्वास नहीं कर सकते, बदुतोंको तो उसका पता ही नहीं होता । भगवान्-में विश्वास करनेके लिये कोई सहज, सरल मार्ग भी समझमें नहीं आता, इमलोगोंका जो उत्पर यक्षिञ्चित् विश्वास है सो केवल उनकी दयामें ही है ।

पुत्र अपनी मातापर सहज विश्वास करता है, वह किसीसे कुछ सुनकर या युक्तियोंका संग्रह करके ऐसा करता हो, सो बात नहीं है । जननीका अनिर्वचनीय स्नेह शिशुके हृदयको न जाने क्या समझा देता है जिसको वह बतला नहीं सकता, परन्तु अपने प्राणोंके अन्दर वह किसी अव्यक्त आकर्षणका अनुभव करता है, उसीकी प्रेरणासे वह माताको ‘माँ, माँ’ कहकर पुकारता है और असीम विश्वासके साथ उड़ाकर माँकी गोदमें जा बैठता है । इसी प्रकार युक्तियोंके महारे कोई भगवान्-पर कभी न तो विश्वास कर सकता है और न उनमें प्रेम ही कर सकता है ।

भगवान्-की विश्वाविमोहिनी शक्ति या बाँसुरी, भक्तोंमें न मालूम क्या सङ्गीत सुनाती रहती है, उपरोक्त भक्त सदाके लिये उनके चरण-रजका भिलारी बन जाता है, फिर उसको किंती भी युक्तिद्वारा उस मार्गसे हटाया नहीं जा सकता । प्रशुके आकर्षणमें ऐसा ही अपार बल है । यदि यह कहा जाय कि भगवान् तो सर्वान्मतीयमी, सर्वव्यापी और सबके आत्मा हैं फिर वे चुन-चुनकर केवल अपने भक्तोंको ही बाँसुरोंका मजुर स्वर यों सुनाते हैं ! दूसरे उसे क्यों नहीं सुन सकते ? इसके उत्तरमें भगवान् गीतामें त्वयं ही कहते हैं—

समोऽहं सर्वैर्मूलेषु न मे देष्योऽरित न प्रियः ।
वे भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(गीता १ । २९)

यदि भक्तको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अभक्तको नहीं, इसमें क्या भगवान्में वैष्णव-दोष आता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—‘मैं सब भूतोंमें समान हूं, मेरा कोई शत्रु-भित्र नहीं है, किन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे सुखमें रहते हैं और मैं उनमें रहता हूं’ ।

जैसे अप्तिके समीप रहनेवाले पुरुषका अन्धकार और जाड़ा अप्तिकी स्वाभाविक शक्तिमें ही दूर हो जाता है, उसी प्रकार पापी-पुण्यात्मा जो कोई भी भगवान्मको भजता है, वही उनकी महिमाको जानता है और वही ज्ञानित प्राप्त करता है ।

पुत्र जैसे जननीयर सहज ही विश्वास करता है, पढ़ी जैसे अपने प्रियतम पतिसे स्वाभाविक प्रेम करती है, कुत्ता जैसे अपने अच्छाता (स्वामीयर) विश्वास करता है, इनमें कहीं अधिक भक्त अपने भगवान्प्रपर प्रेम और विश्वास करता है ।

जो निराकार, निर्विकार और न मालूम क्या-क्या है; जिनको खोजते-खोजते बुद्धि यक जाती है, युग-युगान्तरोंसे कितने लोगोंके मनोंने उनका कितना अनुसन्धान किया, किन्तु कोई उनकी थाह न पा सका—ऐसी वह अचिन्त्य वस्तु भी मिल सकती है, उस अधर तरफका भी पता लग सकता है । किन्तु कहाँ?

‘हरिके कोपल पद-कमल हरि-जन-हित्यमें पैखि ।’

भक्तको देखकर ही अभक्त, ज्ञानीका भगवान्में विश्वास होता है मानो उसे कुछ प्रत्यक्ष अनुभव-स्त्रा होने लगता है, मानो कोई अचिन्त्य वस्तु उसकी जरूरोंके सामने आ जाती है । भगवत्-प्रेममें भतवाले श्रीमान् निष्ठानन्द-प्रभुको देखकर जन्मके पाप-कल्पित चित्तवाले महापातकी जगाईकी पापवृत्ति शान्त हो गयी । सदाके अभ्यन्त विषयोंसे वह मानो सर्वथा दूर हट गया । यही साधुसङ्गकी महिमा है । किस उसने जब भक्तवतार श्री-सैतन्यचन्द्रके प्रेमपूरित नेत्रोंकी ओर देखा, जब श्रीसैतन्य-देवके शरीरमें स्पर्श होकर आयी हुई बायुके सकोरे जगाई-मघाईके शरीरमें लो, तब तुरन्त ही एक वैशुलित किया-सी हो गयी, दोनों भाई अनास्थादित अदूर भगवत्-प्रेममें

सर्वथा निमग्न हो गये, उनकी कु-प्रवृत्ति सदाके लिये शान्त हो गयी । जो भूलकर भी कभी भगवान्मको याद नहीं करते थे, वे ही भगवत्की प्राप्तिके लिये अकुला उठे । भगवद्ग्रन्थके सङ्गकी यही तो महिमा है ।

‘पदेव सत्सङ्घः तदेव सदृतौ
परावरेण त्वयि जायते रतिः ।’

(श्रीमद्भागवत)

भक्त भी अपने बलपर भगवान्मको नहीं पकड़ सकता, इस बलको स्थानेकी तो भगवान्मने आज्ञा दी है । भगवान् स्वयं भक्तके समीप आकर उसकी भुजाओंमें बैध जाते हैं । भगवान्मकी शरण ग्रहण करने और उनको भजनेकी यही महिमा है । जो भगवान्में विश्वास नहीं करता, वह उनके भजनमें भी कभी नहीं लग सकता । भजन बिना केवल बुद्धिवादये कोई भी भगवान्मकी अपार महिमाका पता नहीं पा सकता । भगवान्मका महत्व समझें बिना, उनके चरणोंमें अपनेको सब प्रकारमें अर्पण किये बिना, मनुष्य-जन्म ही विफल हो जाता है । श्रुति कहती है—

इह चेदेवदीदय सत्यमस्ति

न चेदिहावदीन्महती विनष्टि ।

(केन० २ । ५)

इसी स्थोकमें यदि उस सर्वस्वरूप परमात्माका पता लग सके अथवा उनको जाना जा सके तभी ‘सत्यमस्ति’ जीवनकी मफलता होती है । इस लोकमें यदि उन्हें न जाना जा सका तो ‘महती विनष्टि’—महान् अनिष्ट हो गया—महा विनाश हो गया! क्योंकि जिस आनन्द-की प्राप्तिके लिये लोग मैकड़ों-हजारों अनर्थ करनेमें आनन्दकी नहीं करते सत्यापि किसी प्रकार भी उस परमानन्द-मरुरूपका सन्धान नहीं पाने । यदि मनुष्यको किसी उपायमें उसका पता लग जाय, यदि वह उस परमानन्दके अन्तहीन, अनादि निर्करके निकट पहुँच जाय तो किर उसके आनन्दकी सीमा नहीं रहती, वह जन्म-मरण, होक-रोग, शीत-उष्ण और अमावस्ये निष्ठ-निरन्तरके सन्धारणोंसे—समझ हुःखोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है । श्रुति कहती है—

मूरु मूरु विष्णु वीरा:

प्रेत्यास्माक्षोकादमृता मवन्ति ॥

(केन० २ । ५)

फिर वे परम भक्त धीर ज्ञानीजन सब भूतोंमें उन परमारम्भाकी उपलक्षित कर सकते हैं। इसप्रकार अनुभव करनेवाले धीर पुरुष ही इस स्रोतसे गमन करके भगवद्-को प्राप्त करते हैं।

भक्त जैसे भगवान्के लिये पागल हो जाते हैं, भगवान् भी उसी प्रकार अपनी स्वामानिक भक्त-वस्तुलक्षण-से नहीं चूकते। माता यशोदा वही चेष्टा करके भी जब अपने गोपाल कृष्णको न पकड़ सकी, तब जननीको परिश्रममें श्रान्त और क्लान्त देखकर श्यामसुन्दर स्वयं ही आकर उनकी डोरीमें बैध गये! अन्य है!

जिन बाँधों सुर असुर नाग नर प्रबल कर्मकी ढोरी।
सोइ अविछिन्न ब्रह्म यसुमिति हठिं बाँधों सकत न छोरी॥

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिनके चरण-कम्लोंमें धूलि-कण-के सट्ठा नाचते रहते हैं, वे यदि अपनी इच्छासे न पकड़ते, तो उन्हें कौन पकड़ सकता है? कातर भक्तके समीप भगवान् स्वयं ही आकर अपनेको पकड़ा देते हैं। भक्त, भक्ति-प्रिय माधवको भगवद्गुरु-लङ्घ भक्तिके बलसे ही पकड़ सकते हैं। जिसके पास भक्तिका यह बल नहीं है, वह किसप्रकार भगवान्का साक्षित्य प्राप्त कर सकता है? और उनका साक्षित्य प्राप्त हुए बिना वह किसप्रकार उनपर परम विश्वास कर सकता है? अतपूर्व मुझ-जैसे प्राकृत मनुष्य यदि भगवान्में विश्वास न कर सके तो उन लोगोंको उसना दोष नहीं दिया जा सकता।

हमलोगोंमें साधारणभावमें जो यत्किञ्चित् भगवद्-विश्वास है उसमें वामपादिक विश्वासकी तो गन्ध भी नहीं है। भगवद्-विश्वास एक अपूर्व वस्तु है, वह अग्राहक, अमूल्य सम्पदा है, उसके उक्त छोटे ही जीव कृतकृत्य हो जाता है और उसका भववन्धन हृष्ट जाता है।

'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाविकं ततः।'

(गीता ६। २२)

भक्त प्रह्लादके अनन्दर उस विश्वासकी कैसी अपूर्व शोभा-कैसी अपूर्व मात्रुरीका विकास हुआ था? तभी तो उसको समुद्र-गम्भीरमें निमज्जित होनेमें और अत्युच्च गिरि-शिखरसे गिरनेमें तनिक-सा भी भय नहीं लगा। मतवाले हाथीके पैरों-तले कुचलनेकी बात भी उसके मनमें किसी प्रकार जरा-सी भी शङ्खा उत्पन्न न कर सकी, इसका कारण यही था कि प्रह्लाद भगवान्के अभय मुखारविन्द्यके

दर्शनकर सदाके लिये भवसे मुक्त हो गया था। दुष्ट हिरण्यकशिपुने जब प्रह्लादको सामनेका स्तम्भ दिखलाकर कहा कि—'क्या तेरा भगवान् इस स्तम्भमें भी है?' प्रह्लादने अविचलित चित्तसे उत्तर दिया कि—'हैं, हैं, वे सर्वत्र हैं, इस स्तम्भमें भी निश्चय ही हैं।' यहो भक्तके शुद्ध भावसे भरे हुए चित्तका अपूर्व विश्वास है। ऐसा चित्त बिना मिले क्या किसीको भगवान्के दर्शन हो सकते हैं? यह युक्ति नहीं है, यह तो भक्तकी प्रत्यक्ष की हुई बात है—'यैन सर्वमिदं तत्तम्।'

भगवान् भी शरणागतवस्तुल हैं। जो उनकी शरण लेता है, वे उसपर हृषा करते हैं, अथवा वह उनकी निष्य विद्यमान असीम रूपाके स्पर्शका अपने हृदयमें अनुभव करता है। सकाम आर्त, अशर्थी भक्तपर भी जब भगवान् रूपा करते हैं, तब जिसकी भक्ति फलकामनामें रहित है, उसका तो कहना ही क्या है?

एकवस्ता निःसहाया द्वौपदी सभाके अनंदर नहीं किये जानेके भयानक भय और लज्जामें अभिभूत होकर जब कातरकण्ठमें प्राण भरकर भगवान्को पुकारने लगी तब भगवान् रूपा उसकी पुकारको अनसुनी करके वहाँ आये बिना छानभर भी रह सके? आश्र्यमयी घटना हो गयी, भगवान्का वहाँपर वस्त्रावतार हो गया। सभाके सभी लोग स्तम्भित और चकित हो गये। भयात्मके भयभत्तनका अद्भुत हृश्य देखकर भक्तोंका चित्त भगवान्के लिये रो रो उठा! इतनेपर भी अविश्वासी दुर्घोषित अपनी आँखोंके सामने आश्र्य-घटनाको देखकर भी विश्वास न कर सका, उसको यह हृश्य तनिक भी दिखलित न कर सका। ग्रेसा क्यों हुआ? ईश्वरमें उसका जरा-सा भी विश्वास क्यों नहीं हुआ? कारण यह है कि वह अहङ्कारी और अभिभावी होनेके कारण अनधिकारी था, वह अपने आपको ही बड़ा मानता था। उसका हृश्य अन्धकारास्तु और सर्वत्र अवस्था था, उसके ग्रेसे हृश्यमें भगवान्के प्रकाशके लिये स्थान कहाँ था? इसीलिये भगवत्-शक्ति सर्वत्र प्रकाशित होनेपर भी वहाँ प्रकाशित नहीं हुई।

बाहरी युक्ति और तकोंदारा जो भगवान्के अस्तित्वका निष्पत्ति किया जाता है वह केवल बाह्य-वाणीका विलास-मात्र ही है, उससे भगवान्का बोध नहीं हो सकता। वह तो मनके स्वधारमें छिपे हुए निज-निकेतनका रहस्य है, सबके सामने कहने-नुगनेकी बात नहीं।

बहुत दिनोंके प्रवाससे लौटे हुए स्वामीके साथ श्रीका
जो परस्पर गुदा भेमाकाप होता है, उसकी भाषाके और उसके
भावके इत्यको, उसकी कल्पसूत्राग्नीके अस्पष्ट स्वरको जानने-
का अधिकार स्था किसी बाहरी मनुष्यको होता है ? हसी
प्रकार भगवद्-ज्ञानका, उनके अस्तित्वका और भक्त-हृदय-
में स्थित भगवान्के सूक्ष्मरूपकी मधुरताका, लीलास्वादका
भक्तके हृदयमें ही मनुष्य किया जा सकता है, हम अभक्त
उसके स्वादको क्या समझें ? और कैसे उसका धर्णन करें ?

ईसाहृष्टोंके 'Imitation of Jesus Christ'
नामक प्रवृत्ति में लिखा है—

The soul is not be satisfied with the
multitude of words but a holy life is continual
feast. The kingdom of God is not in words.

'शब्दोंकी प्रचुरतासे आत्माका सन्तोष नहीं होता,
पवित्र जीवनसे निरन्तर सुखका रसास्वाद मिलता है।
ईचरके राज्यमें शब्दोंका महत्व नहीं है।'

भगवान्को जाननेके लिये चरित्रीकी शुद्धि अस्यन्त
आवश्यक है। विषुद्ध-रित्रि हुए बिना कोई भी उनको न
सो पहचान सकता है और न देख ही सकता है। विश्व-
व्याकुल चञ्चल-वित्तसे आत्मदर्शन नहीं होता। स्थिर-वित्त
होनेपर ही आत्मसाक्षात्कार होता है। स्थिर-वित्त हुए
बिना हजारों बार लोक करनेपर भी और सैकड़ों अन्य
पदनेपर भी भगवान्के अस्तित्वका पना लाना बड़ा कठिन
है। भगवान्के दर्शनके लिये जिसके मनमें अस्यन्त सीमा
आकर्षण होता है, वह न चिकित्साके समान ही विचर्योंकी
क्षणभंगुरता और अनियत्यताको देखकर विचर्योंकी ओर
ताकता ही नहीं; जिसके प्राप्त हो जानेपर जीवन-यात्रा
सदाके लिये समाप्त हो जाती है और मनुष्य-देहका धारण
करना सफल हो जाता है—उस परमपदकी प्राप्तिके लिये
ही लाक्षायित होकर वह केवल उसीको चाहता है, इसके
सिया वह और कुछ भी नहीं चाहता।

यह भाव तर्क और युक्तियोंकी सहायतासे उत्पन्न
होनेवाला नहीं है—'नैता तर्केण भतिरापेनेया' यह व्याविषयक
शुद्धि तर्कके द्वारा प्राप्त नहीं होती। विषयोंमें निमग्न हुए
वित्तके द्वारा हमलोंगोंमेंसे कोई भी उस गूढ़तम भगवद्-
स्वरूपका तत्त्व नहीं जान सकते। वह इतना सूक्ष्म है और
इसीलिये वह इतना दुरवगाह है।

अवणात्मापि बहुमियों न हस्तः

शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विषुः ।

आश्रयो बद्धा कुशलोऽस्य लभ्या-

ऽस्यमो ज्ञाता कुशलानुसिद्धः ॥

(कठ० १२।१७)

संसारमें अधिकांश लोग तो पेसे हैं जो इस आत्म-
ज्ञान अथवा परमेश्वर-सम्बन्धी ज्ञातोंको सुननेका ही सुखोग
नहीं पाते, कोई अवश्यका सुखोग पाकर भी इस आत्म-
स्वरूपके यथार्थतः जान नहीं सकते। इस आत्मज्ञान—
परमेश्वर-सम्बन्धी ज्ञानके उपदेष्टा भी दुर्लभ हैं, इसके
जानकार श्रोता भी दुर्लभ हैं और हसी प्रकार आत्मज्ञानी
पुरुषके द्वारा उपदेश-प्राप्त हुए ज्ञाता पुरुष भी दुर्लभ हैं।
फिर जिस किसी मनुष्यसे इस आत्मतत्त्वके सुननेपर भी
कोई फल नहीं होता। विवेकहीन साधारण मनुष्यके द्वारा
किये हुए परमतत्त्वके उपदेशसे आत्मज्ञानका विकास
नहीं होता।

न नरेणावरेण प्रोक्तं पप

मुविज्ञयो बहुवा चिन्त्यमानः ।

(कठ० १२।१८)

इस आत्माके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके मत हैं। कोई
कहता है भगवान् है, कोई कहता है नहीं है। कोई उनको
कहता, कोई अकहता, कोई साकार, कोई निराकार, कोई
न्यायवान् और कोई दयालु, इसप्रकार भगवान्के सम्बन्धमें
अनेक लोग अनेक प्रकारके भाव रखते हैं। इसारे इन्द्रिय-
आशा ज्ञान और विचारसे उन अतीनित्रिय परमात्माका
यथार्थ ब्रोध नहीं हो सकता। लोग अपनी भावनाके अनुसार
ही भगवान्की कल्पना कर लेते हैं।

किन्तु वह अद्वितीय देव सभी भूतोंके अन्तरमें गृह-
स्वरमें स्थित हैं, वह सर्वभ्यापी और सब भूतोंके अन्तरात्मा
है, वह सत्त्वके, सत्त्व कर्मोंके साक्षी होनेपर भी निर्जुन
है, अर्थात् कोई भी गुण उनको बाँध नहीं सकता।

एको देवः सर्वभूतवृ गृहः

सर्वव्यापी सर्वभूतात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताविवासः

साक्षी चेता केवलो निर्गुणम् ॥

(बेतावत्तर० १।११)

उन भगवान्को जानेके लिये उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये । स्वयं श्रीभगवान् आज्ञा देते हैं—

त्रिवद शरणं गच्छ सर्वभूवेन मारत ।
तत्प्रसादात्परं शान्तिं स्थानं प्राप्यसि शाश्वतम् ॥

(गीता १८।६२)

इस शरणागतिहारा भगवदुपविष्ट साधनमें भगवान् पर शरणागत साधकको भगवान् स्वयं अपने स्वरूपका तत्त्व समझा देते हैं ।

शास्त्रोंके अध्ययनसे केवल भगवान्को जानेकी हृष्णा जाग्रत् होती है; नहीं सो अनेक शास्त्रोंको पढ़नेवाला कोई भी उन्हें जान सेता, पर ऐसी बात नहीं है, शास्त्राध्ययनके साथ ही साधन-सम्पद भी होना चाहिये ।

शब्दब्रह्माणि निष्णातः न निष्णायात् परं यदि ।

अथः तस्य श्रमफलं इच्छेनुभिव रक्षतः ॥

जो केवल शब्द-शास्त्रोंको जानता है, परन्तु साधनके हारा उसका रहस्य उपलब्ध करनेकी चेष्टा नहीं करता, उसका शब्द पढ़ना वैसे ही अनमात्र है जैसे बाँक गौ अपनी रुदा करनेवालेको केवल परिअम ही देती है । इस-लिये जब कि साधनके बिना भगवान्को जानेका कोई उपाय ही नहीं है, तो फिर उन्हें जानेके लिये साधन ही करना चाहिये । साधन किये बिना जन्म-जन्मान्तरोंमें सञ्चित अन्तःकरणका अक नहीं हो सकता । मल नाश होकर अन्तःकरणके शुद्ध हुए बिना भगवान्के स्वरूपका दर्शन नहीं होता । भगवान्के स्वरूपका साक्षात्कार हुए बिना केवल दूसरेके हारा सुनतेसे वा मनमानी युक्तियोंके सहारेसे वास्तविक भगवत्-स्वरूपका अस्तित्व समझमें नहीं आता । अतएव आरमतत्व जानेके लिये ध्यया भगवत्-स्वरूपका दर्शन करनेके लिये सदरुस्के उपदेशाभी आवश्यकता है । गुरु-कृपा बिना कुछ भी नहीं होगा । परन्तु अनुरागी अक-पर गुरुदेव कृपा करते ही हैं । इस विषयमें भगवत्संविधान श्रीनारदकी आकृत्यात्का भायां देखोम्य है ।

श्रीनारद कहते हैं—

तस्यैव मेऽनुरुक्ष्य प्रतितस्य हैतनसः ।
भ्रद्वानस्य वाक्ष्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥
हां गुह्यतमं यत्तद् साक्षात्गमतोदितम् ।
अन्वयोचन् गमिष्यन्तः कृपा दीनवत्सलाः ॥

(श्रीमद्भा० १।५।२९-३०)

नारदके भाषिकके घरमें शातुर्मास करनेवाले उन वीमवस्त्र साझुओंने बहाँसे जाते समय अद्वालु, विनीत, अनुरुक्ष्य और दमगुणायुक्त बालक नारदको जिस गुहातम शानका रहस्य समझाया था, वह गुहासम ज्ञान भगवान्का ही साक्षात् स्वरूप है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि विनीत, अद्वालु और सेवापरायण अक्षिल्योपर साधुज्ञोग कृपा किया करते हैं । उनकी कृपासे ही यह गुहातम भागवत-ज्ञान जीवके अन्तःकरणमें उपलब्ध होता है । अवश्य ही भगवान्के प्रति इव विश्वास होना चाहिये ।

किसप्रकार यह विश्वास इद हो और कैसे भगवान्को सच हो? इसपर भागवतमें कहा गया है—

शुश्रूषाः अद्वधानस्य वासुदेवकथारुदिः ।
स्वान्महसेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥
श्रुष्टता स्वकथा कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तिनः ।
इष्टन्तःस्थो द्व्यभद्राणि विनुनोति सुदृत् सताम् ॥
नष्टप्रयेष्मद्रेषु नियं भागवत्सेवया ।
भगवत्युत्तमशोके महिमंवति नैषिङ्की ॥

(श्रीमद्भा० १।२।१६, १७, १८)

सेवा और तीर्थ-दर्शनादिसे भगवान्की कथामें प्रेम होता है । पुण्य-भ्रवण-कीर्तनस्य उस भगवत्-कथाको जो सुनता है उसके अन्तःकरणके मलको भगवान् स्वयं अपने करकमलोंसे धो डाकते हैं । इसप्रकार नियं साधुसङ्गसे एवं साधुओंके सुनोंसे भगवत्-कथा सुनते रहनेसे जब अन्तःकरणकी अमङ्गलकारिया शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब उत्तमशोक भगवान्में निश्चला भक्ति उत्पन्न होती है ।

श्रीनारदने भी कहा है—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगाथताः-
मनुश्रेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः अश्रुमेऽनुपदं विशृष्टवतः ।
प्रियश्रवस्यह्न ममाभद्रुदिः ॥

(श्रीमद्भा० १।५।२६)

वे (साधु) प्रतिदिन श्रीकृष्ण-कथा कहा जाते थे, उन्होंने दूष करके सुखे उस कथाके सुननेका अविकार से हिया था, प्रतिदिन अद्वालसहित कथा सुनते-सुनते भरे दृष्टिमें भगवान्के प्रति प्रेम उत्पन्न होते थांगा ।

आदौ श्रदा ततः सजोऽथ भजनक्रियाः ।
ततोऽनर्थः निवृतिः स्पात् ततो निष्ठा यच्चिस्तः ॥

पहले श्रदा होती है। तदनन्तर सरसङ्गके फलस्वरूप चित्तमें भगवत्-प्राणिकी आशा बढ़नेसे भजनद्वारा विशेषादि नष्ट हो जाते हैं; पश्चात् निष्ठा और उसके बाद रुचि होती है, जिसके द्वारा विश्वास इह हो जाता है, किं भगवान्‌में प्रब्रह्म आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, इसकी नाम भक्ति और यही विश्वासकी पराकाष्ठा है। यह विश्वास हमें सिर्फ बातों और युक्तियोंसे कैसे मिल सकता है?

चित्तके प्रति इमारा प्रेम बढ़ा हुआ होता है उसका चिन्तन हमें बहुत ही प्रिय प्रतीत होता है, भगवान्‌में भक्ति होनेपर उनका भी अधिक-से-अधिक चिन्तन करना प्रिय लगता है, किं वह भक्त अपने प्रियतम भगवान्‌के चिन्तनमें निमग्न हो जाता है। इसप्रकार आनन्दधन भगवान्‌का प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त कृतकृत्य हो जाता है।

ध्यावत्प्ररणम्भेन
मावनीजित्वेत्सा ।
औरुपठणाश्रुकाक्षस्य द्वयासीन्मे शैनहरि: ॥

(श्रीमद्भागवत १०।६।१०)

भगवान्‌के चरणकम्लोंका ध्यान करते-करते भक्तिके प्रब्रह्म होनेपर नारदके चित्तकी वृत्तियोंका बहिर्मुख भाव संयत होने लगा, क्रमशः प्रगाहः प्रेम उत्पन्न हो गया। कब उनके दर्शन होंगे, क्या सुने भी भगवान्‌दर्शन होंगे? इसप्रकारकी भावनासे नारदका चित्त भगवद्-विश्वमें भ्याकृल हो गया, उसके नेत्रोंसे आँखुओंकी धारा बहने लगी। उसी समय नारदके हृदयमें श्रीभगवान्‌की मूर्तिका आविर्भाव हुआ।

ऐसे सर्व-तम-नाशक आनन्दधन भगवान्‌के दर्शन हुए दिना क्या जीवन सफल हो सकता है? इसी आनन्दके लिये ही तो मनुष्य लालायित है। इसी आनन्दको पानेकी आशासे वह इन्द्रियोंके द्वार-द्वारपर विषयोंके लिये भीत्त माँगता भटक रहा है। वह 'शानन्द' और 'शान्ति' के लिये पुकार मचाता हुआ दिना विराम दौड़ रहा है, किन्तु—

'हरि-सौरम मृगनामि बसत है, द्रुम तृष्ण सृष्टि मर्यो।'

— कहाँ है वह शानन्द? वह आनन्द विषयोंमें नहीं है। तथापि जीव इसी आनन्दका सेवन करता है। विषयोंमें इस आनन्दका जरा-सा आमास है, इसीलिये तो जीव विषयोंको छोड़कर उनसे हटना नहीं चाहता। जीवमें इस आनन्दकी आकृष्टा स्वाभाविक ही है। वह कहु आनन्द उच्चा

आनन्दके जरा-से विचर्याको कहौं वार प्राप्त कर सका है, किन्तु उससे जीवकी तृप्ति नहीं होती। वह तो चाहता है आनन्द-रस-समुद्रको। वह तो उसमें सदा के लिये अपनेजो लोकर हुबे रहनेके लिये पागल हो रहा है। यह 'पूर्णात् पूर्णतरं' अथवा 'पूर्णतम्' आनन्द ही भगवान्‌का स्वरूप है। उसके न मिलनेसे विश्वासके साथ उसका आस्वादन न करनेसे, जीव-की यह जीवन-यात्रा ही घट्य है। असत्य भगवान्‌में विश्वास न करनेसे किसी हानि होती है, इसका कोई अनुमान भी नहीं हो सकता। आनन्दकी तो इच्छा ही पवित्र होकर भक्तिरूपमें परिणत हो जाती है। पहले कहा जा सुका है कि आनन्दकी आकृष्टा जीवमें स्वाभाविक है, असत्य भक्ति भी मनुष्यका सहजात संस्कार है। इस भक्तिकी चरितार्थताके लिये भगवान्‌की आवश्यकता है। इमरे अनन्दर यह भक्ति है इसीसे इम समझ सकते हैं कि 'भक्तिप्रिय माधव' भी हैं।

हम भगवान्‌में क्यों विश्वाम करें?

जो वस्तु संसारमें नहीं हैं तो, उसके लिये किसीको जालायित नहीं देखा जाता, इसके विपरीत जो वस्तु जितनी सुन्दर और सत्य हो, उसका मिलना असम्भव होनेपर भी लोग उसे प्राप्त करनेकी इच्छा किया ही करते हैं। जीवोंमें, विशेषकरके मनुष्यमें तो स्वाभाविक ही 'सुन्दर' और 'सत्य' के प्रति आकर्षण्य है। 'सत्य' और 'सुन्दर' को पानेके लिये जीव असाध्य-साधन करनेकी भी तंत्यार है। जीवनकी बाजी छाया देना तो उसके लिये साधारण बात है। वस्तुतः यह 'सत्य' और 'सुन्दर' यदि संसारमें न होता तो केवल अनन्द-जीतूहल-वश कोई भी इसके प्रति आकर्षित नहीं होता। वह भी देखा जाता है कि सत्य और विष्या हून दोनोंमें लोग सत्य-को ही चाहते हैं। स्वप्नमें प्राप्त धन और आस्तविक धनमें, लोग वास्तविक धनकी ही इच्छा करते हैं। जबतक सत्य-का यथार्थ बोध न हो, तबतक सत्यके प्रति उपेक्षा दिखानाना समझ है, किन्तु एक वार सत्यको समझ लेनेके बाद उसके प्रति आकर्षित न होना असम्भव है। जबतक हम सोसारिक वस्तुओंको सत्य समझते हैं तबतक उनको अधिक-से-अधिक पानेकी आकृष्टा करते हैं, किन्तु जब वही वस्तुएँ इमारी तुदिमें असत्य प्रमाणित हो जाती हैं, तब उनके प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता। इम अज्ञानवश असत्यके तभीतक विपटाये रहते हैं, जबतक उसको असत्य समझ नहीं लेते, इसी प्रकार सत्यके प्रति की तभीतक दृष्टिसम्बद्ध अवश्यार

करते हैं, जबतक सत्यका स्वरूप हमारे सामने प्रकट नहीं हो जाता। सत्य सदा उपेति नहीं रह सकता, इसी प्रकार असत्यके प्रति भोग भी सदा नहीं टिकता। इसीसे यह सम्भव है कि एक दिन सत्य अवश्य मिलेगा ही। सत्यके प्रति हमारा जो इतना स्थिर है, यह हमारे अन्तरका एक असि गूढ़ रहस्य है। जो सत्य है, वही तो सुन्दर है। सुन्दरके प्रति आकर्षण हमारा Intuitive सहजात ज्ञान है। यह सत्य हमारी अपनी बस्तु है, यह हमारे मनका भोग्यन प्रायोंका आत्माम है। जबतक हस्को भूले रहते हैं तभीतक 'आवस्तु' के साथ खेलना सम्भव है, 'सत्य' के पा आनेपर 'अवस्तु' के प्रति आश्रय नहीं रहता। जब बालक खिलौनोंको लेकर खेलमें रम जाता है, तब ऐसा मालूम होता है मानो वह अपनी माँको और घरको भूम गया है। किन्तु उसकी वह भूम सदा नहीं रहती। भूम भिट्ठी है, खिलौनोंको झेंक देना पड़ता है। उस समय उसको अपने घरका, अपनी जननीका स्मरण हो जाता है। तब वह व्याकुल होकर, रो-रोकर अपनी माँको खोजता है और अपने घरकी ओर दौब छूटता है, घर पहुँच माँसे भिलकर उसे इतना सन्तोष होता है कि खिलौने फैकर कर चले आनेका उसको किंचित् भी पश्चात्ताप नहीं होता। उसका अन्तःकरण और अनुभव यही साजी देता है कि उसे जो प्राप्त करना था उसको वह पागया है। इस वास्तविक वस्तुकी प्राप्तिके आनन्दमें वह सब कुछ भूल जाता है। उसको पाकर सब कुछ भूले हुए पुरुषको हमने अपनी आँखों देखा है। ऐसे लोग किस महानन्दमें मग्न रहते हैं, कैसे परिवृत रहते हैं यह बात उनको देखनेसे ही समझमें आ सकती है। असत्य वस्तुके आकर्षणमें इतना भोग नहीं होता, यदि कभी हो भी जाता है तो वह धीर्घकालक ठहर नहीं सकता। महापुरुषोंकी जीवनी हमें यह समझ देती है कि 'भगवान् है।' जिस वस्तुको पाकर वे सब कुछ भूल गये हैं, वह इतनी सुन्दर है कि संसारकी अन्य कोई भी वस्तु उनके मनको बैसा नहीं सीधे सकती।

यह सत्य वस्तु किसीकी निराधार कल्पनामात्र नहीं है, यह भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनों कालमें सत्य है। अन्धेरमें हम कुछ भी देख नहीं सकते, किसी वस्तुका भी स्वरूप समझ नहीं सकते, परन्तु ऐसा होनेसे हमारे मनको सन्तोष या सुहि प्राप्त नहीं होती। यह मग्ना एक स्वामानिक वर्तम है। मग्नी इस स्वामानिक दृष्टिके कारण १८

ही हम अन्धकारको परन्द नहीं करते, अथवा अन्धकारसे तृप्त नहीं होते। जिन सांसारिक सुखोंके लिये जीव ज्ञानापित रहते हैं, उनको इच्छानुसार पाकर भी जो उनकी कुछ भी परावाह न करके—उनकी उपेत्ताकर, केवल मनकी कल्पनाके आधारपर ही तृप्त हो रहते हैं, सो ज्ञान नहीं है, वे इसीलिये तृप्त हैं कि इस समय उन्हें सत्यके दर्शन हो गये हैं, वे उस असली सुन्दरपर मुग्ध होकर उसकी ओर स्थित गये हैं। इसीसे अब उन्हें जगतके विविध वैभव और मान-प्रतिष्ठा आदि आकर्षित नहीं कर सकते। उन्हें प्रकाशके दर्शन हो गये हैं, अतएव वे अन्धकारमें अटकना नहीं चाहते। यह अन्धकार ही ज्ञान है। जबतक अज्ञान हमपर छाया रहता है तबतक हमें वाय्य होकर उसमें निवास करना पड़ता है, किन्तु सत्यका प्रकाश पाते ही हम तुरन्त उसीकी ओर दौब जाते हैं, फिर वह अन्धकार हमें नहीं सुहाता। अनेकों पुरुषोंके जीवनमें यह ज्ञानालोक प्रकाशित हो चुका है, हमने ऐसे बहुत-से कोर्गोंके देखा है, जो इस ज्ञानालोकके प्रभावमें विगत भोग हो अज्ञान-अन्धकारके चंगुलसे कूट चुके हैं।

सत्यका आलोक प्रकाशित हुए बिना हमारे मनका यह गोरखघन्नमा मिट नहीं सकता; अन्तःकरणकी अप्रसवता और चित्का भय दूर नहीं होता। ज्ञानी हो या अज्ञानी, सभी निर्भय, निश्चिन्त और आनन्दित होना चाहते हैं, इसीसे सत्य और ज्ञानके प्रकाशको आवश्यकीय समझते हैं और इसीलिये जो सत्यस्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप हैं और 'तमसः परस्तात्' हैं उनको पानेकी इच्छा करते हैं। यही जीवमात्रके अन्तर-से-अन्तरकी बात है। यह 'सत्यं ज्ञानमनन्दं ब्रह्मानन्दरूपमसूतं' परम सत्य है। इसीलिये यह हमें इतना आकर्षित करता है, मिथ्या होता तो निश्चय ही हम इतने आकर्षणका अनुभव नहीं कर सकते। जैसे अन्धकारके बाद प्रकाश देखकर हम तृप्त होते हैं, वैसे ही अज्ञानका पर्दा फटनेपर जो ज्ञानालोक प्रकाशित होता है, उस ज्ञानके प्रकाशमें हम उन्हींका साचात् करते हैं जो—'प्रेयः पुत्रात् श्रेयः विशात्' है।

वही हम परम कल्पनास्वरूप हैं, वही हमारे आत्मा हैं, वही हमारे सबके राजा, प्रभु और भगवान् हैं। इसीलिये अज्ञानीको भगवान्के दर्शन न होनेपर भी ज्ञानी भक्त उनको देख पाते हैं। इसमें अविश्वास करनेका कोई भी कारण नहीं है। उनके द्वारपालों पद्मचानकर पूर्णकालके व्यधिगम

सरथ शिष्युके सहा उच्च कवठसे यह पुकार उठे थे—

‘बेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।’ (येताश्वतर ३।८)

यह गमनीर ध्वनि आज भी मनुष्योंके चित्ताकाशमें प्रसिद्धनित हो रही है। धीर, विवेकी पुरुष अथ भी उसको सुन पाते हैं।

हम जगत्में अनेकों विषयोंके लिये आकर्षण अनुभव करते हैं और उनको अपने हाथके समीप ही देखना भी चाहते हैं एवं अवसर मिलनेपर उनपर अपना अधिकार जमानेमें भी नहीं छूकते। ऐसा क्यों करते हैं? इसीलिये कि वे विषय हमको आकर्षित करते हैं, आनन्द देते हैं, उनको पाकर मन शान्ति प्राप्त करता है, इसीसे हम उन आनन्दप्रद वस्तुओंको पाना चाहते हैं। किन्तु हन वस्तुओंमें आनन्दका स्वर्ग दीक्षनेपर भी ये क्षणभगुर हैं, हनकी प्राप्तिसे हमारे प्राणोंकी आकांक्षा नहीं मिटती। जो सचमुच परमानन्दस्वरूप हैं एवं नित्य सत्य हैं, जिनका किसी कालमें घंस नहीं होता, जो आनन्द कभी सुकता नहीं, जिसको पाकर ऐसा नहीं कह सकते कि वस, हो सुका और नहीं चाहिये। वह ध्रुव नित्य सत्य परमानन्द ही भगवान् है। जब ध्यायिक विषयानन्दके लिये ही जीव उन्मत्त हुआ फिरता है, जिस विषयमें जिसको जितना कुछ आनन्द मिलता है, वह उसीपर अपना अधिकार जमाना चाहता है, तब यह तो पता लग ही जाता है कि हमारा अपेक्षा आनन्द है। यह सत्य है कि जगत्में अनेकों विषय हैं, और उनमें हमें आनन्द मिलता है, किन्तु वह आनन्द सदा रहनेवाला नहीं है, इसीलिये चित्त हाहाकार पुकार उठता है। वही जीवकी आत्मान्तिक ममवेदना है। नाना प्रकारके सांसारिक आनन्दको पाकर भी हम उसका स्थायी भोग क्यों नहीं कर सकते? इसका कारण यही है कि हमें वास्तविक आनन्दका पता नहीं लगता, आनन्दके सत्य स्वरूपको हम पकड़ ही नहीं पाते। हम जो कुछ देखते हैं वह काकके अन्दर आकृत प्रकाशका प्रतिबिम्बमात्र है, अपेक्षा ही वह आकोकका प्रतिरूप है, किन्तु अनुरूप नहीं है। इस आनन्दको हम नित्य स्थिरस्वरूपमें प्राप्त नहीं कर सकते, इसीसे हमारा मन इतना विक्षेपयुक्त और चब्बख रहता है। वास्तविक आनन्द ही जीवनका अरम सत्य है, यदि हम इस अरम सत्यको देख पाते, अथवा इसके सक्षिकट पहुँच जाते तो हमारे मनमें विकार या चित्तमें विक्षेप किलिए, भी नहीं रह सकता। उस आनन्दमें भावान्

आकर्षण है इसीसे तो वह कृष्ण है। उसको प्राप्त करनेके लिये न मालूम हम किस भगवान्दिकाकसे दौब रहे हैं। उस परमानन्दको न पानेके कारण ही तो मन क्षिप्त हो उत्ता है और अब शिष्यकी तरह उसे पानेके लिये दौबने लगता है। हमारे बार-बार एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जानेका यही रहस्य तो नहीं है?

जो वस्तु ही व हो, उसे पानेके लिये भनका इतना विक्षेप और इतना देख नहीं हो सकता। नित्य ही ‘वह’ है, इसीसे उसको पानेके लिये मनमें इतनी प्रबल इच्छा है, इसीसे परमानन्दकी प्रसिद्धि लिये जीवकी इतनी दान है। इस आनन्दस्वरूपकी नित्यप्राप्ति ही जीवकी नित्य-इच्छित वस्तु है। और हस परमानन्दके मूर्तिमान् विग्रह ही भीभगवान् हैं। फिर भगवान् नहीं हैं यह बात कैसे स्वीकार करें?

साधारणत: हम चक्षु आदि करणोंकी सहायतामें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी उपलब्धि कर सकते हैं। परन्तु इन इन्द्रियोंहारा हम भगवान्को देख या समझ नहीं सकते। स्थूल इन्द्रियोंके हारा स्थूल विषयोंका ज्ञान हो सकता है, किन्तु अतिनित्रिय वस्तुके जाननेका उपाय तो दूसरा ही है, वह ज्ञान हन इन्द्रियोंकी सहायतासे सहजमें नहीं हो सकता। पदार्थ-समूह इन्द्रियोंहारा आदा होनेपर भी ऐसे अनेक सूक्ष्म पदार्थ अथवा कीटाणु हैं जिनको हम इन इन्द्रियोंहारा नहीं देख सकते। उनका देखना या तो सूक्ष्म शक्तिवाले कृत्रिम यन्त्रादिहारा हो सकता है या मनुष्यके अन्तरमें स्थित अतीनित्रिय शक्तिके सुरणहारा। वस्तु तो यन्त्रादिकी सहायतामें शायद दीर्घ भी सकती है, किन्तु आरम्भदर्शन अथवा ईश्वरदर्शनमें हन यन्त्रादिकी सहायता विलुप्त म्यर्थ होती है, उसके लिये तो विष्य चक्षु चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यही विष्य चक्षु दिये थे, इसीसे वह विष्यरूप देख सका था। वे अतिनित्रिय दिव्यग्रेत्र सब मनुष्योंके अन्दर हैं किन्तु वे न तो उनका सद्व्यवहार करना जानते हैं और न उन्हें प्रस्तुटित करनेका उपाय ही। इसीलिये सबके पास विष्य चक्षु होनेपर भी वे उनके अधिकारमें नहीं हैं। भगवान्का स्वरूप अण्डीकित है, अरु: उसके दर्शनके लिये अण्डीकित नेत्र चक्षु गये हैं, वे भगवान्के—

‘रुपं मगदेव् यत्तन्मनः कान्तं गुच्छापहम्।’

—को देखकर कृतकृत्य हो जाते हैं। यह कल्पना नहीं है, भगवत्-स्वरूपके दर्शन किये जा सकते हैं, यह परम सत्य है। आज्ञाहन विषयोंके पीछे भटकनेके कारण हमारा मन अस्यन्त चब्बल हो गया है। इस चब्बलताके मिटते ही हृदय-पटमें उसका लकित विभक्त सजल अस्यद-कान्ति, बांकेविहारी भयुर रूप प्रकट होता है। किन्तु स्थूल विषयोंका चिन्तन करते-करते हमारा मन बहुत ही स्थूल हो गया है, इसीसे 'सूक्ष्मस्वात् तदविशेष्यम्' सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय परमात्माके दर्शन-लाभसे वह विज्ञित रहता है। यह बात नहीं है, कि उनका अस्तित्व ही नहीं है, हमसे हमें उनके दर्शन नहीं होते। वह है, परन्तु हमारे अन्दर सूक्ष्म-एहि—योग-इष्टिका अभाव है इसी कारण हम उनके दर्शन-लाभसे विजित हैं, नहीं तो—

'ईशावस्मिद् २. संव यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'

(कठ० १)

—ऐसे भगवान्नको क्या हम देख नहीं सकते? भगवान्-को जाननेके लिये पहले अधिकार प्राप्त करना होगा। इस परमात्माको जाननेके अधिकारीके सम्बन्धमें समराजने अनिष्टकेताके प्रति कुछ बातें कही हैं—

कामस्यासि जगतः प्रतिष्ठां

क्रोतोनन्यमयस्य पारम् ।

स्तोमं महदुरुग्यं प्रतिष्ठां

दद्मा भृत्या वीरो निचेकेतोऽत्यसाक्षीः ॥

(कठोपनिषद् १।२।११)

जो समस्त विषयभोग, संसारका स्वामित्व, गजोंका अनन्तफल, सब भयोंके नाशकी पराकाढ़ा और अतिंशय स्वनीय और समृद्धि ऐक्षयर्युक्त शुभ फल और अपनी अल्पतम गति, इन सबकी आशाको स्थाग सकता है, वह महा त्यागीकर पुरुष ही इस परमतत्वको जान सकता है।

जो पुरुष-कर्मोंमें रत, सरल, परोपकारी और दम-गुण-सम्पद हैं, उनका भगवान्नमें आपने आप ही विश्वास होता है। भगवान्नके भितरे ही सब कुछ मिल जाता है, इस-प्रकारकी निष्ठायारिमिका इद्बुद्धिको बारण करके वे किसी भी सांसारिक फलकी कामना नहीं करते। विषयोंका लोभ सब प्रकारसे छुटे बिना भगवान् को प्राप्त करनेकी आशा दुराशामात्र है।

न संदर्शे तिष्ठति रूपमस्य

न चक्षुषा पदयति कष्ठिदेनम् ।

हृदा मनीषा मनसामिक्लृप्तो

य एन विदुरमृतात्मं मदन्ति ॥

(कठ० १।३।९)

यह परमात्माका स्वरूप इन्द्रियका प्रत्यक्ष विषय नहीं है—इन्द्रियआद्य नहीं है, चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा कोई भी उसको नहीं देख सकता। किन्तु विकल्पहीन अर्थात् संयत वा निश्चल 'हृदा' बुद्धिद्वारा ध्यानकी महायतामें वह अभिभूत अर्थात् प्रकाशित होता है, जो हमको जान जाता है वह असूतस्वरूप हो जाता है।

न साम्प्राप्यः प्रतिभाति बालं

प्रमादन्त वित्तमेहेन मूढम् ।

अयं लोको नाति पर इति मानी

पुनः पुनर्वशमापद्यते म ॥

(कठ० १।२।६)

जिनकी बुद्धि प्रमादाग्रस्त है, जो धनके मोहने मोहित है, ऐसे ज्ञानारहित बालक-सदृश व्यक्तियोंके निकट शास्त्रानुकूल साधनादि और उसका फल प्रकाशित नहीं होता। जो यह समझते हैं कि यहीं लोक हैं, परलोक नहीं हैं, ऐसे पुरुष बारम्बार भूत्युके ही मुखमें पड़ते हैं, वे असूतके स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकते।

नाविरतो दुश्चरिताक्षान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानैनमाप्नुयात् ॥

(कठ० १।२।२४)

जो पुरुष असदाचारी है, इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक है, एकाग्रतारहित अर्थात् चब्बल और अशान्त मनवाला अर्थात् फल-कामनाके लिये अर्थात् लोकुप है वह यदि ब्रह्म-विषयक विचार भी करे, तो भी इस चैतन्यस्वरूप आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं

गुहाहितं गहरेषु पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाचिगमेन दद्वं

मत्वा वीरो द्विशोकौ जहाति ॥

(कठ० १।२।१२)

जो दुर्मनीय विषय-ज्ञोभमें प्रमत्त नहीं है, अर्थात् धीर है, ऐसे धीमान् पुरुष परमात्मामें चित्त-समाधानहृष योगके अभ्यासमें उस 'दुर्दर्श'-द्विशेष 'गूढ़'-इन्द्रियोंसे अग्राद्य और 'अनुप्रविष्ट'-सब भूतोंके अन्तरमें प्रविष्ट, प्राविष्टयोंकी बुद्धिके भीतर विराजित देहरूप गर्तमें स्थित,

सदा विद्यमान उस परमदेवको मानकर विषयोंसे उत्पन्न सुख-नुः-साधिका परिस्थाग करते हैं। अर्थात् गम्भीर ध्यानके द्वारा आमस्वरूपको प्राप्त कर लेनेपर उनको फिर विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख-नुः-सद्वारा विद्यवित होना नहीं पड़ता।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषेतत्रामा

सदा जनाना हृदये सन्निविष्टः ।

जो अङ्गुष्ठ-परिमाण-पुरुष हृदयाकाशमें प्रकाशित है, वही जीवोंके अन्तःकारणमें स्थित है।

यमैवै वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूःस्वाम् ॥

(कठ० १ । ३ । २३)

जो सुसुषु साधक हृषि आत्माको प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करता है, अथवा वही एकमात्र प्राप्तव्य वस्तु है, यों समझकर उसको बरण करता है, उसी सुसुषु साधक-हारा यह आत्मा प्राप्त किया जाता है। यह आत्मा उस सुसुषु उपासकके निकट अपनी सूर्ति प्रकाशित करता है। साधककी ऐकानिक शरणागति और भगवद्-कृपा ही उसके साक्षात्कारका उपाय है।

यदा सर्वे प्रतिदृते इदयस्येह ग्रन्थ्यः ।

अथ मत्योऽमृतो मदत्येतदद्यनुशासनम् ॥

(कठ० २ । ३ । १५)

जब इस वीचनमें ही अन्तःकारणके समस्त बल्धन (देहविद्यें भगवत्पुरुष) नाश हो जाते हैं, तब यह भरणशील देह-विशिष्ट व्यक्ति अमृत हो जाता है। यहींतक अमृशासन है। इसप्रकारकी अवस्था प्राप्त करनेके बाद फिर उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती।

यह आत्मा ही—

उपद्रवानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति आप्युक्ते देहेत्सिन्पुरुषः परः ॥
(गीता १३ । २२)

यह पुरुष उपद्रवा, अर्थात् साक्षीमात्र, अनुभवन करनेवाला, यही सबका भरण करनेवाला, पालन करनेवाला और महेश्वर अर्थात् व्याधिविका भी अधिष्ठित है। भूतिमें कहा है—

‘पपः सर्वेश्वरः एषः भूताविषितः’

प्रकृतिके गुणोंसे मोहित जीव वृथा-आशा, वृथा-कर्मों होकर सब भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमतत्वको न जाननेके कारण मनुष्य-देह-धारी मुक्त परमात्माकी अवज्ञा करते हैं। किन्तु—

महात्मनस्तु मां पार्यै देवीं प्रकृतिमात्रिताः ।

मञ्जस्यनन्यमनसो इत्तमा भूतादिमध्यम् ॥

(गीता १ । १३)

हे पार्थ! दैवीप्रकृतियुक्त महात्मा पुरुष मुक्तमें एकाग्र-विज्ञ हुए सुके जगन्-कारण और नित्य-स्वरूप समझकर मेरी आराधना करते हैं। अतपात्र जिसमें आमुरी स्वभाव बदलकर दैवी स्वभाव प्राप्त हो, इसके लिये चेष्टा करना परम कर्तव्य है। दैवी स्वभाववाले पुरुषको ही स्वरूप-साक्षात्कार होता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन संबते ।

स गुणान्समतीतैतन्त्रद्वयमूल्यम् कल्पते ॥

(गीता १४ । २६)

जो अन्य लक्ष्य त्यागकर एकान्त-भक्तियोगहारा परमेश्वर-स्वरूप मुक्त वासुदेवकी सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको उत्तमं बन करके भोक्त्वप्राप्तिके लिये समर्पण होता है।



वह

कौन है, कहाँ है वह, रूप उसका है कैसा? इसका किसीने कुछ भेद नहीं पाया है। अनल, अनिल, जल, व्योम, जगतीतलमें, जीव, जन्तुओंमें अण-अणुमें समाया है। आदि मध्य अवसान उसका नहीं है कुछ, जायेगा कहाँको, वह कैसे यहाँ आया है? उसका ‘प्रकाश’ यह जग जल थलमें है, उसकी ही सृष्टि और उसकी ही माया है।

रामाकान्त त्रिपाठी ‘प्रकाश’

श्रीभगवद्-रहस्य

(लेखक—रायबहादुर राजा दुर्जनसिंहजी)

ॐ ब्रह्मते इयुं वैश्वतिलङ्कः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।
दक्षबदननिवेदनकारी दाशरथि: पुण्डरीकाशः ॥
ब्रुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमद्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं बन्दे जगद्गृहम् ॥

म
 तमेद होना प्राकृतिक धर्म है और यह अनादिकालमें चला आया है, किन्तु आश्वर्य यह है कि परिवर्तनशील पाञ्च-भौतिक सृष्टिका विषय उनना विवादग्रन्थ नहीं, जिनना कि अटल और अखण्ड विश्विवाला-भगवत्-विषय है। इस विवादके कारण पारस्परिक विरोधकी नित्य बृद्धि होकर नये-नये सम्प्रदाय आये दिन जन्म लेते चले जा रहे हैं और राग-द्वेषका बेग बढ़ रहा है।

श्रीभगवान्के बनवास पधारनेपर श्रीदशरथ महाराज-की लोक-भाक्त ममास हानेके पश्चात् श्रीभरतजी महाराज अपने प्रिय भ्रातासहित ननसालमें श्रीयत्याजी पधारकर जिस समय परम सन्तत-हृदया श्रीकौशल्यामाताके भवनमें पधारे हैं, तब उनके सम्मुख अपनी बुद्धिके निमित्त की गयी अनेक शपथोंमें एक शपथ यह भी की गयी थी—
भक्त्या विबद्धमनेषु भार्गमात्रित्वं पद्धयतः ।
तेन पापेन युज्येत यस्वामोऽनुभवेत गतः ॥
 (२० रा० भ्रो० का० स० ७५ । ८५)

अर्थात् भक्तिके हारा किसी मार्गका (सम्प्रदाय, मत) आश्रय करके क्षणक्षणेवालों या उनके देखनेवाले (विवादके सुननेवाले) को जो पाप लगता है वह उमे लगे जिसके परामर्शसे श्रीभगवान् बनको पधारे हों। सरदन-मरदन-पूर्वक भगवत्-विषयपर शाक्षार्थ करनेमें स्वपष्ठ-समर्थनका आवेदा होकर जिनके हृदयमें राग-द्वेषकी भाक्त बढ़ जाती है, उनके लिये यह शपथ चमुरुम्भीकानपूर्वक पूर्ण शिक्षाप्रद है। यथापि इससे स्पष्ट है कि भगवत्-विषयमें विवाद करना प्रायश्चित्तसापेक्ष एक प्रकारका पाप है और यह कदाचि साधु-सम्रत नहीं है तथापि विरोधकर इस कलिकालमें सो, दशा असहा-सी हो रही है और यह पश्चातपूर्व

कोई विषय सम्मुख आता है तो हृदयको परम आशात पहुँचता है किन्तु यह सोचकर कि सर्वया पश्चपातहीन परम विज्ञानमय श्रीमद्भगवत्तीता या आचुनिक जगत्मैं सर्वाधिक लोकप्रियताप्राप्त श्रीतुलसीकृत मानसरामायण-सरीसी अनुपम रचनाओंके हारा प्रकटित सिद्धान्तोंमें लोककी अनेक आनन्दियोंके समूल नष्ट होनेकी पर्याप्त सामग्री प्राप्त है अथवा इनके ही आवारपर अनेक लेख-व्याख्यान मी भगवत्-भेदमें लीन विद्वान् या महात्माओंके हारा यथासमय जगत्के समझ होते रहते हैं—जब इनका प्रभाव भी विवादप्रिय लोगोंके शान्तिका कारण नहीं हो सकता तो सुरक्षा-जैसे अल्पमति वा अभ्यास-शूल्यकी तो गणना ही क्या है ? इस स्थितिमें मेरा लेखनी उठानेका कैसे साहस हो सकता है ? तथापि जब कभी हृदयको पूर्ण धड़ा लगकर दैवी-प्रेरणा होती है तो श्रीतुलसीकृत रामायणजीका यह वचन—

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई । तदपि कहं बिन रहा न कोई ॥

—स्मरण हो आनेमें प्रकृतिके लिये साहस हो जाता है और उसी दैवी-शक्तिके अनुरोधसे दीन वा दरिद्र शरदोंमें कुछ भाव भी निकल पड़ते हैं। मेरे विवारमें यदि मूल श्रुतियोंका आशय हृदयाकृति कर लिया जाय तो मेरे भेदोंका अंकुर ही हृदयमें नहीं उठने पावे और कैसा भी जटिल विषय हो, सरलतासे समझमें आ जाय ।

सबसे प्रथम भगवत्-तत्त्व-शोतक भूल श्रुतियोंको ही लिया जाय —

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन । स देव सौम्यदमग्र आसादेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहु स्त्रीं प्रजायेय । (आनन्दोग्य उपनिषद्)

इनसे सूर्यके भज्याङ्ग-प्रकाशकी भाँति सिद्ध है कि भगवान्, ब्रह्म, परब्रह्म परमात्मा हृत्यादि अनन्त नामोंमेंसे कुछ भी कहा जाय, है एक वा अद्वितीय ही। इस सिद्धान्तमें जहाँतक देखा जाता है किसी भी (जाहे सनातन-धर्मी जाहे अन्य) सम्प्रदायका मतभेद नहीं है क्योंकि दो परमेश्वर कोई नहीं मानता ।

इतना तो विषय निर्विवाद है, किन्तु मतभेदके कारण-का बीज श्रीभगवान्का स्वरूप-निरूपण है, क्योंकि कोई

तो इसको अमूर्त अर्थात् निराकार बताता है और कोई मूर्त अर्थात् साकार। इसीके अन्य नाम निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत, निरवयव-सावयव आदि हैं।

पश्चात् घोषकर प्रतियोंके आधारपर विषार करनेसे ऐसे भासभेदको अवकाश नहीं मिल सकता, किन्तु पश्चात्स-का अंकुर हृष्टमें जमनेसे पूर्वापरका सब विषार नष्ट होकर और पश्च-समर्थनके आवेशमें यथार्थतापर इष्ट न रहकर परिखालम यह होता है कि ऐसे पश्चके सिद्ध करनेका प्रयत्न होने लगता है जिसमें अपनेजिन इष्टदेव श्रीभगवान्के उक्तस्थेष्यादनके लिये न्याय-परायनाताके भी दमनपूर्वक पश्चात्का इतना आकाश-पाताल बाँधा गया, कि उलटी उनकी ही महिमा मंकीर्ण दीखने लगती है। इस विषयके प्रमाणामें अधिक भटकनेकी आवश्यकता नहीं। निर्गुण उपासकोंके शिरोमणि और अडैतवादके प्रधान आचार्य श्रीसङ्कर भगवान्की लेखनीके द्वारा ही उपनिषद्-मन्त्रके आधारपर उनके स्वयंरचित् प्रबोध-सुधाकरमें निकले हुए इस वचनको देखिये—

जानन्तु तत्र बेंजं हरिमक्त्वा जानिनो ये स्युः ।
मूर्तं चैवापूर्तं द्वे पदं ब्रह्मणो रूपं ॥

जिस ब्राह्मण-भागके मन्त्रको यहाँ लेख कराया गया है वह इसप्रकार है 'द्वे चैव ब्रह्मणो रूपे यन्मूर्तं चामूर्तं चेति' यह मूर्त और अमूर्तका समुच्चय श्रीभगवान्का परमार्थ्य-पूर्ण व्यापार है जिसका रहन्य त्रिगुणमयी त्रिद्विद्वारा प्रहण किया जाना चाहा कठिन है—ऐसे ही अद्भुत व्यापारका पुष्टिकारक चेतावनीरोपनिषद्-का यह मन्त्र है—

अपाणिपादो जननो ग्रहीता
पश्यत्यच्छुः स श्रुणोत्कर्णः ।
स बेति बेदं न च तस्यास्ति वेता
तमाहुरप्रयं पुरुषं महान्तम् ॥

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि अमूर्तस्का तो सर्वत्र वायु-आकाशकी भौति व्यापक रहना समव है किन्तु मूर्तकी व्यापकता समव नहीं हो सकती। इसमें पहले एक पाञ्चभौतिक सृष्टिका ही उदाहरण श्रीभगवान् दक्षावायंके इन वचनमें दिया जाता है—

साप्ताश्वर्यैषदेवं बर्तुलमुपलम्प्यते खेर्वं ग्रन् ।
विश्वं प्रकाशयति तत्सर्वं सर्वेत्र इष्टयते युगपत् ॥

जब कि इस प्रकृति-राज्यमें भी भौतिक सृष्टिका इस अनुपम चमत्कार इन चर्म-चमुओंके द्वारा प्रत्यक्ष

दीख रहा है कि गोलाकार सूर्य-मण्डल सालाल एक देशमें ही दिखलायी देता है किन्तु वह सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है और सबको एक ही साथ सब जगह दिखलायी देता है तो प्रकृतिके स्वामी श्रीभगवान्की अनुपम भहिमाका क्या ठिकाना है? जहाँ असंख्य सूर्योंका सेव और प्रकाश है, यही क्यों, प्रत्युत विरोधी धर्मवाले अनेक चन्द्रमाओंकी युगपद् ज्योत्स्ना और शीतलता भी विद्यमान हैं।

जब हमको श्रीसूर्यनारायणकी, जो श्रीभगवान्की मायाके कार्य हैं, मूर्त और अमूर्त दोनों रूपमें द्यापकता इन चर्म-चमुओंसे ही नित्य दीख रही है तो श्रीभगवान्की व्यापकतामें क्यों सन्देह किया जाय? यथापि श्रीभगवान्के सन्तोषार्थ इतना ही पर्यास था किन्तु श्रीभगवान्ने सो इसके प्रमाण देनेमें भी तनिक-सी अपर्णता नहीं छोड़ी, जिसमें किनी सन्देहोंकी ही स्थल शेष नहीं रहता। श्रीकुरुत्सेव-की रशन्मिमें अर्जुनजीको जो विराट-रूपका दर्शन कराया, उसके द्वारा इतना ही प्रयत्न नहीं दिखा दिया कि श्रीभगवान्का रूप आकाश और पृथ्वीके समग्र अन्तरमें पूर्ण व्यास है किन्तु विष्विध प्रकारमें विभक्त हुआ जगत् ही अपने शरीरमें दिखाया गया। इस रूपको तो पुनः इतना अवकाश भी था किन्तु श्रीमाता कौशल्याजी और श्रीमाता यशोदाजीको सुखमें और काकभुशुगिडजीको अपने बाल-स्वरूपके उदरमें पेमा ही आश्रयपूर्ण और अद्भुत चमक्कार दिखाया गया—पुनः ब्रगवासके समय श्रीपार्वतीमाताको भी ऐसे ही परम विष्विधकारक इष्टमें चकित किया गया। इसमें मिदू है कि श्रीभगवान्की दोनों ही रूप मूर्त या अमूर्त द्यापक और अनादि या अनन्त अर्थात् नित्य हैं—श्रीभगवान्की साकार और निराकाररूपमें व्यापकताके विषयमें श्रीभगवद्गीताजीके साहम, नवम, दशम, एकादश और पञ्चदश अध्याय दृष्टव्य हैं।

इसमें एक और भारी अमरकार है। अब उत्तर इष्ट डाली जाय। मूर्त और अमूर्त दोनोंका समुच्चय मानकर भी मूर्तस्वप्नके विषयमें यही समझा जाना समव है कि श्रीभगवान्की यह इष्टा होनेपर, कि मैं एकसे अधिक हो जाऊँ, प्रकृतिकी साम्यावस्था भङ्ग होकर सत्त्व, इच्छा, तम सीन गुणोंमें विषयमाता होते ही त्रिगुणमयी भायाके आश्रयमें सृष्टिका आरम्भ उसी लेण हो जाता है और यही मूर्तस्वप्नकी उत्पत्तिका कारण है—अर्थात् मूर्तस्व

माया के संसर्ग विद्वा सम्भव नहीं। यथापि ऐसा निश्चय पूर्ण भ्रान्तिमूलक है तथापि यह अनिस्मूलक निश्चय ही सिद्धान्तस्थलपे से मानता पड़ता, यदि वह दयामय इन धार्मिक सिद्धार्थोंको पुष्टिके विभिन्न अपने जरियोंसे अमनिवारण करके अपने सत्यरूपका प्रत्यक्ष प्रमाण न देते। केवल इसी जटिल प्रसंगका प्रमाण देनेके लिये श्रीभगवान्-की उस अनोखी लीङ्गका होना निश्चय होता है, जिसमें देवतुर्लभ भक्तमण्डल ब्रज-भूमिये बछड़े चराते हुए श्रीभगवान्-के गवालबाल और बछड़े श्रीश्वराजीने सुरा किये थे। उस समय न केवल चुराये गये गवालबाल और बछड़ोंके स्थानमें जो भायिक सृष्टिके क्रममें उत्पन्न हुए थे, दूसरे गवालबाल और बछड़े तस्काल उत्पन्न कर दिये गये, प्रलुब्ध उत्तनी ही संस्थामें सब लक्षणसंयुक्त अपने चतुर्भुज रूपोंके भी श्रीश्वराजीको दर्शन करा दिये गये। यह सब भायिक रचना थी, जिसमें सिद्ध है कि श्रीभगवान्-में केवल भायिक सृष्टि-रचनाकी ही शक्ति नहीं है किन्तु उनकी शक्तिकी अपारता और अपरिमेयता यहाँसक है कि वे अमायिक सृष्टिका भी निर्माण कर सकते हैं। अतः श्रीभगवान्-का जो मूर्खरूप है वह अमूर्खरूपके ही सदृश मायातीत है और उसको मायाका कार्य मानना नितान्त भ्रान्तिमूलक है। वेदान्त और वैष्णवादि मतोंमें ब्रह्म या श्रीभगवत्-तत्त्वके जो भिन्न-भिन्न भेद माने हैं, इनमें अवश्य मायाकी उपाधि हेतु है जिसको किसी मतमें विशेषण भी कहा जाता है, यथा—वेदान्तमें मुख्य दो तत्त्व—चेतन और जड़ मानकर किसी मतमें चेतनके तीन भेद बताये हैं जैसे शुद्ध प्रगत, मायोपहित चेतन जिसको हृष्वर कहा है वा अविद्योपहित चेतन जिसको जीव कहा है और किसीमें घटाकाश, जलाकाश, मेवाकाश और महाकाशके तुल्य कृत्त्व, जीव, हृष्वर और ब्रह्म ये चार भेद माने हैं। वैष्णव-सिद्धान्तानुसार एक भत्तके ये वचन हैं—

स पद कहणासिन्मुर्भगवान् भक्तवत्सलः ।
उपासकानुरोधेन भजते मूर्चिपञ्चकम् ॥
तदर्चादिभववृहस्पत्नमान्तर्मिसंक्षेपम् ।
यदश्रित्वैव चिद्र्वांसतत्तदेहं प्रपद्यते ॥

अन्य भत्तसे पर-स्वरूप, स्व-स्वरूप, उपास्व-स्वरूप, मूर्ख-स्वरूप, विरोधी-स्वरूप है।

अन्यान्य भत्तोंके द्वारा जो ऐसे भेद माने गये

हैं, सब माया-प्रधान हैं किन्तु उसे अमायिक परम तत्त्वके वे ही दो रूप हैं जिनका आरम्भमें ही निरूपण हो जुका है।

अब एक रहस्यका भी रहस्य और सुनिये। वामतर्में बात यह है कि जो श्रीभगवान्-का दसकलतापूर्ण इस्त-कमल मस्तकपर हो तो यह इतना अगाध विषय है कि इसमें जितनी-जितनी सूर्य बुद्धिका प्रवेश कराया जाता है, उतना-उतना ही रहस्य उद्घाटन होता है। उपर जो इष्टान्त-स्थल-से अर्जुनजीको विराटरूप अवलोकन कराने और श्रीमाता कौशल्या और श्रीमाता यशोदा और काकपुष्पदिव्यजी-को क्रमशः मुखारविन्द और उदरमें यज्ञारथोंको दिखानेकी अलौकिक लीलाएँ कथन की गयी हैं, इनपर गम्भीर रुद्धि दाली जाय। स्व-शरीरमें विराटरूप दर्शन करानेसे तो श्रीभगवान्-ने स्वापकताके द्वारा अपनी पूर्णता सिद्ध करके इस मन्त्रका अर्थ मूर्तिमान् उदाहरणके साथ सिद्ध कर दिया—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णत्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

किन्तु इसके समान एक दूसरा मन्त्र देखना चाहिये। ‘महतो महीयान् अणोरणीयान्’ यह मन्त्र भी उपर्युक्त मूर्ति-अमर्त्वाचक मन्त्रके तुल्य एक अधिष्ठानमें दो विरोधी धर्मोंका समुच्चय सूचित करनेके द्वारा श्रीभगवान्-की अलौकिक शक्तिका प्रमाण देता है, इसके पूर्वार्द्धमें से तो उपर के मन्त्रऽमृ पूर्णमदः ……………’का पूर्णतया समर्थन होता है और इसमें वही श्रीभगवान्-की विश्वरूपता सिद्ध होती है, जिसके दर्शनका अर्जुनजीको सौभाग्य प्राप्त हुआ। परन्तु उत्तरार्द्ध सर्वथा विरोधवाचक प्रतीत होता है और प्रत्यक्षमें यही समझा जा सकता है कि पूर्णतावाचक मन्त्र-की इस दूसरे मन्त्रके साथ संगति नहीं बँठती। परन्तु इस भारी उल्लङ्घनको श्रीभगवान्-ने दूसरे उदाहरणोंसे इस-प्रकार सुलझा दिया, जैसे उलझे बालोंको कंची सुलझा देती है। प्रथम इस विराटरूपमें पूर्ण विशाल देहधारी प्राणी और पदार्थोंके सम्मुख तो श्रीभगवान्-का बालस्वरूप अणु है और उस अणुसे भी अणु उनका उदर और उस उदरसे अणु उनका मुखारविन्द—इस मुखारविन्दसे भी अणु कर-के सम्पूर्ण विस्तृत ब्रह्मशब्दोंही नहीं, ऐसेये से असंख्य ब्रह्मशब्दोंको अन्तर्भूत करके दिखा दिया। यथापि यह नितान्त भाल्लार्पोत्पादक इय है तथापि इसके समर्थनमें

श्रीभगवान्‌ने इस गुणमयी सृष्टिमें ही अन्त पुरुषोंका आवरण इटानेके निमित्त एक सामान्य-से-सामान्य उदाहरण उत्पन्न कर रखा है। वह यन्त्र वा वह काचोंको जाने दिया जाय। दो चार पैसेमें एक अँगूठी आती है उसमें मसूरकी दालसे भी छोटा काचका ढुकड़ा लगा रहता है—जिसमें सैकड़ों गजोंमें आनेवाला इत्य अन्तर्भूत होकर स्पष्ट दीखता है। जब इस भौतिक सृष्टिमें ही हमको ये चमकार दिखायी देते हैं तो उस मायापतिके अमायिक चरित्रोंमें कर्यों सम्बेदको अचकाश देना चाहिये? इससे अधिक उक्त श्रुति 'अशोरणीयान् महतो महीयान्' का खुला और क्या उत्तान्त हो सकता है? इस नितिसे यथापि श्रीभगवान् शृहस्त-से-शृहृत और इस्व-से-इस्व द्वारा तो भी उनकी पूर्णतामें कोई अन्तर नहीं आया। जैसी पूर्णता वृहत्-मे-वृहत् रूपमें थी, वही इस्व-से-इस्वमें भी रही। यदि कोई कहे कि वृहत् रूपसे जो अचकाश व्यास या वह इस्व-रूप धरनेपर कहाँ गया तो इसका उत्तर बहुत सरल है कि वह अचकाश उस पूर्ण तत्त्वके बाहर थोड़ा ही था, जब वह फैला वह भी फैल गया और जब वह संकुचित हुआ, वह भी सिकुड़ गया। अतः उक्त पूर्णतावाचक मन्त्रकी संगति श्रीभगवान्‌के मूर्त्त और अमूर्त दोनों रूपोंके साथ ही थैं गयी।

इसी सिद्धान्तको इह करनेके लिये श्रीभगवान्‌ने वामरूप धारण करके, जिसमें उस ही शणके भीतर उस एक ही शरीरके द्वारा अणुता वा महाता दोनों दिखायी गयी, एक दूसरा उदाहरण संसारके सम्मुख रखा। ब्रह्माण्डके वृहत् काम अनेक पदार्थोंसे अणु देव-शरीर ये और उन शरीरोंसे भी अणु वामरूप धारण किया गया। नहीं तो इतनी इस्वास करनेका इससे अधिक महत्वपूर्ण प्रयोगन और क्या हो सकता? पुनः उसी शरीरको इतना बढ़ाया कि दो ही पैदमें औदृह लोकको व्यास कर लिया।

अब इस महावाक्यरूप पूर्ण प्रसिद्ध श्रुति 'सर्वं स्तुत्वं ब्रह्म' पर भी कुछ विचार प्रकट किया जाता है। इसको अमूर्त अचका निराकारवाचक ही समझ जाता है परन्तु अमूर्तरूप मूलरूपसे भिन्न थोड़े ही है? यह श्रुति दोनों रूपोंपर ही लागू है। इसको भी श्रीभगवान्‌ने मूर्तिमान् उदाहरणके द्वारा सिद्ध कर दिया—इस श्रुतिका अर्थ है 'यह सर्व निष्ठयरूपसे ब्रह्म है' 'इदम्' शब्दसे जिसका अर्थ 'यह' है इस ब्रह्मवाचको वा यदि किसीकी कल्पनामें इससे भी विस्तृत कुछ और ही तो उसको और इसमें

व्याप्त किसी भी देश, काल, द्रव्य वा प्राणीको समझ लिया जाय—अतः कोई स्थान, वस्तु, प्राणी, काल इत्यादि ऐसा नहीं जिसमें इौर जब कि ब्रह्म न हो। 'ब्रह्म' शब्द उसी परम तत्त्वका वाचक है, जिसका आरम्भमें ही निरूपण किया जा सका है और जिसके अमूर्त और मूर्त दो रूप सिद्ध हो सके हैं। अमूर्तकी व्यापकता तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु जिस समय हिरण्यकशिषुने क्रोधाप्निसे प्रज्वलित होकर हिरण्यास श्रीप्रह्लादजीके वधके लिये खदृग उडाया तो प्रह्लादजीके पुकारकर यह घोषित करते हो तो 'इस लम्भ-में भी श्रीभगवान् है' उसी स्थलमें तत्काल भीषणतापूर्वक दहाड़ते हुए विकराल स्थलमें भगवान् चर्म-चकुओंके विषय हो गये। अब कैसे कहा जाय कि उक्त श्रुति क्या केवल निराकारकी ही वाचक है और साकारकी नहीं? वास्तवमें श्रीभगवान् जो यथावसर अनेक रूपोंमें चर्म-चकुओंके विषय होते रहते हैं, उसका कारण धर्म वा साकुओंकी रक्षा और दुर्योक्ता निकन्दन तो है ही, किन्तु अपने शास-निःसंरित श्रुतियोंके मूर्तिमान् उदाहरण जगत्के सम्मुख रखना भी अभिभृत होता है, जिससे श्रुतियोंमें जो एकका दूसरीसे विरोध दीख पड़ता है, उसका सहज ही समाप्त हो जाय। यही यथार्थमें अवसार-तत्त्व है।

भगवद्-रहस्यके विषयमें श्रुतियों या पुराण-कथाओंके आधारपर अपनी अस्त्यमतिके अनुसार ये विचार उपस्थित किये गये हैं। सनातनधर्ममें ऐसे आस-वाक्योंसे प्रबल और कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु विषय ऐसा है कि इसका प्रत्येक अंग आश्वर्यसे पूर्ण है, जिसको तक और विज्ञानके द्वारा सिद्ध करनेका उद्योग करनेवालोंके लिये श्रीभगवान्-जीका यह वचन हृदयाङ्कित कर लेना चाहिये—

'सेवं भगवतो माया। यज्ञमेन विरुद्ध्यते।'

(स्क० ३ अ० ७)

अर्थात् वह श्रीभगवान्‌की माया है जिसका तर्कशास्त्रसे विरोध है—यहाँ 'माया' शब्दका अर्थ प्रकृतिका त्रिगुणमय विकार नहीं है किन्तु आश्वर्यमयी शक्ति है।

इस वचनके बिना भी यथार्थतापर इष्ट रखकर सोचा जाय तो भला 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु' वाले भगवान्‌की शक्ति ही क्या हुई, जिसको अपरिमेया और अवित कहा जाता है, वह यदि विज्ञान वा तक्तके सौंचेमें ढाक दी जाय और यदि वह गुणमयी बुद्धिका विषय हो जाय? फिर इसमें और गुणमयी सृष्टिकी शक्तिमें अन्तर ही क्या रहा? लहाँ वैदेश

‘नेति-नेति’ कहकर हार मान गये, वहाँ गुणमयी शुद्धिका
(चाहे वह कैसी ही सीब क्यों न हो) क्या चम्पुप्रवेश हो
सकता है ?

प्रथम ‘अजोरणीयान् महतो महीयान्’ आदि श्रुतियोंके
द्वारा विरोधी धर्मोंका यौगपथस्पर्से समुच्छय बताया गया
जो कि पूर्ण अशर्थमय सिद्धान्त है किन्तु यह भी स्थिर
नहीं रहा और इस श्रुतिके द्वारा इसका भी खबरदान कर दिया
गया—‘नेति नेत्यस्यूलमनुः’ अर्थात् यह न स्थूल है और
न सूक्ष्म, इसलिये वह यही है ऐसा नहीं कहा जा सकता ?
इन सब श्रुतियोंका सामूहिकस्पर्से यही अर्थ निकलता है
कि वहाँ इयत्ता और इदमित्यथा करता कदापि सद्गुद्धिका
व्यवहार नहीं है और समानतन्त्रमेंके नियमानुसार भगवत्-
तत्त्वके विस्तु विवाद वा शास्त्रार्थको सुनमानातक प्रायश्चित्त-
जनक है । आज इस कलियुगी सृष्टिकी तो स्था चर्चा है,
उस समय भी ब्रह्माजीके द्वारा खुराये गये ग्वाल-बाल और
बछड़ोंके स्थानमें अमायिक ग्वाल-बछड़े उत्पन्न होनेका
उनके पिता-मासाओंतकको ऐसा अलांकिक प्रेमका देख
उमड़नेपर भी कि जो अमायिक सृष्टि-नियमोरपक्ष दूध पीते
हुए शिशु उनकी गोदांमें थे उनसे सर्वथा ज्यान हटकर
इन बछड़े चरानेवाले बालकोंके लिये ही जो यथापि दूध
पीनेवाले नहीं थे, ननोंमेंसे दूध झरने लग जाता था,
अनुभव नहीं हुआ और उस रहस्यको केवल श्रीबद्रेजी
महाराजने ताढ़ लिया जो स्वयं मूर्तरूपमें श्रीभगवान्-ही थे ।

इस समय विवरणका सुन्दर्य यह है कि उस ब्रह्म
अर्थात् भगवत्-तत्त्वके अमायिक दो रूप हैं—एक अमूर्त
दूसरा मूर्त जो यौगपथस्पर्से नियत है और श्रीभगवान्
इन दोनों ही स्पौर्णमें महत्-से-महत् और अणु-से-अणु हो
सकते हैं और यह सब कुछ होते हुए भी वे न महत्-से-
महत् हैं और न अणु-से-अणु ।

ब्रह्म इस सिद्धान्तके समझमें इस मतपर विचार किया
जाता है, जिसके द्वारा अनेक विज्ञानोंकी ऐसी धारणा है कि
श्रीभगवान्-के मूर्तरूप अर्थात् जो अवतार होते हैं वे सब
स्वयं भगवान्-के ही नहीं होते किन्तु अधिक संख्यामें उनकी
अंश वा कलाके होते हैं और एक अवतारसे दूसरे अवतार-
में गौरव और लाघव अर्थात् बटसी बढ़ती है । ऐसे नियम-
का मूर्त्य कारण अनेक शास्त्रीय वाक्य हैं जैसे श्रीभगवान्
श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके विषयमें श्रीमद्भागवतसे
तृतीय शास्त्रान्तर्गत सूत्रजीका वचन है कि—

पते चांशकला: पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥

इसके आधारपर एक महानुभावने अपने पूर्ण गम्भीर
और हेतुगमित लेखमें इन्द्र्य सब कलाओंके विकासमें
समानता मानते हुए सिद्ध किया है कि जो आनन्दके दो
भेद हैं समृद्धयानन्द वा शान्त्यानन्द इनमें श्रीभगवान्
श्रीरामचन्द्रजी महाराजमें समृद्धयानन्दका भाव है किन्तु
श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजमें इन दोनों का पूर्ण
विकास है । इस रीतिपर इन दोनों अवतारोंमें भी जो
अन्योंमें संसारमें मुख्य माने जाते हैं, भेद बताया है ।
अन्य महापुरुषोंने ऐसा प्रकट करते हुए कि भगवान् श्री-
रामके समान श्रीकृष्णको प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होनेपर अपनी
शक्तियोंका भान हुआ हो, यह बात नहीं है, यह तो जनसमें
ही पूर्ण थे । श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजकी अनेक
लीलाओं वा चरित्रोंका मधुर वा प्रौढ़ भावामें निरूपण
किया है ।

इधर श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके सम्बन्ध-
में तो ऐसा निर्णय किया गया है, उधर श्रीभगवान् रघुनाथ-
जी महाराजके महत्व-वर्णनमें उपर्युक्त वचनसे भी कहीं
अधिक महत्वके वचन प्राप्त हैं । यथा—

यस्यांशेनैव ब्रह्म महेश्वरा
अपि जाता महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणश्च ।

स एव कार्यकारणयोः परः

परमपुरुषो रामो दशरथी बभूव ॥

(अर्थवर्ण उत्तरार्द्ध)

अशमूता विशाइ ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तयापुरे ।

ब्रह्मतेजो धनीमूते वर्तते जानकीपतेः ॥

सगुणं निर्गुणश्चैव परमात्मा तथैव च ।

पते अंशा हि रामस्य पूर्वं चान्ते च मध्यतः ॥

(रामतापिन्युपनिषद्)

पते चांशकला मूता शक्तिवीर्यसमन्विताः ।

रामचन्द्रांश्चिंताता रामस्तु भगवान् स्वयम् ॥

(महारामायण)

इन वचनोंसे यह और प्रकाशित हुआ कि जो श्रुतियों-
के आधारपर भगवत्-तत्त्वकी इनसे पहले विलङ्घणताएँ
निरूपण हो चुकी हैं उनके अतिरिक्त यह विलङ्घणता और
है कि उस तत्त्वके अंश और कला भी हो सकते हैं । यहीं
विलङ्घणता स्थै, यदि किसी भी विजित्रार्द्ध प्रकट की जायें

तो उसमें आपसि और आपसे क्यों होना चाहिये? क्योंकि वह तो विषिग्रसाओंका भगवार है और यहाँ 'इयसा' करना नितान्त मूल है—परन्तु जो कुछ निष्पत्ति किया जाय वह केवल कल्पनामात्र न होकर अति अथवा अतिके ही तुल्य महात्म रखनेवाले शाश्वत-वचनके आधारपर होना चाहिये जैसे कि प्रसङ्ग-प्राप्त कला और अंशवाले रहस्यके समर्थनमें उपर्युक्त वचन है ।

यहाँ यह बात पूर्णरूपसे समझ लेनी चाहिये कि इस कला और अंशवाले मतका आदर केवल शाश्वत वचनोंके कारण ही है, नहीं तो इसमें कई प्रबल अवचनं प्राप्त हैं, जैसे— सर्वभ्रम सो श्रीभगवान्‌की गानभेदी इस उद्घोषणाके—

यदा यदा हि वर्मस्य स्तुनिर्भवति भारत ।

अम्युत्थानमवर्मस्य तदस्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां दिनशाश्य च दुर्ज्ञाताम् ।

वर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवमि युगे युगे ॥

—यह अनुकूल नहीं है क्योंकि इस प्रतिज्ञास्तु द्वाषणामें अंश-कलाओंके द्वारा नहीं किन्तु पूर्णरूपसे ही आविर्मूल होनेका अर्थ स्पष्टरूपसे प्राप्त होता है ।

दूसरे, इसके द्वारा भगवत्-तत्त्वकी महिमाकी वृद्धि न होकर उल्लटा द्वारा होता है, क्योंकि अपने इष्टके अस्तिरिक अन्योंको जिनका कि कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं है किन्तु नाम और रूपकी भिन्नतासे वही एक परम तत्त्व है, अंश-कलारूपमें बताकर उसमें शक्ति-विकासकी न्यूनता और महात्म-संकीर्णता सिद्ध करनेका प्रयत्न होता है जिसका दूसरे शब्दोंमें यही आशय है कि अपने इष्टके ही गौरवकी हीनता की जाती है ।

तीसरे, जिस पारम्परिक विरोधका कलंक किसी सम्बद्ध वा भत्त-विशेषपर लगाया जाता है उसका तो मुख्य कारण इस शाश्वत रहस्यने ही उत्पन्न कर दिया ।

इन सबपर इष्टि ढाकते हुए यह दशा अवश्य पूर्ण संक्षिप्त है किन्तु यह सब कुछ होनेपर भी धार्मिक जगत्-की स्थितिके लिये ऐसे सिद्धान्तकी उपयोगिता अनिवार्य भी, जिससे सिद्ध है कि जर्म-संकटके द्वारा जगत्में विचलिताको सम्मानना होनेपर मुख्य रूपमें उसके निवारणका रक्षा जाकर अन्य क्षेत्रे भी आपसि और आपसोंकी उपेक्षा की जाती है—इसका उत्तरान्त उदाहरण श्रीब्यासर्जी भगवाजने अपने पुराण-चन्द्रके उद्देश्यानुसार जगत्के सम्मुख

रख दिया है, जिसमें उन्होंने जिस अवतार और देवता-विशेषका प्रतिपादन किया है, उसीको मुख्य और अम्बोंको गौण माना है ।

श्रीब्यास भगवान्‌का यह उद्देश्य नितान्त दूरवर्धिता-पूर्य था, यदि ऐसा न होता तो घोर भर्मसंकंटकी प्राप्ति भी; क्योंकि इस सिद्धान्तको प्रवृत्त करके उसको हताना रूप दिये दिना वही एक सिद्धान्त रहता जिसके द्वारा अभाविक भगवत्-तत्त्वके दो रूप बताये गये हैं और जिसका अधिकारी केवल सत्यवृण्डमय जगत् है, जिसका विसार सत्ययुगलकमें संकुचित था; द्वापर-कल्पित्युगकी तो चर्चा ही क्या है और विशेषकर इस कवियुगमें तो उसका एक प्रकारसे अभाव भी बता दिया जाय तो असङ्गत नहीं समझना चाहिये, क्योंकि इस राजस और सामास सुष्टुके सबेके प्रबाहमें सार्विकी भावपूर्ण अति विरक्ते उदाहरणोंकी गम्भीरा ही क्या हो सकती है?

अब सोचा जाय, यदि ऐसा सिद्धान्त स्थिर न किया जाता, जिसकी राजसी और तामसी प्रकृतियोंके लिये परभावशक्तता भी तो ये प्रकृतियाँ सर्वथा निराभार रहतीं और मुख्य सिद्धान्तपर इनकी अद्भुत न होनेसे उसका उपर्युक्त निष्कर्ष था । असः नास्तिक-भाव उत्पत्ति द्वारा नास्तिक द्वारा नहीं होनेसे उसका उपर्युक्त निष्कर्ष था । जिसमें धार्मिक जगत्की सब स्थिति ही डावांदोख हो जाती है। इसीलिये राजसी-तामसी प्रकृति-वालोंको, जिनकी रूपी भगवत्-तत्त्वकी ओर हो, सचि-विचित्रताके कारण स्व-प्रकृति-अनुकूल उपासनाके लिये हाईंकी आवश्यकता होनेसे ऐसा पढ़ स्थिर किया गया । यथापि विभिन्न प्रकारकी उपासनाओंकी सृष्टि रागद्वे षके द्वारा विरोधका कारण अवश्य समझी जाती हैं परन्तु देखना तो यह है कि यदि ऐसा न होता तो क्या विरोधकी शान्तिरहती है? इस विषयपर नहीं तो, अन्य सांसारिक फँसाईोंमें विरोधका बेग यदि अतिमात्रापर न पहुँच जाता तो इससे अत्य मात्रामें तो कभी रह ही नहीं सकता था, क्योंकि यह तो राजसी और तामसी प्रकृतियोंका अनिवार्य भर्त है जिसका अनुभव नित्य होता रहता है । और यह तो जितना भी कुछ है, धार्मिक विरोध है जिसमें सर्वथा सम्भावना है कि अपने इष्टमें विच-वृत्ति छागते-छागते उसकी कृपामें इसनी जग जाय कि उसमें तमस्यता होकर सब भेद-भाव हृदयसे निकल जायें और मूल-सिद्धान्तपर स्वतः ही इष्टि स्थिर हो जाय । यदि यह न होता तो

सांसारिक विषयोंमें ही टक्कर मारते-भारते बैसे ही जन्म नष्ट हो जाता । इससे सिद्ध है कि इस पश्चके प्रबर्तनसे बढ़ा ही उपकार हुआ है और ऐसा करनेमें भगवत्तके अभाविक तत्त्व वा मायिक सृष्टिकी मिहानताका विवेक न रखकर और उनको एक रूपसे ही विलाकर सृष्टिके प्रवाहके साँचेमें इस आर्थिक तत्त्वको भी ढालना पड़ा, क्योंकि सृष्टिकी विचित्रताकी यह स्वाभाविक माँग थी । अपने इष्ट-देवकी कृपासे जिनका हृदय निर्भल होकर विवेकपूर्वक तत्त्व-विवेचनके योग्य हो जाता है, उनको स्वतः ही यह अन्तर प्रतीत होने लगता है, नहीं तो अपनी-अपनी प्रकृतियोंके अनुसार अधिकार-भेदसे जिसको जो मार्ग रुचिकर हुआ है, उसकी प्रकृति उसमें ही हो रही है । वस्तुतः प्रत्येक प्रकारके अधिकारिके लिये ऐसी विचित्रिताना सामान्य काम नहीं था, जिसका सम्पादन केवल भगवत्-स्वरूप श्रीव्यासजी महाराजके ही हारा हो सका । और एक बात यह भी है कि अन्यके हारा प्रचलित ऐसा मिहानत जिसके विश्लेषण इसनी आपसियाँ थीं, इन्हें आदरयोग्य भी नहीं हो सकता था । बास्तवमें श्रीव्यासजी महाराजका अवतार इसी धर्मसंकटकी निवृत्तिके लिये हुआ था ।

इसीके जोहका एक प्रसङ्ग और है । जब रजे-गुणकी वृद्धिये देशमें पूर्ण धर्मसंकट उपस्थित हो गया अर्थात् पशुहिंसा-प्रधान यज्ञादि-रूप कर्मकारणके चक्रमें, जिसका उदाहरण महाराज प्राचीनवर्हिंके इनिहासका पर्याप्त है, मोक्ष-मार्गका मर्क्या लोप-सा हो गया था, उस समय श्री-भगवान्को ऋषयम देवजीके नाम और रूपमें वर्णसञ्जुओंका विषय होना पड़ा और ऐसी प्रकार ऐसे भार्ग चलानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसके विश्लेषण अनेक आपसियोंके होनेपर भी उम्मी धूर्ण उपयोगिता समझी गयी । वस्तुतः आपसियाँ निर्मूल नहीं थीं, क्योंकि आनन्दप्रस्त उद्दिष्ट-बालोंके हारा उसका दूसरा ही रूप समझा जाकर संसार-में धर्म-विरुद्ध मतकी प्रहृति हो गयी, किन्तु यह धर्म-विरुद्धता उस धर्मविप्रवक्ते समुख गणना योग्य नहीं थी, जो श्रीऋषभ-भगवान्के हारा प्रचलित मार्गके अभावमें जगत्-को स्वास कर लेता । श्रीऋषभ भगवान्के अवतारका प्रयोजन-योतक श्रीमद्भागवत्के पञ्चम स्कन्ध अध्याय चृष्टक यह वचन देखना चाहिये—

अयमवतारो राजसोप्लुतकैवल्योपस्थिष्ठार्थः ॥

यह तो हुआ अंशकलामें अवतार होनेका विषय । अब रह गया इस मतपर विचार कि अमुक अवतारमें अमुक गुण प्रकट न होनेसे लाभव है । वस्तुतः ऐसा मत भी इस अंशकलाके सिद्धान्तके आधारपर है, क्योंकि जिनको सत्त्वगुणेतर प्रकृतियोंके हारा अपने इष्टकी उत्कर्षता और अन्योंकी हीनताका निश्चय हो रहा है, उनका अन्योंमें लाभव देखना प्राकृतिक है किन्तु सत्त्वगुणी वृद्धिसम्भव उच्च शोषिते अधिकारीके लिये इस विषयपर इसप्रकारमें विचार करनेकी आवश्यकता है कि श्रीभगवान् सम्यसंकल्प है और संकल्पके अनुसार ही गुणोंका विकास किया जाना है तो क्या जिस गुणका विकास नहीं हुआ, वह उनके संकल्पके आधारपर था अथवा श्रीभगवान्के उक्त रूपमें उक्त गुणके विकास करनेकी शक्ति ही नहीं थी ? प्रथम श्रीभगवान् रघुनाथजी महाराजके अवतारकी ही झाँकी की जाय । कुछ लोगोंको जो यह कहना है कि ‘उनको प्रौढावस्थाके प्राप्त होनेपर अपनी शक्तियोंका भान हुआ और श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी महाराजको बाल्यकालमें ही हो गया था’ यह केवल चरित्रकी विमृतिके कारण कहा गया है, नहीं तो श्रीभगवान् रामचन्द्रजी महाराजने भी बाल्यवस्थामें ही पुत्र-प्रेम-तन्मया श्रीमाताजीको अपने मुखमें ही दिराट् स्वरूपके दर्शन कराये हैं । पुनः काकभुशुरिहंजीको भी ऐसी ही अङ्गुतता दिखलायी है । अथवा जो यह कहा जाता है कि, इनमें समुद्रयाननदका अभाव था और श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी महाराजमें इसका पूर्ण विकास था जिसके हेतु बतलानेमें यह बात पुस्त्रहरपे कही जाती है कि आपके जीवनभरमें कोई दिन ऐसा नहीं कि जिस दिन आप शोकाक्रान्त हों औंसू वहा रहे हों परन्तु यह भी चरित्रोंके अनुकूल नहीं है, श्रीमद्भागवत्के एक ही स्थलके इस वचनको देखना चाहिये—

अहो नः परमं कष्टमित्यसाध्वा विलेपतुः ।

अर्थात् इसको बढ़ा कष्ट है, ऐसा कहकर औंसू गिराते हुए आप विलाप करने लगे । ऐसा होनेपर भी यदि इस पूर्वपक्षको ऐसा ही माना जाय तो इसमें विचारणीय बात यह है कि क्या इनमें वस्तुतः शक्तिकी हतनी न्यूनता भी अथवा अपने संकल्पानुसार इस गुणके विकासका अवसर ही नहीं आया । सामान्य उदाहरणसे समझिये कि यदि कोई मनुष्य केवल एक ही कोसकी यात्रा करके छहर गया

तो देखना चाहिये कि उसमें केवल हतनी ही यात्राकी शक्ति यी अथवा प्रयोजनानुसार उसको उतना ही चलना था ? यदि प्रयोजनव्यवह उतना ही चलना है तो भला उसमें शक्तिहीनताका दोष कैसे लग सकता है ? हसी प्रकार यदि सत्य-सङ्कल्पके कारण श्रीभगवानके किसी रूपमें किसी गुणके विकासका अवसर ही न आया या उससे किसी प्रयोजनविशेषके सिद्धिकी आवश्यकता ही न हुई तो उनका लाघव कैसे समझ जा सकता है ? किन्तु यदि जिस रूपमें जिस शक्तिका विकास हुआ उसके द्वारा प्रकृति-राज्यमें असम्भवन्ते-असम्भव समझी जानेवाली यदि एक भी क्रियाका सम्पादन हो गया, तो यह स्वतः अनुमान कर लेना केवल हठधर्मी है कि उससे वैसी ही अन्य क्रियाओंका सम्पादन सम्भव नहीं है । मेरे विचारमें श्रीभगवान् रघुनाथ्यां भग्नाराज ही क्यों श्रीनृसिंह भगवान्, श्रीकामन भगवान्, श्रीमत्य भगवान्, श्रीकृष्ण भगवान् आदि नामोंके द्वारा श्रीभगवान्ने चर्म-चक्रओंके विषय होकर जिस शक्तिका विकास किया है, उसके विषयमें सन्देह करना प्रत्यक्ष श्रीभगवान्की भग्निमाको घटानेका प्रायश्चित्त संग्रह करना है । यदि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी भग्नाराजकी मृत्यु करते हुए इम उनके अन्य नामोंकी भग्निमा घटावें तो वह किसकी हीनता है ? उन्हींकी हीनता है । ऐसा करना तो उनकी स्तुतिके बहाने उलटी निन्दा करना है । छोटे-बड़ेका तो प्रसंग तभी आ सकता है, जब कि पृथक् प्रस्तरिव हो । किन्तु जब वही स्वयं अपनेको अनेक रूपमें संसारके चर्म-चक्रओंका विषय बनाते हैं, तो यहाँ ऐसे भेद-भावकी असंगतता स्वयंसिद्ध है । उदाहरणरूपमें एक राजाको ही लिया जाय । वह आवश्यकतानुसार अनेक रूप धारण करता है । कभी राजसमां में मिहासन-पर विराजेनेका राज्य-चिह्नादि-सहित शंगार, कभी आखेटमें जानेका ठाट, तो कभी न्यायालयमें बैठकर काम करनेका स्वरूप, कभी एकान्त-अभ्यासकी दशा, कभी भोजनागारके वस्त्र, कभी शयनागारका सामान्य वेश, हस्तादि यथावसर अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं । अब कहिये, उस राजाको एक भावसे देखा जावेगा, अथवा अन्य अथसरोपर राज्य-चिह्नादि न होनेमें छोटे-बड़ेका प्रसंग आवेगा ? मेरे विचारमें तो सामान्य-सामान्य बुद्धि भी भाव-विपर्ययका निर्णय नहीं करेगी और यदि भाव-विपर्ययका राजाको निर्णय हो जाय तो जो परिणाम हो वह प्रकट है ।

श्रीभगवानका जो हसप्रकार अनेक रूपमें प्रकट होना है हसमें एक रूपकी प्रतिमुखतामें दूसरे रूपकी अनुमता देताना, छिद्रान्वेषण है । यदि प्रथेक रूपके चरित्रकी अगाधतामें घुसा जाय तो कितने भी छिद्रान्वेषण किये जा सकते हैं । जैसे कुछ उदाहरण यहाँ ही लीजिये—

(१) श्रीभगवान् रामचन्द्रजी महाराजने अनेक ऋषि-मुनियोंको दण्डवत्-प्रणाम किया, यज्ञादिमें देवताओं-का पूजन किया है और श्रीनृसिंह भगवान्के सम्मुख तो ब्रह्मासे लेकर सब देवता थर-थर काँप रहे थे ।

(२) श्रीभगवान् रामचन्द्रजी महाराजकी सेवामें पुष्पक-विमान सदैव उपस्थित रहता था, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज तो जरासन्धके भयसे भयुराजी छोड़कर पैदल भागे थे ।

(३) जिस समय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी महाराज अर्जुनजीके साथ मृत बालकोंको लेने वैकुण्ठमें पढ़ारे हैं वहाँ कोई अन्य भूमा पुरुष विराजमान नहीं, जिनकी दोनों-ने वस्त्रना की है ।

(४) श्रीनृसिंह-अवतारमें एक आलैकिक रूप धारण किया गया किन्तु अन्य अवतारोंमें तो ऐसा नहीं हुआ, हत्यादि ।

यदि खोज की जाय तो ऐसी-ऐसी अनेक बातें मिल सकती हैं जिनका यथार्थ आशय और मर्म समझे बिना कुछ भी अर्थ लगाया जा सकता है । वस्तुतः श्रीभगवान्के परमत्वमें गुरुतान्त्रयताका कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता । हाँ, हसमें यह तक अवश्य किया जा सकता है और यह सर्वथा सङ्केत है कि यदि श्रीभगवान्के रूपमें गुरुता-लघुता नहीं है तो क्या सभी अवतार समान इष्टिमें ही देखे जायेंगे और अवतार ही क्यों, समन्त सृष्टि भी तो उनका ही रूप है, क्या वह भी उसी इष्टिमें देखी जायगी ?

शास्त्रों और महाभाग्नोंके मतका अवलोकन करनेसे इसका उत्तर यही मिलेगा कि अवश्य सर्वोच्चभावसम्पर्क और तात्त्विक सिद्धान्त यही है कि सभी सृष्टिको अपने इष्टदेव श्रीभगवान्का ही रूप देखे और अन्य सब नामोंको उनके ही नाम समझे । सर्वोत्तम ज्ञान, परमोक्तु भक्ति और यथार्थ उपासना हसीका नाम है । इन सर्वतोंपर ध्यान दिया जाय, यह उद्द्वजीको श्रीभगवान्का अस्तित्वमें उपदेश है—

अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंको, 'मैं अच्छा हूँ, वह कुरा है' इस देहादिको तथा खोकलजाको छोड़कर कुछ, आवाजाल, गौ प्रौर गधेको भी दरखत-प्रणाम करे। जब-तक समस्त प्राणियोंमें मेरी सत्ता न दीखे, तबतक उक्त प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके सम्पूर्ण व्यापारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। इसप्रकार आवरण करनेवाले पुरुष-को सर्वथा आरम्भुद्धि हो जानेसे सब कुछ अहमय ही दीखता है। ऐसी इष्ट हो जानेपर वह सारे संशयसे छूट-कर सर्वथा उपराम हो जाय। मन, वाणी, शरीरकी सम्पूर्ण बृहत्योंमें समस्त प्राणियोंमें सुसू ही देखे। मैं हँसीको अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझता हूँ।

(श्रीमद्भा० ११। २९। १६-१७)

श्रीगीताजीका भी यह वचन इसी सिद्धान्तका घोषक है—

विद्याविनयसम्पन्नं ब्राह्मणं गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव शपाके च पष्ठिता. समदर्शिनः ॥

(५। ८८)

इन वचनोंमें सिद्ध है कि ज्ञान, कर्म, उपासना आदि साधनोंके द्वारा जो सिद्धि प्राप्त है, वह यही श्रीभगवान्‌में तन्मयता है जिसमें चराचरमें उनको स्थापक देखा जाता है। यथा—मैं सेवक सचराचर रूपराशि भगवन्त् ऐसे उदाहरण त्रिकालर्थी योगी तथा परम भागवत श्रीशुक मुनि, जनकजी, हनुमान्‌जी, प्रह्लादजी आदिके लोहे ही किन्तु बजरंजको पाद-पद्म-परागमें पून करनेवाली गं-पियों-में भी यही तस्वीरिता थी। श्रीगोत्स्वामी तुलसीदासजीके भी बालकारणके आरम्भके वन्दना-भागका यही रहस्य है जहाँ प्रथम ही साथु और उनके साथ लगे हुए ही खलों-की वन्दना करके जगत्के सब भले-बुरेको 'सीध-राममय' जानकर वन्दना की गयी है। इस दशाको प्राप्त करना हँसी-खेल नहीं है। ऐसी दशाको प्राप्त करनेवालोंके नाम उदाहरणस्में प्राचीन कालमें चले आ रहे हैं। किन्तु इस कालमें तो ऐसी दशाका उपलब्ध होना असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। प्राचीन समयमें भी कोई चिरले ही इस अपूर्वताको प्राप्त हो सके थे, अतः यह इष्ट सर्वथा असामान्य है। सामान्य भावसे श्रीभगवान्‌को दो इष्टियों-में ही देखना युक्तियुक्त है, एक तो अमायिक मूर्त और अमूर्त रूप, जहाँ गुण-संसर्गके अभावमें कोई भिजता नहीं है और दूसरा मायिक जिसमें उनकी विशेष हृष्टि होकर त्रिगुणोंकी विषमताद्वारा नाना रूपोंमें यह समस्त सुष्ठि उत्पन्न होती है।

अब हन अवतारोंको किस इष्टिये देखना चाहिये, इसपर विचारकी अवश्यकता है। इस शब्दको जो बहुवचनमें प्रयुक्त किया गया है यह केवल प्रचलित व्यवहार-के कारण लोक-बोधके लिये है, नहीं तो व्यक्तित्व भिन्न नहीं है। एक ही मूर्त्स्वप्न श्रीभगवान् स्वासंकल्प और आवश्यकतानुसार रूप धारण कर लेते हैं और उस रूपके अनुसार ही नाम पढ़ जाते हैं, यदि किसीको श्री-भगवान्‌के किसी अवतारके जन्म-कर्मादिके कारण गुण-बद्धता भान होनेसे मायिक भाव दीखे तो भले ही वह उस अवतारको उस इष्टिये देखे अथवा कोई भक्त अपनी प्रेमविद्वलतामें अपने हृष्ट नाम-रूपको ही सर्वोच्च समझता हुआ उसके अतिरिक्त अन्य नाम-रूपोंको अपने हृष्टयमें वह स्थान न ढे तो हृष्टमें उसका दोष थोड़े ही है, क्योंकि वह तो अपनी-अपनी श्रद्धा और भावनाकी बात है। यों गुणमयी सृष्टियोंमें भी तो चमारकारोंका अभाव नहीं है और श्रीभगवान्‌की अनेक विभूतियाँ हैं जिनको उनके ही रूप-में देखा जाता है।

इस विवेचनपर एक बड़े महत्वकी यह तर्कणा उठती है कि यहाँ तो श्रीभगवान्‌की अनगल शक्तिवाले मूर्त्स्वप्नको अमायिक सिद्ध किया गया है, परन्तु श्रीगीताजीकी चतुर्थ अध्यायमें नीचे लिखे वचनके हारा उनका स्पष्ट मायाके साथ आविभाव होना प्रकट है—

'अजोऽपि सज्जन्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामविधाय संभवास्थापयाया ॥'

उपरसे देखनेमें अवश्य ऐसा ही भान होता है कि इन्हु इन शब्दोंमें बहा रहस्य भरा हुआ है। प्रथम शब्दार्थपर विचार किया जाय। सरल रीतिपर तो इन शब्दोंका यही अर्थ हो सकता है 'मैं जन्मदिवहित विना व्यय (विकार) आधावाला प्राणियोंका स्वामी होता हुआ भी अपने स्वभावको आश्रित करके (अर्थात् मूर्त्, अमूर्त् 'अणोरशीयान् महतो महीयान्' 'अस्थूलमनणुः' इत्यादि विलक्षणशक्तिनामधिष्ठानः) अपनी मायाके साथ प्राविर्भूत हुआ करता हूँ।' 'मायया' शब्दका अर्थ कई प्रकारसे हुआ है, किसीने प्रकृति, किसीने ज्ञान, किसीने बल-वीर्यादि शक्ति हृष्टयादि किया है, किन्तु ऐसा करनेमें जो दूसरा शब्द 'प्रकृति' आया है उसकी संगति नहीं बैठती। एक हृष्टीयान्त है, दूसरा तृतीयान्त है और दोनों एक ही आशयमें लिये जायें तो पुनरुक्ति होती है। हाँ,

दोनोंकी सङ्गति बैठते हुए यह अर्थ तो हो सकता है कि प्रकृतिको अधिकान करके उसके विकार मायाके हारा प्रकट होते हैं अर्थात् इस सृष्टिकी भाँसि प्रकृति-नियमानुसार गुणोंके विकारहारा ही जन्म लेते हैं, किन्तु प्रथम तो विस रूपमें श्रीभगवान्का आविर्भाव हुआ है वह प्रकृतिके सर्वथा अतीत था, वे तो तत्काल चतुर्भुजरूपमें आवरण हटाकर चर्म-चक्षुओंके विषय बन गये, इससे बैसा अर्थ करना प्रत्यक्ष यथार्थ कथाके दिस्तु कहता है। तुसरे जब यह सिद्ध हो चुका कि भगवान्का रूप स्वतन्त्र और निर्विकार है और त्रिगुणमयी मायाका विकास केवल उनकी इच्छासे होता है तो मायाके हारा श्रीभगवान्का जन्म होना प्रकट करना बास्तवमें असङ्गत है। अतः वही अर्थ सङ्गत है कि श्रीभगवान् प्रकृतिको, जिसे उनका स्वभाव शक्ति कुछ भी कहा जाय, अपने अधीन करके मायाके साथ प्रकट होते हैं, यहाँ यदि मायाका आशय गुणविषयमता-पूर्वक प्रकृतिका विकार लिया जाय तो सङ्गत नहीं हो सकता, वर्णोंके जब सर्वथा प्रकृति ही उनके अधीन हैं तो माया जो उसका अंदा है कैसे प्रबल हो सकती है? इसलिये इन सब बाधाओंको भ्यानमें लाने हुए 'माया' शब्दका यथार्थरूपसे यही आशय किया जा सकता है कि श्रीभगवान् विसप्रकार स्वयं चर्म-चक्षुओंके विषय बनते हैं, वैसे ही अपनी मायाको भी साक्षयवरूपमें चर्म-चक्षुका विषय बना लेते हैं जो वस्तुतः उसी परम तत्त्वका मूर्त्तरूप है। यहाँ यह योग-माया जो श्रीभगवान्के साथ आविर्भूत होती है, त्रिगुणमयी माया नहीं है किन्तु यह दिव्य अमायिक रूप है अर्थात् यह अमायिक माया है। बामवर्में भगवद्-रहस्यकी यही तो विलक्षणता है, इसपर तुलसीकृत रामायणीका वचन भी विचारणीय है—

आदि सृष्टि जिह जग उपजाया । सो अवतर्हि भार यह माया ॥

इस योग-माया अथवा महामायाको रामावतारमें श्रीजानकीमाता कहा जाता है और श्रीकृष्णावतारमें

श्रीराधिकामाता अथवा श्रीरुक्मियमाता या सत्यमामाता इत्यादि अष्ट पटदानियाँ और इतनी ही वर्णों, सब-की-सब सोलह सहस्र एक सौ आठ ही वर्णों न समझी जावें और इनके अतिरिक्त श्रीरामावतारमें श्रीभरतजी महाराज, श्रीलक्ष्मणजी महाराज और श्रीशत्रुघ्नजी महाराज एवं श्रीकृष्णावतारमें श्रीबलरामजी महाराजका भी इसी तत्त्वमें ब्रह्मण वर्णों न किया जाय? जब कि एक प्रसिद्ध उदाहरण श्रीकृष्णजीके बछडे-गवालवाल तुरानेकी लीखाका सूतिमान औंखोंके सम्मुख नृप्त कर रहा है, जहाँ अनेक चतुर्भुजरूपोंका दर्शन कराया गया तो किर इस उपर्युक्त निर्णयमें क्या प्रतिबन्धकता हो सकती है?

यदि श्रीभगवान्को उपर्युक्त श्रीगीताजीके वचनका ऐसा आशय अभिमत न होता तो एक ही वचनमें 'प्रकृति' वा 'माया' शब्दोंके प्रयोगका विभिन्न विभिन्न योग्यताएँ ही नहीं दीखता, जब सामान्यरूपमें प्रकृति और माया दोनों शब्द एक प्रकारमें पर्यायवाची ही समझे जाते हैं।

इस विचाररूपी सागरमें जितनी-जितनी झुक्की लगायी, उतने-उतने ही रहस्यरूपी गुप्त रक्ष मिले; जिनपर इतनी आयु ड्यनीत होनेपर भी अवतर दृष्टि नहीं गयी थी और तत्काल ऐसी उलझनोंका समाधान समझमें न आनेमें एक प्रकारमें अशान्ति हो जाती थी किन्तु इसकी समाप्तिपर अब वही शान्तिका अनुभव हुआ है। बामवर्में पक्षपातको हृदयमें निकालकर श्रीभगवान्की नरण-प्रहरणपूर्वक प्रवृत्ति की जाय तो स्वतः ही मार्ग-दर्शिता होती जली जाती है। लेख-पंक्तियाँ विस लुभानेवाली नहीं हैं किन्तु यदि इस निर्णयमें श्रीभगवद्-चरणार-विन्दमें मध्य अनुरागपूर्वक फिसीके भी हृदयमें विरोधका अंकुर निकल जायगा तो मैं अपनेको धन्य मानूँगा!

हरि: ॐ तत्सत्

—४४४—

जिन हरि-कथा सुनी नहिं काना । श्रवणरन्ध्र अहिभवन समाना ॥

जिन हरि-भक्ति हृदय नहिं आनी । जीवत शब्द-समान ने प्रानी ॥

जे नहिं करहि राम-गुण-गाना । जोह सो दादुर-जीह समाना ॥

कुलिस कठोर निदुर सोइ छाती । सुनि हरि-चरित न जो हर्षती ॥

—४४५—

ईश्वर तर्क-सिद्ध है

(लेखक—आचार्यभक्त पं० आविष्णु बामन वापट शास्त्री)

मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । तस्यावयवमूर्तस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

(शेता० ४।१०)

गो

खलपुरके 'कल्याण' भासिक-पत्रके ईश्वर-भक्त सञ्चालकोंने सातवें वर्षके प्रवेश-अंकमें ईश्वरकी सत्ताका समर्थन करनेवाले विविध प्रकारके लेखों, कविताओं, चित्रों आदिके प्रकाशित करनेका निश्चय किया है । भारतवर्षकी वर्तमान स्थिति, शिक्षण-पद्धति, तथा समयानुसार सामान्य जनताकी प्रकृतिको देखकर इसप्रकारके लेखादिका प्रकाशित करना बहुत ही आवश्यक ज्ञान पढ़ता है । भारतवर्षमें सृष्टिके आरम्भ—सत्ययुगमें राजस और तामस स्वभाववाली प्रजाका अस्यन्त अभाव या ऐसा शास्त्र-प्रमाणोंमें नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्वयं श्रीभगवान् ने कहा है कि—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिर्वैरुक्तं यदेमि: स्पतित्रिभिरुद्गुः ॥

(गीता)

अर्थात् पृथ्वी अथवा देवताओंके लोकोंमें भी ऐसा प्राणी प्राप्त नहीं हो सकता जो सर्व, रज तथा तम प्रभुति तीनों प्राकृतिक गुणोंमें सुक्ष्म हो; तथापि सत्ययुगके अस्यन्त प्रारम्भमें आचार्य एवं ऋषि-मुनियोंकी प्रधानता तथा उनकी अधिकता थी, इसमें संक्षय नहीं । राजस और तामस प्रकृतिके मनुष्य भी उस समय थे, पर सारिक भावों और सार्विक वृत्तिके पुरुषोंकी उस समय अधिकता थी । उस समय ऋषि-मुनियोंने ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें जो भाव जनताको सिखाये, वे ही आजपर्यन्त चले आ रहे हैं, यथापि उनमें दिन-प्रतिदिन कभी होती जा रही है, तथापि प्रलयकाल-तक थे, अंशतः ही कर्यों न हो, टिके रहेंगे, इसमें संक्षय नहीं । प्राचीनकालमें भारतवर्षके वैदिक लोगोंमें ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें किसीको कोई किशोर संक्षय न था परन्तु सारिक जनता तथा सारिक बुगका जैसे-जैसे उत्तरोत्तर एवं होता गया और राजसी एवं तामसी जनता तथा बुगका उत्कर्ष होता गया, वैसे-ही-वैसे ईश्वरकी सत्ता, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, विहित और अविहित कर्मोंका जन्मान्तरमें अवश्य प्राप्त होनेवाला फल आदिके विषयमें विविध अंकाएं तथा उन-

संकाठोंके समाधान करनेवाले विविध पन्थ उत्पन्न होने लगे । वर्तमान कल्याणमें इसी क्रमसे उत्पन्न हुए अनेक वाद और पन्थ हमारे देखनेमें आते हैं । इसका कारण यही है कि वेद-सम्प्रदाय-प्रवर्तक ऋषि, मुनि आचार्योंके वचनोंपर लोगोंका विश्वास नहीं रहा और वे कामाचारी, कामवादी और काम-भक्त हो गये । आजकल नास्तिकोंके जो अनेक वाद उत्पन्न हुए हैं, उनमें 'ईश्वरकी सत्ताका मानना अज्ञान है, वह वस्तुतः है नहीं'; यह जगत् स्वतः उत्पन्न होकर यद्यक्षामें चल रहा है, इसका नियामक कोई नहीं है, यह सब प्रकृतिका ही परिणाम है, भोक्तेभाले भारतीय वैदिक घर्मानुयायी पुरुष ईश्वरके दिखलायी न देनेपर, तथा किसीको भी उसकी प्रतीति न होनेपर, एवं उसके अस्तित्वके विषयमें कोई प्रमाणा न होनेपर भी, उसकी सत्ता मानते हैं तथा उसकी प्रसक्षिताके लिये काल, शक्ति और द्रव्य इत्यादिका व्यर्थ स्वयं करते हैं । इससे भारतवर्षकी अस्यन्त हानि हुई है । ईश्वरका अस्तित्व मानना अज्ञानसूचक है । अपने भोक्तेभाले देशवासियोंके इस अज्ञानको दूर किये बिना भारतकी उत्तमति नहीं हो सकती ।' इत्यादि वार्ते प्रधानतया कही जाती हैं । इसलिये 'कल्याण' के सञ्चालकोंने विविध उपायोंद्वारा इस प्रवेशाङ्कमें ईश्वरकी सिद्धिके प्रयत्न करनेका विचार किया है । उनमें 'ईश्वर तर्कसे सिद्ध है' इस विषयको इस सारिक जनताको समझानेका यथामति प्रयत्न इस लेखमें करेंगे, विद्यानांको इसपर उचित विचार करना चाहिये ।

श्रुति, स्मृति, हतिहास और पुराणोंसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वात्मा ईश्वर सिद्ध होता है । योगशास्त्र और न्यायशास्त्र भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं । इनके अतिरिक्त अन्य शास्त्र और पुरुष-प्रणीत मत ईश्वरके अस्तित्वको नहीं मानते । गीताके उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीताके १६ वें अध्यायके—

असत्यमप्रतिहं ते जगदाहरनीश्वरम् ।

अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥

—इस लोकमें नास्तिकोंके कथनका सुन्दर वर्ण है । प्राचीन या अचार्यीन सभी नास्तिक ईसीका :

करते हैं। वे इससे भिन्न कोई नवीन बात कहते हों, सो नहीं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि यह मत शास्त्रज्ञोंको अपरिचित तथा विलक्षण है। और यह भी नहीं है कि इनका उत्तर प्राचीन क्रष्ण, मुनि और आचार्योंने नहीं दिया है। नास्तिकोंके कथन आरम्भमें आपातरमणीय जान पढ़ते हैं, तथा साधारण लोगोंको अनुकूल ज़ंचते हैं। परन्तु वेदशास्त्रज्ञोंको वे युक्तिकुल नहीं जान पढ़ते तथा भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिके अनुसार—

प्रभवन्त्युक्रमणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।

वे उध्रकमु लोग जगत्के नाशके लिये ही उत्पच्छ दुष्ट-से जान पढ़ते हैं। इसलिये जिस समय उन लोगोंको नामितक मतका जोरेंसे प्रचार होने जरे, उस समय श्रुत्यादि प्रमाणोद्घारा ईश्वरकी सिद्धि होनेपर भी श्रुतिसम्मत तर्कों-द्वारा ईश्वरकी सिद्धि होती है, इसे यथामति बतलाना और ईश्वरके अस्तित्वका साधारण जननामें विश्वास उत्पच्छ करना विद्वानोंका कर्तव्य है। इसलिये इस लेखमें हम प्राचीन वेदज्ञों और शास्त्रज्ञोंके कथनोंका ही अनुवाद करते हैं और वह ईश्वर-सिद्धि अप्रतिष्ठित तर्कोद्घारा न करके प्राचीन वैदिकोंका अनुसरण करते हुए श्रुतिसम्मत तर्कोंके द्वारा ही करते हैं। क्योंकि भगवान् व्यासदेवने अपने व्याससूत्रोंमें कहा है कि ईश्वरके विषयमें केवल तर्क अप्रतिष्ठित होता है, परन्तु श्रुतिसम्मत तर्क अप्रतिष्ठित नहीं होता, इसलिये उनका अनुसरण करते हुए हम इस लेखमें श्रुतिसम्मत तर्कोंका ही अवलम्बन करेंगे।

न्याय-शास्त्रमें ईश्वरस्तित्वका विचार ख्वतन्त्र तर्कद्वारा भी किया गया है। न्यायकुमुसाभिलिके लेखकने तो इसका विशेष विचार किया है। परन्तु जगदगृह श्री १०८ आश्चर्याद्वाराचार्य आदि वैदिकोंने श्रुतिसम्मत तर्कका ही अवलम्बन किया है; अतः इस भी उन्हींका अनुसरण करते हैं। चार्वाक आदि नास्तिक कहते हैं कि 'ईश्वर नहीं है, उसकी सत्ता तर्कसिद्ध नहीं होती, वह कभी किसीको दिखलायी नहीं देता तथा उसका दिखलायी देना सम्भव भी नहीं है।' इसपर वैदिक-सिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वरके प्रयत्नके द्वारा ही इस विचित्र जगत्का होना सम्भव है। क्योंकि गृह, प्रासाद, रथ इत्यादिके समान जगत्का विलक्षण कार्य है। विनाखेनके प्रयत्नके इस-प्रकारका विलक्षण कार्य नहीं हो सकता। इसप्रकारका अनुमान वैदिक लोगोंने नियम आसानके अनुसार ही ईश्वरके

विषयमें किया है। इसमें जगत् 'पक्ष' है; वह सर्वज्ञ प्रयत्न-पूर्वक है, यह 'साप्त्य' है; और उस जगत्का विचित्र कार्यत्व है, यह 'हेतु' है। जो-जो कार्य होता है वह कर्तु प्रयत्नपूर्वक होता है अर्थात् वह कर्ताके प्रयत्नोंसे ही उत्पच्छ होता है, ऐसी 'व्याप्ति' है। गृह, प्रासाद आदि 'कार्य' हैं। वे कर्ताके प्रयत्नोंसे ही उत्पच्छ हुए हैं। पक्षान्तरमें, आस्मा कार्य नहीं है, क्योंकि वह कभी उत्पच्छ नहीं होता-'अजो नित्यः शाश्वसोऽयं पुराणो' इस श्रुति-स्मृति-वाक्यमें यही बात कही गयी है। यही कारण है कि आस्माको कर्ताके प्रयत्नोंकी अपेक्षा नहीं है। जब सामान्य घट-प्रति आदि कार्योंके लिये भी जिहें हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कर्ताके प्रयत्नोंकी आवश्यकता होती है, तो जगत्के समान अरथन्त विशिष्ट कार्योंके लिये तो अवश्य ही उसकी आवश्यकता होनी चाहिये।

जो वस्तु पूर्वक्षणमें प्रकट न होकर उत्तरक्षणमें प्रकट होती है उसे 'कार्य' कहते हैं। केवल ताकिंक कहते हैं कि 'कार्य' प्राचाराचाका प्रतियोगी होता है। परन्तु अभावसे भाव-की उत्पत्ति सम्भव न होनेके कारण वैदिक सिद्धान्तवादी नैयायिकोंके इस मतको स्वीकार नहीं करते। 'कथमसतः सज्जायेत' अर्थात् अभावसे भावरूप जगत् कैसे उत्पच्छ हो सकता है? इसप्रकार असरकारणवादपर आक्षेप करते हुए छान्दोम्यके छठे अध्यायमें श्रुतिने 'सदेव सांख्येदमप्र आसीत्' अर्थात् हे सांख्य! पहले यह सत् ही था इसप्रकार-का सिद्धान्त निश्चित किया है। श्रीभगवान् भी गीतामें कहा है कि 'नामतो विद्यते भावो'। अर्थात् जो पूर्वक्षणमें नहीं है उसका उत्तरक्षणमें उत्पच्छ होना युक्त नहीं। पूर्व-क्षणमें वर्तमान सृष्टिकाके ही घटादि कार्यका आकार लेनेपर घटकी उत्पत्ति होती है। और वह कर्ताके प्रयत्नसे होती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। यहाँ यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि पाणिनि-पठित मूलधातु 'जनी प्रादुर्भावे' में ही जन्म, उत्पच्छ शब्द निष्पत्त होता है।

जब सामान्य कार्य भी कर्ताके प्रयत्नके बिना प्रादुर्भूत नहीं होता, तब जगत्के समान विलक्षण कार्य कर्ताके प्रयत्नके बिना ही उत्पच्छ हो, यह विलक्षण ही सम्भव नहीं। जगत्की विलक्षणता साधारण नहीं है। उसमें देव, गण्डव, यक्ष, राक्षस, वितर, पिशाच इत्यादि आदि प्राणियोंका विचार यदि न किया जाय तो भी इष्ट होनेवाले इस भू-खेतोंको हम मनुष्य पश्य, पक्षी इत्यादि चीटीपर्यन्त चर-जीव और दृश्य-लक्षण अभृति स्वावर-प्राणियोंसे पूर्ण पाते हैं।

इनमें प्रत्येक प्राणियोंमें जातिगत विलक्षणता भी है, स्वर्गादि उत्तर्वर्षोंके और अतल आदि अयोहोकोंको अदृष्ट होनेके कारण यदि छोड़ दिया जाय, तथा कोई आकार नहीं होनेके कारण आकाशका भी विचार न किया जाय तो भी पृथ्वी और उसके आश्रयसे स्थित समुद्र, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र इत्यादिमें तो यह विचित्रता है ही। अन्य लोकके प्राणियोंका विचार छोड़ भी दें तो भूलोकमें ही जलघर और यज्ञघर नाना प्रकारके प्राणियोंके उपभोगके योग्य स्थान तथा उनके उपभोगके साधन भरे हुए हैं, इसमें प्रतिक्षण्य असंख्य प्राणियोंका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अनेक प्राणी दुःख-सुख आदि विचित्र अनुभव प्राप्त करते हैं। इन्हें अत्यन्त कुशल शिरपी—कारीगर भी कभी निर्माण नहीं कर सकते। ये देश-काल-निमित्तके अनुरूप नियत प्रवृत्ति और निवृत्तिसे युक्त हैं। तब यह कहना कैसे उचित हो सकता है कि ऐसा विचित्र जगत् कर्ताके बिना ही हुआ है। फिर जिस कर्ताके द्वारा इस जगत्की सृष्टि हुई है वह सामान्य है यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः जगत्के भोक्ता जीव और उनके कर्मोंके विभागको साक्षात् जाननेवाला कोई चेतन अवश्य होना चाहिये और उसीके प्रयत्नसे इस जगत्का आविर्भाव भी होना चाहिये। इसके बिना इस विचित्र जगत्की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त, इस आविर्भूत जगत् में प्रतिक्षण वस्तुओंकी उत्पत्ति और नाश होता रहता है, यह अनुभवकी बात है। और वह भी नियत कर्ताके अभावमें सम्भव नहीं हो सकता।

इसपर कोई कहे कि ‘जगत् एक विचित्र कार्य है’ इसमें संशय नहीं, परन्तु आपके कथनानुसार वह जगत् ‘भोक्ता जीव और कर्मोंके विभागके जाननेवाले चेतनके प्रयत्नद्वारा होता है’ यह हमें स्मोकार नहीं; ‘कर्म-वैचित्र्यके कारण ही जगत्का वैचित्र्य सम्भव है’। यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि कर्म तो कर्ताओंके अधोन होता है, इस कारण वह बगतकी उत्पत्तिका केवल निमित्त हो सकता है, परन्तु स्वतन्त्ररूपसे नियमित नहीं हो सकता। इस विषयमें शास्त्रकार पूर्व-मीमांसक भी कहते हैं कि, ‘प्राणियोंके उपभोग-वैचित्र्य, उपभोगोंके साधनोंका वैचित्र्य, देश-काल-निमित्तानुरूप नियत प्रवृत्ति-निवृत्ति-कर्म इत्यादि नियत, सर्वज्ञ, ईश्वर-कर्तृक नहीं हैं, वे सब तो कर्मोंके द्वारा ही होते हैं। क्योंकि कर्मका प्रभाव अविस्त्र है। और सब शास्त्रकार तथा छाँकिक विचारवान् भी कर्मोंकी फलका हेतु मानते हैं।

अर्थात् यदि कर्ममें ही फलहेतुत्व है तो उसके लिये ईश्वरकी अधिक कल्पना करनेकी आवश्यकता ही क्या है? सांख्य-शास्त्र भी कहते हैं कि ‘कर्मका फल-स्वरूप यह बगतरूप कार्य यदि कर्मसे ही उत्पन्न हो सकता है तो इसके लिये अधिक ईश्वरकी वृद्धा कल्पना करनेका प्रयोजन ही क्या है?’

कुछ लौकिकवादी और शास्त्रज्ञोंका यथापि ऐसा मत है तथापि यह युक्त नहीं। ‘केवल कर्मसे ही उपभोग-वैचित्र्य-की उत्पत्ति प्राप्त होती है क्योंकि कर्म कर्ताके अधीन होता है। चेतन जीवके प्रयत्नसे कर्म होता है और उसके प्रयत्नके उपरत होते ही कर्म भी उपरत हो जाता है तथा देशान्तर और कालान्तरमें नियन्त्र-विशेष नियमित्तकी अपेक्षा न करते हुए भी कर्ताको फल देता है। और यदि यह आश्रम हो कि कर्मको दूसरे प्रवर्तककी भी आवश्यकता है तो कर्ता जीवको इसका प्रेरक मान्य जा सकता है।’ यह कथन भी युक्त नहीं। क्योंकि कर्म जड़ है और कर्ता भी देश, काल, नियमित्त इत्यादि विशेषज्ञोंका ज्ञाता नहीं है। यदि वह देशादि विशेषज्ञोंका ज्ञाता होकर स्वतन्त्ररूपसे कर्मको फल देनेकी प्रेरणा करता तो वह अनिष्ट फलकी प्रेरणा कर्मी नहीं करता। इससे जीवको दुःख भागनेका प्रसंग ही न आता। परन्तु अनुभवमें तो यही आता है कि जीव अनिष्ट फलरूप दुःखोंसे सदा अनिष्टज्ञसे ही भोगता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कर्ता ही कर्मको फल देनेकी प्रेरणा करनेवाला है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म किसीकी प्रेरणाके बिना ही कर्ताको फल देता है। क्योंकि कर्म बिना किसी नियमित्तके फलरूपमें परिणत होनेमें समर्थ नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जीवको एक जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका समरण जन्मान्तरमें नहीं होता। तब वह स्वतः पूर्वजन्मके कर्मोंको प्रेरित कैसे कर सकता है?

सुगत-मतानुयायी बौद्ध क्षणिक विज्ञानको ही तत्त्व मानते हैं और उसीको आत्माका स्वरूप मानते हैं। तब उनके पक्षमें ही क्षणिक विज्ञानरूप आत्मासे किया हुआ कर्म कालान्तरमें विद्यमान न रहनेवाले कर्ताओंको अपना फल कैसे दे सकता है? इसके अतिरिक्त, ‘सर्वं क्षणिकम्’ ऐसा उनका सिद्धान्त होनेके कारण कर्म भी दीर्घकालतक कैसे रह सकते हैं? यदि यह मानें कि वह फल देनेपर्वन्त सूक्ष्म भूतोंके आश्रयसे रहता है तो यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि भूत ही कर्मके साधन हैं। कर्ता जिस समय कर्म

करता है उस समय यथापि वह व्यापार करते हैं, सथापि कर्मकी समाप्ति होनेपर तो कर्ता उनका रथाग कर देता है। इससे वे कालान्तरमें फलके प्रेरक नहीं हो सकते। इसके सिवा कर्मानुसार ये साधनरूप भूत भी अवेतन (जड़) होते हैं। और यह प्रसिद्ध है कि किसी भी अवेतन-की प्रहृति चेतनकी सहायता दिना नहीं होती।

यदि कोई कहे कि अवेतन-वायुके अनुसार उसकी प्रहृति होती है, तो वायु भी जड़ है और वैदिक सिद्धान्ता-नुसारी वह नहीं मानते कि जड़की प्रहृति चेतनकी सहायता-के दिना हो सकती है। क्योंकि अवेतन रथ, पावाणादिकी प्रहृति चेतनकी सहायता-के दिना हो, ऐसा कभी अनुभवमें नहीं आता। इसके विपरीत, चेतनकी सहायतासे इनी उनकी प्रहृति होती है, यह बात अनुभव-सिद्ध है।

यह तो अवैदिकोंका सिद्धान्त है, परन्तु वेदोंको नियम प्रमाण माननेवाले भीमांसक भी जब 'स्वर्गकामो यजेत्' आदि शास्त्रकर्मे करनेको कहते हैं तो उससे यही प्रतीत होता है कि शास्त्रीय कर्मोंसे ही कर्ताको फलकी प्राप्ति होती है। वेदोंके कर्मोंका ज्ञान प्रमाणाभूत वेदोंमें होनेके कारण, वह व्यर्थ होंगे अथवा अपना फल दिये ही विकीर्न हो जायेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। अर्थात् ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें दूसरा कोई प्रमाण न होनेके कारण उसे मानना व्यर्थ ही है। यथापि उसके अस्तित्वके विषयमें कुछ अस्तित्वके विषयमें प्रमाण नहीं हो सकती।

पाठकाण्ड ! मैंने यहाँतक ईश्वरके अस्तित्वके न माननेवाले सौकृतिक और शास्त्रवादियोंके कथनका संक्षेपमें अनुवाद किया है। अद्वैत वेदान्तशास्त्रमें इसप्रकारके भर्तोंका सविस्तर अनुवाद करके श्रुति और तकसे भी उनका निराकरण किया गया है, ऐसा अनेक ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है। उन सबका यहाँ विस्तार करनेसे लेके बहुत बढ़ जायगा। इसलिये ऊपर नालिकोंके मतका जैसे संचेप-में अनुवाद किया गया है वैसे ही आस्तिकोंके कथनका भी संक्षेपमें अनुवाद करना आवश्यक है।

कर्ताको उसके शुभाशुभ कर्मोंका फल देनेवाला ईश्वर है, यह बात इह न्यायके विस्तृत नहीं है। किया दो प्रकार-की होती है—इष्टफला और अनिष्टफला। इष्टफला-किया भी दो प्रकारकी है—अनन्तरफला और आगामिफला।

गति, भोजन प्रशृति कियाको अनन्तरफला कहते हैं क्योंकि गमनक्रियाके करते ही गमनव्य प्रदेशकी प्राप्तिरूप फल मिलता है तथा भोजनक्रियाके करते ही तत्त्वज्ञ तुषिरूप फल मिलता है। इसलिये क्रियाके करनेके साथ ही कर्ता को जिस क्रियाका फल मिलता है वह इष्टफला-किया कहाती है। परन्तु कृषि, सेवा इत्यादि क्रिया कालान्तरफला अर्थात् दीर्घकालमें फल देनेवाली होती है।

इन दो प्रकारकी क्रियाओंमें अनन्तरफला-किया फलोदयके होते ही नाशको प्राप्त होती है। उसके लिये दूसरे कालान्तरफला-क्रिया उत्पाद होकर फल न देनेके पहले ही नष्ट हो जाती है। उसका फल कालान्तरमें मिलता है अर्थात् वह कालान्तरमें कलादाताकी अपेक्षा करती है। कृषि, सेवा आविका फल स्वास्थीके अधीन होता है। कर्मके फलके विषयमें वह दोनों इत्यादि है, इनका स्थाग करना ढीक नहीं। चिह्नित शुभ कर्मके शान्त होनेपर नियम स्वास्थीके अनुसार कर्ता, कर्म और फलका विभाग जाननेवाले और उन चिह्नित शुभ कर्मोंके अनुरूप योग्य कालमें योग्य फल देनेवाले नियम-चेतन ईश्वरका होना आवश्यक है। वह नियम ईश्वर ही सबका आत्मा है। वह सर्व क्रिया, फल और प्रस्तरोंका साक्षी, मित्य विज्ञानरूप, समन्वय सांसारिक घटनोंसे अस्तृत है, ऐसा ही मानना पड़ता है।

जगत् कार्य है। जो पहले उन्नत नहीं होता, पीछे जिसका आविर्भाव होता है, यही कार्यका लक्षण है। कार्यके लिये कर्ता तथा उसके बीजरूप उपादान-कारणका होना आवश्यक है। कर्ताके प्रयत्नके दिना बीजरूप उपादान-कारणकी अभिव्यक्ति नहीं होती, इत्यादि कार्यमात्रके सामान्य नियम उपर्युक्त वर्णनहारा पाठोंके व्याख्यानमें आ जायेंगे। अगत् प्रक्षेप कार्य मर्ह है, यह विचित्र कार्य है। इसमें असंक्षय कर्ता और भोक्ताओंका अन्तर्भाव होता है। जो कर्ता है, वही भोक्ता है। पर्वकृत कर्मोंके फलका अनुभव प्राप्त करना ही भोक्तृत्व है, परन्तु भोक्ता जीवोंको मिलनेवाले फल बहुत आगामी होते हैं, उन्हें उचित देश, उचित काल और उचित लिमिट्ससे प्राप्त होनेके लिये जाता ईश्वरकी आवश्यकता है, क्योंकि कर्म और उसके फलके जाननेवाले दृष्टाके दिना ऐसा सम्भव नहीं। इसलिये ईश्वरके फल-दातृत्वकी सिद्धि होती है। अगत् ही फल है, परन्तु वह भोक्तामात्रके पूर्व शुभाशुभ कर्मोंका फल होनेके

कारण कर्मसङ्करके विभागको जानेवाले ईश्वरको उसका कर्तृत्व सिद्ध है, तभी उसीमें जगत्के अनन्त जीवोंको उनके पूर्वकर्मानुसार फलदातृत्व है, यह कहना पड़ता है। परन्तु सेव्य-स्वामी अथवा राजाके अनुसार ईश्वरका फलदातृत्व माननेपर तो लौकिक फलदाताओंके अनुसार ही ईश्वर भी राग-द्वे-ब-युक्त हो जायगा और अनुग्राह जीवोंमेंसे किसीपर अनुग्रह करना तबा किसीका निश्च करेगा, किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर फलदाता होते हुए भी सम्भव कियाओं, फलों तथा प्रत्यक्योंका साक्षी है। राजा आदिके समान वह अपराज नहीं, इससे किसी भी भोक्ताके विषयमें उसको विपरीत ज्ञान होना सम्भव ही नहीं है। स्वामी, राजा इत्यादि फलदाताओंसे उनके असर्वज्ञ होनेके कारण सेवक आदिको कदाचित् अयोग्य फल भिजना जिसप्रकार सम्भव है, उसी प्रकारका फलदातृत्व सर्वज्ञ ईश्वरको है, यह नहीं माना जा सकता। क्योंकि 'किसने, कब, कौन-सा काम किया है और उस कर्मके अनुयाय कौन-सा फल, कब और कहाँ देना चाहिये' इसका ईश्वरको यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिये उसके फलमें गर्यन्तरकी सम्भावना ही नहीं है, सबका आरम्भ होनेके कारण ईश्वरका व्यावहारिक साक्षित्व भी निष्ठ है और वह बुद्धिस्थ कलिपत जीवोंसे भिज होनेके कारण सांसारिक धर्मोंसे युक्त नहीं होता। इसलिये प्रयोगकर्ता जीवोंको शुभाशुभ कर्मोंके आगामी फलको देनेवाले किसी विभागज्ञ ज्ञाताकी आवश्यकता है, उसके बिना जीवोंको उचित कालमें, उचित देशमें, उचित फलकी प्राप्ति सम्भव नहीं। कर्म तत्काल नष्ट हो जाते हैं। शरीरादिकी बेणाके रूपने ही कर्म भी रुक जाते हैं, यह प्रत्यक्ष निष्ठ है। परन्तु उसके फल दीर्घकालमें, तथा जन्मान्तरमें भी प्राप्त होते हैं और ऐसा उन कर्मोंके साक्षी फलदाताके बिना नहीं हो सकता।

इसी प्रकार उक्त फलदाता ईश्वरके अनिस्त होनेसे भी काम न चलेगा, इस देखते हैं कि सृष्टिके जीव प्रत्येक इष्ट विचित्र अनुभव करते हैं। जीवोंकी अनन्तता, जातियोंकी असंख्यता तथा प्रत्येक चराचर प्राणीके भोगोक्ती विवितताका विचार करनेसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वसाक्षी ईश्वरकी कल्पना आवश्यक हो जाती है, इसे भास्तियोंको भी मानना पड़ेगा। उसके बिना प्रत्येक प्राणीकी उत्पत्ति, जात, सुख-दुःख इत्यादि उपपत्त नहीं होते।

उचित समयपर आविर्भूत होकर उचित समयपर तिरोभूत होनेवाला ज्ञात अनादि और अनन्त है। उपादान कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति सम्भव न होनेके कारण उसको साधि नहीं कहा जा सकता और तिरोभूत होनेसे अर्थात् अपने कारणमें लीन हो जानेसे उसका अन्त हो जाता है, इसलिये वह सामृत है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यदि उसका निर्वाज नाश हो जाता तो पुनः उसका आविर्भाव सम्भव न होता। परन्तु प्रत्येक कल्पके आरम्भमें उसका आविर्भाव होता है, इसमें उसको सामृत न कृष्णत उसका तिरोभाव होना ही मानना चाहिये। किसी भी कार्यके नाशका अर्थ है उसका अपने उपादानमें तिरोभाव होना। तिरोभावको ल्य भी कहते हैं, परन्तु ल्यका अर्थ अत्यन्ताभाव नहीं है। ऐसे आविर्भाव या तिरोभावको कोई भी साक्षी दृष्टा अवश्य होना चाहिये। उसके बिना उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु वह दृष्टा कोई अचेतन अथवा शरीर-इन्स्प्रिट-सम्पर्क जीव नहीं हो सकता। क्योंकि अचेतनको द्रष्टृत्व नहीं होता। इसलिये चेतन आत्मा ही उसका दृष्टा है और वही सत्य ईश्वर है। वह जन्म-मरण-रहित होनेके कारण निश्च है। निश्च होनेके कारण ही प्रपञ्चरूप कार्यके अनन्त आविर्भाव और तिरोभावको देख सकता है। वह प्रत्येक शरीरमें साक्षी अन्तर्यामीरूपमें रहकर जीवोंके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंको और उन कर्मोंके शुभाशुभ फल तथा भोगोंको भी देख सकता है तथा तदनुसार लौकिक स्वामीके समान प्रत्येक जीवको उचित देश और उचित कालमें उचित विवित फलोंको दे सकता है।

आत्मा ही परमात्मा है। वह चेतन है। इससे ज्ञान ही उसका स्वरूप है। वह सूर्यके प्रकाशके समान निश्च है। अर्थात् वह न तो कभी उत्पत्ति होता है तथा न बिनाशको ही प्राप्त होता है। क्योंकि उसका बिनाश होनेसे वह किसीको ज्ञात होता ही चाहिये। उसी प्रकार उसकी उत्पत्ति भी बिना ज्ञाताके सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु चेतनमात्रके नाश और उत्पत्तिको चेतनसे भिज कौन देख सकता है? और जब देखनेवाला ही नहीं सो उसकी सिद्धि किसे हो सकती है? इसलिये परमात्मा-का चेतन स्वरूप निश्च और निर्विकार है, ऐसा ही मानना चाहिये।

प्रकाश करना जिसप्रकार प्रकाशरूपी सूर्यकी किया नहीं है, उसी प्रकार जानना भी ज्ञानरूप आत्माकी किया नहीं है। चेतना तथा ज्ञानको तार्किक लोग आत्माका गुण मानते हैं, परन्तु वह उसके गुण न होकर स्वरूप ही है। चेतनको प्रतिशरीरमें भिज-भिज माननेका कोई प्रभाव नहीं है। इसीलिये छाँटै-बेदान्त-शास्त्रमें आत्माको सत्-चित् अहितीय निर्विकार शुद्ध सर्वज्ञ सर्वविद्

इत्यादि कहा गया है और वह सब अनुभवसिद्ध है। अति-स्मृति-पुराणादि ग्रन्थोंमें आत्माके स्वरूपका विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। परन्तु 'तर्कसे ईश्वर-सिद्धि' इमारा यह विषय होनेसे इस उनका यहाँ उल्लेख नहीं करते। केवल तर्कसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है और वह ईश्वर नित्य आत्मा है, ऐसा प्रतिज्ञापूर्वक कहकर इस लेखको समाप्त किया जाता है।

→२८*३०←

क्या ईश्वर तर्कसे सिद्ध हो सकता है ?

(लेखक—बीयुत वैकटाचलभूर्जी शम० ५०)



स लेखमें इस ईश्वरको तर्कसे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, फिर देखिये क्या परिणाम होता है। ईश्वर-विषयपर विस्तृत करते ही ऐसा जान पढ़ने लगता है मानो इस कुछ हैं ही नहीं, अपनी अशक्तिसे घमरह भी कुछ भूर हो जाता है। ठोक-बजाकर कोई बात कहना इसलिये शोभा नहीं देता कि विषय इसना अचिन्त्य है जिससे बहुत दूरतक शब्दोंकी ढाल नहीं गलती। जिन्हें यह दावा है कि इस ईश्वरको सिद्ध कर दिखावेंगे या जो यह कहें कि इस उसे असिद्ध ही करके छोड़ेंगे, इन दोनोंमेंमें किसीकी भी हिमायत हमें नहीं करनी है, क्योंकि दोनों ही अभ्यासमें हैं। दोनों ही बहुत भोले हैं। ईश्वर तो चाहे सिद्ध या असिद्ध न हो सके, पर जो दलीलें दोनों ओरमें दी जाती हैं वे जहर असिद्ध होती हैं। लोग तर्कमें उसे सिद्ध करना चाहते हैं जो तर्कके मानका नहीं है। अब कुछ समयमें दार्शनिक लोग भी सचेत हो गये हैं, वे शपथदूर्वाले किसी बातको कहना अच्छा नहीं समझते, उनका भवताद विद्या हो रहा है। अब सहजे बजाय नीति और धर्मका आश्रय द्वारा जाता है। एवें-लिखे लोगोंकी रंगत तो आस्तिक और नास्तिक दोनोंसे विलग्य है, वे तो ईश्वरके विषयमें उदासीन बन गये हैं। उदासीनी शास्त्राद्वारीके अन्तिम मामणमें रहनेवाले लोगोंमें ईश्वर-विषयक जो गर्मी थी, अब वह असा हो गयी है। ईश्वर हो तो अच्छा, न हो तो अच्छा—अब तो इस तरहकी मनोहृषि बनती जाती है।

किसी समय अन्धा धार्मिक भवताद अपने सामने कुछ सुनता ही न था। विज्ञानने बुद्धिवादका अब चकाकर

योथे धर्मको इटा दिया, फलतः अब धर्मकी बात कोई नहीं पूछता। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सब लोगोंने अपनी बुद्धिका बल लगाकर धर्मके सिद्धान्तोंको तोल लिया है और उन्हें निस्तार जानकर योधे छोड़ दिया है, बल्कि इसकी बजह यह है कि इस विषयकी रुचि क्षीण-सी हो गयी है। सच बात यह है कि ईश्वर, धर्म, आत्मा सब दूसरी दुनियाके प्रगड़े जान पढ़ने हैं। लोग अपने आपको नकद धर्मका माननेवाला कहते हैं; वे समझते हैं इन हवाई बातोंमें कुछ नहीं रक्खा है। पर इस तरहकी उदासीन वृत्ति मृत्युका लक्षण है। ऐसा मालूम होता है कि इमारी विचारशक्ति मूर्खित हो गयी है। जब कभी आस्तिक-नास्तिक दोनों दलोंकी मिहन्त थी तब विचार-शक्ति जागरूक रहती थी। अस्तु, इमारा आश्रय तो यहाँ इसना ही है कि योद्धेमें दोनों मतोंके सारासारका कुछ विवेचन कर दें जिससे उभय पक्षके गुण-दोष सामने आ जायें।

(१)

ईश्वर-सिद्धिके तर्क अनेक हैं। सब एक-से नहीं हैं। सबमें पोच तो यह है कि जगत् कार्य है, इसका बनाने-बाला निमित्तकरण या कर्ता होना चाहिये। 'यह विश्व कार्य है'—इस बातका निर्णय आपने कैसे कर लिया? यदि आप कहें यह इमारी प्रतिज्ञा है, तो यह बताइये कि क्या किसी समय अस्तित्वमें न रहनेवाले जगत्को किन्हीं कारणोंसे कार्यमें आते हुए आपने देखा या अनुभव किया है? इमारा अनुभव तो केवल एक युगाका है, वह दृश्य-यट जो इमारे सामने अभी फैजा है, उसीके ज्ञानके आधारपर इस तो कार्य कह सकते हैं, न कारण। किसी

भी वस्तुमें ऐसा कोई लक्षण नहीं है जो निष्पत्तिरूपसे उसे कार्य या कारण कहा जा सके। हमारे देखते हुए तुनियाकी चीजोंमें परिवर्तन होना दूसरी बात है, पर समस्त विश्वको कार्य कहनेके लिये उसके प्रागभावका निश्चित प्रमाण होना आवश्यक है। संसारके प्रागभावका केवल अनुभान करना ठीक नहीं, क्योंकि तर्कमें अन्योन्याश्रय-दोष आ जाता है। प्रत्यक्षप्रमाणसे प्रागभावकी सिद्धि सो और भी दुष्कर है, क्योंकि किसी भी पदार्थसे वह नहीं मालूम होता कि वह पहले था या नहीं और आगेको रहेगा या नहीं। दूसरी ओर वह भी ठीक है कि ऐसा बाधक प्रमाण भी हमारे पास नहीं है जो किसी वस्तुका अबस्थे पहले या आगे रहना या न रहना ज्ञाननेमें हमें रोकता हो। हो सकता है यही बात ठीक हो, कि विश्व पहले नहीं था और किसी समय उसका जन्म नहीं हुआ। या कहें कि वह अनन्त कालमें इसी कार्य-दर्शनमें था। इस तरह दोनों विरोधी पक्षोंमें सत्यका अंदर है। यहाँ हमें दार्शनिक केंद्रके प्रथम दृढ़न्यूनियमका ध्यान आता है, जिसमें कहा है कि जगत् सादि और अनादि दोनों ही हैं। पहले और प्रतिपत्ति दोनों निर्दोष और मान्य हैं, लेकिन तभीतक जबतक हम दोनोंके मौलिक आधारको ठीक मानते हैं, वह मूलभूत आश्रय यह है कि देशकाल-परिच्छिक्षा दृश्य विश्वका कारण निःसीम देशकालातीत निरपेक्ष होना चाहिये। यदि इसप्रकार साधेक और निरपेक्षके कार्य-कारणवादको हम न मानें तो ऊपर विद्याये हुए भर, कि संसारका प्रारम्भ है या अनादिकालमें यह ऐसे ही है, दोनों ही लड़खड़ा जाते हैं।

यह नियम भी, कि कार्यका कर्ता होना ही चाहिये, स्थित्य है। प्रकृतिके कार्य उपके ही उपादानमें होते हैं ऐसा मान लेनेमें तर्ककी हानि नहीं होती। विचारमें मालूम होता है कि निमित्तकारण या कर्ता माननेका हेतु मनुष्य-स्वभावमें कल्पित है। हमारा शरीर हमारी इच्छामें कार्य करता है। हम मान लेते हैं कि ब्रह्माण्ड भी किसी चैतन्यका शरीर है जो उसके आकांक्षासे कार्य करता होगा। पर कथा हमारा और शरीरका सम्बन्ध हमारी समझमें ठीक आ गया है? शरीर और मनकी प्रभ्यको सुखानेमें सब दार्शनिक अटक गये हैं। देकर्टे के बादके सभी दार्शनिकोंने इसपर सिर मारा है। अभीतक शरीर और मनका पारस्परिक सम्बन्ध ठीक तरह समझमें नहीं आया है। जिसने ब्रह्माण्डकी देहमें पहले प्रेरणा की, वह भी शरीर होगा, बिना शरीरके

प्रेरणा कैसी ? उसका शरीर क्या ब्रह्माण्डके बाहर था ? ब्रह्माण्ड या ही सो सृष्टि क्या की ? यदि वह कहा जाय कि ब्रह्माका ईक्षण नित्य है, उसे शरीरदिसे साधेहोनेकी आवश्यकता नहीं, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो प्रेरणा नित्य है उसकी समाप्ति कैसे होगी ? जब जी चाहे तब उस जानेवाली प्रेरणा नित्य नहीं हो सकती। साधेक और अनित्यकी समीक्षामें नित्यकी कल्पना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। नित्य और अनित्यका सम्बन्ध क्या अनित्य हो सकता है ? इन दोनोंमें न तो सम्बन्धकी हेतुभृत्यास्था है और न हमें उस सम्बन्धका अनुभव है।

इस तर्कमें कि कार्यका निमित्तकारण होना आवश्यक है, वह नहीं सिद्ध होता कि वह निमित्तकारण ज्ञानवाला हो। हाँ, एक दूसरा हेतु है जो कर्ता को ज्ञानमय सिद्ध करता है। वह है विश्वकी रचना आद्योजनवाला हेतु जिसे कुसुमाअलिकारने निझलिखित शब्दोंमें व्यक्त किया है—

कार्यविज्ञानवृत्त्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषात् साध्यो विविदव्ययः ॥

(५ । १)

यह सिद्धान्त श्रीशङ्कराचार्यके शब्दोंमें बड़ी सुन्दरतामें कहा गया है—‘जिसमें अनेक कर्ता-भोक्ता हैं, जिसमें कार्य और उनके फल प्रतिनियत देशकालका निमित्त पाकर होते रहते हैं, जो मनसे अचिन्त्य है, ऐसे नाम और रूपमें प्रकट हुए हस्तगतका जन्म, स्थिति, नाश जिस सर्वज्ञ सवेशकित्वान् कारणसे होता है, वह व्रज है ।’ (ब्रह्मसत्र । १ । १ । २) यह सर्वज्ञ क्रम प्रकृतिका गुण नहीं है। प्रकृतिके प्राणीके आत्मवनसे इसका प्रकाशमात्र होता है। जड़-प्रकृतिके संयोग और परिवर्तन तथा उसके सत्त्व, रज, तम तीन गुण ज्ञानमय सृष्टिका अवसार करनेमें विलुप्त अशक्त हैं और प्रत्येक परमाणुके भीतर जिस ज्ञानपूर्वक रचनाकी मस्ता है उपकी व्याख्या प्रकृतिके गुणोंमें नहीं हो सकती। इसलिये एक ऊर्जित ज्ञानशक्तिका मानना अनिवार्य है जो इस ज्ञानमयी रचनाका कारण है। ‘जब प्रकृतिके अवयवोंमें परस्पर सम्बन्धकी एकतासे प्रकृति एक मानी जाती है तो अनुमानसे उपर्युक्त ज्ञानमय शक्तिहो एकता भी स्वेकार कर लेनी चाहिये (कैण्टकृत Critique of pure Reason, Transcendental Dialectic Book II, Chap. III, ‘The Ideal of Pure Reason’ p. 521, Prof. Norme Smith’s Transl)

हमारी समझमें ईश्वर-सिद्धिके आस्तिक प्रमाणों

का मत ही ऐसा है जो बहुत दूरतक मनमें पैठता है। पर यहाँ भी वही विषयते सामने आ जाती हैं जो सुष्ठि-कर्तृत्व-से ईश्वर लिख करनेके मार्गमें पहले विश्वायी जा चुकी हैं। दोनों जगत् हम अनित्य और इश्वर से कूदकर नित्य और अव्यक्तपर जाले जाते हैं। दोनोंको ग्रन्थिका या सम्बन्धका हमें कुछ ज्ञान नहीं है, यही सारी कठिनाई है। जेतन नित्य सत्ता किसप्रकारसे, किस सम्बन्धसे, अनित्य जड़ अगत् या प्रकृतिको प्रभावित करती है या उसके अपनी शक्तिका प्रबाह भेजती है, यह बात बुद्धिगम्य नहीं होती क्योंकि जड़ देशकालबद्ध जगत्में शक्ति-प्रवाहका ज्ञान तो हमें है, परन्तु नित्य और देशकालातीत क्षेत्रमें हम विष्वकुल अनज्ञान हैं। अगर हम उस शक्तिको जान जाते हैं, तो वह भी सापेक्ष हो जाती है, फिर उस सापेक्षमें आगे निरपेक्षकी आवश्यकता रह जाती है। यह कहना कि सापेक्ष पदार्थोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हुई परम्परामें ईश्वर सर्व-प्रथम है, जटिलताको हक्क नहीं करता। क्योंकि जो सर्व-तिशायी बनकर भी जिस परम्परामें है, वह उसी विरास्ती-का तो गिना जायगा। सब सापेक्ष पदार्थोंका जो मुद्द हमें लिलेगा, वह भी सापेक्ष ही ठहरेगा। ऐसा ईश्वर तो वेदान्त-शास्त्रमें माने गये उस ईश्वरकी जोड़का हुआ जो अनित्य आयासे उपहित पदार्थोंमें सबसे अनित्यम शक्ति है, पर जो निर्वचनीय होनेमें या जगत्-मन्त्रवचनमें उपहित होनेके कारण सापेक्ष है। यदि ईश्वर और जगत्के सम्बन्धका ज्ञान हमें वैज्ञानिक अर्थात् अनुभवगम्य रीतिमें नहीं होता और फिर भी हम ईश्वरको मानने हें, तो हमारा मानना केवल विश्वासकी बात हो जाती है। सब बात तो यह है कि नित्य और अनित्य, उपाधिगम्य और अनुपाधिगम्य, सीमित और अतीसके बीचकी गहरी खालीको पार करना हमारे मानकी बात नहीं है। यदि ईश्वर हमारे ज्ञान-का विषय बन जाता है सो वह उपहित हो गया, यदि ज्ञानातीत है तो अम्बतर बना ही रहा। पर अनित्यके लिये नित्यका आश्रय दूँ दे बिना काम नहीं चलता, इश्वरसापेक्षको निरपेक्षके साथ सम्बद्ध किये बिना गति नहीं है।

दोनोंमें ऐसा जिला है, इलाहामी गालोंने ऐसा कहा है—इस तरहकी बारें तर्की इहिसे कोरी हैं उनके बारेमें हम कुछ नहीं कहना चाहते। ज्यादा-मेर्ज्यादा हम सीतिमें हसना ही सब निकल सकता है कि विषय अनाद्वि है, उसका ईश्वर-कर्तृत्व फिर भी सापेक्ष नहीं होता। मीमांसक लोग इसी प्रकारका अनापित्य मानते थे।

एक तर्क और भी है जिसे प्रायः पश्चिमी विद्वान् किए करते हैं। यहाँके दार्शनिक भी उससे अनभिज्ञ नहीं थे। हम एक अनन्त पुरुषविशेषकी कल्पना करते हैं जो सब प्रकारसे पूर्ण है। हम बल, शक्ति, ज्ञान, दया, करुणा, सत्य आदि गुणोंकी पूर्णता मानते हैं और उनका आश्रय एक सत्तामें कल्पित करके उसे ईश्वर कहते हैं। कुमुमाजलि-काशी सं० ४० ७३)

पदात् खलु अपि ।

श्रूयतेऽपि प्रणेतद्वरेऽनानिदिपदं, तत् सार्थकम् ॥ ४ ॥

(कुमुमाजलि काशी सं० ४० ७३)

हसमें यह बात विचारनेकी है कि कल्पनाके साथ ही कल्पय विषयकी सत्ता भी माननी पड़ती है। बिना सत्ताके पूर्णता कैसे हो सकती है? पूर्ण पुरुषकी कल्पना अपूर्णसे नहीं है, बल्कि पूर्णसे अपूर्णका ज्ञान हमें है। अर्थात् जहाँ न हो, इस तरहकी नकारात्मक योजना पूर्ण पुरुषके लिये नहीं है। बल्कि पूर्ण ही उपाधिके कारण अपूर्ण बन गया है। परन्तु प्रत्यय अर्थात् विचारमात्रमें बन्दुकी सत्ता मान लेना असंगत है। प्रत्ययमात्रसे विषयकी गोचरता नहीं है; सकती। हमके विषीरीत वेदान्त से प्रत्ययलभ्यको ही मिथ्या मानता है। जगत् मिथ्या है। क्यों? ईश्वरात्। [देखिये अहूत-सिद्धि] विषयस्पृहमें जगत् ज्ञान-गम्य है, अर्थात् प्रत्ययोपहित होनेमें अस्तित्वविहीन है। जो कुछ हम सोचते हैं यदि सबका अस्तित्व निर्विद्याद् हो तो फिर शास्त्रका अन्त ही ममकिये। हमने सोच लिया, हो गया, समीक्षाकी क्या आवश्यकता रही?

(२)

उपरके विवेचनमें सब ही हेतु पोछ रहरे। यह कुछ हमारी विद्वान्-बुद्धि या पाशिद्यरयका प्रताप नहीं है। बात यह है कि हम तर्कके सहारे अपने ज्ञानके हारा अज्ञेयकी सिद्धि करना चाहते थे। ज्ञानमें जिस विषयको जाना जायगा, वह उसो ममय उपहित बन जाता है। मानसमें अनन्तका प्रत्यय असम्भव है। ज्ञाना स्वयं उपाधिप्रस्त है। ज्ञाताके ज्ञानमें जो बात आ जाती है, वह स्वयं सीमित बन जाती है। इसप्रकार ईश्वरकी सिद्धि जगत्के अचीन बन जाती है। दोनों प्रत्ययरत्रित और उपहित लहरते हैं। किसीको भी निरपेक्ष कह सकना असम्भव हो जाता है, यही तर्ककी दार है। ब्रह्मकी अनन्तता और सर्वज्ञताकी बदल अल्पतर पुरुष उसी दशामें सिद्ध कर सकता है जब वह स्वयं सर्वज्ञ हो।

इश्वरकी सब विचारशीली बच्चों पैदा होती है ? इसकी बजाए यह है कि इम प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोपर जो साधारणतः हमारे ज्ञानके साथ हैं, बहुत अधिक भरोसा करके सेरभरके पात्रमें उतनी तोल भर लेना चाहते हैं जिसके बोझका हमें कुछ पता नहीं है। अनुमान अर्थापति अदिकी सीमा दृष्ट्य ज्ञेय पदार्थोंका है। अज्ञेयके हुर्गोंके ज्ञेयके हथियारोंमें सर करना भूलता है। ज्ञेयमें आगे जाहाँ आपने पैर रख्सा, बस फिर अंधेरा है, आपके प्रमाण रो देते हैं और आप भटक जाते हैं।

प्रभ यह है कि क्या ज्ञेय अनन्त हो सकता है ? जो ज्ञानमें आता है उसके कुछ धर्म होता है। ज्ञानमें जिसका आकार है उसके लिये यह ‘ऐसा है’ या ‘ऐसा नहीं है’ कहना ही पड़ता है। ज्ञेयके सब धर्म ज्ञानमें आ जाते हैं। ज्ञेय यदि कुछ अंशमें ज्ञानातीत रह जाय तो उसे ज्ञेय या जाना हुआ नहीं कह सकते। आपका यह कहना कि कुछ ही अंश जाना जाता है और उससे मिला हुआ शेष अज्ञान रह जाता है, किसी तरह मान्य नहीं हो सकता। अनन्तके धर्मोंका ज्ञानाकारमें परिसमाप्त हो जाना असम्भव है। ईश्वर अनन्त है ज्ञानीकि उसके धर्म या गुण अनन्त हैं या सब ही गुण उसके विषयांश हैं। सर्व ह अनन्त है। पर हर एक गुण जिसका हमें ज्ञान है, सान्त और सीमित है। इसलिये ईश्वरका भी प्रत्येक गुण, जो ज्ञात है, सीमित मानना पड़ता है। हाँ, ईश्वरकी भट्टीती करके उसके गुण गाना बात दूसरी है। पर तकनीके लिये तो जब ईश्वरको अनन्त कहते हैं तब उसके धर्मोंको भी अनन्त ही मानना पड़ेगा जो कि ज्ञेय धर्मोंसे विपरीत है। सान्त धर्मोंसे अनन्त कैसे बन सकता है ? एक-एक हाथकी रस्सी जोड़नेसे जो महारज्ञ शनेगी वह भी ज्ञेय या सान्त होनी चाहिये। जिसके अनन्तक हम न पहुँचें वह अनन्त नहीं है। गणित-शास्त्रमें भी अब अनन्तकी इस परिभाषाको पीछे छोड़ दिया है। अनन्ताहीनताकी हृषका फल अनन्तता नहीं है, अनन्तता स्वयं पूर्ण है, वह स्वयं ज्ञान है। ज्ञानकी अशक्तता से उत्पन्न अनन्तता निपट निस्सार है।

एक मार्केंजी बात यह है कि ज्ञेय ईश्वर आरम्भ नहीं हो सकता। जिसका हमें ज्ञान है वह प्रकृति है। आरम्भ तो स्वर्व ज्ञाता और असुभवज्ञोपति है। प्रत्ययगोचरको आरम्भ कहना अन्याय है। आरम्भ प्रमाणा है, वह प्रमेय नहीं बन सकता। जिसे अबतक हम अनन्त-अनन्त कहकर पुकारते

आये हैं वह भी कोरी कल्पना ही होती यदि वह ज्योति स्वयंप्रकाश होकर हम सबके अन्दर न विराजती। आरम्भ विचरी है, वह दूसरोंको प्रकाशित करनेवाला है, तब कम-से-कम उसे प्रकाशरूप मानना ही पड़ता है। जो लोग आरम्भाको ज्ञेयातिरिक्त अथवा ज्ञेय-विषय मानते हैं, वे सब ही उसे स्वयंप्रकाश माननेको साध्य हैं। अंगरोंका ज्ञान करनेवाला दीपक स्वयं ज्योतिष्मान् हो यह तो कम-से-कम शर्त है। कहा भी है—

प्रमाणप्रमाणं च प्रमाणस्त्वैव च ।

कुर्वन्त्येव प्रमाणं यत्र तदसंमावना कुरुः ॥

(२० उ० मात्र वार्तिक । । । । ८४)

अर्थात् प्रमाण, अप्रमाण अथवा प्रमाणभासके हारा जिसमें एक प्रकारका निश्चयात्मक ज्ञान (प्रमा) उत्पन्न होता है, उसकी स्वयं असम्भावना अर्थात् अनवस्थिति कैसे कही जा सकती है ? यह चैतन्य विषय न होनेसे धर्म-विशिष्ट नहीं कहा जा सकता। विशेष तो हमारे ज्ञान-के विषय हैं, चैतन्यमें उनकी उपाधि नहीं है। विशेष धर्म और चैतन्यका क्या सम्बन्ध है इसे हम यथार्थरूपमें नहीं जान सकते—इस कारण यह विश्वासका विषय रह जाता है। इसप्रकार धर्मानुप्रिति चैतन्य अनन्तका यथार्थ उदाहरण है। यह प्रत्ययात्मीन नहीं है, न इसे सान्त धर्मोंका अनन्तसंशक्त पुञ्जभाष्ठ ही कह सकते हैं। अगर वस्तु-तत्त्वकी परिभाषा इसप्रकार मानी जाय कि उसकी सत्ता निरपेक्ष, स्वयमान्त्रित और स्वयंप्रत्ययी है, तो कहना पड़ेगा कि ज्ञान ही उस तरहका तत्त्व है। ज्ञान अनन्त और निर्विशेष है। ज्ञानको प्रादुर्भावका ज्ञान अशक्य है। ज्ञानकी उत्पत्ति सिद्धिका विषय नहीं है। अगर हम ज्ञान-की सत्ता सिद्ध करने चलें, तो कहींपर गाढ़ी जूलर रुक्णी और वहाँ ज्ञानको निर्विशिष्ट और अनन्त माननेके सिवा इमारे पास और कोई चारा नहीं रहेगा। जैसे इसने कहा है कि ज्ञानका विशेष धर्म नहीं है, वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान किसीका धर्म है, न यह किसी कर्ताका ऐसा गुण है जो उससे पृथक् है। यह स्वयं अपना रूप है और इसकी सत्ता सबसे अनूप है।

ज्ञानमें संख्याकृत बहुत्वकी उपाधि भी नहीं मानी जा सकती। एक चैतन्य ज्ञानको दूसरेसे पृथक् ज्ञाननेके लिये विशेष धर्मकी कल्पना करनी पड़ती है। यह सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्ञान विषय नहीं है। लोगोंने अपनी-अपनी समझके मुताबिक ज्ञानको विशेषका विषय बनाकर

। नाना भाँतिके ईशरोंकी कल्पना कर ली है । जब ज्ञानको विशेष मानकर उसको विशेषणोंसे कल्पित किया जाता है तब यही दुरवस्था उपाय छोटी है । अगर ज्ञान या चैतन्य-को ज्ञेय—विषयकी कोटिसे बाहर रखता जाता तो धर्मोंके अनेक भेद और संगम न पैदा होते । ईशर सोचेवालोंके ज्ञानके तदाकार होकर नाना रूपमें कल्पित हो गया है ! यदि इस एक अख्यात सार्वभौम अनन्त निश्चयित्र सत्ताको मानें तो चैतन्य-ज्ञान ही वह सत्ता हो सकती है । वही ईशर है । इस ईशरको जब ज्ञेय-विषय बनाया जायगा और ज्ञाना अपनेसे विशिष्ट शक्तिशाली वाणी-सत्ताकी कल्पना ईशररूपसे करेगा तभी अनेक ईशरोंकी मृष्टि हो जायगी । ज्ञाना-भेदसे ईशरके विभिन्न गुण उनके अनुयायियोंके लिये आपसमें लड़नेका कारण बनेंगे ।

विषयरूपमें ईशरकी पृथक् सत्ता माननेमें दो बढ़ो उलझनें पैदा होती हैं । एक तो यह कि ईशरका जगतसे क्या सम्बन्ध है ? और दूसरी यह कि ईशरका मनुष्यसे क्या सम्बन्ध है ? जैसा कि ऊपर सिद्ध हो चुका है—इन दोनों सम्बन्धोंका कुछ भी निश्चित प्रमाण या रूप हमारे पास नहीं है । दूसरी ओर जब इस स्वयं ज्ञानरूप आत्म-चैतन्यको ईशर कहते हैं तब कोई शर्मेला नहीं उठता । हाँ, शास्त्र यह है कि इस चैतन्यको हमारे प्रमाणोंसे सिद्ध होनेकी ज़रूरत नहीं है । हमने अपना नापनेका गब्ड़ उठाया कि ज्ञानका पैदा हुआ । इसलिये जो कुछ इम कहते हैं उस सबका प्रमाण साझी होनेके कारण स्वयंसिद्ध चैतन्यको ईशर मान लेना चीक है । इस सत्ताका न किसी-से राग है न द्रेष्ट । यह विश्वव्यापी है ।

इसप्रकारके अनन्त चैतन्यका रूप मनुष्य-जैसा नहीं कहा जा सकता । क्या ज़रूरत है कि वह हमारे रोनेधोनेसे प्रसङ्ग हो, उसे किसकी पूजाकी चाह है ? बिन आहे आपकी ऐसी सुशामद कोई किया करे, तो आपको क्या लाभ होगा ? सबाल होता है कि फिर साधना क्यों करनी चाहिये ? क्या धार्मिक जीवन ढोग है ? इसका बाबत यह है कि चैतन्यके स्वयंप्रकाश-स्वरूपका ज्ञान होनेके लिये आवश्यक या रुकावटोंका दूर करना ज़रूरी है । चैतन्यकी स्वाभाविक साध यह है कि वह अनात्म और जड़से कूटकर निक स्वरूपमें स्थित हो । इस स्थितिको प्राप्त करनेवाले आध्यात्मिक साधन उचित और आवश्यक हैं । धर्म, ज्ञान और अध्यात्मका अर्थ यही है कि मनुष्य जह अनात्मधर्मोंसे

इसप्रकार कूट जाय जैसे सर्व अपनी जीर्णत्ववासे । आवश्यकोंके कूटनेका नाम साधनसिद्धि है । स्वतःप्रकाश ज्ञान उपाधियोंसे कूटकर स्वरूपमें प्रकट हो जाता है । अनेक प्रकारके भोगजनित सुखसे इस ज्ञानका आवग्न विलङ्घण है ।

ब्रह्म-जिज्ञासा मनुष्यका स्वाभाविक धर्म है, क्योंकि यह उसका अपने ही रूपको देखनेके समान है । इस मार्गमें जो कुछ सहायक हो सके, अपनानेबोग्य है । जप, तप, तीर्थ, पूजा, दान, धर्म सबका मूल्य यही है कि आत्म-चैतन्यका तेज निखर जाय । इस मार्गमें सबसे अधिक महर्ष गुरुका है क्योंकि गुरु वह है जिसने अपना स्वरूप देख लिया है । उसका अध्यात्म-ज्ञान हमारे लिये दीपकका काम करता है । ईशरको ही गुरु मान लेनेसे मनुष्यकी प्रवृत्ति कुछ तृप्त हो जाती है । इम अनित्य है, हमारा गुरु ईशर हमसे कुछ कम ही अनित्य धर्मवाला होगा । ऐसा ईशर ब्रह्म नहीं है । यह तो योगवालोंका ‘पूर्वोमपि गुरुः’ है । ग्रहसे हमें क्या सहायता मिलेगी ? वह निरेक्ष है, हमारे साथ उसका सम्बन्ध असम्भव है । इसलिये गुरुरूप ईशर जो स्वयं देश-कालसे परिच्छिन्न है हमें ज्योतिके देखनेमें सहायता पहुँचा सकता है । इमें तो अन्धकारकी जगह ज्योति चाहिये । बस, ईशरसे जो धन-धार, पुत्र आदि विभूति भाँगते हैं वे मृद दें । ये चीजें तो हमारी हानि करनेवाली हैं, हमारे आत्मस्वरूपको आङूट करनेवाली हैं, ईशर ऐसा नहीं है जो हमें अज्ञान और तमकी ओर बढ़ावे । पर ज्योति या ज्ञान ही ऐसी चीज है जो आवश्यक है । ज्ञानके गुण-दोष भी बिना ज्ञानके नहीं जाने जा सकते ।

हमारे इस प्रश्नका उत्तर कि ‘क्या ईशर तर्कसे सिद्ध हो सकता है ?’ निश्चयरूपसे यही है कि ईशर तर्कसे सिद्ध नहीं होता । दोनों एक्षण्योंमें दिये जानेवाले प्रमाणोंमें बड़ा दोष यह है कि वे अपनी सीमाको पार करके अनित्य नशर पदार्थोंके अनुभव नित्य अविनाशी तरवर्में लगाना चाहते हैं । हमें इस बातका बहुत सन्तोष है कि, प्रथम करनेपर भी तर्कके द्वारा ईशर सिद्ध नहीं हुआ । जो ईशर तर्कसे सिद्ध हो जाता तो महान् अनर्थ होता और वह ईशर भी किसी कामका नहीं होता । तर्क बुद्धिसे होता है, बुद्धि विषय है, उसमें ज्ञान गया ईशर स्वयं प्रमाण चैतन्य नहीं हो सकता । अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वेश, सर्वान्तर्यामी, सिर्वुक्त चैतन्य तर्क और बुद्धिके मानका नहीं है ।

धनदास

(लेखक—पं० भरामनरेशर्जा त्रिपाठी)

पहला दृश्य

(स्थान—धनदासका घूब सजा हुआ कमरा । समय—चार बजे समझाकाक । धनदास भिन्नोंके साथ जलपान कर रहा है । कुछ दूरपर गवैये बैठे गा रहे हैं ।)

एक अपरिचित पुरुषका प्रवेश; शरीर बहुत बलिहार, पहरेपर शौर्य; नेत्रोंमें विकाश तेज़ ।

धनदास—(मन-ही-मन) यह असम्य कौन आ रहा है ? क्या दरवाजेपर पहरेवाले महीं हैं ? (नीकरसे) देखो, पहरेपर कौन है ?

पुरुष—(नीकरसे) तुम छहरो, पहरेवारकी ओरसे मैं ही धनदासको जबाब दे रहा ।

(नीकर ठहरकर धनदासका मुँह देखने लगता है ।)

धनदास—(क्रोधसे विहङ्ग-सा होकर) तुम कौन हो ? पहलेसे सूचना दिये विना किसीके घरमें इसप्रकार बुस आना शिष्टाचार नहीं है ।

पुरुष—(इटापर्ण स्वरमें) मैं काल हूँ । मेरे लिये कहीं लकायर नहीं । युद्ध कोई रोक नहीं सकता । मैं भनुयों-के शिष्टाचारके बासमें महीं हूँ, इससे तुमको सूचना देनेकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं थी ।

धनदास—(कालका नाम सुनकर गर्वको कुछ कम करते हुए) सूचना देनेकी आवश्यकता आपको न सही, पर आपके आनेका यह कौन-सा समय है ? मैं भिन्नोंके साथ जीवनका सुख अनुभव कर रहा हूँ, इस समय डसमें आप विव्रां ढालने क्यों आये ?

कल—मैं तुमसे पहले ही कह चुका कि मुझपर किसी-का अधिकार नहीं, मैं जाहे जहाँ और जाहे जब आनेमें पूर्ण स्वतन्त्र हूँ । मैं तुमको केने आवश्यक नहीं । चलो ।

धनदास—(भयभीत होकर) मुझको लेने ? भला, कल हो मेरा विवाह हुआ है ! अभी भिन्नोंको मैं विवा भी नहीं कर पाया ! जीवनका सुख क्या है ? यह मैंने आच्छा तरह जाना भी नहीं; कुछ दाम-पुण्य भी नहीं कर सका और अभी आप मुझको लेने आ गये ? आप स्वतन्त्र हैं, और तिजुर भी प्रसिद्ध हैं, पर इतनी शिष्टा ही आपमें

होनी ही आहिये कि किसीके यहाँ आये तो पहलेसे सूचना देकर आये ।

काल—अच्छा, जीवनका सुख भोगनेके लिये मैं तुमको योदा अवसर और देसा हूँ । अब मैं तुमको पाँच सूचनाएँ देकर आऊँगा ।

धनदास—(प्रसन्न होकर) धन्यवाद !

(कालका प्रस्ताव)

धनदास—(भिन्नोंसे) बातोंके फेरमें डालकर मैंने काल-को कैसा उल्लू बनाया ।

मिश्राण—आज आपने कालको जीत लिया । आपके समाज तुदिमान् मनुष्य भू-मण्डलपर कोई नहीं है ।

(डरसबकी समाप्ति)

दूसरा दृश्य

(समय—प्रातःकाल; धनदास अपनी बैठकमें आराम-कुसीपर बैठा है; सामनेकी खिड़की खुली है; इंधर एक अर्यन्त दुर्बल और कंगालके भेषमें खिड़कीके सामने आता है ।)

कंगाल—सेठजीका कल्याण हो । आज तीन उपवास हो गये; मैं रोग और भूखसे पीड़ित हूँ । कुछ लानेको दिका दीजिये ।

धनदास—पहरेपर कौन है ?

पहेंदार—हीं सरकार !

धनदास—तुम वहाँ बैठे रहते हो और लफंगे यहाँतक बढ़े आते हैं ? एक छढ़ी भी आरामसे बैठने नहीं पाता । जाओ, तुम जौकरीसे अलग किये जाते हो । (दूसरे पहरेवारसे) इस भिलमंगोको धड़े देकर बाहर निकाल दो ।

कंगाल—सेठजी ! भगवान् ने आपको धन दिया है, आप गृहीतोंकी न सुनेंगे तो कौन सुनेगा ?

धनदास—भगवान् ने मुझे धन सुख भोगनेके लिये दिया है, आवारोंको बाँटनेके लिये नहीं ।

कंगाल—अच्छा तो, मोरिदे !

घनदास—(क्रोधके आवेशमें) निकाल दो हस टर्साँको ।
(कंगालका प्रश्नान्)

तीसरा दृश्य

(कई वर्ष बाद)

स्थान—गरीबोंका समूह, घनदासकी घोषणाका प्रभाव)

घनदास—मैं फूलोंके पास नाक लेकर जानेका कष्ट नहीं उठाना चाहता, फूलोंकी सुगन्धबको मेरी नाकके पास आज्ञा चाहिये ।

कुछ ग्रीब—हमलोग फूलोंसे तरह-तरहके इत्र बनायेंगे और आपको घर बैठे दे जायेंगे ।

घनदास—आँखोंके लिये रूप चाहिये ।

कुछ ग्रीब—हम आपके लिये चित्र बनाया करेंगे ।

कुछ ग्रीब लियाँ—(वेश्याएँ) हमें देखिये; हम हाजिर हैं ।

घनदास—कामोंके लिये मधुर स्वर चाहिये ।

कुछ ग्रीब—हम गा-बजाकर आपको प्रसन्न करेंगे ।

घनदास—भोगके लिये लियाँ चाहिये ।

कुछ ग्रीब लियाँ—(मनमें) हाय ! हस पेट पापीको भरनेके लिये सब कुछ करना पड़ेगा । (प्रकट) शरीर बेचनेके लिये हम तैयार हैं ।

घनदास—जीभके लिये स्वादिष्ठ भोजन चाहिये ।

कुछ ग्रीब—हम आपके लिये तरह-तरहके व्यञ्जन बनायेंगे ।

घनदास—शरीरके लिये सुन्दर और सुखदायक वस्त्र चाहिये ।

कुछ ग्रीब—हम सूत कालेंगे, कपड़े ढुनेंगे और आपको देंगे ।

घनदास—पैरोंके लिये सवारियाँ चाहिये ।

कुछ ग्रीब—हम घोड़ा-गाड़ी छाँकेंगे और पालकी ढालेंगे ।

घनदास—मरके सुखके लिये शिकार खेलूँगा ।

कुछ ग्रीब—हम आपको जंगली जानवरोंका पता बतायेंगे ।

घनदास—मौजके लिये शाराब चाहिये ।

कुछ ग्रीब—हम ज्ञात बनानेका पेशा करेंगे ।

घनदास—मांस खानेको जी चाहता है ।

कुछ ग्रीब—हम चिंचियाँ मार लायेंगे । हम बकरे हड्डाल करेंगे । हम खरगोश और हिरनको मारकर डमका गोरत आपको लाकर देंगे ।

घनदास—मुझे अपनी प्रशंसा वही प्यारी लगती है ।

कुछ ग्रीब—हमलोग वहे ही मधुर शब्दोंमें प्रशंसा करनेका पेशा करते हैं ।

घनदास—कुछ मरमुक्ले मेरा घन लूटना चाहते हैं ।

कुछ ग्रीब—हम पहरा देंगे ।

घनदास—मैं सिले हुए कपड़े पहनूँगा ।

कुछ ग्रीब—हम कपड़ा सीनेका पेशा करेंगे ।

घनदास—मुझे पैरोंको धूप और टण्डकसे बचानेवाले जूते चाहिये ।

कुछ ग्रीब—हमलोग अमावा कमावेंगे और जूते बनायेंगे ।

घनदास—उन दरिद्रोंको मेरा ऐश्वर्य देखकर जल्द है । उनको मारो ।

कुछ ग्रीब—हम अभी उनकी हड्डी-हड्डो चूर कर देते हैं ।

घनदास—मैं उनको कारागारमें देखना चाहता हूँ ।

कुछ ग्रीब—हमलोग बकाल हैं । आपके मालास-सन्तोषके लिये हम उन्हें न्यायालयमें विधित करायेंगे ।

घनदास—अब मेरी अवस्था पचाससे अधिक हो गयी, मुख भोगते-भोगते शरीर झियिल पढ़ गया, पर कालसा तो प्रबल ही होती आ रही है । शरीरकी कालसाके साथ कोई दौड़ सकता है ?

कुछ ग्रीब—(बैचके रूपमें) हाँ, हम तरह-तरहकी ओषधियोंने आपके शरीरको बना सकते हैं, डससे मरी-नरी लालसाएँ उत्पन्न होने लगती हैं ।

घनदास—आहये, आपका स्वागत है ।

घनदास—जो लोग मेरा बैंधक देखकर ईर्ष्या करते हैं, उनके आन्दोलनसे मुझे बचायें ।

कुछ ग्रीब (पिण्डित और घर्मगुरुके रूपमें) हम कोग आम्य और अहनामकी दबा ग्रीबोंके शरीरमें उड़ी

स्थानके पास इत्यं देंगे, जहाँ दूसरोंका दैभव देखकर विष्णुम्
उत्पन्न होता है। उस दबासे ईश्वारोंका उत्थान होने ही
नहीं पाता।

धनदास—(प्रसव होकर) आपखोर्गोंको सावर प्रजाम
है। आहूषे, उचासमपर बैठिये। आप तो हमारे पूज्य हैं।

धनदास—(मन-ही-मन) सब प्रकारका सुख है। यह
सब मेरे भाग्यमें था।

चौथा दृश्य

[कई वर्ष बाद]

(सबकपर धनदास सम्बन्ध-समय चीरे-चीरे भवण कर
रहा है। एक किनारे एक कोटीके रूपमें ईश्वर उसकी ओर
कालायित होकर देख रहे हैं)

कोटी—हे सेठ ! गरीबोंपर दया करो।

धनदास—सुखमें व्याघ्रात ढाढ़नेवाला यह दृश्य सबकों-
पर क्यों रहने दिया जाता है ? आज ही मैं पुलिसको चिट्ठी
लिखूँगा कि रास्तोंपर कोटी, लूले, लैंगड़े, अपाहिज न रहने
पावें, इनके कारण नागरिकोंके हृदयमें क्लेश उत्पन्न होता है।

कोटी—सेठजी ! दया कीजिये।

धनदास—मुझपर दया करो बाबा। अपना दृश्य विलक्षा-
कर मेरा सुख क्यों फीका करते हो ?

कोटी—मैं कमा नहीं सकता।

धनदास—मैंने गरीबोंसे कुछ पाया नहीं तो उम्हें
क्यों हूँ ?

कोटी—गरीबोंहीसे तो तुम्हें सब सुख मिल रहा है।

धनदास—जुप रहो। बक्से मत। (धनदास चला
आता है।)

पाँचवाँ दृश्य

(धनदास हृद हो गया। उपवनमें सम्बन्ध-समय
बायु-सेवन कर रहा है। कालका प्रवेश।)

काल—कहो मित्र धनदास ! सुखसे हो ?

धनदास—(चकित होकर) कौन ? काल ? तुम अभी
आ गये ?

काल—हाँ, कहो चीवनका सुख भोग किया ?

धनदास—अभी कहाँ ? शरीरका योद्धा सुख भोगा है।

पर परलोकके लिये तो अभी कुछ नहीं किया। दया-
भर्मका तो सुके अवसर ही न मिला।

काल—ईश्वरने तो तुमको कहै अवसर दिये।

धनदास—कहाँ ?

काल—एक ग्रीष्म कहै दिनोंसे भूखा था, तुम्हारे पास
आया, तुमने उसे दुकार दिया। इतना ही नहीं, एक
दूसरे ग्रीष्म पहरेश्वरकी तुमने जीविका भी ले ली।
एक बार एक कोटीने तुमसे सहायता माँगी, तुमने तमाम
तुलियोंके विलूद पुलिसको लिला कि वे आँखेंके आगे न
रहने पावें, सुखमें व्याघ्रात पहुँचता है। एक ग्रीष्मियी
विजया कहै बच्चे लेकर तुग्हारे पास आयी थी, तुमने उसे
ठोकर मारकर लिक्खवा दिया।

धनदास—और मैं क्या उनकी पूजा करता ?

काल—पूजा करते तो ईश्वरके दर्शन भी ही जाते !

धनदास—दाह ! ईश्वर ऐसे ही घृमता फिरता है ?

काल—और क्या ? तुम्हारे उद्धारके लिये ईश्वर ही तो
तरह-तरहके रूप धारण करके तुमको दया-भर्मके लिये
उत्साहित करते हैं।

धनदास—(कुछ चिन्ताकुल होकर) सुके मालूम
नहीं था।

काल—जैरे, अब चलो। मैं तुम्हें लेने आया हूँ।

धनदास—(अस्यन्त विश्वमयके साथ) भला, अभी तो
मैंने कुछ किया ही नहीं। न तीर्थ किया न ब्रह्म; न किसी-
को कुछ दिया न किसीके काम आया। (यकायक कुछ
स्वरण आनेसे कुछ उत्सेजित होकर) हाँ जी, काल ! तुम
निस्तुर तो प्रसिद्ध ही हो, पर भूठे भी हो, यह तो मैं नहीं
आनता था ?

काल—कैसे ?

धनदास—तुमने बादा किया था कि पाँच सूचनाएँ
देकर आँखें। क्या भूल गये ?

काल—(हँस देता है।) फिर विषयको बदलता हुआ-सा)
हाँ, धनदास ! तुम्हारे बाल तो बिल्कुल सफेद हो गये ?

धनदास—(यह सोचकर कि बालकी याद विलाकर
इस बार कालको फिर टाल दिया, प्रसन्न होता हुआ)
हाँ, मित्र ! पचास चर्चकी अवस्थाके बादसे बाल सफेद
होने लगे। अब तो एक भी काला नहीं होगा।

काल—चरणा कबसे कहाने लगे ?

धनदास—बस, बाल सचेद होने थुरु हुए कि आँखें
भी दुँखकी होने लगीं ।

काल—कानसे भी शायद कुछ कम सुनायी पढ़ता है ?

धनदास—भी हाँ, कई बाँहें कुछ ऊँचा सुनता है ।

काल—भक्त, तुझारे मुँहके सब दाँत कहाँ गये ?

धनदास—एक-एक करके सब दाँत गिर गये ।

काल—दीर्घोंका क्या हाल है ?

धनदास—दीर्घे अब शरीरके ओष्ठको कम सँभाल
सकती है । हाँ, मित्र ! तुम हसकी कोई दवा जानते हो ?

काल—जबा लेकर तो जाया ही हूँ । चको, ऐरे लाल ।

धनदास—और पौँच सूचनाएँ ?

काल—तुम भी स्वीकार कर रहे हो कि तुमको
सूचनाएँ मिल सकते हैं । बाल सचेद हुए, आँखें पुँखली
हुई, काल बहरे हुए, दाँत दूटे और टाँगे मिर्चल हुई, यही
पौँच सूचनाएँ हैं । चको ।

धनदास—(चिखियाकर) अभी थोड़े विज हौर इहमै
दो । मैं धन-दौलत किसीको दे तो जाऊँ । हाय, मैं तो
धोखेहीमें रहा । अरे ! बेटा, बेटी, स्त्री, नाती, पोते, दौड़ी-
दौड़ो, मैं जा रहा हूँ ।

(धनदासका शरीर निर्झाव होकर गिर पड़ता है ।)

जिन स्वोज्या तिन पाइया

(लक्ष्म—भक्तवर श्रीयादवनी महाराज)

 सी जानी महामासे एक जिज्ञासु भक्तने
प्रणाम करके पूछा—‘महाराज ! शर्मोंमें
कि परमेश्वरको अगाध, अनन्त और अपरम्पर
बतलाया गया है, वेद भी ‘नेति-नेति’ तुकारकर
रह गये हैं, उनका निश्चिन्त स्वरूप कोई भी नहीं
बतला सका, इसलिये मैं बहुत असम्भवसमें पड़ा हूँ । मेरी
मति बहाँतक पहुँच ही नहीं सकती । कृपा करके मुझे
आप ही समझाइये कि परमेश्वर कैसा है ?’

महामा—तुम जैसा मानोगे, देखा ही ।

भक्त—यह कैसे हो सकता है ?

महामा—इसमें आश्रयको कोई बात नहीं है । सदान्मे
मही होता आया है और यही अब भी होता है । बस्तुतः
परमेश्वरको कोई नाम, रूप या गुण नहीं है तथापि अनन्तः-
करणके सबै प्रेमसे भक्त भगवान्को जिस नामसे तुकाराता
है, वह उसी नामसे उत्तर देता है, जिस रूपकी उपासना
करता है उसी रूपमें वह दर्शन देता है; जिन गुणोंवाला
समझकर दृढ़ता है, उन्हीं गुणोंवाला होकर वह मिल
जाता है ।

मरसी मेहताने श्रीकृष्ण-रूपसे आराधना की तो उसको
भगवान्ने श्रीकृष्ण-रूपसे दर्शन दिये, गोस्तानी तुदतीदास-

ने कहा—नहीं, मैं श्रीकृष्णको प्रणाम नहीं करूँगा, मैं तो
श्रीरामको ही भजूँगा तो उसको श्रीराम-रूपके दर्शन हुए ।
कोई देवी-भक्त कहेगा कि मैं तो एक जगजननी माताके
मिथा और किसीको नहीं मानूँगा तो प्रभु उसको देवी-रूपसे
दर्शन देगा और वहि कोई अम्य धर्मी भक्तुल्ल उसको किसी
दूसरे ही रूप, दूसरे ही गुण और दूसरे ही नामसे भजता
होगा तो उसको भी भगवान् उसकी अपनी भारत्याके
अनुसार ही मिल जायगा ।

श्रीकृष्णसे श्रीराम बन जाना, श्रीराममें देवी हो
जाना या देवीसे और कोई अम्य देवता बन जाना, इसमें
परमेश्वरके लिये कुछ भी अम नहीं है ।

जीव मर्यादित शक्तिवाला अलपञ्च है, परन्तु प्रभु तो
सब कुछ कर सकता है, वह सर्वशक्तिमान् और सर्वसमर्थ
है तब फिर प्रभुने भक्तकी भावनाके अनुसार उसके सामने
प्रकट हो और उसकी हरका पूर्ण करे, इसमें कौन-सी
अनहोनी बात है ? तुम्हारी, तुझारे शास्त्रोंकी, या तुम्हारे
गुरुकी परमेश्वरके सम्बन्धमें जैसी धारणा है, वैसी इस
दुनियाके सब धर्मोंकी नहीं है इससे क्या परमेश्वर उन्हें
छोड़ देगा ? कहापि नहीं ।

यदि प्रभुमें उनका सबा प्रेम होगा तो वे बाहे किसी
भी नाम या स्वप्नसे भगवान्नकी उपासना करते हीं, उनकी
जाकनाके अनुसार प्रभुसे उनका मिलन होगा ही ।

अतएव शास्त्रोंमें जिसकी अनन्त, अगाध और अपार वत्तावा राया है, उसका वार हृदये कोई आवश्यकता नहीं। तुम भी अचर्ची समझ, जबते सामान्यिकाकी रीति और अपने गुलके दपदेशादुसार हृदयके सबे प्रेमसे भगवान् को भजो। तुनहारी सेवा भी प्रभु स्वीकार कर देंगे।

मर्क-महाशाज ! आपने मुझे अपनी धारवाके अनुसार भजनेको कहा सो तो ठीक है परन्तु मैं यह जानता चाहता हूँ कि आपने इतने समयतक साधन करके क्या विर्जय किया है ? प्रभुके विषयमें आपको क्या धारणा है ? यदि आप मुझे इस गुण वातके सुननेका अधिकारी समझते हों, तो कृपया कहिये।

महात्मा-वह कैसा है, कैसा नहीं, इस वातकी जांच करनेकी आपत्तमें पड़ना मुझे आवश्यक नहीं दीख पड़ा। मैंने तो आंखें मूँदकर अपनी ओबनदोरी उसके हाथोंमें पकड़ दी है और मुझे विज्ञास है कि वह जैसा कुछ होगा, अपने आप ही मुझसे आ भिड़ेगा। उर्ध्व-उर्ध्व उसका भजन अधिक होगा ४०-ही-४० मुझे अधिकाधिक आनन्द, नित नया-नया आनन्द, बाद जगतकी इरकतोंसे भल न होनेवाली अर्द्ध शान्ति और अखण्ड सुखकी प्राप्ति होती जाती है। इसकिये मैं समझता हूँ वह आनन्दरूपसे तो मुझे मिल गया है। अवियांने उसे सविदानन्द कहा है, इससे मालूम होता है उनको वह उसी रूपमें मिला होगा।

मर्क-आप जिस आनन्द-सुधाका स्वाद ले रहे हैं उसमें से थोड़ी-सी कृपा-प्रसादी इस सेवकको मिल जाय, मैं आपका ऐसा अनुग्रह चाहता हूँ।

महात्मा-भोजन मैं कहूँ और पेट हुम्हारा भर जाय, कहीं ऐसा भी हुआ है ? मिथ्ये मैं जाऊँ और उसका स्वाद तुमको आवे, यह कैसे हो सकता है ? परमेश्वरके सम्बन्धमें हमलोग जो बातें कर रहे हैं, यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जो उठाकर तुम्हें दे दूँ। परिश्रम दूसरा करे और फक्त तुम्हारोंको मिल जाय, ऐसा कदाचित् संसारमें हो सकता है परन्तु भजन दूसरा करे और उसका आनन्द तुम्हें मिले, प्रभुके मार्गमें ऐसा कभी नहीं हो सकता।

मर्क-आपने मुझे कोई गुप्त भेद नहीं बतावा और किंतु आप हर एक प्रश्नमें सारा भार मुझपर ही ढाक रहे हैं। परन्तु मुझे तो कहीं भी परमेश्वर नहीं दीक्षाता, किंतु

बताए, मैं कहाँ हूँ ? उसको कहाँ पाऊँ ? और वह क्या तुम्हारों मिलेगा ?

महात्मा-वह तुम्हारे हृदयमें सबा प्रेम आगृत होगा, तब वह मिलेगा। किंतु तुम उसे क्या कहोगे ? वही तुम्हें लोबता तुम्हा आवेगा। भक्तिमार्गका सबसे महान् दिव्यान्त प्रेम है। प्रेमीसे वह प्रभु कभी क्षिप्रता नहीं और प्रेमहीनकी कभी धीरता नहीं। तुम उसको नहीं देखते, परन्तु वह तुम्हें देख रहा है। तुम उसको नहीं जानते, परन्तु वह तुम्हें जानता है। पुकारकर देखो वही पता छग आयगा।

परमेश्वरने अपना गुप्त भेद न तो किसीसे कुछ कियाया है और न किसीको दे ही डाला है। उसका मार्ग तो सीधा, सरल और सदैके लिये सदा ही सुला पड़ा है।

जागो, आकृष्ण छोड़कर लड़े होओ, चलना शुरू कर दी, तुम्हारी विजय होगी। माँगोगे तो मिलेगा, दूँहोगे तो प्राप्त होगा, बुकाघोगे तो वह आवेगा, नाम छेदर पुकारेगे तो जवाब मिलेगा।

मूल तुम्हारी ही है, उसकी नहीं। वहा हाथ ढूँचा करे तो पिता उसे गोदमें उठाकर साथ ले जानेके लिये हमेशा ही तैयार है। श्रद्धालुकी इष्ट ठेठ ब्रह्मलोक-तक पहुँचती है और अश्रद्धालुकी नजर अपने हृदयतक भी नहीं पहुँचती, वही आश्रय है।

मर्क-अब शेषकी बात बताइये, क्या मैं उसको अपने अन्दर ही सोजूँ ?

महात्मा-अन्दर देखोगे सो अन्दर भी दिलायी देगा। बहुतेरे साधकोंने उसे सहज ही प्राप्त करनेके लिये यही किया था। याद रक्खो परमेश्वर बातोंका विषय नहीं है, कि को बहुत बहनेसे, कम्बे प्रबचनोंसे अध्या बहुत सुननेसे मिल जाय। उसको प्राप्त करनेके लिये तो तुम्हें स्वयं कुछ करना पड़ेगा। जैसे आप मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता, वैसे ही दूसरेके परिश्रमसे तुम्हारों परमेश्वरकी प्राप्ति होना सर्वथा असम्भव है। जिह्वाने लोजा है उन्होंने दाढ़ा है, तुम जोड़ो हुम्हें भी अवश्य मिलेगा।

रमता जोगी आया सोजो, रमता जोगी आया ॥

सदृश-तटपर बौद्धा आसन, ऊपर तख्तर छाया ॥

काढ़ी माटीकी मटकीमें, अमृत रस भर लाया ॥ नगरमें न दर दरावें दश कर लीन्हे, दशावेपर चढ़ आया ॥

शिष्य मछल्दर गोरख बैले जिन जोड़या तिन पाया ॥ नगरमें ॥

बातें बनाना छोड़ दो, चाद-विवादको हटा दो, तर्क-वितर्कका त्याग करो, बुद्धिके विज्ञासको दूर करो और अद्भुत—अन्तःकरणके सर्वभावके विज्ञास रखकर प्रेम-पूर्वक प्रभुका अवल करो, तुम उस परमदयातु, कृपाके महासागर प्रभुकी प्रीतिको आवश्य प्राप्त कर सकोगे।

योगी गोरखनाथ कह रहे हैं कि उसके लिये दूर जानेकी जरूरत नहीं है। इन्द्रियोंको बशर्मै करके रट्टन लगाओ, तुम्हरे अस्तरमें भाभिकमक्षमै ही तुम्हें प्रभु विलासी होगा। इस चण्डभज्जुर देहमें ही इसी योगकालमें तुम उस ब्रह्मानन्द-सुखको प्राप्त कर सकोगे।

ईश्वरकी ध्रुव सत्ता

(लेखक—प० श्रीगणेशदत्तजी शास्त्री, विद्यानिधि)

ईष्टदीवदन धीतिविद्या तातमातृमुदयाविवर्धयन् । क्षेपणाम् भवतन्मकर्मणा कोपि गोपतनयो नमस्यते ॥



धरके अस्तित्व-विषयमें सृष्टिके आत्मभ-
कालसे लेकर आजतक जितने अन्वेषया
हो जुके हैं उन्हें दो विभागोंमें बाँटा
जा सकता है, एक प्रमाणवाद और
दूसरा तर्कवाद। इन दोनों वादोंमें भी
अन्तरंगस्वप्नसे अनेक भेद रहते हैं,
किन्तु मुख्य सिद्धान्तमें दोनों पक्ष
अपने-अपने पक्षमें एकमत हो जाते
हैं। इस तरह एक पक्ष 'आस्तिक' और दूसरा 'नास्तिक'
नामसे अभिहित किया जाता है। आस्तिकवर्ग प्रथयक्ष,
अनुमान और शब्द (आस-वाक्य) द्वारा प्रसेयकी निर्दिष्ट
स्त्रीकार करते हैं और उनके मतमें श्रुति, स्मृति, पुराण,
दर्शनादि आस-वाक्योंद्वारा प्रमित परमात्मा सर्वज्ञ, सर्व-
सत्तिमान्, अनादिनिधन और अनन्त, अचिन्त्य,
स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रियाओंका भवद्वार स्त्रीकार
किया गया है।

आस्तिक या अनीश्वरवादी के बीच प्रथय प्रमाणको ही
स्त्रीकार करते हैं। उनके मतमें शाकीप्राप्ता प्रमाणीभूत न
होकर केवल युक्ति और तर्कद्वारा जो वस्तु सिद्ध हो सकती
है, वे उसे ही स्त्रीकार करते हैं। उनका मत है—

युक्त्यापुरुं वास्यं बालेनपि प्र भर्षितं ग्राहाम् ।
त्याज्यं युक्तिविद्याने श्रौते वास्यत्स्मार्कवास्यात् ॥

अर्थात् युक्तिरहित वाक्य आहे श्रुति या स्मृति किसी-
का भी हो, आहे नहीं किया जा सकता और युक्तियुक्त
वाक्य आहे वाक्फद्वारा भी कहा गया हो, वह सर्वथा
ग्रहणयोग्य होता है। यथापि आस्तिक लोग भी तर्क और
युक्तिसे प्रत्येक पदार्थका सूक्ष्म विवेचन किया जाना स्त्रीकार
कहते हैं, उनका मत है कि—

'यस्तक्षेणानुसंबद्धते स घर्म वेद नेतरः ।

किन्तु एक इतना ही है कि अचिन्त्य, अडौकिक एवं
इन्द्रियातीत पदार्थोंकी सिद्धिको वे कैवल बौद्धिक तर्क-
द्वारा न मानकर शाकानुभवित तर्कद्वारा सिद्ध होना
स्त्रीकार करते हैं, पर मास्तिक लोग कैवल बौद्धिक तर्कसे ही
प्रत्येक पदार्थका सिद्ध होना मानते हैं। उदाहरणार्थ
हिरण्यकशिष्योंको लीजिये। इसमें जन्मसे भरणपर्यन्त ईश्वर-
का अस्तित्व स्त्रीकार नहीं किया और दूसरी तरफ इसके
विपरीत प्रह्लादने गर्भमें ही ईश्वरकी सर्वव्यापकतापर
पूर्ण विज्ञास किया। इसी प्रकार वीर महाबीर इन्द्रुमानजीको
लीजिये, उनका कथन है—

'पत्रे पत्रे च पदयामि रामं चारु जटावरम् ।'

'जले विष्णुः रथते विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके ।'

ज्यालमाताकुले विष्णुः सर्वे विष्णुमयं जगत् ॥'

क्यायतप और दिम-रातके समान परम्य-विद्योंसे ऐसे
दोनों ही पक्ष संसारमें अनाविकाळमें लेकर आजतक रेल-
की दो पटरियोंके तुल्य समानान्तररूपमें अनविद्युत चले
जा रहे हैं और व्यूनाधिकत्वरूपमें प्रछयतक बराबर रहें।

किसी भी पदार्थका यथार्थ ज्ञान प्रस्तुवादि प्रमाणत्रय-
द्वारा ही हुआ करता है। प्रथय, अनुमान और आस-
वाक्यको ही प्रमाणत्रयके नामसे आस्तिकवर्गने स्त्रीकार कर,
इनके द्वारा प्रमित ईश्वरको भूत-सत्य स्त्रीकार किया है।
किन्तु अनीश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर एक कल्पनाके
सिवा कोई वास्तविक बस्तु नहीं है। यदि वह बस्तुतः
कोई पदार्थ होता तो इम अपनी इन्द्रियोंद्वारा घट-पटादि
पदार्थोंके तुल्य उसका भी अवश्य प्रस्तुव कर लेते। वह
वह किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है तो ऐसे अवस्थुरूप
ईश्वरको स्त्रीकार करना केवल ज्ञम ही कहा जा सकत

है। ऐसा नहीं तो उसकी सत्तामें प्रमाण ही क्या है? इस प्रकारे उत्तरमें कहा जा सकता है कि प्रत्येक जीवको अपने-पाप के आरम्भकी उपलब्धि ही ईश्वरके अस्तित्वमें सबसे बड़ा अकाल्य प्रमाण है—

सद्योऽग्निस्त्रियोऽस्त्रियं प्रत्येति, न नामस्तीति—यदि हि नामस्तित्वप्रिद्विः स्यात् सद्योऽपि लोकः नामस्तीति प्रतीयात्

अर्थात् सम्पूर्व जीव अपने आत्माका अस्तित्व प्रतिक्षण अनुभव किया करते हैं—‘मैं हूँ’ यह ज्ञान सभीको सदा रहता है, ‘मैं नहीं हूँ’ ऐसा ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। यदि आत्माका अस्तित्व भ्रुवरूपसे सत्य न होता तो ‘मैं नहीं हूँ’ ऐसा ही ज्ञान प्रत्येक जीवात्माको होना चाहिये था, किन्तु तीके उपलब्धि के विपरीत ‘मैं हूँ’ यह ज्ञान होना ही आत्माके अस्तित्वका सबसे बड़ा स्वर्वसिद्ध प्रमाण है।

यथापि आत्मा इन्द्रियातीत और मन-बुद्धिके परेकी वस्तु है, इसलिये इन्द्रियों और मन-बुद्धिका उपलब्धि करके किसी भी प्रकारसे नहीं किया जा सकता और प्रत्यक्ष न होनेपर भी प्रत्येक अन्तःकरणमें उसकी सत्ताकी उपलब्धि अत्यधिकरूपसे विद्यमान पायी जाती है। यह सत्ता बाह्य, पौरुष, जरा आदि अवश्यकोंके परिवर्तन होनेपर भी सदा एकरस एवं अजर, अमर, अनादि, अनन्तरूपसे विद्यमान रहती है; यही कारण है कि वह अपनी सिद्धिके लिये प्रत्यक्षादिं प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता—वह स्वयंप्रकाश एवं स्वयंज्योति होनेसे सबका विद्यमान स्वयं ही है, उमे अन्य प्रमाणोंसे नहीं जाना जा सकता, इसीलिये भुति पुकारकर कहती है—

‘विज्ञातारमरे केन विजानीयम्।

‘स्वयंज्योतिर्यं पुरुषः।’

उन विवरणहारा यह स्पष्ट हो गया कि आत्मा स्वयं-सिद्ध पदार्थ है, यह यथापि इन्द्रियातीत है तथापि इसकी भ्रुव उपलब्धि सर्वत्र विद्यमान है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंका विषय न होनेपर भी वह संसारके सभी पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक सत्य है और उसकी सत्यतासे ही संसारकी सत्यताका भान होता है। ‘मैं हूँ’ यदि यह प्रतीति नहीं हो जाय तो ‘संसार है’ इसका भी ज्ञान नहीं हो सकता। अतः संसारकी सत्यताका बोध करनेवाला एक बेतन भास्मा ही है, यथापि यह परिभिज्ञ है तथापि अपरिभिज्ञ और संवर्द्धार्थी आत्माका अंश होनेके कारण,

अपने अंशशीर्षभावसे अपनी सिद्धिद्वारा परमात्म-सिद्धिका साक्षात् परिचायक है।

उन आत्मसिद्धि ही परमात्म-सिद्धिमें साक्षात् प्रमाण है, क्योंकि—

‘अपमात्मा ब्रह्म’

‘ममैवाशी जीवलोके जीवभूतः सनातनः।’

इत्यादि श्रौत, सार्व-जात्योऽद्वारा जीवात्माको परमात्मा-का अंश बताया गया है, अंशरूप आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव ही अंशीरूप अपरिच्छिङ्ग सर्वव्यापक परमात्मा-के अस्तित्वका बोधक है, क्योंकि व्यष्टिके द्वारा समझिका ज्ञान होना स्वाभाविक है। इससे सिद्ध हुआ कि अंशीरूप परमात्माका अस्तित्व केवल कोरी कष्टना ही नहीं प्रत्युत वह त्रिकालावाद्य भ्रुव सत्य पदार्थ है।

यदि प्रत्यक्ष प्रमाण ही सब पदार्थोंका निर्णयक माना जावे तो ईश्वर तो दूरकी वस्तु है, संसारहीके अनेक पदार्थ ऐसे मौजूद हैं कि जिनकी सिद्धि होना सर्वथा असम्भव है—जैसे ज्ञान, इच्छा, द्वेष, मुख, दुःख, मन, बुद्धि, दिशा, काल, परमाणु, गुरुत्व आदि ऐसे पदार्थ हैं कि जिनका प्रत्यक्ष इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता, पर उनके अस्तित्वमें किसीको भी सन्देह नहीं होता, क्योंकि उनका अनुभव प्रत्येक जीवको होता है।

इसी प्रकार जिन इन्द्रियोंद्वारा हम अन्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष करते हैं—स्वतः उन इन्द्रियोंका अग्न्य-परिमाणमें होनेके कारण आजतक किसीको प्रत्यक्ष नहीं हुआ, तब क्या इन्द्रियों भी नहीं हैं ऐसा मान लेना चाहिये? वास्तवमें प्रत्यक्ष प्रमाण ही इतना पंगु एवं अल्प-शक्ति-वाला प्रमाण है कि यदि इस इसीके भरोसेपर पदार्थोंकी सत्ताका निर्णय करना चाहे, तो हमें अपने श्वरूप और अपनी इन्द्रियोंसे भी हाथ धो बैठना होगा। यही कारण है कि त्रिकालदर्शी महर्षियोंने केवल परिभित गतिमत् प्रत्यक्षपर अवबोधित न होकर प्रत्यक्ष-स्वरूप योग्य अनुमान और आह-वाक्यको प्रमाण-स्वरूप स्तीकार किया है। जिस स्थानपर प्रत्यक्ष प्रमाणकी गति पंगु हो जाती है वहाँ अनुमतिद्वारा पदार्थका निर्णय और कार्य-कारण-भावकी भी मांसा की जाती है। प्रायः अदृश और अक्षीकिक पदार्थोंमें जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वतोमावेदन

कुरित हो जाता है, वहाँ अनुमानद्वारा पदार्थका निर्णय करना आवश्यक हो जाता है।

पर्वतवर घटको देखकर अहम वहिका अनुमान स्थापित्रहके बजसे किया जाता है। इसी प्रकार कार्यकारण-सम्बन्धद्वारा घटको देखकर कुलालका, पटको देखकर तनुषायका, मरको देखकर शिल्पकारका अनुमान किया जाता है। क्योंकि—

यत्र यत्र कार्यतं तत्र तत्र सर्वृक्तवत् ।

वहाँ कहीं भी कार्य देखा जावे, वहाँ उसके कर्ताका अनुमान अवश्य ही करना पड़ता है। कर्ताके बिना कोई भी कार्य नहीं बन सकता। जिसप्रकार घट-पट आदिको देखकर उनके कर्ता कुलालद्विका ज्ञान युक्तिमुख और स्वाभाविक है, ठीक उसी प्रकार अनन्त आश्रयोंका अण्डारभूत यह महान् विषय भी एक कार्य है, तब इसके अनुरूप कर्ताका भी अनुमान करना ही होगा।

‘किम्पुरादिकं कर्तृतन्यं कार्यत्वत् घटत् ।’

संसारके शृंखियों और अंकुरादि पदार्थ कार्य होनेमें किसी कर्ताकी कृति है, ऐसा स्वाकार करके इसके कर्ताका अस्तित्व अगत्या स्वीकार करना ही पड़ेगा। यदि जगत्-सर्व कार्य केवल कल्पना न होकर भावरूपमें विद्यमान है तो इसका कर्ता भी काल्पनिक नहीं प्रस्तुत भ्रुव स्वय है।

जगत्के अन्तरंग कार्य असंख्य हैं, इन कार्योंके कार्य भी असंख्य ही होंगे। प्रत्येक कार्यकी योग्यता उसके कर्तामें छान, बल, शक्ति और योग्यताका परिचायक होता है। घटरूप निर्माण-कौशल और कार्यक्षमता देखनेमें कुम्भकरूप कर्ताकी साधारण शक्ति और सामान्य बुद्धिका कर्तृत्व भी समझमें आ जाता है। इसी दृष्टिमें जगत्-सम्बन्धीय कार्बका विचार किया जावे तो इसके प्रत्येक स्थानमें अवधार भगवान् भवा नज़र आता है। जिसप्रकार अप्यसुष्टिमें हम अनेक प्रकारकी विचित्रताओं-को देखकर जकित हो जाते हैं उसी प्रकार यदि कारण-स्थिती और व्याप्ति वे तो हमारे आश्रयकी सीमा ही नहीं रहती। सूर्य, चन्द्र, प्रह, गङ्गा, मेष, विशु, नद, नदी, शुचिती, पर्वत, अग्नि, वायु, जल, समुद्र और अष्टज्ञ, उक्तिज, स्वेद, जराकुब आदि अनन्त अष्ट-ज्ञान पदार्थों और उनके आकार-प्रकार-स्वभावोंकी विचित्रताएँ देखकर उनके भगवन् शक्तिमात्री कर्ताका अनुमान अवश्यक करना पड़ता है।

क्योंकि अह प्रकृति या अखंक परिचित जीव हस महार् रात्रिका कर्ता नहीं हो सकता, तब एक सविदानगत्वान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्माको छोड़कर और कौन है जो संसारकी रचनामें समर्थ ही सके ?

(रचना-चातुरी)

जब हम ज्ञान-सी भी विवेक-बुद्धिको काममें लाते हैं तो आदि-स्थितिकालमें पृथिव्यादि पौँछों सूखतत्व एवं पश्चिमानेन्द्रिय, पश्चकमेन्द्रिय, पश्चन्तन्मात्राएँ भग, बुद्धि, विष, अहङ्कार, प्राणापानादि सूखम् एवं आश्रयमय शक्तियोंसे परिपूर्ण अवयवों और हमके यथास्थान विनियोग-के लिये अनन्त प्रकारकी देहोंका निर्माण देखकर उस परमात्माकी अनन्त बुद्धि और अनन्त शक्तिका पता लगता है। दूर न जाकर जदि हम सबसे दूर अपनी शारीर-रचनापर ही विचार करें तो पता लगता है कि सामान्य रज-बीर्यके संबोधनसे उसमें हस शरीरको पैश किया है। नलसे लेकर विशारापर्यन्त इस शरीरमें वहाँ जिस बन्धुकी आवश्यकता थी, उसे उसी स्वामपर कितमी कारीगरीसे सजाया है औ देखते ही बनता है। जैसे चक्रवेदों पैर, आदान-प्रदानके लिये हाथ, बीछेमेंके लिये जिहा, भुजनेके लिये कान, देखनेके लिये नेत्र आदि जहाँका निर्माण जहाँ जैसा अपेक्षित था, देखकर पिछ उस की शोभाके लिये सौम्यर्यका भी समावेश किया गया है। जैसे नेत्रोंकी समता, अघोरोंकी लकाई, बालोंकी स्थाई, अङ्गोंकी बुद्धिलाई, पलङ्गोंकी शिलगिर्दी प्राप्त, नासिकाकी तिकाई, कठोरोंकी गोङ्काई, जायेकी उँचाई, छातीकी चाँचाई आदि सुन्दरताएँ स्वल्प-स्वल्पर ऐसी रक्खी हैं जिनके बर्णनमें कवियाँने अनेक काम्य रचकर पार नहीं पाया। यह अंगविन्यासकी सुन्दरता केवल मनुष्योंमें है यह बात नहीं, प्रस्तुत मच्छरसे लेकर हाथीपर्यन्तके जीवोंको जो-जो भङ्ग वहाँ-जहाँपर अपेक्षित है, वहाँ-बहाँ उभे हस सुन्दरतासे सगाया है कि बुद्धि आश्रयकित होती है। इसी प्रकार हृष्टादि वह पदार्थोंका अव विचार करते हैं तो वन-बपवनी और पर्वतों-में वित्र-वित्रिन तुष्ट-पत्र और रंग-विरंगे कीट-पतङ्गोंकी सुन्दरताको देखकर प्रत्येक प्राणी सुख ही जाता है। अनेक रंगोंके फल-फूल और कीट-पतङ्ग, चमु-चमु आदिकी देखनेमें उनकी सुन्दर, सुहृद विद्युत जारीरिक रचनाएँ काम्यवसागरमें ढाल देती हैं। चीटी और मच्छर आदिके कर्तीरोंकी सूखम् विद्युतें और उनके आहार-विहारके

साथम, इसी प्रकार जड़ीय जीवों और कीटाणुओंकी सूक्ष्मता, हाथी आदि पशुओंके शरीरकी सूक्ष्मता, सिहादि हिंसक जीवोंके मख-दन्त आदि हिसायोग्य साधनोंकी रचना और अहिंसक पशुओंके नख-दन्तादिकी विभिन्न रचना और उनके देहनिद्रय-प्राणादिका यथायोग्य विभ्यास जो कि आकांक्षा और अपेक्षासे युक्त देखा जाता है, कर्ता-के कुटिमस्तापूर्ण रचना-कौशलका घोटक है। इस रचना-की बारीकी समझना भी जब जीवके लिये कठिन है तो निर्माणकी से बात ही क्या कही जा सकती है? यथापि आजकल विज्ञानवेत्ता अपने निष्ठा-भिन्न आविकारोंके लिये जगत्‌में प्रसिद्ध हो रहे हैं, पर वे सद-के-सद मिलकर भी एक बाल भी बनानेमें असमर्थ हैं। और जड़-प्रकृतिमें प्रतिविन सूर्य-चन्द्रका नियमित समयपर उदयात्, ग्रहोंकी गति, ऋतुओंका परिवर्तन, नदियोंका प्रवाह, जीजोंसे यथासमय, यथास्थान अंकुरोंका प्रसर, फल-फूलोंका समयपर आना आदि नियमित एवं सुव्यवस्थित कार्यप्रणाली अपने महान् शक्तिशाली सर्वज्ञ परमात्माकी रचना-चानुरीके निरुद्धरक हैं।

किन्तु ही स्वभावकारणवादी सृष्टिकी उत्पत्ति के बहु-स्वभावसे ही मानते हैं, उनका कथन है कि वेर और बद्ध-के कॉटोंकी तीक्ष्णता कोई नहीं बनाता, वह स्वभावसे ही बनती है। गोवर्में उद्यातामें उत्पन्न होकर मस्ती, चिढ़ू आदि कीट अपने आप पैदा हो जाते हैं; जूँ, चीरू, खटमलादि जन्म प्रस्तेदसे स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं, तब एक अहृष्ट और अज्ञात कर्ताकी कल्पना करना व्यवहृत है।

किन्तु यह पहल अर्थमें निर्देश है, क्योंकि स्वभाव शब्दका अर्थ वदि (स्वस्य भावः स्वभावः) अपने आप अपना भाव होना माना जाते तो उसे आप ही अपना हेतु बनना होगा, ऐसा होनेमें आरामाश्रय-दोष आता है और इसका कोई दृष्टान्त भी नहीं भिलता। योकि देरके लिये यदि हम ऐसा भी मान लें तो भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिस पदार्थकी उत्पत्तिके लिये जिस देश, जिस काल और जिस निमित्तकी अपेक्षा रहती है, यदि वह प्राप्त न हो तो केवल स्वभावसे पदार्थकी उत्पत्ति होना असम्भव है। जैसे केसरके जीजोंका कारमीरमें ही स्वयं पैदा होना, कृष्णसार और कल्परीमूर्गोंका सर्वत्र पैदा न होना, कोकिलका स्वर वसन्तमें ही प्रस्फुटित होना, बलाका पश्चीका नदीन मेषभवि सुनकर

ही गर्भ भारण करना आदि कार्य अपनेअपने देश, काळ और निमित्तादिकोंकी अपेक्षा रहते हैं। यदि स्वभावसे ही इनका होना सत्य होता तो देशादि निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं होनी चाहिये थी। इसी प्रकार निमित्तका घडा, झूँझका कपडा, सुवर्णका कंकण, पीतलकी कटोरी, काठकी कुर्सी आदि अपने आप स्वभावसे ही बिना किसी कर्ताके बनते रहने चाहिये। पर ऐसा नहीं होता। अकादा इसके बदि आरम्भके परमाणुओंमें सृष्टि-रचनाका स्वभाव मानें तो प्रलय सिद्ध नहीं होती, यदि प्रलय स्वभाव माना जावे तो स्थिति सिद्ध नहीं होती। एक ही वन्मुमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय ये विभिन्न विरोधी गुण रह नहीं सकते। इसी प्रकार संसारी प्राणियोंमें कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई पहले सुखी फिर दुःखी, कोई पहले दुःखी और किर सुखी और अन्तमें दुःखी होते देखे जाते हैं, क्या ये सब परिवर्तन अकस्मात् बिना किसी चेतनकी प्रेरणाके स्वयं बढ़ते हैं? ऐसा नहीं माना जा सकता। इन क्रियाओं-का परिवर्तक वा नियामक जड़-परमाणुओंसे भिन्न एक चेतन नियमता अवश्य स्वीकार करना होगा। और वह केवल एक ईश्वर ही हो सकता है, अन्य नहीं।

इसी प्रकार परमाणुकारणादियोंका यह कहना, कि पृथिव्यादि भूतचतुष्टयके परमाणुओंके पारस्परिक संयोगसे ही संसारका निर्माण हो जाता है, किसी कर्ताकी आवश्यकता नहीं, विचार-तुलापर आरोहण नहीं करता। क्योंकि सृष्टिके आरम्भकालमें परमाणुओंके अन्दर जो क्रिया उत्पन्न होकर रचनाका आरम्भ होना चाहिये, वह चेतन-शक्तिकी प्रेरणाके बावर नहीं हो सकती। वो परमाणुओंके मिलनेमें दृष्ट्युक, तीन परमाणुओंके मिलनेमें त्रिसंरेणु बनते हैं। परमाणुओं-का स्वयमेव नियमवद् संयोग बिना चेतनकी प्रेरणाके द्वित्व-त्रित्वादि संस्थामें परिणत नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टिके आदिकालमें जड़-परमाणुओंमें क्रिया उत्पन्न करना और उसके द्वारा जगत्‌का निर्माण करना चेतनरूप परमात्माकी ही हृष्टाने होता है। इसी बातको इष्टिमें रखकर श्रुति कहती है—

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यमिसंविश्विति तद् विज्ञासस्त तद्बन्धेति।’

अर्थात्—इस धराचररूप संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, लय परमात्माकी द्वारा होता है—

अह सर्वस्य प्रभवो मतः सर्वं प्रवर्तते।

—इस्यादि सृष्टियोंसे भी सिद्ध है कि परमात्मा ही इस जगतके अन्म, स्थिति, लयका परमकारण है ।

पूर्व-स्तम्भमें कार्यहारा कारणके अनुभानसे परमात्माकी सिद्धि एवं उसका भ्रुव सत्यत्व सिद्ध किया आ चुका है । आगे अन्य हेतुओंहारा भी परमात्माके अस्तित्वका दिग्दर्शन कराना असुवित न होगा ।

किसी भी कार्यके लिये कारण-सामग्रीकी अपेक्षा होना स्वाभाविक है और कारण-सामग्रीमें अविष्टान, कर्ता, करण, आयोजन और दैव इन पाँच पदार्थोंकी आवश्यकता रहती है । घटरूप कार्यके लिये पृथ्वी अविष्टान, मृत्तिका उपादान, कुङ्काळ कर्ता, एवं विद्या करण, पिण्डीकरण एवं पृथ्वी-उपरोक्तदिव्य आकृतिका अनुसन्धानरूप आयोजन अपेक्षित होता है । सब सामग्री जुटनेपर जबतक कर्तारूप कुम्भकार आयोजन नहीं करता, तबतक दृष्ट-चक्र-मृत्तिका आदिके रहते हुए भी घटरूप कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती । मृत्तिका पिण्डीकरण चक्रका संबोधन आकार-निर्माणकी आयोजनाके लिये विशेष प्रकारकी चेष्टा करता है, तभी घटरूप कार्यका निर्माण होता है । इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टिके आदिकालमें द्विष्टुके आरम्भक परमाणुद्यक्त का संयोग पैदा करनेवाला कर्म चेतनाहुके प्रयत्नपूर्वक उत्पत्त होता है और वह चेतन परमात्मा ही संयोजक तथा आयोजक है ऐसा स्वीकार करना ही पड़ेगा । इसीलिये भ्रुति निर्देश करती है कि—

सर्वर्गायात् ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

यायतिष्ठतोऽर्थान् द्यद्वाष्टुक्षवतीम्यः समाध्यः ॥

(यजु० ४० । ८ म० ३५ म० ८)

अर्थात् उस स्वयम्भू परमात्माने ही सूर्य-चन्द्रका त्रिव्याहरका यथायोग्यरूपसे वहाँ विस्त्रकारकी चेष्टा या आयोजनकी अपेक्षा थी, वहाँ उसी प्रकारकी क्रियाहारा उस-उस पदार्थका निर्माण किशा, अतएव जिसप्रकार वह इस व्याहरका कर्ता सिद्ध होता है, उसी प्रकार उसका आयोजक भी वही सिद्ध होता है । इसीलिये उसे भ्रुव सत्य कहा जाता है । पृथ्वी, पर्यात, समुद्रादि स्यावर-अंगम जगत्का निर्माण जीव और जड़-प्रकृतिके सामर्थ्यसे बाहर है ।

कार्य बन चुकनेपर उसका धारण करना भी आवश्यक होता है—ऐसिके अभावमें कृति सुरक्षित नहीं रह सकती । सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, पर्यातदि जड़-प्रकृतिका निर्माण करनेके

अनन्तर उन सबको यथायोग्य स्थानपर दिकाये रखना आवश्यक है, अन्यथा निरवलम्ब आकाशमें टिके हुए अवश्य अह-पिंड एक दूसरेसे परस्पर टकराकर नह-भ्रह हो जाते । अपनी सत्ताहारा प्रत्येक ग्रह, उपग्रह और पृथिव्यादि लोकोंको आकाशमें उठनेवाले पक्षीके मुखमें टिके हुए काहके अनुसार निरवलम्ब आकाशमें अपने केन्द्रके अनंदर ढहाये रखना और नह न होने देना इसके लिये असाधारण शक्तिसम्पद धारणकर्ताओंकी आवश्यकता है । वह केवल परमात्माको छोड़कर अन्य कोई नहीं हो सकता । यही बात श्रुति और स्मृतिसे भी सिद्ध है—

‘पतस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिव्यौ विधृतं तिष्ठतः ॥’

‘गमाविद्य च भूतानि भरयाम्यहमोत्तमा ।’

‘ह गार्गी ! यह शुलोक और पृथिवीलोक उस अङ्गरूप परमात्माके शासनमें धारण किये हुए टिके हैं ।’ उपर्युक्त गीताके वाक्यमें भी भगवान्ने स्वयं संसारका धारक होना अपने श्रीमुखसे ही स्वीकार किया है ।

सांसारिक घट-पटादि पदार्थोंके नाम और स्वरूपका ज्ञान दिना किसी अन्य व्यक्तिके उपदेशके नहीं होता । सृष्टिके आदिकालमें व्यवहारयोग्य घट-पटादि पदार्थोंके नाम और रूपका निर्देश करनेवाला भी एक चेरत्न सर्वज्ञ गुरु अपेक्षित होता है । उस कालमें एक परमात्माको छोड़ अन्य कोई व्यवहारप्रदर्शक होना सिद्ध नहीं होता, अतः सृष्टि-निर्माणके अनन्तर सृष्टिके समर्पण पदार्थोंका व्यवहार-प्रदर्शक और नामरूपका निर्देशक उसे ही मानना पड़ेगा । यही बात भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कही है—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कलेषानवच्छेदात् ॥

अर्थात् वह परमात्मा ही संसारके समस्त गुह्योंका आविश्वर है । उसीके हारा सृष्टिके आरम्भकालमें सांसारिक घट-पटादि पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् व्यवहार-ज्ञानके सम्बद्धायका प्रवर्तनक एक ईश्वर ही है । अतः सिद्ध हुआ कि ईश्वर भ्रुव सत्य है, वह न होता तो व्यवहार-का ज्ञान सर्वथा असम्भव हो जाता, इसी कारण उसे आदि-गुरुके नामसे योगाचार्य महर्षि पतञ्जलिने अभिहित किया है ।

समूचे क्षेत्रका सारांश यह है कि ईश्वर केवल एक क्रमप्रकार कियम ही नहीं, प्रत्युत भ्रुव सत्य है ।

१-यदि ईश्वर न होता तो ओवात्मास्ती अंशभूत परिच्छिक्षा चेतनको भी 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान कदापि न होता ।

२-यदि ईश्वर न होता तो संसारहरूकी कार्यकी उत्पत्ति कभी न होती, क्योंकि कर्त्ता के बिना किसी भी कार्यकी उत्पत्ति असम्भव है । जड़-प्रकृति या परमाणु साकाश एवं सारेक्ष जगत्के निर्माणमें कभी भी समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि जहाँ कहीं भी कर्तृत्व रहता है, वहाँ कार्यके उत्पादनका प्रत्यक्ष ज्ञान एवं कार्ब बनानेकी हृच्छा और कृति ये तीन पद्धार्थ आवश्यकरूपसे रहते हैं, जो जड़ परमाणु या प्रकृतिमें असम्भव हैं । अचेतन पदार्थोंसे कार्यकी उत्पत्ति चेतनकी प्रेरणा बिना हो नहीं सकती । इससे सिद्ध हुआ कि समस्त शावर-जंगम जगत्का कर्ता एक अपरिच्छिक्षा चेतनरूप परमेश्वर ही है और वह सर्वश एवं सर्वशक्तिसम्पन्न होनेके कारण हृच्छामात्रसे संसारकी रचना करनेमें सर्वथा समर्थ है ।

३-कोई भी कार्य आयोजनरूप कर्मके बिना नहीं होता, यह नियम है । तब सर्वके आरम्भकालमें दो परमाणुओंमें संघटन या संयोगरूप किया उत्पक्ष होकर हृष्णुको आरम्भ करनेवाला कर्म चेतनरूप ईश्वरकी प्रेरणासे ही उत्पक्ष होता है और वही हृष्णुक-संयोग आगे चलकर जगत्के रूपमें परिणत होता है । अतः यदि ईश्वररूप आयोजक न होता तो संसारहरू कार्यकभी न बनता, असत्त्व ईश्वर भ्रुव सत्य है ।

४-यदि अनन्त ब्रह्मायोंको रखकर भी इसका भारक कोई सर्वशक्तिसम्पन्न चेतन न होता तो उत्पक्ष होकर भी यह कभीका नहीं हो गया होता । विवरणम्ब आकाशमें छटके हुए सर्व, सर्व, ब्रह्मप्रभादि पिण्डोंको यज्ञपूर्वक पतनसे बचानेके लिये पतनका प्रतिबन्धक अर्थात् धारण करनेवाला एक ईश्वर ही है । जिसप्रकार आकाशमें उड़ता हुआ पक्षी अपने मुखमें काढ़-खण्डको धारण किये रहता है, उसे गिरने नहीं देता, उसी प्रकार ईश्वरकी शक्तिसे ही समूचा ब्रह्माद्व भारण किया हुआ टिका है । यदि वह न हो तो संसारके सभी पदार्थ परस्पर ठकराकर नष्ट हो जायें । अतएव समस्त विश्वरागिका कर्ता, धर्ता, हस्ती जगदीश्वर सदा सत्यरूपसे विद्यमान है ।

५-सर्वके आरम्भकालमें घट-पटादि यावत् पदार्थोंका छापक एक स्वतन्त्र चेतन नहीं होतो तत्कालीन ओवों-को किसी भी पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता और पदार्थ-

ज्ञानके अभावमें व्यवहार नहीं हो सकता । अतएव आरम्भकालमें परमेश्वर ही प्रयोग्य एवं प्रयोजक बनकर व्यवहारके सम्बन्धका प्रबर्तक होता है । अतः वह भ्रुव सत्य है ।

६-जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाण भी पंगु हो जाते हैं, वहाँ शब्द ही एक ऐसा प्रमाण है जिसके द्वारा वस्तुकी यथार्थ प्रमाण की जा सकती है । इसी कारण चेतनाओंको आस्थाक्षयरूप शब्दप्रमाण माना जाता है, क्योंकि चेतन्यन्य ज्ञान कारण-नुण-जन्य है । इसीलिये उसका भास्मायप है । और चेतनमें पदे-पदे परमात्माके अस्तित्वका पर्याम भिलता है, यथा --

'यज्ञो दै विष्णुः'

'अप्निदेवानामदमः विष्णुः परमः'

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तस्मशाऽभ्यधिकश दद्यते ।

पराऽस्त शक्तिर्विवैव श्रूयते

स्वामिविकी ज्ञानबद्धिया च ॥'

'अपाणिपादो जबनो ग्रहीता

पद्यत्यच्छुः स शृणोत्प्रकर्णः ।'

'अक्षरस्य प्रशासने गार्ति शावापृथिव्यौ विवेते तिष्ठतः ।'

'स पेशत एकोऽहं बहु स्पाम् प्रजायेय' इत्यादि ।

अर्थात् यह विष्णुका स्वरूप है । अग्नि सब देवताओंमें प्रथम और विष्णु सबसे परम है । उसका न तो कोई कार्य है, न करण है और न कोई उसके समान ही है, न उससे अधिक कोई महान् शक्तिसाली एवं अद्वितीय है । उसकी शक्ति अप्रतिम है, विविध शक्तियाँ उसमें ज्ञान, बल और क्रियारूपसे सदा विद्यमान रहती हैं । वह बिना नेत्रके देखता है, बिना कानोंके सुनता है, बिना पैर चलता है, बिना हाथोंके प्रहण करता है, वही एक सबका वेद्य है पर उसका यथार्थ वेता दूसरा नहीं, उसीको वेदमन्त्र एवं महास्मान सबसे अद्यत और महान् उल्लङ्घन कहते हैं । उसी अक्षररूप परमात्माकी शक्तिसे सह संसार धारण किया हुआ टिका है । सर्वके आरम्भकालमें उसने एकसे अनेक होनेकी हृच्छा की । उसकी इस हृच्छासे द्वित्य या अतिरूप संख्याका आरम्भ होकर दो परमाणु मिले और संसार-का आरम्भ हुआ, स्वतन्त्र एक चेतनके बिना संख्या नहीं प्रकट हो सकती । संख्या सदा चेतन सारेक्ष है । मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, इस संकल्पको ही संख्याका आरम्भ

कहना चाहिये । संख्या-विशेषसे ही परमाणुसे दृष्टयुक, असरेण आदि बनते हैं जिनसे जगत्की रचना हुआ करती है उपर्युक्त वेदवाक्योंसे भी जगदीधरका विकलाऽवाधित अस्तित्व और प्रभुत्व एवं सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता अकाव्यरूपेण सिद्ध है ।

इसप्रकार विषय युक्ति और तर्कसङ्कृत प्रमाणोंके निर्मल गंगाजलसे भारम्बार धोनेपर भी जिनका हृदय ईश्वरके अस्तित्वमें निश्चयरूपसे विश्वास करनेमें असमर्थ है,

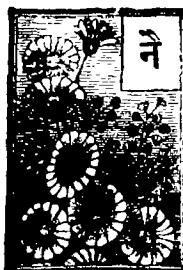
उसे कठिन पत्थर या लोहका हृदय ही समझना चाहिये । ऐसे विमुख जीवोंकी जीवनरूप पत्थरकी नौकाको वही विश्वमर अपनी आकारण कल्प्यासे पार करा सकता है, दूसरा साधन नहीं ।

ईश्वरः सर्वमूर्तानां हृदेशोऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वमूर्तानि यन्त्राखृदानि मायया ॥
तेष्व शरणे गच्छ सर्वमावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परा शान्ति स्थानं प्राप्त्यासि शाश्वतम् ॥

ओ३३३ तस्मै

ईश्वर-शारणागति और प्रार्थना

(लेखक—प० श्रीरामदयालजी मजूमदार एम० ए०, सम्पादक 'उत्तम')



सर्विक नियमके अनुसार कलियुग क्रमशः घोर तमसाच्छब्द होता जा रहा है । अधिकांश जीव-पुरुष आज-कल मोहाहृच्छब्द हो रहे हैं । कुरुक्षेत्रके युद्धके पूर्व अर्जुनको जिसप्रकार भोह उत्पन्न हुया था, आज समस्त पृथ्वीके सभी जातियाँ उसी प्रकार अयथा उससे भी अधिक मोहाहृच्छब्द हैं । प्रायः लोगोंकी विचार-धारा क्षणिक सुविधाओंकी ओर ही रहती है । जिसप्रकार अर्जुन भगवान्की आशासुसार चलना नहीं चाहते थे तथा उनकी आशाके विपरीत कुरुक्ष करते थे, आजके लोग सभी उसी आगैका अवलम्बन कर रहे हैं । श्रीभगवान्नने अर्जुनको भगवाह परमर्मका स्थान कराकर स्वर्वर्म-पालनमें जीवन उत्सर्ग करनेके लिये युक्तिरूपं विचार प्रदान किया था । भगवान्के आशीर्वादसे जिसप्रकार अर्जुनका भोह नष्ट हो गया था और भगवान्के श्रीमुखकी वाणी सुनकर अन्तमें कृतार्थताको प्राप्त अर्जुनने जिसप्रकार कहा था—

नष्टं भोहः स्मृतिर्वच्चा तद्प्रसादान्मयाऽयुत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(भीता १८ । ७३)

'हे अच्युत ! मेरा अज्ञानजनित भोह नष्ट हो गया है, मैं आपके आशीर्वादसे अपने स्वरूपकी स्मृति प्राप्त करके अब समस्त सन्देहोंसे रहित होकर आपके आदेशका पालन करनेके लिये स्थिर-निष्ठय हो गया हूँ, अब आप जो कहेंगे

मैं वही कहेंगा ।' हाय ! गीताके भोह स्थान करनेके लिये दिये हुए भगवान्के उपदेशोंको मानकर क्या उसी प्रकार आजके मनुष्य अपने भोहको स्थानकार कभी यह कह उठेंगे कि 'करिष्ये वचनं तव ?' ऐसा शुभ अवसर कब उपस्थित होगा ? मालूम होता है अभी इसमें बहुत विलम्ब है । कलियुगकी आयु चार लाख बत्तीस हजार वर्ष है । इसमें अभी पाँच हजार या उससे कुछ ही अधिक वर्ष बीते हैं । इसीलिये कहा जाता है कि अभी कलियुग—अन्धकारका लीलालेन्द्र है । व्यभिचार चारों ओर नम नृथ कर रहा है । त्रिकालदर्शी अधिष्ठोने इस बानको समस्त कर ही, कलियुगमें जगत्भरके नर-नारीयों-की क्या स्थिति होगी, उसे पहले ही कह दिया है । उन्होंने जो कुछ कह दिया था आज हम उसीको प्रत्यक्ष देख रहे हैं । देवर्षि नारदने जगत्के जीवोंकी भावी दुर्गति देखकर भगवान् ब्रह्माको दुःखकी कथा सुनाकर उसके प्रतिकारके लिये यह प्रार्थना की थी—

'घोर कलियुगके आ जानेपर सारे मनुष्य पुरश्चीन, दुराचारी, असत्यवादी, परनिन्दक, दूसरोंके द्रष्टव्यकी इच्छा करनेवाले, परायी जीवोंपे देम करनेवाले, दूसरोंकी हिंसामें रत, शरीरको ही आरम्भ समझनेवाले, भूर्ण, नालिक, पश्चिमोंकी-सी जड़-नुदिवाले, माता-पितासे बैर करनेवाले, जीवपरायण एवं काममार्गोंके दास होंगे । ब्राह्मण लोभ-रूपी पिशाचसे वीक्षित होंगे, वेदको बेचकर जीवन-जीवोंह करेंगे, धनोपार्वनके भिन्नित विश्वाम्यासकर अपनी विहृत्ता-के गवर्नमें पागल हो जायेंगे, अपनी जातिके कर्मको छोड़ देंगे और प्रायः दूसरोंकी बद्धना किया करेंगे । इतिप्य

एवं वैश्य अपने-प्रपने धर्मका परिस्थाग कर देंगे और इसी प्रकार शूद्र ब्राह्मणोंका-सा आचरण करने लगेंगे। स्त्रियाँ प्रायः चरित्रब्रह्म, परिका अपमान करनेवाली, निवार एवं सास-संसुरसे द्वेष करनेवाली होंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन सब लोगोंकी बुद्धि भारी गयी है, इनकी परलोकमें क्या दशा होगी, यह चिन्मता भेरे विद्यको निरस्तर व्यथित करती रहती है। कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे इन लोगोंका परलोक सहजाहीमें सुधर जाय, क्योंकि आप सब कुछ जानते हैं।'

केवल भारत ही नहीं, अगदभरमें आज उपर्युक्त सभी द्वारे प्रायः प्रथम हो रही है। लघु उपायोंसे घोर कलियुगकी दुर्गतिका उपशम किसप्रकार होगा, इस बातको भी अधियिंगे ने विशेषस्पते कह दिया है। उसके लिंगारित मार्गपर चले बिना अन्य किसी प्रकारसे भी मनुष्यका यह हाहाकार निकृत नहीं हो सकता।

धूर्ष-पुरायोंके प्रतापसे स्वधर्म-पथपर चलनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको आज पद-पदपर कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, यह देखा जाता है। इतनेपर भी ये महानुभाव स्वधर्मका ध्याग करके, पर-धर्म ग्रहण करनेकी अपेक्षा मृत्युको आलिंगन करना उत्तम समझते हैं और उसके लिये सर्वदा प्रस्तुत हैं। पर जो लोग अधियिंगोंके विखलाये हुए भार्गको छोड़कर अपने कपोष-कल्पित पथपर चलते हैं उनकी क्या स्थिति है? 'आप भेरे लक्ष्मा लुटवायी' की कहावतके अनुसार ही उनकी अवस्था है। इन सब लोगोंको ईश्वरकी शरण लेनी होगी। साम, दाम, भेदके द्वारा भी जो शरणमें नहीं आते, भगवान् कृष्णार्थक उनको दृष्ट देकर किसप्रकार अपने पथपर जाताते हैं, इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ आलोचना करना अप्रासंगिक न होगा।

(१) शरणागतकी स्वाभाविक अवस्था—प्रार्थना

संसार-पथपर चलते-चलते जब मनुष्य विपत्ति-जालमें फँस जाता है, जब वह लाल लेटा करके भी अपनी, अपने परिवारकी, समाजकी और जातिकी रक्षा नहीं कर सकता, तब उसके प्राण अस्थन्त कातर हो उठते हैं। इसी कातरताके अवसारपर मनुष्यके प्राणोंमें अपने आप ही एक प्रार्थना जागृत हो उठती है और वही स्वाभाविक प्रार्थना होती है। जब प्राण अस्थन्त स्वाकुर हो जाते हैं,

तब मनुष्य निराश्रय होकर सहसा कह उठता है—'हाय ! क्या भेरा कोई नहीं है ? क्या मुझको बचानेवाला कोई नहीं है ?' जिसप्रकार जलमें दूबते हुए मनुष्यके लिये एक साधारण दृष्टि भी सहारा हो जाता है, उसी प्रकार जब मनुष्य सुनता है कि उसका भी एक आधार है और वह दयाका सागर है, वह कंगालका परम आस्थीय है, कंगालोंको तो वह स्वभावमें ही ढूँढ़ा करता है और मिल जाते हैं तो उन्हें अपना लेता है, वह क्षमाभय, तुली होकर आश्रय लेनेवालोंके सारे अपराध क्षमा करता है, वह अस्थन्त प्रेममय है और सर्वशक्तिमान है। इसप्रकार विपत्तिमें फँसकर जब मनुष्य यह सुनता है—कि वह सब मनुष्योंका अपनेसे भी आपना है और कृपा करके पुकार-पुकारकर मनुष्योंको यह कह रहा है कि 'अरे ! इतारा क्यों होने लगे ? मैं ही ही सो तुम लोगोंका—

'गतिर्भूती प्रभुः सार्वी निवासः शरणं सुहृत्।'

(गीता ७। १८)

—हृ, मैं ही तुम्हारी एकमात्र गति हूँ। एकमात्र प्राप्त करनेयेग्य वस्तु हूँ, मैं ही भर्ता यानी भरण-पोषण करनेवाला हूँ, मैं ही तुम्हारा प्रभु-हृती-कर्ता-दिव्याता हूँ, मैं ही साक्षी हूँ—शुभभाष्यमकोंका द्रष्टा हूँ, मैं ही तुम्हारा निवास हूँ अर्थात् तुम सब मुझमें ही निवास करने हो, मैं ही तुम्हारे भोगोंका स्थान हूँ, मैं ही तुम्हारे तुल्योंका दूरनेवाला, रक्षक तथा एकमात्र 'सुहृत्' हूँ, तुमसे कुछ भी न चाहकर तुम्हारा उपकार करता हूँ।' तब वह उमः जागृत हो उठता है।

भगवान् फिर गीतामें कहते हैं कि—

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।'

(१८। ६२)

—मैं सबके हृदयमें निवास करता हूँ, सब लोग सर्वभावसे मेरे शरणपद्म हो जायें फिर (१८। ६६) में कहते हैं 'मामेकं शरणं वज' अर्थात् एकमात्र मुझको ही आश्रय दना लो। जो भेरा आश्रय ग्रहण करता है—

'तेषामहं समुद्रती मृत्युसंसारसमाप्तात् ।'

(१२। ७)

—मैं उनका मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ। इसीलिये यह कहा जाता है कि साधुसंग और सद-शास्त्रके द्वारा शीघ्रतावाली आशासन-वाणी सुनकर विपद्मस्त

संसारिक मनुष्य भी भरोसा पाकर, भगवान्का आश्रय ग्रहण करता है। इसप्रकारका मनुष्य भी क्रमशः भगवान्को प्रसन्नताका अनुभवकर कुछ दूसरे ही दंगका बन जाता है।

इसीसे कहा जाता है कि 'बच्चाओ, बच्चाओ' की प्रार्थनाके साथ शरणापद होना मनुष्य-हृदयकी स्वामाविक अवस्था है। जिसप्रकार क्षान मनुष्यका स्वरूप ही है— वस्तुतः क्षान तो उसे प्राप्त ही है—इसके लिये कह नहीं सहना पड़ता—ज्ञानकी प्राप्तिके लिये किसी प्रकारकी तपस्या नहीं करनी पड़ती—तपस्या तो करनी पड़ती है आवरण— अज्ञानको दूर करनेके लिये। इसी प्रकार भरणागतके लिये कुछ करना-धरना नहीं पड़ता—करना पड़ता है यह कि नाना प्रकारसे, विभिन्न वस्तुओंमें, विभिन्न मनुष्योंमें आसक्त होकर सबको भेरा-भेरा करके, 'ये सब मेरे ही हैं, ये सब मुझे आश्रय देंगे' इसप्रकार जो सोह हो रहा है—इस माया-भोगके आवश्यको भगवान्से दूर हटा देना। इस आवश्यके इटानेका नाम ही तपस्या है। जिस अवस्थामें पहुँचनेपर मनुष्यपर कृपा करके भगवान् उमे यह समझा देते हैं कि 'भगवान्के सिवा मनुष्यका आश्रय कोई नहीं है,' उस अवस्थामें मनुष्य अपने आप ही युकार उठता है 'निराश्रयमां जगदीश रक्ष' हे भगवन्! हे कल्याणवर्णालय! मैं जान गया हूँ कि तुम्हारे सिवा भेरा जीवन-भरणका साथी और कोई नहीं है। जीवनमें भी तुम्हीं आश्रय देते हो और मरनेपर भी तुम्हें छोड़कर दूसरा कोई अपना नहीं है।

धोर संसारी मनुष्य भी नाना प्रकारसे धूँके खाकर अन्तमें भगवान्की शरण लेता है। वह आसकिके समुद्रमें गहरा दूबकर संसार खो रहा है, अकस्मात् एक-एक करके सारे दीपक तुक्रे गये—एक ही क्षणमें 'हीरी-भरी फुलाड़ी सूख गयी!' तब उसका मन निरन्तर दृश्य होकर उकार उठता है—'हाय! किसी प्रकार भी तो शास्ति नहीं मिलती। हा! क्या जगत्में भेरा कोई नहीं है?' इव-हृदयकी इस अवस्थामें मनुष्य भगवत्-कृपासे भगवान्का आश्रय प्रहृश्य करता है और उसके द्वारा कल्याणको प्राप्त होता है। इसीका नाम यथार्थ कल्याण है।

जो लोग धूँके खाकर शरणमें आते हैं वे भी भारयदान् हैं। मनुष्य धूँके खाकर कुछ दिन उदासीन-सा रहता है। मुनः दो दिनके बाद कुछ सुधीता मिलते ही सब कुछ

भूलकर कि दूरी तरह विषयोंमें रम जाता है। ऐसे मनुष्यको जो दो-चार दिनोंके लिये बैराग्य होता है, उसे इमशान-बैराग्य किंवा मर्मट-बैराग्य कहते हैं। शीरकालके अन्तमें जिसप्रकार हृक्ष-लता पत्र-शून्य होते हैं, परन्तु देखनेवाले देखते हैं कि प्रश्नीन हृक्ष-लताके अन्दर नये पत्र-पुष्प लहसु हो रहे हैं, यहाँ भी ठीक बैसा ही है। ऐसे कोर्गांपर भी भगवान् कृपा करते हैं। इनके भी दाल्य प्रारब्ध भोग करा देनेके लिये, हनके पापके पके फोड़ेको चीरनेके लिये करुणामय इनके ऊपर भी अनुग्रह करते हैं। किंतु ये लोग भी सब प्रकारसे अन्तःकरणपूर्वक भगवान्का ही आश्रय ग्रहण करते हैं शरणागतिके मूल सूत्रोंको पकड़कर जीवन-नायन करनेकी खेदा करते हैं। वायुपुराणमें शरणागतिके छः अंग वस्तुलाये हैं—

आनुकूल्यस्य सहृदयः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।

रक्षिष्यतीति विभासः गान्धृतं वरणं तथा ॥

× × × /

निष्प्रपाणं अकारेण्यं षड्विता शरणागतिः ॥

शरव वस्तुके अनुकूल संकल्प (हृष्टा) करना, उसके प्रतिकूल आकरणमें बचना, वह हमारी रक्षा अवश्य करेगा यह विभास करना, उमे अपना रक्षक समझना, उसे अपनेको धरोहरके रूपमें साँप देना और उमे अपना सर्वस्व साँप देनेमें सङ्कोच (कृपणता) न करना।

यहाँतक शरणागतके विषयमें कहा गया, अब दूसरी बातें सुनिये।

(२) ईश्वरका स्वरूप

शरण हो किसकी? ऐसे भी इतमाम्य मनुष्य हैं जो ईश्वरके अस्तित्वमें ही विभास नहीं कर सकते। जिसके हृदयमें इसप्रकारकी दृष्टारणा है कि ईश्वर है ही नहीं वह किसके शरणापद होगा? मनुष्य यदि विशुद्ध ही पागल न हो तो वह सहज ही यह भारणा कर सकता है कि 'ईश्वर है।' ईश्वरका अस्तित्व तो मनुष्यमात्रकी स्वामाविक अवस्था है। वह कैसे है? इसी सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है, ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें इसके बाब आलोचना की जाएगी।'

'मैं हूँ' यह बात किसीको सिकानी नहीं पड़ती। सब मनुष्य अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ।' इसप्रकार अनुभव करनेवाला कौन है? सभी मनुष्य समझते हैं कि ईश्वर

जिसका अनुभव नहीं करते उसका अस्तित्व कम से कम हमारे अम्बर नहीं है। हमारे भीतर जो कुछ है उसका अनुभव करनेवाला कोई अवश्य होना चाहिये, तबीं किसी विषयका अनुभव होता है जो अनुभव-कर्ता के न रहने से नहीं हो सकता। यह जो विशाल जगत् विष्ट है, यदि इसका कोई अनुभव करनेवाला न हो तो इसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। हिमालयके अस्थन जगद्गृह्य स्थान-में एक सुन्दर फूल खिला है, उसके चारों ओर घूम-घूमकर एक तितली अधुराम कर रही है। तुम और इस इश्यको नहीं देखते, उसका अनुभव नहीं कर सकते। केवल कल्पना करते हैं तथापि वह विशास करते हैं कि तितली भी है और पुष्प भी है। किन्तु परि इसका अनुभव करनेवाला कोई भी न हो, तो इसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इम मनुष्योंको आहे इसका अनुभव न हो परन्तु सर्वव्यापीको निश्चय ही इसका अनुभव है, क्योंकि अनुभव विना किसी वस्तुका अस्तित्व कायम रहना सर्व प्रकारसे युक्तिके विरुद्ध है। यह अनुभव-कर्ता ही ईश्वर है। किसी वस्तुका मनुष्यके अनुभव न करनेपर भी, उसका अनुभव करनेवाला ईश्वर है, इसीलिये वह वस्तु है। जगत् है, इसलिये जगतका अनुभव-कर्ता भी है। अनुभव-कर्ता न होता तो जगतका अस्तित्व ही न रहता। इस युक्तिको सुनकर कहे नास्तिकमें शायद कुछ आस्तिकता आ जाय, किन्तु पक्षा नास्तिक नास्तिकताको सम्भवतः नहीं छोड़ेगा। जगते हुएको कैसे जगताया जाय? भगवान्की कृपाके सिवा इन लोगोंकी नास्तिकताको दूसरा कोई नहीं मिटा सकता।

अब ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ आलोचना की जाती है—

जो ईश्वरके स्वरूप हैं, यही नहीं, किन्तु जो इस परिवर्यमान समझि और व्यष्टि जगतके स्वरूप हैं, वे (सचिदानन्दघन) सदा से हैं, वे और रहेंगे। वे सदा पृथी रूपसे हैं, वे और रहेंगे। जो स्वरूप हैं वे नित्य ही स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, अनुभवस्वरूप तथा सदा ही समभावसे निरतिशय आनन्दस्वरूप हैं। 'ईश्वरका स्वरूप है—सद, चित् और आनन्द अथवा अस्ति, भासि, भाति और प्रिय।' किर मनुष्य उनका अनुभव कर्त्ता नहीं करता? जैसे ज्ञान सर्वव्यापी स्वरूपिणी है। परन्तु—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानेन तेन मुक्षन्ति जन्तवः॥'

(गीता ५। १५)

उसके अश्वानसे आवृत होनेके कारण मनुष्य दुःख पाता है। इसी प्रकार सद, चित्, आनन्द—अस्ति, भासि, भाति, विष्ट भी नामस्तपके आवरणसे डके होनेके कारण मनुष्य उनका अनुभव नहीं कर सकता। वह नामस्तप देखता है, नामस्तपसे डके हुए स्वरूपको नहीं देख पाता। नामस्तपके आवरणको इटा सकनेपर, नामस्तपकी बाढ़ सोढ़ डाकनेपर ही स्वरूपमें पहुँच जा सकता है। स्वरूपमें पहुँचना ही स्वरूप-स्थित होता है। यही सर्वदुःख-निवृत्तिरूप परमानन्दकी प्राप्ति है।

वथापि मनुष्य ईश्वरके पूर्ण स्वरूपका अनुभव नहीं कर सकता, तथापि उसके सद-स्वरूप या अस्ति-स्वरूप-का अनुभव तो सभीके लिये ही स्वाभाविक है। सर्वव्यापी आत्मा ही प्रत्येक प्राणीका जीवात्मा है। मनुष्य जो निरन्तर 'मैं-मैं' करता है, वह 'मैं' ही आत्मा है। 'मैं' न देह है, न मन है और न जगत् ही है। जो नित्य-कर्मके पश्चात् प्रतिदिन पृथकःतरमें आत्मविचार कर सकते हैं, जो—

'प्रकृतेभिन्नमात्मानं विचारय सदानन्दः।'

—इस शास्त्र-वाक्यके अनुसार कार्य करते हैं, वह तो सर्वं ग्री ही इस सद-वस्तुका अनुभव करते हैं। जो ऐसा नहीं करते, वे भी स्वभावतः अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ।' वह 'मैं हूँ' का अनुभव किसीको सिखलाना नहीं पड़ता। इस स्वतःसिद्ध अनुभवको प्राप्त करके भी मनुष्य नामस्तपविशिष्ट देहके, नामस्तपविशिष्ट जगत्के नामस्तपको इटानेके लिये साधना नहीं करता। इसीलिये वह जगत्की सब वस्तुओंमें सद आत्माका अनुभव नहीं करता। सद अथवा अस्तित्वके पूर्ण अनुभवके लिये नामस्तपको भिन्ना समझना, नामस्तपको भूल जाना ही साधन है।

परन्तु इस नामस्तपको भूलकर सत्का अनुभव होने-पर भी, जो सद है, वही चित्, ज्ञान और स्वप्रकाश अनुभूति है, इस बातका अनुभव नहीं होता। सद और चित्का एक साथ अनुभव करनेके लिये अन्तर्जगत् अथवा मनका द्वारा होना होता। जिसप्रकार सदके अनुभवमें नाम-स्तप विश्वरूप हैं, उसी प्रकार सद और चित्के समकालीन अनुभवमें भी सुख-दुःख-बोध विद्ध हैं। सुख-दुःख न चित्में है और न जड़में है। अज्ञानके द्वारा जड़-चेतनका भिन्नय होनेके कारण ही सुख-दुःखका बोध होता है। जडतक सुख-दुःखका बोध है, तबतक ज्ञान अश्वानसे डका हुआ है, इसीलिये सद और चित्का समकालीन

अनुभव नहीं होता । जो विचार कर सकते हैं, कर्म करते हैं, 'प्रकृति—आत्माका कोई कर्म नहीं है' इसलिये अज्ञान हुए बिना प्रहृतिमें आं अभिमान हो ही नहीं सकता । जो लगातार बहुत दिनोंतक इस विचारका अभ्यास करते हैं, वे सुख-दुःखको अग्राह करके—अन्तमें सुख-दुःखका अनुभव न कर सद् और चित्तका समकालमें अनुभव कर सकते हैं । परन्तु इसप्रकार सद्-चित्तका अनुभव होनेपर भी ईश्वरके आनन्दस्वरूपका अनुभव नहीं होता ।

आनन्द ही सब जीवोंका जीवन है । सभी जीव आनन्दके लिये कालायित हैं । जीवोंको जो विषय-भोगमें आनन्द मिलता है वह आनन्द सी ब्रह्मानन्दका ही अंश है । किन्तु ब्रह्मानन्द निरतिशय आनन्द है, अस्तरह आनन्द है । यही आनन्द सबके मूलमें रहता है । इसी आनन्दके ऊपर जगत् प्रवाहित हो रहा है । क्षुद्र आधार-मेंसे प्रकट होनेके कारण आनन्द कुद्र हो जाता है । क्षुद्र आनन्दके भोगमें मनुष्यकी दृष्टि नहीं होती । मनुष्य तो आनन्द-समुद्रमें हुबा रहना चाहता है । जैसेहिमाय-तिरि-कन्दर-विदारियों गङ्गाजीके बबूःस्यलपर स्थित वार-दार उत्पन्न, नह और प्रवाहित होनेवाले क्षुद्र कुद्रदेवकी गति महासमुद्रकी ओर होती है । वह जबतक अपनेको महासमुद्रमें ले जाकर खो नहीं देता, तबतक उसे शान्ति नहीं मिलती । इसी प्रकार जीवित्सु भी जबतक परमात्मा-रूप महासमुद्रमें अपनेको धुका-मिलाकर खो नहीं देता, तबतक वह किसी प्रकार भी शान्ति नहीं पा सकता । क्षुद्रमें मनुष्यको आनन्द नहीं मिलता । श्रुति भी कहती है—

'यो वै भूमा तत्सुखं नात्पं सुखमस्ति'

यह भूमा ही जीवका विश्रान्ति-स्थान है ।

सद्-चित्तका अनुभव होनेपर भी इस भूमानन्दका अनुभव जीवको नहीं होता, इसके लिये साधन करना पड़ता है । भगवान् पतञ्जलिने मनकी जिन पाँच अवस्थाओंका उल्लेख किया है, उनमें विस, मृद और विचिस-अवस्थाओंमें आनन्दमें हुबा नहीं जा सकता । इस आनन्दकी अनुभूति एकाग्र-समाधिमें होती है; परन्तु जबतक निरोध-अवस्था प्राप्त नहीं होती, तबतक सर्वदा आनन्दमें निमग्न होकर नहीं रहा जा सकता ।

पहले एकाग्र होना होगा । एकाग्रों प्रथमनेके लिये किसी अवस्थानकी आपरेक्षा है ।

'मत्तीक्ष्णानुसरेण जायते मगवानजः ।'

अर्थात् भगवान् अजन्मा होते हुए भी भक्तकी हृष्णानुसार जन्म लेते हैं । ईश्वर जीवोंके ऊपर करणा करके मूर्त्ति धारण करते हैं—जिससे कि जीव अपने मनको उनमें एकाग्र कर सके । भगवान् भक्तके लिये, भी अपनी कीदारासे प्रकट होता है 'सम्भवामि आत्मावया' ऐसा कहते हैं ।

अवतार-सम्बन्धी दूसरी युक्तियाँ अवतारवादके प्रसंग-में दिलालायी जाएँगी । मनुष्य पहले मनको ईश्वरमें एकाग्र करके फिर जब उसीमें हुबा दे सकता है, सभी वह ईश्वर-के स्वरूपका पूर्णरूपसे अनुभव कर सकता है । नाम-रूपको हूर करके जो कुछ देखता है उससे सत्त्वका अनुभव होता है; हुख-दुःखको इटाकर मनके व्यापारोंपर ध्यान दे सकनेपर सद् तथा चित्तका एक साथ अनुभव हो जाता है और एकाग्र एवं निरोधके द्वारा मनको ईश्वरमें लय कर सकनेपर क्रमानुसार सद्, चित्त और आनन्दका एक साथ अनुभव होता है, जिससे निरतिशय आनन्दमें स्थिति प्राप्त होती है । यही संसारसे मुकि है, इसीको सर्व दुःखोंकी आत्मनितक निवृत्ति तथा परमानन्दमें निष्प-स्थिति कहते हैं ।

शास्त्रोंमें सर्वत्र ही यह बात मिलती है कि 'जो सदा-सर्वहा भगवत्-चिन्तनमें लगे रहते हैं, वे ही विषय-भोगमें उत्तीर्ण हो सकते हैं' । परन्तु ईश्वरके विषयमें शास्त्र जो कुछ कहते हैं उसे शास्त्र-मुख तथा गुरु-मुखसे सुने बिना इस बातको मनुष्य नहीं जान सकता कि 'ईश्वर-चिन्तनमें क्या-क्या करना चाहिये' ?

जो ईश्वर है, वही उसी कालमें निर्मुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म, आत्मा एवं अवतार भी हैं । इनमेंसे एकको भी छोड़ नेपर ईश्वरचिन्तनमें अन्येके हाथी देखनेके समान एक-देश-दर्शनमें पर्यवसित हो जायगा । ईश्वरका चिन्तन करते समय यह विचार करना चाहिये कि जब महाप्रकल्पमें आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी प्रभृति कुछ भी नहीं रहते, तो ईश्वर कहाँ रहते हैं ? किर सृष्टिके आरम्भमें जब वह विश्वरूप धारण करते हैं तब वह समष्टि और स्थितिमें किसप्रकार स्थित रहते हैं ? महाप्रलयमें ईश्वर अपने भावमें रहते हैं—पूर्ण-स्वरूप निर्मुण ब्रह्म रहते हैं, जिस स्वरूपका कभी श्याग नहीं करते और उस समय—

'यज्ञ देवा विजानन्ति मनो यत्रापि कुण्ठितम् ।'

न यत्र बाहू प्रमदति ।'

—बेद भी उनको व्यक्त नहीं कर सकते। अन उनको विश्वास करने में कुछिल होकर कौट आता है। अब जिनको नहीं पा सकता, जिन भाक बाली सो उनको कैसे व्यक्त कर सकती है? वे निरुण वह हैं। किन्तु निरुण वह जब अपनी मायाको अवश्यकन करके संग्रह होते हैं तब वे अगवान्कार-भारी वा अगवान्कार-जागिरिया होते हैं, वही संग्रह विश्वलय होते हैं। समष्टि-भावमें जो विश्वलय है, व्यक्ति-भावसे वही प्रत्येक जीवमें प्रत्येक वस्तुमें आता है।

इन निरुणा, संग्रह और आत्मासे भी मनुष्यका काम नहीं चक्रता, इसीकिये वे कहते हैं—

'यदा यदा हि धर्मस्य लोनिमंवति भारत ।
अम्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सुजायहम् ॥
पत्रिणाय साधूनां विनाशाय च इच्छताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थ्यं संमवाप्ति युगे युगे ॥'
(गीता ४ ७-८)

इसीकिये शास्त्र यह बतलाते हैं, जो ईश्वर हैं वही एक ही कालमें निरुणा, संग्रह, आत्मा एवं अवसार हैं। कोई ऐसा शास्त्र नहीं मिलता, जिसमें इन चारोंमेंसे किसी एकका अभाव हो। श्रीभगवान् रामचन्द्रजीके सम्बन्धमें जो कहा गया है, वही अन्य सब अवसारोंके सम्बन्धमें समझना आहिये। भागवतमें जैसे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कहा गया है वैसे ही वेदमें 'रामस्तु भगवान् स्वयम्' कहा गया है। श्रीचर्चही में कहा गया है—

'एकैवाहि जगत्यत्र द्वितीया का ममाप्ता ।
पद्मैयते दुष्ट मध्येव विश्वान्तो मदूर्मूर्तयः ॥'

—इत्यादि ।

इस अगवदमें केवल मैं ही हूँ, मुझसे विषय कोई नहीं है। वे दुष्ट! देख, ये मेरी विमूर्तियाँ मेरे ही अन्दर समा रही हैं।

श्रीभगवान् रामचन्द्रजीके व्यरूपके बारेमें कहा गया है कि—

अद्वितीयशिद्दत्तैः परमात्मा सनातनः ।
मस्तु जनति रामस्य स्वरूपं तत्वतो जनः ॥
तत्र स्पृशति दुःखादि किमुतनन्दमद्वयम् ॥

वे (भगवान् श्रीराम) एक अद्वितीय, विदात्मा अर्थात् विज्ञानवान् सनातन परमात्मा हैं। जो मनुष्य रामके

स्वरूपको तत्त्वसे जान के सकते हैं, उसे दुःख छू भी नहीं सकते हैं, क्योंकि श्रीराम तो केवल आनन्दस्वरूप है।

श्रीराम बस्तुः निरुण वश हैं। इस सम्बन्धमें और भी कहा गया है। जगत्-जननी सीतादेवी श्रीहनुमान् जीको उपदेश करती है—

रामं विद्धि परं ब्रह्म सचिदानन्दमद्वयम् ।
सर्वोपाचिविनिरुक्तं सत्तामात्रमगोचरम् ॥
आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
सर्वज्ञापिन्मात्रमानं स्वप्रकाशमकलमध्यम् ॥

श्रीरामको सचिदानन्दविमूर्ति, साती उपाधियोंसे रहित, सत्तामात्र, इन्द्रियातीत, आनन्दमूर्ति, शुद्ध, शान्त, विकारशब्द्य, निरञ्जन अर्थात् निर्लेप, सर्वव्यापी, स्वतः-प्रकाश, कल्पस्थानी (अर्थात् दुःखोंसे रहित) आत्मस्वरूप अद्वितीय प्रवर्णन ही समझो।

निरुण द्वाकर भी श्रीराम संग्रह हैं, इस विषयमें कहा है—

'रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच-
लाकाङ्क्षते लज्जति नो न करोति किष्मित ।
आनन्दमूर्तिरूपः परिणामहीनो
मायागुणानुगतो हि तथा विमाति ॥'

X X X X X

रामः परात्मा पुरुषः पुराणो
नित्येदितो नित्यसुखो निरीहः ।
तथापि माया गुणसङ्करोद्दौरी
सुखीब दुःखीब विभाव्यतेऽवृत्तैः ॥

श्रीराम न यो कहीं जाते हैं, न कहीं ठहरते हैं, न किसीके लिये शोक करते हैं, न किसी बस्तुको आकाङ्क्षा करते हैं, न किसीका परिष्याग करते हैं, न कोई कर्म करते हैं, वे तो अचल आनन्दमूर्ति एवं परिणामहीन हैं, अर्थात् उनमें परिवर्तन नहीं होता, केवल मायाके गुणोंके सम्बन्धसे उनके अन्दर ये बातें होती हुई-सी प्रतीत होती हैं। श्रीराम परमात्मा, पुराणपुरुषोत्तम, निय उद्यवाले, अत्यन्त सुखसे सम्पन्न एवं निरीह अर्थात् चेष्टासे रहित है, किन्तु किर भी मायाके गुणोंसे सम्बद्ध होनेके कारण उन्हें अद्वितीय लोग सुखी अथवा दुखी समझ लेते हैं।

श्रीराम ही सब जीवोंके आत्मा है—

'सर्वेनु प्राणिजातेनु भावमन्वा व्यवस्थितः ॥

X X X

भावमा मा चेतनं युद्धं जीवकरणं संरितम् ।

तस्मात् कदाचित्क्षेत्रे मेदमीष्वरीवयोः ॥

समर्त भूत-प्राणियोंके अन्दर मैं आत्महृपसे स्थित हूँ,
इसलिये युध युद्ध वैतन्यको जीवहृपसे स्थित देखकर कोई
भी जीव और ईश्वरमें भेदशहि न करे ।

अवतारके सम्बन्धमें—

त्रिग्रामामपि लोकानां कार्यं मम सम्भवः ।

त्रिकोकीका कार्यं करनेके लिये मैं अवतार लेता हूँ ।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारकी उकियोंगता, भावावत तथा अन्य शास्त्रोंमें है । सभी अवतारोंके सम्बन्धमें यही कहा है कि अवतार एक ही कालमें आत्मा विर्युण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म हैं । अब अवतारवादके सम्बन्धमें कुछ कहकर विवरणका उपसंहार किया जाता है ।

३—अवतार-कथा

बड़े भावसे अनुदय विश्वासी होता है । अनुष्ठ जो कुछ विश्वास करता है, अब उसका प्रस्तवक करता है अथवा अपने भाई उसका अनुभव करके आनन्द पाता है, तब वह हृतकृत्य हो जाता है । विश्वास नह करनेके लिये कलि महाराजका सबसे बड़ा शब्द है संशय ! संशय उत्पन्न करके अनुष्ठको औरासी लाख बार नाना योनियोंमें भटकानेसे ही कलिको आनन्द मिलता है । ठीक ही है । सापु-हृदय दूसरोंको आनन्द देकर आत्मवका अनुभव करते हैं और असापु दूसरोंको दुःख देकर अपनेको सुखी समझते हैं ।

श्रीभगवान्के अवतार एक ही कालमें आत्मा सगुण ब्रह्म और निरुण ब्रह्म है, कलियुगके अतिरिक्त अन्य युगोंमें इस सम्बन्धमें अनुष्ठको किलिद् भी संशब्द नहीं था । परन्तु भाज इस कलियुगकी स्थिति कुछ और ही है । ईश्वरके सम्बन्धमें स्फूर्त, कालेजके छात्रोंके सामने चर्चा चलाकर देखिये, आप देखिये कि अधिकारी छात्रोंके मनमें सैकड़ों-ज्ञानों सम्बैह भरे हैं, आज संक्षयशस्त्र अनुष्ठोंसे जगत् भरा था हाहा है । देवोंको बहाँ मानें, शास्त्र इनों मानें, ईश्वरको ज्ञानी मानें, आत्मियेव स्त्रों मानें, अर्थियोंको ज्ञानात्मक ज्ञानें, आवार-विश्वासी क्यों जानें ? इस

प्रकार 'क्षणों' के हृष्में सन्देहका लाँता करा रहा है, इन बातोंमें भाज अधिकांश अनुष्ठ संक्षयात्रुक है । 'स्वर्वमें निघनं ध्रेयः पश्यन्मो भयावहः' 'संकायामा विवरत्वति' भाविदि विद्वान्मोक्षोंको भावना तो भाजके लोगोंकी रहिमें कुतंस्कार है । इम अनुष्ठोंके इस संक्षयकी विषयके लिये श्रीभगवान्के ही शास्त्रापञ्च होते हैं । यहाँ सो, अवतारको मामना भावन-हृदयका स्वामाधिक भर्त है । इसी विषयमें कुछ कहकर ही इमें जुप होता है ।

मनुष्ठके विस्प्रकार त्रुदि है, उसी प्रकार अप्येक मनुष्ठके हृदय भी है । त्रुदिका चर्म विचार है और हृदय-का प्रेम, स्नेह, भजन, धूम । ईश्वरकी विभूतिके चिन्तनसे त्रुदि इस हो सकती है । किन्तु हृदयकी तुष्टि केवल ऐश्वर्यसे नहीं होती, हृदय मानुष्ठको पाये बिना किसी प्रकार भी शान्ति नहीं पा सकता । हृदय असीमको सत्सीमरूपमें पाये बिना कभी चैन नहीं ले सकता । हृदयको निराकार सीमावृत्त्य वस्तुद्वारा सन्तोष नहीं कराया जा सकता । हृदय एक ऐसे पुरुषको बाहता है जो—'शिरसि पश्यन्वात् सर्वसोऽनुदर्शवारम्' तथा 'सर्वाङ्गे सुमनोहरम्' अर्थात् जो सिरमें लेकर चरणोंके नलपर्यन्त समस्त सीमर्थका सार है, तथा जिसके सम्बन्ध अंग वित्तको द्वारा बाले हैं । ऐसे पुरुषोंसमको आँखमें देखना, उसकी मधुर वाणी कानोंसे सुनना, उसकी प्रेम-लीलाओंको प्रभावक करना, उसकी लीला-कथाओंका बारम्बार पठन-पाठन करना, इन सब कार्योंके हुए बिना हृदयको शान्ति नहीं मिल सकती । मुखसे विराकार निरबयव कहनेपर भी आज कहते हैं—'चारे ! तुम्हारे लिये मैं बड़े प्रेममें यह फूलोंका गजरा लाया हूँ, तुम इसे गलेमें पहन लो न । जरा छहरो, मैं तुमें प्रणाम करना चाहता हूँ ! एक बार अपने चरण-कमलोंमें मेरे इस मन्त्रको लुट तो जाने दो । मेरे हाथ तुम्हारी चरण-सेवा करना चाहते हैं । मेरे कर्ण तुम्हारी कथा सुननेके लिये अस्यन्त ही अच्छुल हो रहे हैं । तुम कब मुझे अपना दास या दासी भावकर सेवाका अधिकार सौंपोगे ? मैं तुमको कथा-कथा देना चाहता हूँ और किसने दिवारेसे मैं मन-ही-मन सोचता हूँ । चारे ! तुम्हें कौन-सा चल हूँ, तुम्हें मैं जो चल दिया चाहता हूँ, वह धन तो तुम्हीं हो, तुम्हारे हृदय-स्पर्शोंके लिये मेरा दृष्ट रो रहा है और ये प्राप्त तुम्हारी श्रीतिमें छड़पटा रहे हैं ।'

वे सभी हृदयके अर्थ हैं। हृदयकी ताद तुष्टानेके लिये तुम्हारे आकाशबद्ध सीमा-शूल्य रूपसे काम नहीं चक्रता। मेरी सेवाकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये जिससे मैं तुम्हें देख सकूँ, तुम्हारी मधुर वाची शुन सकूँ, तुम्हारे श्रीचरणकमलकी सेवा कर सकूँ, ऐसे ही रूपसे तुम्हें सुखको दर्शन देने पड़ेंगे। इसीलिये भगवान् भक्तोंके हृदयको शीतल करनेको मूर्ति धारण करते हैं। पहले किसा आ चुका है, शास्त्र भी कहते हैं—‘भक्तिविदानु-सारेण जायते भगवानः’ इसीलिये कहा जाता है कि मनुष्यके अनन्द भगवान् ने एक ऐसी चीज़ दे दी है जिसकी नृसिंके लिये उनको अवतार लेकर आना पड़ता है। ‘आहा ! प्यारे !’ इस्ता होती है, तुम्हें माँ कहकर उपकारूँ, तुम्हें पिता कहूँ, तुम्हें स्वामी कहकर सम्बोधन करूँ और तुम्हें सखा बनाकर तुम्हारे साथ लेतूँ। तभी तो मैं यह कहता हूँ—

माता रामो मरिपता रामचन्द्रः

स्वामी रामो मत्ससा रामचन्द्रः ।

संबंधं मे रामचन्द्रो दद्वालु-

नन्यं जानै नैव जाने न जाने ॥

इसी आकांक्षाकी पूर्ण करनेके लिये भगवान् अजन्मा होकर भी जन्म प्राप्त करते हैं।

मनुष्यकी इष्टिसे देखनेपर जिसप्रकार अबतार-प्रहण ज्ञानाधिक है, उसी प्रकार ईश्वरकी इष्टिसे भी भगवान्का नूरि प्राप्त करना नीतर्थिक है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है; जो समस्त शक्तियोंका केन्द्र है, उसमें मूर्ति धारण करनेकी शक्तिका ही अमाव वर्णों होने क्या ? उसके स्वभावकी भी आखोचना करनेपर पता जाता है कि वह सर्वशक्तिमान् होनेके साथ ही अनन्त प्रेममय भी है। यदि मनुष्यके प्रेमकी गति तीव्रभावसे भगवान्की ओर हो जाय, यदि भगवान्के लिये मनुष्यके प्राण सर्वदा हाहाकार करने लगें, तो किस वह अनन्त प्रेमके आधार मधु भक्तोंकी आकांक्षाको पूर्ण किये जिना कैसे रह सकते हैं ? वह तो भक्तोंके लिकटसे भी लिकट भारमीय है। जो शिरुक्षसे संग्रहमें आकर जगदाकार बन जाते हैं, उन्हें अपने विश्वस्त्रको मनुष्यकी व्याज-धारणाके लिये नशकार बनानेमें कह क्यों जान पड़ेगा ? अब लेख न बढ़ाकर जानी होनेपर भी परम प्रक श्रद्धाःस्त्रीय लक्ष्मुरुच महात्मा श्रीतुकर्णी-

वासवीके सिद्धान्तका उल्लेख करके इस प्रसङ्गकी समाप्त करता हूँ—

‘आपि सक्तु तो जनहू, निर्गुण-सगुण-स्वरूप ।

मम हिय-पंचज-मृग इति, वसाहि राम नर-मूप ॥’

जिसमें जाननेही शक्ति है, वे तुम्हारे निर्माण, सगुण स्वरूपको जानें। मैं तो प्रभु ! अस्यन्त ही दीन-हीन हूँ, निराकृत ही कंगाल हूँ। दयामय ! मुझे वही साध है, मेरे हृदय-कमल, अष्टदल कमलपर निराकार राम मृग-गृहपत्ने, नरमूरुपस्यमें विषय होकर इस हृदयपथके मधुका पान करें। मैं इसीको सर्वपिता श्रेष्ठ सुख समझता हूँ। असर जो कमलके मधुका पान करता है, उसमें भ्रमरकी अवेक्षा कमलको ही अधिक सुख मिलता है। मधुपान करनेवालेकी अपेक्षा मधुदान करनेवालेको अधिक सुख मिलता है। वही निरतिशय आमन्द है। तुम्हें सुख मिलता है यह देखकर मुझे जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख तुम्हारे लिये ही है—तुम्हारा ही है।

‘अत्मसुख इष्टा जाहा तारे बळि काम ।

कृष्णसुख इष्टा तार धरे प्रेम नाम ॥’

४-अन्तिम बात—नाम-भहिमा

गुरुके हारा प्राप्त निष्पक्षम, स्वाध्याय आदि करनेके लिये तो यथासाध्य चेष्टा होनी ही चाहिये। किन्तु यदि मनमें कभी ऐसा विचार हो कि शाश्वानुसार प्रेमके साथ कर्मयोगका साधन मैं न कर सका, भक्तियोगका भी शाश्वानुसार आचरण मुम्भे नहीं हुआ, शक्तियोगकी तो बात ही क्या है ? ऐसी अवस्थामें साधकको क्या करना चाहिये और आपाभर सर्वसाधारण बनाता क्या करे ? इसका उत्तर यह है कि वे सब मुख्यरूपसे नामका अवलोकन करें और सर्वदा भगवान्मयको ही अपना विआम-स्थान बनावें।

कल्याणमें भगवान्मयका आभ्यर्य ही निरपद्रव साधना है। कबीरदासकी इस युक्तिको करठहारकी मध्यमाल्यपत्ते हृदयपर धारण करना चाहिये—‘सोबत ईर्ज चबत राम’ सबको ‘अपना राम’ समझकर गोस्वामी तुलसीदासकी भाँति सर्वदा सब वस्तुओंको देखकर ही कहना चाहिये—

‘सीयराममय सब जग जानी। कर्म प्रथाम जोरि ऊग जानी ॥’

अबवा गीताकी शिष्यके अनुसार ‘बासुदेवः सर्वभिति’ का अभ्यास करना चाहिये। जो कुछ दीर्घ पढ़े, सुन पढ़े,

जो नाममें उठे, उसीको भगवान् समझकर 'मां नमस्कुर' का अभ्यास करना । यह बड़ा ही सहज साधन है ।

शौकियाना अभ्याससे काम नहीं चलेगा । सर्वदा प्रथें के शासके साथ नामका जप करना पढ़ेगा, शास उपरको उठता है, उसीकी ओर लक्ष्य करके पढ़े एक बार, दो बार जितना हो सके नाम-जप करे, इसी प्रकार शासके गिरते समय पृष्ठ-दो-बार अभ्यास करे । पश्चात् इस संख्या-को बढ़ाकर शासके उठते समय छः बार और गिरते समय छः बार करे ! यही पामर, चारछाल सबके लिये कलिसे सुखपूर्वक तरनेका उपाय है । इसीमें भगवानकी प्राप्ति हो जायगी, भगवान् वामदेवका निश्चलिखित आशासन सुनकर इताश-भावको तिलाझ़िलि दे, नामपर प्रबल विश्वास करना चाहिये ।

'राम रामति ये नित्यं जपन्ति मनुजा भुवि ।
तेऽपां सृष्टुमयादीनि न मर्वन्ति कदाचन ॥'

जो मनुष्य इस संसारमें 'राम-राम' जप करते हैं, उन्हें सृष्टु आदिका भय कदापि नहीं होता ।

इस धोर कलियुगमें जो लोग नित्य राम-नामका जप करते हैं, उनको सृष्टुभय आदि कोई डर कदापि नहीं हो सकता । रामायणमें राम-नामके सम्बन्धमें जो कहा गया है कि—

'रामनामैव मुक्तिः स्यात् कर्ता नामयेन केनचित् ।'

कलियुगमें केवल राम-नाममें ही मुक्ति होती है ।

इसी प्रकार गीता-भागवतादि प्रन्नयोंमें भी, श्रीकृष्ण-नामके सम्बन्धमें यही बात कही गयी है । इसी प्रकार शिव तथा दुर्गा-कालीके सम्बन्धमें समझना चाहिये । जिसको गुरुने जो नाम-मन्त्र दिया है, वह उसीको जपे । उसीमें उसका काम बन जायगा । यह भजन रहे कि, नाम असेक

है किन्तु नामी एक ही है । इस नामीकी अपेक्षा कलियुग-में नामकी महिमा सौ-गुनी अधिक है, इस सम्बन्धमें शृणुव कहते हैं—

'नमैव तव गोविन्द कर्तौ ततः शताधिकम् ।

ददायुक्तारणान्मुक्तिं दिना चाद्राम्योगतः ॥'

हे गोविन्द ! इस कलियुगमें तुम्हारी अपेक्षा तुम्हारा नाम सौ-गुना बड़ा है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रथाहार, धारणा, ध्यान, समाधि इस अष्टावयोगके बिना ही नाम-जप मुक्ति प्रदान करता है । सभी नामोंके सम्बन्धमें यही एक बात है । आदि-पुराणमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन से अपने नामके सम्बन्धमें कहते हैं—

जीवके लिये मेरा नाम ही बरण है, नाम ही त्रिलोकी-का गुरु एवं मूल है, नाममें बढ़कर कोई पावन करनेवाली वस्तु नहीं है । नामके समान न तो ध्यान है, न जप है, न स्थान है और न नामके समान कोई गति है । नाम ही जीवका जीवन अर्थात् अवलम्बन है, नाम ही बड़ी भारी सम्पत्ति है, नाम ही संसारमें सत्य वस्तु है और नाम ही प्रिय वस्तु है । जो लोग श्रद्धामें अथवा विनोदमें परम-संगल नामका गान करते हैं उनके मध्यमें वह नामस्तु परमतत्त्व सदा निवाय करता है, इसमें कोई मन्देह नहीं । जिस किसी प्रकार ये केवल नामका उचारण करनेवाले लोग बिना ही प्रयासके आदरके साथ परम धार्मको प्राप्त होते हैं ।

श्रीअर्जुन नाम-प्रताप श्रवण करके उच्छृंखलित हत्यमें पुकार उठते हैं—

भवत्येव भवत्येव भवत्येव महामते ।

सर्वपापपरिवास्तुः स्मरन्ति नाम बन्धवाः ॥

नमोऽस्तु नामरूपय नमोऽस्तु नामजलिप्ते ।

नमोऽस्तु नामदुदाय नमो नाममयाथ च ॥

मेरे मालिक !

वह सच है, तुम मुनते हो दीनोंकी करण मुहर ।

पर मैं देव ! सम्हाल सकूँगा कैसे ध्यार-दुलार ॥

एक मधुर हाँफोंको मेरे प्राण तरसते रहते ।

खड़ा गँड़ूँगा पर कैसे जब होपी आँखें चार ॥

आँदेंगे मेरे मालिक, स्वागत कैसे कर पाऊँगा ।

कम्पित उर लेकर मैं कैसे उनके समुख जाऊँगा ॥॥

मुनता हूँ, तुम दानजनोंके आँसूमं रहते हो ।

दीख न पढ़ते पर जब टनकं साथ नाश बहते हो ॥

कहीं निकल मत जाओ तुम अनजाने, मैं डरता हूँ ।

इसांश्यमें तो बरजोरी में रुदन नहीं करता हूँ !!

तुम जब आओगे, मृदु बरणोपर तब इन्हे गिराऊँगा ।

आँखोंकी 'रंगा यमुना' को सुखसे तभी बहाऊँगा ॥॥

ईश्वरका अस्तित्व

(लेखक — 'सत्य')

सत्यके दिना संसारका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। ईश्वर सत्यस्वरूप हैं; इसो कारण संसारमें सत्यकी महत्ता है। अतएव सत्यके माननेवालोंको ईश्वरको अवश्य ही मानना चाहिये। संसारके अधिकांश कार्योंमें दूसरोंमें

जिज्ञासा करनी पड़ती है। जैसे मनुष्य किसी स्थान, धर्मि, मन्दिर, जलाशय आदिकी जिज्ञासा दूसरे मनुष्यमें करता है। विद्या, कला-कौशल आदिकी जिज्ञासामें मनुष्यको दूसरोंकी सहायता अपेक्षित होती ही है। पुनर्लोकोंके हारां जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भी दूसरे मनुष्यके द्वारा ही पुनर्कबूद् (जिज्ञासा हुआ) होता है। इसप्रकार देखा जाता है कि मनुष्य दूसरे मनुष्यकी सहायताके उपर अग्रणी अवलम्बित होता है। और वे महायक मनुष्य जो मार्गप्रवर्णक, शिष्यक अधिका लेखक होते हैं, अपनी मतिके अनुमार मत्यका ही व्यवहार करते हैं और उनके उस सत्य व्यवहारपर विश्वास करके ही संमारका कार्य चलता है। अतः यह कहना गलत न होगा कि संसारका सम्बालन सत्यके द्वारा ही होता है।

इम सत्यका मूल आधार ईश्वर है। यदि सत्यका अस्तित्व न रहे तो जिज्ञासा करनेपर किसीको या तो कुछ उत्तर ही न मिलेगा या यदि मिलेगा भी तो अन्धथा। जिसका अनुसरण करनेमें मनुष्यका अभीष्ट सिद्ध न होगा और परस्परमें अविश्वास बढ़ने लगेगा, (जैसा कि नास्तिक-वादमें होना सम्भव है) अविश्वासके बढ़नेमें ढेष बढ़ेगा और तब संसारमें बड़ी अशानिम भव जायगी। अतः सत्यका अस्तित्व अग्रणी अवश्यक है और सत्य ही ईश्वर है।

ईश्वरका दूसरा गुण है स्त्याग। ईश्वरके स्त्याग (यज्ञ) में ही यह विश्व बना है और सम्बालित हो रहा है। अर्थात् असीम ईश्वर अपनेको अपनी मायासे सीमाबद्ध करके स्वयं संसारस्वरूप हो अपनी शक्तिसे इसको सञ्चालित कर रहा है। अतः संसारमें मनुष्यके किये स्त्याग करना प्रधान धर्म है। व्यवहारमें धर्म और नीतिका बर्ताव किया जाता है, इनके दिना संसारमें व्यवहार चल ही नहीं सकता है। यह धर्म और नीति स्त्यागके ही स्पष्टात्मक है, अतः

सिद्ध हुआ कि स्त्यागका अस्तित्व आवश्यक है। उसी प्रकार स्त्यागगुणसम्बन्ध ईश्वरको मानना परमावश्यक है। यदि ईश्वरको न माना जायगा तो मनुष्य निम्नसन्देह पशुवत् हो जायगा, क्योंकि पशुओंमें ईश्वरके ज्ञानका अभाव होता है। परिणाम यह होगा कि फिर मनुष्य निपट म्वार्थी होकर पशुके समान आचरण करने लगेगा। पशुवत् बलवान् होकर वह अपने सुखके लिये निर्वलोंका नाश करेगा, तथा उसकी सम्पत्ति हरणकर उसे भोगेगा। जो उस बलवान् मनुष्यमें भी अधिक बलवान् होगा वह उसका नाश करेगा। इसप्रकार यह स्त्याग-जगत् पशु-जगत् बन जायगा।

सबके परमपिता अथवा परमकारण ईश्वरको मानकर हमी नानेमें मनुष्य आपसमें आत्मावका सम्बन्ध रखते हैं तथा उसके अनुमार एक दूसरेकी सहायता करते हैं। ऐसा न हो तो फिर यह संमार ही न चले। ईश्वरके अस्तित्वपर विश्वास न होनेपर एक मनुष्य दूसरेकी किस ज्ञान और सिद्धान्तके बलपर सहायता दरेगा? सहायता तो दूर रही वह अपनी पुष्टिके लिये दूसरेकी हानिकी के स्थानें लगा रहेगा।

फिर नास्तिकताका प्रचार होनेमें ईश्वर और उसके न्यायमें मनुष्यका विश्वास न रहेगा और तब पाप-पुण्यकी भावना भी संसारसे उठ जायगी। परिणाम यह होगा कि घोरी, छहती, परस्तीगमन, हृत्या, गृहदाह, मादकता आदि दुष्कर्मोंकी अधिकाधिक बृद्धि होती जायगी, क्योंकि इनके द्वारा तात्कालिक लाभकी आशा होती है। फिर तो कोई दूसरेकी हानिकी कुछ परवा ही नहीं करेगा, जिससे पाप-कर्मोंमें कोई भी स्काबट न रह जायगा। सब के-सब मनुष्य येन केन प्रकारेण अपने ही जीवनके सुखको बढ़ानेमें उद्योगमें लगेंगे। और तब यह जगत् पशु-जगत्में भी अधिक होनेतर अस्त्याचारमयी अवस्थाको प्राप्त हो जायगा।

नास्तिकवादके प्रचारमें भविष्यन्-जीवनमें विश्वास न रहनेके कारण लोग मृत्युमें बहुत ही ढरेंगे और उससे बचनेके लिये अनेक आयातार करेंगे। तथापि जब मरनेका समय आयेगा तो वे बहुत ही बवदायेंगे, जीवनभर पापमें रत रहनेके कारण अस्तिकालमें उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होती, अतः वही ही कठिनाई और दुःखसे उनका प्राणान्त होगा।

आजकल भी देखा जाता है कि जो मनुष्य जीवनमें अधिक पाप करता है, मरनेके समय उसे महा कष्ट होता है और व्यथासे न्याकुल होनेके कारण उसका ऊर्ज्व शास बहुत अधिक समयतक चलता रहता है एवं माँगनेपर भी उसकी सृष्टि जल्द नहीं होती। इसप्रकारका कष्ट संसारमें प्रबल वासना होनेके कारण ही होता है और नास्तिकोंके लिये तो यह संसार ही उसका सर्वस्व होता है।

पशु-जगत्की सृष्टि प्रकृतिके अनुसार हो सकती है क्योंकि पशु प्रकृतिका अनुगमन करते हैं, परन्तु मनुष्यके लिये यह बात नहीं। यद्यपि मनुष्यका शरीर अनन्ये पलता है तथापि वह केवल फलाहार या पद्याहारमें शरीरको सुरक्षित रख सकता है और रखता भी है। यही क्यों, मनुष्य केवल वायुके आहारमें जीवित रह सकता है। मैंने एक ऐसे व्यक्तिको देखा हूँ जो महीनेमें केवल एक बार खाता है। मनुष्य इस जगत्का अनितम फल है।

जहाँ देखा जाता है वहाँ वस्त्र, अङ्ग, गृह, बाग-बर्गाचे, पथ, सवारी, जलाशय, शस्त्र, आभूषण, पात्र, पुस्तक आदि समस्त वस्तुएँ किसी-न-किसीके मङ्गल्प, तथा उस मङ्गल्पके अनुसार अध्यवसायमें बनती हैं। इनमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं जो विना मङ्गल्प या अध्यवसायके ब्रह्ममेव बन जाय। ऐसी अवस्थामें यह कव मम्भव हो सकता है कि ऐसा बहुत और विचित्र मंसार विना किर्णि मङ्गल्प-कर्ता और अध्यवसायीके बन गया हो ?

दिव्य घटनाएँ

इसके अस्तिरिक्त साधकके जीवनकी अनेक दिव्य घटनाएँ ईश्वरके अस्तिरिक्तोंसे सिद्ध करती हैं। अच्छे साधक पुरुष तो अपने जीवनकी अलौकिक दिव्य घटनाको प्रकाशित नहीं करते क्योंकि इसमें आहङ्कार और अभिकामकी अभिषूदि होती है। तथा इन दिव्य अनुभवोंके प्रकाशित करनेसे इनका होना भी बन्द हो जाता है। इसीलिये विष्णु अनुभवोंका कहना और सुनना दोनों अविहित मात्रा जाता है। संसारमें द्रव्य-प्राप्ति वही कठिनाईमें होती है परन्तु यह किसीका अनुभव है कि अस्यन्त आवश्यकता पढ़नेपर जब द्रव्यको नितान्त कमी होती है और उसकी प्राप्तिका कोई उपाय नहीं रह जाता तो अकस्मात् उस अभावकी पूर्ति हो जाती है जो भगवान्की कृपाके बिना असम्भव है।

इसके अस्तिरिक्त संसारमें ऐसे पुरुष भी हैं जिनको भगवानके अवतार तथा अद्वय महामात्राओंके केवल दर्शन ही नहीं होने वाले जो उनमें साक्षात् बातें भी करते हैं। परन्तु यह बहुत साधारण अवस्था है और इसमें आपत्ति भी हो सकती है। ऐसे महामात्राओंका भी अभाव नहीं है जो निष्ठ श्रीभगवान् और महर्षियोंका दर्शन ही नहीं करते बलिक उनके विष्णु रमण्य आनन्द और शान्तिमय तेजपुत्र-का अनुभव भी करते हैं, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता तथा जिसके विषयमें शास्त्र 'मूकाम्बादनवत्' कहकर तुष्ट हो गये हैं।

ईश्वर सर्वव्यापक है

[शिसरिणी]

महीमं, ज्ञात्मामे, भुवनभरमें, व्यामनतमें ।

प्रभामे, आभामे, निविदि तममें, कल्प पलमें ॥

प्रहोमे, नारोमे, पवन, वनमें, फूल, फलमें ।

वही सर्वव्यापी, अचल, जलमें और धर्ममें ॥ १ ॥

सूर्यमें समीरण, सुगन्ध, सरसीरुहमें, कानन, करुभरमें है, कीर्तिमें, कलङ्कमें ।

तीनों लोक-काल-वर्ग और अपवर्गमें भी, निखिल निसर्गमें, परागमें है, पङ्कमें ॥

देखो मेघमाला, महाद्वीप, महासागरमें, नम, मेदिनीमें, महाचलमें, मयूरमें ।

सारमें, असारमें, चराचर सुरासुरमें, सर्वव्याप्त ईश्वर है राजा और राजा ॥ २ ॥

—भगवान्प्रभाद विषाठी पम०३०, ए०-८००००

ईश्वरवाद और समाज-धर्म

(लेखक—२५० श्रीसदाशिवजी शाकी भिडे, संस्कृतक 'गीताधर्ममण्डल' पूरा)

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत् । तेन त्वं त्वं मुक्षीया मागृहः कृप्यस्तिद्दनम् ॥

३५४५% इमें जो कुछ भूतजातादि वीक्षा है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है । उस ईश्वरके दिये हुए **३५५%** पदार्थोंसे ही जीवन-निवाह करो । किसीके नामको भवकी (बस्तुओं) अभिलाषा मत करो ।

यह ईशावास्योपनिषद् का पहला मन्त्र है । ईशोपनिषद् वाज्ञासनेय-संहिताका अनितम अर्थात् चालीसवाँ अध्याय है । इसमें यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इस अध्यायमें वेदाध्ययनके पूर्ण होनेपर ही गुरुने शिष्यको उपरेका किया है । इस पहले मन्त्रमें आयी हुई अध्यम पुरुषकी दोनों क्रियाओंपर प्राप्त देनेमें उपर्युक्त अनुमानकी पुष्टि होती है । मन्त्रके पहले वाक्यमें आये हुए 'जगती' शब्दका रूढ़ अर्थ पृथ्वी है परन्तु उपलक्षणमें उसका 'सृष्टि' अर्थ किया जा सकता है । आदिमें आया हुआ 'ईशा' शब्द बहुत ही अर्थपूर्ण है । केवल परमात्मा अध्यवा पर-व्यवहार अर्थको दिसलानेके लिये ही इस शब्दका प्रयोग यहाँ नहीं हुआ है, बल्कि सारी सृष्टिमें व्याप्त सत्ताके उत्तमस्थानके अर्थमें ही इसका प्रयोग हुआ है । सत्ताका अर्थ है स्वामित्व अध्यवा प्रभुत्व और यही 'ईश' धारुका मूल अर्थ है । स्वामित्वके अर्थमें प्रचलित भावामें 'सत्ता' शब्दका प्रयोग होता है । सृष्टिमें स्थित ममल स्थूल और सूक्ष्म पदार्थोंपर ईश्वरकी सत्ता (स्वामित्व) है । ईश्वर मर्वद्यायी है और माय ही वह सम्मन सत्ताका अधीक्षक है, यह पहले वाक्यमें दिक्षाकाया गया है । स्यापकत्व और सत्तावैशास्त्र, ये दोनों शब्द क्षीर-कीर भास्त्रात् समान होनेपर भी बिल्कुल ही एक हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता । इसीलिये 'आवास्य' अध्यवा 'वास्य' शब्दमें व्यापकत्व सूचित करते हुए 'ईश' शब्दके द्वारा सत्ताधीशत्व दिक्षाकाया गया है । यहाँ सत्ताधीशत्व अर्थ ही मुख्य है । यह बात मन्त्रके दूसरे वाक्यसे सिद्ध होती है । ईश्वरके सत्ताधीश होनेपर भी उसकी सत्ताका ज्ञान बाता प्रकारकी उपाधियोंहारा होता है । उन उपाधियोंका बर्णनकरण करनेपर उनके तीन भाग दिक्षायी देते हैं—**व्यक्ति** (व्यष्टि), समाज (समाजिति) और अस्तित्व सृष्टि (परमेष्ठि) । एक ही व्यक्ति और समाजमें अध्यवा और अक्षयवीका सम्बन्ध है । कौटुम्बिक संस्कृत समाजके

आन्तरिक अवयव हैं, ऐसा माननेपर व्यक्तिके स्थानमें कुटुम्बके अधिपतिको रखनेमें कोई आपत्ति नहीं । सांसारिक पदार्थोंका समावेश इन तीन प्रकारकी सत्ताओंमेंमें किसी-न-किसीके अन्तर्गत हो जाता है । उदाहरणार्थ, किसी भक्तानको भपने उपयोगमें लानेके लिये उस घरके मालिक-की आज्ञा अपेक्षित होती है क्योंकि वह घर उस भालिक, व्यक्ति-विशेषके सत्ता (स्वामित्व) में होता है । इमप्रकार व्यवहारमें यह वैयक्तिक सत्ता अनेकों प्रकारकी देखनेमें आती है । ऐसे ही किसी सार्वजनिक व्यापका उपयोग करनेके लिये उस समाजकी आज्ञा आवश्यक होती है । राजसत्ता समाजकी प्रतिनिधि-व्यरूप होनेके कारण राजसत्ता और समाजसत्ताको तात्त्विक हृष्टिमें एक समझनेमें कोई हानि नहीं है । बल्कि तत्त्वज्ञानकी हृष्टिमें यही कहना चाहिये कि समाजसत्ता ही यथार्थ है; राजसत्ता व्यवहारकी सुविधाके लिये समाजसत्ताका स्पान्नर अध्यवा संकुचित रूप-भाग है । मनुष्यके कितने ही प्रयोजन ऐसे होते हैं जिनके मिल करनेकी सामर्थ्य उपर्युक्त दोनों सत्ताओंमें नहीं होती । आचुनिक युगमें भौतिक शास्त्रोंकी अत्यन्त प्रगति होनेके कारण पहले जो बातें मानवी सत्ताके बाहर समझी जाती थीं, उनमेंसे कितनी ही अब मानव-प्राणीके इन्हगत हो चुकी हैं । तथापि मानवी सत्ताकी सीमामें न आयी हुई अभी बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो मानवी-जीवनके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं । उदाहरणार्थ, बादलोंका बरसना मनुष्य-जीवनके लिये अत्यन्त प्रयोजनीय है । परन्तु उसकी कुछी जिस सत्ताके हाथमें है, वह परमेष्ठी सत्ता है । 'परमे व्योम्नि' अर्थात् परमाकाशमें रहनेवाला सर्वसत्ताधीश परमेश्वर ही यहाँ 'परमेष्ठी' शब्दसे अभिप्रेत है । अतः जिसप्रकार सब पदार्थ 'ईशावास्य' अर्थात् ईश-सत्ताके भीतर हैं उसी प्रकार मनुष्यके जीवनका क्रम भी उसी सत्ताके आश्रयमें सञ्चालित होता है ।

ईश-सत्तांक विभाग

मनुष्यको अपने भारण-पोषणके लिये अनेक पदार्थोंकी निरूप आवश्यकता पड़ती है । परन्तु वे सब पदार्थ उस प्रकारके ही स्वामित्वमें नहीं होते । उनमेंसे कुछ अन्य व्यक्ति-

की सत्ताके, कुछ राजसत्ताके तथा कुछ परमेष्ठासत्ताके होते हैं। यह सीनों सत्ताएँ एक ही ईश-सत्ताके विभिन्न स्वरूप हैं। अपने जीवन-पात्राकी आवश्यक सामग्री हमें किसी भी सत्ताहारा प्राप्त हो, परन्तु वस्तुतः हमें वह ईश-सत्तासे ही मिलती है, यह बात ज्यानमें रखना आवश्यक है। मनुष्यके लिये प्रयोजनीय पदार्थ जिसकी सत्ता (स्वामित्व) में होते हैं, वही जब हमें देता है, तभी हम उनका प्रयोग कर सकते हैं। किसी वस्तुको दूसरोंके देनेका अर्थ यह है कि उस वस्तुपरमे अपना स्वामित्व हटाकर, जिसको वह वस्तु दी जाती है उसका स्वामित्व उत्पत्त कर देना, इसीको शास्त्रीय भाषामें दान कहा जाता है। परन्तु यह दान धर्मादा नहीं है, 'स्वत्वनिष्टिपूर्वकपरस्वत्वायादानम्' शास्त्रकारोंने दानकी यही व्याख्या की है; इसलिये उस सर्वसत्ताधीश ईशवाहारा किसी भी रूपमें प्राप्त वस्तुसे मनुष्यको अपना भरण-पोषण करना चाहिये। इसी अभिप्रायसे मन्त्रके दूसरे वाक्यमें 'तेन त्वयक्तं भुञ्जीयाः' यह पद आया है। इसमें यह दूसरा सिद्धान्त निकलता है कि किसी पदार्थका, जबतक कि उसपरमे दूसरोंका स्वामित्व हटकर अपना स्वामित्व न उत्पन्न हो जाय, उपयोग करना परधन-अपहरण होता है। यहाँ 'धन' शब्द जीवनके लिये प्रयोजनीय वस्तुके व्यापक अर्थमें आया है, यह ज्यानमें रखना चाहिये। अपने जीवनके लिये उपयोगी वस्तु जिस सत्तासे मिलनेवाली हो, उसी सत्तामें वह व्याधोग्य उचित उपायोद्धारा प्राप्त करनी चाहिये। इसी अभिप्रायसे दूसरे वाक्यमें 'तेन त्वयक्तं' पद आया है। इस नियममें घोड़ा-सी भी भूल होनेपर दूसरोंके धनका अपहरण हो जाता है। अतः व्यक्तिमें लेकर परमेश्वर-पर्यन्त सत्ता (स्वामित्व) के लो-जो स्त्रे हीं, उन सबका सूक्ष्म इष्टिमें विचार करके अपने जीवनको पवित्र रखनेके लिये अत्यन्त स्वाधान रहना आवश्यक है।

स्वामित्वका तात्त्विक अंग

इस मन्त्रमें आये हुए नियम जिसप्रकार नैतिक-ईष्टिमें अत्यन्त महत्वके हैं, उसी प्रकार आर्थिक-ईष्टिमें भी वही महत्वके हैं। कुछ लोग समझते हैं कि नीति और अर्थमें कोई पारम्परिक सम्बन्ध नहीं है, परन्तु यह ठीक नहीं। वेशान्त, धर्म और अर्थशास्त्रके मूल तत्त्वोंमें सामान्यतः मेह दोनों ही चाहिये, वह हिन्दू-संकृतिका

सिद्धान्त है। वैयक्तिक सत्ता और सामाजिक सत्ताकी सीमा निर्धारित करना तथा व्यक्तिगत सत्ताकी समाप्तिके और सामाजिक सत्ताके प्रारम्भके स्थानको ठीक-ठीक समझना बहुत ही कठिन है। अर्थ-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र दोनोंका विशाल अभ्यास होनेपर ही सत्ताकी सीमा निर्धारित की जा सकती है। और तभी मनुष्यके किये उपर्युक्त मन्त्र-के आदेशानुसार 'अस्तेव' का पालन सम्भव होता है। 'सत्ताकी इन विभिन्न सीमाओंको निर्धारितरूपसे समझना प्रायः असम्भव है, इसलिये इनके बत्तेमें न पढ़ना ही ठीक है' ऐसा कुछ लोग कहते हैं परन्तु यह बात विश्वकूब ही ठीक नहीं। 'शास्त्राय विषय समझमें नहीं आता, इसलिये शास्त्रोंको छोड़ दो' इसप्रकारके ओछे विचारोंसे हिन्दू-समाजकी आज्ञातक वर्षी हानि हो सकती है। अर्थ और राजनीतिके विषयोंको जो भर्तीभौति समझते हैं, उन्हें इस सत्ताके व्यवस्थ तथा इसकी सीमाका ठीक-ठीक ज्ञान है। प्रमुख मन्त्रके उपदेशानुसार चलकर मनुष्य अपने जीवनको पूर्ण पवित्र बना सकता है। परमेश्वरीय सत्ताका स्वरूप, उस सत्ताहारा होनेवाले मंसारके बड़े-बड़े कार्य। उनके साथ मानवी जीवनका सम्बन्ध, समाज, व्यक्ति, अर्थ-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र—इन सर्वोंका प्रमुख मन्त्रमें बताये दुए़ नियमोंके साथ प्रत्येक या अप्रत्येक मन्त्रन्वाहोनेके कारण यह सभी व्यष्ट-विद्याके दृंग हैं ऐसा सिद्ध होता है। कुछ उद्यमीन सम्प्रदायोंकी आदत पद जानेके कारण तुदिवामदवन्धी शास्त्रीय नक्षणमें लोटों-के मनमें एक प्रकारका भय-सा हो गया और उपनिषदों-के समान पारमार्थिक समाहित्यमें आधिभौतिक शास्त्रोंकी दृतक नहीं आनी चाहिये, पैसों उनकी धारणा बन गयी। परन्तु यह धारणा मूल भूति-मन्त्रको दृष्टिमें किसप्रकार व्याप्त है, उसे यहाँ अब अधिक बतलानेकी आवश्यकता नहीं।

सत्ता (स्वामित्व) का ज्ञान और उसकी पवित्रता

इस मन्त्रमें जो नैतिक नियम आया है वह समाजकी ईष्टिमें अत्यन्त महत्वका है। मनुष्यको व्यय कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह न बतलाकर, मनुष्यमात्रको दूसरोंके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये, इस मन्त्रमें सुखप्रबोधमें इसीको बतलाया है। इसमें अस्तेवकी अत्यन्त ही सूक्ष्म कल्पना है। किसी प्रकारका बतला दिये जिस दूसरोंकी वस्तुका उपयोग करना महान् पाप है, वह बात सहज ही

बहुतोंके ज्यानमें नहीं आती। मालिकसे बिना पूछे उसकी वस्तुको काममें छाकर, किर डसे जहाँ-का-तहाँ रख देनेमें कोई दोष नहीं, ऐसा बहुतोंका मत है। पर वस्तुः नीति-शास्त्रकी इष्टमें ऐसी मनोवृत्ति पापयुक्त ही समझी जाती है। उज्ज्वल नीति-निष्ठामें पापवित्तिको जरा-सा भी स्थान नहीं है। यह नीति-निष्ठा ही ब्रह्मविद्याका आधार है, ऐसा अनुत्तिमें स्पष्ट कहा है। (देखिये कठ० १ । २ । २४) नीति-शास्त्रके इस महान् तत्त्वका इस मन्त्रमें जैसा व्यापक, सूक्ष्म और निर्भ्रान्त बण्णन है वैसा शायद ही अभ्यन्त्र कही भिके।

संन्यास-मार्ग-कृत अर्थ-विपर्यय

इस मन्त्रके सरल अर्थपर ज्यान देनेमें यह बात महज ही दिखायायी देती है कि इसका संन्यास-मार्गमें सम्बन्ध नहीं खुल सकता। परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि अधिकांश प्राचीन टीकाकारोंने इस मन्त्रको विस्तृत संन्यास-परक ही लगाया है। ऐसा करनेमें शब्दार्थोंकी स्पीचितात्मा होना कोई आश्रयकी बात नहीं है। 'तेन स्वकैन मुञ्जाधा:' इसका अर्थ उन्होंने ऐसा किया है कि जो कुछ यहच्छामें (अपने-आप ही) प्राप्त हो जाय उसीको ईश्वरका दिया हुआ समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि उनके मतसे 'यहच्छा-लाभ-सन्नाश' ही उपर्युक्त वाक्यका अभिप्राय है। यहच्छामें प्राप्त होनेवाला वस्तुआपर जीवन-निर्वाह करना ही संन्यासधर्म होनेके कारण इन तीन पदोंमें (स्वस्पतः) सर्वकर्मसंन्यासका ही उपर्युक्त किया गया है, ऐसा संन्यासमार्गो महातुभावोंका कहना है। उसी प्रकार 'मागृथः' इस पदमें एक स्वतन्त्र वाक्यकी कल्पनाकर उसका सम्बन्ध पहले वाक्यके सर्वकर्मसंन्यासकी कल्पनामें लोक दिया गया है। ऐसा करनेमें वाक्य-भेद-दोष सो आता ही है, साथ ही पहले आये हुए 'धनम्' कर्मका अलग छोड़कर 'मागृथः' कियाके लिये 'किमपि' कर्मका अभ्याहर करना पढ़ता है, यह भी व्याकरणानुसार दोष ही है। परन्तु 'किसी वस्तुकी भी अभिलाषा मत करो' इसप्रकारका अर्थयुक्त वाक्य बन जाय और वह सर्वकर्म-संन्यासकी कल्पनाके लिये उपयोगी हो, इस जाभके लिये संन्यास-मार्गवालोंने उपर्युक्त सब दोषोंको खुशी-सुखी अपने सिर ले लिया है। ऐसी प्रकार 'कस्यस्वद्दनम्' इस अवशिष्ट तृतीय पदको पृथक् वाक्य मानना पड़ा है। 'धन किसका?' इसप्रकार आक्षेपयुक्त प्रश्न करके, धन

किसीका भी नहीं है, जगत्के सदृश धन भी मिथ्या है, धन भी सत्य वस्तु नहीं है—इसप्रकार इस तीसरे वाक्यका अर्थ करके जगन्मन्यात्मक प्रतिपादन करनेवाले मायावादकी कल्पना सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। 'कस्यस्वद्' में 'स्वद्' शब्दका अर्थ 'अपि' शब्दके समान भी होता है, परन्तु वह संन्यास-मार्गके अनुकूल नहीं होता, इसलिये उसे छोड़ दिया गया है। संन्यासमार्गकी कल्पनाको बौद्धानेके लिये दूसरे वाक्यकी ऐसी स्तीचातानी करके भी अन्तमें यह प्रयत्न सफल नहीं होता, संन्यासमार्गियोंसे ऐसा कहनेका प्रसंग अगले मन्त्रमें भी आ जाता है—

कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविवेच्छत् समाः ।

एवं त्वयि नान्यभेदोऽस्ति न कर्म द्विष्टते नरे ॥

(१० २)

अर्थात् इस संसारमें कर्मोंको करते हुए ही सौं वर्ष (पूरी आयु) जीनेकी इच्छा करे, ऐसा होनेपर मनुष्यमें कर्म लिपायमान नहीं होते (अर्थात् कर्म बन्धनकारक नहीं होते) इसके अनिरिक्त दूसरा प्रकार (कर्म-बन्धनमें छुटनेका दूसरा मार्ग) नहीं है।

पिछले मन्त्रमें कहा है कि अनेकरूपमें हैश्वरीय सत्ता-द्वारा उचित रीतिमें प्राप्त हुई सामग्रीमें ही अपनी जीविका चलावे, किसी भी वस्तुमें अनुचित लाभ न उठावे। परन्तु पदार्थपर दूसरेका भ्वामित्व नष्ट होकर अपना भ्वामित्व उत्पन्न हो जाय, इसका कौन-सा उपाय है? इस बातको अतलाये बिना मन्त्रके सिद्धान्तका पूरा वर्णन नहीं होता, अतएव यह दूसरा मन्त्र केवल पहले मन्त्रके सिद्धान्तकी भी पूर्ति करता है।

मनुष्य-जीवनका शास्त्र-शुद्ध मार्ग

जिजीविशा अर्थात् जीनेकी इच्छा प्राणीमात्रमें एक समान ही होती है। यह इच्छा नैमित्तिक होने हुए भी अर्थमें है। उसी प्रकार यह वेदान्त-सम्मत भी है, क्योंकि वेदान्त-शास्त्रके नियम पिरद-प्रह्लादके स्वभावके अनुसार ही होते हैं। अप्सजानी होनेपर मनुष्यको जिजीविशा होती है या नहीं? संन्यास-मार्गवालोंने यहाँ ऐसा प्रश्न उपस्थित करके उत्तर दिया है कि 'ज्ञानी मनुष्यको जिजीविशा नहीं होती।' परन्तु यहाँ कर्मसम्बन्धी विशेष नियम बतलाया गया है, इसका विचार करनेमें यह स्मृतिकार करना पड़ता है कि कोई भी स्वरूपतः कर्मस्याग नहीं कर सकता। इस आपत्तिको टालनेके लिये संन्यास-मार्गवालों

उपर्युक्त उत्तर देते हैं। परन्तु ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंको जिजीविषा नहीं होती, वह कल्पना वैदिक इच्छियोंको विलक्षक ही अभियेत नहीं थी; अधिक तो क्या, संन्यास-मार्गधारोंको भी यह कल्पना मात्र नहीं है, मात्र्य होती सो सर्व-कर्म ब्रह्मास करनेवाले ज्ञानी पुरुषके लिये शारीर-कर्म करनेकी भी अनुसार संन्यास-मार्गमें क्यों दी जाती? इसका सरल उत्तर यहाँ है कि जिजीविषा एक प्रकारकी इच्छा है सही, परन्तु वह दूसरी इच्छाओंकी भाँति विचारपूर्वक धारण की जाती हो अथवा प्रसंग-विशेषमें ही उपक्रम होती हो, ऐसी बात नहीं। सर्वो शारीरका जिजीविषा (जीनेकी इच्छा) एक स्वभाव-सिद्ध धर्म ही है। धर्मशास्त्र अथवा वेदान्त-शास्त्रने भी इस जिजीविषाका विरोध नहीं किया है, बल्कि इस जिजीविषाको नष्ट करना शास्त्रोंने निन्दनीय बताया है। नैसर्गिक नियमोंके अनुसार जीनेकी इच्छा करना मानव-प्राणीका स्वभाव है, इसके अनुसार मानव-प्राणी यह इच्छा यादजीवन करता ही रहेगा। इस शातपर ध्यान देकर ही वैदिक इच्छियोंने इस जीवनेच्छाके साथ एक महत्वपूर्ण शास्त्रीय नियम जोड़ दिया है। जिसप्रकार जीवनेच्छाका त्याग नहीं किया जा सकता और वैसा करना भी नहीं चाहिये, उसी प्रकार इस शास्त्रीय नियमका भी कोई उल्लंघन न करे, यही उसका अभियाय है। वह नियम यही है कि इस लोकमें मनुष्यकर्मोंको करते हुए जीनेकी इच्छा करे। इसमें एक और सिद्धान्त यह निकलता है कि जिसको कर्म करनेकी इच्छा न हो वह जीनेकी इच्छा न करे। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार जिजीविषा अटल और अपरियाज्य है उसी प्रकार कर्मच्य-कर्मको भी अटल और अपरियाज्य समझना चाहिये। यथापि 'कर्म' शब्दका यहाँ खुलाशा नहीं है तथापि इसमें कोई संशय नहीं है कि उसका 'वर्णाश्रम-विहित' विदेशण मन्त्रमें विवक्षित है। यहाँ 'जिजीविषेत्' कियापद विवर्यक है, पर वह मुख्य (अपूर्व) विधि नहीं है। वर्णोंकि जिजीविषाके स्वभावन: प्राप्त रहनेके कारण उसके लिये स्वनन्द शास्त्रज्ञानी आवश्यकता नहीं है। परन्तु विहित कर्मकी बात दूसरी है। वर्णाश्रम-विहित कर्मके आचरणकी ओर मनुष्यकी स्वाभाविक प्रहृति नहीं होती, इसीलिये कर्मके विषयमें शास्त्रज्ञानी अस्तम आवश्यकता होती है। सुतरां इस मन्त्रमें कर्मविषयक जाग्रा ही मुख्य है, ऐसा समझना चाहिये। 'धृतं समा:'

अर्थात् सौ वर्षका यह उपक्रम मनुष्यके आयुकी सामान्य सीमा दिखलानेके लिये हुआ है। इस 'वर्ष-शब्दके उहूसे का अभिप्राय यह है कि प्रथमेक मनुष्य इसप्रकारकी महस्ताकांक्षा रखते कि वह अपनी सम्पूर्ण आयुका कर्तव्यकर्मोंके आचरणमें ही उपयोग करेगा। इसप्रकारसे अपने सम्पूर्ण धीर्घनक्षमको ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यकर्ममें छोगा देनेपर मनुष्यको वे कर्म बन्धनकारक तो होते ही नहीं, प्रस्तुत मोक्षदायक होते हैं।

वर्ण-धर्म अर्थात् समाज-धर्म

पहले मन्त्रमें 'येन यन्नेन भुभीयाः'—यह पद ध्याया है, इसका तात्पर्य उपर बतायाजा चुका है। अर्थकि, समाज और सृष्टि इन तीन रूपोंद्वारा सर्वसंसाधीश ईश्वर जो देता है उसीसे मनुष्यको अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिये, यह निश्चय हो गया है। परन्तु इस व्यवहारमें स्वामित्वका परिवर्तन (अदला-बदली) किसप्रकार होना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर प्रस्तुत मन्त्रमें बहुत ही सुन्दर रीतिमें दिया गया है। मानवी-कर्मके दो विभाग होते हैं—वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म। आधुनिक युगमें हन्ते समाज-धर्म और अर्थकि-धर्म नाम लिये जाते हैं। मनुष्यके द्वारा बुद्धिपूर्वक जो कर्म होते हैं, उनका समावेश अवश्य ही उपर्युक्त किसी-न-किसी विभागमें होता है। चार वर्ण और चार आश्रमरूप वर्णाश्रमकी व्यवस्था प्रसिद्ध ही है। मनुष्यको स्वयं कैसे बनाना चाहिये, यह आश्रम-व्यवस्थामें निश्चित होता है तथा दूसरोंके साथ कैसे बनाना चाहिये, यह वर्ण-धर्मके द्वारा जाना जाता है। पदार्थके स्वामित्वके परिवर्तनका प्रश्न मुख्यतः वर्ण-धर्ममें ही आता है। मनुष्य यदि अपने वर्ण-धर्मका नियमितरूपमें आवश्यक करे तो स्वामित्वके परिवर्तनका प्रश्न इसप्रकार सहज हो जाता है, जैसे, ब्राह्मण यदि अपरा (आधिर्भातिक) तथा परा (आध्यात्मिक) विद्याकी शिक्षा समाजको दे तो यह सिद्ध होता है कि उसने ब्राह्मणके वर्ण-धर्मका पालन किया। इस कार्यके बदलेमें शिष्य, समाज अथवा राजा के द्वारा उसे जो बेतन मिले उसपर उसका अधिकार स्वतः ही उपक्रम होता है, इस बेतनके द्वारा अपनी जीविका चलानेमें पूर्व-मन्त्रमें कहे अनुसार वह पूर्णतः निष्पाप रहता है। परन्तु उसे अपने काममें आकृत्य, प्रमाद तथा दूसरे तनिक भी नहीं करना चाहिये। अब वह ऐसा करेगा तो पूर्व-मन्त्रके उपवेशाकुसार

(उसका) यह (वेतन ग्रहण करना) चोरी होगा, इसमें कोई शंका नहीं। वैयक्तिक व्यवहारमें भी उपर्युक्त उदाहरण लागू हो सकता है। अध्ययन, आव्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह यह छः कर्म ब्राह्मण-ब्राह्मणके धर्ममें आते हैं। उनमें से तीन कर्म ब्राह्मणके उपजीविकाके लिये हैं, ऐसा धर्म साक्षकारोंने कहा है (मनु० १०। ७३)। शिष्टाके बदलेमें कुछ भी लेना ठीक नहीं, ऐसा कुछ लोगोंका मत है परन्तु इस विषयमें मनुष्यतिकारने जो स्पष्ट नियंत्रण दिया है (मनु० २। ११२, ११३) उमपर व्यान देनेमें यह बात समझमें आ जाती है कि उपर्युक्त मत शास्त्रीय नहीं। इस-प्रकार चारों ही वर्ण धर्मोंका पूरा-पूरा मेल बैठाया जा सकता है। व्यक्तिगत अथवा समाजमें अपनी आजीविकाके जो साधन प्राप्त किये जाते हैं उनके बदलेमें मनुष्यको उन व्यक्ति तथा समाजके लिये पर्याप्त परिश्रम करना अत्यन्त अवश्यक है। समाज और व्यक्तिके कल्याणकी इष्टिये वर्णांश्रम-धर्मकी रचना होनेके कारण यह बदला कर्तव्य-बुद्धिये चुकाया जा सकता है और हमीमें वर्णांश्रम-धर्मकी रचनागत महाव इष्टियोंचर हो सकता है। दूसरोंके लिये परिश्रम किये जिन उनमें किसी प्रकारकी सहायता लेनेका अधिकार मनुष्यको नहीं है। इसमें यिद्ध होता है कि भिक्षा अथवा याचनाका मिद्दान्त श्रुतिको बिल्कुल ही मात्र नहीं है। इन दोनों मन्त्रोंका अभिप्राय ब्रह्माण्ड-पुराणमें आया है। और उसमें—‘तहन्तेवै भुजीया यतो नान्यं प्रयाच्चेत्’—ग्रन्थकारने ऐसा निष्कर्ष निकाला है। हिन्दू (वैदिक) मनुष्य अपने वर्णांश्रम-विहित कर्मोंका नियमानुसार आचरण करनेपर उसके व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रभावोंका समाधान आप ही हो जायगा। ऐसी धर्मरचना इष्टियोंने की थी। जिसमें एकको दूसरेके समीप याचना करनेका कोई कारण हो नहीं रह जाता था। ऐसी ही परिस्थिति समाजमें उत्पन्न हो गयी थी—

‘न केनचित् याचित्तव्यं कश्चित् निष्क्रियनापदि।

इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता ॥’

अर्थात् सहूकालके सिवा कभी भी कोई किसीमें किसी वस्तुकी याचना न करे, पूर्व-कालमें मनुने मानव-प्राणोंके लिये ऐसी व्यवस्था की थी; यह महाभारतमें कहा गया है। सामाजिक समताकी पूर्णताका यह एक ही लक्षण है। परन्तु ऐसी पूर्ण समता उड़त वस्त्रमें ही समाजमें

उत्पन्न हो सकती है। औपनिषद ब्रह्मविद्याके युगमें समाज उड़तावस्थामें था। इसी कारण प्रान्तुत मन्त्रमें कथित सिद्धान्तका उस समय व्यवहार हुआ होगा, ऐसा कल्पना अनुक नहीं। ब्रेष्ट-बृहि-जैसी घटनाओंके लिये, जो ईश्वरीय सत्ताके अधीन हैं, ईश्वरोपासनाके नाना प्रकारके मार्ग उस समय भी प्रचलित थे, उन उपासनाओंका भी वर्णांश्रम-धर्ममें अन्तर्भूत हो गया था। उसमें वर्णांश्रम विहित कर्मोंके आचरणस्पैषी अद्वितीय मार्गकी स्थापना वैदिक इष्टियोंने समाजके लिये किसप्रकार की थी, इसकी ठीक-ठीक कल्पना की जा सकती है। यह मार्ग व्यावहारिक और पारमार्थिक उपतिके लिये अत्यन्त हितकर होनेके कारण अन्युदय तथा निःश्रेष्ठस्प्रद है, यह बात निर्विवाद सिद्ध है।

मन्याम-मार्गकी अर्थविषयक रीचतान

पहले मन्त्रमें यह अभिप्राय स्पष्ट है कि ईश्वरीय सत्ता सर्वागमी है, उसके द्वारा जो मिले उसीमें जीविका चक्रावे, किसीकी भी सम्पत्तिका अपहरण न करे। और इस सर्वगमी ईश्वर-सत्तामें आजीविकाकी सामग्री किसप्रकार मिल सकती है यह बात दूसरे मन्त्रमें कही गयी है। इसमें यह बात सबके व्यानमें सहज ही आ सकती है कि ये दोनों मन्त्र एक दूसरे की पूर्ति करतेवाएँ हैं। परन्तु मन्यामसामान्वालालोंने इन दोनों मन्त्रोंको एक-दूसरेमें अलग करके यह निश्चय किया है कि पहला मन्त्र ज्ञानीके लिये है। परन्तु इस व्यवस्थामें बास्त्यमेव दोष आता है, इसपर उन्होंने बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया। इसके अतिरिक्त इन दोनों मन्त्रोंको ज्ञानी और अज्ञानीकी इष्टिये विभिन्न माननेपर दोनों ही मन्त्रोंके बाब्यार्थ अपूर्ण रह जाते हैं जिसमें कोई सा भी एक सिद्धान्त पूर्ण नहीं होता। ईश्वरमें जीवन-निर्वाहके साधन किसप्रकार प्राप्त हों, इसका उत्तर अतिके ही शब्दोंमें नहीं मिलता। यहृद्धामें प्राप्त वस्तुको ही ईश्वरप्रत्त उपर्युक्त समझा जाय, ऐसी कल्पना करनेमें ‘तेब स्यकेन’ इस पदका लाइणिक अर्थ मानना पड़ता है और ‘किसीके भी धनका अपहरण न करो’ यह बास्त्य व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार ‘तेन स्यकेन’ वाक्यका केवल संस्कार-परक अर्थ करनेमें ‘भुजीया’ और ‘मागृधः’ आदि अंश व्यर्थ हो जाते हैं। दूसरे मन्त्रमें भी इसप्रकार ‘तू कर्ममें लिपायमाव न होगा,’ ‘इसके सिवा संसारमें दूसरा मार्ग

महीं' इसप्रकार के अर्थका उत्तरार्द्ध निरुपयोगी ही जान पड़ता है। इसप्रकार इस मन्त्रमेदकी कल्पनाके कारण भाषा-वाचकी इष्टिये इन दोनों ही मन्त्रोंके वाक्यार्थमें अनेक आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और हतना होनेपर भी किसी एक सिद्धान्तका मांगोपांग पूर्ण वर्णन नहीं हो पाता, यह भी एक विचित्रता है। मन्त्र-विच्छेदकी यह कल्पना बहुत ही उत्तरकालीन और साम्राज्यिक है, इस वातका ब्रह्मसूत्रमें पता लगता है। इस मन्त्रको लक्ष्य करके बादरायणार्थके ब्रह्मसूत्रमें दो सूत्र आये हैं (ब्रह्मसूत्र ३। ४। १३-१४)। इनमें से पहले सूत्रमें कहा गया है कि ईशावास्यका यह दूसरा मन्त्र सामान्य नियमसूचक है, विशेष नियमसूचक नहीं। परन्तु प्रकरण-मन्त्रमें इस दूसरे मन्त्रमें ज्ञानी मनुष्य ही विवक्षित मानना पड़ता है। क्योंकि पहला मन्त्र ज्ञानी पुरुषको लक्ष्य करके कहा गया है, इसलिये दूसरा मन्त्र भी उसीको लक्ष्य करके होना चाहिये। ऐसा क्रमार्थक कहनेमें आता है। इस वातको बादरायण जानते थे, अतः उन्होंने दूसरे सूत्रमें यिदि किया है कि 'कुर्वन्ते वेदे कर्माणि' यह मन्त्रविद्याकी मनुष्टिके लिये है अथवा ज्ञानी मनुष्यद्वारा किये जानेवाले कर्मके अनु-सौदनके लिये है। इस सूत्रपर शाङ्करभाष्य इसप्रकार है—

'यद्यप्यत्र प्रकरणसम्यांदुष्टेनेव कुर्वन्ति संबध्यते तथापि विद्यास्तन्तये कमानुष्टानेनद्रष्टव्यम् ।'

अर्थात् यद्यपि वहाँ प्रसंगानुसार 'कुर्वन्त्' मन्त्रमें ज्ञानी पुरुष ही सम्बद्ध होता है तथापि यह कर्मानुष्टान विद्याकी मनुष्टिके लिये ही जानना चाहिये।

अब प्रस्तुत मन्त्रके ऊपर शाङ्करभाष्य देखिये—

'अथेतरस्यानाऽस्तमन्यात्मग्रहणायाशक्तस्येदमुपर्दशतिमन्त्रः कुर्वन्ते वेति । पूर्वेण मन्त्रेण सन्यामिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्त्य कर्मनिष्ठेत्युप्यते । ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतदक्षयम् ॥'

अर्थात् ' (पहले मन्त्रके विवरणके अनन्तर) अब ज्ञानके अभावके कारण आरम्भके प्रहण करनेमें असमर्थ (अज्ञानी) मनुष्यके लिये इस अगले मन्त्रका उपदेश दिया गया है । ' (दूसरे मन्त्रके विवरणमें) पहले मन्त्रमें मन्यासी पुरुषको ज्ञाननिष्ठा कही गयी है और दूसरे मन्त्रमें ज्ञाननिष्ठाके अनधिकारी अज्ञानी मनुष्यके लिये

कर्मनिष्ठा कही गयी है। क्योंकि कर्म और ज्ञानमें परस्पर पर्वत-मध्य विरोध अनिवार्य है, इस्पादि ।

ब्रह्मसूत्रपर शाङ्करभाष्यकी पंक्तियाँ और ईशोपनिषद्-पर शाङ्करभाष्यकी पंक्तियाँ ऊपर दी गयी हैं, इनको सूक्ष्म और तुलनात्मक इष्टिये देखनेपर पाठकोंके मनमें यह प्रभ उत्पन्न हुए विना नहीं रह सकता कि 'क्या यह दोनों लेख एक ही ग्रन्थकारके हैं?' स्वतन्त्र विचारकोंको इस प्रभका वयार्थरूपमें निर्णय करना बहुत ही आवश्यक है। जो कुछ हो, यह तो निर्विवाद भिन्न है कि ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यमें भी ईशावास्यके इस क्षमरं मन्त्रका उपदेश ज्ञानी पुरुषोंको ही लक्ष्य किये गया है। इसलिये इन दोनों मन्त्रोंमें एक ही अभ्युदय और निःश्रेयस्त्व वैदिक मार्गका उपदेश श्रुतिने दिया है। इस मार्गमें परमात्मतत्त्व और सृष्टिमें स्थित उम्मी सत्ताका पूर्णज्ञान, स्वार्थान्याग और कर्तव्यतयरता इन तत्त्वोंका मुख्यतः समावेश होता है और इसी मार्गको गीताशास्त्रमें 'कर्मयोग' मंजा दी गयी है। इस कर्मयोगका ही इन दोनों मन्त्रोंमें श्रुतिने निःश्रेयस्के अद्वितीय मार्गके स्पर्शमें उपदेश दिया है।

यह हङ्कार किसीको भी नहीं करनी चाहिये कि अपने जीवन-क्रम से चलानेके लिये आवश्यक सामग्री विना परिश्रम ही मिल जाय। विना परिश्रम अथवा बहुठेमें कुछ दिये दिना हृष्मरंकी वस्तु उनेमें मनुष्यके अन्तःकरणमें लज्जा उत्पादन करनेवाला दोष उत्पन्न हो जाता है और वह ब्रह्मवचन्मिताके लिये अन्यन्त घातक है। इसके विपरीत अपने कष्टमें अजेन किये हुए अध्यवा उत्तित बदला देकर प्राप्त किये हुए पदार्थपर अपना जीवन-निर्वाह करना ब्रह्मवचन्मिताका मूल आधार है। ऐसे मनुष्यकी कुर्दि अन्यन्त तेजस्वी होती है। इसप्रकार इस पहले दोनों मन्त्रोंमें श्रुतिने ज्ञान, स्वावलम्बनके साथ निःमृहता और कर्तव्यनिष्ठा इन तत्त्वोंपर अधिष्ठित अन्यन्त अध्यम्कर वैदिक कर्मयोगका उपदेश किया है।

ममाज-धर्मका महसू

प्राचीन महर्षियोंने उपनिषदोंमें वैदिक 'कर्मयोग' का प्रतिपादन किया है। उसमें व्यक्ति-धर्म और समाज-धर्मकी मर्यादा किसी प्रकार पहचानी जा सके, इसके लिये तात्परिक इष्टिये अन्यन्त ही उत्तम रीति बतलाकी गयी है। समाज-धर्म व्यक्ति-धर्मका क्षिप्रमात्र है, इसकिये समाज-

कल्याचके विचारक किसी भी कामको करनेका अधिकार किसी व्यक्तिको नहीं है, ऐसा वैदिक धर्मका इष्टिकोण है। इसमें यही सिद्ध होता है कि प्रथेक व्यक्तिके निजी सुखकी अविवार्य इच्छापर सामाजिक बन्धनकी शर्त अस्त लगानी ही चाहिये। समाजमें सामाज्य मनुष्यको भी सर्वसम्मत रुपी तथा विश्वाचारका पालन करना पड़ता है एवं उसे अपनी अनिवार्य सुख-न्युयाको अधिकांशमें सीमित करना पड़ता है। समाज-धर्मके इन बन्धनोंका पालन करते हुए वेचारा मनुष्य इस बालको अच्छी तरहमें जानता है कि अपने समाजसे अलग होकर जीना असम्भव है हसरिये वह अपने कल्याणके लिये ही इन सामाजिक बन्धनोंका सुप्रथाप पालन करनेके लिये तेंयार रहता है। सामाजिक बन्धनके परे जानेके लिये कोई कितनी भी उछल-कूट बयों न करे, अन्तमें उसे निष्फल-प्रयत्न होकर समाजकी शरण लेनी ही पड़ती है। वर्तमान ममयमें भी यह बात अनुभव-सिद्ध है। हसरिये व्यक्ति-धर्म अर्थात् आध्रम-धर्मदी अपेक्षा वर्ण-धर्म अर्थात् समाज-धर्म छोड़ है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें जो ऐसा निराय किया है, वह निरपवाद ही और सबको स्वीकार करना पड़ता है।

समाज-धर्मके नियामक तत्त्व कौन हैं?

जिमप्रकार समाज-धर्म व्यक्ति-धर्मका नियामक है, उसी कार समाज-धर्मका नियामक तत्त्व कौन-सा है, क्रमानुसार इसका विचार करना आवश्यक है। बहुतरे मनुष्योंका कहना है कि परमेष्ठि-धर्म अथवा आत्मिल मानव-जातिका कल्याण किंवा सर्वभूतहितकारक धर्म ही समाज-धर्मका नियामक है। उपर्युक्त लीनों शब्दोंमें ग्राहित करना एक बात बेखनेसे ठीक ज्ञान पड़ती है परन्तु उस कथनमें अवध्य-हार्यताका एक बदा दोष है। समाज-धर्म पूर्णतया ड्यवहार्य है, यह बात आजनकके हिताहासमें स्पष्ट क्षेत्र पड़ती है। प्राचीन कालमें भारतवर्षमें समाज-धर्म वर्ण-व्यवस्थाके रूपमें पूर्णतया ड्यवहार्य दुभाथा। आयुनिक युगमें पाश्चाय्य लोगोंने स्वदेश-भक्ति अथवा स्वदेशाभिमानके रूपमें समाज-धर्मको पूर्णतया ड्यवहार्य करके दिखलाया है। परन्तु ईसाइदोंका 'विष-बन्धुवत्व' अथवा आयोंका 'सर्वभूतहित' ये तत्त्व प्रश्नक व्यवहारकी कक्षामें कभी नहीं आये। सर्वभूतहित अथवा विष-बन्धुवत्वकी अव्यवहार्यताको ध्यानमें रखकर ही भारतीयोंने 'ईश्वरोपासना' को समाज-धर्मका नियामक निश्चित किया है। 'स्वदेश-भक्ति'के रूपमें यूरोपियन-

लोगें समाज-धर्मको सो स्वीकार किया परन्तु इस समाज-धर्मके नियामक तत्त्वका विचार करने ममय पाश्चाय्य समाज-शास्त्रने बहुत ही शिथिलता दिखलायी है। इस विचयमें उन्होंने असिल मानव-जातिके हितका निर्देश अवश्य किया है परन्तु यह तत्त्व मानव-स्वभावके कितना अनुकूल है, इसका विचार उन्होंने नहीं किया। पादरी लोगोंने धर्म-पीठिपर आसीन होकर 'विष-बन्धुवत्व' की चांदे कितनी ही दीर्घ हाँकी हैं, परन्तु यूरोपियन लोगोंने कभी उम्पर अधिक ध्यान दिया ही नहीं, इसका कारण यह है कि 'विष-बन्धुवत्व' की कल्पना मानव-स्वभावको महसा अझीकृत नहीं होती। यही कारण है कि पाश्चाय्योंका समाज-धर्म निर्बन्ध और भर्यदामे रहित हो गया। मनुष्य-स्वभावकी आनुभवी-सम्पत्तिको दूर करने अथवा उम्मी उचित सीमामें रखनेमें उनके समाज-धर्मका उपयोग तो हुआ ही नहीं, उलटे वह मनुष्यके स्वभावमें लोतुपता बढ़ानेमें ही महायक हुआ। इसी कारण यूरोपियन संस्कृति पूर्णरूपमें राश्नमी आकृष्टकी ओर गयी। इस संस्कृतिके प्रति संसारमें किसी-को भी प्रेम अथवा आदर न हुआ। यूरोपियन सम्यताके वर्तमान उत्कर्षने संसारमें भय और निरहार ही उत्पन्न किया है। संसारके हिताहासारा यह बात सिद्ध की जा सकती है कि यह राश्नमी ठंग सदा शोकपर्यवसायी ही मिन्द होता है। इस यूरोपियन संस्कृतिके उदाहरणमें यह बात लिखित होती है कि समाज-धर्मका नियामक कोई तत्त्व होना चाहिये जो सामान्यतः मानव-दुर्दिके लिये अझीकृत करनेयोग्य तथा मानव-स्वभावके अनुकूल हो। इस विचयमें ईश्विक इष्टियोंने वर्ण-स्ववस्थाके द्वारा जो मार्ग निर्धारित किया है, वही यथार्थ है यह बात दूसरे स्वीकार करना ही पड़ेगा। वह मार्ग है श्रोपासना है जिसे आयोंने समाज-धर्मका नियामक निश्चय किया है।

ईश्वरोपासना और सामाजिक कर्तव्यता

विष-बन्धुवत्वकी कल्पनाके अनुसार ही मानव-दुर्दिके लिये ईश-तत्त्वका भी आकलन नहीं हो सकता तो किर ईश्वरोपासनाकी कल्पना समाज-धर्मका नियामक कैसे हो सकती है? ऐसा प्रश्न यहाँ सहज ही उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि मानव-दुर्दिके लिये परमात्म-तत्त्व पूर्णतया अझीकृत नहीं होता, यह बात ठीक है, परन्तु परमेश्वर-का असिल्य और उसकी महायताकी अपेक्षा, यह दोनों बातें मावव-स्वभावके लिये हितनी आवश्यक हो गयी है कि यह

कल्पना भी नहीं हो सकती कि वे किसी समयमें मानव-स्वभावमें नष्ट होंगी। इसलिये हममें कोई भी शङ्का नहीं कि मानवी बुद्धि परमात्म-तत्त्व पूर्णतया आकलन कर सके या नहीं, परन्तु परमेश्वरकी कृपाकी छत्र-छात्रा अपने उपर लेनेकी अभिलाषा मानव-स्वभावमें बुल-मिल गयी है। इस मानव-स्वभावको ध्यानमें रख रही वैदिक ऋषियोंने समाज-धर्मके नियामकका निश्चय किया था और इसके अनुसार समाजके घारण-पोषण करनेके लिये मनुष्यको चातुर्वर्णके जो-जो कर्म करने पड़ते हैं वे समस्त कर्म वह ईश्वरोपासनाकी बुद्धिमें निःस्वार्थ-भावमें कर सकता है। वैदिक यह वैदिक धर्मके मिद्दान्त हैं कि इम्प्रकार पवित्र अन्तःकरणमें समाज-धर्मका आचरण करना मनुष्यका इस संसारमें प्रेष्ट कर्तव्य है।

ईश्वरोपासना और समाजका सामर्थ्य

ईश्वरोपासनाके अतिरिक्त समाज-धर्मका नियामक दूसरा कोइ तत्त्व भी नहीं बतलाया जा सकता। आधुनिक तत्त्वज्ञ कहते हैं कि 'कर्तव्य समझकर ही कर्तव्य करो, कर्तव्य-कर्ममें किसी प्रकारको अपेक्षा न रखें।' मैंने अपना कर्तव्य ठोक-टीक पालन किया है, ऐसा मालूम होनेमें मनुष्यको जो सन्तोष प्राप्त होता है उसे ही कर्तव्यबुद्धिका आधारभूत तत्व समझो।' परन्तु इनका यह प्रतिपादन हवाईमहल्के समाज जान पड़ता है। किसी ध्यक्षिणियोंको कर्तव्यजन्य समाजान प्राप्त होनेपर भी यह कर्तव्यनिष्ठा सामान्य मनुष्यके अन्तःकरणमें घर नहीं कर सकती। पुरुष, पुनर्जन्म, ईश्वरोपासना ईश्वादि तत्त्वोंमें किसी-न-किसी तत्त्वको ऐसे स्वीकार किये बिना कर्तव्य-निष्ठामें स्थिरता नहीं आ सकती। ऐसी अस्तित्व कर्तव्य-निष्ठा समाज-धर्मके लिये किन्तु उपरोक्त होगी, यह जान ही है। इस कर्तव्यनिष्ठाके बढ़ते मनुष्यकी भोगवासना ही उसका ध्येय बन जाती है और समाजका भी एकमात्र ध्येय स्वार्थ बन जाता है जिसमें मनुष्य स्वार्थ-प्रशायण हो जाता है। 'ऐसा स्वार्थान्वय समाज (राष्ट्र) संसारके लिये उपरोक्त न हो तो भी अपने उत्कर्ष-सम्पादन करनेके लिये सो एर्ष समर्थ होता है।' फिर समाजके स्वार्थपरताकी ओर प्रवृत्त होनेमें दोष ही क्या है? यह प्रभ देवेनेमें नो कालावाह मालूम पड़ता है, परन्तु योक्ता-सा विचार करनेपर यह निष्ठयूर्वक समझा जा सकता है कि यह प्रभ विष्णुज ऋमपूर्ण है, वयोंकि समाज-धर्मको ध्यक्षिण्य-धर्मका नियामक होना ही चाहिये। स्वार्थान्वय समाज अपने अन्दर रहनेवाले

ध्यक्षिके आचरणका नियमन करनेमें असमर्थ होता है। आत्मसंबंध, नीति-प्रियता, सदगुण-विचयोंसे प्रेम, निरलस उद्यमीता, उदास ध्येयनिष्ठा इत्यादि सदगुणोंका ध्यक्षिमें परिपूर्ण होना ही चाहिये, तभी ध्यक्षिमात्रका जीवनक्रम समाधानपूर्ण और कल्याणकारक हो सकता है। परन्तु स्वार्थनिष्ठ समाज स्वार्थत्यागकी नीतिपर उठे हुए सदगुणोंके मन्दिरका विनाशक हो तो इसमें आश्रय ही क्या है? स्वार्थपरायण समाजके ध्यक्षिकी नीतिमत्ता गिर जाती है, उसके नीति-इन्धन विष्णुल शिथिल हो जाते हैं। नीतिभ्रष्ट मनुष्यको कौटुम्बिक सुखकी प्राप्ति नहीं होती और इस सुखके अभावमें मनुष्यके अन्तःकरणमें सन्तोष न होनेके कारण दुर्घटनाएँ और तज्ज्ञ रोगोंके प्रसारके कारण सारा समाज भीतर-ही-भीतर खोसला हो जाता है। इमलिये वैदिक चरित्रके नियामक समाजको स्वार्थान्वय करनी नहीं होना चाहिये। अर्थात् समाजको इसके ही समान एक नियामक तत्त्वकी आवश्यकता है जिसके योगमें वह ध्यक्षिकर्मकी सन्मार्गमें लगानेमें समर्थ हो और ऐसा तत्त्व ईश्वरोपासनाके अतिरिक्त दूसरा नहीं मिल सकता। वैदिक ऋषियोंने ईश्वरोपासनाके हृष्ट तत्त्वको निर्भान्त होकर ही चुना और उसके साथ भारतीय समाज-धर्मको बांध दिया। समाज-धर्म और ईश्वरोपासनाका कार्य-कारण-भाव

'समाजके लिये स्वार्थकी अपेक्षा ईश्वरोपासनाकी ओर मुकना यथापि अस्त्वा है तथापि समाज-धर्मके सर्वथा नष्ट होनेकी अपेक्षा तो उसका स्वार्थपर होकर जीवित रहना अस्त्वा है।' आजकल भारतीयोंने यों कहना शुरू किया है। जिनके पूर्वजोंने समाजके आदर्शरूप धर्मकी शिक्षा जगत्-को दी, उन्हीं भारतीयोंके जीवनक्रममें वह समाज-धर्म नष्ट-प्राप्त हो गया, इसमें बदकर दुर्वै और क्या हो सकता है? भारतीय मनुष्य अपने वैदिक धर्ममें तप्त रहनेपर भी समाज-धर्म अथवा राष्ट्र-धर्म क्या बन्नु है, इसकी कल्पना भी नहीं कर पाता। उपरके मन्त्रितके गिर पहनेपर नीतेकी मन्त्रिल जैसे शुल्की हो जाती है वैसी ही शोकनीय अवस्था आज भारतीयोंकी हो गयी है। इसी कारण उन्होंने समाज-सत्ताकी बालोंको ईश-मत्ताके आचरणमें हँड किया है। 'अब महँगा हो गया, व्यापार बैठ गया, दूष देवेवाले पशु नष्ट हो गये, लोग दाने-दानेके लिये तरस रहे हैं।' ईश्वादि समस्त बालोंको उन्होंने ईश-मत्ताके ही उपर छोड़ दिया है। अजाहृष्ट हूर्द—पानी नहीं बरसा, इस कारण खोली

नहीं हुई आदि वार्तोंको तो ईश्वरीय सत्तापर छोड़ना ठीक ही है, परन्तु वर्षा होने तथा अच और चारा-पानीकी प्रसुरता होनेपर भी दरिद्रता नष्ट न हुई तथा दूष देनेवाली गौओंका भयानक द्वास न रुका, इस अवस्थामें भी भारतीय ईश-सत्ताकी बुहाई वे खुपचाप बैठे हुए रहते हैं, इसका एकमात्र कारण यही है कि भारतीयोंने समाज-धर्मको विष्फुल ही मुक्त दिया है। देशमें धर्म-धाराओंकी समृद्धि तथा उनका उचित विभाग, रोग आदिका निवारण, अपाराका संरक्षण, गोरक्षा इत्यादि वार्ते समाज-सत्ताके अधिकारकी होनेके कारण समाजकी सत्ताके द्वारा ही सम्पादित होनी चाहिये। राजा समाज-सत्ताका प्रतिनिधि है। ज्ञानोंके समाज-सत्ताका पूर्ण ज्ञान होनेपर ही राजसंस्था-पर उनका दबाव भी हो सकता है, लेकिन हमारी सामाजिक भावना ही पहले नष्ट हो गयी। यही कारण है कि हमारे समाजके राजा कोग जन्म-सिद्ध स्वयं-प्रभु बन बैठे और हस्ती कारण उनके हाथमें रही हुई समाजकी सत्ता दूसरोंके हाथमें ली गयी। इसलिये हिन्दू-जाति पहले समाज-धर्म-हीन हुई और पछें सामाजिक सत्तामें भी बिल्लत हो गयी। हिन्दुओंका जीवन समाज-धर्म-शून्य होनेके कारण उनका तत्त्वज्ञान वैयक्तिक हो गया, उनका धर्म तथा उनका नीति भी वैयक्तिक हो गयी और इर एक आदमी अपनी डेढ़ चावलकी खिल्ली अलग पकाने लगा। इसप्रकारकी संकुचित शृंखला उनके व्यवहार-में सुखरुपमें, प्रसुख रीतिमें बदलने लगी। तत्त्वज्ञानकी मुहर केवल व्यक्तिगत ही पदनेके कारण उसमें मायावाद उत्पन्न हुआ और उसने संसारको मिथ्या कहकर केवल व्यक्तिगतरूपमें आधारितक विचार करनेकी शिक्षा दी। उपनिषदोंके तत्त्व-ज्ञानमें पिण्ड-ग्रहाण्डका विचार होनेके कारण उसमें समाज-धर्मका भी विचार होना स्वाभाविक था परन्तु उत्तरकालीन वेदान्तने संसारको सर्वथा मिथ्या ठहराकर तदन्तर्गत समाजको भी एक भ्रम ठहरा दिया। इस एकाङ्गी तत्त्व-ज्ञानने कार्याकार्य-व्यवस्थिति तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णयके प्रश्नको एक किनारे ढकेल दिया और आरम्भानको सर्वकर्मसंन्याससे छोड़कर एक विलुप्त ही नवीन मार्गकी स्थापना कर दी। अगलतीमात्रमें आरम्भानके साथ निष्काम कर्त्तव्याकरणका योग देखकर प्यक्षिके लिये मोक्षदायक तथा समाजके लिये अमूदयकारक अमूततत्वके मार्गका उपदेश दिया

गया है। परन्तु गीताके दो-तीन हजार वर्षोंके अनन्तर ही इस नवीन वेदान्तने इस व्यवस्थाको नष्ट कर दिया और वेदान्तको केवल सन्यास-मार्गके निमित्त बना डाढ़ा। इस मायावादी सन्यास-मार्गका स्वाभाविक परिशाम औदासन्य हुआ और उसने हिन्दुओंके अन्तःकरणमें घर कर किया। इस तत्त्व-ज्ञानमें नीचे उत्तरनेपर विषय-सुलक्षणी परमावधि ही स्वर्ग-सुख मानी जाने लगी और इसे ही धर्माचरणका सुख फल निश्चित किया गया, जिससे हिन्दुओंका धर्माचरण मी स्वार्थमय और ज्ञान-शून्य हो गया। आरम्भान और धर्माचरणमें कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, ऐसा सन्यास-मार्गवालोंके निश्चय करनेके कारण धर्माचरणकी योग्यता अज्ञानमूलक मानी जाने लगी। धर्माचरणका फल भरण्योपरान्त मिलता है, जीवनकालमें कभी नहीं मिलता। इसप्रकारकी एक अष्ट-कल्पना लोह देनेके कारण हिन्दुओंका धर्माचरण एक जादू-मा बन गया। इसमें यदि तत्त्वज्ञानमें उदासीन और धर्माचरणमें स्वार्थी बना हुआ हिन्दू-समाज संकुचित वृत्तिवाला बन गया तो इसमें आश्रय ही क्या ? केवल समाज-धर्मके बन्धनके शिथिल होनेमें ही हिन्दुओंकी ऐसी सार्वदेशी दुर्दशा हुई, तथापि उपनिषदोंकी पूर्व-परम्परा अर्थान्त शक्तिशाली होनेके कारण हिन्दुओंका वैयक्तिक शील श्रेष्ठ बना रहा। व्यक्तिगत इष्टमें हिन्दू मनुष्य-संसारके किसी भी मनुष्यकी अपेक्षा नीतिमत्तामें निझ्वंशेषोंका नहीं ठहर सकता। पर इस वैयक्तिक सद्गुणको समाज-धर्मकी बिल्कुल ही सहायता न मिलनेके कारण हिन्दू-संस्कृतिकी अवस्था असहाय हो गयी। तत्त्व-ज्ञानका मेल व्यवहारके साथ न होनेके कारण धर्म और व्यवहारका मेल न हुआ, और इन सीनों तत्त्वोंके रहते हुए भी हिन्दू-संस्कृति विलुप्त ही लौटी अथवा एकाङ्गी हो गयी। धर्म और व्यवहारमें यदि पहेलेके समान तत्त्व-ज्ञानका मेल होता तो हिन्दुओंका समाज-धर्म न हवता और न इस दुरवस्थाके भोगनेको नौबत आती। परन्तु एकाङ्गी बनी भारतीय संस्कृति धर्मशील होनेके साथ कर्मशून्य, वैशायसम्पद होनेपर भी निस्तंज और ज्ञानयुक्त होनेके साथ सामर्थ्य-हीन, एवं बुद्धिमान होनेके साथ कर्त्तव्यशून्य बन गयी। यों होते-होते भारतीय संस्कृति तेसी अधोगतिको प्राप्त हुई कि विदेशियोंको यह कल्पना करनी पड़ी कि गुलामी इस भारतीय संस्कृतिका स्वाभाविक धर्म है। इस अधी-

गतिमे हिन्दू-संकृतिका उद्धार करना हो सो जिस समाज-धर्मके अभावमें इसका अवधार हुआ है, उस समाज-धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा करनेके सिवा हिन्दुओंको इस अधोगतिमें अपना उद्धार करनेके लिये दूसरा मार्ग ही नहीं है। जिस भूलके कारण हम इस दासताके गर्तमें गिरे हैं उस भूलको सुधारना हो इस गर्तमें बाहर आनेका सक्षा मार्ग है। हैशरोपासनाकी बुद्धि हिन्दू-अनुष्ठानकरणमें नष्ट नहीं हुई है। उस हैशरोपासनाकी बुद्धिमें ही समाज-धर्मका प्रादुर्भाव किया जा सकता है। और ऐसा करनेमें अपनी हिन्दू-संकृतिका ही क्षयों, संसारका उद्धार करनेके लिये भी हिन्दू-धर्म समर्थ होगा, इसमें सन्देह नहीं।

ईश्वरोपासना समाजोक्तिका मुख्य आधार है

आजकल यह एक विवादास्पद प्रभ हो रहा है कि हिन्दुओंको समाज-धर्मके पुनरुज्जीवनके लिये अर्थ-शास्त्रका अनुसरण करना होगा या उपासना-धर्मका? आर्थिक आवश्यकताएँ, ज्यावहारिक कठिनाइयाँ, प्राप्तिक अभियापाएँ आदि बातें समाज-निर्माणमें कारणभूत हैं तथापि इस बातको न भूलना होगा कि धर्म भी समाज-संगठनका एक महत्वपूर्ण कारण है। विशेषतः हिन्दू-मनुष्यके स्वाभाविक धर्मप्रवण होनेके कारण हिन्दू-समाज-के निर्माणमें धर्म-बुद्धि विशेष उपयोगी होती, इसमें सन्देह नहीं। संसारका कोई भी समाज हो उसका नियामक उपासना-धर्म होना ही चाहिये, यह बात पहले दिखलायी गयी है। प्राचीन अधिष्ठानें वर्ण-न्यवस्थाके रूपमें समाजकी संस्थापना करते समय ईश्वरोपासनाको दसका नियामक निश्चित किया या और आज भी उसी बातकी आवश्यकता है। आजके समाज-सत्तावादी इस नियामकका विचार नहीं करते। तथापि हमप्रकारकी निर्णय और मर्यादाहीन समाजकी राजसी कृति कैमें बनने लगी है, इसका विचार करनेपर उनको आर्थिक समाज-धर्मके तत्त्वको मानते अर्थात् ईश-तत्त्व समाजका नियामक है, इस बातको वे स्वीकार नहीं करते। परन्तु दूसरे प्रकारसे उन्होंने वैदिक-धर्मके तत्त्वको ही स्वीकार किया है। यह कहना असंगत नहीं है। उपास्य-देवको जितना और जिसप्रकारका महाय दिया जाता है उतना और वैसा महत्व वे समाजको दे रहे हैं। परिस्थितिके अनुसार सोवियट लोगोंके कार्यक्रममें महान्-

अन्तर दीख पड़ता है तथापि तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर पता लगता है कि आर्थिक अपनी वर्ण-न्यवस्था इसी तत्त्वपर स्थापित की थी। समाजको ही परमेश्वरकी मूर्ति मानकर वर्ण-न्यवस्था करणेके द्वारा उसकी सेवा करना आर्थिक-की जीवनका मुख्य धर्म है, ऐसा वैदिक अधिष्ठानें निश्चित किया या और इसी तत्त्वको सोवियट लोगोंने भी स्वीकार किया है, ऐसा जान पड़ता है। अवश्य ही सोवियट लोगोंके इस सम्प्रदायमें हैशरोपासनाकी बुद्धि नहीं है, पर वैदिक धर्मके सामाजिक तत्त्वके द्वारा सामाजिक दोनों दलका ऐहिक उत्कर्ष होगा, परन्तु केवल न्यवहार-कृशकतामें अथवा भोग-लालकासामें जो समाजमें राधासी इत्ति उत्पन्न होगी, उमेर रोकना असम्भव होगा। अपने समाजकी उत्तमत करनेके लिये सोवियट लोगोंके व्यावहारिक तत्त्व किन्तने ही उपयोगी हों, तथापि दूसरे राष्ट्रोंके स्वातन्त्र्य अपहरण करनेका अवसर आनेपर भविष्यनकालमें आरम्भसंयमन करना उनके लिये कठिन हो जायगा। अतिरिक्त हमके, समाजमें कौटुम्बिक मंत्रधण, वैयक्तिक नीतिमत्ता तथा उपभोगकी लालसाका मर्यादित रहना हैश्यादि बातें इस समाजके लिये असाध्य हो जायेगी। इसलिये अर्थ-शास्त्रके माथ-साथ धर्म-बुद्धिका विचार करना आवश्यक है, यह निश्चित है। साम्प्रतिक समता, प्रयत्नशीलता, स्वयं परिश्रम करनेका उत्साह, आत्म-संयम, कौटुम्बिक पवित्रता हैश्यादि सामाजिक मद्दुगुणोंका केन्द्र बनने योग्य तत्त्व आज सोवियट लोगोंके सम्प्रदायमें नहीं है। इसलिये भविष्यमें कभी-न-कभी सोवियट लोग आर्थिक समाज-धर्मके तत्त्वपर आवंगे और तभी वे गाइसी महत्वाकांक्षाके चंगुलमें छूटेंग।

उपसंहार

आर्थिक वर्ण-न्यवस्था स्थापितकर लोगोंके हृष्यपर यह अद्भुत कर दिशा कि बातुंवयांशक समाज-धर्म ही परमेश्वर है। यही कारण है कि उत्तमतेके समयमें भी आर्थिक समाज राजसी आदर्शकी ओर नहीं गया और इसी कारण हिन्दुओंका वैयक्तिक चरित्र हत्ती अधोगतिके प्राप्त होनेपर भी थोड़ा-बहुत उत्तम रहा। इस उत्तम चरित्रके बलपर ही दातान्विद्योंमें दासताके नरकमें पचते रहनेपर भी वे आजतक जीवित रहे हैं तथा उपर उठनेके लिये चंदा करते रहे हैं यस्ति उन्हें हित शत्रुओंको भी 'यह हिन्दू जोग आज या कळ अपने सिरको उपर उठावेंगे।

ऐसी शहा बनी हुई है। यदि ऐसा जह होता हो आस्ट्रे-विद्या, अमरीका, कार्यज आदि देशोंके मूलनिवासियोंके अनुसार हिन्दुओंका नाम कभी शेष हो गया होता। तथ्य यह है कि मानवी समाजके उत्थान होनेके लिये आर्थिक आवश्यकताएँ, व्यावहारिक कठिनाइयाँ, संरचनाकी व्यवस्था, उपजीविकाका साधन आदि बातोंके कारणी-भूत होनेपर भी समाजका संरचना, संवर्द्धन और उसकी सर्वोदयीय उत्थान आदि बातोंके लिये उपासना-बुद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता है। समाज-सेवा ही ईश्वर-सेवा है—इस तरबको वैदिक धर्मने विस्प्रकार भूत; और उपराष्ट्रपूर्वक सिद्ध किया है, उपस्प्रकार आजपर्वत किसी

भी अन्य धर्मने सिद्ध नहीं किया। इसी तरबके आधारपर हिन्दू-राष्ट्र प्राचीनकालमें परमोच्च पदपर आसीन वा और अब भी वह इसी तरबके बदलपर उस अपने प्राचीन उच्च पदको प्राप्त करेगा। समाजका विचार करनेवाले समाज-सामाजिको श्रीमद्भगवद्गीता और दशोपनिषदोंमें वर्णित मानव-समाज-धर्मके तत्त्वोंका सूखम हिन्दै अव-सोकन करने तथा संसारके आजतके इतिहासका सूखम निरीक्षण करनेपर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि समाज-संसारपर ईश्वरीय सत्ताकी नियामकता अत्यन्त ही आवश्यक है।

ईश्वर-प्रेम विना शान्ति असम्भव है

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

प्रश्न सारके ताराहव-नृत्यमें प्रेम सर्वत्र नानाविधि कार्य संभव हो कर रहा है। हाथीसे चीटीपर्यन्त समझ जगत् प्रेम-प्राश्नमें बैधा हुआ उन्मसकी तरह नाच रहा है। सांसारिक पदार्थोंकी प्रति ही यह सारा नाच नवा रही है। उर्दूका एक कवि कहता है कि—

सबको दुनियाकी हरिस स्वार लिये फिरती है।
जौन फिरता है यह मुरदार लिये फिरती है।

यही विषय-प्रेम चोरमे चोरी और जारमे जारी करता है। इसीके जाकमें फँसे हुए महिलाओंकी विषयासक्ति प्रजाको नष्ट किये देती है। धर्म-प्रेमको आइमें अज्ञान और दुराघातके कारण भिज-भिज भत्तावलम्बी कलहास्त्रि भड़कातं हुए स्वयं भी उसीमें दग्ध होनेमें नहीं चूकते। धर्म जो वास्तवमें शान्ति-प्राप्तिका साधन है इन धर्मान्ध लोगोंके कारण अशानित उत्थान करनेवाला बना दिया जाता है। धनी निर्जन अमरीजियोंका लह चूसते हैं, राजा प्रजाको भक्षण कर रहे हैं। यह विषयासक्ति मनुष्यको भाँति-भाँतिके नाच नवा रही है, चैनमें बैठने नहीं देती। संसारके सभी पदार्थ व्यापरगुर हैं, इनमें प्रेम भी निमेवमात्रका ही है, बस्तुनाशमें प्रेमका भी नाश हो जाता है। परन्तु यदि वही प्रेम किसी अविनाशी बस्तुमें लगा दिया जाय तो वह सरैव सुखद बना रहे। वह अविनाशी तरब केवल एक अल्परात सविवानन्दघन परमात्मा ही है जो इस दृश्यमान जगत्का

आधार है, जिसकी मावामें इस संसारकी उत्पत्ति हुई है और जो स्वयं इस मायाके धृष्टमें सुन्दरीकी तरह छिपा रही है। प्रेमी लो उस अचिन्य सौन्दर्य-शशिका ही बकोर हैं, जबतक वह धृष्ट इटाकर उस चन्द्रमाको छानेवाली अनुपम ज्योतिका साक्षात्कार नहीं कर देता, उमे खेयं कहाँ हो सकता है? सारिवक बुद्धिद्वारा जगत्-तत्त्वोंका विश्लेषण करते-करते वह समझ तो जाता है कि इस अतिशय चबूल मृष्टिका कर्ता और आधार कोहै अविनाशी और स्थिर तरब बस्तु है परन्तु केवल इतना ही जान लेनेमें उसे बैन नहीं पड़ता। प्रेमीको तो उस प्रीतमसे अलिङ्गन किये बिना शान्ति नहीं मिलती।

वह प्रेम क्या बस्तु है, कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह गूँगेके गुष्की तरह अनुभवगम्य ही है। इतना ही इशारा किया जा सकता है कि यह हृदय-का कोहै प्रेसा प्रश्वल भाव है जो प्रेमीको प्यारेमें मिला देता है, बीचका परदा इटा प्रियतमसे साक्षात्कार करा देता है। उस अभीष्ट मिलनमें जो अनुस आनन्द प्राप्त होता है, उसका वर्णन ही ही नहीं सकता। सब सांसारिक पदार्थ उस अवर्णनीय आनन्दके आगे तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। स्वार्थ और अहंकार उसके शब्द हैं, जब यह प्रकट होते हैं तो एक गहरा परदा बीचमें ढाल देते हैं जिसमें प्रीतमसे गुस्सारविन्द आँखोंमें ओफल हो जाता है। सका प्रेम निःस्वार्थ होता है। जिसमें स्वार्थ है मह

प्रीति विवेली और क्षणिक है, चिरस्थायी नहीं, क्योंकि स्वार्थकी पूर्ति होते ही वह प्रीति भी नह हो जाती है। यही पार्थिव-प्रेम है। परन्तु वह अपार्थिव-प्रेम से कुछ न्यारी ही वस्तु है, उसमें स्वार्थकी क्षाया भी नहीं होती। उसमें केवल प्यारेके दर्शनकी ही लालसा रहती है। वियोगमें जीवन भी भार मालूम होता है। विष अशान्त और विहृत रहना है। इस विशुद्ध प्रेमांकरके प्रकट होनेमें जगतके जी सब विषय पहले सुखदायी हुआ करते थे, वे सब दुखदायी प्रसीत होने ल्पते हैं। धन-परिवार, इष्ट-मित्रादि सब विश्वरूप दिलायी देते हैं, यहाँ-तक कि अपना शरीर भी जो वासनवमें सांसारिक पदार्थोंमें सबसे अधिक प्रिय माना जाता था, अब प्यारेके वियोगमें कँटा-सा चुभता है। जब ऐसी विद्वलता वह जाती है तो वह प्यारेको हठात सीच लाती है। प्रेमकी दौरीसे बैंधे हुए श्यामसुन्दर अपने आप स्थित छले भाते हैं। परन्तु सभी जगन चाहिये। हृदय समझ कुटिल वासनाओंमें शून्य होना चाहिये। प्रेम सौतकी तरह दूसरेका अक्षित्व नहीं सह सकता। यदि वह प्रबल हुआ तो सारी वासनाओंको भगा देता है। नहीं तो पराम होकर स्वयं हृदय-मन्दिरको छोड़कर चला जाता है। वहुत छोग पूछा करते हैं कि यह प्रेम कैसे लावें, वह तो किसी भाग्यशालीके हृदयमें ही होता है। हमारा कहना यही है कि 'हृदयमें जगह हो तो प्रेम भी समावे, जहाँ इसके शक्तिको राज्य हो और निरन्तर उनका कोलाहल मचा रहता हो वहाँ बेचारा प्रेम जाकर क्या अपना सिर फोड़े?' प्रेमकी तरंगोंमें यदि हृदयको संचिना हो और अपनी हृदय-वाटिकाको आनन्दादि कुसुमित लताओंमें विभूषित करना हो तो पहले हृदय-क्षेत्रको कामादि कूड़े-करकटसे साफ करनेका यक्ष करो, फिर देखना, प्रेमरूपी धारा स्वयं आकर तुम्हारी वाटिकाको हरी-भरी बना छेदी प्रकृश्चित कर देती है? बस, फिर उस प्रेम-धारामें नित्य ज्ञान करते हुए आनन्दका अनुभव करते रहना।

इसप्रकार वह इस प्रेमका अधिकार वहता जाना है और रोम-रोममें प्रेमधारा वहने लगती है तो शरीर, मन और बुद्धिमें अहंकार, ममता उहर ही नहीं सकती। वासनवमें यह अहंकार ही सारी अशान्तिकी जड़ है। इसमें मनुष्य सांसारिक विषय-वासनाओंमें

फैसकर शीघ्रन-मरणस्थी शङ्कुलामें बैंधा रहता है और माना प्रकारके सुल-नुःलोंमें हृषसा-उत्तरासा अमृत्यु जीवन नह कर देता है। आश्र्वय तो यह है कि इस गोरक्षालयमें फैसे रहना ही उसे भला मालूम देता है। यदि इसप्रकार-की स्थितिमें अशान्त हो तो इसमें निकलनेकी भी चेष्टा हो। इस अशान्तिके बड़ते जानेमें विवेक-वैराग्य प्रकट होते हैं फिर हृदयमें निर्भलता बढ़ती है। मत्तराहित हृदयमें भगवान्की क्षलक पहनेसे आनन्द प्रस्फुटित होने लगता है।

यह प्रेम-मार्ग ज्ञान-मार्गकी अपेक्षा सरल, सरस और सुमधुर है। इसमें बुद्धिकी तीव्रता और वाल्की साक्ष निकलनेकी योग्यताकी जरूरत नहीं; केवल हृदय को मल, विरक, शुद्ध और विशाल होना चाहिये। विशाल हृतना कि, उसमें सारा विष समा सके, क्योंकि भक्तके लिये तो समस्त जगत भगवान्का रूप ही है, जैसे गुप्ताहृ तुलसी-दासजीने कहा है—

सीधारामम य सब जग जाना। करो प्रणाम जारि जुग पानी ॥

ऐसे भक्तके हृदयमें हृषी, द्रेष, मानापमान, भय, क्रोधादि कोई दुर्बलिना नहीं समा सकती। जब समझ हृदय प्रीतमका ही रूप हो गया तो वह किसमें द्रेष करे और किसमें भय? जब ऐसे भाव मनमें हृषीकर समस्ता हृदयान्तित हो जाती है तो आनन्दकी सीमा नहीं रहती, मनमें ममता और अहंकारका एकदम अभाव हो जाता है। जिस शरीर और सांसारिक विषयोंमें हृतनी ममता थी, वह सब भगवान्को सौंप देनेपर निर्भरना आ जाती है। सब कुछ उन्हीं संवशक्तिमानका ही ऐश्वर्य है। जोव अपना स्वरूप बबरदमी व्यामोहके कारण इन जगतके पदार्थोंपर आरोपित करता है। वह नहीं समझता कि उसका अपना क्या है। योहका प्रादृश्य कुछ ऐसा विकट है कि इसने सब विषयको बौंप रखा है, विरले ही इसके पञ्चमें बचने पाने हैं। वही बचते हैं जिन्होंने विवेककी कस्तीटीपर इन मायादी पदार्थोंको भक्तीमार्गिन परम लिया है और इनकी निस्सारता जान ली है और विषयति परमधरको ही वह मोह भी सौंप चुके हैं। अब मोह है तो उन्हींमें, ममता है ही उन्हींपर। मनके कामादि विकार चिकुत और हुःसमय तभीतक है बबरदक नक्षर पदार्थोंके साथ जोड़े जाने हैं। यदि वही अखण्ड अविनाशी प्रभुरप आशोपय कर दिये जायें, तो वह आनन्द और मुक्तिके हेतु बन जाने हैं।

काम-वासना जब मनुष्यके ऊपर आक्रमण करती है तो मनमें प्रेम-मात्रके मिलनेकी ओर निरन्तर उसे नज़रके सामने रखनेकी ही इच्छा होती है, क्षमाभरके छिये भी उसका आँखोंसे ओकल सुना प्रेमिकोंके असद्य होता है। कामके बहीभूत प्राणीको न भोगता ही रुकता है, न और कोई विषय-सुख। उसकी शारीरमें भी समता नहीं रह जाती। उसकी तो निरन्तर खिंता एकमात्र प्यारेसे ही मिलनेकी रहती है। यह वासना और सब वासनाओंसे प्रबल है, इससे मनुष्य अनुष्ठा बन जाता है, न किसीसे भय। इसी मनोभावका दृष्टिकोण बदलकर यदि उसे सौन्दर्य-राशि अविनाशी प्रभु इश्यामसुन्दरकी और लगा दें तो वह अलौकिक आनन्ददायक बन जाता है। क्षणिक पदार्थोंने अनुराग और उनसे प्राप्त सुख भी नाशवाल और सारथन्य है, अविनाशी इश्यामय आनन्दकन्दकी प्रीति यायानाशिनी और अखण्ड आनन्ददायिनी है। जैसे प्रह्लाद भगवान्मने कहते हैं कि—

या प्रीतिर्वदेकानां विषयेभवनपायिनी ।

त्वामनुभरत् सा मं इत्यामनापासर्पतु ॥

यही प्रीति और भाव प्रातःस्मरणीय बृद्धावनकी गोपियोंमें था, जिसे विकृत स्वभावबाले पार्थिव कामादि पिशाचोंसे ब्रह्मे दुष्ट मनुष्य समझ ही नहीं सकते। उन महाभागा युवतियोंने वज्रचन्द्र मुरलीमनोहरपर सर्वस्व न्यूङ्गावर करके मन और हृदय भी उन्हींके चरणोंमें उत्सर्ग कर दिये थे। उन्हें सर्वत्र इश्याम-ही-श्याम दृष्टिगोचर होते थे, समस्त जगत् उनकी आँखोंमें इश्याममय बन गया था, चराचर-सृष्टि उन्हींका रूप हो गयी थी। 'मनमें राम हाथमें काम' की कहावत अखण्डः उन्हींपर प्रस्ती थी। धन्य वज्रलक्ष्माओं ! जीवन-मुक्तिका यथार्थ भावक्षण्य तुम्हानीं चरितार्थ करके दिखलाया। तुम्हारी ही लीजाओंको गा-गाकर अब भी प्रेमी लोग भगवान्-प्रेममें मग्न हो जाते हैं।

क्रोध-वासनाको तुच्छ जीवोंपर खांस करना मूलं तं नहीं तो क्या है ? इसप्रकार किया हुआ क्रोध पापका मूल है। वह अपेक्षोंको दुःख और दूसरेको क्लेश देता है और हाथ कुछ भी नहीं लगाता। क्रोधके बहीभूत जीवों ! क्रोध उसमें करो जो तुम्हारे क्रोधका बदला प्रेममें दे, तुम्हें छातीसे जगावे और तुम्हारे हाथकी जखनको शतिलतामें बदल दे। उस वास्तविकी तरह क्रोध करो जिसकी माता उसे खिलौना दे वहकाकर कहीं अपने कामके लिये चली गयी है। वहा खिलौनेको फेंक रोता और खिलौना है, सारा भर सिरपर

उठा लेता है, माँ-माँ पुकारता हुआ क्रोधके मारे धूलमें लेट जाता है, घरसीपर हाथ-पांव भारता है और किसी प्रकार भी शान्त नहीं होता। माताको इतना सान्स ही नहीं होता कि इस स्थितिमें वह बालकसे दूर रहे। वह दौड़ी जाती है और धूलसे लथपथ बच्चेको गोदमें उठाकर तद्वाकाव छातीसे लगाती है। परन्तु तब भी बालक मच्छरता जाता है, गोदसे खिलौनका जाता है, मानो सूचना देता है कि अब आगेसे यदि कहीं मुझे छोड़कर जाओगी तो फिर मानूँगा ही नहीं। माँ उसे उचकारती है, सुशामद करती है, अनेक प्रकारसे प्यार करती है, तब कहीं वह शान्त होता है। ऐसे ही धन-परिवार आदि खिलौनोंमें, जो जगन्माताने तुम्हें भुगानेके लिये दे रखते हैं तुम्हारी हार्दिक असन्तुष्टि हो जायगी। और इनमें मन हठाक इनकी तनिक भी परवा न कर सरल इनिशियो शिशुर्का भाँति उम विश्व-जननीको पुकारोगे तां वह भक्तवस्पता दयामयी तुम्हें दूर नहीं रह सकेगी। हठात् आकर तुम्हें छानीमें लगा लेगी। फिर कभी खिलौनेमें प्रीति न जोड़ना, नहीं तो वह फिर आँखोंमें भोगल हो जायगी। मोहकी महिमा बड़ी प्रवल है। मनुष्य सांसारिक विषयोंको दुःखद समझता हुआ भी उनमें प्रत्यक्ष दुःख-भोग करता हुआ भी मदान्य हो उन्हींमें आसक्त रहता है। भगवान्मनों कृपा हो तो कृष्टकारा मिले। उनकी कृपाका पात्र होनेके लिये प्रेम चाहिये। प्रेमी तो प्रेम-मिदिरा पानकर उसीमें भग्न होता है। शरीर-परिवारादि-में उसका यदि किञ्चित् प्रेम है और वह उनको मेवा करता है तो उन्हें भगवान्मनी सम्पत्ति समझकर हो करता है। न इनके रहनेका उसे हर्ष है न जानेका शोक। वह भल्दी-भाँति समझ राया है कि यह सारे पदार्थ स्थायी नहीं, एक-न-एक दिन इनसे विछोह होता हो। है। हसीलियं प्रेमी इन सबमें मोह न रखकर उस एक अखण्ड अविनाशी परमामासे ही स्नेह रखता है जो वास्तविक आनन्दका समुद्र है और प्रेमधाराका अविच्छिन्न स्रोत है।

प्रेम-मार्गीका अनुगामी इसप्रकार काम-क्रोधादिके सम्बन्धमें अपना भाव ही बदल दालता है। उसकी चतुराई सराहनीय है कि उसने मनके विकारोंको जो साधारणतः पाशरूप हैं अपने उत्थानके लिये सहायक बना लिया। अब उसका सर्वस्व केवल एक मदनमोहन इश्यामसुन्दर ही है, किसी दूसरेमें उसकी प्रीति ही नहीं। इस पञ्चभूतके पुतले-

को वह भगवान्‌का अन्न समझता है, इसीसे वह आहंकार नहीं रहता। भगवद्-वाक्यपर उसकी पूरी निष्ठा है।

प्रेममार्गबलम्बीके लिये पहले अपना हृदय सब कुटिल वासनाओंसे शुद्ध करके निर्मल बना लेना परमावश्यक है। ज्यों-ज्यों हृदय विचित्र होता जायगा ज्यों-ही-ज्यों प्रेमकी बृहि होती जायगी। विचय-वासनाएँ बारम्बार आ-आकर थेरेंगी और कभी-कभी भगवान्‌में अश्रद्धा भी अपना प्रहार करेगी, परन्तु जिस प्रेमीने गुरु और भगवद्-वाक्योंसे सब शङ्खाओंको हटाकर एक निष्ठा प्राप्त कर ली है, वह अपने पथसे विचलित नहीं होता, साहस और इतासे उन सब विज्ञोंपर विजय प्राप्त कर लेता है और भगवान्‌का अनन्य शरणागत हो जाता है। जो निष्ठपट भावसे उनकी शरणमें आ जाता है, दीनबन्धु उसकी रक्षा करते ही हैं। उमकी यह घोषणा प्रसिद्ध है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनः पर्युषस्ते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगसेवं बहुमयहम् ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।
अहं त्वा सर्वपापमन्वा मोक्षाधिष्ठामि मा शुचः ॥
(गीता)

यही सब भ्रमोंकी पराकाढ़ा है, यह अनन्य शरणागति ही सर्वयोग-समन्वय है। प्रेमीका सर्वस्व यही है। माता-पिता, भाई-बहनु, कुटुम्ब-कक्षीला सब वही एक श्यामसुन्दर हैं, प्रेमी भक्त समझ बहारहड़को उन्हींका रूप जानकर नमस्कार करता है। प्रेमी जीवके रोम-रोमये प्रेम-धारा उमड़-उमड़कर बही हैं। उसके हृदयके कपाट सहसा खुल जाते हैं, दैनन्दन नाश हो जाता है। भक्त उन्मत्त होकर नाचता है, कभी भगवान्‌की विचित्र सृष्टि देख-देखकर विस्मित हो जाता है। तन-मनकी सुधि नहीं, सब कुछ रूपान्तरित हो इसमें झोप्ल हो जाता है। केवल उन्हीं भगवान्‌का, जो अकथनीय, अचिन्त्य और अनुभव-गम्य है, भान होता है। यही प्रेम-समाप्ति है, जहाँ न दृष्टा रहता है, न इश्यः न द्रैत है, न अद्रैत; इस अवस्थाको यही जान सकता है जो इसका अनुभव करता है। इसी अवस्थामें हृत्यकी ग्रन्थि दृटी है, सब संदाय बासनवर्मे इसी दरामें पहुँचकर रिटते हैं। बुद्धिकी क्या ज्ञानि, जो इस अनन्त वस्तुका चिन्तन भी कर पाये। वह डछल कृदकर यक जाती है। जब मनुष्यमें बुद्धि-बलका सहारा और अभिमान नहु हो जाता है तो उससे सहयोग

करनेकी उसकी छृष्टा जासी रहती है। मन, बुद्धि आदि जिनपर मनुष्यको बढ़ा घमण्ड है, गम्भीर विचारसे देखा जाय तो आत्माके बन्धनके लिये हृदय पारा है। हाँ, प्रेमानन्दकी स्थितिसे पहले यह सहायक अवश्य होते हैं। परन्तु प्रेमके अगाध समुद्रमें मप्प होनेके लिये इनकी आवश्यकता ही नहीं, उस समय तो यह बन्धन बन जाते हैं, क्योंकि इनका स्वभाव संशयात्मक है। परमात्मासे पृथक् करनेमें संकल्प-विकल्परूप होनेके कारण यह परदा बनकर खड़े हो जाते हैं। प्यारेका मुख्यारविन्द छिप जाता है। प्रेमके प्यासे जीवो ! छोड़ी इस मृगलृष्णाको ! इनके धोखेमें पदकर लीबन नष्ट न करो, सिवा भटकते-भटकते प्राण दे देनेके और कुछ न भिलेगा। इनमें मुँह फेरो और उस अमृतमय प्रेम-सागरकी ओर प्रस्थान करो। वहाँ पहुँचकर विना विचारे उसमें गहरी दुबकी लगायो, अनन्त जन्मोंकी सारी आग बुझ जायगी, समस्त ताप शान्त हो जायेगे, अनन्त कालकी प्यास बुझ जायगी। इसके बिना और गति नहीं। निराधार होकर 'सत्यं, विदं, सुन्दरम्' की शरण जाओ। निस्सहायोंके वही सहायक हैं, निराधारके वही आधार हैं। इस अग्राह संसार-सागरमें द्वबते हुए एक बार तो उन्हें हृदयमें पुकारो। जिन्होंने गजकी पुकार सुनी, जिन्होंने द्वौपदीकी सहृदके समय महायता की, जिन्होंने बालक प्रह्लादकी अनेक आपदाओंमें रक्षा की, क्या वह तुम्हारी न सुनेंगे ? वह दयामय है, भक्तवत्सल है, अपने शरणागतकी कभी अवहेलना नहीं करते, यह उनका स्वभाव है। विश्वादि संसारकी प्रवश्य ज्वालामें दरध प्राणियो ! फूट-फूटकर रोओ और उनकी सुखद शीतल गंगामें जा जैंदो ! तुम्हारी सब जलन एक-दम भिट जायगी, दूसरा कोई हम दाहुको शान्त करनेवाला नहीं। परन्तु उनके पास मन, बुद्धि, अहङ्कारादि चीर-धारोंकी गम्य नहीं, वहाँ नंगे होकर ही जाना पढ़ता है। यदि इसमासुन्दर स्वर्यं तुम्हारे चीर चुरा जैं तो तुम धन्य हो ! तुम्हारा बड़ा भाग्य है, गोपियोंकी तरह तुम भी उनके अनन्तरंग सखा बन जाओगे और भगवान्‌की छोलामें तुम भी भाग ले सकोगे। फिर यह संसारका नृत्य रास-लीलामें बदल जायगा। तब निष्ठानन्दका स्वेच्छ होगा। निष्ठ अनादी नंगे होनेकी हिम्मत हो तो प्रयत्न करो, भगवान् तुम्हारी सहाय करें।

वर्तमानकाल और ईश्वर-स्मरण

(लेखक—ह० य० श्रीविनायकनारायण जोशी, नाना महाराज साहबर)

६६ वर्षकी आयु होनेसे शरीरमें आयी हुई अशक्ति, पूर्व-अवस्थामें देखे हुए धार्मिक आचार, अपने घरका बंध-परम्परागत अद्वैतात्मज्ञानका सम्प्रदाय, आध्यात्मिक ग्रन्थों-के अध्ययनसे मनपर आये हुए संस्कार ईश्वादि कारणोंसे वर्तमान समयके धर्महीन आचरणोंको देखकर उनके संसर्ग-से बचनेके विचारसे जन्मस्थान पूना शहरको छोड़कर एकान्तवास करनेके लिये समीपके आलटी-क्षेत्रके एश्वर्म-की ओर कुछ दूरीपर झोपड़ी बौंचकर रहता हूँ और अद्वैतात्मज्ञानके प्रतिपादक श्रीज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव-ईश्वादि प्राकृत ग्रन्थोंका अध्ययन और अध्यापन कर रहा हूँ पुनः इसमें मनको सन्तोष भी है।

आजकल धर्महासके कारण बढ़े-बढ़े आयुनिक विद्वानों-के मनमें भी श्रुति-स्मृति आदि ग्रन्थोंमें अश्रद्धा और उदासीनता, विहित और अविहित विषयासकि, निषिद्ध आचार, ईश्वरके विषयमें तुच्छ बुद्धि ईश्वादि बार्ताको देखकर प्रत्येक आमिक मनुष्यका चित्त विपरण हो जाता है, हममें शंका नहीं। आयुनिक समाचार-पत्रोंकी धूम-धाममें साधारण धार्मिक मनुष्यमें भी बुद्धिभेद हो जाता है। इन पत्रोंके लेखकोंके ऊपर सरकाराद्वारा विद्वान्को मुहर लगी होती है। वे बुद्धिमान होते हैं, उनकी लेखनशक्ति युक्तियुक्त और मनोमुखकारी होती है और मनुष्य प्रायः विषयासक होते हैं। इसी कारण समाचार-पत्रोंके लेख, अधिकांश लेखकोंके शास्त्र-ज्ञानाभावके कारण शास्त्र-विद्वद् होनेपर भी स्वराज्य-सदृश उपरसे मनोमुखकर दीखनेवाले लेखियोंमें भूलकर धार्मिक लोग भी निषिद्ध व्यवहार-में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसका कारण यही है कि 'सब प्रमाणोंमें श्रेष्ठ, अपौरुषेय, स्वतःप्रमाणभूत वेद सब प्राणियोंके अभ्युदय और निःश्रेयसके लिये प्रवृत्त हुए हैं तथा जीवोंके ऐन्द्रिय वासनाओंको पूर्तिके साधनोंको बतलानेमें इनकी प्रवृत्ति नहीं हुई है' यह वेद शास्त्रोंके उपदेशका मर्म सम्प्रदायपूर्वक शास्त्राभ्ययनके न होनेके कारण आयुनिक विद्वानोंको शास्त्र नहीं होता और कदाचित् शास्त्रिक ज्ञान हो भी तो वह उनके हृदयमें पैठा नहीं होता।

इसके विपरीत उमड़ी ऐसी समझ प्रतीत होती है

मानो 'शास्त्र जीवोंकी विषयेष्वादा तृप्त करनेके लिये ही बने हैं। प्राचीन स्मृत्यादि ग्रन्थोंके नियमोंमें विषयभोगमें अन्तर पड़ता हो तो मन्वादि स्मृति-ग्रन्थोंमें वर्तमान समयके अनुसार परिवर्तन कर देना चाहिये अथवा एक नवीन स्मृति-ग्रन्थ नैयार करना चाहिये। क्योंकि जीवोंकी मानसिक अभिलाषाओंकी गूर्ति करनेके लिये ही वेद-शास्त्रोंका निर्माण हुआ है।' ऐसा उनका कथन है। इसीके अनुसार पत्रोंमें लेख भी आते हैं। साथ ही लौकिक कीर्ति अथवा द्रव्य-प्राप्तिके लिये कुछ शास्त्री लोग तथा आचार्य-नामधारी लोग भी, इन आयुनिक पत्रोंके अशास्त्रीय लेखों-का समर्थन करते हैं। इन शास्त्रियों तथा नामधारी आचार्योंको प्रायः यथार्थ शास्त्रज्ञान नहीं होता। और कदाचित् हो भी तो द्रव्यादिके लोभमें वे अशास्त्रीय भत्त-प्रबन्धकोंकी मदद करते हैं। कहीं उनके विस्तृत कोई विद्वान् कुछ कहना चाहे और प्रमाण तथा युक्तिपूर्ण लेख लिखे तो आजकलके पत्रोंमें ऐसे लेखोंकी स्थान ही नहीं मिलता और यदि उनपर विद्वान् होनेकी सरकारी मुहर न लगी हो तो आयुनिक विद्वान् तथा उनके अनुयायी शास्त्रियों और आचार्योंके द्वारा उनका तिरस्कार किया जाता है। जिन पत्रोंमें अशास्त्रीय लेखोंके लिये काफी स्थान रहता है, उनमें उनके प्रतिवादके लिये जरा-सी भी जगह नहीं मिलती। द्रव्याभावके कारण, सम्प्रदायपूर्वक शास्त्र-ज्ञान-सम्पर्क धूम-धाचार-सम्पर्क शास्त्री-पण्डितोंकी स्थिति 'मारे और रोने भी न दे'—जैसी हो जाती है। यह तो बढ़े-बढ़े शास्त्री-पण्डितोंकी हालत है, किर हमारे-जैसी स्थितिवाले पुरुषकी तो बात ही क्या है? जिन्होंने विदेशियोंके सहवासमें रहकर विदेशी भाषाका पूर्ण ज्ञान सम्पादन किया है तथा इस समय जो नयी पीढ़ीके गुरु बन बैठे हैं, उनकी संगति और शिक्षाका ऐसा कुछ विलक्षण प्रभाव दीख पड़ता है कि जो कहते ही नहीं बनता। सदाचारसम्पर्क घरानेका पिता अपने लड़केको विद्वान् बनानेके लिये कालेजमें भेजता है और वह सप्त पहली ही यात्राके दूँ ही महीनेमें मूँछ मुड़ाकर और सिरपर छप्पर ढालकर घरमें आते ही अपने शास्त्रीय आचारसम्पर्क माँ-बापको तथा पूर्वजोंको 'मूर्ख' कहनेका इक प्राप्त कर छेता

है ! माँ-बापको उसकी बातें सुनकर मनमें सेव होता है, परन्तु पुत्र-स्नेहके सामने हसका हलाज ही क्या है ? यह है विद्यार्थी लड़कोंकी दशा !

करोब ७५ वर्ष हुए, इमारे आधुनिक विद्वानोंमें पाश्चात्योंके समीप रहनेके कारण स्त्री-शिक्षाकी अभिभूषि उत्पत्ति हुई । विद्योंकी शिक्षा विकल्प ही न हो, प्राचीन लोगोंका यह मत नहीं था । परन्तु उसकी कुछ मर्यादा होनी चाहिये; गृह-कृत्योंको संभालकर विश्रामके समयमें उन्हें धार्मिक-परारणिक ग्रन्थ बाँचना आ जाय, इतनी ही शिक्षा उत्तम है । जिनको इतनी शिक्षा न होती उनको गाँवके सार्वजनिक देवालयमें कथा-पुराण-श्रवणकी सुविधा रहती थी अयवा धनी-मानी-कुलीन घरोंमें कथा-पुराणके लिये पौराणिक रहते थे, उनमें कुलीन खियां कथा-पुराण सुना करती थी ।

वर्तमान स्त्री-शिक्षामें धार्मिक अद्वाकोंको ही स्थान नहीं है । स्त्री-आनिकी प्रतिष्ठा बढ़ानेवाला जो आचार-मन्त्रका घरानोंका विनयका बनाव था वह भी सर्वथा नह दुआ दीखता है । विद्वाहकी वय-मर्यादाके समन्वयमें तो कुछ कहना ही नहीं है । शारदा-कानूनके कौसिलमें आनेके पूर्व ही सभ बाणोंमें प्राण आङ्गणवर्णमें ही, पाश्चात्य शिक्षामें एवं अन्य किसी भी कारणमें समझिये, परिस्थितिमें परिवर्तन हो जानेके कारण कन्याकी विद्वाह-मर्यादा आठ वर्षमें छँची चढ़ाने-चढ़ते बच्चीय वर्षपर्यन्त पहुँच गयी थी ! ऐसे वर-वधु विवाहके दिन ही सन्ध्याके समय हाथ-में-हाथ मिलाकर लग्नमें पहले ही शुद्ध हवा खानेके लिये निकल पहते हैं । एक लड़केओं उसके पिताने कहा कि, 'अरे ! आज शामको बरात निकलनेवाली थी और उमी समय तुम दोनों हसमें बिना एक सुखके समान बाहर हवा खाने चले गये, हसका क्या अर्थ ?' लड़के ने कहा—'आचा ! तुम्हारे जमानेके मूर्खताके दिन अब नहीं रहे । यह बीमदीं सदी है । इसके अतिरिक्त मेरी बी ० ०० ए० की परीक्षा समीप है और 'वाहक' (मेरी खी) एम० ०० पास है उसमें सुझे कुछ समझना था । चाय लेनेपर हम दोनोंमें परस्पर कुछ प्रेमभरा (डिबेट) बाद-विवाह दुआ । इतनेमें दहलनेका समय ही गया और हम इसने चले गये । मेरी समझमें नहीं आता कि इसमें क्या बुकसान हो गया । बरात और लड़मी-पूजनमें क्या रक्षा है ? मैं जानता हूँ तुम्हें मेरी बात नहीं रखेगी । परन्तु मैं बड़े सेवके साथ

कहता हूँ कि तुम जो तुलसीकी माला लेकर नाम जपते बैठ जाते हो, इससे तो देश-सेवामें लगना कहीं अच्छा है ।' सपूत्रका उपरेक्षा सुनकर पिताकी कुदि अकरा गयी और 'ऐसे पुत्रबाली अपेक्षा पुत्रहीन रहता तो अच्छा होता' ऐसा विचारकर वह बेचारा चुप हो गया ।

एक लड़कोंको लग्नके पूर्व लग्नके कपड़े पहनकर गौरी-पूजनके लिये बैठनेको कहा गया । उसने कहा— 'मेरी परीक्षा समीप है, पाठ बहुत-से पढ़े हैं, हिन्दी तो अभी देखी ही नहीं है, मुझे गौरी-पूजनके लिये समय ही कहाँ है ?' फिर ये तुम्हारी लग्नकी पोशाक मुझसे नहीं पहनी जाती ?' कन्याकी इस बातको सुनकर बूढ़े भाँ-बापको कितना सन्तोष हुआ होगा, इसका विचार विश्व पाठक ही करें । धार्मिक आचारोंके विषयमें विचार करनेपर भी अस्यन्त निराशा मालूम होती है । आजकलके युवक सन्ध्या-बन्धन किसको कहते हैं, यह भी नहीं जानते । आचमनी, पञ्चपात्रका स्थान चमची और कप आविने ले लिया है । देवपूजन, नैवेद्य और बलिदैवशदेवका उन्हें नाम भी नहीं मालूम है । आजकल अग्निहोत्रका अर्थ तो प्रसिद्ध है । एक पाकिटमें समिधा और दूसरेमें अग्निसिद्ध मलाईकी हिकिया; इसके तैयार रहते अग्निहोत्रमें क्या देर लाती है ? फिर भी इस अग्निहोत्रका मुख्य स्थान शौचाल्प ही होता है । शास्त्र कहते हैं कि उगतकी उत्पत्ति, पालन और संहारकर्ता इंधर हैं । प्रेह पुरुष इस बातको मानते आये हैं परन्तु यह आजकलके बौजूदवालोंको निनिक भी मान्य नहीं । पूजाके एक कालेज-के प्रिसिपल महोदयने एक बार यह घोषणा की थी कि 'वटि जगत्मै इंधर नामका कोई है तो उसे सामने आनेके लिये मैं आद्धान करता हूँ ।' मानो हुक्मके साथ ही इंधरको सिपाहीके समान प्रिसिपल साहबके सामने हाथ बँधकर लखे हो जाना चाहिये । पैमे पुरुषजन गुहालोंके विद्यार्थी अयवा विद्यार्थिनी उपरिलिखित स्पर्में भाँ-बापको उत्तर में, इसमें आश्रव ही क्या ? आधुनिक विद्वान्, विद्यार्थी और विद्यार्थिनीके विषयमें जैसा कहा गया है, डसी प्रकार बैठिक, शाकीय, पौराणिक आचारोंकी गोहापर बैठनेवाले नामधारी आचारोंमें भी उपजीविकाके अतिरिक्त सारिका अद्वाका अन्नाव ही है । साधु कहानै-वाले समाजमें भूत ही अधिक हैं । मालूम होता है, 'कूपमें ही भौंग पूज नहीं है ।' सूक्ष्म रहिसे देखनेवर आज

पढ़ता है कि इस समय प्रायः सभी जीवोंकी प्रहृति के बल भल करने और विषय-सुख भोगनेमें ही है। इसका अर्थ यह नहीं कि संसारमें सर्वगुणप्रधान, दैवीसम्पत्ति-सम्पद कोई है वही नहीं। सारिक अद्वासे युक्त ज्ञानमात्रा पुरुष भी हैं। सात्त्वी पतिव्रता जियाँ भी हैं। माता-पिताके भक्त बालक भी हैं और आचार्य-पीठपर बैठकर अस्त-करणसे संसारके कल्पाणायां शाश्वेषदेश करनेवाले एउट तथा सुसुधुओंके लिये अध्यात्मज्ञानका उपदेश करनेवाले सम्म भी हैं। परन्तु उनकी संकल्प इतनी थोड़ी है कि सूक्ष्म-नृशंक यन्मसे ही उनके दर्शन हो सकते हैं। संसारमें सोनेवाले पुरुष ही अधिक भिंडेंगे, ज्ञानेवाले बहुत ही थोड़े हैं। इसके अनुसार आधुनिक युगमें धर्मचारका अपकर्त्ता और अध्यात्मचारका उपकर्त्ता है, यही कलिका प्रभाव है। इसका वर्णन भगवान् महर्षि व्यासने भागवतमें विस्तारपूर्वक किया है।

महाराज परीक्षितसे श्रीशुकदेव मुनि कहते हैं कि 'जब संमानमें कपट, असत्य, हिंसादि दोष दीम्बने लगते हैं तउस समझना चाहिये कि कलिकाल आ गया। इस कलिकालमें मनुष्यकी बुद्धि मन्द हो जायगी, द्वादिद्य फैलेगा, काम-वासना बहुत बढ़ेगी। जियाँ कुलदा और दुष्ट होंगी। देशमें ज्वारोंकी बन आवेगी। नास्तिक-मतवादियोंके हारा बेद-निन्दा होगी। राजा-महाराजागण प्रजाके उपर नाना प्रकारके कर लगाकर प्रजाभक्षक बनेंगे। व्राजगण शिखोदर-परायण होंगे। व्राजचारी अपवित्र होकर विहित आचरणसे होने होंगे। गुह्यत्व भीख माँगेंगे और स्वयं किसीको बिल्कुल न देंगे। तपस्यी लोग तपोवन छोड़कर शहरमें जाकर रहेंगे। संन्यासी अर्थन्त द्रव्य-स्तोभी होंगे। पुरुष छी-स्मरण छोड़कर रति-सुखमें आसन होंगे और इस कारणसे माता-पिताको छोड़कर जीके सम्बन्धियोंसे ही जाता जोड़ेंगे। शूद्र तपस्यीका वेच धारणकर द्रव्यादिका दान लेंगे और विशेष यह बात होगी कि जिनको शास्त्रका धर्मार्थ जान नहीं, ऐसे लोग जान्ती, परिदृष्ट, आचार्य नाम धारण करके और जैवि आसनपर बैठकर अधर्मको धर्म बताते हुए विपरीत उपदेश करेंगे। लोग कौदीके खोभसे स्नेह छोड़कर साझेंगे। भाई भाईका धात करेंगे और प्रसङ्गविशेष आनेपर परिक्षित, द्रव्य-स्तोभके लिये आरम्भात करेंगे। ऐसी अनेक प्रकारकी धर्माद्वयवरकी

कियाएँ जोगोंमें शुरू होंगी। ऐसा कराल कलिकालका प्रभाव है।'

उपर्युक्त वर्णनके अनुसार समय आ गया है। परन्तु यह व्याप्तिमें रखना चाहिये कि इस धोर कलिकालमें भी धर्मचारणसे रहनेवाले छी-पुरुष संसारमें हैं। सर्व, रज, तम, इन तीनों युगोंका कार्य यह जगत् है और ज्ञानेमिके अनुसार कभी सत्त्व, कभी रज और कभी तमोगुणका उत्कर्ष होता है। जिस समय रजोगुण और तमोगुणका उत्कर्ष होता है उस समय सर्वगुण अर्थात् दैवी-सम्पत्तिका संसारमें अपकर्त्ता होता है, परन्तु उसका अव्यन्तराभाव नहीं होता। कलिकालमें भी कुछ-न-कुछ दैवी-सम्पत्ति-सम्पद छी-पुरुष होते ही हैं और उनको संसारमें आसुरी-सम्पत्तिका उत्कर्ष देखकर खेद होता है तथा पामरजनोंपर दया आती है।

इसपर कोई यह कहे कि 'तुझारे सर्वज्ञ भगवान् व्याप्तिवेने कलिकालमें धर्मवेवाली बार्तोंकी जो पहलेसे अविष्यहायी की थी, वही बानें तो आधुनिक राजा और प्रजामें होती हैं, इसमें किसीका क्या दोष है?' यथापि यह बात देखनेमें युक्तियुक्त जान पड़ती हैं तथापि यथार्थ तो यह है कि कलिके प्रभावमें जो जीव धर्मचारको छोड़कर अधर्ममें रत हुए हैं, इसमें वे सुखकी जगह अनेकों प्रकारके दुःख भोगते हैं और उस दुःख-भोगके समय प्राप्त दुःखके परिहारकी इच्छा करते हैं तथा उस दुःख-परिहारके दृष्ट उपाय भी वे अपनी बुद्धिद्वारा अन्य देशके लोगोंमें तथा पूर्वकालके इतिहासको देखकर निश्चित करते और उनको काममें लाते हैं परन्तु उन्हें फलकी प्राप्ति नहीं होती। रोगजनित कष्ट भोगते समय उस कष्टके परिहारकी इच्छा रोगीको होती है। परन्तु रोगका निदान ज्ञात न होनेके और अपव्य-संवरकी प्रवृत्ति होनेके कारण उस कष्टकी निवृत्ति नहीं होती, वह उल्टे बढ़ता ही जाता है। इसी प्रकार अधर्मचरणमें दुःख-भोगका प्रसङ्ग आता है तथा उसका परिहार ईश्वरके अनुप्रवृत्तसे होता है; इस तथ्यको न जाननेके कारण तथा जानकर भी उसपर अद्वा न होनेके कारण लोग ईश्वर-भजन नहीं करते, उल्टे अधिकाधिक अधर्मचरणमें फँसते जाते हैं, जिसमें उत्तरोत्तर दुःख-भोग भी बढ़ता ही जाता है। ऐसे जीवोंके प्रति मनमें कल्पणा लाकर महाराज परीक्षितने श्रीशुकदेव मुनिसे पूछा था—

केनोपायेन भगवन्कलेदोवान्कलौ जनाः ।
विषमिष्यन्तुषुपचितांस्तन्मे ब्रह्म यथा मुने ॥
(श्रीमद्भा० १२।३।५६)

भावार्थ—‘हे शुकदेवजी महाराज ! कलियुगमें वडे हुए कलिके दोयोंको ज्ञाग किसप्रकार न नह कर सकोंगे ? उन दोयोंके नाश करनेके उपाय क्या हैं ? कृपा करके मुझसे कहिये ।’ इस प्रश्नके उत्तरमें घारों युगोंकी स्थिति बतलाते हुए श्रीशुकदेवजीने कहा है—

कलदोपीनिषे राजतासि होको महान्युणः ।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुकुसंगः परं व्रजेत् ॥
इते बद्ध्यायते विष्णुं त्रितायां यजते मस्यैः ।
द्वापरे परिचर्मायां कहाँ तद्विकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भा० १२।३।५१-५२)

अर्थात् ‘हे राजन् ! यह कलिकाल सब दोयोंकी निविह है, तथापि इसमें एक उत्तम गुण भी है । मनुष्य सब विषयोंसे आसक्त छोड़कर केवल भगवान् श्रीकृष्णका कीर्तन अर्थात् नाम-स्मरण करेगा, तो दुःखोंसे रहित होकर अनन्त सुख-राशि परभासाके साथ एकरूप हो जायगा ।’ किसना सुगम साधन है ? ‘अरे ! स्थृत्युगमें विष्णुका ध्यान करनेवालोंको, त्रेतामें यज्ञ करनेवालोंको और द्वापरमें दूजा करनेवालोंको जो फल मिलते हैं, वे ही फल इस कलिमें केवल भगवद्गाम-संकीर्तन करनेवालोंको मिल जाते हैं ।’

कलिकालकृत सर्व दोयोंके नाश करनेके लिये यह कैसा सुगम साधन है ? यह भगवद्गाम-नंवर्तनकी महिमा है । सन्तवर तुकारामजी महाराज एक जगह कहने हैं—

प्राणिया एक बीजमंत्र उचारी ।
प्रतिदिनी रामकृष्ण मृणकां मुगरी ।
हे चिं साधनरे तुश्या सकलसिद्धं च ।
नाम उचारीं रे गोपानाचे वाचे ॥
उपास पारणे न लोग बन सेवन ।
न लोग धूमपान पंच अप्सिवन ॥
सुखाचे फुकाचे काही न वेचे भांडार ।
कोटी यज्ञा परिस तुका भृणे हे सारे ॥

अर्थात् हे प्राणी ! एक बीजमन्त्रका उचारण कर। प्रतिदिन ‘रामकृष्ण मुरारी’ कहता जा । अरे, वाणीहारा गोपाके नामका उचारण करना समस्त सिद्धियोंको प्रदान करनेवाला साधन है । इसमें उपवास, पारण अथवा बन-

सेवनकी आवश्यकता नहीं और न धूमपान, पानामि तापनेकी ही आवश्यकता होती है । तुकाराम महाराज कहते हैं कि भगवद्गाम-संकीर्तन सुखकूर्वक तथा सहज ही होनेवाला है, इसमें द्रव्य-इयथ नहीं करना पड़ता और न इसके लिये अपनी समर्पण ही बेचनी पड़ती है । अरे ! यह तो सार बस्तु कोटि यज्ञोंमें अधिक फल देनेवाली है ।

परन्तु कोई बुद्धिमान पुरुष ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि महाराज तुकारामसे कौन पूछने गया था कि हमारे लिये कलियुगमें तरनेका कोई उपाय हो तो कहिये ? इसका उत्तर यह है कि हो सकता है, किसी मनुष्यने उसमें ऐसा प्रश्न किया हो जिसका उन्होंने यह उत्तर दिया है । फिर, उनसे किसीने ऐसा प्रश्न किया ही नहीं था, इसीका क्या प्रमाण है ? मान लिया जाय कि किसीने उसमें ऐसा प्रश्न नहीं किया था, तथापि उन्होंने जीवोंके उपर तथा करके यह उपदेश दिया, यही माननेमें क्या आपत्ति है ? वैयक्तिक दृष्टिये पुत्रके कल्याणकी इच्छा करनेवाला पिता हृदयमें व्याकुलता होनेमें पुत्रके बिना ही पूछे उसके हितकी बात कहता है, यह व्यवहारमें हम देखते हैं; उसी प्रकार सामु-महामाओंके हृदय भी समर्पित अर्थात् समस्त सांसारिक व्यक्तियोंके स्वेच्छाचारको देखकर उनके कल्याणके लिये द्वारा ही उठते हैं हर्यालिये वे उनके प्रति उपदेश देते हैं और यह उपदेश देना सामाजिक है । यही साखु-हृदयकी विशेषता है । स्वयं तुकारामजी महाराजने अपना अनुभव कहा है कि—

बुद्धने हैं जन न देखने देहां । गहणनि करन्ता गत असे ॥

अर्थात् भव-सिन्धुमें दूबने हुए जीवोंको मैं देख सकता, इसीलिये मेरा हृदय (उन्हें देखकर) इसप्रकार व्याकुल हो उठता है ।

श्रीजानेश्वर महाराज भी अपने एक अभंगमें कहते हैं कि ‘चारों वेद, छओं शास्त्र, अठारहों पुराण भगवद्गामका जप करनेके लिये वडे ज्ञात-ज्ञानमें कह रहे हैं, परन्तु उस ओर कोई कान भी नहीं देता । भगवान्के नामका (राम-नामका) जप नहीं करनेसे मनुष्योंकी बढ़ी हानि हो रही है ।’ अहा ! कल्याद्व-विष्णु कैसा व्याकुल हो रहा है !! इस सन्त-हृदयको कोटिशः धन्यवाद है !!

* बाजतसे बंब कीपी नायकती कानी ।

रामनाम न बहे त्याची थोर झाला हानी ॥

सर्वप्रभाशशिरोमणि भगवती श्रुति तथा उसका अनुगमन करनेवाली स्मृति, मारावत आदि दुराण, श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्याचार्य, श्रीबलभाचार्य, श्रीज्ञानेश्वर महाराज, श्रीएकनाथ, श्रीनामदेव, श्रीकीर्ति, गोस्वामी श्रीतुलसीदास, श्रीतुकारामके समान भगवद्-भवतारी बड़े-बड़े साधु-सन्तोंने कल्पयुगके भगवतामो-आरणोंको सुगम और सब फल प्रदान करनेवाला साधन बतलाया है, परन्तु कोई सुनता ही नहीं, इसका क्या कारण है ? यह विचार करने योग्य प्रभ है ।

मधुप्यमात्रमें जो निरन्तर सुखकी अभिलाषा देखनेमें आती है, उसको सामान्यतः जो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है । यंसारमें बहुधा सब लोगोंको वैष्यिक सुखकी इच्छा होती है इसे हम पहले भागके अन्तर्गत लेते हैं; दूसरे भागोंमें वे हैं जो लाखों मनुष्योंमें कहीं पक्क होते हैं जो विषय-सुखको अनेक दुखोंमें भ्रम और अनियम समझते हैं, एवं विषय-सुखमें दोष-बुद्धि रखते हुए नियम निरतिशय आनन्दको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं । पहले प्रकारके लोगोंके लिये इहलोक तथा स्वार्गादिके विषय-सुखके उपभोगार्थ यज्ञ, याग, तप आदि साधन अुत्तिने बतलाये हैं तथा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये व्रजकाशनरूपी साधन बतलाया है । इनके साझोपाङ्क साधनोंका स्मृति-कारोंने अपने ग्रन्थोंमें विशदरूपमें वर्णन किया है । साधन-का अनुष्ठान करनेपर यज्ञ उसके फल-भोगका समय उपस्थित होगा, तब क्रमानुसार जीवको ईश्वरके मङ्गलत्पके द्वारा वह फल-भोग अवश्य ही मिलेगा । उस फलके भोगके समय भोक्ताको सर्वकर्मचरणवाला होना ही चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं; क्योंकि विषय-सुखका उपभोग मनुष्यको धूं-कर्मोंके अनुसार प्राप्त होता है । और निरतिशय परमानन्द अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिके लिये अनेक जन्मोंमें अंजित ईश्वरार्थ-बुद्धिमें किये हुए सक्षमोंके फलभोगके समय गुरुद्वारा बेदान्त-के महावाचकोंके विचारमें निःसन्देह अद्वैतात्मजानकी प्राप्त-कर साधक परमानन्दरूप हो जाता है, यही धर्मका निश्चित फल है । इतना होनेपर भी उस साधनमें जीवोंकी प्रवृत्ति क्यों नहीं होती, ऐसी शक्ति अर्जुनने गीताके नवे अध्यायमें की है जिसका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यात्प चरंतप ।

अप्राप्य मां निर्वर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

(गीता ९ । ३)

अर्थात् ‘इस वेदप्रतिपादित धर्ममें जीवोंकी शक्ता न होनेके कारण वे धर्म अथवा ब्रह्मका विचार नहीं करते हैं, इसलिये वे मुझे प्राप्त नहीं होते और दुःखमय जन्म-मरण-रूप संसारमें जा गिरते हैं ।’

अबस्तु, उनसे धर्माचरण नहीं हो सकता तो वे न करें, परन्तु जिनमें पाप ही उपच होता है तेसे निषिद्ध कर्मोंको, वे इच्छा न रहते हुए भी क्यों करते हैं ? इस-प्रकारका प्रभ अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णजीमें स्पष्टतः पूछा है—

अथ केन प्रयुक्तेऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्णेय बलादिव नियोजितः ॥

(गीता ३ । २६)

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्गदः ।

महाशनो महापापमा विद्युथेनमिह वैरिणम् ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! जीवमें स्थित जो काम, अर्थात् ‘मुझे यह चाहिये, वह चाहिये’ इसप्रकारकी जो प्रबल विषय-वासना है वही धर्माचरणकी शत्रु है । क्रोध और लोभ कामकी ही अवस्थाएँ हैं । पूरकमें काम उपच होता है; वासनानुसार विषयकी प्राप्ति होनेपर उस कामका ही परिणाम लोभ हो जाता है और यदि इच्छानुसार विषयकी प्राप्ति होनेमें किसीने विनाउपस्थित किया और उस विषयकी प्राप्ति न हुई तो उसी कामका परिणाम क्रोध हो जाता है । ये काम-क्रोध मनुष्यके धार्मिक आचारमें विनाउपस्थितकर, इच्छा न रहते हुए भी जीवको बलात्कार निषिद्ध कर्ममें प्रवृत्त करते हैं ।

इसप्रकार जो जीव कामके दास हो गये हैं, वे विहित हो अथवा निषिद्ध, परन्तु आपात-मनोरम दीक्षेवाले विषय-सुखकी लालसासे निषिद्ध कर्मके गद्दमें जा गिरते हैं । इन आमरी-सम्पत्तिमें युक्त पुरुषोंके मनोविकार कैसे होते हैं, धर्मके सम्बन्धमें उनका विचार क्या होता है, उनका बर्ताव कैसा होता है, वे कैसे बोलते हैं आदि यातोंका भगवान् श्रीकृष्णने गीताके सोलहवें अध्यायमें बढ़ा विशद वर्णन किया है ।

उक्त वर्णनमें असुरलोगोंके व्यवहारपर विचार करके देखनेसे किसी भी मनुष्यके समाजमें यह आ जायगा

कि प्रायः संसारकी वर्तमान स्थितिका ही वर्णन भगवान् ने किया है। इन उहरण व्यवहारोंके कारणोंका विचार करें तो आज पढ़ेगा कि आसुरी-सम्पत्तिमें युक्त नासिकोंका कोई नियन्ता ही नहीं है। वेद कहते हैं कि समस्त संसारका नियन्तृत्व भगवान्के हाथमें है, परन्तु नासिक तो पहले वेदके अस्तित्व अर्थात् प्रामाण्यको ही नहीं स्वीकार करते। केवल वेदोंका प्रामाण्य न माननेवालेकी ही नासिक संज्ञा है। वर्णोंकि वेदोंका प्रामाण्य स्वीकार करते ही ईश्वरका अस्तित्व बरबर सामना ही पड़ता है। वे आसुरी-सम्पत्ति-से युक्त पुरुष ईश्वर और वेद दोनोंको भी प्रमाण नहीं मानते, इसलिये मैं उनको नासिक कहता हूँ।

वास्तु-युक्ति-हीन, उहरण और मूर्ख मनुष्य ऐसा कहता है कि ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं दिखलायी देता, इसलिये मैं उसे नहीं मानता। परन्तु उसका यह कथन ठीक नहीं। उसमें पूछा जा सकता है कि 'भाई! वर्षे पहले मरे हुए तुम्हारे पूर्वज तुम्हें जन्मके पश्चात्से ही प्रत्यक्ष नहीं दीखते तो क्या तुम कहांगे कि तुम्हारे वे पूर्वज हुए ही नहीं?' वह कहता है—

'ऐसा मैं नहीं कहता; क्योंकि मेरे पूर्वज अनित्य थे, इसलिये वे मुझे आज नहीं दीखते। परन्तु वे एक समय सबके देखनेमें आते थे। तुम्हारा ईश्वर तो नित्य, निराकार, सर्वज्ञ और सर्वद्वयापक है, ऐसा तुम्हीं कहते हो; अर्थात् वह तुम्हारे और मेरे पास है, तथा वह नित्य है, फिर वह दिखलायी क्यों नहीं देता? उसे दिखलायी देना ही आहिये; परन्तु नहीं दिखलायी देता इसलिये मैं कहता हूँ कि ईश्वर नहीं है।'

इसपर मैं पूछता हूँ कि 'जगत्-में वायु एक तत्त्व है इसे तुम मानते हो या नहीं?'

'हाँ, मानता हूँ।'

'क्या वह तुम्हें दीखता है?'

'नहीं।'

'यदि नहीं दीखता, तो 'वायु तत्त्व है' इसे तुम क्यों स्वीकार करते हो?'

'शरीरको वायुका प्रत्यक्ष स्पर्श होता है इससे मैं वायुका होना स्वीकार करता हूँ।'

'तुम्हें क्या वायुका प्रत्यक्ष होता है?'

'वायुका शरीरका स्पर्श ही उसका प्रत्यक्ष है।'

'तुम पागल हो! वायुमें केवल अनुष्टुप्पाशीत स्पर्श-

गुण होता है। उसका स्पर्श-गुण जलके संयोगसे शीतल और अप्रिके संयोगसे उष्ण होता है, इसप्रकार स्पर्श-गुणमें भेद है परन्तु वायु एकरूप है। यह निश्चय होनेपर तुम यह मानते हो या नहीं कि स्पर्श-गुणका आश्रयभूत वायु उस स्पर्शसे भिज गया होता है?'

(अथवान्त कष्टसे) 'हाँ, वायुको स्पर्शसे भिज गामना आवश्यक है।'

'तब तुम्हें त्वचामें स्पर्शका प्रत्यक्ष हुआ। स्पर्शके आश्रयस्वप्न वायुका नहीं?'

'हाँ, वायुका प्रत्यक्ष नहीं हुआ, यही कहना पड़ेगा।'

'अब मैं पूछता हूँ' कि यदि तुम्हें वायुका प्रत्यक्ष नहीं हुआ अधिवा नहीं हो सकता, तो वायु तत्त्व है, यह कैसे कहा जा सकता है?'

'ठगड़ी हवाका स्पर्श होनेमें केवल यही निश्चय होना है कि उसका आश्रय वायु नामकी कोई वस्तु है।'

'यह निश्चय होना ठीक है; परन्तु तुम्हारा सिद्धान्त तो यह है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष दीखती है, उसीका अस्तित्व मानना चाहिये। तब जो प्रत्यक्ष नहीं दीखती, वह वस्तु है इसी नहीं, यह निश्चय असत्य हुआ न?'

'असत्य तो हुआ पर अब यह नियम किया जा सकता है कि जो प्रत्यक्ष दीखते अधिवा जिसकी अनुमानसे सिद्धि हो, ऐसे पदार्थोंके अस्तित्वको स्वीकार करना चाहिये।'

'टीक! टीक! अब आ गये रास्तेपर! इसप्रकारके प्रभावमें तुम्हीं अपने मुँह से ईश्वरकी सिद्धि करारोगे।'

'किसप्रकार?'

'अब मैं तुमसे पूछता हूँ कि जितने कार्य होते हैं उनका कोई-न-कोई कर्ता तो होता है?'

'हाँ, होता है।'

'अच्छा, वह कर्ता चेतन होता है न?'

'हूँसका कोई नियम नहीं; किसी कार्यका कर्ता चेतन होता है और किसीका अचेतन। कर्ताका चेतन होना कोई नियमित बात नहीं हो सकती।'

'किसी कार्यके कर्ताको मानकर उसे अचेतन बतलाना लोक-विरुद्ध बात है।'

'लोक-विरुद्ध कैसे?'

‘अच्छा, किस कार्यका कर्ता चेतन होता है?’

‘पेदसे फलका गिरना, नदीके जलका बहते जाना, वर्षा होना, विजलीका गिरना, घासका उगना इत्यादि कार्योंका सचेतन कर्ता कोइ भी नहीं है।’

‘कोइ सचेतन कर्ता वाहे दिखलायी न दे, परन्तु जियके द्वारा कार्य होता है उसका चेतनके साथ सम्बन्ध मानते हो या नहीं?’

‘चेतनके साथ सम्बन्ध माननेमें क्या भ्रतलब?’

‘इस नियमको तुम्हीने माना है कि कार्यका कर्ता अवश्य होता है।’

‘माना तो है।’

‘फिर बतलाओ कि कर्तृत्व-धर्म चेतनके आश्रित रहता है या अचेतनके?’

‘दोनोंहीके आश्रित रहता है।’

‘ठीक है; अब बतलाओ, चेतनके आश्रयमें कौन-से कार्य होते हैं?’

‘मनुष्यका चलना, बोलना, स्नाना, पीना इत्यादि कार्य चेतनहारा होते हैं।’

‘अहो! चलना जड पैरेंद्रारा, बोलना जड वाणी-द्वारा, स्नाना-पीना जड मुँहके द्वारा होता है। इनमें पैर आदिमें कोइ चेतन नहीं दिखलायी देता। फिर कैसे कहा जा सकता है कि ये कार्य चेतनके द्वारा होते हैं?’

‘इन जड इन्द्रियोंमें स्वतःकर्तृत्व नहीं, यह बात ठीक है, परन्तु प्रत्येक शरीरमें उनका भ्रन्तर्यामी चेतन कोइ अवश्य है।’

‘चेतन है, परन्तु वह तुम्हें दिखलायी जो नहीं देता?’

‘नहीं दिखलायी देता सो हृससे क्या? मृत शरीर-को पैर होते हुए भी वह अपने आप अपनेको दाह करनेके लिये इमशानमें नहीं जाता, बल्कि चेतनसे सम्बन्ध रखनेवाले हाथ-पाँवाले मनुष्योंके द्वारा ही वह वहाँ पहुँचाया जाता है। इससे चेतनके प्रत्यक्ष न होनेपर भी अनुमानसे उसकी सिद्धि होती है। ऊपर मैंने अनुमान-प्रमाणको भी स्वीकार किया है।’

‘ठीक है, अब तुम ईश्वर-सिद्धिकी ओर चल रहे हो। अच्छा, बतलाओ तुम चेतन हो या नहीं?’

‘मैं चेतन हूँ।’

‘तुमको अब किसी गहनेकी आवश्यकता होती है, तब क्या बाजारमें सोना खरीदकर तुम आप ही गहना बना लेसे हो? तुम्हें चेतन होनेका व्यान है न?’

‘हाँ मैं चेतन हूँ। मेरे पास सोना है, परन्तु गहना बनानेका विशेष ज्ञान मुझमें नहीं। इसलिये गहना बनवानेके लिये मुझे गुणी स्वर्णकारके पास जाना होगा।’

‘तुम्हारे हस उत्तरमें सिद्ध होता है कि केवल चेतन-हारा ही कार्य नहीं होता, बल्कि कार्यका जाननेवाला चेतन पुरुष ही कर्ता हो सकता है। ठीक है न?’

‘ठीक है, परन्तु वर्षा होना, तृणादिका उगना आदि कार्योंके लिये आप ईश्वरको कारण मानते हैं। परन्तु वह दिखलायी नहीं देता इसलिये मुझे इसमें प्रतीति नहीं होती। आपके मतमें इन कार्योंका कौन कर्ता होगा? अंगरेजीमें जिसे ‘नेचर’ कहते हैं वही सब कार्योंको करती है, ऐसा मेरा विश्वास है।’

‘इस अंगरेजीमें कहे हुए ‘नेचर’ को उन अंगरेजोंने अथवा स्वयं तुमने कभी देखा है? यदि नहीं तो ‘नेचर’ को कर्ता कौसे मानते हैं?’

‘ज़मीनमें पड़े हुए बीजको पानी मिलनेसे अङ्कुर उत्पन्न होता है, यह उसका स्वभाव है। इसमें ईश्वरकी क्या आवश्यकता है?’

‘अहो! अंगरेजी शब्द ‘नेचर’ के म्यानमें तुमने संस्कृत भाषाका प्रयोगमात्र किया। परन्तु मैं किर वही प्रश्न पूछता हूँ कि स्वभाव चेतन है या नहीं?’

‘चेतन है।’

‘स्वभावको तुमने देखा है?’

‘नहीं; परन्तु अनुमानमें निश्चित कर सकते हैं कि स्वभाव चेतन है।’

‘अच्छा, तो क्या वह स्वभाव मर्व कार्यको व्यवस्थित रीतिसे करने योग्य, विशेष ज्ञानमन्त्र, अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है?’

‘हाँ, है। ऐसा ही मानना होगा।’

‘अच्छा, तुम्हारा वह चेतन और सर्वज्ञ ‘स्वभाव’ कुम्भारके समान कार्यके बाहर रहकर कार्य करता है या कार्यका अन्तर्यामी होकर कार्य करता है?’

‘अन्तर्यामी होकर करता है, यही कहना होगा।’

‘अच्छा मैं पूछता हूँ कि, मनको भी जिसका प्रथय नहीं होता, अस्यतु कुशल कारीगरकी बुद्धि भी जिस रखनाको नहीं समझती, इसप्रकारका यह हजर जगत् कार्य है या नहीं?’

‘कार्य है।’

‘इस जगत्-रूप कार्यका कर्ता कौन हो सकता है?’

‘वही हमारा ‘नेचर’; अधवा उसे स्वभाव कहिये।’

‘तुम्हारा ‘नेचर’ जो चेतनस्वरूप, सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् है उसीको वेदोंमें ‘ईश्वर’ कहा गया है। केवल नाममात्रका भेद है। तुम्हारे युक्तिहीन ‘नेचर’ के बदले उसको वेदप्रतिपादित सर्वज्ञ ईश्वर, सर्वेश्वर कहना अधिक सुसंगत है। नदीका जल बहना आदिको तुमने जो अचेतनके कार्य बतलाया था, वे सब कार्य परमामात्रकी आज्ञामें होते हैं ऐसा श्रुतिमें कहा गया है। जैसे—

‘पतस्य वा अक्षरस्य प्रशासनं गर्वि नदः प्रसवन्ति।’

‘भीषाऽस्माद्वातः पवते०’

अचेतनमें कदापि कर्तुत्व सम्भव नहीं। अब जगत् का कर्ता कौन है, इस विवेचन पर विचार करना है।

‘यतो वा इमानि तृतीनि जायन्ते’ यः सर्वज्ञः सर्ववित्;

इत्यादि श्रुति-वाक्योंये जगत्कारणरूपसे मायाविशिष्ट ईश्वरकी सिद्धि होती है। परन्तु जिनका मन श्रुति-वाक्योंके स्वतःप्रमाणको स्वीकार नहीं करता तथा ईश्वर-मिद्दिके लिये युक्तिकी अपेक्षा करता है उसके लिये भगवान् श्रीशंकराचार्यने केनोपनिषद्में अनुमानउडारा ईश्वरकी सिद्धि की है। वह लिखते हैं—

‘शदिदं जगदेवगन्धवेयक्षरक्षः पितृप्रिशाचादिलक्षणं, शुद्धिपृथिव्यादिस्त्रचन्द्रग्रहनक्षत्रविचित्रं, विविघ्राण्युपमोग-योग्यस्थानसाधनसम्बन्धितदत्यन्तकुशलीशित्प्रिमरपि दुर्मिसां देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिकम् पत्रोऽकृमं-विभागश्रव्यहृपूर्वं र्वितुमर्हति। कार्यते सति पर्यन्तकृष्णत्वात्। गृहप्रासादरथशयनासनादिवत्।’

इस अनुमानमें जगत् की विकल्प रखना तथा उसमें स्थित जीवमात्रको उनके पूर्व-कर्मोंके अनुमार नियमित समयमें सुख-दुःखरूपी भोगके साधनोंका प्राप्त होना—यह कार्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरके विना असम्भव है। क्योंकि वडे-वडे राजमहल, मनिद्वार, रथ, रायनागर अथवा राजाओंके दैले योग्य आसन आदि कार्य कार्य-

कुशल और समर्थ कारीगरोंहारा ही होते हैं। उसी प्रकार इस प्रथयक्ष वीखनेवाले जगत्में देव, गन्धर्व, पितर, राक्षस, पिशाचादि हैं तथा स्वर्ग, आकाश, बायु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, शनि, मंगलादि प्रह और अश्विनी इत्यादि नहीं हैं। इसप्रकारका संसार किसी भी चतुर-से-चतुर कारीगरहारा तैयार नहीं हो सकता। साथ ही विशेषता यह है कि प्रत्येक प्राणीके प्रारब्धानुमार सुख-दुःख-भोग, देश-काल तथा आवश्यक भोग्य-पदार्थोंका सम्बन्ध उस प्राणीके साथ कर दिया जाता है। इसप्रकारसे प्राणियोंके विचित्र भोग और यह विलक्षण जगन् जब कार्य हैं, यह अनुमान है, तब इन सर्व कार्योंके उपादानको जानने-वाला (सर्वज्ञ) तथा उनके निर्माण करनेकी सामर्थ्य रखनेवाला (सर्वशक्तिमान्) ईश्वरके अस्तित्वकृसरा कौन ही सकता है? यह साध्य है, इस अनुमानके लिये गृह-प्रासाद आदि दृष्टान्त हैं। इस अनुमानके द्वारा श्रुति-प्रतिपादित जगत्कारण ईश्वरके स्वरूपकी हड्डा होती है, यह मिठ दुख। परन्तु अंगरेजोंके महावासमें, उनकी शिक्षामें तथा क्षणिक विषय-मुद्दके मोहमें पढ़े रहनेके कारण आज ‘ईश्वर’ शब्दमें भी विश्वास नहीं रहा। इसलिये लोग धर्म-भ्रष्ट हो गये हैं। इसी कारण ऐसी दुर्दशा हो रही है। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और नित्य-दशालु ईश्वर-पर विश्वास किये विना कभी काम नहीं चल सकता। इसलिये राम, कृष्ण आदि ईश्वर-नामका जप करना चाहिये, जो सर्वथा कल्याणप्रद है। इसपर शंका की जाती है कि ‘ईश्वर’ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, व्यापक, निराकार, निविकार और निष्य है, ऐसा आप कहते हैं, परन्तु साथ ही राम, कृष्ण आदिके नामोंका जप करनेके लिये भी कहते हैं, यह असंगत जान जड़ता है। क्योंकि रामनवमी अथवा कृष्णाष्टमीके पूर्व राम, कृष्णादि भूतलपर नहीं थे और निजधामको पधारनेपर भी नहीं रहे, यह प्रत्यक्ष है फिर राम, कृष्णादि नित्य कैसे हो सकते हैं? और यदि वे नित्य नहीं हैं तो उनके नाम-स्मरणमें कल्याण कैसे हो सकता है?

इस शंकाका समाधान यह है कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा अनादि मायाके सम्बन्धमें ईश्वररूपको प्राप्त होता है तथा उसी मायाके सम्बन्धमें भक्तोंके ऊपर अनुग्रह तथा दुष्टोंके विनाश करनेके लिये इयामसुन्दर पीताम्बरधारी श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिके रूपमें अपनी इच्छा-मात्रसे अवतरित होता है। इसलिये वह ईश्वर है। राम,

कृष्णादिके रूपमें अवतरित होनेवाला ईश्वर भक्तवत्सल, दयावत हस्तादि अनन्त कल्याणकारक गुणोंका आगार है। वह सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है, इसलिये शुद्ध भावनासे किये गये ध्यान-पूजन, नाम-स्मरणको वह यथार्थ रीतिसे समझता है और भक्तोंकी भावनाके अनुसार वह कल भी देता है।

यह शास्त्र-मिद्दान्त है कि पुरुषके प्रयत्न यदि ईश्वर-नुग्रहके अनुकूल हों तो वे मफल होते हैं। महाभारतके युद्धमें हाथीके गंडका घण्टा टूटकर पक्षियाँके बच्चोंकी रक्षाका कारण हुआ, इसे अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने प्रत्यक्ष दिखाया था। यह ईश्वरीय दयाज्ञ प्रबल उदाहरण है।

ठिंकिन जहाज, करोड़ों रुपये सर्वं करके मुखोपभोग-के लिये तैयार किया गया था। परन्तु ऐश्वर्यमध्ये हजार-दो-हजार मनुष्य अपने श्री-बच्चोंके सहित उसपर बैठकर

विहार करनेके क्षिते निकले ही थे कि अधे ही घण्टमें उसने जल-समाधि ले ली और सुख-भोगके लिये बैठे हुए वे पुरुष अपने श्री-बच्चोंके साथ दुःखके अनितम गर्नमें जा पड़े।

इसका कारण यही था कि इसमें पुरुष-प्रयत्न से अस्थ-धिक था परन्तु ईश्वरका अनुग्रह था ही नहीं। इसप्रकार अनेक प्रमङ्गोंपर विचार करनेमें जान पड़ता है कि ईश्वरके अनुग्रहके बिना सुखोपभोगकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवनमें सकलता प्राप्त करनेके लिये केवल ईश्वरानुग्रहकी आवश्यकता है। उसके लिये अनन्य भावनाये ईश्वरोपासना करनी चाहिये और औत, सार्वत-कर्माधिकारी पुरुषोंको वर्णाश्रमविहित ईश्वरार्पण-बुद्धिहारा स्वप्रभास्वरणरूपी ईश्वर-येवा करनी चाहिये। श्रुति-कर्मका अधिकारी न होनेकी अवस्थामें ईश्वरके नाम-स्मरणके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

ईश्वर

ईश्वरको तुम लोग देख नहीं सकते, क्या इसीमें कह दोगे कि वह है ही नहीं? दिनको तारे नहीं दीख पड़ने, तो क्या तुम कहोगे कि तारे हैं ही नहीं? सूरजके तीखे तेजमें दिनको तारे नहीं दीख पड़ने, वैसे ही मात्रा और अहंकारके आच्छादनमें मनुष्य ईश्वरको नहीं देख सकते।

तृष्णमें मक्खन रहता है पर वह मथनेमें ही निकलता है, वैसे ही ईश्वरको जो जानना चाहे वह उसका माध्यन भजन करे। भगवान् सगुण भी है और निर्गुण भी तथा गुणातीत भी। जब वह सगुण रहता है तब उसे ईश्वर कहते हैं, जब निर्गुण रहता है तब उसे ब्रह्म कहते हैं और उसकी गुणातीत-अवस्थाको तो इस सुँहामें कहकर समझ ही नहीं सकते।

ईश्वरके दर्शनकी इच्छा इच्छनेवालोंको नाममें विश्वास तथा मन्त्रामस्तका विचार करने रहना चाहिये। एक दुबकीमें रक्ष न मिला, इसमें रक्षाकरको रक्षीन मत समझ नैठना। दुबकी लगाते ही जाओ, रक्ष अवश्य मिलेगा। अस्य साधना करनेपर ईश्वर-दर्शन न होता तो हताश न होना चाहिये। धीरज रक्षकर साधन करते रहो। यथासम्य ईश्वरकी तुमपर अवश्य ही कृपा होगी।

जल एक है। कोई उसे 'पानी' कहता है, कोई 'चाटर' कोई 'एकोया' और कोई 'अप' कहता है। इसी प्रकार भगवान्को कोई 'गोष्ठ', कोई 'हरि', कोई 'राम', कोई 'यीशु' और कोई 'श्रीकृष्ण' कहता है। वरन् एक ही है, केवल नाममें भेद है। संसारमें केवल ईश्वर ही सत्य है और सब असत्य है।

जिसके मनमें ईश्वरका प्रेम उत्पन्न हो गया, उसे संसारका और सुख अनुद्धा नहीं लगता। जो एक बार भी बहिंया मिल्वीका स्वाद ले चुका वह क्या कभी रात्र खाना चाहेगा?

लोग भला कहें या बुरा, उनकी बातोंपर ज़रा भी ज्यान न देकर, संसारकी सुति और निन्दाकी कोई परवा न करके ईश्वरके पथपर चलना चाहिये।

अपने सब कर्मफल ईश्वरके अर्पण कर दो, अपने स्त्रियोंकी कामना मत करो।

जिस धरमें नियत हरिन्यंकीर्तन होता है, वहाँ कलियुग प्रवेरा नहीं कर सकता। ईश्वरको पानेका उपाय विश्वास है, जिसकी विश्वास हो गया उसका काम बन गया।

ईश्वरके नाममें मेरा विश्वास चाहिये कि मैंने उसका नाम लिया है इसमें अब मुझमें पाप कहाँ है? मेरे बन्धन अब कहाँ हैं?

—श्रीरामकृष्ण परमहस्य

जगदीश्वर वेदान्तसे ही प्रतिपाद्य है

(लेखक—पं० श्रीश्रीधराचार्यजी शास्त्री, वेदान्ततार्थ, व० शिं०, व०भ०, वि० २०)

आन्नायमूर्द्धनि च मृद्धनि चोर्ध्वपुंसां
यद्गाम वैष्णवमभेदणतरं चकास्ति ।
तन्मादशामपि च गोचरमेति वाचो
मन्ये तदीयमिदमाभित्रतसलद्वम् ॥

जगत्कर्ता परमपिता परमेश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन बड़े-बड़े योगिनिराज, महाभासा, माधुर, मन्यासी, कृष्ण, महर्षि तथा विद्वानोने अपनी-अपनी प्रतिभाके अनुसार किया है । परन्तु किसीने भी ईश्वरके विषयमें आजतक यह नहीं कहा और न कोई आगे कह सकेगा कि वह 'इदमित्यम्', 'एतावदेव', अर्थात् ऐसा ही है और इनना ही है । श्रीश्री-महाप्रभुजीने गीतामें अपने श्रीमुखमें कहा है—

आश्र्वयत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्र्वयद्वदाति तथैव चान्यः ।
आश्र्वयवैनम-यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्यनं वेद न चैव कश्चित् ॥

(२।२९)

अर्थात् 'हे अर्जुन ! यह आरम्भन्त अति गम्भीर है । समस्त प्राकृत वस्तुओंमें विलक्षण मूर्खपदाले इस आभास-को कोई विरला ही मुकुनि देखता है, तथा विरला ही कोई इस विलक्षण आभास-को कहता है, एवं कोई विरला ही इस विलक्षण आभासमूर्खोंको मुनता है तथा मुनकर भी कोई इस आभास-को नहीं जान पाता ।'

यही कारण है कि उम दुर्गम, अनन्तर्य ईश्वरका प्रतिपादन करनेमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलक्षिय—ये सभी प्रमाण असमर्थ हो जाने हैं । प्रत्यक्ष-प्रमाण अपने नियत एवं विद्यमान वस्तुका ही ग्राहक होता है । उमे दर्शनकारोंने चाहुप, रामन, म्पार्शन, श्रावण, ग्राणज और मानम-भेदमें छः प्रकारका माना है । स्पवान् द्रव्यके साथ नेत्रके संयोगमें चाहुप-प्रत्यक्ष होता है । स्पृहीन अर्थात् प्राकृत स्परशहित परमेश्वरके साथ चाहुका संयोग स्पृके थिना होना असमर्थ है, अनः चाहुप-प्रत्यक्षके द्वारा ईश्वर नहीं जाना जाता । इसी प्रकार रासन-प्रत्यक्षमें रम, म्पार्शन-प्रत्यक्षमें स्पर्श, श्रावण-प्रत्यक्षमें शब्द, ग्राणज-प्रत्यक्षमें गन्ध कारण होते हैं और परमाभ्या-

प्राकृत रसादिसे रहित है, इसलिये यह आरों प्रकारके प्रत्यक्ष परमाभ्यासके प्रतिपादनमें समर्थ नहीं हो सकते । मानस-प्रत्यक्ष भी स्वान्तर्वृत्ति सुख-दुःखका आहक होनेके कारण सुख-दुःखादि वृत्तियोंमें परे परमाभ्यासका प्रतिपादन नहीं कर सकता । यदि कोई कहे कि 'पश्यन्ति यं योगिनः' के अनुसार ईश्वरका योगज मानस-प्रत्यक्ष होता है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जो-जो प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है वह अपने विषयका नियमपूर्वक होता है । यदि ऐसा न होता तो नासिकामें रसका, नेत्रमें वायुका तथा श्रवणमें गन्धका प्रत्यक्ष हो जाता । तार्यर्थ यह है कि जिस इन्द्रियका जो नियत विषय है उसके परे उसका ज्ञान नहीं हो सकता है । ऐसी अवस्थामें भूत, भविष्यत् वस्तुको ग्रहण करनेवाले योगज ज्ञानफो प्रत्यक्षके अन्दर कैसे लाया जा सकता है ?

अब जब कि प्रत्यक्ष-प्रमाणकी ही यह दशा है तो इसके आधारपर नियत अनुमानादि प्रमाण ईश्वरके प्रतिपादनमें कहाँतक समर्थ हो सकते हैं ? क्योंकि अनुमानमें साध्यका हेतुके साथ परिचयरूप ध्यासिज्ञान, उपमानमें साहृदयज्ञान, अनुपलक्षियमें प्रतियोगिज्ञान और अर्थापत्तिमें वीनस्वादिका ज्ञान प्रत्यक्षकी अपेक्षा रखते हैं । अतः जब ईश्वरके साथ प्रत्यक्षका ही सम्बन्ध नहीं है, तब किर ध्यासिज्ञान आदिकी उत्पत्ति ही कैमे हो सकती है ? उदाहरणार्थ—एक पुरुष अपने रसोईधरमें अधिः और भूमका सम्बन्ध देखता है और यह निश्चय करता है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अधिः अवश्य होती है, पश्चात् वह किसी पर्वतपर जाकर धूम देखता है और अनुमिति करता है कि पर्वतमें अधिः है, क्योंकि वहाँ धूम दिखलायी देता है । जिसप्रकार धूम और अधिका सम्बन्ध प्रत्यक्षद्वारा देखकर यह अनुमिति होती है उम प्रकार ईश्वरके साथ किमी हेतुका सम्बन्ध प्रत्यक्षद्वारा ज्ञात नहीं होता, तब किर ईश्वरके साधन-में अनुमिति कैसे उपयोगी हो सकती है ? इसी प्रकार उपमानादि प्रमाण भी ईश्वरकी सत्ताके प्रतिपादनमें कदापि समर्थ नहीं हो सकते । इसी अर्थका समर्थन माननीय आचार्यर्थ भी करते पाये जाते हैं । आश्र्वयवर जगदगुरु श्रीशक्रान्ताचार्य 'जन्मायस्य यतः' इस वेदान्त-सूत्रके भाष्यमें इसप्रकार लिखते हैं—

ननु भूतवस्तुते प्रमाणान्तरविषयत्वेवेति वेदान्तवाचय-
विचारणाऽनधीकैव प्राप्ता, न । इन्द्रियविषयत्वेन सम्बन्ध-
प्रहम्मात् । स्वभावते विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि ।
सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मणा सम्बद्धं कार्यमिति
गृह्णेत् । कार्यमात्रमेव तु गृह्णामाणं किं ब्रह्मणा सम्बद्धं किमन्येन
कलन्विद्वा सम्बद्धमिति न शक्यं निश्चेत्सु । तस्माण्मान्मादिसूत्र
नानुमानोपन्यासां क्यं तर्हि वेदान्तवाचयप्रदर्शनार्थम् ॥ इति ॥

आचार्यवर्य जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्यजीने भी 'शास्त्रयो-
निष्ठात्' हस वेदान्त-सूत्रके भाष्यमें लिखा है—

ननु शास्त्रयोनितं ब्रह्मणे न सम्भवति । प्रमाणान्तर-
बैद्यताद्ब्रह्मणः, अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत् ॥ किं तर्हि तत्र प्रमाणम् ।
न तत्रप्रत्यक्षम् । तद्विविधम्, इन्द्रियसम्भवं योगसम्भवश्चेति ।
इन्द्रियसम्भवश्च बाह्यसम्भवमान्तरसम्भवच्चेति द्विधा । बाह्य-
निद्रियाणि विद्यमानसन्निकर्षयोग्यस्वविविधयोधजननार्थीति न
सर्वार्थसाक्षात्कारतन्त्रिमाणसमर्थपुरुषविशेषविषययोधजननार्थीनि ।
नाथ्यान्तरम्, आन्तरमुखद्वाद्यविरिक्तवाहिविषयेषु तस्य
बाह्यान्द्रियानपेक्षप्रवृत्त्यनुपपत्ते । नापि योगजन्यम् । भावनाप्रकृष्ट-
पर्यन्तजन्मनस्तस्य विशदावभास्तरेषि पूर्वानुभूतविषयसमृतिमात्र-
त्वात् प्रमाणयमिति कुतः प्रस्त्रक्षतः; तदतिरिक्तविषयते कारण-
भावात् । नाथ्यनुमानं विशेषतो दृष्टं सामान्यतो दृष्टं वा;
अतीन्द्रिये वस्तुनि सम्बन्धावारणविरहात् विशेषतो दृष्टम् ।
समस्तवस्तुसाक्षात्कारतन्त्रिमाणसमर्थपुरुषविशेषनियतं सामान्यतो
दृष्टमपि न लिङ्गमपलभ्यते इति ।

इसी प्रकार अन्यान्य आचार्यचरणोंने भी स्वरचित वेदान्त-ग्रन्थोंमें उपर्युक्त अर्थका ही समर्थन किया है।

इसप्रकार जब हमारी बुद्धिकी अपेक्षा करनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, अर्थापत्ति और अनुपलब्धिप्रभृति प्रमाण उस परम दशालु जगदीश्वरकी सत्ताका ज्ञान करनेमें असमर्थ हैं तब उस जगत्पति परमेश्वरकी उपासना अथवा उसका ध्यान किसप्रकार किया जा सकता है ? क्योंकि जबतक उपासक उपास्यका स्वरूप यथार्थरूपसे नहीं जान लेता, तबतक वह उपासना कर ही नहीं सकता है । अतः अबलब्धनके बिना ध्यान, भक्ति, प्रपत्ति, अनुराग भी सम्भव नहीं हो सकते ।

पूर्वमीमांसा-शास्त्रके अनुयायो कहते हैं कि देवताकी सत्ता अर्थवादमात्र है अर्थात् कर्ममें रुचि उत्पन्न करनेके लिये अर्थवाद देवसत्ताका संकेत करता है। व्यौक्ति जब

वेद कहता है कि 'स्वर्गकामो यजेत्' अर्थात् स्वर्गकी कामना करनेवाला यागसे स्वर्गको प्राप्त करे। तब यहीं सिद्ध होता है कि स्वर्गके प्रति यज्ञ कारण है। परन्तु यज्ञ क्रियारूप होनेसे लग्नश्चायी है, अतएव कार्यकाल (स्वर्गकी प्राप्तिकर्त) स्थिर नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें कार्यनियन्तपूर्वकृतिकारणम्' इस दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार यागको स्वर्गादिके प्रति कारण कहना समीचीन नहीं जान पड़ता। इस दोषमें बचनेके लिये मोमांसकोंने वेदवेद्य कार्य-कारणभावके समर्थनके लिये बीचमें अहल्की कल्पना की है, तभी याग और स्वर्गका कार्य-कारण-भाव निष्पत्त भी होता है। इसी बातको स्वीकार करने हुए नैयायिकशिरामणि विश्वनाथ पञ्चननने स्वरचित मिद्धान्त-मन्त्रावलीमें लिखा है—

यत्कायं यददृष्टार्थीनं तत्तदुपमोगसाधनं साक्षात् परम्परया
वा जनयेत्वे ।

अर्धांत् जो कार्य जिस चेतनके अदृष्टके अधीन है वह साक्षात् किंवा परम्परामें उस चेतनके उपभोगका साधन अवश्य ही उत्पन्न करता है। जब कर्म देवताकी मत्ताके बिना ही अदृष्टारा फल देनेमें मरम्य हैं तब उपासना भी उपास्य देवताकी सत्ताके बिना ही वेदशोधित होनेके कारण अदृष्टादिद्वारा मन्त्र-जपकी तरह फल दे सकेगी। इसी अभिप्रायमें महर्षि जैमिनिजीने कहा है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थनाम् ।

(पूर्वां० ६।१।१।१)

अर्थात् 'साध्य-साधन हतिकरंव्यतास्तुप्र अंशश्रवयमेव
युक्त भावनास्तुप्र क्रियाका प्रतिपादन करनेवाला वेद है,
और इस भावनास्तुप्र क्रियाका जो प्रतिपादन नहीं करता
वह व्यर्थ अर्थात् अप्रामाणारथ है। इसके प्रश्नात्—'शास्त्रदृष्टि-
विगोद्धाम,' 'नथा फलभावात्,' 'अन्यानर्थक्यात्,' 'अभागि-
प्रतिपेशात्,' 'अनित्यसंयोगात्' हन पाँच सूत्रोंमें भी उपर्युक्त
अर्थका ही समर्थन किया गया है। ऐसी अवध्यामें भूतार्थ-
प्रतिपादक न होनेके कारण छुटा प्रमाण वेद भी ईश्वरकी
सत्ताके प्रतिपादनमें असमर्थ हो जाता है। अस्तु, वेदमें
ब्रह्मके निरूपण करनेकी शक्ति नहीं तो न सही; वेदान्तसे
उस परमप्रभु जगन्नियन्ताकी सत्ता निरूपित की जा सकती
है। परन्तु यह भी कहना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता,
क्योंकि वेदके ही शिरोभागका नाम वेदान्त है, जिसे
उपनिषद्-नामसे व्यवहृत करते हैं। अतः वेदका ही एक
देश होनेके कारण महर्षि जैमिनिके उपर्युक्त सूत्रोंके अन्तस्ता

वेदान्त भी क्रियार्थसे भिन्न ईश्वरका प्रतिपादक नहीं हो सकता। इसप्रकार ईश्वरके प्रतिपादनमें किसी प्रमाणकी प्रगति नहीं होती और शास्त्रकार कहते हैं कि 'भानाधीन मेयसिद्धः' अर्थात् प्रमाणके बिना कोई वस्तु हो नहीं नहीं सकती। यथार्थतः जबतक प्रमाणके द्वारा प्रमेयको सिद्ध नहीं होती तबतक लौकिक या पारलौकिक किसी भी कार्यमें मनुष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

इधर तत्त्वज्ञानके विषयमें शास्त्रोंकी यह व्योषणा है कि—

योऽन्यथा सन्तमत्सनानं अन्यथा प्रतिपद्धते ।

किं तेन न इतं पापं चैरेणात्मपहारणा ॥

अर्थात् जो पुरुष अन्य प्रकारसे विद्यमान आरमाको अन्य ही रीतिमें प्रतिपादन करता है, उस आत्मापहारी चोरने क्या पाप नहीं किया? किन्तु सब पाप किया।

यथापि यह परमार्थ-तत्त्व दुरवगाह है, अतर्क्य है, तथा बड़े-बड़े महानुभाव इसका पता लगानेमें गोता स्ताते हैं तथापि जिज्ञासु जब चतुर्दिक् भटककर कहीं आश्रय नहीं पाते हैं, तब लौटकर जगदीश्वर परमकारणिक श्रीभगवान्‌के चरणोंमें ही शरण के शान्ति दात करते हैं।

भगवान् वेदव्यास अपे वेदसूत्रके 'परं जैमिनिरुस्त्व-त्वात्' इस सूत्रमें कहते हैं कि 'ब्रह्म' शब्द परमात्माका ही बोधक है क्योंकि निरविधिक वृहत्त तथा वृहणत्व वे निर्वचन मुख्यस्पसे जगदीश्वरमें ही सुरंगत होते हैं, ऐसा महर्व जैमिनिका मत है। पुनः आगे—

'त्राणं जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' (४।४-५)

तथा—

'मां जैमिनिर्विकल्पमननात्' (४।५-६)

—इन दो सूत्रोंमें भी महर्व वेदव्यासने महर्व जैमिनिके मतके प्रति आदर प्रदर्शित किया है। इसमें यह सिद्ध होता है कि ईश्वरकी सत्ताके विषयमें महर्व जैमिनि-को भी कोई सन्देह नहीं है तथा उन्होंने वेर्णोंको जो क्रियार्थप्रतिपादक माना है उसका अभिप्राय केवल वेदके पूर्वभाग कर्मकाण्डमें है अर्थात् वेदका पूर्वभाग कर्मका प्रतिपादक होनेसे विधिके साथ ही अर्थवाद तथा मन्त्रोंका प्रामाण्य बन सकता है, विधिके अतिरिक्त अर्थवाद तथा मन्त्रका अन्य प्रयोगन उपलब्ध नहीं है।

यदि अर्बांशीन भीमांसकोंके अनुसार उभय-भागार्थक सम्पूर्ण वेदको क्रियार्थस्मक ही मानें तो भी वेदान्त-भाग ईश्वरकी सत्ताके प्रतिपादनसे कभी हट नहीं सकता। क्योंकि—

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यश्श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'
'आत्मानमेव लोकमुपासीत'

इत्यादि विधि-वाक्योंके द्वारा क्रियान्वित व्याख्याती सत्ताका प्रतिपादन अनायास ही किया जा सकता है।

अतः खूब विचार करनेपर भी केवल वेदान्तके ही अवलोकनसे परम प्रभु आत्मन्-सिन्धु जगदीश्वरके स्वरूप, स्वभाव, विभूति, लीला, स्त्रिय आदिका कुछ निरूपण किया जा सकता है। अन्यथा मनःकृष्णप्रति प्रमाणोंके द्वारा उसका निरूपण करना केवल विष्वनामात्र होगा। जैसे घने अन्धकारमें अस्यन्त प्रतिभाशाली पुरुष भी बिना प्रकाशके किसी वस्तुके स्वरूपको अपनी बुद्धिके बलसे वर्णन नहीं कर सकता, तथा प्रकाशकी सहायतासे विद्वान् ही क्यों मन्दमस्ति पुरुष भी अन्धकारमें स्थित वस्तुको देखकर उसके स्वरूपका वर्णन कर सकता है, उसी प्रकार वेदान्तकी सहायतासे विद्वान् तथा अल्पमति पुरुष भी परम दयालु श्रीवज्विहारी परापर व्रहके स्वरूपका यथार्थतः जनकर स्वभिलिप्त पश्चको प्राप्त हो सकता है। इसी बातका समर्थन भगवान् वेदव्यासके इस सूत्रमें होता है—'तर्काप्रतिष्ठानावपि' (२।१।११) अर्थात् तर्ककी कोई स्थिरता नहीं है, अतः तर्कगम्य पदार्थ सम्माननीय कोटिमें नहीं आ सकते। इसी प्रकार प्रधानकारणवाद, अणुकारण-वाद आदि भी श्रद्धेय नहीं हैं बल्कि श्रुतिमूलक व्यष्टि-कारणवाद ही आदरणीय मिद्दान्त है। दूसरी बात यह है कि इन शुक्ल तार्किकोंके तर्कोंका परम्पर स्वरूप होनेमें भी किसी अर्थका समर्थन नहीं होता, इसमें भी वेदान्त-बोधित व्यष्टिकारणवाद ही प्रतीष्ठित माना जा सकता है।

यदि कहा जाय कि दूषित तर्कोंका परिवागकर सुतकोंद्वारा ही अपना अभिलिप्त अर्थ सिद्ध हो किया जाय तो प्रधान कारणवाद सिद्ध हो जायगा। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि तर्कका मूलकारण पुरुषकी बुद्धि ही है अतः जो पुरुष जिसना ही अधिक बुद्धिमान् होगा, उसकी तर्कशक्ति भी उतनी ही अधिक प्रबल होगी। इसप्रकार एक मनुष्य सुतकोंके द्वारा ही क्यों न हो, जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करेगा दूसरा उसमें अधिक विद्वान् पुरुष उस सिद्धान्तको दूषित ठहरा एक दूसरे ही सिद्धान्तको स्थापित करेगा, इस-प्रकार कभी कोई एक तत्त्व पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित न हो सकेगा। अतएव अर्तान्विद्य जगदीश्वरकी सत्ताके प्रतिपादनके लिये वेदान्तकी व्याख्या किया जाय किसी भी प्रकारसे गति-

महीं। हाँ, इतना आवश्य है कि वेदान्त-वाक्योंके ऊहापोहके लिये सर्कड़ी आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि मनु भगवान्‌ने मधुसूमातिके अध्याय १२-१०६ में हसी शास्त्रका समर्थन किया है। वेद और धर्मोंपदेशका विवार जो मनुष्य वेद-शास्त्रानुकूल सर्कड़ारा करता है वही धर्मको जानता है, दूसरा नहीं। तर्क भी वेदानुकूल होना चाहिये, शास्त्रकी मर्यादाका उल्लंघनकर तर्क करनेसे मनुष्य कभी भी कल्याणके पथपर आरुद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये जगदीश्वर श्रीवसुदेव-नन्दन धार्य-सारथी भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

‘तस्माच्छाङ्कं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।’

अर्थात् हे अजंतु ! तेरे लिये कर्तव्याकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रभाया है यानी ऐंहिक-पारलौकिक जीवन विताते समय शाश्वोंका हाँ अनुसरण कर।

मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है श्रीप्रभुके चरणोंमें अनुराग प्राप्त करना। श्रीशुकदेव मुनिने कहा है—

प्रतावान्सास्त्यगोगास्यां स्वर्धमपरिनिष्ठ्या ।

जन्मतामः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥

(मा० २।१।६)

परन्तु किसी वस्तुमें अनुराग तभी होता है, जब पहले उम वस्तुका परिचय रहता है अतः सर्वप्रथम वस्तुके सत्ताका ज्ञान होना आवश्यक है। तदनुसार प्रकृत प्रसंगमें ईश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन अपेक्षित है और वह वेदान्त-शास्त्रके हारा ही सम्पादित होता है, अतः यहाँ कुछ वेदान्त-वाक्योंका अवतरण दिया जाता है—‘भृगुवै वारणिः । वस्तुं पितरमुपससार । अधीहि भगवो प्राप्तेऽसि ।’ अर्थात् वस्तुके पुत्र भृगु अपने पिताके पास जाकर बोले कि ‘हे भगवन् ! मुझे ब्रह्माजानकी शिक्षा दो ।’

‘त हेवाच । यतो न इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयत्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्त्व, तद्विषेति ।’

भृगुकृपियोंके उनके पिताने उत्तर दिया—‘जिससे यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए प्राणी जीते हैं, जिसमें जाते हुए प्रकृतयोंको प्राप्त होते हैं, उसे विशेष रूपसे जानो, वह व्रक्ष परमात्मा है। सारांश यह है कि जो जगत्का कर्ता, धर्ता, संहर्ता है वही परमेश्वर है। इसप्रकार तैतिरीय उपनिषदकी भृगुबहीका यह प्रथम अनुवाक मनोतीत जगदीश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन करता है।

२७

आनंदोग्य उपनिषदके सप्तम अध्यायके अन्तके चार खण्डोंमें सनस्कुमारने नारदजीको भूमा-विश्वाका उपदेश दिया है। भूमा अर्थात् परमात्म-तत्त्वका प्रतिपादन करते समय श्रीसनस्कुमार कहते हैं कि, ‘जहाँपर दूसरा दीखे नहीं, दूसरा श्रवणमें न आये, दूसरेका ज्ञान न हो उसका नाम भूमा है और जो भूमा है वही अमृत है।’ इसके विपरीत, ‘जहाँपर दूसरेका दर्शन, श्रवण, विज्ञान है, वह अस्प है, जो अस्प है वह मर्त्य है अर्थात् विकारी और विनश्वर है।’ इसप्रकार यह प्रतिपादन किया गया है कि जगदाधार परमात्मा सत्त्वमें बड़ा है और उसमें सुख है क्योंकि वह अमृतरूप है; उस जगदीश्वर परमात्मामें व्यतिरिक्त सभी पदार्थ अस्प हैं, इसलिये उनमें सुखका लेश भी नहीं है। इसीसे अति कहती है—महान् महीयान् अर्थात् जगदीश्वर परमात्मा महान्में भी महान् है, तभी तो अपने प्रियजनोंके कार्य-साधनके लिये वह सर्वदा सर्वत्र उपस्थित रहता है। यदि ऐसा न होता तो भक्तवर प्रह्लाद-की रक्षाके लिये वह परम कार्यान्वयक सत्त्वम् फोड़कर श्री-नृसिंहरूपसे कैसे प्रकट होता ? इमारा उपास्य परम दयात् जगदीश्वर सब स्थानोंमें सदा विद्यमान है और उसकी सत्ताका ज्ञान वेदान्तके विना कदापि नहीं हो सकता। इसीसे किसी रसिक भगवत्प्रेमीने टीक ही कहा है कि—‘न वेदान्ताच्छास्त्रं’ न मधुमथनाहेवमधिकम् अर्थात् वेदान्तमें परे कोई शास्त्र नहीं और श्रीकृष्णसे परे कोई देव नहीं। अभय, अमृत, परम सुहद, जगत्पतिका अव-शोध करकर चेतनको अभय, अमृत बनानेवाला यदि कोई है तो वेदान्त-शास्त्र ही है।

‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन ।’

(तैसि० २।४)

अर्थात् ब्रह्मके आनन्दका जाननेवाला किसीसे भी भयभीत नहीं होता ।

‘यदा द्वैषप पतस्मिन्नदश्येऽनात्म्यऽनिश्चेऽनिलयने-ऽमयं प्रतिष्ठां बिन्दते । अथ सोभयं गतो भवति ।’

(तै० २।७)

अर्थात् ‘जिस समय यह चेतन प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगोचर, अशरीर, प्राकृतिकरूपसे अनिर्वचनीय, अनाधार, जगदीश्वरके अन्तर्गत अभयरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है, तदनन्तर ही वह भयरहित हो जाता है।’

'रसो वै सः । रसं लन्धाऽनन्दी भवति ।'
(३० २ ७)

अर्थात् 'वह आनन्दमय जगदीश्वर ही रसरूप रस-सिन्धु है । रसरूप परमात्माको ही प्राप्त होकर यह चेतन आनन्दवाला होता है ।' तारपर्य यह है कि विविध तापसे व्याकुल जीव आनन्द-सिन्धु रसमय परमात्माको प्राप्तकर सांसारिक क्षेत्रोंसे मुक्त हो आनन्दसागरमें सदाके लिये जिमग्रह हो जाता है ।

तमेव विद्वान्मृत इह भवति । नन्यः पन्था विद्वतेऽयनाय ।

अर्थात् 'उस जगत्कारण परम पुरुषको ही जानकर उपासनाहारा उपासक असृत हो जाता है । उसकी प्राप्तिका अर्थ कोई मार्ग नहीं है ।' परमात्माको प्राप्तकर चेतन (जीव) किसप्रकार निर्भीक, आनन्द तथा असृत हो जाता है इसको उपर्युक्त वेदान्त-वाक्य मुक्तकरणमें गान कर रहे हैं ।

बेदाहमेत् पुरुष महान्त-
मादित्यबर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नन्यः पन्था विद्वतेऽयनाय ॥
(३० २ ८)

अर्थात् प्रकृतिसे परे सूर्यकी तरह देवीप्यमान इस महान् पुरुषको मैं जानता हूँ । उसे उपासनाहारा प्राप्त-कर चेतन (जीव) मुक्त हो जाता है, उसकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

छान्दोग्योपनिषद्के आठवें अध्यायके प्रथम स्थंडमें वहरविद्याका निरूपण करते भगवान् उस द्वहराकाश पद-वार्ड्य परमात्माके आठ गुणोंका प्रतिपादन किया गया है— 'असिन्कामा: समाहिता एव आरमाऽप्यहतपाप्मा विजरो विमृत्युविशेषोऽपि विजितस्तोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कृतः'

..... 'हृत्यादि ।' इस वाक्यमें 'अप्यहतपाप्मा' से 'अपिपासः' पर्यन्त प्राकृत हेय गुणोंका निषेधकर 'सत्यकामः सत्यसङ्कृतः' इन दो पदोंसे अनेक दिव्य गुणोंका परमात्मामें विद्धान किया गया है । 'सत्याः कामाः कस्याणगुणा यस्य' ऐसा समाप्त करनेसे सत्यकाम पद ही उस परमपिता जगदीश्वरके असंख्य गुणोंका बोधक होता है ।

इसप्रकार आनन्दकन्द परब्रह्म परमेश्वरकी सरसता, छोकविलक्षणता, आनन्दमयता, स्वरूपसमकृति, जगत्कारणता, असंख्यतागुणवत्ता, दयालुता आदिका प्रतिपादन करता हुआ वेदान्त उसके स्वरूप-सत्ताका यथार्थरूपसे निर्दर्शन करता है ।

यहाँ ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि ब्रह्म तो निर्गुण, अरूप और अशरीर है, क्योंकि इन पदोंमें प्राकृत गुण, प्राकृत रूप और प्राकृत शरीरका ही निषेध है । अतः अनेक दिव्य गुणविशिष्ट, दिव्य विग्रहयुक्त, देवीप्यमान वर्ण उस परमात्माकी सत्ताका वेदान्तवाक्योहारा निश्चय करके अन्त क्षणतक निरन्तर तेलधारावत् प्रेमपूर्वक भगवच्छिन्नन और ध्यान करते हुए उस परम प्रभुके घरणोंमें प्राप्त हो जाना ही मानव-जन्मका परम लाभ है । यदि यह न हुआ तो शौनकजीका कथन ठीक ही समझना चाहिये कि—

तरदः किं न जीवन्ति मस्त्रः किं न श्वसन्त्युत ।
न श्वादन्ति न महीन्ति किं ग्रामपश्चावेऽपरं ॥
श्रविद्वराहाहृसैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न गत्कर्णपयोपेतो जानु नाम गदाप्रजः ॥
(३० २ १ ३ । १८, १५)

श्रीसुमित्राजी भी कहती है—

न ततु बाँझ मलि जादि वियामी । राम रिमुस मुतें हित हानी ॥

ईश्वर कौन हैं

कर्म करते हैं हम यथापि स्वतन्त्र किन्तु फल भोगनेमें सदा जिनके अर्थीन हैं । जिनके अलंघनीय नियम-नियन्त्रणोंसे चर औ अचर विज कर्ममें निलीन हैं ॥ शोककी दशामें लोक व्याकुल पुकारे जिन्हें जिनके समक्ष यक्षपति अति दीन हैं । चिदानंद धन जान योगीजन ध्याते जिन्हें 'राम' वही ईश जगदीश समीचीन हैं ॥

—रामतारायण दक्ष पाण्डेय व्या० शाली 'राम'

ईश्वरकी महत्ता

(लेखक—साहित्यशास्त्री एं० श्रीजगद्गारापण्डितजी शासी 'कविपुष्कर' विशारद)

[पुष्कर-छन्द]

(१)

जब इस जगका नाम नहीं था, तब तेरी थी सक्षा !
तेरी इच्छा बिना न कोई, हिंल सकता है पता ॥
गगान-सद्गुरा त् त्वं ही है व्यापी, सूर्य-चन्द्र-छन्दि-धारी !
अग्नि-समान तेज रखना है, वायु-तुल्य-गति-कारी ॥

(२)

पृथ्वीमें त्, गन्ध-रूप है, जलमें रस हो राजे !
आत्मा-बीज सकल प्राणीमें, जीव-ज्योति उपराजे ॥
कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड तुझीसे, पैदा हो लय होते !
देव-पितर-पाताल-खर्गमें, नेरे अभिनय होते ॥

(३)

ब्रह्मा-विष्णु-शम्भुकी समना, तुझसे जानी जाती !
सृष्टि-स्थिति-संहार-कारिणी-प्रभुता गुरुता पाती ॥
वेदोंके तत्त्वोंका सामी, अन्तर्यामी त् है !
सबसे परे समीमें रमता, सब थलगामी त् है ॥

(४)

'नेति-नेति' कह मूळ हो गई, निगमागमकी बाणी ।
'इदमित्यं' कह सके नअबभी, सृष्टि-मुनि-ध्यानी-ज्ञानी ॥
अजरामर-अच्युत-अजन्मा-निविकार-प्रभु-न्यायी ।
भक्तोंका जीवन-धन व्यापा, कान्ति-शान्ति-चरदायी ॥

(५)

मनकी शक्ति जहाँतक जानी, उससे दूर-निवासी !
नाना भाँति विविध भावोंमें, त् है स्वयं विकासी ॥
नाम-रूपके भेद भरा त्, जो चाहे सो माने !
बाहर-भीतर समकर जाने, सो साधक पहचाने ॥

(६)

वही धन्य है प्रेमी तेरा, जो असत्यको त्यागे !
तुझमें लीन काम-मद तजके, हो सेवक अनुरागे ॥
उसे न धाम-धराकी चिन्ता, यम-यातना न होती !
सो पाता है अन्तकालमें, अलख मोक्षका मौती ॥

(७)

मेघोंको पाती बरसाना, तूने भले सिखाया !
सागरकी तरड़-मालाको, तूने प्रकट दिखाया ॥
तूने पर्वतकी श्रेणीमें, विचित्रता दरसाई ।
सुन्दर बनमें ओपरियोंकी, की तूने अधिकाई ॥

(८)

पशुओंके समूहमें तूने, बल-उद्यमको ढाला !
तूने पक्षी लघु कीटोंको, पैदा करके पाला ॥
फल-फूलोंमें सृदुता-शोभा, तुही बनानेवाला !
निश-वासर-भृतुको संवतमें, निज हाथोंसे ढाला ॥

(९)

प्रकृति-पुरुष जो कुछ सो त् है, ऐ ईश्वर अविनाशी !
अभिमानी हैं तुझे न लखते, बुद्धि-भए दुखराशी ॥
जहाँ देखिये वहाँ राजती, तेरी अद्वृत माया ।
वही तुझे कुछ जान सका है, जिसपर तेरी दाया ॥

(१०)

जप-तप-संयम-नियम यशका, प्रिय आधार तु ही है ।
ब्रह्मचर्य-व्रत-पूजादिकमें, गुरु स्वाचार तु ही है ॥
बंधी हुई जिनकी आँखोंपै, कुटिल-मूढ़ता-पटी ।
वे क्या समझ सकेंगे, तुझको सोना है या मट्ठी ॥

(११)

सरल शुद्ध मानस-मन्दिरमें, मूर्तिमान हो जावे ।
माता-पिता-पुत्र-बालधरकी, समताको उपजावे ॥
शरणागतकी रक्षा करना, ऐ दयालु उपकारी !
जो हो भूल भुला दे उसको, 'कविपुष्कर' भयहारी ॥

आधुनिक अनीश्वरवाद

(लेखक—पं० श्रीकृष्णन नारायणजी गदे)

सीश्वरवाद स्वयं कोई नयी चीज़ नहीं है। प्राचीन कालसे ही चला आया है। प्रत्येक देश और कालमें कुछ लोग अनीश्वरवादी रहे हैं। पर आधुनिक अनीश्वरवाद एक विशेष आकर्षणके साथ आता है और इस कारण जो अनीश्वरवाद या अनामवाद किसी समय भी लोकप्रिय नहीं हुआ वह इस समय कुछ लोकप्रियन्मा हो रहा है। कारण, आधुनिक अनीश्वरवाद एक ऐसे राजनीतिक और आर्थिक आदर्शके साथ आ रहा है जो सर्वसाधारणके प्रिय है। यह आदर्श है, समाज-सत्ता (कम्यूनिज़म)। अवनतकके राजनीतिक और आर्थिक स्थित्यन्तरोंका यह स्वाभाविक परिणाम है। पर जो कोई कम्यूनिज़मका नाम सुनता है, कम्यूनिज़मकी ओर भुकता है, मार्क्सके तत्त्वज्ञानकी बातें सुनता है, लेनिनके परामर्शोंमें चकित होता है और फिर यह जानता है कि ईश्वर और धर्मको छोड़े बिना कोई भी मनुष्य कम्यूनिस्ट नहीं हो सकता, तब वह कम्यूनिस्ट होनेके शौकमें ईश्वर और धर्मके विरुद्ध बातें करनेके फैलनको भी इच्छित्यार कर लेता है। स्वयं रसमें पहले ऐसे कम्यूनिस्ट थे जो यह कहा करते थे कि हम जब कम्यूनिज़मकी सब बातें मानते हैं और ईश्वरको भी मानते हैं तब ईश्वरको मानने हुए भी हम कम्यूनिस्ट रह सकते हैं। (कोलटनकृत प्रक्षम वाई जेड आफ कम्यूनिज़म) पर उन्हें मार्क्सका यह सिद्धान्त पढ़ाया गया कि ईश्वर और धर्म जनताके लिये अफीमके समान हैं। लेनिनने समझाया कि संसारमें होनेवाले और सब अपराध गलीमत हैं, पर ईश्वरपर विश्वास करना अच्छा नहीं। (कुलप मिलरकृत 'लेनिन और गान्धी') रसमें की सेवियट गवर्नरमेटने ईश्वर और धर्मके विरुद्ध न केवल युद्धकी घोषणा की है बल्कि वह युद्धकी सब नीतियोंका अवलम्बनकर प्रत्यक्ष युद्ध ही कर रही है। ईश्वर और धर्मके विरुद्ध जितने उपाय विधिवैदिक किये जा सकते हैं सब किये जा रहे हैं और इस कार्यक्षेत्रको 'रिलोज़म फ़रेट' यानी 'धार्मिक रणनीति' कहा भी जाता है। (कोलटनकृत एक्स वाई जेड) इस लेखमें इस इस धार्मिक रणका

विवरण नहीं देना चाहते, क्योंकि हमें यहाँ केवल अनीश्वरवाद देखना है जो कम्यूनिज़मके साथ है; यह देखना है कि रसमकी सेवियट गवर्नरमेट या दुनियामें जहाँ-तहाँ छिन्ने हुए कम्यूनिस्टोंका वह तत्त्वज्ञान क्या है जिसके कारण वे यह समझते हैं कि ईश्वर नहीं है और इसलिये वे ईश्वरविश्वासका अन्त करनेपर तुले हुए हैं। हमें यह विश्वास है कि कोई भी ज्ञान, विज्ञान या तत्त्वज्ञान ऐसा नहीं हो सकता जो ईश्वर या आत्माका न होना सिद्ध करके दिखा सके। पर हम स्वयं ज्ञानी, विज्ञानी या तत्त्वज्ञानी नहीं हैं, इसलिये अनीश्वरवादी ज्ञानी, विज्ञानी, तत्त्वज्ञानी महात्माओंकी बातें काटना हमारे लिये सम्भव नहीं है—उनकी बातें यदि कट सकती हैं तो केवल इसी कारणमें कट सकती हैं कि उनका ज्ञान कामाच्छाप है, विज्ञान अपूर्ण है, और तत्त्वज्ञान अभूता है।

१-कार्य-कारण-सम्बन्ध

कम्यूनिस्ट यह कहते हैं कि संसारमें जितने पदार्थ हैं, सब कार्य-कारण-सम्बन्धमें बँधे हैं। प्रत्येक पदार्थ किसी-न-किसी कारणका कार्य है, हममें ईश्वरका हाथ तो कहीं भी नहीं दिखायी देता। कुछ लोग कहते हैं कि जिस तरह टाहम बनानेवाली घड़ी एक सास मतलबमें बनायी जाती है, उसके मध्य पुर्वे अपने-अपने स्थानमें अपना-अपना काम करने हुए घड़ीका मतलब हासिल कराने हैं, उसी तरहमें हम विश्वकी भी रचना हैं, हमका एक विशेष उह इय है और यहाँ हम जितने पदार्थ देखते हैं वे सब उसी उह इय-को पूरा करनेके लिये हैं जैसा कि डारविनकी ह्वोल्यूशन ध्योरी (विकायवाद) में भालूम होता है। परन्तु ऐसा नहीं है—विश्वका न कोई लक्ष्य है और न उस लक्ष्यकी कोई कल्पना ही विश्व कर सकता है। विश्वको समझनेका एकमात्र उपाय कार्य-कारण-विवार है। रात हुई और फिर दिन हुआ। क्यों हुआ ? यानी किस कारणमें हुआ, यह बताया जा सकता है। कारण यही है कि पृथ्वी बूमती है, उसका जो हिस्सा सूर्यके सामने हुआ वहाँ त्रिन हुआ, जो हिस्सा पीछे रहा वहाँ रात हुई। कोई मनुष्य पानी पीता है। क्यों ? इस कारणमें कि उसका गङ्गा

सूखता है। गला व्यौं सूखता है? बायु या पित्तके बढ़नेसे। यही बात मनुष्य-समाजोंकी भी है। हिन्दुस्थान स्वतन्त्रताके लिये लड़ा है। क्यों? इस कारणसे कि वह पराधीनतामें है। जो पराधीनतामें होगा वह स्वतन्त्रताके लिये लड़ेगा ही। रूसमें बोलशेविक-राज्य व्यौं स्थापित हुआ? इस कारणसे कि जहाँ युरोपीकी बर्तमान पैंजीपतशाही होती वहाँ मार्क्सकी मेटिरियलिस्ट फिलासफी (जड़नस्वज्ञान) फैलेगी और मनुरोंका राज्य होगा। यह कार्य-कारण-सम्बन्ध है, लक्ष्य और दैव-सम्बन्ध नहीं। यह सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि पृथ्वीके धूमनेसे दिन और रातका होने रहना या सूर्य और पृथ्वी-के बीचमें चन्द्रके आनेमें सूर्यग्रहणका दिव्यायी देना। सूर्यग्रहण किस उड़ेश्यमें हुआ, यह नहीं पृथ्वी जाता, बल्कि सूर्यग्रहण व्यौं हुआ, यह पृथ्वी जाता है। अर्थात् कारण-कार्य-सम्बन्ध पृथ्वी जाता है। उसी तरहये रूसमें कम्यूनिस्ट-राज्य क्यों स्थापित हुआ? यह पृथ्वी ठीक है। किस उड़ेश्यमें स्थापित हुआ यह पृथ्वी ठीक नहीं। इसपर स्ट्रैम्लर नामक एक विडानने पृथ्वी कि यदि कम्यूनिस्ट-राज्य स्थापित होता सूर्यग्रहणके समान ही कार्य-कारण-सम्बन्धमें निश्चित है तो उसके लिये हृतने बड़े संघटन और उद्योगकी क्या आवश्यकता है? कम्यूनिस्टोंने इसका ठीक ही उत्तर दिया है कि कम्यूनिस्ट-राज्यका स्थापित होनारूप कार्य निश्चित होनेपर भी उसे स्थापित करनेका उड़ेश्य मनमें रखकर उसके लिये जो संघटन और उद्योग किया जाता है उसका कारण यह है कि उस कार्यका यह भी कारण है—जहाँ-जहाँ पैंजीपतशाही होगी वहाँ-वहाँ लोग कम्यूनिस्ट-राज्य-पद्धति स्थापित करनेकी सोचेंगे और उसके लिये उद्योग करेंगे और कम्यूनिस्ट-राज्य स्थापित होगा। इसमें उड़ेश्यका जो भाग है वह एक तो मनुष्य-समाजके भीतरकी बात है (सम्पूर्ण जगत्की नहीं) सो भी कार्य-कारणके परेकी नहीं, कार्य-कारणके भीतरकी है। अर्थात् हृत सब उदाहरणोंमें यही देखा जाता है कि विश्व कार्य-कारण-सम्बन्धमात्र है। इसमें न कहीं कोई उड़ेश्य है, न दैव ही और इसलिये न कोई ईश्वरका हाथ ही। इस लिये दैव यानी विश्व घटनाको 'दैवात्' या 'अकस्मात्' हुई (ऐक्सिडेण्ट) कहते हैं, वह भी, कार्य-कारण-सम्बन्ध-के सिवा और कुछ भी नहीं है। ऐक्सिडेण्ट या आकस्मिक घटना इस उसीको कहते हैं जिसके कुछ कारण हैं

मालूम रहते हैं और कुछ कारण नहीं मालूम रहते। इस किसी काममें नहीं गये, रास्तेमें एकाएक एक पुराने मित्र-की मेंट हो गयी जिसकी कोई आशा या सम्भावना नहीं थी। या इस कहीं दावत लाने गये और अकस्मात् किसीने आकर हमारे ऊपर तमंचा लाला दिया। इन अनिष्ट और हृष्ट दोनों प्रकारकी घटनाओंमें कोई भी यह देख सकता है कि कार्यके कारणका एक हिस्सा हमें मालूम है और दूसरा हिस्सा नहीं मालूम। इसलिये यह समझना चाहिये कि संसारमें जो कुछ है, सब कार्य-कारण-सम्बन्धमें समझा जा सकता है और इस तरहमें समझना ही वैज्ञानिक समझ है और यह समझ ईश्वरकी कोई आवश्यकता ही नहीं रखती। इह गयी बात विकासवादीकी तो जो लोग विकासवादी कह अर्थ समझते हैं कि संसार और संसारकी प्रत्येक वस्तु विकसित हो रही है वे गलत समझते हैं, क्योंकि दुनियाकी सतहपर किसी जमाने-में हृतने वाहे-वाहे और भयन्द्र जानवर थे कि जिन्हें दैव या दानव कह सकते हैं पर अब वे सब नष्ट हो गये हैं और वडे-वडे ऐश्वर्यशाली, बलशाली, सभ्य भानव-राहू बैविलान, रोम और यूनान आदिका आज कहीं पता भी नहीं है। हजारों मरे हैं, स्थानमें मिले हैं तथ आकर दो-एक विकसित हुए दिव्यायी देते हैं। जो नष्ट हुए वे क्यों हुए (किस उड़ेश्यमें नहीं, किस कारणमें) यह जाना जा सकता है और जो विकसित हुए वे किसमें कारण हुए, यह भी जाना जा सकता है, यानी कार्य-कारण-सम्बन्ध ही जाना जा सकता है। कारण, विश्वका नियमन कार्य-कारण-सम्बन्ध ही है। (पृष्ठ० बुखारिनकृत हिस्टरिकल मेटिरियलिज्म)

कम्यूनिस्टोंकी इस विचार-पद्धतिका अब किछिकू परीक्षण करें। पहली बात इस यह देखते हैं कि विश्वके एक सामान्य नियमके रूपमें हमें यह बताया गया कि विश्वका प्रत्येक पदार्थ कार्य-कारण-सम्बन्धमें बंधा है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भाव और प्रत्येक घटना किसी-न-किसी कारणका कार्य है, किसी उड़ेश्यका फल नहीं। यह अलग-अलग प्रत्येक पदार्थकी बात हुई, पर सम्पूर्ण विश्वका कारण क्या है यह नहीं मालूम हुआ। कम्यूनिस्टोंकी मेटिरियलिस्ट फिलासफीमें शायद इसका कोई उत्तर नहीं है। इसका मतलब यह है कि यदि कोई हृत विश्वके मूल कारणको जोजनेके लिये चले तो इस जह तत्त्वशानमें उसे जह पश्चरकी दीवारोंसे ही टकराना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक पदार्थके मूलमें कारणका अनुसन्धान करनेवाला जड़ तत्त्वज्ञान असंख्य पदार्थोंके असंख्य कारणोंको बटोनेके लिये कहता है, सम्पूर्णके मूलका कोई एक कारण ऐसा नहीं बतलाता जिसमें असंख्य पदार्थोंके असंख्य कारणोंको असंख्य कालतक दूर देनेका अम न करना पड़े और एक मूलकारणके मालूम होते ही असंख्य कारण आप ही मालूम हो जायें। मेटिरियलिस्ट फिलासफीमें इसका कोई समाधान नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि मेटिरियलिस्ट फिलासफी कोई चीज नहीं। हम यह कह सकते हैं कि वह बड़ी उपयोगी बन्हु हो सकती है, पर अपने ही ज्ञेयके अन्दर, उस क्षेत्रके बाहर नहीं। कारण, प्रत्येक क्षेत्रका नियम उसी क्षेत्रके लिये उपयोगी हो सकता है, उसके बाहर नहीं। विश्वके मूलका विचार करने हुए बेटौंड रमेलने अपने 'सायंटिफिक आउट लुक' मन्थमें यह लिखा है कि 'हम नहीं समझते कि यदि हम यह मान सें कि विश्व 'अपने आप' आरम्भ हुआ तो इसमें कोई हर्ज़ है, सिवा इसके कि यह बात कुछ भी-सी मालूम पड़ती है।' पर वैज्ञानिक अनुसन्धानमें अच्छे-भहोका कोई सवाल नहीं उठता, सवाल मामने रहता है ढीक-वे-ठीक, सही-गलतका। यदि यह सही है कि विश्व 'अपने आप' आरम्भ हुआ तो बेटौंड रमेलके वैज्ञानिक द्विमागको यह जानना चाहिये कि 'अपने आप होना' भी एक पदार्थ है जो सब पदार्थोंका मूलकारण है। यह 'अपने आप' होना क्या है? किमी नियमका—कार्य-कारण-सम्बन्धका न होना है अथान् कार्य-कारण-सम्बन्धके परे भी कोई चीज़ है जहाँ कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है। पर मेटिरियलिस्ट फिलासफी हमें मंजूर न करेगी, क्योंकि 'अपने आप' होना स्वीकार करनेमें कार्य-कारण-सम्बन्धके परे कोई प्रदृष्टशक्ति माननी पड़ती है और ऐसा माननेमें अनीवर्गादकी जड़ ही कट जाती है। अन्तु। दूसरी बात यह है कि कम्यूनिस्टोंके जड़ तत्त्वज्ञानमें कार्य-कारण-सम्बन्धका जो विचार है वह मूलकारण तो बतलाता ही नहीं पर मनुष्य-समाजकी गतिको देखते हुए भी अपूर्ण मालूम होता है। यह विल्कुल मही है कि मनुष्यकी इच्छा स्वतन्त्र नहीं है (क्षी विल नहीं है) पर इसमें भी काई सन्देह नहीं कि मनुष्य कोई भी काम करनेके दूर इच्छा करता है, पहले इच्छा किये बिना वह कोई कार्य कर ही नहीं सकता, यह प्रत्येक मनुष्यके अनुभवकी बात है।

इसपर कम्यूनिस्टोंका यही सो कहना है कि इच्छाएँ या उद्देश्य भिज-भिज अवस्थाओंमें जो भिज-भिज प्रकारके होते हैं उनमें यही मालूम होता है कि इच्छा या उद्देश्य स्वतन्त्र नहीं बल्कि जड़ यानी पार्थिव (मेटिरियल) अवस्था-के अधीन है। पर कम्यूनिस्ट फिलासफर इस बातको मानेंगे कि प्रत्येक जड़-अवस्था किसी-न-किसी कारणका परिणाम है, किमी-न-किसी कारणका कार्य है अर्थात् कर्म है। और प्रत्येक मनुष्यका अपने प्रत्यक्ष अनुभवके सम्बन्धमें यही व्यापार है कि इच्छाके बिना कोई भी कर्म नहीं होता। अर्थात् प्रत्येक अवस्था किसी-न-किसी इच्छामें ही उत्पन्न होता है। इसलिये विश्वका प्रत्येक पदार्थ किमी-न-किसी इच्छाका ही परिणाम है। अतएव कम्यूनिस्टोंका यह कहना गलत है कि सृष्टिमें केवल कार्य-कारण-सम्बन्ध है—इच्छा या उद्देश्य कुछ भी नहीं।

२—पहले जड़ या पहले चेतन्य ?

इसपर कम्यूनिस्ट यह कहते हैं कि यदि हम यह मान सें कि प्रत्येक कार्यका मूल कोई-न-कोई इच्छा है और इसलिये इस सृष्टिके मूलमें भी इच्छा है तो हमें ईश्वर मानना देंगा, क्योंकि जब इच्छा है, तब उस इच्छा-का करनेवाला कोई-न-कोई चाहिये ही। पर ऐसा सोचना विल्कुल वे-दुनियाद है। कारण, संमारणमें हम क्या देखते हैं? प्रथरके कोई इच्छा नहीं होती, सूर्यका कोई उद्देश्य नहीं है, न आकाश-गंगा या नारका-पुत्र अपने मामने कोई उद्देश्य रखते हैं या किमी वातकी इच्छा करते हैं। मनुष्योंमें हम जो इच्छा देखते हैं वह बाहर जो विषय वह देखता है तथा उसके जो इन्द्रियाँ हैं उनके कारणमें उत्पन्न होती हैं। अब सवाल यह पैदा होता है कि मनुष्यका मन पदलेये हैं या शरीर पहलेये हैं। पहले क्या है—मन और मनकी इच्छाएँ, बुद्धि और उसके विचार, विच और उसके भाव या यह जड़ जगत्? हम जानते हैं कि मनुष्य प्रकृतिका एक अंश है। इस निश्चित-रूपमें इस आतको नहीं जानते कि पृथ्वीको छोड़ अन्य प्राहोपग्राहोंमें मनुष्योंमें भी प्रधिक विकासप्राप्त प्राणी हैं या नहीं, यथापि यह सम्भव है कि हों; कारण ये प्राहोपग्रह असंख्य हैं। पर यह हमें निश्चितरूपमें मालूम है कि मनुष्य इसी दुनियाका प्राणी है और वह प्रकृतिमें ही उत्पन्न हुआ है और प्रकृतिका ही अंश है। विश्वके इस विराटरूपमें मनुष्यका मन तो एक बहुत ही छोटी-सी

चीज है। बूसरी बात यह है कि मनुष्य अन्य पशुओंसे उत्पन्न हुआ है और ये पशु भी इस विश्वमें बहुत थोड़े कालसे हैं। जब यह विश्व भी सूर्यके समान आगका गोला ही था, ठगड़ा होकर इस रूपको नहीं प्राप्त हुआ था तब मन या हुदिवाले प्राणी कहाँ थे? ये प्राणी तो उत्पन्न हुए हैं बहुत पीछे। निरीन्द्रिय जड़ प्रकृतिसे सेन्ड्रिय-प्रकृति उत्पन्न हुई और सेन्ड्रिय-प्रकृतिने एक ऐसा रूप सदा किया जो सोचनेमें समर्थ हुआ अर्थात् मनुष्य उत्पन्न किया। पहले अचेतन जड़ प्रकृति थी जिसमेंसे यह सोचनेवाली प्रकृति उत्पन्न हुई। इसलिये जड़ प्रकृति ही मन-बुद्धियादि अन्तःकरणकी जननी है, अन्तःकरण जड़ प्रकृतिकी जननी नहीं। अर्थात् यह जो कहा जाता है कि प्रत्येक पार्थिव अवस्था किसी-न-किसी इच्छा या उद्देश्यका परिणाम है, यह ही ही नहीं सकता; क्योंकि पार्थिव अवस्था पहलेमें है, इच्छा करनेवाला मन पीछेमें उत्पन्न हुआ है। इसलिये विश्वके मूलमें कोई लक्ष्य, उह इय या इच्छा नहीं हो सकती—कार्य-कारण-सम्बन्धके सिद्धा हममें और कोई हेतु नहीं है। जड़ अवस्था पहले है, उसमेंसे इन्द्रियोंवाले पदार्थ निकले हैं और इन इन्द्रियोंवाले पदार्थमें—कार्य-कारण-सम्बन्धसे ही विशेष अवस्थामें—मन और बुद्धिवाले प्राणी निकले हैं और इन बुद्धिवाले प्राणियोंने अपनी जड़नन्त्र बुद्धियोंमेंसे, भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव, विचार, दृश्यरकी कल्पनाएँ, नाना प्रकारके तत्त्वज्ञान और धर्म-विचार निकाले हैं। यथार्थमें मूल-प्रकृतिमें नियम या नियन्ता किसी भी रूपमें नहीं है। इसलिये न कहीं कोई ईश्वर है न कोई धर्म। (इस्टारिकल मेटिरियालिज्म)

अपर हम यह देख चुके हैं कि यह जड़ तत्त्वज्ञान विश्वका मूल-कारण बतलानेमें असमर्थ है, कार्य-कारण-सम्बन्धके परे क्या है इसका अनुसन्धान भी वह नहीं करता और मनुष्यमात्रके अनुभवको जड़ जगतका जड़-रूप दिखाकर जड़ीभूत करनेका प्रयास करता है। पहले यह विश्व अस्तिमय था, पीछे ठगड़ा होनेपर वह इस रूपको प्राप्त हुआ, भीरे-धीरे धरतीमें धातुपैं उत्पन्न हुई, वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं, जलचर, थलचर, नभचर, कट, पक्षी और पशु उत्पन्न हुए और अन्तमें मनुष्य हुआ। इसलिये जबतक मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ था तबतक बुद्धि नहीं थी और जबतक मनवाले कीठ, पक्षी और पशु नहीं उत्पन्न हुए थे

तबतक मन भी नहीं था, क्योंकि मेटिरियलिज्म फिलासफीमें मन या हुदिकी तबतक कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती जबतक उसके लिये शरीरके मस्तकमें घर न बना हो। पहले गृह, तब गृही, यहाँ सिद्धान्त मालूम होता है। अथवा दूसरा इष्टान्त है हज़िनका, और कोई भी मेटिरियलिज्म फिलासफीके इस सिद्धान्तके अनुसार यह कह सकता है कि जबतक रेलका हज़िन नहीं बना था तबतक इस विश्वमें वाप्पशक्ति नहीं थी क्योंकि मेटिरियलिज्म यह पूछ सकते हैं कि जब यह सारा विश्व विश्वानके विषयमें अन्धकारमें था, कहीं कोई यन्त्र या हज़िन नहीं था तब वाप्पशक्ति कहाँ थी? जैसे जब इस विश्वमें मनुष्य नहीं था तब वाप्पशक्ति कहाँ था? वाप्पशक्ति पहले-पहल उत्पन्न हुई हज़िनमें। जैसे बुद्धि इस विश्वमें पहले-पहल मनुष्यके मन्त्रकमें उत्पन्न हुई। पर इस दलीलको जरा और गहराईके साथ देखें। मनुष्य जबतक उत्पन्न नहीं हुआ था तबतक यदि बुद्धि नहीं थी तो इम यह पूछते हैं कि वह मनुष्यमें कहाँसे आयी? जैसे कोई यह पूछ सकता है कि हज़िन जब नहीं था तब यदि वाप्पशक्ति नहीं थी तो हज़िनमें वह कहाँसे आयी? कम्प्यूनिस्टर फिलासफर यह कहते हैं कि यह बुद्धि बाहरके विषयों और अन्दरके इन्द्रियोंमें उत्पन्न होती है अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न होती है, क्योंकि याहरके विषय प्रकृति हैं, अन्दरकी इन्द्रियाँ भी प्रकृति हैं, इन इन्द्रियोंको उत्पन्न किया है प्रकृतिने ही। बुद्धि जब प्रकृतिमें ही मनुष्यको मिलती है तब इसका यह मतलब हुआ कि यह बुद्धि जड़ प्रकृतिमें रहती है और वहाँसे मनुष्यको मिलती है। जैसे हज़िनको आग और पानीमें वाप्पशक्ति मिलती है। जब हज़िन नहीं था तब भी यह वाप्पशक्ति थी, चाहे सबको, विशेषकर पकाकर अन्न न खानेवालोंको न मालूम रही हो; वैसे ही जब मनुष्य नहीं था तब भी यह बुद्धि-शक्ति थी, मनकी संकल्प-शक्ति थी चाहे अब भी सबको अनुभवसे यह बात प्रत्यक्ष न हुई हो। कारण, प्रकृतिमें यदि बुद्धि न हो—उस प्रकृतिमें जो जड़वादियोंको आरम्भमें आगका एक बड़ा भारी गोला-सा नजर आती है। यदि बुद्धि न हो तो वह मनुष्यमें आती कहाँसे है? जो चीज है ही नहीं उसमेंसे कोई चीज कैसे निकल सकती है? अभावसे भाव कैसे निकल सकता है? अचेतनसे वैतन्य कैसे उत्पन्न हो सकता है? गीताने क्या खूब कहा है कि जो नहीं है वह है, पेसा नहीं हो सकता, जो है वह नहीं है, पेसा भी नहीं

हो सकता । तिक्कसे तेल निकल सकता है, बालूसे नहीं । कारण, तिलमें तेल है, बालूमें नहीं । जो चीज़ जिसमें नहीं है वह उसमें से नहीं निकल सकती, यह सिद्धान्त है । इसलिये कम्पूनिस्टोंकी मेटिरियलिस्ट फिलासफीका यह सिद्धान्त गवत है कि इच्छा, संकल्प, बुद्धि या विचार, उद्देश्य या लक्ष्य विश्वमें या प्रकृतिमें एक नयी चीज़ है जो पहले नहीं थी । जो बात हम पहले केवल मनुष्योंके सम्बन्धमें कह आये कि मनुष्यका कोई भी कर्म इच्छापूर्वक ही होता है यानी पहले इच्छा होती है, पीछे कर्म होता है, वही बात अब हम समग्र विश्वके विषयमें कहते हैं । इच्छा-के बिना केवल मनुष्यका ही नहीं, किसी जड़-पदार्थकी भी कोई कर्म नहीं होता । कार्य-कारण-सम्बन्धके नियमका बासा इस इच्छापूर्वक और इच्छामूलक कर्मके साथ वृक्ष-धीज-न्यायसे अवश्य ही है । वृक्षका ही धीज होता है और धीजका ही वृक्ष होता है, वैसे ही अवस्थासे अवस्था-उपसार इच्छा होती है और इच्छाके अनुसार अवस्था होती है । यह शुद्ध कार्य-कारण-सम्बन्ध है, पर वह इतना ही है, यही उसकी हव है । इस क्षेत्रके बाहर दूसरा नियम है । सुष्ठिकी उस अवस्थामें जब वह अभिका विराट् भावसर्द ढण्डा हो चुका था, जलके बाद पृथ्वी प्रकट हो चुकी थी, पर धातु उद्दिज्जाविकी उत्पत्ति नहीं हुई थी अर्थात् वृक्षादि नहीं थे तब वृक्ष-धीज-न्याय नहीं था, क्योंकि वृक्ष ही नहीं थे । तब ये वृक्ष कहाँसे उत्पन्न हुए? अर्थात् वृक्ष नहीं थे पर उनके धीज थे । उसी प्रकार यह विराट् विश्व या पर मनुष्य नहीं था—यानी मानवी बुद्धि नहीं थी तब मनुष्यमें बुद्धिका और विशाल वटवृक्ष देना है वह सामने दिखायी न देनेपर भी बुद्धि-धीजमें समाया हुआ था और इसी न्यायसे यह मानवा पढ़ेगा कि यह बुद्धि धीजहूँपर्यामें विश्वके मूलमें थी । इसलिये विचार विश्वके मूलमें था, संकल्प विश्वके मूलमें था, लक्ष्य विश्वके मूलमें था, और उस लक्ष्यकी ओर जानेकी गति भी विश्वके मूलमें थी । मनुष्यमें जो बुद्धि हम देखते हैं वह बुद्धि पृथु-पञ्चियोंमें और बनन्पत्तियोंमें तथा धातुओंमें भी किसी-न-किसी रूपमें है, यह वैज्ञानिकोंने देखा है । पर्यामें, मिहोंमें, जलमें, आगमें, हवामें अभी देखना बाकी है । इस क्षेत्रमें असंख्य वर्ग लग सकते हैं, पर अनुमानसे आज भी यह सिद्ध है कि विश्वके मूलमें बुद्धि है जो बुद्धिपूर्वक ही

आगसे मनुष्यके मस्तकतक कमसे विकासकी प्राप्त हो रही है यानी प्रकट हो रही है ।

कम्पूनिस्ट-फिलासफीका यह कहना एक इतनक धीक है कि मनुष्यकी इच्छा स्वतन्त्र नहीं है । वे उसे जड़तन्त्र बतलाते हैं । पर वह केवल जड़तन्त्र ही नहीं है । कारण, यह हम देख चुके हैं कि जड़-जगत्का जो महावन्न है इसके मूलमें स्वतन्त्र संकल्प है और इसलिये किसी भी इच्छामें जड़तन्त्रकी परतन्त्र जड़ता भी है और मूल स्वतन्त्र संकल्पकी स्वतन्त्रता भी है । इसी स्वतन्त्र मूल-संकल्प-अनुमान होनेवाले सुधि-कर्मकी हमलोग दैव कहते हैं जो कार्य-कारण-सम्बन्धमें रहित नहीं है पर वह इतनी छोटी चीज़ भी नहीं है कि ऐक्सिडेंटको इस व्याख्यामें वह कट जाय कि कुछ ज्ञात और कुछ अज्ञात कारणोंके मेलकी घटनाको ऐक्सिडेंट कहते हैं । मनुष्यको जबतक मूल-संकल्पका ज्ञान नहीं होता अर्थात् उस मूल-संकल्प-का स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त होती तबतक उसके जीवनमें ऐसे ऐक्सिडेंट होते हैं । रहेंगे, जिसके कुछ कारण उसके लिये अज्ञात ही रहेंगे ।

३-विकासक्रम और संकल्प

मेटिरियलिस्ट फिलासफीकी अब केवल एक बात रह गयी । मृदिके विकासक्रममें ऊँचे लोग जो यह अनुमान करते हैं कि विश्व उत्तरोत्तर उत्तन होता जा रहा है और इसमें विश्वात्मका कोई विशेष संकल्प है, उसे पूर्वपद्धतें यह कहकर काया गया है कि बहुतोंका नाश दुआ तब कुक्षकी उत्तन हुई । पर उत्तन हुई यह बात स्वीकार की जानी है, माध्यम ही इतना और कहा जाता है कि अवनति भी हुई है । पर उत्तनिका यदि यही कर्म हो तो इसको कोई क्या करे? यह उत्तरान-पतनका चक है जो मेटिरियलिस्ट फिलासफीके कार्य-कारण-सम्बन्धसे रहित नहीं पर यह कार्य-कारण-सम्बन्ध निर्वितुक भी नहीं । यह चक 'असंख्य बार धूमा है और असंख्य बार धूमेगा । इस-आप रोज सोते हैं और रोज जागते हैं । यकावटमें मनुष्य सो जाता है, यकावट दूर कर फिर जाग उठता है और पहले दिन जो उद्योग किया था उसी उद्योगको दूसरे दिन और आगे बढ़ाता है, जीवनमर उसका यही कर्म बढ़ाता है । इस क्रममें वह अपने कर्मके किसी अंगको छोड़ देता है, किसी अंगको आगे बढ़ाता है, किसी अंगमें कौट-कौट बढ़ता है,

किसी शंगकी पुष्टि करता है।' विकास केवल विकास नहीं है—आगे बढ़ना ही नहीं है, पीछे हटना भी है और फिर आगे बढ़ना है। मेटिरियलिस्ट फिलासफी में भी सुषिका यही क्रम माना गया है और इसके नाम हैं, इकलिंगियम (स्वस्थावस्था), विस्टर्वेन्स (विरोध) और रिएम्प्टिलिश-मेन्ट। यह क्रम सब जीवोंमें और सब प्रकारके जीवोंमें है और जन्म, सृष्टि और पुनर्जन्मका भी यही सिद्धान्त है। इसलिये सुषिके इस क्रम-विकासमें कोई लक्ष्य नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। वह हमें मालूम नहीं है, यह अवश्य कहा जा सकता है जैसा बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंने कहा भी है। विज्ञानका यह वेत्र भी नहीं है और इसलिये विज्ञानके भरोये किसीको यह नहीं कहना चाहिये कि विश्वके मूलमें कोई संकल्प नहीं है।

इस यह समझते हैं कि यहाँतक जो चर्चा हुई उम्मेआच्छी तरह यह प्रकट हो गया होगा कि कम्यूनिस्टोंके जह तत्वज्ञानमें यह नहीं सिद्ध होता कि सुषिके मूलमें कोई संकल्प नहीं है और विज्ञानमें ही यह अनुमान होता है कि सुषिके मूलमें कोई संकल्प है जिस संकल्पके अधीन ही विश्वकी सारी इच्छाएँ हैं। कम्यूनिस्टोंका अनीश्वरवाद और उस अनीश्वरवादका खण्डन भी उस मूल-संकल्पके बाहर नहीं हो सकता। रूसमें अनीश्वरवादकी सत्त्वती हो रही है, सम्भव है कि इश्वरवादी सत्यानाको और भी अच्छी तरहसे प्रकट करानेके लिये ऐसा हो रहा हो। यह भी सम्भव है कि इश्वर और धर्मके नामकी आइमें जो पाप होते हैं उनका नाश इसका हेतु हो। यह भी सम्भव है कि बिन्दे इश्वर या आत्माके अन्तिस्वर्में सन्देह है उनका सन्देह दूर करानेका यह एक साधन हो, क्योंकि जब ऐसा मन्देह होता है तब यह कहा गया है कि पूरी जड़वादी बनकर ही देखना चाहिये कि आत्मा कहों है या नहीं। परन्तु यह सब अपनी-अपनी भनोवृत्तिपर निर्भर करता है, इस इसमें अधिक और कुछ भी नहीं कह सकते कि इस जड़वादी और इसके विरुद्ध आत्मवादके संबंधसे कोई न-कोई विकास-क्रमका सहायक उपकरण निर्माण होनेवाला होगा। और इसमें तो कोई सम्देह नहीं कि वैज्ञानिक पद्धतिसे विचार करके समाज-शास्त्रके विषयमें जो सिद्धान्त निकाले गये हैं वे समाज-शास्त्रकी इहिसे बहुत उपयोगी हो सकते हैं। परन्तु समाज-शास्त्रके

इस अथवा और किसी भी पहल्को जाननेके लिये अनीश्वरवाद ग्रहण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यही नहीं कम्यूनिस्ट फिलासफीका अनीश्वरवाद किसी भी 'नान्यवस्तुति' वालके समान शुद्ध शास्त्रीय इकिके लिये अत्यन्त घातक है।

कम्यूनिस्टोंके अनीश्वरवादकी दलीलोंका इसप्रकार परीक्षण करनेके पश्चात् यह समझना बदा ही कठिन होता है कि इन विद्वानोंने सत्यका स्वेच्छा करके यह अनीश्वरवाद पाया या किसी मतलबसे अनीश्वरवादको सावित करनेके लिये इन्हीं स्वेच्छा की। मार्क्स और एंजल बहुत बड़े विचारवान् विद्वान् थे जो कम्यूनिस्ट फिलासफीके आचार्य हैं। मार्क्सके गुरु हेगेल बहुत बड़े तत्त्वज्ञानी थे। पर उनके तत्त्वज्ञानमें इश्वर प्रकट होता था। तत्त्वज्ञान मार्क्सने उन्हींमें सीधा पर मार्क्सने स्वयं कहा है कि हेगेलके तत्त्वज्ञानको मैंने उल्ट दिया है, वह तत्त्वज्ञान सिरके बल बलना था, मैंने उस तत्त्वज्ञान-को उल्टकर पैरोंके बल बल बड़ा किया है (हिस्टारिकल मेटिरियलिज्म)। लेनिन भी बहुत बड़े विद्वान् थे, उन्होंने यूरोपके प्राचीन दर्शनोंकी भी अध्ययन किया था। परन्तु कहते हैं कि उन्होंने यह अध्ययन इश्वरके विरुद्ध दर्शक संघ्रह करनेके लिये किया था (फुलुप यिकर), निर्दुक सत्यके लिये नहीं। मार्क्सकी मेटिरियलिज्म फिलासफीके भास्यकार एवं बुखारिन भी बहुत बड़े विद्वान् हैं। परन्तु इन सब विद्वानोंका यह विचार है कि कोई भी ज्ञान समाजकी किसी-न-किसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये होता है अर्थात् किसी कामनासे होता है और जो ज्ञान प्राप्त होता है वह उस समाजकी अवस्थाये बँधा रहता है (हिस्टारिकल मेटिरियलिज्म)। इसी सिद्धान्तके अनुसार इम विचार करें तो उससे यह परिणाम निकलेगा कि जिस परिस्थितिमें कम्यूनिस्टोंने कम्यूनिस्ट राज्य स्थापित किया उस परिस्थितिमें अनीश्वरवादकी आवश्यकता भी—'अर्द्ध-मूल अधिकारां अधिकारां' को 'अधिक मूलानि अनुसन्ततानि' के उपसिद्धान्तोंके सहारे 'अधोमूल अधर्वशार्ल' माननेकी आवश्यकता थी, इसी आवश्यकतासे अनीश्वरवाद उत्पन्न हुआ और यह अनीश्वरवाद कम्यूनिस्टोंकी वर्तमान अवस्थासे ही बँधा हुआ है। मेटिरियलिज्म फिलासफीका यह भी सिद्धान्त है और वह ठीक भी है कि सब अवस्थाएँ बदला करती हैं। इसलिये इसी सिद्धान्तके अनुसार कम्यू-

निस्टोंकी यह अवस्था बदल जायगी तब उसके साथ समाजकी आवश्यकता भी बदलेगी और तब यह अनीश्वर-बाद भी बदल जायगा । यह बात हमी जड़ तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंसे ही लिया है । कम्युनिस्टोंकी वह कौन-सी आवश्यकता थी जिसके कारण अनीश्वरबाद उत्पन्न हुआ, हसके बारेमें इम कुछ भी नहीं कह सकते । पर लोग कहते हैं कि समाज-सत्ताको अर्थन्त इद करनेके लिये यह आवश्यक हुआ कि समाजके सब व्यक्ति समाज-सत्ताको ही सर्वोपरि मान लें (वर्णांड की कृत 'लेनिन') और 'सर्व-धर्मान्परिष्यज्य' एक समाजकी ही शरण लें । प्रेसी शरण लें कि व्यक्ति केवल समाजका एक यन्त्र बन जाय । उसकी दुनिंदि, उसका मन, उसका हृदय, उसके प्राण समाजके हो जाय और समाज उनके द्वारा अपना कर्म करे । पर यह देखा गया कि मनुष्योंके हृदयोंमें न जाने कहाँसे आकर ईश्वर बैठा हुआ है और जितना स्थान इस ईश्वरने घेर रखता है उतना स्थान समाजके अधिकारके बाहर है और यह हृदय ही एक ऐसी चीज़ है जो मनुष्यमें सबसे अनमोल चीज़ है जिसपर ईश्वरका अधिकार होनेसे समाजका कोई अधिकार नहीं । असली चीज़ तो हृदय ही है । हृदय दिया तो सब कुछ दिया । व्यक्तिका यह हृदय समाजको तभी मिल सकता है जब उसमेंसे ईश्वर निकल जाय । कम्युनिस्ट फिलासफीके अनीश्वरवादका शायद यही कारण हो; क्योंकि लेनिनने कहा है कि व्यक्तियोंका व्यक्तित्व ही ईश्वरके पकाह पानेकी आविरी जगह है, इस-लिये व्यक्तित्व मिदाना होगा । (वर्णांड की कृत 'लेनिन') यदि इस अनीश्वरवादका यही कारण हो तो यह इस फिलासफीके 'आवश्यकतानुसार कामनायुक्त ज्ञान' के सिद्धान्तके सर्वथा अनुकूल ही है पर जैसा कि हमने ऊपर कहा, यह अवस्थानुसार बदलनेवाला ज्ञान सदा ही अस्थिर रहता है, क्योंकि बदलता रहता है । इसलिये अनीश्वरवाद एक बदलनेवाली चीज़ है । चाहे यह उत्कान्ति (विकाम्यक्रम) से बढ़ले या क्रान्तिमें बढ़ले, क्योंकि परिवर्तन दोनों प्रकारमें होता है । जब हम यह दिखा चुके कि 'ईश्वर नहीं है' यह बात मेटिरियलिस्ट फिलासफीमें नहीं साबित होती और इस फिलासफीका अनीश्वरवाद चाहे जब बदल सकता है और यही फिलासफी आगे बढ़कर यह कह सकती है कि ईश्वर है, तब इतना ही कहना अब बाकी रह जाता है कि किसी भी बुद्धिमान् मनुष्यको ऐसे अस्थिर ज्ञानका आवश्यक न करना चाहिये ।

आधुनिक अनीश्वरवादके पक्षमें और कुछ छोटी-मोटी दलीलें हो सकती हैं, जैसे—(१) यदि ईश्वर है तो संसार-में इतना दुःख क्यों है ? (२) ईश्वर और धर्मके नामपर बड़े अस्याचार हुए और अब भी ही हो रहे हैं ? (३) ईश्वर-की कल्पना भयसे निकली है और भयसे जो बात मानी गयी वह सच नहीं हो सकती जैसा कि बेटौं रसेलने कहा है । इनका समाधान बहुत संक्षेपमें किया जा सकता है ।

(१) संसारमें इतना दुःख क्यों है ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि जो लोग सुखका रास्ता भूलते हैं वे दुःख पाते हैं । अर्थात् दुःखका कारण अज्ञान है । 'अज्ञान है' का अर्थ यह है कि कोई ज्ञान है जिसको संसार प्राप्त करना चाहता है । दुःख यथार्थमें ईश्वरको प्राप्त करनेकी बेचैनी है । दुःख है इससे ईश्वर नहीं है यह नहीं साबित होता । दुःख क्या है यह जानना चाहिये । (२) ईश्वर और धर्मके नामपर बड़े-बड़े अस्याचार हुए हैं, इससे भी यह तो नहीं साबित होता कि ईश्वर और धर्मके कारण अस्याचार हुए । सर्वके नामपर यदि कोई सूठ थोड़े तो इससे यह कोई नहीं कहता कि सच ही सूठ है । 'नामपर' पदसे ही यह सूचित होता है कि ईश्वर और धर्म अस्याचारमें कोई विभिन्न चीज़ है । आधुनिक विज्ञानका दुरुपयोग करके सम्बन्धोंके नामपर बड़े-बड़े राष्ट्र एक दूसरेकी घातीपर चढ़ बढ़ते, इसमें न तो आधुनिक विज्ञान बुरा हुआ, न सम्बन्धों ही कोई बुरी चीज़ हुई । अस्याचार कोई दूसरी ही चीज़ है, उसका ईश्वर, धर्म या विज्ञानमें कोई सम्बन्ध नहीं है । (३) ईश्वरकी कल्पना भयसे निकली है इसलिये वह सच नहीं । जैसे कोई कह सकता है कि भयसे दिव्यायी देवताला भूत सज्जा नहीं होता । अज्ञानमें मनुष्य ईश्वरकी जो कल्पना करता है वह भयसे भी कर सकता है, दुःखमें भी कर सकता है और अज्ञानमें भी कर सकता है । पर भयसे ईश्वरकी कल्पना करना एक बात है और भूतकी कल्पना करना दूसरी बात है । पहली बात भयसे ऊपर उठनेकी है और दूसरी भयसे नीचे गिरनेकी । भय होता है या क्या होता है ? भय हम बातका ज्ञान है कि हम दुर्बल हैं और कोई ताकत ऐसी है जो हमें खा जायगी । भूत विकासी देता है यानी क्या होता है ? यह निश्चय होता है कि यह ताकत हमें खा जायगी और वह ताकत उसे खा जा सकती है । ईश्वरकी कल्पना होती है बाबी क्या होता है ? आखिर-

विश्वास होता है और मुकाबलेकी ताकत हट जाती है—
आमभक्ति जाग उठती है और कहती है कि सब शक्तियों-
से अष्ट शक्ति (ईशोंमें श्रेष्ठ) मैं हूँ । भयसे लो ताकत
उपर उठाती है वही असत्ती ताकत है, वही शक्तियोंमें
अष्ट शक्ति है । भय हस बातका बोध है कि एक निर्भय
स्थान भी है । दुःख हस बातका बोध है कि एक अखण्ड
सुखका स्थान भी है । अशानका दंश हस बातका बोध
है कि एक परम ज्ञानका स्थान भी है । संसारके सारे
विचार और उद्योग उसीके लिये हैं । अनेश्वरवादी कहते
हैं कि इम ऐसी निर्भयता, ऐसे अखण्ड सुख और परम
ज्ञानको प्राप्त करेंगे पर वह आज मौजूद नहीं है । ईश्वर-

बादी कहते हैं कि वह आज भी मौजूद है । तुम उसे
विकासके उत्थान-पतन-चक्रके चक्रमें पढ़कर वैवशाल
प्राप्त करेंगे और ईश्वरवादी कहते हैं कि इस उसे क्रान्ति
(Revolution) के हारा अभी प्राप्त करेंगे ।

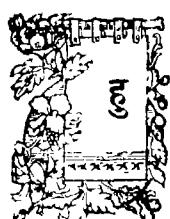
जिन ईश्वर-भक्तोंने ईश्वरकी प्राप्ति कर लिया है वे इस
ईश्वरवादके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । वह तत्त्वज्ञान वे ही वतला
सकते हैं । उसके लिये उन्हींके पाम जाना चाहिये ।

तद्विद्धि प्रणिपोतेन परिप्रश्नेन संवया ।
ठपेदक्षनित ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तवदर्थिन ॥

(गीता)

�श्वर कहाँ है, कैसा है और कैसे मिल सकता है ?

(लेखक — श्रीदिगम्बरदासजी कामत)



वर्ल के मुग्धिमद्द सपुत्र श्रीसिद्धाहस
स्वामीका नाम जगत्-प्रसिद्ध है ।
कर्णाटकमें हनुको लोग श्रीज्ञानेश्वर
महाराजके अवतारके रूपमें मानते थे ।
हनुमें श्रीएकनाथजीके समान अपूर्व
शान्ति, श्रीरामद्वासजीके समान नैषिक
ब्रह्मचर्य तथा श्रीज्ञानेश्वरजीके समान
पूर्ण और गम्भीर ज्ञान था । इनकी प्रबोध-शक्ति भी अति
उल्लेख थी । इनके पास राजे-महाराजे और बड़े-बड़े परिवर्त
आते और चरणोंमें सादर मिर नवाते थे । बदू, सुमुक्ष
तथा सिद्ध-कोटिके महारामा सभी आपके दर्शनमें समान
आनन्द साप्त करते थे ।

वेदान्त-सम्बन्धी कोई कंसा ही प्रभ व्यों न करे वह
अनायास ही उसकी समझमें आनेयोग्य सरल भाषामें
उत्तर देकर उसका समाधान किया करते थे । शंका-समाधान
करनेकी उनकी शैली बड़ी ही अपूर्व थी ।

एक समय विष्णु नामक एक बारह वर्षका लड़का
सिद्धाहस द्वामीजीकी कीर्ति सुनकर मेरे साथ उनके दर्शनके
किये हुबली आया । वचपनमें ही इस लड़केको ईश्वरमें
जिज्ञासा थी । गाँवमें प्रतिविन हरिदास पौराणिकके कीर्तन
तथा पुराणोंको सुनना और कथा समाप्त होनेपर कुछ-न-कुछ
प्रश्न करना इसका स्वभाव-सा हो गया था । छोटी उम्रमें ही

इनकी ऐसी जिज्ञासा-बुद्धि देखकर लोगोंको बड़ा कौनुक होता
और वे इनकी बड़ी नारीक बिधि किया करते थे । इस लेखके
शीर्षकमें उल्लिखित तीन प्रभ ही वह सबसे रुठना, प्रत्येक
मनुष्य अपने-अपने मतानुसार इसके प्रभका उत्तर दिया
करते, परन्तु उसमें इनका कुछ भी समाधान न होता था ।

यह सच है कि समाधानका होना या न होना
अधिकांशमें उत्तरकी यथार्थतापर ही अवलम्बित होता है ।
परन्तु बहुधा ऐसा भी देखा जाता है कि समाधान अधिकतर
उत्तरदाताके व्यक्तिगत प्रभाव (Personal influence)
पर भी अवलम्बित रहता है । किसी प्रभका उत्तर किसी
एक व्यक्तिद्वारा मिलनेमें उसमें विश्वास नहीं होता परन्तु
दूसरे मनुष्यमें वही उत्तर मिलनेपर उसमें विश्वास हो
आता है और वह अन्तःकरणमें बैठ जाता है । अन्तु,
लड़का मेरे साथ स्वामीजीके मठपर पहुँचा ‘मेरे प्रभ सच-
मुख बड़े महावके हैं, साधारण मनुष्य तो इनका उत्तर
दे ही नहीं सकता । सिद्धाहस द्वामी-सरीखे साधु पुरुष ही
कुछ उत्तर दे सकते हैं’ उस लड़केकी ऐसी धारणा थी तथा
'हरिदास परिवहत मेरे प्रभका यथार्थ उत्तर नहीं दे सकते'
ऐसी समझ होनेके कारण अपने प्रश्नोंके सम्बन्धमें उसके
मनमें अभिमान भी था । श्रीमिद्धारूप द्वामीके दैनिक
प्रवचनके समाप्त होनेपर उन्हें कुछ अवकाश मिला । तदनन्तर
नित्य-नियमके अनुसार दर्शनार्थ आये हुए लोग उसमें
अपने सकाम-निष्काम प्रभ शूलने लगे । इस लड़केके किये

महाराजका गम्भीर प्रवचन समझना कठिन था। तथापि उसे यह उत्करण लती हुई थी कि महाराजको कैसे अपने प्रभ सुनाये जायें तथा उनसे उनका उत्तर कैसे मिले? उसने अपना प्रश्न महाराजके कानोंमें डालनेके लिये सुने उक्साना शुरू किया और मैंने अवसर देखकर महाराजसे लड़केका परिचय कराया और उसका प्रश्न भी उनसे कह सुनाया तथा महाराजसे यह कहकर कि लड़केको आपमें इस प्रश्नका उत्तर पानेका पूरा भरोसा है, मैंने लड़केमें उनके चरणोंमें प्रणाम कराया।

वहाँ इकट्ठे हुए लोगोंको लड़केकी आयु देखकर तथा उसका प्रश्न सुनकर बड़ा आश्र्वद्य हुआ और सबका ध्यान इसी ओर लगा रहा कि देवें महाराज हम्य प्रश्नका क्या उत्तर देते हैं। कारण, वह प्रश्न परमार्थकी जिज्ञासा करनेवाले प्रत्येक पुरुषके प्राणोंकी दुमुक्ता है।

महाराज उस प्रश्नको सुनकर और लड़केकी ओर देखकर कुछ सुस्कराये। उन्होंने उसे पास दुलाया, उसकी पीठपर हाथ फेरा और फिर उसके कानमें धीरेमें कुछ कहा। (पास दुलाने, पीठपर हाथ फेरने तथा कानमें धीरेमें कुछ कहनेमें महाराजका जो विशेष हेतु था, हमें अनुभवी पुरुष ही जानें) महाराज बोले—

बेटा! 'ईश्वर कहाँ है?' ऐसा प्रश्न कभी नहीं करना चाहिये। ऐसा प्रश्न तो पागल किया करते हैं, तू तो मर्याना है! फिर ऐसा प्रश्न क्यों पूछता है? (इन शब्दोंमें एक ही चर्चेटमें महाराजने उसका सूचम अभिमान उत्तर दिया।) हम समय तू यहाँ है, अपने घरमें नहीं है। यह आये हुए लोग भी हम समय यहाँ हैं, घड़ीभरमें जब घर चले जायेंगे तो यहाँ नहीं रहेंगे। जो पदार्थ या व्यक्ति एक जगह रहते समय दूसरी जगह नहीं रह सकता उसके लिये (अर्थात् उस-जैसी पक्कदीरीय वस्तुके लिये) यह प्रश्न पूछना ठीक है कि 'वह कहाँ है?' सब स्थानमें भरी हुई वस्तुके लिये ऐसा प्रश्न नहीं पूछना चाहिये, समझा न?

लड़का चुप रहा। उसके उस एक प्रश्नका समाधान हो गया। वरन्तु उसे पूरा विश्वास था कि उसके दूसरे प्रश्न (अर्थात् ईश्वर कैसा है?) का उत्तर महाराज देंगे और उसे पागलका प्रश्न न कहेंगे। लड़का बोला—'ईश्वर कहाँ है?' इस प्रश्नका उत्तर तो मैंने समझ लिया, अर्थात् वह सर्वत्र है; परन्तु 'वह कैसा है' और कैसे मिलेगा

तथा उसको प्राप्त करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये, महाराज! कृपा करके मुझे यह बतला दें।'

इसपर महाराजने फिर उसकी पीठपर हाथ फेरकर कहा—'अरे! ईश्वर तेरे ही जैमा है।' तू अपने आपको जान ले, बस हो गया। 'तू कौन है और कैसा है?' क्या इसका तूने कभी विचार किया है? जब तूने अपने ही स्वरूपका विचार नहीं किया तो इतने बड़े ईश्वरके स्वरूपका विचार अधिवा प्राप्तिकी बातको तू कैसे समझेगा? इतना कहकर महाराज उसकी आँखोंकी ओर देखने लगे। श्रोतागण भी इस विनोदको अनेक इष्टिये देखते रहे।

लड़केने महाराजके प्रश्नको सुना और यह सोचकर कि मैंने अभी अपना ही विचार नहीं किया है, वह बड़ा लजित हुआ। 'मैं कैसा हूँ?'—इसका अर्थ क्या है, यही विचार यन्वत् उसके मनिकमें भूमने लगा। अनन्तर महाराजने श्रोताओंकी ओर देखकर श्रीशंकराचार्यजीके 'को देवो यो मनः साक्षी' इस श्लोकमें ईश्वरके स्वरूपका निरूपण किया। अपने-अपने अधिकारके अनुसार श्रोता-ओंने उसके मरम्मों हादूँगम किया। धारणाशक्ति कम होनेके कारण वह लड़का उमे न समझ सका। यह जानकर महाराजने उसमें स्वरूपकी घोड़ी-सी कहपना दर्शक करनेके उद्देश्यसे उसमें इसप्रकार प्रश्न किया—

बेटा! घर और घरका मालिक दो होते हैं, हम बानको तू जानता है न? क्या घर और घरका मालिक एक होता है? लड़केने कहा—'नहीं, घरमें घरका मालिक भिन्न होता है।' फिर उसकी दोषी और कुर्तेको म्पर्श करके महाराजने कहा—'यह दोषी और कुर्ता तेरे हैं न? या तू ही दोषी और कुर्ता भी है?' लड़केने उत्तर दिया—'नहीं, दोषी और कुर्ता मेरे हैं, मैं स्वयं दोषी-कुर्ता नहीं हूँ।' महाराज बोले—'तो फिर, देहको तू 'मेरा देह' कहता है, फिर तू देह कैसे हो सकता है? अर्थात् तू देहमें भिन्न है। वैसे ही इन्द्रियोंको तू 'मेरी ऊद्धि' कहता है, मनको तू 'मेरा' कहता है, बुद्धिको तू 'मेरी बुद्धि' कहता है। अतः देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तू नहीं है, तू इन सबमें भिन्न, इन सबको जाननेवाला है। सभभा न? बस, आज हमना ही।'

लड़का क्षणभर चुप रहकर फिर बोला—'ईश्वर कैसे मिल सकता है? उसे प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये?—यह प्रश्न तो रह ही गया।' इसपर महाराज

गम्भीरतापूर्वक लोले—‘ईश्वर-प्रासिके लिये कुछ भी करने-की आवश्यकता नहीं। ईश्वर सदा-सर्वदा अपने सामने है, विष्वकूल समीप है, उसके समान समीप संसारमें दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। उसका नाम-मारण, भजन, पूजन आदि निष्कामभावमें चित्त-शुद्धिके लिये करना चाहिये। ईश्वर-प्रासिके लिये नहीं—वह तो स्वरूपमें ही निश्च प्राप्त है। ‘स निश्चयोपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।’

इतना कहकर महाराज खड़े हुए। उस लड़केने तथा अन्य सब लोगोंने महाराजको नमस्कार करके निश्च नियमके अनुसार उनका जय-जयकार किया और उस प्रसंगके कौनुककी चर्चा करते हुए सब लोग अपने-अपने घर गये।

श्रीसमर्थ रामदास स्वामीने सच ही कहा है—
सदा सर्वदा राम सर्वोच्च आहे।
मना सज्जा सत्कारावृत्ति पाहे॥

अखंडीत भेटी रघुराज योग् ।
मना सांडि रे मीषणाचा वियोग् ॥
‘नव्हे योगायांगे नव्हे मोगायांगे ।
समाधान ते सज्जाचेनि येंगे ॥
जयाचेनि संगे महादुःख भंगे ।
जगी सावनेर्वाण सन्मार्ग लागे ॥

अर्थात्—रे सज्जन मन ! सत्यकी शोध करके देख, तब तुझे पता चलेगा कि राम सदा-सर्वदा तेरे पासमें ही है। उस रघुराजकी भैठ और उसका मिलन निरन्तर हो रहा है। (परन्तु इसके अनुभवके लिये) रे मन, तू ‘मैंपन’ का स्थाग कर। तेरा समाधान न योग-यागादिमें होगा और न भोगोंके स्थागमें ही, समाधान तो उन सन्तोकी कृपामें होता है जिनके संगमे महादुःख नष्ट हो जाते हैं और संसारमें अनायास सन्मार्गकी प्राप्ति होती है।

आस्तिकवाद अनिवार्य

(लेखक—म० श्रीनारायण स्वामीं महाराज)



स्तिक और नास्तिकवादका निर्णयक साधन जगत् है—यदि जगतके बनने-की पहेली बिना किसी जगतकर्ताके हल हो सकती है तो ईश्वरका मानना व्यर्थ है। इसलिये पहले इसी पहेली-पर एष्टिगत करना चाहिये—जगत्-स्पृत्तिके सम्बन्धमें तीन कल्पनाएँ की जा सकती हैं—

(१) जगत् हमी प्रकार सदैवसे बना-बनाया चला आता है अर्थात् वह Self-Existed है।

(२) जगत् स्वयमेव बिना किसी कर्ताके बन गया अर्थात् वह Self-Created है।

(३) जगतको किसी बाह्यशक्तिने बनाया अर्थात् वह Created by some external agency है।

एहली कल्पनापर विचार—जगत् अनेक वस्तुओंसे मिलकर बना है। जगतकी किसी वस्तुपर निराह डालिये, आपको मालूम हो जायगा कि वह पृथक् कोई वस्तु नहीं किन्तु एकसे अधिक वस्तुओंका मिश्रण है—

पानी, हवा, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी वस्तुएँ मिश्रित हैं—मिश्रित वस्तुएँ निश्च नहीं हो सकतीं। वे सदैव अमिश्रित तत्त्वांये किसी-न-किसी समय मिलकर ही बनती हैं। इसलिये यह कल्पना कि जगत् सदैवसे हमी प्रकारसे बना-बनाया चला आता है, अस्वीकन्तव्य है, क्योंकि मिश्रित वस्तुका विनाश अनिवार्य है।

दूसरी कल्पनापर विचार—जगतका उपादान प्रकृति (Matter) है और प्रकृतिमें जड़ता (Inertia) है। प्रकृतिमें जड़ता होनेमें गति-शूद्धता होता आवश्यक है, गतिशूद्धता होने और चेतना (Consciousness) के अभावमें वह स्वयमेव न जगतरूपमें परिवर्तित हो सकती है और न किसी वस्तुका निर्माण कर सकती है। इसलिये बिना किसी बाह्यशक्तिकी सहायताके जगत् स्वयमेव बन गया, यह कल्पना भी नहीं मानी जा सकती और इसलिये पहली कल्पनाकी तरहसे यह भी रुद किये जानेके योग्य है।

तीसरी कल्पनापर विचार—अब तीसरी कल्पना रह आती है कि जगतको किसी बाह्यशक्तिने बनाया—यह

स्वीकार किये जानेके योग्य है। हर्ट म्पेन्सने भी इसी कल्पनाको स्वीकृत्य ठहराया है (First principles) हस्पर एक आक्षेप उठाया जाता और वह उचित रीतिमें उठाया जाता है। वह आक्षेप यह है कि यह कल्पना महाप्रलयवादको स्वीकार करके ही ठहर सकती है। यदि यह मान लिया जाय कि कुछ ग्रह नष्ट हो जाते हैं, कुछ बने रहते हैं और जब नष्ट हुए ग्रह फिर बन जाते हैं, तब अवशिष्ट ग्रहोंका प्रलय हो जाता है तो इसप्रकारमें महाप्रलयवादके माननेकी जस्तर नहीं पड़ती और जगत् दिना किसी कर्ताके स्वयमेव बनता और विश्वता रहता है। जरमनीके प्रसिद्ध जडाहैनवादी हरेन्स्ट हैंकलने अपनी नामिकताके रक्षार्थ इसी कल्पनाका आश्रय लिया था परन्तु यह कल्पना विज्ञान और वैदिक प्रलय तथा महाप्रलयवाद दोनोंके विरुद्ध है।

महाप्रलय और विज्ञान—भौतिक विज्ञानमें तापमत्तवन्धि सिद्धान्तके प्रवर्तक (The founder of the mechanical theory of heat) क्लायमियस (Clausius) ने तापको दो भागोंमें विभक्त किया है।

(१) वह जो जगत्में वरावर बना रहकर जगत्के काममें आता रहता है— (The Energy of the Universe is constant × × × It is convertible into work)

(२) वह जो जगत्के काममें एथर कोकर बढ़ता रहता है और फिर जगत्के काममें नहीं आता— (The entropy of the Universe tends towards a maximum. It is not convertible into work) यह दूसरा ताप (Entropy) वह शक्ति है जो बाहरमें भीतरकी ओर जाया करती है। यह शक्ति प्रारम्भमें तापके रूपमें ठण्डे विष्टोंमें विभक्त होई थी और वहाँसे कम होते-होते जहाँतक भावी कार्योंका सम्बन्ध है, उसे नष्टप्राय समझना चाहिये। यह दूसरा ताप पहलेको नियमिति कम करता रहता है और स्वयमेव बढ़ता रहता है और बढ़कर फिर जगत्के काममें नहीं आता। इसप्रकारमें विश्वाण्डमें जो शक्ति (Energy) काम करती है, वह वरावर क्रमशः कम होती रहती है। जब कम होने-होते पहले प्रकारका ताप बाकी न रहेगा और दूसरा ताप अपनी अधिक-से-अधिक मात्रा प्राप्त कर लेगा, तब शीतोष्णका जितना में है वह सब

दूर हो जावेगा और कोई प्राणी तथा किसी प्रकारकी गति भी बाकी न रहेगी। तब केवल प्रकृति (Matter) का गतिशूल्य छेर ही देख रह जायगा और इसीका नाम व्रजारण्डका अन्त या महाप्रलय हो जायगा । क्लायमियस विश्वाण्डका अन्त हो जानेपर फिर जगत् किसप्रकार उत्पन्न हो ? जगत्की उत्पत्तिके लिये जड़, गतिशूल्य प्रकृतिमें गति होनी चाहिये। यह गति कहाँसे आवे ? इस प्रक्षका उत्तर देनेमें नामिकवादकी गाढ़ी अटकती है— वेदने इस प्रभका उत्तर दिया है 'तदेजति नन्वजति' । † अर्थात् वह ईश्वर गति देता है परन्तु स्वयं गतिमें नहीं आता, वह वरावर एकरस ही बना रहता है। विज्ञानको इसीलिये इस प्रक्षका उत्तर केवल प्रकृति (Matter) से न पाकर प्रकृतिमें पृथक् शक्ति (Energy) की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनी पड़ी परन्तु शक्ति गुण है वह गुणिके दिना नहीं रह सकती इसलिये विवरा होकर यहाँ ईश्वरकी मना स्वीकार करनी पड़ती है। ईश्वरका स्थिरकर्तृपक्ष केवल इतनेहीं प्रारम्भ होकर पूर्णता प्राप्त कर लेता है कि वह उस समय जब महाप्रलयके बाद जगत् उत्पन्न होता है और प्रकृति विकृत होना चाहती है तो इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वह शान्त और स्थैन्य प्रकृतिमें एक गतिका सम्भार करता है जिसमें प्रकृतिकी शान्ति और स्थैन्यता भङ्ग होकर क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होकर प्रलय स्थिरस्थिरपूर्वक परिवर्तित हो जाती है। पञ्चभूत, जिनमें

१ क्लायमियसके शब्द ये हैं—Entropy ie. force that is directed inwards—This energy already converted into heat and distributed in cooler masses, is irrevocably lost as far as any further work is concerned.

× × × The entropy is continually increasing at the cost of the other half × × × The sum of heat and energy in the universe must continually tend to be reduced and dissipated. All differences of temperature must ultimately disappear and all organic life and movement must cease, when this maximum of entropy has been reached. That would be a real end of the world.

(Riddle of Universe by G. Haechal.)

† यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र ५ ।

सारा जगत् बन जाता है, इसीलिये प्रकृति और व्यष्टिप्रदस गतिके संभासका नाम है—(Matter combined with energy) यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि गति देनेके लिये गतिदातासे पृथक् कुछ आकाश (Space) होना चाहिये तब तो वह गति दे सकता है। ईश्वर विभु (सर्वव्यापक) और सर्वधूर भी है, उससे अधिक, वहाँ वह न हो, ऐसे किसी स्थान या अवकाशकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, किर वह गति किसप्रकार देता है? इस शंकाका समाधान यह है कि इस गतिको देनेके लिये, ईश्वरको किसी प्रकारकी दृक्षत फरनेकी जरूरत नहीं होती,

वह गति जो प्रकृतिमें एक विश्वव्यापी हलचल पैदा कर देती है, व्यष्टिके केवल दृष्टिगति (प्राप्त वस्तुको कार्यमें लगानेकी इच्छा) से उत्पन्न हो जाती है। इसीलिये कहा जाता है 'Will precedes motion' अर्थात् गतिसे पहले इच्छा होती है। अरन्दूने इसीलिये ईश्वरको Unmoved mover & (बिना हिले गतिदाता) कहा है। उपर्युक्त विवरण स्पष्ट करता है कि जगत्की रचनाके लिये रचयिताका होना अनिवार्य है इसीलिये आस्तिकवाद भी अनिवार्य है।

ईश्वर मानव-जातिके उद्धारक हैं

(लेखक—श्रीयुक्त भद्रानन्द जी सम्पादक 'भेदेज')

ईशावास्यमिदः सर्वं यत्क व जगत्सां जगत् ॥

अर्थात् इस संसारमें जितने भी चल अथवा अचल पदार्थ हैं उन सबमें ही ईश्वर भरा है।

यदि जगत् ईश्वरको भुलाकर उसमें विश्वासहीन न हो गया होता तो आज संसारमें हम जिन कठों एवं यातनाश्चोंसे व्यथित ही रहे हैं, इनके दर्शन भी न होते। संसारभरके महारामा एवं तच्चवेत्ता पुरुष तथा सभी धर्मोंके प्रामाणिक ग्रन्थ बार-बार यह धोयाणा करते हैं कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही सब कालोंमें हमारा एकमात्र अवलम्ब एवं आधार है, विशेषकर आपनि एवं कठिनाईके समय वही हमारी रक्षा करता है। उसकी दयाके बिना न तो इस लोकमें शान्ति और सुख मिल सकता है और न सुकृतिकी ही आशा की जा सकती है।

ब्रह्मोद्घुपेन प्रतेरत विद्वान्

स्नोत्तांसि सर्वाणि मयावहानि ।

(चेताश्तरोपनिषद्)

अर्थात् ब्रह्मरूपी नौकाके सहारे विवेकी पुरुष समस्त भयानक नदोंको पार कर सकता है।

इस बातको कोई अस्तीकार नहीं कर सकता कि ईश्वर-मुनि, जिन्होंने अनेक धर्म-शास्त्रोंकी रचना की है इमलोगों-

की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान् विद्वान् तथा आध्यात्मिक शक्ति-सम्पद ये। उन सबोंने एक स्वरसे इस बातकी धोयाणा की है कि ईश्वर सर्वोपरि है। तथा हमें वे यही उपदेश दे गये हैं कि मनुष्य सब सभ्य उनका आश्रय पकड़े रहे, क्योंकि वही हमको इस दुःखमय संसार-समुद्रके पार कर अपने अमर-पदको प्राप्त करा सकते हैं।

परन्तु शोककी बात है कि मरणशील मनुष्य भगवान्-की कृपाये ही प्राप्त होनेवाले जगत्के तुच्छ बैंधवसे विमोहित होकर प्रायः उन्हें भूल जाता है, उनकी सत्ताको अस्तीकार करने लगता है और न जाने उनके प्रति कितने अपराध करता है। फिर यदि वह कर्णधाररहीन नौकाकी भाँति दुःखोंके मैंवर-जालमें गिरता है तो इसमें आश्र्य ही क्या है?

कुछ लोग ईश्वरकी सक्षमता विश्वास ही नहीं करते। वे यह समझते हैं कि जिस वस्तुको हम नेत्रोंसे नहीं देख सकते, त्वचासे स्पर्श नहीं कर सकते अथवा तक्ससे सिद्ध नहीं कर सकते, उसका अस्तित्व कैसे हो सकता है? वे इस बातको भूल जाते हैं कि ईश्वर किसी जगत्के पदार्थकी तरह नहीं हैं, जिसको हम नेत्रोंमें देख सकें, त्वचासे स्पर्श कर सकें और तक्से सिद्ध कर सकें; वह हन सबसे परे हैं। उनका केवल अनुभव किया जा सकता है और यह अनुभव

॥ God is merely the Source of movement, the first mover (आदिकारण) who himself is never moved. (The Age of Aristotle p. 46)

उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा, सोधना एवं योगमे प्राप्त हो सकता है और ऐसा वही कर सकता है जिसके मनमें परमात्माको प्राप्त करनेकी सभी लगन हो, जो यथार्थ मुमुक्षु हो । दूसरा कोई भी ऐसा नहीं कर सकता । इसीलिये उपनिषदोंके आधिग्योने यह कहा है—

अटष्टमव्यवहार्यमग्राहणमक्षण्पमचिन्त्यपदेशमेकात्म-
प्रश्यग्यसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम् ॥

(माण्डूक्योपनिषद्)

अर्थात् परमात्मा नेत्रोंमें आगोचर है, इन्द्रियातीत हैं, उनका किसी लक्षण अथवा शब्दके द्वारा निर्देश नहीं हो सकता, विचारकी भी गति वहाँतक नहीं है, केवल आनन्दरिक अनुभवमें ही उनका ज्ञान हो सकता है, वह इस मायिक प्रपञ्चमें परे हैं, शान्त हैं, कल्पाणरूप हैं, एवं द्वैतरहित हैं ।

यह उन आप-पुरुषोंका अनुभवसिद्ध प्रमाण है, जिन्होंने अपना समग्र जीवन सर्वथकी स्वोजमें लगा दिया, जिन्होंने उस परमात्माको प्राप्त कर लिया एवं जान लिया, जिनकी बुद्धि वही कुशाग्र थी और जिनकी सर्वथादितामें कोई मन्देह नहीं है । दूसरे धर्मोंके प्रामाणिक ग्रन्थोंमें भी यही वात कही गयी है । आधिग्योने इमें म्पष्टस्फूर्पसे यह भी बतला दिया है कि परमात्माको इस किसप्रकार देख और जान सकते हैं । मुरादकोपनिषदमें लिखा है—

ज्ञानप्रसादेन विगुडसन्द-

स्तुतस्तु त पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

(३ । ८)

अर्थात् वही मनुष्य ज्ञानकी अवस्थामें अपने अन्दर उस परमात्माके दर्शन कर सकता है, जिसका हृदय ज्ञान-सम्बादेन एवं सदाचार-मेवनमें शुद्ध हो गया है ।

महात्मा ईसाने जिन शुद्ध अन्तःकरणवालोंको धन्य कहा है, उनकी अपेक्षा यह अन्तःकरणकी शुद्धि कुछ विलक्षण है । यहाँ उस ज्ञानके द्वारा ही अन्तरात्माको शुद्ध करनेकी वात कही गयी है जो शास्त्रीय ज्ञानमें परेकी वन्मु है और जिससे नैतिक एवं आध्यात्मिक पूर्णताकी प्राप्ति होती है । इसी वातको ईसामसीहने अपने निष्ठ-क्षितित वाक्योंमें प्रतिष्ठनित किया है—

‘Blessed are the pure in heart, for they shall see God.’

मुरादकोपनिषद्के उपर्युक्त मन्त्रमें ईश्वरका दर्शन किन साधनोंमें हो सकता है, इसका पूरा एवं सविस्तर वर्णन किया गया है । किन्तु, यथापि इस वातका अनुमोदन सभी शास्त्रोंने और तत्त्ववेत्ताओंने किया है तथा सभी भगवत्-प्राप्त पुरुषोंने जीवनभरकी स्वोजके बाद अपने व्यक्तिगत अनुभवसे इसी वातको प्रमाणित किया है, तथापि ईश्वरके अस्तित्वको नहीं माननेवाले ये आधुनिक विद्वान्, वहाँ जीवनके दूसरे चंद्रोंमें इन्होंने कैसी ही प्रसिद्धि प्राप्त की हो, इस वास्तविक तथ्यको बिल्कुल ही नहीं समझ सके हैं । इसके लिये उनकी बुद्धि सर्वव्याप्ति सिद्ध हुई है । जबतक मनुष्य आध्यात्मिक जीवनकी इस पूर्ण स्थितिको प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक उसकी आँखोंके सामनेसे ज्ञानका पर्दा कभी नहीं हट सकता । जो लोग इस अज्ञानके अन्वकारमें पढ़े हुए हैं और जिन्हें जगत्के सर्वशक्तिमान् रचयिताकी सत्तामें विद्वास नहीं है उनसे इस विनाश प्रार्थना करते हैं कि वे एक बार हिन्दू-धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करें । इनके अन्दर उन्हें इस विषयका साझोपात्र, सविस्तर एवं युक्ति-पूर्ण विवेचन मिलेगा, जिसमें उनके सारे संशय दूर हो सकेंगे और अध्ययनके फलस्वरूप उन्हें वह शान्ति, आशामन् एवं सुख मिलेगा जिसका ईश्वर-प्राप्त पुरुषोंने अनुभव किया है । इस ऐसे कई धार्मिक पुरुषोंको जानते हैं जो शास्त्रीय ज्ञानकी सीमाये आगे न बढ़ सकनेके कारण एक प्रकारसे नास्तिक हो गये थे, किन्तु उपनिषदों एवं अन्य हिन्दू-धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययनमें वे फिर अस्तिक बन गये ।

पढ़े-लिखे लोगोंमें एक समुदाय और है जो न तो ईश्वरकी मत्ताको स्वीकार करता है और न उसका निषेच ही करता है । इन्हें प्रायः लोग सन्देहवादी कहते हैं और इनमेंसे कई तो अपने सिद्धान्तके हतने कष्ट है कि उनके साथ कितना भी तर्क क्यों न किशा जाय, वे अपनी भूलको कभी स्वीकार नहीं करेंगे । पृष्ठनेपर तो यह कहेंगे कि इमें यदि कोई इस वातका निश्चय करा दे कि इमारा सिद्धान्त ठीक नहीं है तो इस अपने मतको परिवर्तन करनेके लिये तैयार हैं, किन्तु वस्तुतः उनके सामने कितनी ही प्रबल एवं अकात्य युक्तियाँ उपस्थित की जाएँ वे अपने हठको कभी नहीं छोड़ेंगे । इस प्रसंगमें मुझे एक महिलाकी कहानी आ गयी, जिसने अपनी

एक सखीको यह बचन दिया था कि यदि तुम मुझे निश्चय करा दो कि तुम जो कहती हो सो ठीक है तो मुझे उसके करनेमें कोई आपसि न होगी। उस सखीके चले जानेके बाद उसकी एक दूसरी सखीने उस महिलासे पूछा कि 'तुम अपने वचनको किसप्रकार पूरा कर सकोगी?' इसपर उस महिलाने उत्तर दिया कि 'वहिन, तुम समझती नहीं; जब मैं किसी सिद्धान्तको माननेके लिये तैयार ही नहीं हूँ तो फिर भला, कोई मुझे कैसे यह निश्चय करा सकता है कि उसकी बात ठीक है।' इस वर्गके लोग अध्यात्मिक दृष्टिसे उन नास्तिकोंकी अपेक्षा अधिक दयनीय एवं भयानक हैं जो वास्तवमें ईश्वरकी सत्ताको नहीं मानते। जिस भ्रम एवं अज्ञानके अन्धकारमें ये लोग पढ़े हुए हैं उसमेंसे इन्हें बाहर निकालना ग्रायः असम्भव-सा है। कठोरप्रश्नदूर्में ऐसे लोगोंका इसप्रकार वर्णन किया गया है—

अविद्यायमन्तरे वर्तमानः।

स्वयं चीराः पण्डितमन्यमानाः।

दन्तम्यमाणाः परियन्ति मूढा

अधेनैव नीयमाना यथान्वाः॥

(२।५)

अर्थात् मूर्ख लोग अन्धकारमें पढ़े रहनेपर भी अपनेको परिषद एवं बुद्धिमान् समझते हैं और अन्धेका अनुमरण करनेवाले अन्धोंकी भाँति उत्पथगामी हो जाते हैं, श्रीमद्भगवद्गीतामें भी लिखा है—

अङ्गश्चाप्रद्वनश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽर्थित न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(४।४०)

अर्थात् अज्ञानी (मूर्ख) अश्रद्धालु एवं संशयात्मा मनुष्य न इह जाता है, संशयात्माका न तो यह लोक बनता है और न परलोक और न कभी उसे सुख ही मिलता है।

सौभाग्यकी बात यह है कि इसप्रकारके लोगोंकी संख्या बहुत कम है।

एक सीमरा समुदाय और है जो नास्तिकबाद अथवा सन्देहबादकी अपेक्षा आस्तिकबादकी और अधिक मुका हुआ-सा है। इस समुदायके लोग कहनेको तो ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करते हैं, किन्तु वे भी सन्देहसे मुक्त नहीं

६६

हैं, इसीलिये उन्हें यह कहनेका साहस नहीं होता कि हम नास्तिक हैं या आस्तिक हैं और न वे इस पहेलीको सुलझानेकी ही आवश्यकता समझते हैं। उनकी स्थिति सन्देहबादियों एवं आस्तिकोंके बीचकी-सी है। वे धार्मिक कार्यों, उरसवों एवं अनुष्ठानादिमें भाग लेते हैं किन्तु यदि कोई उन्हें यह पूछे कि तुम ऐसा क्यों करते हो तो वे इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकते। वे जो कुछ भी करते हैं, मनसे नहीं करते, केवल लोकदिक्षादेके लिये करते हैं; अतः उन्हें यदि दर्शनिक भी कहा जाय तो कोई असुख न होगी। उनका विश्वास उनकी सुविधाके अनुसार प्रतिदिन बदलता रहता है, आज कुछ है तो कल कुछ और ही है। ऐसे लोगोंके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अनेककित्तिविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।

प्रसक्ताः काममोगेषु पतन्ति नरेऽशुचौ ॥

(१६।१६)

अर्थात् इसप्रकार अज्ञानसे विमोहित एवं अनेक प्रकारके विचारोंमें विभ्रान्त होकर, मोहजालमें फँसकर तथा अनेक कामनाओंकी पूर्तिमें दक्षिण्ठ होकर वे लोग घोर नरकमें गिरते हैं।

चौथे वर्गके वे लोग हैं जो ईश्वरकी सत्तामें विश्वास तो करते हैं किन्तु उसकी उपासनाकी आवश्यकता नहीं समझते। उनका यह कहना है कि कर्म ही उपासना है, इससे आगे जानेकी ज़रूरत नहीं है। उनके मतमें किसी पेसी अदर्श वस्तुके व्यानमें समय गँवाना व्यर्थ है जिसका न कोई रूप क्षीतिता है, न आकार और न जिसके स्वरूप-को कोई जानता ही है। परन्तु यह उनकी वडी भारी भूल है। इस भी यह अवश्य भानते हैं कि कर्म एक प्रकारकी उपासना ही है, किन्तु निरे कर्ममें ही काम नहीं चलता। ईश्वरसे प्रेम करना, उसकी प्रार्थना करना, उसके स्वरूपका व्यान करना और उसकी आज्ञाओंका विना किन्तु-परन्तु किये पालन करना यह मनुष्यका प्रयत्न कर्तव्य है। इसके बाद कौन्तिक कर्मकी बारी आती है। ईश्वरमें प्रेम करनेमें मनुष्य-मात्रके प्रति, जो उसीकी सन्तान हैं, प्रेमका भाव उत्पन्न एवं इव होता है और मनुष्य-जातिके प्रेममें ही कर्मकी पूर्णता होती है। ईश्वरके प्रेमसे अनुप्राणित होकर जो सेवा की जाती है वह सबी उपासनाका एक अत्यन्त आवश्यक अंग है। म० देवेन्द्रनाथ ठाकुर सदैव यह कहा करते थे—

तस्मिन् प्रीतिस्तदय प्रियकर्यसाधनं व्युपासना ।

अर्थात् ईश्वरके अन्दर प्रेम एवं उसकी हस्ताके अनुसार काम करना, यही सबी उपासना है ।

अन्तिम वर्गमें प्रायः आजकलके उन नवयुवकोंका समावेश होता है जिनकी संख्या तथा प्रभाव संसारभरमें तेजीके साथ बढ़ रहा है । ये लोग ईश्वरकी मत्ताको विष्टकुल नहीं मानकर केवल सांसारिक सुखको ही अपना ध्येय समझते हैं । ये अपने सर्वशक्तिमात्र रचयिताको मत्ताका निरोध ही नहीं करते, किन्तु यह समझते हैं कि ईश्वर एवं धर्म सम्बन्धिताकी प्रगतिमें सबसे अधिक बाधक हैं और इसलिये चाहे जिस तरहमें हो, उनका बहिष्कार ही करना चाहिये । इन्होंने ईश्वर और धर्मके क्षेत्रे तो देश-निकालको विभान कर ही दिया है, पर अब ये जनताको भ्रममें डालनेके अपराधमें सभी धर्मप्रिय मनुष्योंको भी दरड़ ढेना चाहते हैं । इनके इस भयानक भ्रममें, जो तेजीके साथ फैल रहा है, और ईश्वर-विरोधी आन्दोलनमें संमारकी बड़ी भारी हानि हो रही है । इसका परिणाम हमारे सर्वनाशके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? हमारे देशके नवयुवक भी बड़ी जल्दी इसके दृष्टिप्रभावमें प्रवृत्त हो रहे हैं, क्योंकि उन्हें ईश्वरके न माननेमें अधिक मुविदा प्रतीत हो रही है । उनका ईश्वर और धर्ममें विश्वास उटारा जा रहा है । ऐसी दशामें आध्यात्मिक साधनकी ओर न तो उनकी प्रवृत्ति ही होती है और न इस कार्यमें उनकी सुचि हो ही है । आज राजनीति ही उनका सर्वोपरि ध्येय एवं साध्य है और उनका विश्वास ही है कि राजनीतिके द्वारा ही इस मंसारका उदार कर सकेंगे । इस मृत्युलोकको ही उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र समझ रखा है, उन्हें अमर जीवन अध्यात्मिक विषयपर विचार करनेका अवकाश ही नहीं मिलता, सब पूछिये तो अध्यात्मवादमें उनका विश्वास ही नहीं है ।

भारतवर्षमें राजनीतिका अभाव रहा हो, सो बात नहीं है, भारतमें राजनीति थी पर वह पवित्र, आदम्बर-शून्य, जनसत्ताके सिद्धान्तके आधारपर स्थित थी । उसका आधार धर्म अर्थात् सत्य, न्याय एवं मदाचार था, ईश्वर उसका केन्द्र था । उसके अन्दर लोभ एवं परस्परापर-इरण्य, द्रेष पूर्व धृणा, कूटनीति एवं सार्थकान्वसाका सर्वथा अभाव था । राजा लोग प्रजा-प्रिय, राज-मान्य, पूर्त-वरित्र, चूर्णियों, मनीषियों, लिद्वानों एवं बदोषद पुरुषोंकी मन्त्रवाह-

से काम करते थे । दूसरोंका अहित करना उनकी प्रकृतिके विरुद्ध था, वे गौकी भाँति छाजु एवं अलपकारी होते थे । यही कारण था कि उन दिनों प्रजा बड़ी सुखी एवं समृष्टि थी । पाश्चात्य जगतमें प्रादुर्भूत हुई आजकलकी राजनीति संसारके आध्यात्मिक जीवनको नष्ट-अवृक्ष कर रही है, उसका आधार लोभ एवं सार्थकान्वसाका विरोधी बन रहा है । परिणाम यह हो रहा है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्यका खुँह बाये खड़ा है, चारों ओर अन्धाखुन्धी और अध्यवस्था फैल रही है, परम्परमें अविकास एवं धूलाके भाव जागृत हो रहे हैं और चारों ओर विपत्तिके बादल मँडरा रहे हैं । इसका कारण यह है कि आज जगत्के मनुष्योंमें दस तत्त्वका अभाव हो गया है, जो मानव-ममाजके अन्दर आत्माव उत्पन्नकर उन्हें एकताके सूत्रमें बाँध सके । इसके द्विना संसारमें शान्तिकी स्थापना निरा स्वप्न ही रहेगा । अभी कुछ लोग ऐसे बचे हुए हैं जिनका ईश्वरमें विश्वास हटा नहीं है । इसीमें अभीतक सर्वनाश नहीं हुआ है, राजनीतिके साथ-साथ आगमवर्लका भी प्रयोग करनेवाले लोगोंके कार्यक्षेत्रमें अलग हो जानेपर किरणाकी बचे हुए ईश्वर-विहीन राजनीतिज्ञोंके हाथों मानव-जातिकी जो दुर्दशा होती है, उसकी कल्पनामें ही इम कौप जाने हैं । ईश्वरकी इमपर आपार दया है, जिसके कारण इमलोगोंके अन्दर इन ईश्वर-विहीन राजनीतिज्ञोंकी हानिकारक चेष्टाओंका प्रतिरोध करनेके लिये अभीतक महाया गान्धी-जैसे कुछ लोग विद्यमान हैं ।

इत्ली-देशके उदारक मैजिनी (Mazzini) को आयुतिक राजनीतिका जन्मदाता कहा जा सकता है । वर्तमान जगत्के अधिकांश राजनीतिज्ञ एवं शासनन्वयनाओंको उसीमें प्रकाश मिला है । जगद्व्यापी राजनीति (world politics) एवं स्वदेशानुरागके इस महान् प्रवर्तकने इस मन्त्रवन्धमें जो दासें कही हैं उसका भाषान्तर पढ़िये—

‘धर्म जीवनका मनान, मुख्य एवं आध्यन्तर इंग है । वह मानव-जातिका प्राण है, उसकी आध्यात्मिक जीवन एवं प्रकाश है, उसका बाह्य लक्षण है । धर्मसे मनुष्यके विचार एवं आचरण पवित्र होते हैं; धर्म भ्रातुभाव एवं समाज-योगाके महान् तत्त्वको उदास बनाता है, उसकी साम्बन्धना करता है एवं दसे सुरक्षित रखता है । धर्मकी

भावनासे मेरा अभिप्राय उस असीम पवं अनन्तकी भावना, अज्ञात एवं अद्वयको प्राप्त करनेकी आकांक्षा, ईश्वरको हृषि के हारा समझनेकी आन्तरिक इच्छासे है जो प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें निहित रहती है और जिसका जीवनसे बनिट सम्बन्ध होता है ।

‘एक और तो आपको हम बातमें असन्तोष है कि आस्तिकवादका सर्वथा लोप हो गया थथवा हो रहा है, तथा मनुष्योंकी आरम्भ अहंकारके उपर उच्छ्वासोंसे बढ़ हो गयी हैं, और दूसरी ओर आप सब प्रकारकी आस्तिकतामें द्रेप करते हैं एवं अपने लेखोंहारा हस बातकी घोषणा करते हैं कि धर्म मर गया, उसके जीवनका अन्त हो गया, अब भविष्यमें जननाके लिये धार्मिक जीवनकी आवश्यकता नहीं रह गयी है ।’

‘आप हम बातपर आश्रय करते हैं कि लोग आरम्भलिदान एवं सहयोगके मार्गमें बहुत ही धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं और किर भी आप उनके लिये व्यक्तिव्यर्थक कार्यक्रमका विधान करते हैं । इसका परिणाम बिल्कुल उलटा होगा । हमें संगठनमें सहायता न मिलकर केवल मार्मिक्यमें सहायता मिलेगी । हमका विश्लेषण करनेपर पता लगेगा कि दार्शनिक मिद्दानोंकी आइये यह एक प्रकारका अहंकार ही है ।’

‘आप राष्ट्रका पुनर्स्वार करना चाहते हैं और साथ ही व्यक्तिगत नैतिक सुधार भी चाहते हैं, क्योंकि हमके द्विना राजनीतिक संगठन किसी कामका नहीं, पर माथ ही आप अपने कार्यक्रममें प्रत्येक धार्मिक भावनाका बहिष्कार करके सफलताकी आशा करते हैं ।’

‘राजनीति मनुष्यके अमली स्वरूप, उसकी वास्तविक स्थिति पवं चरित्रको स्वीकार करती है, वह उसकी प्रहृष्टियोंको निश्चित रूप देती है और उसके आवश्यको उन्होंके अनुसार बनाना चाहती है । धार्मिक भावनामें ही यह शक्ति है कि वह दोनोंको पलट सकती है ।’

इष्टमें कोई सन्देह नहीं कि हम समय देशके भिज्ज-भिज्ज राजनीतिक दलोंमें जो अव्यवस्था ईष्टोचर हो रही है, उसका कारण यह है कि उन्हें अभ्यासवालका आधार प्राप्त नहीं है । मैंजिनीका इस सिद्धान्तमें अटल विश्वामित्र कि राजनीतिक दलोंका पतन हो जाता है और उनकी

सत्ता भी भिट जाती है, किन्तु धार्मिक संघोंका तबतक अन्त नहीं होता जबतक उन्हें विजय प्राप्त नहीं हो जाती । जिन सोगोंका धर्म एवं ईश्वरमें विश्वास नहीं है वे हम बातको नहीं समझ सकते कि प्रत्येक चेष्टाका सञ्चालन ईश्वरके विधानके अनुसार होता है और मनुष्यको केवल ईश्वरके विधानमें सहायता करनेमरकी ही स्वतन्त्रता है । वे यह भी नहीं समझ सकते कि जिस मार्गमें आस्तिक लोग अपने लक्ष्यकी ओर जाते हैं, एक सर्वोपरि शक्ति उस मार्गकी रक्षा करती है, अतपि वे ईश्वरके बल पवं माहात्म्य-को प्राप्तकर निर्भय हो जाते हैं ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि समयके प्रभाव पवं संसारके दोपसे आजकलका धर्म जीर्ण एवं विकृत हो गया । यही कारण हो सकता है कि बहुत-से लोग उसमें दूर भागते हैं । परन्तु धर्मका विलकुल बहिष्कार कर देनेमें कोई लाभ नहीं होगा, आवश्यकता है उसकी वृद्धियोंको सुधारकर उसे बन्दमान परिस्थितिके अनुकूल बनानेकी । धर्मसे बुराहयोंको अवश्य निकालो, किन्तु अपने जीवनके इस अमृत्यु हीरेको कूदमें मत फेंक दो । जंग चढ़ी हुई तलबार देलनमें चाहे निकम्मी जान पड़े किन्तु उसे यदि साफ करके शानपर चढ़वा जैं तो फिर वह लूप काम देने लगेगी ।

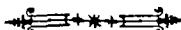
अन्तमें हम अपने व्यक्तिगत जीवनकी कुछ घटनाओं-का उल्लेख करेंगे । हमने बचपनमें ही ईश्वरकी दया पवं सहायताका कई बार अनुभव किया है, जिससे हमें ईश्वरके अस्तित्वका ही पूर्णरूपमें निश्चय नहीं हुआ किन्तु उनकी दयालुतासे भी प्रत्येक ऐसे अवसरपर हमारा विश्वास उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया । प्रभुने हमारी विपत्तिये रक्षा की, किसी प्रकारका आश्रय न होनेपर आश्रय दिया, असहाय अवस्थामें हमें लानेको अच दिया, जंगली वाघके पंजोंमें पवं विषधर मर्पके काटनेमें बचाया, भयंकर तूफानमें हमारी रक्षा की, ढाकुओं तथा हस्तारोंके हाथोंमें हमें छुकाया । यह सब घटनाएँ अनोखे ठंगमें हुहं ! हम उपर्युक्त घटनाओंका सवित्रर वर्णन नहीं करना चाहते, किन्तु हम यह बतला देना चाहते हैं कि हमने अपने व्यक्तिगत जीवनकी हन घटनाओंमें ईश्वरकी अपार दया पवं अमित उपकारका अनुभव किया ।

ईश्वरका स्वप्नस्पष्टमें साक्षात्कार करनेके लिये साधन पवं तपकी आवश्यकता है । साधन जितना तीव्र होगा,

हमारे अन्तर्दृष्टि भी उतनी ही विमल होती जायगी। अन्तर्दृष्टि के अतिरिक्त ईश्वरको जानने परं उनका साक्षात्कार करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है।

हमारी बड़ी प्रबल इच्छा है कि हमारे नवयुवक मित्र इस बातको समझकर इसीके अनुसार अपना आचरण

बना लें। दुःखग्रस्त मानव-जातिकी रक्षाका एकमात्र उपाय यह है कि इमलोग सर्वतोभावेन उन दीन-जनोद्धारककी शरण हो जायें और अकिं एवं अद्वाके साथ उसीकी आशानुसार कर्म करें, क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त मानव-जातिका उद्धारक और कोई नहीं है।



ईश्वर-प्रार्थनासे लाभ

(लेखकः—वहिन श्रीकमलावतीजी पाण्डेय)



म जगज्जियन्ता, सर्वव्यापी, जगदीश्वरकी नियमपूर्वक नियम प्रार्थना तथा हर व्यक्ति उसका सम्मेव सरण करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य होना चाहिये। भगवान्की प्रार्थनामें जो लाभ और आनन्द होता है उसका सम्पूर्ण वर्णन निर्जीव लेखनीद्वारा असम्भव जान पड़ता है। ईश्वर-प्रार्थनामें प्राप्त परम आनन्दको प्रार्थना करनेवाले ही अथवा कोई भाव्यावान प्रार्थनाप्रेमी जन ही जान सकते हैं। अब प्रार्थनामें हीनेवाले कुछ कल नीचे लिखे जाते हैं। प्रार्थनामें अनन्त लाभ होते हैं, जो प्रेमी जितने गहरेर्में उत्तरता है, वह उन्ने हीं अधिक लाभ उठा सकता है।

ईश्वर-प्रार्थनामें तीन प्रकारके लाभ

कायिक-१—प्रार्थना करने समय मुख्य प्रसन्न अनुपम आभा तथा गम्भीरता आती है।

२—शरीर हुदृ, नेजवान, मुखश्री गम्भीर, कान्तिशुक तथा सदैव प्रसन्न रहती है।

वाचिक-३—वाणीमें सम्यता, मधुरता एवं कोमलता-का निवास होता है।

मानसिक-४—ईश्वरकी नियमपूर्वक प्रार्थना करनेमें उसके प्रति प्रेम, अद्वा, विश्वास और निजात्व उत्पन्न होता है।

५—निष्ठ्य-स्मरणके कल-स्वरूप, मनुष्यका चञ्चल चित्त शनैः-शनैः एकाग्र होता जाता है।

६—प्रार्थनामें अन्तज्योति जाग्रत् होती है जो उसको प्रत्येक समय, प्रत्येक कार्यमें सम्पूर्ण द्रिखाकर उसपर चलनेका आदेश देती है।

७—प्रार्थनासे छहों विकार धीरे-धीरे घटने जाने हैं।

८—हृदयमें पवित्र भावना, उष्ण विचार एवं मात्स्यिक गुणोंकी वृद्धि होती है।

९—प्रार्थना अपने मनोनुकूल कई प्रकारकी होती है, ईश-गुण-गानके साथ ही मनुष्य अपने मनोभावोंको भी प्रकट करता है, प्रायः विकार-शमनकी ही भावना प्रधान रहती है।

१०—ईश-गुण-गान करने समय चित्त प्रसन्न, एवं अभ्य हो जाता है, जान पढ़ता है कि स्वयं जगदीश सम्मुख होकर उसे अभ्य-दान दे रहे हैं, इसमें उसको बढ़ा बढ़ा प्राप्त होता है।

११—हृदयमें शान्ति, सम्मोह, समा, दया आदि सम्मुख उद्य होने हैं।

१२—उस समय जो आनन्द होता है वह वर्णनातीत है, हृदयमें जो रम-धारा प्रवाहित होती है, उसे हृदय सो पान करता ही है—प्रायः सभी ईन्द्रियाँ सम्मय होकर शान्ति-लाभ करती हैं।

ईश्वर और उसका नाम

(लेखक—हरिमन्त्रिपरगयण श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)



मी विवेकानन्दका एक बार हंगलैशडमें स्वाध्यान हुआ और उसे सुनकर वहाँके बड़े-बड़े विद्वान् आश्र्यार्थित हो उठे। ईश्वरीय भावनाका एक नवीन प्रकाश उनकी आँखोंके सामने आया और उनमें बहुतेरे लोग स्वामीजीके विष्य भी बन गये। ईश्वरीय तत्त्व-के सम्बन्धमें ही उनका स्वाध्यान होनेके कारण, उनके श्रोताओंमें एक गृहस्थने प्रो० मैंकम्मलरकी 'ईश्वरसिद्धि' समझन्ही एक बड़ी पुनरक उनको दिखलायी। इस पुनरके दिखलानेमें उमका हेतु यह था कि स्वामीजी यह जानकर चकित हो कि ईश्वरीय तत्त्वपर विचार करनेवाले पुरुष हंगलैशडमें भी हैं। परन्तु स्वामीजी उस पुनरको देख ईसकर बोले कि 'मैंकम्मलरने हतानी बड़ी पुनरक लिखकर यही सिद्ध किया है कि ईश्वर है, किन्तु हमारे हिन्दुमानमें इस शातको एक गंवार कियान भी जानता है' इस उत्तरको सुनकर वह मनुष्य भन-ही-भन लजित हो गया।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य भौतिक शास्त्रोंके अध्यासमें जैसे-जैसे विद्वान् होता जाता है वैसे-ही-वैसे उसमें अभिमान बढ़ता जाता है और अभिमानके बढ़नेमें मनुष्यमें स्वाभाविक भावका (अभिनकनाका) 'अभाव' हो जाता है। उस अभावको मिटानेके लिये विद्वान् गुरुको बड़े-बड़े प्रवचन करने पड़ते हैं और स्वण्डन-मरणदातारथक अन्योंकी रचना करनी पड़ती है। अविद्वान् और भोक्ते-भाले पुरुषमें इस अभावका विष नहीं होता अतः उनकी सिद्धिकी भावनाको उचित प्रकारसे बढ़ाकर पूर्णताको पहुँचानेमें गुरुको अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। यही कारण है कि भोक्ते-भाले लोग ही शीघ्र तरने हैं। ऐसा साधु-सन्तोंका अनुभवपूर्ण कथन है।

यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि इसप्रकारका भोक्तापन सदा अच्छा ही होता है, उसी प्रकार सदा संशयकाही और अस्यम सर्किक बने रहना भी कभी अच्छा नहीं होता। हमारे धर्मग्राण भारतमें पाश्चात्य शिल्प-के द्वारा इस ईश्वरीय भावनाके अभावकी इवा कैल रही

है। इस जहरीली इवाके प्रभावमें यहाँकी जनताको बचाने-के लिये ईश्वर-तत्त्वज्ञ सज्जन पुरुषोंका कल्याणके 'ईश्वरांक' के समान प्रथ्य-निर्माण करना आवश्यक हो गया है; यह भारतका दुर्भाग्य है या सौभाग्य, इसका निश्चय करना कठिन है। परन्तु शरीरमें रोग हो गया है, यह एक बार निश्चय हो जानेपर उसके निवारण करनेके लिये उपाय करना अपरिहार्य हो जाता है। कल्याण-मम्पाइकने जो यह महाप्रयत्नकी योजना की है, वह उनकी परम कारुणिकता है। मुझे विश्वास है कि परम करुणामय परमात्मा उनको इस प्रयत्नके लिये अवश्य ही परम उज्ज्वल यश देंगे।

ईश्वर-गुणानुवादसे विमुख कौन होता है ?

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

निवृत्तपूरुषपरीयमानाद-

भवौषधाच्छ्रुतमनोभिरामात् ।

क उत्तमसूक्ष्मगुणानुवादात्

पुमान्दिरञ्जयत विना पशुपात् ॥

(६०११५)

सांसारिक विषयोंमें तथा हीन पुरुष जिसका गुणान करते हैं, जिसका गुणगान संसाररूपी महारोगकी उचम प्रोप्रिति है, तथा जिसके गुणोंका श्रवण मनको अभिरक्षित करता है, हस्यार्थके स्विवा कौन-सा पुरुष है जो उस पुरुषोंतमें गुणानुवादसे विमुख हो सकता है? अर्थात् कोई नहीं। जो भगवन्-गुणानुवादसे विमुख होता है, उसे गो (पशु) बाटी कसाई समझनेमें कोई भी हर्ज नहीं।

प्रकृतिक गुण और भगवद्गुण

शास्त्रोंमें प्रकृतिके तीन ही गुण कहे गये हैं। परन्तु भगवान्के गुण अमित हैं। प्रकृतिके यह तीनों गुण (सत्त्व, रज और तम) मिलित और बन्धनकारक हैं, परन्तु भगवान्के गुण इसके विपरीत 'द्रिव्य' और भव-बन्धनको छुड़ानेवाले हैं। प्रकृतिके गुण दोप्रयोग स्यास और परिमित हैं। भगवान् 'निर्दोषानन्तकल्याणगुणगणपरिपूर्ण' है। पृथ्वीके रजकर्ताओंको किसी समयतक गिन लेना सम्भव हो सकता है, परन्तु भगवान्के गुणोंकी गिनती कोई भी

कभी नहीं कर सकता । जो भगवद्गुणोंकी गणना करनेको
सैयार होता है, उसे बाल-बुद्धि या मूर्ख ही समझना चाहिये ।

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्
अनन्तस्मिष्पन् स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमरणेयत्कथित्
कालन् नैवलिनशोकवाचः ॥
(श्रीमद्भा० ११।४।२)

एक गूलरके पेडपर हजारों गूलरके फल होते हैं और
ऐसे गूलरके बृह शृंखलीपर हजारों होते हैं, इसी प्रकार
ईश्वरके शरीरमें अनन्त ब्रह्मारण समाये हुए होते हैं ।

कठोरोऽव्याप्तिं ब्रह्माण्डं जिसके पृष्ठ रोमरन्ध्र अर्थात् पृष्ठ
अंशमें शिख है उस परमेश्वरके महत्ता अल्पबुद्धिके
मनुष्यकी समझमें कैसे आ सकती है? श्रीमद्भागवतमें वरस्म-
हरण्यके प्रसंगमें सुष्टुकर्त्ता श्रीब्रह्माजीने भगवानकी स्मृति
करते हुए कहा है—

काह तमोमहदहं सच्चराप्रिवार्भु-
संवेष्टिष्ठवृष्टसप्तवितीक्षायः ।
कंदाप्रवापा विगणिताप्पराणुच्छयां
भाताच्चरेमाविवरस्य च ते महित्वम् ॥

तात्पर्य वह है कि परमेश्वर अनन्तरूप है । उनकी
अनन्तताका चिन्तन करनेमें चित्त फटकर गल जाता है;
अत्यधेतस् पुरुषका यह काम नहीं है । जैसे परमात्मा
असीम है, वैसे ही उनके गुण भी अनन्त हैं, तथा उनकी
शक्ति भी अनन्त (अपरिमित) है । जगत्के उद्धारके
लिये उस दयालु परमात्माने जिस त्रिष्य अवतार-शरीरको
धारण करके त्रिष्यलीला की है जो मनुष्य उमे जानकर उसका
गुण-गान करेगा वह जन्म-कर्मके बन्धनमें मुक्त हो जायगा ।

अवतार-महिमा

परमेश्वरकी शक्ति 'अव्याप्तनापटीयसी' है । कोई
भी उसका पाप नहीं पा सकता । उसी शक्तिमें वह हम
भूमण्डलपर प्रकट होता है । उसके जन्म (अर्थात् अवतार-
रूपमें प्रकट होना) और कर्म 'त्रिष्य' होते हैं । उपर-
के कथनानुसार भगवानके उन त्रिष्य जन्म-कर्मोंको जानने-
वाला पुरुष अपने भलिन जन्म-कर्मसे मुक्त हो जाता है ।

भगवानके जन्म और कर्म त्रिष्य होते हैं, प्राकृत
लोगोंके अनुसार नहीं होते । जो उन्हें समझ लेता है वह

मुक्त हो जाता है, ऐसा श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है ।
इसपर यदि कोई कहे कि 'मुक्ति तो ज्ञानके द्वारा होती है,
फिर भगवानके द्विष्य जन्म और कर्मोंको जाननेसे विशेष
लाभ क्या है ? इसका उत्तर यह है कि निर्गुणोपासकको
आत्मज्ञानके प्राप्त करनेमें अस्त्यन्त प्रभकी आवश्यकता पड़ती
है, परन्तु सगुणोपासको अपमके बिना ही परमगतिकी
प्राप्ति होती है, यही इसका विशेष लाभ है । यदि कोई पूछे कि
ज्ञान हो जानेपर सगुणोपासनाकी क्या आवश्यकता है ?
इसका उत्तर यह है कि ज्ञानके परिपाकके लिये सगुणोपासना-
की अस्त्यन्त आवश्यकता है, इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखना
चाहिये । पञ्चमहाभूतोंको भगवानने जीवोंके कर्मबन्धनके
लिये अपनी कल्पनासे उत्पन्न किया है । ऐसे (बन्धनात्मक)
देहोंमें भगवानके अवतार-देहकी महिमा नहीं आ सकती ।
अविद्यामें कर्म करनेवाले जीवको पञ्चभूतात्मक देह धारण
करना पड़ता है, क्योंकि पञ्चभूतात्मक कल्पनामें भगवानका
अनादि मंकल्प ही वैसा होता है । अवश्य ही पञ्चभूत भी
भगवानकी कल्पना है और अवतार-देह भी भगवानकी
कल्पना है । परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है । दोहों भी लोहेकी
होती है और उसके तोड़नेका शब्द भी लोहेका होता है
तथा दोनों बन्तुएँ लोहारकी कल्पनामें उत्पन्न होती हैं,
किन्तु पहली बन्तु बन्धनकारक और दूसरी सुक्रियद होती
है । इसी प्रकार अविद्याके द्वारा जीवके पञ्चभूतात्मक अन्तु
शरीरको धारणकर नर-देहमें नाना प्रकारके कर्मोंको करते
हुए उनके फलको भोगना भी भगवानकी कल्पना है और
सञ्चित-कियमाण कर्मोंके माध्य जीवोंकी अविद्याके नाश
करनेका सकल्य करके अवतार-देह धारण करना भी
सञ्चिदानन्द भगवानकी ही कल्पना है । दोनों ही
कल्पनाएँ भगवानकी हैं, परन्तु भगवान्यकल्पके अनुसार
पाञ्चभूतिक देह बन्धनकारक है और अवतार-देह कर्म-
बन्धनमें सुधानेवाला है । जीवोंके देह 'पाञ्चभूतिक' तथा
अवतार-देह 'शुद्ध सच्चामक' होते हैं । दोनोंमें अमावश्या
और पूर्णिमा, एवं कीयले और हीरेके सदृश अन्तर होता
है । इसी कारण भगवानका अवतार-देह मानव-देहधारी
जीवोंके लिये निरन्तर मेघ होता है । ईश्वरके अनन्त
अपार व्यापक म्बूद्धिकी उपासना साधारण बुद्धिके मनुष्य-

॥ जन्म कर्म च मे दिव्यंवं यो वेणि तस्ततः ॥

त्यक्तवा देह पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽनुज्ञनः ॥

(गीता ४।९)

के किये तुक्कर और असम्भव है। इसलिये उन्हें अवतार-शरीरकी ही उपासना करना चाह्य है। इस विषयमें स्वामी विवेकानन्द भगवद्गीताके अनुसार कहते हैं—॥

‘भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि, ‘जब-जब धर्मका द्वास होता है और अधर्म बढ़ने लगता है, (तब-तब) मैं मानव-जातिकी रक्षाके लिये आता (अवतार लेता) हूँ। मुझ लोग, जो यह नहीं जानते कि मुझ सर्वशक्तिमान् और सर्वध्यापक जगन्नियन्सा परमात्माने ही मानव-रूप धारण किया है, मेरी अवज्ञा करते हैं तथा मुझमें सन्देह करते हैं। उनकी तुक्की आसुरी अज्ञानमें भ्रान्त हुई होती है, हमीलिये वे भगवान् श्रीकृष्णमें जगत्-प्रभुके रूपको नहीं देख सकते। भगवानके ये महान् अवतार पूजनीय हैं, यही नहीं, उनकी पूजा अनन्य भावमें होनी चाहिये।

मुहान्ते श्यामदादयः

निर्गुण रूप मुत्तम अति सुगुण न जाने कोय ।
(तुलसीदासजी)

भगवानके ‘अवाहू-मनसगोचर’ निर्गुण स्वरूपको जान लेना महज है, परन्तु उनके सगुण अवतार-तत्त्वको जानना कठिन है। जगतमें जब धर्मकी गति होती है तथा अधर्मका अध्युत्थान होता है अर्थात् जगतमें सुख-स्वास्थ्यके नियमोंमें स्पतिक्रम होकर दृष्टोंके प्रावल्यमें जहाँ-तहाँ दुःख-दौमनस्यकी धृद्धि हो जाती है, उस समय उसके निवारण करनेकी शक्ति किसी भी मनुष्यमें नहीं रहती, चाहे वह सौकिक इष्टिसे महा बलवान्, भावं भौम मत्ताधीश अथवा पारमार्थिक इष्टिसे महासाधु, जीवन्मुक्त एवं महान् तपस्वी ही वर्यों न हो। तेसी अवस्थामें परमेश्वरी-शक्तिकी ही अपेक्षा होती है। अशिष्ट-विश्वामित्रके समान महातपस्सी ब्रह्मज्ञानी

* ‘Whenever virtue subsides and immortality prevails, I come to help mankind’ Says Krishna, “Fools not knowing that I, the omnipotent and omnipresent God of the Universe, have taken this human form, deride me and think how that can be.” Their minds have been clouded by demo iacat ignorance, so they cannot see in Him the Lord of the Universe. These great incarnations of God are to be worshipped. Not only so, they alone can be worshipped.’

और ब्रह्मनिष्ठ पुरुष भी जगत्के कल्याणके लिये परमात्माकी अवतार-शक्तिकी सहायता चाहते हैं और उसके लिये अनन्य भावसे प्रार्थना करके भगवान्को अवतरित कराते हैं। सृष्टिके अन्तर्गत रहनेवाले तात्पात्रिमानी देवता भी अवतार लेनेके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करते हैं। श्रेष्ठ भक्तोंकी प्रार्थनामें ऐसी शक्ति होती है, जो भगवान्को निर्गुण निजानन्दस्वरूपमें बाहर लाकर सुगुण बनानन्दस्वरूप धारण करनेके लिये बाध्य करती है। भक्तोंकी यह प्रसिद्ध है कि ‘हम भगवान्को निराकार न रहने देंगे, उसे साकार-रूप धारण करायेंगे।’

भगवान् सर्वज्ञ हैं; श्रेष्ठ भक्त प्रार्थना करते हैं, परन्तु किस सुगुण, किस कार्यके लिये, किस रूपमें अवतार धारण करना होगा यह निश्चय करना भगवान्के ही हाथकी बात है और उस निश्चयके अनुसार ही भगवान् अवताररूपमें प्रकट होते हैं। परन्तु वृत्तिपर अवताररूपमें प्रकट होनेपर भी भगवान्को पहचान लेना सहज बात नहीं। इस विषयमें वडे-वडे ब्रह्मज्ञानी पुरुष भी कभी-कभी चक्षर-में पढ़ जाते हैं। अधिक क्या दिय इष्टिवाले देवोंके राजा इन्द्र और देवश्रेष्ठ ब्रह्मजी भी भगवान् श्रीकृष्णके अवताररूपको न जान सके, यह बात प्रमिद ही है। ‘मुहान्ते श्यामदादयः’ अर्थात् हमारे समान लोग भी मोहको प्राप्त होते हैं, गर्व छोड़कर स्वयं ब्रह्मजी जब यह स्वीकार करते हैं तो औरोंकी तो बात ही क्या है ?

जीवोंके देह और अवतार-देह

जीवोंके शरीर ‘कर्म-देह’ और भगवान्के अवतार-शरीर ‘लीला-देह’ हैं। अवतार-देहोंको ‘लीला-नतु’ और ‘लीला-विग्रह’ भी कहते हैं। इसमें ‘लीला’ शब्दसे स्वेच्छा ध्वनित होती है। जीव अपनी इष्टिसे देह धारण नहीं कर सकते, क्योंकि जीव कर्मधीन है, उन्हें कर्मोंके अनुसार विभिन्न योनियोंमें विभिन्न प्रकारके देह मिलते हैं। परमेश्वरके विषयमें ऐसी बात नहीं, वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परापर पुरुष हैं और अपनी इष्टिके अनुसार जैसा चाहिये वैसा देह धारण कर सकते हैं। देह धारण करनेमें तथा उस देहद्वारा नाना प्रकार-के कर्म करनेमें भगवान्का अपना कोई स्वर्य नहीं होता। उनका देह धारण करना तथा कर्म करना केवल जगत्के कल्याणके लिये होता है। इसीलिये उनकी ‘दिव्य’ संज्ञा

* देहा हाता रूप धर्वा प्राकार। नेतृ निराकार होऊ त्यासी ॥
(द्वाराम)

है। भगवान्‌ने स्वयमेव कहा है कि—‘जन्म कर्म च मे विष्वम्’ तार्थर्यां यह है कि भगवान्‌के जन्म-कर्म ‘दिव्य’ और जीवों-के जन्म-कर्म ‘भलिन’ होते हैं। मालिन जन्म-कर्मका नाम विष्व जन्म-कर्मके ज्ञान और उपासनासे होता है, यह स्वाभाविक ही है। श्रीशुकदेवजी तथा वामदेव-सरीखे महासुख पुरुष भी भगवान्‌की संगण लीलाके स्वरूपोंप्रेरणार्थक भजते हैं। राजसूय-पश्चके समय धर्मराज युधिष्ठिर महाराज-के यहाँ उठायी हुई जूटे पतलोंके अशक्याको महामुनियोंने पश्चीरूपमें आकर स्त्राया था, यह बात प्रसिद्ध ही है। गोकुलमें गोपबालोंके बन-भोजनके प्रसंगमें इन्द्र आदि देवता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके हाथ तथा मुखकी जँठन पानेकी अभिकाषापासे यमुनामें मछलियाँ बनकर आये थे, यह भी प्रसिद्ध ही है। श्रुति भी कहती है—

‘यं सर्वे देवा नामन्त मुमुक्षु ब्रह्मविदिनश्च’

ईश्वर सामर्थ्यवान् हैं, इसलिये सब देवता उन्हें नमस्कार करते हैं, मुमुक्षु पुरुष ज्ञानी प्राप्तिके लिये उनको भजते हैं और ज्ञानी पुरुष केवल प्रभके लिये उनकी भक्ति करते हैं। ऐसा श्रीगुलावराय महाराज अपने योग-प्रभाव नामक ग्रन्थमें कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्झन्या अत्युरुक्षं ।

कुर्वन्यहैतुकीं भक्ति इत्यंभूतुगुणो हरिः ॥

अर्थात् अपरोक्ष ज्ञानी लोग, आरम्भकीड़ा, आत्मरति करनेवाले महापुरुष, जिनको संसारमें कोई कार्य करना द्वेष नहीं है ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष भी उन उत्कृष्ट भगवान्-की अहंतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि वह संगण श्रीहरि ऐसे ही (विष्व) गुणसम्पन्न हैं। आत्मज्ञान-आत्मसाक्षात्कार, या प्रक्षेपण-प्रक्षसाक्षात्कार होनेके अनन्तर ही प्रेमा भक्ति-का अधिकार प्राप्त होता है, इसीको पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं। मुक्तिके उपरान्त—ज्ञानके उपरान्त भक्ति होती है, ये बातें शास्त्रोद्घारा तथा सन्तोंके मुखमें बारम्बार सुननेमें आती हैं। इससे जिज्ञासु पुरुषोंको भगवान्‌के अवतार-देहका महत्व ध्यानमें आये बिना नहीं रह सकता।

भगवान्नाम गुणार्थबोधक और भगवद्दूप ही है

भगवान्‌के गुण अनन्त हैं, वैसे ही उनके नाम भी अनन्त हैं। क्योंकि उनके समस्त नाम गुण और प्रभावके द्वारा तय हैं। भगवान् नित्य है, अतः उनकी गुणलीला और नाम भी नित्य है। ‘अभिज्ञत्वात्तामनामिनोः’ अर्थात्

नाम और नामीमें अभिज्ञता होनेके कारण भगवान्‌के रूप-में जो गुण होते हैं वे ही गुण उनके नाममें भी होते हैं, इसका अनुभव नाम-प्रेमी सन्त ही जानते हैं।

नामित्वात्मामणिः कृष्णचैतन्यरसविग्रहः ।

पूर्णशुद्धो नित्यमुकोऽभिज्ञत्वात्तामनामिनोः ॥

श्रीकृष्ण जैसे विज्ञानायस्वरूप, वैतन्यरसकी मूर्ति, पूर्ण, शुद्ध और नित्यमुक्त हैं, उसी प्रकार उनका नाम भी तत्स्वरूप अर्थात् नामीसे अभिज्ञ होनेके कारण उनके सब गुणोंमें युक्त है। श्रीगीरींग महाप्रभु कहते हैं—

नामामकरि बहुधा निजसर्वशक्ति-

स्त्रिविप्तिं नियमितः स्वरणे न कालः ॥

व्यवहारमें वास्त्यचाचकका अभेद नहीं होता। ‘अभिः’ शब्द और अभिप्राय एक नहीं। यदि एक होते तो अभिकहनेके साथ ही मुँह जल जाता। उसी प्रकार ‘गाय’ शब्द और गाय वस्तु, तथा ‘जल’ शब्द और जल वस्तु भिन्न-भिन्न हैं। कोई-कोई आलसी और अज्ञानी पुरुष व्यावहारिक इष्टान्त देकर ऐसा कहते हैं कि जिसप्रकार सिर दर्द करते तो सोंठ विस्कर उसका लेप करना चाहिये, सौंठ-सौंठ कहनेसे दर्द तूर नहीं होता; तथा भूख लगनेपर अज्ञ खाना चाहिये, अज्ञ-अज्ञ कहनेसे पेट नहीं भर सकता। उसी प्रकार केवल ‘राम-राम’ या ‘हरि-हरि’ कहनेसे क्या लाभ होगा? परन्तु उन लोगोंको यह ज्ञात नहीं कि भाँतिक पदार्थमें और उनके नाममें वढ़ी भिजता होती है, परन्तु भगवान्‌में और उनके नाममें अभौतिकता होनेके कारण कुछ भी भिजता नहीं होती, यह शास्त्रोंका सिद्धान्त और सन्तोंका अनुभव है। इसलिये इसपर विश्वास करके अहंर्निंश भगवान्नाम-चिन्तनमें रत रहना चाहिये। भगवान्नाम-स्वेदः यह तत्त्व भनुव्यके हृदयंगम हो सकता है।

भगवान्‌का साकार विश्राव नित्य रहता है, ऐसा प्रत्यय होनेपर उस विश्रावका नाम भी नित्य रह सकता है यह प्रत्यय होना चाहिये। क्योंकि ‘आकृतिभिश्च शब्दान्तरं सम्बन्धो न व्यक्तिभिः।’ अर्थात् शब्दोंका सम्बन्ध शब्दोंके द्वारा सांकेतिक आकृतिसे ही होता है, व्यक्तिसे नहीं;

ऐसा भगवान् शंकराचार्यका कहना है। घट कहनेसे उसका अर्थ घट-विदोष न होकर घटाकार क्षत्रु ही होता है व्यक्तिसे नहीं। यावत् अविद्या जातिके नियम होनेके कारण जिसप्रकार सब व्यावहारिक शब्द और उनके यात्यर्थ यावत् अविद्या नियम होते हैं, उसी प्रकार भगवद्गिरह, विषावृत्तिसे जानेयोग्य साकार होनेके कारण यावहिद्या भगवान्नाम और भगवद्ग्रूप नियम हैं, शब्द और अर्थका नियम सम्बन्ध होनेके कारण भगवान्नाममें धारणा स्थिर होते ही रूपमें भी नामके साथ ही धारणा स्थिर हो जाती है। साधनाकी पूर्वावस्थामें कोई भी एक धारणा होनेपर, दूसरीका उसमें अन्तर्भूत होता ही है, उसके लिये स्वतन्त्र प्रयत्न करना नहीं होता, यह प्रत्ययमें आता है। श्रीनुलसीदासजी भी कहते हैं—

समुक्षत सरस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी ॥
तस्म रूप दोउ ईश उपाधी। अकथ अनादि सुनामुक्ष सधी ॥

नामोच्चारण और नाम-स्परण

भगवान् जिसप्रकार भव-सम्बन्धनसे मुक्त करनेवाले और भक्तोंको निजात्म-सुख देनेवाले हैं, उसी प्रकार उनका नाम भी उनके गुण और शक्तिसे पूर्ण है।

‘अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षिधिष्ठामि मा शुचः ॥’

भगवान्नकी यह ग्रन्थिका और शक्ति उनके नाममें भी है। भगवान्के नाममें पाप-हरण करनेकी जितनी शक्ति है, उतना पाप संसारमें कोई भी नहीं कर सकता, ऐसा उसका विरद्ध है। सब पापोंका नाश और मोक्षपर्यन्त समस्त कामनाओंकी मिलि प्रदान करनेकी शक्ति नाममें है। परन्तु उसका यथार्थ मेवन होना चाहिये। नाम-सेवनके विषयमें कल्याणके पाठकोंको कोई नवी बात कहनेके लिये रह गयी है ऐसा सुझे नहीं जान पड़ता। तथापि सम्पादकीकी आशाके अनुसार, तथा अपना प्रिय किष्ट द्वारा देनेके कारण मैंने यथामति कुछ लिखा है। सुझे आशा है कि सज्जन पाठकोंको वह चर्चित-चर्चण न जान पड़ेगा तथा जिसप्रकार नीरोग मनुष्यको पिछुले दिनके भोजनके पदार्थ पुनः आब भी बने तो मधुर ही जारीगे, उसी प्रकार उन्हें यह विषय भी मधुर ही जान पड़ेगा। इसमें जो व्यूनता हो उसे पूर्ण कर लेनेमें सज्जन पाठक समर्थ हैं।

भगवद्ग्रामी सभा मुक्तिके अनेकों साधन हैं और यह

अनेकता नाना प्रकारकी प्रकृतिके लोगोंके लिये उपलब्ध हुई है और यह स्वाभाविक ही है।

‘कर्मणैव हि संसद्दिमास्थिता जनकादयः ।’—गीता

‘योगेनैवाप्यते परम्’—ग्रन्थवत्त्वय ।

‘शानामिः सर्वेकमाणि भस्मसात्कुर्ते तथा ।’

‘सर्वे इतामृद्वैव वृजिनं सतीरिष्यसि ।’—गीता

‘कावेरीतोयमात्रियं वातो यत्र प्रवर्तते ।

तदेवशासिनां मुक्तिः किम् ततीरवासिनाम् ॥’—ग्रन्थपुराण

‘चौर्येण वा शङ्करसेवया वा

शातोदरी सङ्कमदाम्तुर्या वा ।

पुंसां उमित्वा पुनरेक रवं

मध्याञ्जुने नास्ति शरीरवन्धः ॥’

—मध्याञ्जुनामाहात्म्य

काश्यां मरणान्मुक्तिः

—काशीमाहात्म्य

इत्यपकार कर्म, योग, ज्ञान, कावेरी-स्नान, काशी-मरण, सुक्षेत्रवास इत्यादि अनेक माध्यन मुक्तिप्राप्तिके लिये कहे गये हैं, तब फिर नाम-संकीर्तनरूपी माध्यनकी ही विषयका करनेकी क्या आवश्यकता है, ऐसा प्रश्न पूछा जा सकता है। इसका उत्तर यही है कि—

ज्ञान-मार्गमें ‘क्षे शोऽधिकतरस्तेयां’ इस भगवद्गीतके अनुसार अर्थन्त लेश होता है; योग-मार्गमें ‘सुदुश्रेमिमां मन्ये’ इस भगवत्-वचनके अनुसार वढ़ी कठिनता होती है; ‘गहना कर्मणो गतिः’ इस वचनके अनुसार कर्म-मार्ग अर्थन्त दुःखनक होता है; ‘कावेरीतोयमात्रिय’ इस वचनमें मुक्तिकी परम्परागत साधना अर्थात् अर्थवाद निहित है; इसी प्रकार काशी-मरण प्रभृति अनेक साधन प्रायः श्रमसाध्य ही सिद्ध होते हैं; परन्तु नाम-संकीर्तन वैसा श्रमसाध्य नहीं है, यह तो अनाद्यास्साध्य—सुखसाध्य है, इसलिये इसे निरोप और सब साधनोंका राजा कहते हैं। श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—

‘नाम-संकीर्तन यथापि सुगम साधन है, तथापि वह जन्म-जन्मान्तरके पापोंको दूर कर डालता है। नाम-संकीर्तनमें कोई परिश्रम नहीं लगता और न इसके लिये बनमें जानेकी ही आवश्यकता है। जहाँ रहो वहाँ ही बैठे-बैठे अनन्यभावसे भगवान्नका अर्थन्त प्रेमपूर्वक नाम लो, वह सहज ही घर आकर दर्शन देंगे।’*

* नामसंकीर्तन साधन पै सोर्पे ।

बलतील पांवे जन्मान्तरिचाँ ॥

इसप्रकार सहस्रों सन्तोंके वचन हैं। इसी प्रकार वेद-शास्त्र-पुराणादिमें भी नाम-संकीर्तन-सम्बन्धी अनेक प्रमाण मिलते हैं।

उन प्रमाणोंसे नाम-साधनका महत्व पाठकोंके ध्यानमें भलीभांति आ सकता है। तथापि 'विष्णोर्नीमैव पुंसाम्' इत्यादि वचनोंसे जब एक बार नामोच्चारणासे महापातक नष्ट हो जाते हैं तो किर नामकी बारम्बार आवृत्ति क्षयोंकी जाय। इस प्रझनका उत्तर नीचे दिया जाता है—

वाग्मि: रुद्रनन्दो मनसा स्पर्शनः

तन्वा नमन्तोऽप्यनिश्च न तृप्ता: ।

भक्तः स्तवज्ज्वत्तज्ज्वलः समप्रे

आयुर्हरंदे समर्पयन्ति ॥

—भक्तरसामृतमिन्दु

'स्मरतान्तमहर्निशम् ०'

'अहोरात्रकीर्तयन्तो माम् ०'

'आज्ञनममरणं विष्णुः'

'सततं कीर्तयन्तो मा यतन्तश्च दद्रवताः । ०' —पीता

—इत्यादि वचनोंमें सिद्ध होता है कि भगवान्के नामकी बार-बार आवृत्ति करना ही श्रेयम्कर है।

'राम कृष्ण हरि विठ्ठल केशवा ।

मन्त्र हा जपावा सर्वकाल ॥' —श्रीनुकाराम

'अङ्गेंद हरि हरि बदा रे बापानो ।

अङ्गेंद हरि हरि बदा ॥' —श्रीअमृतराय

अहो जाता येतां बसत उठतां कार्यं करिता ।

सदा देतां धेना बदनि बदतां ग्रास गिलिता ।

धरी दारी शर्येवरि रतिमुखाचे अवसरी ।

समस्तांची लजा लजुनि भगवचिन्तन करो ॥'

—श्रीवामन पण्डित

सोबत बैठत जागत ऊठत। जपना हरि हरि नाम ॥

हमारो निर्वनको धन राम ॥ —श्रीकृष्णरामजी

नामापराध-दोष-रहित पुरुप हो तो उसे सहृद् (एक बार ही) भगवामका उच्चारण करनेमें कृतक्रियता प्राप्त

न लगती सायास जावै बनांतरा ।

सुखं येतो धरा नारायण ॥

ठारिच वैसोनि करा एक चित्त ।

आवरी अनंत आळवावा ॥

ही जायगी। परन्तु जिनको पापके प्रतिबन्धक होनेके कारण तस्काल सिद्धि नहीं मिलती है, उनको नाम-संकीर्तनकी आपूर्ति अर्थात् सप्तत जप करना चाहिये। इससे उनके पाप दूर होंगे तथा उन्हें अभ्युदय और निःशेषस्वीकी प्राप्ति होगी, ऐसा पूर्वाचार्योंने श्रुति, स्मृति तथा पुराणोंके आधारपर प्रतिपादन किया है तथा सन्तोंमें इसीको अपने चरित्रद्वारा संसारको विस्फला दिया है।

अखण्ड जपसे वासनाका नाश होता है

सहस्रों विधियुक्त धर्म-कर्म करनेसे जो वासना-क्षयरूप अनुभव नहीं प्राप्त होता, वह अनुभव साधकको नामकी बाधारामें, अविराम नाम-स्मरणसे प्राप्त होता है। उमेर करके ही देखना चाहिये। नाम-स्मरणसे समस्त पाप दग्ध हो जाते हैं, यह बात तो शास्त्रोंपर विश्वास करके ही मानी जा सकती है, परन्तु पापोंका मूल दग्ध नहीं होता, यह अनुभवमें जाननेकी बात है। पापोंके मूलका धर्म है आनंतरिक वासना। यदि मूल नष्ट न हो तो वृक्षमेंसे अंकुर और पङ्कवका निकलना बन्द नहीं होता, यह बात जिसप्रकार सिद्ध है उभी प्रकार पापोंका मूल अर्थात् वासना जबतक दग्ध नहीं होती है तबतक पापाचरणका अन्त नहीं हो सकता, यह बात भी उत्तनी ही विश्वसनीय है। चित्त-शुद्धिके पश्चात् ज्ञानका उदय होता है और उमेर चित्त-शुद्धिके लिये निष्काम कर्मका प्रतिपादन शास्त्रोंमें किया है। कर्म-काण्ड चित्त-शुद्धिके लिये है, उपासना-कारण चित्तको स्थिर करनेके लिये है और ज्ञान-कारण मुक्ति-लाभके लिये है, इसे सब सुनते आये हैं परन्तु इस क्रमिक पद्धतिको अङ्गीकारकर अनित्यमध्ययको प्राप्त करना आज्ञ-कल बहुत ही कठिन है। क्योंकि इन तीनों साधनोंमें सर्वप्रथम इन सबके आधारस्वरूप कर्मकाशडको ही पार लाना आवश्यक कठिन है। आपुनिक युगके जीवोंको इसके लिये असमर्थ देखकर उनके सब्जे सुहृद, सखा और माता-पितासूपी सन्तोंने अस्यन्त दया करके शास्त्रविहित नाम-स्मरणका मार्ग खोल दिया है। परन्तु इस मार्गमें चलते हुए नाम-चिन्तन करनेवाले पुरुषको यदि यह प्रस्तुत न हो कि मेरे 'पापोंका मूल' जल गया तो समझना चाहिये कि उसके नाम-स्मरणकी पद्धतिमें कहाँ कोई भूल रह गयी है। सन्तोंने उस भूलको खोजकर उसको दुरुस्त करनेका मार्ग भी बतला दिया है।

भगवामकी महिमाको न जानते हुए भी नाम

लेनेसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं, यह उस नामरूपी वस्तुमें शक्ति है। यथापि इसप्रकार सब पाप सहज नष्ट हो जाते हैं तथापि पापोंके मूलका नाश होना सहज नहीं होता। इसके लिये तो नाम लेनेवालेको (नाम-महिमासे) अभिज्ञ होना चाहिये। वस्तुकी महिमाको जानकर और स्मरणकी पद्धतिको ध्यानमें रखते हुए जो नाम-स्मरण करता है वही पापोंके मूल अर्थात् वासनाको जला सकता है। अर्थमावनायुक्त सतत जप ही वासनाक्षयकी यथार्थ कुन्जी है। इस विषयमें श्रीवामन पण्डित कहते हैं—‘एक छोटाना बालक अभिज्ञकी शक्तिको न जानते हुए भी तात्र आदि धातुओंपर अभिज्ञ ढाल दें तो वह अभिज्ञ उन धातुओंके मूलको तत्काल जला दे सकती है परन्तु उसी अभिज्ञयदि तात्र-भस्म आदिका निर्माण करना हो तो उसके लिये मनुष्य (कर्ता) को भस्म-निर्माणकी विधि जानेकी आवश्यकता पड़ती है।’^१ इसी प्रकार नामसे पाप और पापोंके मूलको जलानेके लिये नाम लेनेवालेको वह विधि अवश्य मालूम होनी चाहिये। केवल नामोच्चारण पापोंको जला सकता है, और उच्चारणके माध्य-साथ स्मरण होनेमें पापोंका मूल भी जल जा सकता है। क्योंकि उच्चारण वाणीका धर्म है और स्मरण मनका—अनन्तकरणका धर्म है। पापोंका मूल अर्थात् वासनाका वास वाणीमें नहीं, अनन्तकरणमें होता है। इसलिये नाम-स्मरणकी अजग्र धारामें अनन्त जन्मों-की अनन्त वासनाएँ जलकर भस्म हो जाती हैं।

जीवन्मुक्तिके तीन उपाय

श्रीविद्यारण्य मुनिने अपने ‘जीवन्मुक्तिविवेक’ नामक ग्रन्थमें जीवन्मुक्तिके तीन उपाय बतलाये हैं—ब्रह्मावबोध, वासनाक्षय और मनोनाश। वह बतलाते हैं कि महावाक्योंके श्रवण-भननमें निःसन्देह ब्रह्मावबोध होता है तथापि पूर्वके प्रबलतर संस्कारोंमें ज्ञानके स्थानमें काम-क्रोधादि भननेविकार उठते हैं और वे समाधि-सिद्धिके मार्गमें प्रतिबन्धक होते हैं, ऐसी अवस्थामें ज्ञानीको एकान्तमें बैठकर क्या बारह मात्राओंके प्रणव-मन्त्रका

* शातुरी अनल नेणत बाल शाली।

तो अभिज्ञ शातुमल तों अति शाप जाली॥

तात्रादि भस्महि तथा अनलेवि जेवहां॥

कर्ता अभिज्ञ बहु जालिल शापु तेवहां॥

जप करना चाहिये। ब्रह्मावबोध, वासनाक्षय और मनोनाश हन तीनोंका एक ही साथ अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु यह साधन अस्त्यन्त कठिन है। (परोक्ष) ब्रह्मज्ञान होनेके बाद इस प्रतिबन्धकरूपी दोषको ममूल नष्ट होनेके लिये प्रणव-जप करना चाहिये, क्योंकि इससे शीघ्र ही मनोनाश और वासना-क्षय सिद्ध होते हैं। इसके लिये अल्पज्ञानीको जपका नियम दृसरा कौन बतलावेगा! उसके लिये तो जैसे प्रणव अर्थात् झंकारका जप है वैसे ही भगवान्नामका जप भी चिह्नित है। क्योंकि झंकारको गीतामें (ओमित्येकादर्श ब्रह्म) एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। उसी प्रकार इश्वर, चतुरक्षर हरि, नारायण, वासुदेव नाम भी ब्रह्मरूप ही हैं। इसी कारण यह भी ज्ञानीको मेव्य हैं।

जिसप्रकार राम-कृष्ण आदि अवतार-मूर्ति परब्रह्मके ‘साकार’ स्वरूप हैं उसी प्रकार हरिनाम भी उसी परब्रह्मका ‘ध्वनिरूप’ स्वरूप है।^२ जिसप्रकार अवतार ब्रह्मरूप है उसी प्रकार हरिनाम भी ब्रह्मरूप हैं, चिन्मय हैं, इसके अविरत अवण्ड मेवनमें साधकोंकी इन्द्रियोंका जड़त्व नष्ट हो जाता है और वे चिन्मय हो जाती हैं, तथा साधक चिदानन्दस्वरूपको प्राप्त होते हैं।

उच्चारणके भेद और स्मरणके प्रकार

‘नामोच्चारण’ और ‘नामस्मरण’के भेदको हम पहले ही बता चुके हैं, उच्चारण वाणीका धर्म है और स्मरण मनका धर्म है पूर्व काय, वचन और मन हन तीनोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। पाठकोंको यह बात बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वाणीकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, अर्थात् वाणीमें किये हुए उच्चारणकी अपेक्षा मनमें किया हुआ स्मरण अधिक श्रेष्ठ होता है, यह सिद्ध हुआ। तथापि शास्त्रोन्त नामोच्चारणके भेदोंका कुछ विशद वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा। इसलिये उन भेदोंको कहकर उसके पश्चात् स्मरण अर्थात्

^१ प्रणव (३०) एकचि अक्षर। ध्वनि हैं ब्रह्म ‘एकाक्षर’॥

तैसेचि ब्रह्म ‘चतुरक्षर’। ‘वासुदेव’ ‘नारायण’ महागीति ॥

तैसेचि उपनिषदी : दोनी अक्षरे ‘हरि’ पदो॥

हैं ‘इश्वर ब्रह्म’ वदी। जैसा प्रणव ‘एकाक्षर ब्रह्म’॥

(यथार्थदीपिका)

^२ जैसी रामकृष्णादि ‘रूपे’ अभिरमे।

तैसे ‘ध्वनिरूप’ रूप सर्वसुगमे।

अक्षर ब्रह्म नामें समस्त ही॥ (यथार्थदीपिका)

सिन्हनके भेदोंको संक्षेपमें कहकर लेखको समाप्त करता है।

नाम-जपके लीन प्रकार बतलाये गये हैं—वाचिक, उपांशु और मानस । (१) वाचिक अर्थात् वैसी वाणीमें, जैसा इस साधारणतः बोलते हैं, वैसे ही स्पष्ट स्वरमें जप करना । (२) उपांशु अर्थात् केवल ओढ़को हिलाते हुए, अपना शब्द अपने ही कानमें, अथवा अस्त्वत्त समीप छैठे हुए मनुष्यको ही सुनायी पड़े, ऐसा जप करना । (३) मानस अर्थात् ओढ़ और जीभको न हिलाते हुए मन-ही-मन जप करना । इस मनके उच्चारणको मनके ही कानमें सुना होता है । कोई-कोई नाम-जपके वाचिक, उपांशु, ध्वनि, मानस, ध्यान और अनन्य, ऐसे छः प्रकार बतलाते हैं । उनका विवरण विमारशभ्यमें यहाँ नहीं किया जाता ।

१—वाचिक-जपमें हृलोकके भोगोंकी प्राप्ति ।

२—उपांशु-जपमें स्वर्गलोककी प्राप्ति; तथा—

३—मानस-जपमें मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा इनका फल कहा गया है । इस विवेचनमें मानस-जपको उच्चारण-भेदके ही अन्तर्गत रखता गया है । परन्तु शास्त्रमें—

‘मानसो मनसा कायो मन्त्रवाचिकार्यचिन्तन्या ।’

—उसका ऐसा लक्षण अथवा स्वरूप कहा गया है । और उसका अर्थ ‘तजपमद्वयभावनम्’ अर्थात् अर्थभावना-युक्त जप करना है । परन्तु अर्थका ध्यान करते हुए यदि वाचिक और उपांशु-पद्धतिमें भी जप किया जाय तो उसमें कोई हज़ नहीं होता । अर्थका विवार किये बिना भी केवल अश्वरोंका उच्चारण ओढ़ और जीभको न हिलाये हुए मनहारा किया जा सकता है । यह सब बातें बुद्धि-के संकल्पपर चिन्तित हैं । क्योंकि ‘बुद्धि-तत्त्व मानस-तत्त्वकी अपेक्षा श्रेष्ठ है । मनपर अधिकार जमाये रखनेकी शक्ति बुद्धिमें है । मनमें केवल उच्चारण करनेका संकल्प यदि बुद्धि करती हो तो मन उतना ही काम कर सकेगा, अधिक नहीं कर सकता । इसलिये ऊपर उच्चारणके ग्रिविध भेदोंमें ही इमने मानस-जपका समावेश किया है । इसे पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिये ।

स्मरणके प्रकारोंको बतलाते समय मनके कायोंका वर्णन स्वाभाविक ही हो जाता है । पहले इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि ‘बाणी’ कर्मेन्द्रियोंमेंमें एक हृदिय है और ‘मन’ अन्तःकरणमेंमें एक करण है । यह बात ध्यानमें रखने तथा कर्मेन्द्रियोंकी अपेक्षा

शानेन्द्रियों और शानेन्द्रियोंकी अपेक्षा अन्तःकरण-चतुष्टय श्रेष्ठ है, यह आननेपर यह बात सहज ही ध्यानमें आ जा सकती है कि मनको म्यारहाँ हृदिय अर्थात् हृदियोंका राजा क्यों कहा जाता है । परन्तु मन अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ बुद्धि-तत्त्वके अधीन रहे तो वह अद्भुत उच्चतम कार्य कर सकता है; वैसा न करके यदि वह हृदियोंके अधीन रहेगा, अपने अधिकारोंको भूलकर हृदियोंका गुलाम बनेगा, हृदियोंके इशारेपर नाचेगा, तो वह जीवज्ञ अधोगतिकी ओर ले जायगा । इस ममको ध्यानमें रखते हुए ही साथकोंका चाहिये कि मनको श्रवण, मनन, निदि-ध्यासनके ह्वारा युद्ध हुई बुद्धिके अधीन कर दे, इसमें वही मन साधकको सोश प्रदान करा सकता है । ‘मन पूर्व मनुष्यां कारण बन्धमोक्षयोः’ इसका यही अभिप्राय है ।

‘उच्चारण’ वाणीका काम तथा ‘स्मरण’ मनका काम है, यह बात ऊपर अनेकों बार कही जा चुकी है, अतः यह कहनेकी अव आवश्यकता नहीं है कि केवल उच्चारणकी अपेक्षा स्मरण श्रेष्ठ है । परन्तु, उस स्मरणका स्वरूप क्या है, इस बातको बतलाये बिना यह विषय पूर्ण नहीं हो सकता । अतः इस विषयमें संशयमें कुछ कहा जाता है । जिस पदार्थ अथवा विषयको हम पहले देखे या सुने हुए होते हैं उसीका स्मरण हो सकता है । अश्रुत, अहृत अथवा अनुभवीन विषयका स्मरण हो ही नहीं सकता है । इस स्मरणमें शब्दोच्चारण कभी हो सकता है और कभी नहीं भी हो सकता है । किमी विद्वानके सुने हुए ध्यास्यानका स्मरण होता है तब उसमें मानसिक शब्दोच्चारण हो सकता है, परन्तु कल स्वाये हुए पदार्थका, मिले हुए मिश्रोंका अथवा मृत जीवीका जब स्मरण होता है तब उसमें शब्दोच्चारण नहीं होता । मनमें केवल भावका उदय होता है अर्थात् मन वैसा आकार धारण करता जाता है ।

उसी प्रकार नाम-स्मरण करने समय शब्दके साथ-साथ भावोंका विवरन करना ही यथार्थ नाम-स्मरण है । ऐसा न होनेमें केवल ‘नामोच्चारण’ होगा । उदाहरणार्थ, आम कहने ही इमारी भावना आमके आकारकी हो जाती है, मेठकके आकारकी नहीं होती । मेठक कहने हमारी भावना मेठकाकार होती है, मोटरके आकारकी नहीं होती । लो० निलक कहनेपर हमारे मनश्वसुके सामने पञ्चम जार्ज नहीं लड़े हो जाते । पञ्चम जार्जका नाम लेनेपर हमारे सामने महारमा गौंधी नहीं दीखते । अर्थात् जिसका नाम हित्य-

जाता है उसका स्वरूप आँखों (मनश्च) के सामने लड़ा होना चाहिये; तभी वह नाम लेना सार्थक होगा। अतः जिसका नाम लेना हो उसका स्वरूप स्वयं देखकर अथवा मुनकर जान लेना होगा, तभी नामके साथ नामीका स्वरूप आँखोंके सामने दीखने लोगोंगा और तभी वह 'नामस्तरण' होगा एवं शास्त्रोंके द्वारा अथवा सन्तोंके मुख्ये भगवान्‌के स्वरूपका जैसा शान हमें प्राप्त हुआ होगा वैसा ही नामके साथ-साथ नामीका स्वरूप हमारी आँखोंके सामने आने लोगा।

१—अधिकागच्छमार यदि किसीको नामके साथ-साथ नामीका निरुण मन्त्रिदानन्द, प्रथगामरूप भासमें लोगा, तो तूमरेको—

२—नामके साथ-साथ तम्भ्रिय मणुरूप विश्वलायी देगा। और नीमरेको—

३—नामके साथ-साथ मणु अथवा निरुण स्वरूपका मुरुण न होकर भोले भासमें केवल नामकी खनि ही श्रुतिगोचर और भावगोचर होगी। तात्पर्य यह है कि नामस्तरण-रूप साधनामें लगानेके दूर्व नामीके स्वरूपके (अपने अधिकार तथा बुद्धिकी योग्यताके अनुसार) किसी भी एक भावको

सिद्ध करके नाम-स्मरणके साथ-साथ उस भावके विस्तरका अभ्यास करते रहना चाहिये। इसप्रकार नामसाधन करते समय परधन, परझी आदि बाह्य विष्ण तथा ल्य और विषेप आदि आन्तर विष्ण बाधा न ढालें, इसके लिये साधधान रहना चाहिये। नामके साथ सिद्ध किये हुए नामीका भाव विस्तर में स्थिर न हो तो फिर नामकी ही श्रवन्त्यभावमें शरण लेनी चाहिये। इसके साथ अथवा सम्पर्णके साथ अथवा दोनोंके साथ नाम-जप हो तो साधकके निश्चयके अनुसार नामी अर्थात् भगवान् उसके सब विस्तोंको दूर करके उसके अन्तःकरणमें अपने निजानन्दस्वरूपको प्रकट करेंगे और उसे अपनी परामर्शिक देकर कृतार्थ करेंगे।

नामरूपी श्रीनिश्चयानु भगवान् पाठक और लेखकको दैर्घ्यमी सुधार्दि देकर उनका 'आख्यन्तिक कल्पणा' करें—

नमोऽस्तु नामरूपाय नमो नामप्रकाशिने ।
नमोऽस्तु नामसाध्याय नमस्ते नामवैष्णिने ॥
नमोऽस्तु नामभास्याय नमस्ते नामप्रनित्रिणे ।
नमोऽस्तु नामवन्याय नमस्ते नामशान्तये ॥
नमोऽस्तु नामभोग्याय नमो नामप्रतापिने ।
नमोऽस्तु नामसत्याय नमो नामविमाविने ॥

ईश्वर-स्तवन

(लक्ष्म—मांकृष्णलालजी विश्वरूप 'इन')

जय जय जय विश्वेश :

अविरल अविचल शुचितम् गुरुतर जयति रमंग ॥ जय० ॥

अज अस्पष्ट अधिपति अविनासी ,

परम प्रबल बल विश्व-विलासी ;

जय जगवन्दन, आनेदकंदन, दुष्टनिकंदन, जय देवेश ।

जय कमलेश :

भक्त-हृदय-सरसिज-हित दिनमाणि जय निस्तिलेश ॥ जय० ॥

नारायण निरुण गुण-गण-रति ,

जीवन जगदाधार विश्वपति ;

करुण/सागर, जगतउजागर, शुभगुण-आगर, जय प्राणेश ।

जय परमेश ;

निविकार, निर्लेप विश्वधन, जय करुणेश ॥ जय० ॥

प्रच्छन्न नास्तिकताका विस्तार

(लेखक — चतुर्वेदी प० श्रीद्वारकाप्रसादर्जा शर्मा)



ल्याणके सम्पादक भी विलक्षण खोपडीके जीव प्रतीत होते हैं ! जिस ज़मानेमें लोग ईश्वरको बालापृ-ताकृ रख, मनमानी करने-पर तुले हुए हैं, जिस ज़मानेमें ईश्वर केवल मूठी शापथ ले मूठ बोलनेका सुरक्षित साधन रह गया है, उस ज़मानेमें इनको मूठ है 'कल्याण' का 'ईश्वराङ्क' निकालनेकी !

बलिहारी है इनकी इस अजीब सूझकी ! क्या विशेष अङ्क निकालनेको और कोई विषय नहीं सूझा ? इनको तो आजसे कई सौ वर्षों पूर्व इस धरातामपर अवनीर्ण होना था, न कि इस नवीन मध्यताके चौधिया देनेवाले ज़मानेमें । ये इन दक्षियानसी विचारोंका प्रचार-कर क्यों देशकी उन्नतिको संकहों वर्षों पीछे दौँग पकड़कर खींच रहे हैं ?

अभी थोड़े ही दिनोंकी यात है कि प्रयागके 'लीडर' नामक दैनिक पत्रमें किसी अङ्करेजी अख्वारकी एक कतरन उद्घटन की गयी थी । उसमें लिखा था कि 'रूम देशकी सोवियट सरकारने सरकारी म्फूलोंमें पदनेवाले वक्षोंके लिये जो नर्या पात्र पुस्तके लिखावार्यी हैं, उनमें पहला पाठ ईश्वरके अनन्तिवरपर है । पाठमें लिखा है—'अकर्मण्य, परवद्धक और स्वार्थी लोगोंने अपना उल्लू र्धीया करनेको ईश्वर नामकी एक वस्तु-विशेषकी कल्पनाकर सारे संसार-को धोखेमें डाल रखता है । असलमें ईश्वर कोई चीज ही नहीं है ।' ऐसे भावोंसे पूर्ण पुस्तके वक्षोंको पढ़वा, रूम देशकी सोवियट सरकार अपने राज्यके भावी नागरिकोंके मनसे ईश्वरका अनित्य लोप करनेपर तुली ढूँढ़ है । इन्होंने नहीं—लेखकका कहना है कि रूमराज्यमें बसनेवाले आमिक जरमन किसांपोर इमलिये बड़-बड़े अग्याधार किये जा रहे हैं कि जिसमें वे ईश्वरकी चर्चा और उम्पर विश्वास्य करना स्थान दें । जो आमिक एवं ईश्वर-निष्ठ जरमन सोवियट सरकारकी इस आज्ञाकी अवज्ञा करते हैं, कहा जाता है, वे माहशूरियाको भेज दिये जाने हैं और वहाँ वे अति शंघ काल-कवलिन हो, अपना अनित्य मिथा देने हैं ।

इसारे देशके एक प्रधान राष्ट्रीय नेता भी अपने एक

भाषणमें अपने आपको Anti-God घोषित कर चुके हैं । अतः अब वह दिन दूर नहीं है, जब इस देशकी शासन-बगाम ऐसे लोगोंके हाथ आते ही, ये उन्नति-कामी नेता, इस देशमें भी सोवियट सरकारकी उक्त नीतिका अनुकरण-कर, ईश्वरके विलुप्त एजिटेशन खड़ा करेंगे, जिससे यह देश बात-की-बातमें उन्नतिके शिखरपर खड़ा हुआ देख पड़ने लगेगा ।

देखनेमें आता है कि इस देशमें भी ईश्वरके विलुप्त आनंदोलनका श्रीगणेश तो हो ही चुका है । लोग कहते तो हैं कि ईश्वर है और वह सर्वव्यापी, सर्वसार्दी, सर्वानन्दर्यामी और सर्वद्रष्टा भी है; पर व्यवहार्यतः वे ऐसा मानने नहीं ।

ईश्वरके बारेमें लोग जैसा कहा करते हैं, यदि वैसा ही मानते भी होने और तदनुसार चला भी करते तो संसारमें न तो कही पुरिमका नामोनिशान देख पड़ता, न कोई राज्य फौज-प्यादा ही रखता और न बर्की-मुख्यारोंका कोई नाम मुनता । क्योंकि जब लोग ईश्वरके सचमुच सर्वव्यापी मानते, तो अपग्राध कहाँ करते ? लोगोंकी आँख बढ़ा चोर, उठाईंगारे, गिरहट क्यों अपनी दुःखदायिनी करतूसें लोगोंको विरक करते ? इस धराधामपर अपराधीकी संभ्या शून्य होती । यदि यथार्थतः ईश्वर सर्वव्यापी माना जाता तो दोगी लोग क्यों मान कोटियें भी तिर ढें, पापकर्म करते ? यदि ईश्वरको लोग सचमुच सर्वव्यापी मानते होते, तो क्यों बैरेमान, कृतज्ञी और विश्वासधातक जन, भले मानमेंको मनाते और उनका सर्वस्व हड्डप जनताको विक्षुद्ध करते ? यदि ईश्वर वास्तवमें सर्वव्यापी समझा गया होता, तो हेमाद्री आदि बड़े-बड़े प्रायिक्ति-विधायक पोथोंका सृष्टि क्यों की जाती ? यदि लोग जैया ज़बानमें कहते हैं, बैया ही समझते और करते होते, तो भारतवर्षमें नाजीरान-हिन्दुका पुनीत प्रादुर्भाव क्यों होता ? यदि लोग ईश्वरको सर्वव्यापी मान संमाधायामें प्रहृत होते, तो कंदिकोंके सन्ध्योपासनमें आख्यन मन्त्रकी आवश्यकता ही क्या थी ? ईमाइयोंको क्यों रात-दिन अपराधोंकी क्षमा करानेकी चिन्तामें दूबना पड़ता, मुसलमान क्यों तोबा: का चीकार करते ?

हमारे सामने प्रभ यह नहीं है कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा और सर्वान्तर्यामी है कि नहीं ? प्रभ सो यह है कि जो लोग ईश्वरको उन गुणोंमें सम्पन्न मानते हैं, वे स्वयं अपने मतानुकूल आचरण भी करते हैं कि नहीं ?

निम्न देखनेमें सो यह आता है कि ईश्वरको उपर्युक्त गुणोंमें सम्पन्न मानकर भी कार्यतः वे उन गुणोंका केवल स्वरूप ही नहीं कर रहे हैं प्रथम वे तो ईश्वरके अस्तित्व-तत्को मेट रहे हैं । हमारी समझमें सो ऐसे लोगोंसे वे लोग कहीं इह विचारवाले हैं जो बड़ौल उदू भाषके एक शायरकी इस उक्तिके—

पिये मैं आशकारा हमको किसकी साकिया चोरी ।
मुदकीगर नहीं चोरी तो किर बदेकी क्या चोरी ॥

अथान् हम हर काम सुखमखुहा करेंगे, समाज भले ही हमारे कामोंको बुरा ही क्यों न समझे । जब हमें ईश्वरहीका दर नहीं है तो फिर हम उसके बन्द यानी इन्मानमें क्यों डरने लगे ?—धनुषार घ्यवहार करते हैं ।

यथापि हृनका यह कथन ईश्वरकी गवर्नरेंटके प्रति एक प्रकारका ‘सिविल-डिसआर्टिंग्स’ है, नथापि इसमें दम्भ-पान्धरडका लेश न होनेमें यह नफरतकी चीज़ नहीं है । हाँ, यह उदाहरण और बेहायी अवश्य है ।

ईश्वरके सर्वसाक्षित्वको माननेवाले लोग, जब जान-वृक्षकर जीती मक्की निगल जाते हैं, होड़ बद-बटकर सर्वथा भिथ्या भाषण करते लजित नहीं होते और ‘राम-राम जपना पराया माल अपना’ बनानेको, नाना प्रकारके दन्द-फन्द रचने रहते हैं, जब लोग अपने उपकार-कर्त्ताको भी अनिष्ट करते नहीं लजाते, जब ऐसे लोग बड़े-बड़ोंकी पगड़ी-पर हाथ लपकते भी नहीं हिचकते, जब अदालतमें जा और ‘सुदाको नाजिर हाजिर’ कह, मृठके सिवा एक शब्द भी सक्षा नहीं बोलते, जब हूस पापी पेटमें रोटीके दो टुकड़े डालनेवालेके कहनेमें लोग बड़े-बड़े आवरुद्धारों-को बेआवरू कर ढालते हैं, जब दो-चार रुपये पानेकी आशामात्रसे लोग दुष्टिदुष्टकी प्रवासाकर, उसे इन्द्रासन-पर बैठनेयोग्य बतला देने हैं, तब कहना पढ़ता है कि

ऐसे आस्तिकोंमें, वे नास्तिक लाख दर्जे अच्छे हैं, जो किसी निजमान्य सिद्धान्तपर ईश्वरपूर्वक आस्त होते हैं ?

भले ही कोई ईश्वर-भक्त बननेका ढकोसला बना ले, पर यदि वह नीम रुपये मनकी दरमें चरबी द्वरीद और उसे विशुद्ध धीमें मिला, उसको पच्छात्र रुपये मनकी दरमें बिक्की करता है, तो उसे हम कभी भी ईश्वरको सर्वद्रष्टा अध्यात्म-कर्म-साक्षी माननेवाला नहीं कहेंगे । जो अपने-को बदा परिणत बनाता है और लेकर देना नहीं जानता बल्कि ‘छाण छूता धूतं पिवेत्’ के हेय सिद्धान्तपर रात-दिन चलता है, उसे हम कभी ईश्वर माननेवाला आस्तिक नहीं कहेंगे । हमारी समझमें सो ऐसे लोगोंका ईश्वरका नाम लेना, ईश्वरके प्रति असम्मान प्रदर्शित करना है ।

जब तीन चाँचियाईने अधिक संसारकी जन-संख्या ईश्वरको और उसके सर्वान्तर्यामित्वको मानती हैं, तब भी संसारमें पापोंकी संख्यामें उत्तरान्तर कृद्धि होना क्या सिद्ध करता है ? यही न कि हम संसारमें सबूते आस्तिकोंकी अपेक्षा प्रचलित नानिकोंकी संख्या सर्वाधिक है । यही कारण है कि आज हस संसारमें सर्वत्र अदान्ति, दारिद्र्य, चिन्ता, रोग, शोकादिका अटल साक्षात्य जमा हुआ है । फिर जिन जनोंके मनमें रात-दिन कोधादिछः विकट शत्रु असादा जमाये हुए हैं, वे क्या हूस योग्य हैं कि उस न्यायी, दयालु और भक्त-वस्तुल ईश्वरका पवित्र नाम अपनी पाप-कुलपित जिहा-में ले ?

वेद, दर्शन, हृतिहास और पुराण चिह्ना-चिह्नाकर ईश्वरके अनिवार्यी व्योपणा कर रहे हैं । यही क्यों—साक्षात् ईश्वर अपने अनित्यको स्वयं ही कितनी बार प्रत्यक्ष हो प्रमाणित कर चुके हैं । तब भी सृष्टिकी आदिमें आजतक, अधिकतर सांसारिक जीवोंकी प्रवृत्तिमें तिलभर भी अन्तर नहीं पड़ा । विकंशील जनोंके निकट नो ईश्वरका अन्तिव तभी चरितार्थ समझा जावेगा जब संसारमें पापोंकी संख्या-में कभी हो । ‘कल्याण’ के मालिकोंका ईश्वरांक निकालना भी तभी सायंक होगा, जब ईश्वरके माननेवाले परस्पर शान्ति और सौहार्दमें रहने लगेंगे एवं पाप-कर्मोंसे विरत हो प्राणि-मात्रके लिये सुखदायी सिद्ध होंगे ।

श्रीहरि अरु हरि-भगतिमें जिहि मन नहि अनुराग ।

सो अति पामर पापमय पुण्यहीन हतभाग ॥

जीवात्माकी परमात्माके लिये पुकार

(लेखक—श्रीयुक्त जे० ई० सन्दर्भलेण्ड ढी० ढी०)

मेरा हृदय परमात्माको, अरे, सगुण परमात्माको पुकारता है !*—Old Testament.

जो जीव संसारमें परमात्माके आश्रयमें विहीन होता है उसकी असहाय अवस्था नीरस ही नहीं, एक प्रकार से भयानक होती है †—Emerson.

जीवात्माकी हृष्टरके लिये पुकार जैसी मर्मस्पदशी, कल्प एवं अवृप्त होती है, वैसी और कोई भी प्रार्थना नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस क्षण मनुष्यकी इस जगतमें सृष्टि हुई, उसी क्षण उसके अन्तरसे यह पुकार भी प्रारम्भ हो गयी। सृष्टिमें जबसे हमें मनुष्य-आतिका इनिहास उपलब्ध होता है तबसे बराबर यह पुकार जारी है और जबतक मनुष्यका अभित्व इस संसारमें रहेगा, तबतक इसके बन्द होनेका भी कोई कारण प्रतीत नहीं होता। संसारके सम्बन्ध उपासनाभवन, देवमन्दिर, मतमतान्तर एवं दर्शनशाला इसी 'पुकार'को अभिव्यक्त करते हैं; संसारके काव्य, कला एवं संगीतका प्रादुर्भाव इसीमें होता है और मेरा ऐसा विश्वास है कि आगे चलकर विज्ञानका वामधिक अभिप्राय भी यही सिद्ध होगा।

जिसप्रकार आलकड़ी जन्मसे ही यह प्रहृति होती है कि वह भूख लानेपर हठात् माताके स्तनोंकी ओर दौबता है और जबतक उसे वे प्राप्त नहीं हो जाते तबतक उसे शान्ति नहीं मिलती। जिसप्रकार पञ्चरबद्ध पक्षी पिजरेके अन्दर छटपटाने लगता है और उसे तभी चैत मिलता है जब वह उससे छूटकर सुखी हवामें उड़ने लगता है; जिसप्रकार मनुष्यके नेत्र प्रकाशके लिये सदा तदफ़दाते हैं, मनुष्यकी बुद्धि सत्यकी उपलब्धिके लिये अचौर हो उठती है और मनुष्यका हृदय प्रेमवाहिकी पिपासासे व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार यदि मनुष्यकी आत्मा अपने दोषस्य, अज्ञान एवं अपूर्णताके कारण व्याकुल हो उठती

* 'My heart crieth out for God, yea, for the living God.'

† 'Unlovely, nay, almost frightful, is the solitude of the soul which is without God in the world.'

है, तो हमें कोई आश्रय नहीं है। उसकी दुर्बलता उसे इस बातके लिये प्रेरित करती है कि वह अपनेसे अधिक बदलके लिये पुकार उठे, उसका अज्ञान उसे इस बातके लिये बाध्य करता है कि वह अपनेसे अधिक ज्ञानके लिये विज्ञा उठे, उसकी अपूर्णता उसे पूर्णताका आह्वान करनेको बाध्य करती है और जबतक ये तीनों चीज़ें मनुष्यको नहीं मिल जातीं तबतक उसे शान्ति अथवा सुख नहीं मिल सकता। सरण रखना चाहिये कि ये तीनों हृष्टरमें अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हो सकतीं।

मेरी यह धारणा है कि मनुष्यके पूजागृहों, देवालयों तथा धर्मोपदेशोंके द्वारा ही इसकी अभिव्यक्ति होती हो सो बात नहीं है, किन्तु ज्यों-ज्यों हम अपने दर्शन-दार्शनों, काव्य, कला एवं विज्ञानको पहलेकी अपेक्षा अधिक समझना सीखेंगे, ज्यों-ही-ज्यों हमें हनके मूलमें भी यही भाव दिखायी देगा।

मनुष्यकी बुद्धि स्वभावसे ही इस बातकी इच्छा करती है कि प्रकृतिमें भी उसे कोई ऐसी प्रश्नाशक्ति मिले जो उसके प्रश्नोंका उत्तर दे सके, कोई ऐसी चैतन्य शक्ति उपलब्ध हो जिसका सारी वस्तुओंपर शासन हो, जो सबमें व्याप्त हो और जिससे सारी बासोंका कारण समझमें आ जाय। विश्व चेतानारहित अथवा निष्प्रयोजन है यह भाव मनुष्यको अस्यन्त अस्विकर है। मनुष्यकी बुद्धिके लिये विश्वके अन्दर चिंतेके एवं प्रयोजनको हूँ देना एक प्रकारसे हृष्टरको पुकारना है, क्योंकि अनन्त बुद्धि अथवा चेतन ज्ञानका नाम ही हृष्टर है।

मनुष्यको बुद्धि इसप्रकारकी बनी हुई है कि वह सर्वत्र व्यवस्था एवं समस्वयको हूँ देती है, वह अध्यवस्थाको सह नहीं सकती। कुछ सोगोंका कहना है कि वर्गीकरण अर्थात् वन्नुओंकी व्यवस्थासे रखनेका नाम ही ज्ञान है। साइश्य एवं वैसाइश्यको पहचाननेमें, अवयवोंको मिलाकर सुसंगठितरूपमें रखनेमें, अनेकताओंमें एकताको हूँ देनेसे ही हमें ज्ञानकी प्राप्ति होती है। विज्ञानोंका विकास इसी प्रकार होता है। उदाहरणके लिये, वनस्पति-जगतके सर्वोंको क्रमबद्ध रीतिसे रखनेका ही नाम तो वनस्पति-विज्ञान है, उभिज्जीवनका इनेकताओंके मूलमें रहनेवाली

एकताका पता लगाना तथा वर्णन करना ही इस शास्त्रका काम है। यही हाथ अन्य विज्ञानोंका है। पृथ्वी-की घटानों तथा आकाशके नक्षत्रों एवं ग्रहोंके सम्बन्धमें जो-जो बातें मालूम हुईं उनपर काफी प्रकाश ढाले जाने-पर तथा उनके अन्दरकी व्यवस्था और सामन्यका ज्ञान होनेपर ही भूगर्भ-विद्या एवं ज्योतिष-शास्त्रकी उत्पत्ति हुई। अतः विज्ञानका कार्य सर्वत्र अव्यवस्थामें व्यवस्था तथा अनेकतामें एकताका पता लगाना है। इस प्रकारकी विद्या करना मनुष्यकी बुद्धिका स्वभाविक गुण है। बुद्धि सर्वत्र व्यवस्थाके लिये व्याकुल रहती है, वह एकताको हूँ दत्ती रहती है।

सृष्टिके एक छोटे-से अंशमें ही व्यवस्था एवं समन्वय-को हूँ द लेनेये उमे सन्तोष नहीं होता। वह उसे सर्वत्र उपलब्ध करना चाहती है। बनन्पति-विज्ञान, भूगर्भ-विद्या एवं ज्योतिष-शास्त्रमें अलिल विश्वके रहन्योंका ज्ञान नहीं होता। यथा सारी प्रकृतिके अन्दर व्यवस्था आत-प्रोत नहीं है। क्या उसके भिन्न-भिन्न अवयवोंको संघटित करनेवाली कोई एक महान् सत्ता नहीं है? बुद्धि उसीको हूँ दत्ती है और जबतक उमे यह उत्तर नहीं मिलता कि हाँ, इसप्रकारकी सर्वोपरि व्यवस्था एवं सर्वोपरि एकता अवश्य है, तबतक उमे कल नहीं पहड़ती।

यदि वैज्ञानिक बुद्धिने अपने दुर्वसनीय स्वभावकी प्रेरणासे सारे विषयमें एक व्यवस्थाके ऊपर दूसरी व्यवस्थाका और एक एकताके पीछे दूसरों एकताका पता लगाकर ही छोड़ा एवं विश्वके अन्दर एक सर्वोच्च एवं परापर एकताको उपलब्ध करके ही विश्वाम लिया तो इसमें क्या नयी बात हुई? उमने अपनी दिशामें उसी पर्वत-शिखरका आरोहण किया जिसपर दर्शन-शास्त्र एवं धर्म, मनुष्यकी आरम्भके अन्दर रहनेवालों हीसी प्रकारकी प्रेरणाके बीचभूत होकर प्रारम्भमें ही अपनी-अपनी दिशामें आरूढ़ होते रहे हैं। दर्शन, धर्म एवं विज्ञान ये सभी अव्यवस्थामें व्यवस्थाकी ओर, अनेकतामें एकताकी ओर ही अग्रसर होते रहे हैं। दर्शन-शास्त्रोंमें निरूपित उपादानकारणकी कल्पनाका ठीक यही भाव है। धर्मने जो एक सृष्टिकर्ता तथा प्रत्येक जीवके पुण्यापुण्यके निर्णयोंकी कल्पना की है, उसका भी यही अभिप्राय है। जिसप्रकार आधिभौतिक जगतमें मनुष्यकी बुद्धि एकताको हूँ दत्ती है और उसे प्राप्त किये विज्ञानका भी छेती, हीसी प्रकार

मानसिक एवं नैतिक जगतमें भी मनुष्यकी बुद्धि एकताको ठीक उत्तीर्ण ही लगानके साथ हूँ दत्ती रहती है। 'ईश्वर एक, अपरिच्छिक, निरुपि एवं सर्वोपरि है' इस कथनमें हमारा तात्पर्य उस महान् ग्रिविध शक्तिकी एकता, ज्ञानकी एकता एवं उपकारकी एकताको परम एकता संकेतित करना है, जिसे हम आधिभौतिक, मानसिक एवं नैतिक हृती तीनों मार्गोंसे आगे बढ़नेपर शिखरपर पाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यकी आरम्भके अन्दर जीववस्था एवं एकताकी अस्तित्व और अदूत हृच्छा है वह इस बातकी धौतक है कि सबके ऊपर शासन करनेवाली एक सत्ताको, सबको विषय करनेवाले एक ज्ञानको, सारे ब्रह्माण्डोंके लिये हितकर एक आयोजनाको अर्थात् इस भौतिक जगतके साथ ही एक नैतिक जगतकी सत्ताको, एक दूरवर्ती दिव्य कार्यको, जिसकी ओर सारी सृष्टि अग्रसर हो रही है, माननेमें ही उसे शान्ति मिल सकती है।

बुद्धि समन्वयको हूँ दत्ती है, इससे भी हमारी समझमें यही बात ध्वनित होती है। सबसे निझ-कोटिकी एक-स्वरता नादकी एकस्वरता है जो निरी भौतिक है; इसप्रकारके स्वरोंके संचादसे अपने ही ठंगका आनन्द मिलता है, किन्तु हम शीघ्र ही आगे बढ़कर इसमें भी सूक्ष्म संवादों अर्थात् नादके साथ हृदयात भावों एवं विचारोंके सामन्वयको देखने लगते हैं। इसके अनन्तर उन संवादोंको भी देख पाते हैं जो स्वरों एवं अन्य सारी भौतिक वस्तुओंसे परेके होते हैं। बड़े-बड़े संगीतविशारदोंकी पद-रचनामें शीघ्र ही वह स्थल आ जाता है जहाँ उन्हें यह अनुभव होने लगता है कि उनके बाया उनके भावोंको व्यक्त करनेमें असमर्थ है, वहाँ व्यनिकी शक्तिका अन्त हो जाता है, और तब उनकी यह उत्कट हृच्छा होती है कि वे भौतिक जगतके बन्धनोंको तोड़कर आध्यात्मिक जगतकी सैर करें जहाँ कोइ बन्धन नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि वे भौतिक संवाद, जो हाथोंसे अथवा बाणीये उत्पन्न हो सकते हैं, उन उत्तरतर संवादोंके संकेतमात्र हैं जिनका अनुभव आरम्भको होता है। किन्तु जब वे लोग इन भावोंको व्यक्त करनेकी अथवा उनके साथ शब्दोंकी योजना करनेकी विद्या करते हैं, तब उन शब्दोंका स्वरूप कैसा होता है? स्वभावसे ही वे शब्द धर्म, आदर एवं पूजाके शब्द होते हैं। आरम्भके ये भाव उत्तरे तीव्र होते हैं कि सर्वोच्च एकस्वरताकी मुकार

बास्तवमें हँसरकी पुकार होती है, सब प्रकारसे पूर्ण भीवन एवं पूर्ण प्रेमकी पुकार होती है, जिसके अन्दर आत्माकी सारी अपौर्णताएँ और भिन्नतरताएँ पूर्ण हो जाती है।

इससे यह बात समझमें आ जाती है कि सङ्गीतका धर्मके साथ जो इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है वह काकतार्षीय-न्यायवद् यदृष्टाप्रयुक्त नहीं है। आत्माको एकस्वरताका स्वरूप प्रेम एवं पूजा है। जब आत्मा मनुष्य-जीवनमें एकस्वरताके लिये भ्याकुळ होती है, उस समय उसके अन्दर मनुष्य-आत्मिके प्रति प्रेम एवं दूजाका भाव उत्करुण-से जागृत हो उठता है। पूर्ण मनुष्य-प्रेम एवं मनुष्यकी आत्माके दूसरे मनुष्यकी आत्माके साथ पूर्ण एकस्वरताका नाम है। पूर्ण उपासना जीवात्मा एवं परमात्माके बीच पूर्ण एकस्वरताको कहते हैं। इसी प्रकार जीवात्माकी एकस्वरताके लिये जो तीव्र उत्करुण होती है, वह पूर्ण एवं असीम प्रेमकी ही पुकार होती है। वह पूर्ण एवं असीम प्रेम परमात्माका ही तो स्वरूप है।

इसी प्रकार मनुष्यके अन्दर सौन्दर्यकी स्वामाविक लालसा है। पृथ्वीके महान्-मे-महान् सौन्दर्यमें भी जो उसकी तृप्ति नहीं होती, इसमें भी जीवात्मा एवं परमात्माके महान्-मे-महान् भौतिक सम्बन्धका पता लगता है। उसकी सौन्दर्यभिलाषा शीत्र ही भौतिक सौन्दर्यमें आगे बढ़कर मानसिक एवं नेतिक सौन्दर्यकी ओर छुक जाती है, जो भौतिक सौन्दर्यमें कहीं ऊँचा है। उसे सदा उस आदर्शका ध्यान बना रहता है, उसके साथ उसका प्रेम हो जाता है और उसका ध्यान आते ही वह अनन्दमें उड़ासित हो उठता है। वह आदर्श उसे इस पृथ्वीपर प्राप्त नहीं होता; उसकी पूर्ति, उस सौन्दर्य एवं पूर्णताकी सीमा—परमात्मामें ही होती है। इसमें यह सिद्ध होता है कि मनुष्यकी सौन्दर्यभिलाषा, जो पूर्णमें न्यून किसी भी वस्तुसे तुर नहीं हो सकती, बास्तवमें जीवात्माकी परमात्माके लिये पुकार ही है।

मनुष्यकी सत्यभिलाषा भी इसी बातको सिद्ध करती है। मनुष्यकी आत्मा इस ढंगकी है कि उसे असत्य अथवा मिथ्यासे कभी शान्ति नहीं मिल सकती, उसे सत्य या बास्तविकताकी ही चाह रहती है। वह इस सत्यको एक ही स्थानपर अथवा बाइ आवरणमें ही नहीं, किन्तु सर्वत्र एवं मुख्यसत्या बस्तुओंके अन्तर्स्थलमें जो जही

है। सत्य-शुद्ध, निष्प एवं प्रुव सत्यको इस विषयका आधार समझकर वह उसके लिये ऐसी विद्वालतापूर्ण पुकार करती है, जो मने करनेपर भी शाश्वत नहीं होती। क्या हँसरसे अन्यत्र इसप्रकार सत्य उपलब्ध हो सकता है?

प्रत्येक बन्तुके मूरकमें औचित्रय एवं न्यायकी उपलब्धिके लिये—उस औचित्रयकी उपलब्धिके लिये जो निर्विकार एवं शाश्वत है—जीवात्माकी जो पुकार होती है, वह भी हँसरकी ही पुकार है। मनुष्यको इस शंकासे ही असह बेद्दा होती है कि संसारका यह महान् विभान ऋद्धाचित्र न्यायमें पूर्ण न हो और कदाचित् इस विषयमें अन्यायका विजय और न्यायका पराजय होता हो। मनुष्यकी जो विवेकमय एवं उच्चतम वृत्तियाँ हैं, वे इस विचारको सह नहीं सकतीं और उसकी अन्तरात्मा बोल डालती है कि ऐसा नहीं हो सकता। जगत्के मन्त्रालनमें हमें जहाँ श्रुतियाँ एवं दोष दिखायी देते हैं, जहाँ शुद्धेआम अन्यायकी विजय होती हूँ दूसरी पड़ती हैं, जहाँ पापके कारण अन्धकार-ही अन्धकार इटिगोचर होता है और जहाँ आछोकका आभास भी नहीं मिलता, वही इमारे अन्तरमें एक ऐसी आवाज निकलती है जो दूसरी सारी आवाजोंसे कहीं गहरी होती है। वह हमें कहती है कि इस शंकाका कोई समाधान अवश्य होना चाहिये, कोई ऐसी सबोंपरि सक्ता अवश्य होनी चाहिये, जिसपर इम भरोसा कर सके।

यह वाणी इमारे हृदयमें साक्षीरूपमें निवास करनेवाले हँसरकी ही तो वाणी है! सेषट ओगस्टाइन (St. Augustine)के शब्दोंमें यह वाणी परमात्माको खोजनेवाला उस आत्माका ही स्वरूप है जिसे परमात्माका आध्रय मिले विना कल नहीं पढ़नी। इसप्रकार जब वह विवेक-पूर्वक हँसरका आश्रय ग्रहणकर यह समझने लगती है कि चाहे जो कुछ भी हो, इस अस्तिल विषयके नियन्ताका विभान न्यायपूर्ण ही होगा, तब उसे अस्यन्त ही महान् एवं अनिवार्यनीय दान्ति मिलती है।

मनुष्य जबमें होश संभालता है और अपनी बुद्धिका उपयोग करने लगता है, तबमें लेकर मनुष्यपरम्परा उसकी आत्मा स्वभावमें ही किसी एक ऐसी वस्तुके लिये पुकारती रहती है जो उसमें ऊँची हो, अधिक शक्तिशाली हो, एवं पूर्ण हो, जो उसके दिनका प्रकाश हो, उसके जीवनका आधार हो, समस्त अनिष्ट पदार्थोंमें निष्पक्षसे इहनेबाली ही और उसके आदर्शोंका स्पष्टोकरण करनेवाली हो, जो सारी

विषमताओं और अनेकताओं के अन्तरमें असीम एकता एवं समन्वयके रूपमें रहती हो और जिसको पाकर वह आस-काम हो जाय। आत्माकी इस उकारके कुछ प्रकार हम उपर बता चुके हैं।

इसमेंमे जो लोग ईश्वरके साथ हमारे सम्बन्धके विषयमें अथवा उसपर हमारी निर्भरताके सम्बन्धमें अवश्यामक बात कहते हैं, उन्हें उत्तर देनेके लिये हम जो कुछ उपर कह आये हैं, पर्याप्त है। इसमेंमे कुछ अविवेकी लोगों कभी-कभी कह दिया करते हैं कि 'ज्यों-ज्यों संसार उक्तिके मार्गपर अग्रसर होता जायगा, त्यों-ही-त्यों हमें ईश्वरके अबलम्बकी आवश्यकता नहीं रहेगी।' उपर्युक्त विवेचनमें उनका भी समाधान हो सकेगा।

क्या लोग हमारी ईश्वर-निर्भरताकी दिलगी उड़ाते हैं? क्या अब हमें अपनेमें यहोंकी साध्यताकी आवश्यकता नहीं रही? हा योक! इसप्रकारकी कल्पना करनेवाले हम कौन होते हैं? क्या हम जीवका, अपने रचयिता हैश्वरके विना कभी काम चल सकता है?

हाँ, यदि हम चाहे जब और चाहे जिस योनिमें जन्म ले सकें, अथवा मनमाने समयतक प्राणोंको रख सकें, यदि हम जब चाहे तब दयाकाल अथवा रात्रिका आहात कर सकें; यह सब तो दूर रहा, यदि हम एक तिनकेको भी विना साधनके उत्पक्ष कर सकें, अथवा अधिक नहीं, केवल एक घण्टेक ही यदि हम अपने समयको इसप्रकार व्यतीत कर सकें कि कम-न-कम उत्तने समयमें हमें किसी प्रकार का दुःख, विषाद अथवा मृत्यु न धेरे, तब तो हम यह कह सकते हैं कि हमें ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है, अथवा तब हम अपनी अन्तरामाकी उन हार्दिक उकारोंकी उपेक्षा कर सकते हैं जो सतत उस परमामाका आह्वान करती है, अन्यथा नहीं।

क्या हमारा ईश्वरके बिना काम चल सकता है?

हाँ, यदि अन्य वस्तुओंका अपने जीवनके आधारके बिना काम चल सकता है तो हमारा भी ईश्वरके बिना काम चल सकता है। यदि मठालियाँ पानीके बिना जीवित रह सकती हैं, यदि बनस्पतियाँ प्रकाशके बिना रह सकती हैं, यदि शिशु अपनी मासाके बिना जन्म सकता है और यदि पृथ्वी सूर्यके बिना रह सकती है तो हम भी, जो पृथ्वी माताकी क्षुद्र सन्तान हैं, उस परमामाकी उपेक्षा कर सकते हैं, जो हमारा बल एवं हमारा जीवन है। अथवा उन बाहु एवं अन्तरकी आवाज़ोंकी ओरसे अपने कान मूँद सकते हैं जो हमें सर्वदा उसकी शरण ग्रहण करने तथा उसके प्रेमको प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करती रहती हैं। हम हस बातको नहीं समझते कि ईश्वरके अन्दर कैसी-कैसी अट्ट परं अनन्त निधियाँ भरी हुई हैं।

जरा, कल्पना कीजिये कि, संसारमें ईश्वरकी सत्ता नहीं है! ओः! ईश्वरके बिना विश्वनिरर्थक हो जाता है; ईश्वरके बिना बुद्धि कुपित हो जाती है; ईश्वरके बिना हमारे आदर्श स्वर्म-तुल्य रह जाते हैं और हमारी आवाहाएँ पानीके बुद्बुदोंकी तरह उत्पक्ष होकर बिलीन हो जाती हैं। ईश्वरके बिना श्रद्धा एवं धृष्टि नहीं सकती। ईश्वरके बिना अमरता लुप्त हो जाती है, मनुष्य पशुकी श्रेणीमें पहुँच जाता है और सूख्य तुरन्त सबका ग्रास कर डालती है।

किन्तु ईश्वरकी, सब ईश्वरकी, अनन्त ज्ञान एवं प्रेममें परिष्ठृण ईश्वरकी सत्ता मान लेनेपर संसारका हेतु समझमें आ जाता है, विषमें प्राण आ जाता है, मनुष्य अमर हो जाता है, आशारूप उद्योग जगमगा उठती है, सारे लोकोंमें प्रेमका साक्षात्य छा जाता है और पृथ्वी अथवा स्वर्गकी सभी अछोड़ी वस्तुएँ हमें पृक-न-पृक दिन प्राप्त होकर रहती हैं।

-५- डॉ. डामोदर -५-

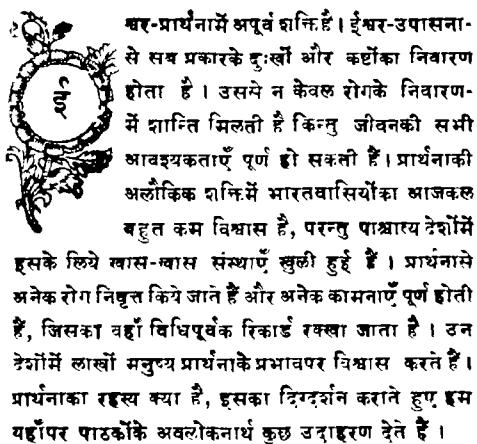
श्यामको सुमिरो

गही मन सब रसको इत-सार ॥ टेक ॥
लोक देव कुल करमै नजिये भजिये नित्य बिहार ॥ १ ॥
गृह कामिनि कञ्जन धन त्यागी सुमिरी स्थाम उद्धार ॥ २ ॥
गहि हरिदास रोति सन्तनकी गादीको अधिकार ॥ ३ ॥

—स्वामी हरिदासजी

ईश्वर-प्रार्थनासे सब आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं

(लेखक--दा० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर, सम्पादक 'कल्पकृष्ण')



चर-प्रार्थनामें अपूर्व शक्ति है। ईश्वर-उपासना-से सब प्रकारके दुःखों और कठोरका निवारण होता है। उसमें न केवल रोगके निवारण-में शान्ति मिलती है किन्तु जीवनकी सभी आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं। प्रार्थनाकी अलौकिक शक्तिमें भारतवासियोंका आजकल बहुत कम विकास है, परन्तु पाश्चात्य देशोंमें इसके लिये खास-खास संस्थाएँ सुली हुई हैं। प्रार्थनासे अनेक रोग निहृत किये जाने हैं और अनेक कामनाएँ पूर्ण होती हैं, जिसका वहाँ विधिपूर्वक रिकार्ड रखा जाता है। उन देशोंमें लाखों मनुष्य प्रार्थनाके प्रभावपर विश्वास करते हैं। प्रार्थनाका रहस्य क्या है, इसका दिग्दर्शन करते हुए इस यहाँपर पाठकोंके अवलोकनार्थ कुछ उदाहरण देते हैं।

प्रार्थनाका रहस्य

प्रार्थनाका विषय एवं सर्व जानना प्रार्थना करनेवालों-के लिये परम आवश्यक है। प्रार्थना क्या है और क्यों की जाती है? प्रार्थनाका उत्तर मिलता है या नहीं? मिलता है तो किसप्रकार? और यदि नहींतो उत्तर न मिलनेका कारण क्या है? प्रार्थनाका अर्थ है 'किसी अर्थकी याचना करना' या 'किसी अभावका उन्मुखकर उसकी पूर्तिके लिये सहायता प्राप्त करना।' प्रार्थनाके तीन प्रयोजन विशेष-कर होते हैं। (१) सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके हेतु या किसी स्थूल अभावकी पूर्तिके निमित्त प्रार्थना की जाती है, जैसे अस्त्र, वस्त्र, नौकरी, धन, ऊँट या तुक्र-प्राप्ति, रोग-निवारण, किसी क्षेत्र या दुःखमें रक्षा, आपत्तिका नाश, सम्मान-प्राप्ति, परीजामें सफलता और विद्या-प्राप्ति आदि सब ईश्वरहारिक सिद्धियोंके लिये। (२) आधिक उच्छितिके लिये, काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि मानसिक विकारोंपर जय प्राप्त करनेके लिये, आस्था क्या है, ईश्वर क्या है, सत्य क्या है, सूक्ष्मके बाद क्या होता है और सृष्टि क्या है इत्यादिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, ज्ञानविक और बौद्धिक उच्छितिके लिये, अध्यात्म-ज्ञान और यथार्थ साधन जाननेके लिये। (३) सीसरे प्रकारके दो सबे प्रार्थना करनेवाले प्रभी भक्त होते हैं जिन्हें कुछ भी माँगना नहीं है। जो केवल उस सहायप्रमुके

ध्यानमें और प्रेममें ही निरन्तर लीन रहना चाहते हैं या उस प्रियतममें एक होनेके लिये अपनी खुदीको भिटाकर ईश्वर-दर्शन या आस्म-साक्षात्कार करनेके लिये अतीव हार्दिक उत्कण्ठा रखते हैं। यह सर्वोक्तु प्रार्थना है।

जो जिस कामनाके लिये प्रार्थना करता है, उसकी वे सब कामनाएँ अवश्य पूर्ण होती हैं। 'यत यत् ईश्वरत सत्य तत्'। प्रार्थनाका उत्तर अवश्य मिलता है। जो धनके लिये प्रार्थना करते हैं उनको यथावास्त्रित धन किसी भी साधन-में मिल जाता है। जो अस्त्र-वस्त्रके लिये प्रार्थना करता है, उसके द्वारपर अस्त्र, वस्त्र किसी भी प्रकार पहुँच जाते हैं। जो विद्या-प्राप्तिके निमित्त प्रार्थना करता है, वह बड़ा विद्यान् हो जाता है। अनाथालय आदि धर्मिक कार्योंमें परोपकारी पुरुषोंके पास, जिनका उद्देश्य केवल प्राणिमात्रको सहायता देकर मेवा करना है, प्रार्थना करनेपर आवश्यक सहायता अवश्य पहुँच जाती है। कभी-कभी प्रार्थना पूर्ण नहीं भी होती। इसका कारण यह है कि एवं-जन्मके कर्मका कोई प्रबल सम्बन्ध इसी प्रकारका होता है कि उसका उसी समय उनको अवश्य ही फल मिलना चाहिये। इसके विरुद्ध यह भी प्रथमध्यमें देखा जाता है कि अनेक पुरुषोंकी प्रार्थनाका कोई उत्तर भी नहीं मिलता, इसका कारण यह है कि या तो उन्हें अमली प्रार्थना करना नहीं आता, या उनके भी पूर्वजन्मका कोई महान् प्रतिव्रत्त्वक होता है।

जो मनुष्य परोपकारी, चरित्रवान्, भद्रासम्पद, ईश्वरमें विश्वासी, प्रबल धारणा-शक्तिवाले और निःस्वार्थी होते हैं, उनकी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती। पापी, कुकर्मी, अविश्वासी अश्रद्धालु और निर्बंल ईश्वाशक्तिवालोंकी प्रार्थना ही प्रायः निष्फल हुआ करती है। प्रार्थनाओंका उत्तरदाता ईश्वर ही है। ईश्वर सर्वविषयक, सर्वतु, सर्वशक्तिमान् है। जिसकी शक्तिमें, जिसके ज्ञानमें, जिसके प्रेममें समस्त अराचर स्थित है—जो सृष्टिमें सर्वत्र मौजूद है। जिसके ज्ञान-के बिना एक पक्षी भी आकाशमें नहीं उड़ता, जिसके ज्ञानके बिना एक चोटी भी भूमिपर पैर नहीं रखती, ऐसा सर्वविधाता ईश्वर ही है, वही प्राणियोंकी प्रार्थनाओंको सुनता है और उनका यथोचित उत्तर देता है।

इह अखासे ईश्वर-प्रार्थना करनेवालेके जीवनमें अनेक विचित्र-विचित्र अनहोनी घटनाएँ घटित होती हैं। मैं यहाँ पाइचात्य देशके प्रार्थना करनेवाले कुछ भ्रष्ट पुरुषोंका ही परिचय हूँगा।

१-विलायतके स्वर्गीय जार्ज मूलर प्रसिद्ध ईश्वर-भक्त थे, हन्होने सैकड़ों अनाधारलय स्थापित किये हैं। इनका सारा काम प्रार्थनापर ही चलता था, ये कभी न तो किसीके पास एक पाईके लिये भी याचना करने गये थे और न कभी हन्होने अपील ही प्रकाशित की थी, किर भी है—५०००००० रुपौंड दृढ़ भर्त्यांत २२५००००० सबा दो करोड़ रुपये घर बैठे प्राप्त हुए थे। मूलर साहबका प्रार्थनामें बहुत ही अटल विश्वास था। एक बारका बृत्तान्त है कि उनके अनाधारलयमें बालकोंके लिये भोजन नहीं था। प्रयन्त्रकने आकर कहा कि, 'आज तो एक मुट्ठी अम्ल भी नहीं है—क्या किया जाय ?' मूलर साहबने कहा 'आप अपना काम कीजिये, टेबल, तक्तरी आदि सब ठीक कीजिये।' वह आश्र्य करने लगा कि 'यह मनुष्य बया पागल हो गया है ?' किर थोड़ी देर बाद उसने आकर कहा कि 'कुछ प्रवन्धन कीजिये, बालकोंके भोजनका समय सजिकट है !' मूलर साहबने पुनः वही उत्तर दिया कि 'आप अपना काम कीजिये' किन्तु इससे प्रवन्धको सन्तोष न हुआ, वह पुनः मूलरके पास आकर तेजीसे खोला कि 'खानेका समय ही गया, बया घण्टा बजा दिया जाय ?' मूलर साहबने पूर्ण आदा और इह विश्वाससे उत्तर दिया—'घण्टा बजा दो।' हमारा जो काम था, हमने कर दिया, अब दोष जिनका काम है वे अपना करेंगे।' भोजनके लिये सब बालकोंके एकत्र होते ही तुरन्त भोजनकी पकी-पकाई पूरी सामग्री अनाधारलयमें उसी समय आ गयी। किसी बड़े आदमीने उस दिन अपने मिथेंको बढ़ा भोज देनेका आयोजन किया था और एक होटलमें सब सामग्री तैयार करवायी थी, किन्तु किसी कारणवश वह भोज स्थगित करना पड़ा। उस मुकुल्यको यह जनतःप्रेरणा हुई कि सामान सब जायगा, इसलिये इसको मूलर साहबके अनाधारलयमें भेज देना चाहिये। उसने होटल-मैनेजरको आशा ही कि सारी सामग्री भोजन-के समयतक अनाधारलयमें भेज दी। बालकोंने प्रेम-पूर्वक भोजन किया और सबको बढ़ा आश्र्य हुआ। मूलर साहबने प्रार्थनासे उठकर प्रवन्धको बुलाया और उसे आशा ही कि उस्वारे समान अदिश्वासी मनुष्य-

की मुझे आवश्यकता नहीं, जिये उस परम पिता परमेश्वर-पर घण्टेभरके लिये भी विश्वास नहीं है।

एक बार मूलर साहब ईश्वरवादपर अध्यात्म देनेको जहाजसे कहीं जा रहे थे। मार्गमें बड़े जोरोंमें कुहरा पड़ा, सर्वत्र भुज्ज आ गयी, कहीं मार्ग दिसायी नहीं देता था। मूलरने कसानमें कहा कि 'महात्मा ! मुझे शनीचर पहली तारीखको अवश्य पहुँचना है।' कसानने कहा 'असम्भव है, देसो कैसा कुहरा पढ़ रहा है !' मूलरने कसानके कन्धोंपर हाथ रखकर कहा कि 'आओ, ईश्वरमें प्रार्थना करें जिसने यह दूर हो जाय !' कसानने कहा—'तुम किस पागलवानेमें आये हो जो इसप्रकारकी अनहोनी बात कर रहे हो ?' मूलरने कहा—'मैंने प्रार्थना की है और अभी उसका उत्तर मिलेगा, मैं ५९ वर्षोंसे अपने प्रभुका साक्षात्कार कर रहा हूँ और अभीतक मेरी प्रार्थनाके अचूक उत्तर मिले हैं। मेरी इष्टि उस परम प्रभुकी ओर है, जो जीवनकी प्रथेक म्यातिपर शासन करता है। आओ, डेक-पर जाओ, देखो कुहरा उत्तर रहा है !' कसान भी इस सीधे-सादे भनुप्रयक्ती प्रार्थनाके प्रभावको देखकर घकित हो गया। कुहरा दूर हुआ और मूलर बैंबेक्को ठीक उसी समय पहुँचा, जिस समय उसे पहुँचना आवश्यक था। मूलरका सारा जीवन प्रार्थनाक्षय था। #

२-अमेरिका (कनसास) में इस समय ईश्वरवादका प्रचार करनेवाले मिस्टर बेल्स फिल्मोर महाशय हैं जिन्होने 'यूनिटी स्कूल आफ़ क्रियानिटी' नामक अध्यात्मवादकी एक बड़ी भारी संस्था स्थापित की है। मिं. फिल्मोर जन्मसे लूटें-लूटाए थे, महान् दरिद्र-अवस्थामें वे और इनके छो-बच्चे सभी क्षय-रोगसे पीड़ित थे, इनकी पलीको प्रेरणा हुई कि ईश्वरकी प्रार्थनामें हम चंगे हो सकते हैं।

केवल प्रार्थनाके बलसे अपनेको तथा कुदिविद्योंको रोग-मुक करके कोई आळीस-पैंतालीस सालमें आप टक्क संस्थाका सञ्चालन कर रहे हैं और केवल भगवान्प्रार्थनामें बदलु़ पुरुषोंकी अधिन्याधि, दरिद्रता, रोग, बोक भिटा-कर उठाएँ सुख-शान्ति-पूर्ण जीवन प्रदान कर रहे हैं। एक करोड़के स्थानगाँवी सम्पत्ति संस्थाको समर्पण करके स्वयं एक सापारण द्यक्षिका-सा जीवन व्यवहार कर रहे हैं। यूनिटी एक जगह-सा यस गया है। इनके 'यूनिटी देढ़ी बह' आदि

३-मूलरके विषयमें विशेष जानकारी हो तो '▲ venture of faith' पुस्तक दर्शिये।

दस मासिक सासाहिक पत्र हैं जिनमें ईश्वर सम्बन्धी महात्मा-पूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं, बाहर भेजे जाते हैं। १३५०० प्राह्ल को अकेके लोगों पर्यालीज शहरमें ही है। ४००० पत्र नियम आते हैं और ८००० से ऊपर पत्र नियम आते हैं, ६०००० पार्सल पैकेट प्रतिमास भेजे जाते हैं, यूनिटों के प्रतिदिन १००० प्राह्ल बनते हैं, बीस लाख लोट-पेपर प्रतिवर्ष काममें लिये जाते हैं। संस्थामें चार सौ आश्रमी नियम काम करते हैं। सबको वेतन मिलता है। ९० आदिमी तो सिर्फ प्रार्थनाके लिये नियुक्त हैं, इनको जो लोग निःस्वार्थभावसे प्रेम-स्वरूप मेंट भेजते हैं, उसीमेंदे दिया जाता है।

इसमें बच्चोंके लिये, युवाओंके लिये, अन्धोंके लिये अलग-अलग मासिक साहित्य प्रकाशित होता है। पत्र कई भाषाओंमें—जर्मन, हटली, फ्रेंच, स्पेनिश, नार्थेजियन आदिमें-प्रकाशित होते हैं। यूनिटोंके ४० विभाग हैं।

- (१) रोगीको बिना देखे प्रार्थनामें छुलाज करना।
- (२) गरीब, बेकार, दिवालियोंके लिये प्रार्थनामें सहायता दिलाना।

(३) मानसिक उत्तमि और अपने सुधारके लिये प्रार्थना करना।

(४) शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक कठिनाहृतोंको प्रार्थनाके बलमें नूर करनेका प्रयत्न करना।

संस्थाका सर्व लोगोंके प्रसक्षणा या प्रीतिमें दिये हुए दानपर चलता है। मध्येण कार्यकर्ता मास-भोजनमें परहेज करते हैं, सब घरोंको आश्रकी दृष्टिये देखते हैं, एवं अध्यात्मवादी हैं। कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तोंको क्षिक्षियन-धर्ममें सिद्ध करते हैं, एवं संख्याग्रीही हैं।

१-एक अमेरिकन धनिक लोका पुत्र दिवाला निकलनेमें धरमे लापता हो गया। उसकी माताका अपने पुत्रपर परम स्नेह था। वह परमात्माकी परम भक्त थी और ईश्वर-प्रार्थनापर उसका अटल विश्वास था। पुत्रके वियोगमें वह रात-दिन ईश्वर-प्रार्थना किया करती थी। पश्चोसके लोग उसे पागल समझते थे कि इनने वर्षोंमें पुत्रके लिये प्रार्थना कर रही है, पुत्र कहीं भर-मरा गया होगा। पागल औरत व्यर्थ रो-रोकर जीवन नाश कर रही है। पर उसे प्रार्थनामें दृढ़ विश्वास था, वह धरमें शाहर नहीं निकलती थी। तीस वर्ष बाद एक दृढ़ा व्यक्ति उसका पता पछता-

पछता उसी गलीमें आया, तलाश करनेपर पड़ोसके लोगोंने कहा—‘हाँ, यहाँ एक पागल भी रहती है जो अपने पुत्रके पीछे पागल हो रही है।’ वह व्यक्ति वहाँ ईश्वराजेपर पहुंचा। लड़केने आवाज़ दी—‘माँ! मैं आ गया।’ माताने तुरमत ईश्वराजा स्त्रीला और तीस वर्षकी प्रार्थनाकी कठिन तपस्याके बलमें उसको अपने पास लुला लिया। अब तो सब लोग उस स्त्रीका बड़ा आश्र करने लगे और उसके द्वारा प्रार्थनाका बड़ा प्रसार हुआ। उसका पुत्र इस समय अमेरिकामें प्रसिद्ध धर्मोपदेशक है।

४-अमेरिकामें होलीयोकमें नवीन विचारोंका और ईश्वरवादका प्रसार करनेवाली विश्व-सुप्रसिद्ध भ्रीणलिज-बेथ टाउन महोदया है। वह नाटिलम नामका नवीन विचारोंका प्रसिद्ध पत्र प्रकाशित करती है। इस पत्रके लाखों पढ़नेवाले हैं। प्रत्येक अङ्कमें ईश्वर-प्रार्थना-सम्बन्धी सम्पादकीय महात्म्यपूर्ण लेख रहते हैं और प्रार्थनाके बलमें दृश्य, दिविता, रोग आदि मेटनेके अनुभवपूर्ण अन्य लेख भी अपने हैं। इस पत्रद्वारा लाखों मनुष्योंमें ईश्वर-भाव और उपासनाकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट हुआ है और लाखोंका जीवन चिन्ता, होश और कष्टमें मुक्त होकर आनन्दमय बना है। डॉक्टर थोरो और इमर्सनके बाद पुलिज़िबेथ टाउन ही नूतन मतकी अग्रगत्य नेत्री है। इहाँने नवीन विचारके कहूँ ग्रन्थ लिखे हैं।

५—इंग्लैण्ड चिक्सेटरमें बिस्टर हेल्बलिन ईश्वरवादके प्रचारका सराहनीय कार्य कर रहे हैं। आप ‘साइन्स आफ थॉट रिव्यू’ पत्र प्रकाशित करते हैं, कहूँ पुस्तकोंके लेखक हैं और उच्च विद्यारके परम ईश्वर-भक्त व्यक्ति हैं। इनके जीवन और कार्यमें हजारों मनुष्योंके जीवनमें परिवर्तन हुआ और अनेकों नास्तिक आस्तिक हो गये हैं। धन्य है, ऐसे नर-रक्षकोंकी जो ईश्वर-तथ्यका स्वर्यं साक्षात् कार करके जनताका कल्याण कर रहे हैं।

६—डॉक्टर मेयर एक जहाजपर जा रहे थे। तब प्रार्थनासें डस्टर मिलता है या नहीं, इस विषयमें डस्टरके भाषण होते थे। एक भाषणमें एक नास्तिक उपस्थित थे, उन्होंने कहा कि ‘मैं आपके एक शब्दपर भी विश्वास नहीं करता।’ दूसरे दिनकी बात है, डॉक्टर मेयर तीसरे दृजेके मुसाफिरोंमें भाषण देने जा रहे थे। उसके पीछे नास्तिक महोदय भी हो लिये और अपने पाकेमें दो नारंगी लेते गये। जब वे तीसरे दृजेके मुसाफिरोंके पाससे होकर

जा रहे थे, तो उन्होंने देखा कि एक बुद्धा जी आँखें बन्द किये हाथोंको फैलाये दुए लूप गाढ़ भिन्नामें सोयी हुई है। नास्तिक महोदय दोनों नारंगी उसके हाथोंमें ढाककर आबणमें छलते बने। भावणसे छौटते समय नास्तिक महोदय देखते हैं कि वह बुद्धा जी आनन्दपूर्वक नारंगी ला रही है। नास्तिक महोदयने कहा 'श्रीमती समतरेके आनन्दका उपभोग कर रही है।' उसने जावाद दिया- 'हाँ महाशयजी, मेरे पिता वडे भले आदमी हैं, उनकी मुझपर वडी कृपा है।' नास्तिकने आश्रयसे पूछा- 'तुम अस्सी वर्षकी हो, तुम्हारे पिता कैसे जीवित हैं ?' तुम कैसी पागलकी-सी बातें करती हो !' बुद्धियाने कहा 'महाशय ! मैं कहूँ दिनोंसे समुद्री इवाके रोगमें पीड़ित हूँ—मैंने परम पिता परमात्मासे प्रार्थना की कि किसी तरह मेरे पास एक नारंगी भेज दो।' मैं प्रार्थना करते-करते गाढ़ निधामें सो गयी, जब मेरी आँखें सुन्दी तब क्या देखती हूँ कि मेरे दयालु पिताने एकके बदले दो नारंगी मेरे किये भेज दीं।'

नास्तिक महोदयने जाते समय मजाकके तौरपर देसा किया था किन्तु बुद्धियाका टड़ विश्वास देखकर वे दैंग रह गये और उस दिनमें उनकी ईश्वरपर अटल अद्वा हो गयी।

३- अभी योद्धे दिनोंकी बात है कि अमेरिकामें एक ग्राममें वर्षाके लिये ज्ञी-पुरुष समिलित प्रार्थना कर रहे थे, वहाँ वर्षी न होनेमें खेतोंको वडी हानि पहुँच रही

थी, वे सब मिलकर प्रार्थना कर रहे थे कि उनमेंसे एक बालिका चट भागकर घरपर चली गयी और छाता ले आयी। प्रार्थना समाप्त होनेपर सब लोग छलने लगे। बालिका छाता लगाकर चली, उसपर कहूँ लोग हँस पड़े कि 'कैसी पागली छढ़की है, कहीं वर्षाका चिन्ह नहीं है और यह छाता लगा रही है।' छोटी-सी बालिका कहती है 'हाँ, हाँ, अभी सूसलाधार वर्षी होती है।' इसने प्रार्थना की है।' योद्धी ही देरमें सूसलाधार वर्षी होने की। अस्य है उस बालिकाको जिमे इतना टड़ विश्वास था !

४- वैष्णवारि बाहुबलके समय एक जाने समिलित प्रार्थनामें अपने अत्यन्त शराबकी पतिको शराबकी आदत छुट्टानेके लिये प्रार्थना की। तूसरोंने भी उसकी प्रार्थनामें योग दिया। उस समय उसका पति शराबकी बूकानपर बैठा हुआ शराब लेकर पानेको ही था कि किसी जवरदन शक्तिने उसको प्रेरणा करके प्रार्थना-मन्दिरमें भेज दिया। वहाँ जाकर उसने शराब न पीनेकी शक्ति ले ली, तबमें जीवनमें उसने शराब कभी नहीं पीया।

इसप्रकारकी निष्य ही अनेकों घटनाएँ प्रार्थना करने-वालोंके जीवनमें घटित होती हैं। इस सब कथनका सारांश यह है कि प्रार्थनामें असीच बल है। प्रार्थनामें मनुष्य अपने जीवनमें आदे जैसे विलक्षण परिवर्तन कर सकता है और उसकी सारी आबद्धतामें पूर्ण हो सकती है। सब जगतुका कल्पण हो।

कौन कहता है ईश्वर नहीं है ?

वह अद्विनाशी, शिव, सत्य और सुन्दर है;

कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।'

वह अखिल-विश्वका पालक है; भर्ती है;

माया-प्रपञ्च-अज्ञान पाप-हरा है।

वह सत्य-निष्ठ, धृति दया-धर्म-धर्ती है;

सारा जग कर्म-स्वरूप; वही कर्ता है।

सुनता दीनोंका आते-नाद सत्वर है;

कहिये ! कहत है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (१)

'वह' ही है, हमको 'मार्ग दिखानेवाला' ;

वह ही है, 'सच्चा-ज्ञान' सिखानेवाला।

वह ही है, 'शुभ कर्तव्य' बतानेवाला ;

वह ही है, 'निज-आनन्द' जतानेवाला।

उसके समान वही 'मग्न' नटवर है ;

कहिये ! कहत है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (२)

दयाशब्द 'मग्न'

ईश्वर क्या है ? अच्छा मैं हूँ बतलाता ;

है एक शक्ति जो आस्ति विश्व निर्भाता।

दूसरी शक्ति है सकल विश्वकी ब्राता।

तीसरी शक्तिसे जगत संहारा जाता।

तीनोंका मिश्रित रूप परम ईश्वर है ;

कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (१)

ईश्वरका घर क्या है ? जगका 'प्रति करण' है ;

क्या आयु ? समयका गत-आगत 'प्रति क्षण' है।

मोर्जन क्या ? करता नियम गर्व-मक्षण है ;

पीता क्या ? करता सदा पाप-शोषण है।

उसका ल्लमाव कैसा है ? अति मुदुतर है ;

कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (१)

आत्माके सम्बन्धमें प्राच्य और पाश्चात्य सिद्धान्त

(सेलिका — श्रीपती जीन विलेयर, इटम, इंगलैण्ड)

‘आत्मा ही परमात्मा है’—यह उक्ति तो हमको भी अनोखी जान पड़ती है; किन्तु महि आत्मा परमात्मा नहीं है तो किर वह और हो ही क्या सकता है ?

(Prof. Maxmuller)

ईसाई-धर्मका दो हजार वर्षतक अनवरत प्रचार होते रहनेपर भी मनुष्यको इसके द्वारा अपने आत्माका स्वरूप समझनेमें बहुत कम सहायता मिली है। क्या यह आश्रयकी बात नहीं है ? इसका थोड़ा-बहुत समाधान हमप्रकार किया जाता है कि ईसाई-मत आध्यात्मिक सिद्धान्तोंकी भित्तिपर स्थित नहीं है, अपितु वह एक आधार-प्रधान धर्म है। भारतवर्षके महान् वैदिक धर्मको, जिसकी एक उत्कृष्ट शाखा वेदान्त-मत है, हम ज्ञान-प्रधान धर्म (Wisdom-religion) कह सकते हैं। इसी प्रकार ईसाई-मतके सर्वोत्तम मिद्दान्तको ध्यानमें रखते हुए हम उसे प्रेम-प्रधान धर्म (Religion of love) कह सकते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हिन्दुओंने धर्मके आचारांशको विकृल भुला दिया हो, किन्तु हम पाश्चात्य-देशावसियोंने धर्मके ज्ञान-काण्डको, उसके दार्शनिक आधारको—अध्यात्मविद्याको, एक प्रकारसे विस्फुल भुलाना दिया है। अवश्य ही ईसाई-धर्मके कृतिपर्य सम्प्रदायोंमें मानव-शरीरके अन्दर निवास करनेवाले अध्यय आत्माका स्वरूप निर्देश करनेकी थोड़ी-बहुत चेष्टा की गयी है, किन्तु बहुधा उनकी चेष्टाएँ दुराग्रहणी रही हैं। आध्यात्मिक वाङ्गलहके अतिरिक्त उनका कोई परिणाम नहीं हुआ। जीवात्माका स्वरूप क्या है, ईश्वरके साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकारका है, पहले-पहल वह मर्यालोकमें कैसे आता है और अन्तमें स्वर्ग अथवा नरकमें जाकर उसकी क्या गति होती है इत्यादि गम्भीर प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये अति प्राचीन कालमें जब ईसाई-धर्मके आधार्य एकत्रित होते थे, तो उनके बाद-विवादका परिणाम अपने भ्रतके आग्रहके मिवा और कुछ नहीं होता था और जो लोग उनके ‘वादावाद्यं प्रमाणम्’ इस सिद्धान्तको नहीं मानते थे, उनको समाजसे छुत कर दिया जाता था।

पौरीत्व दार्शनिकोंकी फूलति दूसरे ही प्रकारकी थी।

परापि वे भी आप-प्रमाणको मानते थे, यहाँतक कि देशोंको उन्होंने ‘ईश्वरकी वाणी’ कहा है; किन्तु वे प्रकृतिका भी वरेष परिवीलन करते थे, मानव-समाजका अध्ययन करते थे, इव्वत् पूर्व अवधन् अर्थात् वादा एवं आन्तरिक उभय जगत्का निरीक्षण करते थे। उन्होंने युगोंतक जीवनके गहन तत्त्वोंका अनुसन्धान करके एक ऐसे दर्शन अथवा धर्मकी रचना की—(भारतमें दर्शन और धर्ममें भेद कभी नहीं रहा)—जिसका प्रकृतिके किसी ज्ञात नियमके साथ विरोध नहीं है, जिसमें मनुष्यकी बुद्धिका पूर्ण समाधान होता है और जिसके द्वारा मानव-हृदयकी ऊँची-मेरुची अभिलालाकी पूर्तिके लिये उल्लासपूर्ण आशासन मिलता है। हिन्दू-धर्ममें जीवात्माके स्वरूपका जो निर्दर्शन किया गया है, वह अन्य पांचाश्य सिद्धान्तोंकी अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट, युनियुक एवं एक प्रकारसे आधुनिकताको लिये हुए है, यद्यपि उसका प्रतिपादन हजारों वर्ष पूर्व किया जा चुका था।

हिन्दू-महायिंगोंके मतमें आत्मा कोई अनिर्वैश्य अथवा अलौकिक वस्तु नहीं है जो मनुष्यको ईश्वरकी ओरसे विशेष अनुग्रहके उपलक्ष्यमें प्राप्त हुई हो, या जो किसी दिन अक्षमात् उद्भूत हो गयी हो। भारतीय मिद्दान्तके अनुसार आत्मा केवल जीवन—दिव्य जीवन-स्वरूप है—जो मनुष्य-शरीरमें प्रवेशकर अपने आपका अनुभव करने लग जाती है। जीवनमात्र दिव्य है, परमात्माका स्वरूप है, जिसमें सारा विश्व अनुप्राणित हो रहा है, यह दिव्य जीवन, यह दिव्य चेतना जो सारी प्रकृतिमें अव्यूहितरूपमें ओत-प्रोत है, मनुष्यके अन्दर व्यष्टिरूपमें प्रकट हुआ समष्टिचेतन है। वह जीवन है, दिव्य जीवन है, अनन्त जीवन है। ईश्वर और जीव अभिज हैं।

इस छोटेसे निबन्धमें हिन्दुओंके मनोविज्ञानशास्त्रके सूचम विवारोंका दिव्यदर्शन कराना असम्भव-सा प्रतीत होता है, क्योंकि उसके अन्दर ऐसी-ऐसी अद्भुत वारीकियोंका वर्णन है जिनपर साधारण मनुष्योंको विश्वास नहीं होता, हिन्दू-शास्त्रोंका गृह वर्ष न समाप्तकर कुछ पाश्चात्य विद्वानों-

ने उन्हें निरा बस्तोंका लेक बतलाया है। परन्तु वे इस बातको भूलते हैं कि मनुष्यके अन्तःकरणकी जटिल वृत्तियों, उसकी चेतना-शक्तिके गृह इस्थियोंकी जितनी गहरी छानवीन भारतीय दार्शनिकोंने की है, उन्होंने प्राचीन अथवा अर्वाचीन कोई भी देश या जाति नहीं कर सकी है। उनके मनोविज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्तोंका दिशदर्शन करानेके लिये यह कहना पर्याप्त होगा कि अन्य कई प्राचीन जातियोंकी भौति भारतवासियोंने भी अति प्राचीन कालसे ही जीवको तीन, चार एवं अधिक-से-अधिक सात तस्वीं या अभिष्यक्तियोंके द्वारोंमें विभाजित किया है। बैद्यनित्योंने अधिकांशमें चतुर्विध विभागकी पद्धतिको स्वीकार किया है। उन्होंने मनुष्यके चार विग्रह बतलाये हैं—

१—रूप-शरीर—अर्थात् हन्दियोद्वारा प्राप्त यह पञ्च-भूतोंमें बना हुआ देह जो सबसे बाहरका आवरण है।

२—मूर्धम-शरीर जो एक अद्यन्त सूक्ष्म ईश्वर नामक तत्त्वसे बना हुआ देह है, जो भौतिक शरीरके अन्दर अनुपविष्ट है और जो प्राण अर्थात् देह-धारणकी शक्तिका बाहक है।

३—काम-शरीर—अर्थात् हृच्छामय शरीर जो मनो-भावोंका व्यञ्जक है।

४—कारण-शरीर—अर्थात् मानसिक देह, जिसके द्वारा विचारका कार्य होता है।

इन सारे शरीरोंके भीतर और उनके परे जीव किंवा हुआ रहना है जिसे आत्मा^{*} Spirit (पुरुष), प्राण, अवन्न प्राणका प्राण—(Breath of the endless breath) ईश्वरीय तत्त्व, आध्यारिमिक अस्त्यु पुरुष आदि नामोंमें पुकारते हैं।

इस तत्त्वका यदि इस और अधिक विश्लेषण करें और हन शरीरों अथवा द्वारोंके और अधिक विभाग एवं अवान्तर-विभाग करें तो हमें हनके सात विभाग करने होंगे जिनका उल्लेख हिन्दू-दर्शन-शास्त्रके कई आधुनिक

* संग्रहके 'आत्मन्' शब्दके लिये, जिसे बूजाना भावामें Pneuma कहते हैं, अपेक्षामें 'Spirit' शब्दका प्रयोग करना चाहिये, 'Soul' शब्दका नहीं; यथापि 'Soul' शब्दको भी कभी-कभी मनुष्य-जीवनके अविनाशी तत्त्वके अर्थमें प्रयोग होता है जो इसका प्रचलित अर्थ है।

३२

ग्रन्थोंमें और थियोसोफी (Theosophy) मतके अधिकांश सिद्धान्तग्रन्थोंमें मिलता है। इस विभागके अनुसार मनुष्यको तीन और तीन छः तत्त्वोंका समुदाय माना गया है—जिनमेंसे तीन उच्च तत्त्वोंका प्रतिविम्ब तीन अधम तत्त्वोंपर पड़ता है, जो मिलकर उस एक तत्त्वमें केन्द्रित हो जाते हैं जिसे ध्यष्टि-चेतन कहते हैं और जो समस्त-चेतनसे अभिन्न है।

परन्तु यहाँ सो उन भेद-प्रभेदोंका लिर्वेशमात्र कर देना अलं द्वया, इससे अधिक सम्भव नहीं। संक्षेपके लिये इस मनुष्यके जीवको आध्मा और देह, पुरुष और प्रकृति, अथवा जीवन—दिव्य जीवन—और उसका मूर्त्यस्वरूप इन दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यह विभाग यथापि बहुत स्थूल है किन्तु सारी मनोवैज्ञानिक पद्धतियोंका आधार है, चाहे वे चतुर्विध विभागको मानती हीं या सप्तविधको, प्राच्य हीं या पाश्चात्य, प्राचीन हीं अथवा अर्वाचीन। यह द्वैत ऐसा है कि जिससे कट्टर-से-कट्टर अडैतवादी भी सर्वथा नहीं बच सकते। पाश्चात्य विद्वान् इस द्वैतको इस-प्रकारामें व्यक्त करते हैं कि मनुष्य शरीर है और उसके अन्दर आध्माका निवास है। पौर्वात्य देशोंमें विद्वान् इसी बातको दूसरी तरहसे अभिष्यक्त करते हैं, वे कहते हैं कि 'चेतन आध्मा है और वह शरीर धारण करता है।'

हिन्दुओंके अध्यात्मशास्त्रका यह मूल-मन्त्र है। आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्तोंमें और इसमें सबसे बड़ा अन्तर यही है; इसीकी बढ़ौलत हिन्दू-धर्म सारे विश्व-धर्मों-की अपेक्षा अधिक अध्यात्ममूलक होनेका दावा करता है। 'चेतन आध्मा है और वह शरीर धारण किये हुए है' दार्शनिक इस शरीर अथवा शरीरोंके चाहे जितने ही विभाग और अवान्तर-विभाग कर सकते हैं, मनुष्यको भौतिक, भावुक, मानसिक इत्यादि कई तत्त्वोंमें विभक्त कर सकते हैं, किन्तु मूल-सिद्धान्त तो यह है कि मनुष्य—उसका वास्तविक रूप, जीवाध्मा—एक अविनाशी एवं दिव्य आध्यारिमिक तत्त्व है जो कुछ कालके लिये भौतिक शरीर धारणकर इस भौतिक जगतमें अभिष्यक्त होता है। कम-से-कम भारतवर्षके लिये Leo Tolstoy के निझ-लिखित शब्द, विश्वकूल यथार्थ हैं—

The essence of religious truth is this, that man is a Spiritual being, Similar to his source, God.

अर्थात् धार्मिक तथ्यका सार यह है कि मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है और इसप्रकार अपने मूल—परमात्मा—के सहशर है।

कहर-से-कहर अज्ञातवादी भी एक चरम अज्ञात सत्ताको अवश्य स्वीकार करते हैं जो ध्यक्त-जीवनके प्रतिक्षण बदलनेवाले रूपोंके बाहर-भीतर, उपर-नीचे व्याप्त रहती है। इस ब्रह्माण्डको हम एक ध्यवस्थित व्यापार न मानकर एक उद्देश्यहीन उथल-पुथल मानें, जिसमें अज्ञात शक्तियोंका अनवरत विवेकशून्य व्यापार हो रहा है तो दूसरी बात है, यथापि अखिल ब्रह्माण्डमें एक भी कार्य ऐसा नहीं है जिससे हम ऐसा अनुमान कर सकें। किन्तु यदि हम विश्वको एक ध्यवस्थित वस्तु मानते हैं तो हमारेलिये एक ऐसी सत्ताको स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है जो सारे सद्-पदार्थोंका कारणरहित कारण (Rootless root) है। यह सत्ता एक—अद्वितीय होनी चाहिये; इसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं हो सकती; यह विश्वमें ओतप्रोत है; यही नहीं, सारा विश्व उसीका आकार है।

मार्त्रीय क्षुतियाँ कहती हैं—

‘वह सर्वमें पवनरूपये रहता है, ज्योतिर्मय प्रदेशमें व्यापक-रूपसे विद्यमान है, वेदीपरअग्निरूपसे स्थित है, घरमें अतिथि होकर निवास करता है, उसका मनुष्यके अनन्दर निवास है, मनुष्यसे श्रेष्ठ भूतों अर्थात् देवताओंमें भी उसकी स्थिति है……। वह अखिल मृदिका एकाधिपति एवं अन्तरात्मा है……। जो विवेकी पुरुष अपने अन्तरात्मामें उसका दर्शन करते हैं, उन्हींको शाश्वत आनन्द-मिलता है।’^{१४}

ब्रह्मकी जगद्यमें ओतप्रोतता तथा जगत्परताके सिद्धान्त-का इससे अधिक म्पट विवरण और क्या हो सकता है? अति प्राचीन कालमें हिन्दू-दार्शनिकोंने यह अवगत कर लिया था कि प्रकृतिका जो मूल आधार है, मनुष्यका चरम

* ह.स: शुचिपद्मुनर्धक्षमडोता वेदिपद्मतिथुरोणसत् ।

नृष्ट्रसदृतसदृद्वोमसदृजा गोजा अनजा अद्विजा ऋतम्बृहद् ॥

(कठ० २, ५, २)

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा

एवं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति धीरा-

स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

(कठ० २, ५, १२)

तत्त्व भी वही है। उनका विश्वास था कि जगत्का प्रत्येक अग्न-परमाणु जिस दिव्य जीवनसे अनुप्राणित है, वही आत्मरूपसे मनुष्यके हृत-प्रदेशमें भी अवस्थित है; जो अनन्त-शक्ति अखिल विश्वमें व्याप्त है वही मनुष्यके अनन्दर रूपात्मेतनके रूपमें व्यक्त होती है। मनुष्यके अनन्दर ध्यापक ब्रह्मके इसप्रकार परिच्छिङ्ग हो जानेको ही हम सन्देहयुक्त भाषामें उदात्त आत्मा (Higher Self), दिव्य मूलिंग (Divine spark), अविनाशीतत्व (Immortal Principle), जीवात्मा (Ego) अथवा मानवीय आत्मा (Human soul) हस्यादिके नामसे पुकारते हैं।

वास्तवमें यदि हम क्षणभर भी हस विप्रयपर गम्भीर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि विश्वके मूल आधार-को माननेके लिये हमारे पास जो प्रमाण हैं, उन्हीं प्रमाणों-से मनुष्यके चरम तत्त्वकी सत्ता भी सिद्ध होती है। हम देखते हैं कि प्रकृतिमें प्रतिक्षण हलचल हो रही है, अनन्त प्रकारके आकार, वर्ण एवं शब्द उत्पन्न होते और विलीन हो जाते हैं, उनकी एक विचित्र औंखमिच्चनीका खेल-सा होता रहता है। हस हलचलमें, उन विकारोंमें, जीवन-के हस निरन्तर बूमनेवाले चक्करे हम यह अनुमान करते हैं कि इन विकारोंके परे एक विकाररहित सत्ता अवश्य होनी चाहिये जो हम सारे विकारोंका कारण है। प्रकृतिवादी (Materialist) उस सत्ताका ‘स्वभाव’ (as Ding an sich) के नामसे निर्देश करता है, वेदान्ती उसे निर्जुन ब्रह्मके नाममें पुकारता है, भक्त उत्तरे वैकुण्ठमें विराजनेवाला जगत्प्रिया कहता है और अनेकों नाम-रूपों-से उसकी उपासना करता है।

किन्तु जब हम मानव-जीवनकी समीक्षा करते हैं तो क्या हम नहीं देखते कि उसके अनन्दर भी उसी प्रकारके अनुल विकार हो रहे हैं? हम उसे देहरूपमें अवस्थित पाते हैं और उस देह पूर्व उसके अन्तर्वर्ती प्रत्येक अणुमें निरन्तर क्रिया होती रहती है। किसी हिन्दू-दार्शनिकने अल्प शब्दोंमें शरीरकी इच्छाकी ही नाम है। स्थूल प्रकृतिके सूक्ष्मतम तत्त्वोंको चाहे हम उन्हें Atom (अणु), Ion (परमाणु) अथवा Electron (विद्युदणु) किसी नाममें भी पुकारें, एक अविच्छिन्न धारा एक मूर्तरूपसे दूसरे मूर्त-रूपमें अद्वितीयरूपसे प्रवाहित होती रहती है। हस क्षण उन-के द्वारा एक मनुष्यदेहकी रक्षण होती है तो दूसरे ही क्षण

वह दूसरे मनुष्यके देहमें संकरण कर जाती है अथवा किसी पांचे, खनिज पदार्थ, हृषि-विन्दु या सूर्य-किरणके अन्दर भासनेवाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म रज़ कणके रूपमें परिणत हो जाती है। तब फिर मनुष्यका वासविक स्वरूप क्या है? इन विकारोंकी ओटमें रहनेवाला अविकारी तत्त्व (Das Ding an sich) क्या है? जीवार्था अर्थात् मनुष्यके अन्दर रहनेवाली दिव्य आत्मा, जिसके लिये हिन्दू-शास्त्रमें भावपूर्ण 'देही' पादका प्रयोग किया गया है, किस वस्तुका नाम है? मनुष्य क्या है?

इस प्रश्नका प्राच्य दार्शनिक दृष्टिके साथ यह उत्तर देते हैं कि मनुष्य हृशरका स्वरूप है।

प्राचीन कालके हिन्दू-दार्शनिकोंका अद्वैत-सिद्धान्त उतना ही दृष्ट एवं तकरीकी तराजूपर तुला हुआ था जितना आयुनिक युक्तिवादियोंका अद्वैत-सिद्धान्त है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्राचीन भारतीय दार्शनिक उस एक अद्वितीय शक्ति (Energy), मूल द्रव्य (Substance) अथवा आवश्यकता (Necessity) के नामसे नहीं पुकारते थे और सर्वथा असैंध कहकर उसे मनुष्यको बुद्धिमें अगम्य नहीं समझते थे। अवश्य ही उन लोगोंने निर्णय परमार्थाको ज्ञानके पारे माना है परन्तु मरुण ईश्वरको, जो हृष्टाशक्तियुक्त निर्णय ही है, वे विश्वका सनातन मातापिता, असंख्य स्त्रीमें व्यक्त होनेवाला व्यापक जीवन, तथा प्रकृति और पुरुष, द्रव्य एवं शक्ति, जीवन एवं उसका मूर्तस्वरूप इसप्रकार दैतरूपसे व्यक्त होनेवाला एक सर्वव्यापी परमार्थमा मानते हैं। प्राचीन भारतीय महियोंने रसीढ़ी भाषामें प्रकृतिको ब्रह्मका अवगुणन (वृ॒ घट) कहा है जो उस परमार्थ-तत्त्वको हृपूर्यन एवं हृपतिरोहित करता है। सृष्टिके आदिमें यह परदा या वृ॒ घट वहूत इस्का, सूर्यको आवृत्त करनेवाले धूम अथवा कुहरेकी भौति होता है; किन्तु ज्यो॑-ज्यो॒ ज्ञातका विकास होता है, स्त्रो॑-ही॒-स्त्रो॑ यह आवरण स्थूल होता जाता है, जिससे पञ्चमहाभूतोंकी रचना होती है। इसी परदेसे सारे भौतिक पदार्थोंकी सृष्टि होती है; मनुष्यका भरीर भी इसीसे बनता है। किन्तु उसके अन्दर निवास करनेवाले जीवार्था और परमार्थाकी मूलतः एक ही धातु है; अनन्त प्राणका प्राण वह हृशरकी आर्थात् अभिष्ठ है और दोनों ही अजन्मा, अन्यथ एवं शाश्वत हैं।

यह स्वतंसिद्ध है कि इसप्रकारके मूल-सिद्धान्तके आधारपर निर्माण किया हुआ आचार-तत्त्व मानव-जातिके

लिये अत्यन्त उपकारी होना चाहिये। कतिपय विद्वानोंका तो यह मत है कि पाप एवं दुःखके विभव्यापी जटिल प्रश्नको इलं करनेका इसके अतिरिक्त कोई दूसरा युक्तियुक्त मार्ग ही नहीं हो सकता। हिन्दुओंका पुर्णजन्म-सिद्धान्त इसको पहले-हीसे यह बतलाता है कि मनुष्य ही अपने मायका विधाता है, जिसप्रकार भौतिक जगतमें कार्य-कारणका नियम अटल-दृष्टपसे काम करता है, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त आध्यात्मिक जगत्के लिये लागू है; परिवर्त्तकी भौति नैतिक एवं मानसिक क्षेत्रोंमें भी 'जैसा बोझोगे वैसा ही पायोगे' यह सिद्धान्त अटल है। यह विकासका क्षेत्र, जिसे इस पार्थिव जीवन कहते हैं, एक प्रकारकी पाठशाला है, जिसका पाठ्य-क्रम कहीं त्रिगियोंमें विभक्त है और जिसमें सन्तोंकी, नहीं-नहीं, देवताओंकी शिक्षा होती है।

हिन्दुओंके सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य-जीवन प्राचुन जन्मोंतक ही सीमित नहीं है। आर्था स्वरूपमें ही अनादि एवं अनन्त है, उसके लिये 'काल' कोई अनु ही नहीं है। भारतीय ऋषियोंने अपनी सूक्ष्मदृष्टिको सृष्टिके आदि कालतक दंडाकर, जो इस महान् संसारचक्रका पहला चक्र था, यह देखा कि उस समय भी मनुष्यकी आर्था, जो परमार्थाका ही अंश है, बीजूरुपसे अपने पिताकी गोदमें ही सोची हुई है। उन्होंने यह अवगत किया कि मनुष्य यदि वासवमें परमार्थाका अंग है, यदि 'आर्था ही परमार्थ है' यदि प्रत्येक जन्म उस पूर्ण पुरुषके एक छोरसे दूसरे छोरको ले जानेवाली दीर्घ यात्राकी एक मंजिलमात्र है तो यह युक्तिसे सिद्ध होता है कि हृशरकी भौति जीवार्था भी नित्य होना चाहिये। एक जन्मकी कौन कहे, दस-वीस अध्यवा सौ जन्म भी उस अनन्त कालके सामने एक भासके समान ही तो हैं। जीवार्था जब मर्यालोकमें भाविर्भूत होता है तब उसने ही कालके लिये वह देखा और कालकी उपाधिसे उपहित होता है; और उसी समय यह दिव्य ज्योति अस्थि-मांसके पञ्चरमें आकर उपर्युक्त जीवनकी पाठशालामें शिक्षा प्राप्त करती है।

'आर्था भी परमार्थाकी तरह नित्य है' इस कथनके अन्दर किसना आशाय छिपा हुआ है? यदि मनुष्यकी आर्था एवं परमार्थामें वासवमें कोई अन्तर नहीं है तो यह मानना पढ़े गा कि हृशरके अन्दर सर्वज्ञता, सर्वशक्ति, मत्ता, सर्वव्यापकता आदि जितने भी पुण हैं वे सब अव्यक्तरूपसे मनुष्योंमें भी विद्यमान रहने चाहिये। साथ ही यह भी

मानना पड़ेगा कि जीवात्मा उतना ही स्वतन्त्र है जितना कि 'स्वतन्त्र' शब्दका अर्थ हो सकता है, स्थोंकि यथापि उसे कुछ कालके लिये भौतिक जगत्के बन्धनोंको स्वीकार करना पड़ता है किन्तु वास्तवमें वह उस जगत्के निर्माताका ही स्वरूप तो है। माना कि उसे ईश्वरीय नियमोंका पालन करना पड़ता है किन्तु फिर भी उन नियमोंका बनानेवाला और वह दोनों एक ही तो है।

मनुष्य जो ईश्वरका अंश है, अपने अंशीसे पृथक् होकर जीवनकी अवधि समाप्त हो जानेपर फिर लौटकर उसके पास पहुँच जाता है और पहुँचकर यह कह सकता है— Before Abraham was, I am (अर्थात् इद्याहीम-से पहले भी मैं विद्यमान था)। आत्माके सम्बन्धमें प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनिकोंमें यह दूसरा प्रधान मतमेंद्र है। पाश्चात्य मतके अनुसार जीवात्माका उद्गत कहीं अन्यथा है, किन्तु हिन्दुओंके मतमें वह अपनी स्वतन्त्र इच्छासे ही व्यक्त रूप धारण करता है, किसी दृमरेकी प्रेरणासे नहीं।

अब रही यह अन्तिम पहेली, जो ईसाहयोंके शब्दोंमें इसप्रकार है कि ईश्वरने मनुष्यको और उसके

निवासस्थान इस संसारको रखा ही क्यों? अथवा हिन्दुओंके शब्दोंमें इम हसी प्रश्नको इसप्रकार रख सकते हैं कि 'एकोऽहं बहु स्मात्' इस इच्छाके मूलमें क्या था, वह समझ-चेतन विभ्रत् होकर व्यष्टिस्फुप्तमें क्यों व्यक्त हुआ? इस शंकाका समाधान न तो प्राच्य दर्शन ही कर सका है और न पाश्चात्य दर्शन ही। हाँ, पूर्वीय एवं पश्चिमीय द्वोनों देशोंके अधिकांश दर्शनिक इस बातको अवश्य मानते हैं कि संसारमें युगोंमें जो यह स्पन्दन-किया हो रही है, अनन्त शताव्दियोंसे जो उत्थोग हो रहा है, अपने दीर्घकालज्यापी विकासमें मनुष्य-जाति जो धीरे धीरे एवं रुक-रुककर अप्रसर हो रही है इसका कोइन-न-कोइन भ्रातृ उद्देश्य अवश्य है, मनुष्य-जाति आगे बढ़नेके लिये जो दाँड़-धूप कर रही है उससे किसी-न-किसी लक्ष्यकी सिद्धि अवश्य होगी। यदि ऐसा न होता तो संसारमें प्रेम, न्याय और विवेकका नामोनिशानतक न होता। किन्तु यह सब क्यों है, यह प्रश्न फिर भी इल नहीं होता। निर्वाणकी प्राप्ति हो जानेपर, जीवका ब्रह्मके साथ ऐक्य हो जानेपर ही जीव इस बातको जान सकेगा कि वह जीवदशाको क्यों प्राप्त हुआ?

हे अनन्त !

हे अनन्त !

ऊपर मूर्ख चन्द्र तारागण,
मूपर सागर, गिरि, रज-कण-कण,
तेरी कीर्ति गुंजते,
जिससंस दूरी दिशा दिग्नन्त ।

हे अनन्त !

किन्तु समस्त करके नित ध्यान,
दूँढ़ रही तेरा स्थान,
गातीं तेरा करति भान,
तेरी ही महिमा दिखलाने,
आता मधुर बसन्त ।

हे अनन्त !

तारागण क्षिळमिल कर,
चन्द्रदेव शीतलता देकर,
सूर्य ऊर्ध्वात् औं प्रकाश झर,
वायु सुगन्ध सुमनसे मरकर,
मणि मुकुदिक जगति निरन्तर,
सब देते अपना अपनाकर,

× × × ×

किन्तु नहीं कुछ इस दर्शन पर,
पृथ्वीको अशुलिमें भरकर,
देनेको समोद साहसकर,
मैं चल पड़ा देव । उस पथपर
था न कहीं पर अन्त ।

हे अनन्त !

बड़े कर्षसे मैं आ पाया,
मेट तुच्छ-सी ही ला पाया,
द्वार सुला तेरा जा पाया,
मैं धुस पड़ा, सामने पाया,
पात जिसे न सन्त ।

हे अनन्त !

देव ! मुझे चरणामृत दे दो,
प्रतिमा दो, नैया ये छं दो,
कर दो बस गुणदन ।

हे अनन्त !

अवन्तविहारी माधुर

ईश्वर ध्रुव सत्य है

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीखुबर मिट्टूलालजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, वेदान्ततार्थ, एम० य०, एम० ओ० एल०)

तमीश्वराणं परमं महेश्वरं
ते देवतानां परमं च देवतम् ।
पति पतीनां परमं परस्तात्
विदाम देवं भुवनेश्वरीच्छम् ॥
यं शंकः समुपसर्ते शिव इति ब्रह्मोति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटक फॉले नैयायिकः ।
अर्द्धत्रिस्य जैनशासनरातः कर्मेति भीमांसका.
सोऽयं नो विदधान वाचिष्ठतरात् त्रैवोक्त्यनायं हारिः ॥

१—मनुष्यका मूल सचिदानन्द (ब्रह्म) है

मनुष्य मृग्यु, अज्ञान और दुःखको कभी अपनाना नहीं चाहता । उसके कर्म, उसकी ब्रात-चीत, हृच्छाएँ और उसके विचार सदा इनपर विजय पानेके सम्बन्धमें ही होते रहते हैं । क्या वर्तमान कालकी भौतिक पदार्थ-सम्बन्धी पाश्चात्य विद्याएँ और क्या प्राचीन जगत्का आध्यात्मिक जीवन, सभी स्थायी जीवन, असीमित ज्ञान और अवाधित सुखको मानव-जीवनका ध्येय मानते आ रहे हैं ।

प्रथम तो मनुष्य अति दीर्घजीवी होनेके लिये हृच्छा, प्रयत्न और कृति करनेमें नहीं चृकता और जब उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि प्राकृतिक उपायोंका पूर्ण अध्यक्षनन करनेपर भी यह शरीर सदा नहीं रह सकता तो वह अपने उत्तराधिकारी (पुत्र) में अपने जीवनकी समस्त भावनाएँ और आशाएँ संज्ञिहित करके उसी (पुत्र) के रूपमें अपने जीवनका तादात्म्य स्थापित करता है । और स पुत्रके अभावमें दस्तकको ही अपना स्थानापन्न बनाकर सन्तोष कर लेता है । यदि दैवयोगसे वह भी न रहे तो निर्धन और निराकरण पुरुषको अपना जीवन ध्यर्य प्रतीत होता है और वह हीतोरसाह हो जाता है परन्तु प्रन्थकार अपने ग्रन्थ, संपर्क अपनी सम्पत्ति, कृप, तड़ाग, धर्मशाला, पाठशाला हृथ्यादिके रूपमें ही शरीरान्तके पश्चात् भी जीवित रहनेका हृच्छुक देखा जाता है । यह सब मनुष्यके स्वभावमें श्रिकालाबाधित सत्ताकी प्राकृतिक भावनाके अतिरिक्त और क्या है ।

मनुष्य अपने शीशाखसे वार्षक्यतक सदा यही अनुभव करनेका उत्सुक देखा जाता है कि अमुक पदार्थ, अमुक

हृथ्य, अमुक भावको जितना मैं जान, देख और समझ रहा हूँ, उसके आगे क्या है, बाल्कके प्रश्नोपर बृद्ध अथवा शिक्षकके उत्तर, संसारकी विविध भाषाओंका साहित्य, अनेक विद्याओंका विकास, समाचार-पत्र हृथ्यादि साधन के बल सीमित ज्ञानको असीमित बनाने (को भाग्यविक हृच्छा) का प्रयत्नमात्र नहीं तो और क्या है ? परन्तु इन लैंकिक उपायोंका फल सुग-तुण्णाकी दाँड़-सरीखा ही होता है । यह ज्ञान-पिपासा पदार्थों एवं प्रपञ्चका अन्तिम (मूल) कारण जाने विना कभी ज्ञान नहीं होती ।

‘येनाश्रुत-श्रुतं भवत्यमत मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ।’

(छा० ६। १। ३)

फिर ऐसा भी कोई मनुष्य न होगा जो सब प्रकारमें सर्वदा सुखी रहनेका हृच्छुक न रहता हो । वहें तो वहें, जूँट दुखोंके पहनेपर भी वह उनका हाँकर एक क्षण भी रहना नहीं चाहता । वह उन्हें अपना विरोधी ही माना करता है । दुःख और सुखकी परिभाषामें यही सत्य संनिविष्ट है—

‘प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् । अनुकूलवेदनीयं सुखम् ।’

वास्तवमें सुख अपना स्वरूप ही है । लोरोंका भ्रम है कि अमुक पदार्थ सुख देगा । किन्तु सुखका कारण कोई बाहरी पदार्थ नहीं है । ब्रात यह है कि किसी पदार्थकी हृच्छामें ओ बेचैनी (अस्थिरता) मनमें रहती है वह उस पदार्थकी प्राप्तिसे शोधी देके लिये बन्द हो जाती है और डतनों देके लिये मन विषय-वासनामें रहित होकर आत्मरूप हो जाता है । मनकी यही आरम्भरूपता सुखके अनुभवका साधन है । हृस्प्रकार सुख अपने भीतर ही है, बाहरसे किसी पदार्थके साथ नहीं आता । परन्तु अवतक मनके किसी कोनेमें ‘वासना’ छिपी रहती है तबतक एक हृच्छा पूर्ण होनेका क्षणिक सुखानुभव होनेके पश्चात् ही दूसरी हृच्छाका उदय होना बन्द न होनेसे मनकी चम्पलता दूर नहीं होती और सुखरूप आस्माके नियम संनिहित रहनेपर भी स्थिर सुखका अनुभव नहीं होता । वासना ही मनको बेचैन रखनेवाली और सदा नाच नचानेवाली है । उसके जूँट विना स्थायी सुख (परमानन्द, मोक्ष) नहीं मिलता ।

परन्तु आनन्दको सभी कोई अपनाते हैं। अतः आनन्द अपना स्वरूप है। यही शब्द है—

‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रतिदातुः परायणम् ।’

(बृह० १ ५ १ २८)

‘रसो वै सः। रसः द्वयार्थं लद्वाऽनन्दं भवति ॥

(तै० २ १ ७)

‘आनन्दो ब्रह्म’ (तै० ३ १ ६)

‘पतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥

(बृह० ४ १ ३ १ ३२)

—इत्यादि श्रुतियाँ पुरुषके इसी भूले हुए स्वरूपभूत आनन्दरूप ब्रह्मका वर्णन करती हैं।

सारांश यह कि नियम सत् (विद्यमान) रहने, सत् कुछ जानने और नियम निर्वाच आनन्द पा लेनेकी इच्छाएँ मनुष्यकी प्रकृतिमें ही समायी हुई हैं अर्थात् मनुष्य सदा सच्चिदानन्दका इच्छुक रहता है। ‘प्रकृतिं यान्ति भूतानि’ अर्थात् सभी भूत अपनी प्रकृतिकी ओर झुकते हैं इससे सिद्ध है कि मनुष्यकी प्रकृति ही सच्चिदानन्द है।

ईश्वर भी अन्ततः इस सच्चिदानन्दका ही नामान्तर है। मनुष्यके जीवनमें यदि कोई खिर सत्य वस्तु है तो वह उसकी प्रकृति सच्चिदानन्द अर्थात् ईश्वर ही है। यह ईश्वर भूत सत्य है जो हृदय-मन्दिरमें सदा निवास करता है।

‘सहस्रीरा पुरुषः सहस्राः सहस्रपात् ।

स भूमिः सर्वतः स्पृत्वाऽस्तिष्ठद्वाकुलम् ॥’

(यजु० ३ १ १)

‘यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो मूर्त्येऽन्तरो यः सर्वाणि मूर्तानि न विद्युर्स्य सर्वाणि मूर्तानि शरीरं यः सर्वाणि मूर्तान्यन्तरो यमयन्ते त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।’ (बृह० ३ १ ७ १ ५)

‘यो मनसि निष्ठन्…… यमयन्ते त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।’

(३ १ ७ १ २०)

‘यो विज्ञाने निष्ठन्…… यमयन्ते त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।’

(३ १ ७ १ २२)

—इत्यादि श्रुतियाँ सथा—

‘ईश्वरः सर्वमूर्तानां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति ।

प्रामयन् सर्वमूर्तानि यन्त्रावृढानि भायथा ॥’

(गीता १८ १ ६२)

इत्यादि श्रुतियाँ इसी ईश्वरका गुण-गान करती हैं।

इस ईश्वरकी सत्ता में जिसे सन्देह हो वह अपनी सत्ता कैसे सिद्ध कर सकता है? वह सो निराधार होनेसे स्वयं ही ‘असत्’ हो जायगा।

‘असत्रेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद। सन्तमेन ततो विदुरिति ॥’ (तै० २ १ ६)

—इत्यादि श्रुतियाँ और—

‘असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत् ।

अतोऽस्य मा मूद्वेदव्यं स्वसत्वं त्वम्युपेयताम् ॥’

(पञ्चतीर्थी ३ १ २५)

—इत्यादि तदनुवादक वाक्योंमें यही उपपत्ति दी गयी है। अतः ईश्वर-जैसे भूत व सत्यका ‘असत्’ होना किसी अपने आपको ‘सत्’ माननेवाले (अभ्रान्त) शिष्ट पुरुषकी बुद्धिमें आ हो नहीं सकता।

मनुष्यकी सच्चिदानन्द-प्राप्तिकी इच्छा स्वाभाविक होनेपर तप्राप्तिका साधन भी होना चाहिये। भूतमें पढ़ा हुआ मनुष्य यथार्थ ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। यथार्थ ज्ञान निर्मल और स्थिर हृदयमें ही समा सकता है। हृदयकी निर्मलताके लिये निष्काम कर्म और धैर्यके लिये उपासनाकी अपेक्षा होती है। जिसकी उपासना की जाती है वैसा ही उपासक हो जाता है—

‘यान्ति देवतां देवान् पितृः यान्ति पितृवतः ।

भूतानि यान्ति भूतज्या यान्ति मद्यजिनोऽपि माम् ॥’

(गीता १ १ २५)

—इस हेतुसे सच्चिदानन्द-प्राप्तिके लिये सच्चिदानन्दकी ही उपासना करना ढीक है जिसमें चित्तकी एकाग्रता और अस्त-प्राप्ति दीर्घों ही फल सिद्ध होते हैं। ‘ईश्वरप्रणिधानादा’ (१ १ ३) इस योगसूत्रमें कहा गया है कि ईश्वरके अभिध्यानमें योगीको आसान्तर समाप्तिभाव और समाधि-फल होता है। अभिध्यानका अर्थ वाच्मपतिने ‘अनागत अर्थात् ईश्वर’ इस भक्तका असुक अभिमत सिद्ध हो जाय ऐसी कृपा-भावना—किया है। द्वैतवादकी इष्टमें यहाँ यह माना गया है कि मानसिक, वाचिक वा कायिक भक्ति-विधोंसे अभिमुख हुआ ईश्वर भक्त (योगी) पर ऐसा अनुग्रह करता है। यथार्थमें ईश्वरके प्रति वह जीवका भक्ति-भाव भी अपने स्वरूपभूत सच्चिदानन्द ब्रह्मका ध्यान ही है और उसे फल भी कहीं बाहरमें नहीं मिलता, किन्तु अज्ञानके कारण जो अप्राप्त-सा दंखता है परन्तु है सह-

अपने भीतर (प्राप्ति) ही, वही इसप्रकारकी उपासना (Otto-Suggestion) से आविभूतस्वरूप (प्रकट) हो जाता है । योगसूत्रकारको भी ईश्वरका 'सत्-चित्-आनन्द' स्वरूप स्वीकृत है, यद्योंकि 'क्षेत्रकर्मविषयकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविदेष्ट ईश्वरः' (१ । २४) में 'आनन्द' का अवतिरेक-मुख्यसे प्रतिपादित है और 'तथा निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१ । २५) में 'चित्' की ही पराकाष्ठा द्विलालयी गयी है, एवं 'स पूर्वैषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (१ । २६) में कालपरिच्छेदरहित कहनेका तात्पर्य वही है जो 'सत्' शब्दमें इष्ट है ।

सब वस्तुओंकि भीतर एक नियामिका शक्ति, निगृह रहती है, इसी शक्तिकी उपाधिके संयोगसे भ्रम ही ईश्वरता (सर्वज्ञतादि-धर्मयोगिता) को प्राप्त हो जाता है और वैयक्तिक स्थूल-शरीर, मन, बुद्धि ईश्वरादि उपाधियोंके संयोगसे ब्रह्म ही जीवता (जीवन) को प्राप्त हो जाता है । और जब शक्ति या अभ्यास (शरीर) अदि उपाधियोंका योग विवक्षित नहीं होता है तब वह व्रह्म न तो ईश्वर कहाता है और न जीव । जैसे एक ही देवदत्त अपने पुत्रकी अपेक्षामें पिता कहलाता है और पौत्रकी अपेक्षामें पिता मह, परन्तु यदि पुत्र वा पौत्ररूप उपाधियों (आपेक्षिक शब्दों Correlative terms) की चर्चा न की जाय तो वह न पिता कहा जायगा न पिता मह, किन्तु केवल देवदत्त ही रहेगा । तथापि जैसे देवदत्त प्रुव सत्य है वैसे ही व्यवहारमें उसका 'पिता' या 'पिता मह' कहलाना भी उतना ही निश्चित सत्य है । ठीक इसी प्रकार ब्रह्मकी तरह ईश्वर और जीव भी व्यवहारमें प्रुव सत्य हैं । यदि जीव हैं तो ईश्वर भी अवश्य है ।

ब्रह्म अर्थात् सच्चिदानन्दकी प्राप्तिके लिये प्रथम उपासना आवश्यक है जिसमें वित्तकी एकाग्रता होती है, तभी श्रवण, मनन भी सफल होते हैं । वैदान्तमें भी नाना प्रकारकी उपासनाओंका वर्णन भिजता है । जिसने यहले कभी उनका अभ्यास नहीं किया डसे ब्रह्माभ्याससे ही चित्तकाग्रय सिद्ध हो जाता है । इस विषयमें ब्रह्मदारण्यककी—

'तमेव वीरो विजाय प्रकां कुर्वीत ब्रह्मणः ।
नानु ध्यायाद्ब्रह्मदानवाचो विग्नापनः हि तत् ॥'

(४ । ४ । २१)

—यह श्रुति तथा भीताका—

'अनन्याश्चित्तमन्तो मां ये जनाः पर्युपास्ते ।
तेषां नित्यानियुक्तानां योगक्षेमं वहाप्रदम् ॥'

(१ । २२)

—यह वचन प्रमाण है । इस ब्रह्माभ्यासको पञ्चदशीकार-ने स्पृष्ट शब्दोंमें पेसा लिखा है—

'तत्त्विन्तनं तत्कथनमन्येन्यं तप्रयोगनम् ।
पतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यास विदुर्बुधः ॥'

(१ । १०६)

अर्थात् उसीका चिन्तन करना, उसीका कथन करना और परवर्पर समझाना तथा एक उसीमें लगे रहना ब्रह्माभ्यास कहलाता है ।

भगवान् पतञ्जलिने भी इसी आशयको लेकर ये तीन सूत्र लिखे हैं—'तस्य वाचकः प्रणवः' (१ । २३) अर्थात् उस (ईश्वर) का नाम 'ॐ' है, 'तज्जपत्तदृथ्यमावनम्' (१ । २८) उस प्रणव (ॐ) का जप और इस नामके अर्थ (ईश्वर) की भावना करते रहना चाहिये (जिनसे चित्तकी एकाग्रता होती है), 'ततः प्रस्यकचेतनाधिगमोऽप्य-तत्त्वादाभावशः' (१ । २४) उस (ईश्वर-प्रणिधान) में स्वरूपकी प्राप्ति भी होती है और चित्तकी एकाग्रताके विरोधी विद्रो (विक्षेपों) का नाश भी होता है । और तप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' (१ । ३२) इस सूत्रमें विष्णु हठानेको एक तत्त्वके अवलबनका अभ्यास बतलाया है ।

इसप्रकार मनुष्यकी प्रकृतिमें सच्चिदानन्द-लिप्सा होनेमें सिद्ध होता है कि मनुष्यका मूल सच्चिदानन्द (ईश्वर) ही है । इस बातमें सब धर्म-मतोंकी सम्मति है । भगवान् ने गीतामें न्पष्ट कहा है कि—

'ममैवांशो जीवलोके जीवमूलं सनातनं ।' (१ । ५७)

तौरेतमें कहा गया है कि मनुष्यकी उत्पत्ति ईश्वरकी प्रतिकृतिपर हुई है (Man is made in the image of God) अर्थात् ईश्वरके ही गुण मनुष्यमें प्रकट होते हैं । कृष्णमें लिखा है कि 'नक्षत्रेनु क्रियः मिन रुद्धवृही' (अर्थात्—कूँकी हमने मनुष्यमें अपनी रुह) । ऋग्वेदसे लेकर संख्य-योग और भगवद्गीतापर्यन्त प्रायः सभी प्राचीन आर्यग्रन्थोंमें 'पुरुष शब्द ईश्वर और जीव दोनोंका वाचक इसी कारणसे है कि समस्ति और व्यष्टिरूप उपराधिके अतिरिक्त दोनोंमें कोई भेद नहीं है । अद्वितीयी सत्ता ही समस्तिकी सत्ताकी सापेक युक्ति है । यह समस्तिका

अभिमानी त्रिलोकीनाथ ईश्वर ही सबका अभिमत-फलदाता है, ऐसा वेदान्त (व्रह्मसूत्र ३।२।३८-४१) का सिद्धान्त है। इसे ही भिक्षा-भिक्ष उपासकोंने स्वभास-नुकूल नाम-रूपसे अपनी-अपनी उपासनाका आदर्श स्थिर किया है। इसे ही शैव लोग शिव, वेदान्ती ब्रह्म, बौद्ध बुद्ध, नैयायिक कर्ता, जैन अर्हन् (जिन) और मीमांसक कर्मके नाम वा रूपसे अपने-अपने मतका मूलतत्त्व वा आधार मानते हैं।

२—ईश्वर ही जगत्का कारण है

कुछ लोग—

'न कर्तुत्वं न कर्माणि लोकस्य मृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥'
(५।२४)

—इस गीता-वचनको लेकर कहते हैं कि ईश्वर तो मोक्षके लिये उपासनाका एक आदर्शमात्र है किन्तु जगत् स्वभावसे ही उत्पन्न हो जाता है, अतः ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो जगत्का कर्ता हो। परन्तु गीता-वचनमें ईश्वरके जगत्कष्टा होनेका कोई खण्डन नहीं है, क्योंकि यह प्रकरण कर्मफलके सम्बन्धासम्बन्धका है, प्रस्तुत गीता (१६।८) के ही—

'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यन् कामैत्युक्तम् ॥'

—इस स्थलान्तरमें इसप्रकारके वादियोंको आसुर जनोंमें गिना गया है और अन्यत्र भी (१८।११) 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृषेशो' ईश्वादि शब्दोंमें ईश्वर स्पष्ट ही जगज्ञियन्ता माना गया है। ईश्वर हमारे नैयायिक इत्यादि ईश्वरको जगत्का कर्ता अथवा कारण-विशेष मानते हैं। वेदान्तके समन्वयके अनुसार ईश्वर उपास्य-देव भी है, कर्म-फल-द्राता भी है और जगत्का अभिष्ठ-निमित्तोपादानकारण भी है।

ईश्वर और उसकी प्रकृति (माया) का विचार ये साक्षतरोपनिषदमें अन्यन्त सुचारूरूपमें किया गया है। ब्रह्मवादियोंने एकत्र होकर यह चर्चा उठायी कि व्यापक कारण कौन है, इम कहाँसे उत्पन्न हुए, किससे जीवित हैं, हमारा लय-स्थान क्या है और सुख-दुःखकी व्यवस्थाका कौन अधिकाता है? इसपर कहूं पूर्व-पश्च रक्षे गये कि (१) काल (२) स्वभाव (३) नियति

(४) यद्यप्ता (५) आकाशादि भूत (६) प्रकृति अथवा (७) पुरुष (विज्ञानारमा)—इनमेंसे कोई-सा एक अथवा इनका संयोग। इनका समूह जिस किसीके लिये होता है उस आसमाके प्रति ये परतन्त्र होंगे और अतएव स्वतन्त्र न हो सकनेमें इनमें कारणता माननी अनुचित है। आस्मा भी सुख-दुःखके हेतु (कर्म) के अधीन होनेमें—परतन्त्र होनेमें—कारण नहीं हो सकता। अन्तमें कृपियों (व्रह्मवादियों) ने चित्तकी एकाग्रताके उपायसे यह देखा कि उस महेश्वरदेवकी एक स्वान्तरिति (अस्वतन्त्र, अपृथक्) शक्ति ही मूल-कारण है कि जो अकेला उन कालादि आस्मान्त (पुरुषान्त) सब कारणोंका नियन्ता है। यह प्रकृति माया है और उसका ऐन्द्रजालिक वही महेश्वर है। विना उस ईश्वरके माया स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती और विना माया-शक्तिके वह देव (अपने शुद्ध ब्रह्मरूपमें) शक्ति-सूजन वा नियमन कर नहीं सकता। अतः माया-शक्ति-वाला (शबल ब्रह्म अर्थात्) ईश्वर ही जगत्का कारण है। अर्थात् यही ईश्वर अपने चेतनरूपसे निमित्त-कारण और माया-शक्तिके द्वारा उपादान-कारण है।

संताक्षतरोपनिषद् (११२) में ब्रह्मका ग्रिविध निरूपण है— (१) भोक्ता (अर्थात् जीव) (२) भोग्य (अर्थात् प्रधान या प्रकृति या माया अथवा अज्ञानका कार्य समस्त दृश्य प्रपञ्च), तथा (३) प्रेरिता (अर्थात् अन्तर्यामी परमेश्वर)—अर्थात् एक ही ब्रह्मके ये तीनों प्रकार हैं। इन तीनमें किसी एककी भी सत्ता माननेमें अन्य दोकी सत्ता अवश्य ही माननी पड़ेगी। अतः ईश्वर हमारी कल्पनाकी सृष्टि नहीं किन्तु युक्ति, प्रभाण, अनुभव-सिद्ध ध्रुव सत्य ही ठहरता है। इसी उपनिषदके स्थलान्तर (१।६)में भी ऐसा ही विचार प्रकट किया गया है कि ईश्वर और जीव दोनों ही अज (अन्मादि विकारहित शुद्ध ब्रह्म हैं) और अजा (माया) एक है जो 'भोक्ता-भोग्यार्थ-युक्ता' है अर्थात् प्रपञ्चगत विभाग और भेदभ्यवहार इसी माया-उपाधिको लेकर हुआ है अतः मिथ्या है और विश्वरूप अकर्ता आस्मा तो अनन्त ही है अर्थात् देश, काल और वस्तुके परिच्छेदमें रहित है। इस जीव-ईश्वर-प्रकृति ग्रिरूपमें एक ब्रह्मका ही जब ज्ञान होता है तब सुक्ति होती है। इस मन्त्रपर शाक्तरभाष्यमें लिखा है—

'अजा प्रकृतिं जायत इत्यजा सिद्धा। प्रसववर्तिणी...विश्वननी देवात्मशक्तिरूपका स्वविकारभूत मोक्षमेंगमोपाधिप्रयुक्ते-

शरनिकटवर्ती कि कुर्बाणाऽबतिष्ठते । तस्मात्सोऽपि मायी परमेश्वरो मायेपापिचंसंभिवेस्तद्वानिव कार्यं तौदेहादिभिस्तदेव विभक्तेवा विभक्त ईश्वरादिरूपेणावतिष्ठते । तस्मादेकस्मिन्नेकांशे परमात्मन्य-भ्युपगम्यमानंडपि जीवेश्वरादिसर्वलोकिकैदिक्सर्वेमेदन्वयवहार-सिद्धिः । न च तर्यावेस्तदन्तरस्य सद्गावाद् द्वैतवादप्रसक्तिः । मायामा अनिर्वच्यत्वेन वस्तुत्वायोगात् ।

इसका आशय यह है कि प्रकृति स्वयं उत्पत्त नहीं होती है किन्तु विष्णु (प्रपञ्च, भेद, द्वैत व्यवहार) की उत्पत्त करनेवाली है, अतः 'अजा' सिद्ध होती है । यह पृथक् सत्तावाली वस्तु नहीं है किन्तु देवकी आरम्भकिरूपा और अनिर्वच्यनीया है, अतः इसके (पृथक् वस्तुत्व-रहित होनेवे) द्वैतवादका प्रसंग नहीं आता है । यह माया (प्रकृति) एक है (और सांख्यमतानुमार प्रतिपुरुष भिन्न नहीं है) । ऐसी मायाके योगसे वह मायी परमेश्वर, एक अद्वैतरूप होता हुआ भी, ईश्वरादिरूपसे विभक्त होकर स्थित हुआ है । अर्थात् भोक्ता, भोग, भोग्यादि विभाग इसी मायामें हैं और वास्तवमें ब्रह्म शुद्ध, असंग, अविभक्त ही है । इसलिये एकांशमें परमात्माको एक (अद्वैत) माननेपर भी जीव, ईश्वर इत्यादि समलूपीकिक और वैदिक सभी व्यवहार सिद्ध हो जाते हैं ।

वेताश्वरोपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीतामें ईश्वरके स्वरूप और उसकी महिमाका विस्तारपूर्वक कर्णन है । इवेताश्वरमें कुल ६ अध्याय हैं जिनमें इसप्रकारसे ईश्वर-सम्बन्धी विषयोंका निरूपण किया गया है—

अध्याय १.—ईश्वरदेवकी व्यापकता और परमात्मदर्शन-का उपाय ध्यान ।

अध्याय २—ध्यानका साधन, योगप्रवृत्ति ।

अध्याय ३—ध्यानलक्ष्यसिद्धिके लिये सत्ताशिवके स्वरूप और महिमाका निरूपण । एक ही परमात्माका ईश, ईशितव्यादि भाव । रुद्र, शिव वा पुरुषोत्तम (ईश्वर) के स्वरूपके ज्ञानमें अमर-पद-प्राप्ति ।

अध्याय ४—ईश्वर उँकाशादिरूपसे सर्वांगक है । वही अपनेसे अभिष्ठ मायाका मायी (स्वामी) है । उसके स्वरूपज्ञानमें अभरत्व-लाभ । प्रार्थना-मन्त्र ।

अध्याय ५—शिव (परमेश्वर) विद्या और अविद्या दोनोंका ईशिता होकर भी उनके संसर्गसे बाहर है । वही विश्व-क्षणा और मुमुक्षुओंका उपास्यदेव है ।

३३

अध्याय ६—स्वभाव, काकादि स्वतन्त्र कारण महीं किन्तु देव-महिमाकी अपेक्षा अन्यथासिद्ध है । ईशर ही कर्माध्यक्ष तथा संसार-मोक्षन्स्थिति-बन्ध-हेतु है । अतः मुमुक्षुको ईश्वर-स्वरणके अतिरिक्त और गति नहीं है । हीं, यदि कभी ऐसा सम्भव हो कि मानव उस आकाशको जो असूर्य और व्यापी है उसी प्रकारसे अपने शरीरका आवरण बनाने लगा जायें जैसे वर्षको, अथवा यदि आकाश ही ऐसा आकार आवरण कर ले या मनुष्य ही ऐसे आकार-वाले होने लगा जायें कि भूतकापर न समाते हुए, ऊपर हाथ उठाये हुए, आकाशको ओढ़े फिरा करें, तभी कदाचित् यह भी सम्भव हो सकेगा कि ईश्वरदेवके ज्ञानके बिना ही हुँसकी आत्मनितक निश्चित हो जाय । अन्यथा नहीं ।

यह ईश्वर—

'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्'

—इस भगवद्वाक्यके अनुसार शिव्य-चक्षुमें ही दिलायी पश्ता है और स्थूल बिरुद्धुकी बुद्धिका विषय नहीं है । ईश्वरमान या अहम् प्रपञ्चका कोई भाग ऐसा नहीं है जो ईश्वर-नियमनके अधीन न हो । नियम (Design) सार्वभौम तथ्य है जो किसी सार्वभौम चेतनका ही धर्म हो सकता है न कि जड़ प्रकृतिका । यदि 'स्वभाव' कहा जाय, तो प्रश्न होगा 'किसका' । सर्वथा एक सार्वभौम चेतन (ईश्वर) ही सब लोकोंको एक व्यवस्था-सुन्दरमें बौधे हुए है, अन्यथा सब छिप-मिल हो जाता—

'एष सेतुविवृतिरेण लोकानामसमेदाय ।'

सूर्योदि यह तथा गुह्यत्वाकर्णणादि नियम (laws) सब इसी चेतन ईश्वरके अधीन होकर ही ठहर सकते हैं । ईश्वर सर्वशक्तिमान् अवश्य है तथापि अपने नियमोंके भीतर ही अपनी सर्वशक्तिमत्ताका परिचय देता है । इसी कारणसे श्रीराम-कृष्णादिरूपमें आकर ईश्वरने अपनी बनायी हुई मर्यादाका स्वयं पालन किया । हाँ, उसके नियम कहीं-कहीं अस्यन्त तुर्ह देखे जाते हैं ।

कर्म जड़ है । उसकी व्यक्तिके नष्ट होनेपर भीमांसकों-का माना हुआ 'अपूर्व' भी जड़ हो जाते हैं । ऐसे ईश्वर ही कर्म-कर्ता होता है, ऐसा मानना उचित है—

'न कर्म प्रवस्तं फलति पुरुषारबनमृते'
(महिमस्तोत्र)

जैसे हमें ज्ञास-प्रश्नासमें कोई प्रयत्न नहीं होता है

उसी प्रकार ईशरसे स्वभावतः ही यथासमय सुष्ठि, स्थिति और प्रलयका प्रवाह अविच्छिन्नरूपसे श्लोक रहता रहता है। सुष्ठिमें दूर्व अपनी प्रकृतिमें वह शान्तस्वरूपसे रहा करता है—‘आनीदवातं स्वधया’ (ऋ० नासीय सूक्त)। यह अव्यक्त अवस्था है—‘तम आसीचमसा गूढ़मग्रे’ (ऋ० नास०)। इष्टामें वह मायामें अभिभावन-सञ्चार करके अव्याहृतसे हिरण्यगर्भ और विराट्की क्रमदः स्थूल अवस्थाओंमें प्रकट होता है। हिरण्यगर्भ-अवस्थासे ही उसकी स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्षियाका विशेष विकास होता है और क्रमदः चराचरारमक सब ब्रह्माण्ड सर्वतः हो जाते हैं। यह प्रजापति अपनी सुष्ठिकी ओर प्रेमका भाव रखता है और उसके रोम-रोममें इस भावमें प्रविष्ट रहता है ‘तस्मैव तदेवानुप्रविशत्’ (त० उ० २० २ । ६)

इसप्रकार वह मायोपाधिक ईशर ही जड़, चेतन, दोनों प्रकारसे आविर्भूत हुआ है।

यो ब्रह्मां विद्वाति पूर्व-

यो वै वेदांश्च प्रहिंगाति तस्मै।

त॒ ह वेवमात्मबुद्धिप्रकाश-

मुमुक्षुर्यै शरणमहं प्रपद्य ॥

यस्य देवे परा भक्तिया देवे तथा गुरुः ।

तस्मैते कथिता हृष्टाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(खेता० ६ । १८, २३)

ॐ ईशरो मुहरात्मेति मृतिनेदिवभाग्निने ।

व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ईशरका स्वरूप

(लेखक—श्रीजगदीशवी ज्ञा ‘विमल’)

(१)

पिता तृ॒ ही॑ है॒ सबका एक-
जगत् जपता तेरा॑ ही॒ नाम ।
सदा रहता॑ है॒ तृ॒ सब ठौर-
किन्तु॑ है॒ तेरा॑ कही॑ न धाम ॥

(२)

विश्वमं करके नेरी लोअङ-
सूब हंते हैं नर हैरान ।
पता पाते क्या कोई कही-
दूँढ़कर जल-थल व्योम-विनान ॥

(३)

अजन्मा अज अनन्त अद्यक्त-
मृष्टिकर्ता॑ तृ॒ ही॑ भगवान ।
सुदर्शन गदा पद्म कर शंख-
विश्वपातक तृ॒ विष्णु महान ॥

(४)

मर्मकर व्यत्तिमृष्टित अंग-
गृह्णय शङ्ख कठिन इत्तान्त ।
तुहोर हैं तीनों रूप
एक तृ॒ ही॑ है॒ प्रशुष प्रशान्त ॥

(५)

सुष्ठिका गौरवमय आधार-
ज्योतिमय जग-जीवोंका प्राण ।
कन्द कल मधुर स्वाद मकरन्द
मुमनमें सरस मुवासित प्राण ॥

(६)

प्रभाकरमें तृ॒ प्रभा पसार-
विश्वका करता॑ है॒ कल्याण ।
शान्त शीतल शशिकरमें धोल-
सहर्षित करता॑ सुधा प्रदान ॥

(७)

अगम वारिविका तृ॒ विस्तार-
व्योमका निर्मल श्याम स्वरूप ।
अग्निका जगमग दिव्यप्रकाश-
वायु-व्यापकता अत्स अनप ॥

(८)

मुखद शीतलता जलके बीच-
जीव पाते जिसम सन्तोष ।
अचम्भे जीवन-शक्ति महान-
एक है॒ तृ॒ ही॑ अमल अदंप ॥

(९)

धर्मकी धर्मी न्याय स्वरूप-
ज्ञान गुण गरिमाका मण्डार ।
अत्स अन्तर्यामी अस्तित्वा-
दयाका है॒ तृ॒ ही॑ अवतार ॥

(१०)

सिद्धिदाना सावकके आप-
तपसीके बरदायक एक ।
मृष्टिक कण-कणमें रम रहे-
भक्तीकी रसने आकर टेक ॥

(११)

अमुर, मुर, नर, किंवर, गन्धर्व-
गम, हुर्गका शक्ति अपार ।
शंख मुरपति सब तें अंश-
भले ओं न ममस व्यापार ॥

(१२)

सुदा, ईशा, मशा, है॒ तृ॒ ही॑-
लोक है॒ तेरा॑ लीकागार ।
वेदने गाया तुहै॒ अनन्त-
कौन किर पा सकता है॒ पार ॥



ईश्वरानुभूति

(लेखक—संन्यासी श्रीशानानन्दजी उर्फ श्रीवर्धन वंग)



भिज्ञ घर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्वान् ऐतिहासिक प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर सकते हैं कि धर्म-विषयक जिज्ञासा एवं ऐतिहा (Trabition)का मूल एक ही है । वे हमको इसका कारण यह बतलाते हैं कि मनुष्य अपने स्वरूपको तथा पार्श्ववर्ती पश्चायोंको समझनेमें असमर्थ है ।

ऐसी पंक्तियोंको पढ़कर नयी रोशनीके नवयुवक इस बातका गर्व करने लग जाते हैं कि अपने पूर्वजोंकी अपेक्षा हमारे अनन्दर बुद्धिका विकास अधिक है । बात यह है कि आधुनिक सम्यताकी चक्रीमें पिसते रहनेके कारण उनका सारा समय अपनी आवश्यकताओंको बढ़ाने तथा उनकी पूर्तिके लिये धन मन्द्रय करनेमें ही व्यतीत हो जाता है । परिणाम यह होता है कि ईश्वरके विषयमें विचार करनेकी न तो उन्हें फुरसत मिलती है और न वे इसकी आवश्यकता ही समझते हैं ।

परन्तु अफसोस ! इसप्रकारके युक्तिवादिसे आजके नवयुवकका अनन्ततक काम नहीं चलता । उसके जीवनमें एक समय आता है जब उसका निरे तरफमें निर्वाह नहीं होता । तब उमेर इच्छा होती है कि ईश्वरमें विश्वास किया जा सके नो अच्छा हो । जिस मनुष्यकी मनोवृत्ति इसप्रकारकी हो गयी है उसको ईश्वरानुभूति-जैसे विषयको समझाना अत्यन्त कठिन हो जाता है, क्योंकि इसप्रकारका मनुष्य उन धार्मिक संस्कारों एवं कृत्योंको निरर्थक समझने लगता है, जिन्हे उसके पूर्वज आदरपूर्वक किया करते थे । इसका कारण ज्ञानके अजीर्णके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? आधुनिक वार्षालों तथा व्याख्याओंमें उनके (संस्कार इत्यादि) अभावकी पूर्ति नहीं हो सकती । आजकल हमारे मनमें जितने विचार और भावनाएँ उठती हैं वे सब इमारी सांसारिक आवश्यकताओंको लेकर ही होती हैं और इसीलिये उनका ईश्वरानुभूति-जैसे विषयको समझनेमें कोई उपयोग नहीं होता । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि ऐसे देवतामें हमारा विश्वास उठ जानेके कारण कि जो मनुष्यके मनकी लहरों एवं आचरणसे प्रभावित होता है हमारा मन एक ऊंचे अनुभवको प्राप्त करनेके लिये किसप्रकार संचेष्ट हो सकता है ।

यदि कोई मुझसे पूछे तो मैं उसका समाधान उसी युक्तिसे कहूँगा जिसे मैंने अपने निजके समाजानके लिये

दूँह निकाला है । ईश्वरके सगुणरूपकी सत्ताको स्वीकार कररखें ही मनुष्यको लाभ हो सकता है, यही मेरी धारणा है । रेखागणितके सिद्धान्तकी भाँति यदि कोई तरफसे ईश्वरको सिद्ध करना अथवा समझना चाहे तो यह उसकी भूल है । तरफसे एक प्रकारसे बुद्धिका समाधान भले ही हो जाय, किन्तु अनुभवसे हम कोसों दूर रहेंगे । हम तो चाहते हैं कि ईश्वरको हम इसप्रकार जान और समझ सकें, जिसप्रकार हम अपने किसी मित्र अथवा साथीको जान और समझ खेते हैं परन्तु यह स्थिति तरफसे प्राप्त नहीं हो सकती ।

तब प्रश्न यह होता है कि इसप्रकारका अनुभव हमें कैसे हो ? इसके लिये हमें पहले इस बातको समझ लेना चाहिये कि मनुष्यकी शक्ति उसकी इन्द्रियोंतक ही सीमित है । ईश्वर (यदि वह वास्तवमें ईश्वर है) इन्द्रियोंके परे, अतएव उनमें अप्राप्य होना चाहिये । इससे यह भी सिद्ध है कि सत्यका असली स्वरूप सदा मनुष्यकी बुद्धिकी पहुँचके बाहर ही रहता है । परन्तु साथ ही मैं यह भी जानता हूँ कि उनमेंसे अधिकांश बातोंका मैं अनुभव अवश्य कर सकता हूँ जिनके विषयमें वास्तव आधार तथा इन्द्रियोंके अभावके कारण मैं तर्क नहीं कर सकता । कठिनता केवल यह जाननेकी ही है कि इस अनुभवको प्राप्त करनेके लिये ध्यान उस अज्ञात एवं देखनेमें असीम अंशको किस तरहसे उपयोगमें लाया जाय ।

मैं अपने भाईयोंको सर्वत्र ही कोई न-कोई ब्राह्म आचरण अथवा धार्मिक कृत्योंको करते हुए पाता हूँ । उनमें सुझे कई मित्र ऐसे भी मिले हैं जिन्हें वह वस्तु प्राप्त हो चुकी है कि जिसकी लोजमें मैं था । उनके विचार एवं साधन विवर्णल भिज्ञ है, किन्तु उन्हें अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो गयी, हसमें अधिक और क्या चाहिये ? उनके विचार एवं साधन युक्तियुक्त थे या नहीं, यह प्रश्न गौण है । सुझे तो केवल उनके परिणामसे प्रयोजन था । तब जाकर मैं एक ही परिणामपर पहुँचा । मेरी अवशिष्ट यात्रा किसी ऐसे साधन अथवा ध्यानकी लोजमें बीती जो मेरे अनुकूल हो । अब यदि आजकलकी रोशनीका नवयुवक मेरी उस प्रक्रियापर सन्देह करे जिस प्रक्रियासे मैं जीवनरूपी जलाशयमें जल निकालता हूँ, तो इसमें मेरा क्या दोष ? मैं जानता हूँ कि मेरी प्यास

बुझ रही है और यही मेरे लिये पर्याप्त है। यदि मैंने तरफके द्वारा ईश्वरके साक्षियोंको प्राप्त करनेकी बेटा छोड़ दी है तो केवल इसीलिये कि मैंने अब समझ लिया है कि उससे दूर रहना सम्भव नहीं।

भगवन्नाम

(लेखक—स्वामी श्रीरामदासजी)

जीवनमें यदि कोई अमृत्यु बल्तु है, जिसके द्वारा हम अविनियत शान्ति एवं आनन्दको चरम सीमाको पहुँच सकते हैं, सो वह एक भगवत्ताम है। इसके मधुर उच्चारणके साथ-साथ यदि इसके वाच्यार्थ अर्थात् उस अखण्ड अटिसीय सत्ताकी ओर भी लक्ष्य बना रहे हैं तो चित्तके सारे मल बहुत शीघ्र खुल जाते हैं और उस अपार आनन्दका खोत उभय आता है जो आत्माका स्वाभाविक गुण है।

भगवान्का नाम वह इदं नामका है जो मनुष्यको भव-सागरके पार ले जाकर उस शाश्वत पदको प्राप्त करा देती है जो उसका चिरनन्त लक्ष्य एवं वास्तविक स्वरूप है। भगवत्ताम वह पारस्मणि है जो जीवको ब्रह्म बना देती है, कोइको सोनेका रूप दे देती है। भगवान्का नाम शरीर, मन एवं बुद्धिके दन समस्त रोगोंको निवृत्तिके लिये असोघ औषध है जिसने इसमेरे अनन्द द्वैत-बुद्धि दर्पणकर हमको जगत्के अंजालमें फँसा रखता है। नाम-संकीर्तनकी मधुर व्यनि वित्तापत्ति सीधके लिये माताकी मधुर लोरीका काम करती है और उमेर सदृके लिये निर्वाणरूपी मीठी नीदमें सुला देती है।

भगवत्ताम उस परमेश्वरका वाचक है, जो अखिल ब्रह्माण्डका नायक एवं नियन्ता ही नहीं, किन्तु सारा ब्रह्माण्ड ही जिसका रूप है और ब्रह्माण्डके परे भी जो कुछ है वह भी वह परमात्मा ही है। अतएव नामके साथ सम्बन्ध जोड़ना उस अनन्त सत्ताके साथ संयुक्त हो जाना है, तूसे शब्दोंमें मानव-प्रकृतिको, जो असम, आनन्द एवं अज्ञानमें हूँही है, महान् स्वतःप्रकाश-सत्तामें परिणत कर देता है। नामके मधुर सीधीके द्वारा ईश्वरसे सम्बन्ध जोड़ना भानो आनन्दको लूटना है।

ईश्वर वह सर्वोपरि शक्ति है जिसका प्रत्येक विज्ञान सदैव अपार प्रेम एवं दयामें परिषूर्ण होता है। संसारके अन्दर उसकी जितनी भी लीलाएँ होती हैं, उन सबमें यही विदेशता भरी रहती है। परन्तु हाय ! यह पामर अज्ञानी जीव अमरवत्ता उसकी दयाका अनुभव नहीं करता और इसीलिये उसके प्रत्येक विज्ञानमें सन्तोष न कर प्रतिकूल लेटा करते रहता है और इसीसे परिणाममें

दुःख पाता है। ईश्वरकी इच्छामें अपनी हृष्टाको मिला देना, जीवनकी प्रत्येक घटनामें प्रसन्न रहना और अहंकार-शून्य होकर उम्मके साथ अपने कर्तव्यकर्मको करते रहना, यह सब तभी हो सकता है जब मनुष्य उस प्रेम एवं सौजन्यके सागर (परमात्मा) के साथ अपना अति निकट-का गहरा नाता जोड़ ले, उसके साथ एकारमताका अनुभव करने लग जाय। ईश्वरके साथ इसप्रकारका समर्पक एवं तन्मयता तभी हो सकती है जब हमारे चित्तमें उसकी स्मृति तैलधारावर अविच्छिन्नरूपसे बनी रहे और इस-प्रकार निरन्तर उसकी स्मृति बनाये रखनेका एकमात्र साधन उसके पवित्र एवं मधुर नामके संकीर्तनमें चित्तकी शृणिको एकाकार कर देना ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाम ही ब्रह्म है। जिसने नामरूपी अमृतका एक बार भी आत्मादृढ़ कर लिया, वह मानो आनन्दके अपार समुद्रमें निमग्न हो गया।

भगवान्का नाम चित्तको अहंकार एवं वासनाओंसे मुक्त कर देता है और सारी आत्माको प्रकाश एवं आनन्दके प्रवाहमें परिष्ठापित कर देता है। जिस हृदयने भगवान्के नामको दृढ़ताके साथ पकड़ लिया, वह हृदय भगवान्का निवास-स्थान ही बन गया है। फिर उसमें अनन्त प्रेम एवं सर्वांत्रिक दृष्टिकी धारा बहने लगती है। या यो कहिये कि फिर वह मनुष्य विश्वके भीतर एवं बाहर सर्वत्र उस एक परमात्माको ही देखने लगता है। भगवान्का नाम मनुष्यके अनन्द यहिण्णता एवं प्रेरणका अट्रट भगवान् लोक देता है और उसकी आध्यात्मिक शक्ति एवं आनन्दके गुस खजानेकी कुत्री बनता देता है। भगवान्के पवित्र नामकी महिमा, उसके अमित प्रभाव तथा उसके द्वारा व्यक्त होनेवाले प्रेम-पर्योनिषिकी समता कौन कर सकता है ? उसकी कृपामें मनुष्य अमरवत्को प्राप्त होकर अखिल विश्वके नायक परमात्माके साथ एकारमताका अनुभव करने लगता है। नाममें वह शक्ति है जो अज्ञानके पर्येको चीरकर मनुष्यके अन्दर ज्ञानके प्रकाशको प्राप्तुरूप कर देती है जिसके द्वारा वह अपने तथा तूसे जीवोंकी अन्तरात्मामें, नहीं-नहीं, जड़-बेतन सभी पदार्थोंमें उस प्यारे मनमोहनकी छवि निरखने लगता है। ईश्वर अक्षम प्रेमार्थ

है और वह इस सबके अन्दर विराजमान है। इस अनादि कालसे उससे अभिज्ञ होते हुए भी उससे पृथक् हैं। मनुष्य उस आमन्दसभी जननीका आमन्दमय शिशु है, जोकि परमात्मा शाश्वत सुख एवं शान्तिका खण्ड ही है। जब मनुष्यके हृदयमेंसे उस दिव्य आमन्दकी महक फूट निकली है, तब वहाँसे विशुद्ध प्रेम, दया एवं शान्ति-

का स्रोत बहने लगता है। इसप्रकारका प्रेम सारे जगत् एवं जड़-जैवन सभी प्राणियोंको परिष्ठावित कर देता है। भगवान्‌का नाम ही वह साधन है जो हमें इस आनन्दांगके सभी पर्णोंमें देता है। वह मनुष्य वास्तवमें धन्य ही नहीं जन्म्यातिषय्य है, जिसने भगवक्षाम्भी अपार महिमाको अनुभवके हारा जान और समझ लिया है।

ईश्वर क्या है ?

(लेखक—श्रीअर्नेस्ट पी० होविज, प्रो० हॅटर कालेज, न्यूयार्क)

परमेश्वरकी परिभाषा कौन कर सकता है? अध्यात्म-मार्गमें जो जितना आंगे बढ़ा हुआ होता है उसके ईश्वर-विषयक अनुभवमें भी उतना ही अन्तर हो जाता है। स्पेन-सर (Spencer) इक्सले (Huxley) और ईन्स्टीन (Einstein) जैने अलक्ष्यवादी (Agnostics) मृष्टिकर्ता संगुण ईश्वरको नहीं मानते। वे नित्य-तत्त्वोंको, मृष्टिके अव्यय कारण एवं मर्यादाको मानते हैं जो सारे सांसारिक पदार्थोंको रचनेवाली नियामक, व्यवस्थापक एवं बनानेविगाहनेवाली है। इसप्रकारका विवेकपूर्ण एवं नियमित विकास धार्मिक विकासको एक बहुत ऊँची सीढ़ी है। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक कैरट (Kant) उपर नक्षत्रोंमें जरे हुए आकाशको एवं संसारके अन्दर धर्मकी मर्यादाको देखकर विचारमें हृदय जाता था। यद्यपि वह ईश्वरवादी नहीं था किन्तु वह इस बातको पूर्णरूपमें मानता था कि इस परिवर्तनशील संसार-के मूलमें कोई आध्यात्मिक तत्त्व अवश्य निहित है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस जिस समय समाधिष्य हो जाते थे, उस समय उन्हें समीपमें बैठे हुए अपने शिष्यों-सकका भान नहीं रहता था, यहाँतक कि जबतक उन्हें फिरमे बाह्यानुमन्यान नहीं होता था वे भान कालीके संगुण-रूपको भी मूल जाते थे। आरम-विम्मृति आमितकतामें भी ऊँची अवश्या है; सामान्यतया ये दोनों एकत्र नहीं रहती। आरमोम्मार्गका अध्यात्म बढ़ानेमें वह आरम-विम्मृति-में परिणाम हो जाता है और आरम-विम्मृतिमें आरमानुभव-की सिद्धि होती है। जब प्रह्लाद अपने मैपनको मूल गया, तब उसे अपने असली स्वरूपका ज्ञान हो गया और उस अन्तरतम सार्वभौम तत्त्व-समष्टि-जैवन) का ज्ञान हो जाने-पर वह संसार और उसके अव्यक्त कारणोंको बिलकुल भूल गया। उसे तब सृष्टि अथवा मृष्टिकर्ता की भान नहीं

रहा; अथवा इस यों कह सकते हैं कि वह ईश्वरवादी नहीं रहा। किन्तु उस अलौकिक अवस्थासे नीचे उत्तरकर जब उसकी जैवनी किर सांसारिक पदार्थोंका अवगाहन करने लगी और उसे फिरमे यह ज्ञान हो गया कि 'मैं प्रह्लाद हूँ' मायाका परदा फिर उसके सामने आ गया और उसके साथ-ही-साथ उसे इस विश्वरूपी विशाल भवनका निर्माण करनेवाले उस अनुकर्त्ता विश्वकर्मा और उसके अनन्त महिमामय गुणसमूहका भी स्मरण हो आया।

उन प्रातःस्मरणीय गोप-ललनाओंका भी यही इरु भा जो बृन्दावनको कुञ्जबीशियोंमें भगवान् श्रीकृष्णके साथ नृस्य एवं विहार करती थीं। जब वे अपने आपेको भूलकर श्रीकृष्णके साथ एकाभ्यासका अनुभव करती थीं तब वे गोपिका नहीं रहती थीं प्रथुत श्रीकृष्ण ही बन जाती थीं। परन्तु ज्यों ही उन्हें अपनी सुध आती और अपनी पृथक् सत्ताका अनुभव होता कि वे श्रीकृष्णमें उपस्थ-भुदि करने लग जाती थीं। तब वे फिर गोपी-भावको प्राप्त हो जातीं और श्रीकृष्णकी प्रेयसी बन जातीं।

मेरे प्यारे नवयुवको! आओ, इमलोग ईश्वरवाद और अनीश्वरवादके व्यर्थ बाजालमें न फैसलर सचे विश्वासी बनें। निरर्थक वाकलहके मनों बोझकी अपेक्षा वास्तविकता-का एक तोला भी अधिक मूल्यवान् है।

मृष्टिके अनन्त अव्यक्तियोंके मूलमें ईश्वरीय तत्त्वका विवास रहता है, शास्त्रोंके ऊहापोह एवं विषयवासकोंके झोंकोंकी अपेक्षा ज्ञान एवं प्रेमका सहारा अधिक काभद्रायक है।

* Divine Realities abide
Beneath creation's crowded forms;
Wisdom and love are safer guides
Then learned love and passion's stor.

नास्तिकवाद और आस्तिकवाद

(लेखक—श्रीयुत पी० एन० शंकरनारायण ऐयर बी० ए०, बी० एल०)

आस्तिक और
नास्तिक कौन है ?
और नास्तिकवादका अर्थ है इंधरमें

अविश्वास, उसकी सत्ताका निषेध और अपने कार्योंमें
उसकी अवहेलना करना । सामान्यतया सभी प्रकारके
मनुष्योंका इन दो विभागोंमें समावेश हो सकता है, किन्तु
इनमेंसे प्रत्येक विभागकी भी कहे श्रेणियाँ हैं । इन्हें यह
भी निश्चय करना होगा कि इंधरमें विश्वास एवं श्रद्धाका
वास्तविक अर्थ क्या है ? एक वह प्रेतपूजक है, जो अमुक
देवता कुपित होकर सुझे महामारी या दुर्भिक्षसे पीड़ित न
कर दे, इस भयमें उस देवताको सन्तुष्ट करनेके लिये पशुबलि
अथवा नरबलितक दे डालता है; उसमें ऊँची श्रेणीका वह
उपासक है, जो भिज्ञ-भिज्ञ प्रकारके फलोंकी कामनासे
अपने उपास्तदेवको निज्ञ निज्ञ प्रकारकी बलि देता है;
सीसरा वह नैमित्तिक उपासना करनेवाला पुरुष है जो
किसी समय एवं स्थान-विशेषपर तो देवकी उपासना
करता है किन्तु अन्य सब समय एवं स्थानोंमें दुराचार,
क्रूरताके व्यवहार एवं अपने स्वार्थके लिये परस्पराहरण
करनेसे भी मुँह नहीं मोड़ता । और इन सबके विपरीत
चौथा वह निष्काम-भक्त है, जो प्रेम एवं सौंजन्यकी मूर्ति
है और जो विश्वके सारे जीवोंको प्रकाश एवं सुखका वितरण
करता है । कदाचित् इन सबकी गणना आस्तिकोंमें ही की
जायगी । इसी प्रकार नास्तिकोंमें एक ओर तो उनकी गणना
होती है जो केवल इंधरका ही तिरस्कार नहीं करते किन्तु
धर्म एवं सत्यकी भी अवहेलना करते हैं और दूसरी ओर
वे लोग भी नास्तिक ही कहलाने हैं, जो इंधरका
निषेध करनेपर भी हृदयके बड़े पवित्र एवं सुशील होते हैं,
तथा सबे दिलसे सारे जीवोंके साथ प्रेम करने तथा उनकी
सेवा करनेकी इच्छा करते हैं । इस न तो यह कह सकते
हैं कि आस्तिकोंके जितने भेद उपर बताये गये हैं वे सभी
मानव-जातिकी प्रगतिमें सहायक हैं और न यही कह सकते
हैं कि उपर्युक्त दोनों प्रकारके नास्तिक उसमें बाधक ही हैं ।
इमारी धारणामें, वह पवित्र एवं सदाचारी नास्तिक भी,
जिसकी एकमात्र अभिलाषा सारे जीवोंके साथ प्रेम करना
तथा उनकी सेवा करना है, मानव-प्रगतिमें उतना ही
सहायक है, जितना वह निष्काम-भक्त, जो सारे जीवोंमें

प्रकाश एवं सुखका वितरण करता है । अन्य प्रकारके
आस्तिक एवं नास्तिक दोनों ही मानव-प्रगतिमें वस्तुतः
बाधक होते हैं ।

सच पूछिये तो स्वार्थ और दुराचार-
नास्तिकवादका परायण धर्मके देकेदारों तथा उनके
कारण क्या है ? पिछलमूँ भक्तोंने धर्मकी आशमें जो दुरा-
चार, अस्याचार करना एवं भोले-भाले लोगोंको लटना
प्रारम्भ कर दिया, उसीके विरोधमें नास्तिकवादका प्रचार
हुआ है । नास्तिकवाद इसी प्रकारके यथेष्ठाचारी एवं
स्वमताप्राप्ती पुरुषोंके अस्याचारके विरुद्ध आस्ताकी स्वतन्त्रता-
शोतक आवाज है, जो इस दृष्टिमें एक प्रकारमें निर्णीष कही
जा सकती है । यदि उपासकका आस्तिकवाद सदा शुद्ध,
उद्धार एवं पवित्र रहे तो सारी जनताको बाध्य होकर
उसका अनुगमन करना ही पढ़े । श्रीमद्भागवत ७ । १० ।
११ में लिखा है—

यत्र यत्र च मद्वकः प्रगान्ता समर्दिश्च ।

सावदः समदाचाराम्बे पुनन्यपि कीकटान् ॥

अर्थात् मेरे भक्त अस्यन्त शान्त, समदर्शी, पवित्रात्मा,
उद्धार एवं परोपकाररत होते हैं वे जहाँ कहीं रहते हैं
वहाँके गन्दे-से-गन्दे बातावरणको भी पवित्र कर देते हैं ।

जब श्रीनन्दरायजीने सब प्रकारकी उपासनाकी
ऐकान्तिक पवित्रताको न समझकर इन्द्र-मरुके रूपमें अन्ध-
विश्वासयुक्त अनुष्ठानका प्रारम्भ किया, तब भगवान् श्रीकृष्ण-
ने स्वयं अग्रणी बनकर उसका विरोध किया । उन्होंने बात-की-
बातमें सारी क्रियाका रूप बदलकर उसे सर्व भूतोंके
अन्तरामा (परमात्मा) की प्रेमयुक्त पूजाका सुसंस्कृत
एवं युक्तिसंगत रूप दे दिया । वह दुष्ट अथवा अविवेकी
पुरुष जो सुलभस्तुता इंधर एवं धर्मका अपलाप करता है,
समाजके लिये उतना अहिसकर नहीं है, जितना वह दृढ़ी
आस्तिक कहलानेवाला मनुष्य है, जो प्रकटमें इंधरको
मानवेवाला बना रहता है परन्तु जो अन्दरसे अविश्वासी
होता है । उसका पेसा आचरण अवश्य ही उसके नैतिक
पतनका कारण होता है । क्योंकि वह दृढ़ी इंधरवादकी
आदमें दूसरोंको कष पहुँचाता है एवं उनके दृष्ट्यका
अपहरण करता है ।

मानव-समाज-की प्रगतिमें कौन-कौन-सी बातें सहायक होती हैं और कौन-कौन-सी बाधक।

एवं प्रेमका प्रसार करना है। अपविभ्राता, स्वार्थ-परायणता, परस्वापहरण, नृशंसता और दूसरोंके कष्टोंकी उपेक्षा, ये सभी बातें मनुष्य-जातिकी प्रगतिमें बाधक हैं, आहे हृष्ट प्रवृत्तियोंका बाय रूप कैसा ही अच्छा वर्णों न दीखता हो।

अब यह विचार करना चाहिये कि हमें उच्च कोटिका जीवन किसप्रकार से प्राप्त हो और निन्हाकोटिके जीवनसे हम किस

तरह बच सकें। लक्ष्यका निरन्तर ध्यान रहनेसे ही उच्चति होती है। जीवन एक प्रकारका संग्राम है, जो सुखकी प्राप्ति एवं दुःखके परिहारके लिये निरन्तर जारी रहता है। प्रायः प्रत्येक जीवका लक्ष्य अपनी अवस्थाको सुधारना होता है और वह हमसे लिये भरसक चेष्टा भी करता है। वह अपनी मारी क्रियाओंको हृष्ट आदर्शके साँचेमें दालनेका प्रयत्न करता है। मनुष्य जितना आध्यात्मिक मार्गमें आगे बढ़ा हुआ होता है, उसका आदर्श भी उतना ही पवित्र एवं ऊँचा होता है। जिस मनुष्यका अन्तःकरण कुरी वासनाओंसे तथा राग-द्वेषमें मलिन होता है, उसका आदर्श भूत-प्रेतोंके रूपमें उसके सम्मुख आता है। जो मनुष्य व्यापारमें तथा दूसरोंके द्रष्टव्यका अपहरण करनेमें लगा हुआ है, उसकी दृष्टियें ईश्वरका भी वही रूप बन जाता है। इसी प्रकार एक निष्काम प्रेमी मनुष्यका आदर्श सत्य प्रेम एवं सांदर्भकी पराकाष्ठा होता है। उसके लिये वह एक अलौकिक प्रकाशका काम देता है, जिसके स्वरणमात्रसे ही उसको उत्साह एवं आनन्द मिलता है।

कुछ लोगोंका मत है कि वह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' मूर्त है और कुछ लोगोंकी धारणामें वह अमूर्त है।

वह आदर्श कुछ अंशमें मनुष्यको समझमें अवश्य आ जाता है, जिससे उसका मनुष्यके जीवनपर प्रभाव पड़ता दीनों ही है।

वह आदर्श कुछ अंशमें मनुष्यको समझमें नहीं भी आता और वह उसके लिये रहस्यमय बना

आस्तिक एवं नास्तिकके हृस पारिभाषिक भेदको योकी देके लिये भुलाकर हम यह कह सकते हैं कि मानव-जातिकी वास्तविक प्रगति अस्यन्त पवित्रतामय, निःस्वार्थ तथा उदारतापूर्ण जीवनसे होती है, जिसका उद्देश्य चतुर्दिश् आकोक

रहता है। ऐसा न होता तो उसे आगे बढ़नेके लिये प्रोरसाहन ही नहीं मिलता, उसकी उच्चति ही नहीं होती, उसे प्रकाश-की प्राप्ति नहीं होती तथा उसे अधिक जाननेकी उत्कण्ठा भी नहीं होती। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसकी उन्नतिके असंख्य नये-नये द्वार खुलते जाते हैं जो उसे आगेकी ओर सीधते रहते हैं। मनुष्यकी आत्मा ज्यों-ज्यों उत्सर्व होती जाती है, उसका आदर्श भी पहलेसे ऊँचा, व्यापक, महान् एवं अपरिच्छिष्ट होता जाता है।

साधक साध्यसे अधिक-से-अधिक लाभ कुद्र अहंकारके तभी उठा सकता है, जब वह साध्य नाशकी आव-वस्तुकी पवित्रता एवं उत्कृष्टताके सामने दृष्टकरता।

अपनेको अस्यन्त भुल एवं नगण्य समझे। तब उसका साधन इतना सीधा हो जाना है कि उसे साध्यकी प्राप्तिके अतिरिक्त और कुछ सुहाता ही नहीं। ऐसी दशा हो जानेपर वह अपने क्षुद्र अहंभावको प्रायः भूल-सा जाता है और उसकी सारी वृत्तियाँ साध्याकार बन जाती हैं। विज्ञान, काल्य एवं दर्शन-शास्त्रमें जिन लोगोंने अधिक से-अधिक काम करके दिखलाया है, वे साध्य वस्तुमें अपनेको विलीन करके ही ऐसा कर पाये हैं। पूर्ण सम्यकी प्राप्तिमें प्रत्यगारमाकी पृथक् सत्ता पूर्व चेतना वही बाधक है और उसका साध्यमें विलीन होकर मिट जाना परम सहायक है।

सन्त-महात्मा महान् भक्तों एवं सन्त-महात्माओंके प्रबं नकरी लिये यह आदर्श ईश्वर है। उनका अनुभव यह बतलाता है कि ईश्वर ज्ञान, ईश्वरवादी।

सौन्दर्य एवं प्रेमकी पराकाष्ठा है। उनकी यह मान्यता होती है कि इह सब जीव उसके सामने अणुसे भी अणु हैं, इह उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं और उसकी सेवा करनेमें ही इह सब लोगोंकी सार्थकता है। वह ईश्वर एक निश्चित आयोजनाके तथा सारे चेतन प्राणियोंका नियन्त्रण करनेवाले कुछ महान् नियमोंके अनुसार विश्वकी रचना करता है। महान् भक्तोंकी अभिलाषा एवं जीवनका ध्येय ईश्वरके विभानके अनुकूल बनकर उनकी ईच्छामें अपनी ईच्छाको मिला देना एवं उनके संकल्पके आधारपर ही जीवन धारण करना होता है। वे जब भावावेशमें आते हैं तब उनकी क्षुद्र अहंता नष्ट होकर समृद्ध-चेतनमें दिलीन हो जाती है। वे ईश्वर एवं उसके विभानको प्रत्यक्ष देखते हैं और

तब उन्हें इस बातकी उत्सुकता होती है कि जिस आनन्दका अनुभव वे करते हैं वह आनन्द सभीको प्राप्त हो। इसी हेतुसे वे संसारके सामने अपना प्रवृत्त अनुभव प्रकट करते हैं और उसे प्राप्त करनेका मार्ग बताते हैं। जिस वस्तुका शुद्ध चेतनाकी अवस्थामें अनुभव होता है, उसको साधारण भाषाके द्वारा साधारण मनुष्योंको समझानेमें कुछ बातें पूरी तरहसे लग नहीं की जा सकती और कुछ बातोंके समझानेमें भूल भी हो जाती है। भिन्न-भिन्न योग्यताके मनुष्य अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार उसे भिन्न-भिन्न रूपमें समझते हैं। परिणाममें अनेकों समग्रायोंकी सृष्टि हो जाती है, लोगोंमें अन्वयिकास फैल जाता है, कर्मकाण्डकी प्रक्रियाएँ बढ़ जाती हैं, धर्मके ठेकेदारोंका अस्याचार आरम्भ हो जाता है और ईश्वरका महत्व भूत-प्रेतों-जैसा ही रह जाता है। अनधिकारियोंके प्रति रहस्य प्रकट करनेमें इसप्रकार समझामें जो गन्दरी फैलती है, उसीका परिणाम यह होता है कि लोग ईश्वरकी सत्ताको अस्वीकार करने लगते हैं और नामिक बन जाते हैं। असली नामिक वही है जो कहनेमें तो उसी एक ऋषि-मुनि-वन्दित परमेश्वरको मानते हैं जो ज्ञान, पवित्रता एवं प्रेमकी पराकाष्ठा है किन्तु अपने आचरणोंसे उसीकी सत्ताका संवेद्या अपलाप करते हैं और उसके नियमोंका उल्लंघन करते हैं। इन नक्ली ईश्वर-वादियोंसे संसारकी अधिक हानि होती है।

नास्तिकोंमें कई कुछ महापुरुषोंने जब यह देखा कि ईश्वरमें इसप्रकारके भावमें लोगोंपर उल्लटा प्रभाव पड़ रहा है और उनकी हानि हो रही है, तो उन्होंने लोगोंको फिरमें सत्य-मार्गपर लानेके लिये एवं अस्तिक थे।

ईश्वरकी सत्ताको संवेद्या अस्वीकार करना तथा सत्य एवं सद्वाचारको जीवनका आदर्श बतलाना उचित समझा। इसप्रकारके नास्तिक कहलानेवाले पुरुषोंमें वस्तुतः कई महान् एवं पवित्र आरम्भ थीं। उन्होंने ईश्वरका खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया जिसका अस्याचारी लोग बखान किया करते थे; उन्होंने उस सत्य-की खोजमें, जिसका अनुसारण करनेसे मनुष्य-जीवन पूर्ण बन सकता है, अपना जीवन लगा दिया, जो वास्तवमें प्रक्षम्साके योग्य कार्य था। अवश्य ही उन्होंने उस सत्यका माम ईश्वर नहीं रखा और न उसे साकार ही बतलाया,

किन्तु किर भी उनका आदर्श सत्यकी पराकाष्ठा ही था और उसीकी खोज करना उनके जीवनका सर्वोपरि लक्ष्य बन गया था। हिन्दू-धर्ममें ईश्वरके इस स्वरूपको निराकार स्वरूप बतलाया है और उसके उपासकोंको ज्ञानी कहा गया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक उदारचित्त पुरुष हो चुके हैं, और हैं, जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती महान् नास्तिकोंके उत्तम आचरणों अथवा विचारोंको अपना आदर्श बना लिया। इन लोगोंने ईश्वरको नहीं किन्तु इन महापुरुषोंको अपना आदर्श बनाया। कई ऐसे भी हो गये हैं जिन्होंने जीवन एवं प्रकृतिके सुन्दर भावोंको ही अपना आदर्श माना। हिन्दू-धर्म हमें बतलाता है कि जहाँ कहीं हमें सौन्दर्य, उदारता, ज्ञान अथवा अन्य किसी महान् गुणकी उपलब्धि होती है, जिससे आस-पासके लोगोंको उत्साह मिलता है और खारों और शान्ति तथा आनन्दकी वृष्टि होती है, वहाँ ईश्वरकी ही अभिव्यक्ति समझानी चाहिये। लोगोंकी योग्यताके अनुसार उन्हें सत्य एवं सुखके मार्गपर लगानेके लिये ईश्वर ही उन अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं। अतः ये सारेके-सारे नामिक कहलानेवाले वास्तवमें आस्तिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनका निराकार ईश्वरमें विश्वास है। हिन्दू-धर्मका यह सिद्धान्त है कि वह शुद्ध सत्य तत्त्व लोगोंकी प्रकृतिके अनुसार निराकार अथवा साकार दोनों ही रूपोंमें मनुष्यकी बुद्धिका विषय होता है।

निराकार उपरके विवेचनसे हम यह कह सकते हैं कि जो लोग पवित्र एवं उदारचित्त तत्त्वकी खोजमें होते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरवादी हैं, चाहे कठिनता ।

होते हैं, वे साकार ईश्वरके उपासक हैं अथवा निर्गुण तत्त्वके। उक्त दोनों श्रेणियोंके मनुष्योंसे ही संसारकी प्रगतिमें सहायता मिलती है। परन्तु निर्गुणके उपासकोंका मार्ग कठिनाह्योंसे पूर्ण एवं बड़ी जोखिमका होता है, जिसे वह अपने प्रेम एवं पूजाका पात्र बना सके। जानवरोंसे लेकर बड़े-मे-बड़े महामाझों एवं ऋषियों-तकके किये यह बात छागू होती है। किसी प्रेमपात्रके बिना, जिसके प्रति मनुष्य अपने आपको समरण कर सके, जीवन शून्य एवं मारी हो जाता है। प्रेमके अन्दर जीवनको ऊँचा उठाने तथा शुद्ध करनेकी बड़ी आरी शक्ति निहित है। प्रेम जीवन ही अहंकृक, स्वार्थहीत, पवित्र

एवं व्यापक होगा और प्रेमास्पदके लिये आत्माका जितने ही अधिक अशमें आत्मनितक उत्सर्ग होगा, उतने ही अधिक अशमें हमारा जीवन उत्तम एवं पवित्र होगा। अतपूर्व जो लोग निशाकार बहाकी उपासना करते हैं, वे एक प्रकारमें बाटेमें रहते हैं। हाँ, उनमें पहले जो महान् साधक हो चुके हैं, उनमें उनका अवश्य प्रेम होता है। इसमें व्यक्तिगत पूजाका भाव आ जाता है, अतः इसे इम वास्तवमें नास्तिकवाद नहीं कह सकते, यह एक प्रकारमें आस्तिकवादका ही रूपान्तर है। अन्तर केवल इतना है कि इसके स्थानमें ये लोग महापुरुषोंकी एवं प्रकृतिकी उपासना करते हैं। जो लोग इनको भी अपना पथ-प्रदर्शक नहीं बनाते, उनके लिये इस वाक्ता कहा भय रहता है कि उनका अहंकार कहीं किरणें उनपर अधिकार न कर ले और उनकी सत्यबुद्धिको कल्पित न कर दे। उन्हें बहुधा नैराज्य एवं विवाद घेर खेता है जिससे वे क्रोध अथवा अमरणके वर्षभूत हो जाते हैं।

वैयक्तिक अनु-
भवका प्रमाण। कुछ विशेष घटनाओंसे स्पष्ट करनेकी
चेष्टा करूँगा। पिछले कुछ वर्षोंमें मैं भारतीय ग्रामोंमें उन जातियोंके जीवनको सुधारने तथा संघटित करनेकी चेष्टामें लगा हूँ जो सामाजिक जीवनमें अन्य जातियोंमें पिछड़ी हुई है और अनेक प्रकारके कट्टोंमें पीड़ित हैं। मेरे साथ कई ऐसे भित्र भी कार्य करते रहे हैं जिनका इंधरमें विश्वास न होनेपर भी ये वक्ते प्रेमी एवं सत्यान्वेषी हैं और उनके अन्दर समाज-सेवाकी वही प्रबल भावना है। ग्रामसुधार एवं नगरोंके गन्दे भागोंके सुधारका कार्य ही ऐसा है कि इस क्षेत्रमें काम करनेवालेको पढ़-पढ़पर ऐसी कठिनाहारोंका सम्नाकरना पड़ता है, जो देखनेमें दुरुस्थ भ्रातीत होती है। इस-प्रकारके संकटोंके आ पढ़नेपर मैंने देखा कि मेरे सहकारी भित्र सीधे मार्गमें विचक्षित होने लगे, वे हधर-उधरकी युकियाँ सजाने लगे और लङ्घन्यें दूर हटने लगे। इसका कारण यह था कि उन्होंने यह सोचा कि इस अकेले एवं असहाय है, इसलिये दूसरोंकी सहायता आवश्यक है। परिणाम यह दुआ कि वे धीरे-धीरे लङ्घन्यसे रक्षित हो गये और सुख्य कार्यको छोड़ बैठे। किन्तु ऐसे अवसरोंपर मेरे अन्दर नवीन साहसका सझार होता था और साध-ही-साध मेरा डरसाह भी बहता था। कभी-कभी तो गाँव-का-

गाँव मेरे बिरुद् लड़ा हो जाता था। वे लोग मेरे सिद्धान्तको तो टीक समझते थे परन्तु उसे कार्यमें परिणत करना असम्भव-सा भानते थे। उस समय मुझे भगवान्का निझलिखित डरसाहप्रद वाक्य स्मरण हो आता था, जो उन्होंने देवताओंको मन्दराचलमें समुद्र-मन्थनके लिये प्रोरसाहित करते हुए कहा था और मेरे अन्दर जोश भर देता था—

‘सहयोग मया देवा निर्मन्यमतन्द्रितः।’

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् हे देवो ! मेरी सहायतामें आलस्य छोड़कर मन्थनके कार्यमें जुट जाओ, डरसाह न छोडो।

मैं लोगोंको यह वाक्य सुनाता हूँ और उस प्रभुपर पहलेकी अपेक्षा अधिक विश्वासके साथ अपनी कार्य-पद्धतिको जारी रखता हूँ। तुरन्त मेरे लिये सहायताका कोई नया द्वार सुल जाता है, लोग मेरी वातको मान लेते हैं और अपने दंरोपर सबे होकर मेरी वातायी हुई दिशामें काम करने लगते हैं। कहूँ बार मैंने देखा है कि मेरे उन अन्तर्गत भित्रोंको नैराज्य, अस्यवस्थितता, विवेकशून्यता तथा जीवन एवं कार्यके प्रति उदासीनताके भाव घेर लेते थे और उनकी वही दशा हो जाती थी जो समुद्रमें छिना ढाँड़की नौकाकी होती है। किन्तु उसी परिस्थितिमें मेरा मार्ग मुझे स्पष्ट दिखायी देता था और मुझे एक अज्ञात शक्ति, बल एवं आत्मविश्वास प्राप्त होता था। ऐसे समयपर देवर्पि नारदके द्वारा ड्यासजीके प्रति कहे हुए निझलिखित वाक्यकी सत्यता मुझे स्पष्ट प्रतीत होती थी—

ततोऽन्यथा किञ्चन यदिवक्षतः

पृथग्दशस्तत्त्वतामस्तुपमिः ?

न कुच्चित् कापि च दुःस्थितामति-

र्भेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् ‘जो मनुष्य उस परमात्माके द्वारा रखे हुए नामस्तुपोंके कारण उसमें भिज्ज किसी लक्ष्यको अपनी दृष्टिके सामने रखता है और इसीलिये उसमें भिज्ज वस्तुओं-की चर्चाके द्वारा लोगोंकी सहायता करना चाहता है, उसकी बुद्धि समुद्रनें बिना ढाँड़की नौकाको नाहीं इधर-उधर डगमगाती हुई कहीं आशय नहीं पाती।’ इसी प्रकार मुझे अपने जीवनमें ऐसे कहूँ भावमियोंसे काम पड़ा है जिनका

भस्तिक्ष वहुत ऊँचा, हृदय बड़ा विशाल है और जो प्राणीमात्रकी सेवामें अपना जीवन व्यतीत करनेकी देखा करते हैं, किन्तु मैंने देखा है कि मनुष्यकी सेवा करते हुए भी वे कोरोंकी सोई हुई आध्यात्मिक वृत्तियोंको आगृह नहीं कर सकते और इसीसे उनको अपने कार्यमें दूसरांसे सहायता नहीं मिलती। वे लोग प्रायः हस्त बातको नहीं जानते कि लोगोंके हृदयपर किस बातका असर पड़ता है और इसीलिये वे हृधर-हृधर भटकने लगते हैं। हस्तका कारण यह होता है कि उन्हें धर्मके मुख्य सिद्धान्तोंका ज्ञान नहीं होता, जिनसे जीव और ईश्वरकी एकता होती है। साथ ही मैंने ऐसे पवित्रामा एवं चार्मिक अनुभवाले पुरुषोंको भी देखा है कि जो जंगलों असभ्य जातियोंकी अन्तरामाझोंको भी हिला देते हैं और उनके जीवनमें प्रकाश, आशा, शक्ति एवं आनन्दका सज्जार कर देते हैं। उस समय मैं हृदयसे निष्ठिलिखित धार्योंकी सत्यताका अनुभव करता हूँ।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमनिन-
स्तवस्यस्तमावादविशुद्धनुद्धमः ।
आकृष्ण हृच्छेण परं पदं ततः
पतन्योद्दानादत्युपमदह्नमः ॥
तथा न ते माधव तावकः कविद्
अदयन्ति मार्गात्मयि बद्धसौदादः ।
त्वयाऽन्युष्टा विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्वंसु प्रमो ॥
(श्रीमद्भागवत)

हे पुण्ड्रीकाक ! वे दूसरे लोग जो अपनेको मुक्त मानने लगते हैं और तुम्हारे प्रेमका तिरस्कार कर देनेके कारण जिनकी दुर्दि कल्पित हो जाती है, वे बड़ी कठिनतामें ऊँची अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर भी तुम्हारे चरणोंके प्रेमका आधार न होनेमें नीचं गिर जाते हैं। परन्तु हे लक्ष्मीपते ! यह दशा उनकी नहीं होती जो तुम्हारे बन गये हैं, तुमसे प्रेमका सञ्चन्ध जोड़ लेनेके कारण वे कभी मार्गमें च्युत नहीं होते, हे प्रभो ! तुम्हारे द्वाणको पा वे निर्भय होकर विद्वानोंके पददलित कर डालते हैं।

आदितक एवं नास्तिकका निर्णय किर एक बात यह है कि असुक मनुष्य आस्तिक है अथवा नास्तिक, यह बस-लाना सहज नहीं। जीवनको उक्त एवं मुख्दर बनानेवाला जो ईश्वरके अन्दर

उद विश्वास होता है, उसकी लौट बहुत कम कोरोंके अन्दर जीवनभर एकसी रहती है। कभी-कभी सो वह विलक्ष मन्द अथवा क्षीण हो जाती है और आगे चलकर उसकी ज्योति और भी कीकी पष्प जाती है, यहाँतक कि कभी-कभी उसके मनमें नास्तिकता अथवा ईश्वरकी विमृतिकी छहर-सी आ जाती है। इम पामर जीवोंकी तो बात ही क्या है, वहे-से-वहे भक्तोंको भी, जब वे अपनी वृत्तिनोपर दृष्टि डालते हैं, अपने हृदयकी तुरवस्थाको देखकर रोना आता है। प्रह्लाद-जैसे महाभागवतने भी भगवानसे इसप्रकार विनीती की थी—

नैतन्मनस्तव कथामु विकुण्ठनाथ
संप्रीयते दुरातिदुष्मसाधुतीत्रम् ।
कामातुरं ईर्ष्णाकम्येवणाते
तस्मिन्कथं तव गति विमृशामि दीनः ॥
(श्रीमद्भागवत)

हे वंकुण्ठाधिपति ! मेरा यह अर्थन्त दुष्ट, अतिशय असाधु, मनमयोग्यमयित तथा हर्ष, शोक, भय एवं अनेक प्रकारकी कामनाओंसे जर्जरित मन तुम्हारी कथाओंमें नहीं लगता; किर यह शीन-हीन जन तुम्हारी कीकाओंको किसप्रकार समझ सकता है ?

श्रीकृष्णचैतन्य भी जो प्रेमार्थके अवतार ही थे, इसप्रकार अपना रोना रोने है—

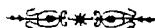
श्रीकृष्णस्फपदिनिषेवणं विना
व्यर्थाणि मेऽहान्यस्तिलेन्द्रियाणि च ।
पापाणग्नुक्लेन्वनमारकाण्यहो

विमर्शि वा तानि कथं हतत्रप ॥
अर्थात् सारे भूतप्राणियोंको आकर्षण करनेवाले अन्वर्थ नाम भगवान् श्रीकृष्णके रूप एवं गुणोंका ध्यान किये विना मेरा जीवन एवं मेरी हिन्दियोंके सारे व्यापार व्यर्थ हैं। अथवा यों कहिये कि मैं निलंज पर्यवर अथवा सूखे इंधन-के भारकी तरह इम जीवनका बहन करता हूँ।

दूसरी ओर इम देखते हैं कि अधम-से-अधम जीवोंके अन्दर कभी-कभी दिव्य ज्योतिकी ऐसो ज्ञालक दिल्लायी देती है कि जिसके दर्शनकर वहे-वहे महारामाओं-का जीवन उक्त और उसाहपूर्ण हो जाता है। श्रीमद्भागवतका अथवान करनेवाले सब लोग यह जानते हैं कि भगवान् श्रीदत्तात्रेयने जो चौबीस गुण बनाये थे, उनमें एक वेश्या, एक मनुमहिला एवं एक घायल भी था।

शब्द प्रभ यह होता है कि उन लोगोंका कर्तव्य ईश्वरके प्रेममय विश्वके अधिपति के अन्दर रहना हो का विश्वास थड़े और संसारमें प्रेम एवं जाना और सर्वत्र सुखकी वृद्धि हो। इमर्में प्रथेक व्यक्ति-उनका दर्शन को, जो यह इष्टा रखता है, यह करना है। चाहिये कि वह एकाग्रचित् होकर भगवान्में ऐसी प्रार्थना करे और स्वयं उन 'सत्यं तिवं सुन्दरम्' के स्वरूपमें लीन होकर सारे भूतप्राणियोंमें उन्हीं-का रूप देखे तथा ईश्वरबुद्धिमें सबकी सेवा करे। यदि इमने

लगनके साथ उनकी लोज को और प्रेमके साथ उनको पुकारा तो हमें विद्यास है कि हमारी पुकारका उत्तर वह अवश्य देंगे और हमें अपनी कृपाकी भिक्षा देकर संसारको अपने प्रेम, सौन्दर्य एवं आनन्दमें परिष्ठावित कर देंगे। भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णचैतन्यके विग्रहमें अवतीर्ण होकर उन्होंने ऐसा ही किया था। हमारी प्रार्थना है कि प्रभु हमें वह शक्ति एवं धोयता प्रदान करे जिसके द्वारा इम उनके कृपाप्राप्त बनकर संसारमें उनके प्रेमका प्रसार कर सकें।



नाम-महिमा

(लेखक—प्रोफेसर श्रीशंकरराव, वां०, डॉटेकर)



पुकाराम महाराज कहते हैं कि 'मैं भक्तिकी महिमाको दिखलाकर ब्रह्मज्ञानी पुरुषको भी उसके लिये उत्कण्ठित बनाऊँगा, मुक्तपुरुषोंकी आरम्भित्यस्तु छुका दूँगा।' इरिनाम-कीतंत्रमें जीवन ब्रह्ममय हो जाता है, तथा यह कीर्तनेपेसा भाग्यप्रद है कि भगवान् भी भनके अणी बन जाते हैं। इसलिये नीर्यात्रा करनेवालोंको भजनमें छाल आलसी बना दूँगा, तथा स्वर्ग-वास और स्वर्ग-सुख-भोगोंको भी उसके अगे कटु बना दूँगा। भक्तिके सम्मुख तपस्तीलोगों-का अभिमान छुका दूँगा, तथा यज्ञ और दाताको लजित कर दूँगा। केवल भगवान्मामके बलपर मैं पुरुषार्थसे चरम अकिको प्राप्त करूँगा और हइलोकमें लोगोंमें धन्य-धन्य कहलाऊँगा, जब्योंकि मैंने (तुकारामने) उस परम भाग्यही अकिको देखा है।'

— घोड़वीन लाल ब्रह्मज्ञाना हाती। मुक्ता आमर्याणी सांडवीन॥
बड़भूत काया होतसे कीर्तनी। भाग्य तरी अणी देव ऐसा॥
नीर्यामकासी आणीन आलस। कटु स्वर्गवास करिन भोग॥
साडवीन तपोनिधा अभिमान। यह आणि दान लाज्वीन॥
भक्तिमार्य सीमा साथीन पुरुषार्थ। ब्रह्मवा जो अर्थ निझेठा॥
चन्य महापौन इहलोकां लोकां। भाग्य आम्हा तुका देखियेला॥

मातुकाराम साप्रदायिक गाथा अमंग ३६-९

पाश्चात्य देशमें जिस समय ईश्वर-विषयक प्रश्नोंकी चर्चा छिड़ी है, उस समय ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाले कौनसे प्रमाण पेश किये जा सकते हैं, इसी प्रकारकी चर्चा बहुधा प्रारंभमें होती है। हमारे यहाँ इससे भिन्न ही प्रणाली है। भारतीय मनुष्योंकी मनःमुष्टि ही ऐसी हुई है कि उसमें कुछ बातें, जिना उत्पन्न किये ही, स्वभावतः सजी हुई मिलती हैं। उदाहरणार्थ—पुनर्जन्मपर विश्वास, कर्मसिद्धान्त, आमाका अमररव इत्यादि। ईश्वरके अस्तित्वका प्रभ भी करोव-करीब इसी प्रकारका है। अति प्राचीनकालमें खण्डियोंने उत्तिष्ठदकी इष्टिमें विचारकर अपने अनुभवमें स्पष्ट भाषामें यह बतला दिया था कि 'ईश्वर है और उसका ज्ञान प्राप्त करनेमें ही जीवनकी सफलता है, तथा उसका ज्ञान न प्राप्त होनेमें मनुष्य महाम विश्वासको प्राप्त होता है।'

'इ चेदेवदीद्य सत्यमस्ति

न चेदिहिवेदान्महती विनाशः।'

—केनोपनिषद्

अर्थात् यदि इस जन्ममें ईश्वरको जान लिया तो सब टीक हो गया, न जान सका तो वह महाविनाशको प्राप्त होगा। यह बात इमलोगोंके राग-रागमें समायो हुई है। इसलिये ईश्वरविषयक प्रश्नकी चर्चा छिडनेपर, 'ईश्वर है या नहीं और यदि है तो इसके कौन-से प्रमाण हैं?'—इत्यादि प्रश्नोंको ढाकर उसकी चर्चा करनेकी अपेक्षा

उसके अस्तित्वको स्वीकारकर, तथा उसकी प्राप्तिको मानव-जीवनकी सफलता मानकर हम उसकी प्राप्तिके साधनोंका ही विचार करते हैं। परन्तु आजकल इसमें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। आधुनिक शिक्षित पुरुषोंका मन अनीश्वरवादी और अधिक सुकृत लगा है। इसका कारण पाश्चात्य विचारका संक्षार भी ही है, सभ्य (युग) की महिमा भी ऐसी ही है। व्योंकि समाजसत्तावाद (Communism) के सदृश मिद्दान्त भी अनीश्वरवादी और सुकृत लगे हैं। ऐसे अवसरपर भारतवर्षकी संस्कृति और तत्त्वज्ञानके प्रभुत्व अंग 'ईश्वर-इश्वर' विषयक व्यक्तिकालकर 'कल्याण' मासिकपत्रने आधुनिक सजातीय विचारोंके पक्ष प्रयत्न किया है, उसमें इस लेखनारा हम भी अपना हाथ बँटाते हैं। ईश्वरके अस्तित्वको मिद्द करनेका काम अधिकारी पुरुषोंके ऊपर छोड़कर हम लेखने भगवत्प्राप्तिके सुगम और सुलभ साधन-स्वरूप भगवत्तामके माहात्म्यके विषयमें संक्षेपमें विचार किया जायगा।

१—इतिहास

उपर्युक्त कथनानुमार हमारे देशमें अति प्राचीनकालमें—इतने प्राचीनकालमें जब कि प्राचीन भूमार्गमें जो राष्ट्र, भाज अग्रगण्य कहे जाते हैं उनमेंये कितनोंका हम स्वरूपमें उत्तर भी नहीं हुआ था, उस कालमें—'क्या संसारका कोई कारण है, यदि है तो वह चेन है या जह, उसके साथ मनुष्यका क्या सम्बन्ध है, उसका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं, यदि हो सकता है तो किस-उपायमें?' हमप्रकारके गहन नात्तिक विषयोंपर चर्चा चलाकर एतदिष्यक सिद्धान्त निश्चित किये जाते थे। पवित्र गंगा-नदिके समान रम्य स्थानमें निशास, साधारण रहन-सहन, खाने-पीनेकी चिन्ताका अभाव, हन परिव्यतियों-में तकालीन अधियोंको हन प्रस्तोंकी सांगोपांग और शान्त रीतिसे चर्चा करनेमें सुविधा थी। वह चर्चा किस प्रकारकी होती थी इस बातका पता हमें उपनिषदोंमें लग जाता है। अन्य आवश्यक प्रस्तोंके साथ परमेश्वरकी प्राप्ति-के साधनोंका भी विचार होता था। उपनिषदोंमें ज्ञान, योग और कर्म इन साधनोंके साथ-साथ नाम-मार्गका भी उल्लेख मिलता है। केनोपनिषद् खण्ड ४ श्लोक ६ में स्पष्ट लिखा हुआ है कि—'तद्व तद्रमं नाम तदनिमित्युपासित-व्यम्।' अन्दोत्तर उपनिषद् के सातवें अध्यायके प्रयत्नमें

भी नामकी उपासनाका उल्लेख है। नाम-मार्ग अन्य साधनोंके समान ही प्राचीम है बहिक योगादि साधनोंकी अपेक्षा भी उसका अधिक पुराना होना बहुत ही स्वाभाविक है। जगद्विनन्ता ईश्वर है, एक बार यह मान लेनेपर उसको सभीप बुलानेका सहज मार्ग मानव-स्वभावके अनुसार यदि है तो उसको पुकारना ही है। माँको सामने न ढेल-कर जायें वहा रो-दोकर उसे पुकारता है, उसी प्रकार ईश्वरकुल होकर प्रेमसे डस छिपी हुई जगन्माताको दर्शन देनेके लिये पुकारना ही स्वाभाविक मार्ग है। उपनिषदोंमें इसका जो संक्षिप्त-सा उल्लेख मिलता है, इसका कारण यह है कि वे ग्रन्थ तत्त्व-चर्चा-विषयक हैं अतः तत्कालीन ऋषि-मुनियोंकी बुद्धिमें निकले हुए सिद्धान्त सूत्रस्पृष्टे उनमें लिखे हुए हैं। यही कारण है कि भावना-प्रधान तथा अन्तःकरणको अंगीकृत होनेवाले मार्गका उनमें स्वभावतः ही विस्तार नहीं है। परन्तु इस मार्गका उनमें उल्लेख है, इस बातको ध्यानमें रखना आहिये। इस विषयमें इतना लिखनेका कारण यही है कि बहुतरे लोग इस मार्गको अर्वाचीन और अधिक-मे-अधिक मध्ययुगका मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त चर्चामें यह मालूम हो जाता है कि उनका ऐसा समझना भूल है। हाँ, नाम-साधनके साथे महात्वको जानकर उसमें पूरा-पूरा लाभ उठाकर उसका लाभ सब जीवोंको प्रदान करनेका श्रेय यदि किसी-को प्राप्त है तो वह अवश्य ही मध्यकालीन साधु-संतोंकी है। उपनिषदोंके द्वाटा ऋषि-मुनियोंका भुक्ताव ज्ञान-की ओर था, उस समय ईश्वर-विषयक चर्चा तथा उसकी प्राप्तिके साधनोंका अनुष्ठान गुफाओं अथवा आश्रमोंमें होता था। मध्ययुगीन नामनिष्ठ (भक्त) लोगोंने इतिहासिकी महिमा अधिक बढ़ायी और ईश्वर-विषयक प्रश्नोंको गुफाओं और आश्रमोंमें निकाल घौराहोंपर लाकर सभके लिये उन्हें सुलभ कर दिया। यह कहना असंगत न होगा कि इस युगके आरम्भ श्रीमद्भागवतपुराणमें हुआ है। श्रीमद्भागवतमें कल्युगका वर्णन करते समय म्प्रष्टृप्तसे कहा है कि—

यत्र संकीर्तनैव सर्वे स्वार्थोऽभिन्नम्यते ।

'श्रीभगवान् के नाम-संकीर्तनमें धर्म, धर्म, काम, मोक्ष सभी अर्थोंकी प्राप्ति होती है।' श्रीविष्णुपुराण (३।१।१०) में भी यह स्पष्टः कहा गया है कि नाम-संकीर्तन ही इस कल्युगका धर्म है। मारदके अकिसूत्र भी इसी प्रकारके

है। परन्तु इसकी अपेक्षा भी नामका प्रसार हैशरके नाम-का व्यव्योग करते हुए हिन्दुस्तानभरमें यदि किसीने किया है तो वे प्रान्तीय भाषामें कविता करनेवाले महापुरुष महामार्गण हैं। उनमेंसे कुछ प्रमुख महामार्गोंके नाम कवीरदास, तुलसीदास, हैरास, दाद, चरणशाम, नानक, मीराबाई, नरसिंहेहता, चैतन्य, ज्ञानदेव, तामरेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास और पुरन्दरदास प्रमुख हैं। और इसी नामके ऐहत्व सिद्ध करनेवालोंकी परम्परा अर्द्धचीन साथु रामकृष्ण परमहंसके पहुँची है।

इस विषयमें ध्यान देनेयोग्य एक अधरणकी वात तो यह है कि नामकी श्रेष्ठता तथा उसकी सामर्थ्यके विषयमें भारतके विभिन्न प्रदेशोंके सभी साधुओंका एकमत है। भारतके साधुओंको तो भगवद्गामकी श्रेष्ठता स्वीकृत है ही; विशिष्ट पाश्राय देशके साथु भी नामके महत्वको जानकर उसकी मूर्ति करते हैं। चौदहवीं शताब्दीके एक पाश्राय साधुने 'The cloud of Unknowing' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है उसमें 'नाम कैसा होना चाहिए तथा उसका क्या उपयोग है?' इसका वबा ही सुन्दर धर्षन किया है। यहाँ इम उसके वाक्य उद्धृत करते हैं—

And if thou desirest to have this intent lapped and folden in one word, so that thou mayest have better hold thereupon, take thee but a little word of one syllable, for so it is better than of two; for the shorter the word, the better it accordeth with the work of the spirit. And such a word is this word 'God' or this word 'Love.' Choose whichever thou wilt, or another; whatever word thou likkest best of one syllable. And fasten this word to thine heart, so that it may never go thence for anything that befalleth.

This word shall be thy shield and thy spear, whether thou ridest, or peace or war.

(The cloud of unknowing p. 26-27.)

अर्थात् 'यदि तुम अपनी अभिलाषाको एक शब्दमें संक्षिप्त और संखित करना चाहते हो जिससे तुम उसमें अधिक लाभान्वित हो सको तो केवल एकवर्णयुक्त एक शब्द तुमों जो हो स्वरवाले शब्दसे अल्प होगा। क्योंकि

जितना ही छोटा शब्द होता है उसना ही अधिक आत्म-शक्तिके अनुकूल होता है और ऐसा शब्द 'भगवान्' या 'प्रेम' है। इसमें तुम जो काहो अन सकते हो; एक व्यर्वाले जिस शब्दको तुम अधिक पसन्द करते हो, उनों। और उस शब्दको अपने हृदयमें इसप्रकार रख लो जिससे वह कभी किसी भी वस्तुकी प्राप्ति होनेपर बाहर न निकले। यह शब्द तुम चाहे अश्वारोहण करो, शान्तिमें रहो अथवा युद्ध करो, सदा तुम्हारी ढाल और तलवारका काम देगा।'

ऐसा ही महत्व Thomas a Kampis के लिये है
'Imitation of Christ' नामक ग्रन्थमें भी मिलता है। सार्वर्य यह है नामकी महत्वाका गुणगान प्राचीन, अर्द्धांशीन, पौर्वाय, पाश्चात्य सभी सन्तोंने किया है।

२-दूसरे साधनोंके साथ नामकी तुलना

नाम-माहात्म्यके धर्षन करनेमें सब साधु-सन्तोंका जो एकमत दीख पड़ता है तथा अनेकों साधु हरि-चिन्तनमें भगवान्के संसारके त्रिविभागोंको जो भूले हुए दीख पड़ते हैं, इसके अनेक कारण हैं। उनमेंमें यहाँ मुख्यतः दो बातोंका विचार करना है, एक तो अन्य साधनोंकी अपेक्षा नामकी सुलभता और दूसरी नामकी अन्तरंगता। पहले नामकी सुलभताका विचार करना है।

ज्ञान, योग, कर्म आदि भगवत्प्राप्तिके प्रसिद्ध साधन हैं। हमें इस लेखमें यह सिद्ध नहीं करना है कि ये सब भगवत्प्राप्तिके साधन नहीं हैं। हमें तो यही दिखलाना है कि इन सब साधनोंकी अपेक्षा नाम-साधनकी सुलभता कहाँतक है, तथा पीछे यह भी दिखलाना है कि नाम-साधन सुलभ होनेपर भी वैसा ही फलदायी है जैसे अन्य साधन हैं।

यदि सब साधनोंका हाजा कहलानेका गर्व किसीको प्राप्त है सो वह ज्ञानको है। 'ज्ञानदेव तु कैवल्यम्' तथा 'ज्ञान ज्याचेह हार्तीं। तो चि समर्थ मुक्ति।' अर्थात् ज्ञानी ही मुक्त होता है। इसप्रकारके संक्षेपों अर्थयुक्त वचन पण्डित, साधु, ज्ञानी पुरुषोंके ग्रन्थोंमें मिलते हैं। परन्तु इस श्रेष्ठताकी सिद्धि यथापि मुख्ये या वाइ-विवाद-द्वारा करना सुगम है, तथापि ज्ञानका पूरा-पूरा माप करना, दृढ़ अपरोक्षानुभूतिके द्वारा 'तस्यमस्यादि' महावाक्योंका अनुभव प्राप्तकर 'वासुदेवः सर्वमिति' को सम्बूल अनुभूति बहुत हो दुर्घट है। उसके प्राप्त करनेके साधनोंका विचार

करने समय जान पढ़ता है कि तीव्र जिज्ञासु भी निराशाके गर्तमें जा गिरेगा। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मुख्यतः तीन बातोंकी आवश्यकता है, पहली तैलुद्धि, दूसरी साधन-चतुर्थसम्पत्ता और तीसरी बात है शब्दपर निष्णात् ज्ञानी गुरुका प्रसाद।

इन तीनोंपर विचार करनेमें यही मालूम होता है कि सामान्य मनुष्यके लिये इन तीनोंमें एकका भी प्राप्त होना दुर्लभ है। बहिर्मुखी इन्द्रियोंके लिये नियत दीख पढ़नेवाले स्थूल जगतको मायिक समझकर उसके अविद्यान परमात्मा की सत्यताको बुद्धिमें निश्चय करनेके लिये पहले शास्त्राभ्यासकी आवश्यकता है। विभिन्न शास्त्रोंकी 'त्याति' की चर्चा सविकल्पक प्रश्यक्ष सथा निर्विकल्पक प्रश्यक्षमें सूक्ष्ममें, स्फोटके समान वाद-यह सामान्य मनुष्यकी बुद्धिकी कथाओं वाहरकी थाँतें हैं। बल्कि इनमें श्रम करके शास्त्रोंकी एकवाक्यताके दुर्गम गढ़को जीतकर शास्त्र-सिद्धान्तको बुद्धिगम्य कर लेनेपर भी क्या काम निकल सकता है? केवल पुराने सिद्धान्तोंका समझना ही नहीं है, बल्कि नये-नये मिद्धातोंके रचनेवाले पण्डित बढ़ते जाते हैं, उनके सिद्धान्तोंका भी जानना आवश्यक है। परन्तु ऐसी बुद्धिमें केवल पाण्डित्य प्राप्त होगा, ईश्वरकी प्राप्ति इसमें न होती, उसके लिये तो वैराग्यकी आवश्यकता है। जैसे पाश्चात्य जर्मन देशके प्रसिद्ध दार्शनिक कैंटने कहा है कि अनुभवके बिना प्रश्यक्ष धर्थ है और प्रश्यक्षके बिना अनुभव निष्प्रयोजनीय है। (Percepts without concepts are blind and concepts without percepts are empty) उसी प्रकार एकनाथीने विवेक और वैराग्यको लोडीके सम्बन्धमें कहा है—‘विवेक बिना वैराग्य अन्धा है और वैराग्यके बिना विवेक पंग है, जैसे धृतराष्ट्रने ज्येष्ठ होनेपर भी नेत्र बिना स्वरात्मकों से दिया।’

तीनों लोडोंमें प्रज्वलित अग्निके समान विषयोंका नाश करनेवाली प्रत्यक्ष ‘हृष्ट-आनुश्रविकविषय-विगृह्णा’ के बिना ज्ञानका उत्पन्न होना कभी सम्भव नहीं। साकुम कितना ही अच्छा क्यों न हो, परन्तु जिस पानीसे कपड़ा धोना है यहि वही गंडला है तो वह सातुन जिसप्रकार निहयोगी हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान कितना ही अधिक क्यों न हो, वैराग्यहारा यथि अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं ही तो केवल बुद्धिगम्य ज्ञानका कोई भी उपयोग महीं हो सकता। योद्धा देरके लिये ज्ञान भी लिया जाय

कि ऐसे वैराग्य, विवेक तथा साधन-चतुर्थकी प्राप्ति ही सकती है परन्तु तीसरी बात अर्थात् श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ पुरुषका समाधान और प्रसादकी प्राप्ति सो अर्थन्त ही दुर्लभ है। इस विषयमें ज्ञानवत्तमें यह विदेहीकी उक्ति प्रसिद्ध ही है कि—

‘तत्रापि दुर्लमं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्।’

—मन्त्र-तन्त्रके उपदेश करनेवाले गुह घर-घर मिलते हैं परन्तु शिष्यके लिये ईश्वरका माक्षाकार करनेवाले गुह अस्यन्त दुर्लभ हैं। एकनायने भी ऐसा कहा है कि ‘चकोर-शावकको ही प्राप्त होनेवाला चन्द्र-किरणरूपी असृत मनुष्यकी बुझक्षाको शान्त करे तो यह सम्भव है। बौद्ध महायामारको अपने बाहुबलसे पार कर ले तथा अविराम चलनेवाले सूर्यचक्रकी गतिकी रोक ले, यह भी सम्भव है परन्तु सब संपुरुषकी प्राप्ति दुर्लभ है। तात्पर्य यह कि इन सब बातोंके योगके द्वारा ज्ञान-प्राप्ति होना तत्काले कणकी मणिको प्राप्त करके उमे जीवित शेरके नाके बालमें धिरोकर गलेमें पहननेके समान कठिन ही नहीं, बल्कि प्रायः असम्भव है।’

परन्तु नाम-मारणकी बात ऐसी नहीं। उसके लिये अस्यन्त कुशाग्र बुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। भक्ति-शास्त्रोंमें भ्रुव, उपमन्त्र, प्रह्लाद आदि भक्त बालकोंने कुमारावस्थामें ही, शाश्वत्ययनके पूर्व ही जगदीश्वरको प्राप्त कर लिया था, यह कथाएँ प्रमिद्ध ही हैं। प्रेममे ‘हरि बोल’ अथवा ‘रामकृष्णहरि’ की धुनि लगानेमें विद्वत्ताकी आवश्यकता नहीं। तुकारामका यही कहना है कि ‘ये दूल बैसा बोल रामकृष्ण’ देदा-मेहा जो कुछ हो प्रेममे गानेवाले अपने भक्त बालककी उपेक्षा सर्वे जीवोंकी जननीरूप परमात्मामें नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह नहीं कि भक्तको जान-बूझकर अनादी रहना चाहिये। परन्तु अधिकतः ऐसा देखनेमें आता है कि वहे प्रभावशाली वकाली अपेक्षा माँको अपने लालकी तोतोकी बोली ही अधिक प्यारी लगती है। और उसीमें उमे आमन्द आता है। इसी प्रकार उलटा-सीया परन्तु प्रेमसे उद्धारण किया हुआ शब्द भगवान्को अति प्यारा लगाता होगा। तुकाराम भी कहते हैं—‘दीर्घोक्ता सहायक भगवान् अन्तरके प्रेमका आस्वादनकर केवल उसके भावको देखता है।’

इसका तात्पर्य यही है कि निष्काम प्रेम होनेपर अधिक बुद्धि न होनेसे भी काम उठ सकता है। क्योंकि

ईश्वर बुद्धिका उत्पादक है अतः वह अपने भक्तों स्वयमेव उत्पन्न ज्ञान दे देता है। यह बात पूर्वकालके भ्रुव आदि तथा अवौचीमकालके तुकाराम नामदेव प्रभुत्वके उदाहरणोंसे प्रसिद्ध है।

प्रेमपूर्वक हरिनामस्मरणमें एक और आनन्दकी बात यह है कि नाम-भगवान करनेवालेमें वैराग्य धीरे-धीरे अपने आप उत्पन्न होने लगता है तथा स्वयं परमात्मा उसको मुहरूपसे उपदेश देते, दर्शन देते और कृतार्थ करते हैं। इसके लिये वहुतरे साधु-सन्तोंके चरित्र प्रमाण रूपमें प्राप्त होते हैं। नामसे विश्वको शुद्धि किसप्रकार होती है, हमें हम आगे बढ़लावेंगे। अभी प्रसिद्ध सन्त तुकारामजीके तीन-चार बच्चनोंको देकर यह प्रसङ्ग समाप्त करते हैं। ‘मेरा मन जो महामहसंग गन्दा बना था (भगवानामसं) स्फटिक-जैसा शुद्ध हो गया। जिनको भगवान् ‘विद्वक’ के तीन अक्षरोंका स्वाद मिला है, उनको उसके मामने असृत भी फीका हो जाता है। मेरे भगवान् बिठोवाका कैसा प्रेमभाव है कि वे स्वयं ही गुरु बनकर आये हैं। इरि-नाम-स्मरणमें तुरीया आदि समस्त अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। सगुण भक्ति ही मुख्य उपासना है। शुद्धभावको जानकर भगवान् इष्टमूर्तिमें दर्शन देते हैं, भगवान्का नाम ही बीज और फल (साधन और साध्य) दोनों हैं। सांसारिक पुरुष गुरुके दाम नहीं हो सकते क्योंकि विषयों लोग वैराग्यका नाम सुनते ही कौपने लगते हैं। परन्तु पण्डीरीनाथ भगवान्का नाम वैसा नहीं है उसके लिये अभ्यक्ति आवश्यकता नहीं पड़ती, वह सब अवस्थायें मधुर ही लगता है।’

तात्पर्य यह कि सांसारिक मनुष्योंको धीरे-धीरे विदेश-वैराग्ययुक्त बनाकर उन्हें भगवान्की प्राप्तिके लिये उत्कृष्टतकर उनको गुरुका समागम कराकर अन्तमें सुकृत रीतिसे ईश्वर-साक्षात्कार कराना इत्यादि बातें नामस्मरणद्वारा हो जाती हैं, यह बात साधुओंकी उक्ति और उनके अनुभवसे सिद्ध है। इसलिये सांसारिक मनुष्योंके लिये ज्ञानमार्गकी अपेक्षा नाम ही सुकृत साधन है।

योगशास्त्रके विषयमें तो अधिक जिखनेकी आवश्यकता नहीं है। योगके लिये वैराग्य और नैदिक वृद्धार्थ आदिकी आवश्यकता होती है। तथा उसके लिये ‘मुखो देश’ पवित्र एकान्तमें रहनेके लिये त्याग द्वाना चाहिये। एवं यह शरीर-चक्र विस प्राण-बायुके आधारसे लगता है उस-

वायुका निरोध, प्राण और अपानकी समता, प्राणका सुषुप्ता-नाशीमें प्रवेश आदि बातोंके लिये साधकद्वारा होनेवाली योग-विद्याकी चमता प्राप्त होनी चाहिये, परन्तु ये सारी बातें कुछ असंभव हैं। इतना होनेपर भी योग-मार्गके स्वतन्त्र होनेसे उसमें ऋद्धि-सिद्धियोंके अनेक प्रतिबन्धक हैं और इन ऋद्धि-सिद्धिरूपी देशमकी गाँठोंको काटनेके लिये तीक्ष्ण वैराग्यरूपी तड़कावारकी धारकी आवश्यकता है। यही कारण है कि स्वयं योगी लोग भी सामान्य मनुष्योंको इस मार्गमें न जानेके लिये ही उपदेश देते हैं। प्रसिद्ध योगिराज सन्त ज्ञानदेव कहते हैं कि—‘योगमार्गमें ध्वे उत्साहसे नवों द्वारोंका अवरोध करके कुण्डलिनीको तीनों नाईयोंके मध्य सुषुप्तामें सञ्चरण करना पड़ता है। मुनिलोगोंका कहना है कि इस मार्गके साधनमें न लगकर निश्चिदिन श्रीभगवान्का चिन्तन करो जो मुक्तिस्थान (मोक्षरूप) है। योगमार्गमें हाथ-पैर ढटकर मृत्युकी प्राप्तिक हो जा सकती है और उसमें मोह और तृप्त्याका नाश तो होता नहीं किर ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? यह वही भारी भूल है जो तुम भगवान्के चरणोंमें सिर नहीं नवाते। हे मानव-प्राणी! यदि तुम्हें मुक्तिकी अभिलाषा है तो अपने मनको मुकु-दर्पमें रमाओ।’

अच्छा, योगके लिये इतना जी-जानसे परिश्रम करने-पर कल वया मिलता है? केवल ‘चित्त-बृत्ति-निरोध’! परन्तु नामनिष्ठ सन्त अपने अनुभवके द्वारा यह आशासन देते हैं कि चञ्चलताके लिये प्रसिद्ध मन और ‘बलवान्’ तथा ‘प्रमाणि’ कहलानेवाली इन्द्रियाँ नाम-चिन्तनके द्वारा माधकके वशमें ही जाती हैं। पैठणक-ग्राम-निवासी एकनाथ महाराज अपना अनुभव कहते हैं—‘इरि-नाम लेते-लेते जनान्तके दास एकनाथकी इन्द्रियाँ विषय और कामको भूल ही गयीं।’

तुकोवा कहते हैं—‘नाम लेनेसे मन शान्त और स्थिर होता है तथा जिह्वासे असृतरस इरने लगता है, तथा भगवत्प्राप्तिके अनेकों शकुन होने लगते हैं।†

तात्पर्य यह कि नामचिन्तनके द्वारा इन्द्रियोंकी और चित्तकी शुद्धि होती है एवं मनमें एकाग्रता आती है।

* एका नारदों धता हरिये नाम।
निमाली इन्द्रिये विषय विसरली काम॥

† नामधेता मन निवे। जिहे असृतचि स्वे॥
होताती वरे। ऐसे शकुन जापावे॥

अहः यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि नाम-चिन्तन योगसे भी खुलभ है ।

अब रहा साधन-कर्म । वह सो 'दृष्टम्' नामसे प्रसिद्ध ही है । स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं कि, 'कि कर्म किमकर्मेति कर्वन्ताऽप्यत्र मोहिताः ।'

(४ । १६)

और आजकल सो 'मेरा कर्म क्या है?' इसका निश्चय करना और उसके अनुसार यथाविधि अनुष्ठान करना बहुत ही कठिन हो गया है । इसके अतिरिक्त सूत्र, स्मृति निष्ठन्धादि ग्रन्थोंका विचार करके विहित कर्मका निश्चय कर लेनेपर भी उसका आचरण करना इस परिवर्तित परिस्थितिमें अस्यन्त ही कठिन बल्कि असम्भव-सा हो गया है । इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि लेखक का अभिग्राय स्वकर्मका स्याग सूचित करनेका है । बहिक सब बात तो यह है कि कर्मका अधिकार, देश, काल इन सबको देखकर ही कर्मानुष्ठानको निश्चित करना पड़ता है । एक समयका कर्म दूसरे समयमें होनेसे वह फलदूरी नहीं रहता । तात्पर्य यह है कि कर्मकी गति तथा स्थिति गहन है । नामकी स्थिति इसकी अपेक्षा विस्कूल ही भिज है । नामका अधिकार सब वर्णोंको, अन्यजींको भी एक समान ही है । सब आप्रम, सब वर्ण, सब लिङ्गके मनुष्योंको नाम एक समान ही ग्राहा है । इसमें समय, शुद्धि तथा नर-नारीकी कोई क्रूद्ध नहीं है ।

भगवासाम सर्वसाधारणके लिये प्रायश्चित्तस्थरूप सो प्रसिद्ध ही है, इस विषयमें ज्ञानदेवका एक बहुत ही अच्छा अभिग्राय है । उसका भवत्वपूर्ण अंश इसप्रकार है—'म-त्रोंके विषयमें कहा जाता है कि उन्हें अर्द्धांचमें नहीं जपना चाहिये और न औरौंको सुनाना हो चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे लाभ तो होता नहीं, उलटे हानि होती है । परन्तु ऐसी बात मन्त्रराज श्रोद्धरि-नामके जपमें नहीं है । श्रीनारायण-नामकी तो हाथ डाढ़ाकर ऐसी गर्जना करनी चाहिये कि गाने और सुननेवाले मस्त हो जाय । नामके द्वारा ब्राह्मणमें लेकर अन्तजपर्यन्त सब मुक्तिके अधिकारी हैं ।'

तात्पर्य यह है कि इसमें देशकालकी कोई अद्वचन ही नहीं है । नाम-चिन्तन सदा-सर्वदा पवित्र है । तथा चाषड़ाल, सुवर्ण चुरानेवालेके समान पातकी तथा वेश्या आदि सबको इसमें समान अधिकार है, एवं जिस गङ्गामें

ज्ञान करनेसे इनकी शुद्धि होती है वह सीर्य नाम-गङ्गा ही है । भारीरथी पापोंका नाश करनेवाली है, यह ठीक है परन्तु वह भी कमी-कमी, 'ऐसा महापापी तो पहले कभी नहीं देखा-सुना था' यों कहकर अपने कानोपर हाथ रख सकती है । लेकिन सब प्रायश्चित्तोंने जिनको स्याग दिया था उन बाधमीकि, भजामिल, गणिका-जैसोंका उदाहर ही पवित्र साधन नामसे ही हो गया । इस विषयमें ज्ञानदेव (गीता ३ । १४ ष्ठोक) 'सततं कीर्तयत्सो माम्' पर बहुत ही अच्छी टीका की है । पाठकोंसे इम उसके पढ़नेके लिये आग्रहपूर्वक विनती करते हैं ।

अन्धकारके नाशके लिये सूर्यको, तथा शिकार्णको पकड़नेके लिये सिंहको जैसे औरौंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार नामको भी भगवत्प्राप्ति प्रदान करनेमें अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं होती । नाम साधको सहज ही ईश्वरमें भिला देता है । यही कारण है कि नामके अन्तर्गत साधन होनेके कारण इसने ऊपर दूसा कहा है ।

नामके ऊपर एक शंका ही सकती है कि परमेश्वर तो निर्गुण निराकार प्रसिद्ध है, तथा नाम, सूप, सरबन्ध, ज्ञानि, क्रिया, भेद आदिकी प्रतीति केवल साकार और सूणा वस्तुमें ही होती है । अर्थात् अजाति, अनाम और निर्गुण परमेश्वरको नाम देना तथा उस नामका अवलम्बन-कर उसके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त करनेकी चेष्टा करना विना नींवके मकान उडानेके समान ही मूर्खतापूर्ण है । अनामीको नाम कहाँसे प्राप्त हो सकता है? शंका ठीक ही है । परन्तु यह जैसों कठिन दीख पड़ती है उतनी कठिन है नहीं । इसमें योद्धा-सा भ्रमदात्र है । यद्य अथवा ईश्वरको नाम नहीं है, इसमें कोई नवीनता नहीं, परन्तु विचारनेयोग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि कौन-सी साकार वस्तु अपने साथ नाम लेकर पैदा होती है? क्या किसीने नवजात शिशुको अपने सिरपर नामका सिक्का लगाकर जन्मते देखा है? शिशुके जन्मके उपरान्त ही उसके माँ-बाप उसका नामकरण-संस्कार करते हैं, उसे पालनेमें रखते हैं और उसका नाम भरते हैं । परन्तु आश्रयकी बात यह है कि बारम्बार उस नामसे युक्ताते-पुकारते वह बचा उससे इतना अभ्यसित हो जाता है कि उस-पौर्ण आदिमियोंके बीच यदि वह सोया हुआ हो और उसका नाम लेकर युकारा जाय तो वही जाग उठता है । उसी प्रकार तुम्हारी-इमारी सबको माता शुति भगवतीने,

संसार-भयसे ब्रह्म हुए जीव अपना पुरुषा सुनानेके लिये भगवान्‌के पास जायें, इस उद्देश्यसे, प्रारम्भमें भगवान्‌का 'ओ३म्' नाम रख दिया और सब जीवोंके लिये उसके साथ व्यवहारका मार्ग सोफ दिया ।

मूलमें भगवान्‌का एक ही नाम था, पीछे उन्हें सहजों नाम प्राप्त हुए और वह भगवान्‌पेरे से दयालु हुए कि प्रेमसे किसी भी नामसे उकानेपर ध्यान देते हैं और बुलाने-बालेका कष्ट दूर करते हैं ।

३—नाम और अन्तःकरण-शुद्धि

ऐसी ही एक और दूसरी शङ्काका विवेचन करना है । उसका निराकरणकर इस लेखके अन्तिम और भगवत्पूर्ण विषय 'अथवावृत नाम-स्मरणसे प्राप्त होनेवाली स्थिति' का विचार किया जायगा ।

उपर इस लिख चुके हैं कि नाम-स्मरणसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, प्रबल (अजेय) हन्त्रियाँ भी साधकके वशमें हो जाती हैं । इसपर स्वभावतः यह शङ्का उठ सकती है कि चित्त-शुद्धि और नाम-स्मरणमें ऐसा कौन-सा सम्बन्ध है कि नाम-स्मरणके साथ चित्तकी शुद्धि होती ही है ? इसका उत्तर यह है कि सद्ग्राव और प्रेमसे यदि साधक नियम नाम-स्मरण करे तो नाम और नामीका प्रस्तुक्ष सम्बन्ध होनेके कारण क्रमशः जैये-जैये उसकी वृत्ति भगवान्मामें तलीन होती जायगी वैसे-ही वैसे वह राजस और तामस विषयोंमें दूर होता जायगा और नामी अर्थात् परमामाका रंग उसके अन्तःकरणपर चढ़ता जायगा । इसे व्यवहारमें भी ऐसा ही अनुभव मिलता है । वज्रेको मरे चाहे छः महीने धीत गये हों, उसकी मात्राके सामने उस वज्रेका नाम लेते ही उसके नेत्रोंमें आँसू टपके बिना नहीं रहते । नाम-उच्चारणके साथ ही वृत्तिमें नामीकी स्थिति हो जाती है । जो बात विचारसे, ज्ञानसे अथवा चर्चासे नहीं होती वही क्षणमात्रके प्रेमसे सिद्ध हो जाती है । भावना अथवा प्रेममें ऐसा बल है कि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये विचारोंकी अपेक्षा कहीं अधिक उसका उपयोग होता है, ऐसा मानस-शास्त्र-वेत्ताओंका कहना है । तात्पर्य यह है कि प्रेमपूर्वक नाम-चिन्तन होनेपर धीरे-धीरे अन्तःकरण सार्विक हो ही जायगा । इस विषयमें यह इष्टान्त दिया जा सकता है कि मालिकके बरमें आनेपर जानवर स्थायं उस घरको छोड़कर दूसरे दूर-दूर सुने बरोंझी और चढ़े

जाते हैं । उसी प्रकार नाम-स्मरणसे अन्तःकरणमें हीकेशका विवास होनेपर काम-कोधादि कुत्तोंका वहाँ रहना सम्भव नहीं हो सकता । अपरिपक्व बुद्धिवाले नास्तिककी बातोंपर विश्वास करनेकी अपेक्षा हम उन महात्माओंके वचनोंपर क्यों न विश्वास करें, जिन्होंने अपना सारा जीवन साधनामें विताया तथा जिनके मिथ्यावादी होनेकी तनिक भी शङ्का नहीं की जा सकती ? भगवत्साक्षात्कारका अनुभव जैसा ठार्हे मिला, वैसा हमें भी मिल सकता है यदि हम उनके कथनानुसार सद्ग्राव, प्रेमके साथ नियमपूर्वक भगवान्‌का नाम लिया करें । श्रीएकनाथ महाराजने कहा है—

'जिसे परमार्थकी अभिलाषा हो, वह सब झमेलोंको छोड़े और नियम नियममें आदरपूर्वक भगवद्ग्रन्थप्रारम्भ कर दे । खण्डन-मण्डन छोड़कर बासुदेवके नामकी ही रट ल्याया करे । आदरपूर्वक नाम-स्मरण करनेसे अनायास ही मुक्तिकी प्राप्ति होगी ।'

इसप्रकार प्रेममें, भावशुद्ध अन्तःकरणसे नियम-पूर्वक नाम-स्मरण करनेपर साधककी वृत्ति बदलने लगती है, उसे जाग्रत्-शास्त्रमें अखण्ड भगवान्म तथा गुणके कीर्तन करनेकी लालसा लगी रहती है, इसी स्थितिकी दृढ़ता हो जानेपर उसका भगवद्विषयक प्रेम दृढ़ होता जाता है और स्वभावमें भी उसकी ऐसी ही स्थिति हो जाती है, तथा दिन-दिन उसका भगवान्मप्रेम दृढ़ता जाता है । अन्तमें उस समक्की देहस्तूति प्रेमकी बादमें विलीन हो जाती है । उसके शरीरमें आँठों साधिक भाव प्रकट होते हैं तथा वह विवेदावस्थाको प्राप्त हो जाता है । इसीको प्रेमसमाधि अथवा उन्मादावस्था कहते हैं । भक्ति-शास्त्रका इसके परे कुछ साध्य नहीं है, परन्तु विशेष आश्रयकी बात यह है कि इस अवस्थाका निर्वचन पण्डित लोग अपने ज्ञानबलसे कर ही नहीं सकते ? इस अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष कभी गाता, कभी रोता, कभी खिलखिलाकर इसते हुए नाचने लगता है । वहिसुर्ख वृत्तिवाले पुरुष, चाहे वे शास्त्रोंके पण्डित ही क्यों न हों, ऐसे उरुखको पागल समझते हैं । परन्तु भक्ति-शास्त्र भगवान्‌का दर्शन कहते हैं कि उनके गाने, रोने और नाचनेमें जगत्का उद्धार होता है । अभी योद्दे ही दिन हुए जब साधु रामकृष्ण परमहंसने इसी उन्माद-अवस्थामें अपने समीपके एक मनुष्यको पैर सुधाकर उसको हृष्टदेवका दर्शन करा दिया था, यह बात

प्रसिद्ध ही है। यह विदेह-अवस्था के बल कालपनिक स्थिति नहीं है, बल्कि अनुभवसिद्ध वात है, इसके साथी अनेकों महात्मा पुरुष हैं। नारदजी अपने भक्तिसूत्रमें लिखते हैं—

यं लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तुसो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चित् वास्तुति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही मवति। स तरति स तरति स लोकांस्तुरयति।

जिस प्रेमको पाकर पुरुष सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर किर किसी वस्तुकी दृष्टि नहीं करता, किसी दाताका सोच नहीं करता, किसीमें द्वेष या राग नहीं करता, विषय-सेवनमें उत्साह नहीं करता, वह तरता है, वह सरता है और वह लोकोंको तारता है।

४—प्रेमोन्मादकी अवस्था

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

प्रव्रतः स्वप्रियनमकीर्तयौ
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हस्तयथो रेदिति रैति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाधः ॥
(११।२।५०)

इस प्रकार प्रेमका व्रत लेकर अपने परमप्रिय प्रभुके नाम-संकीर्तनका अनुरागी वह भाग्यवान् पुरुष अलौकिक भावसे कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिछित्ता है, कभी ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी डन्मत्तके समान नाच बढ़ता है।

परमारम्भसे प्रार्थना है कि हमारे भारतदेशमें निष्ठ ऐसे ही महात्मा ऐंदा हों, क्योंकि देहको विमुक्ति करानेवाला प्रेम भगवत्कृपाके बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

इस उच्च भूमिकाको पहुँचानेवाला नाम-स्मरण किस-प्रकार होना चाहिये यह बतलाकर इस लेखको समाप्त

किया जायगा। वस्तुतः इसका विचार तो उपर हो ही गया है परन्तु यहाँ उसका योद्धा-सा स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। वैसीरी याणीद्वारा नामोच्चारण करना तो केवल साधनाका आरम्भ है। नामोच्चारण किया जाय परन्तु उसके साथ-साथ स्मरण होना भी आवश्यक है। तुकाराम महाराज कहते हैं—

‘कण्ठसे नाम-उच्चारण करते समय यही भावना और अनुभव भी करना चाहिये कि भगवान् मेरे सामने खड़े हैं, हस्ती प्रकार भ्यान धरना चाहिये और मन-ही-मन चिन्तन करना चाहिये।’ श्रीकृष्णनेश्वर महाराज कहते हैं—‘विद्वल्को स्मरण करते समय उस नामके रूपका भी चिन्तन करो।’ यह नाम-स्मरण उपर कहे अनुसार प्रेमपूर्वक तथा भावपूर्वक होना चाहिये। नहीं तो उसमें एक प्रकारका बनावटीपन आ जाता है। प्रेम न हो तो नाम-स्मरणका कुछ भी महरू नहीं है, वैसे तो नाम सभी लेते हैं। परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं—

राम गम सब कोइ कहे ठग ठाकुर अरु चार।

बिना प्रेम रीक्ष नहीं तुलसी नन्दकिसेहर।

एहलेके महामाओंको नाम-स्मरणद्वारा परमारम्भकी प्राप्ति होनेका कारण यही है कि उन्होंने नाम-स्मरण प्रेम-पूर्वक किया था। नाममें प्रेम होनेकी परीक्षा यही है कि नाम-स्मरणमें लग जानेपर भूस-प्यास अथवा सौंकिक सुख-दुःखोंकी खबर हो न रहे, तथा स्वभवमें भी नामकी ही चुनि होती रहे।

गोपियाँ, श्रीचर्चेतन्य, तुकाराम, तुलसीदास, कठीर और आचुनिक कालके श्रीरामकृष्ण परमहंसके समान भगवत्प्रेम सबको प्राप्त होना कठिन है। तथापि उनके प्रेमका लेशमात्र ही हम भारतवासियोंको प्राप्त हो तथा हमारे हम सारतदेशमें यह भगवत्प्रेमकी ज्योति इसी प्रकार सदा जलती रहे, मैं उस प्रेमस्वरूप श्रीहरिके चरणोंमें यही प्रार्थना करके हम लेखको समाप्त करता हूँ।

अगम अगोचर

रूप रेख बरनी कहा, कोटि सूर परगास।
अगम अगोचर रूप है, पावे हरिको दास॥

—यारी साहब

ईश्वरकी सत्ता

(लेखक — दण्डस्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती)



मल सृष्टिका सञ्चालन नियमितरूपमें करनेवाला कोई एक सर्वशक्तिसंगमपद्ध विशिष्ट वेतन है या नहीं, यह बहुत ही उराना प्रभ है और प्रारम्भसे ही इसका उत्तर दोनों ही रूपमें अवश्यक दिया जाता है। इस सृष्टिके मूलमें कोई ऐसा वेतन है, इस विषयमें भर्तृक्य कभी नहीं हुआ।

एक दल जहाँ प्रेसे वेतनका पक्षी है तहाँ दूसरा उसका विपक्षी भी पाया जाता है। यह भी नहीं कि जिस चार्वाक या लोकायतिको नास्तिक-शब्दसे स्पष्टतया सम्बोधित करते हैं, केवल वही ईश्वरीय सत्ताका विपक्षी है। हिन्दुओंके जिन मीमांसा और सांख्य-दर्शनोंको साधारणतया आन्तिक ही समझा जाता है उन्होंने भी ईश्वरकी सत्ता माननेमें इन्कार किया है। हिन्दुओंके छः दर्शनोंमें न्याय तथा वैदेशिकको पृथक् माननेके लिये कोई वैसा विशेष आधार नहीं है जैसा कि सांख्य, योगादिके लिये। उन दोनोंमें कोई मौलिक भेद (Fundamental difference) नहीं है। अतएव नवीन तार्किकोंने दोनोंको एक ही मानकर या दोनोंको मिलाकर ही अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह अब पाँच ही दर्शन स्पष्टरूपमें रह जाते हैं। इनमें जहाँ दो ईश्वर-सत्ताके विपक्षी हैं वहाँ दो हाँ (योग और न्याय) उसके स्पष्टरूपमें समर्थक हैं। क्योंकि वेदान्त-दर्शनकी गति निराली है। उसका मुकाब दोनों और है। यों सो उस दर्शनमें ईश्वर ओत-प्रोत पाया जाता है और उपनिषदों, व्याससूत्रों तथा गीतामें लेकर आचुनिक अन्योत्तकमें ईश्वरका निरूपण और उस सम्बन्धमें विपक्षियोंके मतका स्पष्टहन पाया जाता है। अतएव उसे अनीश्वरधारी कह नहीं सकते। फिर भी वेदान्तकी चरम गति जो जीवाभिज्ञ या अद्वैत ब्रह्म है, उसमें और साधारण ईश्वरवादसे क्या सम्बन्ध है? जिस अभेदको वेदान्तकी चरम लक्ष्य समझते हैं और जिसके सिवा शेषकी वास्तविक सत्ता नहीं मानते, वह सर्वसाधारण दार्शनिक व्यवहारका न सो जीव ही है और न ईश्वर ही। इसीसे वेदान्तको इसमें शीघ्रमें माना है। इतना ही क्यों? नेत्रायिकोंके

ईश्वरको तो वेदान्ती भी अन्तमें वैसे ही अस्तीकार करते हैं जैसे अन्य विपक्षी। इस तरह स्पष्ट है कि ईश्वरवादके वारेमें हिन्दू-दर्शनोंकी तराजूका पलड़ा दोनों ही ओर है।

एक बात और। ईश्वर-सत्ताके विपक्षियोंको दो दलोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक तो वे हैं, जो एकदम किसी भी रूपमें उसे माननेको तैयार नहीं, उसे अमान्य कहते हैं और इस श्रेणीमें भीमांसक, चार्वाक तथा आज्ञ-कलके हेकल और निट्टो आदिको ले सकते हैं। लेकिन उनकी एक श्रेणी और भी है जिसका कहना है कि यदि ईश्वर ही भी तो उसके जाननेका कोई साधन हमारे पास न होनेके कारण इम उसे जान नहीं सकते—वह अज्ञेय है। सांख्य-सूत्रोंके भाष्यकार विज्ञानभिक्षुके मतसे सांख्य-दर्शन हसींकोटिका है जैसा कि उसके 'ईश्वरासिद्धे:' आदि सूत्रोंके भाष्यमें सिद्ध है। हालाँकि दूसरे लोग सांख्यको भी प्रथम श्रेणीमें ही मानते हैं। वर्तमान युगके ईर्वट स्नेहर और हाम आदिका अज्ञेयवादका सिद्धान्त भी उसी प्रकारहा है। और यदि हम अपने—अतएव संसारभरके—प्राचीनतम ग्रन्थ—क्योंकि अब तो सभी भागते हैं कि दुनियामें शूरवेदसे प्राचीन कोई ग्रन्थ नहीं है—शूरवेदको देखते हैं तो उसमें भी ईश्वरकी इस अज्ञेयताका स्पष्ट आभास पाया जाता है। उसके 'नास-दासीद' ईश्यादि नासीय सूक्तके निष्ठलिखित दो मन्त्रोंके पठनेसे यह बात ध्यानमें आ जाती है। वे मन्त्र हैं—

को अदा बेद क इह प्रवोचत्

कुत आजाता कुत इयं विमृष्टः ।

अद्विदेवा अस्य विसज्जने-

नाथा को बेद यत आबभूव ॥

इयं विमृष्टिर्यत आबभूव

यदि वा दधे यदि वा न ।

यो अस्याय्यकः परमेत्योमन्

सो अंग यदि वा न बेद ॥

इन दो मन्त्रोंमें पहलेमें कहा गया है कि इस सृष्टिके मूलतत्त्व उस विशिष्ट-वेतन (ईश्वर) के जाननेका कोई साधन है ही नहीं। अतएव उसे कौन जान सकता है? दूसरे मन्त्रमें कहा गया है कि यद्यपि उसके

जाननेके साधन नहीं हैं तथापि वह स्वयमेव अपनेको जान सकता है। अथवा नहीं भी जान सकता है। विस्तारभयसे हन मन्त्रोके बारेमें हम अधिक न लिख केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि इनमें जो ईश्वरीय सत्ताके मानने-न-माननेका विचार है वह आजकलकी वृत्तिनिक रीतिका है, अतएव अस्यन्त युक्तियुक्त है जैसा कि उसके 'अर्थात् देवा अस्य विसर्जनेन' सथा 'सो अंग यदि वा न वेद' से स्पष्ट है। अतएव आजकल अज्ञेयतावादी शूम आदि तथा अमान्यतावादी हेकल आदि और उनके अनुयायियोंकी बाहु देखकर हमें चौकाषा या बेचैन न होना चाहिये, क्योंकि यह कोई नयी बात नहीं है।

यदि ईश्वर ईन्द्रियग्राहा होता तब शायद उसके बारेमें प्रेमा विवाद नहीं होता। हालाँकि प्रत्यक्ष पदार्थों-के बारेमें भी विवाद होता ही है और यह प्रश्न होता है कि जब आँखोंके दोषमें भेत शङ्ख भी पीछा प्रतीत होता है तब ईश्वरीकी पीतिमा भी क्या वन्मुसत्ता रखती है या वैसी ही है? फिर भी ये बहुत दूरकी बातें हैं साधारणतः प्रत्यक्षमें विवाद नहीं होता। हाँ, अनुमेय पदार्थोंमें तो विवाद होता ही है। यही कारण है कि ईश्वरीय-सत्ता बहुत बड़े विवादका विषय है। उसी विवादका थोड़ा बहुत दिग्दर्शन हो जानेमें इस विषय-की गम्भीरताका पता लग सकता है। साधारणतया अनीश्वरवादियोंको दो दलोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक तो दल ऐसोंका है जो प्रकाशात्र प्रत्यक्ष-प्रमाणके माननेवाले हैं। इसीलिये वे ईश्वरको स्वभावतः स्वीकार नहीं कर सकते। दूसरे दलमें ऐसे लोग हैं जो अनुमानको भी यथापि मानते और अनुमेय पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करते हैं, फिर भी ईश्वरीय सत्ताको माननेमें असमर्थ है। पहले दलमें अपरीती चार्वाक है और दूसरोंमें सांख्य, मीमांसक और हेकल आदि। प्रत्यक्ष नहीं होनेसे उसकी सत्ता न माननेवालोंके मतमें सबसे बड़ा और सूख्ल दोष यह है कि वे अपने वंशके मूलपुरुष या अपनेसे दस-पाँच पीढ़ी पूर्वके किसी पुरुषकी सत्ता मान नहीं सकते। क्योंकि उस पुरुषको प्रत्यक्ष करनेका कोई भी साधन नहीं। वह तो केवल अनुमानगम्य है परन्तु प्रत्यक्ष न होनेमें ही उस पुरुषकी सत्ताका अपलाप नहीं हो सकता। यदि कोई सूख्ल-पुरुष न या तो वे इजरात जन्मे कहाँसे? इस तरह जो अपने ही पूर्वजोंकी सत्ता नहीं मान सकता वह

संसारके पूर्वज (ईश्वर) को सत्ता न माने सो आश्रय ही क्या?

लेकिन जो अनीश्वरवादी अनुमान-प्रमाणको भी मानते हैं, न कि केवल प्रत्यक्षको ही, उनकी दलीलें अवश्य ही निस्तार नहीं होती हैं। फलतः ईश्वरादियों-की जबर्दस्त मिडन्ट उड़ीके साथ होती है। सांख्योंने पुरुष (जीव) और प्रकृतिको अनुमानगम्य ही माना है और मीमांसकोंका सर्व, परलोक या अहृ भी अनुमेय ही है। इसी प्रकार वर्तमान विज्ञानके कहर भक्त हेकल प्रनृति के ईश्वर (Ether) और कललरस (Protoplasm) को वस्तुगत्या अनुमेय पदार्थ ही समझना चाहिये।

कुम्भकों आकर्षणशक्ति दूरस्थ लोहेपर जब काम करती है तो कुम्भकमें निकलकर लोहेमें जानेके लिये बीचमें उसका कोई आधार चाहिये, क्योंकि कोई दक्षिण निराधार टिक नहीं सकती! ब्रह्म, वही आधार-द्रव्य वैज्ञानिकोंका ईश्वर है। एक पदार्थमें दूमरेमें विद्युत-शक्ति आदिके गमनागमनका आधार भी बही है। यथापि वैज्ञानिक उस ईश्वरको सर्वव्यापी, गति-शक्तिका अनन्त भण्डार और निकिय तथा अखण्ड मानते हैं, फिर भी उसका वास्तविक रूप क्या है यह बात अभीतक विवादग्रन्थ ही है और उसकी सर्वव्यापिता आदि केवल अनुमानसिद्ध ही है।

इसी प्रकार कललरस (Protoplasm) की भी बात है। वैज्ञानिक इतना ही कह सकते हैं कि वह कारबन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन और हाईड्रोजनके विलक्षण मेलसे बना है जिसमें जल, गन्धक आदिका भी अंश है। मगर वह विलक्षण संयोग कैसा है इसका पता उन्हें नहीं है, नहीं तो अपनी प्रयोगशालामें उसी विलक्षण समिक्षणके द्वारा कललरस बनाकर वे लोग भी सजीव सृष्टि कर लेते। अतएव उनकी यह कल्पना भी केवल अनुमानगम्य ही है। इसप्रकार केवल अनुमानके ही बलपर लम्बी उडान भरने-वाले वैज्ञानिक भी ईश्वरकी कल्पनामें घबराकर भयभीत हो जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि उनका अखण्ड एकरस ईश्वर (Ether) ईश्वर या ब्रह्मका ही नामान्तर है तो कोई अस्युक्त नहीं। क्योंकि दोनों ही अनन्त शक्तिके भण्डार माने गये हैं और जिसप्रकार ब्रह्मवादी उसकी शक्ति या माया (प्रकृति) का ही परिणाम संसारको मानते हैं उसी प्रकार वैज्ञानिक भी उसी शक्तिका ही रूपान्तर-द्रव्य मानते हैं! ऐसी विलक्षण समताके रहते हुए भी उन्हें ईश्वरमें विवाद है! इसी तरह जब बालसे तेज

महीं पैदा होता तो किर निर्जीवसे सुष्टिके आनन्दमें या कभी भी इकलका सजीव पदार्थ कैसे इत्यन्हीं होगा ? यदि दो परस्परविवेची पदार्थोंका उपादान-उपादेय (कार्य-कारण) आब माना जाय तो नीमके बीजसे आमबीं या सभीसे सबकी उत्पत्ति व्यर्थ न मानी जाय ? ऐसी बे-सिर-पैरकी कल्पना करनेवाले वैज्ञानिक यदि जीवाभासा या ईश्वरके माननेमें नाक-भौंसिकोड़ते हैं तो यह उनकी लीला हो ठहरी ! अतएव निराधार Protoplasm आटिकी कल्पनाके लिये भी हारकर उन्हें यही मानना होगा कि चेतना इस जगत्के प्रत्येक अपुर्ये व्याप्त या अोतप्रत है और उन्हीं चेतनाविशिष्ट अणुओंके सम्मिश्रणसे कल्पनसकी प्रक्रियाद्वारा सजीव सुष्टिका विकास होता है । इस तरह सर्वत्र व्याप्त चेतनसूप ईश्वर (ब्रह्म) को तो उन्होंने स्वीकार कर ही लिया, चाहे इस बातको स्पष्टतया न कहें ।

ईश्वरवादियोंने ईश्वरकी कल्पनामें बे-सिर-पैरकी उपादनसे काम न लेकर बहुत ही युक्तियुक् एवं वैज्ञानिक स्परणीका अवलम्बन किया है । एक मकान, घरी या पुस्तकों देखते ही बिना आगा-पीछके एकाएक यह निश्चय हो आता है कि हो-न-हो हृन सभी पदार्थोंके मूलमें कोई बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला चतुर चेतन शिल्पी है । इसके विपरीत दूसरा आब कभी भी किसीके भी मनमें उदय नहीं होता । इसी प्रकार घड़ीकी चाल (क्रिया) को देखकर भी यही स्वायल होता है कि इस निर्जीव पदार्थकी क्रियाके मूलमें भी चेतन शिल्पीका ही इत्य है । एक बहुत बड़े कारखानेमें जहाँ सेकड़ों प्रकारके कल-पुर्जे अलग-अलग काम करते हैं, जानेपर पता लगता है कि या तो उन सभीकी क्रियाके मूलमें कोई-न-कोई चेतन सञ्चालक मौजूद है, या अगर सभीको चालनेवाली कोई विद्युच्छकि है तो उस शक्तिके मूलमें ही चेतन शिल्पी वर्तमान है । इसी तरह इस ब्रह्माण्डहरूपी भव्य भवन, वही जयदंस घड़ी या बड़े कारखानेको देखकर जिमकी रचना निराली है और प्रह, तारे आतिकी चाल (क्रिया) बराबर आरी है, सहसा यह ध्यान प्राचीनोंको हो आया कि इसके मूलमें कोई असाधारण चातुरी एवं सामर्थ्यवाला चेतन शिल्पी मौजूद है । बस, उसी शिल्पीका नाम उन्होंने ईश्वर रख दिया । जिस तरह भूम और अग्निकी व्याप्ति (नियम—Law Inseparable Connexion) देखकर भूमसे अग्निका अनुमान होता है, तो ऐसी ही व्याप्ति यहाँ भी है ।

अतएव यह अनुमान निर्देष सथा विस्तृत ही बैसा ही व्याप्तिका है जैसा कि भूमेंसे आगका अनुमान ।

इस व्याप्तिमें बहुतसे अनीश्वरवादियोंने व्यभिचार या दोष (Fallacy) दिखानेका यत्न किया है । उनका कहना है कि जब अग्नि-सम्पर्कसे बारूदमें भद्राका होता है और वह एक तरहकी क्रिया ही है और जब चुम्बकके संसर्गसे लोहेमें क्रिया होती है—वह चलने लगता है, हालाँकि आग और बारूद तथा चुम्बक एवं लोहा सभी अचेतन ही हैं । तब यह कैसे माना जाय कि अचेतनकी क्रियाका मूलकारण साक्षात् या परम्परया चेतन ही होता है ? लेकिन ऐसा कहनेवाले यह भूल जाते हैं कि बारूद या लोहेकी क्रियाएँ अनियमित एवं आकस्मिक हैं । इसके विपरीत ईश्वरवादियोंने जिन क्रियाओंको व्याप्तिका आधार माना है वे नियमित और सदा हीनेवाली हैं । यदि हम चाहें कि लोहेकी क्रिया भी उसी तरह सदा होती रहे जिसप्रकार हमारे इत्य-पौर्व या चन्द्र-नारे आदि तथा अणुओंकी, तो यहाँ भी मध्यस्थ चेतनकी आवश्यकता पड़ेगी, जो या तो बराबर लोहेको चुम्बकमें सटनेके बाद हठा दिया करे या दूसरी ओर एक दूसरा बड़ा चुम्बक लगा दिया करे या ऐसा ही कोई प्रवन्धन करे । बारूदके भद्राकें बारेमें भी बार-बार आग और बारूदके संयोगके लिये चेतन-प्राणी अपेक्षित होगा ।

इतना ही नहीं, दो जब पदार्थोंके संसर्गसे जो क्रिया होती है वह एक ही प्रकारकी होती है । जब चुम्बक लोहे-को अपनी ओर म्हांचता है तो यह सम्भव नहीं कि ठीक उसी समय उसको अपनी ओरमें अलग करे । यही नहीं, दूसरे समय भी वह अपनेमें उसे अलग नहीं कर सकता । मगर सुष्टिके पदार्थोंकी क्रियामें यह यात नहीं है । जो अनु आपसमें अपनी ही क्रियासे मिलकर किसी द्रव्यकी रचना करते हैं वही कालान्तरमें जुदा होकर उसका नाश भी कर देते हैं । इसप्रकार सुष्टिकी उत्पत्ति और विनाशका क्रम जारी है । यदि उनमें मिलनेकी शक्ति मानी जाय तो जुदाईकी शक्ति न रहेगी और पृथक् होनेकी शक्ति मानने-पर मेलकी शक्ति असम्भव है । दो विश्व शक्तियोंका एक ही जड़-पृथक्यमें बराबर रहना अरम्भित है । समय-भेदसे दोनों विश्व शक्तियोंका एकमें समावेश हो नहीं सकता । क्योंकि जब एक शक्तिके अस्तित्वके समय दूसरी उसमें न थी तो पीछे आयी कहाँसे ? क्योंकि जहाँ जो चीज सूक्ष्म या

शक्तिरप्से भी नहीं रहती वहाँ वह कभी भी व्यक्त नहीं हो सकती जैसे बालूसे तेल कभी नहीं निकलता। जड़-पदार्थोंका काम तो अनेकों-सा है। वह किसी नियमके सहारे चला करते हैं। उनमें दो विरोधी नियम स्वयं-सिद्धरूपसे रह नहीं सकते। मगर चेतनके लिये यह बात लागू नहीं है। वह तो हृद्धा या उद्देश्य-प्राप्तिके बलसे सब कुछ कर सकता है और जड़ोंको भी चाहे जैसे नचा सकता है। अतएव जड़-सृष्टिकी क्रियाके मूलमें चेतना-विशिष्ट सञ्चालक अपेक्षित है। नहीं तो समय-समयपर विरोधी क्रियाएँ उसमें हो नहीं सकती।

रचनाके बारेमें हेकलने अपनी 'विश्वपहेली' (Riddle of the universe) नामक पुस्तकमें लिखा है कि यदि यह सृष्टि किसी चेतनकी रची होती तो वह वहुत-सी व्यर्थकी चीजें द्वयों बनाता ? हृष्टान्तके लिये पुरुषोंके स्तन-चिह्न आदिको उसने लिखा है। उसके मतसे जड़ प्रकृतिके बारेमें तो यह प्रश्न हो नहीं सकता। कारण, वह तो रचनाके प्रयोजनका विचार नहीं कर सकती। परन्तु ऐसा लिखते समय शायद उसे याद नहीं रहा कि जड़के तो सभी काम किसी व्यवस्थित नियमके ही अनुमार चलते हैं। उसमें जरा भी फेरफार होनेसे सारी क्रिया ही चौपट हो जाती है। रेलकी पटरी छोड़ते ही हृत्रिन नीचे जा गिरता है। मगर चेतनका काम तो किसी नियममें बँधा नहीं है। अतएव हृद्धा होनेपर उसमें उल्टफेर भी हो सकता है। ऐसी दशामें तो जड़वादियोंके लिये ही उन स्तरों आदिकी उत्पत्तिका प्रयोजन बताना अपरिहार्य हो जाता है, न कि हृष्टवादियोंके लिये। यह तो एक बात हुई। बन्नुगल्या तो विज्ञान अभी ईश्वरावस्थामें ही है और उसे अभी सृष्टिकी बहुत-सी पहेलियाँ सुलझानी हैं। ऐसी दशामें जब वह प्रौढ़ होगा तो शायद पुरुषोंके मनचिह्नों आदिका भी उपयोग मालूम हो जाय। अभी अपीर होनेकी कोई बात नहीं। उन मनोंको व्यर्थ कहना बैसा ही है जैसा आरम-तत्त्व-विवेकमें उद्द्यनावायके भूताविष्ट भन्नुव्य-का तूरमें हाथी देखकर पहले उसके बारेमें ऊल-जलूल तर्क करना और अन्तमें यह कह देना कि यह कुछ नहीं है। सृष्टिके रहस्योंकी अनभिज्ञता तो हेकलने अपनी उक्त पुस्तके अन्तमें उपसंहार करते हुए स्वयं स्वीकार की है और एक प्रकारमें हृष्टवादिका समर्थन ही किया है। जैसा कि 'प्रकृति-परिज्ञानको उत्पत्ति होनेसे इधर जगत्-सम्बन्धी

बहुत-से गुप्त भेद खुल गये हैं। अब केवल परमतत्त्वका भारी भेद रह गया है। वह सत्ता कैसी है जिसे वैज्ञानिक विषय या प्रकृति कहते हैं, दार्शनिक परमतत्त्व कहते हैं और भक्तजन हृष्टर या कर्त्ता कहते हैं ? क्या हम कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञानकी अपूर्व उत्पत्तिसे इस 'परमतत्त्व' का भेद खुल गया है, या कुछ सुलझावाला है ? इस अन्तिम प्रश्नके विषयमें यही कहना पड़ता है कि यह आज भी उसी प्रकार बना हुआ है जिसप्रकार ठाई हजार वर्ष पहलेके तत्त्वज्ञोंके सामने था। बहिक यों कहना चाहिये कि इस परमतत्त्वके अनेकानेक व्यक्त सूर्पोंका जितना ही अधिक ज्ञान हमें होता जाता है उसका रहस्य हमारे लिये उतना ही अभेद और अपार होता जाता है। इस नाम-रूपारमक दृश्य-जगत्की ओटमें वस्तुतः क्या है यह हम न जानते हैं और न जान सकते हैं। पर, इस 'वस्तुतः' के केरमें हम क्यों पहले जायें जब कि हमारे पास उसके जाननेका कोई साधान नहीं, जब कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका अनिरवतक है या नहीं !'

ऊपरके उद्घारणसे सिद्ध है कि अन्तमें हेकल भी, जिसे अनीश्वरवादियोंका आचार्य कहा जाता है, हृष्टरकी अमान्यताको छोड़कर अश्रेयताका ही पक्षपाती हो जाता है, उसे अपनी पहुँचके बाहरकी बम्नु समझता है और इस सृष्टिके रहस्योंके सम्बन्धमें आधुनिक विज्ञानको अशोध बालककी ही तरह समझता है जिसका ज्ञान यहुत ही परिमित है। इमारे विचारमें तो कोई भी बन्नुगल्या अनीश्वरवादी ही ही नहीं सकता जैसा कि हेकल-जैसे कट्टर जड़वादी कहे जानेवालेके उक्त कथनसे पता लगता है। किसी भी पदार्थ-को हम सीन ही हृष्टियोंमें देखते हैं - मिश्रदृष्टि, शत्रुदृष्टि और उदासीनदृष्टिये। इनमें भी यथापि उदासीन पुरुष उस पदार्थके अस्यन्त निकट नहीं पहुँचता तथापि यह नहीं कहा जाता कि पक्कदम पहुँचता ही नहीं। फिर भी मिश्र और शत्रु सो उस पदार्थके अस्यन्त निकट पहुँच ही जाते हैं। बहिक यों कहना चाहिये कि पक्का प्रेमी या मिश्र भी शायद उतना निकट नहीं पहुँचता जितना निकट पक्का या कट्टर शत्रु पहुँचता है। मिश्र या प्रेमी तो शायद कभी भूल भी जाता है, मगर सक्षा शत्रु तो निद्राकालमें भी नहीं भूलता। इसीलिये मानना पड़ता है कि यदि आस्तिकजन भक्तके रूपमें उसे याद करते हैं, जपते हैं, नहीं भूलते हैं, तो नास्तिकजन शत्रुके रूपमें उसे भक्तोंकी

ही तरह, बस्कि उनसे भी ज्यादा याद करते, जपते और नहीं भूलते हैं और वह मानी हुई थात है कि ईश्वर तो उसीका निकटवर्ती है, उसे ही सद्गति देता है जो उसे निरन्तर याद करे, कभी न भूले। उसके दरबारमें तो आस्तिक-नास्तिकका विभाग (Label) नहीं है। यह विभाग से मनुष्योंका बनाया हुआ है। वह तो मनकी प्रवणता, मनोवृत्ति, मनःप्रवाह या लगनको देखता है और वह लगन मन्दिर, मस्जिद आदिमें जाने, कठी-माला, गेस्टुरा पहनने, ऑस्ट-नाक मूँदने या आस्तिक कहानेमें नहीं है। वह तो मनका धर्म है, हृदयका व्यापार है, न कि शरीरका धर्म। इसीलिये इतिहास-पुराणोंके आख्यानोंसे पता लगता है कि यदि ध्रुव, प्रह्लादादि भक्तोंको भगवानने सद्गति दी तो रावण, कंस, हिरण्यकशिषु आदिको हुर्गन्ति न देकर परमलोक ही प्रदान किया। यदि भक्ति या भक्त-के वही लक्षण होते जिन्हें हमने मान रखता है और यदि एकमात्र भक्तोंको ही भगवान् सद्गति देते, तो किर भगवद्विरोधियों (नास्तिकोंके भी दादाओं) दानवों और राक्षसोंका कल्याण कैसे हुआ रहता जिसका उल्लेख धर्म-प्रन्थोंमें पाया जाता है? हमारे जानते उस उल्लेखका यही रहस्य है। अतएव इमारे विचारसे ईश्वरवादियोंको—सबे आस्तिकोंको—सबे निरीश्वरवादियोंमें भयभीत होनेका कोई कारण नहीं है, दोनोंके मार्ग दो होनेपर भी लक्ष्य और पहुँच एक ही है, जैसा कि 'यं शैवाः समुपासते शिव इति' हत्यादि वस्त्रोंसे भी सिद्ध है और पुष्पदन्ताचार्यके 'नूणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव हृव' का भी तात्पर्य

है। हाँ, यदि भयका कोई कारण है तो केवल यही कि ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों सबे और पक्षे न होकर बनावटी और दिखावटी हों। नामधारी आस्तिक और नामधारी नास्तिक दोनों ही समानरूपमें भगवत्-द्वाही और धार्मिकोंके लिये भयके कारण हैं? अतएव उन्हींसे बचना तथा सजग रहना चाहिये। इसीलिये ईश्वरादाका अद्वितीय ग्रन्थ 'न्यायकुसुमालालि' लिखकर उसके अन्तमें उपसंहार करते हुए उदयनाचार्य लिखते हैं कि—

स्त्येवं श्रुतिनीतिसम्पूर्वजर्लैभूयोमिराक्षालिते
येषां नातपदमादधासि हृदये ते शैलसारशयाः।
किन्तु प्रस्तुत विप्रतीपविव्रयोऽप्युच्चैर्मवच्चिन्तकाः
कालं काशणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः॥

इसका भावार्थ यह है कि हे भगवन्! हमने आपके विरोधियों (नास्तिकों) के अस्यन्त मलिन हृदयोंको धोने-के लिये इस तरहके तर्क, युक्ति और आगम-प्रमाण-स्वरूप निर्मल सोतेका जल यथापि तैयार किया है, तथापि इतनेपर भी यदि उनके अरथन्त मलिन हृदयोंमें यवित्रसा तथा कोमलता न आकर आपके लिये स्थान नहीं मिलता, तो इस यही कहोंगे कि वे वज्रहृदय हैं। किर भी इतना तो मानना ही होगा कि वे नास्तिक लोग भी आपके प्रश्नण शत्रु बनकर आपका चिन्तन (आपकी याद) बहुत अच्छी तरह करते ही हैं। साथ ही, आप उहरे कृपालु। अतएव समय पाकर उन लोगोंका भी उद्धार आपको कृपा करके करना ही होगा।

—३५४—

पार उतारो

म्हाँने पार उतारोजी, थाँने निज भक्तनकी आन।
हमरे अवगुन नेक न चित्तवो, अपनो ही करि जान॥ १॥
काम क्रोध मद लोभ मोह बस, भूलयो पद-निर्वान।
थब तो सरन गही चरननकी मत दीजो मोहिं जान॥ २॥
लख चौरासी भरमत भरमत नेक न परी पिछान।
भव-सागरमें बही जात हौं रखिये श्याम सुजान॥ ३॥
हीं तो कुटिल अधम अपराधी नहि सुमिरयो तेरो नाम।
'नरसी' के प्रभु अधम-उधारन गाषत वेद-पुरान॥ ४॥

—नरसी मेहताजी

प्रभुका निवास

(लेखक—प्र० श्रीजयेन्द्रराव भगवानलाल दूरकाल एम० ए०)



शका नियन्ता कोई है या नहीं, हस प्रभुका संक्षेपमें ही समाधान करना है। क्योंकि हंशरका अस्तित्व तर्क या प्रत्यक्ष-ज्ञानका नहीं परन्तु अपरोक्ष-ज्ञानका विषय है। हसकी ओर जिसकी इष्टि है, उसको तो सभी जगह हसके दर्शन होते हैं। उसको तो बस—

जिस तरफ देखूँ उधर ही दरस हो श्रीरामका।

आँख भी मद्दूं तो दीखि मुक्तकमल घनश्यामका॥

परन्तु जिसकी इष्टि दूसरी ओर फैसी हुई है, उसको वह न दीखे तो हसमें कोई आश्रय नहीं है। जिसको हस साढ़े तीन हाथके साँचेमें प्रभु नहीं दिखलायी देता, उसको खोजनेपर दूसरी जगह भी शायद ही दिखलायी पड़े। हिरण्यकशिषुने तीनों भुवनोंको छान डाला, उसे कहीं प्रभु नहीं मिले, क्योंकि उसने उन्हें अपने अन्तरमें देखनेका प्रयत्न नहीं किया। इस विषयमें हमने कोई विवाद करना चाहे तो हम यही कहेंगे कि 'भाई! प्रभु किसी दूसरेके दिखलानेमें दीख जाय, पेसी बात नहीं है। वह किसी समय तुम्हींको शीख पढ़ेगा।' परन्तु वस्तुतः हंशरके अस्तित्वके विषयमें शंका करनेवाले मनुष्य थोड़े ही होते हैं। अधिकांश लगाके 'अपने' 'पराये' परमेश्वरको लेकर होते हैं। किसी एक परमेश्वरको लेकर नहीं, अतएव वह सारी गद्वाद 'मेरे-तेरे' की है, परमेश्वरकी नहीं।

छन्दोंको भी वेद-कृषकेपत्ते कहा गया है। कहा है कि छन्द-रूपी पत्तोंवाले वेद-नृष्णको जो जानता है उसको वेदविद् समझना चाहिये। हमें प्रतीत होता है कि संसार-रूपी महाबृहत्के छन्दोंको जो जानता है उसको भी पण्डित कहना चाहिये। यह तो दूरकी बात है, एक पत्तेके अन्दर मरे हुए प्रकाशको भी हम यथार्थमें देख लें तो उसमें लीन ही जायें। यह अतिशयोक्ति नहीं है। पीपलके पत्तेको हाथमें लेकर देखिये, उसमें कैसी ताजगी है, कैसा रंग है, कैसा जीवन, कितनी अकड़ कड़ा और कैसी अप्रभेदता इष्टिहास्तर होती है? उसमें जो सुन्दर पीको-पीली नसें दीखती हैं उनको फिसने बनाया? उसमें जो रस बहता है उसे कौन बहाता है? उसके लण्ठ-लण्ठमें जो जीवन भरा

है, वह कहाँसे आया? ये महान् प्रभ स्या महान् नास्तिक-को भी आस्तिक बना देनेलायक नहीं हैं? इमलोग जीते हैं और जीनेमें ही सरावोर रहते हैं परन्तु इमारे इस जीवनको अस्तित्व किसी दूसरेसे मिला है, इस समय भी यह जीवन इमारे हाथमें नहीं है और किसी दूसरी सत्ताकी घटनासे ही यह जीवन किसी समय समाप्त हो जायगा, इस वस्तु-स्थितिका यदि इमलोगोंको भलीभाँति ज्ञान हो जाय तो इमारे जीवनकी उस नियामक सत्ताको जो एक जड़-ताप कहता है उसे इमलोग अपना अपमान करनेवाला माने बिना नहीं रह सकते। पत्तेमें जीवन छोटे स्पर्में अर्थ होता है और मनुष्यमें अधिक विशिष्टरूपमें, परन्तु दोनोंके जीवनकी महिमा एक ही है। जीवनके अन्दर रहनेवाली चेतना यदि हमें प्रभुके प्रकाशपदका दर्शन नहीं करायेगी तो और कौन करवायेगा?

जब इस देखते हैं कि अपनी इष्टिरेखाके अनुसार सृष्टि-का स्पर्म बदकता है, पदार्थ-विज्ञानकी चाल हंशरन्ये-उधर घूम जाती है। जो नहीं है वह सृगतृष्णाके जलकी तरह दीख पड़ता है और जो है वह दिनमें सारोंकी तरह नहीं दीखता, तब हमें पेसा प्रतीत होता है मानो वेदान्तका इष्टि-सृष्टिवाद सोलहों आने सकता है।

गोलीलियोंके पहलेका यूरोप आजके यूरोपके विपरीत आजके ही जितने अग्राहमें सूर्यको पृथ्वीके आसपास फिरनेवाला मानता था। पाँच सौ वर्ष पहले इमारे पूर्वजों-को धर्म-पुलकोंकी कोई भी बात असम्भव नहीं दीखती थी, परन्तु कदाचित् उनको यह बात कि, दो हजार योजनकी दूरीपर बैठे आश्मी दो ही चार क्षणमें एक दूसरेमें बात-चीत कर सकते हैं, असम्भव लगती। सृष्टिका दर्शन बहुत कुछ इमारी इष्टिपर निर्भर करता है; इतना ही नहीं, एक प्रत्यक्ष या अपरोक्ष अनुभव बुद्धिज्ञन्य या तकेज्ञय अनेकों सिद्धान्तोंको छिप-मिल कर डालता है। ऐतिहासिक सिद्धान्तोंके इष्टि-विन्तु बदला कर डालता है। वैशानिक सिद्धान्तों-में सो समय-समयपर परिवर्तन होते ही रहते हैं। अच्छी बात है कि इमारे विज्ञान-पूर्वकोंने हसका एक यह स्पष्टी-करण कर रखा है कि सिद्धान्तोंका परिवर्तन 'वैज्ञानिक

प्रगति' है। मनुष्योंके स्नेह-मनिदर और पूजा-श्याम भी वद्धा करते हैं, किर शैरोंका सो कहना ही क्या है?

अभूतंको मूर्तिमान् बनाना, मानव-हृदयका एक स्वयम्भू अभिलाष है। सौन्दर्य, शंगर, वैभव ये सब प्रभुमें पूर्णरूपसे विराजते हैं, परन्तु उनका कल्पनाचित्र स्थिर नहीं रहता। अवश्य ही मानविक कल्पनामें विशालता अधिक है परन्तु उसमें चक्षुलता भी बहुत है। मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन ध्यानको सुलभ करते हैं और उसका मनोहारी सौन्दर्य, उसके विशाल कृपारूप नेत्र और सुन्दर नासिका, भाव-दर्शनसे स्मृतिमें स्थिर हो जाते हैं। परन्तु सौन्दर्य तो केवल उसकी मायाका विलास है। वस्तुतः सौम्य और असौम्य सर्व रूपोंमें भगवती माया ही विद्वरती है। रूप केवल विकारी ही नहीं, वह कल्पनास्मक और मायामूलक है, इस बातके जाननेवालेको बद्धताके माध्यम-वागके भवित्वकी श्रीलक्ष्मीनारायणजीकी भूत मूर्ति और श्रीजगद्धारायरायजीकी काष्ठभयी कृष्णमूर्तिमें एक ही समान द्रिय भाव और पुण्य-दर्शन प्रकट करनेमें कोई व्यववान नहीं आता। इसी सत्यकी झाँकीमें पति कान्ताके रूपमें सम्पूर्ण कमलीयताका आरोपण कर सकता है और करता है। प्रभुके जगत्की तरह, यह मानव-जगत् भी सिर्फ उसकी भावनाकी-संस्कारकी-मनोदशाकी प्रत्यक्ष मूर्ति है। इमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिसप्रकार आज वैज्ञानिक लोग रंगको केवल इष्ट-भेदका ही कार्यरूप मानते हैं, उसी प्रकार आगे चढ़कर स्थूल-द्रव्यको भी मानविक इष्ट-भेदका परिणामरूप मानने लगेंगे। स्थूलत्वका ज्ञान करनेवाला स्पर्श, रूपका ज्ञान करनेवाले चक्षुसे विशेष नहीं हैं।

परन्तु अप्रमेय, अचिन्त्य, अवर्णनीय और प्रायः अप्राप्य प्रभुकी प्रत्यक्ष मूर्तिमें स्थित पीयूषका नेत्रोंमें पान करना, उसके चरण-स्पर्शमें, उसमें केन्द्रित हुई प्रभुकी महिमाके शक्तिपातसे रोमाङ्काका अनुभव करना;

प्रभुके चरणारविन्दमें जगतका सम्यक् दर्शन या जीवनका सिंहावलोकन करते-करते प्रभुकी लंगालाकी अकलताका अनुभव करना और मानो जीवनके एक धन्य क्षणमें समग्र जीवनके सम्बोहका अनुभव करते हुए हर्षके या विचादके या दोनोंके भाँसुओंसे गदगद होकर द्रवित-हृदयमें श्रीमुखके दर्शन करना, यह कितना बड़ा सौभाग्य है? इस दर्शनमें असीम अशुभाशय धुल जाते हैं। अनेकों उपर्योगका समुद्राय प्रकट होता है एवं भावी जीवन-की कसौटीके कल्पनके और कालमें विलय होनेके गम्भीर क्षणोंकी शाक्षत शानिसके बीज हृदयमें विराजित होते हैं। जिनको उस प्रभुके अहनिश दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त है, उनको धन्य है। उसकी महत्ता और सर्वध्यापकताको समझें बिना भी उसके दर्शन करनेवालेके जीवनको धन्य है। क्योंकि समझना और न समझना क्या है? समझनेवाला समझा ही नहीं और समझमें आ जाय ऐसा वह तत्त्व ही कहाँ है? जो मूक बनकर प्रभुके दर्शन करता है और दर्शनमें ही तलीन हो जाता है, उसीने जाना है। जानना अर्थात् भेद-भाव समझना। अन्य वस्तुओंमें स्पष्टीकरण करना। परन्तु प्रभु तो व्यवहारके परम्पर भेद-दर्शनसे अभिन्न हैं। वह तो इस विश्वमें दशागुल आगे ही खड़े हैं। वह यहाँ भी खड़े हैं, वहाँ भी खड़े हैं। और कहाँ नहीं है? वर्ण इष्टिके आधारपर स्थित नहीं हैं, इमरे राग और द्वेष भी इष्टि-भेदके ही विपरिणामरूप हैं। हस्तिलिये भक्तोंको दूसरा दर्शन ही नहीं होता। वे तो यस यही अनुभव करते हैं कि 'हमारा प्यारा ही सर्वत्र वस रहा है।' ज्ञानमें एकत्वका दर्शन करनेवालेको शोक नहीं होता, परन्तु भक्तिसे एकत्वका अनुभव करनेवाले महात्माको तो क्षोभ भी नहीं होता, क्योंकि उसे तो सर्वत्र प्रभु श्रीबालकृष्णकी माधुरी छवि ही दीखती है और उनकी बाल-चेष्टाएँ उसके हृदय-साम्राज्यको हिलाती नहीं, परन्तु हँसाती हैं। अथवा हँसाती भी नहीं, केवल लीलाका आनन्द प्रदान करती है।

लाज रसो

मैं नाहीं, कछु हीं नहीं कछु आहि न मोरा।

औसर, लज्जा राखि लेहु, सदना जन तोरा॥

—सदनाजी कसाई

ब्रह्मकी अखण्ड सत्ता

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

१-अर्थात् हृष्टरके स्वरूपका निर्वचन नहीं हो सकता। हाँ। उसका संकेतरूपसे निर्देश किया जा सकता है। सद-चित्-आनन्द अथोर्णव निश्च-सत्ता, निश्च-ज्ञान एवं निश्च-आनन्द ही उसका स्वरूप है। ब्रह्म अर्थात् हृष्टरको उपर्योगोंसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। किन्तु कृतिपय अनुभवसिद्ध प्रमाणोंसे उसकी सत्ताका अनुमान किया जा सकता है, जिनका उल्लेख क्रमशः नीचे किया जाता है—

१—समस्त भूतप्राणियोंकी अन्तरारम्माके रूपमें ब्रह्मकी सत्ता सभीके अनुभवका विषय है। क्योंकि प्रत्येक प्राणीको अपनी सत्ताका बोध होता है, उसके विचारमें यह बात कभी नहीं आती कि ‘मैं नहीं हूँ।’ यदि किसीको अपनी सत्ताका अनुभव न होता तो प्रत्येक प्राणी यही सोचता कि ‘मैं नहीं हूँ।’ जिसकी सत्ताका सबको अनुभव है, वह आत्मा ब्रह्म ही है।

२—योहों देरके लिये अपनी और्ज्ये मूँदकर यह कल्पना करो कि मैं भर गया हूँ। आप ऐसा कभी नहीं कर सकेंगे। आप यह कभी नहीं सोच सकते कि (सृष्टुके बाद) इमनहीं रहेंगे। आप यही कल्पना कर सकेंगे कि आपका निर्जीव देह भूमिगर पड़ा हुआ है और आप साक्षीरूपमें उसे देख रहे हैं। इसमें यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि आप सर्वदा साक्षी अथवा द्वाष्टरूपमें रहते हैं। प्रत्येक प्राणीका यह आन्तरिक अनुभव होता है कि ‘अहमस्मि’ अर्थात् मैं हूँ।

३—किसी वस्तुको प्रमाणोंमें सिद्ध करनेकी कियाका आधार आरम्भ ही है, अनेक इस कियाके पूर्व ही आत्माका मान होता है और इसीलिये आत्माकी सत्ताको अस्तीकार नहीं किया जा सकता। ब्रह्म अर्थात् आत्माकी सत्ताको अस्तीकार करना अपनी ही सत्ताको अस्तीकार करना है, जो तकसे असिद्ध है। सारी कल्पनाओं एवं उपर्योगोंका आधार ब्रह्म ही है।

४—प्रत्येक कार्यका कोई कारण अवश्य होता है। अतः इस दृश्यमान् जगत्का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये। वह कारण ब्रह्म है, जो स्वयं कारणरहित होनेके कारण ‘परम कारण’ कहकाता है। स्वयं सुहितके कारण-

की कल्पना तर्कविशद है। यदि सुहितका भी कोई कारण माना जाय तो उस कारणका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये और इसप्रकार कारणके कारणका अनुसन्धान कभी समाप्त ही नहीं होगा। इसमें अनवश्यका दोष आवेगा। इसप्रकार सुहितके आदिकारणकी कल्पनामें भी हृष्टरकी सिद्ध होती है।

५—प्रत्येक परिच्छिङ्ग वस्तुको कल्पना करते समय इसमें यह विचार अवश्य होता है कि उसके परे भी कोई वस्तु है। मनका स्वरूप ही ऐसा है कि वह असीमकी कल्पना किये बिना ससीमकी कल्पना नहीं कर सकता। इस कारणकी कल्पना किये बिना कार्यकी कल्पना नहीं कर सकत। अनुचिता, द्रृढ़त, प्रतिकूलता, भेद, मरणधर्मता इत्यादिकी कल्पनाके साथ इसे शुचिता, अद्वैत, अनुकूलता, अभेद, अमरश्व इत्यादिकी कल्पना भी अवश्य करनी पड़ती है। ब्रह्मकी सत्ताको सिद्ध करनेकी यह मनोबैज्ञानिक पद्धति है। अनन्तता ही ब्रह्मका स्वरूप है। जिसप्रकार ताप एवं प्रकाश अभिका स्वभाव है; इसी प्रकार सद-चित्-आनन्द ही ब्रह्मका स्वभाव है।

६—जब आप अधेरमें अथवा कहीं परदेकी ओटमें हो, उस समय यदि कोई आपसे पूछे कि ‘कौन है?’ तो उस समय आप स्वाभाविकतया यही उत्तर देंगे कि ‘यह तो मैं हूँ।’ इसके अनन्तर द्वायारा विचार करनेपर आप यह कहेंगे कि ‘मैं असुक नामवाला यहि हूँ।’ ‘मैं असुक नामवाला यहि हूँ’ यह केवल इमारे मनकी कल्पना अथवा झटा आरोप है जो इसने अपनी अविद्या अर्थात् अज्ञानके कारण कर लिया है। पहले पहल आपके मुँहसे सहसा ‘मैं’ शब्द निकला जो आपकी अपरिच्छिङ्ग सत्ताके सम्बन्धमें आपके आन्तरिक अनुभवका चोकत है। इमारा ‘अहमस्मि’ यह आन्तरिक अनुभव अवाधरूपमें रहता है।

७—सबको अपने ज्ञानका विषय करनेवाले एवं भूत, भवित्व तथा वर्तमान इन तीनों अवश्यालोंमें अभिकल्पनमें रहनेवाले सनातन आमतात्वकी सत्ताको स्वीकार किये बिना स्मृति एवं प्रत्यक्षज्ञान इत्यादिकी सिद्ध नहीं हो सकती जो इमारे देश, काल एवं कारण-सम्बन्धी मालसिद्ध संस्कारोंपर अवहगित हैं। आत्मा संकल्पोंसे

વિલક્ષણ હી નહીં, કિન્તુ ઉનમે પરેકી વસ્તુ હૈ, ક્યોંકિ સંકલ્પોને લિયે કોઈ એસા આધાર અવસ્થા હોના ચાહ્યે જો ઉનકા સમન્વય એવું પરસ્પર અનુસંધાન કર સકે। વહ આધાર-તત્ત્વ આરમા હી હૈ જિસકે દ્વારા ઉન સંકલ્પોના ભી જ્ઞાન હો સકતા હૈ।

૮ સંસ્કૃતને 'અહમ्' શબ્દકા અર્થ હૈ 'મૈં' ઔર 'ઇદમ्' કા અર્થ હૈ 'યાહ'। અપને લિયે ઇમ 'અહમ्' શબ્દકા ઔર ઇદમનોંકે લિયે 'ઇદમ्' શબ્દકા પ્રયોગ કરતે હૈને। કિન્તુ જ કોઈ ઇમને આત કરતા હૈ તસ સમય યહ ક્રમ બન્ધું જાતા હૈ। ઇમ જિસને લિયે 'ઇદમ्' શબ્દકા પ્રયોગ કરતે યે ઉસને સ્થાનમાં અથ 'અહમ्' શબ્દકા પ્રયોગ કરતે યે ઉસને સ્થાનમાં અથ 'ઇદમ्' શબ્દકા પ્રયોગ હોને લગતા હૈ। ઇસમે યહ મિદ હોતા હૈ કે 'અહમ्' યાહ પ્રત્યય સબ પ્રાણિઓંને અન્દર સમાનરૂપમને રહના હૈ। 'ઇદમ्' યાહ ઇમારે મનકી કલ્પના અથવા ઝડા અધ્યારોપ હી હૈ, જિસપ્રકાર રહજુમેં સર્પકા અધ્યારોપ હોતા હૈ। સર્પ રંગુના 'વિવર્ત' હૈ, ઇસી પ્રકાર 'ઇદમ्' 'અહમ्' કા વિવર્ત હૈ।

૯.-ઇમ દશમાન જગન્નામે કાર્ય-કારણકા જો ચક ચલ રહા હૈ તસને પરે ઇમેં કોઈ એસી સત્તા દુંહની ચાહ્યે જો નિવિકાર, કૃતસ્થ એવં સ્વતન્ત્ર હોની, જો સર્વદા અભિજ્ઞારૂપમને રહસી હો ઔર જો ઇન સમસ્ત વિકારોની કારણરહિત અર્થાત 'પરમ' કારણ હો। યહ નિવિકાર, સ્વતન્ત્ર, અનાદિ વસ્તુ, અર્તાન્દ્રિય (ઇન્દ્રિયોને અપ્રાણી) અર્થાત્ અદ્યય એવં નિર્ગુણ અર્થાત્ ઉન ગુણોમને રહિત હોની ચાહ્યે જો દય પદ્ધત્યોમને પાયે જાતે હૈ। યાંસ સરે વિકારોની અન્ત હો જાતા હૈ, મનકી ગતિ રૂપ જાતી હૈ ઔર ઉસ વિશ્વાસક અંકુર જમ સકતા હૈ જિસે ઇમ સંસાર-કે વિનાશકીલ પદ્ધત્યોમને દ્વર્ય સ્થોળતે હૈ।

૧૦ બાદા-જ્ઞાનને લિયે ઇમેં સબસે પહેલે ઇન્દ્રિયોની નરેક્ષા હોતી હૈ, કિન્તુ ઇનકા સમબન્ધ કિસી ઔર વસ્તુને હોતા હૈ। યે સ્વતન્ત્રરૂપમને ઉન વિષયોનો પ્રથ્રણ નહીં કર સકનીં। ઉન્હેં ઇસને લિયે મનકી અરેકા હોતી હૈ, ક્યોંકિ મનકી સહાયતાનો વિષા કિસી વિષયકી ઉપલબ્ધ નહીં હો સકતી। તો ક્યા ફિર મન હી પરમ કારણ હૈ? નહીં, કદમ્બિ નહીં, ક્યોંકિ મન તો સ્વયં સસીમ હૈ। ગાડ નિર્ણાકી અવસ્થામને મન ભી પ્રસૂધ રહતા હૈ। જિસસે યહ

સિદ હોતા હૈ કે વહ ભી પરસન્ત્ર હૈ। ઇમારા જ્ઞાન પરિમિત હૈ, ઇસોસે યહ પ્રતીત હોતા હૈ કે કોઈ અપરિમિત જ્ઞાન ભી હૈ। ઇસ પરિણામપર પહુંચનેકે બાદ યદિ ઇમ અવને નિજસ્વરૂપપર તુન: વિચાર કરે તો ઇમેં માલ્યામ હોગા કે ઇમારે અન્દર એક એસા શાશ્વત-તત્ત્વ હૈ જિસકા જ્ઞાનને સમસ્ત રૂપાન્તરોને સમ્વનધ હૈ। વહ તત્ત્વ આરમા હૈ, જો કાંઈનોસે સુનતા હૈ, આઁસોસે દેખતા હૈ, મનસે મનત કરતા હૈ એવં બુદ્ધિસે જાનતા હૈ; જિસકા જ્ઞાનકી ભિન્ન કિયાઓને સાથ અન્ત નહીં હો જાતા, જો ઉન સારી કિયાઓને અધિકૃતરૂપમને રહના હૈ ઔર જિસને વિના વે સારી કિયાણું હો નહીં સકતોં। વહી ઇમારા આરમા અથવા પરમાત્મા હૈ, જો કેવલ જ્ઞાનરૂપ, અપરિમેય એવં જ્ઞાનને વિષયોને નિરેક્ષ સન્નાવાલા હૈ। વહ પ્રકારોની પ્રકાશ, જીવનોની જીવન, મનોની મન એવં આરમાઓની આરમા હૈ। વહ અભ્યન્ત જીવન હૈ જિસમે પ્રથ્યેક પરમાણુ અનુપ્રાપિત હો રહા હૈ, વહ પ્રચ્છલ જ્યોતિ હૈ જો પ્રથ્યેક જીવકે અન્દર જગમગા રહી હૈ, વહ નિર્ગુદ પ્રેમ હૈ જો સબકો એકતાને સૂત્રમને બાંધતા હૈ, વહ મનકે સારે દ્વાયારોની મૂક સાક્ષી હૈ ઔર ઉપનિષદ્દોની બ્રહ્મ વહી હૈ।

૧૧-અબ જીરા આદ્યે ! ઇમ ક્ષુદ્ર 'અહમ्' કા વિદ્યોગ્યણ કરેં, જો ઇમારે સમસ્ત ફેરંદી, દુઃખોન્દી, પદ્ધતીની મૂલ હૈ ઔર જો ઝઠમણ ઇમારે આરમાપર અધિકાર કર ચેંઠા હૈ।

યહ ભૌતિક શરીર 'મૈં' નહીં હૈ, હાથ અથવા પૈંકે કટ જાનેપર ભી 'મૈં' કી ભાવના બની રહ્ની હૈ। યહ શરીર પદ્મભૂતાંકા બના હુદા હૈ ઔર અસાકી દી વિકાર હૈ, ઇસલિયે ઇસે જ્ઞાનોમે 'અજ્ઞાન કોપ' કહા ગયા હૈ। યહ સાવયવ હૈ, આદિ ઔર અન્તબાલા હૈ, વિનાશી અર્થાત્ નાશ હોનેવાલા હૈ, જડ અર્થાત્ અચેતન (જાનરહિત) હૈ। ઇન્દ્રિયોની 'મૈં' નહીં હૈ, વે ભી જડ હૈ, આદિ-અન્તબાલી હૈ, રજોગુણ એવં સચ્ચગુણકે વિકાર હૈને, જો પદ્મતન્માનાંબ્રાંભોને બને હુએ હૈને।

મન ભી 'મૈં' શબ્દકા વાચ્ય નહીં હૈ। સુદુસિમે 'મન' શરીરકે સાથ નહીં રહતા, કિન્તુ ફિર ભી જ્ઞાનકા લોતા નહીં રૂપાની હૈ। ફિર મન ભી જડ એવં આદિ-અન્તબાલા હૈ। વહ પરિવર્તનશીલ સંકલ્પોની એક પુરાતાત્ર હૈ। વહ અન્યકારમને ભ્રમિત હોતા હૈ, કુલામે દૂષ જાતા હૈ ઔર અભ્યન્ત મધ્યભીત-અવસ્થામને

कुष्ठ-काष्ठकी भाँति स्तवध हो जाता है। प्राण भी 'मैं' नहीं है। वह रजोगुणका विकार है, जब एवं आदि-अन्तवाला है। प्राणायामसे प्राणोंकी गति रुक जानेपर भी ज्ञानका तांता नहीं दृटता।

इसी प्रकार आनन्दमय कोष अथवा कारणशरीर भी, जो मूल-अविद्याका नाम है और जो वासनाओं एवं संस्कारोंमें बना हुआ है, 'मैं' नहीं है। वह जब एवं आदि-अन्तवाला है। जब इम अपने लिये 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं उस समय इस बातका यथार्थ अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ।' यह हमारा सत्त्वरूप है। इम इस बातको समझते हैं कि 'मैं हूँ,' यह हमारा चिन्तन-स्वरूप है और इम आनन्दका अनुभव करते हैं यह हमारा आनन्दस्वरूप है। आरमनीरीक्षणके द्वारा साधारणीमें विश्लेषण करनेपर इस हमारे सुदृढ अहंकारका विस्तृत अभाव हो जाता है, जिसप्रकार प्याजके छिल्कोंको निकाल देनेपर दोषमें कुछ नहीं रहता। किन्तु सबकी तहमें हमें उस महान् अनन्त 'अहम्'—सचिदानन्द-ब्रह्मकी उपलब्धि होती है, जो इन सारे मिथ्या आभासों, अनेक सुदृढ अहंताधोका आधार अथवा अधिष्ठान है।

१२-मान लीजिये कि हमारे सामने एक आमका वृक्ष स्फुरा है। इसके नाम और रूप दोनों हैं। यह मूल्य, शास्त्राओं, दृष्टियों, पत्तों, और एवं फल इत्यादि अनेक अवयवोंमें युक्त है। साधारण दृष्टिके मनुष्यको वृक्षके इन्हीं त्री स्वरूपों अथवा अङ्गोंकी उपलब्धि होती है। नाम और रूप हन दो स्वरूपों अथवा अङ्गोंमें ही मनुष्यजाति तत्त्वीन एवं लुभाई हुई रहती है। उन्हें उस तथ्यका ज्ञान नहीं है जो उस आमके वृक्षके अनन्दर छिपा हुआ है। इन त्री स्वरूपोंके अतिरिक्त उस आमके पेढ़के तीन और स्वरूप अथवा अङ्ग हैं। आमका वृक्ष 'है' यह उसका 'सत् (अस्ति) स्वरूप है। वह भासना भी है; अर्थात् आपकी समझमें यह यात आती है कि एक आमका पेढ़ आपके सामनेस्फुरा हुआ है; आपकी इमिद्यों एवं मनके द्वारा उसका ग्रहण होता है; यह उसका चित् (भावि) स्वरूप है। वृक्षकी सत्तामें आपको आनन्द मिलता है, यह उसका आनन्द (प्रिय) स्वरूप है। अब यदि उस वृक्षको काटकर इम उसके तस्ने बनवा लेवें, तब भी उन तत्त्वोंमें सचिदानन्दकी अभिव्यक्ति

अवश्य होती है। तस्ता है, वह भासता है, उसे आप जानते हैं, उससे आपको आनन्द मिलता है, उसकी आप कुर्सियाँ, बैंच बौरह बनवा सकते हैं। अब यदि उस तत्त्वेको इम आगमें रखकर जला दाकें तो उसकी राखमें भी सत्-चित्-आनन्दकी प्रतीति होगी। राख है, वह भासती है, आप उसे जानते हैं, उससे आपको आनन्दकी प्राप्ति होती है, उससे आप कई काम लेते हैं। इसप्रकार इम देखते हैं कि नाम-रूप बदले रहते हैं किन्तु सत्-चित्-आनन्द सदैव बना रहता है। यही सत्य है। प्रत्येक रूपमें सत्-चित्-आनन्दकी अलग-अलग अभिव्यक्ति होती है। रूप अलग-अलग (व्यतिरेकी) है किन्तु उनके अनन्दर इनेवाली वास्तविक सत्ता एक (अनवयी) है।

१३-इम अपने छी-पुत्रादिसे उस आरमा (ब्रह्म) के रूपमें ही जो उनके शरीरके भीतर छिपा हुआ है एवं उसीके नाते प्रेम करते हैं। यदि आप यह कहें कि इम सौ यथार्थमें उनके पाञ्चभौतिक शरीरमें ही प्रेम करते हैं तो उस दशामें आपको उनके निर्जीव एवं सज्जने हुए शवमें भी प्रेम करना चाहिये। परन्तु होता इमके विपरीत है; आप उनके शवको, जिसना जड़ती हो सके, घरमें बाहर निकालनेकी चेष्टा करते हैं।

१४-मान लीजिये घरमें आग लगी है। ऐसी दशामें सबसे पहले हम अपनेको बचानेका प्रयत्न करते हैं और धन-दौलत, पुत्र-कल्प आदिकी परवा नहीं करते। इसमें यह स्पष्टतया मिल होता है कि इम अपने पाञ्च-भौतिक शरीरके अनन्दर इनेवाली किसी वस्तुमें अथविक प्रेम करते हैं। उसमें बढ़कर हमें संसारकी कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है। वह वस्तु आरमा अथवा ग्रह है, जो सम्म भूतप्राणियोंका अन्तरामा है। एक सर्वध्यापी चेतना तथा सारे विश्वका अधिष्ठान है।

१५-अखिल संसारमें पाँच ही इमिद्याँ हैं जिन्हें विषयी अथवा ग्राहक कहते हैं, (जिनमें विषयोंका ग्रहण होता है) और पाँच ही उनके विषय हैं। नेत्र रूपका ग्रहण करते हैं, रूप अग्रितस्वका विकार है और नेत्र भी अग्नि-तन्मात्रमें बने हुए हैं। इसप्रकार नेत्र एवं रूपमें सजारीय सम्बन्ध है। नेत्रोंके द्वारा शब्द-तन्मात्रमें बना हुआ है और शब्द आकाशतस्वका परिकाम है। अतएव क्षेत्रिक्य एवं

शब्दमें सजातीय सम्बन्ध है। कर्येन्द्रियसे रूपका प्राप्ति नहीं हो सकता। पाँचों इन्द्रियों जब अर्थात् अवेतन (ज्ञानशृन्य) हैं। उन्हें आत्मा अर्थात् शुद्ध चैतन्यसे ही प्रकाश एवं शक्ति प्राप्त होती है जो हन इन्द्रियोंका अधिष्ठात्र है, जिसप्रकार पातीके कटोरेके भूपरमें रख देनेसे उसके अन्दर सूर्यकी गर्मी आ जाती है। आत्मा नेत्रेन्द्रिय एवं विषयोंकी सहकरितासे जगत्की उपलब्धिका कारण होता है। यह सारा जगत् आत्मा अथवा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। आत्माके द्वारा ही आत्माका साक्षात्कार हो सकता है। आत्माये ही आत्माकी उपलब्धि होती है। हमारी अन्तरात्मा एवं जगत्के रूपमें भासनेवाली ब्राह्मात्माके बीचमें सजातीय सम्बन्ध है। और सो और, एक कंकड़ भी आत्मा अथवा ब्रह्मका ही रूप है। मन एवं चक्षुकी सहायतामें ब्रह्म ही कंकड़के रूपमें भासने लगता है। व. वर्में यह सारा संसार ब्रह्मरूप ही है (मर्व अविवृद्ध इत्य)। आत्मा एवं अनात्मामें कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

१६—सुषुप्ति-अवस्थामें न तो इन्द्रियों रहती हैं, न विषय रहते हैं और न मन ही रहता है; किन्तु किर भी उम समय हमें निरतिशय आनन्दका अनुभव होता है। जब विषय ही नहीं हैं तो हमें यह आनन्द कहाँमें प्राप्त होता है? यात् यह है कि सुषुप्तिकालमें मनकी सत्ता ब्रह्ममें रहती है और वहीमें उसे आनन्दकी उपलब्धि होती है। हमके अतिरिक्त सुषुप्तिकालमें जब और किसी मनुष्यका अस्तित्व नहीं रहता, केवल 'मैं' की सत्ता रहती है।

१७—लैटिन-भाषामें एक कहावत है 'Cogito ergo sum.' हमका अर्थ यह है कि 'मैं विघार करता हूँ इसी-लिये मैं हूँ।' डेकार्ट (Descartes) नामक प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिकके मतमें अध्यात्म-शास्त्रकी मूलभित्ति यही है। श्रीशंकराचार्यका भी यही कहना है कि आत्मा मिथ्या नहीं हो सकता, क्योंकि जो पुरुष आत्माकी सत्ताको अस्तीकार करता है, वह ऐसा करता हुआ भी उसकी सत्यताका अनुभव करता है।

१८—यथापि ब्रह्मका वास्तविक रूप आनिवृत्तिमय एवं अग्राह्य है फिर भी हम उसका संकेतरूपसे निर्देश करनेकी चेष्टा करेंगे। अद्वैतवादियोंने कुछ ऐसे विवेचण अथवा लक्षण बतायाये हैं, जिनसे हम ब्रह्मके रूपरूपको दूसरे गुण-

वाले पदार्थोंसे पृथक् कर सकते हैं और जिनकी सहायतासे हम उसका ध्यान कर सकते हैं। ये लक्षण भी दो प्रकारके हैं—स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ-लक्षण। सर, चित्, आनन्द ये स्वरूप-लक्षण हैं और सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सृष्टि-कर्तृत्व इत्यादि गुण तटस्थ-लक्षण कहलाते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक भी हस बातको स्वीकार करते हैं कि हस विश्वके पीछे एक महान् सकल्य अथवा चैतन्य-शक्ति काम कर रही है। ब्रह्म ही संसारका कारण एवं वेदोंकी योनि है, अतः वह सर्वज्ञ अवश्य होना चाहिये।

१९. कर्म जब अर्थात् अचेतन है। जीवोंको उनके किये हुए कर्मोंका फल भुगतानेवाला कोई अवश्य होना चाहिये। संसारमें कोई गरीब है कोई अमीर; कोई नीरोग है तो कोई अनेक प्रकारकी व्यधियोंमें चिरा हुआ रहता है; कोई जन्ममें ही प्रतिमा-सम्पद होते हैं तो कोई निरे कृपितबुद्धि और कोई जन्ममें ही लक्ष्मी-लौंगाहै, वहरं और गुर्गे होते हैं। हन सारी विचित्रताओंका युक्तियुक्त समाधान कर्म-सिद्धान्तमें ही हो सकता है। मान लीजिये किसी जगह ठेकेका काम हो रहा है, जिसमें अनेक मज़दूर काम करते हैं। उनकी देख-रेखके लिये जो निरीक्षक (overseer) नियुक्त है वह उनकी योग्यता तथा उनके कामको देखकर उन्हें उचित मज़बूती देता है। इसी प्रकार विश्वका नियन्ता हम सब जीवोंके कर्मों एवं नीयतको जानता है और उसके अनुसार हमें अपने कर्मोंका फल देता है।

२०—अनेकों बार हम कई प्रकारके मनसूबे वांधते हैं किन्तु कोई ऐसी शक्ति है जो उन्हें सफल नहीं होने देती। हममेंसे प्रत्येकोंको अपने कार्योंमें हसका प्रतिदिन अनुभव होता है। हससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि प्रत्येक मनुष्य-के कार्योंका नियमन करनेवालों कोई सर्वोपरि प्रेरक शक्ति अवश्य है, वही हैशर है।

२१—सुभ कर्म करनेमें हमारे मनको सन्तोष एवं सुख होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी आत्मा उत्तम हो रही है। इसी प्रकार पाप करते समय हम अथवात् भयमीत हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इससे यह प्रकट होता है कि हमारे बुझ-भले कर्मोंको (कर्माभ्यक्षरूपमें) देखती है और हमारे बुझ-भले कर्मोंको भी जानती है।

२२—‘केनेवितं पतति प्रेवितं ममः………’अर्थात् इस मनका प्रेरक कौन है? (केन० मं० १)

मनका कार्य संकल्प-विकल्प करना है। इस हन्त्रिय-से काम लेनेवाला कोई इसका नियन्ता अवश्य होना चाहिये। जीवात्मा इसका सञ्चालक नहीं है, वहिंक इम देखते हैं कि साधारण मनुष्योंको मन निर्दयतापूर्वक मथित करता रहता है। अतः हमें मनका सञ्चालन करनेवाली कोई दूसरी सर्वोपरि सत्ता माननी पड़ेगो। वह सत्ता अन्तर्यामी परमात्मा है।

२३—मन एक प्रबल हजिन है। इसके लिये एक अस्थन्त बुद्धिमान् डाइवरकी आवश्यकता है। वह डाइवर बहा है।

२४—ब्रह्मकी सिद्धिमें एक प्रभाग और है। नेत्रका पर्याय-वाचक शब्द ‘हृक्’ है, जिसका अर्थ है देखनेवाला और नेत्रोंका विषय ही हृष्ट अर्थात् दीखनेवाली वस्तु है। इसी प्रकार मन देखनेवाला है और नेत्र उसका विषय है। ब्रह्म मनका द्रष्टा है और मन तथा उसकी द्रष्टियाँ हृष्ट हैं। यदि अहम् के भी द्रष्टाकी स्वोज की जाय तो इसमें ‘अनवस्था’ दोष आवेगा। अतः ब्रह्म स्वर्यम्, स्वयंजाता, स्वतःप्रकाश, स्वतन्त्र, अध्यय, निर्विकार एवं दिक्षालाद्यनवच्छिङ्ग हैं। उसका द्रष्टा कोई दूसरा नहीं है। नेत्रके विषय रूप अनेक हैं, किन्तु देखनेवाला नेत्र एक ही है। इन्द्रिय अनेक किन्तु उनका द्रष्टा मन एक है। मन अनेक हैं किन्तु उनका द्रष्टा ब्रह्म एक है। अनेकोंके पीछे एक छिपा हुआ है। इसकी समझनेके लिये विचारकी आवश्यकता है।

२५ ब्रह्म शून्य नहीं है। उसे पोल अथवा थोथ नहीं कह सकते। मनके द्वारा शून्यका चिन्तन नहीं हो सकता। ब्रह्म घन है, परिपूर्ण है, कर्मोंकि वहाँ जाकर सारी वासनाएँ विलीन हो जाती हैं और निरनिशय एवं निरस्त्रृति मिलती है। वह सब कुछ है। इस झट्ठे मिथ्या अहंकार-को नष्ट करके शून्य बन जानेपर हमें सब कुछ मिल जाता है, हम सब कुछ बन जाते हैं (परमामोति, ब्रह्मै भवति)

२६—प्रकृतिके नियमोंमें आस्था करना ईश्वरमें विश्वास करना है। सारी भृतिका व्यापार निश्चित एवं सुख्यवस्थित नियमोंके अधीन होता है। संसारमें यहचक्रा अथवा आकस्मिक घटना कोई वस्तु नहीं है। ईश्वर ब्रह्मका ही सत्तस्य-लक्षण है। भर्तोंकी पूजा ग्रहण करनेके लिये निर्युग ब्रह्म संगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वरके रूपमें प्रकट हो जाता है, वास्तवमें संगुण ब्रह्म कोई अलग वस्तु नहीं है। जो कुछ है केवल सत्ता-ही-सत्ता है, वही परमसत्त्व है, वही सत्य है।

२७—जिसप्रकार हम अपने सामने किसी वृक्षको देखते हैं, उसी प्रकार हमारे मनकी स्फुरणओंका भी कोई साक्षी अवश्य होना चाहिये, अन्यथा कर्म-कर्तृत्वभाव-सम्बन्धमें विरोध आवेगा। वह साक्षी कृतस्य-ब्रह्म है।

२८—हम दो संकल्पोंकी तुलना करके उनके साहश्य अथवा वैसाइश्यका पता लगा लेते हैं। इसमें यह सिद्ध होता है कि उनकी तुलना करनेवाली कोई एक अल्पण दस्ता अवश्य होनी चाहिये जो उन संकल्पोंपर वाहास्पद्यमें विचार करती है। वह सत्ता आत्मा अथवा ब्रह्म ही है।

२९—विपरितिमें ईश्वरके स्वरणमें दुःख-मोचनरूप जो तत्काल फल होता है उसमें यह समझमें आता है कि हमारे कार्योंका नियमन करनेवाली कोई सर्वोपरि प्रेरक शक्ति अवश्य है।

३०—प्रोर नामिक पूर्व देहात्मवादीको भी जब किसी घने जंगलमें बाधका मुकाबला हो जाता है, या जब उस-पर कोई घोर विपत्ति आती है, या वह जिस जहाजपर सदार हो वह दूसरेको होता है, अथवा जब वह पक्षाधान-रोगमें पीड़ित होता है, या जब भूकम्प आता है, अथवा ज्वालामुखीका विस्फोट होता है, अथवा अर्धरात्रिके समय जब वह अकेला किसी निर्जन वनमें होता है और उसे विजलीकी कड़क और बाढ़लकी गरज सुनायी देती है उस समय हठात उसके मुख्यमें ये शब्द निकल ही जाते हैं कि ‘हे परमात्मन् ! मेरे अपराधोंको क्षमा करो और मेरी रक्षा करो ।’

३१—त्रात्रिके समय जब घोर अन्धकार होता है, हम यह कहते हैं कि यहाँ कोई नहीं है। यह हमने कैसे जाना ? इसीलिये कि वास्तवमें हम साक्षी हैं। वह साक्षी ब्रह्म ही है।

३२—हम अपने दैनिक स्ववहारमें ‘मेरा शरीर’, ‘मेरे प्राण’, ‘मेरी इन्द्रियाँ’ इसप्रकारके शब्दोंका प्रयोग करते हैं। इसमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारा आत्मा जिसके लिये हम ‘मैं’ शब्दका प्रयोग करते हैं, शरीर, मन, प्राण एवं इन्द्रियसे अतीत है। मन और शरीर हमारे परिचारक अथवा उपकरणमात्र हैं। ये हमारी अपेक्षा उसने ही बाधा है जिसने हमारे वज्रामूष्प, बरतन इत्यादि हैं। हम शरीरको उसी प्रकार धारण किये हुए हैं जैसे कोई अपने हाथमें एक लम्बी छड़ी किये हुए हो।

३३—मान कीजिये हमने कोई वका अपराध किया है। उसके दण्डस्वरूप यदि कोई हमारी औंसें बचाकर हमारे हाथ काटना चाहे तो हम हव्यपूर्वक अपने हाथ कटवा लेंगे। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि कर्मनिवृत्योंकी अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियों हमारे अधिक सभीप अतपूर्व अधिक प्रिय हैं। फौसीकी सजाकी अपेक्षा हमें अपनी औंसें निकलवा लेनेमें कम संकोच एवं हुँस होगा। इसमें यह प्रकट होता है कि हन्दियोंकी अपेक्षा प्राण हमारे निकटतर अतपूर्व अधिक प्रिय हैं। यदि हम किसी भयंकर एवं असाध्य रोगमें पीड़ित हों और उससे मुक्त होनेका कोई उपाय न सूझता ही तो हम यह चाहेंगे कि हमारे प्राण भले ही चले जायें किन्तु हम किसी प्रकार इस व्याघ्रसे मुक्त हो जायें। इससे यह व्यक्त होता है कि हमारी आत्मा हमें प्राणोंमें भी अधिक प्यारी है।

३४—मनुष्यों एवं अन्य प्राणियोंके अन्दर दो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ बहुत बलवान् हैं, एक तो आत्मरक्षणकी और दूसरी सन्तानोपादनकी। हमें जो भूख लगती है वह पहली अर्थात् आत्मरक्षणकी प्रवृत्तिकी शोतक है और हमारे अन्दर जो कामवासना है वह दूसरे प्रकारकी अर्थात् सन्तानोपादनकी प्रवृत्तिकी बतलाती है। आत्मरक्षणकी प्रवृत्तिका मूल हमारे आत्माकी अमरता ही है। अग्नितवश हमारा जीवात्मा यह सोचता है कि शरीर ही आत्मा एवं निर्ख है और आत्मरक्षणकी प्रवृत्ति शरीरको चिरकालतक कायम रखने तथा उसे अमर बनानेकी चेष्टा करती है। इसीका नाम अभिनिवेश है। अमरे आत्माको अमरता शरीरमें आरोपित कर ली जाती है। यद्यपि वह पाञ्चभौतिक शरीर नह हो जाता है किन्तु जीव यह सोचता है कि मैं सदैव बना रहूँगा। प्राणियोंके अन्दर यह जो आत्मरक्षणकी प्रवृत्ति है वह अविनाशी वह्य अर्थात् परमेश्वरकी सत्ताको प्रमाणित करती है।

३५—आवागमनका सिद्धान्त अटल है। महात्मा हेसामसीहने भी बाह्यकलमें इस विषयका विवेचन किया है। मृत्युके बाद भी जीवात्मा बना रहता है और भौतिक शरीरके क्षुट जानेपर भी संस्कारके बलसे उसे पूर्व-जन्मकी मृत्यु बनी रहती है। अतएव हमलोगोंके अन्दर यह

नैमित्तिक भावना रहती है कि भौतिक शरीरके नाश हो जानेके बाद भी हमारी सत्ता कायम रहनी है। इस सत्ता-का नाम ही व्यक्त है, यही द्वैतरीय सत्ता है।

३६—भरते समय मनुष्य प्रायः अपने मनमें यह सोचता है कि मैंने इस जीवनमें अनेक कष्ट भोगे, अनेक विपत्तियाँ झेलीं और अनेक कठिनाहयोंका सामना किया। मैंने बहुत-से सरकर्म भी किये, जिनका फल मुझे अवश्य मिलना चाहिये। क्या मैंने यह सारा परिश्रम केवल इसी जीवनके लिये किया था? नहीं, यह कभी नहीं हो सकता, मैं अमर हूँ। उस समय वह अपने लिये अमरत्वकी कल्पना करता है। साधारण विवेक-बुद्धिमें भी मनुष्य इसी निश्चयपर पहुँचता है कि आत्मा अमर है।

३७—बच्चपनमें हम सभी अपनी माँकी गोदमें लेलते हैं और कुछ बड़े होनेपर हम पाठशाला जानेके योग्य हो जाते हैं। यौवनका विकास होनेपर हम नारी-प्रेमके अभिलाषी बन जाते हैं। आगे चलकर हमारे मनुष्यत्वका पूर्ण विकास होता है और अन्तमें हम वृद्ध होकर लाठीके सहारे चलने लगते हैं। एक जीवनके अन्दर ही हम अनेक अवस्थाओंका अनुभव करते हैं। इन मिल-मिल अवस्थाओंको साक्षीस्पर्यमें देखनेवाला कोई अविकारी आत्मा अवश्य होना चाहिये। अन्यथा इस प्रकारकी मिल-मिल अवस्थाओंका अनुभव नहीं हो सकता। वह अविकारी तत्त्व आत्मा अवश्य ब्रह्म है। वही हन सारी अवस्थाओंकी प्रतीक्तिका आधार है। शौश्व, वाल्य, यौवन एवं जरा हन चारों अवस्थाओंका अनुभव एवं अनुसन्धान करनेवाला कोई अविकारी आत्मा अविच्छिन्नस्पर्यमें रहना चाहिये।

३८—रात्रिके समय अन्धकारमें हम किसी वस्तुको देखते हैं और किसी प्रकारके प्रकाशके न होनेपर भी हाथों-से टोलकर उसे पा लेते हैं। बताइये, उस समय हमें कौन-सा प्रकाश उपलब्ध है? इसका उत्तर यह है कि हम अविद्यान सैतन्य अर्थात् ब्रह्मके प्रकाशके द्वारा ही प्रेसा कर पाते हैं। ब्रह्म स्वतःप्रकाश ही नहीं, सर्वप्रकाशक भी है। वह बुद्धि, चक्षु, सूर्य, एवं अन्य सारे पदार्थोंके प्रकाश देखेवाला है।

मिश्रदेशीय सन्त मैकेरियस

(लेखक—फादर बी० एलविन महोदय)



प्यासमा मैकेरियसने मिश्रकी मरुभूमि के निर्जन पृथ्वी निर्जल प्रान्तोंमें अपने जीवनके साठ वर्ष व्यतीत किये। साठ वर्षतक लगातार वे अपने चारों ओर बाल पृथ्वी चाहानोंका निरीक्षण करते और सायंकालको प्रतिदिन रक्तवर्ण रविममालीको निर्जनताके

अधार समुद्रमें प्रवेश करते देखते रहे। यहींपर उन्होंने अपनी आस्म-विजय प्राप्त की और ईश्वरकी उपलब्धि की। उन्होंने अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की। उदाहरणतः अनेकों रोगियोंको अच्छा किया, मुर्दोंको जिलाया, शूत-प्रतींको निकाला और भविष्यवाणियाँ कीं। वे अपनी तपश्चार्यके लिये विश्वात थे। उनकी कृष्टियासे एक सुरंग किसी गुप्त गुफातक चली गयी थी। उनमें मिलनेके लिये आये हुए लोग उनका पता न पा सके, इसलिये वे बहुधा उस गुफामें चले जाया करते थे। मेरे एक मित्रने एक बार उनसे आरम-संयमके बारेमें पूछा तो उन्होंने कहा कि—‘वैटा, हिम्मत रखो।’ मैंने बीस वर्षतक लगातार कभी न तो भरपेट रोटी खायी है, न पानी पीया है और न मैं नींदभर सोया हूँ। मैं नियमितरूपसे तौल-तौलकर कुछ साता रहा हूँ, इसी प्रकार निश्चित नायका पानी पीता रहा हूँ और दीवारके सहारे बैठकर स्वल्प-सा सो लिया करता हूँ।’

सन्त मैकेरियसके साहस, धैर्य तथा ईश्वरमें विश्वासको बहलानेवाली अनेक घटनाएँ सुनी जाती हैं। एक बारका ज़िक्र है कि वे टोकरियोंका एक बोझा सिरपर लाडे स्केटिस (Scetis) नामक स्थानमें ऊपर पहाड़की ओर जा रहे थे। मार्गमें उन्हें हतनी थकावट प्रतीत हुई कि वे बैठकर भगवान्‌में यो धार्थना करने लगे कि ‘हे प्रभु! तुम जानते हो कि मैं अब नहीं चल सकता।’ उनका हतना कहना ही या कि वे नुरत्व ही अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँच गये।

एक दिन उन्होंने एक बालकको अपनी भातासे यह कहते हुए सुना कि ‘अगमा, एक धनी आदमी मुझसे प्रेम करता है किन्तु मैं बदलेमें उससे घृणा करता हूँ। साथ ही एक गरीब आदमी मुझसे घृणा करता है किन्तु मैं उसे प्यार करता हूँ।’ मैकेरियसको यह सुनकर आश्र्य बुझा और जब उनके शिष्योंने उसके आश्र्यका कारण पूछा तो

उन्होंने उत्तर दिया कि ‘भाई! बात विश्वकुल ढीक है; हमारे प्रभु बहुत बड़े धनी हैं और वे हमसे प्रेम भी करते हैं किन्तु इस उनकी अवहेलना करते हैं, इसके विपरीत इमारा शत्रु शैतान (Devil) अति दीन है और वह हमसे घृणा करता है, किन्तु फिर भी इस उसकी उस गन्धगीसे प्रेम करते हैं।

एक दिन एक शिष्यने मैकेरियसके पास जाकर उनसे मुकिका साधन पूछा। तपस्वीने उत्तर दिया कि ‘तुम कविलानामें जाकर वहाँ गड़े हुए मुर्दोंको गालियाँ दो।’ शिष्यने वहाँ जाकर मुर्दोंको गालियाँ देना और उन्हें परथरोंमें मारना शुरू किया, तदनन्तर वह अपने गुरुके पास लौट आया। गुरुने उससे पूछा कि ‘उन लोगोंने तुमसे कुछ कहा तो नहीं?’ वह बोला ‘नहीं, किसीने चूँतक नहीं किया।’ तब गुरुजी बोले, ‘अच्छा कल एक बार फिर जाओ और वहाँ गड़े हुए मुर्दोंकी प्रशंसा करो।’ शिष्य वहाँ गया और मुर्दोंको ईश्वर-दृष्ट एवं सन्त-महारामा कहकर उनकी प्रशंसा करने लगा। इसके बाद गुरुजीके पास लौट आया। उन्होंने फिर पूछा ‘क्या तुम्हें अबकी बार भी कोई उत्तर नहीं मिला?’ उसने कहा ‘नहीं एक शब्द भी सुनायी नहीं दिया।’ मैकेरियसने कहा—‘बस, यह (समता) ही मुकिप्राप्त करनेका उपाय है। तुम जानते हो, तुमने उनका कितना अपमान किया, किन्तु उन्होंने बदलेमें तुमको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। और तुमने उनकी प्रशंसा की तब भी उन्होंने तुमसे कुछ नहीं कहा। यदि तुम अपने उद्धारकी इच्छा करते हो तो उनकी तरह मान-अपमानकी ओरसे उदासीन बन जाओ। लोग तुम्हारा कितना ही अद्वित बयान करें, कुछ परवा न करो और न तुम उनकी ओरसे की जानेवाली सुनिश्चित ही ध्यान दो। उनकी ओरसे जीत ही मुर्दे बन जाओ। फिर तुम्हारे उद्धारमें कोई शङ्का नहीं रहेगी।’

मैकेरियसने अपने मिलनेवालोंको समय-समयपर जो उपदेश दिये थे, अथवा अपने शिष्योंके प्रश्नोंके जो उत्तर दिये थे, उनमेंसे पचास उपदेशोंका एक संग्रह उपलब्ध हुआ है, जो ‘Fifty Homilies’ के नामसे प्रसिद्ध है और जिसका साहित्यिक दृष्टिसे भी बढ़ा महात्व है। उक्त संग्रह-

में कई विषयोंका प्रतिपादन किया गया है और धर्मके अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नोंपर प्रकाश ढाला गया है। विशेष गोरे (Bishop Gore) नामक धर्मव्याजकने, जो इस विषयके अच्छे ज्ञाता हैं और इस सम्बन्धमें अपना मत देनेकी योग्यता रखते हैं, इन उपदेशोंके सम्बन्धमें यह लिखा है कि आध्यात्मिक जीवनका मार्ग दिखानेवाले हम कोटिके उपदेश ईमाइ-धर्ममें हृने-गिने ही हैं।

स्थान-संकोचके कारण हम यहाँ सन्त मैकेरियसके केवल प्रार्थना-सम्बन्धी उपदेशोंका ही वर्णन करेंगे। उनका कहना यह है कि 'प्रार्थना वही कर सकता है जिसकी आत्मा बहुत ऊँची उठी हुई हो। जीवात्मा न तो परमात्मा ही है और न वह स्वरूपसे दुष्कृत्याव अथवा अन्यकारमय है। जीवात्मा बुद्धिप्रधान, सुन्दर, महान् एवं अद्भुत है तथा हैशरकी साक्षात् प्रतिकृति है। परन्तु उसका निवास अन्धकारकी नगरीमें है अतः उसके लिये वह आवश्यक है कि वह इस नगरीको छोड़कर अपने घरकी ओर प्रस्थान करे। जब कोई मनुष्य किसी नगरीमें देहत्याग करता है तब वह न तो वहाँके लोगोंका शब्द सुनता है, न उनकी यातचीत समझता है और न वहाँके कोलाहलको ही सुनता है, क्योंकि वह संसारकी ओरमें मदाके लिये आँखें मूँद लेता है और एक ऐसे लोकको चला जाता है जहाँ न तो यहाँके किसी मनुष्यका शब्द सुनायी देता है और न इस नगरका कोलाहल ही सुन पड़ता है। इसी प्रकार जीवात्मा जब इस वासनामय नगरकी ओरमें, जिसमें उसका निवास है, मदाके लिये मूँद भोढ़ लेता है तब वह अपने अन्दर अधिकारके आलापको नहीं सुनता। तब उसे न तो निरर्थक वादविवादकी व्यति एवं कोलाहल ही सुनायी पड़ता है और न अन्धकारकी आत्माओंका शोर-गुल ही। वह एक ऐसे नगरमें पहुँच जाता है, जहाँ शान्ति एवं सौजन्यका ही साक्षात् है और जहाँ हैशरकी ज्योति जगमगाती है। वहाँ रहकर वह वहाँके शब्द सुनता है, वहाँके अधिकारोंको प्राप्त करता है, वहाँके लोगोंसे वार्तालाप एवं सम्भाषण करता है और वहाँके ऐसे आध्यात्मिक कार्य करता है जो हैशरके अनुरूप होते हैं। इस आध्यात्मिक नगरमें रहनेवाली आत्माका नैसर्गिक व्यापार प्रार्थना ही होता है। मैकेरियसके सिद्धान्तके अनुसार प्रार्थना वास्तवमें एक कियात्मक विश्राम अथवा विश्रामयुक्त किया है। जो लोग प्रयुक्त लिंग पहुँचना चाहते हैं उन्हें नीरव एवं

शास्त्रिय स्थानमें वही समाहितताके साथ प्रार्थना करनी चाहिये। हैशरकी ओरसे जब सच्चा उत्तर मिलता है तो उसका चिह्न शान्ति ही होता है। प्रार्थनाकी दूसरी शर्त चित्तकी एकाग्रता है। प्रार्थना करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह एक किसानकी तरह अपने मनुष्यी सेनको साफ़ करता रहे। उसे चाहिये कि वह अपन-मङ्गलपूर्णी आङ्गियोंका काट डाले, जिसमें उसका मन विरा दुश्मा है। क्योंकि पापके बोझमें दबी हुई आत्माकी दशा एक पहाड़ी जङ्गलकी-सी, नदीके सरकरांडोंकी-सी अथवा कंटीली आङ्गियोंके बनकी-सी हो जाती है। इनमेंपे होकर जो लोग जाना चाहते हैं, उन्हें अपने हाथोंसे बढ़ाकर परिश्रमके साथ एवं बलपूर्वक मार्गको रोकनेवाली इन आङ्गियोंको हटाना पड़ता है। आत्माको परमात्म-प्राप्तिके योग्य बनानेके लिये भी इसी प्रकारके परिश्रम एवं अध्यवसायकी आवश्यकता होती है।

हमारा आत्माको एक चतुर व्यापारीका-सा बर्ताव करना चाहिये, जो धनकी प्राप्तिके लिये केवल एक ही उपायमें काम लेकर सन्तुष्ट नहीं होता किन्तु आगे बढ़कर यह प्रयत्न करता है कि उसके मुनाफेमें उत्तरोत्तर बढ़िद्ध हो और चारों तरफसे धन आवे। एक उपायको काममें लाकर वह दूसरेका अवलम्बन लेता है, फिर तुरन्त ही तीसरेका; और साथ-ही-साथ उन सारी कियाओंमें बचता भी रहता है जिसमें उसके व्यापारमें हानि पहुँचती हो। यदि किसी काममें उसको अधिक लाभ प्रतीत होता हो तो वह थोड़े लाभके कामको छोड़कर उस अधिक लाभवालेको प्राप्तम कर देगा। इसी प्रकार हमें भी चाहिये कि इस अपनी आत्माको अनेक साधनोंमें सम्पन्न बनावें, जिसमें कि हमें सबसे बड़ा लाभ अर्थात् हैशरकी प्राप्ति हो। (ये लब्धा वापरं लाभं मन्यते नायिकं ततः) क्योंकि हैशर ही हमें सब्दी प्रार्थना सिखलाता है। जिस आत्माकी वृत्तियाँ अच्छी हो जाती हैं उसकी हैशर अवश्य महायता करता है। वह उस आत्मापर अपना प्रकाश डालता है, उसे सब्दी याचना सिखलाता है, हैशरके अनुरूप विशुद्ध आध्यात्मिक प्रार्थनाकी शक्ति प्रदान करता है और सब्दी मनकी पूजा बतलाता है। सूक्ष्म जगत्की सभी बानें अलौकिक होती हैं। आप अपने मनमें जो-जो कियाएँ करते हैं, वे सब बहुत ठीक हैं और हैशर उन्हें अङ्गीकार भी करता है, परन्तु वे सबथा विशुद्ध नहीं होती। उदाहरणके लिये आप

ईश्वरसे प्रेम करते हैं, किन्तु जैसे करना चाहिये, वैसे नहीं करते, (क्योंकि आपके मनको वैसे प्रेमके स्वरूपका पता ही नहीं है) ऐसी दशामें प्रभु स्वयं आकर आपको अविचल प्रेम—दिव्य प्रेम प्रदान कर जाते हैं। आप स्वाभाविक ही शक्ता एवं अस्तिरताको लिये हुए प्रार्थना करते हैं। ईश्वर आपको विशुद्ध प्रार्थना, सब मनकी प्रार्थना बतला जाते हैं। वास्तवमें योगयुक्त प्रार्थनाका यही लक्षण है कि उसके अन्दर यह भाव रहता है कि 'हम जो कुछ भी करते हैं अपने बलपर नहीं, किन्तु वह वस्तु हमें भगवान्से प्राप्त हुई है।' आस्मा उस समय अपने अधिकारमें नहीं रहती, उसपर परमारमाका अधिकार हो जाता है और वह उसमें अपनी हच्छाके अनुमार कर्म करवाना है।

योगयुक्त प्रार्थनाका दूसरा लक्षण यह है कि प्रार्थना करनेवालेको ईश्वर-प्रासिकी इच्छाके सामने ईश्वरके द्वारा दी हुई शक्तियाँ तुच्छ जान पड़ती हैं। जिसप्रकार किसी धनिककी लड़कीकी सगाई हो जानेपर उसे विवाहमें पूर्ण अपने भावी पतिकी ओरसे वस्तालङ्घार अथवा बहु-मूल्य पात्रोंके रूपमें अनेक उपहार प्राप्त होते हैं, परन्तु उसे तबतक सन्तोष नहीं होता जबतक उसका परिणाम ग्रहण होकर वह अपने पतिकी अधीक्षिणी नहीं बन जाती। इसी प्रकार जीवरूप कन्याकी परमात्मरूप उस दिव्य वरके साथ सगाई हो जानेपर, सम्भव है कि उसे हेष्टरीय-प्रसादके चिह्नरूप रोगियोंको रोगमुक्त करनेकी शक्ति, ज्ञान या दिव्य प्रतिभाके रूपमें परमारमा—वरकी ओरसे अनेकों उपहार मिलें, परन्तु उसका मन उनमें तनिक भी नहीं लुभता, उसे तबतक मनःतोष नहीं होता जबतक उसका ईश्वरके साथ पूर्ण योग अर्थात् अविचल एवं व्यभिचारहीन प्रेम न हो जाय। जिन भाव्यवान् पुरुषोंने इस वस्तुकी अकांक्षा की, वे विकारों एवं चिन्तामें सदा के लिये मुक्त हो गये।

इसी बातको हम एक दूसरे दृष्टान्तमें भी समझ सकते हैं। मान लीजिये, एक भूखे शिशुको यदि कोई मोतियोंकी माला तथा बहुमूल्य वस्तुओंमें मुसजिस करे तो उसे उन वस्तुओं एवं आभूपर्योंकी तनिक भी परवा नहीं होती, वल्कि वह उनसे धूणा करता है। उसे अपनी मालाके मत्तोंके अस्तिरिक्त कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगती, वह तो स्वन्यपानसे ही सुखी होता है। इसी प्रकार उस औरबो, जिसे परमारमाको प्राप्त करनेकी भूख लगी हुई

है, उसीके द्वारा दी हुई आध्यारिमिक शक्तियोंसे भी शान्ति नहीं मिलती, वह तो उन शक्तियोंके मूल खङ्गानेको पाकर ही सन्तुष्ट होता है।

जो इसप्रकार अपनी अधम वृत्तियों एवं विषय-वासनाओंका ही नहीं, किन्तु उस एवं आध्यारिमिक आकोक्षाओंका भी दमन कर लेते हैं, उनको उपहाररूपमें स्वयं प्रभु मिलते हैं जो हमारे लिये स्वर्गलोक, सभीवनकृष्ण, मुक्ताफल, किरीट, शिल्पी, कृषक, यासनाओं-को भोगनेवाले, दुःख भोगनेमें असमर्थ, मनुष्य, ईश्वर, सुरा एवं सुधा, मेषशावक, दूल्हा, योद्धा, कवच एवं सब कुछ है। *

मैकेरियसने ध्यानकी अवस्थाके सुखका कहे जगह बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने इस अवस्थाका लक्षण यह बतलाया है कि ध्यान करनेवालेके अन्दर हृदयपर अनन्तताके विधारकी गहरी छाप पढ़ जाती है, वह माझुर्यके समुद्रमें गोते लगाने लगता है तथा हेष्टरीय एवं दिव्य पदार्थोंके चिन्तनमें भग्न हो जाता है। वह आनन्दके उद्देश्ये उसी प्रकार उज्ज्वलित हो जाता है जिसप्रकार पक्षी अपने पतिके साक्षियमें आनन्दमें मिहर उठती है। उसके अन्दर ये भाव इन्हें प्रबल हो जाते हैं कि मनुष्य सारे बन्धनोंको तोड़कर प्रार्थना करता हुआ वेह-वन्यनमें छूटेकी इच्छा करने लगता है। किन्तु यह भाव स्थायी नहीं होता, उसकी तीव्रता घटती-घटती रहती है, जिसप्रकार अग्नि एक बार महसा भभक उठती है और फिर उसकी ज्वाला मन्द होते-होते बिल्कुल थीर्ण-सी हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यका सांसारिक पदार्थोंमें कोई सम्बन्ध न रह जाय और वह किसी एकान्त स्थानमें सदा समाधि-दशामें ही उन्मत्तकी भाँति पड़ा रहे।

ऐसा प्रतीत होता है कि, मैकेरियसको प्रार्थनामें अनेक विचित्र-विचित्र अनुभव हुए थे। एक बार उन्हें ऐसा भान हुआ, मानो कृसका चिह्न तजोमय रूपमें उनके सामने

* "Who is made all things to us—paradise, tree of life, pearl, crown, builder, husbandman, sufferer, incapable of suffering, man, God, wine and living water, lamb, bridegroom, warrior, armour, cholst all in all."

प्रकट हुआ और उनकी अन्तरामापर जाकर विषय क गया। दूसरी बार उन्हें एक विष्य पोशाक प्राप्त हुई जो उन्हें पहना दी गयी और यह देखकर उन्हें बढ़ा कौतुक एवं आश्रम्य हुआ। एक बार उनके अन्तरकी ज्योति भी तीरी, गम्भीर एवं अद्यक्ष ज्योतिको व्यक्त कर दिया, जिससे वह ध्यानके आनन्दमें मग्न होकर उस समयके लिये मुक्त हो गये।

एक दिन किसी शिष्यने, जो बड़ा साहसी था, गुरुजीमें ध्यान तथा उसके फलके सम्बन्धमें पछा। मैकेरियसने उसके प्रश्नका जो उत्तर दिया, उसमें इमारे हृदयोंमें मन्त्रोंकी गर्णताके प्रति प्रेमका भाव अच्छी प्रकार जागृत हो सकता है। उन्होंने कहा कि 'ध्यानमें शरीरके सारे अवयव एवं हृदय भी शान्त हो जाता है और आत्माके अन्दर आनन्दकी एक ऐसी बादः-सी आती है, जिसके कारण उसकी दशा एक भोग-भान्ते निर्दोष शिशुकी-सी हो जाती है। उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, फिर उसमें किमीकी निनदा नहीं होती; वह सबको अपनी विशुद्ध ईष्टिमें समानरूप देखता है, वह अविकल विश्वमें सञ्चुत रहता है और उसकी यह अभिलाप्ता होती है कि सब लोग प्रभुके भक्त एवं प्रेमी बन जायें।'

'जिनका अन्तःकरण शुद्ध है उसमें बदकर कोई सुखी नहीं, वे ही ईश्वरके लाड्हे लाल हैं। कभी उन्हें इतना आनन्द एवं अनिर्वचनीय प्रसन्नता होती है मानो (कंगाल-का) किसी राजप्राप्तमें आतिथ्य स्तीकार करनेका अवसर प्राप्त हो गया हो और कभी उनकी उस नववृक्षी-सी दशा हो जाती है जो अपने नवविवाहित पतिके समागमका दिव्य आनन्द लूट रही हो। कभी-कभी उनका शरीर इतना लघु एवं सूक्ष्म हो जाता है कि उनका रूप देवताओं-जैसा अपार्थित हो जाता है। उनका जीवन यथार्थमें एक

वास्तविक जीवन होता है। वह ध्यान किस कामका जो हमारे अन्दर मनुष्यताका विकास न करे और हमारी सारी मनुष्य-जातिसे एकता न कर दे। अनेक कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे ईश्वरके प्रेमी मनुष्य-जातिके लिये आठ-आठ आँसू रो रहे हैं और विपाद कर रहे हैं। मानो मनुष्य-प्रेमकी ज्वालाने उन्हें जला छाला है। कभी-कभी उनकी आत्मामें आनन्द एवं प्रेमका ऐसा ब्राह्मण होता है कि उन्हें मानो ऐसी इच्छा होती है कि बुरे-भलेका विचार न कर प्राणीमात्रको अपने गले लगा लें। उनके आनन्दका पार नहीं रहता, क्योंकि उनके लिये ईश्वरके धामका द्वार खुल जाता है। वे अनेक ड्योडियोंमेंसे होकर भीतर जाते हैं और उन्हें उन्हें आंग बढ़ते हैं त्यों-ही-त्यों उनके लिये क्रमशः भीतरी ग्रामदृशोंके ठार खुलते जाते हैं। वे ईश्वरके प्रेम-रूपी धनकों पाकर धनी हो जाते हैं और ज्यों-ज्यों उनका यह धन शृदिगत होता है, त्यों-ही-त्यों उनके सामने नये-नये रहस्योंका उद्घाटन होता है और उन्हें ईश्वरकी ओरमें वह अधिकार एवं सम्पत्ति प्राप्त होती है जिसका वाणीके द्वारा वर्णन तो वूर रहा, निर्देश भी नहीं हो सकता।'

'जब जीव मिद्दावस्थाको प्राप्त होकर विकारोंमें सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसका परमात्माके साथ मूक मिलत होता है यहाँतक कि वह परमात्मामें मिलहर उमीका रूप बन जाता है, उस समय वह केवल प्रकाशमय, द्रष्टव्य, चिन्मय, आनन्द-स्वरूप, शान्तिरूप, आहारामय, प्रेमस्वरूप, दयामय, सौजन्यसागर एवं करुणामय बन जाता है। जिसप्रकार समुद्रतलमें पड़ा हुआ पश्चर चारों तरफें जलमें व्याप रहता है उसी प्रकार सर्वतोभावेन परमात्मामें सीन हुए पुरुष साक्षात् प्रभुके सदृश बन जाते हैं।'

प्रभु-विश्वास

जगतमें आइके विसरयो है जगतपति, जगत कियो है सोई जगत भरतु है।

तेरे निशिदिन चिन्ता और ही परी है आय, उद्यम अनेक भाँति-भाँतिको करतु है॥

इत उत जायके कमाई करि लाऊँ कछु नेकु न अझानी नर धीरज भरतु है॥

सुन्दर कहत एक प्रभुके विश्वास बिनु, बादहीकूँ वृथा शठ पचिके मरतु है॥

ईश्वरके नामकी महिमा

(लेखक-पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी)

ईश्वरके नामोंकी महिमा अत्यन्त और अपार है। नाम कीर्तन और स्मरणसे पापपुण्ड नाश हो जाता है। यह आत्मुक्ति नहीं, सत्य है।

'नारायणो नाम नरो नराणं
प्रसिद्धौर्चौरः कथितः पृथिव्यम् ।
अनेकजन्ममितपापसञ्चयं
हरयशेषं सरतां सैदव ॥'

और हम कलियुगमें तो कल्पणाका कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

'हरेनाम हरेनामैव केवलम् ।
कर्मै नाम्येव नाम्येव नाम्येव गतिरन्यथा ॥'

क्योंकि—

'हरिहरिनि पापानि दुष्टचितैरपि स्मृतः ।'

हरि-नाम-कीर्तनसे वहे जड़े पापियोंके पाप सहज ही नाश हो जाते हैं। केवल यही नहीं, मक्षल और कल्प्याण भी होता है। यही हरिनामकी महिमा है।

जिन्हें ईश्वरकी मत्तामें ही सन्देह है वह नामोंकी महिमा क्यों माननेलगे? वह कहते हैं कि 'पानी-पानी कहनेमें जैमे प्यास नहीं जाती वैमे ही ईश्वरके केवल नाम रटनेमें शान्ति नहीं मिलती। जैमे पानी पीनेमें ही प्यास बुझती है वैमे ही ईश्वरकी प्राप्तिमें ही आत्मानन्द नथा शान्ति प्राप्त होती है।' ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय बिना समझे नुस्खे नाम रटना नहीं बल्कि ज्ञान उपार्जन करना है।' यह भी एक उपाय है। केवल यही है दूसरा नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं। जो ऐसा कहते हैं, वह ईश्वरके नाम और पानीको एक-माही समझते हैं। भला पानी ईश्वरके नामोंका क्या सुकावला कर सकता है? कहाँ पानी और कहाँ ईश्वरके नाम! ईश्वर स्पष्ट और पानी स्पष्ट है। दोनोंके गुणोंमें ज्येन-आत्मसानका फर्क है। पानी लौंगिक गुणात्मक और वह अलौंगिक गुणसम्पन्न है। पानीमें ज्ञिक शान्ति मिलती है और ईश्वरके नाममें वह ज्ञानित मिलती है जो कभी जाती नहीं।

'उलटा नाम उपत जा जाना। बालमाल भयं ब्रह्मसमाना ॥'

जब उलटे नामका यह प्रभाव है तब सीधे नामकी महिमा कौन कह सकता है? कहा है—

राम नाम आराविवा तुलसा वृथा न जाय ।
लरिकाहंको पैरिबो अगे होत सहाय ॥
तुलसी अपने रामको रीढ़ भजो या सीज ।
उल्टे-सीधे जामिहं खेत परं तं जीज ॥

इसलिये नामका जप या कीर्तन करना चाहिये। इससे लाभ-ही-लाभ है, हानि नहीं। जिन्हें विश्वास न हो वह भी एक बार परीक्षाकर देख लें किर जैसी इच्छा हो करें। सिर्फ दक्षिण और तक्षमें समय नष्ट करना ठीक नहीं। उच्च घोड़ी है। वह भी घड़ी-घड़ी घटती ही जाती है—

'गाफिल तुझे घड़ीशाल य देता है मनादी ।
गरदैन घड़ी उत्रकी इक और घरा दी ॥'

इसलिये—

'राम-नामकी लृट है लृट सके तो लृट ।
अन्तकाल पठेतायगा प्रान जायेंग लृट ॥'

इसके सिवा यह भी याद रखनेकी बात है—

'फिलासकीकी बहसकं अन्दर खुदा मिलता नहीं ।
डोरको मुकुला रहे हैं और सिंगा मिलता नहीं ॥'

एक बात और है। जैसे विषयका स्वाभाविक धर्म मारना, अमृतका जिलाना, अग्निका जलाना है वैमे ही हरि-नामका भी कल्प्याण करना है। जान-अनजान, हँस या रोकर चाहे जैसे अद्विमें हाथ डालनेमें जल जाना है, विष खानेमें सृष्टु और असृष्टमें अमरना हो जाती है। वैसे ही हरि-नाममें भी कल्प्याण हो जाना है। गोम्बाजी तुलसीदासजी भी कह गये हैं—

'माव कुमाद अनख आलस्टू । नाम जंप मगल दिसि इस्टू ॥
राम-नाम मुन्दर करनारा । ससयविहंग उड़ावनहारी ॥'

महापार्वी श्रजामिलके मुक्ति पानेका कारण भी नाम-महिमा ही है। मरनेके समय उसने अपने लडके 'नारायण' को पुकारा, पर आ गये मालान नारायण और हो गया उसका उदार। यही नामका अलौंकिक गुण है।

अतएव अशंकित हो हरिनाम-कीर्तन करना चाहिये और जहाँतक वे हसका प्रचार भी करना चाहिये। इसमें आपदा दूर होती है और सुख प्राप्त होता है। यह बड़ा ही कल्प्याणकारी है। इसकी महिमा अमित है—

'रामन सकहि नाम-गुन गाई ।'

फिर मेरी गिनती ही क्या है? आजकल तो इसकी विशेष आवश्यकता है, क्योंकि—

'कलियुग केवल नाम अधारा ।'

कल्प्याण और सुखका इससे बढ़कर सहज उपाय और कोई नहीं।

'राम-नाम मनिदीप धरु जाह देहरी द्वार ।'

तुलसी मीठर बाहरहूँ जो चाहसि उजिमर ॥

श्रीमद्भूष्मभाचार्य और ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीपुरुषोत्तमजी शर्मा चतुर्वेदी, साहित्याचार्य)

उपक्रम



स समय श्रीमद्भूष्मभाचार्यचरण भूतलपर आये, उस समय लोगोंकी यह स्थिति नहीं थी कि वे ईश्वरपर ही विश्वास न करते हों। उस समय भारतवर्षमें यवन-साम्राज्य था। यवन लोगोंमें अन्य विरोधी बातोंके होने हुए भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, वे ईश्वरपर दृढ़ विश्वास रखते हैं। जैन, चार्वाक आदि अनीश्वरवादी लोग उस समय पहलेमें ही प्रायः शान्त हो चुके थे, अतः श्रीमद्भूष्मभाचार्यको ईश्वर-सिद्धिपर म्वतन्त्र विचार करनेका कोई अवसर नहीं था। तथापि दार्शनीय विचार करते समय यत्र-तत्र ईश्वरके विषयमें कुछ बातें उनके ग्रन्थोंमें आ गयी हैं, आज हम 'कल्पाण' के पाठकोंके समश्वर उन्हीं विचारोंको संकलित, परिष्कृत अथवा विवृत करके रख रहे हैं।

क्या ईश्वर है ?

यह एक ऐसा विचित्र प्रश्न है कि इसका उत्तर 'हाँ' और 'नहीं' दोनों ही तरह देना बड़ा कठिन है। और यही होना भी चाहिये। यदि यह प्रश्न प्रत्यक्ष-प्रमाणामें हल कर दिया जा सकता तो सारी अनुपस्थितियाँ निवृत हो जातीं और प्रायः सभी व्यक्तियाँ हो जाते। इसी अति कठिनताके कारण साधारण दुष्कृतिके लोग ईश्वरके अनिवार्यका नियेध करके अथवा उसके विस्तृत विचार प्रकट करके अत्यन्त सरलतासे लोगोंको बहका सकते हैं। पर हन बातोंमें विचारशील लोगोंको ईश्वरके अनिवार्यपरमें विश्वास उठ नहीं सकता। इसका कारण यह है कि संसारमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जिसे अपने निजके अस्तित्व-पर विश्वास न हो—अर्थात् वह यह समझता हो कि 'मैं कुछ नहीं हूँ।' और 'मैं कुछ हूँ' इसी विश्वासके साथ अपने अन्य अपूर्णताका प्रतीति अनिवार्य है। प्रत्येक मनुष्य इस बातका अनुभव करता है कि 'मैं अपूर्ण हूँ' क्योंकि वह अपनी अशक्ति समझता है। यह अपूर्णता इस

बातकी सूचना देती है कि मैं किसी पूर्ण पदार्थका अंश हूँ जिसमें संसारकी सब शक्तियाँ हैं और जिसमें मुझे किसी अंशमें ये प्राप्त हुई हैं।

अच्छा, अब यह सोचिये कि यह 'मैं' मानी जानेवाली चीज़ क्या है ? सोचते-सोचते अन्ततः आपको इम तत्त्वपर अवश्य ही पहुँचना पड़ता है कि यह वस्तु 'स्वप्रकाशज्ञान' रूप है—अर्थात् यह 'मैं' पदार्थ वह वस्तु है जिससे सारा जगत् प्रकाशित होता है, पर यह स्वयं अपने आप प्रकाशित होता है, इसे अन्य कोई प्रकाशित नहीं करता। हम सभी सांसारिक वस्तुओंको सूर्य, अग्नि, ब्रिजली आदि पदार्थोंमें प्रकाशित होते देखते हैं। यदि ये पदार्थ प्रकाश न दे तो सारा जगत् हमारे लिये अन्धकारमय अथवा यों कहिये कि अज्ञानमय हो जाय। पर सोचतेपर आपको प्रतीत होगा कि ये सब-केसब प्रकाशक पदार्थ भी हमारी आत्मज्ञोतिमें ही प्रकाशित होते हैं। यदि हम सुर्दा हो जायें तो एक सूर्य क्या करेंगे सूर्य उदय हों तब भी हमें कियाँ वस्तुका बोध नहीं हो सकता। इसीलिये भगवतीं श्रुतिने लिखा है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारं
नेमा विद्युतो भूति कुतोऽयमार्थः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

वहाँ (आत्माके विषयमें) न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा तथा सब तारे मिलकर प्रकाशित होते हैं और न ये विजलियाँ प्रकाशित होती हैं, फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या ? उम (आत्मा) के प्रकाशित होनेपर यह सब अनुप्रकाशित होता है, यह सब उसके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है।

पहले हम कह आये हैं कि जिसे हम 'मैं' रूपमें समझे हुए हैं, उसकी अपूर्णताका बोध हमें हमेशा रहता है। हम देखते हैं कि हमें डाकटीकी कुछ बातोंका बोध होता है तो फिलासकीकी बातोंका नहीं; यदि इन दोनोंका बोध है तो अन्य किसी बातका नहीं। और जिन कुछ बातोंका बोध होता भी है तो वही अपूर्ण। इस

प्रकृतिके रहस्यको—इस सुष्ठिके तत्त्वको—पूर्णरूपसे न किसीने समझा है, न आगे कभी समझ सकता है।

इसके साथ एक यात और समझनेकी है। जितने अपूर्ण पदार्थ हैं वे किसी पूर्ण पदार्थके अंश होते हैं। यदि आप एक ग्लोबमें विजली चमकती देखते हैं तो वह अवश्यमेव उस अनन्त विजलीकी अंश है, जो सारे जगतमें व्याप्त है, ऐसा न होता तो एक ग्लोबकी विजलीके साथ दूसरे ग्लोबकी विजलीकी कुछ भी समानता न होती और जब जहाँ चाहिये वहाँ विजली प्रकट नहीं की जा सकती।

अनः आपको यह भी अवश्यमेव स्मीकार करना पड़ेगा कि इस अपर्णरूपमें दिवायी देनेवाले पूर्वोक्त ‘स्प्रकाश-ज्ञान’ की भी कोई अनन्त निधि है और वही है ईश्वर। अतएव भगवती श्रुति कहती है—‘सत्यं ज्ञानमनन्तं वृद्धं’ अर्थात् विकलमें अद्विष्ट अनन्त ज्ञानका नाम ही वृद्ध अथवा ईश्वर है और भगवद्वीतीमें जीवको ईश्वरका अंश बतलाया गया है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य यदि यह समझता है कि ‘मैं कुछ हूँ’ तो उसे अवश्य स्मीकार करना पड़ेगा कि ‘ईश्वर अवश्यमेव है’ और ऐसी दशामें ईश्वरके अभिनिवक्ता निषेध स्वयं अपने आपको धोखा देना है तथा कुछिके सरासर विश्वस्तु है।

ईश्वरका स्वरूप

अपर हम लिख आये हैं कि ‘स्वप्रकाश अनन्त ज्ञान’* का नाम ही ईश्वर है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह

* इस अनन्त ज्ञानका ईश्वरके विषयमें श्रीमद्भुषाचार्य-चरणने लिखा है—

‘येष्वप्त्रमाऽपि वेदेन न विरोधने तत्त्वविदः । …… ते कि वदन्तोत्थाह—यस्वद्विनीयं ज्ञानं द्वैनिवत्तं (न.) न तत्त्वमित्यर्थः । …… श्रुतिमृतिपुराणेण तत्त्वं नाममेव इत्याह—‘त्रयोति परमात्मेति भगवान्निति शब्दयोः’ इति ।

(भा० प्र० स्क० अ० २ श्लोक २ की सुवोधिनी)

सच्चिदानन्दरूप तु ब्रह्म व्यापकमन्ययम् ।
सर्वशक्तितन्त्रं च सर्वशु युणव॑ज्जितम् ॥
सज्जानीयविजातीयवद्वैतव॑ज्जितम् ॥
सव्याधिर्गुणमाइस्वैयुक्तमात्पर्तिकैः सदा ॥
सर्वाधारं वश्यमायमानन्दाकारमुत्सम् ॥
प्राप्तिक्षिपदार्थानां सर्वेषां तद्विलक्षणम् ॥

केवल ज्ञानरूप ही है। उसमें अन्य धर्म भी हैं। श्रीमद्भुषाचार्यने ईश्वरके स्वरूपका वर्णन इसप्रकार किया है—

‘अहम् ‘सत्’ अर्थात् सर्वं विद्यमान है, सारे जगतका नाश हो जानेपर भी वह हमेशा मौजूद रहता है। वह ज्ञानरूप है। वह आनन्दरूप है अर्थात् ईश्वरके तिरोभावका नाम ही दुःख है और ईश्वर मदा सुखरूप है। इमें जो कुछ सुख प्राप्त होता है वह उसीके एक अंशरूपमें। वह व्यापक है—कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो। वह अव्यय है—उसमें कभी कोई कमी नहीं होती। उसमें सब शक्तियाँ हैं।

वह स्वतन्त्र है अर्थात् उसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति निरविघिन हैं—अनन्त हैं। वह सब कुछ जानता है, उसमें कोई बात छिपी नहीं है। वह प्रहृतिके गुणोंमें रहित है।

संसारमें तीन प्रकारके भेद हैं। यहला—जैसे एक पेड़का दूसरे पेड़से, यह सजातीय भेद कहलाता है; दूसरा—जैसे पेड़का पश्चरसे, यह विजातीय भेद कहलाता है; तीसरा—जैसे पेड़का फल-फूल आदिसे (वे पेड़के एक अंश-रूप होनेपर भी पेड़ नहीं कहला सकते), यह स्वगत-भेद कहलाता है। ईश्वर इन तीनों भेदोंमें रहित है, अर्थात् वह जगतमें किसी प्रकार भिन्न नहीं। वह सत्य, शैव आदि सहस्रों गुणोंमें सदा युक्त है वह सबका आधार है। माया उसके वशमें है। अनन्द उसका आकार है। वह मन्त्रमें उसमें है, उसमें ऊपर और कुछ नहीं। वह (जगदरूप होने हुए भी) जगतके सब पदार्थोंमें विलक्षण है। वह जगतका उपादान-कारण है (अर्थात् जगत् उस ईश्वररूप पदार्थसे ही बना हुआ है) और वही निमित्त-कारण (बनाने

जगत्: समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकम् ।

कर्ताचिद्दरमन्ते स्वस्मिन् प्रवद्वेदिपि कर्त्त्वस्यवम् ॥

… … यः सर्ववैव सन्तिष्ठवन्तः: सम्पृश्यत तत् ।

शरीर त न वेदेदं योऽनुविश्य प्रकाशने ॥

सर्वादानवसर नानावादानुरोधि तत् ।

अनन्तमूर्ति तद्वा कृत्य चलमेव च ॥

विरद्धसर्वेषांमाश्रये (यो ?) युक्त्यगोचरम् (र.?)

आविर्भावितो भवित्वेऽहं वद्वरूपतः ॥

(नस्यार्थीर्पितनन्ध, शास्त्राधिपकरण

स्तो ६५-७२)

१—निरवधिजानकियाशक्तियुक्तः स्वतन्त्रो भवति ।

प्रकाश (तत्त्वदीपकी स्वकृत व्याख्या)

वाला) है। वह कभी अपनी आत्मामें रमण करता है (तब प्रलय होता है) और कभी आनन्दपूर्वक जगतमें रमण करता है (तब सृष्टि होती है।)

.....वह सभी जगह पूर्णतया रहता है, पर जिसमें रहता है उसे स्वर्ण नहीं करता। उसका शरीर (जगत्के पश्चार्थ) उसे नहीं जान पाता। इस तरह जो अनुप्रविष्ट होकर प्रकाशित हो रहा है, उसमें किसी वाद (मत-मतान्तर) को अवसर नहीं और वह अनेक वादोंका अनुमरण करनेवाला है अर्थात् वास्तवमें कोई वाद ऐसा नहीं जो ईश्वरके स्वरूपको समझा सके और वैसे कोई भी वाद ऐसा नहीं कि जिसकी वात ईश्वरमें घटित न होती हो। उसकी अनन्त मूर्तियाँ हैं। वह पहाड़की तरह स्थिर है और साध ही चल भी है। सारांश यह कि वह सभी विरोधी धर्मोंका आश्रय है। जगत्के जिसने परस्पर-विरोधी धर्म हैं वे सब उसमें विद्यमान हैं, उनमेंमें युक्तिहारा एकका निवारण नहीं किया जा सकता। जैसे कोई कहे कि पृथ्वीमें साँप रहते हैं तो नूहे नहीं रह सकते—यह बात मान्य नहीं, उसी तरह ईश्वरमें असुक धर्म हैं और असुक नहीं, यह कथन भी मान्य नहीं हो सकता।

वह आविर्भाव और तिरोभावके द्वारा बहुतेरे रूप धारण करनेके कारण सबको मोहित करता रहता है अर्थात् ईश्वर जगत्के उन्हीं पदार्थोंमें कुछ धर्मोंको अविभूत करके और कुछ धर्मोंको तिरोभूत करके अनेक रूप धारण करता रहता है और इस तरह लोग चक्रमें पड़ जाते हैं।

यह है श्रीमद्भूभाषार्थने जो भगवत्स्वरूपके विषयमें चारों लिखो हैं उनका संक्षेप।

ईश्वर यदि है तो दिखायी क्यों नहीं देता?

अब यह प्रभ उपस्थित होता है कि यदि ईश्वर है और उसका उपर्युक्त प्रकारका स्वरूप भी है तो वह दिखायी क्यों नहीं देता? इसके विषयमें श्रीमद्भूभाषार्थचरणने श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्धके आठवें अध्यायके १७-१६ श्लोकोंकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

ईश्वर प्रथक्षसे तो दिखायी देता ही नहीं, पर कार्य (जगत्) के द्वारा भी दिखायी नहीं देता अर्थात् जगत्स्वरूपसे दिखायी देनेपर भी ईश्वरस्वरूपसे उसके दर्शन नहीं हो सकते; क्योंकि वह कार्यक्षसे रहता है

वहाँ कारणरूपसे नहीं और जहाँ कारणरूपमें रहता है वहाँ कार्यरूपसे नहीं—दोनों रूप एक साथ कहीं भी दिखायी नहीं दे सकते। अतः ईमण्डोग कार्यरूप जगत्को ही देख सकते हैं, कारणरूपमें वर्तमान ईश्वरको नहीं देख सकते।

ऐसी दशामें शंका की जा सकती है कि—‘महाश्रय ! तब आप सीधे शब्दोंमें यही क्यों नहीं कह देते कि—ईश्वर वस्तुतः ही दुर्जय है, उसका जानना अत्यन्त कठिन अथवा असम्भव है, न कि किसी साधनके अभावके कारण !’ सारांश यह कि उसे जाना जा सकता है अथवा नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। वेद स्वयं भी यही कहता है ‘जो उसे मानना रखता है और जिसने मान रखता है वह उसे नहीं जानता। वह एक ऐसी वस्तु है कि उसे विशेषरूपमें जाननेवाले बिल्कुल नहीं जानते और बिल्कुल न जाननेवाले अच्छी तरह जानते हैं।’ वेदमें यह भी लिखा है ‘कौन इस तरह जानता है कि वह कहाँ है अर्थात् उसका किसीको पता नहीं !’ अतः साफ-साफ यही कह दीजिये कि ईश्वर अज्ञय ही है और उसके ज्ञानकी प्रार्थना अवश्य है।

इसके उत्तरमें कहा जाता है कि वह प्राणिमात्रके बाहर-भीतर (सब जगह) स्थित है, अनेक उसका ज्ञान भी सुलभ है। सब वस्तुओंमें वस्तुस्वरूप वही है—उसीके अन्तिमसे ये सब वस्तु वस्तुपूर्ण विद्यमान हैं। पर उसका समझानेवाला दुर्लभ है। तब आप कहेंगे कि उसे अज्ञय क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि उसे विश्वदर्थी समझानेके लिये—अर्थात् वह दुर्जय भी है और सुजेय भी—यह समझानेके लिये ऐसा कहा जाता है। उपर्युक्त श्रुतिका यही तात्पर्य है। अतः यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है अतएव उसका ज्ञान सुलभ है।

इसपर यह प्रभ होता है कि, यह ईश्वर बाहर-भीतर सब जगह विद्यमान है, तब सबको ईश्वरका प्रस्त्रक्ष बोध क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि उसके ऊपर मायाका परदा आ रहा है। इसका अर्थ यह है कि सब वस्तुओंमें वस्तुस्वरूप होनेपर भी मायाके द्वारा अन्यथा प्रतीति होनेके कारण ईश्वरका प्रस्त्रक्ष बोध नहीं होता।

अर्थात् हमें सब चीजें दिखायी देनेपर भी वे क्षो-पुत्र, शत्रु-मित्र-उदासीन, हानिप्रद-लाभप्रद अथवा निरर्थक आदि रूपोंमें दिखायी देती हैं—वास्तविक स्वरूपमें नहीं। क्योंकि मायाने उन सब वस्तुओंपर अहंता-ममताका जाल बिछा रखता है। अतः हमें भ्रम हो रहा है और हमारी दड़ा ‘पश्यत्तमि न पश्यति’ की-सी हो रही है—हम देखत-भूलके चक्रमें आ रहे हैं।

आप कहेंगे—भाई, भ्रमकी वात ठीक हो सकती है; पर सबको सब जगह भ्रम नहीं होता, किन्तु किसीको किसी विषयमें हो सकता है। ‘माया दुनियाको भ्रम हो रहा है’ यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि भ्रम इन्द्रियके माथ दोष रहनेसे होता है, इन्द्रियमें दोष न होनेपर भ्रम कभी नहीं हो सकता। अतः जब हमारी इन्द्रियोंमें किसी तरहका दोष न हो तब, जैसे घट आदिका भ्रमरहित बोध होता है, वैसे ईश्वरका भी शुद्ध बोध हो सकता है। तो हृषका उत्तर यह है कि ईश्वर अधोश्रज है। अर्थात् इन्द्रियों-में उत्पन्न ज्ञानमें ईश्वर नहीं समा सकता—इन्द्रियोंके ज्ञान-का सामर्थ्य नहीं कि वह वहाँतक पहुँच सके। अनएव श्रुतिमें लिखा है कि—‘इन्द्रियोंको ईश्वरने वाहरकी सरफ जानेवाली बनाया है, इसीमें (मनुष्य) बाहरकी तरफ देखता है, आऽमाके अन्दर नहीं।’ अतः ईश्वरके वस्तुरूप होनेपर भी और सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी उसका इन्द्रियोंमें प्रश्यत्त बोध नहीं होता। (सुदोधिनी प्र० स्क० ४० न क्षो १३-१६ देखिये)

ईश्वर और जगत्का सम्बन्ध

शुद्धादैत-मिदान्त (अर्थात् श्रीमद्भागवत्के मत) में ईश्वर और जगत्का तादात्म्य-सम्बन्ध है। ईश्वरमें जगत् अभिन्न पदार्थ है। ‘तत्वार्थदीप’ (निवन्ध) में लिखा है—

* यह जगत् न प्रकृतिमें बना हुआ है, न परमाणुओंमें, न भ्रमरूप है, न अदृष्ट (प्रारब्ध) आदिके द्वारा उत्पन्न और न असतकी सत्ता ही है—अर्थात् पहले कुछ नहीं था और अब दिखायी दे रहा है, किन्तु भगवान् अर्थात् जिसमें

* अयं प्रपत्तो न प्राकृतः, नांप परमाणुत्तमः, नापि विवर्तात्मा, नाप्यदृष्टिद्वारा जातः, नाप्यमतः, मत्तास्पः, किन्तु भगवत्कार्यः—परमकाण्डप्रबस्तुकृतिसाध्यः। तदृशोऽपि भगवद्वृपः, अन्यथा असतः सत्ता स्वाद्। ***** माया हि भगवतः

उपर कोई वस्तु नहीं उस वस्तुके प्रयत्नसे बना हुआ है और त केवल उसके प्रयत्नसे बना हुआ ही है, किन्तु भगवदरूप है। क्योंकि एक ईश्वर ही सत् पदार्थ है, यदि जगत्को उससे भिन्न माना जाय तो ‘असत्’ की सत्ता ही जाय अर्थात् जो वस्तु कभी नहीं थी उसका अस्तित्व ही जायगा, जो कि सर्वथा विरुद्ध है।

यह जगत् मायाद्वारा उत्पन्न होता है अर्थात् माया हृसकी उत्पत्तिका साधन है। यह माया भगवान्की एक शक्ति है। भगवान्में जो सर्वरूप बन जानेकी शक्ति है उसे ही माया कहते हैं, जैसे कि पुरुषमें काम करनेकी शक्ति।

सारांश यह कि, ईश्वरकी उम नाकतका नाम जिसके द्वारा वह सब तत्त्वके रूप धारण कर सकता है ‘माया’ है। उसके द्वारा ही वह सर्वरूप बना हुआ है। जगत्में उसमें भिन्न कोई वस्तु नहीं। यह माया भी ईश्वरमें अतिरिक्त पदार्थ नहीं, किन्तु ईश्वररूप ही है; क्योंकि शक्ति शक्तिमानमें भिन्न नहीं हुआ करनी।

अतः यह मिद॑ हुआ कि भगवानने अन्य किसीका आश्रय न लेते हुए अपनी शक्तिमें अपने आमारूप इस जगत्को बनाया है।

आपका मिदान्त है कि—

आत्मैव तद्विदं सर्वं ब्रह्मेव तदिदं तथा।

इति श्रुत्यधंमाद्यम् साध्यं सर्वैर्यथामति ॥

अप्यस्व ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाद्य कल्पतम् ।

(तत्त्वदीप, नवनिधियप्रकरण, कार्यिका १८४)

‘यह सब आमा ही है’ ‘यह सब ब्रह्म ही है’ इस श्रुतिके अर्थको लेकर सबको अपनी दुष्कृतिके अनुमार शिद॑ करना चाहिये। यही व्रह्मवाद है, शेष सब लोगोंको चक्रमें ढालनेके लिये कल्पना की गयी है।

यह मिदान्त होनेपर भी जगत्में तीन प्रकारके अधिकारी हैं। उसमें अधिकारी जगत्को भगवान् समझने हैं; सब्यम अधिकारी जगत्की उत्पत्ति मानते हैं और कार्य-कारणमें तादात्म्य-सम्बन्ध होनेके कारण जगत्को भगवान्के समान मानते हैं। मूर्ख अधिकारी शक्ति: सर्वस्वनसामर्थ्यरूपा तत्रव श्यामः; यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम्। तेन स्वामर्थ्येनान्यानुपजीवनेन स्वामरूपं प्रपञ्च कृतवानिति फलितम्।

(तत्त्वदीपनिवन्ध, शा० प्र० २७ वीं कारिकाका प्रकाश

भगवान्‌को प्रब्रह्मकर्ता मानते हैं और भगवन्‌को नाश होनेवाली वस्तु; अतः भगवान्‌के सर्वदा विद्यमान् रहनेके कारण और जगत्‌के नाशवान् होनेके कारण भगवान्‌को जगत्‌से भिजा मानते हैं।'

(श्रीमद्भागवत् १०-५-२० की सुवोधिनी)

ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय

श्रीमद्भूमाचार्यने—

वैराग्यशानयोगेष्ठ प्रेमण च तपसा तथा ।

एकनाथि दृढेशं भजन् तिद्विमवाप्नुयात् ॥

(निबन्ध, शा० प्र० ९.६)

—की व्याख्या करते हुए लिखा है—‘पाँच अंगोमे युक्त उपर भगवान्‌की भक्ति करे। उनमेंमे पहला अंग है वैराग्य, क्योंकि वैराग्य न होनेमे भगवान्‌का आवेश नहीं होता। अतः भजन सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरा अंग है ज्ञान, जिसका अर्थ है सब पदार्थोंका और भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप समझना; इसके अभावमें निश्चय न होनेमे प्रछृति नहीं हो सकती। तीसरा अंग है योग-अर्थात् चित्तका एकाग्र करना, क्योंकि मनके चञ्चल रहनेपर भक्ति नहीं हो सकती। चाँथा अंग प्रेम है, प्रेम न होनेमे भक्ति स्वतः फलरूप नहीं हो सकती, क्योंकि विना प्रेमके भक्तिमें रस नहीं आता। पाँचवाँ अंग है तप, तप न होनेपर देहादि कष्ट रहते हैं, ऐसे देहादिसे भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। तपसे देह-इन्द्रिय आदि परिपक्व हो जाते हैं।

होने तो ये पाँचों ही चाहिये, पर पाँचोंका समुदाय दुर्लभ है, अतः पाँचोंमेंमे एकको भी हड़करके यदि ईश्वरका भजन करे तो मनुष्य अवश्य सिद्धिको प्राप्त होता है।

इसके बाद आपने लिखा है—

पञ्च सर्व ततः सर्व स इति ज्ञानयोगतः ।

यः सेवते हरि प्रेमणा श्रवणादिभिरुत्तमः ॥

प्रेमाभावे मध्यमः स्याज्ञानाभावे तथादिमः ।

ठम्भोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो भवेत् ॥

इन श्लोकोंकी व्याख्या ‘आवरण-भेंग’ का आशय लेते हुए यों है— वेदोंके अनुसार ईश्वरका ज्ञान दो प्रकारका है—‘सब कुछ ईश्वरसे है’ यह गौण ज्ञान और ‘ईश्वर ही सब कुछ है’ यह मुख्य ज्ञान; इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंसे युक्त होकर प्रेमके साथ श्रवण-कीर्तन आदि प्रकारसे जो भक्ति करता है वह भक्तिमार्गमें उत्तम भक्त कहकरता है। जिनसे वेदार्थका ज्ञान नहीं है, पर प्रेमने भक्ति करता है वह मध्यम भक्त है, अथवा प्रेमरहित ज्ञान हो तो वह भी मध्यम भक्त है। यहाँ हतना और समझ लेना है कि ज्ञानके अभावमें यदि प्रेम उत्कट हो तो मध्यम भक्त होता है, अन्यथा हीन कोटिका। और प्रेम तथा ज्ञान दोनोंमें रहित होकर जो भगवस्येवा करता है तो उसमें पापका नाश होता है। सारांश यह कि प्रेम-ज्ञान-रहित भगवस्येवक भक्त नहीं, किन्तु भर्मात्मा होता है।

उपसंहार

इस तरह संक्षेपमें श्रीमद्भूमाचार्यका ईश्वर-विषयक मिद्वान्त दिखाया गया है। पर वास्तविक मिद्वान्त तो उनका यह है कि—

अलैकिं तत्रेष्यं न युक्ता प्रतिपदाते ।

तपसा वेदयुक्ता वा प्रसादात् परमात्मनः ॥

अर्थात् ईश्वर एक ऐसा प्रमेय है जो युक्तिमें नहीं समझा जा सकता। उसके बोधके केवल तीन साधन हैं—एक तप, दूसरा वेदानुमारिणी (न कि केवल) युक्ति-अर्थात् वेदवाक्योंका स्वतं और तीसरा तथा सबसे मुख्य उपाय है परमात्मा—आत्माके भी आत्मरूप उस प्रभुकी कृपा।

इन सब ब्राह्मोंका विमार श्रीमद्भूमाचार्यके निबन्ध, सुवोधिनी, अणुभाव्य आदि ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है। आशा है, कृपालु पाठक अभी इसनेसे अपना सन्तोष कर लेंगे।

श्रीकृष्णार्णगमन्तु ।

विनती

यह दरियाकी बोनती तुम सेतो महराज। तुम भृंगी मैं कीट हूँ मेरी तुमको लाज ॥

—दरिया साहिब मारवाइवाले

लीला-लावण्य

(केषम्—पुरोहित श्रीग्रनायनारायणजी 'कविराज')

(१)

ईश्वर ! कैसे कहे तुम्हारा मैं बर-बर्जन ?
बर्जनीय तुम नहीं और मैं साधारण जन।
किर भी ऐसा जान, तुम्हीं मुझमें रहते हो।
करते-रहते तुम्हीं, तुम्हीं सुनते-कहते हो।
किलता हूँ दो शब्द मैं, क्योंकि भाव तुम भर रहे।
मैं तो कुछ करता नहीं, तुम्हीं सभी कुछ कर रहे॥

(२)

कै करके अवतार और बन प्रतिदिन-जन्मा।
रहते हो तुम विमो ! किस तरह सदा अजन्मा ?
मुझे तुम्हारा रूप नहीं दिखाई देता—
तो भी दर्शन नित्य तुम्हारा मैं कर लेता।
रोम-रोममें रम रहे, तो भी तुम्हें न जानता।
नहीं प्रभो ! पहचानता, अमृत तुम्हें बकानता॥

(३)

ईश्वर कुछ भी नहीं, सभी कुछ यह माया है।
जड़ तञ्चोंसे बनी स्वयं सबकी काया है।
ऐसा कहते आज मूढतम बो मानत हैं—
मतिन-बुद्धि हैं, मोहग्रस्त हैं, वे दानव हैं।
सर्वांचिपि ! सर्वत्र ही, रहते हो तुम सर्वदा।
कैक रही संसारमें, सुखद तुम्हारी सम्पदा॥

(४)

माया क्या है, ईश ! तुम्हारी वह लाया है।
तुम उसके हो नाय, तुम्हारी वह जाया है।
स्वामी हो तुम और तुम्हारी वह दासी है।
विश्वनाथ तुम और तुम्हारी वह काशी है।
कारण हो तुम और वह कार्य-रूप बन मोहती।
सूक्ष्मकृप तुम और वह स्थूल-रूप बन सोहती॥

(५)

हो तुम गन्ध अमन्द और वह पृथ्वी ठज्जवल ।
हो तुम रस-माप्तार और है वह निर्मल-जल ।
हो तुम रूप अनूप और वह ज्योति मनोरम ।
हो तुम सुन्दर-सप्तरी और वह सप्तरीन अनुपम ।
तुम सुखदायक शब्द हो, स्वरूप-नील-आकाश वह ।
इय जोड़ रहती रही, सदा तुम्हारे पास वह॥

(६)

माया कहते उसे, ब्रह्म तुम कहतोंते हो।
वह हो जाती प्रकृति, पुरुष-पद तुम पाते हो।
शहूर हो तुम और दिव्य वह शक्ति तुम्हारी।
सीता है वह और राम तुम हो असुरारी।
राघा है वह कृष्ण तुम, जीवन तुम वह देह है।
तुम उसके आधार हो, विश्वरूप वह गेह है॥

(७)

रहते हैं सब बीव तुम्हारे होकर वशके।
महा-मधुरतम-सिन्धु तुम्हीं हो अद्वृत-रसके।
लेकर जग-लावण्य हो रहे तुम कुरुप हो।
धरते रूप अनेक, विश्वमें तुम अनूप हो।
हरे ! त्रिलोकीनाथ ! तुम निज-भक्तोंके दास हो।
रहकर उससे दूर भी तुम प्रेमीक पास हो॥

(८)

तुम्हें आहता नहीं क्योंकि तुम घट-घट-बासी।
किन्तु तुम्हारी एक कृपाका मैं अभिलाषी।
दे दो उसको प्रसो ! उसीका मैं इच्छुक हूँ—
और नहीं मगवान् ! तुम्हारा मैं भिलुक हूँ।
दान दायको दो अमी, कृष्ण-पात्र मुक्षको करो।
सम्य-मात्र मुक्षमें भरो, पाप-ताप भेरे हरो॥

सर्वत्रष्टा

(लेखक—ब्राह्मालक्षणजी बहुद्वा १० ८०)

अपने चारों ओर इष्टिनिशेप करनेपर मुझमें एक भावना जागृत होती है। वह है—इस विस्तृत विश्व एक महान् झाँकीके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

प्रातःकाल स्निध-उच्च-लालितान्वित लाल-पीले-तीले-हरे फूलोंको नव्यश्री-प्लावित देखता हूँ, औस-विन्दुओंको हरीतिमा-रजिपर मोतियों-सा जगमगाते पाता हूँ, मन्द-मन्द भल्य-समीरणका भृदुल न्पर्ण भनुभव करता हूँ, हठला-हठलाकर किलोल करती लहरियोंकी भृदुल रागिनी सुनता हूँ और कह उठता हूँ—कितना सौन्दर्य ! कितना लावण्य !

मध्याह्नमें व्यस्त पुरयोंके कार्य-कलाप देखता हूँ। कोई द्रुतगति भागा जा रहा है, तो कोई अपनी बम्भुकी प्रशंसा करते-करते नहीं अधिता; कोई पल-पलपर लालोंका बारा-न्याया कर रहा है, तो कोई उशर-पूर्ति के लिये पसीना बहानेमें लगा है और मैं कह उठता हूँ—कितनी शक्ति ! कितनी विभूति !

सन्ध्याको मुनता हूँ किसीकी प्रशंसा, किसीकी निन्दा।

कोई शिक्षा और दुःखोंकी कहानी कह रहा है, तो कोई हास्य और व्यंग्यसे चतुर्विंगुँजा रहा है; किसीका मुखदा डदास है, गति शिथिल है, तो किसीपर कान्ति दमदमा रही है, मस्ती और मादकता बरस रही है और मैं उलझते करण भावमें सोचता हूँ—कितना वैयक्य ! कितना विरोध !

जब कभी रात्रिको आँखें खुल पड़ती हैं, तो देखता हूँ—नील गगनमें चन्द्रमा तारिकाओंसे कीड़ा कर रहा है; मीठी-मीठी शीत उमड़ रही है; समस्त विश्व निद्राकी शान्ति, निश्चिन्ति, सुखद गोदमें पड़ा है और मनमें भाव उठता है—कितनी शान्ति ! कितना सुख !

सोचता हूँ—यह सुन्दर लावण्य, सशक्त विभूति, विषम विरोध और शान्ति सुख किसकी सृष्टि है ? मानव-महरवका यह निर्माण नहीं। क्षणभंगुरताका यह परिवर्त्य नहीं। यह अमर है, अपरिवर्तनीय है।

ऐसे ही समय मेरी नाम्स्तकता आस्तिक बन जाती है। मुझे विश्वास हो जाता है कि मनुष्य जिसका निर्माण किया हुआ सजीव दुतका है, उस मानव-हृतर शक्तिका आस्तिक अग्राह्य नहीं।

कल्याणका मार्ग

(लेखक—जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी श्रीशीतलप्रसादजी)

मानव-जातिका कर्तव्य है कि अपने कल्याणके मार्ग-को द्वांडे और अपने जीवनको सफल बनावे।

वास्तवमें एक अन्तरंग लोक है, दूसरा बहिरंग लोक है। जहाँ जड़-चेतनका मिश्रण है और केवलमात्र जड़-ही-जड़ है, वह सब बहिरंग लोक है। इसके भोगमें पदा हुआ यह मानव विषयान्वय होकर, नाना प्रकार पापकर्म बांधकर भव-भवमें भटका करता है। जो अन्तरंग लोकको पहचानता है, वही कल्याणके मार्गको पा लेता है। अन्तरंग लोक एक केवल आरमाराम है जो पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण शान्तिमय, पूर्ण आनन्दमय, अमूर्तिक, खिदाकार है, वही परमेश्वर्यमय परमेश्वर है, वही सर्व ज्ञेयोंमें ज्ञानद्वारा व्यापक होनेसे विद्यु है, वही परब्रह्मस्वरूप है, वही आनन्दका विधाता है, इससे ब्रह्म है; वही कर्म-बन-संहारक है, इससे रुद्र है; वही कामादि शत्रुओंसे अपराजित है, इससे महाबीर

है; वही सर्वश, सर्वदर्शी है, इससे बुद्ध है; वही परम मंगलका कर्ता है, इससे शिव है; वही सर्व पदार्थोंमें महाद है—स्वपरप्रकाशक है, इससे ब्रह्म है और वही सर्व पुरुषोंमें उत्तम है, इससे पुरुषोत्तम है—वह आत्माराम ही परमारम्भ है। वह ज्ञानानन्दका भहान् अद्भुत गम्भीर सागर है। इन्द्रियजनित, लशिक, अनुसिकारी आकुलतामय सांसारिक विषय-सुखसे विलहण अतीनिद्रिय, शाश्वत, परम तुषिकारी और निराकुल आरिमक सुखका वही एक सुखसागर है। जो मानव बहिरंग लोकके मलिन जलसे कल्पेत करना छोड़ अन्तरंग लोकके क्षीर-जलवत् परम निर्मल जलमें क्षीरा करता है—उसीके रसका पान करता है, वही कल्याणका मार्ग पाता है। अन्तरंग लोकमें श्रद्धार्थक रमण करना ही मोह-मार्ग है, सर्व पाप-मलको छुकानेबाजा है, संसारी आरमाको हीप्र शुद्ध बनानेवाका है, वही धर्म है। जो इसके

धारे वह धर्मात्मा है। वही धर्मीता भगवान् परमात्माका अन्तरंग इष्टसे दर्शन करता है, परम सुख-शान्तिका लाभ करता है, वीतरागताकी बुद्धि पाकर रागद्रेषादिको मिटाता है। आत्मिक अनन्त बलको धमकाता है। कहा है—

‘निज घटमें परमात्मा, चिन्मूरति भइया।
ताहि विलोके सुदृढिधर पष्ठित परस्यैया।’

जो इन्द्रिय-रसोंके स्वादोंमें मुख मोड़ आत्मिक रसका स्वाद लेता है, वही ईश्वरकी सभी भक्ति करता है—वही सभी आत्मानुभूतिरुपी राधाका आराधक, पक्ष उपासक है। जो आत्मिक गङ्गामें चान करता है, वही पवित्र हो जाता है। बालक-बृद्ध-युवाओं, स्त्री तथा पुरुषोंको, क्षत्रिय-आष्ट्रण-चैत्य तथा शूद्रोंको, शासक व प्रजाको, व्यापारी व मजुरको, सेठ व मेवको, ऊँच व नीचको निरन्तर प्रातःकाल और सायंकाल कम-मे-कम पाँच भिन्नतके लिये तो आत्मिक विश्रान्ति-भूमें जाकर विश्राम करना ही चाहिये। सर्व बाहिरंग लोकसे बेखबर हो जाना चाहिये। वही सभी पूजा है, इस पूजाके करनेमें हर कोई स्वतन्त्र है, कोई किसीको रोक नहीं सकता। यहाँ अछुत तथा शूतका विकल्प नहीं है। आत्मिक भन्दिसें परमात्मादेव विराजित है, उसके अवश्यका स्पर्श हर कोई प्रेमी आत्मा कर सकता है। जो इस नियत-कर्तव्यको पालता है वही मानवीय कृत्याण इन्हनान करता है। सर्व विष्णु-लताति, पश्च-पश्ची आदि मानवादि प्राणियोंसे भरपूर है। हरएक प्राणीके भीतर अन्तरंग लोक समान है। सबको समान निरखकर हृष्व और दीर्घका भाव हृष्टाकर जो विचार करता है, वह परम साम्यभावका आश्रय करता है। उसे समसादेवीका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है, वह विश्वप्रेमका हार गलेमें पहन लेता है। सर्व विष्णुके जड़-चेतन-मिश्रणरूप प्राणीका भी अवलोकन किया जाय तो सबमें समानता है। सब ही जीवित और सुखी होना चाहते हैं। यही विचार अहिंसा-बलको जागृत कर देता है, इसमें दयाका भाव मनमें उमड़ आता है। यही भाव स्वरक्षा-पररक्षामें प्रवर्तन कराता है। यही भाव साधुओं परम अहिंसक और गृहस्थको यथासम्बद्ध अहिंसक बना देता है। जो संकल्पी हिंसासे बचाता है, आरम्भीमें यथाशक्ति यज्ञमें बरताता है, निर्यतक हिंसा महीं होने देता है। जो भाव तन-मन-बन सब दूसरोंकी सेवार्थ अर्पण कर

देनेकी प्रेरणा करता है, वह मानव-जीवनको कृत्याण-कारी बनानेवाला यही अहिंसक भाव है। कुछ कल्याणकारी वाक्योंका लाभ पाठकगण लें।

विरम किमपरेणाकार्यकालाहलेन

स्वयमपि निभृतः सन् पश्य पण्मासमेकम् ।

हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्विज्ञघास्त्रे

ननु किमनु प्रलिप्तिभावाति किंचोपलिप्तिः ॥

भावार्थ—ऐ भाई ! विरक्त हो, वृथा कोलाहलमें क्या ? स्वयं ही निश्चल होकर लगातार छः मासतक उस एकको अनुभव कर तो क्या तेरे हृदय-सरोवरमें पुद्गल जड़में भिज परम तेजस्वी आत्माका लाभ न होगा ? अवश्य होगा ।

निजमहिमरतनां भैदविज्ञानशक्तया

भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भम् ।

प्रचलितमसिलान्यद्रव्यद्वारं स्थितानां

भवति साति च तस्मिन्वाक्षयः कर्ममोऽङ्गः ॥

भावार्थ—जो भेद-विज्ञानकी शक्तिमें अपने आत्माकी महिमामें रत हो जाने हैं, उनको नियतरूपमें शुद्ध आत्मबलका लाभ होता है। ऐसा होते हुए ही उन परद्रव्योंमें दूर रहनेवालोंको परम निश्चल अविनाशी मोक्षका लाभ हो जाता है।

मुहूर्तविधि श्रीमुभगवत्मनशुने

द्विष्ट त्वयि प्रत्ययवत् प्रसीयते ।

भवानुदासीनतमस्तमेऽरपि

प्रयो यं चित्रपिद्र तदेहितम् ॥

भावार्थ—जो आपसे मित्रता करता है, वह परम-लाभको पाता है, जो आपसे ह्रेष्ट करता है वह प्रत्ययके समान लोप हो जाता है। आप तो हे प्रभु ! दोनोंपर उत्तासीन हैं तो भी आपकी चेष्टा वही आश्रयमय है।

सुखामिलामानलदाहमुर्जितं

मनो निजं ज्ञानमग्रामृताभ्युभिः ।

विदिव्यपस्तं विषदाहमेहितं

यथा भिषमत्रगुणैः स्वविग्रहम् ॥

भावार्थ—सांसारिक सुखकी हृष्णारुपी अग्निके द्वाहसे जलते हुए मनको अपने आत्मज्ञानमय अमृतके जलमें उसी तरह बुझा ढाल जिस तरह वैद्य विषके दाहसे मूर्खित शरीरको मन्त्रोंके द्वारा विषरहित कर देता है।

प्रकृतिमें परमेश्वर

(लेखक—रेवरेण्ड श्री अंगर है. मैरमी)

कथा ही यथार्थ बचत है—

'The fool hath said in his heart there is no God.'

'मूर्ख अपने मनमें यह कहकर सन्तोष कर लेता है कि ईश्वर नहीं है।'

वास्तवमें हम बातके बहुसंग्रहक प्रमाण सर्वत्र विद्यमान हैं कि कोई सर्वव्यापक एवं सर्वोपरि चैतन्यशक्ति अवश्य है। इसको सिद्ध करनेके लिये हमें ज्ञात लगाये अज्ञात तत्त्वका अनुसन्धान करना होगा। हम स्वयं विद्यमान हैं, इस विषयमें किसीको तनिक भी सन्देह नहीं है। हमारे जीवनका एक स्वरूप यह भी है कि हम उस अलक्ष्य-शक्ति-की व्यवहारमें दा सकते हैं, चाहे हम स्वयं अपने हाथसे उसका प्रयोग करें अथवा अप्राप्यक्षरूपमें हम भौतिक जगतके उन तत्त्वोंके सहारे करें जो हमारे आस-पास मौजूद हैं और जिनके अन्दर उस शक्तिने पहुँचेमें ही काम करना शुरू कर दिया है। किसी Cylinder मेंse Piston को ऊपर उठानेकी दो वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं, एक तो अपने हाथोंकी शक्तिसे उसे उठाना और दूसरे किसी Boiler के अन्दर पानीको धात्परमें परिणामकर उस धात्पके द्वारा अपनी निगरानीमें उसको ऊचे उठाना।

हम नयी-नयी बनन्तीतियों और कई प्रकारके सुन्दर पदार्थोंको उसी प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं, जिस प्रकार प्रकृति-के द्वारा हम कार्यका सम्पादन होता है। हम अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अथवा केवल विनोदके लिये सूर्यकी रश्मियों-का कई नृत्न एवं रोचक प्रकारोंसे उपयोग कर सकते हैं। सूर्यके प्रकाशके अभावमें हम कृत्रिम प्रकाश उत्पन्न कर सकते हैं। कहाँ तक गिनावें, हम हजारों सरहसे अपनी बुद्धिके द्वारा प्राकृतिक शक्तियोंका उपयोग कर सकते हैं एवं अपनी हृष्टानुसार उनमें उलटफेर कर सकते हैं। इस प्रकार अपनी परिमित शक्तिके अनुसार हम ब्रह्मण्ड-तत्त्वको रच सकते हैं। जिस कामको हम अपनी संकल्प-शक्तिकी प्रेरणा एवं आदेशके अनुसार अधूरे ढंगसे कर सकते हैं, वही कार्य प्रकृतिमें अधिक पूर्णता एवं व्यवस्थाके साथ प्रतिदिन होता रहता है और यह उस समयसे होता जा रहा है जब हमारा अथवा हमारे-जैसे और किसी ऐसानायुक्त

प्राणीका अस्तित्व ही नहीं था। इसमें हमारा यह अनुमान 'इसी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता कि विश्वके अन्दर एक ऐसी अन्य निरपेक्ष संकल्प-शक्ति काम कर रही है जिसके साथ हमारी संकल्प-शक्तिका वही सम्बन्ध है जो हमारे दैनिक जीवनके प्रायेक कार्यमें किसी प्रधान कर्मजारीके साथ उसके अधीनस्थका अथवा स्वामीके साथ उसके नौकर-का होता है। अतः यह स्पष्ट है कि हमें हम संसारमें उपरके विकास एवं व्यवस्थामें विवेकदर्शी भाग लेनेके लिये जन्म दिया गया है और व्यष्टि हमें अपने-अपने अधिकारका काम करनेके लिये कुछ स्वतन्त्रता अवश्य वी गयी है किन्तु हमारे लिये सदा अपने स्वर्विद्यन्ता एवं सर्वोदेश प्रभुके नियमों एवं आदेशोंका पालन करना आवश्यक है।

हम विश्वकी रचना एवं इसके सञ्चालनके सम्बन्धमें समय-समयपर कई प्रकारके मिदान्तोंका प्रतिपादन किया गया है। उन सब मिदान्तोंकी समालोचना न करके हम एक बात निःशब्द होकर कह सकते हैं कि सारे उत्तिरियों एवं पदार्थ-विद्या-विशारदोंका हम विषयमें एकमत है कि विश्वके अतीत कालके इतिहास एवं उसकी वर्तमान स्थिति यह बनलाती है कि उसके अन्दर एक शक्ति निरन्तर ऐसी सावधानीसे कार्य कर रही है कि उसके द्वारा भ्रममें अथवा किसी आकस्मिक कारणसे या अनियमितताके द्वारा योग्य सौर-मण्डलके किसी ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र और तारेको कभी क्षमिता नहीं पहुँचती। अवश्य ही कभी-कभी प्रश्नश्वर्में प्रामाण्यता होता है कि हम विश्वके महान् सञ्चालनमें त्रुटि हो रही है, किन्तु वास्तवमें वे त्रुटियाँ अपने ही अज्ञानमें अथवा प्राकृतिक नियमोंको पूर्णतया न समझनेके कारण होती हैं, उस नियामक शक्तिके प्रवन्धमें कहीं भूल नहीं होती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राकृतिक शक्तियाँ नियमपूर्वक एवं ढंगके साथ क्रमशः अव्यक्तमें व्यक्तकी ओर अग्रसर होती हुई कार्य करती रहती हैं। इसमान एवं अद्वय-जगतमें परस्पर निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है जिसके अन्दर बड़े-ये-बड़े तार्किकों भी सृष्टिके आदिमें तथा हम समय भी एक निश्चित उद्देश्य एवं व्यवस्था इष्टगोचर हुए विना नहीं रह सकती। उस सनातन पुरुषके लिये अतीत अथवा अविद्यकी कल्पना नहीं हो सकती, उसके द्वारा सदैव क्रिया होती रहती है।

प्रसिद्ध भूर्भुवि-विद्या-विशारद प्रो० लायल (Professor Lyall) ने उन क्रमिक एवं बहुधा होनेवाले परिवर्त विकारोंके सम्बन्धमें यह लिखा है—

‘भूर्भुवि-विद्या-विद्या का अध्ययन हमें यह बतलाता है कि एष्ट्रीकी वर्तमान आकृति ही असंस्य जीवोंके निवासके पोर्य हो, यह बात नहीं है। अतीत कालमें उसकी जो आकृति थी वह भी उस समयके प्राणियोंकी व्यवस्था और रहन-सहनके लिये अनुकूल ही थी। समुद्रों, विस्तृत भू-भागों (महाद्वीपों), द्वीपों तथा उनके जल-वायुमें बराबर परिवर्तन होते रहे हैं। साथ ही जीवोंके अन्दर भी परिवर्तन होते रहे हैं किन्तु ये सारे परिवर्तन वर्तमान कालकी वनस्पतियों एवं प्राणियोंके परिवर्तनके अनुरूप ही हुए हैं इसमें यह म्पट विदित होता है कि विषके अन्दर आदिसे अन्तस्तक एक ही उह इय काम कर रहा है।

चार्ल्स डारविन (Charles Darwin) जैसे वैज्ञानिकोंने अपनी गवेषणाओंसे यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि प्रकृतिके अन्दर कोई विद्यु शक्ति सदैव काम करती रहती है जो उन जीवोंको छाँट-छाँटकर उनको वंश-प्रसाराको कायम रखती है, जो पृथ्वी-तलकी भौतिक अवस्थाके पूर्णतया अनुकूल है। मनुष्यकी उत्पत्तिके लिये तथा छोटे-छोटे जीवोंसे बड़े-बड़े जीवोंके विकासके लिये एक नवीन नियमका लागू होना आवश्यक हो गया है। वह नियम है The law of sexual selection अर्थात् नारीहारा नरका चुनाव। डारविन (Darwin) के मिदान्तके अनुसार इस नियमका आधार यह है कि बड़े-बड़े जानवरोंमें नर-जातिके अन्दर ही आकर्षकता होती है, जैसे पक्षियोंमें नर-पक्षीके पंख अधिक रंग-विरंगे एवं देखनेमें सुन्दर होते हैं। अर्थात् प्राकृतिक विवेक (Natural selection) से नर-जातिके

अन्दर ये गुण विरस्थायी हो गये हैं। इसके अतिरिक्त जीवोंकी अनेक जातियोंमें इन गुणोंका पूर्ण विकास केवल वैवन-कालमें और किन्हीं-किन्हीं जातियोंमें केवल उस अनुमें होता है जो मिथुनोपयुक्त (Breeding season) होती है। उस लेखकका कहना है कि यह बात विद्यासमें नहीं आती कि यह सब लीला उद्दे श्यहीन हो। ॥

इसप्रकार हमें उस अद्वय एवं सर्वव्यापक शक्तिका पता लगता है जिसके विषयमें वैज्ञानिकोंका यह अनुभव है कि वह जड़-पक्षीयोंका सञ्चालन करती है और जिसे स्पन्द (Motion), ऊर्ध्वा (Heat), प्रकाश (Light), रासायनिक क्रिया (Chemical activity) इत्यादिके स्वरूपमें भौतिक शक्ति (Physical Force) कहने हैं और सजीव प्रकृतिके क्षेत्रमें जिसके व्यापारको प्राण-शक्ति (Vitality) अथवा जीवन-शक्ति (Vital energy) कहते हैं। साथ ही हमें यह भी पता चलता है कि वह शक्ति एक एवं अखण्ड है और कतिपय नियमों (Laws) के अनुसार अथवा एक ही अटल विधानके अनुसार एक नियमित योजनाको चरितार्थ कर रही है। अन्तमें उस शक्तिके कार्योंपर विचार करनेमें तथा उसकी कार्य-प्रणाली-पर ध्यान देनेमें यह सिद्ध होता है कि यह शक्ति एक सर्वश एवं सर्वदर्शी चैतन्य-शक्तिके अचीन तथा उससे साक्षात् सम्बद्ध रहकर कार्य करती है। विषके अन्दर शक्ति और ज्ञानके इस समन्वयको मनुष्यने श्रेष्ठता (Goodness) का आदर्श समझा और इसीलिये उसे ईश्वर (God) के नामसे पुकारना प्रारम्भ कर दिया।

‘गगन-मरुष्ठल उस परमात्माकी महिमाका बखान करता है और अनेक ग्रहों और नक्षत्रोंकी पंक्ति उसकी अनुपम कारीगरीका प्रमाण है।’

मन भगवानमें

सत समरथ नें राखि मन, करिय जगतको काम।
जगतीयन यह मन्त्र है सदा सुख विसराम॥

—जगतीयन साहेब

॥ ‘It is incredible that all this display should be purposeless.’

+ The Heavens declare the glory of God and the firmament showeth His handi-work.’

ईश्वर नहीं तो कुछ नहीं

(साधु टॉस्टॉय)

(१)

लोग अनेक प्रकार से ईश्वरका मारण कहते हैं, लेकिन उसे समझने और अनुभव करनेका मार्ग सबका एक ही है ।

(२)

लोग कहते हैं, ईश्वर स्वर्गमें रहता है, वे उसे स्वर्गका राजा कहते हैं और वे यह भी कहते हैं कि वह मनुष्यमें रहता है ।

अब कोई आदमी कुछ बुरा करता है, तो लोग उससे पूछते हैं—‘क्या तुम्हें राम नहीं है?’ और यह ठीक है। जिसे हम ईश्वर कहते हैं, उसे हम स्वर्ग और मनुष्य दोनोंमें देखते हैं। यदि हम शरद-ऋतुकी किसी रातमें आकाशकी तरफ देखें तो हमें तारे, तारे और तारोंमें भी परे अनन्त सिरारे दिखायी पड़ते हैं ।

और जब हम सोचते हैं कि हनमेंसे हर एक तारा हमारी हस पृथ्वीसे कई गुना बड़ा है; यह जो तारे हमें दिखायी पड़ते हैं, उनसे परे सैकड़ों, हजारों, लाखों तारे उनके-से या उनसे भी बड़े हैं; और यह कि न तारों-का अन्त है, न आसमानका, तब हम समझने लगते हैं कि कोई ऐसी चीज़ जरूर है जिसे हम ग्रहण नहीं कर सकते । और हस ‘कुछ चीज़’ को जिसे हम ग्रहण नहीं कर सकते, ईश्वर कहते हैं ।

जब हम अपने अग्नदर देखते हैं, तो हम अपने तहैं अपनी आत्माको देखते हैं । यह आत्मा न छुइ जा सकती है, न सुनी जा सकती है, न देखी जा सकती है, न समझी जा सकती है, लेकिन और चीज़ोंकी अपेक्षा हम उसे अच्छी तरह जानते हैं और उसके द्वारा हम दुनियामें

जो कुछ भी है, उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं । हमारी अपनी आत्मामें यह जो अज्ञेय लेकिन सर्वज्ञ है, उसे भी हम ईश्वर कहते हैं ।

हम तरह हम अपनेसे बाहर अपने आस-पासकी भौतिक सीमामें ईश्वरको जानते हैं और साथ ही आध्यात्मिक सीमामें भी, जिसका हम अपनी आत्माके अन्तर अनुभव करते हैं ।

(३)

मनुष्य यह अनुभव किये विना नहीं रह सकता कि उसके जीवनके साथ कुछ किया जा रहा है, वह किसीका हथियार है । लेकिन अगर वह किसीका हथियार है, तो ऐसा कोई अवश्य होना चाहिये जो उसे निमित्त बनाकर काम करता हो । वह कोई जो उसे निमित्त बनाकर काम करता है, ईश्वर है ।

(४)

मनुष्यको प्रेम करना चाहिये, लेकिन वह वास्तविक प्रेम उसीसे कर सकता है, जिसमें कोई बुराई नहीं है । हसलिये ऐसी कोई चीज़ जरूर होनी चाहिये, जो बिल्कुल निर्दोष है । और सिर्फ एक ही ऐसी वस्तु है, जिसमें कोई बुराई नहीं है—ईश्वर !

(५)

आप ईश्वरका नाम लेनेसे बच सकते हैं, आप हम शब्दको टाल सकते हैं, लेकिन आप उसके अस्तित्वको स्वीकार करनेसे बच नहीं सकते । यदि वह नहीं है, तो कुछ भी नहीं है ।

[मनु०—मीकाशीनाथ नारायण श्रिवेदी]



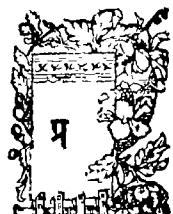
ईश्वर-विश्वास

ममसा वाचा कर्मणा जिनके है विश्वास ।
पलटू हरिपर, रहत हैं तिन्हके पलटूदास ॥ १ ॥
पलटू संसर्य छूटिये मिलिया पूरा थार ।
मगम आपने ल्यालमें भाड़ पढ़े संसार ॥ २ ॥

—पलटू साहित्य

दर्शनोंमें ईश्वर

(लेखक—स्वामीजी श्राद्यानन्दजी)



बल कलिके प्रशापसे धर्मीन जगत्-
की इषि कुछ दिनोंसे जगदाधार,
जगद्विषयन्ता ईश्वरकी सत्ताको उड़ाने-
की ओर लगी हुई है। सोविष्ट रूपसे
तो भगवान्के अस्तित्वपर बोट लेकर
अधिक बोटोंसे भगवान्को भगा दिया
गया है, जिसके फलस्वरूप धर्मोंके
प्रार्थना-मन्दिर(गिरें)या तो तोड़ दिये गये हैं या शिल्पकलाके
कारखाने बना दिये गये हैं। इस देशमें भी ऐसी संश्लोचोंकी
कमी नहीं है, जहाँ ईश्वरकी नितान्त अनावश्यकता बतलायी
जा रही है। 'ईश्वर-सत्ताके माननेसे ही साम्राज्यिक विरोध
बढ़कर भारतके उद्धारमें देर हो रही है, लोग वृथा दुलबन्दीमें
फँसकर जातीय एकताको नष्ट कर रहे हैं, बन्धनहीन
निरंकुश स्वतन्त्र जीवनके लिये तो ईश्वरका मानना सदा
के लिये केवल मानसिक दासताको मोल लेना है, व्योंगिक ईश्वर-
सत्ताके स्वीकारमात्रसे ही धर्म-बन्धन, कर्तव्याकर्तव्यका
बन्धन, आचार-अनाचार-विचारका बन्धन—इसप्रकार अनेक
बन्धन उत्पन्न होकर चित्तके स्वाधीनता-सुखको सदा
के लिये नष्ट कर डालते हैं, अतः ईश्वर हो या न हो, हमें अपनी
सुखमय जीवन-यात्राके निर्वाहके लिये उसकी कोई भी
आवश्यकता नहीं है।' इसप्रकारकी दूषित विचारधारा
आजकलके आसुरी-प्रकृतियुक्त जीवोंके हृदयको बहुत ही
कल्पित कर रही है। अतः इस निवन्धनमें ईश्वर-सत्ताकी
सम्याप्ति विचार करनेके पश्चात् किस-किस वैदिक
दर्शनने ईश्वरके विषयमें क्या-क्या सम्मति दी है, उसका
दिवश्शान कराया जायगा।

ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सन्देह करना केवल अपने
विवेकका गला बोटना है। धीर होकर अन्तरालमासे पूछेने-
पर तो स्वयं ही पता लग जाता है कि अनादि, अमन्त
सृष्टिके मूलमें कोई कर्ता अवश्य ही है। बेदानुमत समस्त
शास्त्रोंमें प्रकृतिको जड़ कहा गया है। देवीभागवतमें
लिखा है—

जदा इहं तस्य सात्रिष्ठापत्र न वापि सचेतना ।

अयस्कान्तस्य सात्रिष्ठादप्यस्तेतना यथा ॥

'जिसप्रकार उम्रकके साक्षियमें रहनेसे जड़ लोहेमें
सञ्चालन-शक्ति आती है, उसी प्रकार ईश्वरके अधिष्ठानसे जड़
प्रकृतिमें चेतनाजनित सृष्टि, स्थिति, प्रलयशक्ति आती
है।' परन्तु वास्तवमें प्रकृति जड़ है। प्रकृतिका यह जडाव
अर्थात् स्वयं कर्तुष्वशक्तिका अभाव केवल समष्टि-प्रकृतिमें
ही नहीं किन्तु उसके परिणामजात पदार्थोंके भी अंग-
अंगमें देखनेमें आता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि
प्रकृति-परिणामसे उत्पन्न सभी पदार्थ जड़ हैं। उनमेंसे
किसीमें भी स्वयं कार्य करनेकी शक्ति नहीं है। पृथ्वी
भवेत्तासे भिन्न-भिन्न प्रकारका शम्य उत्पन्न नहीं कर
सकती, जल स्वयं बरस नहीं सकता, वायु स्वयं नहीं बह
सकता और अग्नि स्वयं भौति-भौतिके कार्य नहीं कर
सकता। इनके अन्दर अवश्य कोई व्यापक चेतन-सत्ता है,
जिसके सञ्चालनमें ये सब जड़ वस्तुएँ अपना-अपना कार्य
करती हैं। वही सर्वव्यापक सर्वाधिष्ठाता प्रकृतिके प्रेरक
चेतनसत्ता ईश्वर हैं। इसमें यदि यह सन्देह हो कि
प्रकृति-परिणामजात पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदिका
स्वभाव ही शम्य उत्पन्न करना, बरसना, बहना या
जलाना इत्यादि है तो इसका समाधान यह है कि किसी
प्राकृतिक वस्तुका स्वभाव नभी नियमितरूपमें कार्य कर
सकता है, जब उसकी नियामक कोई चेतनशक्ति हो।
माना कि पृथ्वीका स्वभाव शम्य उत्पन्न करना है, परन्तु
किस देशमें, किम कालमें तथा किस क्रतुमें कैसा शम्य उत्पन्न
होना चाहिये, इसका नियमन कौन करेगा? यह नियमन
जड़ पृथ्वीके द्वारा करायि नहीं हो सकता। इसके जिये
पृथ्वीके अन्तर्विहारी नियामक चेतन होना चाहिये।
जड़ स्वभावका परिणाम या किया अन्धपरिणाम या
अन्धकिया है, चेतनसत्ताके अस्तित्वमें ही उसकी
अन्धता नष्ट होकर उसमें नियमानुवर्त्तिता आ सकती है।
जलका स्वभाव बरसना हो सकता है, परन्तु इनुके अनुसार
ठीक-ठीक बरसना और जिस देशमें जितनी 'चर्षा' होनी
चाहिये, उसको उसी नियमसे ठीक-ठीक बरसाना तभी
सम्भव हो सकता है जब जलराज्यके अन्तर्विहारियोंकोई
चेतन सञ्चालकशक्तिहो। इसी प्रकार वायुमें प्रवाहित होने-
का अस्तित्वभाव रह सकता है परन्तु वसन्त-शूतुमें मध्य-

पवन बहना, वर्षामें पूर्वदिशासे प्रवाहित होना, शीतकाल में पश्चिम या उत्तरसे और ग्रीष्म-ऋतुमें पश्चिमसे बहना आदि नियमित वायुग्राह अन्धस्वभावके द्वारा कदापि सम्भव नहीं। इसके लिये अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि वायुमण्डलको नियमित सञ्चालित करनेवाली कोई नियामक चेतन ससा है। इम संसारके सामान्य कार्यमें देखते हैं कि जबतक चेतनकी सहायता और प्रेरणा न हो तथतक किसी जड वन्दुद्वारा नियमानुसार कार्य नहीं हो सकता। इष्टामृत-रूपमें समझ सकते हैं कि अधिकारी जलको वाप्त बनाकर उसी वाप्तके द्वारा नाना प्रकारके यन्त्र और हज़िन आदि घटाव सकनेकी शक्ति अवश्य है परन्तु जिस परिमाणमें वाप्त बननेपर और जिस तरहसे इत्तिन या मशीनमें उपके संयोग होनेपर इत्तिन या मशीन ठीक-ठीक कार्य कर सकेगी, यह द्विसाव या नियमानुसार वाप्त-संयोग करनेकी शक्ति अधिकारी में नहीं है। वह शक्ति अग्निका नियोग तथा वाप्तका संयोग करनेवाले चेतन मनुष्यमें ही है जो नियमके अनुसार जलमें अधिक संयोगद्वारा वाप्त बनाता है और उसी वाप्तको ठीक परिमाणमें प्रयोग करके समस्त वाप्तीय यानों तथा यन्त्रोंको चलाना है। इसमें और भी विचारनेका विषय यह है कि, यथापि वाप्तमें इत्तिन चलानेकी और इत्तिनमें गाढ़ी लींचनेकी शक्ति है तथापि यदि जड इत्तिनका घलानेवाला कोई चेतन मनुष्य न होगा तो योग्य शक्तिमें निर्दिष्ट समयानुसार रेलगाड़ीका चलना, नियमित स्टेशनपर ठहरना, पुनः नियमित वेगके अनुसार स्टेशनमें चलना, आवश्यकतानुसार वेगका न्यूनाधिक होना इत्यादि वार्तें कभी जड हज़िनके द्वारा स्वतः नहीं हो सकतीं। जड अन्धशक्तिमें यह हो सकता है कि, यदि इत्तिन चल पड़े तो चलता ही रहेगा, कभी ठहरेगा नहीं और यदि कभी ठहर जाय तो फिर चल नहीं सकेगा। नियमित चलने-ठहरने तथा बेगवान् होनेके लिये किसी नियामक चेतन-शक्तिके अधिष्ठानकी अवश्य ही आवश्यकता होती है। अब विचार करनेका विषय यह है कि, जब संसारके साधारण लौकिक कार्यके नियमित चलानेके लिये भी चेतन सत्ताकी आवश्यकता होती है तो अग्नादि, अनन्त प्रकृतिका महान् सृष्टि-स्थितिकार्य, जिसमें इतना अमोघ नियम सदा ही प्रस्तक हो रहा है कि एक पत्तीतक उसी नियमके द्विना हिल नहीं सकतो, उसमें कोई सर्वव्यापी नियामक चेतन सत्ता नहीं है इसप्रकार कल्पना करना उन्मत्त चिन्ता और उन्मत्त प्रलापके सिवा और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि जड प्रकृति-

के सञ्चालक या अधिष्ठाता चेतन ईश्वर न होते तो कभी अनन्त कोटि व्याहायदमयी विराट् प्रकृतिमें सृष्टि, स्थिति, प्रलयका नियमित क्रम नहीं रह सकता। मृष्टि-स्वभावमयी प्रकृति अनन्त कालतक सृष्टि ही करती रहती, कभी प्रलयका समय नहीं आता और यदि कभी प्रलय हो जाता तो प्रलयके गर्भमें नियमानुसार तथा निर्दिष्ट कालानुसार पुनः सृष्टिके उदय नहीं हो सकता। जीवोंकी कर्मानुसार उज्जीवी गति, रवि-शशिका नियमित उदय, क्रतुओंका नियमित विकास, शम्य-मसृष्टिकी नियमित देशकालप्रानानुसार उत्पत्ति, दिवा-रात्रि, अमरानिना और पौर्णमासीका चक्रवत् परिवर्तन, चन्द्रकलाका नियमित विकास, भगवान् भास्करका राशिचक्रमें नियमित संक्रमण आदि सर्वतो-जातवस्थमान प्राकृतिकोंही भी किया नियमित स्थर्थित नहीं हो सकती। यह सभी विश्वनिश्चन, विश्वकर्ता, जगत्पाता, अनन्त करुणावरुणाळय परम विना ज्ञानस्वरूप चेतन्यमय परमेश्वरकी अग्नादि, अनन्त प्रकृतिके अनन्तदयमें सर्वव्यापिनी नियस्थिति और अधिष्ठानका कल्याणमय फल है, जिसको श्रद्धावान् भक्त प्रतिपल अनुभव करता हुआ परमानन्द-सागरमें लीन होता है, मिथ्या कुनकनकर्शवित्त अज्ञानी जनोंके अन्धकारमय हृदयमें इस ज्ञान-ज्योतिनिका विस्तार होना कठिन तथा उर्ध्वाके कृपा-कटाक्ष-सापेक्ष है।

अब यह बतलानेकी चेष्टा की जाती है कि किस-किस दर्शनने अपनी ज्ञान-भूमिके अनुसार परमेश्वरकी इस सत्ताको कहाँतक कैसे प्रकट किया है ?

ईश्वरकी व्यापक अद्वितीय सत्ता प्रकृतिविलासफला-सम्पर्कसे निर्विस होनेके कारण, जिन दर्शनोंमें प्रकृति परिणाम, प्रकृति अथवा कार्य व्यक्तके माथ सम्बन्ध रखकर निज-निज ज्ञान-भूमियोंके अनुसार मुक्ति बतलायी गयी है, उन सब दर्शनोंमें ईश्वर-सत्ताका प्रभानन्दया निर्देश अथवा मुक्तिके साथ साक्षात् सम्पर्क नहीं दिखलाया गया है। उन सब दर्शनोंमें केवल सुख-दुःख-मोहमयी प्रकृतिमें सुक होना ही अपवर्गका साधन है, प्रायः इसी प्रकारका सिद्धान्त बताया गया है जो उनकी ज्ञानभूमियोंके अनुसार यथार्थ ही है। परन्तु जिन दर्शनोंकी ज्ञान-भूमि प्रकृति-विकार तथा अव्यक्त-प्रकृतिमें अतीत-पदकी और मुसुक्षुको अग्रसर करती है, उसमें ईश्वर-सत्ताके साथ निःश्रेयस्तद्वा साक्षात् सम्बन्ध बतलाया गया है और इसीलिये उन सब दर्शनोंमें केवल प्रकृति-परिणाम-जात दुःखकी जिहृतिको

ही मुक्तिका लक्ष्य न बताकर नित्यानन्दमय परमामरपद-में स्थितिको ही निःश्रेयस्पदका प्रधान साधन बतलाया गया है। अब उपर्युक्त दो विभागोंके अनुसार किस दर्शन-में किसप्रकार सर्व-ईश्वर-सत्त्वाका वर्णन किया गया है, इसपर विचार करना है।

न्यायदर्शन

न्याय-दर्शनकी ज्ञान-भूमिमें आरम्भको प्रमेय-कोटि के अन्तर्गत करके इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और ज्ञानको दृष्टके लक्षणास्पदे बतलाया गया है। इच्छा, द्वेष आदि वास्तवमें अन्तःकरण-धर्म हैं। अतः इच्छा-द्वेषादिके साथ आरम्भका सम्पर्क बतानेके कारण न्याय-दर्शनकी ज्ञान-भूमि प्रकृति-परिणाममें बहुत ही सम्बन्धित है, ऐसा सिद्धान्त होता है। जिस अणुको नियम बताकर उसीके सम्मेलनमें न्याय-दर्शनमें समस्त सृष्टिकी उपस्थिति बतलायी गयी है वह अणु भी वास्तवमें प्रकृतिका ही विकारमात्र है। अतः प्रकृति-परिणाम तथा प्रकृतिके साथ साक्षात्स्वप्नमें जिसकी ज्ञान-भूमिका सम्बन्ध है ऐसे न्याय-दर्शनमें ईश्वरकी अद्वितीय व्यापक सत्त्वाका साक्षात् सम्पर्क और वर्णन नहीं हो सकता। इसीलिये न्याय-दर्शनकी मुक्ति केवल प्रमाण-प्रमेयादि घोड़श पदार्थोंके तत्त्वज्ञानमें ही मात्री गयी है अर्थात् इन पदार्थोंके तत्त्वज्ञानमें दुःखकी आत्मनितकी निवृत्ति होकर मुमुक्षुको अपवर्ग-लाभ हो जाता है। इस अपवर्गके साथ ईश्वरका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। तथापि न्याय-दर्शन आस्तिक-दर्शन होनेमें कर्मफलके साथ उसमें ईश्वरकी निमित्त-कारणताका सम्बन्ध बतलाया गया है और अनुमान-प्रमाणाद्वारा परोक्षरूपमें सृष्टिके साथ ईश्वरका सम्पर्क भी कथन किया गया है। यथा—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मांक्त्यदर्शनात् ।

(न्यायदर्शन)

इसके भाष्यमें महर्षि वास्त्यायनने कहा है—

पराचीनं पुरुषस्य कर्मफलाग्नाधनमिति यदवीनं स ईश्वरः ।
तस्मात् ईश्वरः कारणम् ।

जीवका पराधीन कर्म-फल-भोग जिसके अधीन है, वह ईश्वर है। अतः ईश्वर ही जीवके कर्म-फल-दाता है। इस तरहसे जड़ कर्मके चेतन प्रेरकरूपमें ईश्वरकी निमित्त-कारणताका सम्पर्क बतलाकर न्याय-दर्शनमें अपनी आस्तिकताका परिचय दिया है। प्रसिद्ध न्याय-ईश्वरिकार विवाचाधीने इसी आद्वितीये २१ में सूत्रमें—

‘क्षित्यादिकं सकृदंकं कार्यत्वाद् घटवत् ।’

— इसप्रकार सूत्रवृत्तिद्वारा संसारकी उत्पत्तिके प्रति ईश्वरकी निमित्त-कारणता प्रतिपक्ष की है अर्थात् घटकी उत्पत्तिके लिये जिसप्रकार कुम्भकार निमित्त-कारण है उसी प्रकार जगत्की उत्पत्तिके लिये ईश्वर निमित्त-कारण है। जिसप्रकार कार्य देखनेमें कारणका अनुभव होता है, उसी प्रकार कार्यव्याप्ति जगत्को देखनेमें उसके सृष्टि-कर्ता निमित्त-कारणरूप ईश्वरका अनुमान होता है। यही प्राचीन न्याय-दर्शनमें ईश्वर-सत्त्वाकी सिद्धि है।

वैशेषिकदर्शन

वैशेषिकदर्शनकी ज्ञान-भूमि भी स्थूलतः न्याय-दर्शन-की तरह है। उसमें भी प्रकृति-परिणाम-जात सुख-दुःख-विदि-के साथ मनके द्वारा आरम्भका सम्बन्ध बतलाया गया है और द्रव्य-गुणकर्मांदि पृथ् पदार्थोंके तत्त्वज्ञानमें आत्मनितक दुःख-निवृत्तिस्थूल अपवर्गका वर्णन किया गया है। इस निःश्रेयस्के साथ केवल दुःख-निवृत्तिका सम्पर्क होनेमें नित्यानन्दमय ब्रह्मपदके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। अतः वैशेषिकदर्शनोक मुक्तिके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता। और न इसकी ज्ञान-भूमिके साथ ही ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध हो सकता है। तथापि वैशेषिकदर्शनने अपनी आस्तिकताको प्रमाणित करनेके लिये न्यायदर्शनकी तरह अनुमान-प्रमाणकी सहायतामें जगदुत्पत्तिके लिये ईश्वरकी निमित्त-कारणता प्रतिपादित की है। यथा—

‘सज्जाकर्मत्वसम्भविष्यानां लिङ्गम् ।

‘प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्सज्जाकर्मणः ।’

(वैशेषिक ८०)

इन सूत्रोंके उपर्युक्तमें शंकर मिश्रजीने लिखा है—

‘सज्जानाम कर्म कार्यं क्षित्यादि तदुभयं अस्मद् विशिष्टानां ईश्वरमहर्षाणां सत्त्वंपि लिङ्गम्। घटपटादिसंज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसकेतावीनमेव । यः शब्दो यत्र ईश्वरेण संहेतिः स तत्र सायुः । तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिङ्गत्वम् । यवें कर्मापि कार्यमपि ईश्वरे लिङ्गम् । तथा हि क्षित्यादिकं सकृदंकं कार्यत्वाघटवत् इति ।’

अर्थात् ‘सज्जा या नाम और कर्म अर्थात् क्षिति, अप आदि कार्य ये दो कौन्तकिक मनुष्यसे विशेषतामुक्त ईश्वर, महर्षि आदिके आस्तिकों प्रमाणित करते हैं। बढ़-पट

आदि नामसे जो तत्त्वपदार्थोंका बोध हो जाता है उसमें ईश्वर-सङ्केत ही कारण है। क्षिति, अप आदि अब कार्य हैं, तो इनके बत्तों भी कोई अवश्य होंगे, वही कर्ता ईश्वर हैं।

अतः यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि जगदुत्पस्थित के लिये ईश्वरकी घटकुलालवत् निमित्त-कारणता है। यही वैशेषिकदर्शनका आभिन्न-भूत है। इस दर्शनके प्रसिद्ध टीकाकार प्रशासनपादावाचार्यजीने तो कहै अन्य अनांत्रोंमें भी वैशेषिकदर्शनके सूत्रोंके साथ ईश्वरका सम्बन्ध बताकर इस गम्भीर दर्शनकी परम आभिन्नता प्रतिपादित की है। प्राचीर्य-समूहोंका नन्दव-ज्ञान ही मोक्षका कारण है इस प्रमाणमें प्रशासनपादावाचार्यजीने—

'तत्र ईश्वरनोदनार्थमध्यकाद्रमादेव'

'वह नन्दव-ज्ञान ईश्वर-प्रेरणाज्ञनित धर्ममें उत्पन्न होना है'—ऐसा कहकर वैशेषिकदर्शनोन्तर मुक्तिके साथ भी ईश्वरका प्रश्नपरा-सम्बन्ध बता दिया है। नियम परमाणुओं-के संघातमें मृष्टि और विश्लेषणमें प्रलयके विषयमें वैशेषिकदर्शनके सिद्धान्तोंका वर्णन करते समय प्रशासन-पादावाचार्यजीने लिखा है कि 'मकल भुवनस्ति महेश्वरको अर्लौकिक हृष्टा-शक्तिके द्वारा ही परमाणुओंमें स्पन्दन-शक्ति उत्पन्न होकर इसप्रकार मृष्टि और प्रलय हुआ करता है।'

अतः वैशेषिकदर्शनकी परम आभिन्नता निविवाद मिलता है, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। परवर्तीकालमें नव्य वैशेषिकोंने भी अनुमान-प्रमाणको सहायतामें वैशेषिक-दर्शनमें ईश्वर-सत्ताकी विशेष सिद्धि की है और कहीं-कहीं ज्ञान आदि कहै गुणोंके साथ भी ईश्वरका सम्बन्ध निर्णय किया है।

योगदर्शन

सप्त ज्ञान-भूमियोंमें तृतीय भूमिस्थानीय दर्शन योग-दर्शन है। इसमें प्रकृतिको अविद्या, अभिमता, रागदंष्ट्रादि दुःखोंका आगार कहकर प्रकृतिके द्वारा बद्ध पुरुषकी उसमें मुक्ति होनेपर अथवन्त दुःख-निवृत्तिरूप कैवल्यप्राप्ति होती है, यही योगका परम पुरुषार्थ बतलाया गया है, अतः दुःख-निवृत्ति ही मुक्तिका लक्ष्य होनेमें परमानन्दभय विहृपतके साथ इस दर्शनकी ज्ञान-भूमिका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। योगदर्शनके अनुसार जब साधककी मुक्ति होती

है उस समय पुरुष केवल स्वरूपस्थित होकर प्रकृतिके सम्पर्कका त्याग कर देता है, उसके साथ फिर प्रकृतिका बन्धन-सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु उसमें प्रकृतिका अन्तिक्षण लुप्त नहीं होता है, केवल वह मुक्त पुरुष प्रकृतिके साथ कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सम्बन्धको छोड़कर उदासीनवत् प्रकृतिका द्रष्टा बन जाता है। अतः योगदर्शनकी ज्ञान-भूमिके अनुसार भी मुक्तिके साथ ईश्वर-सत्ताका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। तथापि परम आभिन्न योगदर्शनमें मुक्त-प्राप्तिके साधनरूपमें ईश्वर-सत्ताका अपूर्व वर्णन किया गया है। यथा—

'ईश्वरप्रणिधानादा'

'केशकर्मविपाकाशयैग्रगममृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर ।'

'तत्र नितिग्रामं सर्वज्ञवीजम्'

'स एष पर्वेषमपि गुरु कलेनानवच्छेदान् ।'

'तत्य वाचकः प्रणवः'

'तजपत्स्तदर्थभावनम्'

'ततः प्रत्यकृचेतनाधिगमोऽप्यन्तग्रावाऽभावश्च'

'समाधिसिद्धिर्ईश्वरप्रणिधानादः'

इन सब सूत्रोंमें ईश्वरका योगदर्शनोन्तर स्वरूप तथा उनके ध्यान, उनके प्रति भक्ति और उनके दिव्य नामके जप-का फल बताया गया है।

योगदर्शनके—

'ईश्वरप्रणिधानादा'

—इस सूत्रका अर्थ भगवान् वेदव्यास लिखते हैं—

'प्रणिधानाद्वाक्तिवैशेषदावर्जितः ईश्वरस्तमनुशृहति अभिध्यानमत्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलश्च भवतीति ।'

'विशेष भक्तिके साथ आराधना करनेमें साधकके प्रति प्रसन्न होकर 'इसका अभीष्ट सिद्ध हो जाय' ईश्वर ऐसी हृष्टा करते हैं जिससे शीघ्र ही योगीको चित्तवृत्तिनिरोध-द्वारा असंप्रक्षात् समाधिलाभ हो जाता है।' इसप्रकारसे ईश्वरभक्तिद्वारा उपाय ब्रताकर अगले तीन सूत्रोंमें महर्षि पतञ्जलिजीने ईश्वरका स्वरूप बताया है। ईश्वर अविद्यादि पञ्चकृति, कर्म, कर्मफल और संस्कारमें रहित पुरुष-विशेष हैं। अर्थात् सांख्य-प्रवचनका जो पुरुष है उसमें कुछ विशेष सत्ता ईश्वरकी है। योगदर्शनभूमियों प्रकृति-सम्बन्धका विशेष अस्तित्व रहनेके कारण वेदान्तभूमिकी तरह इसमें

ईश्वरकी व्यापक अद्वैत सत्ता प्रकट नहीं हो सकती। इसलिये प्रकृति-बन्धनयुक्त सांख्यीय पुरुषसे विशेषता बतानेके अर्थ महर्षि पतञ्जलिजीने अपने दर्शनमें ईश्वरको 'पुरुष-विशेष' कहा है। इस 'पुरुष-विशेष' ईश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञताका बीज है और कालके द्वारा परिच्छिक्षण न होनेसे वे ज्ञानी महर्षियोंके भी गुरु हैं। कर्मात्मक मर्मिणियाँ चाहे कितने ही ज्ञानी व्यों न हो जायें, वे कालके द्वारा परिच्छिक्षण होनेसे निस्य ईश्वरके ज्ञानको प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिये ईश्वर महर्षियोंके भी गुरु हैं। इसके बाद परवर्ती तीन सूत्रोंमें ईश्वर-साधनका उपाय बतलाया गया है। जैसे प्रणव उसका नाम है, प्रणवके साथ ईश्वरका वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, इसलिये प्रणव-जप और उसकी अर्थभावनाके द्वारा प्रश्यग्रामा-पुरुषका साक्षात्कार और व्याधि-संशयादि अन्तराय दूर हो जाते हैं। इसप्रकार ईश्वरभक्तिद्वारा समाधिसिद्धि और पुरुषकी स्वस्थोपलब्धि हो जाती है। यही अभिन्नक-योगदर्शनोक ईश्वर-सत्ताका परिमुक्त प्रमाण है। इसके सिवा अनेक बहिरंग तथा अन्तरंग साधनोंमें भी योगदर्शनमें ईश्वर-प्रणिधानकी महिमा और उपयोगिता बतायी गयी है। यथा—

'तपःस्वाध्ययेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'

'शौचसन्तोषतः स्वाध्ययेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'

समाधि-भावना और अविद्यादि रुपशूदूरीकरणके लिये योगशास्त्रमें जो क्रिया-योगका उपदेश किया गया है, उसमें तप और स्वाध्यायके अतिरिक्त 'ईश्वरप्रणिधान' भी एक अंग है। यहाँपर 'ईश्वरप्रणिधान' का अर्थ महर्षि वेदव्यासजीने यह किया है—

'ईश्वरप्रणिधान-सर्वक्रियाणां परमगुरौ अर्पण तत्परं सन्त्यासो वा ।'

'ईश्वरप्रणिधानका अर्थ परम गुरु ईश्वरमें सम्मत कर्मों-का समर्पण अथवा कर्म-फल-चाग है।' दूसरे सूत्रमें यथ-नियमादि योगोके अष्टांगोंमें हितीयोग नियमका लक्षण यताया गया है जिसमें दौध, सन्तोष, तप और व्याध्यायके अतिरिक्त 'ईश्वरप्रणिधान' को भी नियमके अन्यतम अंग-रूपमें बताया गया है। यहाँपर भी 'ईश्वरप्रणिधान' का अर्थ महर्षि वेदव्यासजीने—

'तस्मन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्'

—परम गुरु ईश्वरमें समस्त कर्मोंका अर्पण ही ईश्वर-

प्रणिधान है—ऐसा किया है। अतः योगदर्शनकी आस्तिकता सर्वथा निर्विवाद है, इसमें अयुमात्र भी सन्देह नहीं है।

सांख्यदर्शन

योगदर्शनकी तरह सांख्यदर्शनमें भी प्रकृतिकी प्रधानता होनेसे मुक्तिके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है। अनादि अविवेकद्वारा प्रकृतिके साथ पुरुषका औपचारिक सम्बन्ध हो जाता है। जिसमें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत हननीरों प्रकारके दुःखोंके द्वारा पुरुष विमोहित हो जाता है। तत्त्व-ज्ञानका उदय होनेसे जब पुरुष अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूपको समझ जाता है तभी पुरुषका मुक्ति होती है। अतः प्रकृतिसम्बन्ध-विच्छेदद्वारा ग्रिविध दुःखकी आरयन्तिक निष्पत्ति ही सांख्य-ज्ञान-भूमिके अनुसार मुक्ति है। इसमें परमानन्दमय घृणपदमें स्थितिके साथ मुक्तिका सम्बन्ध नहीं है। अतः इस दर्शनमें ईश्वरकी व्यापक सत्ताकी उपलब्धिके साथ मुक्तिका सम्बन्ध नहीं हो सकता। जिस पुरुषकी स्वरूपो-पलब्धिद्वारा सांख्य-भूमिमें मुक्ति बतलायी गयी है, वह पुरुष जीवशरीरस्थित कृतश्च चैतन्य है। व्यापक ईश्वरकी जो निर्लिपि, निर्विकार ज्ञानमय सत्ता प्रतिपरिषद्वच्छेदनमें देहमें विद्यमान रहती है, उसीको कृतश्च चैतन्य या पुरुष कहते हैं। वह ईश्वरका हो-देहावच्छिक्षण अंश होनेके कारण मदा निर्लिपि और नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। सांख्य-दर्शनमें प्रकृतिके साथ उसी पुरुषके अनादि, औपचारिक सम्बन्धको 'स्फटिक लंडिहस्यवत्' बन्धन और सृष्टिका कारण माना है और तत्त्वज्ञानद्वारा उस औपचारिक सम्बन्धकी निष्पत्तिको मोक्ष माना है। अतः सांख्यदर्शनके अनुसार जो मुक्ति होती है वह जीवशरीरमें कृतश्च चैतन्यकी उपलब्धिके द्वारा होती है। उस समय पुरुष जान लेता है कि प्रकृतिके ध्यूल, सूक्ष्म, कारण किसी विभागके साथ उसके कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वका सम्बन्ध नहीं है। वह धार्मस्थानमें प्रकृतिमें निर्लिपि, उदासीन और उसका द्रष्टामात्र है। यही सांख्यदर्शनोक मुक्ति है। अतः स्पष्ट है कि सांख्यीय मुक्ति-भूमिमें प्रकृतिकी व्यापक सत्ता अक्षुरण रहती है, ईश्वरकी व्यापक सत्ता जान महीं पदती, केवल अपने शरीरमें स्थित ईश्वरका चैतन्यमय भाव उपलब्ध होता है। अतः अपने शरीरके विचारमें प्रति देहमें पुरुषकी भिक्ष-भिज्ज बहुत सत्ता मानना, प्रकृतिको नित्य मानना और अपनों ज्ञान-भूमिमें

मुक्तिके लिये ईश्वरकी सत्ताके मानवेका प्रयोजन न समझना सांख्य-दर्शन-भूमिके अनुसार ठीक है । तथापि सांख्य-दर्शनने अलौकिक प्रत्यक्षकी सहायतासे जो ईश्वरके अस्तित्वको माना है, उसके द्वारा सांख्यदर्शनकी विशेष आस्तिकताका परिचय प्राप्त होता है । यथा—

‘योगिनामवाह्यप्रत्यक्षत्वाच दोषः ।
 ‘लीनवस्तुलभावितशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ।
 ‘ईश्वरासिद्धः’
 ‘मुक्तबद्धयोरन्यतराभावाज्ञ तरिसदिः ।
 ‘उमयथाप्यस्तकरत्वम् ।
 ‘मुक्तस्तमन् प्रशमा उपाससिद्धस्य वा’

‘हन्तियोंकी सहायतामें लौकिक प्रत्यक्षके अतिरिक्त योगिगण योगावलम्बे जो अनीन्द्रिय वस्तुओंका प्रत्यक्ष करते हैं, उसका सांख्य-ज्ञान-भूमिमें प्रयोजन न रहनेपर भी ऐसे प्रत्यक्ष करनेमें कोई दोष नहीं है । योगिगण हस्तप्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष-जनित्तारा असीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित वस्तुओंका भी अनुभव कर लेते हैं । जैसा कि ईश्वर अति सूक्ष्म तथा लौकिक प्रत्यक्षके अगोचर और हृष्टप्रत्यक्ष सांख्य-ज्ञान-भूमिके अनुसार असिद्ध होनेपर भी योगिगण अनीन्द्रिय अलौकिक प्रत्यक्षके द्वारा उनको जान लेते हैं । लौकिक विचारमें सांख्य-भूमिमें ईश्वर मिद्द नहीं होने क्योंकि ईश्वर न सो सुन् ही हो सकते हैं और न बढ़ । मुक्त होनेपर उनमें अभिमानाभावमें सृष्टि-कर्तृत्व नहीं आ सकेगा और बढ़ होनेपर उनमें सृष्टिकी शक्ति ही नहीं आ सकेगी । अतः लौकिक प्रत्यक्ष विचारमें ईश्वर मिद्द नहीं हो सकते ।’ इतना कहकर फिर सांख्य-दर्शन कहता है कि ‘यथापि लौकिक विचारमें ईश्वरकी सत्ता प्रमाणित नहीं होती परन्तु मुक्तामा पुरुषण और उपासनाके द्वारा सिद्ध पुरुषाण बारबार शास्त्रमें ईश्वरकी स्मृति कर गये हैं । इसलिये ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सन्देह नहीं करना चाहिये ।’ अर्थात् लौकिक प्रत्यक्षके द्वारा ईश्वर असिद्ध होनेपर भी मुक्तामा और सिद्ध पुरुषोंकी अलौकिक प्रत्यक्ष-शक्तिके द्वारा सदा ही उपलब्ध होते हैं । इसप्रकारसे आस्तिकतापूर्ण विचारहारा निज ज्ञान-भूमिमें अप्राप्य होनेपर भी सांख्य-दर्शनमें ईश्वरकी सिद्धि की है । यह सांख्य-दर्शनकी विशेष आस्तिकताका ही निवारण है । वस्त-पोषणार्थ अचेतन दुर्घटकी प्रहृतिकी तरह हुस्तके भोग और मोक्षार्थ अचेतन प्रकृतिकी प्रहृति हो

सकती है, ऐसा साधारण रीतिसे कहनेपर भी समष्टि और ध्येष्टि-प्रकृतिपर जबतक चेतनपुरुष और जीवका अधिष्ठान नहीं होता है तबतक न सो जड़-प्रकृतिमें परिणामकारिणी चेतन-शक्ति ही आ सकती है और न प्रकृति परिणामद्वारा मृष्टिविनाश ही कर सकती है, ऐसा अपने सूक्ष्मद्वारा प्रतिपादित करके सांख्यदर्शनने और भी आस्तिकताका परिचय प्रदान किया है । यथा—

‘तस्त्रिधानादधिष्ठातृत्वं मणित् ।
 ‘विशेषकार्येष्वपि जीवनाम् ।

जिसप्रकार अयम्कान्नमणिके पास रहनेमें ही लोहेमें चलन-शक्ति आ जाती है उसी प्रकार ‘सांख्यमें अनन्त’ चेतनामय पुरुषके अधिष्ठानमें समष्टि-प्रकृति कार्य करती है और प्रति पिण्डमें औपचारिक बन्धनमें बद्र जीवभावाप्य पुरुषके अधिष्ठानमें ध्येष्टि-प्रकृति कार्य करती है । यह बात पहले ही कही गयी है कि प्रकृतिपर अधिष्ठित पुरुष कृत्य चैतन्य है जो जीव-देहावच्छेदमें ईश्वरकी हो सकता है और—

‘अनेनैव जीवनामनाऽनुप्राविद्य नामरूपे द्याकरंत् ।’

उसी परमात्माने जीवरूपमें अनुप्रवेश करके नाम और रूपका विकार उत्पन्न कर दिया, इम छान्टोग्य श्रुत्युक्त सिद्धान्तके अनुसार वह चेतन-सत्ता जब ईश्वरका ही भावान्तरमात्र है, तो समष्टि और व्येष्टि दोनों प्रकृतियोंके साथ ईश्वरका सम्बन्ध सांख्यदर्शनद्वारा सम्यक् प्रतिपादित हुआ । केवल वेदान्तादि दर्शनोंके साथ उसका इतना ही भेद रह गया कि वेदान्तदर्शनमें ईश्वरकी इच्छामें प्रकृतिका परिणाम और मृष्टिक्रिया मानी है और सांख्यदर्शनमें कृत्य चैतन्यके अधिष्ठानमात्रमें प्रकृतिका परिणाम बताया है । फलतः आस्तिकताके विषयमें दोनों दर्शनोंमें कोई विशेष विभिन्नता नहीं पायी गयी । अधिष्ठानमात्रमें प्राकृतिक परिणामके विषयमें मृष्टियोंमें भी प्रमाण मिलता है । यथा—

निरिष्टे सस्तिं गते यथा लोः प्रवत्तते ।
 सत्तामात्रेण देवेन तथा चाये जगज्जनः ॥
 अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्यतम् ।
 निरिष्टत्वादकर्त्तां संस्कृतिः ॥

जिसप्रकार हृष्टारहित अयम्कान्नमणिके पास रहनेमें ही लोहेमें चेष्टा होती है, उसी प्रकार ईश्वर या पुरुषके

अधिष्ठानभाग्रसे ही संसारकी किया होने लगती है। इस विचारसे आत्मामें कर्तृत्व भी है और अकर्तृत्व भी है, क्योंकि हृष्णारहित होनेसे वे अकर्ता हैं और सांजिहिद्वारा कर्ता भी हैं। यही पुरुषरूपसे प्रकृतिपर हृष्णरका अधिष्ठान है और यही सांख्यदर्शनकी परम आनन्दिकाका परिचय है। मीमांसादर्शनमें हृष्णरकी 'विभूतया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया गया है और अपनी ज्ञान-भूमिमें प्रयोजन न होनेसे सांख्यदर्शनमें हृष्णरकी 'संख्यया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया दर्शन है।

कर्म-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर मीमांसा-दर्शनकी भूमियोंमें परमारम्भ-के ऐश्वर्य, मायुर्य और ज्ञानभावकी क्रमशः पूर्णतया निर्दिष्ट की गयी है। ऐश्वर्य-भावमें परमारम्भ हृष्णर अटष्टके विधाता, पुरुषके फलदाता, पापियोंके शामनकर्ता और धर्मके प्रतिषाता, सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं। यज्ञ उनका स्वरूप है, वेद उनकी वाणी या निशास है और देवतागण उनके आज्ञाकारी—उन्हींकी दैवी विभूतिके स्वरूप हैं। यही कारण है कि कर्म-मीमांसा-दर्शनमें वेद, वेदानुकूल यज्ञ-भेद, कर्म और देवताओंकी इन्हीं महिमा बनायी गयी है। यथा, कर्म-मीमांसामें—

'अस्मायस्य क्रियार्थवादानर्थक्षमतदर्थानाम् ।'

और भी—

यजते स्वर्गकाम ।

यजते जातिमपूर्वम् ।

अपाम सोमं अमृता अमूर्तम् ।

अक्षय है वै चानुर्माय यज्ञिनः मुकुत भवति । सर्वान् कोकान् ज्यति, मृत्युं तरति, पापाम तरति, ब्रह्महत्यां तरति योऽस्मेष्वेन यज्ञे ।

वेदकी यज्ञप्रतिपादिका श्रुतियाँ ही मुख्य हैं। यज्ञके द्वारा अमृतत्व लाभ होता है। यज्ञीय सोमस्यान करके सब अमर हो जाते हैं। चानुर्मायव्याग करनेवालेको अक्षय पुरुय-लाभ होता है। अध्येत्यज्ञद्वारा लोकजय, सूर्युजय, पाप-जप और ब्रह्महत्या-जैसे पापपर भी विजयलाभ होता है। इसप्रकारसे कर्म-मीमांसा-दर्शनमें यज्ञकी महिमा, यज्ञस्य भगवान् विद्याकी महिमा और यज्ञकिया बतानेवाले वेदके कर्ता हृष्णरकी महिमा बनायी गयी है। यही कर्म-मीमांसाद्वारा हृष्णरके ऐश्वर्य-भाव-वर्णनका रहस्य है।

भक्ति-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर भक्ति-मीमांसा-शास्त्रमें हृष्णरके मायुर्य-भावका न्यौष्ठीकरण है। इस भावमें भगवान् द्वयमय, मनेहमय, प्रेममय प्रभु हैं। इस भावमें भक्त उनके प्राण विक्रीत हैं, करणाकी धारा जाह्नवी-यमुनाकी धारा-रूपमें प्रवाहित है, जीवोंके दुःख दूर करनेके लिये (लोक-इष्टिये) स्वयं अनन्त दुःखभोग उनका परमवत है, इस भावमें भृगुपदाधान उनके हृदयका भृपण है, द्वौपदीका लज्जा-निवारण परम पौरुष है और करुणाकी होमाग्निमें समस्त ऐश्वर्योंका आद्विति-प्रदान जीवनका महावन है। इस भावमें भगवान् भक्तवस्तु प्रभु हैं, कल्यामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सत्त्वा हैं, मनेहमय पुरुष हैं और प्रेममय कान्त हैं। इसी भावकी अलोकिक मुरुनामें उन्हांने भक्त-शिरोमणि प्रह्लादसे क्षमा माँगी थी। यथा—

केद वपुः क च वयः सुकुमारमेतत्

केता प्रमत्तकृतदाहणयननासं ।

आलोकितं विषममेनद्भूतपवं

अनन्तव्यमङ्ग ! यदि म समय वित्तमः ॥

'कहाँ तुम्हारा यह सुकुमार कोमल शरीर और छोटी उम्र और कहाँ मदोन्मत्त निष्ठुर हिरण्यकशिरुका तुम्हारे ऊपर प्रवल अश्याचार ! इस अभृतपूर्व विषमताको मैंने द्वेष देख लिया है, प्रिय ! यदि मेरे आनेमें कुछ देर हो गयी हो तो मुझे क्षमा करो !' भक्ति-मीमांसा-शास्त्रमें इस मायुर्य-भावका भृति-भूरि वर्णन है जैसा कि इस शास्त्रके प्रतिपादक महर्षि शारिहल्य और देवर्पिं नारदके भक्ति-मूर्त्रोंके पढ़नेसे पता लगता है। वेदमें भी—

'रसो वै सः'

'आनन्दरूपे परम यद्विभाति'

'रसं हृष्णं लक्ष्मीऽऽनदी भवति'

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन ।'

हृष्णादि मन्त्रोंके द्वारा इस भावका पूर्ण प्रतिपादन किया गया है। भक्ति-दर्शनके मूत्रकार महर्षि शारिहल्यके मतमें 'सा परानुराक्षीरोश्वरे' अर्थात् हृष्णरके प्रति परमप्रेम या अनुग्रहको भक्ति कहते हैं। देवर्पिं नारदने भी 'सा कर्म्मं परमप्रेमरूपा' 'अमृतरूपा च' 'यज्ञावाया मतो भवति, मन्त्रो भवति, आत्मारामो भवति' हृष्णादि सूत्रों-के द्वारा हृष्णरके प्रति परमप्रेमको ही भक्तिका लक्षण कहा है। भगवत्प्रेममें मप्त हो जानेपर भक्तको बाहरी

विषयोंका भान नहीं रहता है, वह उन्मत्त सत्त्वकी तरह रात-दिन परमात्माके रमणमें ही लगा रहता है। उसका हृदय-कमल सहस्रज कमलकी तरह विकसित होकर श्रीभगवान्के पवित्र चरण-कमलोंमें विजिनताको प्राप्त हो जाता है। यही मानव-जीवनका सार छट्ट है और इसी सर्वोत्तम लक्ष्यकी प्राप्ति करनेके लिये ही भक्ति-मीमांसा-शास्त्रका पवित्र पुरुषार्थ है।

ब्रह्म-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर अन्तिम मीमांसा अर्थात् ब्रह्म-मीमांसा-दर्शनमें ईश्वर परमात्माके अन्यान्य भावोंके साथ उनके ज्ञानभावकी सम्यक् सिद्धि की गयी है।

ब्रह्म-मीमांसा-दर्शनमें ब्रह्मके उस अध्यात्मभावकी मीमांसा की गयी है, जिस भावके साथ मायाको कोई सम्बन्ध नहीं है, जो भाव मायामें अतीत है और जहाँ माया ल्य हो रहती है। इसलिये वेदान्त-दर्शनमें मायाको मिथ्या और सान्त कहा गया है और जब मायाकी वस्तुता इस तरह-में अपनी भूमिमें अम्बुद्धीत हुई तो विश्व-जगत्को प्रकृतिका परिणाम न कहकर ब्रह्मका विवर्त ही कहा जायगा। इसलिये वेदान्त-दर्शनमें संसारको ब्रह्मका विवर्त कहा गया है अर्थात् रजुमें सर्प-भ्रमकी तरह सोहिनी मायाके प्रतापमें ब्रह्ममें ही जगतकी आन्ति हो रही है, वास्तवमें यह ईश्य-मान संसार ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्त-दर्शनका मिद्दान्त है। वेदान्त-भूमिके अनुसार स्वरूप-पत्रविद्व-दशामें मायारहित तथा जगत् प्रत्यक्षरहित निर्गुण ब्रह्मभावमें स्थित होनेके कारण ही उस दशाके अनुसार व्यावहारिक दशामें भी जगत्को ब्रह्मका विवर्त माना गया है, क्योंकि मायाके मिथ्यात्म और जगत्के ब्रह्म-हृषत्वकी धारणा सुमुक्षु साधक-के चिह्नमें जिसनी प्रबल होगी, प्रब्रह्मकी निष्ठुक्तिके द्वारा स्वरूपपत्रविद्व उतनी ही निकटवित्ती ही जायगी। अतः संसारको विवर्तित ब्रह्मका रूप कहना और उसी विवर्त-को जानकर आनन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान होना मुक्ति है। ऐसा कहना निज ज्ञान-भूमिके अनुसार वेदान्त-दर्शनके लिये उपयुक्त ही है।

इस वेदान्त-दर्शनमें सगुण ब्रह्म ईश्वरकी सत्ता पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है क्योंकि जब वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म मायामें अतीत है, तो माया-सम्बन्धीय सृष्टि, स्थिति पालनादि सभी कार्य मायाशब्दलित, सगुण ब्रह्म ईश्वर-भक्तिकारमें ही होगा चाहिये। इसलिये इस दर्शनमें ईश्वर-

को जगत्का निमित्त और उपादान दोनों कारण ही माना गया है। निमित्त-कारण इसलिये कि उन्हींके द्वारा सृष्टि, स्थिति, प्रलयकार्य चलता है और उपादान-कारण इसलिये कि उन्हींपर सुवर्णमें कटक-कुण्डलकी नाहूं मायाने समस्त विषयकी आन्तिरो दिखलाया है। उनकी निमित्त-कारणता-के विषयमें वेदान्त-दर्शनमें अनेक सूत्र मिलते हैं।

यथा—

‘तत्मादृश्य यतः’ ‘जगदाचित्तात् ईश्वरि

संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय सगुण ब्रह्म ईश्वरके द्वारा ही होती है। ईश्वर ही समस्त जगत्के कर्ता है। उनकी उपादान कारणताके विषयमें भी वेदान्त-दर्शनमें अनेक सूत्र मिलते हैं।

यथा—

‘प्रकृतिश्च प्रतिशादृष्टानुरोधात् ।’

इसके भाष्यमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने लिखा है:—

एवं प्राप्त ब्रूः । प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्मस्युपगत्त्वं निमित्तकारणं च । न केवल निमित्तकारणमेव ।

सगुण ब्रह्म केवल जगत्के निमित्त-कारण ही नहीं है अधिकन्तु उपादान-कारण भी हैं। फिर—

‘योनिश्च हि गीयते’

—इस सूत्रके द्वारा भी उपादान-कारणता प्रतिपक्ष होती है।

‘तदनन्त्यत्वमारमणशब्ददिभ्यः’ ‘तथाऽन्यप्रतिपेषात्

इन दोनों सूत्रमें भी जगत् और ब्रह्मकी एकता करके जिसप्रकार कुण्डल-वलय आदि सुवर्णालंकरणमें वास्तविक कोई भेद नहीं, केवल नाम-रूपका ही भेद है, वस्तुतः सब सुवर्ण ही है, उसी प्रकार जगत् विविध नाम-रूप वंचित्य-रूप होनेपर भी वास्तवमें ब्रह्म ही है। ऐसा कहकर जगत्-के विषयमें ब्रह्मकी उपादान-कारणता विशेषरूपसे मिळ की गयी है।

‘तस्माद्ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम्’

आकाश, वायु आदि भूतोपत्ति सगुण ब्रह्म ईश्वरकी कार्य है। इस सूत्रके द्वारा जगदुपत्तिके विषयमें ईश्वरकी निमित्त-कारणता सिद्ध की गयी है। अतः वेदान्त-दर्शन-भूमिके अनुसार ईश्वरकी उभय-कारणता ही प्रतिपादित होती है। ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, इस विषयमें ब्रह्मसूत्रमें कहा है—

‘न स्यानतोपि परस्परं उभयहिंसं सर्वत्र हि ।’

ब्रह्म सर्वत्र उभयर्लिंग है, उपाधि-सम्बन्ध होनेपर भी निर्गुण-भावका विकाप नहीं होता है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण उभय ही है। इसमें यदि यह आपत्ति हो कि ब्रह्म सगुण होनेपर साकार हो जायेंगे, इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें सूक्ष्म है—

‘अरुपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्’

ब्रह्म निराकार हैं, उपाधि-सम्बन्ध होनेपर भी साकार नहीं होते। ‘प्रकाशवद् चाचैव यर्थम्’ जिसप्रकार सूर्यका प्रकाश आधार-भेदसे सरल, वक्त आदि भाव धारण करता है उसी प्रकार निराकार ब्रह्म भी उपाधि के द्वारा नानारूप प्रसीत होते हैं, वास्तवमें उनका कोई रूप नहीं है। रूप न होनेपर भी उपाधि-संयोगसे यदि ससीम हो तो इस सन्देहके उत्तरमें वेदान्त-दर्शन बताता है—

‘अतोऽनन्देन तथा हि निर्गमः’

ब्रह्मके सगुण शब्दवा निर्गुण दोनों ही स्वरूप अनन्त हैं।

‘प्रकाशाश्रयवद्वा तं जस्तवात्’

प्रकाशरूप वद्वामें सगुण-निर्गुण-भेद केवल उपाधि-भेदसे है, स्वरूपगत कोई भी भेद नहीं है। इसप्रकार निर्गुण ब्रह्ममें स्वरूपतः अभिज्ञ मायोपाधियुक्त सगुण ब्रह्म ईश्वरसे जगत्की उत्पत्ति होता है, इसलिये घटकुलालवद निमित्त-कारण ईश्वर कहे गये हैं। अब इसमें प्रभ यह होता है कि जब ईश्वर चेतन है और जगत् अचेतन है तो चेतन ईश्वरसे अचेतन जगत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें कहा है कि ‘चेतनमें अचेतनकी उत्पत्ति संसारमें हुआ करती है’—जैसे चेतन पुरुषसे अचेतन नख-लोमादिकी उत्पत्ति। अतः ईश्वरसे जगत्की उत्पत्ति शंकाजनक नहीं है, दिनीय प्रभ यह होता है कि कुम्भकार दरह, चक आदि उपकरणकी सहायतासे घट निर्माण करता है। ईश्वरका जब कोई उपकरण नहीं है तो वे मृष्टि कैसे करेंगे? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें कहा है—

‘क्षीरवद्वि’ देवादिवदपि लोके-

जिसप्रकार दुर्ग्र आदि उपकरणके बिना ही दृष्टि आदि रूपमें परिणत हो जाते हैं और जिसप्रकार देवता आदि उपकरणके बिना ही संकल्पमात्रसे मृष्टि करते हैं उसी प्रकार चेतन ईश्वर उपकरणके बिना ही स्वतः जगत्-मृष्टि करते हैं। तृतीय प्रभ यह होता है कि, ‘ईश्वर जब निराकार

है तो उनसे सृष्टि-कार्य कैसे सम्पन्न हो सकता है? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें कहा है—

‘विकरणत्वादिति चेत् तदुक्तम्’

भ्रष्ट्युक्त—

‘अपाणिपादो जडनो ग्रहीता।’

इत्यादि प्रमाणाद्वारा यह सिद्ध होता है कि निराकार-से भी सृष्टिकार्य हो सकता है। पुनः यह शंका होती है कि ईश्वर जब आसकाम हैं तो उनको सृष्टिकार्य करनेका क्या प्रयोजन है? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें कहा है—

‘लोकवतु लीलाकैवल्यम्’

सृष्टि उनका छीला-विलासमात्र है। जिसप्रकार शिष्य बिना प्रयोजन ही कीद्वा करता है, उसी प्रकार सृष्टि भी उनके अधिष्ठानसे प्रकृतिद्वारा स्वतः होती है। पुनः यह आपत्ति होती है कि संसार वैपर्यका आधार है। इसमें कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई दरिद्र, इसप्रकार देखनेमें आता है। यदि जगत् ईश्वरकी रचना है तो वे वह ही पक्षपाती या निष्टुर होंगे, इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें कहा है—

‘करुणः उपपत्तेः’

‘कृतप्रपत्तापेक्ष्यनु विहितप्रतिष्ठावैयर्यादिभ्यः’

‘वैष्णव्यनिर्वृण्यन मापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति’

ईश्वर कर्मफलके दाता हैं परन्तु कर्मके वैचित्र्यानुसार ही जीवको फल देते हैं, ऐसा न होनेसे शास्त्रीय विधि-नियंत्र निरर्थक हो जायगा। ईश्वर जीवकृत कर्मानुसार ही भिन्न-भिन्न मृष्टि करते हैं। जिसका एवं मुक्ति है उसे सुखी करते हैं। जिसका मन्द प्रारब्ध है उसे दुखी करते हैं। अतः इसमें ईश्वरका पक्षपात या निष्टुरता मिद्द होती होती। पूर्वपाद भाष्यकारने ईश्वरके कर्मानुसार सृष्टि-ग्रहस्यके विषयमें कहा है—

‘ईश्वरस्तु पञ्चवद् द्रष्टव्य । यथा हि पञ्चन्यो त्रीहियवा-दिमृष्टौ साधारणं कारणं मवति त्रीहियवादिवैष्णवे तु तत्तद्वैज-गतान्येवामाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि मवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिमृष्टौ साधारणं कारण मवति देवमनुष्यादिवैष्णवे तु तत्तद्वैज-गतान्येवामाधारणानि कर्माणि कारणानि मवन्ति । एव-मीश्वरः सापेक्षत्वात् वैष्णव्यनिर्वृण्याम्यां दुष्पति ।’

सृष्टिके विषयमें ईश्वरको मेषकी तरह समझना चाहिये। जिसप्रकार ब्रीहि, यज, आत्म आदिके विषयमें

मेघ साधारण कारण है अर्थात् मेघके जलसे ब्रीहि, यवादि-
उत्पन्न होते हैं परन्तु उसमें प्रथेकके भीतर जो प्रकृति-
वैषय है उसके लिये मेघ कारण नहीं है। उसके लिये
ब्रीहि, यवादिके बीजगत असाधारण सामर्थ्य ही कारण है।
ठीक उसी प्रकार देवमनुष्यादि-सृष्टिके विषयमें ईश्वर
साधारण कारण है, परन्तु उनके प्रत्येकके पृथक्-
पृथक् सुख-दुःख, ऐश्वर्य या दारिद्र्य आदि विशेषताके लिये
जीवोंके पृथक् कर्म ही असाधारण कारण हैं। ईश्वर उन्हीं
पृथक्-पृथक् कर्मोंके अनुसार प्रथेक जीवकी सृष्टि करते
हैं। अतः सृष्टिके विषयमें पर्जन्यवत् साधारण कारण होने-
से ईश्वरमें पक्षपात या निष्ठुरताका कलंक नहीं लग
सकता है। श्रुति कहती है—

‘पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।’

पुण्यकर्मद्वारा जीवोंका पुण्यलोक या सुखप्राप्ति और
पापकर्मद्वारा पापलोक या दुःखप्राप्ति होती है। अब
इसमें यह आपत्ति होती है कि यदि कर्मानुसार ही जीव-
कों ईश्वर फल प्राप्त करते हैं तो उनमें ऐश्वर्य कैसे समझा
जाय? कर्मके अधीन हुए वह सर्वशक्तिमान् और स्व-
तन्त्र कैसे कहला सकते हैं? यह आपत्ति अकिञ्चित्कर है
क्योंकि दात्य वस्तुके न होनेसे अभिदृश नहीं कर सकती,
इसलिये अभिमें दाहिका शक्ति नहीं है ऐसा कहना पागल-
पन होगा। दाहिका शक्ति होनेसे ही अभिदृश वस्तुओं-
को दृश्य कर सकती है। जलादिमें दाहिका शक्ति नहीं
है इसलिये दात्य वस्तुओंके संयोग होनेपर भी जलादि-
उनको दृश्य नहीं कर सकते। इसी तरहने जड़ कर्मके
नियामक सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें अनन्तशक्ति होनेसे ही वे
जीवकृत-कर्मानुसार उनको फल दे सकते हैं, शक्ति न
होती तो जीवके कर्म करनेपर भी उचित फल नहीं दे
सकते। अतः जीवकृत कर्मोंकी अपेक्षा रहनेपर भी ईश्वरमें
सर्वशक्तिमाताकी अभाव-कल्पना नहीं हो सकती, प्रजाओं-
के कर्मानुसार राजा दण्ड-पुरस्कारादि प्रदान करते हैं
इसमें राजामें शक्ति या स्वतन्त्रताकी अभाव-कल्पना नहीं
हो सकती। इसी प्रकारसे अनेक प्रमाणों तथा विचारोंद्वारा
वेदान्त-दर्शनमें ईश्वरकी परमसत्ता जगाउकरपरिचालनके
विषयमें प्रमाणित की गयी है। इस ईश्वर-सत्ताका स्वरूप

वर्ण है जिसको साधनाके द्वारा साधकगण प्राप्त करते हैं।
इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें लिखा है—

‘आनन्दमयोऽभ्यासात्।’

—ईश्वरकी वह सर्वव्यापक अद्वितीय सत्ता
आनन्दमय है, जिसको साधनाके द्वारा साधक प्राप्त कर
सकते हैं। साधनाके द्वारा ईश्वर कव प्राप्त होते हैं इस
विषयमें वेदान्त-दर्शनमें कहा है—

‘अपि साधने प्रसक्षानुमानान्माम् ‘परानिष्ठानानुतिरो-
दितम्’ ‘तदेकोऽञ्जवलं तप्रकाशितद्वारो हार्दानुगृहीतः
शताविकया।’

योगिगण शक्ति, ध्यान, प्रणिधानादिके द्वारा ईश्वरका
दर्शन करते हैं। ईश्वरकी साधनाके द्वारा सिद्धि प्राप्त
होनेपर जीवका भूला हुआ ब्रह्मभाव उसे भगवत्प्रसादमें
प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी साधकका हृदयाद्वयप्रद्वलित होता
है। जिसके प्रकाशमें साधकको निर्गमनद्वारा अर्थात् सुनिमें
प्रवेशद्वारा विदित हो जाता है। वह उपासक भगवत्कृपामें
पूर्ण होकर उज्ज्वलित सुषुमा-पथमें निष्कान्त हो उत्तरा-
यण या सहज-रातिमें परमधारको प्राप्त हो जाता है। यही
ईश्वरारात्रधनके द्वारा वेदान्तवर्णित निःश्रेयस्-पदवी-प्राप्ति-
का परम उपाय है। अतः वेदान्त-दर्शनकी आमिकता
सहज सिद्ध है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

वैदिक दर्शनोंमें ईश्वर-सत्ता-विषयक विचारके द्वारा
यही सिद्धान्त निश्चय हुआ कि अपनी-अपनी ज्ञानभूमिके
अनुसार सभी दर्शनोंने ईश्वर-सत्ताको प्रतिपादित किया
है और वह प्रतिपादन दार्शनिक भूमियोंकी क्रमोच्चितिके
अनुसार क्रमोच्चत होता हुआ अन्तिम दर्शन वेदान्तकी
अन्तिम भूमिमें आकर पराकाष्ठाको प्राप्त हो गया है।
आत्माके इसप्रकार श्रुति, शास्त्र और विचारमयमत त्रिविध
भाव और निरय शुद्ध बुद्ध निखिलकारण परम करुणामय
स्वरूपकी सम्यक् उपलब्धि होनेपर मुसुक्षु जीवका संसार-
बन्धन निरस्त हो जाता है, समझ संशयजाल छिप-विच्छिप्त
हो जाते हैं और राजयोगीको दुःखलवलेशविहीन निरया-
नन्दमय परमपदमें चिरविलीनता प्राप्त हो जाती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

वेद और ईश्वर

(केतक -५० श्रीपाद दमोदर सातवलेकर, सञ्चालक 'स्वाध्यायमण्डळ')



वेद विचार करनेवाले युरोपीय और भारतवर्षीय आधुनिक विद्वानों की सम्मति है कि 'वेदमें ईश्वर-विषयक विचार नहीं है, क्षिति नासदीय सूक्त के समान कुछ विचार हैं, परन्तु वे अपवाद हैं । वेदमें सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि पदार्थोंकी स्फुरत है, परन्तु ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वरविषयक कोई विशेष विचार नहीं है ।' इन विद्वानोंका यह भी कहना है कि परमात्मविषयक कल्पना वेदसंहिताओंमें नहीं थी, वह उपनिषदोंमें उत्पन्न होकर वह गयी है और सगुण उपासना तो पुराणोंसे ही फैली है ।

आधुनिक विद्वानोंकी इस सम्मतिको देखकर जब हम प्राचीन भारतीय विद्वानोंकी सम्मति देखनेका यज्ञ करते हैं, तब येसा प्रतीत होता है कि 'वेद समस्त विद्याओंका भाषण्डार है और उसमें आवश्यकतापूर्णताकी सभी विद्याएँ निहित हैं ।' उपनिषद् और गीतामें तो स्पष्ट कहा है कि—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वार्ण च यद्यदन्ति ।
यदिष्ठन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्त्वं पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ आमित्यत्तु ।
(कठ० १ । २ । १५)

'सम्पूर्ण वेद जिसका वर्णन करते हैं, सब तप जिसकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं और जिसके उद्देश्यमें ब्रह्मचर्य-का पालन किया जाता है, वह (परमात्माका) स्थान औंकारमें बोधित होता है ।' यहाँ येसा स्पष्ट कहा है कि सम्पूर्ण वेद-मन्त्र परमात्माका ही वर्णन कर रहे हैं अर्थात् उपनिषद्कारी सम्मति इस विषयमें निश्चिन है । यही भाव गीतामें भी है—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेदः । (१५ । १५)

'सम्पूर्ण वेदोंके हारामेरा (ईश्वरका) बोध होता है ।' जो छोग कहते हैं कि वेदमें ईश्वर-विषयक ज्ञान नहीं है, उपनिषद्की और भगवद्गीताकी सम्मति उभके विरुद्ध है ।

वेदमें ईश्वर-विषयक ज्ञान है या नहीं, इसका जब हम विचार करने लगते हैं, तब हम उपर्युक्त वचनोंको पृथक् नहीं कर सकते । आधुनिक विचारक जिन उपनिषदोंमें ब्रह्म-ज्ञानका वर्णन बताते हैं, उन्हीं उपनिषदोंको यह सम्मति है कि वेदके सभी वचनोंमें एक ही अद्वितीय सत्तत्वका विचार किया गया है । यहाँ एक बात और यह विचाराणीय है कि स्वयं उपनिषद् अपने ज्ञानके आविष्कारके प्रसंगमें वेदसंहिताके वचनोंको ही प्रमाणहृपसे आदरणीय मानते हैं । जो लोग उपनिषदोंका अध्ययन करते हैं, उन्हें इस बातका पता है । इसमें सिद्ध होता है कि अध्यात्मज्ञानका उपरेका करनेवाले उपनिषद् वेद-मन्त्रोंको ही प्रमाण मानते हैं, इसलिये वेद-मन्त्रोंमें भी आत्मा, ब्रह्म अथवा ईश्वर-विषयक ज्ञान अवश्य होना चाहिये । स्वयं संहिताके मन्त्र-में भी यह बात स्पष्ट शब्दोंमें कही है—

यस्त्वं वेदं किमृचा करिष्यति ।

(ऋवेद १ । १६८ । ३९)

'जो उसको नहीं जानता, वह वेद-मन्त्र लेकर ज्या करेगा ?' अर्थात् वेद-मन्त्र पढ़नेकी सार्यकता तभी होगी जब उस पढ़नेवालेको (तद् वेद) उस परमपदका ज्ञान होगा । जिसको वह ज्ञान नहीं होगा, उसका वेद-व्ययन व्यर्थ है । इस मन्त्रका विचार करनेपर भी यही स्पष्ट होता है कि वेद-मन्त्रोंकी अन्तिम सिद्धि परमात्म-पदका ज्ञान ही है ।

इन सब वचनोंपर मनन करनेसे हमें येसा स्पष्ट पता चलता है कि आधुनिक विद्वानोंका यह मत कि वेदमें ईश्वर-विषयक ज्ञान नहीं है, सर्वथा अशुद्ध है । यहाँ कहे पाठक कहेंगे कि 'केवल वचनोंको उद्देश्य करनेसे इस पक्षकी सिद्धि कैसे हो सकती है ?' यह कहना ठीक है, अतः अब हम वेद-संहिताके मन्त्रोंसे ही ईश्वर-विषयक ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है, इसका प्रमाणसहित विवरण करते हैं । इस विषयमें सबसे प्रमुख यह वेद-मन्त्र विचार करनेयोग्य है—

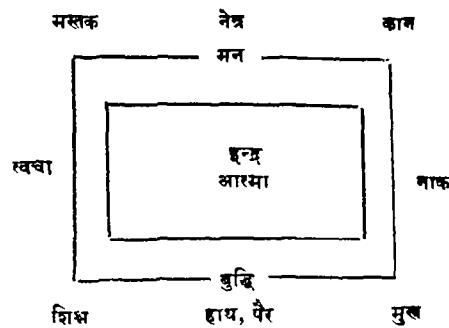
इन्द्रं मित्रं बहुणमग्निमाहुयो दिव्यः स सुप्तणो गरुमान् ।
एकं सदिप्रा बहुधा वदन्त्यपि यमं मातरिशानमाहुः ॥
(ऋग्वेद १ । १५ । ४६)

‘(एक सद) सत्य तथा एक ही है, परन्तु (विष्णुः बहुधा वदन्ति) ज्ञानी लोग उसका वर्णन अनेक रीतिसे करते हैं, उसी एक सत्यको इन्द्र, मित्र, बहुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुमान्, यम और मातरिशा कहा जाता है । अर्थात् उसी एक आस्मतस्वके ये अनेक नाम हैं । एकके अनेक नाम व्यवहारमें भी होते हैं । एक ही मनुष्य पुत्र, पिता, भाई, पति, चाचा, मासा, भतीजा आदि नामोंमें पुकारा जाता है और यदि वह अधिकारी हुआ तो उसीको तहमोलदार, जज, द्विवान् आदि नामोंमें पुकारते हैं । व्यावहारिक नामोंमें ये विविध नाम होनेपर भी इन अनेक नामोंमें वोपित होनेवाला मनुष्य एक ही होता है । इसी तरह अग्नि, इन्द्र, षष्ठा आदि अनेक नामोंमें सम्बोधित होनेवाला एक ही व्यक्ति, आरम्भा अथवा ईश्वर है । नाम अनेक होनेपर भी तत्त्व अनेक नहीं है ।

‘अग्निः वायु आदि मृष्टिके अन्तर्गत तत्त्वोंकी ही पूजा वेदमें कही है’ यह मत उपर्युक्त वेद-मन्त्रद्वारा स्थिरित हो जाना है और ‘अग्नि आदि अनेक नामोंमें एक ही आस्माका व्रोध होता है’ यह वात सिद्ध हो जाती है । इसपर भी आधुनिक विद्वानोंका यह कथन है कि ‘यह मन्त्र अवौचीन है, अतः प्रामाणिक नहीं है’ । इस कारण अब इस विषयपर अन्य रीतिसे विचार करते हैं—

पाठक! ‘इन्द्रिय’ शब्द जानते हैं; ‘इन्द्र’ शब्दके साथ शक्तिवाचक ‘य’ प्राथ्यय लगाकर (इन्द्र+य) इन्द्रिय शब्द बना है । ‘इन्द्रिय’ शब्दका मूल अर्थ ‘इन्द्रकी शक्ति’ है । परन्तु वेद मन्त्रोंमें तथा भाषाओंमें ‘इन्द्रिय’ शब्द औंख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि इन्द्रियोंके लिये प्रयुक्त होता है । क्योंकि इन औंख, नाक, कान, हाथ, पैर आदिसे उनके अन्दर निवास करनेवाले ‘इन्द्र’ की शक्ति प्रकट होती है । यदि औंख, नाक, कानोंमें ‘इन्द्र-शक्ति’ कार्य कर रही है तो इसमें निःसन्देह यह अनुमान हो सकता है कि इनके पीछे अथवा बीचमें इन्द्रदेव बैठा है । यदि इनके पीछे इन्द्रदेव न होता, तो इनमें इन्द्र-शक्ति कहाँसे आती और इनका इन्द्रिय नाम भी कैसे सांस्क छोता ? अतः यह

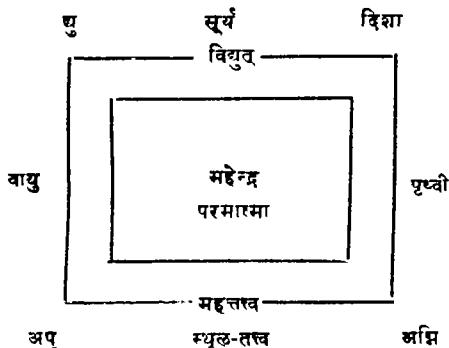
निःसन्देह सत्य है कि इन औंख, नाक, कान आदिके पीछे इन्द्रदेव विशाङ्मान हैं, तेलिये—



इसी प्रकार यहाँ पाठक अन्यान्य इन्द्रियोंकी भी कहरना कर सकते हैं । इन्द्रदेवकी शक्ति प्रथम तुदिमें आती है और वहाँसे मनमें तथा मनसे इन्द्रियोंमें आकर कार्य करती है । इस विचारमें सिद्ध होता है कि इन्द्रदेवता अपने अन्दर है और उसकी शक्ति अपनी इन्द्रियोंमें आकर कार्य करती है । यह इन्द्रदेव इसारा ‘आरम्भा’ ही है । वेदके मन्त्रोंमें जो इन्द्रदेवताका वर्णन है वह इसी आरम्भाका वर्णन है । और जो आरम्भाका वर्णन है वही परमारम्भाका वर्णन होता है; क्योंकि घटाकाश, मठाकाश और महाकाश इन तीनों आकाशोंमें वस्तुतः एक ही आकाश है, अतः किसी भी आकाशका वर्णन किया जाय वह उस एक ही आकाशका वर्णन होता है, इसी तरह—

जीवारम्भा	परमारम्भा
इन्द्र	महेन्द्र
देव	महादेव
प्राण	परमद्वा, ज्येष्ठश्वर
ईश	ईश्वर, परमेश्वर
पुरुष	पुरुषोत्तम
गर	नारायण
सद	महारुद
जीव	शिव

इत्यादि शब्द-प्रयोगोंमें विभिन्न वस्तुका वर्णन वही है, प्रस्तुत एक ही सर्वगत स्थानु आस्माका वर्णन है । अतः अपनी इन्द्रियोंके पीछे जो ‘इन्द्र’ है वही इन्द्र किंवा महेन्द्र, अग्नि आदि देवताओंके पीछे है, तेलिये—



अप्

स्थूल-तत्त्व

अप्ति

यहाँ भी पाठक अन्यान्य देवताओंकी कल्पना कर सकते हैं। शरीरमें हन्द्र है और मृष्टिमें महेन्द्र है, शरीरमें आत्मा है और मृष्टिमें परमात्मा है, शरीरमें देव है और जगतमें महादेव है, शरीरमें ईश है और जगतमें परमेश्वर है। यहाँ जो छोटे-बड़ेका भाव है वह अज्ञ जनोंके बोधके लिये है, बल्कि इनमें भेद नहीं है क्योंकि दोनों स्थानोंमें एक ही तत्त्व है, इसका वर्णन भगवत्तीतामें इसप्रकार है—

नित्यः सर्वंतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।

(१ । २४)

‘यह आत्मा नित्य (सर्वंतः) सर्वव्यापक (स्थाणुः) मर्बीधार अचल और सनातन है।’ ऐसी म्युतिमें यदि हमने अपनी सुशोधताके लिये शरीरध्यापी आत्माका नाम ‘जीवात्मा’ किंवा ‘हन्द्र’ इत्यलिया और जगद्र्यापक आत्माका नाम ‘परमात्मा’ किंवा ‘महेन्द्र’ रखता तो उस मुकु एक तत्त्वमें कौन-सा भेद हो गया? अम्भु ।

इस तरह वेद-मन्त्रोंमें जो हन्द्र-देवताका वर्णन है, वह निःसन्देह इसी एक आत्मतत्त्वका ही वर्णन है। जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है, पिण्ड-ब्रह्माण्डका न्याय एक ही है और इसी न्यायमें परमेश्वरका ज्ञान हो सकता है। वेद-मन्त्रोंमें इसी रीतिमें परमेश्वरका ज्ञान दिया गया है। किसीको सन्तेह न हो इसलिये यह बात धेष्ठने ही स्पष्ट कर दी है, देखिये—

ये पृथक ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।

(अथवेद १० । ७ । १७)

‘जो पुरुषमें अर्थात् मनुष्यके शरीरमें ब्रह्म देखने हैं वे परमेष्ठीको भी जान सकते हैं।’ अर्थात् मनुष्यके शरीरमें जो आत्मा, ब्रह्म अथवा हन्द्रका साक्षात्कार करते हैं वे

समष्टि-जगतमें परमात्मा, परब्रह्म किंवा महेन्द्रको जान सकते हैं क्योंकि पिण्ड-ब्रह्माण्डका एक ही नियम है।

इस विवेचनसे पाठकोंने जान लिया होगा कि वेद-का हन्द्र देवता किस तरह परमेश्वरका बोध करता है और साथ ही जीवात्माका भी वर्णन करता है। जो कोग इस तरह वेदका अध्ययन करेंगे, वे ही वेद-मन्त्रोंमें सर्वत्र परमात्म-ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे। आधुनिक लोग केवल शब्दका उपरी अर्थ देखते हैं, अतः वे वेद-मन्त्रोंके मुख्यार्थसे बहुत रह जाते हैं। शरीरमें जीवात्मा है, इतना ज्ञान होनेसे ही जगतमें परमात्मा है यह जान हो जाता है। इस तरह हन्द्र देवतामें जीवका और ईश्वरका ज्ञान होता है। जो कहते हैं कि हन्द्र देवता किसी अन्य पदार्थका बोध करता है, वे गलतीपर हैं। इयाकरणाचार्य भगवान् पाणिनि मुनिने भी ‘हन्द्रिय’ शब्दकी सिद्धि करने हुए कहा है—

इन्द्रियं हन्द्रिणं हन्द्रदृष्टं हन्द्रमृष्टं हन्द्रजुषं हन्द्रदत्तं इति वा ॥

(बृष्टा० ५ । २ । १५)

इन्द्रः आत्मा तस्य लिङ्मं करजेन कर्तुभुमानात् ।

(कीमुदी)

‘हन्द्र नाम आत्माका है, यह आत्मा अन्दर है ऐसा अनुमान इन्द्रियव्यापार देखनेमें होता है, क्योंकि यह हन्द्रनेकिया है, यनाया है और वही इसमें कार्य करता है।’ इस सूत्रके तेस्वनेमें सिद्ध होता है कि ‘हन्द्र’ शब्दका जो अर्थ हमने कहा है वह इत्यधिसम्मत है। अतः वेदका हन्द्र देवता शरीरस्थित स्थायी जीवात्माका और मृष्टियापक परमात्माका समानतया बोधक है। उदाहरण देखिये—

इन्द्रो यानोऽवर्मितस्य राजा

शमस्य च मृष्टिणो वज्रबदुः ।

सेदु राजा क्षयति चर्षणानाम-

राज नेमिः परिता वसूलृ ॥

(अथवेद १ । १२ । १५)

‘हन्द्र म्यावर-जङ्घम-जगत्का राजा है, वही प्रभु शास्त्र और सींगवाले मारक पशुओंका भी स्वामी है। सब प्रजाओंका वही एक राजा है। जिस तरह नेमिके चारों ओर चक्र होता है, उसी प्रकार उस प्रभुके चारों ओर यह विद्ध है।’ इसप्रकारके मन्त्रोंमें हन्द्र शब्द परमात्मा किंवा परमेश्वरका वाचक है। अब जीवात्माके विषयमें देखिये—

अहमिन्द्रो न पराजियं इद्धनं
न मृत्युवेऽवतस्ये कदाचन ॥
(कर्मवेद १०।४८।५)

‘मैं इन्द्र हूँ, मेरा पारायन नहीं होता, यह खन मेरे पास ही रहता है, मैं कभी नहीं मरता, मैं अमर हूँ।’ यह वर्णन शरीरमें रहनेवाले प्रबुद्ध जीवात्मका है। यहाँ पाठक इस आत्मको ध्यानमें रखें कि आज जो जीव है, वही कालान्तरमें उत्तम होता हुआ शिव बन जाता है। आज जो छोटा इन्द्र है, वही एक दिन महेन्द्र बनेगा, आज जो बद्ध है वही मुक्त होगा। इसीलिये जीवात्मा और परमात्माके नाम एक ही वेदमें आये हैं। अभि, इन्द्र, वरुण आदि नाम इसी कारण वेदमें हन दोनोंके हैं। पिता-पुत्रके नाम एक होना ही सिद्ध करता है कि जो आज पुत्र है वही कुछ समय ध्यनीत होनेके पश्चात् पिता बनेगा। प्रत्येक पुत्र पिता होनेका अधिकारी है, इसी तरह प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनेगा, प्रत्येक इन्द्र महेन्द्र होगा, प्रत्येक जीव शिव होगा और प्रत्येक पुरुष कभी-न-कभी पुरुषोत्तम हो जायगा। इस तरह वेद-मन्त्रोंमें जैसा पुरुषका वर्णन है वैसा ही पुरुषोत्तम-का भी वर्णन है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि ‘सब वेदोंमें इश्वरका ही वर्णन होता है।’ (गीता १५। १५) यहाँतक जो विवेचन किया गया है उससे यह वैदिक वर्णनकी शैली सम्पूर्ण हो जायगी।

अब विशेष म्पटीकरण के लिये अभिदेवका थोड़ा-सा वर्णन देखते हैं—

तवे ह्यांगे प्रथमो मनोताऽस्या विषो अभवो दस्म होता ।

(कठगवेद ६ । १ । २)

‘हे अमेर ! (त्वं प्रथमः मनोता) तू पहला मननकर्ता है और हे (दस्मि) दर्शनीय अमेर ! तू (धियः होता) बुद्धिका प्रदाता है’ यहाँ सायणाचार्य ‘मनोता’ शब्दका अर्थ ‘मनः यथा उत्तम सम्बद्ध भवति’ पेसा करते हैं। जहाँ मन सम्बद्ध हुआ होता है वह मनोता है। इन्द्रियों मनमें और मन आपमामें सम्बद्ध होता है, यह बात प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तःकरणका विचार करके जान सकता है। इसी प्रकार बुद्धिका दाता यहाँ आपमा ही है। इसलिये यह मर्णन जीवात्मपरक है। यही विषय ऐतरेयाबृहस्पति अधिक स्पष्ट किया गया है। अब लहू भाग लेखिये—

त्वं ह्यमे प्रथमो मनोतंति ।... तिस्रा वै देवानां मनोतास्तामु
हि तेषां मनांस्येतानि । वपुवै देवानां मनोता तद्या हि तेषां

मनोस्येतानि । गौर्वे देवानां मनोता... ...अश्रिवे देवानां
मनोता... ... । (ए० शा० २ । १०)

‘देवोंके लीन मनोता है, वाक् देवोंका मनोता है क्योंकि उमरमें देवोंका मन सम्बन्धित हुआ होता है। गौ और अग्नि ये दूसरे दो मनोता हैं।’ यहाँ जो वाणीको मनोता कहा है, उसमें शरीरान्तर्गत जीवान्माके माथ इस मन्त्रका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। इसी विषयमें निम्नलिखित मन्त्र नैसर्ये—

अयं होता प्रथमः पद्यतेममिदं ज्यातिरमृतं मत्येषु । अयं
संयज्ञ ध्रव अनिषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः ॥ (ऋग्वेद ६ । १ । ४)

‘यह पहिला हवनकर्ता अग्नि मरणवर्मनवारो मनुष्योंमें
अमर ज्योतिरिप है। यह (अमर्त्यः तन्वा वर्धमानः) अमर
होना हुआ भी शरीरके साथ बढ़ता है और इस जीवनस्पृ
यज्ञमें स्थिर है।’ यहाँ मर्त्य-शरीरमें जो अमर आत्माकी
ज्योति है, उस आत्मामिका ही वर्णन है। मनुष्यका जीवन-
रूप शतमांवसरिक यज्ञ चल रहा है और इस जीवनयज्ञमें
यही आमज्ञयोतिरूप अमर आत्माग्नि प्रदीप है। श्रीसाय-
णाचार्य हस मन्त्रका अर्थ (मर्त्येषु “शरीरेषु अस्तुन् मरण-
रहितं हृतं ज्योतिः जाठरस्येष वर्तते”) ‘मरनेवाले शरीरमें
अमरज्योति उद्दरमें पाचक-शक्तिरूपम् है।’ ऐसा करते हैं।
तात्पर्य, यहाँका अभिभाव आग नहीं है, परन्तु मर्त्य-शरीरमें जो
अमर सत्य तत्त्व है, वही है। अब ‘अग्नि’ शब्दमें परमेश्वरका
वर्णन निश्चलिक्षित मन्त्रमें देखिये—

अंग्रेव्यं प्रथमस्यामताना

मनामहे चारुदेवस्य नाम ।

स नो मद्यादितये पनर्दात्

पिनरं च हठेयं मातरं च ॥

• क्रमांक १२८।३

‘हम (असृतानाम् प्रथमस्य अन्ने:) अमर देवोंमें पहले
अग्निदेवका (चारु नाम) सुन्दर नाम (मनामहे) मरमें
लाते हैं । वही हम सबको प्रकृतिमें (उनुः दात्) उनः-
उनुः ढालता है और जिससे हम अपने माता-पिता को
बारबार देख सकते हैं ।’

यहाँ सम्पूर्ण अमर देवोंमें सबसे प्रथम स्थानमें रहने
अधिदेवका वर्णन है, यह अधिदेव जीवात्माको पुरा
योग करता है। यह निःसन्देह परमेश्वर है।

कर्गे कि यहाँ तो 'अप्ति' नाम स्पष्ट है, अतः इससे मुख्य-देवका प्रहण कैसे किया जा सकता है? इस विषयमें यह कथन है कि वेदमें बहुधा सभी देवताओंके लिये प्रायः सभी नाम प्रयुक्त हुए हैं, अर्थात् अप्तिको इन्द्र कहा है और इन्द्रको भी अप्ति कहा है। इसी प्रकार अन्य देवताओंको भी अन्य देवताओंके नाम दिये हैं। इस कारण हम कह सकते हैं कि इन शब्दोंका जो अर्थ लौकिक संस्कृतमें है, वही अर्थ वेद-मन्त्रमें नहीं है, देखिये—

एष ब्रह्मा एष इन्द्रः ॥ (ऐ० ३० ५ । १)

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः (महानारा० १ । १ । ३, कैवल्य ५)

स इन्द्रः सोऽप्तिः सोऽक्षरः । (न० प० १ । १ । ४)

एष हि सत्यात्मा इन्द्रः । (मैति० ३० ६ । १ । ५)

'वही ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, अप्ति, अक्षर और आत्मा है।' अर्थात् ये सब नाम एक सत्तत्वके हैं। जो तत्त्व पूर्वोक्त अग्नवेदके 'इन्द्रं मित्रं' हस्यादि मन्त्रमें कहा गया था, वही यहाँ कहा गया है। वेदमें भी अप्तिको 'तू इन्द्र है' ऐसा कहा है और इन्द्रको भी 'तू अप्ति है' ऐसा कहा है, देखिये—

त्वमश्च इन्द्रो वृथभः...त्वं विष्णुः...त्वं ब्रह्मा...ब्रह्म-
णस्तेऽ ॥ त्वमर्थं राजा वहणः...त्वं मित्रः...त्वमर्थमा०...
त्वमंगा० ॥ त्वमग्ने त्वद्या० ॥ त्वमग्ने स्त्रो अमुरः० ॥ त्वं भगः० ॥
(कर्वंद २ । १ । म० ३-७)

हन मन्त्रमें अप्तिके लिये 'इन्द्र, वृथभ, विष्णु, ब्रह्मा, अग्नेणास्पति, राजा वहण, मित्र, अर्थमा, अंश, त्वद्या, रुद्र, असुर, भग' ये शब्द प्रयुक्त किये हैं। इसमें भी 'एक सत्य वर्णनके अनेक नाम होने हैं' यही बात मिद्द होती है और अप्ति शब्दमें 'आग' अर्थ लेनेवालोंका पक्ष खलिहत हो जाता है। जो यूरोपियन विद्वान् कहते हैं कि अग्नवेदका 'इन्द्रं मित्रं' मन्त्र आधुनिक होनेके कारण अप्रभाव है, वे यदि, वही बात इसप्रकार अप्तिसूक्तमें भी कही है, तेंवेंग, सो उनको अपना भय बढ़ाना पड़ेगा। केवल अप्तिसूक्तमें ही नहीं, प्रायः सब देवताओंके विषयमें ऐसा ही वर्णन आता है अर्थात् वेदका अप्ति इन्द्र है और इन्द्र अप्ति है, असः दोनों एक हैं, यह बात इसीमें मिद्द होगी; और यदि इसी विचार-परम्परामें सब देवताओंमें एक ही सत्य वस्तुका ज्ञान हुआ तो फिर 'सब वेद एक ही परमपदका वर्णन करते हैं' यही बात सिद्ध हुई। फिर 'सब वेद एक ईश्वरका वर्णन करते हैं' इस विधानमें किसीको भी सन्देह ही नहीं रहेगा।

यदि अप्ति और इन्द्र एक ही हैं, तो दोनोंके वर्णन एक दूसरेके लिये भी प्रयुक्त हो सकते हैं। इसनी बात कोई न भी माने, परन्तु इन्द्रसूक्तमें जो इन्द्र देवताका स्वरूप वर्णन किया है वह तो मानना ही पड़ेगा, वह देखिये—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव्

तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय ।

इन्द्रो मायामिः पुरुषूप इयते० ॥

(च० ६ । १४ । १८)

'इन्द्र प्रथेक पदार्थके रूपमें तदरूप होकर रहा है, यह उसका रूप देखनेयेग्य है। यह इन्द्र अपनी शक्तियों-में बहुत रूप धारण करता है।'

इस मन्त्रमें तो यह बात निःसन्देह कही गयी है कि 'परमेश्वर ही अपनी मायामें अनेक रूप धारण करता है' यह वेदान्त-शास्त्रका कथन है और वह इन्द्रमूलमें है। यह मन्त्र देवकर म० विहसनने कहा है कि—

Indra is here identified with Parameshwara, the supreme first cause, identical with creation

इन्द्रसूक्तमें इसप्रकार परमेश्वरका स्वरूप वर्णन किया है।

युगोपियन सोर्गोंके अन्तःकरणोंमें इस विषयमें मन्देह होना स्वाभाविक है, परन्तु भारतीय विद्वान् जब कुछ भी विचार न करते हुए उन्हींके सुर्यमें अपना सुर मिलाकर उन्हींके समान नाचने लगते हैं, तब आश्रय होता है। अस्तु, जो बात इन्द्रके विषयमें कही है, वही अप्तिके विषयमें भी सत्य है, क्योंकि अप्ति और इन्द्र एक ही हैं, भिन्न नहीं, यह बात इसमें पूर्ण कही जा चुकी है।

इस तरह वेदमें अप्ति, इन्द्र, वरुण आदि देवताओंके वर्णनमें एक ही परमात्माका वर्णन किया गया है, जो पाठक इसप्रकार देखेंगे उनको यह बात स्पष्ट हो जायगी कि वेदके मन्त्र एक ही परमतत्त्वका बोध करते हैं।

वेदमें जो अष्टके वर्णनके सूक्त हैं, जैसे नामदीय सूक्त, वे तो स्पष्ट ही हैं; अथवेदमें अप्यात्मविद्याके अनेक सूक्त हैं, उनके विषयमें भी किनीकी सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु यहाँ हमने वेदके उम्म भागमें परमेश्वरका वर्णन सिद्ध करनेका यद्य किया है कि जिसके विषयमें सर्वासाधारणको सन्देह है। आशा है कि विद्वान् इसका

विचार करके इस दृष्टिसे वेद-मन्त्रोंका मनन करेंगे और वेदके मन्त्रोंसे जो परमपदका ज्ञान भिलता है वह प्राप्त कर उस परमपदकी प्राप्तिके लिये यथा करेंगे ।

अब इस स्थानपर एक शंकाका विचार करना आवश्यक है । वह यह कि 'परमेश्वरकी क्या आवश्यकता है और जब उसकी हमें आवश्यकता नहीं तो फिर हम उसका विचार ही क्यों करें ?' आजकलके शिक्षित लोग ऐसा प्रभ करते हैं, अतः इसपर भी थोड़ा-सा विचार करना अर्थात् आवश्यक है ।

इसप्रकारकी शंका करनेवाले अपनी परतन्त्रताको नहीं जानते । जानते होने तो ऐसा प्रभ ही नहीं कर सकते । मनुष्यकी प्रत्येक शक्ति अल्प है और उस शक्तिका विकास विषयकी महत्ती शक्तिके साथ सम्बन्ध होनेपर ही सम्भव है । उदाहरणके लिये देखिये —

मनुष्यके आंख हैं, पर वह सूर्यके होनेमें ही कार्य कर सकती है, सूर्यके बिना वह शक्तिहीन है । सूर्यप्रकाशके साथ उसका सम्बन्ध होनेमें ही उसकी शक्ति विकसित होती है, अन्यथा नहीं । अर्थात् मनुष्यकी इष्ट अल्प-शक्तियुक्त है और वह महती सौर शक्तिमें सम्बन्धित होनेपर ही कार्यक्षम होती है ।

मनुष्यकी दूसरी इन्द्रिय कान है, वह आकाशके साथ सम्बन्धित होनेपर ही कार्य कर सकती है । जहाँ आकाश नहीं, वहाँ कान कुछ भी कार्य नहीं कर सकते अर्थात् मनुष्यके छोटे-से कान महान् आकाशके साथ सम्बन्धित हैं ।

मनुष्यके दारीरके घन और द्रवभाग क्रमशः अच्छ और जलके साथ सम्बन्धित हैं । खानेको अच्छ और पीनेको पानी न मिले तो ये शरीरके भाग लींग होंगे और अन्तमें मृत्युकी शरण जानेकी अवस्था ही प्राप्त होगी ।

मनुष्यके शरीरमें प्राण है और वह विश्वव्यापक

महाप्राण वायुके साथ सम्बन्धित है । यदि विश्वव्यापक महाप्राणसे मानवी-शरीरका प्राण वियुक्त हो जाय तो जीवन ही समाप्त हो जाय ।

इसी प्रकार मानवी शरीरके सब सत्त्वांश विश्वव्यापक महातत्त्वोंके साथ सम्बन्धित हैं । मनुष्य-शरीरमें एक भी ऐसा सत्त्व नहीं कि जो विश्वव्यापक महातत्त्वोंसे वियुक्त होनेपर भी कार्यक्षम रह सके ।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जब ऐसी बन्तुस्थिति है तो हमारा आत्मा किसके साथ सम्बन्धित होकर अपनी उत्तमिति कर सकता है, इसका विचार प्रत्येक विचारको करना चाहिये । यदि परदर्श, परमात्मा, परमेश्वर अथवा ईश्वर न माना जाय और उसके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़ा जाय, तो उस निराशार शिक्षितमें हमारा यह स्फुर्लिंगरूप आत्मा किमप्रकार विकसित हो सकता है ? अतः नात्तिक-तत्त्वज्ञान अपने आत्माको निराधार बनानेवाला है, इसलिये कदापि स्वीकार करने योग्य नहीं है । और अन्तिक-तत्त्वज्ञान अपने आत्माको महती परमात्म-शक्तिकी अखण्ड आधार देना है इसलिये वह सर्वथा आदरशीय है ।

उत्तु कुछ समयके पश्चात् पिता अवश्य होगा, परन्तु बालकपनमें उसको अपने पिताके आधारमें ही अपनी उत्तमिति करनी चाहिये । इसी प्रकार प्रत्येक नर कभी-न-कभी नारायण अवश्य बनेगा; परन्तु जबतक वह नारायण नहीं बनता, केवल नर ही है, तबतक उसको नारायणकी सहायता लेनी ही चाहिये । इसलिये ईश्वरमें भक्ति करना प्रत्येक नरके लिये योग्य है । 'भगवान्' की भक्तिसे ही 'नर' का निःसन्देह 'विजय' होगा । अतः कुतंक छोड़कर प्रत्येक मनुष्य भगवान्की शरण ग्रहणकर आत्माको कृतकृत्य करे ।

रब्बका आशिक

बुला आसिक हो यों रब्बदा, 'मुलामत' होवे लाख ।

लोग 'काफर काफर' आखदें, तुँ 'आहो आहो' आख ॥

—बुलेशाह

वैदिक संहिताओंमें ईश्वर या पुरुष

(लेखक—श्रीमंगलदेवजी शास्त्री, एम० ए०, डी० किल, आक्षन)



दिक् साहित्यमें और विशेषकर वैदिक संहिताओंमें ईश्वरवाद—इस विषयपर विचार करते हुए सबसे पहली बात, जो बहुत-से लोगोंको अजीब-सी प्रतीत होती है, यह है कि केवल वैदिक-संहिताओंमें ही नहीं, किन्तु वैदिक साहित्यभरमें ‘ईश्वर’ शब्द रूपरूप वे परमेश्वरके अर्थमें कहीं भी प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। यही नहीं, धर्मसूत्रों, पाणिनिमुनिकी अष्टाध्यायी, व्याकरण-महाभाष्य और कौटिल्यके अर्थशास्त्रके विषयमें भी यही बात है। जहाँतक इम कह सकते हैं, यह शब्द उक्त अर्थमें मवये पहले पक्की दो दार मनुसमृद्धिमें तथा श्रीमद्गवत्तीतामें आया है। महाभारत और रामायणमें यदि इसका प्रयोग मिले तो भी कोई बात नहीं; क्योंकि वैदिक साहित्यके अन्तर्गत नहीं हैं।

इसका विस्तार हम यहाँ नहीं करना चाहते। इस विचारको हम किसी दूसरे लेखके लिये स्थगित रखते हैं। इस लेखमें हमारा सम्बन्ध ‘ईश्वर’ शब्दमें उतना नहीं है जितना उसके आजकलके प्रचलित अर्थमें। इस दृष्टिमें यदि इम वैदिक संहिताओंको लेकर देखते हैं तो दो-चार ही शब्द ऐसे मिलते हैं जो परमेश्वरके व्यापक और महात्मके अर्थमें प्रयुक्त हुए कहे जा सकते हैं। वैदिक देवताओंमें अधिकतर (अग्नि, इन्द्र, बायु, सर्विता, विष्णु, रुद्र आदि) ऐसे ही हैं जिनका स्थान और कर्म नियत है। दूसरे शब्दोंमें हम उन्हें कार्मिक (Functional or Departmental) तथा स्थानिक (Local) देवता ही कह सकते हैं। तभी तो निरूप्यमें यास्कमुनिने कहा है—

तिस एव देवता ईति नेत्रकः। अभिनः पृथिवी स्थानः।
बायुर्वा इन्द्रो बान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युम्यानः। तासां महा-
भाग्यर्देवकस्या अपि बहुनि नामव्याप्ति भवन्ति। अपि वा
कर्मपृथक्त्वात्। (७। ५)

उपासक या स्तोता स्तुति करते हुए उनका कितना ही बढ़ाकर वर्णन करे, उनमेंसे, वास्तवमें कोई भी ‘परमदेव’ या ‘परमेश्वर’ नहीं कहा जा सकता।

हाँ, वेदान्तके अर्थमें प्रश्नका और ‘परम पुरुष’

(या विराट् पुरुष)के अर्थमें पुरुषका वर्णन, वारों संहिताओं-को मिलाकर, बहुत ही थोड़े सूक्ष्मोंमें आया है। यह वर्णन बड़े महत्वका है। इनमें व्रातका विचार इतना गूढ़ है कि वह सर्वसाधारणके ‘परमेश्वर’ का प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। विद्वान् ही उसे पहचान या समझ सकते हैं। वास्तवमें वह निर्गुण है।

पुरुषका वर्णन गेसा नहीं है। उसका वैदिक वर्णन बहुत कुछ परमेश्वरका वर्णन कहा जा सकता है। वास्तवमें यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओंमें परमेश्वरका वाचक मुख्य शब्द ‘पुरुष’ है। भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें इसी अर्थमें ‘पुरुषोत्तम’ शब्द आया है। इसलिये इस लेखमें हम इसी शब्दको लेकर विचार करना चाहते हैं।

वारों संहिताओंमें लगभग ३० सूक्ष्मोंमें ‘पुरुष’ शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिन सूक्ष्मोंमें मनुष्यके अर्थको छोड़कर परम पुरुष या विराट् पुरुषके अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है उनमेंसे प्रमिद्ध ‘पुरुष-सूक्ष्म’ सबसे मुख्य है। ‘पुरुष-सूक्ष्म’ की परम प्रसिद्धिका कारण भी इसमें स्पष्ट हो जाता है।

‘पुरुष-सूक्ष्म’ थोड़े-बहुत पाठान्तरों तथा कुछ कम या अधिक मन्त्रोंके साथ सामवेदकी संहिताको छोड़कर शेष तीनों संहिताओंमें आया है। तो भी शुक्ल-यजुर्वेदीय माध्यनिदन-संहिताका ही पुरुष-सूक्ष्म सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसलिये इस लेखके लिये उसीको हमने अपना आधार माना है। इस संहिताका यह २१ वाँ अध्याय है। यहाँ हमारा अभिप्राय सरे सूक्ष्मके अनुवादके देनेमें नहीं है। पुरुष-विषयक मुख्य-सुख्य विचारोंको ही हम यहाँ दिखाना चाहते हैं। विस्तारके भयमें यहाँ हम उपर शीर्षकके माय तट घोतक मन्त्र या मन्त्रावयवको देकर उसके भावार्थ-को देना ही पर्याप्त समझेंगे। इसप्रकार पुरुष-सूक्ष्मको समाप्त करके हम इसी अर्थमें पुरुषको वर्णन करनेवाले अन्यान्य वैदिक स्थलोंका भी संबंधमें दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

प्रथम, पुरुष-सूक्ष्मको लीजिये।

विराट् पुरुषका रूप अति महान् है

सहस्रशीर्षोऽपुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमि०९ सर्वतः स्पृत्वायतिष्ठाइशाङ्गुलम्॥

अर्थात्—अनेकानेक शिरों, चक्षुरादि इन्द्रियों और पैरों-बाला वह महान् पुरुष ब्रह्मारण्डस्पी भूमिको सब भोरते स्वास करके उसके बाहर भी अवस्थित है ।

वह सबका कारण और स्वामी है
पुरुष पवदः सर्व यद्गृहं यच्च भाव्यम् ।
उत्तमुत्तवस्येशाने यद्गन्ननिरोहति ॥

अर्थात्—यावत् अतीत, वर्तमान और भविष्य पदार्थ हैं वे सब पुरुष ही हैं । अर्थात् पुरुषमें उत्पन्न हुए हैं । वह ही अमृतत्वका तथा बड़नेवाले पदार्थोंका स्वामी है ।

पुरुषकी महिमा लोकातीत है
पतावानस्य महिमातोऽयायांश्च पुरुषः ।
पदाऽस्य विश्वा भूतानि विपादस्यमृतं दिवि ॥

अर्थात्—यह सारा ब्रह्मारण्ड पुरुषकी महिमा है । पर वह स्वयं इसमें भी बड़ा है । सारे पदार्थ उसके केवल एक चतुर्थांशके समान हैं । उसके अविनाशी तीन चतुर्थांश इस ब्रह्मारण्डमें बाहर प्रकाशमान स्वरूपमें अवस्थित हैं ।

पुरुष ज्ञानका स्रोत और जगदुत्पादक है
तसाद्यशतसर्वहुः संभूत पृष्ठदात्यम् ।
पश्चैस्तर्थकं वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च च ॥
तसाद्यशतसर्वहुत क्रचः सामनि जक्षिरे ।
छन्दाऽसि जक्षिरे तसाद्यतुस्तसादजायत ॥
तस्मादशा अजायन्त ये कं चाभयादत ।
गावो ह जक्षिर तस्मात्तमाजाता अजावयः ॥

अर्थात्—उसी वज्रनीय परम पुरुषमें घृतादि यावत्-भोग्य पदार्थ तथा वायुपर आश्रित जंगली तथा ग्रामीण पशु—जैसे अश्व, गाय, भैंड और वकरियाँ—उत्पन्न हुए । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अन्य छन्द भी उसीमें उत्पन्न हुए हैं ।

मनुष्य-समाजके अंग पुरुषके अंग-स्थानीय हैं
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीढाहू राजन्यः कृतः ।
अस्तु तदस्य यद्वैश्यः पद्मयाऽश्रुदोऽजायत ॥

अर्थात्—उस पुरुषके ब्राह्मण मुखरूप, क्षत्रिय बाहु-रूप, वैश्य उत्तरूप और शूद्र पादस्वरूप हैं ।

उसके ज्ञानको छोड़कर मृत्युको पार करनेका अन्य उपाय नहीं है
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नन्यः पन्था विष्टेऽयनाप ॥

अर्थात्—उसी प्रकाशस्वरूप पुरुषको जानकर मनुष्य मृत्युको उत्तलंघन कर सकता है । मृत्यु या संसार-सागरको पार करनेका दूसरा मार्ग नहीं है ।

वही देवोंका देव या महादेव है
ये देवेभ्य आतपति ये देवानां पुरोहितः ।
पूर्वे ये देवेभ्यो जातः ॥

अर्थात्—वही पुरुष देवताओंके लिये प्रकाश करता है । वही उनका नेता है । वह देवताओंकी उत्पत्तिसे पूर्व भी भौजूद था ।

अपर पुरुष-सूक्तमें पुरुष-विषयक मुख्य-मुख्य विचारों-
को ही इसने दिलाया है । शुक्ल-यजुर्वेदके अगले (३२३) अध्यायमें भी पुरुषका ही वर्णन है । उस अध्यायसे भी दो-चार मन्त्रोंको लेकर हम यहाँ दिखाना चाहते हैं ।

पुरुष त्रिकालातीत है
सर्वे निमेषा जक्षिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्द्धं न तिर्थं न मध्ये परिजग्रहत् ॥

अर्थात्—सब निमेष (या काल) पुरुषमें ही उत्पन्न हुए हैं । कोई इसके किसी छोरको नहीं देख सकता ।

पुरुषकी प्रतिमा नहीं हो सकती
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
... ॥

अर्थात्—इस पुरुषकी, जिसका यश महान् है, प्रतिमा (या उपमा) नहीं हो सकती ।

पुरुष सर्वत्र व्यापक है
... स आतः प्रोतश्च विमुः प्रजामु ॥

अर्थात्—वह पुरुष प्रजाओंमें ओतप्रोत है और व्यापक है ।

पुरुषके साथ हमारा सम्बन्ध
स ने बन्धुर्जनिता स विचाता
चामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
... ॥

अर्थात्—वह परम पुरुष हमारा बन्धु है, वह हमारा उत्पादक है । वही सब ब्रह्मारण्डका धारण करनेवाला है और सब पदार्थों और स्थानोंको जानता है ।

पुरुष शब्दका अर्थ
परमामाके अर्थमें पुरुषका जो वर्णन वैदिक संहिताओं-

के दो-चार सूक्ष्मोंमें आया है उसका सार हमने ऊपर दिया है। अब देखना है कि पुरुष शब्दका यह अर्थ किस आधार-पर किया जाता है। शतपथ-ब्राह्मण (१३। ६। २। १) में हस्प्रकार 'पुरुष' शब्दका निर्वचन किया है—

इमे वै लोकाः पूरयज्ञेव पूरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि
शेते तस्मात् पृथक् ।

अर्थात्— श्रिष्ठोकीरूपी पुरीमें व्याप्त होनेके कारण ही वह 'पुरुष' कहलाता है।

पर अर्थवेद (१०।२।२८-३३) के देखनेमें प्रतीत होता है कि यही मनुष्यका शरीर वह पुरी है जिसमें रहनेमें उसको पुरुष कहते हैं। नीचेके मन्त्रों या मन्त्रावयवोंमें मनुष्य-शरीरको, बाहुबिलके 'देवगृह' या

(Temple of God) के ही अर्थमें स्पष्टतया परमात्मा-की पुरी कहा है और यह ठीक भी है; क्योंकि भगवानके दर्शन अपने हृदयमें ही होते हैं। उक्त मन्त्र या मन्दावस्थ यह है—

... ... सर्वं दिशः पुरुष आभूत् ।
 पुरुषे ब्रह्मणे वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥
 अद्य चक्र नवद्वारा देवानां पूर्योदयः ।
 तस्यां हिरण्यमयः काशः स्वर्गो यज्ञतिशावृतः ॥
 प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपर्पत्वात् ।
 परीं हिरण्यं ब्रह्म विवेशपारिज्ञात ॥

उसी परमपुरुष अकालपुरुष या पुरुषोत्तमके लिये
एवं बार-बार नमस्कार है ।

वेदान्तके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंके अनुसार ईश्वरका स्वरूप

(लेखक — श्रीयुत श्रीधर मजूमदार पम० प०)

तमादिमध्यान्तविर्हानमेकं

विभं चिदानन्दमरुपमदभूतम् ॥

अर्थात् वह ब्रह्मा अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, शान्ति-स्वरूप, अविनाशी, अस्तिल सृष्टिका कारण, अद्वितीय, सर्व-ध्यापक, चिदानन्द-स्वरूप, आदि, माय परं अन्तसे रहित, अलक्ष्य परं अदभ्यत है।

ब्रह्मस्त्रोपर अनेक आश्चार्योंने भाव्य
लिखे हैं और उनमेंमें प्रथेकने ब्रह्मके स्वरूपका जो वर्णन
किया है, वह देस्त्रेमें एक दूसरेसे विलकुल भिन्न प्रतीति
होता है। परन्तु उनमेंमें प्रथेकने ही श्रुतिके प्रमाणोंका
आश्रय लेकर अपने-अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन किया
है। श्रुतियोंमें जो ज्ञान भरा हुआ है वह प्राचीन तत्त्व-
वेत्ता महर्षियोंके माधारां अनुभवका फल है। अतः उनमेंमें
किसीके भी निर्णयपर शंका करना श्रुतियोंपर शंका करना
है जिनें आस्तिक विद्वान् पाप समझते हैं, क्योंकि श्रुतियोंमें
भिन्न-भिन्न तत्त्वदर्शी ऋषियोंका आनन्दरिक अनुभव भरा
हुआ है जो उन्होंने स्वतन्त्र विचार एवं साधनमें प्राप्त
किया था। निश्चलिङ्गित श्रुतिको ध्यानमें रखनेसे ये सारे
समझें दूर हो सकते हैं—

अचि॒त्यमव्यक्तमनन्तरूपं

शिवं प्रशान्तमसूतं ब्रह्मयोनिम् ।

प्रत्येक भाष्यकारने ब्रह्मके उसी स्वरूपका वर्णन किया है जो उसके ध्यानमें आया, अतः हम उसे पूर्ण नहीं कह सकते, प्रत्येक भाष्यकारके साथ निपाथ रहते हुए हम यह नहीं कह सकते कि अमुक भाष्यकारने ब्रह्मका जो स्वरूप बतलाया है वही पूर्णतया ठीक है और अन्य भाष्यकारोंका निस्पत्त ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे अतिके प्रमाणमें विरोध आयेगा जो प्राचीन नस्ववेत्ता महर्षियोंके अन्तरिक अनुभवकी मुद्द मित्तिपर स्थित है। ब्रह्मके सर्वन्धमें महर्षियोंका जो इसप्रकारका आन्तरिक अनुभव है, उसका आधारितिक जगतमें उतना ही आदर है जितना चंशनिक जगतमें अपने हाथोंद्वारा किये हुए प्रयोगोंका है। अन्तर केवल इतना ही है कि अर्थर्थके अनुभवमें, जिसे दिव्य ज्ञान (Revelation) कहते हैं, आनंदका लेश भी नहीं होता। अतः उपर्युक्त कारणोंसे हमें यह भानना पड़ेगा कि ब्रह्मके आत्मविक स्वरूपमें भिन्न-भिन्न

भाष्यकारोंद्वारा निरूपित सारे स्वरूपोंका समन्वय हो जाता है और कुछ शेष भी रह जाता है जो अस्थित्य, अव्यक्त एवं अतर्क्ष है।

जगत्प्रसिद्ध महान् द्वाराणिक स्वामी शंकराचार्यके द्वारा निरूपित अद्वैत-सिद्धान्तमें ब्रह्मका स्वरूप मायातीत अर्थात् शुद्ध ब्रह्मलाया गया है, उनका सिद्धान्त वास्तवमें बहुत ऊँचा है। वह सिद्धान्त हमें यह बताता है कि हस्त इश्यमान जगत्-से आरमाका कोइ सम्बन्ध नहीं है और ब्रह्मके जिस अंशमें माया है वह मायातीत (शुद्ध) अंशके मुकाबलेमें विलक्षण तुच्छ है (देखिये छान्दोऽध्योपनिषद् ३-१२-६) ॥

भक्त आचार्य श्रीरामानुजने अपने विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तमें ब्रह्मका विश्वव्यापी रूप ही लिया है और ब्रह्मारह-को उसका विग्रह मानकर यह बताया है कि हमारा काम संसारके बिना नहीं चल सकता। † भन्तिरसमें इवे हुए आचार्य श्रीमध्यने द्वैतका आश्रय लेकर ब्रह्मको मठि-कर्ता और हस्त इश्यमान जगत्को उसका कार्य माना है। यह सिद्धान्त भी आपेक्षिक दृष्टिमें सीक ही है। शान्तिप्रिय श्रीनिश्चार्क-चार्यने किसी दूसरे भाष्यकारका खरड़न न करते हुए द्वैत एवं अद्वैत दोनोंको ठीक माना है, इसीलिये उनका मत द्वैताद्वैत-सिद्धान्तके नाममें विद्यात है। वे ब्रह्मके मायातीत (शुद्ध) एवं माया-विशिष्ट दोनों स्वरूपोंको दृष्टि-भेदसे ठीक मानते हैं।

उपर्युक्त समस्त भाष्यकारोंने वेदान्तका आश्रय लिया है। अतः हम सभी आचार्योंके चरणोंमें सादर प्रणाम करते हैं एवं यह मानते हैं कि ब्रह्मके स्वरूपका जैसा-जैसा वर्णन उन्होंने किया है वह सभी वास्तवमें ठीक एवं समानरूपसे मान्य है, क्योंकि श्रुति कहती है कि ब्रह्म हमारे अनुभवका विषय है, तकंका नहीं। अपनी परीमित बुद्धिके चरमेने ये भिज्ञ-भिज्ञ निरूपण चाहे हमें परस्पर-विरोधी प्रतीत हों, किन्तु वे सभी पूर्णरूपसे ब्रह्मपर घटते हैं जो दिक्षालालायनवच्छिक्षा है।

वेदान्तका किसी मतके साथ विरोध नहीं है। वह सो हमें उस सार्वभौम धर्मकी शिक्षा देता है जिसमें जगत्-के सारे धर्मोंकी सहित हुई है।

प्रत्येक व्यष्टि-चेतन (जीव) के लिये यह सम्भव नहीं कि वह सहसा समष्टि-चेतन (ब्रह्म) के स्वरूपकी झलक पा सके। इसीलिये वेदान्तने अधिकार-भेदसे कई सीढियों-की कल्पना की है, जिनमें द्वैतवादको प्रारम्भिक सीढ़ी और अद्वैतवादको, जिसमें सबका समावेश हो जाता है, अन्तिम सीढ़ी माना है। द्वैतसिद्धान्तमें भी साधककी रुचिके अनुसार भगवद्-भक्ति एवं ईश्वरोपासनाके दास्य, सत्य, वान्सत्य, माधुर्य आदि कई प्रकार माने गये हैं और वेदान्तको वे सभी मान्य हैं, क्योंकि उसके मतमें सभी मार्ग उस एक लक्ष्य—ब्रह्मकी प्राप्तिकी ओर ही ले जानेवाले हैं।

गोपालको भजो

जा दिन मन-पंडी उड़ि जैहै।

ता दिन तेरे तन तरुवरके सबै पात झरि जैहै॥ १॥

घरके कहै बेग ही काढो भूत भये कोउ लैहै।

जा प्रीतमसे प्रीति घनेरी सोऊ देवि डरैहै॥ २॥

कहै वह ताल कहाँ वह सोभा, देवत धूर उडैहै।

भाई-बन्धु कुटुंब-कीला, सुमिरि-सुमिरि पछतैहै॥ ३॥

बिना गुणाल कोउ नहिं अपना जस कीरति रहि जैहै।

सो तो सूर दुर्लभ देवतका, सतसंगतिमें पैहै॥ ४॥

—मूरदासजी

१ तावानस्य मर्दिमा तनो ज्याया २श्य पूरुपः । पाशोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥

† अभिमूर्धी चक्षुषी चन्द्रयनी दिशः श्रोत्रे वानिवृत्ताश्च वेदः ।

वाचुः प्राणो हृदयं विवेदस्य पद्भ्यां पूर्थिवा शेष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

वेदमें ईश्वर

(लेखक—पं० भीसेशचन्द्रजी चटोपाध्याय, प्रयाग-विश्वविद्यालय)

वेदमें ईश्वरका स्वरूप क्या है, यह जाननेके पहले हमें समझना चाहिये—वेद क्या है, उसकी अवधि कहाँतक है ? कारण यह है कि सम्पूर्ण वेदका समन्वय^१ करनेपर ही इस ईश्वरका वैदिक स्वरूप ठीक-ठीक समझ सकते हैं, अन्यथा एकदेशमात्रका ग्रहण करनेसे हमें उसके सबूत स्वरूपका पता नहीं लगेगा ।

हमारे प्राचीन आचार्य ‘वेद’ पदसे मन्त्र और ब्राह्मण-को लेते हैं । ब्राह्मण प्रधानतया मन्त्रोंका व्याख्यान है । ब्राह्मण वैसा ही वेद है जैसा कि मन्त्र । वेदकी कुछ शास्त्राओंमें मन्त्रांश और ब्राह्मणांश भिन्न ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं । यथा—शुक्ल-यजुर्वेदके मन्त्र हैं वाजसनेय-संहितामें और उन मन्त्रोंके ब्राह्मण हैं शतपथ ब्राह्मणमें । परन्तु कृष्ण-यजुर्वेदमें मन्त्र और ब्राह्मण एक ही साथ पाये जाते हैं । यथा—काढकसंहिता, मैत्रायणीयसंहिता, तैतिरीयसंहिता । ब्राह्मणोंमें और दो प्रकारके ग्रन्थ पाये जाते हैं, आरण्यक और उपनिषद् । श्रुति या वेदकी अवधि उपनिषद्सूक्त है । दूसरी हृषिके वेदके दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । ज्ञानकाण्डमें प्रधानतया उपनिषदोंको और कर्मकाण्डमें वेदका अवशिष्ट शंख समझना चाहिये । उपनिषदोंका और एक नाम है वेदान्त, अर्थात् चरम ज्ञान । कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें यथापि उद्देश्यका भेद है, तथापि परमार्थमें भेद नहीं है । कारण, ज्ञानस्वरूप वेदमें आरम्भ-विरोध नहीं रह सकता, असप्त वेदमें ईश्वरका

^१ देखिये ब्रह्मसूत १-१-४ ‘तत् समन्वयात् ।

२ आपत्त्व-यज्ञ-परिभाषा-सूत्र १-३१ मन्त्रब्राह्मणयो-वेदनामधेयम्^२ महामुनि तैमिनिका भी वही मत है । ‘तद्वो-दकेषु मन्त्रात्मा’ इन सूत्रमें (प० ८० च० २। १। १२) मन्त्रवा लक्षण देकर आपने कहा है कि वेदका अवशिष्ट अद्वा ब्राह्मण है—‘शेषे ब्राह्मणशब्दः’ (२। १। १३)

३ यथापि तैतिरीय ब्राह्मण नामका एक रवतन्त्र ग्रन्थ है तथापि उसमें तैतिरीयसंहिताकी तरह मन्त्र और ब्राह्मण दोनों पाये जाते हैं ।

४ कही मन्त्रसंहितामें, यथा वाजसनेय-संहितामें ईशोपनिषद् ।

स्वरूप कैसा बताया गया है यह समझनेके लिये मन्त्र-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् सबका उपयोग करना चाहिये । इस प्रबन्धमें समर्ण वेदका उपयोग किया जायगा । परन्तु अधिक व्यान मन्त्र और ब्राह्मणके ऊपर ही रहेगा ।

कुछ लोगोंका यह विचार है कि वेदमें देवताओंका नाम या स्तुति नहीं है, जो कुछ स्तुति है सब ईश्वरकी ही है । ये लोग ‘अग्नि’, ‘इन्द्र’ हृष्यादि पदमें उन नामके देवताओंको न लेकर परमेश्वरको ही लेते हैं । परन्तु श्रुति स्वयं इस बातका विरोध करती है । देखिये—

शूक्संहिता १-१-४, ‘हे अग्नि ! तुम जिस हिंसारहित यज्ञको चारों ओरमें वेरे हो, वह यज्ञ देवोंके पास पहुँचता है’ ।

शू० सं० १-२४-१ ‘अमरोंमें मैं अब किस देवताका सुन्दर नाम त्वं ? मुझे कौन अब पुर्वीपर लौटा देगा, जिससे कि मैं पुनः अपने माता-पिताको देख सकूँ ।

यहाँ भिन्न देवोंका उल्लेख बहुवचनसे किया गया है । माध्यनिदनसंहिता १-१०-१ ‘सविन् देवकी प्रेरणासे अस्ति-देवोंके बाहुमे पूषाके इसमें अग्निके लिये तुम प्रिय हविःको मैं ग्रहण करता हूँ’ ।

यहाँ सविता, अस्तिकुमारद्वय, पूषा और अग्नि इन देवोंमें भेद किया गया है ।

इन देवताओंकी स्तुति ऐहिक और पारजैकिक अस्तु-दयके लिये की गयी है । ये देवता, जगतकी सृष्टि करना,

५ अग्ने य यज्ञमध्यं विश्वतः परिभूरसि । स इवेषु गच्छति ॥

६ कस्य नूने करत्मस्यामृतानां

मनामहे चाह देवस्य नाम ।

को नो मद्या अदितये पुनर्दात्

पितरे च दूशेषं भातरं च ॥

७ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽदिविनो-

र्गुद्याम् पूषो इस्ताभ्यामप्येत् जुषं गृषामि ॥

अथवा सूष्टु जगत्का यथावत् सक्रियेत करना आदि जाना प्रकारकी शक्तियोंसे सम्भव है।

ऋ० सं० १-१५४-१ 'मैं अब विष्णुकी शक्तियोंकी महिमा गार्ड़, जिन्होंने पृथ्वीलोकका पूरा विस्तार नाप दिया है। इत्यादि'

श्रुति भिज्ञ-भिज्ञ देवीोंका उल्लेख करके ही ऊपर नहीं रहती है। वह यह भी बतलाती है कि ये सब देवता वास्तवमें एक ईश्वरके ही रूप हैं। देखिये—

ऋ० सं० १-१६४-४६ 'जानी लोग एक सब (अर्थात् ब्रह्म) को ही हन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुडमान्, यम, मातरिश्वा इत्यादि बहु नाममें कथन करते हैं।'

इसमें यह सिद्ध होता है कि देवता तो बहुत हैं परन्तु उन सबके पीछे परमार्थमें ईश्वर एक ही है, जिसके गुण, जिसकी महिमा अन्यान्य देवोंमें संकान्त हैं। उपनिषदोंमें ईश्वरको जगत्का स्वष्टा बताया गया है^{१०}। मन्त्रोंमें जहाँ कहीं कोई देवता सुष्टि-व्यापारसे संसृष्ट पाया जाता है, वहाँ यही समझना चाहिये कि परमार्थमें ईश्वर ही स्वष्टा है। सामवेदके केनोपनिषदमें यह कहा गया है कि ब्रह्मकी ही शक्तिसे उसीकी प्रेरणाये इस मनका प्रयोग करते हैं, शास लेते हैं, बोलते हैं, सब कार्य करते हैं; देवता लोग भी ब्रह्मकी शक्तिसे ही अपना कार्य करते हैं। उपनिषद् और

८ विष्णुकं वीरोगं प्रवोच-

यः पार्विकानि विवेदे रजांसि । इत्यादि

९ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाङ्-

रो दिव्यः स सुष्ठरों गरुडमान् ।

१० कं सदिप्रा बहुधा वद-

न्याग्निं यमं मातरिश्वानमाङ् ॥

१० यथा छान्दोग्य उपनिषद्, पृष्ठ प्रपाठक, द्वितीय खण्ड; तैसीरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवली, प्रथम अनुवाक।

११ केनेष्वितं पतति प्रेषित मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेष्विता वाचमिमां वदन्ति चक्षुः ओऽन्तः क उ देषो युनक्ति ॥ ओवरस्य ओव्र मनसो मनो यद्याचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राण्यः। चक्षुष्वशक्षुरतिमुच्य भीराः प्रेत्यासाङ्गोकादमृता भवनित ॥ कें उ० २० १ । १-२ ॥

देवता लोग भी ईश्वरहीकी शक्तिसे शक्तिमान् हैं, इसके लिये इस उपनिषद्का द्वितीय खण्ड देखिये।

मन्त्र-वाक्योंला समन्वय करनेमें यही सिद्ध होता है कि ईश्वर ही जगत्का स्वष्टा है और सब शक्तियोंका भूल है।

श्रुति इसमें भी आगे बढ़ जाती है। केवल देवता ही ईश्वरके रूप नहीं हैं, सारा संसार ईश्वरमें अनिष्ट है। पुरुष-सूक्तमें कहा गया है पुरुष अर्थात् ईश्वर ही सब कुछ है। उपनिषदोंके 'सर्वं स्वच्छदं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म ही है), 'तत्स्वमसि' (जीव और ब्रह्म एक है) इत्यादि वाक्योंका यही तात्पर्य है। ऋक्-संहिताके प्रसिद्ध देवी-सूक्त (१० । १२५) में ब्रह्म और आरम्भाका ऐक्य माना गया है। इसी कारणसे वहाँ कहा गया है कि एक ही आरम्भा रुद्र, वसु प्रभुति सबमें अनुगत रहता है, वह सभी कर्म करता है, सभी कुछ वह है। ऋक्-संहिताके चतुर्थ मण्डलके २६ वें सूक्तमें भी यही बात पायी जाती है। वहाँ वामदेव कहता है कि मैं ही मनु हुआ था, मैं ही सूर्य इत्यादि। अतएव उपनिषदमें कथित जीव और ब्रह्मका ऐक्य मन्त्रोंके माध्य पर्याप्त रूपमें मेल खा जाता है। यही ईश्वर या जगत्के सम्बन्धमें श्रुतिका चरम सिद्धान्त है।

अब ईश्वरका वैदिक रूप क्या है, हमें यह जानना चाहिये। आद्याणोंमें और कहीं-कहीं मन्त्र-संहिताओंमें ईश्वर 'प्रजापति' नामसे पुकारा गया है। वहाँ प्रजापति अनिरुक्त, अर्थात् कथनमें बाहर कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि प्रजापतिका रूप दुर्जेय है। इसका इस उपनिषदोंके साथ मिलान करें तो यह समझमें आ जायगा कि अनिरुक्त प्रजापति निर्विशेष ब्रह्म ही है। यही निर्विशेष,

१२ पुरुष इवेदं सर्वं यद्गृहं यज्ञं भाव्यम्, क० सं० १० । १० । २, मा० सं० ३१ । २ इत्यादि

१३ देखिये ब्रह्मस्त्र ? । १ । १० 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' और उसपर श्रीशङ्करानार्थजीका भाष्य ।

१४ माध्यान्दिन-संहिता १ । ६ । १, शतपथ-ब्राह्मण १ । १ । १ । १३ इत्यादि

१५ बृहदारण्यक-उपनिषद् ४ । २ । ४, 'स पृष्ठ नेति नेतीत्यात्मा' छान्दोग्य-उपनिषद् ६ । १२ । २, 'त होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्नं एवं महान्यग्रोधस्तिहिति' का भी यही अर्थ है। आद्याणोंके 'अनिरुक्त' प्रजापतिका अर्थ कैसे 'निर्विशेष' ब्रह्म है यह दिखानेके लिये एक स्वतन्त्र लेखकी अपेक्षा है।

सब गुणोंसे अतीत रूप ही ईश्वरका पारमार्थिक रूप है और व्यवहारके लिये सभी रूप उसके हैं।

अब हमें यह देखना है कि इस ईश्वरसे हमारा क्या काम है, इस विषयपर भूति क्या कहती है। ऐहिक और पारलौकिक काम देवोंकी पूजासे होते हैं, वे सो वास्तवमें ईश्वरहीके कारणसे हमें मिलते हैं। परन्तु एक बात

केवल ईश्वरहीमें सिद्ध होती है जो और किसीसे नहीं होती। 'उसीको जाननेसे लोग मृत्युलोकको अतिक्रमण कर जाते हैं, मोक्षका और कोई उपाय नहीं है।' अतएव मोक्षके लिये हमें तन-मनसे ईश्वरकी उपासनामें लग जाना चाहिये।

पुराणोंमें ईश्वर

(लेखक — श्री बी० आर० रामचन्द्र दक्षिणार पम० ए०)

'Encyclopaedia of Religion and Ethics' के लेखकने उस ग्रन्थके दसवें भागके ४२१ वें पृष्ठमें इस प्रकार लिखा है—

'The theology taught is heterogeneous and most deities that enjoyed a certain amount of popular acceptance can be found praised in the Puranas.'

'अर्थात् पुराणोंमें ईश्वर-सम्बन्धी जो कुछ विवेचन मिलता है उसमें एकता नहीं पायी जाती और जिनकी जनतामें थोड़ी बहुत मान्यता थी, उनमेंसे अधिकांश देवताओंकी स्मृति की गयी है।'

त्रिमूर्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवके अतिरिक्त उनमें हन्द्र, अग्नि, वस्त्रण, मित्र और मातरिषा हन्न प्रधान देवताओंका उल्लेख मिलता है। छोटे देवोंकी तो गिनती ही नहीं है। त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवका तथा हन्द्र, अग्नि प्रभृति अधिकांश वैदिक देवताओंका पुराणोंमें भी वही स्थान है जो देवोंमें पाया जाता है। उपरिलिखित एवं अन्य देवताओंकी पुराणोंमें जो महिमा वर्णन की गयी है उसके आधारपर स्वर्गीय H. H. Wilson ने, जिन्होंने विष्णुपुराणका अंग्रेजीमें भाषान्तर किया है, इस सिद्धान्तपर ज्ञोर दिया है कि पुराणोंका ढंग साम्प्रदायिक है। इस सिद्धान्तका विरोध उपर्युक्त विद्वान्के समयमें भी हुआ था। पुराणोंका विचारपूर्वक अध्ययन करनेवालेको उनमें साम्प्रदायिकताका भाव कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, हत्ती बात अवश्य सरणी चाहिये कि सरे पुराणोंमें एक ही विषयका प्रतिपादन नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि जिस रूपमें विद्व-भिक्षा पुराण हस्त मध्यरूपसे

हैं, उन सबकी रचना एक ही कालमें अथवा एक ही पुरुष के हारा हुई है। मूल-ग्रन्थोंकी रचनाके पीछे बहुत-से अर्वाचीन पुराणोंकी भी रचना हुई और इन अर्वाचीन ग्रन्थोंमें, सम्भव है, कहीं-कहीं साम्प्रदायिकताकी झलक आ गयी हो। सारे पुराणोंपर हृषि दालनेमें यह पता चलता है कि अद्वैतवाद ही उनका सिद्धान्त है, जो वेदान्तदर्शनका प्रतिपाद्य विषय है। यह बात उन दार्शनिक भागोंके अध्ययनमें स्पष्ट हो जाती है जिनकी पौराणिक साहित्यमें न्यूनता नहीं है। पीछेके पुराणोंमें तो छहों दर्शनोंके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन मिलता है, किन्तु वायु, ब्रह्मारुद्र एवं मस्य आदि प्राचीन पुराणोंमें केवल सांख्य, योग एवं वेदान्तके सिद्धान्तोंका ही आभास मिलता है। जिन दिनों पुराणोंके मूल-ग्रन्थ बने थे उस समय भिज्ञ-भिक्षा दर्शनोंका सूक्ष्मीकरण नहीं हुआ था यह मान लेना अयुक्तिगृह्ण नहीं जान पड़ता। युक्तिग्रंथके द्वारा यह जाननेमें आता है कि उस समय दार्शनिक विचारोंकी धारा सामान्यरूपसे प्रवाहित थी तथा किसी दर्शन-विशेषका निर्माण नहीं हुआ था। ईधर-उधर बिखरे हुए सिद्धान्तवाक्योंको एकत्रित करनेपर इस निर्णयपर पूँछचान युक्तियुक्त हो जाता है कि प्राचीन पुराणोंमें पीछेमे सूत्रबद्ध किये गये वेदान्त-दर्शनकी पूर्व-छटा दिखायी पड़ती है। वस्तुतः पुराणोंके रचनाकालमें योगदर्शनका विकास हो चुका था और वेदान्त-दर्शनका रचना-विकास होनेवाला था।

वेदान्त-दर्शन कुछ हने-गिने लोगोंकी सम्पत्ति बन गयी। विरकालीन परम्पराके अनुसार वैदिक साहित्यका पठन-पाठन द्विजाति वर्णोंके सियेवे विहित होनेके कारण प्राचीन

१६. 'तमेव विदित्वा तिष्ठु युमेति नान्यः पन्था विश्वेऽयनःय' मा० स० ३१। १६

ऋषि-मुनियोंने एक विशेष प्रकारके ग्रन्थोंका निर्माण किया, जिनसे सर्वसाधारणकी ज्ञानपिपासा शान्त हो सके। सर्वसाधारणके उपयोगके लिये लिखे जानेके कारण पुराणोंमें विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों, उपासनाके भिन्न-भिन्न प्रकारों नथा अनेक मत-मतान्तरोंका यहाँतक कि पितरोंकी उपासना एवं नास्तिक सिद्धान्तोंका भी वर्णन करना आवश्यक था। प्रमुख देवों-देवताओंके सम्बन्धमें रोचक एवं प्रभावोत्पादक आस्थानोंकी रचनाके द्वारा जन-साधारणके हृदयोंमें धार्मिक भावोंका जागृत करना ही इनका एकमात्र उद्देश्य जान पड़ता है। उपासनामें व्यक्तिगत रूचिको प्रधानता दी गयी है। प्रश्येक मनुष्यको अपने मतके अनुसार आचरण करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता है, यदि उसमें दूसरेके धर्मोचरणमें बाधा न पड़ती हो। इसप्रकारकी शिक्षण-पद्धतिके मूलमें वही भावना पायी जानी है जिसका भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कुरुक्षेत्रके मैदानमें निम्न-लिखित शब्दोंमें उपदेश दिया था। भगवान् आशा करते हैं—

लोग चाहे जिस स्थानमें मेरी उपासना करें और चाहे जिस नामसे मुझे पुकारें, उनकी उपासना और पुकार मुझे ही पहुँचती है क्योंकि मेरे सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं!*

अद्वैत-सिद्धान्तकी यह उच्च भावना पुराणोंके ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्तको समझनेकी कुजी है। पुराणोंमें उन मनुष्योंकी निन्दा की गयी है जो देवोंमें छोटे-बड़ेकी कल्पना करते हैं। पुराणोंमें कहीं इस बातका उपदेश नहीं दिया गया है कि अन्य देवताओंको छोड़कर किसी एक देवता-विशेषकी उपासना करो, इस सिद्धान्तके पोषक वाक्योंमेंसे वायुपुराणका निम्नलिखित वाक्य उदाहरणरूपमें लिया जा सकता है। उसका आशय यह है कि जो मनुष्य देवताओंमें भेद-भुद्धि रखता है वह वस्तुतः ईश्वरके प्रति अपराध करता है एवं जो उनमें अभेद-भुद्धि रखता है वही सच्चा ज्ञानी है। अनेक स्थलोंमें परमेश्वरके लिये 'नारायण' शब्दका प्रयोग किया गया है और इस शब्दका वैष्णव-सउप्रदायके उपास्य देवके अर्थमें ही व्यवहार नहीं हुआ है। ईश्वर अथवा योगीश्वर अर्थात् निर्गुण ब्रह्मके अर्थमें ही इसका जहाँ-तहाँ प्रयोग हुआ है। समस्त देवता उस एक परमात्माके ही विभिन्न रूप हैं जिसे इम नारायण,

* यथा मां प्रपद्यन्त तास्तर्व भजास्यहम्।

मम बत्मानुवर्तनं मनुष्याः पार्थं सर्वशः॥

(गीता ४। ११)

ईश्वर, महेश्वर, परब्रह्म, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, देवी इत्यादि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। जबतक हम एक ईश्वरकी सत्ताको भानते हैं तबतक नाम-रूपके भेद इमारा कुछ नहीं बिगाढ़ सकते। अंग्रेजीमें एक कहावत है—All roads lead to Rome अर्थात् सारे राज-मार्ग रोम-नगरकी ओर जाते हैं। 'नृणामेको गम्यस्वभावसि पथसामर्थं इव'। चाहे जिस पद्धतिसे और चाहे जिस नामसे लोग उसकी पूजा करें, पूजा एक उसीकी होती है। कर्म, अनुष्ठान, योगाभ्यास एवं यम-नियमादि केवल साधन हैं अर्थात् वे उस शाश्वत अविकारी उपास्य देवके पदार्थविन्दके सभीप पहुँचानेवाली सीढ़िदियाँ हैं जिसके सिवा अन्य सब असन्त हैं। बन्तुतः कठिन ब्रह्म-साधन एवं अनुष्ठानादि शरीर और मनको मोक्ष-साधनके योग्य बनानेके लिये संम्कारमात्र हैं। सधे हुए मन और शरीरके द्वारा ही मनुष्य संसारके बन्धनमें मुक्त होनेकी चेष्टा कर सकता है। अतः पुराणोंके उपदेशके भावको ठीक-ठीक समझना चाहिये, किसी एक देवता अथवा मतकी प्रशंसाका यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि इसमें अन्य देवताओं अथवा सिद्धान्तोंकी निन्दा की गयी है। क्योंकि पुराणोंके मतमें प्रत्येक वस्तु उस सर्वमयका ही रूप अथवा अंश है। इसका प्रमाण यह है कि शैव-पुराणोंमें केवल शिवकी अथवा वैष्णव-पुराणोंमें केवल विष्णुकी ही प्रशंसा नहीं की गयी है। उदाहरणार्थ वायु-पुराणमें, जिसकी गणना शैव-पुराणोंमें है विष्णुके पराक्रमका एवं नारायणकी महिमाका वर्णन किया गया है। उसमें विष्णु अंर महेश्वरके अवतारोंकी कथाएँ आती हैं, शिवपुरी तथा विष्णुपुरी दोनोंका उस्लेख मिलता है तथा सृष्टिकर्ता शिवाकी भी प्रशंसा की गयी है, यहाँतक कि उसमें इस ब्रह्मका स्पष्ट उल्लेख है कि इन तीनों देवताओंमें कोई भेद नहीं है। इसप्रकार जान पड़ता है कि वायुपुराणमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनाका विधान किया गया है। एक ही पुराणमें विष्णु और शिव दोनोंका उरकर्ष इतना स्पष्ट है कि उसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। अन्तमें यह कह देना पर्याप्त है कि पुराणोंका द्वंग साम्प्रदायिक है यह सिद्धान्त बिल्कुल निराधार है। वास्तवमें एक नहीं, सभी पुराणोंका एक ही ईश्वरमें विश्वास है, जिसे इम नारायण अथवा ईश्वर कहते हैं।

पुराण और ईश्वर

(लेखक— पै० श्रीकृष्णदत्तजी भारदाज, शास्त्री, आचार्य, बी०८०)



वार्ष यास्कने पुराण-शब्दकी निश्चिक
'पुरा नवम्' बतायी है। प्राचीन समय-
में जो नया रह चुका हो वही पुराण
है। दूसरे शब्दोंमें 'पुराण' शब्दका
अर्थ है पुराना। पुराण नामक शास्त्र-
का उपनिषदमें भी उल्लेख है, उदा-
हरणार्थ, 'इतिहासपुराणं पञ्चमं
वेदानां वेदम्' (छान्दोग्य० अ० ७,
खं० १)। पुराण पञ्चम वेद है। संहिता-भेदमें यही
पञ्चम वेद अष्टावश भागोंमें भगवान् वे दृष्ट्यासङ्गारा प्रणीत
हुआ है। पुराणोंमें ईश्वर-सम्बन्धी विचारोंकी प्रचुरता
उपलब्ध है। निष्ठाकृत पंक्तियोंमें उनका दिग्दर्शन कराने-
की चेष्टा की जाती है।

तारा-भगवल-मणित, अनेक-चमलकार-वेष्टित, गिरि-
गगनाळ्कृत, सरिसरस्मसुद्र-परिकृत, अतकर्य विस्तार,
अतुल प्रसार, अनेकोंटि ब्रह्माण्ड पुराण-पुरुष श्रीभगवानके
एक-एक रोममें इसप्रकार अहर्निश अप्रमत्तरूपमें विचरण
कर रहे हैं जिसप्रकार किसी विशाल-कंठवर वातावरनमें
होकर अग्रण्य परमाणु-पुरुष अमरण करते हैं। छोक-पिता-
मह श्रीब्रह्मदेवने बाल-गोपालकी स्तुतिमें कहा था कि—

‘काहं तमोमहदहंसचराचरिनाम्—
संविद्विषाऽविगणिताप्तपुराणुचर्या—
कदम् विधाऽविगणिताप्तपुराणुचर्या—
वाताधरोमविवरस्य चते महित्वम् ॥’

यही भाव यजुर्वेदके—

‘तस्मिन्ह तस्युर्मवनानि विश्वा।

—में निहित है। पुराणोंके ईश्वर निम्नन्देह ‘महो
महीयान्’ हैं। सलिलान्तर्गत ऊपर-मकरादि उष्णावच जीव-
निकाय जिसप्रकार समुद्र-पदमें समझ लिये जाते हैं, उसी
प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड भगवदन्तर्गत होनेके कारण ‘ईश्वर’
पदसे विद्वित हो जाते हैं—

‘पस्य कुश्विदं सर्वं सात्मं माति यथा तथा ।’

प्राकृतिक गुण-जालसे परे होनेके कारण ईश्वर अगुण
अग्रवा निर्गुण कहे जाते हैं।

‘तथापि भूमन् महिमाऽपुणस्य ते
विवेदुमर्हत्यमलान्तरामभिः ।

अविक्रियात्स्वानुभवादरूपतो
हृनन्यवोध्यात्मतया न चान्यथा ॥१॥

परन्तु भक्तवस्त्रज्ञता प्रभृति गुणाभासमें मर्हित
होनेके कारण तथा भक्तमनोरथानुसार प्राकृतिक गुणत्रयसे
संग करनेके कारण ये समुद्देश भी हैं—

‘गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं
हितवतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कलेन यैवो विमिता सुकर्तै—
भूपांसवः स्ते मिहिकाशुभासः ॥२॥

मंस्यामें ईश्वर एक है। एक समयमें अनेक रूप भारण
करनेपर भी उनका पारमार्थिक एकत्र अद्याहत ही रहता
है। पुराणोंमें एक ईश्वरके अनेक रूपोंका वर्णन है। उनके
प्रधान रूप पाँच बताये गये हैं, यथा—१ भोदक-सुरो-
भित, सूखकवाहन, विश्विनिवाशन, सङ्कष्टहारी श्रीगणपति;
२ विशुल-विराजित, कृष्णवाहन, दारिद्र्यवाहन, गङ्गाधारी
श्रीसदाशिव; ३ तेजोविलसित, एकत्रकर्यवाहन, तमो-
विलापन, बुद्धि-वृद्धिकारी श्रीसूर्यदेव; ४ श्रीविश्वपदवाङ्गित,
गङ्गवाहन, अशानविश्वसन, भक्तपत्तिनिवारी श्रीमक्षा-
रायण; और ५ वराभयकरा, सिंहवाहनी, मधुर-मूर्ति,
जगदिविका श्रीदुर्गादेवी। ये पाँचों वस्तुतः अभिष्ठ हैं।
पुराणोंमें इन पाँचोंका ही ईश्वरस्व प्रतिपादित है। विभूति-
के तारतम्यके वर्णन भाव-प्रधान हैं। उस तारतम्यमें
एक रूपका दूसरे रूपसे हीन अधवा अधिक होना सिद्ध
नहीं होता। इन पाँचों रूपोंके विभिन्न दिव्य लोकोंका
विश्वव वर्णन पुराणोंमें वर्णित है, जहाँ पहुँचेन पुनराहृसि-
का अभाव हो जाता है। इन अलौकिक ईश्वरीय धारोंकी
सदृदिका कथन मानव-सामर्थ्यका विषय नहीं है। भावुक
जनोंके सम्मोषके हेतुमे श्रीभगवान्देवने उनका परम सुदृढ
वर्णन किया ही है। श्रीभगवान्यथाके दैकुण्डलोकका आभास
इन पाँचोंमें मिल सकता है—

‘वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः ।

भेदनिमित्तनिमित्तेन चर्मेणाग्रथयन् ईरिम् ॥

मत्र चाहः पुमानाते मगवान् शब्दगोचरः ।
सस्त्वं विष्ट्रय विरजं स्ताना नो मृडयन्द्वृषः ॥
यत्र नैश्चेयसं नामवनं कामदुर्वैद्र्यमैः ।
सर्वतुं श्रीभिर्विभ्राजत्तैवलयमिव मूर्तिमत् ॥

वैष्णव-पुराण होनेपर भी, देखिये, श्रीमद्भागवतमें
महादेवकी ईश्वरता किसप्रकार बतायी गयी है—

'जानेत्वामीशं विद्वस्य जगते भानिबीजयोः ।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्वाक्ष सनातनम् ॥'

उपर्युक्त पांचों ही ईश्वरीय रूप वैचित्र्यको अंगीकार-
कर इतनी लीलाएँ करते हैं कि शेषजी भी उनको नहीं
कह सकते हैं—

'गायन् गुणान्दशशतातनन् अदिदेवः
शेषाऽधुनाऽपि समवस्थति नाऽस्य पारम् ।'

पुराणोंके ईश्वर सृष्टिके कर्ता, पाणक सथा संहारक है—

'अभिमाणी समाविश्य सोऽहं गुणमयी द्विज ।
सूजन रक्षन् द्वान् विश्वं दत्रे संक्षं क्रियोचितान् ॥'

यह भाव वैदिक ही है। उपनिषद्-ब्राह्मके लिये जो 'तज्ज्ञान्' कहा जाता है, उसका अभिप्राय यही है।
इसी विचारको सम्मुख रखकर आचार्य बादरायणने 'जन्माशय यतः' की रचना की; और श्रीमद्भागवत-पुराण
मी 'जन्माशय यतः' से प्रारम्भ होता है।

श्रुतिमें ईश्वरको अन्तर्यामी कहा गया है—

'यो दिव्यान्मन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्यामियमृतः'
(दृष्टाऽप्यक)

इसी तत्त्वको वेदान्तका 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्वर्म-
व्यपदेशाद्' यह सूत्र कह रहा है। पुराणोंको भी ईश्वरका
अन्तर्यामिक अभीष्ट है। श्रीकृष्णचन्द्रजीके विचरणमें कहा
गया है कि—

'गोपीनां तत्पत्तिनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेन ह देहमाक् ॥'

इदाहरण्यकान्तर्गत मैत्रेयी ब्राह्मणमें कहा गया है
कि—

'अद्वनस्तु बामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः
श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिघ्यासितव्यः ।'

अर्थात् भारत्याके लिये ही संसारकी सब बस्तुएँ अच्छी

जाती हैं, उसी भारत्याका दर्शन, अवण और ध्यान करना
चाहिये। यहाँ भारत्या शब्दमें जीवात्माका बोध नहीं होना
चाहिये, वह परमात्माके लिये प्रयुक्त है। शंकराचार्यजी-
ने 'बाक्यान्वयात्' नामक सूत्रपर भाष्य करते हुए स्पष्ट
ही लिखा है कि—

'किं तिक्तान्तेवायं द्रष्टव्यवादिरुपेणोपरिशयत आहोस्ति त्
परमात्मेति ।…… परमात्मोपदेश पवायन् ।'

परमात्माके लिये ही सांसारिक भोगोंकी मिथ्यता
पुराणोंको भी अभीष्ट है। भागवतमें स्पष्ट लिखा है—

'तस्मात् प्रियतमः स्तामा सर्वेषां मत्वं देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतत्त्वाचरम् ॥
कृष्णमेन देवेहि त्वमात्मानमस्तित्वाम् ।
जगद्दिताय सोऽप्यत्र देही वा भाति मायया ॥'

पातञ्जल-दर्शनमें ईश्वरको सर्वज्ञ बताया गया है—
'तत्र निरतिशयं सर्वं ज्ञात्वाम् ।' पुराणोंके ईश्वर भी सर्वज्ञ
हैं। श्रीकृष्णजीके लिये 'विश्ववित' पदका प्रयोग इस
बातका समर्थक है, यथा—

'काप्यद्वृन्तर्विपिने वस्त्रान् पालांश्च विश्ववित् ।
सर्वं विविक्तं कृष्णः सहस्रवज्गाम ह ॥'

जिसप्रकार उत्तर-मीमांसाके अनुसार हस जगत्का
सृष्टिमें भगवान्की लीला ही हेतु है—'लोकवत्तु लीला-
कैवल्यम्'—उसी प्रकार, पुराणोंके अनुसार, भगवान् जो
नानाविध चरित्र करते हैं उनमें उनकी लीला ही प्रधान
हेतु है। पुराणोंमें स्थान-स्थानपर लीला-शब्दका प्रयोग
पाया जाता है, उदाहरणार्थ—

'इत्युद्वैतेन हस्तेन इत्वा गोवर्धनाचलम् ।
दधार लीलया कृष्णदश्त्राकमिव बालकः ॥'
'मगवानपि तं शैकं स्वस्थाने पूर्ववर्तमुः ।
पूर्वयतो सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ॥'

पुराणवित्त, मनोनयनवर्धन, प्रसादवदन ईश्वरके
चास्त्रम चरण-नलिन-युगलका ध्यान करनेसे तेहिक अभ्युदय
तथा आत्मस्मिक निश्चयसकी अनायास उपलब्ध होती
है। हे पुराणप्राण ! पुराण-पुरुष ! जगन्मङ्गल ! श्रीभगवन् !
इसे अपने चरणोंमें पराभक्ति दीचिये।

वेदोंमें ईश्वर

(ईश्वक—श्रीमातुदेवशरणजी अग्रबाल एम० प०, यल०पल० बी०)

अत्यारि श्रुताम् भयो अस्य पादा।
द्वे शीर्षे सप्त इस्तासो अस्य ।
विषा बद्धो बृद्धो रोराचीति
महो देवो मर्त्योऽप्राविदेश ॥
(कठवेद मं० ४ । दृक् ५८ । मन्त्र ३)

मथोंमें महादेव वृषभने प्रवेश किया है । वह ग्रिघावद् हाँकर ढकराता है । उसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं । वह महादेव अद्यत है, मर्त्यके साथ उसका सम्पर्क हो गया है । यही जड़-चेतनकी गाँठ पर्छ है । अनिवार्यनीय महादेव मूर्त और निरुक्त हो गया है । यह महादेव वृषभ इन्द्र है । वेदोंमें जिसे इन्द्र कहा है वही उपनिषद्कालमें आरम्भ है । इस इन्द्र वृषभके मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चार सींग हैं; ज्ञान, कर्म, उपासना तीन चरण हैं; ग्रिपाद और एकपाद—अनन्त और सान्त दो सिर हैं और सप्त प्राण इसके सात हाथ हैं । सरव, रज, तम इन तीन गुणोंसे यह जक्कड़कर बाँधा हुआ है । इस देवकी महिमा अनन्त है । निज स्वरूपमें यह सहस्रशीरों और सहस्रपाद है । परम्परा मर्यसम्पर्कसे यह विश्व वामन हो गया है । इस सादे तीन हाथमें जकड़े हुए देवको लोग वामन समझकर उसका अनादर करते हैं—

अवजानन्ति मा मूढा मानुर्वी तनुमाश्तिम् ।
परं भाद्रमजनन्ते मम भूतमहेश्वरम् ॥

वे महीं आनते कि वामनका असली रूप विष्णु है—
वामने ह विष्णुरास

(शतपथ १ । २ । ५ । ५)

उसके तीन चरणोंके विचक्षणमें शु-पृथिवी-अन्तरिक्ष-छोक समाये हुए हैं । वह भूत, भविष्य, वर्तमान सबका परिष्ठेता है । अपने वामनस्थप्तसे उसने हम सबको छुक किया है । मोहके कारण ही हम मायामें पढ़े हुए हैं और उस एकरस निय इन्द्रको अनेक रूपवाला मर्त्यभर्ता समझकर लाय ही काढ़तासे हीम बन गये हैं ।

इन्द्रो मायामिः पुरुषप ईयते

अनन्तसे साम्त होनेका नाम माया है (Finitising Principle) विष्णुका वामनावतार माया है, महादेवका मर्त्योंमें आना माया है । शं स्वरूपका आवरण करनेवाला यह शम्बर बहुत प्रबल है, इसपर विजयी बनकर इन्द्रको साझाज्य प्राप्त होता है । इन्द्रकी शम्बर-विजय मनुष्यका आत्मदर्शन है । आत्मदर्शनके बिना इन्द्रके तीन पाश नहीं छुट्टे । कौचीतकी उपनिषद्में कहा है—‘जब-तक इन्द्रने आरम्भाको नहीं जाना तबतक असुर उसको हराते रहे । जब उसने अपने आपको जान लिया तब वह असुरोंको ओस्तकर सब भूतोंसे छेष्ट और ज्येष्ठ बन गया । उसने स्वराज और आधिपत्य प्राप्त कर लिया । (४ । २०)

इस इन्द्रको बाँधनेवाले नाम और रूप हैं । इन्हींको देश और काल, कृत और मर्य भी कहते हैं । शतपथ-ब्राह्मणमें कहा है—

‘अथ ब्रह्म व परार्द्धमगच्छत् । तत्परार्द्ध गत्वा पेक्षत कथं निर्मालोकान् प्रसदेवयमिति । तद् द्वाम्यामेव प्रसदैद् रूपेण चैव नामना च ।’ (१ । २ । ३ । ३)

अर्थात् ब्रह्म तीन लोकोंसे असीत था । अतीत रहते हुए उसने प्रेरणा की कि किस तरह मैं इनमें प्रविष्ट होऊँ । नाम और रूपके द्वारा वह हन लोकोंमें प्रविष्ट हुआ । असृत ब्रह्म नामरूपके द्वारा मर्य बनकर सामने आया है । उस मर्य-धर्मसे छूटनेका उपाय ब्रह्मकी शरण या ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान है—

मर्त्यं ह बाड़त्रे देवा आसुः । स यदैव ते ब्रह्मणपुरुषा
मृता आसुः ।

अर्थात् मर्य-धर्म ब्रह्मको पाकर अमर बने ।

वेदोंके अध्यात्मशास्त्रका यही मर्म है । ब्रह्म और आरम्भ दोनों इन्द्रकी संज्ञाएँ हैं । वह इन्द्र अन्य देवोंके साथ कार्य करता है । ये अन्य देव इन्द्रियों हैं । ये देव इन्द्रजुष, इन्द्रदण, इन्द्रमृष, इन्द्रलिङ हैं । असुरोंके साथ इन देवोंका सनातन युद्ध है । इन्द्रकी विजयसे सब देवोंको अहिमा बढ़ती है । इन्द्रके अज्ञानसे देवता असुरोंके

सामने हार आते हैं। बस्तुतः यह देवासुर-संग्राम पाप और पुण्यकी इविष्ठ प्रहृतियोंका युद्ध है। प्रजापति के विधानसे ही असुर पापभय है। बस्तुतः इन्द्र तो अजात-शत्रु, इन्हासीत है। न वह पहले कभी लड़ा है और न आज उसका किसीसे युद्ध है, उसके संग्रामोंकी कथा माया है। (देखिये शतपथ ब्राह्मण ११। १। ६। १०)

मृष्टिके मूलमें ही समाधि और व्याधि, पुण्य और पाप, आत्म और अनात्म, चेतन और जड़, प्रकाश और तम, सरय और अनुत्तरका इन्द्र निहित है। ब्रह्मके संकल्प-का आदिरूप यह द्रृत है। ब्रह्मायदगत समस्त प्रक्रियाओंमें इसके दर्शन होते हैं। भौतिक प्रकृति शक्ति-प्रकाशके इस द्रृतमें सुक नहीं है। अव्यक्त-दशामें एक रहने हुए यह शक्ति प्रकटस्थप्तमें अनेक है। संख्यामें अस्पृष्ट होनेकी कल्पनामात्र एकता है। संख्यामें संस्पृष्ट होना अनेकता है।

देवोंमें इन्द्रकी महिमाका स्वर ही सबसे प्रधान है। अनेक गीतोंकी टेक यही है—‘विश्वमादिन्द्र उत्तरः’ अर्थात् इन्द्र सबसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है, वह सर्वभूतमहेश्वर है, वह महादेव है। इन्द्र अप्यतिरथ है। वह शतक्रुत है। प्रजापति-ने इन्द्रको सब देवोंमें ज्येष्ठ बनाया है जिसके प्रतापसे बलवान् अमुर भी कौपतं रहते हैं। देवोंने कहा—इन्द्र ही हम सबमें वीर्यवान् है—

ते [देवः] हातुः। इन्द्रो वै नो वीर्यवत्तमः।
(श० ४। ६। ६। ३)

इन्द्र सब देवोंका उपरेष्ठ होनेसे उनमें अग्रणी है—
इन्द्रः खलु वै अष्टो देवतानामुपदेशनात्।
(तै० २। ३। १। ३)

तस्मादहुरिन्द्रः सर्वदेवता इन्द्रप्रेष्ठ देवाहति।
(श० १। ६। ३। २२)

अर्थात् सब देवता इन्द्रके ही रूप हैं। इन्द्रके कारण देवोंकी महिमा है।

इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारिष्ठुतमः।
(ऐ० ७। २६)

अर्थात् इन्द्र सब देवोंसे औज, बल, वीर्य, शक्ति-प्रवेशमें अतिशायी है। उसको सब एकबीर कहते हैं। उसने ही लिकउत्तम जाकर ब्रह्मको पहले पहचाना, जहाँतक इन्द्र गया वहाँतक और कोई देव नहीं जा सका—

इन्द्रोऽतिरामिव अन्यान् देवान्, स हि पन्त् नेदिं परपश्च, स हि पन्त् प्रथमो विदाशकार ब्रह्मेति।

इन्द्रको ही ब्रह्मका ज्ञान हुआ। अग्निने कहा—‘मैं जातवेदा हूँ, जिसे चाहूँ भस्म कर दूँ’, परन्तु यक्षके दिये हुए एक तिनकोंको अग्नि भस्म नहीं कर सका। वायुने कहा—‘मैं मातरिषिद्वा हूँ, जिसे चाहूँ उड़ाकर ढूँ’। यक्षने उसके आगे एक तिनका रस्त दिया, वायु और लगाकर थक गया पर तिनको न हिला सका। तब इन्द्र-से देवोंने कहा—‘तुम यक्षको जानो—यह है कौन?’ इन्द्र-के समझ यक्ष अन्तर्हित हो गया। तब उसा नामकी सात्त्विकी बुद्धिमें इन्द्रने यक्षका प्रत्यक्ष किया। इस मनो-हर कथामें ब्रह्मने यक्षरूपमें सब देवोंकी परीक्षा लेकर इन्द्रको ही अपना रूप विवृत करके दिखलाया। बस्तुतः ब्रह्म यक्ष या यज्ञका परमरूप है। उसका ज्ञान प्राणके दर्प-में होना अशक्य है। अग्नि, सूर्य, वायु, वरुण, अनेक देव एक शक्तिके रूप हैं, इनके बजाये इन्द्रको कौन जान सकता है? Heat, Light, Electricity, Magnetism, Sound आदि नाना देव ब्रह्मायदके आधार बनकर उसको धारे हैं। पर ये ही अन्तिम शक्तियाँ नहीं हैं। इनके द्वारा चैतन्य-तत्त्वका ज्ञान असम्भव है। ब्रह्मका ज्ञान तो स्वयंवर-से होता है—

यमेव वृणुते तेन ठम्य-
स्तम्पैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

आत्मा जिसको स्वयं वर लेती है उसके ही समझ अपना सन् विवृत करती है। यहाँ प्रवचन, ज्ञान, तप, ब्रह्मचर्य सब साधनमात्र हैं, सिद्धिकी प्राप्ति स्वयंवराधीन है।

ब्रह्मकी ही संज्ञा इन्द्र है। पिण्डमें वही इन्द्र आत्मा है। ब्रह्मायदमें जो सूर्यादि देव या दिव्य शक्तियाँ (Cosmic Forces) हैं उनके ही प्रतिनिधि इस शरीरमें घृनिद्रियाँ हैं। पिण्ड और ब्रह्मायद दोनोंमें एक ही जीवन-प्रवाह (Life-flow) है। जो हिरण्यगर्भ है वही वैश्वानर है—

अहं देशानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः।

इम वार्योंसे बोलते हैं, वह वाक् अशिष्ठी ज्योति है। नासिकाके ह्राटा प्राणवन्त होकर हम विराट् वायुके साथ एकता स्थापित करते हैं। सूर्य-प्रकाशसे वस्तुओंको रूप प्राप्त हुआ है, उसी रूपका प्रस्तु बनवाकी हमारी

क्षकुरिन्द्रिय है। आकाश शब्दोत्पत्तिका हेतु है, वही शब्द हमारे कानोंसे सुना जाता है। बाह्य-जलके ही समान हमारी नेहमें वीर्य है जो जीवनकी स्थितिका कारण है। इस प्रकार विष्णु और ब्रह्माण्डकी एकता है। बाह्य-जगतकी विशुद्धमें जो सूक्ष्म परिवर्तन भी होता है उसीका प्रभाव सुनन्त हमारे शरीरपर पड़ता है। विश्वाट् प्राणके साथ शरीरस्य प्राणकी एकता है। एक-एक नक्षत्रकी ज्योतिका प्रभाव शरीरस्य प्राणपर पड़ता है। दोनोंमें एक ही प्रकार-की विशुद्ध है। विशुद्धकी शक्तिसे आज हम सब मन्द हो गये हैं। इसकी सूक्ष्म चंतना विश्वव्यापी है। छन्दमरमें विशुद्धतकी तरंगे पुष्टीमरहलमें घास हो जाती है। इसी विशुद्धकी वैदिक संज्ञा प्राण है। इस प्राणको ही देव कहा गया है। मूलमें एक होते हुए भी इसके अनेक रूप हैं। उन अनेक देवोंको वर्णन वैदिक मन्त्रोंमें है। परन्तु मूलमें वे एक हैं। वैदिक वृथियोंने सब देवोंकी एकताको भली प्रकार जान लिया था—

इन्द्रं मित्रं वरुणमप्तिमादु-
र्यो दिव्यः स सुपर्णो गरुमान् ।
एकं सदित्रा बहुधा वद-
न्त्यपि यमं मतरिशानमादुः ॥

(क० १ । १५१ । ४६)

अर्थात् विप्र लोग एक वृष्टिका ही अनेक नामोंसे वृक्षान करते हैं। उमिको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुमा, सुपर्ण, यम, मतरिशान वृक्ष कहा गया है। व्यावहारिक या सापेक्ष सत्तामें वे देव सविशेष कार्योंके करनेवाले हैं। व्याकृत दशामें (Differentiated state) सब देवोंके अपने-अपने धर्म हैं। पर अव्याकृतस्थानमें वे एक ही हैं। यही वात जगतमें है। एक शक्तिके अनेक रूप विविधधर्मी हैं। एक ही सूख-प्रकाशकी अनेक रूपमयों हैं जिनका पारम्परिक भेद है भी और नहीं भी है। सौर-रशमयोंके साठ सप्तकोंमें अनन्त किरणें हैं जिनका आपसका भेद लम्बाईकृत है। कुछ किरणें बहुत छोटी हैं और फिर उत्तरोत्तर कमसे लम्बाईकी छुदिसे अन्य-अन्य कार्य करनेवाली किरणें हैं। यहाँ कुछका नाम हीट, लाइट और इंजेक्ट्रक आदि है। पर मूलमें सब एक हैं। यही वात वैदिक वृथियोंने प्रत्यक्ष की थी। अनेकता है पर साथ ही एकता भी है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ या परमाणुकी द्विविध स्थिति है। अनेकताके साथ उसका सम्बन्ध सृष्टि है, पक्षाके साथ

उसके सम्बन्धकी लोज समाधिकी ओर प्रगति है। इन्हींके वैदिक नाम त्रिपाद् और एकपाद् हैं। सर्वप्रथम सहस्र-शीर्या पुरुष या अनन्त वृक्ष था। वह स्वयं ही द्विष्णा व्याकृत हुआ। त्रिपाद् और एकपाद्। त्रिपाद् सापेक्ष वृक्ष है, एकपाद् भूतभव्यसुवन है जिसमें सब लोक समाये हुए हैं। त्रिपादकी ओर उत्कान्त होनेका नाम व्याधि है। यह क्रम किसी क्षण रुका नहीं रहता। सृष्टि और प्रलय संतात होते रहते हैं। विना द्विविध प्रक्रियाके सत्ता असम्भव है। हम देशमें ठहरे हुए हैं और अपना एक रूप ध्यक्त कर रहे हैं। साथ ही कालके प्रवाहमें आगे बढ़ रहे हैं, अर्थात् परिवर्तित हो रहे हैं। निष्कर्ष स्थिति असम्भव है। इस देशमें अच्युत-धर्म नहीं देख पड़ता। हम परिवर्तन और प्रवाहके मध्यमें भी एकरूप रहनेवाला वृक्ष है जो उपहित होकर कूटस्थ चैतन्यरूपमें हम सबमें विद्यमान है। वह हन्त्र अनेजद् है, वह अच्युत है। उसमें सब काँपते हैं, उसे कॅपानेवाला कोई नहीं है। यह सृष्टि बहुत विलक्षण है। इसके अगुमात्रका भी वर्णन ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता। सर्वत्र शद्वोंकी गति कुणित हो जाती है। पेसा जान पड़ता है कि यहाँ प्रत्येक पदार्थकी सापेक्षिक मत्ता है।

द्वे वात व्रजाणा रूपे मूर्तं चासूतं च। अथ यन्मूर्तं तदसत्यं, मद्मूर्तं तत्सत्यं तद्वृक्षः। तज्ज्वरातियज्योतिः स आदित्यः स वा एष अमित्येतदात्मा। स व्रंघवान्मानं व्यकुरुत ।

अर्थात् व्रजाके दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त, परोक्ष और प्रत्यक्ष(Formless and Formed)मूर्त माया है, अमूर्त सत्य है। व्रज एक ज्योति है, जो प्रकाश आविष्यमें है, जो ओऽम् है, वही ज्योति आत्मा है। उसने तीन प्रकारसे तीन गुणोंके द्वारा अपने आपको प्रकट किया है। सर्वत्र ही मूर्त और अमूर्त(Immanent and Transcendent)का हन्त्र है। परमाणुका मूर्तरूप है, अमूर्त भी है। मूर्तका निर्वचन किया जाता है, अमूर्त अनिर्वचनीय है। मूर्त एक अंशमात्र है, अमूर्त अनन्त है। मूर्तकी संज्ञा विष्णु है, अमूर्त शेष है। शेष और विष्णुका सम्बन्ध बहुत अद्भुत है। मूर्त अमूर्तके आधारसे ठहरा हुआ है। प्राण अमूर्त है, अच्छ उसका मूर्तरूप है, पर दोनों ही व्रज-रूप हैं। कम मूर्त है, ज्ञान अमूर्त है। इस पारम्परिक सापेक्ष-क्रमका कहीं भास नहीं है। बेदों और व्रजाणोंमें

अनेक परिभाषाओंमें मूर्त और अमूर्तके सम्बन्धका वर्णन है। यजमान मूर्त है, उसकी मुलनामें पुरोहित अमूर्त है। अप्त मूर्त और अप्ताद् अमूर्त है। मूर्तमें अमूर्त वहुत बड़ा है। इन्द्रके ही दो रूप मूर्त और अमूर्त हैं। मूर्तरूप प्राण है, अमूर्तरूप आत्मा है। मूर्तकी सत्य मानना अनुचित है। मूर्तरूपको ही मृष्टका अन्त समझना भल है—

यत्प्राणेन न प्राणिति पैन प्राण प्रणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदित्पुमासते ॥

प्राण, चक्षु, श्रोतु य मूर्त-कार्य हैं। इनका नियमता अमूर्त है, वही अप्त है। प्राणकी शक्ति भी अचिन्त्य है। पर इन्द्र या ब्रह्म प्राणसे भी महान है। अमूर्त लोग प्राण-शक्तिको ही परम सत्ता समझते हैं, वे प्राणके भी प्राणको स्वीकार नहीं करते। हमीं लोग देव और हमीं अमूर्त हैं। जीवनकी प्रवृत्तियोंके दो भेद देवी और आसुरी कहलाते हैं। भौतिक प्रकृतिकी उपासना करना असुर-वृत्ति है। वैतन्यकी उपासना देवी है। असुरोंके गुरु विशेषज्ञ शरीरको ही आत्मा समझ लिया था। हमलोगोंमें वहुतेरे ऐसे ही हैं जो सुँहासे तो वैतन्यकी सत्ता स्वीकार करते हैं, पर आचरणमें शरीरको ही आत्मा माने हुए हैं। हम सगुण या मूर्तमें आसक्त हैं, उसकी ठीक उपासना, जो सोकका हेतु हो, हमसे नहीं बन पड़ती। अविद्या, मूर्तरूप या सृष्टि भी ब्रह्मका ही विकास या उपाधि है। उसका यथावत डपयोग हमसे नहीं बन पड़ता। हम उसका त्याग इन्द्र या आत्माके लिये नहीं कर सकते। यही कारण है जो हमारे यजका भाग इन्द्रोंने मिलकर अन्य देवों या असुरोंको भिल रहा है। देवी विधानसे पूर्ण होनेवाले यज्ञोंका यक्ष या यजनस्प इन्द्र है, वह ही उस हविका अधिकारी है। इन्द्र देवाधिदेव या महादेव है। 'इन्द्रश्रेष्ठ वै देवाः'। इन्द्रके भाग पानेसे अन्य देव भी पुष्ट होते हैं। इन्द्रजुष होकर ही इन्द्रियों संयम और दिव्य तेजके पथमें विचरती है। इन्द्रके आधिपत्न्यमें ब्रह्मकृत होना इन्द्रियों या देवोंकी पराजय है।

वेदों और ब्राह्मणोंमें इन्द्रियोंको ही पञ्च पञ्चजना कहा गया है। इन्द्रकी पञ्चजन्य प्रजापैं इन्द्रियाँ हैं। बृहदारण्यक उपनिषदमें कहा है—

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशम् प्रतिष्ठितः ।

तमेवमन्य अद्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतेऽमृतम् ॥

(४ । ४ । २७)

अर्थात् मैं अमूर्त ब्रह्मका विद्वान् हूँ। मैं बताता हूँ कि आत्मा वह है जिसकी सत्तामें पञ्चजन या इन्द्रियाँ आकाश (Ether) में स्थितिमन्त हैं। आकाश महाप्राणका स्रोत है। उस महाप्राणसे एक सूत्रमें पिरोते हुए पञ्च इन्द्रियालय देव अत्यन्त ऊर्जसम्पद होकर जिसकी सत्तासे स्थितिशील है वह आत्मा है। कर्मेन्द्रोंमें भी कहा है—

मत्पाञ्चजन्या विद्वा इन्द्रे योषा असूक्ष्मतः ।

अस्तुणाद्वैर्णा विषो अर्यो मानस्य स क्षयः ॥

(८ । ६२ । ७)

अर्थात् पाञ्चजन्या प्रजाश्रीने संमनस् होकर इन्द्रकी जो स्मृति की उसमें इन्द्र शत्रुओंका बध कर सका और वह मानका पात्र बना। पाञ्चजन्य विषोंकी अनुकूलता प्राप्त करके इन्द्र स्वराट् बनता है, वह वामनमें विष्णुव-पद पाता है। इन्द्रियसंयम ही सम्मत नीति और अध्यात्मका मूल है। विद्वा अर्थात् प्रजाओंमें ओजस्वी होनेके कारण ही इन्द्र-को विद्वौजा (विद्+ओजस्) कहते हैं। उमने देवोंका आधिपत्य प्राप्त करके बल, गोत्र, वृत्र, नमुचि, शम्भव, पाक आदि असुरोंको पदवलित किया है। वह इन्द्र मरुत्वान है। मरु संज्ञा प्राणोंकी है। प्राणसे इन्द्रका विरोध होना आसुरी है। प्राण इन्द्रके सहायक हों तो इन्द्रका बल अप्रतिरथ हो जाता है। इन्द्र और मरुत्का संवाद देवोंमें है जहाँ मरु इन्द्रकी सहायताका बचन देने हैं। वन्नुतः महाप्राण या शक्ति एक ही है। परन्तु कार्य-भेद और उपाधिभेदमें उसके अनेक भेद कलिपत किये गये हैं। प्राण पौच है, प्राण साल है, प्राण ग्यारह है, इसी प्रकार प्राणोंकी उत्तरोत्तर संख्या बाईससे निन्यानवेतक वर्गित है। इन्द्र उन सवनवति पुरोंका विजेता है। वे पुर जबतक आयसी अर्थात् लोहेके हैं तबतक प्राणोंकी वृत्ति तामसी है। अयस, रजत, स्वर्ण—ये तम, रज, सर्वकी वैदिक संज्ञाएँ हैं। असुरोंने हनु पुरियोंका निर्माण किया और हनु दुर्गोंमें, कन्द्राओंमें छिपकर वे इन्द्रमें लडते रहे। इन्द्रने पुरोंका भेदन किया, जिससे वह पुरन्दर कहा जाता है। त्रिपुरासुरके द्वाहीं पुरोंका भेदन करनेके कारण शिवको त्रिपुरारि कहते हैं। पुरन्दर और त्रिपुरारि एक ही कहणाके दो रूप हैं। त्रिपुराणामक शक्तिको आमसात करनेके रहस्यका वर्णन ही दीनों जगह हृष्ट है। तीन गुरुओंके माना भेदोंसे निरन्तर युद्ध करके इन्द्र स्वराट् बनता है। प्राणोंके अवास्तर-भेद अवश्य हैं, वे शत और सहस्र हैं। इन्द्र भी शत और

सहस्रकु और प्रश्नावाला है। प्राण भी पूर्ण और हन्त्र भी पूर्ण है। ये वैदिक वाहूमयकी विशेषताएँ हैं। इन गृह अध्यात्मतत्त्वोंके विषयमें शब्दोंकी अभिभा परिभिर है। उनकी अनन्तताको प्रदर्शित करनेके लिये बहुत-सी परिभाषाएँ रची गयी हैं। खण्डके पुरु त्रिशिरासे हन्त्रका संग्राम भी ग्रैग्रुशय और चेतनका हन्त्र है। इन गृह संकेतोंका ज्ञान न होनेमें अल्पज्ञजन कथाकी भूल-भूलैयामें ही भटके रहते हैं। वेदोंकी शैली बहुत अपूर्व है। उसमें अधिराष्ट्र, अधिदैव, अध्यात्म आदि अर्थ समकक्ष होकर साथ-साथ चलते हैं। उनके शब्दोंकी व्यञ्जना भी अनन्त है। एक हन्त्र-शब्दके ही प्रकरण-भेदमें अनेक अर्थ हैं। व्रहा, आत्मा, सूर्य, प्राण, मन, वाक्, राजा, क्षत्र, वीर्य, वायु आदि हन्त्र-शब्दके अर्थ आष्ट्रण-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। ये ही अर्थ व्रहा-शब्दके हैं। इस अनन्ततामें चकित होकर वैदिक ज्ञानके विषयमें निश्चय-रूपसे मतवादी होना दुखकर है। वेदका मत इतना ही है, यह द्वाचा वैदिक-सा हो जाता है। इस देशके व्यावादी आचार्योंने वेदकी महिमाको भलीप्रकार जानकर उन्हें प्रश्न-ज्ञानका प्रधान कारण माना था। श्रुतिको पक्षपात कुछ नहीं है। प्रकृतिको ही क्या पक्षपात है? विराटमें सब कुछ है। असत्यपर वे हैं जो हठ करके एक ही पक्षपर आसूढ़ होकर दूसरेका खराढ़न करते हैं। 'एक मद्ग्रीष्मा बहुधा वदन्ति' और 'नेह नानामि किञ्चन' इन विरोधिनी श्रुतियोंका सारसम्म जान लेनेमें मृत और अमृत, आस्तिक और नामिक,

संगुण और निर्गुण सब पक्षोंका समन्वय जाना जा सकता है। हमारे सामने नदी-तटपर पड़ा हुआ एक-एक परमाणु ब्रह्मका मूर्त और संगुण लिंग है। उसके रूपके जाननेके लिये इस समय भी असंख्य विज्ञानवेत्ता प्रयत्नशील हैं। पर उसके असती रूपको कोई नहीं जान पाया है। मूर्त और अमूर्तकी सन्धिको हम जान जायें तो सारा भेद सुल जाय। पर इस भेदको प्रकृति हमने गुहा रखना चाहती है। समस्त प्रकृतिकी गाथा कौन कहे, आकाशमें निरन्तर छंटुण्टवको प्राप्त होनेवाले ब्रह्मारढ़की इयता कहाँ ज्ञाय है, हमारे लिये तो एक परमाणु भी ब्रह्मारढ़का यथेष्ट लिंग है, जिसने हमारे समस्त ज्ञान-विज्ञानको सफलतापूर्वक चुनावी दे रखती है। इस अनन्तताकी कुछ झाँकी मान्त-के उदाहरणमें हमारे सामने आ जाय, इस प्रयत्नका आयोजन वेदोंमें है।

'भूमा वै सहस्रम्'। (श० ३। ३। ३। ८) भूमा अनन्त है, अनन्त अज्ञाय है वहाँ तक और शब्दोंकी गति कृणित है। हन्त्र वैकृष्णाधिपति है। जिस लोकमें अनुभव कृपित नहीं होता वह हन्त्रका धाम है। वह हन्त्र सब छन्दोंका लक्ष्य है, उस विश्वरूपसे छन्दोंके अमृतमें जन्म लिया है।

पद्महन्त्रसामृष्मो विश्वरूप
क्लन्दोम्यो अध्यमृतासंबभूत ।
स मन्दो मध्यमा सृष्टोनु ।

द्वैतवादमें ईश्वर

(क्षेत्र—आचार्य आनन्दलालजी गोव्यामी)

'ईश्वर नहीं है' यह हैश्वर-निषेधक वाक्य ही अपनेमें एवं ईश्वरका होना सिद्ध करता है।

'ईश्वर है' यह स्वतन्त्र वाक्य अपना ही विधायक है। इसी भाँति अद्वैतवाद ही 'द्वैतवादमें ईश्वर' की सिद्धि बतला रहा है। ज्ञान सदैव द्वैत है, वह ज्ञाना और ज्ञेयके बीचमें होता है। जाग्रत्-अवस्था और प्रकाश भी द्वैत हैं, जबतक ज्ञान, जागृतावस्था, एवं अग्रधकारका नाशकर प्रकाशकी प्राप्ति नहीं होती तबतक 'कुद्विवाद' के चक्करमें पड़े हुए मनुष्यके स्थिर किस वायुमें ईश्वर है, यह निश्चय कर लेना सहज नहीं है। हाँ, जब कभी भी उक्त अवस्थाकी प्राप्ति होगी, तभी समस्त

वादाविवादोंके, वाद देकर द्वैतवादमें ईश्वरकी सिद्धि और साधनाकी सफलतामें साधकको तनिक भी सन्देह नहीं रह सकेगा। दूसरी बात यह है कि द्वैतवादी एवं अद्वैतवादी दोनों ही इस बातको मानते हैं कि भगवान् श्रीशङ्कराचार्य-जीने द्वैतवादका खण्डनकर अद्वैतवादको स्थापित किया। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि श्रीशङ्कराचार्यजीसे 'एवं द्वैतवादमें ईश्वर' सिद्ध हो चुके हैं।

यत्तद्वदन्तु शास्त्राणि यत्तद्वाल्यान्तु तार्किकाः ।
जीवनं मम चैतन्यपादाम्भेऽसुधैव तु ॥
(श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती)

नैयायिकोंके ईश्वर

(लेखक—पण्डितवर श्रीपञ्चानन्दजी तर्करत्र)

निष्पत्तीनैवर्ययस्त्वाइयशक्तिः

अयोमिकिञ्चनकमप्रयुक्तिः ।

काण्यानिविर्विश्वबन्धोऽनवदः

पाणादीशः सर्वतोदत्तविद्यः ॥

ईश्वर नैयायिकोंके सर्वस्व हैं, ईश्वरके अनुग्रह विभा जीवके सभी कर्म निपटल हैं। इसीसे नैयायिकराण यज्ञ-यागादि कर्म-भार्यामें ईश्वर-निष्ठ हैं, योग-मार्गमें ईश्वर-निरत हैं, भक्ति-मार्गमें ईश्वर-परायण है और ज्ञान-मार्गमें ईश्वर-तत्पर हैं।

न्यायशास्त्र-प्रवर्तक हरिद्रुमान् अहल्यापति अक्षपाद गौतम महर्षिके सुभृतस्त्री और ईश्वरकी साधनामें योगसिद्धि प्राप्त हुई थी। उन्होंने तर्कवादमें शिवजीको सन्तुष्ट किया था। देवीपुराणके अमुकित शुभ्र-निषुभ्र-मरणपादमें अक्षपाद नाम आया है और माधवाचार्यरचित शंकर-दिविजयमें ‘चरणेश्वर्या’ आदि अक्षपादके पर्यायवाची शब्दोंके हेतुका वर्णन है। सारानाथ तर्कवाचस्पतिने अपनी तत्त्वकौमुदी-टीकामें भी ऐसा ही वर्णन किया है। अक्षपाद शिवांश और शिवावतारके शिष्य थे (ब्रह्माण्डपुराण अनुयंगपाद) अतएव उनका शैव-सम्प्रदाय था। प्राचीन न्याय-निबन्ध-में प्रायः शिवकी बन्दना भी की जाती है। सूक्ष्मित ‘दर्शन-समुच्चय’ में लिखा है—

* अनाङ्गृष्टे दर्श दुष्प विशुद्ध भारतमें वरणके गौतमके आश्रममें ही मदा ईश्वरवंश इक्षोंकी पंक्तियाँ विद्यमान रहती थीं; चोह अहल्योंके पति, गोदावरी-समानेता और गौतम-वंशमें भेष होनेके कारण हो, अशवा देवीपुराणोक्त शार्णथ-विजयी होनेके कारण हो, उनका एक नाम गौतम था। शिवपुराण ज्ञान-सिद्धिमें अहल्यापति गौतमका चरित्र आया है। स्कन्द-पुराणके मोहशरस्त्रण कुमारिकाखण्डमें लिखा है—

‘अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः ।

गोदावरी समानेता अहल्यापति प्रभुः ॥’

(शिवपुराण ज्ञानसंदिता, स्कन्द-पुराण कुमारिकाखण्ड देखिये ।)

न्यायोद्वारागभीरनिर्मलपिरा गौतीपतिस्तोवितो

वोद्देव येन किरीटिनेव समरे देवः किराताकृतिः ।

(न्यायमण्डी मूल देवीपुराण)

‘अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छ्रवः ।’

(जैन ईरमद मरि)

इस सम्प्रदायका प्रधान साधन-भार्या योग था। इसी-लिये प्राचीन कालमें न्याय-दर्शनका नाम योग था।

न्यायसूत्रके भाष्यकार वास्त्यायनने गौतमसूत्र १-१-२६ के भाष्यमें जो ‘योगके भूत्ये असत्तकी उत्पत्ति’ वर्तलायी है उसमें भी न्याय-वाच्मुखके योग नामका समर्थन होता है। क्योंकि प्रचलित योगदर्शनके भूत्ये असत्तकी उत्पत्ति नहीं होती, ‘नासतो विद्यते भावः।’ विशेषतः ‘अभिधान-चिन्तनमणि’ में योग और नैयायिक इन दोनों शब्दोंको एकार्यक कहा है। कौटिलीय अर्थनीतिके आन्वीक्षिकी विभागमें भी न्यायके बढ़ने जो ‘योग’ नाम आया है वह भी ‘न्याय-शास्त्र’ का समानार्थक ही है, क्योंकि वास्त्यायनने न्याय-भाष्यमें आन्वीक्षिकीका ‘प्रदीपः सर्वशास्त्राणुपायः सर्वकर्मणाम् । आश्रयः सर्वधर्मोन्माम्’ यह स्वरूप वर्तलाया है। कौटिलीय अर्थ-नीतिमें भी यही दिखाया गया है। वर्तमान पातभल-योगदर्शन अब भी सांख्य-प्रवचन-दर्शनके नाममें प्रयित्र है। सैर, यह अवान्तर विषय है। असल ब्रात यह है कि इन दोनों दर्शनोंमें अर्थात् प्राचीन कालके योगदर्शन न्यायसूत्रमें और वर्तमान कालके योगदर्शन पातभलमें— दोनोंमें ही ईश्वरका नाम लेकर स्पृष्टरूपसे उनका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। ईश्वर सर्वश्रेष्ठ आत्मा है, अन्य वस्तु नहीं है; जीवात्मा अनेक हैं, वे उपासक हैं और ईश्वर उपास्य हैं। यह सिद्धान्त दोनों ही सम्प्रदायोंमें समान है। वैशेषिक-दर्शनके—

‘तद्वचनादानाभ्यस्य प्रामाण्यम्’ (१ । १ । ३)

इस सूत्रमें ‘तत्’ शब्दका अर्थ ईश्वर है, भाष्यकार प्रशस्तपादने यह कहकर ईश्वरवादकी स्थापना की है। पर उसका मूल न्याय-सिद्धान्त ही है, अतएव उसको अलग समझना निरर्थक है। सांख्य या कापिलदर्शन न्यायादि-सम्मत ईश्वरवादके प्रतिकूल हैं। वेदान्तसूत्रका सुप्रसिद्ध शांकरभाष्य अद्वैत-सत्त्वका प्रचारक है। उसके भूत्ये ईश्वर और जीव एक ही हैं। केवल उपाधि-भेदमें उनमें संज्ञा-भेद है, शांकर-भूत्यमें वस्तुतः उपाध्य-उपासकका भेद नहीं

है, साध्य-साधन-भाव नहीं है, केवल एक अस्तरह विनाशक ही सत्य है; कर्म, योग, भक्ति ये सभी कल्पनामात्र हैं। भक्ति-तत्त्वोपदेशक महाप्रभु श्रीगोविलाङ्गेश्वरे इस मत-की बड़ी निष्ठा की है। सौर, हम अदरक्षके व्यापारियोंको जहाजकी लूटरसे क्या मतलब है? हमें तो वहाँ यही कहना है कि न्याय-शास्त्रके साधन-पथमें भक्ति-मार्ग भी तुष्टिस्तीर्ण और सत्य है।

मीमांसक कर्मकित्वादी है, वे ईश्वरको खीकार करतेमें परामुख हैं। कर्म ही सर्वांगा हेतु और कर्म ही नरकका कारण है।

'नमस्तत्त्वमेष्यो विधिरिपि न अभ्यः प्रमदति'

नीयायिक कहत है कि कर्म अचेतन है, उसकी शक्ति भी अचेतन है और उसका व्यवस्थापक शास्त्र-वेद भी अचेतन है। यह अचेतनवागं किसी चेतनके अधिष्ठान विना कर्योंकर कोई कार्य कर सकता है? विशेषकर विधान-शास्त्रके करणामय, विकल्प और सरयावादी न होनेपर, न सो उसके विधानानुसार चक्रोंपे कभी ईष-सिद्धि होती है और न उसके विधानको नहीं माननेमें कोई अनिष्ट ही हो सकता है। मीमांसकोंके मतमें इषप्रकारका विधानदाता कोई नहीं है, परन्तु न्यायके मतमें वह विधानदाता ईश्वर है। उन ईश्वरके आज्ञानुवर्ती कर्म ही धर्म या सत्य है और उनकी आज्ञाके विहृद कर्म ही अवसर्म या असद है। याग-वशाति कर्म उन्हींके द्वारा उपविष्ट है और योग, भक्ति, ज्ञान भी उन्हींके द्वारा उपविष्ट हैं। विद्यायों-के अधिकार-भेदके अनुसार गुरु जिसप्रकार धारा-भेदको व्यवस्था करत हैं, उसके प्रकार ईश्वरने भी उपासकोंके अधिकार-भेदवे साधन-भेदकी व्यवस्था की है।

'सन्तानकी दृष्टि-कामनांस जननि तेऽहि ताकृ को—'

इस सैद्धान्तिक लोकोक्तिको सामने रखनेपर ईश्वरको सर्वता ही करणामय कहतेमें कोई बाधा नहीं होती। पापकर्मोंके लिये ईश्वर दरढ नहीं दें तो इसमें उन पापों-का क्षय किसप्रकार होगा? सर्वकर्मका फल वित्तशुद्धि है, शुद्ध-चेताको ईश्वर-कृपासे ही योग, भक्ति और ज्ञानकी प्राप्ति होती है (यह जयन्त भष्टका मत है)।

कृपामय ईश्वर सर्वकर्मप्रवर्तक, सर्वविद्यागुरु और सर्व-शिष्यादि-शित्कर हैं। उनके अनुग्रह विना मनुष्यका कोई भी कर्म सफल नहीं होता। वही वेद-शास्त्रोंके

उपदेश हैं, वही कर्मकार, रथकार और धनुर्धर आदिके स्पर्में होकर शिक्षा देते हैं। यजुर्वेद, हवाप्राय और अनेक श्रुतियोंमें उन्हीं ईश्वरके तत्त्वका वर्णन है, उसी भूतिं-मूलक ईश्वर-तत्त्वका भगवान् गांतमने अपने सूत्रमें इषक पूर्व गूढ़ भावसे उपदेश दिया है।

अनेक नीयायिकोंके सेव्य ईश्वर शिवरूप होनेपर भी त्रिमूर्ति हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर यह तीनों ही ईश्वर-मूर्ति हैं और त्रिमूर्ति होनेपर भी वे स्वरूपतः निराकार हैं। ॐ नमः (ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरस्वधारीको प्रणाम है)।

त्रिमूर्ति-चिन्तामणि, गौतमसत्र, वास्त्यायन-माध्य, वार्तिक, तापर्य-दीक्षा, कुमुमाज़लि, न्यायमञ्ची, तत्त्व-चिन्तामणि, दीधिति, दीधिति-प्रकाश इत्यादि नव्य-प्राचीन सभी प्रकारके न्यायग्रन्थ ईश्वर-तत्त्वके प्रतिपादक हैं। इनमेंसे कुछ ग्रन्थोंमें चारोंक, बौद्ध, जैन, सांख और मीमांसकोंके निरीश्वरवादका खण्डनकर अपने भत्तकी स्थापना विशेषरूपमें की गयी है, जिनमें कुमुमाज़लि विशेष उल्लेखनीय है। ईश्वर-विषयक सर्व-ब्रह्म ग्रन्थ ईश्वरानुमान-चिन्तामणि है। मूल गांतम-सूत्रमें भारम्भ करके यथायम्भव उसकी आकृत्वना की जाती है।

'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मफलदर्शनात् ।'

इस गौतमसत्र ४। १। १९ से ४। १। २१ तक नीन सूत्रोंमें ईश्वरवादका स्पष्ट वर्णन है। इस सूत्रका भावादि-सम्मत अर्थ यह है—

पूर्वपक्ष कहता है कि ईश्वर ही जगत्का एकमात्र कारण है, नहीं तो पुरुषकी चेष्टा विफल नहीं होती। जिस वस्तुमें जो प्रवार्य उपर्युक्त होनेवाला नहीं है, उसके लिये मनुष्य किसी भी चेष्टा कर्यों न करे, उसकी वह चेष्टा कभी सफल नहीं होती। कोई यदि सूतके बदले मिट्टीसे कपड़ा बुनना चाहे और इसके लिये चाहे जितनी चेष्टा करे, कभी कपड़ा नहीं बुना जायगा। कहीं-कहीं तो सूतसे कपड़ा बुननेकी चेष्टा करनेपर भी बीचमें इसने विघ्न आ पड़ते हैं कि कपड़ा त्वयार नहीं हो पाता। इसका कारण यही है कि इस विद्व-संसारका एकमात्र कारण ईश्वर है, मनुष्य इस बातको समझता नहीं। चर्म-चक्षुओंके अद्वावर ईश्वरके न देख पड़नेके कारण वह दूसरी-दूसरी चीजोंसे अपना काम निकालना चाहता है

परन्तु कार्यके मूलमें ईश्वरके न रहनेपर कार्य सम्पन्न नहीं होता, अतएव ईश्वर ही कारण है। (यह सूत्र बहके परिणामवाद और विवरतवाद-मतका शापक है) —ऐसा साध्यर्थ टीकामें कहा है। अगले सूत्रमें इस मतमें दोष दिखलाया गया है—

‘न पुरुषकर्मामावे कलानिष्ठतेः’ (४-१-२०)

यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भनुभ्यके कर्म न करनेपर उमेर फलकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव भनुभ्यका कर्म अर्थात् पुरुषार्थ ही फलप्राप्तिका हेतु है, ईश्वर नहीं। इसके बाद न्याय-मतका चरम सिद्धान्तसूत्र है—

‘तकारितवादहेतुः’ (४-१-२१)

उस पुरुषार्थके मूलमें भी ईश्वर है—पुरुषार्थके अनुग्राहक ईश्वर हैं उड़ीके द्वारा कलकी प्राप्ति होती है। ईश्वर पुकमात्र कारण न होनेपर भी (एवं परिणामोपादान या विवरतोंपादान न होनेपर भी) कर्मसापेक्ष निमित्त-कारण हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह व्याख्या भाष्य और उसकी टीकाओंके भावोंके आधारपर लिखी गयी है। इसमें वाचस्पति मिथ्रके विचार और समाधान समिलित हैं। अपना स्वमत पीछे दिखलाया जायगा।

कोई भी व्याख्या हो, सबका मूल ईश्वरवादपर प्रतिष्ठित है, प्रदर्शित सूत्र इस बातका एक विशेष प्रमाण है। २-१०६५ के सूत्रमें भी आस्तूपये वेदवक्ता ईश्वरका प्रामाण्य निगृह भावसे सूचित किया गया है। इस सूत्राने परवर्ती अनेक निवर्त्योंमें ईश्वरके प्रमाणमें एक प्रबल युक्तिका काम किया है।

‘तदर्थं यमनियमाभ्यामात्ममस्कारो योगाचाध्यार्मदिध्युपांयः’

(४-२-४३)

इस सूत्रकथित नियमोंमें ईश्वरप्रणिधान भी एक है। अध्यात्म-विद्युपायमें ईश्वर-तत्त्वके श्रवणादिका प्राहण किया जा सकता है। अतएव इस सूत्रके साथ भी ईश्वर-तत्त्वका गहरा सम्बन्ध है। यहाँ यह आपत्ति होती है कि—

‘मूलदर्शनके घोडश पदार्थोंमें या उनके विभाग-बोधक सूत्रोंमें कहीं भी ईश्वरका नामतक नहीं आया है। दूसरी जगह जो ईश्वरकी चर्चा है वह एक प्रकारसे अप्रासंगिक है, वेदवक्ता आसका जो प्रमाण दिया जाता है वह अप्रासंगिक न होनेपर भी स्पष्टतः ईश्वर-तत्त्वका बोधक नहीं

४३

है। वह आपदवादस्य ऋषियोंके लिये भी प्रयुक्त हो सकता है। अतएव निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन सूत्र-अन्यके साथ ईश्वर-तत्त्वका सम्बन्ध है। इस आपसिका लग्नन दो प्रकारसे हो सकता है—

(१) भाष्यकारने कहा है—

तस्यत्तमकल्पात् कर्त्तव्यनुप्रपत्तिः।

—अर्थात् ईश्वरमें आरम्भ जाति है, आरम्भसे ईश्वरमें विजातीयता नहीं है।

अतएव घोडश पदार्थोंमें जो द्वितीय पदार्थ प्रमेय है, उसके अन्तर्गत उपर्युक्त आरम्भ ईश्वरका भी बोधक है। ईश्वरमें द्वेष-हुःख न रहनेपर भी ईश्वर, प्रयत्न और ज्ञान उसके अनुमापक हैं। आरम्भजातीय जीवात्मा और परमात्मा (ईश्वर) दोनोंहीके अनुमापक-हेतु ‘ईश्वर-देवप्रयत्नसुवृद्धसञ्चानात्मनो लिङ्गम्’ (१-१-१०) —इस सूत्रमें संगृहीत है। दोनोंके सम्बन्धमें इनकी यथायोग्य योजना कर लेनी चाहिये। ‘आत्मनो लिङ्गम्’ इसके ‘आत्मनः’ इस एकवचनद्वारा आरम्भ-जाति सूचित होती है। नीसरे अध्याय, २ आद्विकके ७० बैं सूत्रमें आरम्भका नामात्म स्वीकृत है, अतएव सभी आमाओंका अनुमान ईश्वरादिद्वारा करना पढ़ता है। यह निश्चित होनेपर भी सूत्रमें ‘आत्मनः’ ऐसा एकवचन आरम्भ-जातिके साथ अन्वय किये जाना चिन्द्र नहीं होता। वही आरम्भ-जाति ईश्वरमें भी विद्यमान है। सूत्रका ऐसा अभिप्राय समझकर ही भाष्यकारने ईश्वरमें आरम्भ-जातिका होना स्वीकार किया है और ‘आरम्भन्तरमीक्षरः’ कहा है अतएव यह निर्णय हुआ कि ईश्वर प्रमेयके अन्तर्गत है।

(२) गौतमसूत्रमें ‘प्रमेय’ शब्द पारिभाषिक है। जीवात्मका साक्षात्कार ही सुकिका प्रश्यक्ष कारण है। ईश्वरीलिये प्रमेयमें जीवात्मका ही स्थान रखता गया है। इसप्रकार ईश्वरको प्रमेयके अन्तर्गत न लिये जानेपर भी काल, दिशा प्रभृतिकी भाँति (२। १। २२) उनका अस्तित्व सम्यक् प्रकारसे स्वीकृत है।

न्यायसूत्रके घोडश पदार्थ विचारके प्रधान शंग हैं। विचार उसीको कहते हैं, जिसमें जीवात्मका मन, जीवात्मका योग और जीवात्मका साक्षात्कार होता है। न्यायसूत्रका यह भाव नहीं है कि उक्त घोडश पदार्थोंके अस्तित्व और कोई पदार्थ है ही नहीं। वैसा माना जाय सो

पञ्चभूत, सुख, संयोग, समवाय इत्यादि द्रष्ट्यगुणादिका अस्तित्व भी अस्तीकार करना पड़ता है। क्योंकि ये वस्तुएँ पोषक पदार्थोंमें नहीं हैं। पञ्चभूतोंकी तरह ईशर भी प्रसिद्ध है, अतएव पोषक पदार्थोंमें उसका नाम न आनेपर भी उसका उल्लेख-ईशर-कारणवाद-अप्रासंगिक नहीं है। प्रेत्य-भावके विचारमें उत्पत्तिविचार अपरिहार्य है, उत्पत्तिके विषयमें जो मत उस समय प्रचलित थे, उनका विचार-प्रसंग क्रमसे ही बहाँ किया जाना अप्रासंगिक नहीं था। वेदवक्ता आस ईशर नहीं है, यह वात न्यायसूत्रमें कहीं नहीं कही गयी है। इसके विपरीत पक्षान्तरमें न्यायसूत्र ३। १। २९ में श्रुतिप्रभाणको स्वीकार किया गया है, इसलिये 'तस्मायशास्त्रवृहुत श्वचः सामानि जिजिरे' (पु० सू० ७) इस श्रुतिवाक्यके अनुसार वेदवक्ता आसके रूपमें ईशरको ग्रहण करना किसी प्रकार युक्तिके विरुद्ध नहीं है। ईशर-योग-सिद्धि होनेपर जीवात्म-साक्षात्कार सहज ही हो जाता है। अतएव तत्त्वज्ञानके उपयोगी आत्मसंकारके लिये भी ईशरप्रणिधान सर्वथा युक्तियुक्त है।

यह समाधान भाष्यकार प्रभृतिके मतानुसार किया गया। अब मैं दूसरी पद्धतिसे समाधान करनेके लिये 'ईशरकारण' इत्यादि (४-१-१६ में २१ के) सूत्रोंकी व्याख्या और तरहसे करता हूँ। यह मेरी धृष्टिनां है तथायि मैं सुधी-समाजके सामने हमें विचारार्थ उपस्थित करता हूँ।

'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' यह प्रेत्यभाव आरम्भके नियम होनेसे ही सिद्ध होता है। देहात्मवादी या नैरात्मवादीका प्रेत्यभाव या पुनर्जन्म सिद्ध नहीं होता। इस भावका सूत्र है—
आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावमिदुः (४-१-१०)

इस सूत्रमें जिज्ञासा उत्पत्ति होती है कि उत्पत्ति किस-प्रकार होती है? उसका स्वमतसिद्ध उत्तर और साथ ही नास्तिकोंका समाधान अगले तीन सूत्रोंमें है। इसके बाद अभाव-कारणवाद है, यह मत बौद्धोंका है। इस मतका सूत्र है—

अभावाभावोत्पत्तिनानुपमृद्य प्रादुर्भावत् (४-१-१४)

अभावसे ही भाव-वस्तुकी उत्पत्ति होती है। यह वात प्रत्यक्ष है कि वीजको ध्वंस किये विना अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती। सभी कार्य-कारण-ध्वंसमें उत्पत्ति होते हैं।

यदि यह मत कि, केवल अभाव ही कार्यमात्रका कारण है, लगिछत न हो तो, प्रवृत्ति धर्माधिमकी उत्पत्तिका

कारण नहीं हो सकती, रागादि दोष धर्माधिमके कारण नहीं हो सकते, मिथ्या ज्ञान दोषका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रवृत्ति प्रभृति सभी भाव-पदार्थ हैं, अभाव नहीं है। वस्तिकी भाव-पदार्थको कारण माननेमें न्यायसूत्रके मूल सिद्धान्त (जो १-१-२ सूत्रोंमें वर्णित है) की ही रक्षा नहीं होती। इसलिये यहाँ १२ वें सूत्रसे १८ वें सूत्रतक इस विषयपर विचार और अभावकारणवादका खण्डन है। इस वातको भाष्यकार प्रभृतिने भी स्वीकार किया है। परन्तु—
'क्रमनिर्देशादप्रतिपेत्यः' (४-१-१८)

—इस सूत्रको भाष्यकार प्रभृतिने न्यायमतके अनुकूल अर्थमें ग्रहण किया है। मेरे अनुमानमें, इस सूत्रका सहज अर्थ अभावकारणवादके अनुकूल है। क्योंकि पूर्ववर्ती १७ वें सूत्रमें अभावकारणवादका खण्डन है। जैसे—

'न विनष्टेऽप्योऽनिष्टतःः'

बीजादि-ध्वंसको ही अंकुरादिका कारण कहें तो जो बीज-ध्वंस बहुत पहले हो गया है, फिर उसी ध्वंस-बीज-से अंकुरकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती? वही ध्वंस आज भी तो विद्यमान है। वातवर्ते जब ध्वंसमें अंकुर उत्पत्ति नहीं होता तब अभावको कारण नहीं कहा जा सकता। न्याय-शास्त्रकृत इस खण्डनपर अभावकारणवादकी यह उकिहै कि—

'क्रमनिर्देशादप्रतिपेत्यः'

अर्थात् न्यायशास्त्रकृत यह खण्डन या प्रतिपेत्य नहीं हो सकता। क्योंकि कार्य-कारणका अव्यवधान क्रम निर्दिष्ट है। बीज-ध्वंस होने ही अकुरोपति हो यह क्रम है, अति पूर्वकालमें बीज-ध्वंस होनेपर काल-व्यवधानके कारण, क्रमभंग होनेमें अंकुर उत्पत्ति नहीं होता। इसी आशंकाके उत्तरमें न्यायसूत्रकारने स्वमन-स्थापन करनेके लिये 'ईशरः कारण...' (४-१-१९) यह सूत्र विन्यास किया है। अर्थात् केवल अभाव ही कार्यमात्रका कारण है, भाव-पदार्थ कारण नहीं है, यह नहीं हो सकता। सभी कार्योंमें ईशरको कारण मानना ही पढ़ेगा; यदि नहीं, तो उत्पत्तिर्थिक विषय क्यों होता है? इसपर नास्तिक बौद्ध कहते हैं—

'न पुरुषकर्माभावे फलानिष्टतःः' (४-१-२०)

‘ईशर कारण नहीं है, क्योंकि पुरुषके कर्मोंके विना फल नहीं होता, यह प्रत्यक्ष है। किसान सेतो न करे तो

अनाज नहीं होता। कहना नहीं होगा कि यहाँ भी कृषि-
कर्म-व्यवस्थके बाद ही अनाजकी उत्पत्ति होती है। यह
अभावकारणवादीका मत है। न्यायसूत्रकार इसका
उत्तर देते हैं—

‘तत्कारितत्वादहतुः’ (४-१-२१)

—अभावकारणवादीका प्रदर्शित कारण ईश्वरकारण-
वादका स्पष्टदर्शन करनेमें अनुपयुक्त है। क्योंकि उपर्युक्ता जो
कर्म है वह भी ईश्वर-प्रवर्तित ही है। कोई भी कार्य केवल
एक कारणमें उत्पन्न नहीं होता। बहुतमें कारणोंके
सम्मेलनमें उत्पन्न होता है। इस सम्मेलनके मूलमें ईश्वर
वर्तमान रहते हैं। वे अनुग्राहक हैं, इसीमें कार्य होता है,
अन्यथा नहीं होता। अतपूर्व विना भावके कार्यकी उत्पत्ति
स्वीकार करना विस्फुल अनुकूल है। यदि अन्यथा-व्यतिरेक-
युक्तिमें किसी भाव-पदार्थका कारणत्व साधित होता हो
तो उसी युक्तिमें अन्य भाव-पदार्थको कारण माननेमें कोई
आपत्ति नहीं रह जाती। इसप्रकार प्रकृति प्रभृतिका
कारणत्व अवाप रह गया। सुतरां प्रत्येक विचारके
प्रसंगमें अपवर्ग-साधनके निर्णयके लिये इस विचार-विद्येष-
को आवश्यकता है। यहाँतक कि पोडश पदार्थ-निर्देशके
मूलमें भी यह ईश्वरवाद वर्तमान है। अतपूर्व कहना
पड़ता है कि ईश्वर ही न्याय-दर्शनके प्राणस्वरूप हैं। जो
'प्राणस्य प्राण' है वे यदि न्यायके प्राणस्वरूप हीं, तो कोई
अनोखी बात नहीं है। अधिकन्तु न्यायवादीके लिये वह अवश्य
गौरवकी बात है, न्यायिकके लिये आशा और आशासनकी
बात है। यहाँ मूल-सूत्रोंके साथ ईश्वरवादका अच्छेद्य
सम्बन्ध दिखलाया गया। ईश्वरके स्वरूपकी सूत्रमें विस्तृत
आलोचना न होनेपर भी 'तत्कारितत्वाद' इस संकेतसे
उसका सूक्ष्म सूत्र दिखलाया गया है। आस-प्रामाण्य-निर्देश,
अपवर्ग-विचार, आसमाका नियत्यव और नानारव-ज्ञापन, ईश्वर-
प्रणिधानमें आस-संस्कार ईश्वादि मन्थनके फलस्वरूप हमें
एक प्रकाश-सम्पाद मिल गया है। इससे हम समझते हैं कि—

‘यः सर्वेषाः सर्ववित् द्यावासूमी जनयन् देव एकः ।’
‘नित्ये नित्यानां चेतनश्चेतननाम् ।’
‘सर्वेन्द्रियगुणासां सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।’
‘एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तद्यु-
र्य इमाँलोकानीशत ईशनीभिः ।’
‘यदा पश्यते पश्यते स्वमूर्वाँ
कर्त्तारमीशं पुरुषं भृष्णेनिम् ।’

तदा विद्वान्पुण्यपापं विशूय

निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥१॥

—इस्यादि उपनिषद्, रुद्राध्याय और विविध कर्म-
काण्डका ईश्वरस्वरूप निर्णय ही न्यायवादीका आधार है।

श्रुतिप्रभाणसिद्ध वे ईश्वर किसप्रकार अनुमानमें आ
सकते हैं, 'तत्कारितत्वाद' एवं आस-प्रामाण्यमें यही
सुचित किया गया है। क्योंकि ईश्वरकी कृति और वेद-
कर्त्तव्य ईश्वरानुमानके उत्कृष्ट हेतु हैं।

भाष्यकारने ईश्वर-स्वरूपके सम्बन्धमें निम्नलिखित
आलोचना की है।

‘अवर्मीमिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसम्पदा च
विशिष्टमात्मान्तरमीश्वर, तस्य च धर्मसमाधिकलमणिमादैश्वर्यं
संकल्पानुविचारी वास्य धर्मः प्रशात्मवृत्तीत् धर्माधर्मसञ्चयान्
पृथिव्यादीन च मूर्तानि प्रवर्तयति ।………आसकल्पश्राय यथा
पिताऽप्यानां तथा पितृमूर्तिश्वरोभूतानाम् ।’

भावार्थ—जीवात्मामें अधर्म, मिथ्या ज्ञान और प्रभाद
है। जिस आत्मामें यह सब नहीं है, वहिं धर्मज्ञान, समाधि
पूर्णरूपमें अवस्थित है, वैसा आत्मा ही ईश्वर है।
उसकी धर्मसमाधिका फल अणिमादि अष्ट प्रेक्षण्य हैं।
उनको धर्म-कर्म सापेक्ष नहीं है, संकल्पानुमान है। प्रत्येक
जीवात्माका धर्माधर्म और पृथिव्यादि भूतोंकी प्रवृत्ति उन्हींके
प्रभावमें होती है। सन्तानके लिये जिसप्रकार पिता
यथार्थवादी हितोपदेश और दयासमय है, ईश्वर भी सब
भूतोंके लिये वैसे ही पितृतुल्य हैं।

जरज़ेरायिक नामसे गंगेशद्वारा उल्लिखित जयन्त भट्ट
कहते हैं—

‘ज्ञानमुखेच्छाप्रयत्नधर्मः सन्तीक्षणे’

—अर्थात् ज्ञान, सुख, ईच्छा, प्रयत्न और धर्म
ईश्वरमें वर्तमान हैं। वार्तिंकार उच्योतकर, तारपर्यटीका-
कार वाचस्पति मिश्र, तात्पर्यपरिशुद्धिकार उदयनाचार्य
और गंगेशोपात्राय प्रभृति नव्य न्यायाचार्यगण ईश्वरमें
सुख और धर्म स्वीकार नहीं करते। केवल दीयितिकार-
शिरोमणिके मंगलाचरणमें ‘अखण्डानन्दबोधाय’ पद रहनेसे
उनका मत जयन्त भट्ट आदिके साथ मिलता है या नहीं, इसमें
सन्देह है। ईश्वरमें नित्य सर्वज्ञता, नित्य ईच्छा एवं नित्य
यज्ञ है और कोई विद्येष गुण नहीं है, यह मत नैयायिक-
समाजमें सुप्रतिष्ठित है।

ईश्वरके विषयमें नात्मिकोंको जो आपत्तियाँ हैं उनका उच्छ्रूतकर, जयन्त भट्ट, वाचस्पति मिश्र, उद्यनाचार्य एवं गंगेशोपाध्यायने खण्डन किया है। वह इसप्रकार है—

१—कियाहीन कर्ता नहीं हो सकता। उच्छ्रूतकरने इसके उत्तरमें जो कुछ कहा है उसीका भावार्थ प्रकट करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि, ईश्वर कियाहीन नहीं है, ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्न भी कियाएँ हैं, केवल स्पन्दन ही किया नहीं है। (४।३।२१ न्यायसूत्रका वार्तिक और तत्त्ववर्णीका देखिये)

२—अशरीरी कर्ता नहीं हो सकता। जयन्त भट्टने इसके उत्तरमें कहा है—जिसप्रकार जीवारमा वस्तुतः अशरीरी होकर भी सबका सञ्चालक है, उसी प्रकार ईश्वर भी अशरीरी होकर सर्वसञ्चालक हो सकते हैं। (न्यायमञ्ची, ३ अधिक ईश्वर-प्रकरण देखिये)

३—निरव्यन्तस ईश्वरका जगत्-निर्माण करना निरर्थक है। निरर्थक कर्ममें मूल्की भी प्रवृत्ति नहीं होती, सर्वज्ञ ईश्वरका तो कहना ही क्या? इसके उत्तरमें जयन्त भट्ट कहते हैं—मृष्टि, स्थिति, संहार यह सूखके उदय-अस्तकी भाँति ईश्वरका स्वाभाविक धर्म है। अथवा अनादि जगत्-प्रवाहमें, जीवके प्रति स्वाभाविक दयावश होकर ही ईश्वर मृष्टि, स्थिति, संहार करते हैं। अनादि शुभाशुभ कर्म-पादामें बैठे हुए जीव मुक्ति-लाभ नहीं कर सकते, इसीलिये सुख-दुःख, स्वर्ग-नरककी रचना और बैदेके उपदेशद्वारा शुभाशुभ कर्मोंका ज्ञान एवं भोगद्वारा कर्मक्षय करनेकी व्यवस्था ईश्वरने की है। वेदवाक्योद्वारा प्रिविध उपासना और ज्ञानका उपदेश दिया है। कर्ममें सबको मुक्ति देना ही उनका उद्देश्य है। अतएव मुक्तिरूप परमपुर्वार्थको सभी प्राप्त हों, ईश्वरकी यह करुणाप्रणोदित इच्छा ही सृष्टिका कारण है। (न्यायमञ्चीके उसी प्रकरणको देखिये)।

४—ईश्वरके अस्तित्वमें कोई प्रमाण नहीं है, इसका खण्डन वार्तिककरने लेकर सभी न्यायाचार्योंने किया है।

इन चार प्रकारकी आपत्तियोंके अन्तर्गत कुछ और भी आपत्तियाँ हैं। उदयनाचार्यके न्याय-कुमुमाञ्जलि और गंगेशोपाध्यायके 'ईश्वराद्युमानविनामिण' ग्रन्थमें सारी आपत्तियोंका उल्लेख और उनका खण्डन विमारके साथ किया गया है। आचार्य और उपाध्यायने नात्मिकप्रक्षेप अनुमानमें विवरणसा अति निपुणतासे दिखला दी है।

उपाध्यायने स्वप्रक्षेपकी विर्द्धेष्टा सिद्ध करनेका अधिकतर प्रयत्न किया है।

नैयायिकसिद्धान्तमें ईश्वर निराकार, सर्वज्ञ, जीवके अदृष्ट-फलदाता, निरप्रयत्न और निरयणेश्वर्यसम्पत्ति हैं। वे परम कारुणिक, सारे जगत्के पितृस्थानीय हैं। वे यज्ञादि कर्मसार्गसे, योगमार्गसे, भक्तिमार्गमें और ज्ञान-मार्गसे उपास्य हैं। श्रवण, मनन, निर्दिध्यासन एवं दर्शन भी उनको उपासना है। उपासककी सिद्धिके लिये वे शिवरूपसे आविर्भूत होते हैं। उपासना-विद्येषमें वे श्रीकृष्णादि रूप भी धारण करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये तीनों मूर्तियाँ उनहींकी हैं। गंगेशोपाध्यायने पुराणिके प्रशास्त्र करते हुए जो मंगलाचरण किया है वह अनुशीलन करने योग्य है—

मुण्डीतोऽपीश्विगुणसविवृत्यऽप्यामगः

त्रिमूर्तिः सृष्टिर्यात्विलयकर्माणि ततुते ।

कृपापादावरः परमात्मरक्षिततां

नमस्तस्मै कसै चिदभितभद्रिष्ठे पुरभिदे ॥

ईश्वरकी प्रकृष्ट उपासनाके फलमें अदृष्टदारा या स्वामसाक्षात्कारद्वारा उपासकको मुक्तिको प्राप्ति होती है। ईश्वरका ही दूसरा नाम परमात्मा है। उसीकी उपासना स्वर्ग-अपवर्ग-प्राप्तिका उपाय है। आचार्य उद्यनने कहा है—

स्वर्गापवर्गयोग्यामामनन्त मनीविणः ।

गदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निष्पत्ते ॥

(कुमुमाञ्जलि १।२)

भक्त आचार्य उदयनने आगे कहा है—

इत्येवं त्रिनितिसंप्रवर्जनमृयेभिराङ्गाङ्गालिते

येषां नास्पदमादधासि हृदयं ते शलसाग्रभया ।

किन्तु प्रसुतविप्रतीपविषयोऽप्युच्चैर्मर्दकन्तकाः

कले कारणिक त्वयैव हृपया ते तरणीया नराः ॥

हे परमकारणि! शास्त्र और मुक्तिमय प्रभूत जल-जारामें प्रक्षालित होकर भी जिनका हृदय तुम्हारे निवासके योग निर्मल भावकी प्राप्त नहीं हुआ, वे पाषाण-हृदय हैं, परन्तु वे तुम्हारे प्रतिकूल विचारमें आसक्त होकर वरकृ-रूपसे तुम्हारा ही चिन्तन करनेको बाध्य हुए हैं, अतएव

कृपा करके यथासमय तुम ही उनका निस्तार करना।
तुम्हारी कृपा ऐसी ही है।

श्रीभगवद्गीतामें इसी कृपाका वर्णन है—

उक्तं पुरस्तदेततं चैद्यः सिद्धिं यथागतः ।
द्विष्टपि हृषीकेशं किमुताऽचोक्षजप्रियम् ॥

यही नैयायिकोंका ईश्वरतत्व है। हाय ! मैं अपम
विषय-वासनामें गाढ अनुरुक्त हूँ। ईश्वरतत्वके अनुकूल

या प्रतिकूल कोई सीचिन्ता मेरे हृदयमें प्रायः ही नहीं
आती, तथापि तुम परम कारणिक हो—

मनुष्यमशून्ये मन्मनोदुर्बलध्ये
निवसति भयहीनः कामैरिन् दिपुस्ते ।

स यदि तव विजेयस्तुपामाशृङ्ग शम्भो

तृपतिरथिमृगध्ये कि न कन्तारमेति ॥

X X X X



श्रीमद्भगवद्गीताके ईश्वर

(लेखक—श्री एम० एन० ताडपंडिकर एम० ए०)



मद्भगवद्गीतामें 'ईश्वर' शब्दका विभिन्न
स्थलोंमें छः बार प्रयोग हुआ है। सुगमता-
की दृष्टिमें सबके कम महावदाले वास्तवोंका
इम पहले उल्लेख करेंगे। जैसे योता १६।
१४ में, जहाँ आसुरी समर्पिताले मनुष्यों-
के लक्षणोंका वर्णन किया गया है,
लिखा है—

'ईश्वरोऽहमहं भूयः'

अर्थात् मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ इत्यादि। इस श्लोकमें
'ईश्वर' शब्दका अर्थ मालिक है, अतः व प्रमुति विषयके
लिये इस श्लोककी विशेष उपयोगिता नहीं है। 'ईश्वर' का
दृमरा उल्लेख अध्याय १३। २८ में यिलता है, जहाँ उसके
लिये—'सर्वत्र समर्पिताम्' अर्थात् 'सर्वव्यापी' इस
विवेषणका प्रयोग किया गया है। इसके पश्चात् अध्याय
१५। ८ में ईश्वरके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि वह
शरीरकी भिज्ज-भिज्ज इन्द्रियोंमें स्थित रहकर तथा उनको
नियन्त्रणमें रखकर विषयोंका उपभोग करता है (विषयानु-
पसेवते)। और शरीरका स्वाग अथवा प्रहण करते समय
इनको लिये हुए जाता है (गृहीत्वं तानि संयाति)।

कुछ आगे चलकर—अर्थात् १० वें श्लोकमें—इसी
आदायको इसप्रकार व्यक्त किया गया है कि अविनाशी
ईश्वर तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर उनका धारण-पोषण
करता है (लोकप्रयमाविष्य विभूतिं) और वह 'क्षर'
अर्थात् सब भूतोंमें तथा 'अक्षर' अर्थात् कृत्य—दोनोंसे
परे है और 'परमामा', 'पुरुषोत्तम' कहकाता है।

उपर्युक्त तीन स्थलोंमें भगवद्गीताके ईश्वरका व्या-
स्वरूप है इसका विद्यर्थीन हो जाता है। इसका तात्पर्य
यह नहीं है कि भगवद्गीतामें ईश्वरके सम्बन्धमें अन्यत्र कुछ
नहीं कहा गया है। यों तो ईश्वरका योतामें जगह-जगह
उल्लेख आता है, किन्तु वहाँ उसका निर्देश 'ब्रह्म', 'आत्मा,'
परमेश्वर इत्यादि शब्दोंसे किया गया है, 'ईश्वर' शब्दसे नहीं।
यथापि उनमेंमें कई स्थलोंमें ये शब्द स्पष्टतया ईश्वरके ही
पर्यायवाची हैं, परन्तु इमें आज केवल उन्हीं स्थलोंपर
विचार करना है जिनमें 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग हुआ है।
इस ऊपर दिसला जूके हैं कि यह ईश्वर तीनों लोकोंमें
व्याप्त है, तीनों लोकोंका धारण-पोषण करता है और
'क्षर' एवं 'अक्षर' दोनोंसे परे है। यही ईश्वर हमारे
शरीरोंमें स्थित होकर उनका सञ्चालन करता है एवं
ईन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका उपभोग करता है।

आगे चलकर अध्याय १८। ६१ में यही बात संक्षेपमें
फिर दोहरायी गयी है—

ईश्वरः सर्वभूतानां दृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति ।

आमयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुद्धानि मायया ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें निवास
करता है और अपनी मायासे सभल भूतप्राणियोंको इस-
प्रकार धूमाता है जैसे कुहार अपने चक्रपर चबे हुए
पात्रोंको। यथापि द्वा० वेसेषते उपर्युक्त श्लोकका
इसी प्रकार अनुवाद किया है, परन्तु टीकाकारोंने इसके
कई अर्थ किये हैं। पैशाच-भाष्यमें 'यन्त्र' शब्दका अर्थ
शरीरहणी यन्त्र यह किया गया है—

'सर्वप्राणिनोऽहं शयानोऽहमासीनोऽहं स्थितोऽहं जातोऽहं क्षीणोऽहमित्येवं प्रत्यंगेः शरीरात्म्यं यन्त्रमासूढान् भ्रामयैस्तिष्ठति ।'

अर्थात् 'मैं सोता हूँ, मैं बैठा हूँ, मैं खड़ा हूँ, मैं जन्मा हूँ, मैं दुर्बल हूँ' इत्यादि अनुभवोंके द्वारा शरीरस्थी यन्त्रपर आरुद्ध हुए समस्त प्राणियोंको वह चुम्हाता रहता है ।'

इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सर्वव्यापी होनेपर भी सबसे अलग है और अपनी शक्तिके द्वारा सबका सञ्चालन करता है । उसीकी कृपासे परम शान्ति—शाश्वत पदकी प्राप्ति होती है । इसीलिये श्रीकृष्ण अर्जुनको उसी प्रभुकी शरण जानेके लिये कहते हैं तथा इस ज्ञानको गुह्यासे भी गुह्यतर बतलाते हैं ।

इन श्लोकोंमें हमें ईश्वरकी महिमा बतकायी गयी है और उस ईश्वरकी 'सर्वतोभावेन शरण' होनेको कहा गया है । यहाँतक तो ढीक है । इसके अगले ही श्लोकमें श्रीकृष्ण अर्जुनको अपना गुह्यतम रहस्य बतलाते हैं और कहते हैं कि मैं ही वह ईश्वर हूँ और मेरी शरणमें चले आओ (गीता १८ । ६५) ।

इसप्रकार यह इनक होता है कि १८ वें अध्यायके ११, १३ श्लोकोंमें ईश्वर, उसकी महिमा एवं शरणागति आदिका वर्णन है और उससे अगले श्लोकमें हमें यह

गुह्यतम बात बतायी गयी है कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् ईश्वर है और मनुष्यको उन्होंकी शरणमें जाना चाहिये । इन दो बार्तोंका क्रमशः उल्लेख होना भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये एक नयी एवं मार्केंकी बात बतलाता है, जिसपर जड़ाँतक मैं जानता हूँ अबतक किसी विद्वान्का ध्यान नहीं गया है । वह बात यह है कि भगवद्गीताके अधिकांश स्थलोंमें श्रीकृष्णने अपने लिये उत्तम पुरुषका ध्यावहार किया है जैसे 'अहं सर्वं जगतः प्रभवः प्रलयन्तथा ।' 'मामनुम्भर युध्य च ।' 'ममना भव मद्भक्तो' इत्यादि-इत्यादि । इसके साथ ही कई श्लोक धारा-स्पसे ऐसे मिलते हैं जिनमें ईश्वर अथवा श्रीकृष्णका निर्देश अन्य पुरुषके द्वारा किया गया है । इसके उदाहरणस्पृहमें अठारहवें अध्यायके उपर्युक्त अवतरण पर्याप्त हैं ।

इनके अतिरिक्त अध्याय ५ । ६ में भी ईश्वर शब्दका उल्लेख मिलता है । वहाँ श्रीकृष्णने अपने लिये उत्तम पुरुषका प्रयोग करते हुए यह कहा है कि मैं सरे भूतोंका ईश्वर हूँ—'भूतानामीश्वरोऽपि सत् ।' उपर्युक्त श्लोकमें अवतारके सिद्धान्तका निरूपण किया गया है और उस प्रमाणमें श्रीकृष्णने कहा है कि मैं अपनी मायाके बलमें हम संमारमें अवनीण होता हूँ ।



भगवत्-प्रेम

'दया' प्रेम प्रगटशौ तिन्हौं, तनकी तनि न संभार ।
हरिन्समे माने फिरे गृह बन कौन विचार ॥ १ ॥
प्रेममग्न जे साथवा बिचरत रहत निसंक ।
हरि रसके माने 'दया' गिने राथ ना रंक ॥ २ ॥
प्रेम-मग्न जे साथ जन, तिन गति कही न जात ।
रोय-रोय गावत हंसत, 'दया' अटपटी बात ॥ ३ ॥
हरिन्स माते जे रहैं, तिनको मतो अगाध ।
त्रिभुवनकी सम्पति 'दया' तृत्नसम जानत साथ ॥ ४ ॥
प्रेममग्न गद्दू बचन, पुलकि रोम सब अंग ।
पुलकि रहो मन रूपमें 'दया' न है चित भंग ॥ ५ ॥
कहुँ धरत पग परत कहुँ डिगमिगात सब देह ।
'दया' मग्न हरि-कृपमें दिन-दिन अधिक सतेह ॥ ६ ॥

—दयाबाई

उपनिषद् और ईश्वर

(लेखक — श्रीमहानन्दजी सिंडानालङ्कार, आयुर्वेदमार्तण्ड)

तमीश्वराणां परम महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पर्वि पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं सुबनेशमीडध्यम् ॥ (श्लोक ६ । ७)
ये ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्राहणेति तस्मै ।
त २४ देवमात्मभुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुवै शरणमहं प्रपद्य ॥ (श्लोक ६ । ८)

ईश्वरकी जिज्ञासा



इष्टे अनादिकालसे ही प्रकारके पुरुष होते आये हैं, एक तो वे जो अपने स्व-रूपके ज्ञानके लिये प्रयत्न करते रहे हैं और दूसरे वे जो 'स्व' का विचार न करके 'पर' का ही अनुशीलन करते रहे हैं । मानवीय-प्रकृतिकी बनावट ही इस प्रकारकी है कि जो अधिक ज्ञानवान् संस्कृत-संस्कार-सम्पन्न हैं, वे ही अपने स्व-रूपका मनन करते हैं और जो स्थूल-बुद्धिके हैं, वे इस मूर्ध्म विषयको समझ ही नहीं सकते, और सूक्ष्मात्-सूक्ष्म जो परमेश्वर है, उसपर विचार करनेकी योग्यता उनमें नहीं होती, इसलिये उनको ईश्वर-विषय अत्रिय होता है । इसी विषयमें कठ उपनिषद् में आता है—

पराव्याख्यानं व्यतीपात् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराद् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्दीर्घः प्रत्यगामोनमैक्षत
आवृत्तच्छ्रमूरतविभिन्नन् ॥

—कि इन्द्रियोंके गोलक और विषय दोनों ही बाहर है, इसलिये स्वभावतः पुरुष बहिर्भूत होता है, कोई ही धीर पुरुष, जिसमें असृतस्वका भाव प्रबल होता है, इन्द्रियोंको रोक एवं अन्तर्मुखी करके अपने स्वरूपका दर्शन करता है । धीरके सम्बन्धमें कवि कालिदासने क्या सुन्दर कहा है कि—

विकारेहतौ सति विक्रियन्ते
यथां न चेतांसि त पव धीराः ।

विकृत हो सकनेवाली परिस्थितिमें चिरे होनेपर भी जो विकारको प्राप्त नहीं होते, अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको संयममें रख सकते हैं, वे ही धीर होते हैं, अन्यथा—

प्रथमे वर्यस यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः ।
चानुषु श्रीमाणेषु शान्तिः कस्य नोपजायते ॥

—के अनुसार जब इन्द्रियाँ भोग करनेमें असमर्थ हों, उस समयकी बलाद् शान्तिमें यथार्थ शान्तता नहीं कही जा सकती, यौवनकी मादिकताके अवसरपर जो शान्त रहता है, वही शान्त कहलाता है ।

आत्म-जिज्ञासा और ईश्वर-जिज्ञासा जिसप्रकार उच्च सम्कारोंका फल है, उसी प्रकार परिपक्व बुद्धिका भी परिणाम है । बुद्धिके परिपाकका सम्बन्ध शरीरानुपाती नहीं है, इसी कारण महायुधोंकी जीवनियाँ यह बतलाती हैं कि कहूँ बाल्यकालमें ही विरक्त हो गये और उन्होंने सारा आयुष्य उसी परमेश्वर-चिन्तनमें विताया । बुद्धिके परिपक्व न होनेपर—

अङ्गं गङ्गितं पलिन् मुण्डं
दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति मृद्युत्वा दण्डं
तदपि न मुञ्चत्याशापिष्ठम् ॥

—की अवस्था आ जानेपर भी यह अनुभव होता है कि—‘तृणा न जीर्णा व्यमेव जीर्णा’ या—

‘अङ्गानि शिथिलायनं तृणैका तस्मापतः ।

—सब शरीर जीर्णशीर्ण और जन्मरित हो गया है, टाँग कमरमें लटकी हुई है, पर तृणा-पिशाचिनी पूर्ण तरणावस्थाको प्राप्त होती जा रही है । इसलिये ईश्वरोन्मुखी-शृति सुकृतियोंकी ही हुभा करती है ।

उपनिषद् कालमें जब संस्कारी जीव अधिकतामें थे, तो यह प्रथम सामने था कि—

(१) ‘आमा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निर्दिष्या-
सितव्यः ।’ (बह ० ४ । ५ । ६)

‘तमैव कमात्मानं विजानथ अन्या वाचो विमुश्य अमृत-
स्यैव सेतुः ।’ (मु० ३ । ५)

(२) इह चेदवेदीदय सत्यमस्ति
न वेदिहवेदीन्महती विनिष्ठः ।
मूर्तेष मूर्तेषु विचिन्त्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लाङ्कादमृता शान्तिः ॥
(कठ० २ । ५)

(३) इह चेदशकद्वादुं प्राक् शरीरस्य विस्तः । ***
(कठ० ६ । ४)

(४) इहैव सन्तोऽथ विशस्तद्वयं
न चेदवेदीर्महती विनिष्ठः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्तय-
अतरे दुःखमेवापिधिनितः ॥
(व० ४ । ४ । १४)

(५) तमेव धीरो विज्ञाय प्रशां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बृज्जब्दन् वाचो विग्लापन हितत् ॥
(व० ४ । ५ । १२)

(६) सा होवाच मैवेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन
कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे विद्वृहीति ॥ (व० ४ । ५ । ४)

इन सबका सारांश एक ही है कि प्राचीन कर्मोंका
फल भोगते हुए इस शरीरसे अमृतत्वको प्राप्त हो
परमिता परमात्माका साक्षात्कार कर मनुष्य-शरीरको
सफल करें । यह शरीर और यह मनुष्य-योनि वे
महत्वकी हैं, ज्ञानवान्, मनके साथ इसी शरीरमें परम
पद्मको प्राप्त किया जा सकता है । एक-एक क्षण उसी
परमपद्मकी प्राप्तिमें बीते; सोते-जागते, खाने-पीते एक ही
तदृप हो कि इसी अन्ममें इश्वरकी पुनीत क्रोधमें इम
विचरण करें, ऐसा न हो कि समय बीत जाय और इसे
हाथ मल-मलकर पछाना पड़े । जब इतनी तदृप होती
है तभी मनुष्य ईश्वर-जिज्ञासु कहलाता है । जब मनुष्य
ईश्वर-विचरणपर जाँकिया बात-चीत करता है, या भगवद्गुरु-
से प्रेरित होकर इस विषयपर कुछ सुनता है, या पढ़ करता
है, तो यह 'वाचोविग्लापन' है । प्राचीन समयमें तत्त्व-
जिज्ञासामें प्रेरित होकर यत्र-तत्र ऋषि-मुनि, तपसी,
ब्रह्मचारी विचरा करते थे और स्वयं शान्त होते हुए
समाजमें शान्ति स्थापन करते थे ।

ईश्वर-जिज्ञासाके विषय

उपनिषदोंमें ईश्वर-जिज्ञासाके जो विषय बतलाये हैं,
वे सदासे सभी जिज्ञासुओंके समक्ष रहते आये हैं । इनका

निचिकेता और यमके संवादमें वहा अच्छा घर्णन मिलता
है । निचिकेतापर अस्यन्त प्रसङ्ग यमने उसे तीन वर माँगनेके
लिये आज्ञा दी । निचिकेताने तृतीय वर यह माँगा कि—
यह बतलाइये कि मनुष्य मरकर कहाँ जाता है ? आत्मा
इसके बाद रहता है या नहीं ? इम सुनते हैं—'भस्मी-
भूतस्य देहस्य बुनरागमनं कुतः' और इसके विपरीत
सुनते हैं—

'यं मं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कोलेवरम् ।
तं तमैवति कौन्तेय सदा तद्वावभावितः ॥'
दोनोंमेंसे क्या सत्य है ? 'अन्तमता सो गता'
सिद्धान्त माननीय है या त्याज्य ? प्रदेशका स्वरूप है—
येण प्रेते विचिकिसा मनुष्य-
स्त्वत्येके नायमस्तीति चंके ।
पतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाह
वराणामेष वरस्तुतीयः ॥
(कठ० १ । २०)

इसके उत्तरमें यमने कहा कि—

देवैरत्रापि विचिकिसितं पुमा
न हि मुविज्ञेयमपेष वर्म ।
अन्य वरं निचिकेता वृणीव
मा मोपारोत्सीरति मा सृजेनम् ॥
(कठ० १ । २१)

यह वहा सूक्ष्म प्रश्न है, इसमें देवताओंको भी सन्देह
हो गया था इसलिये इसके स्थानपर अन्य वर माँगो,
इसका आग्रह छोड़ दो । निचिकेता इसके उत्तरमें कहता
है कि जब आप भी इसे इतना सूक्ष्म बतला रहे हैं, जब
देवोंको भी इसमें सन्देह हो गया था, तो भगवन्, आप-
सरीखे ज्ञाता और वक्ता फिर काहेको मिलने लगे, मैं तो
यही आपमें वरस्तुपर्याप्त पूछना चाहता हूँ—

'देवैरत्रापि विचिकिसितं किल
त्वं च मृत्यो यज्ञ सुविज्ञेयमात्य ।
वक्ता चास्य त्वादग्न्यो न लभ्ये
नान्यो वरस्तुत्य प्रत्यस्य कश्चित् ॥'
(कठ० १ । २२)

इसके उत्तरमें यमने फिर कहा कि—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीव
बद्धन्पश्चन्दितहिरण्यमशान् ।

मूर्मेहृदागतनं वृणीष
स्वयं च जीव शरदो मावदिष्ठसि ॥
पतनुलं यदि मन्यसे वरं
वृणीष वित्तं चिरीविका च ।
महामृती नविकेतस्त्वमेवि
कामानि त्वा कामभाजं करोमि ॥
ये मे कामाः दुर्लभाः मर्त्यके
सर्वान् कामाऽऽश्छन्दतः प्रार्थयस्त ।
इमा रामाः सरथाः सत्वर्या
नहींदशा लग्नभन्या मनुष्ये ॥
अभिमंत्रताभिः परिचारमस्त
नविकेते मरणं मनुप्राणीः ॥
(कठ० १।२३—२५)

अर्थात् १०० वर्षतककी दीर्घ आयुदाले पुत्र-पौत्र चाहो सो मैं देता हूँ। बहुत-से पश्च इष्टी-बोडे चाहो तो मैं देता हूँ। बदुस-सा धन और तेज चाहो तो मैं देता हूँ। वर्षी भारी जायदाद या भूमि चाहो तो वह माँगो और दीर्घ आयुष्य माँगो, सो वर्ष या हजार वर्ष या जबतक तुम्हारा जी चाहे जीते रहनेका वरदान देता हूँ। इसके अस्तिरिक्त इस संसारमें जो-जो कार्य बड़े दुर्लभ हैं, जैसे आकाशगामी होना, समुद्रान्तःगामी होना Telepathy, television या अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ या जो भी तुम्हारी कल्पनामें आ सकता है, ऐसी वे सब वस्तुएं निष्पंचकोष होकर माँगो। इसके अस्तिरिक्त दरीरसे, रंग-रूपसे मनःप्रसादकारी परम सुन्दर और रमणीय स्त्रियाँ, जो नाना प्रकारके वाहनोंमें सजघजकर बैठी हैं, तुम्हारे उपभोगके लिये देता हूँ। ये तुम्हें अवश्य स्वीकार करनी चाहिये। ये जो कुछ अनन्त और कल्पनातीत भोग-सामग्री तुम्हें देता हूँ, इसका तुम निर्भय होकर भोग करो और भोगजन्य रीगा या इन्द्रियशीलता या क्लेश तुम्हें न हो, यह भी वर तुम्हें देता हूँ। ये भोग अन्तवन्त या नाशवान् न हों, सदा तुम इनसे परिपूर्ण रहो—यह भी सब कुछ दे सकता हूँ। पर आरम्भ-सम्बन्धी ऐसे गूढ़ प्रभ तुम मत पूछो।

इसी प्रकार बृहदारण्यकके चतुर्थ आह्वानमें याज्ञवक्य और मैत्रेयीके संबाधमें यह आता है कि मैत्रेयी बोली ‘अग्रहम्, आप जो अपना सर्वस्व छोड़कर अन्यत्र जाने छो

हैं और अपनी सब सम्पत्ति बाँटकर देना चाहते हैं, तथा कहते हैं कि अब बटवारा हो जानेपर तेरा कास्यायनीमें स्त्राई-स्त्रावा न रहे गा, सो भगवन्! यह तो बतालाहुये कि—

‘सा होवाच मैत्रेयी यन्तु म इयं योगः सर्वं पृथिवी विस्तेन पूर्णं स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति।’ नविः होवाच याज्ञवल्यो ‘यथैवोपकरणवता जीवितं तथैव ते जीवितं इस्यात्—अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेति’ सा होवाच मैत्रेयी येनाऽहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याः ‘यदेव भगवान् वेद तदेव मे बूहीति।’

(३० ४।५।३-८)

‘यदि आप सारी पृथिवी धनमें पर्यं करके मुझे दें तो क्या उसमें मुझे अमृतत्व प्राप्त हो जायगा?’ याज्ञवक्यने कहा कि ‘नहीं, जैसे उपकरणसाधनसम्पत्ति राजा-महाराजाओंका जीवन है, वैसा ही तेरा जीवन ही जायगा। धनमें मोक्षकी आज्ञा करना दुराकामात्र है।’ यह सुनकर मैत्रेयी बोली कि ‘जिस वस्तुये मुझे मोक्ष प्राप्त न हो, उसका संग्रह करके मैं क्या करूँगी? आप तो मुझे उसीका उपरोक्त कीजिये. जिसे जानकर आप यह सब स्थाग रहे हैं।’

इस वृत्तान्तमें यह स्पष्ट है कि जबतक पुरुषमें अन्य सांसारिक हेतुयाओंकी विद्यमानता है, वह ईश्वरकी तरफ कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता, ‘प्रेमगती अति साँकी तामें दी न समायेँ।’ जबतक जन, धन, पदकी भोग-वासनाएँ प्रबल रहेंगी, तबतक ईश्वर-विषय ‘व्यर्थं’ ‘समय नष्ट करना’ ‘पापालपनं’ ‘बहम्’ आदि शब्दोंसे तिरस्कृत होगा। जब सांसारिक विषयोंमें मन भरकर उब जाता है, सबको अनिष्ट, नाशवान् और हेय सम्प्रकर सत् निष्ट अविनाशी तरवकी तरफ प्रवृत्त होकर उसकी प्राप्तिके लिये तदपने लगता है, तभी वह इस कठिन मार्गकी ओर चल सकता है। सांसारिक भोग और भोगीयोंकी इच्छा, मार्गके भारी विष्ट हैं, इसी प्रकार पूर्ण वैराग्य, पूर्ण व्याग और अन्तर्मुखीन वृत्तिका अभाव तथा परमेश्वरके लिये तदप न होना ईश्वर-विषयमें भारी विष्ट हैं।

ईश्वरका स्वरूप

(१) आत्मा वा इदंमेकं एवाग्र आसीनान्यतिक्रमन मिष्ट०***
स इस्तेलोकान्मृत ॥ (पैत० १।१-२)

(२) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ (पैत० २।१०)

(३) सर्वं ज्ञित्वदं ब्रह्म तज्जलानिति ज्ञानं उपासीत ॥

(पैत० १।१४।१)

- (३०) तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(मु० २।२।१० कठ० २।५।१५)
- (३१) यदा पदयः पदयते रुक्मवर्णं
कर्त्तीरमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ॥
(मु० ३।१।३)
- (३२) अन्तःशरीरे उवेतिर्मयो हि
शुश्रोः ॥
(मु० ३।१।५)
- (३३) वृद्धः तदिद्व्यमचिन्त्यरूपं
गूढमाशं तद्मूढमतं विभाति ।
द्वारात् सुदूरे तदिहनिकं च
पद्यनिष्ठैव निहितं गुहायाम् ॥
(मु० ३।२।५)
- (३४) मनदेवदश्यमात्रात्यमगोत्रमवर्णं-
मच्छुश्रोतं तदपाणिपादम् ।
निर्वयं विमुः सर्वतं सुमूढम्
तद्व्ययं तद्मूढमेनि परिपद्यनित धीराः ॥
(मु० २।१।५)
- (३५) यथा सतः पुरुषात् ॥
तथाध्वरात् सम्भवतीह विश्वन् ॥
(मु० २।१।५)
- (३६) य. सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्तं च जायते ॥
(मु० २।१।५)
- (३७) ब्रह्मवेदममृतं पुरुसाद् ब्रह्म
पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अध्योर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
(मु० २।२।११)
- (३८) तदक्षरं बेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवा-
विदेशेति ॥ (प्रथ० ४।११)
- (३९) एकस्तथा सर्वमूलतरात्मा ॥ (कठ० २।५।१०,११)
(४०) एको वशी सर्वमूलतरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ॥
(कठ० २।५।१२)
- (४१) नित्योऽनित्याना चेतनश्चेतनाना-
मेष्टो बहुनां यो विद्वत्वति कामान् ।
(कठ० २।५।१२)
- (४२) य इमं मध्यदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतमब्यस्य…… ॥ (कठ० २।४।५)
- (४३) अणोराणीयान् महतो महीया-
नात्माऽस्य अन्तोनिहितो गुहायाम् ॥
(कठ० १।२।२०)
- (४४) अशरीरः शरीरेषु अनवस्थेच्चवरिष्यतम् ।
महान्तं विमुमालमान…… ॥
(कठ० १।२।२१)
- (४५) आत्रस्य श्रोतं मनसो मनो यद्
वाचो ह वाच ऐस उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुपश्चात्तुरतिमुच्य धीराः
प्रेयास्माङ्कादमृता भवन्ति ॥
(केन० १।२)
- (४६) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाच गच्छति नो मनो न
विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादयो अविदितादधि । (केन० १।३)
- (४७) ईशावास्यमिदः सर्वं यत्कश्च जगत्यां अगत् ॥
(ईश० १)
- (४८) अनेजदेकं मनसो ज्वरीये
नैनदेवा आप्नुवर् पूर्वमर्शत् ॥
(ईश० ४)
- (४९) तदेजति तज्जेजति तद्वूरे तद्वन्तिकं ।
तदेन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्म बाह्यतः ॥
(ईश० ५)
- (५०) स पर्यगच्छुक्रमकायमव्याण-
मज्जातिरः शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीकी परिभूः स्वयम्भूर्यात्यध्य-
तोऽयान् व्यदध्यात्तावतीम्यः समाप्तः ॥
(ईश० ८)
- इनका सारांश यह है—
(१) आत्मा एक ही पूर्व था, उसने यह सब जोक-
लोकान्तर बनाये ।
(२) वह सत्य, ज्ञान, अनन्तरूप है ।
(३) जिसने सब संसार पैदा होता है, जिसमें फिर
सब विलीन होता है और जिसके कारण संसारका
संरक्षण, पाकन-पोषण होता है वह वह है ।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि ओवन्ति, यत् प्रत्यमिविशन्ति तद्विज्ञामस्व—तद्ब्रह्मति—

यह दूसरी श्रुति इसी अर्थको बताती है।

(४) यह ब्रह्म ग्रहण नहीं किया जा सकता, अविनाशी है, असंग है, मन-बुद्धिसे परे है।

(५) इसी परमात्मा ने सब देव, पुराण, उपनिषदादि शास्त्र, लोक-लोकान्तर बनाये हैं।

(६) यह अजन्मा विज्ञानमय है, सबका स्वाभी, अधिष्ठित और रक्षक है।

(७) वह परमात्मा समल संसारका इच्छिता है।

(८) वह प्राणोंका प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन आदिका प्रकाशक और प्रेष्ट पुरातन ब्रह्म है।

(९) वह ईश्वर ध्रुव है और अप्रमेय है, निर्मल है, अजन्मा और महान् ध्रुव है।

(१०) यह आनन्दमय है, इसीके आनन्दकी भावामें अन्य वस्तुओंमें आनन्दका अनुभव होता है। यह महानन्द है—‘यो वै भूमा सत्यमुखं बाल्पे सुखमिति’—यहाँ आनन्दका पारावार नहीं है।

(११) विज्ञान आनन्दस्वरूप ब्रह्म है।

(१२) सब संसारका मिठाय यही है, और यह अमृतमय तथा नेज़ोमय है।

(१३) यह पुरुष है, प्रत्येक पदार्थके अन्दर विद्यमान है—इससे कोई स्थान खाली नहीं है।

(१४) यह ब्रह्म महान् है, अनन्त है, पार एनेकी सीमामें परे है, इसीमें सब पैदा होता है, और इसीमें सबका रूप हो जाता है।

(१५) इस ब्रह्मके गो रूप हैं एक मूर्ति, एक अमूर्ति।

(१६) जैसे अभिमेंये विस्तुरिता निकलते हैं, इसी प्रकार इस परमात्मामेंसे सब प्राण, सब लोक-लोकान्तर, सब देव, सब भूत पैदा होते हैं, यह सर्व य है।

(१७) यह आत्मा सब लोक-लोकान्तरके प्राणियोंका आश्रय है। और यह एक ही आत्मा सबसे पूर्व था।

(१८) उस ईश्वरने यह सब कुछ बनाया, जो कुछ वेदादि शास्त्र हैं या यज्ञ, प्रजादि हैं, उसीने बनाये हैं और सब उसीमें विलीन हो जाते हैं परं सब उसीका भोजन बनते हैं।

(१९) वह परमात्मा भूत-प्याससे रहित, जरा-भरण-पापसे रहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है।

(२०) यह ब्रह्म सब पापोंसे और संसार-सागरसे तारनेवाला है (सेतु है) और सबका धारणकर्ता है।

(२१) यह आत्मा अमृत और अभय है।

(२२) पहले सत्यस्वरूप परमात्मा ही था, एक ही था, दूसरा नहीं।

(२३) यह परमात्मा ‘रस’ रूप है। सब संसारका ‘रस’ यही है।

(२४) इस परमात्माका नाम ‘ओ३म्’ है, इसीमें सब कुछ पैदा किया है।

(२५) ओ३म् यह अविनाशी सदा विद्यमान है, इसीमें भूत, भविष्यत् पैदा होता है। यह कालसे परे है, सब कृति इसी ईश्वरकी है।

(२६) वह प्रकाशस्वरूप है, अणुमे अणु है, उसीमें सब लोक-लोकान्तर और प्राणी स्थित हैं, यह असर है, प्राणोंका प्राण है, मनोंका मन है और वाणियोंकी वाणी है। यह सत्यस्वरूप है, अमर है, यही ज्ञातव्य है।

(२७) जिसमें दौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष भन और प्राणोंके साथ पिरोये हुए हैं, उसी एक आत्माको जानो।

(२८) जो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक है, जिसकी महिमा यह संसार है, जिसके लिये—

असितगिरिसमं स्यात् कजलं सिन्धुपद्मे

सुरवरतरुशास्त्रं लेखनी पत्रमुर्वी।

लिखति यरि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं

तदर्पि तव गुणनामीश ! परं न यति ॥

यदि समुद्रस्त्री दावातमें असितगिरिस्त्री काली स्याही ढालकर, इन्द्रलोकके कल्पकुम्हस्त्री लेखनीमें पृथिवीस्त्री कागजोंपर शारदा-जैसी विदुषी सदा हर ममय नेरे गुणोंको लिखती रहे, उसका वर्णन करती रहे, तब भी हे परमात्मन् ! उनका अन्त नहीं हो सकता।

उम आनन्दस्वरूप अमृतमय परमेश्वरको धीर लोग विज्ञानद्वारा देखते हैं।

(२९) वह परमात्मा निर्मल, पवित्र, उज्ज्वल ज्योतिश्चों की ज्योति है, उसे आमज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं।

(३०) उसीके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र, तारा, विषुव

प्रकाशित होते हैं, सबका प्रकाशक वह है, उसका प्रकाशक कोई नहीं है, उसीके प्रकाशकी भाँति अन्य प्रकाशोंमें है।

(३१) वह परमात्मा तेज़त्वरूप, सबका कर्ता, सबका स्वामी और सर्वव्यापक है।

(३२) वह ज्योतिर्मय निर्मल, पवित्र प्रकाश सब शरीरोंके पोछे छिपा है।

(३३) वह परमात्मा ब्रह्म है, दिव्य है, अचिन्त्य है, सूक्ष्ममें भी सूक्ष्म है, दूरमें दूर है और पाससे पास है, हृदय-गुहा (अपनी ही) में छिपा है। (Ultra Microscope) अस्थन्त तीक्ष्ण सुदृढ़ीनें उसकी सूक्ष्मताको नहीं पा सकती और महा भीमकाय दूरीनें (Teliscopes) उसकी दूरीको नहीं लक्ष सकती। इस सूक्ष्मता और महत्वामें जो कुछ घट रहा है, उसे अचिन्त्य ही कहकर मौन धारण करना पड़ता है।

(३४) उस ईश्वरका कोई गोत्र, जाति, वर्ण नहीं है, उसके आँख-कान नहीं हैं, उसके हाथ-पैर नहीं हैं, वह नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है, अस्थन्त सूक्ष्म है, वह अविनाशी है, वह संसारका उत्पादक है, उसे धीर लोग देखते हैं। यहाँपर भेत्ताभृतरका यह वचन स्वूप संगत होता है—

अपणिषादो जदनो ऋहीता

पद्यत्वचक्षुः सृष्टोत्यकर्णः ।

स वेति वेदं न च तस्यास्ति वेता

तमाहुरुप्रयं पुरुषं महान्तम् ॥

(३५)

दूसरे शब्दोंमें वही पूर्वोक्त अुतिका अकुवादमात्र है कि—

विना हाथ-पैरके बलपूर्वक पकड़नेवाला है, विना आँख-कानके देखता-सुनता है, वह सबका शाता है उसका शाता कोई नहीं है, वह श्रेष्ठ, महान् पुरुष कहलाता है।

(३५) उस सब अक्षरवृष्टिमें यह सब विच पैदा होता है।

(३६) जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक परमात्मा है; जिसका ज्ञानभय तप पर है, उस ब्रह्मसे यह नाम, रूप और अक्षये तीन वस्तुएँ पैदा होती हैं।

(३७) वह असूत्रमय ब्रह्म सामने है, वही ब्रह्म पीछे,

दाहिने, बाँधे, नीचे, ऊपर सर्वत्र फैल रहा है, वही सबसे भेष है।

(३८) जो उस अविनाशी ब्रह्मको जानता है, वह उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक देखता है।

(३९) वह एक है और सब भूतोंका अन्तरात्मा है।

(४०) वह ईश्वर एक है। सबका नियामक है। सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है, एकमें अनेक वही जानता है।

(४१) वह नित्य पदार्थोंमें भी नित्य है, ऐतनोंका भी चेतन है, एक है, सबका बनानेवाला वही है।

(४२) वह मूल और अविव्यतका भी स्वामी है—वह मधु है और संसारमें मिठासके देनेवाला भी वही है।

(४३) वह सूक्ष्मोंमें भी सूक्ष्म, महान्में भी महान् इस प्राणीके अन्तरात्मामें छिपा है।

(४४) वह अशरीरी है और सब शरीरोंमें व्यापक है। वह अस्थिरोंमें स्थिर है, वह महान् है और विभु है।

(४५) वह श्रोत्रोंका श्रोत्र, भनका भन, वाणियोंकी वाणी, प्राणोंका प्राण, चक्षुओंका चक्षु है। ऐसे सबके आविक्षों परमात्माको धीर लोग मरनेके बाद प्राप्त करके अमर हो जाते हैं।

(४६) उस परमात्माके त्वरूपको न आँखोंमें देख सकते हैं, न वायांसे कह सकते हैं, न मनमें कल्पना कर सकते हैं, न वह समझमें आता है कि उस ज्ञात और अज्ञात द्वारोंमें परे ईश्वर-तत्त्वका कैसे उपदेश करे?

(४७) इस संसारमें जो भी कुछ है, सब वही है और जो कुछ परिवर्तन हो रहे हैं, जो यह संसार प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है, वह सब परमात्माकी जक्षिये ही। वह इसका स्वामी और अधिष्ठाता है।

यहाँपर भगवद्गीताका यह वचन कितना संगत होता है—

ईश्वरः सर्वभूतानां ईदेशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्तर्बभूतानि यन्त्रारुद्धानि मायया ॥

जैसे मशीनके पुरजे हों, ऐसे, अपनी माया-शक्तिमें क्रमबद्धगतिसे ईश्वर सब प्राणिमात्रको उनके हृदय-देशमें स्थित होता हुआ चला रहा है।

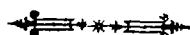
(४८) वह ईश्वर एक है, वह स्वयं न हिलता हुआ

संसारमात्रको, मनकी गति-तुल्य गतिसे बढ़ा रहा है। इन्हें हन्दियाँ प्राप्त नहीं कर सकतीं, यह स्वयं पूर्वप्राप्त है।

(५१) वह स्वयं गति नहीं करता पर सबको गति-में लाता है। वह दूरसे दूर और पाससे पास है। वह सर्वव्यापक होनेसे सबमें व्याप होता हुआ, सबसे परे भी है।

(५०) वह शुद्धस्वरूप, शरीररहित, नाड़ी आदि बम्बनोंसे रहित, तेजोमय, पापरहित है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक स्वयम्भू है और सब संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और तथा यथायोग्य अनादिकालसे करता आ रहा है।

इनसे परमामाके बहुत-से गुणोंका बोध हो जायगा। इमंकी व्याख्याकर लेखको बढ़ानेसे लाभ नहीं है। *



सांख्यमें ईश्वरवाद

(लक्ष्मी—३० श्रीयतीन्द्रकुमार मजूमदार एम २०, पी-एच० ८०, बार-एट ला.)



सांख्य-दर्शन ईश्वरके अभिनवको स्वीकार करता है? इस प्रभकी संक्षिप्त भीमांसा करना ही इस निवन्धका उद्देश्य है। साधारणतः सबकी यह धारणा है कि सांख्य निरीश्वरवादी है, वह ईश्वरके अभिनवके सम्बन्धमें कोई प्रमाण नहीं देता। इतना ही नहीं, यह ईश्वरके अभिनवको ही सर्वथा अस्वीकार करता है। इस धारणाका प्रत्यक्ष सम्बन्ध सांख्यके कुछ सूत्रोंपर ही अवलम्बित है; उन सूत्रोंके अर्थमें प्रवेश न कर, केवल वादा इन्हें देखनेपर यही प्रतीत होता है मानो वास्तविक ही सांख्य ईश्वरके अस्तित्वको सर्वथा स्वीकार नहीं करता और जब हम यह देखते हैं कि सम्पूर्ण सांख्य-दर्शनमें किसी भी विषयको ईश्वरसे सम्बन्धित कर समझानेकी चेष्टा नहीं की गयी, तो हमारी यह धारणा और भी ढाढ़ो जाती है। परन्तु हम यहाँ यह दिखलानेकी चेष्टा करेंगे कि सांख्यके सम्बन्धमें निरीश्वरताकी धारणा सर्वथा आनन्दपूर्ण है। सांख्य-सूत्रोंकी अमयुक्त व्याख्याके कारण ही ऐसा हुआ है। नहीं तो सांख्य-दर्शन वेदान्त-दर्शनके सदृश ही सेवर है, इसमें कोई सम्बद्ध नहीं।

जिन सूत्रोंके सहारे सांख्यमें निरीश्वरभावकी अभिव्यक्ति होती वे सांख्य-प्रवचन-सूत्र प्रथम अध्यायके १२

से १९ और पौँचवें अध्यायके २ से १२ सूत्र हैं। परन्तु इन दोनों अध्यायोंके सूत्रोंकी भलीभाँति व्याख्या करनेमें ज्ञात होता है कि इनका मुख्य उद्देश्य ईश्वरके अस्तित्वको अप्रमाणित करना तो ही नहीं, प्रायुल ईश्वरके अभिनवमें कोई प्रमाण नहीं है, यह दिखलाना भी नहीं है। प्रथम अध्यायके सूत्रोंमें जिस युक्तिकी कल्पना की गयी है, उसका उद्देश्य केवल यही बतलाना है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ईश्वरका अस्तित्व नहीं दिखलाया जा सकता और इमलोग भी इन्द्रियोंके ह्रासको नहीं जान सकते। पूर्वोंक १६ और १८ सूत्रोंमें तो स्पष्ट शब्दोंमें ही ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया है। पाँचवें अध्यायके सूत्रोंका उद्देश्य विश्वकुल ही भिजा है। उनका उद्देश्य तो यह है कि प्रत्यक्ष सम्बन्धमें जगत्का वास्तविक कारण प्रकृति ही है, ईश्वर नहीं है; ईश्वरके केवल परोक्षभावमें प्रकृतिके साथ संयुक्त है, और श्रुति भी यही कहती है कि साक्षात् सम्बन्धसे प्रकृति ही जगत्का कारण होनेमें कोई भी शास्त्रीय अथवा आगम-प्रमाण नहीं है। अब यही ईश्वरको गौण कारण कहा जा सकता है, क्योंकि प्रकृतिने ईश्वर-साक्षियके कारण ही सृष्टि करनेकी शक्ति प्राप्त की है; परन्तु ईश्वर स्वरूपतः निर्यमुक्त और असंग हैं। सांख्य-दर्शनके पूर्वोंक सूत्रोंमें यही बात सिद्ध की गयी है। अतपूर्व यह बड़े आश्रयकी ओर इमलोगोंके ज्ञानसे परेकी बात है कि अनिस्त्व भट्ट, विज्ञानभिष्ठु,

* इस लक्ष्मी-भागे ईश्वर-प्रीतिके उपनिषदान्त सुन्दर साधनोंका वर्णन या परन्तु स्वानामावसे उक्त अंश नहीं छापा गया, लेकिन महादेव क्षमा करें। -सम्पादक

+ तत्सतिवानादधिष्ठातुत्रं मणिवत् । अन्तःकरणस्य तद्वृच्छितत्वालोहवदधिष्ठातुत्वम् ॥

(सांख्य १। १६, १७)

और महावेदके समान विज्ञ व्याख्याकारोंने पृथोंक सूत्रोंसे एक ऐसे भिन्न सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जो केवल आध्यात्मिक ही नहीं, प्रस्तुत सांख्य-सम्बन्धी अन्यान्य अधिक विश्वसनीय व्याख्याओंसे भी मेल नहीं जाता। अधिक क्या, यह व्याख्या विज्ञानभिष्ठुके निष्ठिति अपने ही वाक्योंमें असंबद्ध है। वे वाक्य यों हैं—‘कपिल-मूर्तिधारी भगवान् ने इस विवेक-शास्त्राहारा आत्मानात्म-विवेकके सम्बन्धमें श्रुतिके आविरोधी हस छः अध्यात्मवाले प्रन्थका उपदेश दिया था’। किर आगे लिखा है कि ‘जीवके अशेष दुःखोंको दूर करनेके अभिप्रायसे एवं वेदोपचित् सत्यको जिसमें सब लोग प्राप्त कर सकें, इसी उद्देश्यसे सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश करनेके लिये नारायणदेव कपिल-मूर्ति धारण कर सांख्य-प्रणालेके रूपमें पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।’ (सांख्य-दर्शनकी विज्ञानभिष्ठुक्त आध्यात्मिकी भूमिकामें देखिये) इस भूमिकामें ऐसे और भी अनेकों वाक्य उद्भृत किये जा सकते हैं, परन्तु इमारे लिये इन्हें ही पर्याप्त हैं। इन उद्भृत वाक्योंमें हमें एक वातपर लक्ष्य करना चाहिये। यह यह कि स्वयं भगवान् ने ही यदि कपिल-मूर्ति धारणकर सांख्य-दर्शनका उपदेश किया था तो वे वेदविस्तृत मतका प्रचार कैसे करते ? क्योंकि वेदमें ईश्वरका अस्तित्व अनेकों जगह स्पष्ट स्वीकृत है। यह स्मरण रखना चाहिये कि ‘तत्त्व-समाप्त’ ‘पञ्चिकासूत्रम्’ और ‘सांख्य-कारिका’ में ऐसा कोई भी वाक्य नहीं है, जिसमें ईश्वरका अस्तित्व अस्तीकार होता हो, या ईश्वरके अस्तित्वमें कोई प्रमाण नहीं है ऐसा कहा गया ही; वर्त वेदनेसे सहज ही पता लगता है कि केवल उपर्युक्त वाक्योंमें ही नहीं, पर सांख्य-प्रवचन-सूत्रमें भी ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें स्पष्ट प्रमाण है। वे इसीके नीसरे अध्यायके २६ और २७ में सूत्र हैं। १८

यथापि व्याख्याकारोंने इन दोनों सूत्रोंकी व्याख्या भी दूसरी तरहसे की है, परन्तु इमारे मतमें इनका यथार्थ तात्पर्य यही है कि प्रकृति जिस आत्माके अधीन होकर और जिसके प्रभावसे प्रभावित होकर पुनः आविभूत होती है एवं सृष्टि करती है वह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वकर्ता ईश्वरके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। यहाँ यह प्रभ उठ सकता है कि अतिवाक्यानुयायी सांख्यमें ईश्वरको

* स हि सर्वविद् सर्वकर्ता । ईश्वरसिद्धिः सिद्धा ।

(सांख्य १ । ५३ । ५०)

निष्ठिक्य कहा है, अतः वे सर्वकर्ता किसप्रकार हो सकते हैं ? इसका साधारण उत्तर यह है कि जिसप्रकार राजा को युद्ध करनेवाला कहा जाता है परन्तु वास्तवमें राजा युद्ध नहीं करता, उसके सैनिक ही उसकी आज्ञाके अधीन हो उसीकी परिचालनासे युद्ध करते हैं, उसी प्रकार प्रकृति ईश्वरके प्रभाव और परिचालनमें ही कार्य करती है, अतः ईश्वरको अनंततः परोक्षभावसे सब कार्योंका और सम्पूर्ण कर्तृत्वका मूल निर्वाह कहा जा सकता है। क्य यह बात पीछे प्रमाणित की जायगी कि वास्तवमें ईश्वर ही प्रकृत कर्ता है, प्रकृति सो उसके हाथका व्यवस्थापन है ।

सांख्य-दर्शन-सम्बन्धी सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ ‘सांख्य-कारिका’ में ही ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इदर्वै और न्यायाहवें शोकोंमें स्पष्ट कहा गया है कि जिसप्रकार जगत्में केवल एक परमा प्रकृति है, उसी प्रकार केवल एक परम पुरुष भी है ।

हम यदि सांख्य-सूत्रका प्रमाण स्थीकार करें, तो उसमें भी उपर्युक्त विषयपर प्रथम अध्यायके १५० से १५४ के सूत्रोंमें इसी सिद्धान्तको निर्धारित किया है ।

पात्र अद्व-योगासुवको देखिये । सभी विद्वान् योगासुत्र-को सांख्यदर्शनका एक अति आवश्यक परिशिष्ट मानते हैं और इसको सांख्यदर्शन ही कहते हैं। महाभारत-शान्तिपर्याप्तमें ३०५ से ३०७ अध्यायतक विशिष्ट अधिने और ३१६ अध्यायमें याज्ञवल्यम् अधिने यही बात कही है। अतएव यह कहना व्यर्थ है कि सांख्यदर्शनको भलीभौति

* मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूत्रे सच्चाचरम् ।

गीतामें भगवान् कहते हैं कि मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर जगत्को रखती है ।

+ हेतुमदनित्यमव्याप्ति सकिसमनेकमात्रित लिङ्गम् ।

सांख्यवेद परतन्त्र व्यक्ति विपरीतम्बुद्धिम् ॥

त्रिगुणमविदेवि विषयः सामान्यमचेतन प्रमवश्चमि ॥

व्यक्ति तथा प्रधानं तदिपरीततत्त्वा च पुमान् ।

(सांख्यकारिका १० । ११)

+ उपाधिसेवेऽप्येकस्य नानायोग आकाशसंयेव व्यादिभिः ।

उपाधिमित्यते न तु तदान् ॥

एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धपर्माण्यासः ।

अन्यव्यवेदेऽपि नारोपात् तस्मिन्दिरेकत्वात् ॥

नादैतदुत्पत्तिविरोधो अतिपरत्वाद् ॥

(सांख्य १ । ५०-५४)

समझनेके लिये योगदर्शनका पूरा ज्ञान विशेष आवश्यक है और योगसूत्रका व्यास-भाष्य केवल योगसूत्र समझनेके लिये ही अत्यन्त आवश्यक नहीं है, परन्तु समग्र सांख्य-दर्शन समझनेके लिये भी उसकी अत्यन्त आवश्यकता है; कुछ महानुभावोंका कहना है कि व्यास-भाष्य योगसूत्रकी सबोक्षष्ट व्याख्या है। साधारणतः पातञ्जल-दर्शनको सेक्षर-सांख्य और कापिल-सांख्यको निरीक्षर-सांख्य कहा जाता है, परन्तु ऐसा विभाग नहीं किया गया, यह समझना कठिन है। क्योंकि यह तो पहले विश्वय किया जा चुका है कि कापिल-सांख्य निरीक्षर नहीं है। महाभारतमें भी सिद्ध होता है कि सांख्य और योगदर्शनमें कोई पार्थक्य नहीं है, दोनों एक ही उपदेश देते हैं। सम्भवतः इस भेद-जुड़िका कारण सांख्य-प्रवचनके कुछ सूत्रोंकी आनन्द व्याख्या ही है। (जिसके विषयमें पहले विचार किया जा चुका है।) अध्यवा कापिल-सांख्यमें जीवकी मुक्तिके लिये ईश्वरको आवश्यक नहीं समझा गया है क्योंकि इसमें जीवकी प्रधान उद्देश्य मोक्ष-साधन है। परन्तु योगदर्शनमें जीवकी मुक्तिके लिये ईश्वरकी आवश्य कता स्पष्ट स्वीकार की गयी है अतः निरीक्षर-सांख्यमें जीवकी मुक्तिके लिये ईश्वरको स्वीकार न करना और सेक्षर-सांख्यमें ईश्वरकी आवश्यकता स्वीकार करना, यही समझना पड़ेगा। पातञ्जल-दर्शनमें अनेकों ख्यलोंपर इसप्रकार आवश्यकतासे अधिक जोर दिया गया है। (समाधिपाद २३ से २६ के सूत्र देखिये) ईश्वरके सम्बन्धमें कई अन्य सूत्रोंमें भी वर्णन आया है (समाधिपाद सूत्र १, ३२, विभूतिपाद सू. ६)। इन सूत्रोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवकी मुक्तिके लिये पातञ्जल-दर्शनमें ईश्वरका अस्तित्व और उसकी आवश्यकता स्वीकार की गयी है और यह भी स्पष्ट है कि इसमें परम-पुरुष और जीव-पुरुष ये दो प्रकारके पुरुष स्वीकार किये गये हैं। यहाँ इस बातपर लक्ष्य रखना चाहिये कि पातञ्जल-दर्शनमें कहीं यह नहीं कहा गया है कि मनुष्यकी मुक्तिके लिये ईश्वरकी पकान्त ही आवश्यकता है। केवल भक्ति-विशेषके द्वारा ईश्वरकी उपासना करनेसे उनकी मुक्ति निकटतम होती है। मुक्ति-प्राप्तिके और भी बहुत-से उपाय हैं जिनमें ईश्वरकी उपासना प्रधान है (इस विषयमें विशेषकर समाधिपादके २१ और २२ के सूत्र देखिये।) अतपूर्व वस्तुतः इस विषयमें सांख्य और पातञ्जलदर्शनमें कोई विशेष पार्थक्य नहीं है।

महाभारत-शान्तिपर्वके १०१ से ३१८ अध्यायतक सांख्य-दर्शनपर एक सुन्दर विवरण मिलता है। ३०१ अध्यायमें सांख्य-दर्शनकी बहुत वशंसा की गयी है और सांख्य-ज्ञानका भी अति विस्तृत वर्णन है। यहाँतक कि सांख्य-ज्ञानको स्वयं ब्रह्म ही बतलाया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सांख्यमें ईश्वरके अस्तित्वको अस्तीकृत करना तो दूर रहा, इसमें वर्णित ज्ञानको स्वयं ईश्वरसे एकीभूत किया गया है और उसे ईश्वरका मूर्त-स्वरूप ही बतलाया है। यहाँतक लिखा है कि वेदर्भं जो ईश्वर-ज्ञानकी बातें हैं वे भी सांख्यसे ही ली गयी हैं। शान्तिपर्वके ३०२ अध्यायके ३८ से ४२ श्लोकोंमें विशिष्ट-मुनिके कथनसे ऊपर-का मत और भी समर्थित हो जाता है। इसी पर्वके ३०८ अध्यायके ३०, ३१, ३८, ३९ श्लोकोंमें भी विशिष्टजीने ईश्वरके अस्तित्वको अधिकतर स्पष्टभावसे स्वीकार किया है। (इस सम्बन्धमें ३०७ अध्यायके २६-२७ श्लोक भी देखिये।) जनक और याज्ञवल्क्यके कथोपकथनमें भी सांख्यके सम्बन्धमें हम इस पृक ही सिद्धान्तको पाते हैं (अ० ३१४ श्लो० २ और अ० ३१० श्लो० ५५, ५७ देखिये।)

ऊपरके विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सांख्य ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करता है। परन्तु कुछ श्लोक ऐसे हैं जो इस अनुमानके विरोधी-में प्रतीत होते हैं—अ० ३०७ के ४५ और ४६ वंश श्लोकोंमें कहा गया है कि सांख्य जीवके विवा अन्य किसी तत्वके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता, केवल योगदर्शन ही। यह स्पष्ट स्वीकार करता है, पर ऊपरके विवेचनमें हम दिखला चुके हैं कि अन्यान्य अनेक सूत्रोंमें ही पचीस तत्वके अस्तिरिक्त एक अन्य तत्व-को अर्थात् ब्रह्म या ईश्वरके अस्तित्वको सांख्यने स्पष्ट स्वीकार किया है। अब इन दोनों विरोधी वाक्योंकी संगति कैसे बैठायी जाय? इसका सामाजिक अनेक प्रकारसे किया जा सकता है। प्रथम तो इन श्लोकोंमें पाठ-भेद ही हो सकता है। दूसरे इनका प्रक्षिप्त होना भी सम्भव है, तीसरे पूर्व-कथित श्लोकोंसे इनका सम्पूर्ण असामजिक भी नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त श्लोकोंका यह अर्थ हो सकता है कि पचीस तत्व हैं अर्थात् पुरुष ही परम तत्व है और जो इनके ऊपर है वह निम्नतम है, उसीका दूसरा नाम ईश्वर या ब्रह्म है। अतएव यदि सांख्य पचीस तत्वके अस्तिरिक्त अन्य एक तत्वको न भी स्वीकार करे तो भी किसी प्रकारकी असंगति नहीं होती। सांख्यके पूर्व-सूत्रोंमें पह स्पष्ट लिखा

है कि सम्पूर्ण तत्त्व, (यहाँतक जीव भी) परम पुरुषका ही सर्ग है अतः यदि सांख्य परम पुरुषको किसी भी तत्त्व-रूपमें न स्वीकार करे तो इसमें कोई दोषकी बात नहीं है । किर पूर्व-सूत्रोंमें यह भी स्पष्ट कहा है कि जीव (जो पचीस तत्त्व है) त्रिगुणी या त्रिगुणान्वित ईश्वरके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, इस उपाधिके त्याग करनेपर जीव-की ईश्वरके साथ एकता हो सकती है । यों कहकर यदि सांख्य ईश्वरको एक अतिरिक्त तत्त्व न माने तो इससे कोई विरोप हानि नहीं होती, असामञ्जस्यकी तो कोई बात ही नहीं । पर यह स्मरण रखना चाहिये कि पूर्वोक्त सूत्रोंमें दार-दार दृष्टाके साथ यह कहा गया है कि सांख्य और योग पुक हैं अर्थात् दोनोंका पुक ही विषय है, योग-दर्शनमें ईश्वरके सम्बन्धमें रपष्ट कहा गया है, इसमें यह ज्ञात होता है कि यथापि सांख्य माध्यान् सम्बन्धमें ईश्वरके विषयमें कुछ नहीं कहता (यथापि यह सत्य नहीं है) तो भी अन्ततः वह परोक्षभावमें ईश्वरको स्वीकार करता है । अस्वीकार करनेकी तो कोई शक्ता ही नहीं है, इसमें पूर्वोक्त विषयकी मीमांसा हो जाती है ।

श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें जीवके स्वभाव या प्रकृति, जीव एवं ईश्वरके सम्बन्धमें सांख्यके मतका भली-भौति वर्णन किया गया है । (श्लोक २४, २५, ३० और ७२; अ० १३ श्लो० २२, २७ और अ० १४ श्लो० ३, ४ देखिये) भगवद्गीताके मतमें भी सांख्य ईश्वरके अस्तित्व-को स्वीकार करता है और जीव ईश्वरका ही बद्धुधा प्रकाश-मात्र है । दूसरे शब्दोंमें जीव त्रिगुणी या त्रिगुणान्वित ईश्वर है ।

श्रीमद्भागवतके कपिल और देवहृषि-संवादमें जो सांख्यका वर्णन है, उसमें भी हम ईश्वर-अस्तित्व-सम्बन्ध-में यही बात पाते हैं (श्ल० ३ अ० २५ श्लो० १५, १७ अ० २६ श्लो० ३ ७ देखिये)

उपनिषद् भी हमका समर्थन करते हैं । उपनिषद् का दर्शन-तत्त्व सांख्यमें ही गृहीत है । वहाँ यही कहा गया है कि सांख्य निरीश्वरवाद या अङ्गेयवादका उपदेश नहीं करता, परन्तु ईश्वरके अस्तित्वका ही प्रत्यक्षरूपमें प्रति-पादन करता है ।

नृसिंहरूप

देत्य हिरण्यकश्यपने अपने आतक्को,
धर्माऽवलम्बियोंपर देशमें जमाया था ।
सत्यको असत्यने, नीतिको अनीतिने जब,
धर्मको अधर्मने अकारण सताया था ॥
'कुसुमाकर' कामी कुचाली मौज करते थे,
दम्भ दुराचारसे समाज घबराया था ।
जब विपरीत सब राति हो गई थी नाथ !
तब तू नृसिंहरूप ले करके आया था ॥?॥
अत्याचारियोंका निज बाहु-बल-बीरतासे,
दीन-जन-रक्षा-हित नकशा बिगाड़ा था ।
सुनीतिकी घब्जाको फहराया था चारों ओर,
धर्म-अवरोधियोंके लषण्डेको उसाड़ा था ॥
दुष्ट दम्भियोंका पशु-बल चूर करनेको,
'कुसुमाकर' आकर प्रभु तू दहाड़ा था ।
हिरनाकुश दैत्यसे बलिष्ठ स्वेच्छाचारीको,
धरके नृसिंहरूप पलमें पछाड़ा था ॥?॥
देवीप्रसाद युस (कुसुमाकर) बी० ५०, एल-एल० बी०

योगदर्शनमें ईश्वर

(केलक—प० भीलक्ष्मीभरजी बाजपेयी)



मारे संस्कृत-साहित्यमें छः दर्शन छः
क्रष्णियोंके बनाये हुए हैं। उनमें योग-
दर्शन महर्पि पतञ्जलिका है। प्रायः
सभी क्रष्णियोंने तीन तत्त्व सुख्य माने
हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। आवश्य
ही, सबने सबका सुख्यरूपसे प्रति-
पादन नहीं किया है। अपने-अपने
प्रतिपाद्य विषयपर ही विदेष जीव दिया
है, परन्तु सबको एक साथ मिलाकर पढ़नेमें तत्त्व एक
ही निकलता है।

अद्वैत-वेदान्त जीव और प्रकृतिको गौण मानकर, जो
कुछ इश्य और अदृश्य है, सबको ईश्वर ही मानता है।
संक्षय-शास्त्रके प्रयोगता कपिलमुनि ईश्वरको न मानकर जीव
और प्रकृति दोको ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं;
और भगवान् पतञ्जलि तीनोंका प्रतिपादन करके जीव
और ईश्वर दोनोंको सुख्यता प्रदान करते हैं; और फिर
उनमें भी ईश्वरको ही सुख्य मानते हैं।

पतञ्जलि क्रष्णिने मनुष्यको पूर्ण बनानेके लिये तीन
शास्त्रोंकी रचना की है—(१) योगदर्शन, (२) व्याकरण-
महाभाष्य और (३) राजमृगांक इत्यादि आयुर्वेदके
ग्रन्थ। मन, वचन और शरीर तीनोंकी जब शुद्धि हो,
तभी मनुष्य एर्णताको प्राप्त कर सकता है, अतएव भग-
वान् पतञ्जलिने मनको शुद्ध करनेके लिये योग, वचन यानी
वाच्योंको शुद्ध करनेके लिये पाणिनि-महाभाष्य और काय-
शुद्धिके लिये वैद्यकके ग्रन्थ रखे। यों सो देखनेमें ये तीनों
बातें अलग-अलग विद्यायी देती हैं, पर तीनोंका परम्परा
बनिह सम्बन्ध है। अस्तु।

‘योग’ शब्दका अर्थ जोड़ना है। इस शब्दका उत्तरारण
करते ही द्वैतकी भावना आती है—अर्थात् जहाँ दो, अध्यवा-
दोसे अधिक धीरे होंगी, वही वे आपसमें जोड़ी जायेंगी।
अतएव पतञ्जलि-क्रष्णि द्वैतको मानकर चलते हैं—यह
बतलानेकी आवश्यकता नहीं। ‘जीवात्मका परमात्मासे
संयोग’—यही योगका अर्थ है। याज्ञवल्य-क्रष्णिने कहा है—

‘संयोगं योगं इत्युक्तं जीवात्मपरमात्मनोः।’

अर्थात् जीवात्मा और परमात्माके संयोगको ही योग
कहना चाहिये—यही मनुष्यका परम और चरम सीमाका
पुरुषार्थ है। महायोगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपनी गीतामें
कहै स्थानोंपर-विशेषकर छठे अध्यायमें ‘योग’ शब्दकी
पूरी-पूरी व्याख्या कर दी है। केवल व्याख्या ही नहीं,
बल्कि योग-साधन, योगीके लक्षण इत्यादि भी विस्तारपूर्वक
बतलाये हैं। भगवान् ने बतलाया है कि इस आत्माके साथ
दुःखका जो भयंकर संयोग—मायाका आवरण कहिये—
लगा हुआ है, उसमें क्षात्राका वियोग होना—यही योग
है। दूसरे अध्यायमें ‘समर्प’ को योग बतलाया है और
कहा है कि संगको व्यागकर-फलाशाको छोड़कर कर्म करो,
सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखें। यही योग है। एक
जगह कहा है कि कर्मको कुगलतापूर्वक करना ही योग
है। सबका मतलब एक ही है। अस्तु ! भगवान् पतञ्जलि
योगलक्षण इत्यप्रकार बतलाते हैं—

‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।’

अर्थात् चित्तस्त्रियोंका निरोध ही योग है। इसमें
चित्तकी समावस्था, अर्थात् ‘समाधि’-अवस्था प्राप्त होती
है, जिसको भगवान् श्रीकृष्णने ‘समर्प’ योग कहा है।

महर्पि पतञ्जलिने सम्प्रक्षात और असम्प्रक्षात ये ती-
मेव योग या समाधिके किये हैं, इसी प्रकार चित्तका स्व-
भाव सीन प्रकारका माना है—प्रलय, प्रवृत्ति और स्थिति,
देखे अथवा सुने हुए पदार्थोंका मनमें विचार करते रहना
'प्रस्त्रया' है, किंतु उन विषयोंमें सम्बन्ध करना 'प्रवृत्ति' है;
और किंतु उन विषयोंमें स्थित होना मनकी 'स्थिति' है।
उपनिषदोंमें भी यही कहा है—

यन्मनसा ध्यायति तदाचा बदति, यदाचा बदति तत्कर्मणा
करोति, तत्कर्मणा करोति तदभिसप्दयते।

अर्थात् मन जिस विषयका ध्यान करता रहता है,
वही वाणीसे निकलता है और जो वाणीसे निकलता है,
वही जीव कर्मसे करता है और जैसा कुछ करता है वैसा
ही परिणाम निकलता है।

यह चित्तकी वृत्तियोंका ही फल है। सर्व, रज, तम
गुणोंके अनुसार चित्तस्त्रियोंकी अनन्त शास्त्राद्यं फूटती है।

जब चित्तकी वृत्ति सर्वगुणसे अधिक संयुक्त होती है तब मन के बाल हृष्टरका चिन्तन करता है, जब समोगुणसे युक्त होती है तब अधर्म, अज्ञान और विषयासिकिका चिन्तन करता है; और जब शुद्ध रजोगुण चित्तमें अधिक हो जाता है तब मन धर्म और वैराग्यका चिन्तन करता है। इस पिछली अवस्थाको योगी लोग 'पूर्ण प्रसंख्यान' कहते हैं। इस अवस्थामें चित्त करीब-करीब सत्त्वगुणके पास पहुँच जाता है।

जो ज्ञानशक्ति परिणामसे रहित और शुद्ध होती है, वही सर्वगुण-प्रधान है—उस वृत्तिमें तम और रजका अभाव हो जाता है। चित्तवृत्ति एकाग्र होकर एक सर्वगुणके आश्रयमें रहती है। ब्राह्म विषयोंकी ओर ध्यान जाता है; पर चित्त उनमें रहता नहीं। यह सम्प्रज्ञात-योग है। परन्तु जब सर्वगुणके संस्कार भी नहीं रहते—केवल मात्र एक आत्मरत्नकी ही अवस्था प्राप्त होती है—जीव आत्मचिन्तनमें ही सप्त रहता है, उस दशाको निर्विकल्प-ममाधि या असम्प्रज्ञात-योग कहते हैं। असम्प्रज्ञातका अर्थ ही यह है कि जहाँ एकमात्र ध्येय (ध्यान करने योग्य यानी हैश्वर) के अतिरिक्त और किसी विषयका ज्ञान अथवा भान न हो।

छिस, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और मिल्दू, ये पाँच अवस्थाएँ चित्तकी बातलायी गई हैं।

छिस-अवस्थामें चित्त ऐसा चक्षुल रहता है कि जैसे हथामें दीपककी ज्योति लपलपाया करती है—स्थिर नहीं रहती। तमाम हृष्टर-उधरके मनोरथोंमें चित्त छाँड़ोड़ोल रहता है। यह रजोगुणकी अवस्था है।

विचिस-अवस्थामें भी रजोगुणकी ही प्रधानता रहती है; परन्तु बीच-बीचमें थोड़ा-ग़ा सर्वगुण भी क्षाँकता रहता है, जैसे स्थायाधीशके सामने जब मुकड़मा होता है, तब घार-बार वह यही सोचता है कि इस अपराधीको दण्ड ही देना चाहिये; परन्तु बीच-बीचमें कभी-कभी कुछ दयाका भाव भी उसके चित्तमें आ जाता है। यह विचिस-अवस्था है।

तीसरी मूढ़-अवस्था, इसमें तमोगुणकी पूर्ण प्रधानता रहती है। काम-कोवाणिके बश होकर लब चित्तका कर्तृतय-ज्ञान विलक्षण नष्ट हो जाता है, तब उसे मूढ़ावस्था कहते हैं।

जब चौथो एकाग्र-अवस्थामें रजोगुण और तमोगुणका

विलक्षण लय हो जाता है; और सर्वगुणका प्रभाव बढ़ता है। उदाहरणार्थ—इन पक्षियोंके लेखकका चित्त एक बार अपने लेखन-कार्यमें इतना एकाग्र था कि दरवाजेमें एक बड़े भूम-धामकी सवारी बाजे-गाजेके साथ निकली, परन्तु कुछ मालूम ही न हुआ; और जब भान हुआ तब जलूस निकल गया था। अन्य लोग जो वहाँ थे, जलूस देख चुके थे। चित्तकी यह एकाग्र-अवस्था—यह भूमिका-अस्थासमें जब एक प्रकारकी शादत-सी बन जाय—मनोरथमें ही जब इसप्रकारका बन जाय—तब उस भूमिकाको एकाग्र-अवस्था कहेंगे।

अब पाँचवीं निरूद्ध-अवस्था लीजिये। इस अवस्थामें चित्त अन्य सब विषयोंमें निरावलम्ब होकर केवल हैश्वर-में तलीन हो जाता है। इसमें सर्वगुण भी नहीं रहता। सम्प्रज्ञात-समाधिमें ध्येयका ध्यान और ज्ञान, किसी-न-किसी रूपमें रहता है; परन्तु जब चित्तकी निरद्वावस्था होती है तब ध्यान, ध्यान और ध्येयकी विपुटी नष्ट होकर चित्तका लय अपने कारणमें हो जाता है। यही असम्प्रज्ञात-समाधि है। 'योगश्रित्तवृत्तिनिरोधः'—यही चित्तकी निरद्वावस्था-योग है।

अब चित्तकी वृत्तियोंका विचार करना चाहिये। भगवान् पृथग्भलिने चित्तकी उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं—अथैव भूमिकाओंकी तरह पाँच ही चित्तकी वृत्तियों भी मानी हैं। ये वृत्तियाँ सुख-दुःख-कारक हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोहादिके संसर्गमें चित्तवृत्तियोंके दुःखकार होनेपर आस्था भी उनके संस्कारसे दुःखका अनुभव करता है। इसी प्रकार धर्म, विवेक, ज्ञान, वैराग्य, परोपकार हृथ्यादि-की वृत्तियोंसे आस्था सुखी होता है। धारावर्म नो आस्था सुख-दुःखसे अलग है; परन्तु चित्तवृत्तियोंका आगोप उत्पाद होता है। जैसे युद्धमें सिपाही जीतता और हारता है; परन्तु जीत और हारका आगोप राजापर होता है। सफटिक-मणि स्वयं शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल, स्वयंप्रकाश है, परन्तु भिज्ज-भिज्ज रंगोंके आभासमें आकर वह भी भिज्ज-भिज्ज रंगोंकी दिखायी देती है। इसी प्रकार आस्थाको भी समझना चाहिये। अब यह देखना है कि उन पाँच हिष्ठ और अल्हिष्ठ चित्तवृत्तियों कौन-सी हैं—

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच चित्तवृत्तियों हैं। यों से चित्तवृत्तियाँ देखनेमें अवन्ध हैं—

उनका कुछ डिकाना नहीं है; परन्तु पतञ्जलि-सुनिने हन्हीं पाँचोंके अन्दर सबको प्रहण कर लिया है।

प्रथम प्रमाणवृत्तिके तीन भेद हैं—प्रथम, अनुमान और आगम। प्रथम वह है, जिसको हम स्वयं देख-सुनकर निश्चय कर लेते हैं। अनुमान—जब किसी एक वस्तुको देखकर उसीके सदृश अथवा उससे विसदृश वस्तुओंपरसे उसको मिलाकर अथवा भिजा करके उसका ठीक-ठीक अनुमान करते हैं। जैसे, जहाँपर खुवाँ होगा, हम अनुमान कर लेंगे कि वहाँ आग अवश्य है, अथवा जैसे नक्षत्र और चन्द्रमा अपने स्थानपर एक ही सदृश नहीं रहते, हम इसमें अनुमान करते हैं कि उनमें गति अवश्य है। अब तीसरा प्रमाण ‘आगम’ है। आगम आप पुरुषोंके वाक्यको कहते हैं। जैसे कई विद्वान्, सर्ववक्ता—जिसपर हमारी पूर्ण श्रद्धा है और जिसके विषयमें हम यह समझते हैं कि इसमें स्वयं अनुभव किया है, उसकी वाक्तको हम विना अनुमान और प्रथमतके ही ‘प्रमाण’ मान लेते हैं। बस, प्रमाणवृत्तिके यही मुख्य तीन भेद योग दर्शनमें बतलाये गये हैं।

अब चित्तकी दूसरी वृत्ति ‘विषय’ को लीजिये—विषयव्यवहारी विषय या मित्रा ज्ञानको कहते हैं। है कुछ और ही, और हमको भास कुछ और ही होता है। रातको अँधेरेमें रस्सी, वृक्षकी जड़ अथवा अन्य किसी काली लम्बी चीज़को देखकर हम सर्वका भान करते हैं। दूसरे सम्मेको देखकर उसको हम आँधी समझते हैं। सांसारिक सुख सब हसी प्रकारके हैं, जिनको हम सुख समझते रहते हैं, पर हैं वास्तवमें वे दुःखरूप—उनका परिणाम दुःख है। यह चित्तकी दूसरी वृत्ति विषय है।

अब तीसरी वृत्ति विकल्पको लीजिये—यह वृत्ति भी मनको बहुत बाधित करती है। हमका आधार केवल शब्दज्ञान है। वास्तवमें है कुछ नहीं; पर शब्दमात्रमें हम जतला रहे हैं कि यह चीज़ है। जैसे वन्ध्याका पुत्र। वन्ध्याका पुत्र होता ही नहीं; और यदि पुत्र है, तो वह वन्ध्या कैसी? हसीको विकल्प कहते हैं।

चौथी निद्रा-वृत्ति है। यह वृत्ति अभावज्ञानपर अवलम्बित है। ऊपर-ऊपरसे सो हम समझते हैं कि निद्रामें हमको कोई ज्ञान नहीं रहता; पर वास्तवमें निद्रामें भी एक प्रकारका ज्ञान रहता है। अन्यथा जागृत होनेपर हम यह कैसे कहते—‘बाह! आज हम कैसे सुखसे

सोये। बड़ी गहरी नींद आयी। दिमाग् तरोताज़ा हो गया’ अथवा, ‘आह! आज नींद अच्छी नहीं आयी। सुस्ती बनी हुई है। आज काममें मन कैसे लोगा।’ इत्यादि इसप्रकारकी भावना, जागनेपर मनमें होती है। हसीका नाम अभाव-ज्ञान है। निद्रामें चित्त सांसारिक विषयोंसे अलग रहते हुए भी एक विशेष वृत्तिमें रहता है। यह निद्राकी वृत्ति भी योगमें विद्वकारक है। इसलिये अन्य वृत्तियोंकी तरह इसका भी निरोध करके इसको भी अपने वशमें करना होता है।

अब पाँचवीं स्थृति-वृत्ति है। जिन विषयोंका हमने अनुभव किया है, उनको हम अपने अन्दर चुरा नहीं सकते। यार-वार हम उनको अपने अन्दर-ही-अन्दर जाहिर किया करते हैं। यह जो एक मनोवृत्ति है, हसीको स्थृति कहते हैं।

उपर्युक्त पाँचों वृत्तियाँ अवगत-अवगतके अनुसार सुखदायी और दुखदायी होती हैं: परन्तु योगी हन सभी चित्तवृत्तियोंको दुखदायी ही मानता है; क्योंकि जिसमें हम समझते हैं कि सुख है, उसका भी परिणाम विवेकसे दुःख ही है। कारण, सुखका अनुभव होनेके बाद—उसका वियोग होनेपर—दुःख अवश्यम्भावी है। इसलिये हन सभी चित्त-वृत्तियोंका निरोध करके—उनके वशमें न होने हुए उनको अपने वशमें करके—अक्षय सुखको प्राप्त करना मनुष्यका परम पुरायार्थ है; और वही—चित्त-वृत्तियोंका निरोध करके ममाधि-सुखका अनुभव करना—जीवात्म-परमात्मसंयोग होना—भगवान् पतञ्जलिके मतमें योग है।

अब देखना चाहिये कि यह शुभ योग कैसे प्राप्त हो। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेके लिये महर्षि पतञ्जलि दो मुख्य उपाय बनाते हैं—

‘अभ्यासवैराग्यभ्यां तत्त्विरोधः।’

अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है। चित्तरूपी नदीके दो प्रवाह हैं। एक कैवल्यके उष्ण शिखरमें निकलकर विवेक-भूमिमें बहता हुआ कल्याण-सागरमें जाकर मिलता है और दूसरा प्रवाह संसार-रूप वर्षतमें निकलकर शब्द, स्वर्ण, रूप, रस, गन्धादि विषयोंकी भूमिपर बहता हुआ पाप-सागरमें गिरता है। जब चित्तकी वृत्तियाँ विषयोंमें फँसती हैं तो उसका परिणाम पाप, और जब वे विवेकसे चलती हैं तब उसका परिणाम ‘कल्याण’

अर्थात् मोक्ष होता है। मुसुक्षु पुरुष चित्तके इन दोनों प्रवाहोंको क्षण-क्षणपर जाँचता रहता है, देखता रहता है, कि इस क्षयमें हमारा मन किधर जा रहा है और उसको किधर ले जाना है। मनका धर्म है कि वह किसी-न-किसी ओर जायगा अवश्य। यदि हम उसको कल्याणकी ओर नहीं ले चलेंगे, तो फिर दूसरा मार्ग पापका सुला है ही—उसीकी ओर वह बहने लगेगा। इसलिये पापकी ओरके प्रवाहको रोकनेके लिये 'वैराग्य' के बांधकी ज़स्त है। सांभारिक विषयोंमें जब हमको दोष-ही-दोष दिखायी देने लगते हैं और उनसे हमको एष धणा हो जाती है, तब उस स्थितिको 'वैराग्य' कहते हैं। जिसको यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, उमका मन फिर विषयोंके पापकी ओर नहीं चलता, वह अन्तर्मुख होकर आत्मा अर्थात् 'कल्याण' की ओर चलने लगता है। मनको इसी ओर कायम रखनेके लिये प्रयत्न और अभ्यासकी आवश्यकता है। महायोगेश्वर श्रीकृष्णने भक्तप्रवर अर्जुनको इसी अभ्यास और वैराग्यके चिपयमें समझाने हुए गीताके छठे अध्यायमें कहा है कि, हस बंकल्प-विकल्पात्मक मनमें जितने प्रकारकी कामनाएँ अथवा वासनाएँ उठती हों, उन सबमें पूर्णतया वैराग्य धारण करो और तब विवेकमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंको चारों ओरमें रोककर उनको अन्तर्मुख करो, जैसे कड़ुआ अपने सब अंगोंको भीतर समेट लेता है। फिर खबर धैर्यके साथ, विवेकपूर्वक, धैरि-धैरि चित्तको आत्मामें स्थिर करनेका प्रयत्न करो। यह ब्रह्म और ईश्वर चित्त जिभर-जिधरको जावे, उधर-ही-उधरमें हसको घेरो: और घेर करके हसको खूब घबके माथ अपने वशमें लाओ। हसमें सन्देह नहीं कि यह चित्त अस्थन चञ्चल और बायुकी नरह दृढ़िग्रह है; परन्तु उपर्युक्त अभ्यास और वैराग्यमें यह अवश्य ही वशमें हो जाना है।

यह अभ्यास और वैराग्य उतना सहज नहीं है जितना हमको कहनेमें भालूम होता है। वास्तवमें हसी अभ्यास और वैराग्यके लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि हस्तादि अष्टाङ्ग-योगमाध्यन भगवान् पतञ्जलिने बतलाया है और हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि इसीके लिये अपने शरीरको मिट्ठी (बाँधी, बल्मीकि) तक बना डालते थे; और फिर उसी मिट्ठीसे उनका दिव्य शरीर—तसकाङ्गवर्णम् दिव्य शरीर—निकलता था। अस्तु, अब हमको यह देखना चाहिये कि पतञ्जलि ऋषिने

समाधिसाधन अथवा भगवत्प्राप्तिका सबसे सुगम उपाय क्या बतलाया है। उन्होंने अपने योगदर्शनमें कहा है—

'ईश्वरप्रणिधानादा'

चित्तकी चञ्चलताको रोककर उसको अन्तर्मुख करके आत्मस्वरूपमें स्थापित करना बहुत ही कठिन उपाय है। सर्वसाधारण समारी साधकोंको यह साधन सहज-साध्य नहीं है। इसलिये महामुनि पतञ्जलि 'ईश्वर-प्रणिधान' का सहज उपाय बतलाने हैं। 'प्रशिद्धान' कहते हैं 'भक्ति' या 'उपासना' को। ईश्वरकी उपासना ही समाधिसाधकका सबसे सरल उपाय है। यह उपासना क्या है? अपने प्रत्येक विचार और कार्यमें भगवान्का अविद्यान मानकर, जो भी कुछ विचार अथवा कार्य हमसे अपग्रह हों, सब उसीके लिये—और उसीको अपण किये जायें। ईशोपनिषद्के दो मन्त्रोंमें ईश्वरोपासनाका बहुत अच्छा स्वरूप दिखलाया है; और गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उपनिषद्को दुह करके जो गीता-दूध निकाला है, उस दूधकी कदर इन मन्त्रोंसे भलीभांति मालूम होती है—

ईशावस्यमिदं सर्वं यात्कश्च जगत् ।

तेन त्यक्तेन बुजीथा मा गृहः कस्थिद्वदनम् ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवितेच्छत ममा ।

एवं न्वयि नान्ययेतोऽन्तिन न कर्म रिष्यने नंग ॥

अयोन यह जितना भी कुछ श्वावर-ज़म्म स जगत् । सबमें ईश्वर ज्यास हो रहा है—यहाँतक कि हमारे हृदयके अन्दर जो एक द्वीपीमें भी छोटी विचारकी लड़ा उठती है, उसपर भी ईश्वरी की सना है—वह मवेश ईश्विनाजिर है। इसलिये, हसमें—हस जगत्—जितना कुछ उसने तेरे लिये दिया है, उतनेका ही त् भोग कर—जितना तेरा अधिकार है, उतने ही पैर फैला ! अन्याय-पूर्वक दूसरेकी वस्तु हरण करनेकी इच्छा मत कर, क्योंकि यह सांभारिक मुख-वैभव किसीका नहीं है—एकमात्र ईश्वर ही इसका स्वामी है।

इसी प्रकार इस सम्मारमें आकर अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुए ही त् सौ वर्ष या उसमें भी अधिक,—जीनेकी इच्छा कर, क्योंकि इसप्रकार निकाम—अर्थात् ईश्वरार्पण-पूर्वक—कर्म करनेसे ही तुमको कमका लेप नहीं होगा। त् संसार-बन्धनमें नहीं फैसेगा। इसके सिवा कर्मकचारीमें हूटनेका और कोई भी मार्ग नहीं है।

तथा यह निकलता है कि हम सब जगह ईश्वरकी सत्ता का अनुभव करके, निश्चिदिन उसका चिन्तन करते हुए, यावजीवन निष्काम कर्म करते हैं और ऐसे ही कर्म करें कि जिनको ईश्वरके प्रीत्यर्थ अपेण करनेमें हमको ग़लानि न हो, तो हमारा चित्त शुद्ध होगा और भगवान् हमारे ऊपर अनुग्रह करके हमको दर्शन देंगे। समाधिसिद्धि होनेका यही मार्ग ‘ईश्वरप्रणिदान’ के शब्दमें महर्षि पतञ्जलि हमको सूचित करते हैं और सम्पूर्ण उपनिषद् और गीता भी इसीका समर्थन करती हैं।

अच्छा, अब जिस ईश्वरकी उपासनामें हमारा परम कल्याण है, उसका स्वरूप क्या है? ईश्वरका क्या लक्षण है कि जिसमें हम उसको पहचानें? महारामा पतञ्जलि अपने योगदर्शनमें बतलाते हैं—

‘क्षेत्रकर्मविषाकाशयैरपरममृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः’

अर्थात् क्षेत्र, कर्म, विषाका और आशय हून चार बातोंमें निर्लिप्त जो पुरुषविशेष है, वही ईश्वर है। क्षेत्र पाँच प्रकारके हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँचोंमें अविद्या ही मुख्य है। अविद्याके ही कारण अन्य दुःखोंकी उत्पत्ति होती है। अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुखकी और अनाममें आरम्भुद्धि होना ही अविद्या है। महर्षिं कणादनेवैशेषिक वृद्धनमें कहा है कि इन्द्रियों और संस्कारोंके दोषमें अविद्याकी उत्पत्ति होती है। दूसरा क्षेत्र अस्मिता है। इसका अर्थ है अहंभाव। अहंभावमें, (आरम्भानमें विरहित) अपनेको ही कल्त्तभोक्ता सब कुछ मानना अस्मिता है। राग सुखके आधारपर होता है। जिन वस्तुओंमें हमको सुख होता है—ऐसा हम समझते हैं—उनपर जो हमारी प्रीति है, वही ‘राग’ है। यह भी एक क्षेत्र ही है। द्वेष दुःखके आशयपर चलता है। जिसमें हम दुःख समझते हैं, उसमें द्वेष या धृष्णा करते हैं। यह चौथा क्षेत्र है। अब पाँचवाँ क्षेत्र ‘अभिनिवेश’ है। यह मृत्युका भव्यकर हुःख है। क्षेत्रेवेऽल्पर वर्णतक, मूरुंमें लेकर वर्ष-वर्षे विहानोंमनु—मृत्युका हुःख सबके समझे है। हन पाँचों क्षेत्रोंमें ईश्वर अलग है।

कर्म दो प्रकारके हैं—पुरुषामक और पापामक, और हमका चिपाक, अर्थात् शुभाशुभ फल, और उनका आशय अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंकी वासनाएँ, इन सबमें भी ईश्वर अलग है।

उपर्युक्त अविद्यादि क्षेत्र, कर्म, विषाक और आशय जीवमें माने जाते हैं, अविद्या हृष्यादिये जीवको हुःख होता है। ब्रह्मेन्द्र विष्विनिवेशात्मक कर्मोंमें जीव फैलता है और उनके विषाक ‘जन्म, आयु और भोग’ भी जीवात्माको प्राप्त होते हैं; और हन भोगोंका आशय या संस्कार या वासनाएँ भी जीवके साथ लगी रहती हैं। यों सो जीवात्मा भी चेतन, शुद्ध, तुद्ध, नित्य और निष्कलंक है, परन्तु मनुष्योंके चित्तमें जो क्षेत्रादि होते हैं, वे जीवमें ही आरंभित किये जाते हैं—जीव उनमें निर्लिप्त नहीं है। ईश्वर हन सब वातोंमें अलग ‘पुरुष-विशेष’ है। पुरुषमें उसको विलक्षण बतलाया गया है। ‘पुरुष’ जीवको भी कहने हैं और ईश्वरको भी। शरीरस्थी पुरुका स्वामी होनेमें जीव पुरुष कहलाता है और समूर्ण जगत्पूर्णी पुरुका एकमात्र अध्यक्ष होनेमें ईश्वर भी पुरुष कहलाता है, परन्तु दोनोंमें भेद हतना ही है कि एक उपर्युक्त उपाधियोंमें लिप्त है, तो दूसरा सबमें विष्विल निर्लिप्त है। मुण्डकोपनिषदमें लिखा है—

दा मुपणी सयुजा सक्षाय
समानं दृष्टं परिवस्तजते ।
तत्त्वग्रन्थः पिप्पलं स्वादुल-
नशनन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

अर्थात् जीव और ईश्वर दोनों पक्षी ‘मुपणी’—सुन्दर सामर्थ्यमें युक्त हैं और ‘सयुजा’ अर्थात् व्याप्त-व्यापक-रूपमें विष्विल एक-दूसरेमें मिले हुए हैं और ‘सक्षाया’ अर्थात् समान ल्यतिवाले निष्प, शुद्ध, तुद्ध, मुक्त अतएव मैत्रीधर्ममें रहते हैं और प्रकृतिरूप एक ही वृक्षपर दोनों प्रेममें रहते हैं कि इनमेंसे एक अनादिकालमें प्रवृत्त कर्मपादामें बढ़ होनेके कारण, उस वृक्षके शुभाशुभ कर्मोंके फलको यथावद् भोगता है और दूसरा कर्म-विषाकमें सर्वथा निर्लेप (अपरामृष्ट) रहकर अपनी सर्वशतामें उस जीवात्माके कर्मोंका साक्षीरूप रहता है। यही ईश्वरका पैदवर्य है। महारामा पतञ्जलि कहते हैं—

‘तत्र निरतिशयं मर्वज्ञवाऽन्म’

वहाँ, अर्थात् ईश्वरमें निरतिशय सर्वशताका बीज है। अर्थात् वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है और जितना कुछ ज्ञान दिलायी देता है, वह भी सब उसीमें है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशरूप है, और जिसना कुछ प्रकाश उगतामें है, वह

भी सब सूर्यहीसे है। ईश्वरकी परमावधि सर्वज्ञताका बीज सृष्टिकी रचना, धारण्य और संहारकी शक्तिमें मालूम होता है। उसके इस ज्ञानमय तपका प्रभाव वेदादि सब शास्त्रोंसे पूर्णतया प्रकट है—

अथवा सत्यानीद्वात्पसोऽध्यजायत । ततो रात्रमजायत ।
ततः समुद्रो अर्णवं, समुद्रादीनवादिसंवत्सरो अत्रायत ।
अहोरात्राणि विद्वद्विद्वश्य मिष्ठो वशी । सूर्याचन्द्रमसौ चाता
नथा पूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमयोः स्तः ॥

—ऋग्वेद

अर्थात् उसी ज्ञानमय और प्रकाशस्वरूप ईश्वरकी अनन्त शक्तिये भूत अर्थात् वेदज्ञान और सब अर्थात् श्रियुग्मात्मक प्रकृति उन्पक्ष हुई। इसके बाद रात्रि अर्थात् प्रलयका महायोग अनन्तकार और तय एक प्रकारके विलङ्घण्य प्रकल्पनके साथ वृद्धी तथा आकाशमें सर्वत्र जलतत्त्व उत्पत्ति हुआ। इसके बाद समर्पण विषयोंको स्वाभाविक ही अपने वदनमें रखनेवाले उस भगवान्नने दिन, रात और वर्ष ईश्यादि कालकी सीमा प्रदर्शित करनेवाली गतिको उत्पन्न किया। समर्पण जगत्का धारणा (पाण्डु-पोषण) करनेवाले उस धाताने जिसप्रकार पूर्वकल्पोंमें अपने ज्ञान-रूप तपोवालमें सूर्य, चन्द्र, गुलोक, पृथ्वीको, अन्तरिक्ष, स्वर्णोंके ईश्यादि समर्पण ब्रह्मशब्दको रखा, उसी प्रकार इस कल्पमें भी रखा है और इसी प्रकार रथता आया है पूर्व आगे भी रथता आयगा।

इसीलिये ईश्वर 'निरतिशय सर्वज्ञबीज' कहा गया है। सर्वज्ञतामें सिर्फ उसके अनन्त ज्ञानका ही लक्षण नहीं है, वैशिक उसकी स्वाभाविक ज्ञानयलक्षी कियाका भी इसी सर्वज्ञबीजत्वमें अनन्तर्भव है। क्योंकि बिना क्रियाशीलताके केवल ज्ञान कोही चीज़ नहीं है। सृष्टिके मुजन, धारण्य और संहारमें ईश्वरकी जो अनन्त क्रियाशीलता देखी जाती है, उसीकी ओर पतञ्जलि मुनिने अपने उपर्युक्त सूत्रमें निर्वेश किया है। भगवान् वेदव्यासने भी अपने वेदान्त-दर्शनमें 'जन्मायास्य यतः' लिखकर यही सूचित किया है। सभी शास्त्रोंकी तरह गीता-शास्त्रमें भगवान् श्रीकृष्णने भी यही वस्त्राया है—

यतः प्रवृत्तिमूतानां येन सर्वमिद ततम् ।

स्वर्कर्मणा तमस्यर्थं सिद्धि विन्दति मानवः ॥

विस्तरे इस समर्पण सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है और जो इस ज्ञानवर-जंगम वगत्वमें व्याप्त होकर सबका धारणा कर-

रहा है, उसकी पूजा अपने कर्मोंसे ही करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ऐसे कर्म करो, जिसमें वह प्रसन्न हो। यही ईश्वरकी सर्वोत्तम पूजा है। ऐसा भगवान् श्रीकृष्णका मत स्पष्ट है। अस्तु, अब ईश्वरका अन्य लक्षण पतञ्जलि-मुनि वस्तात है—

'स पूर्वेषामपि गुहः कालेनानवच्छेदात् ।'

अर्थात् पूर्वकामें ब्रह्मादि जितने अवधि, मुनि और ज्ञानी हो चुके हैं, वह सबका गुरुदावा है। वह कालमें धैर्य मही है—अनादि, अमन्त है।

मृहि-डापतिके प्रारम्भमें, जीवोंकी उत्पत्तिके साथ ही, ईश्वरने अपना वेदरूपी ज्ञान प्रकट किया और उसी ज्ञानका उपनिषद्वारामें भी, इसका बहुत विस्तारके साथ वर्णन है। मुराहकोपनिषद्वारमें छिखा है—

तस्माद्ब्रः साम यजुः वि दीक्षा ।

गृहाश्च सर्वे कृतवो दक्षिणाश्च ।

संबसरं च यजमानश्च लोकाः ।

सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥

तस्माद्ब्र देवा बदुधा सम्प्रसूताः ।

साद्या मनुष्याः पश्वो वर्गासि ।

प्राणापलौ ब्राह्मियौ तपश्च ।

भद्रा सत्यं ब्रह्मचर्ये विविष्ट ॥

(मुण्डक० २ : १ । १-७)

तस्माद्यजात्सर्वतुत ऋब्रः सामानि जक्षिरे ।

बन्धुर्दीसि जक्षिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजापत ॥

—यजु०

इसी प्रकार वेद, उपनिषद्, छाँओं शास्त्र, ग्राहणग्रन्थ, सब स्मृतियाँ, सब पुराण और गीता ईश्यादि सब शास्त्र एकमस्ते यह मानते हैं कि ईश्वरने पहले अपना वेदस्वरूप ज्ञान (चारों वेद) अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा, इन चार ऋषियोंके हृदयमें प्रकाशित किया, फिर उनसे ब्रह्माजीने चारों वेद पढ़े, जिसमें वे चतुर्मुख कहलाये। आज भी लोग कहते हैं कि विद्या पढ़नेसे मनुष्यके चार भाँतें हो जाती हैं। इसी प्रकार चारों वेदोंके ज्ञान ब्रह्माजी चतुर्मुख कहलाते हैं। भगवान् मनुने कहा है—

अदिवायुगविम्बस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

द्युदोह ब्रह्मसिद्धयस्मृप्यजुःसामलक्षणम् ॥

ब्रह्माजीके पीछे विराट्, फिर वशिष्ठ, नारद, दक्षप्रजापति, स्वायम्भुव मनु आदि हुए। इन सब प्रधियोंके मनमें परम्परामें ईश्वरने ही अपने ज्ञानका प्रकाश किया। उसीमें सब क्रिया उत्पन्न हुए और उसीने कृपा करके उनको ज्ञान भी दिया। जैसे पिता बालकके जन्म देकर उसको विद्याभ्यास इत्यादिमें लगाता है वैसे ही उस दयालु भगवान् ने मनुष्यको उत्पन्न करके, उसके लिये जीवनके साधन प्राणापान, अज्ञादि शोषधियों और वेदके विधि-निषेधके द्वारा तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य इत्यादिका ज्ञान दिया। इसी प्रकार वह अनादि कालमें ज्ञान देता चला आता है और ऐसा ही ज्ञान देता चला जायगा। न उसका अन्त है और न उसके ज्ञानका अन्त है। भूत, वर्तमान, भवित्य सब उसीमें समाया हुआ है—

पुरुष पंडितं सर्वं यद्भूतं यत्त्र भाव्यम् ।
उत्तमृतवस्त्रेणानो यद्भन्नतिरोहति ॥

—यु०

यह जो कुछ ही चुका है, वर्तमान है और जो भवित्यमें होनेवाला है, वह सब उसीके अन्दर समाया हुआ है। मोहरूप अमृतका अघिष्ठाता वही है; और अज्ञादि शोषधियोंसे लेकर जितने स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबका स्वामी वही एक है।

इसप्रकार वह इमारा उत्पादक, इमारा ज्ञानदाता और इमरे पूर्वज गुरुओंका गुरु है। उसको हम कैसे जानें? भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

‘तथ्य वाचकः प्रणवः’

अर्थात् उसका वाचक प्रणव, अर्थात् ओंकार (ओ॒३८०) है, ईश्वर वाच्य है और प्रणव ओंकार उसका वाचक यानी अतकनेवाला है। प्रणवका अर्थ है कि जिसके द्वारा उत्तम रीतिये स्मृति की जाय। अथवा जो उत्तम रीतिमें स्मृति दर्शावे, उसे भी प्रणव कहते हैं। ओ॒३८० और ईश्वरका वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध नियम, अनादि है। इस संकेतमें उसको प्रकाशित किया जाता है; किन्तु बनाया नहीं जाता। जैसे पिता और पुत्रका सम्बन्ध कोई बनाता नहीं है। यह स्वाभाविक सम्बन्ध है। सिर्फ संकेत-मात्र किया जाता है कि यह पुत्र और यह उसका पिता है।

ओ॒३८० ईश्वरका सर्वोत्तम नाम है। इसमें ईश्वरके सभी

गुणोंका अन्तर्भूत हो जाता है। माशहूक्योपनिषद् में अकार, उकार, भक्ति विद्या इत्यादि मात्राओंका विश्व, तैजस और प्राणके रूपमें बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। इससे ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ताका पूर्ण बोध होता है। इसप्रकार प्रणव ईश्वरवाचक शब्द है। शब्द और अर्थका नियम-सम्बन्ध है। शब्दके पीछे-पीछे अर्थ दौड़ता है। इसीलिये इमरे साधु-सन्तोंने नामकी बड़ी महिमा गयी है। बिना नामके रूप नहीं जाना जाता। नाम जपते-जपते उसका अर्थ हृदयमें समाप्ता है। इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने अगले सूत्रमें कहा है—

‘तज्जपस्तदर्थं भावनम्’

प्रणवका जप क्या है? उसके अर्थ—अर्थात् ईश्वरकी भावना करना। ईश्वर-चिन्तन करना ही ओंकारका जप है। इसमें चित्त प्रकाश होकर समाधि सिद्ध होती है। मुण्ड-कोपनिषदमें जिखाहै कि किनी लक्ष्यको वेदनेके लिये तीन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है—एक धनुष, दूसरे बाण और तीसरे मनकी एकाग्रता—अर्थात् मनकी सत्र वृत्तियोंको चारों ओरमें हटाकर एक लक्ष्यकी ही ओर लगाना। जबतक ये तीनों साधन अनुकूल न हों, तबतक लक्ष्य-वेद नहीं हो सकता। इसीलिये जो ब्रह्मरूप अति सूक्ष्म लक्ष्यको वेदना चाहता है उसको पहले उपनिषद् यानी ब्रह्मविद्याका दृष्ट धनुष हाथमें लेना चाहिये और फिर उपासना यानी अभ्यासयोगमें तीक्ष्ण वायाको उसमें जोड़ना चाहिये। इसके बाद अपने मनकी सत्र वृत्तियोंको सांसारिक सब विषयोंमें इटाकर ब्रह्मरूप लक्ष्यमें स्थिर करना चाहिये। ऐसा करनेसे इम अवश्य ही अपने लक्ष्यको वेद सकेंगे। इस विषयमें उपनिषदोंने कई तरहमें कहा है—

प्रणवो वनुः शरो द्वात्मा ब्रह्म तत्त्वश्चमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेद्वत्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

—मुष्टक०

अर्थात् ओंकार ही धनुष है। जीवात्मा उसका बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। मुमुक्षु पुरुषको ओंकाररूप धनुषमें आत्मरूप वायाको चढ़ाना चाहिये—अर्थात् ओंकारका वारम्बार अभ्यास करके अपनी आत्माको बलिष्ठ, उज्ज्वल, निर्विकार बनाना चाहिये। फिर अप्रमत्त होकर अर्थात् जितेन्द्रियतापुर्वक चित्तहृतियोंको सांसारिक विषयोंमें झाँचकर चित्तको एकाग्र करके—वाचककी सहायतासे

वार्ष्यरूप लक्ष्यको आग्रहरूप वाणसे वेदना आहिये । जिस-प्रकार वाण लक्ष्यमें पड़ूचकर तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी हृष्टरसे प्रविष्ट होकर तन्मय हो जाती है । आत्मा कहीं हृष्टरसे अलग थोड़े ही है । 'यस्य आत्मा शरीरम्' अर्थात् जिसप्रकार जीवात्मा इस पाद्भूतिक शरीरका चोगा पहने हैं, उसी प्रकार जीवात्मा हृष्टरका शरीर ही तो है । जीवात्मा—जो हृष्टना सूक्ष्मात्म-भूत्म है, वही—उस हृष्टरका शरीर है । इस जीवात्माका उपाधिरूप मल दूर हो जानेपर वह उस दिव्य परमात्मामें आप-ही-आप मिला हुआ तो है ही । उसी मलको दूर करनेके लिये—चित्तको स्वच्छ, चमकदार दर्पणकी तरह बनानेके लिये—प्रणवका जप भी एक अभ्यास है । इवेतां अतर-उपनिषद्में भी हस्ती तरहका एक इष्टान्त दिया है—

स्वदेहमरणि कृत्वा प्रणवश्चात्मररणिभ् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवंपश्चेतिगढवत् ॥

अर्थात् जैसे एक अरणीको दूसरी अरणीपर रखकर—फिर खब रगड़कर अप्नि निकाळने हैं, उसी प्रकार अपनी देह (हृदय) रूप एक अरणीपर प्रणव-अकार-रूप दूसरी अरणीको धारण करके खब रगड़वाजी करनी

चाहिये—अखलराहदरूपसे ओकारका जप करनेसे उसके अर्थ, अर्थात् हृष्टरका हृदयके अन्दर चिन्तन करनेसे ध्यान लग जाता है और जिसप्रकार दो लकड़ियोंके रगड़नेसे उनके भीतर छिपी हुई अप्नि प्रकाशित होती है, उसी प्रकार हृदय और प्रणवकी रगड़वाजीमें अन्दर छिपा हुआ परमेश्वर वहाँ हृदय-मन्दिरमें प्रकाशित होता है और तब मनुष्य कृतार्थ होकर जिस आनन्दका अनुभव करता है, उसका वर्णन नहीं हो सकता—

समाधिनिर्धूतमलस्थ चंतसो
निवाशितस्यामनि यस्तुत्तं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितु गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्णते ॥

उपर्युक्त उपासना-योगके अभ्यासमें, समाधि-साधन करके, जो मुसुम्भु अपने चित्तके अशानादि सब मैल धो दाता है और अपनी आत्मामें ही स्थिर होकर फिर उस शुद्ध-चित्तको परमात्मामें लगाता है, उसको जो अपूर्व सुख होता है, वह वाणीहारा वर्णन नहीं किया ला सकता; क्योंकि उस परम आनन्दको तो जीवात्मा अपने अन्तःकरणमें ही अनुभव कर सकता है ।
यही मनुष्य-जन्मका परम पुरुषार्थ है ।

साईयाँ

पिया में आरत तेरी हो ।
मानी नेरे नाममें मैं साँझ सबेरी हो ॥ १ ॥
या तनको दियलो करूँ मनसा करूँ बानी हो ।
तेल भराऊँ प्रेमको बालूँ दिन राती हो ॥ २ ॥
पटिया पालूँ ज्ञानकी सुमति माँग सचालूँ हो ।
पिया तेरे कारने धन जोवन बालूँ हो ॥ ३ ॥
संजडिया बहुरंगिया चंगा फूल बिछाया हो ।
रैन गई तारा गिणत प्रभु अजहुँ न आया हो ॥ ४ ॥
सावन भादों ऊमडो बरखा झटु लाई हो ।
भौंह धटा धन घेरिके नैन भरि लाई हो ॥ ५ ॥
मात पिता तुमको कई तुम ही भल जानूँ हो ।
तुम तजि और भतारको मनमें नहिं आनूँ हो ॥ ६ ॥
तुम हो पूरे साईयाँ पूरन पद दीजै हो ।
मीरा व्याकुल बिरहनी अपनी कर लीजै हो ॥ ७ ॥

—मीराबाई

हिन्दू-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—सर मर्वापली राधाकृष्णन्, केरो०, श्री-लिट्, वाइस-चासलर, आन्ध्रविश्वविद्यालय)



नवीय संस्कारे रूपमें धर्म एक सजीव वस्तु है। इसमें उसी प्रकारका एकत्व और आरम्भ है जैसा कि सजीव वस्तुओंमें होता है। यह एकत्व अपरिवर्तनीय समग्रदायका नहीं, किन्तु सतत परिवर्तनशील जीवनका है। धर्मका वास्तविक स्वरूप न तो उसकी अतीतावस्थामें मिल सकता है और न वर्तमान-अवस्थामें। धर्मकी व्याख्या उसके उड़ेश्यके अनुसार होनी चाहिये, वाया शास्त्रिक-रूपके अनुसार नहीं। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्टो (Aristotle) ने एम्पीडोक्लेस (Empedocles) के सिद्धान्तोंकी व्याख्या इसी शैलीसे की थी (Metaphysics, 1.985 a 3)। यदि हम धर्मके इतिहासकी क्रमिक भवस्थाओंका अनुशीलन करें तो हमें उसमें एक गम्भीर और मौलिक वस्तुका पता छोगा, जो पुनः-पुनः अभिव्यक्त होती रहती है परन्तु पूर्णरूपसे अभिव्यक्त कभी नहीं होती। यही विकासात्मक आदर्श-प्रवर्तक तत्त्व जो प्रत्येक अवस्थामें भर्तुण ही ब्यक्त होता है, धर्मका यथार्थ तत्त्व, तात्पर्य या स्वरूप है। जो समग्र ऐतिहासिक प्रगतिमें ओतप्रोत है।

यदि हिन्दू-धर्मके तत्त्वपर विचार करें तो हम उसे आध्यात्मिक अनुभवकी सत्यतापर आरूढ़ पायेंगे। आरमाके अन्तर्मन प्रेदेशमें हमें सत्यकी अनुभूति होती है। धर्मकी अन्तर्हृतिमें आग्रह, उसकी अपरोक्षता अथवा अनुभवशीलताका हिन्दू-धर्मके इतिहासमें आदिसे अन्तर्क किया गया है। हिन्दू लोग जो वैदिककालको अपने धर्मके आदिप्रवर्तकोंका युग मानते हैं उसका अभिप्राय यही है कि तत्कालीन ऋषि हमारे आदि-मार्ग-दर्शक, नेता तथा आध्यात्मिक साक्षात्यमें सर्वश्रेष्ठ तत्त्वान्वेषक थे, संस्कृत-भाषाका 'ऋषि' शब्द इश् (देखना) धारुमें बना है। इससे धर्मका अर्थ है दृश्यन, साक्षात्कार और अपरोक्ष-अनुभव। ऋषियोंने जिस सत्यका पता लगाया है वह ताकिं का आलोचना अथवा क्रमशब्द दार्शनिक गवेषणाका परिणाम नहीं है बल्कि यह आध्यात्मिक

अन्तर्बोध, इष्ट अथवा प्रत्यक्ष अनुभव है। ऋषिवृन्द केवल वेदोंमें विहित सर्वोंके प्रतिपादक ही नहीं हैं, वे साक्षात्दर्शी सिद्ध पुरुष हैं जो अपने आरमाको परमारमाके साथ मिला करके शाश्वत-सत्यका उद्घाटन करनेमें समर्थ हुए थे। उनका कोई भी वचन क्षणिक प्रानपर अवलम्बित नहीं है बल्कि उस दीर्घकालीन अनुभवके आधारपर है जो उन्होंने तपोमय जीवन और आध्यात्मिक शक्तियोंके विकाससे प्राप्त किया था। 'सदा पश्यन्ति सूर्यः' आज वेद जो सर्वश्रेष्ठ आसप्रमाणके रूपमें माने जाते हैं इसका कारण यही है कि वास्तविक अनुभवसे बढ़कर कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता। ईश्वर निरा आदर्श नहीं है, जिसे हम ज्येय बनावें; बल्कि वह एक अनुभवग्राम्य यथार्थ सत्य है। आध्यात्मिक अनुभव हमारी कल्पना नहीं है बल्कि सत्यके साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध है।

जो सन्त केवल मुनी-मुनायी वात नहीं कहते बल्कि जिनका ईश्वरके साथ साक्षात् परिचय है उन्हें ईश्वरके निर्वचनकी आवश्यकता नहीं होती। उन्हें कभी इंका और अद्वा हो ही नहीं सकती। उनकी अपूर्व और सरल निश्चयात्मिका बुद्धि किसी प्रकार भी विचलित नहीं हो सकती। परम्परा साधारण मनुष्योंके लिये, जिनका धर्मके विषयमें कोई निजी अनुभव नहीं होता, तथा जो बिना ही साधनके धार्मिक जीवनका आनन्द लृत्वा चाहते हैं, एवं जो धर्म-मार्गमें फलप्रुतियुक्त कथाओं तथा कर्मकाण्डके सहारे आगे बढ़ना चाहते हैं, लुभानेके लिये ही पुष्पित-वाणीका प्रयोग करनेकी आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त अपना अनुभव दूसरोंके प्रति प्रकट करने, उसके इन्द्र्यको समझाने तथा विरोधियोंके आक्षेपोंका व्यण्डन करते हुए उसका समर्थन करनेके लिये भी हमें तर्क और भाषाकी सहायता आवश्यक होती है। हिन्दू-धर्ममें अस्यन्त निर्गुणमें लेकर म्यूल संगुणरूपतकके अनुभवोंका क्रियक वर्णन प्राप्त होता है।

जब कोई अन्तर्हृष्टि-सम्पद पुरुष तर्क और युक्तिकी सहायतासे अपने अनुभवके समझानेकी चेष्टा करता है तो उसे श्रद्धाकी आवश्यकता पड़ती है जो परमतत्वके निरूपणके लिये स्वयंसेव अपेक्षित होती है। यह आनता

है कि आरमाका एक ऐसे जगतसे घनिष्ठ, प्रस्त्रक्ष और उद्दीप सम्बन्ध है जो ऐन्द्रिय-ज्ञानकी भूमिसे विलकुल ही अतीत है तथा बुद्धिके द्वारा प्रकट की हुई सौकिक भूमिसे कहीं अधिक दीर्घिमान और सत्य है। बुद्धि, दिव्य-दृष्टि और आध्यात्मिक अनुभव समानरूपसे एक ऐसे पुरुषके सत्ताकी साक्षी देते हैं जो वस्तुतः चंतन्यमय है तथा अखिल सृष्टिका मूल आधार है, एवं ‘अमृत और मृत्यु जिसकी छाया है’—‘यस्य द्व्यायामृतं यन्म मृत्युः’ (ऋग्वेद १०। १२१)। आध्यात्मिक अनुभवकी सत्तसे वही विशेषता है अनिवंचनीयता। जब हम अपने अनुभूत सत्यके समझानेकी चेष्टा करते हैं, तो हमें विवश होकर याद्य विधियों और भावनाओंका प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु कोई भी याद्य विधि अथवा भावना कितनी ही व्यापक क्यों न हो, वह उस परमसत्यका वर्णन करनेमें असमर्थ ही रहती है। भगवान् बुद्धने आध्यात्मिक अनुभवकी सत्यताको स्वीकार किया है, परन्तु वे इस यातको नहीं मानते कि उस अनुभवमें किसी इससे परंकी वस्तुकी अभिव्यक्ति होती है। आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा हृष्टरके साथ इमारा साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है, यह विचार उनके मतमें एक अनुमानमात्र है, स्वतःसिद्ध तथ्य नहीं है। बुद्ध स्वीकृत सिद्धान्तोंकी सीमाके अन्दर रहनेकी चेष्टा करते हैं और वे केवल इस यातको मानते हैं कि इस दृश्य और सूक्ष्य जगतके भीतर एक गम्भीर आध्यात्मिक जगत् ओतप्रोत है। महादूर हिन्दू-दार्शनिक और तत्त्वज्ञानी श्रीशङ्कर कहते हैं कि समस्त वाद्यरूप असत हैं और वह सत वस्तु है इन सत्यमें परे है। उपनिषद्, बुद्ध, शङ्कर और उनके अनुयायी मानते हैं कि शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आरमा, जो अखण्ड, अद्वैत, केवल हैं तथा अनेकता और विकारमें युक्त जगतमें परे हैं, अथवा इसके अन्दर ओतप्रोत हैं, एक निःरूपाधिक सत्ता है, जिसके वास्तविक स्वरूपका पूर्णतः चिन्तन करना अथवा वाणीद्वारा वर्णन करना नितान्त असम्भव है। विना संप्रतिषिद्धिके हम स्वीकार कर लेते हैं कि हृष्टरकी महिमा अवर्णनीय है और मन तथा वाणीकी पहुँचके परे है। वह ज्ञेयसे भिजा है और अज्ञेयसे परे है, ‘तद्रिदितादयो अविदितादधिः’—(केन० १। ३)। वहाँ नेत्रकी गति नहीं है और न वाणी ही पहुँच सकती है, न मन ही, ‘अचक्षुष्क’ ‘अवागमनः’—(बृहदारण्यक० ३। ८। ८)। परन्तु इस बौद्धिक नज़रता

और आध्यात्मिक अनाहंकारतामें एक आपत्ति है। परमतत्त्व-के विषयमें भगवान् बुद्धकी मौनताने उनके उपर नामिकता-का काळछल लगाया है। परमतत्त्वको समस्त गुणों और सम्बन्धोंसे रहित मानकर इस उसेकेवल सत्ताभावमें परिणत कर देते हैं जो एक प्रकारसे निरी शून्यता है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि केवल मन्द-मति पुरुष आनुभविक गुणोंके अभावको सर्वसत्ताके अभावके रूपमें मान लेने हैं। निर्विद्येप बहुके महान् गौरवका ज्ञान आरमाका प्राप्त है, उसको व्यक्त करनेके लिये ही इसप्रकारके निषेधारमक वाक्योंका आश्रय लिया गया है कि वह ‘अन्य ही है’ और उसके विषयमें ‘नेति-नेति’ के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

हिन्दू-धर्म केवल ‘नेति-नेति’ कहकर ही सन्तोष नहीं करता। आध्यात्मिक अनुभवके तीन मुख्य रूप हैं—सत्यता, ज्ञान और स्वनन्दता। (सत्, चित् और आनन्द)। यदि हमारे अनुभवके कुछ अंश हन विशेषताओंके साथ प्राप्त होनेहैं तो समझना चाहिये कि समस्त अनुभवकी प्राप्ति इसी प्रकारसे सम्भव है। वह जेतना, जिसके अन्दर समस्त अनुभव अपनी अव्यवहितता, व्यक्तता और हृत-व्याहृत्तिके साथ विद्यमान रहता है, हृष्टरीय सत्ता-चेतना है और वही इमारा आदर्श है। हृष्टरीय सत्तामें सत्य स्वयं ही अपना साक्षात् द्वारा है, सत्य अपने स्वरूपका ज्ञाता तथा स्वयमेव सरणीं ज्ञातन्त्र है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो उसकी सत्तामें न हो, तथा उसमें अभिव्यक्त न होती हो; साथ ही सब प्रकारकी विषमताओंका भी उसमें अस्पन्द अभाव है। वह पूर्ण सत्, पूर्ण चित्, और पूर्ण आनन्द है। संकल्प और उसके सूतरूपका, हृष्टा और उसकी अभिव्यक्तिका, तथा प्रेम और उसके मार्ख्यका वही आधार है। हन मानवीय प्रतिकृतियोंमें द्वैत, विरोध और संघर्ष रहता है। यही कारण है कि हृष्टरीय दिव्य गुणोंकी पूर्णताके सामने ये मानवीय तथा परिचित गुण सर्वथा अपूर्ण हैं। परमतत्त्व वास्तविक है, सत्य नहीं; पूर्ण है, उसम नहीं। इसका स्वातन्त्र्य ही उसका जीवन है, उसका वास्तविक स्वभाव है।

यथापि आध्यात्मिक तत्त्वकी पूर्णता इमारे गुणोंमें बहुत ऊँची है, तथापि उसकी प्रकृति उस उच्चतम सत्तामें साइर्य रखती है जिसका हमें अपने अन्दर ज्ञान होता है। यदि वास्तविक तत्त्व मनुष्यकी आरमासे विलकुल ही परे होता हो उसकी सत्ताको अस्पष्टरूपसे समझना भी इमारे लिये

हिन्दू-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—सर मर्वापद्मी राधाकृष्णन्, केरी०, बी-लिट., वाइस-चॉसलर, आनन्द-विश्वविद्यालय)



नवीय संस्थाके रूपमें धर्म एक सजीव वस्तु है। इसमें उसी प्रकारका प्रकार और आस्था है जैसा कि सजीव वस्तुओंमें होता है। यह एकव अपरिवर्तनीय सम्प्रदायका नहीं, किन्तु सतत परिवर्तनशील जीवनका है। धर्मका वास्तविक स्वरूप व तो उसकी अतीतावस्थामें मिल सकता है और न वर्तमान-अवस्थामें। धर्मकी व्याख्या उसके उद्देश्यके अनुसार होनी चाहिये, वाया शास्त्रिक-रूपके अनुसार नहीं। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्टू (Aristotle) ने एम्पीडोकलस (Empedocles) के सिद्धान्तोंकी व्याख्या इसी शैलीसे की थी (Metaphysics. 1.985 a 3)। यदि इम धर्मके इतिहासकी क्रमिक अवस्थाओंका अनुशीलन करें तो हमें उसमें एक गम्भीर और मांलिक वस्तुका पता लगेगा, जो पुनः-पुनः अभिभ्यक्त होती रहती है परन्तु पूर्णरूपमें अभिभ्यक्त कभी नहीं होती। यही विकासास्मक आदर्श-प्रवर्तक तत्त्व जो प्रायेक अद्यत्यामें भर्पूर ही व्यक्त होता है, धर्मका यथार्थ तत्त्व, सार्थक या स्वरूप है। जो समग्र ऐतिहासिक प्रगतिमें ओतप्रोत है।

यदि हिन्दू-धर्मके तत्त्वपर विचार करें तो इम उसे आध्यात्मिक अनुभवकी सत्यतापर आरूढ़ पायेंगे। आरमाके अन्तर्तम प्रदेशमें हमें सत्यकी अनुभूति होती है। धर्मकी अन्तर्कृतिमें आग्रह, उसकी अपरोक्षता अथवा अनुभवशीलताका हिन्दू-धर्मके आदिसे अन्तर्क निर्वाह किया गया है। हिन्दू लोग जो वैदिककालको अपने धर्मके आदिप्रवर्तकोंका युग मानते हैं उसका अभिप्राय यही है कि तत्कालीन ऋषि हमारे आदि-मार्ग-दर्शक, नेता तथा आध्यात्मिक साक्षात्यमें सर्वश्रेष्ठ तत्त्वान्वेषक हैं, संस्कृत-भाषाका 'ऋषि' शब्द इश् (देखना) भावुमें बना है। इससे धर्मका अर्थ है दर्शन, साक्षात्कार और अपरोक्ष-अनुभव। ऋषियोंने जिस सत्यका पता लगाया है वह तार्किक आलोचना अथवा क्रमशब्द दार्शनिक गणेशणका परिणाम नहीं है बल्कि यह आध्यात्मिक

अन्तर्बोध, इष्ट अथवा प्रस्तवक्ष अनुभव है। अविनृन्द केवल वेदोंमें विहित तत्त्वोंके प्रतिपादक ही नहीं हैं, वे साक्षात्वदर्शी सिद्ध पुरुष हैं जो अपने आत्माको परमात्माके साथ मिला करके शाश्वत-सत्यका उद्भाटन करनेमें समर्थ हुए थे। उनका कोई भी वचन क्षणिक ज्ञानपर अवलम्बित नहीं है वहिक उस दीर्घकालीन अनुभवके आधारपर है जो उन्होंने तपोभय जीवन और आध्यात्मिक शक्तियोंके विकाससे प्राप्त किया था। 'सदा पश्यन्ति सूरयः' आज वेद जो सर्वश्रेष्ठ आपस्मानके रूपमें माने जाते हैं इसका कारण यही है कि वास्तविक अनुभवसे बढ़कर कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता। ईश्वर निरा आदर्श नहीं है, जिसे हम घेये बनावें; बल्कि वह एक अनुभवगम्य यथार्थ सत्य है। आध्यात्मिक अनुभव हमारी कृपना नहीं है बल्कि सत्यके साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध है।

जो सन्त केवल सुनी-सुनायी यात नहीं कहते बल्कि जिनका ईश्वरके साथ साक्षात् परिचय है उन्हें ईश्वरके निर्वचनकी आवश्यकता नहीं होती। उन्हें कभी शंका और अवश्वा हो ए ही नहीं सकती। उनकी अपूर्व और सरल निश्चयात्मिका बुद्धि किसी प्रकार भी विचलित नहीं हो सकती। परन्तु साधारण मनुष्योंके लिये, जिनका धर्मके विषयमें कोई निजी अनुभव नहीं होता, तथा जो बिना ही साधनके धार्मिक जीवनका आनन्द लटना चाहते हैं, एवं जो धर्म-मार्गमें फलश्रुतियुक्त कथाओं तथा कर्मकाण्डके सहारे आगे बढ़ना चाहते हैं, लुभानेके लिये ही पुष्पित-वाणीका प्रयोग करनेकी आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त अपना अनुभव दूसरोंके प्रति प्रकट करने, उसके रहस्यको समझाने तथा विरोधियोंके आशेषोंका स्वाधन करते हुए उसका समर्थन करनेके लिये भी हमें तर्क और आयाकी सहायता आवश्यक होती है। हिन्दू-धर्ममें हमें अस्यन्त निर्गुणमें लेकर म्यूल सगुणरूपतके अनुभवोंका क्रमिक बर्णन प्राप्त होता है।

जब कोई अन्तर्ष्पृष्ठ-सम्पद पुरुष तर्क और युक्तिकी सहायतासे अपने अनुभवके समझानेकी चेष्टा करता है तो उसे अद्वाकी आवश्यकता पड़ती है जो परमतत्वके निरूपणके लिये स्वयंसेव अपेक्षित होती है। वह जानता

है कि आत्माका एक ऐसे जगत्से घनिष्ठ, प्रत्यक्ष और उद्दीप सम्बन्ध है जो देन्द्रिय-ज्ञानकी भूमिसे विलक्षण ही असीत है तथा बुद्धिके द्वारा प्रकट की हुई लौकिक भूमिसे कहीं अधिक दीसिमान और सत्य है। बुद्धि, दिव्य-दृष्टि और आध्यात्मिक अनुभव समानरूपमें एक ऐसे पुरुषके सत्ताकी साक्षी देते हैं जो वस्तुतः चैतन्यमय है तथा अस्तित्व सृष्टिका मूल आधार है, एवं ‘असृत और मृत्यु जिसकी छाया है’—‘यस्य च्छाया सृतं यस्य मृत्युः’ (ऋग्वेद १०। १२१)। आध्यात्मिक अनुभवकी सबसे बड़ी विशेषता है अनिवंचनीयता। जब हम अपने अनुभूत सत्यके समझानेकी चेष्टा करते हैं, तो हमें विवश होकर बाह्य विजियों और भावनाओंका प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु कोई भा. बाय विधि अथवा भावना कितनी ही ड्यापक क्षयों न हो, वह उस परमसत्यका वर्णन करनेमें असमर्थ ही रहती है। भगवान् बुद्धने आध्यात्मिक अनुभवकी सत्यताको स्वीकार किया है, परन्तु वे इस ब्रातको नहीं मानते कि उस अनुभवमें किसी इससे परेकी वस्तुकी अभिव्यक्ति होती है। आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा हंशरके साथ हमारा माक्षात् सम्बन्ध हो जाता है, यह विचार उनके मतमें एक अनुमानमात्र है, स्वतःसिद्ध तथ्य नहीं है। बुद्ध स्वोकृत सिद्धान्तोंकी सीमाके अन्दर रहनेकी चेष्टा करते हैं और वे केवल हम ब्रातको मानते हैं कि इस दृश्य और स्पृश्य जगत्के भीतर एक गम्भीर आध्यात्मिक जगत् खोतप्रीत है। महान् हिन्दू-दार्शनिक भाँर तत्त्ववेत्ता श्रीशङ्कर कहते हैं कि समस्त ब्राह्मरूप असत हैं और वह सत् वस्तु हन सत्यमें परे है। उपनिषद, बुद्ध, शङ्कर और उनके अनुयायी मानते हैं कि शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा, जो अखण्ड, अद्वैत, केवल है तथा अनेकता और विकारसे युक्त जगत्से परे है, अथवा इसके अन्दर ओतप्रीत है, एक निरुपाधिक सत्ता है, जिसके बास्तविक स्वरूपका पूर्णतः चिन्तन करना अथवा बाणोद्वारा घण्ठन करना नितान्त असम्भव है। विना संप्रनिपत्तिके हम स्वीकार कर लेते हैं कि हंशरकी महिमा अवर्गनीय है और मन तथा बायीकी पहुँचके परे है। वह ज्ञेयमें मिला है और अज्ञेयमें परे है, ‘तद्विदितादयो अविदितादविधि’— (केन० १। ३)। वहाँ नेत्रकी गति नहीं है और न बायी ही पहुँच सकती है, न मन ही, ‘अचक्षुर्जः’ अवागमनः— (दृष्टदारण्यक० ३। ८। ८)। परन्तु इस बौद्धिक नम्रता

और आध्यात्मिक अनहंकारतामें एक आपत्ति है। परमतत्त्व-के विवरमें भगवान् बुद्धकी मौनताने उनके उपर नास्तिकता-का लालचन लगाया है। परमतत्त्वको समस्त गुणों और सम्बन्धोंसे रहित मानकर हम उसे केवल सत्ताभावमें परिणत कर देते हैं जो एक प्रकारसे निरी शून्यता है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि केवल मन्द-मति पुरुष आनुभविक गुणोंके अभावको सर्वसत्ताके अभावके रूपमें मान लेते हैं। निर्विशेष ब्रह्मके महान् गौरबका जो ज्ञान आत्माका प्राप्त है, उसको व्यक्त करनेके लिये ही इसप्रकारके निषेधात्मक वाक्योंका आश्रय किया गया है कि वह ‘अन्य ही है’ और उसके विषयमें ‘नेति-नेति’ के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

हिन्दू-धर्म के ब्रह्म ‘नेति-नेति’ कहकर ही सन्तोष गहीं करता। आध्यात्मिक अनुभवके तीन मुख्य रूपरूप हैं— सत्यता, ज्ञान और स्वतन्त्रता। (सत्, चित् और आनन्द)। यदि हमारे अनुभवके कुछ अंश हन विशेषताओंके साथ प्राप्त होते हैं तो समझना चाहिये कि समस्त अनुभवका प्राप्ति इसी प्रकारसे सम्भव है। वह चेतना, जिसके अन्दर समस्त अनुभव अपनी अव्यवहितता, व्यक्तिता और हंशर-व्याप्तिके साथ विद्यमान रहता है, हंशरीय सत्ता चेतना है और वही हमारा आदर्श है। हंशरीय सत्तामें सत्य स्वयं ही अपना साक्षात् द्रष्टा है, स्वयं अपने स्वरूपका ज्ञाता तथा स्वयमेव सर्वपूर्ण स्वातन्त्र्य है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो उसकी सत्तामें न हो, तथा उसमें अभिव्यक्त न होनी हो; साथ ही सब प्रकारकी विषमताओंका भी उसमें अत्यन्त अभाव है। वह पूर्ण सत्, पूर्ण चित् और पूर्ण आनन्द है। संकल्प और उसके मूर्तरूपका, हृष्णा और उसकी अभिव्यक्तिका, तथा प्रेम और उसके मार्गुर्यका वही आधार है। हन मानवीय प्रतिकृतियोंमें द्वैत, विरोध और संघर्ष रहता है। यही कारण है कि हंशरीय दिव्य गुणोंकी पूर्णताके सामने ये मानवीय तथा परिच्छिक्षण गुण सर्वथा अपूर्ण हैं। परमतत्त्व धारातन्त्र्य ही उसका जीवन है, उसका बास्तविक स्वभाव है।

यद्यपि आध्यात्मिक तत्त्वकी पूर्णता हमारे गुणोंमें शहूत ऊँची है, तथापि उसकी प्रकृति उस उच्चतम सत्तामें साहस्र रहती है जिसका हमें अपने अन्दर ज्ञान होता है। यदि बास्तविक तत्त्व मनुष्यकी आत्मासे विलक्षण ही परे होता तो उसकी सत्ताको अस्पृश्यरूपसे समझना भी हमारे लिये

असम्भव था । इसलिये हमारा यह कहना युक्त नहीं कि परमतत्त्व सर्वथा अन्य ही है । मनुष्यकी आत्माके भीतर, उसके जीवनके केवलमें, उद्दिष्टमें भी परे एक वस्तु है जो परमतत्त्वके ही अनुरूप है । परमतत्त्वके अनुभवके लिये मनुष्यके जीवनकी भीतरी तहमें एक यथार्थ आधार है । ईश्वरीय प्रकाश और मनुष्यका ध्यान, यह दोनों एक ही वस्तुकी दो दिशाएँ जान पड़ती हैं । मनुष्यमें और ईश्वरके अन्दर चैतन्यकी समानरूपसे स्थितिका इदं निश्चय प्रत्येक आध्यात्मिक ज्ञानके लिये आवश्यक है । यह केवल अनुमानकी बात नहीं है, आध्यात्मिक अनुभवमें ही आत्मा और परमात्माके बीचकी दीवाल उपने अपने ही दूर हो जाती है । इस उस परमतत्त्वके हैं और वह तत्त्व हमारे अन्दर प्रतिभासित है । 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह तत् है—यह महावाच्य एक अनुभूत तथ्यको बतलाता है । वाह्यलके इस वाक्यसे कि, 'ईश्वरने मनुष्यको अपने ही सदृश बनाया; * (Genesis 1. 27) इस वाक्यका समर्थन होता है कि मनुष्यकी आत्मामें ईश्वरकी सभी अभिद्यन्ति हुई है । 'मनुष्यकी आत्मा ईश्वरका दीपक है' (Proverbs XX27) प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो (Plato) का कहना है कि मनुष्य जीवनके सनातन रूपका एक प्रबल भागीदार है, वह इहलोकके नक्षर और अवास्तविक पदार्थोंमें अलग रहकर उसे आत्मसात कर सकता है । महात्मा ईसाने इसी गुण तत्त्वको इसप्रकार प्रकट किया है—'I and my father are one' अर्थात् मैं और मेरे पिता एक ही हैं ।

ईश्वर अपरिचित आत्मा है जो हमारे भीतर भी है और बाहर भी है । यदि ईश्वर हमारे भीतर न होता तो हमें अभावका ज्ञान न होता और यदि वह हमारे बाहर न होता तो हममें पूजाकी भावना न होती । यदि हम परमेश्वरके तत्त्वको जीवात्माये ऊँचा मानते हैं तो हमारा धर्म भक्ति-प्रधान हो जाता है । ईश्वरके विषयमें हमारा जो सर्वोच्च ज्ञान होता है वह भी आंशिक ही होता है । सदा कुछ-न-कुछ अवशिष्ट रह ही जाता है जिसको न सो हम जानने हैं और न बर्जन हो कर मकने हैं । विशिष्ट धार्मिक भावना अपनेमें एक श्रेष्ठ तत्त्वके सम्पर्कमें आनेका आग्रह करती है, जिसके साथ अभिज्ञ होना मनुष्यके लिये असम्भव

* So God created man in his own form;
in the image of God created he him.

+ The spirit of man is the candle of God.

है । ईश्वरके साथ मनुष्यके हस वैयक्तिक सम्बन्धकी विभिन्न स्थितियाँ हैं जिसमें परमेश्वरके सम्मुख अत्यन्त श्रीनभावसे लेकर उस परम ये ममय प्रभुके साथ पूर्णता समावेश तक होता है, जिसकी कृपा महान्-से-महान् पापीको भी प्राप्त होती है । परम तत्त्वके साथ उस सर्वोच्च जीवन (आत्मा) की, जिसे इस जानते हैं, तुलना करना किसी नीची वस्तुके साथ उसकी तुलना करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक सत्य है । भक्त पुरुष परमात्माको उस सगुणरूपमें देखता है जो इस जगत्का कर्ता, भर्ता और इर्ता है । निर्विशेष ब्रह्म और सगुण ईश्वरमें केवल इष्टिकोणका भेद है, वस्तुतः कोई भेद नहीं । यदि भेद है तो केवल यही कि निर्गुण ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप निर्गुण है और प्रातिभासिक स्वरूप सगुण है । सगुणता उसका मूर्त स्वरूप है, और यदि इस सूर्यरूपकी उपेक्षा करते हैं तो सत्यका यह द्वार हमारे लिये बन्द हो जाता है ।

हिन्दू-धर्म भारतवर्षके आध्यात्मिक साक्षात्कारकी प्रतिकृति है । यह परमात्माकी पूर्णता और एकत्रके अन्त-ज्ञानपर अवलिङ्गित है । मानव-जीवन सदा सर्वत्र ईश्वरका ही एक अंश है, इस सिद्धान्तको मानकर इस धर्मने अन्य सब धर्मोंके साथ सौजन्यका भाव स्थापित किया है । हिन्दू-धर्म स्वीकार करता है कि एक ही अनुभव अनेकों प्रकाशमें वर्णित हो सकता है । यदि हममें से कई मनुष्य ग्रीष्ममें सम्भ्याका दृश्य देखने वैठे तो विचार और भावकी इष्टिमें हमारे अनुभव एक-से-महान्होंगे, तथा उन अनुभवोंके बर्णन-में भी विभिन्नता हो जायगी । परन्तु इस विभिन्नताको संशय-वादके समर्थनमें लगानेकी ज़रूरत नहीं होती ।

कालको कौन जीतेगा ?

रामके काम मोकाम नहि करत नर

फिरत संसार चहुं ओर धाया ॥

करत संताप सब पाप सिरपर लिये

साध और सन्त नहि नेह लाया ॥

बाँधिहै काल जंजाल जम-जालमें

रहत नहि चेत सब सुधि हेराया ॥

कहै गुलाल जो रामको जानिहै

जीतिहै काल सोइ जान पाया ॥

—गुलालसाहबजी

बौद्ध-धर्म और ईश्वरवाद

(लेखक—भिक्षु श्रीसोयेन शाकु, जापान)

बौद्ध धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंमें एक यह सिद्धान्त भी है कि जगत्के अनन्त और नाना प्रकारके इत्य एक ही तत्त्वसे उत्पन्न होते हैं और उसीके अनन्द जीवन धारण करते हैं और वह तत्त्व तेष और कालसे अपरिच्छिक्षा है।

यह जगत् नानात्वसे पूर्ण है; तथापि मनकी रचना ही ऐसी हुई है कि वह एक ऐसे पक्षका प्रतिशिंह करने-वाले तत्त्वको खोजता है जिसकी कल्पना दृश्योंकी प्रतीतिके किये अनिवार्य है।

इसप्रकार बौद्ध-धर्म दो द्वारोंको स्वीकार करता है—समताका द्वार और इसके विपरीत नानात्वका द्वार। इसे और स्पष्टतामें कहें तो कह सकते हैं कि बौद्ध-धर्म नानात्व और समताके दो तत्त्वोंके समवायको स्वीकार करता है। पदार्थ अनेक होने हुए भी एक हैं और एक होते हुए भी अनेक हैं। इसलिये बौद्ध-धर्म वत्तलाता है कि जहाँ इस जगत्की किसी विशेष प्रवस्थाको स्वीकार करते हैं जिसमें व्यक्तित्वकी प्रथानाता होती है, वहाँ इसे यह न भूलना चाहिये कि समताके द्वारसे लाँकनेपर समस्त भेद-माल एकत्रके एक महान् तत्त्वमें विलीन हो जाते हैं।

इनमेंसे समताके द्वारको किसी भ्रंशमें ईश्वरकी समानता और नानात्वके द्वारको व्यक्तिगत (जीव) की समानता दी जा सकती है।

समता और नानात्वके साथ ही बौद्ध-धर्म एक तीसरे 'कर्मके सिद्धान्त' को भी मानता है। जिसका निर्देश है कि समस्त पदार्थ गतिशील हैं और कर्म करते हैं। इस सिद्धान्तको केवल भौतिक जगत्में ही सीमित नहीं रक्खा जाता, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक जगत्में भी यही सिद्धान्त कार्योन्नित हो रहा है। इन्हीं शक्तियोंकी पारस्परिक किया-प्रतिक्रियासे जगत् अपने अस्तित्वमें स्थित (निर्मित) है।

बौद्ध-धर्म ईश्वर अर्थात् समताके सिद्धान्तको जगत्में अस्तित्व (व्यापक) मानता है, परन्तु वह 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग नहीं करता। ईश्वरके पर्यायरूपसे बौद्ध-धर्म

'धर्मकाय' शब्दका व्यवहार करता है जिसे बुद्धकाय अर्थात् बुद्धका शरीर भी कहते हैं और 'समता' का बोध भी इन्हीं शब्दोंद्वारा होता है।

तत्त्वतः धर्मकाय अपरिच्छिक्षा है, परन्तु इसके व्यक्त रूप सीमित और परिच्छिक्षा है। बुद्धकायका यह आनन्दिक स्वभाव है कि वह इश्य जगत्के नानात्वमें स्वयमेव व्यक्तिवृल्प धारण करता है, वह किसी विशेष अस्तित्वके बाहर नहीं खड़ा रह सकता बल्कि वह उसमें निवास करके उसे जीवन प्रदान करता है। जब हम इन समस्त वैयक्तिक दृश्योंकी विभिन्नतामें विचार करते हैं तो सर्वत्र हनके भीतर धर्मकायको उपस्थित पाने हैं जहाँ वस्तुओंकी समता इत्योचन होती है।

परन्तु यथापि बौद्ध-धर्म इश्य जगत्की यथार्थता और नानात्वको मानता है तथापि उसका विश्वास है कि जो पदार्थ हमारे चतुर्दिश् दोख पहते हैं वह सब एक अनितम कारणसे उत्पन्न होते हैं जो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वप्रिय है। यह जगत् उस कारण, आस्मा अथवा जीवन-का व्यक्त रूप है। अतः वस्तुओंमें चाहे कितनी ही विभिन्नता क्यों न हो वह परमतत्त्वके स्वभावमें युक्त होती है। केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि तिर्यक् जन्मत तथा निर्जीव पदार्थ भी देवत्व (समता) को अपना कारण अभिव्यक्त करते हैं।

इसलिये ईश्वर जो इस जगत्में नहीं है वह अमत है; और जगत् जो ईश्वरमें नहीं है वह मिला है। सब पदार्थ एकमें चले जाते हैं और एक ही समस्त पदार्थोंके रूपमें कर्म करता है। अनेक एकमें हैं और एक अनेकमें हैं। ईश्वर और जगत्के विषयमें आँदोंकी यही धारणा है। तरंग, लहरें, वीचि-राशि तरंगित, लहराती और उमंगित होती हुई भी केवल एक जलके निःस्वरूपकी विभिन्न गतियाँ हैं। इसी प्रकार विद्वान् बौद्ध जगत् और ईश्वरका सिन्तन करते हैं।

परन्तु ईश्वर अपने अस्तित्वको इस जगत्की अभिव्यक्ति-में ही लगा देता है तथा वह अपनी सृष्टिसे अभिज्ञ है, एवं जगत्का नाश होते ही वह निर्य शून्यतामें विलीन हो जाता है। ऐसा समझना अथवा अमपूर्ण है। इसलिये इसे यह

नहीं समझना चाहिये कि ईश्वर केवल समस्त व्यष्टिका समुद्रमात्र है। वहिंक समस्त सृष्टिके नष्ट हो जानेपर भी ईश्वर रहता है। वह निश्च है और इस जगत्के नष्ट होनेपर वह पलभरमें दूसरे जगत्की सृष्टि कर सकता है।

इसपर कुछ प्रश्न उठते हैं—यदि ईश्वर 'समता' का तत्त्व है तो इस किसप्रकार पदार्थोंकी समतामें आध्यात्मिक अन्तर्छिद्धि प्राप्त कर सकते हैं? तथा किसप्रकार अपने मनको ऐसा स्वच्छ ज्ञान सकते हैं जिसमें उस निष्ठ साध्यको प्रथक्ष कर सकें? किसप्रकार इस दृष्ट जगत्में 'समता' के तत्त्वको ज्ञान सकते हैं? तथा अभिलाषाओं, वेदानाओं, वासनाओं, यहज ज्ञान तथा प्रवृत्तियोंकी विभिन्नतामें उसे पहचान ही कैसे सकते हैं? किसप्रकार इस धर्मकायदों उसकी विभिन्न क्रियाओंके अन्तर्गत देख सकते हैं तथा उसे प्राप्त कर सकते हैं?

इन प्रश्नोंके उत्तर निकालनेकी व्यावहारिक रीति केवल बुद्धिकी विवेचना नहीं है। इमें एहुके मानसिक शान्ति प्राप्त करनी चाहिये। इमें आध्यात्मिकरूपमें पवित्र होना चाहिये। इमें समस्त वाधक वासनाओं, पक्षपातों और अन्यविद्याओंमें युक्त होना चाहिये। बौद्ध-धर्म आदिये अन्ततक एक धर्म है और इसका उद्देश्य मदामें आध्यात्मिक और व्यावहारिक है। तथा वह मार्ग जो इस (व्यावहारिक धर्मवादियों) को उपर्युक्त प्रश्नोंकी समाधानकी ओर ले जाता है, एकाग्रताका अभ्यास है जिये बुद्धमतानुयायी 'ध्यान' कहते हैं। धर्मका धर्थ अनुभव करना है, प्रदर्शन करना नहीं। इसलिये धार्मिक पुरुष तत्त्वकी जिज्ञासा करते हैं, छायाकी नहीं; प्रकाश चाहते हैं, प्रतिक्रिय नहीं; और इनकी प्राप्ति तर्कवितर्कद्वारा कहापि नहीं हो सकती। इस परिच्छिन्नतासे आगे बढ़कर साहसर्वक अज्ञानके अतलाभ्यर्थमें कद पड़ना होगा।

व्या एक विनश्वर प्राणी अपनी परिच्छिद्ध चेतनामें उस श्रोत्राका अन्तर्ज्ञान कर सकता है जो बुद्धिगोचर नहीं है? नहीं, जबतक वह केवल अपनी बुद्धि-सम्बन्धी क्षमता-पर निर्भर करता है तबतक वह इसके लिये समर्थ नहीं हो सकता। बुद्धि इसारे अन्तर्ज्ञानमें शिल्कुल अभिज्ञ होती है। केवल किसी वस्तुके समस्त गुणों, विशेषताओं तथा क्रियाओंको जानकर ही यह नहीं कहा जा सकता कि इमें उसका पूर्ण ज्ञान हो गया। इन सबका ज्ञान हृन्द्रियोंसे तथा बुद्धिकी शक्तिसे हो सकता है, तथापि

वस्तुके कुछ स्वरूप अवशिष्ट रह जाते हैं जिनके ज्ञान होनेसे ही कहा जा सकता है कि इमें उस वस्तुका पूर्ण ज्ञान हुआ। विश्वान और दर्शन-शास्त्रने बड़ा काम किया है परन्तु वे एक दुखी जीवको विश्राम, सुल, आनन्द और श्रद्धा प्रदान करनेमें असमर्थ हैं क्योंकि उनसे इमें पूर्ण तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती तथा वे जीवनके रहस्य-को खोलनेमें असमर्थ हैं। वे जो कुछ उपदेश देते हैं वह केवल जीवनके छिपके हैं। क्योंकि किसी वस्तुका ज्ञान तबतक पूर्ण नहीं होता, जबकि उसका मूल कारण अथवा अन्तजीवन अनुभूत नहीं होता। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि जबतक ज्ञाता (मन) और ज्ञेय (विषय) का द्वैत दूर नहीं होता और जीवन वैदिक विभिन्नतामें परे अपने तात्त्विक रूपमें नहीं जाना जाना तबतक वन्न-तत्त्व-का पूर्णज्ञान नहीं हो सकता। बौद्ध-धर्म यत्नलाता है कि एक घासकी पस्ती भी जो सायंकालके शीतल समीरमें शिरकटी है तबतक पूर्णतया नहीं जानी जा सकती, जबतक इस अपने इस व्यक्तित्वमें अलग होकर अपनी व्यक्तिगत आत्माको घासकी आत्मामें निमिज्जित नहीं कर देते।

जहाँतक धर्मका सम्बन्ध है वहाँतक ईश्वरके अभिन्न तथा उसके असीम प्रेमके विषयमें केवल विश्वास करना, अथवा केवल बातें करना मूर्खता है। यदि ईश्वर है तो उसकी प्राप्ति करनी चाहिये। यदि वह प्रेमस्वरूप है तो उसका परीक्षण होना चाहिये तथा उसे अपने अन्तर्गत जीवनका तत्त्व बनाना चाहिये। धार्मिक भावनाको जागृत किये दिना ईश्वर छायामात्र है, आत्मा प्रेत है और जीवन स्वप्नके समान है। इस शक्तिको बौद्ध-धर्ममें 'प्रज्ञा' के नाममें पुकारते हैं।

ईश्वरके अस्तित्व अपवा अभावके सिद्ध हो जानेपर दर्शकिक सन्तुष्ट हो जाने हैं क्योंकि वह इसके लिये अपनी बुद्धिका अन्यतम प्रयोग करते हैं जो उनके समर्थन तथा खण्डनका एकमात्र अस्त्र है। परन्तु जबतक मनुष्यके हृत्य-में किसी अधिक तात्त्विक, जीवनप्रद, निरे सैद्धान्तिक तथा अमूर्त भावनामें अधिक आकर्षक अवर्णनीय वस्तुकी उस्कण्ठा है, तबतक इस परिणामपर पहुँच सकते हैं कि इसारी चेतना, आहे वह समीम ही क्यों न हो, बुद्धि-व्यापारके अतिरिक्त दूसरे मार्गमें वस्तुओंके अन्तर्गत जीवनके समर्पक-में आ सकती है। इसीलिये बौद्ध-धर्ममें प्रज्ञाके अस्तित्व-

को माना गया है तथा इसी शक्तिकी जागृतिके लिये बौद्धोंमें धार्मिक नियमोंका पालन किया जाता है।

परन्तु क्या विनश्वर प्राणी इस इहयमान जगतमें किसी नियथ वस्तुको प्राप्त कर सकता है? जब प्रत्येक वस्तु जीवन और मायुके अलंभ नियमोंके वदीभूत है तो इस अविनाशी और नियथ वस्तुके लिये अपनी अन्तःप्रेरणाको किसी प्रकार सम्भृष्ट नहीं कर सकते। बौद्ध-धर्म इहाँ इस आध्यात्मिक आकांक्षाको जानता है और इसें बतलाता है कि इह जगतके परे एक अवस्था है जहाँ आत्मा पूर्ण परिवृत हो सकता है।

यह अदृश्य जगत् भौतिक सीमामें परे है और इसलिये जन्म-मृत्युके नियमोंसे बहिर्भूत है। इसप्रकार सर्वोरुद्धृष्ट होनेके कारण वह हुःख-सुखकी पूँछके परे है जो वासनाशील पुरुषोंकी प्रवृत्ति और आचाराकी प्रेरित करते हैं। जो मनुष्य परिवृश्यमान जगतकी शृङ्खलामें मुक्त हुआ है उसे जगत्-के विकार प्रभावित नहीं कर सकते। वह अदृश्य जगतमें शान्तिरूपक निवास करता है। केवल यथार्थ धार्मिक पुरुष भौतिक आवर्तन (जन्म-मृत्युके चक्र) के परे जा सकते हैं और नियथ शान्तिमय जीवन विता सकते हैं।

सारांश यह है कि जगत् अनियथ और परिवर्तनशील है। जो लोग सांसारिकतामें उपर नहीं उठते वे वासनाके अक्षवातमें ऊपर-नीचे ठीकरें लाते हैं। परन्तु जो लोग वस्तुओंकी अवस्थाको जानते हैं वे ससीममें असीमको देखते हैं, इसमें अदृश्यको देखते हैं और विपत्ति और क्लेशोंके बीच कल्याणको प्राप्त होते हैं।

इस लोकोत्तर जीवनकी प्रासिके लिये भ्यानका अभ्यास घृत ही आवश्यक समझा जाता है। भ्यान एक शान्तिप्रद अवस्थाका साधन है। इसमें मनको विचारके लिये अवसर देना होता है और उच्छृङ्खल होनेसे उसे बचाया जाता है। इसमें हमें ऐनियथ विषयोंसे परे परम तत्वके लिये अभिमुख उत्पन्न होती है। परन्तु धार्मिक इष्टिसे यह भ्यान जबतक प्रक्षाको जागृत न करे तथा जीवनके परम तत्वको हृदयह्रम न करावे तबतक उतना डपयोगी नहीं समझा जायगा।

आत्म और अनात्मके आदान-प्रदानके उपर उठनेके लिये प्रज्ञा जगतको इसकी अन्तिम एकता (चरम अद्वैतस्वरूप) को देखती है तथा जीवनके समस्त स्पौदोंकी वात्सविक अभिष्ठाताको प्रत्यक्ष करती है। वह जानती है कि जिस प्रेरणाकी उसे अनुभूति हो रही है, वह समस्त अस्तित्वोंकी उपरिक आराम है। प्रक्षाका आदेश अन्तिम आदेश होता है, हमारी जीवनमें उससे कोई श्रेष्ठ शक्ति नहीं है जो उस आदेशको लुप्त कर सके।

वैसे प्रत्येक मनुष्यकी जीवना वर्षको टण्डा तथा आगको गरम अनुभव करती है वैसे ही प्रज्ञा अपने अन्तर्तम जीवनमें जो कुछ देखती या अनुभव करती है वह सर्वथ पृक ही होता है, हमारे जीवनके अन्तर्गुहामें जो अनुभूति होती है उसे ही गोड (God), अलाह, धर्मकाय, ताव, ब्रह्म आदि नामाने पुकारते हैं।

केवल एक ही महान् तत्त्व है, हम सब उसके क्षणिक स्वरूप हैं। जब हम उस परमात्माकी ईश्वरीका अनुमरण करते हैं, तब हम नियथ हैं; जब हम अपने अहंकार और अज्ञानके द्वारा उसके विपरीत चलते हैं तो नाशको प्राप्त होते हैं। उसकी आज्ञाका अनुवर्तनकर हम जीवन धारण करते हैं और उच्छंघन करनेपर हम नियथ प्रज्वलित अग्निमें डाल दिये जाते हैं।

वह परम तत्व पृथ्वीपरके विभिन्न देशोंमें उनकी संरक्षित, शिक्षा और संग्रहके अनुसार विभिन्न नामों और उपाधियोंसे जाना जाता है। यथार्थतः मानव-जातिके एक होनेके कारण उस परम नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिका ज्ञान उसे कभी-न-कभी होगा ही, जो जगत्का नियन्त्रण करती है तथा जिसकी आज्ञाको, हम विनाशके भयमें, विवश होकर आदरपूर्वक पालन करते हैं। ३

* मिसु सोनेन शाकुके उपदेशोंका अनुवाद बा० ई० सुनुकिने अंगरेजीमें किया था, वहाँ Sermons of a Buddhist Abbot के नाममें पुस्तकरूपमें दिकानी अमेरिकाकी Open Court Publishing Company के द्वारा प्रकाशित हुआ था, इस लेखमें उसी पुस्तकके कुछ उपदेशोंका विन्दी अनुवाद है। — म० और प्र० मतोशचन्द्र गुह

ईसाई-धर्म में ईश्वर

(लेखक — श्रीगुरुकृ पट्टविन ग्रांडस, इंगलैण्ड)

पक ही मनुष्यके फोटो यदि बीस फोटोग्राफरों-द्वारा लिये जायें तो यह निश्चित है कि प्रथेक फोटोमें कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य रहेगा। सम्भव है कि वह अन्तर, उसे प्रकाशमें रखनेमें, मासालेमें, कागजमें अथवा फोटोग्राफरकी दक्षता-में फर्क होनेके कारण आया हो, किन्तु अन्तर होगा अवश्य। कोई एक फोटो तो ऐसा उत्तम हो सकता है कि उसे इस 'बोलता हुआ चित्र' कहनेको त्यार होते हैं और दूसरा चित्र बहुत ही भाषा हो सकता है। जब एक मनुष्यके फोटोका यह हाल है जिसे इस अच्छी तरहसे देख सकते हैं और जिसका फोटो वैज्ञानिक रीतिमें तयार किया जाता है, तब इस ईश्वरके सम्बन्धमें यह आशा कैसे कर सकते हैं कि मनुष्यके द्वारा उसके स्वरूपके वर्णनकी चेष्टा सर्वथा यथार्थ ही हो ? नेत्रोंसे किसीने उसे देखा नहीं और इसारे मन दुर्बुल, शक्तिहीन, पापके कारण दूषित एवं कलुषित हो गये हैं। बहुधा इसारे वर्णनके पांच आन्तरिक अनुभवका आधार नहीं होता, इमलोग केवल दूसरोंमें सुनी-सुनायी बातोंको ही प्रायः दोहराते हैं और जिनमें इसने वे बातें सुनी होती हैं वे भी प्रायः इमारी ही तरह होते हैं—‘अन्देनव नीयमाना यथान्धा’।

सृष्टिके आदिमं लेकर अवताक ईश्वरके न मालूम कितने चित्र स्त्रींसे गये हैं ? इनमेंसे कई तो ऐसे हैं जो अमृते ही नहीं किन्तु दोपहुल हैं और कदाचित ईश्वरके स्वरूपको बिलकुल ही विकृत कर देनेवाले हैं।

इमारा प्रयोजन इस समय यह नहीं है कि इसप्रकारके ईश्वर-विषयक निरूपणोंमें किसी एकका वर्णन करें, उसके गुण-दोषोंका विवेचन करें अथवा उनकी भूलोंको सुधारें। इमारा उद्देश्य तो केवल इस वातको बतलानेका प्रयत्न करना है कि ईसाईयोंके मतमें ‘ईश्वरका ह्या स्वरूप’ माना गया है। यह कार्य भी सहज नहीं है। कारण यह कि ईसाईयोंके भिज-भिज सम्प्रदायोंमें इस विषयमें बहुत मतभेद है। यही नहीं, बल्कि एक ही सम्प्रदाय-सिद्धान्त-को माननेवाले विद्वानोंके निरूपणमें भी अन्तर है। ऐसी स्थितिमें मेरा यह दावा करना कि ‘ईसाईयोंके मतमें

ईश्वरका स्वरूप वही है जो मैं बतलाता हूँ’ निरी घृणा एवं दुःसाइसमात्र होगा। मैं तो अधिक-से-अधिक ईसाईयोंकी ईश्वरीय धारणाका वही स्वरूप बतलानेकी चेष्टा करूँगा जो मैंने समझा है, तथा बाह्यवलके अध्ययन, अन्य महासाङ्गों एवं विद्वानोंके उपदेश एवं लेख, चिन्तन तथा वैयक्तिक अनुभव और दीर्घकालतक प्रभु ईसामसीहके शिव्यवस्थमें रहनेके फलत्वरूप प्राप्त हुए ज्ञानके आधारपर स्पृह रखिया है।

बाह्यवलमें ईश्वर-विषयक जितने निरूपण मिलते हैं, उनका ईसाई-जगतमें बड़ा मान है। अतएव हमारे लिये यह जिज्ञासा होना उचित ही है कि बाह्यवलके जेनिसिस (Genesis) नामक प्रथम अध्यायमें लेकर ‘रिवीलेशन’ (Revelation) नामक अन्तिम अध्यायतक क्या ईश्वरके सम्बन्धमें स्पष्टतया एक ही तरहका अविसंबादी वर्णन मिलता है ? इसके उत्तरमें इस निःसंकोच यह कह सकते हैं कि ‘नहीं मिलता !’ निःसंन्देह कुछ लोगोंका यह मत है कि बाह्यवलके अन्तर्गत जितने भी ईश्वर-विषयक निरूपण हैं उनमें सम्मुतः कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि पुराने संस्करण (Old Testament)में ईश्वर-विषयक निरूपण उतने स्पष्ट एवं सर्वाङ्गीण नहीं हैं जितने नये संस्करण (New Testament) में ईजरत ईसाके द्वारा द्यक्त हुए हैं। परन्तु यह कहना पर्याप्त नहीं है। Old Testament एवं New Testament के वचनोंमें जो अन्तर हैं, उनकी बात तो किनारे रही, उक्त दोनों संस्करणोंमें ही भिज-भिज लेखकोंके वाक्योंमें भी इतना अन्तर है कि उनका समन्वय कर उनमें एक सुसंगत निरूपण करना कठिन ही नहीं, आसान है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाह्यवलके अन्दर अद्भुत सामन्य है; परन्तु साथ ही कोई यह भी अस्तीकार नहीं कर सकता कि उसके अन्दर वैषम्य भी अनेक एवं महान् है। बाह्यवल एक पुस्तक नहीं है, किन्तु भिज-भिज युगोंमें भिज-भिज मनुष्योंद्वारा छिल्की हुई पुस्तकोंका एक संग्रह है और जिन लोगोंने ये पुस्तकें लियी हैं उनका ईश्वर-विषयक ज्ञान एक-सा रहा हो अथवा अपने ज्ञानको भाषण-के द्वारा द्यक्त करनेकी पांगत्या समान रही हो, यह बात भी

किसी प्रकार नहीं कही जा सकती। उनके अनुभव एवं ज्ञानमें महान् अन्तर था।

जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वरीय ज्ञानकी अभिव्यक्ति क्रमिक होती है, उनका कथन यथार्थ एवं भावागमित है। ईश्वरीय ज्ञानकी अभिव्यक्ति के बहुत व्यक्त इत्यसे ही नहीं होती किन्तु अपने और दूसरोंके अनुभव तथा परम्परागत सिद्धान्तोंके द्वारा भी होती है। युगोंके बीत जानेपर लोगोंकी समझमें यह बात आती है कि एक युगातक जो सिद्धान्त सर्वमान्य रहा, वही अनुभवसे असत्य सिद्ध हुआ है और उसमें संशोधन एवं परिवर्तन-की आवश्यकता है। ज्ञानकी कमशः हृदि होती है। (Knowledge grows from more to more) सिद्धान्त जिसप्रकार भाँसिक पदार्थोंके ज्ञानके सम्बन्धमें सत्य है उसी प्रकार ईश्वरीय विज्ञानके सम्बन्धमें भी पूर्णतया चरितार्थ होता है। जो बात एक व्यक्तिके जीवनकी भिज्ज-भिज्ज अवस्थाओंमें घटती है, वही बात कालरूपी आधान्तरीन प्रवाहके भिज्ज-भिज्ज युगोंपर लागू होती है। यदि किसी मनुष्यके विचार सत्तर वर्षकी अवस्थामें भी वैयंग ही रहे जैसे सात वर्षकी अवस्थामें थे, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उस मनुष्यके विकासमें निरोध हुआ है। अर्थात् उसका विकास पूर्ण नहीं हो पाया है, वह केवल अवस्थामें बूढ़ा हो गया है, परन्तु उसे जीवनका अनुभव पूर्णतया प्राप्त नहीं हुआ।

जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर जगत्में विस्तृक भिज्ज है, उनसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं। जो लोग ईश्वरके सम्बन्धमें यह कहते हैं कि वह अपने स्वरूपमें ही स्थित है, मनुष्योंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, उनका यह कहना केवल प्रलापमात्र है, विचारपूर्ण नहीं। यदि ईश्वरका हमारे साथ कोई सम्बन्ध न हो तो फिर उसके साथ वैयक्तिक सम्पर्क अथवा उसके विषयमें वैयक्तिक अनुभवकी तो बात ही दूर रही, अपने विचारोंको भी उसके सभीप पहुँचनेका कोई मार्ग न रह जाय; हम ईश्वरके सम्बन्धमें उतना ही जान सकते हैं, जितना उसके साथ हमारा सम्बन्ध होता है, हमारे प्रति जैसा उसका मनोभाव होता है, हमारे साथ वह जैसा व्यवहार करता है और हम उससे सहायता, दया और व्यायकी जितनी आशा करते हैं। इस जिस जगत्में रहते हैं, उसके अन्दर

होनेवाले ईश्वरीय व्यापारोंसे ही हम उसके स्वरूपका निर्णय करते हैं।

बहुत-से लोगोंकी यह धारणा है कि बाह्यवलके अन्दर ईश्वर-सम्बन्धी जितने वाक्य हैं वे सब ईश्वरीय वाक्य हैं, उनके अन्दर कहीं-कहीं जो विशेष या वैपर्यका दोष ज्ञालकता है, उसका कारण हमारी हुद्दिकी दुर्बलता ही है, जो लोग हमसे अधिक हुद्दिमान् हैं वे हन सच्चाओंका समन्वयकर उनकी एकवाक्यता कर सकते हैं और उन सबको एकत्र कर उनसे एक ऐसा निरूपण तैयार कर सकते हैं जिसमें ईश्वरके सारे गुणोंका समन्वय हो जाय। अवश्य ही उन लोगोंकी यह धारणा किसी हठके कारण नहीं, किन्तु अतिरिक्त श्रद्धाके कारण है जो एक प्रकारकी मानसिक दुर्बलता है।

वास्तविक तथ्यको सामने रखकर हमें यह मानना पड़ता है कि मनुष्य उसी वस्तुको देख सकता है जिसे देखनेकी शक्ति उसके अन्दर है। मनुष्योंको ईश्वरके सम्बन्धमें जो सक्षात् अनुभव हुए, वे सब आंशिक थे, क्योंकि उनको पूर्णसंया प्रहृण करनेकी शक्ति उनके अन्दर नहीं थी; पूर्ण सत्य हतना महान् है कि उनकी हठि उसको समग्ररूपमें प्रहृण न कर सकी। मनुष्योंने अपनी-अपनी मानसिक एवं आध्यात्मिक योग्यताके अनुसार ही ईश्वरका निरूपण किया। मनुष्यका ज्ञान एवं अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, स्थों-ही-स्थों उसका ईश्वरीय ज्ञान भी अधिक विस्तृत एवं गम्भीर होता गया। जो बात मनुष्योंके लिये थी, वही बात युगोंके सम्बन्धमें माननी चाहिये। जजों (Judges) के समयमें डेविड (David) के द्वंजोंने ईश्वराजों ने निरूपण किया, उसकी अपेक्षा वह स्वर्यं कदाचित् भक्त सेम्युअल (Samuel) के उपदेशोंसे प्रभावित होकर अधिक महत्वका निरूपण कर सकता। कदाचित् उसकी आध्यात्मिक अवस्थाके अनुसार उसका ज्ञान भी घटता-बढ़ता रहा; कभी वह अधिक विशदूरप-से चमकने लगता तो कभी उसकी पापमय प्रवृत्तियोंके कारण उसपर कालिमा छा जाती। ईसाइया (Isaiah) ने अपनी आयुका अधिकांश समय जिसप्रकारके पवित्र वातावरणमें व्यतीत किया, उसका अनुभव सुलेमान (Solomon) अपने विलासितामय एवं पतित जीवनमें किसप्रकार कर सकता था?

Old Testament के कुछ अध्यायोंमें ईश्वरका

जो निरूपण किया गया है, उसमें, और ईसामसीहके अन्दर उस पवित्र, दयामय, भृद्युसभाव प्रेमपूर्ण पिताके जिस स्वरूपकी अभिव्यक्ति हुई थी, उसमें, आकाश-पातालका अन्तर है। पर साथ ही उसके अन्दर कुछ ऐसे अवतरण मिलते हैं जिनमें ईश्वरकी महत्ताका ही नहीं, किन्तु उसके सौबन्ध, प्रेम पर्व द्यातुलाकाएँ विशद बर्थन हैं कि उससे अधिक विशद बर्थन कदाचिद (New Testament) में भी नहीं भिलेगा।

ईसाहृष्टोंका ईश्वर-सम्बन्धी निरूपण अद्वाहमको अच्छा नहीं लगा। ईसामसीहकी सृष्टुते, जो उस परम पिताके प्रेमकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति थी, हमें वह अनुभव प्राप्त हुआ जो कदाचित् उनसे पूर्ववर्ती महर्षियों एवं धर्म-प्रवर्तकोंको नहीं प्राप्त हुआ था। हमारे प्रभु ईसाके प्राकृत्यसे उनके जीवन तथा देह-स्थानसे उनके पुनरुज्जीवन (Resurrection) एवं स्वर्गरोहण (Ascension) की घटनामें तथा उनके द्वारा परमात्माकी पवित्र उयोतिके प्रसारमें ईश्वरकी वह अभिव्यक्ति हुई है, जो किसी दूसरे प्रकारसे हो ही नहीं सकती थी।

त्रैत्वाद(Trinity)के सिद्धान्तमें यानी परमात्माके तीन स्वरूपोंके प्रतिपादनमें श्रद्धालु विडानोंको वशी कठिनाहृष्टोंका सामना करना पड़ता है। हम यह जानते हैं कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ सत्यताका अंश है, परन्तु इस सिद्धान्तको यदि कोई तर्ककी कल्पीटीपर कसना चाहे तो उसे असफलता एवं निराशा ही होगी। त्रैत्वादी और ऐक्यवादी अर्थात् ईश्वरके तीन स्वरूपोंको और एक ही स्वरूपको माननेवालोंके विभिन्न सिद्धान्त अकाव्य हैं, किन्तु जब उनका युक्तिमें समर्थन करने तथा दूसरोंके मतका स्वाधेन करनेकी चेष्टा की जाती है, तब गढ़वाली मन्त्र जाती है। ईश्वरके तीन स्वरूप माननेवाले (Trinitarians) यथापि ईश्वरके स्वरूप तथा उनके सम्बन्धोंकी पूर्णताको स्वीकार करते हैं, परन्तु कभी-कभी वे ऐसी बातें कह जाते हैं जिनमें यह प्रतीत होता है कि वे (Tritheism) अर्थात् तीन ईश्वरोंकी सत्ता मानते हैं। ऐक्यवादी (Unitarian) अर्थात् ईश्वरका एक ही स्वरूप माननेवाले इस मिद्दान्तका विरोध करते हैं और एक ऐसी निरपेक्ष सत्ताको स्वीकार करते हैं जिसका किसी दूसरी वस्तुके साथ कोई सम्पर्क अथवा सम्बन्ध नहीं है। उनका ईश्वर सम्बन्धीन एवं गुण-रहित है।

कदाचित् अधिकांश ईसाहृष्टोंके भार्यिक—उपासना-मय—जीवनमें इसप्रकारके ईश्वरके माननेमें कोई अद्वचन नहीं होती, किन्तु उसके आधारपर किसी निश्चित मतका प्रतिपादन करना अस्यन्त कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव-सा हो जाता है। इस तरहका कोई भी सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं हो सकता जो तीन व्यक्तियोंको एक ही उद्देश्यके लिये समिलित मानता है। यदि यह कहें कि एक ही व्यक्तिके तीन स्वरूपोंकी कल्पना की गयी है तो इसमें प्रभु ईसाके उन वर्तनोंकी प्रक्रियता नहीं होती जिनका ब्राह्मणमें उल्लेख भिलता है। साथ ही प्राचीन ईसाई ईश्वरके Father, son and holy spirit अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा—ये जो तीन विभाग करते थे, उनमें भी विरोध आता है। यथापि इष्टान्तों एवं उद्वाहणोंका आश्रय सदा लाभदायक नहीं होता, फिर भी इस एक इष्टान्त देनेका साहस करते हैं। जैसे विजली कभी प्रकाश, कभी ताप एवं कभी शक्ति इत्यादि अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त होती है वैसे ही यह मान लेनेमें क्या कोई आपत्ति है कि पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा (Father, son and holy spirit) ये तीन भिज्ञ-ईश्वर नहीं, किन्तु एक ही ईश्वरके तीन रूप हैं?

उपर्युक्त मुख्य विचारोंका आधार लेकर हम संक्षेपमें यह घटलानेकी चेष्टा करेंगे कि ईसाहृष्टोंके ईश्वर-सम्बन्धी निरूपणमें प्रधान बातें कौन-कौन-सी हैं?

१-ईश्वरकी समुण्ठता—व्यक्तित्व (Individuality) का अर्थ दृश्योंमें पृथक् एवं विलक्षण मता है किन्तु समुण्ठता (Personality) के अन्दर सम्बन्ध अधिवा मापेक्षनाकी प्रधानता होती है। समुण्ठता ईश्वर-सम्बन्धी कल्पनाका एक मुख्य अंग है। चाहे कोई मनुष्य अपनी बुद्धिमें परमात्म-तत्त्वकी गहनता एवं उच्चताकी याह न पा सके, किन्तु उसका जगत्के साथ सथा जगत्के जीवोंके साथ जो सम्बन्ध है, उसकी कहे रूपोंमें अभिव्यक्ति हो चुकी है और अनुभवमें उसका समर्थन भी हो चुका है। उसकी पूर्णतम अभिव्यक्ति ईसाके विग्रहमें हुई है। ईसा मनुष्यके देहमें अवतारित ईश्वर है और व्यक्त अधिवा अध्यक्षरूपमें सदा इस संसारमें विद्यमान रहते हैं। ईश्वर उन्हेंके विग्रहको माध्यम बनाकर इमारे साथ संरक्ष करता है और इमारे संरक्षका विषय होता है। इमारे वास्तविक शीक्षणके लाय

जनिष्ठता हो जानेपर वह पवित्र आत्मा (Holy Spirit) अर्थात् ईश्वर हमारे ज्ञान, हमारी इच्छाओं एवं हमारे संकल्पोंके सञ्चालित और प्रभावित कर सकता है। इस आत्माकी परमप्रिता परमात्माकी भेजी हुई आत्मा अथवा ईसाकी आत्मा कह सकते हैं। इस ईश्वरको जगत्से बिल्कुल परे नहीं मानते। वह तो सक्रियरूपसे संसारमें और विशेषकर हमारे हृत-प्रदेशोंतथा मन-मन्दिरोंमें निवास करता है। सगुणता (Personality) का अर्थ यही है कि ईश्वर एवं जीवके शीर्षमें अवधार सम्बन्ध है।

२-प्रेम (जिसका चरम विकास आरम्भसर्ग है) — ईश्वरका यह गुण हत्तना व्यापक एवं मुख्य है कि किसी भक्त साधकने ईश्वरको प्रेमका स्वरूप ही बता दिया (God is love)। उसका स्वरूप एवं सत्ता प्रेमसभी है। ईश्वर स्वार्थी नहीं है, दूसरोंकी मंगल-कामना एवं हित-साधन ही उसका एकमात्र ध्येय है। वह उन लोगोंके प्रेम एवं विभ्रमके लिये लालायित रहता है जिन्हें उसने अपने ही अनुरूप बनाया है। पापने उस सम्बन्धका विच्छेद कर दिया है। ईश्वरका विरुद्ध ही जीवको पापरूपी पाशमें मुक्त करना और अपने साथ प्रेम एवं सम्यक्ता सम्बन्ध स्थापित करनेमें उसकी मदद करना। यह कार्य सर्वशक्तिमत्ताका फिटोरा पीटनेमें नहीं हो सकता, केवल नैतिक बलमें ही हो सकता है। जीव ईश्वरकी ओर तभी मुक्त सकता है जब उसे ईश्वरके अमोभ मौहार्द एवं प्रेमका विश्वास हो जाय और तभी वह बदलेमें ईश्वरके साथ प्रेम करने तथा उसपर पूर्णतया निर्भर होनेके लिये वाद्य होता है। अन्य मतावलम्बी ईश्वरकी गरिमा और महानतापर जोर देते होंगे, किन्तु ईसाईयोंके मतमें तो वह महानता उसके प्रेममें ही है। उसकी मनुष्यरूपमें अभिव्यक्तिकी अवज्ञा तथा उसके अवतार-ईसामनोही-की यातनाएँ और मृत्यु, यही उस ईश्वरकी महानताका एक सबसे बड़ा प्रमाण है। ईश्वर मनुष्योंकी सी लीला ईसीलिये करता है कि ईमलोग उन लीलाओंमें योग दे सकें। Cross अर्थात् (बलिदान) का मार्ग ही उसका मार्ग है। ईमलोग अपने अन्तःकरणकी जुदताके कारण यह कह सकते हैं कि ईश्वर जो हमसे हत्तना चाहा है, किसलिये इस मर्यादोंकमें आवेगा और कह सहकर मृत्युका आलिंगन करेगा? इसके उत्तरमें इम यही कह सकते हैं कि प्रेमके अन्दर एक ऐसी विलक्षणा शक्ति है जो प्रेमीसे सब कुछ करवा सकती है।

इमारे पिताकी सर्वज्ञता कैसी, यदि वह अपने बच्चोंके दुःख और दर्दको न जान सके ?⁸

ईसामसीहका अवतार, उसकी यन्त्रणाएँ एवं देहस्थान ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जो इसी पृथ्वीपर एक निश्चित कालमें हुई थीं और जो उस सनातन पुरुष (परमेश्वर) की ही अभियक्तियाँ थीं।

वह सिद्धान्त कि पिता अपने उत्रोंको वे यातनाएँ भुगाना है जो वह स्वयं नहीं भोग सकता, प्रायश्चित्त (Atonement) का यथार्थ स्वरूप नहीं है। ईसामसीह-के रूपमें ईश्वर ही संसारको अपने सम्मुख कर रहा था। ईसामसीहने स्वयं कहा था कि 'जिसने मुझे देख लिया उसने ईश्वरको भी देख लिया।'[†]

३-पवित्रता(Holiness)—'वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पवित्र है, पवित्र है, पवित्र है'— Old Testamentमें यह बात शार-बार दोहरायी गयी है। New Testamentमें भी ईसका कई जगह उल्लेख मिलता है। ईश्वरमें अपवित्रता-का लेश भी नहीं है; इतना ही नहीं, किन्तु संसारमें जितनी भी अयोग्य वस्तु है वह उन मवमें परे है। वाहवलमें कुछ ऐसे वाक्य मिल सकते हैं जिनमें ईश्वरकी ऐसी अनेक लीलाओंका वर्णन है जिनमें उनके विवरण आता है। ईसका यही अर्थ है कि या तो उसने उन वाक्यों-को ठीक तरहसे पढ़ा नहीं या हम उनके आशयको भली-भाँतिमें समझ नहीं सके अथवा वे वाक्य ही भ्रममूलक हैं। ईश्वरकी पवित्रताके विषयमें सन्देश करनेकी अपेक्षा बाहवल ईश्वरका रचा हुआ है इस सिद्धान्तको न मानना कहो अच्छा है, क्योंकि यह सिद्धान्त आखिर मनुष्योंका ही सो स्थिर किया हुआ है।

४-ओचिन्य-प्रेम (Righteousness)—अंग्रेजीके 'Righteousness' शब्दका कुछ लोगोंने 'न्यायकारिता' (Justice) अर्थ किया है, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है। 'Justice' शब्दका न्याय: बहुत संकुचित अर्थ लिया जाता है। वह है पाप (दुष्कर्म) के बदलेमें दण्ड और

* 'Shall, then, the Father all things know,
Except the children's want and pain ?'

† 'He that hath seen me hath seen the
Father'

पुरय अर्थात् सत्कर्मके बदलमें पुरस्कार तौल-तौलकर देना। 'Righteousness' इससे ऊँची वस्तु है। उसका सम्बन्ध है औचित्य (Rightness) से। ईश्वर वही करता है जो उचित एवं श्रेष्ठ है। वह भासतायोंका सद्वनाश नहीं कर देता किन्तु उसके दुश्मनिय एवं मुद्दाखण्डके स्थानाकर उसे ठीक कर देता है, अर्थात् अपने प्रति, दूसरोंके प्रति तथा ईश्वरके प्रति उसके बर्तावको सुधार देता है। ईश्वरके औचित्य-प्रेमका यह भाव है कि उसका उहोइय इस अन्यवस्थित एवं विरोधप्रन जगतमें एकता एवं सदाचारको स्थापित करना है, ताकि इस विश्वरूपी वायामेंसे एक पेंसा सुभाषुर संगीत निकले जिसमें कोई एक भी विसंवादी स्वर नहीं।

४- सर्वशक्तिमत्ता—कभी-कभी हसका अर्थ लोग यह समझ लेते हैं कि हँस्तर जो चाहे सो कर सकता है। यह टीकी नहीं है। हँस्तर अपनी हँस्तानुसार सब कुछ कर सकता है हसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु वह ऐसे कार्यकों करनेकी हँस्ता ही नहीं करता जो सर्वथा उचित न हो। हँस्तर प्रेमी है एवं उसके विशाल शौचित्य-पूर्ण होने हैं हसमीलिये हम हस बातको देखकर प्रसन्न होने हैं कि वह सर्वशक्तिमान् है। हँस्तर हमारा मंगल चाहता ही नहीं किन्तु कर भी सकता है हस्ती निश्चयमें हमारा उसके अन्दर विश्वास रद्द होता है और भरोसा बढ़ता है। हँस्तर मुहूर्ह होनेपर भी शक्तिहीन होनेके कारण हमारे हित-साधनमें अमर्य हैं यह बात हमारी कल्पनामें भी महीं आ सकती।

६-विज्ञान (Wisdom) — इसका अर्थ है व्यावहारिक ज्ञान भृत्यापूर्णतया उपयोगमें आनेवाली जिति। अपने ज्ञान-

के ही द्वारा ईश्वर अपने सनातन उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सारे पदार्थोंसे मिलकर काम करवाता है—इस विषाससे किं इमारा पिता परमेश्वर सब कुछ जानता है तथा उसे इमारी चिन्ता है और उसकी शक्ति, जो उसके ज्ञानके द्वारा सञ्चालित होती है और उसके प्रेमसे प्रभावित होती है, सर्वसमर्थ एवं विजयी है, उन लोगोंको बड़ा आशासन मिलता है जो जीवनकी जटिल समस्याओंको देखकर घबरा जाते हैं।

हरी प्रकार उसको दया, क्षमा, सृदृता, सहिष्णुता
एवं अन्यान्य अनेकों गुणोंका वर्णन किया जा सकता है,
किन्तु स्थान-संकेतसे उन सबका विवरण नहीं दिया
जाता। वास्तवमें ये सब गुण उन्हीं गुणोंके रूपान्तर अथवा
प्रकारान्तर हैं और उन्हींके अन्तर्गत हैं जिनका उल्लेख ऊपर
किया जा नुक्ता है। हत्तना लिखकर हम अपने ह्य निबन्धको
समाप्त करने हैं। हमने ऊपर जो कुछ भी लिखा है वह हम
महान् विषयका एक साधारण-सा चित्र है। इन पंक्तियों
का लेखक हम बातको अच्छी तरह जानता है कि वह हँश्वर-
के स्वरूपको "री तरहमे समझने अथवा उचित रीतिमें
उसका वर्णन करनेमें सर्वथा असमर्थ है। हम सबके लिये
आवश्यकता हम बातकी है कि हम नुपचाप एवं धैर्यपूर्वक
उस मुभवस्मरकी प्रतीक्षा करें, जब वह हँश्वर स्वयं हमारी
आत्माके सम्मुख प्रकट हो, ताकि उसकी दयालुताको
अधिकाधिक समझकर हम उसके माध्य अधिक प्रेम कर
सकें, उमपर पूरा भरोसा कर सकें और प्रभुके अनुगामी
बनें। क्योंकि उनके स्थपते हँश्वर ही सो अधीनीय हए हैं।

त्रिभुवन-कर्ता

साईं तेरी सरन हैं अब्रकी मोहिं निधाज ।
 दुलनके प्रभु रामिये यहि बानाकी लाज ॥ १ ॥
 चहिये सो करिहै सरम साईं तेरे दस्त ।
 बाँधयो चरन सनेह मन, दुलनदास रसमत्त ॥ २ ॥
 प्रिभुचन कत्ता रामजी दास तुम्हार कहाइ ।
 तम्है छाडि दलन कहाई, कैहि को याँचन जाइ ॥ ३ ॥

—८८—

बौद्ध-धर्ममें ईश्वर-भाव

(लक्ष्मी—मांगड़ाचरणलालजी ज्ञाना, मन्त्री भारतीय बोझसव)



प्रकारके मनुष्योंमें धर्मके भावकी हानि होती है। एक बे है जो धर्मकी आदर्में पाप करते हैं और अपना पेट पालते हैं। जब कोई पुरुषार्थी मनुष्य खड़ा होकर जनताकी आँखें सोल देता है, उनके दृढ़ कर्मोंका खातमा हो जाता है। परन्तु अरथधिक हानि उन मनुष्योंमें होती है जिन्हें धर्मके नामपर अधिकार मिले होते हैं, जिसके कारण उनके हृदयमें कीनताका भाव जाता रहता है। उनकी प्रजा होती है जिस कारण वे मालिककी याद भूल जाते हैं। हनकी बात मानी जानी है जिस कारण वे किसी नये भावको प्राप्त्यनहीं कर सकते। इनके हृदयमें सत्यकी खोज नहीं होती, ये मुखदके नये सूरजके चमकाकरको नहीं देख सकते और बहती हुई नदीके बहावकी कल्पना नहीं कर सकते, ये लोग दस्तावेजी धर्मके कायल होते हैं। जब धर्मकी बागदोर ऐसे अधिकारियोंके हाथमें आ जाती है तब बड़े-बड़े अन्याय होने लगते हैं, प्राणिमात्र दुःखित और व्याकुल हो जाते हैं, वर्षोंकी तरफ़ी रक्ती रहती है। और एक बड़े परिवर्तनकी आवश्यकता होती है।

प्रायः ऐसे ही संकटके समय नामिकता या ईश्वर और धर्मके अधिकास और मण्डिनकी तलावार चिप्चसका काम करती है। धर्मकी आदको रोकनेवाले अधिकारियोंको हटाकर नये भार्मिक जीवनकी उत्पत्तिके लिये मार्ग सारू करनेके लिये धार्मिक भंशयवाद या नामिकताका युग भी आवश्यक है। एक बार कूठा हटनेपर धर्मका नया हृदय और स्वरूप प्रकट होता है। संसारकी प्रायः सभी संस्थाओंकी विगड़ी हुई अवस्था और प्राणिमात्रके दुःखोंको देखते हुए मुझे आश्रय नहीं होता कि नामिकता बढ़ती जाती है। हम लेखोंमें और व्याख्यानोंमें किसी नामिकतको ईश्वरका उपासक नहीं बना सकते। संसारमें नामिकताके मिटानेका एक ही उपाय है और वह यह है कि ईश्वर-दपासक सदा और सेवाका जीवन व्यतीत करें और परिवर्तनके लिये तैयार रहें।

भारत ही नहीं, हमरे देशोंमें भी यह बात फैलो हुई है कि भगवान् बुद्ध ईश्वरकी हस्तीमें विश्वास नहीं रखते थे। इस भ्रमका कारण यह है कि बौद्ध-धर्ममें भी वे दो प्रकारके धर्मदोही हो गये जिनका मैने ऊपर ज़िक्र किया है और जो भगवान् के बताये परिवर्तनके लिये तैयार न थे। और भगवान् की बनायी हुई संघ, उस आदर्म जीवनसे जिसके द्वारा भगवान् अपने ऊँचे भावोंको मंसार-के सामने दराना चाहने थे, पतित हो गयी। भगवान् बुद्धने ईश्वरताके भावको धर्म-स्वरूपमें वर्णन किया। इस धर्म-शब्दद्वारा जितना गृह और मनोहर वर्णन बौद्ध-प्रान्तोंमें किया गया है उतना किसी अन्य ग्रन्थमें नहीं मिलता। मगर भगवानने यह शिक्षा दी कि इस भावका अनुभव ग्रन्थोंके पढ़नेमें नहीं होता, उसके लिये उपासनाकी आवश्यकता है। और यह उपासना एक सच्चे सेवकका जीवन है जिसकी पूर्ण भगवान् के बताये हुए अष्टांग-मार्ग-पर चलनेमें होती है।

जिस समय भगवान् ने भारत-भूमिपर अवसार लिया उस समय धर्मके नामपर बहुत अन्याय प्रचलित थे। देवी-देवताओंको प्रसन्न करनेके बहाने लोग मुक पशुओंका जीवन तिनके ब्राह्मण भी नहीं समझते थे। राजा विश्व-सारके यशमें भगवान् स्वयं अपने आपको निर्दोष पशुओंकी रक्षाके लिये अर्पित करके अपूर्व दयाका स्रोत बनाया था। इस एक कर्ममें जितना ईश्वर-भाव व्यक्त होता है उतना सहजों उपदेशोंमें नहीं हो सकता था।

मूँ लोगोंका विश्वास था कि जिसप्रकार ऊँचे अधिकारियोंको रिश्वतके द्वारा अधर्म करनेके लिये खरीदा जा सकता है, उसी तरह देवताओंको भी धर्मकी रिश्वत देकर अधर्मपर सही आप लगा देनेके लिये राजी किया जा सकता है। ऐसी हालतमें अच्छे धार्मिक जीवनका रहस्य लोग भूल गये। ठीक इसी समय भगवान् बुद्धने अपने तपःपूत धार्मिक जीवनके द्वारा उपासना-मार्ग और धर्मके ऊँचे आदर्मको सामने रखकर मनुष्य-जातिको नामिकताकी निराशामें बचाया।

भगवान् आरम्भकी एक नाश होनेवाली वस्तु बताकर

हर एक प्राणीको निर्बाणका अधिकारी बताया। पर बौद्ध-ग्रन्थोंमें जिस वस्तुको आत्मा कहा है वह वह वस्तु है जो संस्कारों और कर्मोंके कारण पृथक दूसरेमें भिन्नता कर देती है और जो निर्बाणकी प्राप्तिपर नाश हो जाती है। इस आत्माका एक नष्ट होनेवाला सम्बन्ध उम्म वस्तुमें है जो हर एक चराचर लीबद्धें व्यापक है, जो दोषचित्त है, जो अपनी सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त होकर संस्कारों और कर्मोंमें पैदा होनेवाले वेरोंको तोड़कर निर्बाण पढ़ पाती है। यह नष्ट सम्बन्ध कर्मात्मासार स्थूल और सूक्ष्म हो जाता है और छिन-छिनमें बदलता रहता है। भगवान् बुद्धका यही भाव था जिसका श्रीशंकराचार्यजीने वेदान्तके नाममें प्रचार किया।

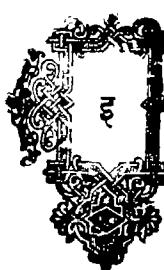
धार्मिक ग्रन्थोंमें ईश्वरसाके बड़े-बड़े मनोहर वर्णन

मिलते हैं। उनमें वेदान्तका नेति-नेति वर्णन सबसे ऊँचा माना गया है। भगव मेरा तो ऐसा विचार है कि भगवान्-का भौन, उनकी चुप और मुस्कान ही उसका सबसे ऊँचा और सक्षा वर्णन है। यह तो निराकार भावकी महिमा है, पर भक्तोंकी इससे तृप्ति नहीं होती। वे लोग भगवान्-के साकार और सगुण स्वरूपके उपासक हैं जिसकी उपासना करके करोड़ों मनुष्य इस भवसागरसे तर गये।

कल्याणमें मुझको बड़ा प्रेम है और जब कभी मित्र लोग मुझको पढ़नेके लिये उसके घंक दे देते हैं, मैं उनमें बहुत-न्म ऐसे भाव पाता हूँ जिनका उपदेश मेरे भगवान्-ने किया। भगव मैं भगवान्-के साकार और सगुण स्वरूपका उपासक हूँ जिसका वर्णन कल्याणमें पानेको आँखें सदा प्यासी रहती हैं।

इस्लाम-धर्ममें ईश्वर

(लेखक — सैयद कासिमअली विशारद, महित्यालकार)



लाम-धर्मके प्रवर्तक हज़रत मुहम्मदने अवधकी भूमिमें, जब कि वहाँ अन्धार-धुन्ध आर्याचार और अनिशय श्रीभगव अनैतिकताका गहरा अन्धेरा छाया हुआ था, ईश्वरीय प्रेरणामें भलीभाँति अवश्यक सुधार और ईश्वरीय ज्ञानका प्रधार किया। उनके बनाये हुए नियम या मार्ग आज भी सबको सुवर्द्धी सही राह पाता रहे हैं। इस्लामके कुछ सिद्धान्त दंखिये—

(१) ईश्वर एक है, सर्वशक्तिमान है और निराकारात्मक सारे भूमरहलका शाश्वत है।

(२) उस परमात्माको छोड़कर दूसरेकी भक्ति और प्रार्थना कभी न करनी चाहिये।

(३) वह खुदा तोबा करनेमें (माफी माँगनेमें) सब क्षूर माफ करता है।

(४) अल्लाह (ईश्वर) सब भले-बुरे कर्मोंका फल देता है और रोज-कियामत अथवा प्रलयके दिन सबके पाप-पुण्यका विचार करके विशेष फैसला करेगा।

(५) परमेश्वरकी गति जानी नहीं जाती, कह इस

संसारका शासक, पोषक और नियमात्मक वलानेवाला ईश्वर अद्वय अनुलित शक्ति रखता है।

उसकी (खुदाकी) आज्ञाएँ

(१) नमाज (ईश्वर-प्रार्थना)—प्रथेक मनुष्य प्रथेक आनन्दमें पवित्र होकर प्रतिदिन पाँच बार अवश्य करें।

नमाज हर हालतमें सभी छो-पुरुष, राजा-रंक, अमीर-फ़कीर, बाल-बृद्ध सबको अनिवार्यरूपमें पढ़नी चाहिये। जनसमूहके साथ पढ़ना अति उत्तम है। मसजिदमें छोटे-बड़े, अमीर-गोदाब, रंग-कुरंग आदिका विचार नहीं करना चाहिये, वहाँ सभी लोग समान हैं। सबका एक-सा अपवाह होता है तथा सब समान स्थानमें बैठते हैं।

(२) नंजा—स्वासकर धर्ममें रमजान नामक माहमें एक महीनेतक शिवभर बाल-बृद्ध, छो-पुरुष सभीको निर्जल निराहार रहना चाहिये। और पूरा महीना रोजा रख चुकनेके बाद ईदुलकिय (खुशीका भाग) अश करना चाहिये। हम उपवासी मासमें आत्माकी शान्ति और ईश्वर-भक्तिकी महानताकी प्राप्त होकर प्रथेक मुस्लिम (ईमानदार) मिषाहीके रूपमें अपना आदर्श प्रकट करता है।

(३) ज़कात-प्रत्येक मुस्लिमको अपनी आमदनीका चालीसवाँ भाग निकालकर दीन-हीन, अपाहिज़ और दुखी नर-नारियोंकी सहायता करनी चाहिये ।

(४) हज़—संसारके मुसलमानोंको सालमें एक बार अपने मक्के-मदीने आदि पवित्र सीर्य-स्थानोंका दर्शन करना चाहिये । उसके लिये भी एक दिन ईदुलजुहा (आदर्श धारगाका काल) सुरक्षर किया गया है । इस दिन संसारके सभी स्थानोंके घोड़े-बहुत प्रतिनिधि इकट्ठे होकर अपने नैतिक विचार, परोपकारी कार्य और ईश्वरभक्तिके मार्गको सुष्ठुप और सुविशाल बनानेकी योजना रखते हैं ।

(५) कुरान—‘एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति’ पर विचास-कर अपने आदर्शपर चलना ।

इस्लाममें इर घड़ी पवित्रतासे इबादत बतलावी गयी है । अनेकों महान् वेदान्ती (सूफी) और कई अलम्बन फ़कीर ‘अहं ब्रह्म’ की सिद्धिपर पहुँचकर देशका अतिशय कल्याण कर चुके हैं । मुस्लिम-मजहबमें फिलासफीके जो कुछ सिद्धान्त प्रकट हुए हैं वे सब स्वाभाविक संगठनकी प्रभावशालिनी शक्ति के साथ जुड़े हुए हैं और एकतामें केन्द्रित हैं; इस्लाममें एक सुदा, एक धर्मप्रण्य कुरान, एक पैगम्बर (ईश्वरीय प्रचारक) अथवा हज़रत सुहम्मद, एक रास्ता, एक ही इबादत, एक भाषा, एक भूषण, एक भाव, एक रस्तरिवाज़, एक ही प्रकारकी मसजिद और एक कानून है । सब लोग एक सुदा को मानते हैं । मुस्लिम-नाम-धारी मनुष्य किसी स्थानमें कैसी भी शिक्षा पाकर सुदा की सुदाको न माननेवाला कठिनतामें मिलेगा । कोई दैनिक नमाज़ नहीं पढ़ेगा तो आठवें दिन जुम्मा (शुक्रवार) को अवश्य मसजिदमें जायगा या सालमें ईदके दिन तो अवश्य ही

नमाज़ पढ़ने जायगा और अपने भ्रम, भूल, पापोंकी लोबा करेगा (माफी माँगेगा) ।

इस्लामके सिद्धान्तमें सुदा सर्वव्यापक, सर्वशक्तिभान्, अजन्मा, अकृतिगम, अहश्य, अनोक्ता, अलबेला, अपरम्पार, कौतुकी, दयालु, न्यायी, निराकार और निविकार है । उसकी मूर्ति, उसका चित्र या उसका स्पृष्ट बनाकर पूजना उसकी अपकीर्ति करना है । क्योंकि जब वह भिट्ठीमें और फ़ूलोंमें सबमें व्यापक है तो उस एक भगवान्को दूसरे भगवान्पर बदाना ढीक नहीं, इससे उसकी विशालताकी अनन्तशक्ति-पर आलेप होता है । जब सुदा हमसे जुदा नहीं है, हमारे अन्दर है तो हम उसका भय रखकर पापोंमें बच सकते हैं । हिजरत (असहयोग) और शहीद होने (वीरगति) का मन्त्र प्रत्येक मुसलमानके रोम-नोरममें हसीलिये फूँका गया है कि जहाँ अचर्म, अस्त्वाचारका तम छाया हो वहाँ वह एकदम चला जाय और ईश्वरीय मार्ग,—ईश्वरीय भक्तिमें हँसते-हँसते अपने प्राण दे दे । उसकी यह वीर-गति अति आदरणीय है । परन्तु सुदा बुरे कामोंमें—पापोंमें सदा दूर रहनेका आदेश देता है और ईर्षा, द्वेष, हिंसा, लोभ, मोह, काम, क्रोध, मदमें बचे रहनेका मार्ग बताता है । सुदाके साम्राज्यमें सुदा का कुदरती कानून हमें हमेशा चेतावनी देता है और भूल करनेपर दण्ड भी देता है । हाँ, इस्लाममें सुदाकी इबादत हम गृहस्थीमें भी रहकर कर सकते हैं और जो इबादत हम करते हैं वही हमारे जी-समाजके लिये भी है । इस्लाम-मतमें सुदा अवतार नहीं लेता, वह अपने प्रिय भक्तोंकी प्रार्थना सुनकर उनकी महायता करता है और अपनी आश्वर्यमयी प्रभावसे समय-समयपर उन्हें दर्शन भी देता है । वह अपने भक्तोंका जयाव सदा रखता है ।

X X X

प्रेम-प्याला

आठ पहर नौसंठ घरी जन बुला धरु ध्यान ।
नहिं जानो कौनी घरी आद मिलै भगवान् ॥ १ ॥
आठ पहर नौसंठ घरी, भरो पियाला प्रेम ।
बुला कहै बिचारिकै ई हमारो नेम ॥ २ ॥
जग आये जग जागिये पगिये हरिके नाम ।
बुला कहै बिचारिकै छोड़ि देहु तन धाम ॥ ३ ॥—उहा साहेब

* जो लोग हज़को जाते हैं वे अपने हाथसे केवल एक ही कपका तैयार करके पहनते हैं, वे किसी भी जीवको दृष्ट नहीं देते, बहीकर कि अपने दूरीको बूँ तक भी बही भार सकते ।

सिख-धर्म और ईश्वरवाद

(लेखक—मीमान् शार्ण लालभिहाजी वा० ५०)



(गृहस्थी) सोगोंमें रहकर उन-जैसा जीवन यतीत किया और उनकी अपनी सरल भाषामें वाणी उच्चारण की और इसप्रकार अपने व्यक्तित्वका प्रभाव ढालकर उन्होंने कोगोंके जीवनको ऊँचा बनाया ।

ईश्वर क्या है ?

सिख-धर्मने ईश्वरके भिज्ज-भिज्ज नामोंके बारेमें कोई क्षणद्वा नहीं किया । श्रीगुरु-ग्रन्थसाहबकी वाणीमें राम, रहीम, अझाह, खुदा, गोविन्द और हरि इत्यादि अनेक नामोंका प्रयोग हुआ है । उस अपार शक्तिके स्वरूपको, जिसे देश, काल और भाषाके भेदमें भिज्ज-भिज्ज नामोंसे याद किया जाता है—‘आदि श्रीगुरु-ग्रन्थसाहब’ की पहली दो तुकोंमें बतलाया है । सम्पुर्ण नानकदेवजी, अपने प्रीतमको, ‘निरंकार’ (निराकार) कहकर सम्बोधन किया करते थे । उनके समयमें संसार साकार ईश्वरका उपासक हो रहा था । उन्होंने बतलाया कि साकार विकारयुक्त होगा, इसलिये निराकार ही निविकार है । जैसा कि—

‘कृष्ण न रेख न रंग किछि, विहु गुणते प्रम भिज्ज’

उस निराकारको समझनेके लिये सबगुरुजीने उसका वह स्वरूप बतलाया है, जिसमें शुद्ध अकाल पुरुष (ईश्वर) का ऊँचा स्वरूप समझमें आ जाय और किसी प्रकारका अम न रह जाय । वह स्वरूप यह है—

‘१ ओं सत नामु कर्ता पुरुष निरभृत निरंकार
अकाल मूर्ति अजृती सैमं गुरप्रसादि’

पाठकोंकी सुगमताके लिये इस इस मूल-मन्त्रकी गुरुत्वाधीनके आधारपर विशेषकृपेण निष्प्रकारमें व्याख्या करते हैं—

(१) अकाल-पुरुष पक है—

‘एको सिमरो नानका जल-थल रहिआ समाइ ।
दूजा कोह सिमरीप जमै तै मरि जाइ ।
प्राण अधार मीत सज्जन प्रम एके पकंकारै ।
समंत ऊँचा ठाकुर नानकका बार-बार नमसकारै ।

(२) अकाळ-पुरुष सत्त है—

‘स्प सत्त जाका सत्त असधान’

(३) अकाल-पुरुषका नाम-रूप—

नामके धारे सगड़ जंत । नामक धारे खंड ब्रह्मांड ।
नामके धारे सिमृत-बेद पुरान । नामके धारे सुनन व्यान विआन ।
नामके धारे अगास पतान । नामके धारे सगल आकार ।
नामके धारे पुरीआ सम नवन ।

(४) अकाळ-पुरुष कर्ता है । तमाम महि दसीकी रची हुई है—

कर्ता कारन कर्ता मेत्र

— X X — —

सम तेरी कुटरत तू कादिश करो

(५) अकाळ-पुरुषका पुरुष स्वरूप—

‘एका पुरुख सबई नाम’

(६) अकाळ-पुरुष निर्भय है—

‘नानक निरभृत निरंकार होर कंते राम रवाल’

‘समना भठ लिखि आसिर हेल, नानक निरभृत निरंकार सच एक’

(७) अकाळ-पुरुष निर्बैर (शत्रुतामें रहित) है—

‘निर्बैर अकाल मूरत’

(८) अकाळ-पुरुष मरता नहीं आता—

‘काल रहत अनकाम सहणा’

(९) अकाळ-पुरुष जन्म-मरणमें नहीं आता—

‘जन्म न मरे न अै न जाइ’

‘हरि जन्म मरण विहंन’

‘तू पारब्रह्म परमसर जोनि न आवही’

(१०) अकाल-पुरुष स्वतःप्रकाश है। अपने आप दुष्टा है। उसे बनानेवाला कोई नहीं है—

यापिणि न जाइ कीता न होइ
आपे आप निरंजन सोइ

बस, इसी प्रकार गुरुसाहबानने श्रीगुरुग्रन्थसाहबमें
ईश्वरके और भी अनेकों गुणोंका वर्णन किया है। जैसा
कि—वह सर्वशक्तिमान् है, न्यायाधीश है और उसका
भय सबके ऊपर है इत्यादि।

ईश्वरके ये गुण किसी अन्य देव, देवी, पीर-पैदवर
आदिमें नहीं हैं और सिख केवल उसी एककी ही उपा-
सना करते हैं।

ईश्वर-प्राप्ति

सिख-धर्ममें ईश्वर-प्राप्तिका सबमें बड़ा साधन भक्ति-
माना गया है। जब मनुष्य भक्तिमें कीन हो जाता है तो दोष
सभी गुण—जैसे—लोकमेवा, देशग्रेवा और प्रसुकी आज्ञामें
रहना इत्यादि स्वयं ही आ जाते हैं। जिक्षा है—

'माई रे मगनिहीन कोहे जग आया'

'नानक बिन मगती जग बउराना, साचै शब्द मिलाई ।'

परन्तु सिख-धर्ममें ईश्वरकी भक्ति भी अन्य धर्मोंमें
कथित भक्तिमें कुछ विलक्षण प्रकारकी है। शास-शासपर
ईश्वरके गुणोंका गान करना, मदा उमे याद रखना और
स्मरण करना ही सिख-धर्ममें ईश्वरकी भक्ति है। भक्ति-
भावकी जड़फो सदा ही-भरी रखना अथवात्वशयक है
और उसका सर्वोपरि साधन हरिकीरन है—

हरि कीर्ति साधसंगत है, सिर कर मनके करमा।

मगति भाइ हरिकीरन कर्त्तिए, जपि पारब्रह्म नानक निस्तरीण ॥

बिन सिमरन कूकर हरिकाया, साकत लंगी बंधन पाया ॥

मनुष्यका आधमा उस अकाल-पुरुष परमात्माका अंश है। जबतक यह अपने स्वोत्तमे सम्बन्धित रहता है, तब-
तक बलवान् और लिंगल रहता है। उसमें पृथक् होकर
दुःखों और संकटोंमें फँस जाना है, इसलिये सदैव सुखी
रहनेका उपाय केवल उस परमात्मासे जुड़े रहना ही है।
जुड़े रहनेका उपाय केवलमात्र उम प्रभुसे प्रेम करना और

अपने अस्तित्वको उसके प्यारमें भुला देना है। भक्ति-भावमें
उस ईश्वरका शास-शासपर स्मरण करनेका असोध उपाय
प्रेम है। सिखोंका गुरुमन्त्र 'वाहिगुह' शब्द है, पर जिस
समय रसनाहारा इसका जाप होता है उस समय ध्यान
उसी अपार शक्तिका होता है, जिसे कि गुरुग्रन्थसाहबमें
कई नामोंसे याद किया है।

सिख-धर्मके अनुसार परमात्मा सर्वत्र प्रकाशमान है,
इसलिये उसको पानेके लिये जंगलोंमें धूमना, पहाड़ोंकी
कन्दराओंमें बैठना या तीर्थादिमें अमण करना व्यर्थ है।
वह समीप-से-समीप और हाजरा-हजर है। पुरुषके भीतर-
बाहर वही बस रहा है इसलिये सिख परमात्माको अपने
भीतर ही ढूँढ़ा है—

'सम किछ धर महि बाहगि नाहीं। बाहरि टोले सो मरम भुगाही॥
मन कर हळे भेरे प्रीतमा हरि रिदै भाल भलाह ।
मन कर हळे भेरे प्यारिआ निच देही जोत समाल ।'

बस, अरण्याद्वारा ही सिखके भीतर सदैव उसकी
याद बनी रहती है। वह प्रत्येक कार्य करना दुष्टा यह
समझता है कि ईश्वर मेरे कार्योंको देख रहा है, इसलिये
वह वही कार्य करता है जो ईश्वरको भने लगे। अर्थात्,
वह ईश्वरकी आज्ञामें चलता है और उसकी इच्छामें ही
आनन्दित रहता है—

तन मनु धनु सम सर्तंप गुह कउ हुकम मज्जिये पाइए ।
कहु नानक तिन हुकम पड़ाता, प्रमसाहिबका भेद तिन जाता ।
अमुतवाणी उत्तरा हरिजमु, मिठा लांग तेरा माना राम ।

अरण गहे कि, सिख-धर्ममें भक्ति और अरणके अदि-
रिक्त अःय शुभ कर्म कोई विशेष महत्व नहीं रखते। परमा-
त्माकी यादके बिना शुभकर्म तो मनुष्यको अहंकारी बना
देते हैं और मदा गिरा देनेका वितरा रखते हैं। इसलिये
ईश्वर-प्राप्तिका केवलमात्र साधन 'एकस मित लिव लाए'

है। अर्थात् अपनी बुत्तिको सदा उम एकके साथ लगाये

रखना है। उसका अरण करे, उमे याद रखले और इस-
प्रकार उस अपार शक्तिये जुड़ा रहे।

(अनुवादक- श्रावुरादित्यानं सन्ना :



थियॉसफीमें ईश्वर

(लेखिका— श्रीमती सोनिया बाडिया)



योंसफी-मत ईश्वरके संगुण एवं मानवीय गुणोंसे युक्त स्वरूपका निषेध-खण्डन करता है, इसीसे इसके अनुयायियोंको लोग नास्तिक कहते हैं। मैडम पृष्ठ० पी० ब्लावट्स्की (Madame H. P. Blavatsky) ने, जो थियॉसफी-मतके सभी सच्चे अनुयायियोंकी गुरु है, अपने 'Secret Doctrine' नामक प्रश्न्यकी पहली जिल्हे पृष्ठ २७५ पर किया है—

'यह गुण सिद्धान्त (Secret Doctrine) निराशरबादका उपदेश नहीं देता। हिन्दू लोग मूर्तिपूजा अथवा संगुण ईश्वरको न माननेवालेके लिये 'नानिक' शब्दका प्रयोग करते हैं। इसी अर्थमें हम यह कहते हैं कि यह सिद्धान्त भी अनीश्वरबादका उपदेश करता है। इस अर्थमें हम प्रत्येक रहस्यवादीको नास्तिक कह सकते हैं।'

इस प्रसंगमें मैडम ब्लावट्स्कीने इस बातको स्पष्ट कर दिया है कि थियॉसफी ईश्वरके कौन-से स्वरूपको नहीं मानती और साथ ही यह भी बता दिया है कि हिन्दू लोग भी वन्मुतुः ईश्वरके इस स्वरूपको नहीं मानते। सुरमय अथवा धानुनिर्मित मूर्तिकी ही पूजा हिन्दू-धर्ममें नहीं है। सर्वव्यापक एवं अध्यक्ष-जीवनके सामाजिकको प्रकट करनेवाली अथवा जीवनकी किसी विद्याइश शक्ति अथवा अवस्थाविशेषको अभिभ्यक्त करनेवाली मूर्तिका ध्यान एवं पूजन करना प्रकृतिके अन्तमनलमें रहनेवाले एवं अभिघ्यकिके सारभूत गहन्यको समझनेकी चेष्टा करता है। अतः सब्जे हिन्दूओंको मूर्तिपूजक कहना ही भ्रम-मूलक है जितना थियॉसफी-मतके सच्चे अनुयायियोंको नास्तिक बताना !

इसके अतिरिक्त मैडम ब्लावट्स्की कहती है कि थियॉसफी-मत प्रकृतिके अन्दर एक निरपेक्ष विभ्य-तत्त्वकी आवश्यकताको सिद्ध करता है। जिसप्रकार वह सूर्यका निषेध नहीं करता, उसी प्रकार वह ईश्वरका भी निषेध नहीं करता। अन्तरेण सिद्धान्तने प्रकृतिके अन्दर ईश्वरका कभी निषेध नहीं किया और न उसने निरपेक्ष एवं अमूल्यतत्त्वके माननेमें कभी आशाकाली ही की। हाँ, एकेश्वराद्वा-

कहनानेवाले धर्मोंमें ईश्वरका जो स्वरूप माना गया है वह उसे मान्य नहीं है, उनके ईश्वर मनुष्यकी ही सृष्टि एवं प्रतिकृति हैं और इसप्रकार उन्होंने उस अशेय-तत्त्वका तिरस्कार एवं उपहास-सा ही किया है। (वेबिये Secret Doctrine Vol. I. Page XX.)

थियॉसफी किसप्रकारके ईश्वरका निराकरण करती है ? जो लोग ईश्वरको मूर्त्य सन्तान दत्त्यज्ञ करनेवाला सर्वविवेकी पिता, सावहीन मानवोंकी सृष्टि करनेवाला सर्वंशक्तिमान् शासक, दीन, असहाय, दुष्कृतियोंको दत्यज्ञ करनेवाला अतिशय दयालु व्यवस्थापक, दुराचारी, भूतों, व्यभिचारियों एवं ओरांको पैदा करनेवाला सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता एवं शौशाचारविहीन व्याधिग्रस्त स्वार्थीन्द्र जीवोंका रघुविया परमपावन प्रेमी मानते हैं वे थियॉसफीके मतमें ईश्वरका तिरस्कार ही करते हैं। इसप्रकारके सृष्टिकर्ताकी मामना बुद्धिको गिराना एवं सदाचारको दूषित करना है।

अब हमें यह देखना है कि थियॉसफी ईश्वरका कैसा स्वरूप मानती है ? थियॉसफीके मतमें ईश्वर एक, सर्वव्यापक, सनातन, अपरिच्छिक एवं अविकारी तत्व है जिसके लिये हम 'जीवन' शब्दका प्रयोग कर सकते हैं। निर्गुणता ही उसका प्रधान लक्षण है। थियॉसफी इस वातपर ज्ञोर देती है कि निर्गुणताको ही थियॉसफीके अध्यात्मवादका मूल्य सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिये। इस वातको सिद्ध करनेके लिये मैडम ब्लावट्स्कीके लेखोंमें सब्जे कई अवतरण दिये जा सकते हैं। परन्तु इस समय तो हमें थियॉसफीके द्वारा निरूपित ईश्वरके तत्त्वका ही कुछ विवरण कराना है।

यहाँ में निर्गुणताके मम्बन्धमें कुछ कहना चाहती है। निर्वाणकी भाँति निर्गुणता भी जीवन अथवा जीवनकी एक अवस्था है। जिसप्रकार निर्वाणका अर्थ समुच्छेद नहीं है इसी प्रकार निर्गुणता कोई अनिर्देश कल्पना नहीं है। प्राहृत मनुष्योंके अनुभवके शब्दोंमें हम निर्गुणताके स्वरूपका वर्णन नहीं कर सकते। किन्तु जिन्होंने अहंकारका सर्वथा स्थान कर दिया है, ऐसे पुरुषोंके चरित्रका शान्तिपूर्वक मनन करनेमें तथा अहंकारशून्यताकी अवस्थाको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो साधक मुरुप जीवनमें इसप्रकार बननेका अभ्यास करते हैं

उनके आचरणोंपर गम्भीर विचार करनेसे निर्गुणताका भाव समझमें आ सकता है। सबे जीवन्मुक्त पुरुष अहंकार-शून्य होते हैं, 'गुरु ज्ञानी' कहलानेके अधिकारी वास्तवमें वे ही हैं। ये सबे गुरु अपने शिष्योंको शिशा एवं उपदेश देनेके लिये जिस पद्धतिका अनुसरण करते हैं उनके द्वारा उनको धीरे-धीरे और क्रमशः अहंकारशून्यताकी अवस्था प्राप्त करनेमें सहायता मिलती है। साधारण मनुष्योंकी जीवात्मा समुक्त होकर महात्माके पदपर पहुँच जाती है। ये महात्मा हैश्वरनुल्य होते हैं, इन्हें हम दिव्य मानव कह सकते हैं। ये स्वयं अहंकारशून्यताके स्थूल एवं सजीव चित्र अथवा सूक्ष्मियों होती हैं और इनकी जीवन-सरणि उसका अमृत स्वरूप होती है, उनकी स्थिति उन श्रीकृष्णके अनन्द द्वारा होती है, जिन्हें जगतका आधार (जगत्तिवास) कहा गया है। परम पदपर प्रतिष्ठित होते हुए भी वे सदैव सर्व-कियामें सक्रिय सहायता देते रहते हैं। अतएव यह वात विकृत ठीक है कि गुरु-कृष्णके विना हैश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती। हमार्ह योगी भी यही कहते हैं कि उत्र (हृसामसीह) की सहायताके विना पिता (परमेश्वर) की उपलब्धि नहीं हो सकती।

यियॉसफीके मतमें God, Logos, हैश्वर, Master Adept (ज्ञानी) एवं महात्माका व्याख्या स्वरूप है इस सम्बन्धमें जनतामें बहुत अम फैला हुआ है, अतएव हमें इन भ्रामकिक वातोंका उल्लेख करना पड़ा। जो लोग यियॉसफीके मध्ये सिद्धान्त-की वास्तवमें जिज्ञासा रखते हों, उनमें मैं प्रार्थना करूँगी कि वे मैडम ड्लावट्स्कीके प्रन्थोंका अध्ययन करें, क्योंकि यियॉसफीके आयुनिक सिद्धान्तोंके आधार वे ही हैं। जिस-प्रकार श्रीकृष्णका असली सन्देश जानना हो तो स्वयं गीताको पढ़ना चाहिये, उसके भाष्यों और टीकाओंके पढ़नेमें श्रीकृष्णका वास्तविक अभिप्राय समझमें नहीं आ सकता, हमी प्रकार यियॉसफीके सिद्धान्तोंसे अवगत होनेके लिये मैडम ड्लावट्स्कीके मूल प्रन्थोंको पढ़ना चाहिये, उनकी व्याख्याओं, विवृतियों, एवं टीकाओंमें काम नहीं चलता।

अब हमें यह देखना है कि यियॉसफी हमें हैश्वरके विषयमें क्या सिखाती है? यियॉसफी वास्तवमें 'ब्रह्मविद्या' का ही नाम है अतएव उसके सिद्धान्त एवं उपदेश वही हैं जो वेदों, उपनिषदों तथा भारवि व्यासप्रणीत व्यष्ट-

सूत्रोंमें पाये जाते हैं और भगवद्गीता जो इन सब प्रन्थोंका सार है, ब्रह्मविद्याका प्राण ही है। उसके अन्दर राजविद्या अथवा गुदाविद्याका उपदेश दिया गया है, गीताके उपदेशोंमें तथा मैडम ड्लावट्स्कीके अन्तर्गत उपदेशोंमें वहा साइर्य है। बात यह है कि उपर्युक्त महिलाने आयुनिक युगके लिये भगवद्गीताके उपदेशोंको ही दोहराया है।

यियॉसफी हैश्वरके दो रूप मानती है—एक तो वह जो इस व्यक्त जगत्में असीत है हमें यियॉसफीकी भाषामें Be-ness (सत्तामात्र) कहते हैं। हैश्वरका दूसरा रूप वह है जो प्रकृतिमें जीतप्रोत है, इसे Be-coming (व्यक्तरूप) कहते हैं।

यियॉसफीमें जिसे Be-ness कहा गया है उसीको शारीरिक कृत्य (Absolute) कहने हैं और हिन्दू परब्रह्म कहने हैं एवं उसका स्वरूप निर्गुण अर्थात् गुण-रहित माना गया है। Be-coming अर्थात् हैश्वरका व्यक्तरूप वह है जिसे व्रश्वका निःशास्य अर्थात् जीवन कहते हैं और जिसका स्वरूप अविच्छिन्न नाति, अपरिच्छिन्न देश एवं अनन्त काल है। उपनिषदोंके 'तत्' और 'पृतत्' शब्द मैडम ड्लावट्स्कीके 'Be-ness' और 'Be-coming'के ही पर्याय हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अपने इन्हीं दो स्वरूपोंका वर्णन किया है। (तेविये गीता अ० १० श्लो० ४२)

व्यवस्था जीवनका स्वरूप है। इस व्यवस्थाके कारण ही जीवन किया, देश एवं काल इन तीन स्वरूपोंमें अभिव्यक्त होता है। इस व्यवस्थाके कारण ही जीवन अव्यक्त अवस्थाको प्राप्त होता है। व्यवस्थाकी प्रेरणामें जागृत होनेपर जीवन किया, देश एवं कालरूप विश्वको अभिव्यक्त करता है। किया, देश एवं काल अभिव्यक्तिके समानाधिकरण हैं। हैश्वर अथवा परमाणु, शक्ति अथवा रूप, स्थूल जगत् अथवा मूर्म जगत्, जीवनके ये तीन स्वरूप किया, देश एवं कालकी अभिव्यक्ति हैं, जिन्हें सारी यिमुतियोंकी ओनि, परम त्रिसूर्ति कहते हैं। जीवनकी स्वरूपभूत व्यवस्थाका नाम कर्म है जो कारण एवं कार्यके रूपमें व्यक्त होता है, अथवा जिसे कार्य-कारण-भाव कह सकते हैं। एक रजः-कणसे लेकर तेजःपुत्र सूर्यतक संसारमें जिनमें भी व्यक्त पदार्थ हैं वे सब किसी-न-किसी कारणके कार्य हैं और उनमें अन्य कार्योंकी उत्पत्ति होती है। भगवद्गीता (द१३)में भूसप्राणियोंको उत्पत्ति करनेवाली तथा उनकी सत्ताको

कायम रखनेवाली प्रवृत्तिसे कर्म कहा गया है। व्यवस्थासे ही मृष्टिकी उत्पत्ति अर्थात् जीवनकी अभिव्यक्ति (प्रभव) होती है और उसीसे उसका संहार अर्थात् जीवनका तिरोभाव (प्रलय) होता है। इसीसे श्रीकृष्णने भगवतीता (६।७) में कहा है—कल्पके अन्तमें सारे भूत मेरी प्रकृतिमें लौट आते हैं और अगले कल्पके प्रारम्भमें उन्हें मैं फिर उत्पन्न करता हूँ।^{१४}

इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सर्वव्यापक जीवन है, सर्वशक्तिसम्पन्न व्यवस्था है। जीवन एवं व्यवस्थाके रूपमें ईश्वर सर्वत्र एवं सर्वदा क्रियाशील रहता है। विश्वका सञ्चालन यद्यच्छासे अथवा काकानालीय न्यायवन् नहीं होता और न वहाँ किसीकी मनमानी अथवा स्वेच्छाचारिता ही चलती है। प्रत्येक परमाणुमें, प्रत्येक शरीरमें, मनुष्यके प्रत्येक अवहारमें व्यवस्था अनवचित्प्राप्तरूपमें कार्य करती रहती है। देवताओं एवं देवियों, मनुष्यों एवं द्विषयोंमध्ये के अन्दर व्यवस्थाका ही साम्राज्य है। देवताओंका देवत्व, मनुष्योंका मनुष्यत्व एवं द्विषयोंका द्विषय हमीके आधारपर स्थित है। मैडम व्लावटस्कीने Secret Doctrine (Vol. I, pp.274/75) में लिखा है—

‘निर्जीव अथवा प्रज्ञाहीन प्रकृति कोई वस्तु नहीं है, व्यौक्तिकी व्यवस्था विवेकशून्य अथवा अवेतन नहीं हो सकती।’^{१५} विश्वका सञ्चालन एवं नियमन भीतरसे बाहरकी ओर होता है। ‘... विश्वका सञ्चालन, नियमन एवं धारण-पोषण करनेवाली आरम्भाओंके अनन्त भेद गत्वं श्रेणियाँ हैं, उनमेंमें प्रत्येकको कोई-न-कोई कार्य अवश्य करना पड़ता है और उन्हें हम आहे जिस नामसे पुकारें, चाहे उन्हें ध्यान-चोहान कहें अथवा देवतून कहें वे सारे के-सारे कर्मकी व्यवस्था एवं विश्वके नियमोंका सञ्चालन करनेवाले हैं और हमी अर्थमें हम उन्हें दूत अथवा मन्दिरशावक कह सकते हैं। उनके ज्ञान एवं बुद्धिमें परमपर महान् अनन्त हैं और उनके मन्मन्दनमें यदि हम यह कहें कि वे विशुद्ध आत्माएँ हैं और उनके अन्दर पर्यावरणशक्ति लेश भी नहीं है, अतएव वे कालासीत हैं तो लोग यह कहेंगे कि यह हमारी कल्पनामात्र है।’

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं जिनको हमें पूरी तारसे समझ लेना चाहिये—

* सब भूतानि कौन्तय प्रकृतं यान्तं मार्मिकान् ।

कस्पश्चये पुनस्तानि कल्पादौं विसुजाम्पहम् ॥

(१) ईश्वर सर्वव्यापक है। उसका निवास बैकुण्ठ-जलोकमें ही नहीं किन्तु पृथ्वीपर भी है। वह केवल भक्तोंके हृदयागारमें अथवा तत्त्वदर्शी मुनियोंके ममित्यकमें, एवं याजकके अंगोंमें ही नहीं रहता, किन्तु पापी, अज्ञानी, स्वार्थपरायण एवं रोगमें मनुष्योंके अन्दर भी उसका निवास है। उम जीवनके ह्यात, पाँच, नेत्र, शिर, मुख एवं कान सर्वतोमुख हैं।^{१६}

(२) ईश्वर अन्तर्यामीरूपमें विश्वका सञ्चालन एवं नियमन रहता है। स्फटिककी मुन्दर आङ्गूष्ठी सौंचेमें डली हुई-सी प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें उसे कोई वाद्य मत्ता सौंचेमें डालने नहीं आती, पुष्पमें रंग भथवा गन्ध कहीं बाहरमें नहीं आता, पक्षीको उड़नेकी शक्ति कहीं बाहरमें प्राप्त नहीं होनी और मनुष्यकी शुभ एवं अशुभ वृत्तियाँ, लूटने अथवा उत्तर्यां करनेकी प्रवृत्ति बाहरमें नहीं आती। सारी यहाँ एक विकासकी क्रिया है, प्रत्येक आकारकी बृद्धि, प्रत्येक व्लावटस्की विमार उस आकारके अन्दर रहनेवाले जीवनके स्पन्दनमें ही होता है।

उपर्युक्त दो मूल-मिद्रान्तोंमें हम तकके आधारपर हम निर्णयपर पूँछते हैं कि एक जीवन ही भ्रांसल्य रूपोंमें प्रतिभासित होता है। जह एवं चैतन्यकी, प्रकृति एवं पुरुषकी वास्तवमें मिल अथवा विलक्षण मत्ता नहीं है, वे एक ही जीवनके दो स्वरूप हैं भाँग प्रकृतिके समम रूप जीवनके ही रूप हैं। उपनिषदोंका यह उपदेश कि ‘मध्यके अन्दर एक ही आत्मा है, किन्तु मध्यके अन्दर उसकी अभिव्यक्ति समानस्वरूपने नहीं होती’ हसी बातको बतलाता है।

जीवनके ग्रिगुणातीत मध्यरूपके विवेचनके बाद हमने उसके ग्रिगुणमय मध्यरूपका विचार किया और अब हमें मनुष्य-जातिके अन्दर जीवनकी घोतप्रोतताका विचार करना है।

मानव-जातिमें चैतन्यके अन्दरमें विमर्श-शक्ति उत्पन्न होती है अर्थात् चैतन्यको मध्यस्वेद हो जाता है। ऊंगली मनुष्यमें लेकर तत्त्ववेत्ता मुनियोंतक मध्यके अन्दर आमविमर्शक ज्ञान रहता है, उन सबके अन्दर ‘मैं हूँ’

* संवतःपाणिपाद तन्मत्वाऽधिकारीमुखम् ।

संवतःश्रुतमहोके संवत्माक्ष्य निष्ठति ॥

(गीता १३।१३)

यह कहनेकी शक्ति विद्यमान रहती है। अन्य प्राणियोंकी सरह मनुष्योंमें भी यही नियम लागू होता है और उसका व्यापार भी इसी तरह अर्थात् भीतरमें बाहरकी ओर होता है। 'मैं' अथवा 'अहम्' का निवास मनुष्यके अन्दर होता है और उसकी शक्तियों तथा क्षमताओंका विकास इसी प्रकार होता है जिसप्रकार वीजमें वृक्षकी उत्पत्ति होती है। अथवा कलिका दुष्टके स्पर्शमें प्रस्तुति होती है। अतः हमें अपने दोष एवं दुर्गुण किमी दूरवर्ती लोकमें रहनेवाले ईश्वरमें नहीं मिले, वे सब हमारे अन्दरमें ही प्रादुर्भूत हुए हैं। यही हाल हमारे सद्गुणों एवं शक्तियोंका है।

तब हम ईश्वरको कहाँ ढैंडे ? वह तो हमारे अन्दर ही है। फिर यह बाह्य जगत् जो हमें दिखायी देता है क्या है ? यह केवल स्वभवेत्ता मनुष्यके ज्ञानका साधनमात्र है, ज्ञान-की शक्ति तो मनुष्यके अन्दर ही रहती है। नेत्रोंकी महायात्तमें हम सूर्य एवं चन्द्रमाके प्रकाशको देख पाते हैं, मनकी महायात्तमें हम विश्वकी रचनाको समझनेमें समर्थ होते हैं, समुद्रतटपर पड़े हुए कंकक एवं आकाशमें स्थित श्रमंगद्य लोकोंकी समुद्रमाका अनुभव हम इसीलिये कर सकते हैं कि हमारे अन्दर मन्दिर्यका विकास हो रहा है। अधिक क्या, हम महान् विश्व अर्थात् जगत्के आनन्दरिक रहस्यको हम इसीलिये समझ पाते हैं कि हमारे हृदयके अन्दर हम उस रहस्यको समझ चुके हैं क्योंकि हममेंसे प्रत्येकके अन्दर एक सूर्यम् जगत् अलग-अलग है। विश्वमें अभियन्त्र होनेवाली प्रकृतिकी सारी गतियाँ एवं क्षमताएँ वासनदमें मनुष्यकी ही शक्तियाँ एवं क्षमताएँ हैं, मनुष्य विश्वकी एक छोटी-सी प्रतिकृति ही तो है। विश्वमें एक भी ऐसी वस्तु नहीं है जो मनुष्यके अन्दर महत्वात् नहीं है। मनुष्य प्रकृतिरहस्य, यह ईश्वरवर्की ओर क्रमशः अग्रसर हो रहा है।

अतः आरम्भनीरक्षण करनेपर हम अन्तमें अपनी सत्ता-की तहतक पहुँच सकेंगे और तब हमें यह विद्वित होगा कि हमारी सत्ताका केन्द्र और सारी सुष्ठिका केन्द्र वामवर्षमें एक ही है, क्योंकि यह ऊपर बनाया जा चुका है कि पुरुष और प्रकृति एक ही है। तब हमें इस भ्रह्मतम विश्वका अनुभव कर होगा।

अनुभूतिके जिस मार्गपर मनुष्यको विवेकपूर्वक एवं सावधानीके साथ घलना चाहिये उसका वर्णन 'The

Voice of the silence' (नीरवताका नाम) नामक पुस्तकमें मिलता है, मैडम ब्लावट्स्कीने उन कठिपय लोगोंके लाभके लिये जिन्हें वह पुस्तक समर्पित की गयी है उसका भाषाप्रसार करके उसपर अपनी ओरमें टिप्पणियाँ भी ली हैं। यह छोटी पुस्तक कई लोगोंमें विभक्त है और लागू अर्थात् चेहोंके दैनिक उपयोगके लिये संकलित की गयी है। उसमेंके कुछ पांचोंका सारांश नीचे दिया जाता है। देखिये गीताके उपरेशोंमें उसके उपरेश किनमें मिलते-जुलते हैं।

(१) कितने शोककी बात है कि सभी मनुष्योंका 'आल्य'में सम्बन्ध होते हुए भी अर्थात् उनकी उस परमात्मा-में अभिसत्ता होनेपर भी वे उस 'आल्य'में कुछ भी लाभ नहीं उठाते।

यह अवतरण हमें साधनकी पहली सीढ़ी बसलाता है। अधिकांश नर-नारी ईधर-उधर भटकते हुए अपनी जीवन-यात्राको समाप्त कर देते हैं, किन्तु यह नहीं समझ पाते कि मनुष्य एक पथिक है और वह उस गुप्त गुहाकी यात्रा कर रहा है, जहाँ ईश्वरका निवास है। हमारा हृदय ही वह गुहा है, ईश्वरका हमारे हृदयमें निवास है हम बातको जान लेना साधनकी पहली सीढ़ी है। ऐसी अवस्थामें हमें दो कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, एक तो ईश्वरकी सत्ताके निषेधकों और दूसरे ईश्वरको बाहर हृदयनेका। जीवन एवं व्यवस्थाकी सत्ताको अस्वीकार करनेवाला अथवा जीवन और व्यवस्था भीतरमें बाहरकी ओर प्रसारित होती है, इस बातका निषेध करनेवाला शास्त्र अधिभौतिक ही है, चाहे उसका विषय विज्ञान, दर्शन अथवा धर्म कुछ भी हो। अतः हमें इस बातको समझ लेना चाहिये कि हमलोग सात्री हैं और हमारे हृदयस्थली गुहामें रहनेवाले ईश्वरका साक्षात्कार ही हमारा गम्य-स्थान है।

(२) गुरु तो अनेक हैं किन्तु 'आल्य' अर्थात् प्रधान आन्मा अथवा परमात्मा एक है। जिसप्रकार उस परमात्मा-का आलोक तुम्हारे अन्दर निवास करता है उसी प्रकार तुम उसके अन्दर निवास करो। जिसप्रकार तुम्हारे सहचर उस परमात्माके अन्दर निवास करते हैं उसी प्रकार तुम उसके अन्दर निवास करो।

'आल्य' (प्रधान आन्मा) आन्मा अथवा परमात्मा-का ही नाम है। प्रत्येक मनुष्यके अन्दर उसका प्रकाश होता है और इसप्रकार वह उस परमात्माके साथ एकताका सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

यदि ईश्वर हमलोगोंमें से प्रत्येकके अन्दर विद्यमान है तो वह उस सर्वव्यापक अंशीका ही स्वरूप होना चाहिये। हम रशिमकी सहायतासे उस प्रकाशके उद्गम-स्थानको पा सकते हैं जहाँमें रशिम आविभूत होती है। हमारी आत्मा ही वह रशिम है और जिस समय उमेर यह ज्ञान हो जायगा कि 'मैं उस सूर्यसे अभिन्न हूँ' जिसका मैं अश हूँ।' उसी समय वह महात्माओंकी कोटिमें पहुँच जायगी, मरणशील प्राणी अमर हो जायगा, मनुष्य ईश्वर व्यापक प्राप्त कर लेगा और यात्राका अन्त हो जायगा।

अतः हमारे लिये यह ज्ञान लेना आवश्यक है कि मुक्त होनेकी शक्ति हमारे ही अन्दर विद्यमान है, आलोक-रशिम ही वह मार्ग है जो हमें उस आध्यात्मिक सूर्यके निकट पहुँचा देती है जिसे हम श्रीकृष्ण, हमारीमीह, अहुरमज्ज्वल, अथवा अवलोकितेश्वर ईश्वरादि नामोंमें पुकारते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि उस आलोकमार्गपर चलनेकी शक्ति किसप्रकार प्राप्त हो। आत्म-निर्भरता एवं आत्म-विश्वासने ही हम उस शक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। जो मनुष्य दूसरोंपर निर्भर करता है, दूसरोंके भरोसे रहता है वह उस मार्गपर नहीं चल सकता। जो लोग दूसरोंपर निर्भर करते हैं वे अन्धकारके मार्गमें जाते हैं जहाँ दुःख-ही-दुःख है। हसीलिये मनु महाराजने हमें यह उपदेश दिया है कि परवशता दुःख एवं शोऽक्ता मूल है और स्वाधीनता मुखका मूल है। किन्तु उपर्युक्त अवतरणमें हमें परम्पर महायताका भी उपदेश दिया गया है। जो लोग परम्पर सहायता अथवा सार्वभौम आनुभावके महत्वको न समझते हुए केवल आत्मविद्वत्ती होते हैं वे अहंकार एवं विनाशके मार्गको ग्रहण करते हैं। अतः हमें चाहिये कि हम दूसरोंके अन्दर भी परमात्माको देखें और उसकी पूजा करें। इच्छाकी स्वतन्त्रता प्रत्येक नर-नारीका जन्मसिद्ध अधिकार है और हममेंमें किसीको यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरोंको द्वाकर अपने अनुकूल बनावे। इतना ही नहीं, हमें यह भी सीखना चाहिये कि किसीकी इच्छाके विनाश अथवा उसके अनजान में उसके मंकल्पको न बढ़ावें। हस विशामें हमलोगोंमेंमें प्रत्येक मनुष्य अहंकारशून्यताका अभ्यास कर सकता है। हसके लिये हमें अपने वर्गके लोगोंकी उपेक्षा अथवा अवहेलना करनेकी आवश्यकता नहीं है; सहिष्यना,

एवं सेवाका साधन बनाकर हम हसका अभ्यास कर सकते हैं। हसका अभिग्राय यह है कि हमें हस बात-को भी समझना चाहिये कि जिसप्रकार हम दूसरोंकी सहायता करते हैं उसी प्रकार दूसरे लोग भी हमारी सेवा एवं सहायताके साधन बने हुए हैं। हमलोग सब 'दरिद्र-नारायण' हैं, व्याधिमत्त देवता हैं, हममेंमें किसीमें एक दोष है तो दूसरोंमें दूसरे ही प्रकारका तुरंण है, कोई शारीरिक व्याधिमें पीड़ित है तो कोई चरित्र-भ्रष्ट है, कोई हाथोंमें परिश्रम नहीं करता सो किसीका मत्तक कोई काम नहीं करता, ईश्वर-ईश्वरित। हसप्रकार अपने सबके दौरानेको स्वीकार कर लेनेमें हमें सबकी महत्ता एवं गौरव-का परिज्ञान ही जाता है। हसप्रकार आनुभाव हमारा ध्येय हो जाता है और सेवा ईश्वरके निकट पहुँचनेका मार्ग बन जाती है।

(३) तुम्हें अपनेको विशुद्ध 'आल्य'में तर कर लेना है, प्रकृतिको आरम्भ-संकल्पमें एकता स्थापित करना है। उसके साथ एक हो जानेपर तुम अजेय हो जाओगे, किन्तु उसमें शृंखल रहते हुए तुम संवृत्तिकी क्रीडाभूमि बन जाओगे, जो संमारके सारे अज्ञानोंका मूल है।

हमें एवंके उपदेशमें जो बात कही गयी है उसीका यह उपसंहार है। हमें दैवीप्रकृति अथवा शक्तिको शारीर-के प्रत्येक डारपर प्रवाहित करना है। (देखिये गीता १४।११) हमें चाहिये कि हम प्रकृतिके विवेरपूर्ण कार्यों-के माध्यम जन जायें। उस ज्ञानके बिना देखनेकी चेष्टा करना नेत्रवाणे भूत्योंकी अन्धकारमें देखनेकी चेष्टाके ममान है। सारे पवार्योंको देखनेकी, मारे विवर्योंको समझनेकी एवं सारे भूतप्राणियोंको आरम्भका प्रकाश देनेकी चेष्टा करना, उनका सज्जा महाव समझना है, आप्माके प्रकाशके बिना हम वैमें ही हैं जैसे अंधोंके समुद्रमें अन्धे हैं। हमारे संमारमें आज भी अधिकांश मनुष्यों-की यही दशा है। वे अव्यय अन्धे होते हुए भी दूसरे अन्धोंको मार्ग दिखानेकी चेष्टा करते हैं। जो लोग आरम्भ-की स्वोज करते हैं वे ही देखना प्रारम्भ करते हैं ही और जो लोग देखने लग जाते हैं वे दूसरोंकी आँखें सोलनेमें सहायत हो सकते हैं।

स्थानके संकोचमें मैं तेजोमय युलोंके निवास-स्थान ज्ञानागार अथवा प्रकाशमय जगत्को पहुँचानेवाले

प्रकाश-मार्गकी मंजिलोंका सविस्तर वर्णन नहीं कर सकती किन्तु 'The Voice of Silence' के उपर्युक्त अवतरणों-में हमें विचारके लिये पर्याप्त सामग्री मिल गयी है। और उनपर विचार करनेसे हमपर भगवान् श्रीकृष्णके निष्ठ-किलिस उपदेशकी सत्यता प्रकट हो जायगी जो उन्होंने अर्थात् के प्रति किया है।

तदिदि प्रिणिपतेन परिप्रदनेन सेवया।
उपदेश्यन्ति ते ज्ञानं हानिनस्तथदर्शिनः ॥

अज्ञात्वा न पुनर्मोहेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रव्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

(गीता ४।३४-३५)

विनयमें प्रभोत्तरके द्वारा सथा सेवा एवं सीब्र जिज्ञासाके द्वारा तू उस ज्ञानको प्राप्त कर। जिन ज्ञानी महात्माओंने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है वे तुके उस ज्ञानका उपदेश देंगे, जिसे प्राप्तकर तू किर कभी भोगको प्राप्त नहीं होगा। और उस ज्ञानके द्वारा तू सारे भूत-प्राणियोंको पहले अपने आनंदर देखेगा फिर मेरे आनंदर देखेगा।

ज्ञानयोश्ती-धर्ममें ईश्वरवाद

(लेखक—प्रिनिपत श्री एच० जै० एम० तारापुरवाला, व१० द०, पी-एच० ई०, वार-एट-ला)

'उद्दत-नो ज्ञातो आश्रव, यो स्पितामो जरथुदत्रो'

(कवररीत यश, १४)

वह सौभाग्यमें (हमारे) गुरु स्पितम ज्ञान्युत्तम जन्म लिया ।

जगत्के प्रसिद्ध महापुरुषोंमें एक अशो के ज्ञान्युत्तम थे। प्राचीनकालमें हरानी आर्योंको धर्म सिखलाने और ईश्वर-प्राप्तिका मार्ग दिखलानेके लिये उन्होंने जन्म लिया था। इनके जन्मके समय ईरानमें एवं प्रचलित धर्म बहुत ही तुरी स्थितिको पहुँच गया था। सत्य, नज़ता, दया आदि सद्गुण प्रायः नष्ट हो चुके थे। ईरान-देश मातो अर्याचार, असत्य और दंपती ही कीला-भूमि बन गया था, सब खोग दुखी थे। उनको सुमारा दिखलानेवाला कोई न था। अवस्थाकी गायत्रामें कहा गया है कि उस समय पृथ्वी माताने गौंका स्वरूप धारणकर ईश्वरके दरवारमें आकर पुकार मचायी कि 'भगवन् ! सुझपर कैमे-कैमे संकट आ रहे हैं, सुझको कैमे-कैमे दुःख फेलने पड़ते हैं, मैं क्यों पैदा की गयी ? आज सुझे बचानेवाला कोई नज़र नहीं आता। मेरा उद्धार करे गेमे किसी वीर-का दर्शन कराइये, जिससे मेरे दुःखोंका नाश हो ।' यह सुनकर जगत्कर्त्ताने पृथ्वीको धीरज दिया और कहा कि 'मैं यह काम ज्ञान्युत्तमको सौंप दूँगा और वही तेरा उद्धार करेगा ।'

* 'भगो' शब्दका मूल अर्थ सहृदयके 'कर्त्ति' शब्दसे मिछता-जुलता है। इन्हे हम महापे कह सकते हैं।

इसके कुछ ही दिनों बाद ईरानके रए (रघ) नामक शहरमें राजवंशी कुटुम्बके एक सदगुणी और सुशिलित पुरुष पोउरुशस्पके घर एक तुत्र पैदा हुआ। पोउरुशस्प वही विहान् और सकाचारी थे। उनका मन सदा ईश्वरभक्तिमें छागा रहता। उनकी पत्नी दोनदो (दुग्धोवा) भी उन्हीं-जैसी थीं। पति-पत्नीमें प्रगाढ़ प्रेम था और उनका मन ईश्वर-सेवामें सदा लगा रहता था।

इस बालकके पैदा होनेके पूर्व ही अस्याचारी बादशाह और सरदारोंको अशुभ शकुन होने लगे। उन्हें मालूम हो गया कि पोउरुशस्पका बालक हमारे नाशके लिये ही जन्मेगा। इसलिये वे पहलेसे ही उसके विनाशकी युक्तियाँ सोचने लगे। इस बातकी सूचना मिलते ही पोउरुशस्पने तुरन्त ही अपनी गर्भवती पत्नीको उसके नैहर रए शहरमें भेज दिया। गर्भस्थ बालकका तेज इतना प्रभावशाली था कि वह माताके उदरमें ही दीखता था। ये-ज्यों जन्म-समय निकट आता गया, ये-ही-त्यों माता दोगदोका शरीर अधिक तेजस्वी और प्रकाशमय होता गया।

जन्मके समय बालकके मुखपर हँसी छिटक रही थी, मातो वह दिव्यधारमसे अनन्त आनन्दको अपने साथ ही काया ही। पोउरुशस्पने उसका नाम स्पितम रखा। कारण, इस नामके एक वही वीर पुरुष उनके कुटुम्बमें ही चुके थे। बास्यावस्थामें इस बालकके नाशके लिये उन्होंने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु 'आको राजै साइर्याँ मार

मकै नाहि कोय' इसके अनुसार उसका कोई एक बाल भी बाँका न कर सका। कहा जाता है कि एक बार इस बालक-को जलती हुई आगमें ढाल दिया गया था परन्तु अभिस्यं बुझ गयी। एक बार इसको बांधोंके झुरड़में फेंक दिया गया, परन्तु उन हिसक पशुओंके जबडे ही जकड़ गये। एक बार इसको घोबोंकी टापोंसे रौंदे जानेके लिये घोबोंके समूहमें रख दिया गया परन्तु एक बड़ा सफेद घोड़ा उसके ऊपर खड़ा हो गया और बालकको अपने पैरोंके बीचमें लेकर उसे बचा लिया। स्पितमकी उम्र ज्यां-ज्यां बढ़ती गयी, त्यों-ही-त्यों पौउत्सास्पका हर्ष भी बढ़ता गया। उनको अपने इस बालकमेंल भावी पैगम्बरके चिह्न स्पष्ट दिखायी देने लगे। इसलिये उसको पढ़ानेका भार उन्होंने अपने ही ऊपर ले लिया। बालकको ईश्वर-भक्तिकी ओर लानेवाले उसके पिता ही थे। उम समय ईरानी पन्द्रह वर्षकी उम्रमें युवक समझे जाकर गृहस्थाप्रमी बन जाते थे। परन्तु स्पितमने इसी उम्रमें बनकी राह ली। वह मनुष्यमात्रकी सेवाके उड़ेश्यमें संसार, धर-वार, कुदुम्ब-औंच भूमिकाएँ लोककर प्रकाश्वत बनवासी हो शान्त मनने अपने हृदयको ईश्वरमें लगा देनेका प्रयत्न करते लगे। इस महाभारत-तपश्चर्यमें उन्होंने लगभग पन्द्रह वर्ष बिताये।

ईश्वरका कोई सेवक जब मनुष्य-जनिके उदारके लिये तप करता है, तब दुष्ट शक्तियों उनने ही जीरके साथ उसका तप भंग करनेकी चंदा किया करती है। जिम-प्रकार भगवान् बुद्धकी तपस्याको रोकनेके लिये असुर मार अपनी सारी सेना लेकर पहुंचा था, जिसप्रकार ईसाको ललचानेके लिये शैतानने उनको सारे पृथ्वीके साम्राज्यका लोभ दिखाया था, उसी प्रकार स्पितमकी तपस्याके समय भी दुष्ट-शक्तियोंके सरकार अहेरेमन ने उनपर हमला किया। अनेक प्रकारके लालच और भय दिखलाये, कहा कि 'सारी पृथ्वीका साम्राज्य ले ले, ईश्वरमें क्या रक्खा है?' परन्तु इन्हियाँ न तो लोमें आये और न भयमिट हुए। उन्होंने अहेरेमन से स्पष्ट कह दिया कि 'चाहे मेरे प्राण निकल जायें, शरीरकी इक्कियाँ अलग-अलग होकर गिर पड़ें, पर मैं ईश्वरकी आराधना (माइवयन्नी) कर्मी नहीं छोड़ूँगा।' यह उसके सुनकर दुष्ट अहेरेमन निराश होकर अपने स्थान—गाद आहंकारमें

* स्पितम अपने भाई-बहनोंमें सरके 'विचक्षे' थे।

भग गया। अब स्पितम सिद्धि प्राप्तकर अपनी तपश्चर्या पूरी कर ज्ञान्युश्च-नामसे प्रकट हुए। ज्ञान्युश्चका अर्थ सुनहरी (जर्य=हरित) रोशनी (उत्तरक्ष) बाला होता है। उनके अन्दरमें ईश्वरका प्रकाश पद-पदपर निकलता था, इसलिये उनको यह नाम प्राप्त हुआ।

समृद्धून् ज्ञान और परम ज्ञानित प्राप्तकर अब वह अपने कर्तव्य-पालनके लिये पूर्णतया तैयार हो गये और बनवास ढोड़कर वापिस पुनः धर आ गये। इस समय उनकी अवस्था अनुभान तीस वर्षकी थी। जवानीका पूरा जोश था, हृदयमें साहस था और थी ईश्वरमें अदिग श्रद्धा। धर लौटने ही उन्होंने अपना सन्देश सुनाना शुरू कर दिया। सन्देश कुछ नया तो था नहीं, वही सनातन सत्य, वही सचिदानन्दमूरुप ईश्वरकी आराधना और वही मानव-मेवा, जिसका सब देशोंमें, सभी कालमें अनेकों महा गुरुओंद्वारा समय-समयपर उपदेश दिया जा चुका है। इस सनातन सत्यको बीच-बीचमें लोत भूल जाते हैं, इसीमें बाराधार देश-कालके अनुसार शब्दोंमें उसे कहता पड़ता है।

अशो ज्ञान्युश्चका सन्देश सबमें पहले माननेवाले उनके चर्चेरे भाई अद्यत्योग्राह थे। इस पहले शिष्यने जीवनपर्यन्त उनके साथ रहकर उनकी अनेकों सेवाएँ की। पैगम्बरको अब समयपर डम्पित करनेवाले, उनके संकटोंमें हिस्सा बैठानेवाले, उनकी आशा और निराशाके भारीदार वदुन वर्षोंतक केवल यह मनुष्यामाह ही है। संमानने आरम्भमें हम नये पैगम्बरकी कोई कद नहीं की। उनमें ईश्वरी शक्ति थी परन्तु दुनियाँकी और्जों-पर उम शक्तिकी कोई स्पष्ट अलक नहीं पड़ी। धर्म-संस्थापकके सम्बन्धमें प्रायः ऐसा ही हुआ करता है। उनका पहला सन्देश ग्रहण करनेवाले प्रायः साधारण मनुष्य ही हुआ करते हैं। आगे चलकर जब अधिकार-सम्पद और संसारकी नजरमें बढ़-याए आदमी उसकी सहायता करते हैं तभी उम धर्मका प्रसार होता है। इसी प्रकार ज्ञान्युश्च भी वर्षोंतक फिरते रहे, परन्तु किसीने उनका पक्ष नहीं लिया। उनकी वही इच्छा थी कि स्वदेश (पश्चिम ईरान) में ही उनका कार्य सक्षम हो परन्तु ऐसा नहीं हुआ और अन्तमें ठेठ पर्व बल्कि

उप धारुमें 'उद्धर' बनता है। इस धारुका अर्थ है 'प्रकाश करना' मरुक्षतमें उषा अर्दि शब्द ही धारुमें बनते हैं।

(बत्ती, Bactria) के बादशाह वीश्वास्प (गुश्वास्प) ने उनका स्वागतकर सन्देश स्वीकार किया । वीश्वास्पके साथ ही उसके दो प्रसिद्ध वज्रीर आमास्प और फ्रश्मोहन भी जरथुइत्रके लिये बन गये ।

इसके बाद नये जूर्योश्ती-धर्मका विश्वार थे लेगें होने लगा । इसनेपर भी धर्मके लिये वीश्वास्पको कई बार बड़ी कठिनाइयाँ होली पड़ीं । अन्तमें सत्यकी जय हुई, तुष्टोंका पराजय हुआ और एक बार फिर पृथ्वीमाता-परमे पापका भार चढ़कर शान्ति और सत्यका राज्य स्थापित हुआ । अशो जरथुइत्र ख्यात इस विजयको देख सके और अपना कार्य भलीभांति पूरकर उम्मी उम्मी उम्मी आपने देखाया गिया ।

जरथुइत्रके काल-निर्णयका भार विद्वानोंपर छोड़कर इम यहाँ यही देखना चाहते हैं कि इन महागुरुओंमें सनुष्यको मुनिका कौन-सा मार्ग बतलाया और इनके आनेसे पहले यहाँ किस धर्मका प्रचार था ?

प्राचीन कालमें एक प्रजा अपनेको आर्य कहती थी । उसको इस नामका बड़ा अभिमान था । अनार्य नाम नीच-से-नीच गिना जाता था । वह आर्य प्रजा सत्य एवियामें स्वास्कर पासीरके पहाड़ोंमें बसती थी और एक^{**} ही धर्मका पालन करती थी तथा एक ही भाषा बोलती थी । इस प्रजाके लोग ईश्वर-रचित विष्य तत्वोंकी — सूर्य, अग्नि, चंद्र, वायु, जल आदिकी आराधना करते और उन देवताओंकी प्रशंसाके स्तोत्र बनाते तथा गाते । तथापि उन्हें इस बातका भलीभांति ज्ञान था कि ईश्वर एक है । वे उस ईश्वरको 'अहुर' के नाममें पुकारते[†] । वे इस बातको भी जानते थे कि सब एक ही है ।

"कं सद्ग्रीवं बहुपा बदनित
अनिं यमं मातृशिवानमाहुः ॥

(सत्य एक ही है, विद्वान् उसे नाना प्रकारसे कहते हैं, उसे अग्नि, यम अथवा वायु कहते हैं ।) उपनिषद्दोमें 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि शब्द बार-बार आते हैं ।

उन लोगोंके भाव और आदर्श बहुत उच्च थे । वे अपना जीवन साध्यगीये बिताते थे परन्तु ईश्वर-भक्तिमें विद्येष मन रखते थे । उनके जीवनका मुख्य आदर्श वेदके

* वेदके एक मन्त्रमें 'अमुरः प्रिता नः' (अमुर इमारा प्रिता) ये शब्द बहुगंक लिये आते हैं ।

'अत' शब्दमें समाया हुआ है । यही शब्द अवस्तामें 'अत' के रूपमें मिलता है, जिसका अर्थ विश्वाल 'अत' जैसा ही होता है । परवर्ती कालमें हिन्दू-शास्त्रोंने धर्म शब्दका जो अर्थ किया है, वोहोंने जिसको 'धर्म', मुसल्मानोंने इस्लाम, ईसाने Righteousness कहा है, यह अत या अत भी बही है ।

इसके सिवा उन लोगोंमें उस समय भी तीन मुख्य वर्ग ब्राह्मण, ऋत्रिय और वैद्य (अवस्तामें—आश्रव, रथएस्तार और वास्त्रय) माने जाते थे और उनका उपनयन-संस्कार होता तभी वे द्विज (दुषारा जन्मे हुए) कहलाते थे । पारसियोंमें इस संस्कारको 'नवजीत' (नया जन्म) आज भी कहते हैं । यह नया जन्म अर्थात् धर्म-संघमें जन्म प्राचीन कालमें जी और पुरुष दोनोंका ही होता था । आज भी हिन्दू उस समय जनेऊ और मेलखाड़ा धारण करते हैं तथा सिरपर शिखा रखते हैं एवं पारसी सुद्रेश और कुस्ती धारण करते हैं तथा सिरपर टोपी रखते हैं ।

इस आदर्शको माननेवाली और इस सनातन-धर्मका पालन करनेवाली यह आर्य-प्रजा सवियोंतक एक ही बनी रही । फिर पता नहीं क्यों उसके दो भाग हो गये । शायद कोई धार्मिक मतभेद रहा होगा । इससे किनते ही शब्दोंके अर्थ तो एक दूसरेमें सर्वथा विपरीत हो गये । हिन्दूओंने असुर (अहुर) शब्दका अर्थ उलटा किया तो इसके जबाबदें ईरानियोंने देव (दण्ड) शब्दका अर्थ 'कुरी शक्ति धारण करनेवाला' अर्थात् राक्षस कर दिया । इसी तरह अन्य किनते ही देवताओंका स्वरूप भी परल गया । हीरानियोंमें ईन्द्र, नास्त्र्य, विश्वाता इत्यादि कतिपय देवता वहे दानव माने गये, फिर भी सौम (हओम), स्वर-अथवा सूर्य (द्वेर-क्षेत्र, सुरशीद), मासू (चन्द्रमा—माओड़ह) मित्र (मिथ्र, मेहर), यम, (यिम) आदिके स्वरूप वही बने रहे । इसीके प्रकार उपनिषद, वर्णभेद आदिको भी दोनों भागोंने बनाये रखा ।

परन्तु समयके प्रवाहके साथ ही ईरानमें एक ईश्वरकी आराधना धीरे-धीरे कम होती गयी, ईश्वर (अहुर) की सर्वथेष्ठाको भूलकर लोग अधिकांशमें दूसरे देवताओंका पूजन करने लगे । इसीके साथ पुरातत 'अत' का मार्ग (अयहे पन्ताओ—ऋतस्य पन्थाः) भी विस्तृत हो गया । अम बूबने लगा, अरथात् शरियोंका और वह गया

और सप्तुर्घोपर हुःक्ष पढ़ने लगे। ऐसे ही समय जगत्में महान् गुरु भवतरित होकर प्रजाको विस्मृत मार्ग एक बार पुनः दिखाया करते हैं (देखिये गीता ४। १। ८)। अतएव हीरानी प्रजाके उद्धारके लिये, उन्हें फिर एक बार हैश्वर (अहुरमजद) की मत्ति सिखानेके लिये, फिर अबके मार्गपर चालानेके लिये महागुरु अरथुश्वरने जन्म भारण किया। उनका उपदेश प्रायः उन्हींके शब्दोंमें, हमारे दौभाग्यसे भाव भी सुरक्षित है। समयके प्रवाहमें पढ़कर हृषानी आर्य-प्रजाको दो बार भारी पराजयका सामना करना पड़ा। पहली बार हृसी सत्रके ३३। वर्ष पूर्व यूनानी सिकन्दर (Alexander) के हाथों और दूसरी बार ई० सन् ६५१ में अरबोद्वारा इन दोनों विद्वोंमें असली जर्योदीनी-धर्मके ग्रन्थोंका नाश किया गया। तो भी हैश्वर-कृष्णसे कुछ साहित्य इन्होंने (धर्म-गुरुओं) के कण्ठस्थ होनेके कारण बच ही गया। उसमें यज्ञ-क्रियाके मूल-मन्त्र भी हैं। उनके संग्रहको यज्ञ (यज्ञ) अथवा हैजस्त कहा जाता है। इसके बहार मन्त्रोंमें# अरथुश्वर वैगुम्बरका उपदेश भी शामिल है। इसे गाया कहते हैं। और ये सब मिलकर पाँच हैं। अहुनवहित (हा २८-३४), ऊश्तवहित (हा ४३-४६), स्पेन्त-महिन्यु (हा ४०-५०), बोद्ध-क्षय (हा ५।) और घाश्वितो-हित (हा २१।)। इन पाँचोंमें (खासकर गाया अद्वृवहित) में अशो अरथुश्वरका सन्देश है।

इनके उपदेशोंके तीन भाग हो सकते हैं—(१) हैश्वर-आराधना, (२) सत्-असदुका भेद, और (३) जीवन किसप्रकार विताना चाहिये इसका उपदेश।

हैश्वर एक है, वह सर्वोपरि है और वही चराचर जगत्का उत्पत्ति करनेवाला है, यह शिक्षा अरथुश्वरने फिरसे ताका कर दी। वह दादार (लटा) अहुरमजदके सिवा और कोई नहीं है। सारी सृष्टि दर्सीमें निकलती है, और उसीमें लय हो जाती है। यह उनका सन्देश या। अहुरमजदके सिवा और किसीकी आराधना नहीं करना, यह उनका फ्रमान है। अहुरमजद निराकार होनेमें उनकी उपासना एक ही प्रकारमें की जा सकती है। वह आराधना यह है कि उनके जो बड़े-बड़े खास गुण हैं

* ये मन्त्र पारासियोंमें 'हा' के नाममें प्रसिद्ध हैं इन्हीं ७२ 'हा' के सारक्तस्प इमारी कुसीं ७२ उनके तारोंमें बनायी जाती है।

उनका स्मरण और मनन करना। जरुरुश्वरने भगवान्के देसे छः मुख्य गुण बताकर्ये हैं। (१) अप, (२) बोद्ध-मनो, (३) क्षय-वहर्यं। (४) स्पेन्त-आमदिति, (५) हृउवनात् और (६) अमृततात्। वोछेसे इन्हीं गुणोंको 'देवता' अथवा फरिशता बना दिया गया है। और ये अमेपा-स्पेन्ताऽ (अमशास्पद) के नाममें प्रसिद्ध हैं।

अथ (ऋत्)—हैश्वरका यह गुण प्राचीन कालसे ही प्रसिद्ध है। विश्वमें जो कुछ भी हो रहा है वह केवल अथके कारण ही है। यही 'धर्मचक्र' भगवान् बुद्धने भी समझाया था। अथके ही कारण स्वं अहुरमजद (हैश्वर) अपने स्थानपर स्थित है। सारे संसारकी भित्ति अथपर ही निर्भर है। मृष्टि-रचनाके समय हैश्वरकी जो हृष्टा थी, जिसके अनुसार यह सब उसने रचा, जो इस स्थावर-जंगमका हैतुरुप है वह अथ ही है। दूसरी प्रकारमें तेवें तो हैश्वरकी इस हृष्टाके पूर्ण करनेमें, हैश्वरकी इस रचनामें सहायता होनेमें इन्हें जो कुछ आचरण करना चाहिये, वह भी अथ ही है। हैश्वरेष्ठाका अनुसरणकर, उसके नियमोंका पालनकर, मृष्टिकर्ममें सहायक बनना यही अपार्थ है। अहुरमजद इसी कारणमें अपने पदपर विराजित है और मनुष्य भी यही प्रार्थना करते हैं कि 'सर्वात्मनं अथको लेकर, सर्वं प्रेरेष अथको लेकर, (हे अहुर !) इस तेरा दर्शन करें, इस तेरे पास पहुँचें और तेरे अन्दर समा जायें।'

परन्तु इसप्रकारकी गृह फिलोसफीमें पूर्ण अथका रूप सर्वसाधारणकी समझमें नहीं आता। उनके लिये इसका स्मरण और मनन करना बहुत कठिन होता है। इसीलिये पैरागवरने धर्मके चिद्वत्वरूप आत्मा (आतश्-अभिं) का स्वीकार किया और आतश्को अपका बाह्य स्वरूप माना। आतश्को इसप्रकार माननेके दो कारण हैं, एक तो यह कि आतश् जिस वस्तुका स्पर्श करता है उसको अपने जैसा ही बना देता है और दूसरा यह कि अभिंकी लगपट सदा ऊपरको ही रहती है। हृसी कारणमें अश्वोहित-योंको आतश्-परस्त (अभिं-पूजक) माना जाता है और वे अथ-वहित (अरदिवेष्ट) आतश्के फरिशता कहलाते हैं।

* इस नामका अथ पर्वत अमर (शक्तियाँ, होता है।

† मुमलमान इसीको इस्लाम कहते हैं।

‡ अथ वहित, अथ ऊपरत, दोसाम व्या, पर्वत व्या अन्याम, इमेम व्या इस्म।—होशवाम।

बोहु-मनो—(भला मन) यह ईश्वरका दृसरा गुण है। ईश्वरका मन भला ही होता है। उसकी उत्तम की हुई सब चीजें भी भली ही होती हैं। मनुष्यको अचके मार्गपर जानेमें बोहु-मनो (बहमन) फरिश्ता मदद करता है। संकटके समय केवल यही हमारी रक्षा कर सकता है। भले मनका एक स्वरूप प्रेम है और वह प्रेमसिर्फ मनुष्योंके प्रति ही नहीं, समस्त जीवोंकी ओर उसकी धारा बहनी आहिये। इसी कारण बोहु-मनो (बहमन) अमशास्पद गौ-पशुओंका रखवाल गोपाल माना जाता है। गाय-पशुओंका पालन करनेमें, उनको भरपेट चारा-चानी देनेमें, उनकी हिंसक प्राणियोंमें रक्षा करनेमें इसें बहमनका आशीर्वाद प्राप्त होता है। आज भी पारसी मांसाहारी होनेपर भी हर मर्हानेकी दृसरी तारीख (बहमन रोज) को मांस नहीं खाते और कुछ लोग तो बहमन (११ चं.) महीनेके तीसों दिन मांसका ध्याग करते हैं। बहमनके आशीर्वादमें मनुष्यका मन शुद्ध होता है और उसे अयका मांग भलीभाँति सूझने लगता है तथा उसके ज्ञानकी वृद्धि होती है।

शथ-वर्ण्य—(शहेरवर) यह ईश्वरके प्रभुत्वका सूचक है। ईश्वर विश्वके प्रभु हैं, सबपर एकचक-मता-धारी अद्विनी न्यामी हैं। शहेरवर अमशास्पद ईश्वरकी अपार, अनन्त शक्तिका साराक है। वह शक्ति जिस मनुष्यपर उत्तरी है वह मनुष्य कार्यदक्ष हो जाता है, ईश्वरका साथी बन जाता है। और लोककल्याणके कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है। शहेरवर इमारे इस गृह्यूल भुवनमें धातु और धनके सरदार (स्वामी) है। क्योंकि इस निम्न संसारमें यही धर्मानुयायीका स्वरूप मानी जाती है।

स्पेन्ट-आर्मेंटि—(अपेनिन्दारमद) का मूल अर्थ पवित्र सद्बुद्धि होता है। और यह धर्मपर एकनिष्ठ श्रद्धा और अहुर (ईश्वर) के प्रति अनन्य अनिभाव प्रदर्शित करती है। धर्मकी अधिष्ठात्री यही अमशास्पद मानी जाती है। प्रत्येक ज़र्योइनी नवजोत होनेपर इसीकी धारणमें जाता है। यही अमशास्पद धरतीमाता हमारा भार वहन करने-वाली गृह्योपर अधिकार रखती है। जब कोई ज्ञानोद्योगी

* इन छ: अमशास्पदोंमें पहले तीन नर-जाति-सूचक और दूसरे तीन नारं-जाति-के हैं। ज्ञानोद्योगी-धर्ममें खून-पुरुषका ज़रा भी भेद नहीं है, उसका यह भी एक प्रमाण है।

देहस्थाग करता है तब वह इसी स्पेन्ट-आर्मेंटि की गोदमें जाकर सोता है ॥ ।

हऊर्वर्नात्—(खोरदाद) यह अहुरमजदकी सम्पूर्ण-ताका सूचक है। ईश्वर सब प्रकारसे पूर्ण है और उसकी सम्पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक जीव प्रयत्नवान् है। यह अमशास्पद जलकी अधिकारिणी है। इसके साथ अमृतान् (अमरदाद) अमशास्पदका नाम सदा युक्त किया जाता है। अमरदाद ईश्वरका अमरत्व दर्शाता है और मनुष्यको मरुयुभयमें दूर करता है। यह अमशास्पद बनपतिके साथ सम्बन्धित है।

इन छ: अमशास्पद और सातवें अहुरमजद अर्थात् इसप्रकारके पद्गुण-सम्पूर्ण ईश्वरकी आशाधना करना और ज़र्युद्धने ईरानी प्रजाको सिखाया और आत्मा (अविन) का अपने धर्मका विद्वान्प्र भानकर, उसे परम पवित्र तत्व समझकर। उसकी रक्षा करनेकी ईरानी प्रजाको आज्ञा दी।

इन छ: अमशास्पदके अतिरिक्त ज़र्युद्धने एक और भी शक्तिका वर्णन किया है और अमशास्पदोंकी भाँति उसको भी दैती श्वान देकर भानो देवताकी ही उपमा दी है। वह ख्यात्योप (सरोज) यजद (फरिश्ता) है। ख्यात्योप जात्य लु (श्रु) धानुसे बना है, जिसका अर्थ प्रायः सम्कृत-के 'शुश्रूषा' जैसा ही होता है। मनुष्यमें यह सर्वोत्तम गुण माना जाता है। ईश्वरकी भक्ति, उसके नियमोंमें अदिग श्रद्धा और उसकी शुश्रूषा (सेवा) —सरोज हृन सबका सूचक है। गाथामें यजदोंमें सिर्फ इसीका ही नाम मिलता है। मनुष्यको जब यह प्राप्त होता है तभी वह मुक्तिके मार्गपर आस्त हो सकता है। एक स्थानपर

* मृत ग्रन्थके दलमपर चढ़ानेके बाद वहार उपस्थित मनोग (स्पेन्ट-आर्मेंटि) को नमस्कार करके भनवा जायेग।

† इसी कारण पारसी मृत देहको जलाने नहीं, क्योंकि मुर्दें स्वर्णमें आत्म अपवित्र हो जाता है, उस शवको भूमिमें नहीं गाहा जाता और जलमें भी नहीं फेका जा सकता। इसमा वाँथकर उसमें शवको सुला रख देते हैं। वह पक्षां उमका भक्षण कर जाते हैं। हिंदुओं सूत्यके तापसे माफ होकर अन्तमें धूल बनकर दस्माके अन्दरके कुर्में गिर पड़ती है।

‡ यजद अर्थात् पृजनाय (यज् धानुसे)। यजदोंका स्थान अमशास्पदसे छुला नाचा है।

जाग्रुद्धत्र स्वयं प्रार्थना करते हैं कि 'हे मजदा ! तू जिसको चाहता है उसके पास सरोश, बहुमन (भला मन) के साथ मिलकर जाता है ॥' अर्थात् तेरी हृषा होती है तभी मनुष्यमें तेरी सेवा करनेकी हृषा उत्पन्न होती है और उसका मन भला बन जाता है ।

गाथामें अहुरमजदके अतिरिक्त इन सार्वों (उँच: अमरास्पद और एक सरोश) के नाम मिलते हैं, परन्तु अरनें देवताओंमेंसे किसीका नाम नहीं मिलता । इसमें यही सार निकलता है कि जरथुइत्रने अहरकी और उनके छः मुख्य गुणोंकी ही स्मृति की है एवं मनुष्यजनिके लिये सरोश (शुश्रेष्ठा) की आवश्यकता दिखलायी है । गाथाके इन नार्मोंको उनके अमरी अर्थमें लेनेमें लेखका अर्थ म्पष्ट समझमें आ जाता है । तो भी कई जगह इन गुणोंको 'आलंकारिकरीति' से (Allegorically) फरिश्ता भाना गया है । गाथामें सर्वमें महान् उपदेश सदसच्चती उत्पत्तिविषयक है । इस उपदेशमें जरथोइती-धर्मकी गुड़ फिलॉसफी समाचारी हुई है । गाथामें यह शिक्षा म्पष्ट शब्दोंमें दी गयी है कि सृष्टिके प्रारम्भमें अहुरमजदने दो दैवी शक्तियोंको (महान्-मिनो) उत्पन्न किया । ये दोनों शक्तियाँ सदा ही एक दूसरेकी विरोधिनी हैं । जब ये दो शक्तियाँ मिलीं, तब हन्होनें सृष्टिका कार्य सकल करनेके लिये, प्रथम जीवन और अ-जीवनको उत्पन्न किया । † इन दोनों भीनोंके नाम स्पेन्तो-महान् (स्पेनामीनो) अर्थात् 'पवित्र शक्ति' और अंग्रो-महान् (अहरेमन) अर्थात् 'बुरी शक्ति' हैं । इन दोनों शक्तियोंके मिलनेमें ही सृष्टिकी उत्पत्ति हो सकती है । बन्नुतः यह बुरी शक्ति भी ईश्वरका ही एक रूप है । अगर यह न हो तो इस भलेको (पवित्रको) पहचान ही न सके । जिसप्रकार हिन्दू-सांख्यवादमें प्रकृति और पुरुष साथ मिलकर सृष्टि रचने हैं वैसे ही अंग्रो-महान् और स्पेन्तो-महान् दोनोंने मिलकर यह सब उत्पन्न किया है । परन्तु अन्तमें ये अंग्रो-महान्की ही हार है । इसारा आस्या इस न्यूल लोकमें उत्तर आया, इसलिये इनमें ही अंशमें हम अंग्रो-महान्के वशमें हो गये । परन्तु इसारे अनन्दर दैवी अंश भी हैं । स्पेन्तो-महान् भी हमको उत्पन्न करनेमें सहायता करता है और इसारे क्षमत्य है कि घोरे-घीरे इसारे अनन्दर

* 'कम् ना मन्त्रा' यह मन्त्र दिनमें अनक बार पढ़ा जाता है ।

† गाथा अहुमवहति ।

स्पेन्तो-महान्का विकास होकर अन्तमें वह पूर्णरूपसे प्रकट हो जाय ।

एक इष्टेसे अंग्रो-महान् आभासमात्र (मायाकृप) है । वह सिर्फ अ-जीवन ही पैदा करता है । वह केवल अभावरूप (Negation) है तो भी हमको वह सर्व-सा भासता है । इस अज्ञान-अधिकारके भिटांते ही स्पेन्तो-महान्का तेज पूर्णरूपसे शिलमलाने लगता है । जैसे तेजके साथ आया भी होती है, वैसे ही स्पेन्तो-महान्के साथ अंग्रो-महान् भी रहता है । जबतक हमलोग आयामें रहते हैं तबतक तेजको नहीं देख सकते और अन्धकारमें गोता खाते रहते हैं, परन्तु यह याद रहे कि आया स्वयं कोई स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं है ।

इस गहरी फिलॉसफीके कारण ज़रथोइती-धर्मको अनेकों यूरोपियन विद्वान् एक प्रकारका द्वैतवाद (Dualism) कहते हैं, परन्तु वे इस मूल तस्वको भूल जाते हैं कि इन युगल शक्तियोंको उत्पन्न करनेवाला अहुरमजद तो एक और अद्वितीय ही है । फिर ज़रथोइती-धर्म शुद्ध 'अद्वैतवाद' नहीं तो क्या है ?

यहाँतक तो विद्वानोंके कामकी फिलॉसफीका धर्म दृष्टा हुआ । साधारण मनुष्य सो इन सारी वार्तामें केवल हैक्षराधना ही समझ सकता है और हैक्षरके छः गुणोंकी स्मृति करने-करते उनको फरिश्ताकी उपमा देंदेता है । अंग्रो-महान् भयानक है, उसमें दूर रहना चाहिये, यो विचारकर बालक ज्यों अन्धकारमें दरसा हैं यों ही वह उसमें दूर भागता है । अग्रो ज़रथुइत्रके धर्ममें यदि केवल इतनी ही वात होती तो उस धर्मका द्वैतना अधिक प्रचार नहीं हो सकता था । इस धर्मका खास इम्प्रेस तो उनका बतलाया हुआ जीवन विनानेका मार्ग है और इसी कारण हजारों वर्ष बीत आनेपर भी आज लाखों आदमी भक्ति और प्रेमके साथ उनके पवित्र नामका स्मरण कर रहे हैं ।

धर्ममें तीन प्रकारके मार्ग हो सकते हैं;—ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और कर्ममार्ग । दूसरे शब्दोंमें हैक्षरके तीन प्रकारमें पहचाना जा सकता है—ज्ञानये, भक्तिये अथवा कर्मये । अवश्य ही जो महामार्गण हैक्षरके साथ एकत्रको प्राप्त हो गये हैं, जो भक्ति प्राप्त कर नुके हैं, उनमें तीनों शक्तियोंका एक ही साथ पूर्ण विकास देखा जाता है । परन्तु साधारण मनुष्योंके लिये अपनेमें जिस शक्तिकी अधिकता हो, उसीके अनुकूल मार्ग प्रहज करना चाहिये ।

जिसप्रकार किसी एक मनुष्यके लिये अमुक मार्ग विशेष उपयोगी सिद्ध होता है उसी प्रकार एक प्रजाके जीवनमें भी अमुक शक्ति अधिकांशमें प्रकट होती है और तब वह प्रजा उस अपने अनुकूल मार्गको स्थीकार करके ही विजयिनी होती है। इरानी प्रजा कमंशील थी और इसीलिये जर्युश्वके घर्ममें कर्ममार्गपर विशेष ओर दिया गया। आज भी पारसी-जाति उसी मार्गपर चल रही है।

अवस्थामें कहा गया है कि जब अहुरमजदने मृष्टिकी रसना की तब उसने 'अहुन-वहर्य' कलामका उच्चरण किया। जब अंग्रो-महन्यु जर्युश्वको मारने आया, तब उन्होंने उच्च व्वरमें यह मन्त्र पढ़ा, जिसमें डरकर अंग्रो-महन्यु वहाँमें भाग गया और उसके साथी अन्याश्य 'रएव' गण भी अन्यकारमें जा छिपे। यह 'अहुन-वहर्य' मन्त्र जर्योइनी-धर्ममें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इस मन्त्रके लिये यह कहा गया है कि अहुनेम-वहरीम तन्म पाइनि (अहन-वहर्य शरीरकी रक्षा करता है)। एक दमरे अल्प-पर लिखा है कि जो हम कलामको भलीभूति समझकर म्यष्ट रीतिये उचित व्वर और रागके सहित इसे गाना है उसको देष्ट दूरे अवस्थाके पाठका पुण्य होता है। सारांश यह कि हम कलामका रहस्य यहत ही गम्भीर माना जाता है। जर्योइनी-धर्ममें यह मन्त्र सबमें पवित्र और पावनकर्ता समझा जाता है। हमका एक यही कारण हो सकता है कि हममें जर्योइनी-धर्मका वास्तविक सत्त्व समाया है। और इसी समझको जर्युश्वका ऐगाम या सन्देश समझा जा सकता है। मात्राण मनुष्यकी इष्टिये भी हम हम कलामको समझें तो हमें सहज ही पना लग जायगा कि आजतक पारसी हम पुरानें-धर्मको क्यों पकड़े हुए हैं?

इस कलामका अर्थके निम्नलिखित है—

'यथा अह वृद्धों अथा रत्नश अपान्-नित् हन्ता;
घडहेउश दन्ता मनडहो प्रयोगननाम् अडहेउश
मड्डाः शश्मे म-ना अहुराऽ आ यिम् त्रिगुणो ददत्
षास्नारेम् ।'

अर्थ जैसे एक अहु (संसारका स्वामी) सर्वोत्तम (सबमें अधिक शक्ति और प्रभावशाली) (इस न्यूक लोकपर) होता है उसी प्रकार एक रत्न (महारमा अर्थ)

* इस मन्त्रके कम-से-कम २५ अनुवाद अग्न-भलग हो चुके हैं। यह अमुवाद तो मैं अपनी शक्तिके अनुसार कररहा हूँ।

(अपने) अथ (सत्य) (केवल) के कारण (सब सुवनो-मैं सर्वोत्तम है) ।

बहुमन अमशाव्यांद्रकी भेट उनके लिये है जो मृष्टिके स्वामी (अहुरमजद) के लिये कार्य कर रहे हैं !

अहुरकी शक्ति उस मनुष्यको प्राप्त होती है जो महायार्थियोंको (योग्य पात्रोंकी) सहायता देता है।

मन्त्रमें तीन पंक्तियाँ हैं, तीनोंका पृथक्-पृथक् अर्थ दिखाया गया है। पहली पंक्तिमें अहु और रत्नकी महत्त्व-की समानता की गयी है। अहु अर्थात् संसारका स्वामी, सारी पृथिवीपर जिसकी दुहाई फिरती हो ऐसा बादशाह। और रत्न अर्थात् महाज्ञानी धर्मोपदेशक अर्थि। अहु चाहे जितना बड़ा हो परन्तु रत्न का स्थान उसकी अपेक्षा कहीं ऊँचा है। अहु तो केवल अपने देशमें ही पूजित होता है परन्तु रत्न तो सारे भूमण्डलमें ही नहीं, श्वर्ग-लोकमें भी उच्च स्थानपर विराजता है। किस कारणमें? अपने अधिकी शान्तिके कारणमें। जो महारमा अपमें स्थित मृष्टिके रहस्यको समझ लेते हैं वे अपने ज्ञान-वन्दनमें प्राप्त तपोवलके द्वारा उच्च स्थान प्राप्त करते हैं। जिसप्रकार आयोवर्में और इसी प्रकार ईरानमें भी धर्मग्रन्थ (आश्वर) का स्थान राजामें ऊँचा गिना जाता था। अवस्थामें डेशके स्वामीकी अपेक्षा 'दम्तुरान दम्नुर' का ऊँचा ऊँचा माना गया है। इसमें उनका ब्रह्मवर्चस—दैवीनेज ही कारण है। जिसने अथ प्राप्त किया उसीको यह तेज भी मिलता है। और उसी उसका प्रभाव 'देशके पति' से भी अधिक होता है।

इसके बाद यह बतलाया गया है कि अष्टके मार्गपर चलनेवाले मनुष्यको क्या करना चाहिये? वह मनुष्य 'मृष्टिके स्वामीके लिये कार्य करता रहे।' अष्टका मार्ग ही अहुरका (ईश्वरका) नियम है और उस पथपर चलना ही अहुरमजदके मृष्टिकमें सहायता पहुँचाना है। ऐसा मनुष्य जो कुछ करता है वह सब ईश्वरको ही अर्पण करता है। उसके हाथमें जो कुछ भी कार्य होता है, सब मृष्टिके स्वामीके लिये ही होता है। भगवद्गीता कहाँमें पापको स्थान नहीं है क्योंकि ऐसा मनुष्य फलकी

* यत्कांति यद शाम यज्जुहांव ददासि यद ।

यत्पत्स्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(गीता १। २७)

आशा ही नहीं करता। वह सदा-सर्वदा ईश्वरमें निमग्न रहकर निष्काम कर्म करता रहता है।

इसका फल क्या होगा? 'बहमन अमशास्यं इर्थ्यात्' 'भला मन' और उसके प्राप्ति अर्थात् मनका शुद्ध हो जाना—निर्मल हो जाना। इससे हमारे मनका सारा पापरूपी कीचक भुलकर मन स्वच्छ हो जायगा और त्रिसप्तकार स्वच्छ दर्शणपर सूर्यका प्रतिविम्ब पड़ता है उसी प्रकार स्वच्छ मनपर ईश्वरका प्रतिविम्ब चमक उठेगा। ऐसा मनुष्य ईश्वरकी इच्छाको स्पष्ट समझ सकता है, उसका मन निर्विकारी हो जाता है और उसमें सार-असार, सर-असरका विवेक उत्पन्न हो जाता है एवं उसकी अनन्तर्हित नुल जाती है।

अन्तिम पंक्तिमें जो यह कहा गया है कि 'योग्य पात्रों' की सहायता करनेये उसे अहुरकी शक्ति प्राप्त होती है। पात्रका अर्थ है जिसके पास किसी वस्तुका अभाव हो। ऐसे पात्रकी अभिलेखित वस्तु यदि हमारे पास हो तो हमें उसके अवश्य ही वह देनी चाहिये और उसके अभावको मिटाना चाहिये। जिनके पास ईश्वर-प्रदत्त वस्तुएँ होती हैं उनको चाहिये छिननके पास उन वस्तुओंकी कमी हो उनको उनका हिस्सा है। किसीके पास अधार धन है, कोई विशाल ज्ञानमें सम्पद है, कोई शारीरिक बलमें पूर्ण है, किसीका धर्मबल अस्त्यन्त बढ़ा हुआ है। ऐसे लोग यदि ईश्वरमें पायी हुई हननी उनको अपने ही पास रख लें तो उसमें क्या लाभ हुआ? एक जगह पड़ा हुआ जल सब जाता है, उसमें कोई पह जाने है और एक स्थानपर हड्डी की हुंड खाद्य दुर्गन्ध और श्रीमारियों फैलाती है। परन्तु वही जल और खाद्य यदि उचित स्थानमें बॉट दी जाय तो उसमें अनाज पैदा होता है और प्रजाका अमित उपकार होता है। हृसी प्रकार ईश्वरने हमलोंको जो कुछ भी दिया है, बटोरकर रखनेके लिये नहीं परन्तु योग्य पात्रोंको देनेके लिये है।

हमलोंको एक जगह पढ़े तालाबके जलकी तरह न बनकर वहनी नदी बनना चाहिये। इसप्रकार हमलोंको देनेमें हमारी शक्ति, धन, ज्ञान, बल अथवा धर्म आदि कभी घटते नहीं, उल्टे बढ़ते हैं। ऐसे मनुष्योंको ईश्वर अधिकाधिक देता ही रहता है। और ये-उर्मों हमारी

* दुर्जियार्थी धन दौलत कान्चित घट भी जाय, परन्तु उसके दूलमें अहुरकी शक्ति (ईश्वरीय शक्ति) नो मिलती ही है। स्थूल

शक्ति बढ़ती है, ये-ही-स्यों हमारे हारा मनुष्य-सेवा भी अधिक होती है।

एक ही शब्दमें जर्योइती-धर्मका सार लिकाला जा सकता है, वह है—'परोपकार'। सच्चा जर्योइती वही है जो अपने लिये कुछ भी नहीं माँगता और प्रयेक कर्ममें दूसरोंकी भलाई देखता है। परोपकारका अर्थ है स्वार्थसे विपरीतता। यही अपके मार्गपर चलना है। इस महामन्त्र-को पूरा समझकर जो स्पष्टहरमें गाता है उसमें 'अंग्रे-महन्तु' हार जाता है। यह कहना क्या अतिशयोक्ति जिना जायगा?

ऐसा आदर्श-जीवन वितानेके लिये ईरानके महागुरुने मनुष्य जीतके लिये तीन ही आदेश दिये थे—हुमत (सुविचार), हुरुन (सुवचन) और हु-वर्षत (सुकर्म)। इन तीनोंमें सब धर्मोंके सब आदेश समाजाते हैं। मनसा, वाचा, कर्मणा कमी ऐसा कोई कार्य न करना जिसमें दूसरोंकी पीड़ा पहुँचे। इन तीनोंमें प्रथम स्थान सुविचार-का है, धर्ममें अपके मार्गपर जानेमें (निष्ठिति-मार्गमें) विचार ही सर्वोपरि है। मनमें कुकर्म करनेवाला पापी ही माना जाता है। इस मार्गमें पहली शुद्धि मनकी ही है। क्षौर एक ज्ञायोइतीमें जबतक हुमन न हो तबतक वह एक तंत्र भी आगे नहीं बढ़ा सकता।

हुरुनका अर्थ जर्युश्यने मनु भगवान्‌के समान ही किया है। सर्व वीलो, भीड़ वीलो, कभी मधुर भी शोलो, परन्तु अस्त्र भाषण न करो। असलो ईरानी मारे जगत्-में स्वत्याकारी माने जाने तो। श्रीक लोग जब आपसमें लड़ते सो न्याय करनेके लिये ईरानके शाहनशाहके समीप आते थे। ये-किंतु उनको ईरानी सर्व वचनपर पूरा विश्वास था।

हु-वर्षत है उपर्युक्त कर्म-मार्ग। जबतक ईरानमें जगत्‌की शोलन घटनी है परन्तु दिव्यधार्मकी सम्पत्ति बढ़ती ही रही है।

+ अष्टादशपुण्ये पूर्णास्य वचन द्वयम् ।

परोपकार, पूर्णाय पापाय पर्वाइनम् ॥

† कर्मेन्द्रियाणि भयम्य य आस्त मनसा सरन् ।

इन्द्रियाणां विमृद्धान्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

‡ मन्य पूर्णांप्रय पूर्णाक वृयात्मस्त्यमाप्नियम् ।

प्रियं च नाशं वृयात् पव धर्मः मनात्मनः ॥

(मनुस्मृति)

जरथुश्वर महागुरुकी शिक्षाके आदर्श जीवितथे, तबसक हृषाम-
की व्यजा दशों दिशाओंमें फरकती थी। कालचक्रके साथ-
साथ उन आदर्शोंकी विमृति होती गयी। प्रजाके नेता
परोपकार भूलकर स्वार्थी बनने लगे, बस, तभीसे वर्थोहर्ती
आर्थ-धर्मकी अवनति हुई, धर्मका इहस्य गया, जीव गया;
केवल कियाकर्मकारहका सूना ढाँचा रह गया। परिणाम-
स्वरूप जिस समय नवीन प्रकट हुए हजरत महम्मदके
इस्लाम-धर्मसे विप्रह हुआ तब जरथुश्वरी-धर्म हृषाममें नह-
प्राय हो गया। परन्तु फिर भी जिन कुछ हृदयोंमें पवित्र
अहूरमजदका वह पुराना आत्म (अभिः) प्रज्वलित रह
गया था, वे निहशाय होकर धर्मके किये अपने देश छोड़
'भारत मौसी' के शरणमें आये। वे पारसी पूर्वपुरुष अपने
साथ हृषामनशाह 'हृषामके पवित्र आत्म' को लेते आये। यह
आत्म पहले-पहल कब प्रज्वलित किया गया, इसकी तो
किसीको खबर नहीं है। पर हजारों वर्षोंतक वह पवित्र
व्याङ्का हृषाममें प्रकाशित रही और आज भी वही व्याङ्का
उद्यादके हृषामनशाहमें जल रही है और पारसियोंके हृद-
यस्य अन्तज्ञोति—'अहूरके पुत्र आत्म' को प्रज्वलित कर
रही है। यह आत्म जश्तक पारसीहृदयमें जलता रहेगा
तबतक जरथुश्वरका सन्देश जीवा रहेगा और जरथोहर्ती
जगत्के कहयाणार्थ कार्य करते रहेंगे।

पारसी इस भारत-भूमिमें सुखी है, सम्माननीय
स्थानको प्राप्त है, इनका दूसरी प्रजाभोक्ते साथ मित्रताका
सम्बन्ध बना है, इन सब बातोंका केवल यही एक कारण

है कि वे अभीतक अपने पैगम्बर—धर्मगुरुको भूले नहीं हैं।
अभी उनके अन्तःकरणमें अहूरका आत्म जल ही रहा है।
इस देशने पारसियोंको अपनाया और पारसियोंने भी इस
देशको अपना ही मान लिया है।

अब हृषाममें नहीं जागृति आ रही है। हृषामके सबे
सेवक फिर एक बार जरथुश्वरका सन्देश समझनेका प्रयत्न
कर रहे हैं। हृषामके नये शाहने अपना नाम रोकाशाह
पहेन्द्री रक्षा है और अपने पुत्रको शाहपुरका प्राचीन
नाम दिया है, यह बहुत अर्थसूचक समझा जाता है।

भविष्यके गर्भमें क्या है, इस बातको तो हृषर ही
जाने; परन्तु हृषाम विद्यासपूर्वक कहा जा सकता है कि अशो
जरथुश्वरने फिरमें आर्यप्रजामें सनातन-धर्म जागृत किया
था और हजारों वर्ष बीतनेपर भी आज उस धर्मका
असर स्पष्ट दिखलायी पड़ रहा है। जरथुश्वरका स्थान
जगत्का उदाहर करनेके लिये समय-समयपर प्रकट होने-
वाले महागुरुओंमें एक है और अन्तमें इमलोग यही
इच्छा करते हैं 'रतुओंके रतु' अशो जरथुश्वरका आशीर्वाद
सदा इस जगत्का मिलता रहे जिससे उनके फर्मान
(हुमत, हुरूत, हु-वृत्त) कभी विमृत न हों और
जिससे उनका जलाया हुआ आत्म अनन्त कालतक
जलता रहकर पृथ्वीसे अज्ञानके अन्धकारको दूरकर मनु-
व्यजातिको अहूरमजदकी (हृषरकी) प्राप्तिका एक ही
पथ-अपका पथ—द्रिष्टिला है।

मैं दास हूँ

तुम्हरी कहा अस्तुति करूँ मो पै कही न जाय ।
इतनी सक्ति न जीभको महिमा कहै बनाय ॥ १ ॥
किरणा करी अनाथपर तुम ही दीनानाथ ।
हाथ जोड़ माँगूँ यही मम सिर तुम्हरे हाथ ॥ २ ॥
आदि पुरुष परमात्मा तुम्हैं नवाऊँ माथ ।
चरनन पास निवास दे कीजै मोहिं सनाथ ॥ ३ ॥
तुम्हरी मक्ति न छोड़हूँ तन मन सिर क्यों न जाय ।
तुम साहिब मैं दास हूँ भलो बनो है दाथ ॥ ४ ॥

—चरनदासजी

* कुछ लोग यों मानते हैं कि जरथुश्वर यह आत्म स्वयं 'अहूरमजद' के पाससे जाये थे।

बौद्ध-धर्ममें ईश्वर

(केसक—काव्यतोथं प्रो० भीसौदृष्टिहंजी गौतम एम० ८०, पक० १०, एम० आर० ८० एम०)



आ

ज २५०० बर्षोंसे बौद्ध-धर्मकी छप्रच्छायामें अनेक मनुष्य जीवनके अन्तिम उच्चय प्राप्त करनेका उच्चोग कर रहे हैं । आज भी संसारके अनुभानतः एक तिहाई जन 'नमो बुद्धाय शुद्धाय' द्वी धूनमें अपनी जीवन-संसिद्धिको अनन्त महा-सागरमें मिलानेका अपीरथ प्रयत्न करते हैं । हिन्दू-दर्शनोंमें आज बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन समिलित कर लिये गये हैं और सनातनी हिन्दू 'बुद्ध' को भगवान्का अवतार माननेमें तनिक भी नहीं हिचकते; अधिक क्या, संसारका विद्वन्मरणक यतः परो नान्ति भगवान् बुद्धकी पवित्र जाग्रता और उनके उच्च उपदेशोंकी गुणावाहकता दिखाना विद्वासाका क्षक्षण समझता है ।

भगवान् गौतम बुद्धकी इतनी महत्ता होते हुए भी जब भावुकजन सुनते हैं कि बौद्ध-धर्म नास्तिक है, उसमें हैररवादका गन्ध नहीं है, वह शुद्ध कर्मकी भित्तिपर आन्तित है तो उनका चित्त खिल हो जाता है और वह सोचने लगते हैं कि वह धर्म ही क्या जिसमें ईश्वरको स्थान नहीं है? वह 'निर्वाण' कैसा जिसमें ब्रह्मानन्दका अनुभव नहीं है? वह 'मोक्ष' कैसा जिसमें कोरा शून्यवाद हो? वह जीवन कैसा जिसमें निरादाकी कर्मनाशा निरन्तर सुख और शान्तिका क्षय किया करती है? आशय यह है कि बौद्ध-धर्म एक धोखेकी दही मालूम होने लगता है और भावुक जनता उसे भयावह समझकर हरिनामके झाहाजपर चढ़कर भवसागरको पार करना चाहती है ।

इतना होते हुए भी यह प्रश्न उठता है कि यदि बौद्ध-धर्म सचमुच अनीश्वरवादी है तो इसको इतनी उच्चति क्यों हूई? जिस धर्ममें ईश्वरका प्रकाश नहीं है वह कर्मीका सब गया होता । अतः निश्चित है कि बौद्ध-धर्म वास्तवमें विलक्षण और विचित्र है । बौद्ध-धर्ममें ईश्वरका ठोल नहीं पीटा गया किन्तु यह भी नहीं कहा गया कि ईश्वर है नहीं । अपने भावको स्पष्ट करनेके लिये बौद्ध-धर्मके

उदय होनेके कारण और उसके वास्तविक सिद्धान्तपर दो-चार शब्द किसे जायेंगे और इस धर्मका हिन्दू-धर्मसे साहस्र्य दिखानेका भी प्रयत्न किया जायगा । इसके विकास-को दिखानेमें ईश्वरी कषपनाका भी उपक्रेता होगा । यह भी सिद्ध करनेका उच्चोग किया जायगा कि बौद्ध-धर्मको अनीश्वर-धर्म समझना अच्छा है । अस्तु ।

महाभारतकी अनेक शताव्दियोंके पश्चात् आर्य-धर्म बाह्याध्वरोंका अहु द्वारा हो गया था । उपनिषदोंके उच्च धर्मके नामपर अनेको अत्याचार और दुराचार होने लगे थे । अन्ध-विश्वासके ग्रन्थावातसे ज्ञानदीपक बुद्ध चक्षा था । पुजारी-वर्ग भावुक जनता को उल्लू बनाकर अपने स्वार्थकी सिद्धि कर रहा था । वास्तविक धर्म—निश्चय सर्व, मनुष्यता, दया, सौजन्य, करुणा आदि—प्रथा और रूढियोंके नीचे दबा था । ईश्वराद्वारिक जीवनमें इन गुणोंकी कुछ क्रिया-शीलता नहीं थी । समाज जर्जर हो गया था । राजनीति भवसाको नाहूं विवश समाजका पैशाचिक कारण देख रही थी । धर्मनीतिने अपना रंग बदल लिया था । अधर्मका अनर्थ हो रहा था । यही प्रतीत होता था कि समाज-वृक्ष उत्तर जायगा । अभिप्राय यह कि जैसे यूरोपमें ईस्टों ४१० से ८०० तक अन्धकारयुग (Dark ages) और जैसे यूरोपमें १३ वीं शताब्दीमें १६ वीं शताब्दीतक पोपलोका ताण्डव नृथ्य चल रहा था, लगभग वैसे ही विक्रमादित्य कोई ६०० वर्ष पूर्व भारतका दगा हो गयी थी । एक प्रकारमें यह लहर संसारध्यापिनी थी, किन्तु भारतमें धर्मको बलिदान करनेकी पूरी-परी संयारी हो गयी थी । उभी समय शाक्य मुनि मिदार्थ गीतमङ्ग अवनार हुआ । कपिलवस्मुके राजा शुद्धोदनके घरमें एक ज्योति उत्तर आयी जिसके प्रकाशमें पात्रणद्वारा निराकरण हुआ । गौतम बुद्धने उस समयके प्रचलित धर्ममें जीवन-सम्प्लाके हल करनेका साधन न पाया । वे घर-वालोंको छोड़कर उस 'चिन्तामणि' की स्थोर्जमें निकले जिसके प्राप्त हो जानेपर फिर चिन्ता न रह जाय । और तपस्याके पश्चात् उन्हें वह 'ज्योति' दिखायी पड़ी जिसमें 'निर्वाण' अथवा 'मुक्ति' मिल मर्करी है ।

बौद्धनका उद्देश्य 'निर्वाण,' 'मोक्ष' या 'मुक्ति' है ।

यों से समय-समयपर बौद्ध-सम्प्रदायमें निर्वाणका अर्थ भिज्ञ-भिज्ञ समझा है और यह निर्वाण यथापि सुने सौरपर हम इन्द्रियोंका 'ब्रह्मानन्द' नहीं तथापि वासना, आज्ञान आदि विषयोंकी ज्ञानाको बुझा देनेका ही नाम 'निर्वाण' है। अथवा यों समझिये कि सभी विषयोंमें नितान्त उपराम होनेपर एक अवस्थाविरोधका नाम 'निर्वाणावस्था' है और यह एक प्रकारका हमारा ब्रह्मानन्द ही है। व्यावहारिक सत्यका अनुभव होनेपर 'परमार्थ-सत्य' की खोल की जाती है। इसी परमार्थ-सत्यका अनुभव करना निर्वाण प्राप्त करना है। गौतम बुद्धकी इस खोजसे सभी दर्शन सहमत हैं। 'सर्वप्रपञ्चानामुपशमः' सभी प्रपञ्चोंका नाश करना ही 'निर्वाण' प्राप्त करना है। इस निर्वाणको बौद्ध-धर्मकी भिज्ञ-भिज्ञ शास्त्रोंने भिज्ञ-भिज्ञ स्पष्ट समझा है—जैसा उपर कहा गया है। निर्वाणके मुख्य दो भेद हैं—(१) उपतिष्ठोत्र (२) अनुपातिष्ठोत्र। निर्वाण प्राप्त होता है 'तृणोच्छेद' से। 'तृणोच्छेद' ही संक्षय-शास्त्रका 'वासना-राहित्य' है। संसारकी वासनाओंका अन्त होगा 'चारवारि आर्थसत्यानि' अर्थात् चार आर्थ-सत्योंके अनुभवसे। वे चार आर्थ-सत्य हैं—दुःख, समृद्धि, निरोध, प्रतिपत्ति। संसारमें दुःख-ही-दुःख है। यह जीवन दुःखान्तनाटक है। इस दुःखका उदय होता है 'जीवकी वासनामें'। इसका निरोध हो सकता है और इसकी प्रतिपत्ति 'आटांगि-मार्ग' और 'दशदील' आदिमें होती है। आटांगि-मार्ग है—सम्यक् इटि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्याधाम, सम्यक् भूति और सम्यक् समाधि। इस मार्गके वाधक हैं—(१) सत् कायदाइ, (२) विचिकित्सा (३) शीलहृत परामर्श, (४) काम, (५) प्रतिष्ठ, (६) रूपराग, (७) अरुपराग, (८) मान, (९) अद्वृत्य और (१०) अविद्या। इश निषेधारमक शिल्पाएँ हैं—

(१) प्राणासिपात, (२) आदसादान, (३) अव्रहाचर्य, (४) सृष्टिवाद, (५) पैदुन्य, (६) औदृत्य, (७) वृथा-प्रकाप, (८) लोभ, (९) द्वेष, (१०) विचिकित्सा। यही बौद्ध-धर्मकी सृष्टम क्रियारमक वातें हैं। वे व्यावहारिक हैं और मनुष्यको प्रकाशमें लाती हैं। प्रारम्भमें गौतम बुद्धने इसी 'सृष्टम' की भित्तिपर अपना 'धर्म' खबा किया था। यही सब्द और ठोस संसारव्यापी धर्म है। भगवान् बुद्धने 'अत्तवाद' अर्थात् 'आत्मवाद' की निष्का की थी।

इसे भी एक प्रकारका 'आसन्द' बताया था। बैन-धर्ममें कर्म भगवान्का रूप धारण करता है किन्तु बौद्ध-धर्ममें कर्म ही 'भगवान्' और 'आत्मा' दोनोंका रूप धारण करता है। उस समय इस 'कर्म' पर बल देनेकी आवश्यकता थी। भगवान् बुद्धने 'अत्तवाद' की निन्दा की थी परन्तु उनके शिष्योंको यह मिद करना पड़ा कि 'आत्मा' है या नहीं। इससे इन्हें भी दर्शनकी शरण लेनी पड़ी।

प्रथमतः : बुद्धने कहा था 'नह्यत्र सज्जन बहूनि नानामि।' यहुर्भु विकारके सत्य नहीं हैं। योद्देन्में निष्पत्ति सत्य हैं। उन्हींके अनुमार चलना चाहिये। उसीमें सज्जन प्रकाश मिलता है और जीवन सफल होता है। दर्शन-वाङ्मांको भी अपनेन्द्रियोंद्वारा दर्शनका 'मोह' रहता है। तर्क अप्रतिष्ठ है अतः दर्शन हानिकारक है। है तो यह ठीक, पर दर्शन बिना आन्तरिक ज्ञान होता भी नहीं। अनः गौतम बुद्धके शिष्योंमें दो वर्ग हो गये। पहले बौद्ध-धर्मके दो सम्प्रदाय हीनयान और महायान हुए। हीनयानमें भी दो वर्ग हो गये (१) वैभासिक और (२) सौनित्रिक। दूसे ही महायानमें दो वर्ग हुए—(१) योगाचार और (२) माध्यमिक। इन दर्शनोंके पदनेमें विदित होता है कि इनकी विचारशीली आर्थ-ग्रन्थोंपर आधारित है।

जब बौद्ध-धर्मको महायानरूप दिया गया उस समय बुद्धको 'भगवान्' का रूप दिया गया। महायान-सम्प्रदायमें तो ईश्वरवाद है ही। महायान-सम्प्रदायके आचार्य नागार्जुनके गुरु कृष्ण भगवान् कहे जाने हैं। यदि ये कृष्ण वहो वासुदेव श्रीकृष्ण हैं तो महायान पूर्णतया ईश्वरमय है; और भारतीय ईतिहासकी इस नवी सोजमें श्रीमद्गवतोत्ता संसारका धर्म-ग्रन्थ मिद हो जायगा। पुराने हीनयानमें भी भगवान् बुद्धका 'तुपितस्वर्ग' में रहना लिखा पाया जाता है। अशोकके समयके 'कथावतु' ग्रन्थमें इसका उल्लेख है। इसके वर्णनमें ईश्वर-कल्पना गमित है। यदि ईश्वर नहीं तो 'तुपितस्वर्ग' कैसा? भगवान् बुद्धने लोगोंको कर्मकी ओर प्रेरित करना चाहा अतः ईश्वरका विषय 'अन्याकरणीय' कहकर लोड़ दिया। पश्चात् महाराज कनिष्ठके समयमें आवश्यकतानुसार नागार्जुनने सारा महायान उपनिषद्पूर आधारित किया। नागार्जुनका गृह्यवाद श्रीशंकराचार्यका 'ब्रह्मवाद' ही है।

यदि भगवान् शंकर प्रश्नज्ञ बौद्ध हैं तो नागार्जुन भी प्रश्नज्ञ बेदान्ती हैं। योगेन्द्र यों समझिये कि बौद्ध-भत्त आर्य है, इनकी कियाएँ आर्य हैं। बेदने भी ईश्वरको 'नेति-नेति' कहा, गोतमने भी इन आध्यात्मिक प्रश्नोंको 'अन्याकरणीय' कहा। अतः यह निश्चय है कि बौद्ध-धर्म अनीश्वरवादी नहीं है। उसने सुकर्महारा 'निर्वाण' प्राप्त होना बताया था; किन्तु 'हीनयान' सम्प्रदायमें ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं आया। अतः जब धार्मिक विकासमें ईश्वर-की आवश्यकता आ परी तो कनिकके समयसे बौद्ध-धर्म-में महायान-काला चल पड़ी, जो महायान-धर्म हिन्दू-धर्मका एक रूपान्तरभाव है। इसमें योग, भगवद्गीति, उपासनाके साथ कर्मपर और दिया गया है।

बौद्ध-धर्मका पद्धर्षनके साथ अनेक बातोंमें साइरण्य है। सारे दर्शनोंका मूल हुःख है। उसका अन्त दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति ही है और यही मानव-जीवनका लक्ष्य है। सुकर्म ही मनुष्यकी मुक्तिके साथन हैं। कर्म, तुर्जन्म, मांसादिक जीवन, मोह-विचार ईत्यादि सभी बातोंमें बौद्ध-धर्षन हिन्दू-धर्षनसे मिलता-मुलता है। यह सन्ध्य है कि इसमें कर्मपर अत्यन्त अधिक बज दिया गया है। जिसे इस लोग 'अर्ह' 'भगवन्माया' भादि कहते हैं। उसीको बौद्ध लोग अपने कर्मका 'कलाप' समझते हैं।

एक छोटे-से लेखमें दर्शनकी अत्यन्त सूक्ष्म बातोंका विवेचन नहीं हो सकता, तथापि यह मानना पड़ेगा कि इसारे अनेक आचार्योंने बौद्ध-धर्षनकी अनेक बातोंका सम्बन्ध इसलिये किया है कि उन लोगोंने बौद्धोंके कोण्ठसक पहुँचनेका अवसर न पाया और अनेकोंने बात

वही कही जो बौद्ध कहते थे, किन्तु उक्टफेर कर।

तारपर्य यह कि बौद्ध-भत्त हिन्दू-धर्मका एक शिष्य है। इसमें कुछ पैरुक गुण हैं और कुछ अपने गुण भी हैं। उसने बड़ी उपति की है। इसमें हिन्दू-धर्म भी बढ़ा है, फलांशुका है। इसी बौद्ध-धर्मका बजा ईसाई-धर्म है और इसी ईसाई तथा मूसाई-धर्मके आधारपर ईस्काम-मज़ाहबकी इमारत उठायी गयी है। कोई माने अथवा न माने, ऐतिहासिक सत्य-का सूर्य अज्ञानकी काली घटासे विरकालतक छिप नहीं सकता। इसी सत्यके नाते इसमें बौद्ध-धर्मके वास्तविक रूपोंके जगत्के समाने रखना है। इस समय न तो इस पिछले बौद्धोंके असहित्य दम्भ तथा अज्ञानकी आलोचना करेंगे और न इस उन समालोचकोंका उत्तर देंगे जो नित्ते (Nietzsche) के साथ बौद्ध-धर्मकी यह समालोचना करते हैं कि इसने जीवनकी अमर-नेतिको मुरझा दिया है (Life is rejected)। अब समय आ गया है जब इस-लोग भगवान् बुद्धके वास्तविक उपदेशोंको समझकर उसे हिन्दू-धर्मका मजा अंग बना लें और मंसारके अन्य मर्तों-का उचित स्थान निश्चित करें। संमारके बौद्धोंका पवित्र देश भारत था, है, और रहेगा। उनके प्राचीन स्थानोंमें फिर उसी आर्य-धर्मका समवानुसार सुसंस्कार करना चाहिये। जब बौद्धोंका कर्म जग जायगा तो वही हिन्दू-धर्म-कथित श्रीकृष्ण भगवान्के कर्मयोगका रूप धारण करेगा।

बौद्धोंका मुख कर्म-बृह ईश्वरभावके असृत-जलमें लालहा उठेगा। तभी मध्ये ईश्वर-भक्ति होगी और अस्तर ज्ञानोदय होगा। इसीमें भारत और मंसारका कल्पाण भ्रुव है।

भजन करो

एक घड़ीका मोल ना, दिनका कहा बस्तान।
सहजो ताहि न सोइये, बिना भजन भगवान् ॥ १ ॥
बैठे लेटे चालते जान पान अग्नीहार।
जहाँ तहाँ सुभिरन करै सहजो हिये निहार ॥ २ ॥
सहजो भज हरिनामकूँ तजो जगतसुँ नेह।
अपना तो कोइ है नहीं अपनी सरगी न देह ॥ ३ ॥

— सहजोबाई

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें परमेश्वर

(लक्ष्मी-दाशनिकपञ्चानन वृषदर्घनाचायं न्यायवैशेषिकशास्त्रों पं० ऋक्षुष्णवृषभाष्यार्थ स्वामिनारायण)

सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पः सर्वकर्मफलप्रदः ।

अन्तर्यामी सर्वशक्तिसेवितः परमेश्वरः ॥

(सत्संगिजीवन)

परमेश्वर सर्वज्ञ है, ब्रह्मलोक, ईश्वर-सुहि, जीव-मृत्यु तथा माया इन सबके स्वरूप, स्वभाव आदिका ज्ञाता है।

'यः सर्वज्ञः स सर्वविद्' (श्रुति)

और—

'अपहृतपापां विजगो विमृत्युविंशाको विजिवित्सोऽपिपापः सत्यसङ्कल्पः सत्यकामः ।' (श्रुति)

वह पुण्यायुग्यरहित है, जरारहित है, निष्प त है, शोक-मंसर्ग-शून्य है, अमर है, बुद्धा-नृषा-रहित है और मरणसङ्कृप्त है।

'यो देवति युगपत्सवे प्रत्यक्षेण सदा स्वतः'

उस परमात्माको सब पदार्थोंका नित्य प्रत्यक्ष-ज्ञान है तथा वह सर्व प्राणियोंको कर्म-फल देनेवाला है। वह अन्तर्यामी है—

'स भास्मा अन्तर्याम्यमृतः ।' (श्रुति)

'सर्वेष्यं चाह हृदि सीलिविषः ॥' (गीता)

सबके हृदयमें वह परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामीमूर्खपसे विराजामात्र है।

'सर्ववैवाऽन्तितः शक्यात्यर्थतिरिक्तः स्वतः रितः ।'

नियन्ता कालमायादेः सर्वकारणकारणम् ॥'

(सत्संगिजीवन)

वह परमात्मा अन्तर्यामीस्वरूपसे सर्व पदार्थोंमें अन्यथा-व्यापक है। वह व्यापक होता हुआ भी अतिरिक्त द्वितीय सविदान-न्दाशनात्रययुक्त साकारस्वरूपसे अनन्तकोटि सुख ब्रह्मपुरुषोंके हृषिगोचर है।

'योऽप्नौ तिष्ठत्त्वादन्तरः ।' 'अक्षरात्परतः परः ।' 'यस्तमसि तिष्ठत्तमसोऽन्तरः—यः स्वमक्षेम्मो रमते सः सर्वस्वः ।'

वह परमेश्वर मायातीत अक्षर-त्रहमें रहता हुआ भी उससे पर—मिथ है, वह विराटादि ईश्वरोंमें पर है। वह मायामें प्रवेश करके रहता हुआ भी मायासे पर है एवं

अपनेमें भक्तिवाले सुख पुरुषोंके साथ सेवा लेकरा है। भगवान् ने कहा है—

मस्ताक्षरमतीतोऽहमध्यरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेद च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (गीता)

सबको अपने उदारमें रखनेवाली माया तथा अक्षर-ब्रह्म हन दोनोंमें मैं पर हूँ, इसलिये वेदोंमें तथा लोकमें—जीवलोकमें, ईश्वरलोकमें, ब्रह्मलोकमें सर्वत्र मैं पुरुषोत्तम भगवान्, कहलाता हूँ।

'भृतः परतर नान्यत् किंविदस्ति धनंजय'

हे धनंजय ! मेरेसे पर कोई भी नहीं है।

'शुद्ध महाविमूत्ताऽऽल्यं परे ब्रह्मणि शन्दते ।'

मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणं ॥'

(विष्णुपुराण)

शुद्ध महाविभूतिसंज्ञक परब्रह्म परमात्मा सर्वकारण-का कारण है, वही भगवान् शब्दमें व्यवहृत है, भगवान् शब्दका अर्थ है ऐश्वर्यवाला, जिसमें सर्वोत्तम ऐश्वर्योंकी पराकाशा हो, जिसके ऐश्वर्योंके समान तथा अधिक ऐश्वर्य अन्य किसीमें न हों, ऐसे ऐश्वर्ययुक्तका नाम भगवान् है। वह अक्षर ब्रह्मपर्यन्त सबका स्वामी है।

'ब्रैद्यशर्माणां पराकाष्ठा स नारायणः परमेश्वरः पर ब्रह्म-ऽश्वरातीतः पुरुषोत्तमः सर्वस्वामी'

—जिसमें अनवधिकाशिशय समग्र ऐश्वर्योंकी सीमा है वह नारायण, परमेश्वर, परब्रह्म, अक्षरातीत, पुरुषोत्तम, स्वामिनारायण, परमात्मा हृष्यादि नामोंसे सारणीय, भजनीय, वन्दनीय, उपासनीय है। वह चिदचिदात्मक शरीरवान् द्वोनेसे सविशेष शरीरी है तथा सर्व भगवदवतारोंका कारण है। वह परमेश्वर पौर्व प्रकारसे व्यवस्थित है—यथा 'पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अच्ची !'

परस्वरूप वह है जो अक्षरधाम संज्ञक ब्रह्मलोकमें अनन्त सुख पुरुषोंको दिव्य साकारस्वरूपसे दर्शन दे रहे हैं, वह मुकिदशा है।

व्यूहस्वरूप वह है जो कि वासुदेव, संकरेण, प्रथम, अविलम्बस्वरूपसे प्रस्थान हैं।

विभवस्वरूप वह है जो कि किसी एक ऐश्वर्य तथा विशेष शक्तिसहित प्रकट होते हैं, उसमें भी मुख्य, गौण, पूर्ण, अंश, आवेश इत्यादि भेद हैं।

मुख्य अवतार—‘दिव्यस्वरूपसे अक्षमात् प्रकट होने-वाले नृसिंहादि’।

गौण अवतार—‘नियत कार्यके क्षिये प्रकट होनेवाले विष्णु आदि’।

पूर्ण अवतार—‘अनेक कलाओंसे परिपूर्ण श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्रादि’।

अंश अवतार—‘किसी एक कलाविशेषसे छोबमें प्रवेश करके प्रकट होनेवाले’।

आवेश अवतार—‘जिसमें स्वयं ईश्वर प्रवेश करके प्रकट हुए हों।’

अन्तर्यामीस्वरूप वह है जो सबके द्वयमें विराजमान है।

अर्चांस्वरूप=मूर्ति—प्रतिमास्वरूपसे भक्तोंकी भावनाके अनुसार शुभ मन्दिरादिमें विराजमान हैं।

इन पाँच स्वरूपोंमें स्वूह तथा विभव ये दोनों श्रीकृष्ण-परमात्माके स्वरूप हैं और ईश्वर जो कि विराट्, नारायण, प्रशानपुरुष, महापुरुष, प्रकृतिपुरुष, महाविष्णु आदि हैं उनके द्वारा विभावातारस्वरूपसे प्रकट होते हैं। और परब्रह्म परमात्मा—परस्वरूपसे ब्रह्मलोकमें—अन्तर्यामीस्वरूपसे सर्वत्र और अर्चांस्वरूपसे मन्दिरोंमें विराजमान हैं। परमेश्वर तथा उनके अवतार विभूति-ऐश्वर्य-शक्ति-दिव्यकृत्याण्यगुण आदि उपनिषदों तथा शास्त्रोंमें सिद्ध हैं। उनकी ऐकान्तिक भक्तिसे भोग्य होता है। वह परमात्मा निरतिशय सर्वज्ञताका बोगरूप है। पूर्णनन्द है, सब अवतारोंका कारणभूत है, सर्व विभूतियोंका स्वामी है, सर्व सुख आनन्दका समुद्ररूप है स्वतः परिपूर्ण है, सर्वनियन्ता सर्वाधार है, सर्वसाक्षी तथा सबका उपास्य मूर्ति है, सर्वरसमय अखण्डमूर्ति है, सर्व-सुन्दरता, लावण्यता, कल्पणादिका भवद्वार है। इस उत्कृष्ट भूतोंके प्रक्षाण्डमें रहे हुए जो लीकज्ञात तथा ब्रह्मगडमें वाहर और हिरण्यमयकोश—प्रकृतिके उदरके भीतर रहनेवाले विराजादि, इन सबका स्वामी अक्षरश्वर

गुशातीतानन्दमूर्ति है और उसका स्वामी परब्रह्म परमात्मा है।

श्रीसामिनारायणमतमें—ईश्वर तथा परमेश्वर भिन्न वस्तु हैं, यथा—

देहवये विराङ्गादौ व्यायोत्पत्तिस्थितिक्षयान् ।

करोति जगतां यन् बहुतो ज्ञेय ईश्वरः ॥

विराट्, स्वामी, अव्याकृत—इन शरीरोंमें रहकर जो ब्रह्माशङ्क आदिके उत्पत्ति, पालन तथा क्षयको करता है वह जीव तथा देवोंकी अपेक्षासे बहुश है—वही ईश्वर है। ईश्वरोंको मायाकी उपाधि है। मायाके पार अक्षर ब्रह्मलोक है, उस अक्षर ब्रह्मके स्वामी परमेश्वर परब्रह्म हैं। कोई उनके चांगीस अवतार कहते हैं और कोई उनतालीस कहते हैं; उन सबमेंमें—

‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्त्वैव भजाभ्यहम् ।’

—जो जिम स्वरूपको भजता है उसको उसकी भावना-अनुसार भगवान् फल-सिद्धि देते हैं, इस बाध्यमें, ‘परमेश्वरके किसी भी स्वरूपके भजनेवालेका कश्याण तथा उसे भगवान्की प्राप्ति होती है।’

जहाँ-जहाँ परब्रह्म पुहोत्तम श्रीसामिनारायण परमात्मा है तथा जहाँ-जहाँ अक्षर ब्रह्मको जानेवाले सम्पुर्ण हैं, वही सर्व ऐश्वर्य, विभूति, विजय तथा अविचल नीति है।

— — — — —

राम

जो तुम तोरी राम मैं नहि तोरूँ ।
तुमसों तोरि कथन सों जोरूँ ॥१॥
तोरथ वरत न करूँ अदेसा ।
तुम्हरे चरनकमल के भरोसा ॥२॥
जह-जहैं जाउँ तुम्हारी पूजा ।
तुम-सा देव और नहि दुजा ॥३॥
मैं अपनो मन हरि सों जोरयो ।
हरिसों जोरि सथन सों तोरथो ॥४॥
सबही पहर तुम्हारी आसा ।
मन कम घचन कहै दैदासा ॥५॥

—रैदासजी

प्रकृतिवादकी ब्रुटियाँ ॥

(लेखक—प्रोफेसर श्रीभीखनलालजी आच्रेय पम० प०, डॉ० लिंग)



ज्ञानके नाना विभागोंमें प्रकृतिवादकी उपयोगिता चाहे जितनी हो, वार्षिक सिद्धान्तकी हैसियत-में प्रकृतिवाद बहुत ही ब्रुटिमय है। यह कहना असंगत न होगा कि दर्शन-जगत्-में प्रकृतिवादका म्यान बहुत ही नीचा है। इस युगमें तो प्रायः वह कोई म्यान ही नहीं रखता। कुछ विद्वानोंका कहना तो यह है कि प्रकृतिवाद बहुत दिन हुए मर चुका और अब उसके पुनर्जीवनकी कोई सम्भावना ही नहीं है। प्रकृतिवादपर बहुत-में आशेष किये गये हैं। उनमेंमें कुद्रुका हम यहाँपर उल्लेख करते हैं।

१-मानसिक क्रियाँ प्राकृतिक अर्थात् आधिभौतिक क्रियाओं, गतियों अथवा स्पन्दनोंमें नितान्त ही भिज हैं। शरीर अथवा मनिक और मन एवं उनकी चेतन क्रियाँ भिन्न पदार्थ हैं। मनिक देशान्तर्गत है, मन देशान्तर्गत नहीं है, मन देशका द्रष्टा है। सारा देश मनका विषय है। मनिक वर्तमानकालमें इहनेवाली वस्तु है, किन्तु मन भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कालोंका द्रष्टा है। मनिकमें केवल प्राकृतिक स्पन्दन होते हैं और उनके भौतिक संस्कार (Impressions) ही रहते हैं। मनमें उन संस्कारोंके अर्थ समझनेकी शक्ति है। मनमें वस्तुओंके सम्बन्ध समझनेकी शक्ति भी है जो मनिकमें नहीं है। प्राकृत जगत्-में रूप, रस, गन्धादि गुणोंका तथा सुख-दुःखका अनुभव नहीं है। केवल क्रिया और स्पन्दन है। प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता एडिगटन साहबने ठोक कहा है कि यदि मनक, जगत्-में निकाल दिया जाय तो जगत् केवल प्राकृतिक शक्तियोंके स्पन्दनमध्यहूके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहेगा। चेतना चेतना है और प्राकृतिक स्पन्दन प्राकृतिक स्पन्दन है। एकका बूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेपर भी दोनों भिज हैं। चेतनाको किसी प्रकारका गति-सञ्चालन समझना या मनको प्राकृतिक पदार्थ कहना

* समान्य श्रीआच्रेयजीके लेखके दो भाग ये, पहले भागमें प्रकृतिवादका स्वरूप बतलाकर दूसरे में उसकी ब्रुटियाँ बतलायी गयी थीं। लेख बहुत बढ़ा होनेके कारण पहला भाग छोड़ दिया गया है। इससे इस अगले भागकी उपादेयतामें कोई कमां नहीं हुई है, अनेकों क्षमा करें। —सम्पादक

वैसा ही है जैसा कि बिल्लीको कुशा कहना या कालेको छाल कहना है। चेतना गति-सञ्चालनके कारण जागरित भले ही हो जाय या शरीर अथवा मस्तिकमें स्वरावी आनेमें मनकी क्रियाँ भले ही रुक जायें किन्तु गति-सञ्चालनमात्र मन अथवा चेतना नहीं हो सकते। दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध होनेपर भी दोनों एक नहीं हो सकते।

२-यह भी नहीं कहा जा सकता कि चेतना प्राकृतिक क्रिया-कलापका कार्य है। यदि प्रकृतिमें चेतनाके सभी गुण और सभी शक्तियाँ वर्तमान नहीं हैं तो यह चम्पकार इमरी समझमें कदापि नहीं आ सकता कि किस्प्रकार प्रकृतिमें चेतनाका उदय हो गया। और यदि प्रकृतिमें चेतनाके सभी गुण और शक्तियाँ किसी रूपमें सदैव ही वर्तमान रहती हैं तो प्रकृतिका अर्थ ही दूसरा हो जाता है। वह प्रकृतिवादियोंकी प्रकृति न रहकर एक जगदुष्पादक चेतनशक्ति (प्रभ) हो जाती है। ऐसा न मानना कार्य-कारण-सम्बन्धी नियमके प्रतिकूल होगा। कार्य कारणही-का रूपान्तर होता है, कोई नयी वस्तु नहीं होती।

३-यदि चेतनाको प्रकृतिमें भिज माना जाय और यह भी मान लिया जाय कि चेतनाकी प्रकृतिये उत्पत्ति होती है तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रकृतिये किसी अप्राकृत वस्तुकी उत्पत्ति हुई और वह अप्राकृतिक वस्तु प्राकृतिक जगत्में बाह्य पदार्थ है। समस्त विज्ञानको यह सिद्धान्त मान्य है कि जब किसी कारणमें किसी कार्यकी उत्पत्ति होती है तो कारणकी शक्तिका कार्यरूपमें परिणाम होता है अर्थात् वह शक्ति अब कारणरूपमें न रहकर कार्यरूपमें वर्तमान रहती है। यह सब मान लेनेमें विज्ञानके उस व्यापक सिद्धान्तका अपवाद होगा जो कि सब विज्ञानोंका आधारभूत है, कि संसारमें भौतिक शक्तिका परिमाण सीमित एवं नियम है। प्रकृतिसे चेतना पैदा होनेमें प्रकृतिकी कुछ शक्तिका हास अवश्य ही हो जायगा।

४-प्रकृतिवादियोंका कहना है कि मानसिक क्रियाँ

प्राकृतिक संघटनोंपर निर्भर होती है। कोई भी वाश्वभिक हस्त वातका प्रतिवाद नहीं करेगा किन्तु वो पदार्थोंमें हस्त सम्बन्धके होनेका यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि दोनोंमें कार्य-कारण-सम्बन्ध है, अथवा दोनों एक दूसरेको पैदा कर सकते हैं।

५—सृष्टिके इतिहासमें चेतनाके पैदा होने और नह होनेके विषयमें कुछ कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि इन महत्वपूर्ण घटनाओंका ज्ञान भी चेतनाद्वारा ही हो सकता है। चेतनाको अपनी उत्पत्ति और अपने नाशका अनुभव होना सर्वथा असम्भव और युक्तिहीन है। जेसस, ग्रीन आदि विद्वानोंकी यह सम्भति है कि चेतनाको सृष्टिके आदिकालमें ही वर्तमान होना माने बिना बहुत-सी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। किसी-न-किसी रूपमें चेतनाको आरम्भकालमें ही माने बिना सर्वथा अचेतन प्रकृतिमें उसका उदय होना मान लेना अपनी इन्हर्मिके ऊपर प्राकृतिक बुद्धिको बलिदान कर देना है। विकास-वादीके लिये भी चेतनाकी संवरण-शक्तिकी उपस्थितिकी अस्थन्त आवश्यकता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डगल माहबुने अपने लेखोंमें यह भलीभीति दिखलाया है कि सृष्टिमें, विशेषकर जीवन-सृष्टिमें, चेतनाकी प्रयोजनात्मक किया जारी और दिखलायी पड़ती है। बिना किसी प्रयोजनात्मक संवरण-शक्तिको माने विकासका रहस्य समझते ही नहीं आ सकता।

६—यदि प्राकृतिक पदार्थ परमाणुओं अथवा विद्युत-कणोंहारा संघटित हैं और उनके अनिरिक्त उनका दृष्टा कोई चेतन पदार्थ नहीं है तो यह कहना कि प्रकृतिके परमाणु अथवा विद्युतकण नाना नाम-रूप धारण करते हैं नितान्त ही निरर्थक है। विद्युतकणों अथवा परमाणुओंके इष्टिकोणमें यदि देखा जाय तो जगत्में परमाणुओं अथवा विद्युतकणोंके अनिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है। संघटनका अर्थ किसी चेतन दृष्टाहीके लिये हो सकता है, संघटित पदार्थोंके लिये नहीं। ऑक्सीजन और हायड्रोजनके विशेष अनुपातमें मिलनेमें पानी बन जानेका अर्थ यही है कि परमाणुओंका यह संघात कुछ चेतन प्रणियोंको जलरूपमें विश्वायी देता है। वामविकरूपमें तो जल ऑक्सीजन और हायड्रोजनके अनिरिक्त कोई बन्तु ही नहीं।

७—इसी प्रकार परिणाम अथवा रूपान्तरमें तबदीली भी बिना चेतन दृष्टाके निरर्थक उत्ति है। 'अ' का 'ब' में

परिणाम होना किसी चेतन दृष्टाहीके इष्टिकोणमें समझमें आ सकता है, 'अ' और 'ब' के इष्टिकोणसे नहीं। क्योंकि 'अ' जब 'ब' के रूपमें परिणत होता है तब 'अ' नहीं रहता और 'ब' का जबतक उदय नहीं होता तबतक 'ब' है ही नहीं। उसके लिये परिणाम निरर्थक है। यदि 'अ' और 'ब' दोनों नाम-रूपोंके अन्तर्गत अपरिणत और समानरूपसे रहनेवाला कोई प्रकृति-तत्त्व भी मान लिया जाय तो उसके इष्टिकोणमें भी तबदीली निरर्थक है। क्योंकि वह तो दोनों अवस्थाओंमें अपने अपरिणतरूपमें स्थित रहता है। अतः किसी चेतन दृष्टाहीके अनुभवमें परिणाम शब्द सार्थक है।

८—समुद्रयात्मक विकासवादीका कहना है कि पदार्थोंके संघटनमें आवश्यकीमें एकदम नये गुण उत्पन्न हो जाते हैं। चेतनाशक्ति भी शरीरमें उत्पन्न हुआ पुक ऐसा ही गुण है। इस विषयमें मैक्डगलने अपनी पुस्तक Modern Materialism and Emergent evolution में और मर आलिवर लॉजने अपनी पुस्तक Beyond physics में यह मिठ्ठा करनेकी चेष्टा की है और उनका कथन शीर्षक भी भालूम पढ़ना है कि जिन गुण-धर्मोंका आरम्भात्मक समुद्रय प्रकृतिवाली भानते हैं उनको अस्थन-रूपमें उपस्थित माने बिना समुद्रयात्मक विकासवाद समझमें नहीं आ सकता। कारणात्मक परिस्थिति, संगठन अथवा संयोग उन अस्थक वस्तुओं अथवा गुणोंके स्थल दोनेके निमित्त है। ये विद्वान् तो यहाँतक कहते हैं कि इन अस्थकरूपमें वर्तमान सर्वोके इयक करनेके निमित्त ही ये कारण उपस्थित होते हैं। और इस व्यक्तीकरण-क्रियामें किसी चेतन पदार्थका हाथ है। समुद्रयात्मक विकासवादका जन्मदाना लॉयड मॉर्गन (Lloyd Morgan) भी इसी विद्वान्तका पक्षपाती ज्ञात होता है।

९—इस बातके लिये कि जो वस्तु निराकार या अस्थक है, अथवा जो कोई जगह नहीं बेरही, वह अस्थ अथवा मत्ताहीन है, कोई भी व्यक्तिगत युक्ति नहीं दी जा सकती। भौमिक पदार्थोंके विषयमें यह भले ही कहा जाय कि वे कुछ-न-कुछ जगह अवश्य घेरेंगे। किन्तु मानसिक अथवा आध्यात्मिक तत्त्वोंके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती। मनोवैज्ञानिक अन्वेषणोंहारा यह सिद्ध हो चुका है कि एक मनुष्यके मानसिक विचार दूसरे मनुष्यके मनमें व्यक्त किये जा सकते हैं। तथा किसी भी देश और कालमें

संघटित मानविक घटना किसी दूसरे देशकालमें अपने यथार्थ स्थलपर्यामें अनुभव की जा सकती है। आधुनिक भौतिक विज्ञानके निष्कर्ष भी हमें स्थूल तथा संसाररण प्रकृतिवादसे दूर जाते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञानने संकल्पशक्ति और इच्छाशक्तिके अस्तित्वके पक्षमें हमारे क्षिये मार्ग स्थोक विद्या है। वैज्ञानिक परमाणुओंको अब विद्युतशक्तिको संभास सानने लगे हैं। और वे विद्युतशक्ति कोई स्थूल पदार्थ नहीं हैं, प्रत्युत किसी अभास शक्तिकी स्पन्दन-क्रियाएँ हैं। विज्ञान भी अब ऐसे कारणोंकी दरण लेने लगा गया है जिनके विषयमें उम्मोद कुछ भी ज्ञान नहीं है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिगटन महोदयने अपने प्रसिद्ध व्याख्यान 'On the Nature of the Physical World' (1928) में कहा है, 'कोई अज्ञात कारण किसी अज्ञात क्रिया-कलापमें प्रवृत्त है और इसके विषयमें कुछ भी नहीं कह सकते। हमें किसी ऐसे मुल्लतर्वका सामना करना पब रहा है जो भौतिक जगतके परेका पदार्थ है।' आधुनिक भौतिक विज्ञानके ये निष्कर्ष प्रकृतिवादको सदाके लिये सोखला कर देते हैं। भौतिक पदार्थोंकी परम सत्ता, देश और कालकी वास्तविकता, परमाणुओंका सर्वान्तरिक अस्तित्व तथा समस्त घटनाओंका नियोजन नियति नियन्त्रण, इन सबकी जड़ हिल गयी है।

१०-विभक्ता कारणात्मक क्रिया-कलाप एकदम प्रयोजनहीन क्रायापी नहीं कहा जा सकता। इस केवल संघटनाओंका क्रमशः अविभाव देखते हैं। उनके प्रयोजन इमारे इष्टिगोचर नहीं होते। उनके विषयमें इस केवल अनुभान ही कर सकते हैं। मनुर्योंको इस रेलकी ओर दौड़ते देखते हैं किन्तु वे क्यों दौड़ रहे हैं यह इमारे इष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार संसारकी घटनाओंको भी इस देखते हैं परन्तु उनका क्या प्रयोजन है यह इस कैसे जान सकते हैं? किसी कारणका न मिलना, उद्देश्य अथवा प्रयोजनका अदरय होना, उनकी सत्ताको अस्तीकार करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। अद्य तथा अदरयको असत्य कहना एक बड़ी भारी वैज्ञानिक भूल है। संसारकी घटनाओंमें एक प्रकारकी संवरण-क्रियाका वर्तमान होना इसका पर्याप्त प्रमाण है कि व्रात्यरद्यके अस्तस्तुष्टमें कोई

उद्देश्य-सिद्धि निहित है। जब प्रकृति उद्देश्यमय क्रिया कैसे कर सकती है यह बात बुद्धिमें नहीं आती। यह मान लेना कि किसी चरम चेतनाके प्रभावमें परमाणुओंके संघात किसी उद्देश्यके लिये बनते और विगते हैं किसी प्रकार युक्तिहीन नहीं है, क्योंकि हमारे जीवनमें उद्देश्य-पूर्ण क्रियाओंका होना इस बातका संकेत है कि विभूतिकी क्रिया, जिसके इस भी कार्य हैं, किसी अन्तिम उद्देश्यके लिये ही हो रही होगी।

११-प्रस्तेक दार्शनिक सिद्धान्तकी कस्टौटी प्रमाणावाद है। प्रकृतिको प्रमाणावादकी कस्टौटीपर कमनेसे उसका खोखलापन और भी न्यूट हो जाता है। यदि इस अपने अनुभवका विश्लेषण करें तो यह न्यूट मालम पड़ेगा कि कोई भी ज्ञान बिना ज्ञानाके नहीं हो सकता।

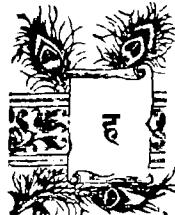
हमारा अनुभव दृष्टा और दृश्य दोनोंकी स्थितिकी माली देना है लेकिन प्रकृतिवादी जाता या दृष्टाको एक-मात्र भूलकर दृश्यके ही अनित्यका समर्थन करता है। दृष्टाके बिना दृश्यके अनित्यका कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। दृश्यका स्वरूप अधिकांशमें दृष्टाके ऊपर निर्भर है। जैसा कि विज्ञानवादियोंने सिद्ध कर दियाया है। दृश्यको ही अनुभवका एकमात्र उपकरण मान लेना किसी बल्कुके बहुत-में अंगोंमें एकहीको सब कुछ मान लेना है। फिर दृश्यमें भी प्रकृतिवादी मारे दृश्य जगत्मेंमें उसके एक अंग प्रकृतिस्वरूपको ही सत्य बन्ना मानते हैं। और अंगोंकी अवहेलना करके उनको असत्यप्राप्त ही समझ लेते हैं। प्रकृतिवादी दृश्य जगद्व्यापी गुणोंको दो भागोंमें विभक्त कर देते हैं। एक सुख्य दूसरा गौण। परिमाण-सम्बन्धी गुण-धर्मको वे सुख्य गुण कहते हैं और शब्द, रूप, रसादिको गौण कहते हैं। गौण-धर्मकी स्वतन्त्र सत्ताको अस्तीकार करते हुए वे वस्तुओंके सुख्य धर्मोंको ही सत्य मानते हैं। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। वह तथा सिद्धान्तपूर्ण और युक्तिसंगत कभी नहीं कहा जा सकता जो अनुभवप्राप्त किसी भी गौण-धर्मका नियेष करता है। प्रकृतिवादियोंके नियेष तो अगरय हैं। दृष्टाको सत्य जगत्में बाहर कर देना सबसे बड़ी दार्शनिक भूल है।

उपर्युक्त विचार-धारामें यह न्यूट हो जाता है कि प्रकृतिवाद युक्तिसंगत दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है।



विज्ञान और ईश्वरका अस्तित्व

(लेखक—श्रीगणेशजी एम० ए०, बी० पस-सी०)



मैं ईश्वरने बनाया या नहीं, सो तो ईश्वर ही जाने, पर यह निश्चित है कि प्रत्येक तत्त्ववेत्ताने अपने-अपने ईश्वरकी स्वयं रचना की है। पूर्वी अथवा पात्रात्मा दार्शनिकोंमें से किस दार्शनिकने ईश्वर-का कौन-सा रूप स्थिर किया है सो तो दर्शन-शास्त्रके दृष्टिहासोंमें भरा पड़ा है। यहाँ केवल यही देखना है कि

आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों तथा शुद्ध दार्शनिक तर्कों के आधारपर निष्पक्ष भावमें क्या कोई ऐसी सत्ता सिद्ध की जा सकती है कि जिसे इम सर्वश्रेष्ठ कहकर बन्दन कर सकें।

वैज्ञानिक आविष्कारोंमें यह बात अब निश्चित हो चुकी है कि समस्त व्यापारिका द्रव्य अविनाशी है। रसायन-शास्त्र (Chemistry) के अनुसार दृष्टि से ऊपर तत्त्वोंका पता छा चुका है, पृथ्वी तथा पृथ्वीपरके समस्त जड़ तथा जीवित द्रव्य इन्हीं तत्त्वोंके बने हैं। ग्राकाश-विच्छेद (Spectroscopic analysis) द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि आकाशके नक्षत्र-तारे आदि भी इन्हीं तत्त्वोंके बने हैं। ये समस्त तत्त्व स्वयं केवल दो तत्त्वोंके रूपान्तरभाव हैं—इन दो तत्त्वोंके ऋण विद्युत् (electrons) तथा धनविद्युत् (Protons) कहने हैं। विद्युत् तथा उष्णता आदि भिन्न-भिन्न शक्तियाँ (energy) भी इन्हीं दो तत्त्वोंके रूपान्तर हैं। अनुमान किया जाता है कि ये दो तत्त्व भी ईश्वर नामक एक आकाश-तत्त्वके भैंचर (whirlpools) मात्र हैं। इसप्रकार अनिम सिद्धान्त यही निकलता है कि समस्त व्यापारिका द्रव्य (matter and energy) अविनाशी है—न उसका कभी पूर्ण नाश हो सकता है और न यह दून्यमें बनाया जा सकता है। व्यापारिकोंसम्बन्धका माप, चाहे उसके कितने ही रूपान्तर हों, गणितकी दृष्टि से सदैव अयों-का-त्यों है।

‘नासते विद्यते मावो नामावो विद्यते सतः।’

—इस गीताके वाक्यमें भी ऊपरके सिद्धान्तका ही निष्पोद है। ‘सद्’ यह शब्द संस्कृतकी ‘अस्’ धातुमें बना है। ‘अस्’ का अर्थ है ‘होना’, इसप्रकार को कुछ ‘है’ उसे

सद् कहते हैं। उपर्युक्त नियमको ही सार्व ‘सत्कायंवाद’ के मामने पुकारता है। सद् (existence), यह जगतकी द्रव्य-सत्ताका प्रथम सिद्धान्त है।

द्रव्यके सिवा इस संसारमें यदे महत्वकी एक सत्ता और है जिसे चैतन्यता (awareness) अथवा चित्त (consciousness) कहते हैं। ‘मैं चैतन्य हूँ’ इसकी भावा कभी नहीं दृटी है। यह जीवित शरीर चाहे जैसी अवस्थामें रहे, पर रहता है सदैव चैतन्य। जाग्रत्-अवस्थामें चैतन्यताद्वारा ही सब अनुभव होते रहते हैं; स्वप्न-अवस्थामें भी सभ्यका अनुभव मुझे चैतन्यको ही होता है और निश्चाकी वह अवस्था जिसमें कोई स्वप्न नहीं दिखायी देता, उसका अनुभव भी मुझे ही होता है क्योंकि स्वप्न-विहीन निदा (सुषुप्ति) में ‘मैं सुखमें सोया अथवा दुःख-से सोया’—ऐसा अनुभव जागनेपर मुझे ही होता है। सुषुप्तिके ऐसे अनुभवकी जाग्रत्-अवस्थामें स्मृति ही सुषुप्ति-में चैतन्यताके अनिवार्यका प्रमाण है। मैं सुषुप्तिमें न होता तो मैं दुःख-से सोया अथवा सुख-से—ऐसा अनुभव ही मुझे जाग्रनमें कैसे होता ? तीव्र-में-तीव्र नशेमें अथवा क्लोरो-फार्मकी बेहोशीमें भी चैतन्यता रहती है क्योंकि रिफ्लेक्स (reflex actions) ऐसी अवस्थामें भी होते हैं। शरीर-की रक्तके लिये शरीरके किसी भी अंगमें जो हलचल होती है उसे रिफ्लेक्स कहते हैं जैसे आँखोंकी पुलकीके धास किसी भी वस्तुके आते ही पलकोंका इक्ष्वा न रहते हुए भी गिर जाना इत्यादि। सुषुप्ता काटकर मैंदकके मालिक्षको उसके शरीरकी शिराओंमें भिन्न कर देनेपर भी उसके किसी अंगमें तेजाव लगनेपर उसका इय उस तेजावकी जगहको रगड़ने लगता है—ऐसे रिफ्लेक्ससे यह सिद्ध होता है कि थोड़ी-बहुत चैतन्यता उसके पीछित अंग स्था हलचल करनेवाले अंगमें अवश्य है।

प्रथेक जीवित शरीरमें जन्ममें मृत्युपर्यन्त यह चेतनता बनी रहती है। शरीरके मृत्युद्वारा नाश होनेपर भी यह चेतन-सत्ता बनी ही रहती है, इसका सबमें पृष्ठ प्रमाण उन बालकोंका वृत्तान्त है जो स्वयं अपने मुखसे अपने पूर्ण-अन्ममका बर्णन करते हैं और जो बर्णन कुछ उदाहरणोंमें

खोजद्वारा सत्य भी प्रमाणित हुआ है। अगस्त सन् १९२० की (पूर्णसंक्षया ६१ बी) 'माधुरी' में वरेलीवाले जगदीह-चन्द्रका वृत्तान्त उन उदाहरणोंमें से एक है जिसका पूरा अनुसन्धान किया गया है और उस वाक्कका वर्णन ठीक पाया गया है। उदाहरण आइ कम हों, पर हैं के अवश्य, और सर्वये खोजियोंके लिये ये उदाहरण प्रकृतिके बे संकेत हैं जिनके द्वारा जगतके गुप्त रहन्योंकी ओर बे बढ़ सकते हैं। प्रकृतिके ऐसे संकेतोंको हम पहले अपवाद (Exceptions) कह देने हैं, पर आगे चलकर ये ही अपवाद साधारण सिद्धान्तका स्वरूप ले लेते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारोंके इतिहासमें यही बात इतन्ततः दीक्ष पदती है।

मूरुके पश्चात् सूखमदेहके कुदि-तत्त्वके साथ जिसमें कि सब संकारों तथा स्मृतियोंका अड्डा रहता है, चेतन्यता अथवा चिन्हियाँ, हमरे स्थूलदेहमें चली जाती है, इसमें यह सिद्ध होता है कि स्थूलदेहके नाशके समय 'चित्' का नाश नहीं होता, यह 'चित्' मनुष्य, पशु तथा कुछ प्रत्यक्ष जीवधारीमें स्थित है। अब देखना यह है कि क्या यह चित् जड़ द्रव्यमें भी मौजूद है?

हमें जड़-जगतका अनुभव होता है; हम ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा बाह्य पदार्थोंको अपनी चेतन्यतामें लाते हैं, इसमें यह सिद्ध होता है कि बाह्य पदार्थोंमें यह शक्ति है कि वे 'चित्' में सम्बन्ध कर सकें अथवा यों कहिये कि चित्में अड्डे में लें करनेकी शक्ति है। दो ही बातें ही सकती हैं—या तो चित्तमें कुछ जडताका गुण है या जड़में चित्का कुछ गुण है, नहीं तो यह असम्भव है कि चित् और जड़ ये दो विलक्षित भिन्न वस्तु आपसमें मेल कर सकें और चित्को जड़का ज्ञान हो सके। दो विलक्षित भिन्न सत्ताओं-में किसी प्रकारका भी मेल-मिलाप नहीं हो सकता; मेल-मिलापके लिये उनमें कुछ-न-कुछ समानता अवश्य चाहिये। चित्तमें जड़का कुछ गुण और जड़में चित्का कुछ गुण अनिवार्य है। बाह्य द्रव्यसत्तामें अवश्य चेतन्यता भी है। विद्यारण्यने पञ्चवर्षीमें इसी सिद्धान्तको यों कहा है कि—

'स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशउज्ज्वरुपतः'

अर्थात् चेतन्य-सत्ता स्वयं जगत् बन गयी। शंकरका अद्वेततत्त्व ही यहाँतक ढहर पाता है। सांख्यका 'प्रकृति पुरुष' देकार्टेके 'जड़ तथा चेतन' के समान बहुत पीछे रह जाता है।

५

इतना ही नहीं कि जड़ द्रव्यमें चित्का अंश है परन्तु जड़ द्रव्यमें ज्ञानेन्द्रियोंकी शक्ति भी व्याप्त है, क्योंकि उपरकी ही विचारधाराके अनुमार यह भी मानता होता कि जड़ द्रव्यमें ज्ञानेन्द्रियों भी होनी चाहिये, नहीं तो जड़ द्रव्यका ज्ञानेन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं हो सकता। गौतमके व्याप्तियाँ यह परम सिद्धान्त आज दिन वैज्ञानिक आविष्कारोंसे भी सिद्ध हो रहा है। श्री० जगदीशचन्द्र बोसने अपने (Artificial retina) नामक प्रन्थमें यह सिद्ध किया है कि नेत्र-शक्ति जड़-पदार्थोंमें भी मौजूद है। उन्होंने यह बताया है कि जीवित नेत्रोंमें भिन्न-भिन्न शक्तियाँ (उप्पत्ता, विषुन् आदि) से जो विकार होते हैं वे ही विकार उनके बनाये हुए कृत्रिम नेत्रमें भी होते हैं।

बहु उपर्युक्त सिद्धान्त सत्य है तो फिर 'मृतक देह' का क्या अर्थ है? मृतक देहमें चेतन्यता भी है, इन्द्रियोंकी शक्तियाँ भी हैं परन्तु उसमें जीवन-तत्त्व (Protoplasm) की वह अवश्या नहीं है, जिसमें उसमें जीवनके चिह्न विलायी पड़ें। जैसे विज्ञानी सब बगड़ हैं परन्तु विज्ञानके लैम्प (bulb) में ही उसका प्रकाश होता है, विगड़े हुए लैम्प (fused bulb) में उसका प्रकाश नहीं होता, वैसे ही चित् तथा इन्द्रिय-शक्तियाँ मृतक देहमें रहती हुई भी जीवन-तत्त्वके विगड़ ज्ञानेपर (stoppage of respiration in protoplasm) अपने आपको प्रकट (manifest) नहीं कर सकती। मृतक स्थूलदेहमें यदि सब कुछ विद्यमान हैं तो पुनर्जन्ममें उसमें निकलकर क्या चला गया? इस प्रश्नका उत्तर असंगत हाँ जानेसे छोड़ दिया जाता है। यहाँ केवल हृतना कह देना बस है कि सर्वव्यापी कुदि-तत्त्वमें 'अह' के सम्बन्धमें वैयक्तिकता आ जाती है और नये-नये संस्कारोंको लेकर सूक्ष्मदेहकी अपने आप रवता हो जाती है। इस वैयक्तिकताके कारण ही सूक्ष्मदेह एक स्थूलदेह-को छोड़कर पुनर्जन्ममें दूसरे स्थूलदेहमें चला जाता है। यदि आज 'विज्ञान' इनना बढ़ जावे कि किसी मृतक स्थूलदेहको जीवित कर दे तो उसमें अपने आप एक नूतन सूक्ष्मदेहकी रचनाका आरम्भ हो जायगा और यदि उसमें विकला हुआ सूक्ष्मदेह उसमें वापस लाया जा सके तो पूर्ववत् संस्कारोंवाला मनुष्य पुनः उठ बैठेगा। प्राचीन भारतीय 'धोग' में ऐसी शक्तिका वर्णन आता है।

इसप्रकार समस्त जगदमें जो द्रव्य व्याप्त है उसके दो

गुण सिद्ध हुए—एक तो सत् (existence) और दूसरा चित्(consciousness)। उस सत्ताका सीमरा गुण आनन्द (bliss) है। आनन्द आत्माका पृथक वह बल है जिसके आधारपर समस्त जीव-जगत् ठहरा दुखा है। शास्त्रकारोंने हीन प्रकारके दुःखोंका वर्णन किया है—आध्यात्मिक, आधिद्वयिक और आधिभौतिक। संसारमें संकटों-हजारों प्रकारके दुःख विद्यायी देते हैं। परन्तु यदि सुख-सद्गुण कोई पदार्थ न होता तो जीवमात्र प्रयत्नशील तथा आशाबान् विद्यायी न देते और क्षणमात्रमें समस्त जीवधारियोंका नाश हो जाता, जैसे कि एक नितान्त निराश मनुष्य आसम्भात कर लेता है। यदि हम सदा दुःखोंका ही ध्यान करें तो जीवन असम्भव हो जाये। सब दुःखोंके शीघ्रमें भी हीमें आनन्दका अनुभव होता ही रहता है। दुःख स्थायी नहीं है परन्तु आनन्द स्थायी है, क्योंकि तत्त्व-ज्ञानके पश्चात् आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है।

'तत्र को माहः क. शाकः पक्तवमनुपश्चत् ।।'

दुःखसे परम निष्पत्तिका नाम मोक्ष तथा परमानन्द है। अन्तर्दृष्टिसे अपने अन्दर स्वयं देखनेपर अपना स्वभाव परम आनन्दमय प्रतीत होता है। यही आनन्द जिसे हम जड़ द्रव्यकहते हैं उसमें भी है। जड़ द्रव्योंमें उत्तराच होनेवाले विषय-भीरोंको मनुष्य आनन्दके लिये ही करता है। दुःख प्राप्त होता है अनियामकता तथा अज्ञानमें। सुख-दुःखके अनुभवको जो सम्बन्ध-सम्बन्धी (Relative) मानते हैं वे ठांक हैं, पर उससे आगे और उसमें परे मनुष्य तथा जीवमात्रमें जो आनन्द-प्राप्तिकी समान हृच्छा है, वह सम्बन्ध-सम्बन्धी (Relative) नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थायी हृच्छा दुःख-प्राप्तिकी किसीको नहीं है। यह स्थायी आनन्द आत्माका अविनाशी गुण है।

राग-रागिनियाँ दुःखमें नहीं, वरं आनन्दमें निकला करती हैं। अभी हालमें ही डा० रमनने प्रयोगोंद्वारा सृष्टि-के समस्त द्रव-पदार्थों (Liquids) में राग-रागिनियाँ सिद्ध की हैं। प्रत्येक द्रव एक असुक प्रकारकी रागिनीको लगातार गा रहा है। यह इतनी ऊँची ध्वनि है कि मनुष्यके कान उसे नहीं सुन सकते; इसलिये डा० रमनने उस ध्वनिके बेग (Fitch) को घन्त्रोंद्वारा इसने नीचे उतार दिया है कि उसे अब कोई भी मनुष्य सुन सकता है। अलग-अलग द्रवोंकी भिन्न-भिन्न राग-रागिनियोंको पदानी हृत्यादि बाजो-

के साथ मिलाकर संगीतकी मञ्जिल जमानेमें भी वे हृत्य हुए हैं।

एक ही सत्ता अथवा तत्त्वमें उपर्युक्त प्रकारमें सत् (Existence), चित् (Consciousness) और आनन्द (Bliss) ये तीन सिद्धान्त मिले। पर ये कोई ऐसे गुण नहीं हैं जिनका अथग-अथग अस्तित्व सम्भव हो। संस्कृत-भाषामें तो इनकी सन्धि 'सचिदानन्द' करनेपर होती है परन्तु प्रकृतिमें ये तीनों विद्यापताएँ ऐसी मिली हैं कि उनकी सन्धिका तोड़ना अस्वभाविक मालूम होता है। 'मैं सचिदानन्दस्वरूप हूँ' इस बातका अनुभव मनुष्य-मात्रको रुग्णतार हो रहा है। 'मैं नहीं हूँ' अथवा 'मैं जड़ हूँ' अथवा 'मैं दुःखमय हूँ'—ये भावनाएँ ही स्वयं भयानक-सी मादृम होती हैं। मैं जो कुछ हूँ उसका प्रमाण मुझे प्रतिक्षय अपने आप हठात् मिल रहा है। जबमी रामतीर्थ-ने कहा है और ठीक कहा है कि 'मनुष्यमात्रको किसी स-किसी स्वरूपमें तथा अंशमें चापद्धसी (flattery) पसन्द दै इसका एकमात्र कारण केवल यही है कि मनुष्य स्वयं उन सभ गुणोंमें युक्त और शाहन्धाह है, अपने स्वरूपकी स्मृतिमें आनन्दका आना स्वभाविक है।'

अब यहाँ एक बड़ा कठिन प्रश्न यह उपर्युक्त होता है कि जड़ सर्वत्र एक ही तत्त्व सचिदानन्दस्वरूप ध्यास है तो द्रष्टा (Subject) और दृश्य (Object) ये दो भिन्न परिमितियाँ कैमें सम्भव हो सकती हैं? द्रष्टा सर्वदृश्यमें भिन्न ही रहेगा अन्यथा द्रष्टा और दृश्य ऐसे दो शब्द भी केवल शुद्ध अद्वैततत्त्वमें नहीं बन सकते। चित् (द्रष्टा) को जड़ (दृश्य) का ज्ञान हो इसके लिये जहाँ यह आवश्यक है कि दोनोंमें कुछ-न-कुछ समानता हो, वहाँ यह भी आवश्यक है कि द्रष्टा और दृश्य दोनोंमें कुछ-न-कुछ असमानता भी हो, नहीं तो दर्शनके सदृश कोई किया ही होना असम्भव है। प्रश्न यद्यपि कठिन है पर इसका उत्तर बिल्कुल सरक है।

सर्वव्यापी एक ही अविनाशी सचिदानन्दस्वरूप तत्त्वमें किसी भी कारणमें अथवा लीकामात्रमें अथवा स्वभावमें नामरूपादिपारा अनेकता प्रकट होती है, जैसे कि एक ही ईयरमें अण्डविषुद् (Electrons) तथा धन-विषुद् (Protons) ये दो तरहके भौतर हो जाते हैं अथवा जैसे समुद्रके जलके अन्दर झार्हे, उदूखे तथा भैंचर आदि होते हैं। इन जाना प्रकारके भेदोंमें एक इन्द्रियाम पेस्ता भी

हो जाता है जहाँ कि चित्रके चित्रात्मकी सम्भावना हो जाये। जैसे कि विद्युत् सब जगह ओतप्रोत भरी हुई है, पर वह बल्लभमें ही प्रकाशरूपमें प्रकट होती है, जैसे ही चित्र-सर्व-स्थलमें रहते हुए भी केवल एक अमुक प्रकारके इन्सज़ाम्समें ही दृष्टा बनता है। वह इन्सज़ाम् इसप्रकार है—जीवित स्थूल देह (जो जीवन-तत्त्व protoplasm में बनता है), इस स्थूल देहमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी शक्तियोंके प्रकटीकरणके लिये पाँच प्रकारकी स्थूल इन्द्रियाँ और तब इस स्थूल देहके अन्दर मन, बुद्धि और संस्कारोंको वैयक्तिकता देनेवाला 'अहं' तत्त्व। यह सब ही चुकनेपर एक अमुक शरीरके अन्दरके चिन् (Consciousness) में चैत्य (Awareness) होता है और उसमें द्रष्टाका नाम मिल जाता है और बाह्य-जगत् उसका इश्य बन जाता है।

यह सब कुछ होते हुए भी वह पूर्ण सचिदानन्दस्वरूप सत्त्व निर्विकार ही रहता है, क्योंकि उस तत्त्वमें कोई अन्दर नहीं आने पाता, जैसे कि सुवर्णके कई प्रकारके गहने बन जानेपर भी वह पूर्ण तत्त्व सुवर्ण-ही-सुवर्ण है। इस अर्थमें हम नामरूपात्मक जगत्सूक्ष्मी मिथ्या तथा भ्रम कह सकते हैं, अर्थात् एक तत्त्वके सिवा कुछ ही नहीं।

'अहं' एक पेसा नाम है कि जिसके हारा एक सर्व-व्यापी चिन्में श्वेतकता प्रकट हो जाती है। प्रत्येक शरीरमें रहनेवाला चित् 'अहं' से बँधकर अपनेको परिमित व्यक्ति-समझने लगता है। यह बात उस सर्वव्यापी चिन् (चिदाकाश या ब्रह्म) के महान् अंशके स्थान नहीं है जो कि देहोंमें बँधकर 'जीव' नहीं हो पाया है। वह चिदाकाश अहंकारमें अपरिमित होनेके कारण और प्रत्येक जीवमें तादात्म्यता (Continuity) के कारण समस्त जीवोंके अनुभवोंका ज्ञाता रहता है।

ईश्वरके अनित्यत्वके जितने प्रमाण दिये जाते हैं, उसमें तीन ही योग्य प्रमाण हैं, अर्थात् (१) कार्य-कारण भाव-मूलक (Cosmological), सत्त्वामूलक (Ontological) तथा प्रयोजनमूलक (Teleological)। कैर्ड (Caird) ने इन प्रमाणोंका विस्तारसे वर्णन किया है। कैर्डने इन प्रमाणोंका लूप स्पष्टन किया है।

(१) कार्य-कारण-भाव-मूलक प्रमाण

समूर्ज संसार कार्य है इसलिये इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। 'उस कारणका भी कोई कारण होना

चाहिये और फिर उसका भी कोई कारण होना चाहिये'— इसप्रकारसे यदि चलते चले तो कहीं कारणोंका अन्त न होगा और अनवस्था-दोष आ जायगा। इसलिये जगत्का कोई एक ही नजदीकका कारण है और उसे ईश्वर कहते हैं।

मैं इसप्रकारके प्रमाणोंको निन्दाकी रूपमें देखता हूँ क्योंकि इसमें प्रमाण देनेवालेके हृदयमें सत्यके स्वेजकी कुछ भी इच्छा नहीं श्रीखती, केवल हार-जीतकी इच्छा, दुराप्राप्ति और अशान ही दिखायी देता है। नड्यन्यायमें भी ऐसी ही जातोंकी भरमार है, जैसे 'मनुष्यत्वावच्छिक्षणमनुष्यः' 'मनुष्यत्वावच्छिक्षणो घटः' इत्यादि।

(२) सत्त्व-मूलक प्रमाण

ऐन्सेलम, डेकार्ट आदिने कहा है कि यदि ईश्वर कोई अनुभुति न होता तो ईश्वरका प्रस्तुत्य हृदयमें कैसे आता ! गेलोलियो, कैरट आदिने इसका स्पष्टन करते हुए कहा है कि 'मनुष्यके हृदयमें ईश्वरकी कल्पना होनेके कारण यदि उसका अनित्य भाव मान लें तो संमानमें जितने भिन्न है वे भावमें अशक्तियोंकी कल्पना करोवपति हो जायें।'

इस प्रमाणका वालविक अर्थ यैसा नहीं है जैसा गेलोलियो आविष्करण बढ़े हैं। इस प्रमाणमें कुछ स्थूल अर्थ है जो कि तुलनात्मक धर्म-शास्त्र (Comparative Religion) की शास्त्र धर्मशास्त्र-सम्बन्धी मनोविज्ञान-शास्त्र (Psychology of religion) में है। समस्त संसारमें जिसने धर्म है उनमें किसी-न-किसी महान् सत्ताका उज्ज्वल अध्यवा बन्दन होता है। नातिकों आदिको छोड़कर मनुष्य-भावके हृदयके अन्दर किसी-न-किसी महान् सत्ताके प्रति आश्र, भय तथा श्रद्धा दिखायी देती है। संसारभरके धर्म तथा सम्प्रदायोंके अध्ययन करनेके बाद अन्तमें यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वकी किसी महान् सत्ताके मनुष्यमात्रके हृदयके अन्दर धर-सा कर रखता है। जिन किसी-न-किसी धर्मको माने मनुष्यके चित्तकी स्थिति मात्रों असम्भव-सी दीखती है। दक्षिण-अफ्रिका तथा मध्य-आस्ट्रेलियाकी अशिक्षित तथा जंगली जातियोंमें भी टोटेमिज्म (Totemism) नामका धर्म कही प्रकारकी शास्त्राओंमें प्रचलित है। इस धर्ममें अनेक प्रकारके अद्युत-अद्भुत विश्वास भरे हैं जो इन जातियोंमें स्वाभाविक ही उत्पन्न हुए दीखते हैं। इनका भी विश्वको अद्भुत सञ्चालिकी इक्षियोंमें विद्यात है।

वहाँ प्रभ यह है कि जब किसी-न-किसी प्रकारकी अद्भुत सत्ताने मनुष्यमात्रके हृदयमें अपना घर कर रखा है तो व्या ऐसी कोई सत्ताका अस्तित्व मान लिया जाय या यों मान लिया जाय कि यह मनुष्यका एक जन्म-सिद्ध स्वभाव (Instinct) है कि वह ऐसी किसी-न-किसी सत्तामें विश्वास करे ? यदि ऐसा नहीं है तो क्या कारण है कि इस बेकामकी बातने मनुष्यके हृदयको भय तथा अद्भुत-से भर रखता है ? तुलनात्मक धर्म-शास्त्र (Comparative Religion) की प्रधान शास्त्र धर्मसूलारमक मनोविज्ञान-शास्त्र (psychology of religion) के अनुसार कुछ ऐसी परीक्षाएँ की गयी हैं कि जिनमें नवजात बालकको जन्ममें ही धर्म तथा हृष्टवर-सम्बन्धी सब बातोंमें दूर रखता रहा है — यह देखनेके लिये कि हृष्टवर-सम्बन्धी कोई बात उसके अन्दर स्वाभाविक ही उठती है अथवा नहीं । यद्यपि ऐसी परीक्षाएँ अधिक नहीं की गयी हैं परन्तु जिसनी भी इनी-गिनी परीक्षाएँ की गयी हैं उनमें यह पता लगा है कि हृष्टवर तथा धर्म आदि सम्बन्धी कोई भी बात मनुष्यमें स्वाभाविक नहीं पायी जाती ; ये बातें उसे दी जाती हैं । जो कुछ भी हो इस ओर लोज होनी चाहिये क्योंकि जो कुछ अभीतक हुआ है उसे मैं अचूक सत्य विश्वित माननेको तैयार नहीं हूँ, क्योंकि हन परीक्षाओंके साथ-ही-साथ महात्मा गान्धीके समान परीक्षक और स्थान-के लोगों भी विद्यमान हैं जिन्होंने अपने विचारके हर एक विकासको माँझकर उसे फिरमें विषयभावमें स्थिर किया है । शुद्ध सत्यके प्रमेयी महात्मा गान्धीने यह कहे वार कहा है कि उनके हृदयमें हृष्टवरकी प्रेरणा होती है । वे जो कुछ करते हैं, उसी प्रेरणाके अनुसार करते हैं । हृष्टवरके इस सत्तामूलक प्रमाणको कोई-कोई मनोविज्ञानशास्त्र-मूलक प्रमाण (Psychological proof) भी कहते हैं ।

अब अन्तिम प्रयोजन-मूलक प्रमाण (Teleological proof) की परीक्षा करनी है । सृष्टिका जितना कार्य है वह किसी एक गुप्त प्रयोजनको लेकर हो रहा है और उसी रहस्यमय गुप्त उद्देश्यकी ओर सृष्टि वडी चली जा रही है । उद्देश्य के बल चेतन व्यक्तिमें ही हो सकता है, अचेतनमें नहीं, इसलिये किसी चैतन्य जीविका अवश्य अस्तित्व है जिसे हम ‘हृष्टवर’ कह सकते हैं । भाँतिक तथा प्राणियशास्त्रमन्दीर्घ विज्ञानकी जितनी भी शास्त्राएँ हैं उनमेंसे प्रत्येक सृष्टिके किसी-न-किसी एक गुप्त प्रयोजनकी

ओर संकेत करती हैं । विस्तारमें य जाकर इस कुछ अवश्यक शास्त्रोंको ही लेकर यह देखेंगे कि उनमेंसे प्रत्येक किसकारमें अपने-अपने हंगार विकासवाद (Evolution) को सिद्ध कर रहे हैं ।

सुष्टि छु : दिनमें नहीं बन गयी, जैसा कि बाह्यवलमें लिखा है परन्तु सुष्टि आज जैसी है वैसी अवस्थामें धीरे-धीरे वह सहजीं सदियोंमें विकासहारा पहुँची है । विकास-का अर्थ है किसी निश्चित उद्देश्यकी ओर धीरे-धीरे आगे बढ़ना ।

ज्योतिष-शास्त्र (Astronomy) द्वारा अब यह भली-भाँति सिद्ध हो चुका है कि समर्पण ब्रह्माण्ड पहले एक बड़े भारी नीहारिका (Nebula) की हालतमें या जिसमें कि आगे चलकर करोड़ों सौर-जगत् (Solar systems) की उत्पत्ति हुई है । हमारा सौर-जगत् आकाश-गंगाके करोड़ों सौर-नजातमेंसे एक है । हमारी पृथ्वी इसारे सूर्यका ही एक दुकड़ा है जो ठरका होते-होते आज हमारे रहनेके योग्य हुई है अभी भी यह पूरी ठरही नहीं हुई है । इसके अन्दर अभी जलता हुआ गरम काढ़हा (lava) भरा हुआ है जो कि ज्वालामुखियोंद्वारा निकला करता है ।

भूगर्भशास्त्र (Geology) द्वारा यह विनाशमें सिद्ध हो चुका है कि पृथ्वीका तल, उसमेंके समुद्र, पहाड़ तथा नदियाँ आदि किस-किम प्रकारमें बनते-बनते ऐसी बनी हैं जैसी आज है । आज जहाँ हिमालय पर्वत है वहाँ पहले टेकिस नामका समुद्र था और आज जहाँ बंगालकी लाड़ी है वहाँ पहले आस्ट्रॉलिया समाया हुआ था — हालादि सैकड़ों बारे सप्रमाण भूगर्भशास्त्रने सिद्ध कर दी है । गरम जलने हुए सूर्यके दुकड़े ‘पृथ्वी’ ने सदियों बाद याक बत्तमान परिस्थिति प्राप्त की है ।

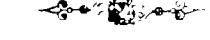
अब यह पृथ्वी जीवधारियोंके रहनेके योग्य हो गयी तब विचित्र प्रकारमें इसके समुद्रोंके अन्दर जीवनतत्त्व (Protoplasm) की उत्पत्ति हुई । यह प्रोटोप्लाइम—कारबन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन तथा फासफरम आदि पदार्थोंका वह विचित्र समिश्रण है जो मनुष्यमें लेकर प्रत्येक जीवित प्राणी तथा पौधोंमें वर्तमान है और जिसके द्विना जीवन नहीं रह सकता । विज्ञानवेत्ता जिस दिन इस प्रदर्शको प्रयोगशालामें अपने हाथमें तैयार कर लेंगे — जैसी कि उन्हें आका है — उस किंव दे मध्यमर

विज्ञय प्राप्त कर सकेंगे। जीवन-तत्त्व समुद्रोंमें पहले-पहल अनेक प्रकारके जीवोंके रूपमें प्रकट हुआ। फिर विकास होते-होते उसने एक और मछली आदिका और दूसरी और बनन्पत्तियों आदिका रूप लिया। पशुओंमें बनने-बनने बनने, तथा बननानुप और फिर मनुष्य। इन सब बातोंका विस्तार बनन्पत्तिशास्त्र (Botany) तथा पशु-विज्ञान-शास्त्र (Zoology) में भगा पड़ा है। यह भी सिद्ध किया जा रहा है कि मनुष्यका भी विकास हो रहा है। मनुष्य-विज्ञान-शास्त्र (Anthropology) ने यह दिखलाया है कि मनुष्य पहले कौमा जगली था और उसने किसप्रकार अपना जगलीपन क्यागा। 'Riddle of Mars' अर्थात् 'मंगल नारेकी पहेली' नामक पुस्तकमें यह मिला किया गया है कि मंगल तरिपर मनुष्य रहने हैं और वे हमसे भी अधिक उच्चतिशिल हैं। वहाँके

इन्हीनियर्सने ऐसी केनालें (Canals) बनायी हैं जिनका बनना हमारे यहाँ तुरकर है।

रसायनशास्त्र (Chemistry) के एक बड़े आन्वार्य भेषणडेलिफ्टने यह सिद्ध किया है कि समस्त व्यापारके जितने भी तत्त्वाणु हैं उन सबका विकास हुआ है। रेडियम आदि तत्त्वाके विकासकी अवधितकका पता लग गया है। विकासका आरम्भ हाइड्रोजन-तत्त्वमें हुआ है और अभीतक तत्त्वाणुओंका विकास यूरेनियम नामक धानुतक पहुँच पाया है।

इमप्रकार जहाँ देखो वहाँ विकास-ही-विकास होता चला जा रहा है। तत्त्ववेत्ताओंकी अब यह सबमें कठिन समस्या उनके सामने उपस्थित है कि सुधिके इस रहस्य-समय विकासके पीछे अवश्य ही कोई चंतन कर्त्ता होना चाहिये।



विज्ञान और ईश्वर

(अख्यात—भवासुद्देशरराजी एम ० ४०)



शान ईश्वरके विषयमें निररेक्षासामें मौन है। विज्ञानकी परीक्षाएँ दृश्य, गूह्य और सूक्ष्म जगत्के परमाणुओं-तक परिसित हैं। प्रकृतिकी खोज विज्ञानका श्रीयगणेश है, उसका अन्त कहाँ चलकर होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। ज्ञेयके प्रतिपादन-में विज्ञानने अज्ञेय या परोक्ष विषयोंके विश्वासको धड़ा पहुँचाया।

यह अच्छा ही हुआ। उक्सीसी शताब्दीमें उद्भव बुद्धिवाद बहुत जोरोंपर था। युग-युगान्तरमें लोग जिन कल्पनाओंके द्वास थे, उन सबको विज्ञानकी प्रचण्ड अधिने छुलसा दिया। वीर योद्धाकी भाँति विज्ञानने तर्क और बुद्धिके अद्भुतोंमें विश्वासके दुर्गमें भीतर बुझकर प्रहार किया और धर्म और मर्तोंके संकीर्ण पुजारियोंको उसकी बदती हुई विजयके सामने अपने इथियार रख देने पढ़। यह आँधी इस युगकी विशेषता है। मनुष्यने तर्क और बुद्धिको सिंहासनपर अधिष्ठित करनेका संकल्प कर लिया है, इसमें शोष या अमर्त्य करनेकी आवश्यकता नहीं है। बुद्धिके

प्रचण्ड नदके सामने जो बाधकरूपमें आया भथवा आवेगा वही वह जायगा।

सृष्टि कथमें है, संसारमें प्राणियोंकी मस्तको कितना समय यीस गया, पृथिवीका सौरमण्डलमें क्या स्थान है, कमोंकी प्रेरणामें बाहु हेतु क्या है—इन सब विषयोंपर उक्सीसी सर्वीके वैज्ञानिकोंने मनुष्य-जातिको नये पाठ पढ़ाये और लोगोंने पुराने दक्षियान्-मूर्मि विचारोंको निम्मार जानकर पीछे छोड़ दिया। भर्म-शास्त्रोंका स्थान विज्ञान-शास्त्रोंने ले लिया। मनुष्य-जातिके नन्हे बच्चे नये प्रकाशमें चक्रित और आनन्दित होकर स्वतन्त्र सिपाहीकी भाँति प्राकृतिक रहस्योंके नये देश जीतनेको निकल पड़े। उनकी दिविजय सर्वतेमुखी, आश्रय-समयी और प्रतिभाशालिनी हुई। सृष्टि आयुके जीर्ण विचार जाने रहे हैं। एक ही सपाठमें ऐसा मालूम होने लगा मानो वह पृथिवी कई करोड़ वर्षोंसे है। उत्तरोत्तर अनुसन्धानमें आज सब वैज्ञानिकोंकी ऐसी धारणा है कि पृथिवीकी आयु (Age of the Earth) दो अरब वर्ष (2000 million years) है। रेडियमकी खोजने इस परिणामको सत्य बदलाया है। हर्ष है आर्य-जातिमें प्रचलित सृष्टि संवरसर

१९७२६७८०११ से यह विज्ञानका अनुमान मिलता हुआ है। इसके अतिरिक्त दूरबीजन-यन्त्रने पृथिवीका ब्रह्माण्डमें क्या स्थान है, इसपर प्रकाश आता। पहले कोग इसी गोलको सब जगतका केन्द्र मानते थे। विज्ञानने बताया कि हमारे सौरमण्डलका केन्द्र सूर्य है और पृथिवी उसकी तुलनामें बहुत ही छोटी है। धूरे-धीरे यह खोज यहाँसक बड़ी कि आज यह पृथिवी समस्त ब्रह्माण्डकी अपेक्षामें एक कणके बराबर भी नहीं है। इस विश्वमें जितने मागरोंके रजःकरण हैं, वे सब यदि ग्रह और ताराओंकी संख्याके बराबर मान लिये जायें तो यह पृथिवी एक रजःकणके भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशके बराबर नहीं कही जा सकती। हमारे गणितके अंक से देने हैं। इस अनन्तताको शब्दोंमें व्यक्त करनेका माध्यन हमारे पास नहीं है। जहाँसक गणितके अंक हमारे साथ रहे वहाँसक तो हमारी स्थिति इह स्थियर पर समझी जाती है। जब हम इस अनन्तता या विशालताकी कुछ भी कल्पना निश्चित शब्दों और अंकोंमें नहीं बता सकते, तब मानो हम सत्य (Fact)को खोकर पुराण (Legand) के क्षेत्रमें चले जाते हैं। हम जगतमें सत्य कुछ ही दूरसक हमारा साथ देता है। आगे चलकर भौतिक अनुसन्धानमें भी हमें अपने आपको पुराणके हाथोंमें मौप देना पड़ता है। पुराने पुराणोंको छोड़ नीजिये। नये विज्ञानके पुराणोंकी शरण लिये बिना गति नहीं है। विश्वकी विराटता पुराण ही है। वस्तुतः संसार निम्न और अनिम्नका, सत्य और पुराणका, सान्त और अनन्तका अनुन सम्मिलन है। आधुनिक व्योर्निंविज्ञानने हमें कठपनाके जगतमें उठाकर निम्नहाय ढोइ दिया है—

Dr. Hubble estimates that about two million such nebulae are visible in the great 100-inch telescope at Mount Wilson, and that the whole universe is about a thousand million times as big as the part of space which is visible in this telescope. Let us now multiply 1000 million by 2 million, and the product by 1000 million. The answer (2×10^{11}) gives some indication of the probable number of grains of sand spread over England would make a layer hundreds of yards in depth. Let us reflect that our earth is one millionth

part of one such grain of sand, and our mundane affairs, our troubles and our achievements, begin to appear in their correct proportion to the universe as a whole.

[Eos by Dr. Jeans, p. 21]

यह वैज्ञानिक सत्य है। इसके लिये बेंद्रने कहा है—‘एतावानस्य महिमा।’ परं विज्ञान ‘अतो ज्यायांश्च पूर्वः’ कहनेकी आशा हमें नहीं देता, अतः इस पुरायके विषयमें कुछ न कहेंगे। इस वर्त्तन-शैलीका नाम पुराण या कल्पना है जो अनिम्न पक्ष या अनन्तताका पोषण करती है।

यह तो सृष्टिकी विशालताका दिव्यर्थन हुआ। वहाँ विज्ञानकी गति अवगद्ध हो गयी है। अब सृष्टि-प्रक्रियापर किञ्चित् विचार करना है। यह सृष्टि जिस रूपमें हमारे सामने फैली है यह क्या पहली ही बारका आयोजन है, अथवा इसमें पूर्वमें भी कभी सृष्टि थी, या इसके बाद भी किर कभी सृष्टि होगी? हम जान चुके हैं कि पुराने हैमाई-धर्मकी कल्पना या अन्य धर्मोंकी कल्पनाओंको पष्टाव-कर विज्ञानने आगे कदम उठाया था। परन्तु सृष्टि-प्रक्रिया का सन्तोषदायक कोइ भी समाधान आजतक विज्ञानके हाथ नहीं आया है। यह विषय भी इस्य परिमित ज्ञानकी शृंखलाओंमें नहीं बँधना आहता। वैज्ञानिक निश्चयरूपमें इस सृष्टिके पहले क्या था, कुछ नहीं कहते हैं। हाँ, यह सृष्टि हमारे सामने फैली है यह ध्रुव घटना है। इस घटनाका अध्ययन विज्ञानको छृष्ट है। इस अध्ययनमें एक नियम बहुत महाय रहता है। उसका अध्यक्षी नाम Second Law of Thermodynamic है जिसका प्रतिपाद्य विषय यह है कि शक्तिका प्रवाह ऊंचे केन्द्रमें नीचे केन्द्रकी ओर होता है। उदाहरणार्थ एक वस्तुमें पाँच सहस्र डिग्री मेंटीमेट्रिकी गर्मी है और दूसरीमें दो इकार डिग्री। तापका प्रवाह पहलीमें दूसरीकी ओर होगा और तबसक बराबर होता रहेगा अबतक दोनोंमें समान्वयिति न हो जाय। प्रकृतिके ज्ञात अनुभवोंमें ऐसा कभी नहीं देखा गया कि दो इकार डिग्रीका ताप जिसमें है उसमेंसे उक्ता प्रवाह ऊंचेकी ओर होने लगे। शक्तिका प्रवाह अबोरुक या प्रलयकी ओर है। प्रलयका तापर्य वह समता (Equilibrated condition) है जहाँ शक्तिके इसान्तरिक न हो सकनेमें कोई कार्य नहीं हो सकता। वैज्ञानिक मानते हैं कि सूर्यके समाव अनेक शक्तिके केन्द्र-

विज्ञाणमें है जिनकी शक्ति अनन्दरस वेगसे आकाशमें विकीर्ण हो रही है। यदि यही प्रवाह चलता रहा और कोई कारण ऐसा समझमें नहीं आता जिसमें इस प्रवाहमें बाधा हो, तो एक समय पेरेसा आयगा जब शक्तिके सम-वितरणसे विष्टमें कोई कार्य न हो सकेगा और सब प्रकृति शक्तिरूपमें परिवर्तत होकर अनन्त आकाशमें फैल जायगी। ऐसी दशामें फिर सुहिको सम्भव कर सकता असम्भव है। यदि उपर्युक्त दूसरे नियमका प्रतिद्वन्द्वी ऐसा भी कोई नियम हो जिसके अनुसार शक्तिके नये गर्भित केन्द्रोंकी रचना हो सके, तब तो प्रथक्यके बाद सुहिका प्रवाह पुनः प्रचलित हो सकता है। परन्तु अभीतक इस विषयमें हम कुछ नहीं जानते। विज्ञवर डा० अ॒न्सकी तो यहाँतक कल्पना है कि उस विप्रतिपात्रसे छुटकारा पानेका उपाय यह है कि विश्वके बाहर किसी कारणको हम पुनः सुहिका देतु मान लें। पर विज्ञान इसे इस विषयमें कुछ कहनेकी आज्ञा नहीं देता। हम तो संक्षेपमें यही कह सकते हैं कि आषं-कल्पनामें अभीदू तपसे सुहि भानी गयी है। यह तप ही शक्तिके गर्भित केन्द्र है। पर तपका जनयिता बहु है जो योगिनियमें हम तपको ढर्पण करता है। निद्राकी कल्पनाके साथ जाग्रनकी कल्पना भी है। अर्थात् सूर्य और प्रलय ये दोनों नैसर्गिक प्रवाहगत क्रम हैं जो परम्परायेकी हैं। दोनोंका आधार वैतन्यका ज्ञान है।

अब हम एक ऐसे विषयकी ओर आते हैं जिसका अनुसन्धान विज्ञानका महत्वपूर्ण अंग है। यह प्रभ जड़-जगत् और शक्तिमें सम्बन्ध रखता है। जड़-प्रकृति (Matter) का अन्तिम रूप क्या है इसका उत्तर सारा संसार विज्ञानसे मांग रहा है। और क्यों नहीं? जिस प्रकृतिकी प्रतिष्ठा इतने समारोहसे वैज्ञानिकोंने की है उसका परीक्षण भी होना चाहिये।

विज्ञानका ही सत्यप्रियताने विद्वानोंको इस बातके जानेको विवश किया कि प्रकृतिका अन्तिम रूप क्या है? पहले वैज्ञानिकोंने इस बातका पता क्लाया कि स्थूल-जगतमें बान्धे तत्व या पदार्थ (Elements) ऐसे हैं जिनके संयोगसे ही सारे रूप बनते हैं। विज्ञाणमें कहीं चले जाएं, समस्त प्रकृति इन्हीं मौलिक पदार्थोंका संबंध है। भौतिक विज्ञान और योतिविज्ञानकी सम्मिलित खोजोंसे अब यह जान लेना बहुत सरल हो गया है कि दूरं दा और भी अधिन्यत दूरीवाले वस्त्रोंमें कितने तत्त्व

(Elements) हैं। प्रथेक तत्त्वका प्रकाश अलग-अलग है और किसी भी नक्षप्रमें आनेवाले प्रकाशके विस्तेषण (Spectrum analysis) से यह मालूम कर लेना बहुत आसान है कि उसकी प्राकृतिक रचना किन तत्त्वोंके संयोगसे है। इसप्रकार कुछ कालतक इन बान्धे तत्त्वोंको विषयका मूलभूत आधार मानते रहनेके बाद विज्ञानने एक परमा॒णु (Atom) के अन्तिम स्वरूप और उसकी आनंदित रचनाकी सूज आरम्भ की। आधुनिक ज्ञानवृत्तिके अनुसन्धानोंमें परमाणुकी रचना-विषयक सूज बहुत ही महत्वकी है। इसने विज्ञान-कालमें आमूल क्रान्ति कर दाली है। कोई समय या जब परमाणुको सूंग अदिभूत मानते थे। अब इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है कि परमाणुकी रचना सौर-मण्डलके दृग्पर है। परमाणुके बीचमें एक केन्द्र है जिसे प्रोटोन (Proton) कहते हैं। इसके केन्द्रमें ही परमाणुका सारा बजन सञ्चित रहता है। इसके चारों ओर कुछ विद्युत्कण घटकर काटते हैं जिनका नाम इलेक्ट्रॉन (Electron) रखा गया है। उस, परमाणु प्रोटोन और इलेक्ट्रॉनके समवायका नाम है। प्रोटोनके चारों ओर घूमनेवाले इलेक्ट्रॉनोंकी संक्षय हर तत्वके परमाणुमें अलग-अलग है। चाँदी और सोनेका भेद असंक्षियतमें कुछ नहीं। दोनोंके परमाणुओंके भीतर इलेक्ट्रॉनोंकी गिनतीमें भेद होनेसे यह उपरी भेद हो जाता है। इस आविष्कारने यह सिद्ध कर दिया है कि भौतिक प्रकृतिकी रचना परमाणु-मय है और एक मूल-पदार्थके परमाणुका दूसरेमें भेद केवल इलेक्ट्रॉनोंकी संख्यापर निर्भर है। बन्तुतः भेद कुछ नहीं है। परमाणुका स्वरूप क्या है? इस विषयकी सूजसे यह फल निकला कि परमाणुका स्वरूप विद्युतरूप है। प्रोटोन और इलेक्ट्रॉन दोनों धन और ऋण विद्युतके रूप हैं। विद्युत एक ही है। उसका दो तरहमें प्रकट होना अनिवार्य है। बिना ऋण-धनके कोई कार्य नहीं हो सकता। वास्तविक इटिसे ये दोनों उपाधिमात्र हैं। मूल विद्युत एक-रस है। इसप्रकार भौतिक प्रकृतिका सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश जो परमाणु है वह केवल विद्युतका ऋण-धनारम्भक प्रकाश-मात्र है। इस सूजने पुराने सब विचारोंको असम्भव कर दिया है। मैटर और इन्होंका सम्बन्ध ठीक-ठीक इस अभीतक नहीं जान पाये हैं। परमाणुके अरूपके बारेमें

भी वैज्ञानिकोंमें बहुत मतवाद है। दार्शनिक ग्राहट हेडने तो परमाणुको चेतनधर्मविशिष्ट कार्यसम्पन्न मान लिया है। पर इसमें समस्या किसी तरह इल नहीं होती। जैसे इस शक्तिके बारेमें अनभिज्ञ हैं वैसे ही चेतन्यके वैज्ञानिक स्वरूपके विषयमें तो इस और भी कोरे हैं। परमाणुओंकी भौमिकेपर इसमें पब्कर इस्य स्थूल जगत् इमारे हाथोंमें निकला आता है। प्रथक्षवादको इसमें बहुत घङ्गा पड़ूचा है। और इस इसकिये बहुत विकल है कि इमारे स्थूल जगत्की रक्षा क्या इमारे देखते-देखते किसी तरह न हो सकेगी? परियाम क्या हुए कुछ ही विज्ञानको तो सत्यकी पूजा करनी है। इमें सत्यकी खोज है, प्रथक्ष या परोक्षसे इमें क्या मतलब?

इसी प्रसंगमें एक और जटिलता आ गयी है। उसका वैज्ञानिक नाम Quantum Theory है। इमारा आधार यह या कि प्रकृति अखण्ड है। अखण्डता (Continuity) के कारण ही शक्ति एक स्थानमें हूसरे स्थानपर जाती है। आगकी गर्मी कोइसें पड़ूचती है क्योंकि दोनोंको मिलानेवाला एक अखण्ड माध्यम है जिसके द्वारा शक्तिका सञ्चार होता है। इस अखण्डताके कारण ही हम यह आशा करते थे कि प्रकृतिकी उत्तरोत्तर खोजमें इमारी सारी सुनिहाँ व्यक्त-स्वरूपें इमारे सामने रहेंगी और वहाँ भी प्रकृति और शक्तिकी प्रन्य होगी उसे हम पकड़ सकेंग। परन्तु अब इमें मालूम होता है कि शक्तिका प्रवाह एकरस माध्यमका मुख्यायेकी नहीं है। शक्ति मण्डूक्युतिमें छोटे-छोटे बन्डलोंमें, जिन्हें कंठा कहते हैं, स्थानान्तरित होती है। अर्थात् जैसे मेट्रोका कण परमाणु है वैसे ही शक्तिका कण भी है। उसकी संज्ञा कैन्टम है। प्रकृति और शक्तिकी अखण्डताको सन्देहमें ढाल देनेवाला यह नया सिद्धान्त अभीतक ठीक तरह पचाया नहीं जा सका है।

परन्तु भौतिकवादको संशयास्पद बनानेके लिये मानो हृतना काफी नहीं था, इसलिये सापेक्षवाद (Relativity) के सिद्धान्तने इस अज्ञानमें प्रवेश करके विज्ञानकी जमी हुई जबोंको और भी चलायमान कर दिया। या यों कह लोजिये कि देश-काल-सम्बन्धी इमारे वैज्ञानिक माध्योंका मर्दान आर्जेदार हो रहा है। बज़न और लग्जार्हको इस निरपेक्ष सत्य मानकर न्यूटनके विष्य बने हुए थे। अब आइन्स्टाईनने इमें बताया है कि ये आब देश-कालसे

सापेक्ष हैं। जो वन्नु इस पृथिवीपर एक गज़ है, वही एक लाख पचास हजार भील की-सेकण्डकी गतिमें चलनेपर आज गज़की रह जायगी। यही हाल बज़मका है। और शायद एक लाख छियासी हजार भील गतिमें चलनेपर तो उसमें कुछ भी कमबाहु या बज़न नहीं रह जायगा। यह सब आश्रयसय आविष्कार हैं जो स्थूल जगत्की कल्पनाको इमारे सामने बढ़े वेगमें बदल रहे हैं। आइन्स्टाईनके अनुसार देश-काल विनत (curved) हैं और जहाँ मैटर सबमें अधिक है, वहाँ यह द्वुकाव (curvature) सबसे अधिक है। पृथिवी सूर्यके चारों तरफ जिस मार्गमें घूमती है उसका कारण आकर्षणका नियम नहीं है, बल्कि पृथिवीके लिये आकर्षणमें उसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नहीं है। निज प्राकृतिक पदार्थकृत विनति तथा सूर्यकृत विनतिके बीचीमूल होकर उसे उसी मार्गमें जाना ही पड़ता है। सापेक्षवाद-मिद्दान्तके अनुसार विश्वका केन्द्र स्वरूप है। इसमें प्रायेक व्यक्ति विश्वकी नाभिपर है जिसका अपना-अपना देश-काल-कृत चैम्बटा है। उस पञ्चरमें मानों वह जड़ा हुआ है। अभी नहीं कहा जा सकता इमारे मांसास्रिक जीवनपर इस मिद्दान्तका क्या प्रस्तुत पढ़ेगा।

जट-जगत्की रघनाके विषयमें विज्ञानकी विप्रति-पत्तियोंको इसमें कुछ देखा। चेतनाके विषयमें हमारा ज्ञान और भी परिमित है। जैसे इस परमाणुके अनितम रूपको नहीं जानते वैसे ही यह मानने हुए भी कि चेतन्यका अनितम रूप मेंक (Cell) है, हम अभीतक इस बातका पता नहीं लगा सके कि मेंमें जीवनका स्रोत क्या है? मेलके केन्द्रमें उसका चैतन्य है, पर उसका मूल हेतु और उत्पत्ति क्या है यह इमें प्रकृतुल नहीं मालूम। प्रकृति और चैतन्य दोनोंके मूलका अधूरा ज्ञान इमें है। इसमें सन्देह है कि कभी भी इनका कृत्य ज्ञान इमें हो सकेगा। मनके विषयमें कुछ ज्ञाननेका प्रयत्न हमने अभी प्रारम्भ ही किया है। हम नहीं कह सकते किसप्रकार प्राकृतिक मन ' जट-चेतनकी सन्धियोंको नियन्त्रित कर रहा है। गुप्त मन (Subconscious mind) की जस्तियोंको बिना जाने इमारा विज्ञान अधूरा ही है। प्रायिविज्ञान, भौतिकविज्ञान और मनोविज्ञान ये तीन बड़े प्राची इस समय हैं। सीधों-में ही चैतन्य, प्रकृति और मनका स्वरूप हमसे छिपा हुआ है। बहुत हुए जान केनेपर भी जो अभी नहीं जान

पाया वही महात्मका है। आज वैज्ञानिक प्राणपणमे इन उलझनोंको हुक करनेमें बगे हुए हैं। भवित्वकी सफलता-के विषयमें क्या कहा जा सकता है? विज्ञानकी स्थीकृत परिभाषाओंको मानते हुए हमारा ब्रह्माण्ड-विषयक ज्ञान किस रूपमें सम्प्रोत्पादयक होगा, यह भी कहना कठिन है। ईश्वरके विषयमें मौन ग्रहण करना ही असम् है। जड़-चेतनकी प्रतिक्रियाका जिस दिन कुछ निपटारा होगा उस दिन सम्भवतः इस प्रभका कुछ महात्व हो। आज हमारा

भाव सत्यके जिशासुका है। इस स्वर्यं अपने घरको ठीक करनेमें व्यस्त है, यह अनुकूल अवसर नहीं है जब वैज्ञानिक अपने घरमें निकलकर दूसरोंका दुर्ग बाहनेकी चेष्टा करें। विज्ञानकी विजय मनुष्यकी विजय है। सृष्टिको जानने और समझनेका उमे जो साधन मिला है उसका प्रयोग विज्ञान है। उसने सत्यको जाननेके लिये नम्रतासे उसका प्रयोग करना सीखा है और आगे भी करता रहेगा।

विज्ञानशास्त्रके ईश्वर

(लेखक — प० श्रीशारदाप्रमादजी मिश्र 'ओपनिषद्' कायोपनिषद्याकरणवैश्नवमीमांसात्कपुराणतीर्थ)



इया चेतन जगत्के जितने पदार्थ हैं, उनमें मनुष्य ही सबसे श्रेष्ठ है। जड़ तो ज्ञानशब्द है, उनकी बात ही क्या परन्तु चेतन प्राणिगर्भमें जितने स्तर है, सबमें ज्ञानकी मात्रा मनुष्यकी अपेक्षा बहुत ही न्यून मानी जाती है। मनुष्य, देखने-सुनने आदि जितने पुनिव्य अनुभव होते हैं, उन्हीमें सन्तोष नहीं कर लेता, किन्तु यहाँसे उसके ज्ञानकी बारासही ही प्रारम्भ होती है और आगे चलकर वह इसप्रकार विचार-तरंगोंमें छूट जाता है कि सामने आयी हुई वस्तुओंका भी अनुभव नहीं कर पाता। मनुष्यने अपने इस अद्भुत स्वभावके हारा ही अनेकों प्रकारके ऐसे साहित्य और कलाका आविष्कार और उनकी रचना की है जिनके हारा केवल मनुष्योंके ही अद्भुत स्वभावका परिचय नहीं मिलता, किन्तु जड़वर्गके भी इत्यमय महात्व समझे जाते हैं। क्या ऐसा हुए जिना जड़वर्ग रेल, तार आदिके रूपमें अपनी करामात दिखा सकते थे? प्राचीन कालमें इसप्रकार आविष्कार हुए थे या नहीं इसकी उलझनमें न पढ़ यदि हम वर्तमान समय-की ही और आँख उठाकर देखें तो भी इन किनों-दिन बढ़ते हुए आविष्कारोंमें कम आश्चर्यान्वित नहीं होते। अनेक आध्यात्मिक वीर अपने भगवीरथ परिश्रमसे असम्भव समझे जानेवाले कार्योंको भी कर दिखलाते हैं। जो विद्या इन सभी चमकारोंकी मात्रा है उसे ही विज्ञानविद्या कहते हैं। यथापि कुछ लोग विज्ञानकी इस उच्चतिकी अस्वाभाविकताकी ओर अप्रसर होना बताकर काढ़ित करते हैं

परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि साधारण लोग जिन विज्ञानके कार्योंको अस्वाभाविक बताते हैं, विज्ञानशास्त्री बहुत भी स्वाभाविक ही बताते हैं। कैसे जिन किसी चेतन प्राणीको जोते गाड़ीका चलना साधारण लोग अस्वाभाविक बताते थे परन्तु विज्ञानशास्त्री कहते हैं कि पेटोल, कोयला, पानी, भाफ हरायादिके उन-उन संयोगोंके होनेपर गाड़ीका स्वतः चलना ही स्वाभाविक है। अतः वे लोग होते हुए किसी कार्यकी अस्वाभाविकताको कबूल नहीं करते, करें भी क्यों, जब कि वे पदार्थोंके स्वभावोंको ही समझनेके लिये इतनी मगजपत्ती करते हैं और उसीमें सफलता पाते हैं। वस्तुओंके स्वभाव ही उनके सारे प्रयोगोंकी मूलभित्ति है। इस तरह स्वभावोंके पिल्लगू होकर ही तो कितने विज्ञानशास्त्री यहाँतक कह बैठते हैं कि सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभावोंके ऊपर ही निर्भर हैं, ईश्वरकी कोई आवश्यकता नहीं। अन्तु, विज्ञानशास्त्री ही मूलभित्तिको मानकर यदि हम ईश्वरके विषयमें विचार करें तो क्या नतीजा निकलेगा? प्रारम्भमें उनके सर्वस्व स्वभावको ही लेकर विचार करना होगा। मिट्टी, पानी, तेज प्रभुति जितने पदार्थ हैं उनके स्वभाव यदि अलग-अलग हैं तो उन स्वभावोंका जो एक-दूसरेपर प्रभाव पड़ता है उसमें कौन स्वभाव कारण है? कोई भी पदार्थ जिन किसी अन्य पदार्थके संयोगके स्पष्टतरमें नहीं परिणत होता। अतः उन अलग-अलगके स्वभावोंको मिलानेके लिये एक-एक माध्यम स्वभावोंको मानना अनिवार्य होगा। यदि मिट्टीके प्रत्येक अणुओंके अलग-अलग स्वभाव माने जायेंगे तो उनमें घटा बनानेके एक सम्मिलित स्वभावको भी मानना

ही पढ़ेगा। इसकिये और मिट्ठीके एक अणुके और दूसरे अणुके स्वभावमें भी कुछ भेद न रहनेके कारण भी स्वभावोंमें अभेदको मानना ही युक्तिसंगत होगा। इसप्रकार मिट्ठीमात्रका जो एक स्वभाव है उसीके अधीन होकर वह तथा उसके अणु-परमाणु अपने कार्य कर सकेंगे। ऐसे ही मिट्ठी और पानी मिलकर जो चीजें बनती हैं उनके लिये भी एक समिलित स्वभावको मानना उचित ही है। माननेपर दोनोंकी कार्यकारिता उसीपर निर्भर होगी। चलना, हिलना, सुगन्ध, दुर्गन्ध, स्पर्श आदि अनुभवयोग्य जितने विषय है वे सभी जिस स्वभावके परतन्त्र माने जायेंगे वही महान् स्वभाव संसारमात्रका शासक होगा। प्रत्येक पदार्थमें सत्तारूपी स्वभावका अनुभव होता है इसकिये वह सबका स्वभाव-सत्ता ही सभी जगतकी सत्ताकी शासक होगी। उसको सत्तारूप समझते हुए भी सदृपु समझना उचित है, क्योंकि यदि सत्ता असद होगी तो उसका स्वभाव-असत्ता उसमें रहेगी और असत्तामें सत्ता रहेगी इसकिये ऐसा मानना उचित नहीं है। स्वभावोंको अलग समझ लेनेपर फिर स्वभाववान् क्या रह जायगा? इसकिये दोनोंमें भेदेद ही उचित समझा जायगा। इसप्रकार संसारका शासक जो पूर्णस्वभाव होगा वह सर्वस्वभावमय एक पूर्णद्रव्यरूप ही सिद्ध होगा। जटमात्रमें बर्तमान किया-शक्तिरूपी स्वभाव, चेतनमें विद्यमान ज्ञानशक्तिरूपी स्वभाव उनमें पृथितया व्यास रहेगा और वह तन्मय होगा। वही जड़ोंकी कर्मशक्तिका और चेतनोंकी ज्ञानशक्तिका मूलज्ञोत होगा। यदि कहें कि जिसप्रकार जगत् उसके परतन्त्र है वैसे ही वह भी जगतकी प्रत्येक

बस्तुके परतन्त्र होगा तो इसका यह उत्तर है कि एक-एक बस्तुके उत्तर और नष्ट होनेपर जब उसमें जरा भी विचलता नहीं आसी प्रस्तुत छोटी-छोटी शक्तियाँ भी प्रत्येक बस्तुको उसीके द्वारा मिलती हैं तो यदि वह उन शक्तियोंके परतन्त्र होगा तब इसका भवितव्य यही होगा कि वह शक्तिमय अपने ही परतन्त्र है। अपने परतन्त्र और स्वतन्त्र रहना एक ही बात है। उसको छोड़कर अन्य कोई भी स्वभाव या स्वभाववान् नहीं है। वही स्वभावरूपसे समझा जाकर स्वभाववानोंका और स्वभाववान् समझा जाकर स्वभावोंका नियामक होगा। वह सत्त्वभाव-मय, पूर्ण सत्त्वित्स्वभावमय, पूर्ण चित्तानन्दस्वभाव-मय, परांनन्द और सर्वशक्तिमय सर्वशक्तिमान् है। यदि कहें कि वह सर्वजडतामय, पूर्ण जट सर्वअसत्तामय, शून्य और सर्वदुःखमय पूर्ण दुःखी क्यों नहीं माना जाता, तो इसका उत्तर यही होगा कि यदि जडतामें कर्मन्वभावोंको समझा जाय तब तो वह सर्वकर्ममय है ही। यदि जडतामें ज्ञान-शून्यताका प्रहण करते हैं तो वह ज्ञानशक्तिमय कैसे ज्ञानशून्य जट माना जा सकता है? इसी तरह वह सर्वमय होते हुए शून्य कैसे माना जा सकता है और हसी खालमें आनन्द होते हुए किसीकी त्रुटि बिना वह हुःखमय कैसे हो सकता है क्योंकि अभीष्ट वस्तुओंकी युटियाँ ही हुःखका रूप धारण करती हैं। जगन्में प्रतीत होती हुई वस्तुओंमें अर्थरूपताको देखकर ही इन शब्दोंका प्रयोग होता है।

इन युक्तियोंमें स्वभाववादात्मक विज्ञान-शास्त्रका भी विद्वामध्यम वही अद्वितीय सचिदानन्द सर्वनियन्ता पूर्ण परमेश्वर ही सिद्ध होता है।

साहेबकी याद

पानीकी इक बूँदँ सौ, साज बनाया जीव।
अन्दर बहुत अँदेस था, बाहर बिसरा पीव॥ १॥
अधोमुखी जब रहे थे तल सिर ऊपर पाँव।
रामनहारा राखिया, जटर-अगिनकी लाव॥ २॥
जटर-अगिनसे राखिया, ना साई गुन भूल।
वह साहिव दरहाल है, क्यों बोवत है सूल॥ ३॥
अलिफ अलहकूँ यादकर जिन्ह कीन्हा यह साज।
उस साहिव कूँ यादकर पाला बिन जल-नाज॥ ४॥

—गरीबदासजी

ईश्वर-दर्शन

(लेखक—शुद्धादेतभूषण दे० पं० भीमानाथजी शास्त्री)



गतमें भिज्ञ-भिज्ञ प्रकृतिके मनुष्य है अतएव अवसरक सृष्टिमें मनुष्यकी सत्ता रहेगी, कभी किसी एक विषयमें एक भूत नहीं हो सकता। यह बात आस्तिक और नास्तिक दोनों ही सिद्धान्तोंसे ठीक है। आस्तिक कहते हैं कि भेदके बिना ईश्वरकी कीड़ाका आनन्द लिया नहीं जा सकता और नास्तिक कहते हैं कि प्रकृति (नेचर) का वैचित्रय ही स्वभाव है। इजार मनुष्योंमें लेकर चार मनुष्योंतकका किसी अप्रत्यक्ष विषयमें कभी एक सिद्धान्त नहीं हुआ। कुछ-न-कुछ विभिन्नता रहती ही है। इसलिये जगतमें यदि ईश्वरको माननेवाले और न माननेवाले दोनों मिलें तो कोई आश्रय नहीं।

ईश्वर और धर्म दोनों वस्तु लौकिक अप्रत्यक्ष हैं। धर्मके विषयमें हम अपने 'धर्म-दर्शन' में सब कुछ कह सके हैं। आज कुछ ईश्वरके विषयमें लिखता है। प्राचीन दार्शनिक लोग और विशेषकर भारतीय विद्वान् ईश्वरके विषयमें इतना लिख गये हैं कि उसका अनुवाद करना भी कठिन हो रहा है। वैदेशिक लोग जिनमेंमें अधिकांश अभीतक वास्तविक जीव-सत्तातक भी जब नहीं पहुँच सके हैं सब वे ईश्वरको मानते हैं या नहीं, यह चर्चा करना भी भूल है। सत्ता आस्तिक भारतवर्ष है। यहाँके निवासियोंमें प्रायः सबने किसी-न-किसी प्रकारसे ईश्वरकी सत्ता स्वीकार की है। जानी और भर्तोंका तो ईश्वरको माने बिना एक पद भी नहीं चलता। इसलिये प्रायः भारतवासी सब-के-सब ईश्वरके अस्तित्वमें सहमत हैं।

कुछ लोगोंका कहना है कि भीमांसक (कर्मवादी) लोग ईश्वरको नहीं मानते। किन्तु हमारी समझमें यह बात ठीक नहीं है। भीमांसकने यदि ईश्वरका जोरमें प्रतिपादन नहीं किया तो उसका निषेध भी नहीं किया है। प्रतिपादन नहीं करनेमात्रसे ईश्वरका निषेध नहीं माना जा सकता। जिसने घेतनकी और उसमें भी आनन्द-सहित जीवकी सत्ता स्वीकार कर ली, उसे ईश्वरके माननेमें कोई आपत्ति न होनी चाहिये। जिसे सुखका अनुभव होता है वही तो जीव है और जिसे पूर्ण आनन्द-का अनुभव है किंवा जिसमें पूर्ण आनन्द हो, वही ईश्वर

है। जो थोड़े ज्ञान, थोड़े आनन्द और थोड़ी सामर्थ्यबाला हो, वह जीव और जो पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और पूर्ण सामर्थ्यबाला हो, उसे ही सब आस्तिक ईश्वर कहते हैं। जीवको माननेवाले भीमांसक भी ईश्वरके पासतक पहुँच ही नुके हैं। प्रकाशका एक स्थिर केन्द्र न माना जाय तो फिर 'सबको प्रकाश कहाँमें मिल रहा है' यह प्रभ सर्वदा बना रहता है, जलका उत्पादक या जलका एक अट्टू सूख खजाना न माना जाय तो वर्षा कहाँसे होती है यह प्रभ शेष रहता ही है। इसी तरह यदि आनन्दानुभवका एक स्थिर और अपार भगवान् ईश्वर ही न माना जाय तो फिर यह स्वरूपः आनन्दानुभव सहसा कहाँसे आ गया, यह प्रभ किसी तरह हल नहीं होता। कारणके बिना कभी कार्य नहीं होता।

कोई भीमांसक कहता है कि 'कारण और कार्यका' भगवान् हमारे भिटाये भिटा नहीं, इसलिये हमारी बुद्धि ईश्वरको स्वीकार नहीं करती। बृक्षके फल या फूलमें बीज पैदा होता है और बीजमें वृक्षको पैदा होने देखा है तब फिर कार्य-कारणके भगवान्को कौन भिटाये? बृक्षसे बीज पैदा होता है इसलिये वह कारण हो सकता है लेकिन फिर वह बृक्ष बीजसे ही पैदा होता है, अब कहिये कौन कारण और कौन कार्य?

नहीं-नहीं, यह बात ठीक नहीं है। बृक्ष और बीजका इष्टान्त देनेवाला यह तो स्वीकार करता है कि 'कार्यका कारण अवश्य होता है। यह बात दूसरी है कि बृक्षको कारण मानें कि बीजको? हमारी समझमें तो जब एकसे दूसरेको (बृक्षसे बीजको या बीजसे बृक्षको) उत्पन्न होते देखते हैं तो किसी एकको कारण माननेमें झगड़ा हो ही नहीं सकता, चाहे बीजको मानो चाहे बृक्षको। जो अप्रत्यक्ष वस्तु हो उसमें युक्तिका बाध या महयोग हो सकता है, किन्तु जो वस्तु प्रत्यक्ष है, उसे उसी प्रकारकी माननी पड़ेगी जैसी वह है। जब देखते हैं कि बृक्षसे बीज पैदा होता है और बीजसे बृक्षका अंकुर भी पैदा होता है तो दोनोंको कारण और दोनोंको कार्य भी माननेमें क्या हानि है? किसने ही युक्तिप्रधानवादियोंने प्रकृति और विकृति उभयात्मक पदार्थ माने हैं। इसी प्रकारसे बृक्षादिको कार्य-

कारण उभयात्मक माननेमें क्या दोष है ? प्रथम उन्हें उसी प्रकारका बता रहा है ।

अतु, किसीको भी कारण मानो किन्तु यह बात सो माननी ही पड़ेगी कि कारणके बिना कोई भी कार्य हो मर्ही सकता । जब यह सिद्धान्त सर्वमान्य है तब सबका आदिकारण ईश्वरके माननेमें क्या दोष है ?

कितने ही कर्मवादी लोग कहते हैं कि कर्मसे सब कुछ होता है, कर्म ही सब जगतको पैदा करनेवाला है । ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है, ईश्वर भी तो कर्मके अनुसार ही व्यवस्था करता है, यदि कहो कि ईश्वर कर्मके बिना ही सबको फल-दान आदि करता है तब तो उसे भारी अन्यथा मानना पड़ेगा । और जब कर्मके अनुसार ही वह सुफल-कुफल दे सकता है, अन्यथा नहीं, तो फिर कर्म ही सब कुछ है ईश्वर कोई चीज़ नहीं है । इसे असौ ईश्वरः । जो स्वतन्त्र रहकर कुछ कर सके उसे ही ईश्वर कहना उचित है । ईश्वरसे भी कर्मके बिना कुछ होता नहीं, कर्मसे ही सब कुछ होता है तब ईश्वरको मानना व्यर्थ है ।

ठीक है, कर्मसे ही सब कुछ होता है किन्तु कर्म जह है उसीको ही सब कुछ करनेवाला माननेमें दीवालको भी कर्ता मानना पड़ेगा । इम देखते हैं कि क्रियामात्र चेतन-प्रयुक्त होती है । चेतनके बिना किया हो नहीं सकती है इसलिये जह-स्वामाव कर्मको कर्ता मानना भूल है ।

कितने ही कहते हैं कि वायु भी तो जह है किन्तु जह वायु भी चलता-फिरता तो है फिर जहमें किया नहीं होती, चेतनमें ही हो सकती है यह कैमे माना जाय ? हृसलिये जगत्को पैदा करनेके लिये किसी विशिष्ट चेतनकी (ईश्वरकी) अपेक्षा नहीं है ।

इसके उत्तरमें कितने ही आनिक विद्वान् कहते हैं कि वायुमें भी चेतन अन्तहित है, कोई ऐसा स्थान और कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जहाँ चेतन न हो । ईश्वर व्यापक है अतएव उसका चेतन्यगुण भी व्यापक है । वह सर्वत्र मौजूद है अतएव जह वायुमें तप्रयुक्त किया होती है । वास्तवमें तो चेतनका धर्म किया नहीं किन्तु ज्ञान है । सदका धर्म किया है, वायु सत् है इसलिये उसमें किया भी है । चाही सत-पदार्थ है, एक बार उसमें चाही छागा देनेसे वह आठ रोज़ या आठ प्रहर चलही रहेगी । चालमा उसमें है किन्तु कौन-सा धन्त्र

(साँचा) बनाकर कहाँ-कहाँ किस तरह रख देनेसे वह आठ रोज़ निय चलती रहेगी यह ज्ञान चेतनका है । वायु सत् है, उसमें किया है किन्तु किस समय और कितना वायु चलना उचित है यह किसी ज्ञातके ऊपर इसी नियमर है । अन्यथा आजतक कभीका प्रलय हो गया होता । रथ चल रहा है, चाही दी हुई गाढ़ी चल रही है, पर यदि चेतन सहायक न हो तो उनका चलना व्यवस्थित नहीं रह सकता या गति ही उत्पन्न न होगी । इसलिये जह पदार्थको गतिशील करनेमें और उसकी गतिको व्यवस्थित रखनेमें किया नियमित समयमें उसकी गतिको रोकने या परिवर्तित करनेके लिये किसी एक सर्वविशिष्ट चेतनकी अपेक्षा रहती ही है ।

पश्चिमीय अनेक विद्वानोंने भी हस जगत्के निर्माण, स्थिति और हसके नाशपर बहुत-सा विचार किया है । डाविन और हसले प्रमुख दार्शनिकोंके मतमें यथापि परस्पर नितान्त भेद है तथापि ये सब लोग 'नेबुला' से सृष्टिकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं । हसके मतमें यह 'नेबुला' एक वायवीय प्रकाशमान पिण्ड है । उनका कहना है कि गोफनमें रक्ती हुई मिट्टीकी भौति घूमते हुए नेबुलाके विस्तरते हुए अवयवोंके रूपमें विविध ग्रह और उपग्रहों (चन्द्र-सूर्य-तारा प्रमुखति) की मायि हुई है । हसके मतमें यह नेबुला स्वतन्त्र है, उच्च-स्थल है, और अनियन्त्रित है । हसके ऊपर किसीका अंकुरा नहीं है । किन्तु विचार हटना ही है कि क्या यह बात सम्भव है ?

इसप्रकारमें अवयवोंके विस्तरनेके लिये भी किसी विशेष प्रकारकी मिट्टीकी अपेक्षा रहती है । मिट्टीको पानीमें घोलकर बिल्कुल पसली कर ली जाय तो वह मिट्टी हस कार्यके उत्तरुक न होगी । लोटके अन्दर जल भरकर और उसे छोटीमें बूँधकर तेजीसे घुमाया जाय तो चाहे लोटा कितना ही टेटा-निराळा होता रहे किया उलटा भी हो जाय तथापि उसमेंपक बूँद भी जल उसके बाहर नहीं निकल पाता । चिकनी मिट्टीको पानीमें खब कही सानकर और गोफनमें रखकर यदि उसे घुमावें तो उसका भी यही परिणाम होगा, अर्थात् उसका एक कण भी गोफनमें बाहर नहीं निकलेगा । हाँ, यदि कुछ स्लीक व्यापकी छावाली मिट्टी किसी विशेष परिमाणके साथ तपे हुए जलमें मिलाकर गोफनमें घुमायी जाय तो कदाचित् उसके कण ईश्वर-उघर विसर सके और इस वरह नेबुलासे

सौरचक्रकी उत्पत्ति माम ली जाय। किन्तु किर भी नेबुलासे सौरचक्रकी उत्पत्तिके लिये उसमें एक विशेष आकार-प्रकार, एक विशेष गति-विधि और विशेष घन-विरलभावकी अपेक्षा रहती ही है। इसने अधिक नियमित और नियत आकार-प्रकार, गति-विधिवाले सौरमण्डलकी (जिसमें सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र प्रमृति सब भगवा आ जाते हैं) उत्पत्ति अनियमित, अनियत आकार-प्रकारवाले एवं अनियत गति-विधिवाले उच्छृंखल प्रकृति नेबुलासे हुई है यह माननेको साधारण बुद्धि भी तैयार नहीं है ? इसलिये मानना पड़ेगा कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशके प्रत्येक कार्यमें किसी सर्वज्ञ शक्तिका हाथ अवश्य है ।

विश्वके भीतर अभी भी क्रम और नियम काम कर रहे हैं, विश्वमें एक प्रकारकी स्थिरता है, विश्वके अन्दर प्रतिक्षण विविध मञ्चालन नियम और क्रमसे होते रहते हैं और यह सब बातें हीं बोधगम्य । तो क्या ऐसी वस्तु-को पैदा करनेमें किसी एर्थे विचारशक्तिकी आवश्यकता नहीं रहती ? यह सब बातें ऐसी हैं जिनका उपपादन, प्रत्येक पदार्थमें अन्तर्हित किसी अनिवार्यनीय विचार-शक्तिको माने बिना हो ही नहीं सकता । किसी भी वहे कार्यको सुचारालूपसे चलानेके लिये हमें विचारशक्तिकी आवश्यकता पड़ी है । मारे भारतमें क्या सारे संसारमें रेलोंका बाल बिंदा हुआ है । रेलोंका व्यवस्थित प्रबन्ध भी हो रहा है । डाक, ऐसेंजर, एक्सप्रेस, माल और स्पेशल सब गाड़ियाँ छुट्टी हैं, सब रुकती हैं परन्तु किन्ती व्यवस्थितमें ? किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती । परन्तु उन सबका सञ्चालन, किसी विचार-शील मन्त्रिकके बिना तो नहीं हो रहा है । अबइय ही किसी विचारशील शक्तिके बिना रेलकी व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती । सैन्य-सञ्चालनमें भी किसी अमाधारण ज्ञानशक्तिवाले महापुरुषकी आवश्यकता पड़ती है । इतना ही नहीं, जहाँ कहीं भी हम कोई क्रम, नियम और व्यवस्था देखते हैं, स्वभाविक रीतिसे इस विचारपर पहुँचते हैं कि उसके पीछे अवश्य ही कोई असाधारण विचारशक्ति कार्य कर रही है, इसी तरह जब हम देख रहे हैं कि जगत्का विकास क्रम, नियम और व्यवस्थासे हो रहा है, इसका सञ्चालन क्रम, नियम और व्यवस्थासे हो रहा है और होगा और इसका जाश भी क्रम, नियम और व्यवस्थासे हो रहा है और होगा भी, जो जिस इसके

उत्पादन, स्थिति और नाशमें किसी सर्वज्ञ महापुरुषको कारण न मानना कितनी भारी मूर्खता है ?

किसी उत्तम कविको कविताओं देखकर प्रत्येक सद्व्यक्ते हवयमें यह जिज्ञासा उपज्ञ होती है कि इसका बनानेवाला कौन है ? अब यदि कोई कह दे कि 'अजी यह तो एक रोज बड़े जोरमें आँधी चल रही थी उस समय प्रेसमें टाइप जो उड़-उड़कर चिपकने लगे तो यह कविता अपने-आप इस तरहकी बन गयी ।' कहिये ! ऐसे उत्तरपर ऐसा कौन सचेतन पुरुष है जिसे हँसी आये बिना रह जायगी ? अबइय ही ऐसा उत्तर देनेवाला वागल या बालक समझा जायगा । जो लोग कहते हैं कि सम्पूर्ण विश्वकी इस तरहकी रचना करनेवाला, स्वतन्त्र उच्छृंखल और अनियमित जड़ नेबुला है, वा अन्धी प्रकृति है वे अवश्य ही विज्ञ-समाजमें परिवासके पात्र हैं । एक्ये अनेक हो जानेका अनुभव और अनेक्से एक हो जानेका अनुभव, बस, हमीको विद्वान् लोग विज्ञान और ज्ञान कहते हैं । एक सुवर्ण ही अनेक प्रकारके गहने हो गया है या सब गहने ही यह पिघला हुआ सोना है । विज्ञान और ज्ञान दोनों ही हम विश्वमें कैडे दुपु हैं और यह स्पष्ट कह रहे हैं कि हमारे पीछे ही छुपा हुआ एक अनन्त ज्ञान-राशि बैठा है ।

खाद्य-सामग्री मानव-जीवनके लिये एक अपरिहार्य वस्तु है । इस खाद्य-सामग्रीका यदि विश्लेषण और वैशेष्य भेद किया जाय तो मेरी समझमें वह विश्लेषण और वैशिष्ट्य-निरूपण एक विशाल विश्वके रूपमें परिणत हो जायगा । खाद्य-सामग्रीके पद्धरस, उनमेंमें प्रत्येक रसके अन्तर्भूत मैकड़ी पदार्थ और उन सब पदार्थोंमें भी एक-एकके अनेकों भेद, हसप्रकार केवल हमारी खाद्य-सामग्रीका परिणाम भी हमारी गणित-सीमाके बाहर निकल जाता है । परन्तु इस अनन्त-खाद्य-विश्वको भी आजके वैज्ञानिक-सिद्धांतोंने परिमित कर दिया है । अनेक प्रकारकी खाद्य-सामग्रीका विश्लेषण कर लेनेके थाएँ आजके वैज्ञानिक इस परिणामपर पहुँचे हैं कि उनकी सुष्टि केवल छः प्रकारके भौतिक पदार्थोंके परमाणुओंमें हुई है । कारबन (Carbon), ऑक्सीजन (Oxygen), हाइड्रोजन (Hydrogen), नाइट्रोजन (Nitrogen), सल्फर (Sulphur) और फॉफरस (Phosphorous) । यह छः सब हैं, जिनसे कि हमारे इस अनन्त खाद्य-जगत्की उत्पत्ति हुई है । इस

इने-गिने मूल-तत्त्वोंसे किसप्रकार अनन्तकी अपरिमितकी उत्पत्ति होती है, यही सो आश्र्य है। इससे भी विशेष आश्र्य भारतीय दर्शनमें है। भारतीय दर्शन और पुराणोंमें इस अमेय, अपरिष्ठेय विश्व-विभेद (विज्ञान) को रजस, सत्त्व और तमस्, इन तीन ही तत्त्वोंमें समेट लिया है। उनका कहना है कि इन तीन गुणोंका ही यह सब फैलाव है। आश्र्य ! आश्र्य !! एक ही बगीचेमें लगे हुए आम, जासुन, केळे, हमली, अनार, नीबू प्रभृतिके दृक्ष, सूर्य-जल-वायु-पृथ्वीसे समान सम्बन्ध रखते हुए भी किसप्रकार विभिन्न फल, फूल, पत्ते और रसोंकी सृष्टि करते हैं, क्या यह अन्ध-प्रकृतिका या रासायनिक परिवर्तनका ही परिणाम है ? कभी नहीं, कभी नहीं। अचेतन प्रकृति और जड़ रासायनिक परिवर्तन, किसी तरह भी इस क्रमयुक्त अस्तवतन्त्र, नियमित, नियत और सांकुश विश्वका उत्पादक नहीं ही सकता। तत्त्व छः मानिये या तीन, उसके विकास, वैचित्र्य और बहुभवनमें किसी एक अपरिमित ज्ञान-राशि महापुरुषकी अपेक्षा रहती ही है। जड़-पदार्थोंमें अपने-आप इस सम्पूर्ण विश्वका विकास, वैचित्र्य और बहुभवन मानने-वाले उनसे ही परिहासके पात्र हैं कि जिनना यह कहने-वाला कि प्रेसके कर्म्पोजीटरोंने धैर्यमें अक्षरोंको भरकर खूब जोरमें देरतक हिलाया तो उनके अन्पर्याप्तमें या उलट-पुलट होनेमें धैर्यमें एक अमरकोपकी पुम्पक बनकर तंयार हो गया। वास्तवमें अमरकंपका बनानेवाला कोई विद्वान् नहीं है। इसलिये जगत्के आश्र्यमय पदार्थ सूर्योदि ग्रहणग, इसका वैचित्र्य, इसका क्रम-विकास, इसका बहुभवन और ज्ञान-विज्ञान ही—ये स्वयं कह रहे हैं कि इस विश्वका उत्पादन किसी अनन्त ज्ञानराशि, कल्पाण-गुणमरिष्ट, निर्दोष, आनन्दमय पुरुषोस्मन्य ही हूआ है, वही इस अपार विश्वका मूल है।

जिसप्रकार विश्वविचित्र्यादि अपने मूल पुरुषोत्तमका विश्वास करते हैं इसी प्रकार विश्वकी बोधाप्तता भी अपने मूलमें विचारशील मस्तिष्कका विश्वास करती है। जिस बन्तुको एक मस्तिष्क समझ सकता है, अवश्य ही उसकी उत्पत्ति भी किसी विचारशील शक्तिमें ही होनी चाहिये। उदाहरणतः आज कल प्राचीन अन्वेषण-कर्त्ताओंने अनेक स्थानोंपर जमीन खोदकर प्राचीन जगत्के अनेकानेक घटसावशेषोंका जीर्णोदार किया है। भारतीय लुदाईमें

बौद्धकालीन और उससे भी प्राचीन अनेक शिलालेख जहाँ-तरहाँ मिले हैं। वैदीलोनिया और मैसोपोटामियामें भी इसप्रकारकी सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं। आज इजारों वर्ष बीस आनेके बाद भी जब कि उस भाषाका जानने-वाला, जिनमें कि वह शिलालेख लुढ़े हुए हैं, शब्द कोई शेष नहीं। किन्तु विशेषज्ञ विद्रोहोंने ऐंशीमे घोटीसक अपना पसीना बढ़ाकर उन शिलालेखोंके पदनेका प्रयत्न किया और उसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। उन प्राचीन-तम शिलालेखोंमें शायद कोई भी ऐसा न बचा होगा जो पढ़ न लिया गया हो, इसका कारण क्या है ? वास्तव-में उनकी रचनामें एक विशेषता थी और उस विशेषता-की सृष्टि किसी विचारशील मस्तिष्कसे हुई थी। इसीलिये हमारे मस्तिष्कने उसे समझ लिया। इसी प्रकार यदि विश्वकी गति-विधिका कोई अर्थ है, प्रयोजन है, यदि उसका स्वरूप किसी मस्तिष्कद्वारा समझा जा सकता है तो अवश्य स्वीकार करना पढ़े गा कि इसकी उत्पत्ति भी किसी अनन्त ज्ञान-भण्डार शक्तिशाली महापुरुषमें हुई है।

किन्तु ही मनुष्योंके मनमें यह सन्देह रहता है कि यदि ईश्वर नामक कोई व्यक्ति इस जगत्-में वर्तमान है तो फिर हमें दीखता क्यों नहीं? आजतक किसीको भी उसके दर्शन नहीं हुए ? नदी, पर्वत, आकाश प्रभृति पदार्थ जब जगत्-में विद्यमान हैं तो सबको उनका प्रत्यक्ष हो रहा है। ईश्वर भी यदि जगत्-में हो तो कभी-न-कभी उसके दर्शन हो ही जाने चाहिये। हमलोगोंमें किसीको भी उसके दर्शन नहीं होते हैं ईश्वर कोई वन्नु ही नहीं है, यही मानना ठीक है।

उन लोगोंमें हमारा यह प्रश्न है कि क्या जो-जो पदार्थ विद्यमान है वे सब-के-सब आपको प्रत्यक्ष होनेसे ही है ? प्रथम सो यह कहना कि 'जो पदार्थ विद्यमान है वह दीखता ही है' बड़ी भूल है। दुनियामें बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें विद्यमान रहते भी हम नहीं देखते। प्रत्यक्ष होनेके कारणोंकी सत्ता और वास्तविका अभाव होनेसे ही प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं। किन्तु ही पदार्थ वर्तमान है तथापि अति दूर होनेमें हम उन्हें नहीं देख सकते। कोई वन्नु अति समीप होनेमें भी नहीं दीखती, जैसे अपनी ही आँखका काजल। प्रत्यक्ष करनेकी इन्द्रियकी थार्थात्ता न होनेपर भी प्रत्यक्ष नहीं होता, अतएव अति सूक्ष्म कीटाणुओंके किये और ताराओंके देखनेके किये

वैज्ञानिकोंको एक पृथक् ही यन्त्रका आविष्कार करना पड़ा। क्या उसके पहले सूक्ष्मतम् तारों और कीटाणुओंकी सत्ता ही नहीं थी? किसी समय अपना चित्त अपने स्वरूपमें नहीं होता तो सामने रक्षी हुई वस्तु भी नहीं दीखती। अभिभवसे भी पदार्थका दर्शन नहीं होता। दिनमें भी तारे विद्यमान रहते हैं किन्तु सूर्यके तेजसे उनका अभिभव हो जाता है इसलिये उनका दर्शन नहीं होता। समान वस्तुमें मिल जानेसे भी पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता। अपनी अञ्जलिका जल यदि घड़ेके पानीमें मिला दिया जाय तो उस अञ्जलिके जलकी सत्ता रहते हुए भी उसका पृथक् प्रत्यक्ष नहीं होता। दुग्धमें घृत होता ही है किन्तु वह कितने ही पदार्थोंके साथ इस तरह मिला हुआ है कि उसके होते हुए भी उसका पृथक् प्रत्यक्ष नहीं होता।

इसलिये यह शैलील तो किसी कामकी नहीं कि 'ईश्वर हैं तो दीखता वर्थों नहीं! इमें दीखता नहीं इसलिये उसकी सत्ता ही नहीं!' जिस पदार्थके दर्शनकी जो रीति है, जो मार्ग है, उस मार्ग और उस रीतिका अवलम्बन करनेसे उसका दर्शन होता है, इसी प्रकार ईश्वरका दर्शन होता है, हुआ है और हो सकता है। पवन सर्वत्र विद्यमान है किन्तु किसी समय (बहुत गमीके समय) इमें यह कहना पढ़ता है कि 'भाई! आज तो हवा बिल्कुल नहीं है, थोड़ा पंखा तो करो' जब पंखा करने लगे तो हवा आने लगी। इस जगह यह प्रभ अवश्य होता है कि यह हवा कहाँसे आ गयी? क्या पंखेमें रक्खी थी जो टपक पड़ी, या क्या पंखेने पैदा कर दी? नहीं-नहीं, यह आत नहीं है, पञ्चमहाभूत सर्वत्र विद्यमान ही है, पवन भी पञ्चभूतोंमें से एक है अतएव सर्वत्र सदा ही अपने स्वरूपसे वर्तमान रहता है। जिस समय इमें गरमी लग रही थी उस समय भी वह विद्यमान था, किन्तु उसके प्रत्यक्ष होनेका जो मार्ग था वह किसीने प्रहण नहीं किया था इसलिये वह प्रकट नहीं हुआ था। जब पंखा उठाया और हिलाया तो पंखेके आघातसे वह प्रकाशित हो गया।

माना कि ईश्वर है और दीखता भी नहीं किन्तु क्या इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर है ही नहीं? ईश्वरकी प्राप्तिके लिये जो-जो मार्ग अपने-अपने अधिकारानुसार शास्त्रमें कहे गये हैं उनका अनुसारण करो, उपाधानुसार अपने मनका नियोग करो, ईश्वर दीखेगा। वह-वह विद्वान् अनुभवी महात्माओंने ज्ञान और भक्ति से दो दृष्टाव ईश्वर-

का साक्षात्कार होनेके लिये शताये हैं, ज्ञान और भक्तिके साधनोंका प्रहण करो, श्रम करो, मनको वशमें रखो, जब उसकी इच्छा होगी, दीखेगा।

छोहा, कोयला, पाथर, जल, अग्नि और बुद्धि तथा कृति किंवा जो-जो पदार्थ रेलके बनने और चलनेमें अपेक्षित हैं वे सब रेल बननेके दो सौ वर्ष पूर्व भी विद्यमान थे। रेलके दर्शन क्यों न हुए? इसका उत्तर इतना ही है कि जो मार्ग उसके बनने या प्रत्यक्ष होनेका था, वह किसीके व्यावर्तनें नहीं आया, रेल न बनी और न दीखी, अब जब उसका निर्देशक मिल गया, रेलका प्रत्यक्ष होने लगा। इन अनियंत्रित पदार्थोंके प्रत्यक्ष होनेमें जिस और जैसी निर्देशक और प्रत्यक्ष होनेकी रीतिहसी अपेक्षा रहती है उस उपदेशा और वैसी ही रीतिकी नियंत्रित पदार्थोंके प्रत्यक्ष होनेमें भी अपेक्षा रहती ही है। आकाश नियंत्रित पदार्थ है वह सर्वत्र विद्यमान है किन्तु जहाँतक उपरसे आवरण न होया जायगा और उसका निर्देशक न होगा उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा। बड़े पहाड़में विशद आकाश मौजूद है। कहीं एक जगहसे गुफाके द्वारा उसके भीतर प्रवेश किया जाता है किन्तु उसका भी मार्ग और उपदेश मिलना चाहिये, जहाँतक मार्ग और निर्देश नहीं होगा, उसका अवलोकन नहीं हो सकता।

इसी प्रकारसे ईश्वरके प्रत्यक्ष होनेमें भी मार्ग-साधनाचरण और उपदेशकी आवश्यकता है ही। किसी फलकी प्राप्तिमें यथापि साधनोंका निर्देश अनादिकालमें लिखित, पठित रहता है तथापि उसके उपदेशकी अपेक्षा रहती ही है। वेदादि शास्त्रोंमें ईश्वर-प्राप्तिके उपाय कहे हुए हैं तथापि तन्मार्ग और तस्वाधनोंके उपदेशार्थोंकी आवश्यकता रहती ही है।

आजकल स्वतन्त्रताका वायु बड़े जोरसे बह रहा है। आजकल सभी स्वतन्त्रता चाहते हैं। वास्तवमें स्वतन्त्रता ही जीवमात्रका धैर्य है, परन्तु वह स्वतन्त्रता कहाँ है? सुख, स्वतन्त्रता, ज्ञान, दक्षिण्य, दया प्रभूति गुण भी किसी-न-किसी अप्रमेय सजानेमें से ही आते हैं, अन्यथा—

'नास्तो विद्यते भावे नाभावे विद्यते सतः।'

इस सिद्धान्तके अनुसार किसी भी पदार्थका आकस्मिक दर्शन होना ही अधिक्षसनीय समझा जायगा। सुख, स्वतन्त्र, दया, दक्षिण्य और ज्ञान प्रसृति गुणोंका जो पूर्ण अपेक्षा है वही ईश्वर है। पर उसका प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञान-

मार्ग, भक्तिमार्ग प्रभृति उपायोंके हारा ही हो सकता है। बाहरी थोथे प्रपञ्चोंमें नहीं।

पठकगण ! जो लोग भारतीय आध्यात्मिक विद्यासे शृन्य हैं, विदेशीय विद्या, भाषा, सभ्यता और विदेशीय भावोंमें भरे हैं, उन्हीं लोगोंको ऐसी ऊट-पटांग बातें और विचारशक्तिकी कस्टोटीपर क्षणमात्र भी न ठहरनेवाले तर्क सूक्ष्मा करते हैं। जो लोग इदं भास्तिक हैं, जिन्हाने अपने

धरको अच्छी तरह देख लिया है, जिन्हें अपने शास्त्र, अपने पूर्वज और उनके ज्ञानपर पूर्ण विश्वास है तथा जिन्हें परमात्मापर भक्ति है वे लोग तो ऐसी पापमरी बासोंको न तो अपनी जिज्ञापर भी लाना चाहते हैं और न कानोंमें सुनना ही चाहते हैं। उन्हें तो वृक्षोंके प्रथेक पत्र, मूल और ढालियोंपर, आकाशमें, पृथ्वीपर, बायुमें, समुद्रमें किंवा विश्वके समस्त पदार्थोंमें हृष्टरके दर्शन हो रहे हैं !

परमात्माका अस्तित्व

(लेखक—बाचार्य श्रीक्षितानन्दनाथ ठाकुर)

हिरण्यमें परे कोवे विरजे ब्रह्म निष्करम् ।



प्रतापचन्द्र मन्त्रमदार जब यहले-
पहल विलायत गये थे तब वहाँ
अध्यापक टिरहालमें भेंट होनेपर
टिरहाल महोदयने उनमें कहा था
कि किसी समय पूर्वसे ही सत्य-
धर्मका उदय हुआ था और अब
दूसरी बार भी वह पूर्वसे ही

बदित होगा ॥

१-क्रषि-प्रदर्शित पथ—

भारतके पुरुषलोक ऋषियोंहारा ही सर्वप्रथम सत्य-
धर्मका प्रचार हुआ था। इसका प्रधान कारण भारतके
ऋषियोंका आरम्भ-प्रत्यय था। ऋषियोंने कभी आरम्भ-
प्रत्ययका र्याग नहीं किया, प्रत्युत वे उमीका अवलम्बनकर
दशरीर, मन और वाणीसे अध्यात्म-तत्त्वकी खोजमें लगे रहे।
इस आरम्भ-प्रत्ययने ही उनको बतलाया कि 'आत्मा है
और वह अपनेदो लाप ही पहचान सकता है'। इसी
आरम्भ-प्रत्ययके आधारपर उन्होंने आरम्भस्तरपकी प्राप्ति की
और अपनेको कृतार्थ समझा। आरम्भ-प्रत्ययमें उन्हें यह
निश्चय हो गया था कि भूमा हृष्टर है। इसी निश्चयके
सहारे उन्होंने आरम्भस्तरपकी प्राप्तिमें लगकर आरम्भ-
प्रत्यय-सिद्ध जिन अमूल्य सत्य तत्त्वोंका आविष्कार किया
था, आज भी वे सब सत्य सुकृकण्ठमें उनका यशोगान
कर रहे हैं। इसके पश्चात् जब आर्यगण अपने पूर्वपुरुष
ऋषियोंके प्रदर्शित पथसे विपरीत चलकर यों-ज्यों आरम्भ-

* True religion once come from the east
and from the east it shall come again.

प्रथयकी अवहेलना करने लगे, ल्यों-ही-ल्यों आन्त मत
और उपधर्म आदिका प्रचार बढ़ने लगा। पर हमें आशा
है कि हम पुनः वैदिक ऋषियोंके बतलाये हुए आरम्भ-
प्रत्ययके सम्बन्धका अवलम्बनकर जगत्में फिर सत्य-
धर्मका प्रचार कर सकेंगे; और अध्यापक टिरहाल-जैसे
वैज्ञानिक विद्वान्की उपर्युक्त उकिमें हमारी इसी भाषाकी
प्रतिक्रिया सुनायी दे रही है।

२-ब्रह्मतत्त्वमें आरम्भ-प्रत्यय—

आध्यात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें एकमात्र आरम्भ-प्रत्यय ही
सर्वोत्तम उपाय है। इस आरम्भ-प्रत्ययके आश्रयमें आरम्भ
और आरम्भज्ञानके सम्बन्धमें जो जाननेमें आता है, कुत्कु
छोड़कर युक्तियुक्त विचार करनेपर उस सबकी सत्यता ही
मिद्द होती है। यहाँ हमें देखना है कि ब्रह्मतत्त्वके
सम्बन्धमें आरम्भ-प्रत्यय जो कुछ बतलाता है वह सत्य है,
कल्पना नहीं है।

३-ब्रह्मज्ञान आरम्भ-प्रत्यय-सिद्ध सत्य है—

जिसप्रकार अपनेको जान सकना आरम्भ-प्रत्यय-सिद्ध एक
महान् सत्य है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान भी आरम्भ-प्रत्यय-सिद्ध
महान् सत्य है। आरम्भ-प्रत्यय स्पष्ट कहता है कि
ब्रह्मसत्ता सर्वांगेका अधिकार और महसूस सत्य है। सुतरा
हमें यह कहनेका विदेष अधिकार है कि यदि ब्रह्मका
बन्धुत्वः अभिनव है और यदि वह सम्पूर्ण सर्वदोका मूलतम
सत्य है तो इस बाब्त जगत्में और अन्तर्जंगत्में सर्वत्र
उसका किसी-न-किसी प्रकार परिचय अवश्य पावेंगे।

इष्टान्तस्त्रपमें भौतिक जगत्के एक सम्पूर्ण ही छींखिये।

‘भूयाकर्षण’ (वह शक्ति है जिसके बलसे विद्युत्ब्रह्माण्डके सम्पूर्ण परमाणु निर्दिष्ट नियमके अनुसार एक दूसरेको आकर्षित कर रहे हैं) यह भौतिक जगतका एक सुप्रतिष्ठित सत्य है । पर जिस समय पहले-पहल इसका आविष्कार हुआ था, उस समय इसको छोरोंने सत्य नहीं समझा था । उस समय वह केवल एक मत था कि सम्पूर्ण परमाणुओंमें एक नियमित आकर्षण-शक्ति है, चाहे वे परमाणु जलते हुए सूर्यमें हों, ग्रहोंमें घूम रहे हों, वायुमें बहते हों अथवा प्राणियोंके देह-यन्त्रोंमें नियास करते हों । किर परीक्षा होते-होते यह नियम्य हो गया कि इस सत्यमें कहीं व्यतिक्रम नहीं है । तब सबने मध्याकर्षणके नियमकी सत्यताको स्तीकार कर लिया । ग्रहों और उपग्रहोंके परिभ्रमणमें, बस्तुओंके पृथक्कोपर पड़नेमें, विषुववृत्त (Equinoctial) और केन्द्रवर्तिन्यानोंमें, भारकी तारतम्यतामें, समुद्र-गर्भमें, भारकी अधिकतामें—इसप्रकार नाना प्रकारकी घटनाओंमें मध्याकर्षणरूप सत्य-नियमका प्रसार सर्वत्र दीखने लगा । अतः जिस-प्रकार इस मध्याकर्षणरूप नियमको इमण्डोगोंने आरम्भमें किसी प्रकार प्राप्त किया और किर परीक्षामें इसकी सत्यताको मान लिया, इसी प्रकार हम जानते हैं या हमारी भारणा होती है (चाहे वह आत्म-प्रत्ययके अवलभवनसे हो या अन्य किसी उपायमें, यह जाननेकी यहाँ आवश्यकता नहीं) कि ईश्वर है और वह इसम्पूर्ण सत्यका मूलाधार है, वही सत्यका मूल निर्भर—परम सत्य है । अब हमें यह देखना है कि हमारी यह धारणा केवल कहना ही है या सत्य है । इसके लिये यह देखना होगा कि हमें जिन विषयोंका ज्ञान होता है उन सभीमें ईश्वर है या नहीं । जब हम ईश्वरको सब सत्योंका मूल कहते हैं तब ज्ञानके किसी एक ही अंगविशेषको देखनेमें ही काम नहीं चलेगा । ज्ञानके समस्त अंगोंमें हमें ईश्वर देखना होगा ।

५—ईश्वर हमें पूर्णरूपमें प्राप्त नहीं हैं, इसीसे उनका अस्तित्व अस्तीकार नहीं किया जा सकता । यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये कि यदि हम ईश्वरको पूर्णरूपमें नहीं समझ सकते या वह जिन विषयमोंसे जगतका नियमन करता है, उन सब नियमोंको नहीं जान सकते, सो इससे ईश्वर है ही नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता । ऐसा जानना तो सर्वथा पागलपन है । हम यह जानते हैं कि

५३

मध्याकर्षणका नियम जगतमें कार्य करता है और इसीलिये उसके अन्तिष्ठिको भी स्तीकार करते हैं । परन्तु वह इस-प्रकार कार्य करता है ? इस नियमको रक्षा किस तरहसे होती है ? और बस्तुतः यह क्या शक्ति है ? इन बातोंमें गहरा रहस्य भरा है । एक प्रकारे परमाणु दूसरे प्रकारे परमाणुओंसे हजारों कोस दूर रहकर भी बिना ही किसी जड़-प्रवलम्बनके किसप्रकार परम्पर आकर्षण करते हैं, यह हमारी विचार-धारामें अतीत है । तो भी इस शक्तिको काम करते देख और जड़-जगतमें उसका परिचय प्राप्तकर इस स्वीकार करते हैं कि निश्चय ही यह शक्ति है । इसी प्रकार ईश्वर इस जगतका किस शक्तिके हारा नियमन करते हैं या उनका स्वरूप क्या है इत्यादि बातें पूर्णरूपमें समझमें न आनेपर भी यदि हमें इस विद्य-ब्रह्माण्डमें सर्वत्र उनका परिचय प्राप्त हो, सभी जगह उनका हाथ दीख परे तो हमें बाध्य होकर मानना पड़ेगा कि परमात्मा अवश्य है और वही सब सत्योंके मूलाधार, परम सत्य है ।

हमारी जुदि बहुतें चाहे न समझ सके, उनकी ‘स्वाभाविकी ज्ञानवलक्षिता’ चाहे सम्पूर्णरूपमें हमारी जुदिमें न आवे, परन्तु कनक-किरण-रजित प्रभात-गगन उनकी महिमा गानेमें कभी निष्ठृत नहीं होगा और न गम्भीर रात्रिमें व्याकुल-चित्त साधकके समें प आगामित ईश-नक्षत्र पद-पदपर नाचते हुए ईश्वरकी मत्ताका सन्देश सुनानेमें कभी विरत होंगे । समग्र मानव-समुदायके आत्मा-से सर्वथा ही ब्रह्म-जिज्ञासाका महामंगल ध्वनित होता रहेगा ।

६—हमारे ज्ञानके कितने अंग हैं—

पहले कहा जा चुका है कि हमें अपने ज्ञानके समस्त अंगोंमें ईश्वरका परिचय प्राप्त करना पड़ेगा । अतः हमें सबसे पहले यह देखना होगा कि हमारे ज्ञानके कितने अंग हैं । साधारणतः इम आत्मज्ञानके प्रधान चार अंग देखते हैं—इच्छाशक्ति, प्रज्ञा, नीतिज्ञान और अद्वा ।

(१) इच्छाशक्ति—इस समझते हैं कि हम इच्छा करते हैं और हम ही उस इच्छाके अनुसार कार्य भी करते हैं । इच्छानुसार किये हुए यथ और चेष्टाओंको ही कार्यका कारण समझते हैं । क्योंकि कार्य-परम्परा हमें उस कारण-का अनुसरण करती दीखती है । इसलिये हम मानते हैं कि हमारी सकलताका असकी कारण हमारी इच्छा ही है ।

(२) प्रजाशकि-प्रज्ञाकी शक्तिसे ही हम श्वसका और अमृतखाका भेद समझ पाते हैं। इसीके द्वारा हम किसी-किसी उद्देश्य-साधनके लिये अनेकों उपायोंको काममें लानेकी चौंच करते हैं। इसीसे हम वस्तुओंके विभिन्न ग्रंथोंमें सामन्तर्यका अनुभव करते हैं। सारांश यह कि जिन सब कार्योंको ज्ञानका कार्य कहा जाता है, वे सभी इस प्रजाशकिद्वारा सम्पादित होते हैं। इसप्रकार हम समझते हैं कि एक प्रजाशकि हमारे अनंदर हैं जो भविष्यत-के प्रति इह रखतों हैं एवं उद्देश्य स्थिर करने आदिका कार्य करती है।

(३) नीतिज्ञान-इसें ज्ञात है कि हमारे अन्दर न्याय और अन्यायका भाव इतामें अंकित है। न मालम कौन खुपके-खुपके कह जाता है कि यह कर्तव्य है, इसको करना ही पड़ेगा एवं यह अकर्तव्य है, इसका परित्याग करो। कर्तव्य-पालनमें उत्पश्च होनेवाली आरम्पसङ्गता और अकर्तव्य-कर्मके सम्बन्धमें पैदा होनेवाली आरम्प-न्यायनि किसीमें छिपी नहीं है। जबतक हम अपनेको मनुष्य कहेंगे, तबतक मनुष्योंचित दायित्वमें हम कभी मुक्त नहीं हो सकते। जिसप्रकार मरकोंकी प्रशंसा किये जिना हममें नहीं रहा जाता, इसी प्रकार तुमे कामोंमें युद्ध किये जिन भी वित्त नहीं मानता। अतः यह सिद्ध है कि हम सत्-असत्तकी विवेचनामें रहित दायित्वहीन नहीं, प्रस्तुत नीतिज्ञानयुक्त और दायित्व-विकाष मनुष्य हैं।

(४) श्रद्धा-हमें यह ज्ञात है कि हमारे आत्माके अनंदर एक भाव श्रद्धा है। इसीके प्रभावमें हम किसी सीमित पार्यिव-पदार्थमें किसीं प्रकारमें या किसी भी ज्ञानमें सन्तुष्ट न होकर सबके आप्रयोग, अनन्तस्वरूप परिपूर्ण परमप्रिताका साजिष्य प्राप्त करनेकी योग्यता लाभ करते हैं। यह श्रद्धा ही मानव-आत्माका उच्चतम अधिकार है। यही हमें सिखलाती है कि हम भी उम शुद्ध-शुद्ध-मुक्तस्वरूपकी सत्तान हैं। इसी श्रद्धाकी सत्तामें हमारे आत्मामें ईश्वरकी पवित्र मूर्ति प्रतिकूलित होती है। श्रद्धाके कारण ही हमें यह ज्ञात होता है कि हम केवल इस पृथ्वीके भीव नहीं हैं, एक लोकसे लोकान्तरमें जाकर उसरोंतर उभाति यास करते हुए। हम प्रभुकी महिमाकी और भी अधिक उत्साहमें योग्यता कर सकते हैं।

इसप्रकार मानव-आत्माके ज्ञानको न्यूनतः चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। मनुष्यमात्रमें ये

चारों अंग समान स्वरूपसे ही प्रस्फुटित हों, यह बात नहीं है। उसत, सुसभ्य साधुके हृदयमें हनका जैसा समुज्ज्वल प्रकाश होता है, दृष्टिं-अभेरिकाके असभ्य मनुष्य-हृदयमें वैसी उज्ज्वलतासे इनका प्रकाश नहीं हो सकता। परन्तु ज्ञानके इन चारों अंगोंके बीज तो अवश्य ही मनुष्यमात्रके हृदयमें हैं। आदिम ज्ञानवके हृदयमें भी इस चतुर्विध ज्ञानका बीज बोया हुआ था; इसके अनेकों प्रमाण हैं। परन्तु उसके निकट इनके पृणालीयबोनोंको खोजने जाना, वहे भारी घट-पृक्षकी युग्मावली जाननेके लिये घट-बीजके पास जानेके समान व्यर्थ है।

६-आरम्भज्ञान ही ब्रह्मज्ञानका सोपान है—

मानव-आत्मा अपने ज्ञानके चार अंगोंके आधारपर परमात्माको चार प्रकारसे उपलब्ध करता है—

(१) कारणवाद-ईश्वरको हम सर्वविक्षिप्तान, हृच्छामय पुरुष जानते हैं। वे इच्छामें ही इस विश्वको रचकर और नियमित बनाकर अपना मंगलमय उद्देश्य सफल कर रहे हैं। प्राणात्म दार्शनिक ईश्वरको जगत्-के लट्ठा और पालन-कर्ताके रूपमें स्वीकार करनेको 'कारणवाद' कहते हैं।

(२) प्रजावाद जब विश्व-शिष्यकी आदामें बुद्धिके द्वारा प्रता लगावेपर हम कौशलको कार्य करने देखते हैं तो हम स्वभावतः ही उस विश्व-रचयिताके ज्ञानस्वरूपका दर्शन करते हैं, तब हमें यह ज्ञात होता है कि वह 'सर्वज्ञ' 'सर्वविद्' है, वह सर्वरूप घटनाओं और समल विषयोंको साधारण्यस्थलपरे भी जानता है एवं विशेषरूपमें भी। वही समझ ज्ञानकी चरम सीमा है। वह प्रयेक प्राणीके योग्य उपयुक्त व्यवस्थाकर सब बातोंका विधान करता है। 'यायात्थद्योउर्यान् व्यदधान शाशतीयः समाधः,' हम-प्रकार जगत्-में कौशलका प्रसार देखकर ईश्वरको ज्ञान-स्वरूपमें उपलब्ध करना ही प्राणायोंका बुद्धिवाद (Argument from design) है।

(३) नीतिवाद जब हम अपने आत्मामें अपने ही भीतरमें सदा-सर्वदा पवित्र रहनेका एवं सुपथपर चलनेका आदेश प्राप्त करते हैं, तो हमें उस आदेशदाता परमगुरुके पवित्र 'शुद्धमणापविद्म्' शुद्ध-शुद्ध-मुक्तस्वरूपके दर्शन होते हैं। उम ममय हमें ज्ञात होता है कि वह परिपूर्ण न्यायस्वरूप है। हम स्वरूपमें उपसका कभी पतन नहीं होता। हम पवित्र भावसे पवित्रस्वरूप ईश्वरको उपलब्ध करनेका नाम नीतिवाद है।

(४) प्रद्वावाद-जब हम अपनेको उसकी सन्नाम समझते हैं तब हमें उस ईश्वरके पिताके रूपमें दर्शन होते हैं । उस समय हम उसे परमपिता, कलणामयी माता, प्रेममय सत्ता आदि नामोंसे सम्बोधित करते हैं । उसे अनन्त प्रेमके परिपूर्ण प्रवत्तनाके रूपमें अनुभव करते हैं । यही मनुष्यकी उच्चतम अवस्था है । यही अध्यात्म-धर्मकी सुप्रशम्न पत्तनभूमि है । इस अवस्थाका इणिक न रहकर स्थायी हो जाना ही आत्माका चरम लक्ष्यपर पहुँच जाना है । यही अध्यात्म-योग-संसिद्धि है । इसप्रकार आध्यात्मिक भावमें ईश्वर-पितृत्व उपलब्ध करना ही अद्वावाद है ।

हमने यह देखा कि आपमा अपने इन चार अंगोंके भवलग्नमानमें ईश्वरकी चार प्रकारमें उपलब्ध करता है । कोई-कोई ऐसा कहकर मजाक करते हैं कि इसप्रकारकी ईश्वरोपलब्धि उसका मानवीकरण है, परन्तु हम इसको मानवीकरण नहीं कह सकते । प्रतिषक्षियोंका कहना है कि हमारे अनन्दर जो चार प्रकारका ज्ञान है उस ज्ञानके साथ मिले हुए मनुष्यभावके एक वृहत् या भूमारूपकी कल्पनाको—उस वृहत् मनुष्यको हम ईश्वरका नाम देनें हैं । पर हमारा यह कहना है कि हम ईश्वरकी वृहत् मनुष्यरूपमें कल्पना नहीं कर सकते । हमें यह पता है कि हमारे आपमामें जो शक्तियाँ हैं, ईश्वरमें वे शक्तियाँ हममें अनन्तगुण अधिक हैं । यह भी समझत है कि हमारी आत्म-शक्तियोंके अतिरिक्त और भी अनेक विभिन्न शक्तियाँ ईश्वरमें हैं । अवश्य ही उन सब शक्तियोंके विषयमें हम कुछ भी जाननेमें समर्थ नहीं हैं । हम अपने

ज्ञानकी सीमाका किसी प्रकार अतिक्रमण नहीं कर सकते । देवताकोंमें जानेपर यदि हमें कोई विशेष शक्ति प्राप्त होती तब हम उस शक्तिके आधारपर एक नवीन भावमें ईश्वरका परिचय पा सकते । हम अपनी ईन्द्रियोंके कार्योंको जान सकते हैं, इसीलिये अन्य व्यक्तियोंके भी उच्चत या अनुच्छेद ईन्द्रिय-कार्योंको समझते हैं । हमारी ईन्द्रियोंके अतिरिक्त कोई विशेष इन्द्रिय है, या विशेष इन्द्रियका कोई विषय है, इस बातकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते । हमारे अनन्दर जो भाव, वृत्ति या ज्ञान हैं, वे सभी अन्य जीवोंमें न्यूनधिक परिमाणमें हैं । यह कल्पना हम अनायास कर सकते हैं । परन्तु हमारी ज्ञानवृत्तियोंमें अतिरिक्त भिन्न प्रकारकी ज्ञानवृत्तिवाले जीवकी धारणा हम किसी प्रकार नहीं कर सकते । इसका कारण यह है कि ज्ञान चाहे कितनी ही उच्च सीमापर आरोहण कर जाय, वह अपनी अभिज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानमें उपकरण संप्राप्त नहीं कर सकता । इसीलिये हम कहते हैं मानव-आत्माद्वारा ईश्वरको जानना उसका मानवीकरण करता नहीं है । ईश्वरकी जो शक्तियाँ हैं, अनन्तः उनमेंमें कुछ शक्तियाँ उस परमप्रभुने मानव-आपमामें निहित कर दी हैं । अतएव परमाप्नीमें मानव-आत्माका कुछ अंशमें तो निश्चय ही उन्नुगत साधश्य है । जब हम भूमाके प्रति मानव-आत्माकी एक गहरी आकांक्षा देखते हैं और यह देखते हैं कि जगनमें तृष्णा, क्षुधा प्रभृति नाना प्रकारकी आकांक्षाओंकी एतिके उपाय विद्यमान हैं तब फिर क्या हम आकांक्षाकी तुसिका कोई उपाय नहीं होगा ? अधिक क्या, यह आकांक्षा ही उम भूमा पुरुषके अन्तित्वकी साक्षी देती है ।

ईश्वर सब भूतोंके सुहृद्

(लेखक—मीमनन्तराव कोहिटकर, वी० ८०)

हम भीतिक सुधारोंके युगमें, क्लोग प्रायः स्वार्थपरायण हो रहे हैं, ईन्द्रिय-भोग ही उसका एकमात्र ध्येय हो गया है । स्वार्थके लिये परपीड़न करते समय, निवारण करनेवाले ईश्वरांश अनन्दरात्माकी आवाजको सुनकर भी वे नहीं जानते । ईश्वरांश और स्वासुभूत अनन्दरात्माको न जाननेवाले क्लोग अहरय तथा अचिन्त्य परमाप्नीमाको कैसे साम सकते हैं ? विश्वका पालक विश्वभूतालके हेतु सुमहारे ही हृदयमें आ बैठा है और तुम्हें सर्वेषा पापसे निहृत करता रहता है, उसीकी आशा भानते जाओ और सर्वे सुख सत्या शाश्वत कल्पयात्रके भागी बनो ।

ईश्वरमें विश्वास

जब मनुष्यको यह विश्वास हो जाता है कि ईश्वरने मेरा हाथ पकड़ लिया है, तब वह ईश्वरके इतना नजदीक पहुँच जाता है कि उसके हृदयमें आशंका या भय रहता ही नहीं । उसको प्रतीत होता है कि जगन्नकी कोई भी क्षतुश्चिति उसपर आधार नहीं पड़ता सकते । ‘ईश्वर सदा-सर्वदा’ हमारा हाथ पकड़े हमारी रखा कर रहे हैं’ ऐसा विश्वास होनेपर जीवनमें विलक्षण निश्चिन्तना आ जाती है । और अपनेको वह शान्ति तथा शक्ति मिलती है जो अन्य किसी भी वस्तुमें नहीं मिल सकती ।

—आरिसन मार्डन्

शक्ति और शिव

(नेष्ठक—पं० भीगौरीशंकरजी द्विवेदी, साहित्यरचना)



फँसाकर किर 'वास-ना' 'वास-ना' रूपी हृदय-विदारक सार्वभौम धोयणाको न मनाती तो जगतकी जिज्ञासामें कौन लगता ? तब तो जीवनकी तरी मठा सुख-सागरके मरणोंमें तरंगायमान होती हुई बहती चली जाती ! छो ! जीवनके सूखती तहमें भी मृत्युका कोमल लाल्य कैसा भयानक परिशाश्य उपस्थित करता है जिसके स्परणमात्राये अस्तित्व प्राप्ति कोंप उठने हैं । मठाने जगभूष्टी कमलीय, कोमल कुमुमकलिकाके कलेवरको भाँति-भाँतिके मनो-मुखकारी रंगोंसे रीझनकर इसके अन्तर्गत अपने इंकाँमें मृत्यु-व्यथाये ध्ययित करनेवाले काल्कीटको आश्रय क्यों दिया ? सुख-दुःख, हृद्या-देष, लोभ-मोह आदि नाना प्रकारके इन्द्रोंके मध्य लीचातानीमें पषा हुआ जगत् कैसा कोलाहल मचा रहा है ! वहा ही हृदय-विदारक रक्ष्य है !

इसी दृश्यमें द्रवीभूत होकर भारतके मनस्त्वयोंने सहस्रावधि संवर्म्पर्यन्त कष्ट सहकर महान तपके द्वारा जीवोंको हस दुःखसे उद्धार करनेके निर्मित विभिन्न मार्गोंका अन्वेषण किया । दिन-शत हस प्राणधारियोंको दुःखमें भय-भीत होकर उसमें छुटकारा पानेके लिये चेष्टित देखते हैं, जगत्मैं दुःखकी यह व्यापकता हसने व्यष्टप्रस्ते दीख पढ़ती है कि इसकी ओरसे निःशंक होकर जीसा हुआ कोई भी दृष्टिपथमें नहीं आता । इस परम सत्यको कि— संसार दुःखोंसे आद्यत है, दुःखोंमें निर्मित हो दुःखोंके हारा ही परिचालित हो रहा है—सभी महापुरुषोंने एक स्वरमें श्वीकार किया है । भगवान् बुद्धके चार परम सत्योंमें सर्व-प्रथम हमीकी गणना हुई है कि जीवन-जगत् दुःखमय है । भगवान् पतञ्जलिने भी यही कहा है कि—

'परिणामतापसंस्कारदुःखमेव सर्वे विवेकिनः ।'

वस्तुतः जब हम दुःखमें भयभीत होकर उससे बचने-में ही सबको संलग्न देखते हैं तो इस तथ्यको श्वीकार कर ही कैसे सकते हैं ? अथवा इसमें सन्देह ही कैसे उपस्थित हो सकता है ? ईश्वरहृष्ण अपनी कारिकामें संत्यतत्त्वान्वेषणके आदिभूत इस सिद्धान्तका निरूपण करते हुए कहते हैं—

दुःखत्रयाभिघाताजिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।

द्वै साऽपाया चेत्कान्ताऽयन्तोऽभावत् ॥

अर्थात् 'तीनों प्रकारके दुःखोंमें संताङ्गित होकर उसके नाशके कारणोंको सोजनेमें मनुष्य लगे हुए हैं, परन्तु इस उनको जिन उपायोंका प्रयोग करते हुए देखते हैं, वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनमें दुःखका अस्त्यन्त अभाव नहीं होता ।' जगतमें दुःखमें बचनेकी चेष्टामें इन हो जो मनुष्य मुखस्वादनके लिये लालायत हो रहा है, उसके लिये सावधान करने हुए भगवान् बुद्ध कहते हैं—

को नु हसो किमानन्दे निष्ठं पञ्चलिते सती ।

अन्धकारेण ओन्द्रा पद्माप नो गदस्सथ ॥

अर्थात् 'हे मनुष्य ! इस निष्प्रति प्रज्वलित जगत्मैं मुख कहाँ और आनन्द कहाँ ? अरे ! जिज्ञानान्धकारमें दुःख दस ज्ञान-श्रीपक्को क्यों नहीं सोजता ?' वस्तुतः प्रज्वलित त्रिनायानलमें ब्राह्म पानेके लिये उस ज्ञान-श्रीपक्के सोजनेकी आवश्यकता है जिसकी प्राप्तिमें भगवान् के उपर्युक्त संकेतके अनुसार यथार्थ मुख और आनन्दको पाकर जीव कृतार्थ हो सकता है ।

पहले कहा जा चुका है कि भारतके मनस्त्वयोंने प्रतदर्थ विभिन्न मार्गोंका अन्वेषण किया है, अतः उनके पदोंका ही अनुमरण करते हुए यथासति संक्षेपमें जिज्ञानान्धकारसे दके ज्ञानश्रीपक्के सोजनेकी चेष्टा की जाती है ।

मानव-जीवन जिम जगत्मैं आवद हो रहा है उसे इम शीम भागोंमें विभाजित कर सकते हैं—श्रीषिक

जगत्, मानसिक जगत् और बौद्धिक जगत्। जीवनके समस्त क्रियाकलाप हमें तीन भूमिकाओंमें होते हैं। इनके ही ज्ञानस्पी बनधन (जिसे अविद्यानन्धकार कह सकते हैं) में पदा हुआ मानव-जीवन हुःख अनुभव करता है।

भौतिक जगत्के ऊपर यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो ज्ञान होता है कि यह समस्त क्रीड़ा केवल तीन ही खेलाड़ियोंकी खेल है, वे हैं—द्रव्य, गुण और कर्म।* उदाहरणके लिये एक छोटे-से बीजको लीजिये; वह द्रव्य है, उसमें रूप, रंग, अंकुरित होना सथा पुष्पित, पल्लवित होना आदि गुण हैं और कर्मके द्वारा इस इन गुणोंको उसमें प्रत्यक्ष देखते हैं। पृथ्वी एक द्रव्य है, उसमें आकर्षण, उत्पादन आदि गुण हैं और दैनिक तथा वार्षिक गति (कर्म) के द्वारा वह दिन-रात तथा शृङ्खलोंका प्रादुर्भाव करती हुई नाना प्रकारकी ओचित्रियों, वनम्पतियों एवं प्रजाका उत्पादन और धारण-पोषण करती है। सारांश यह है कि भौतिक जगत्में जहाँ कहाँ जो कुछ दीख पड़ता है वह द्रव्य, गुण और कर्मकी क्रीड़ाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह तीनों इसप्रकार एक माथ मिलकर खेलते हुए दीख पड़ते हैं कि इनको अलग करना असम्भव-सा जान पड़ता है।

इन तीनोंको यदि इस दार्शनिक भाषामें व्यक्त करें तो कह सकते हैं कि द्रव्य तम है, गुण सत्त्व है और कर्म रज है। सांख्य-शास्त्रमें वर्णित सत्त्व-रज-तमकी परिभाषासे इन द्रव्यादि तीनोंको मिलानेसे इनमें तानिक भी अन्तर नहीं दीख पड़ता। ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

सर्वं लघुप्रकाशकमिष्टमष्टमकं चलं चरतः।

गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपदवार्थतो वृत्तिः ॥

अर्थात् ‘सत्त्व लघु और प्रकाशक, रज उपषष्टमक और चल, सत्त्वा तम भारी और आवरण ढालनेवाला होता है।’ अब इनमें द्रव्यादि तीनोंको मिलाइये। वृक्ष द्रव्य

* यथापि अश्वमट्टने ‘द्रव्यगुणकर्मसामान्यविवेषसमवाया भावाः सप्त पदार्थाः।’ इसप्रकार सप्त पदार्थोंको सीकार किया है तथापि सामान्य, विशेष, समवाय और अभावकी सत्ता द्रव्यादि तीनोंके नानात्वसे अपेक्षित होनेके कारण मूलतः तीन ही पदार्थ माने गये हैं।

है, इसमें भारीपन और आवरण है; वृक्षको प्रकाशित करनेवाले गुण हैं रंग, रूप आदि, जो लघु और प्रकाशक हैं। उसमें बढ़नेका कर्म उपषष्टमक और चल है। अतः भौतिक जगत्को दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि वह सत्त्व, रज, तमकी क्रीड़ा है।

अब मानसिक जगत्को लीजिये। मानसिक ध्यापार्ती-पर ध्यानपूर्वक विचार करनेसे उन्हें भी तीन ही प्रमुख तत्त्वोंमें हम विभाजित हुआ पाते हैं—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इसमें वेदना, स्मृति आदिका समावेश ज्ञानके अन्दर, लोभ-द्वेषादिका इच्छाके अन्दर, सत्त्वा विचार, चिन्ता, संकल्प आदिका क्रियाके अन्दर हो जाता है। मानसिक ध्यापार्तीका यह विश्लेषण उदाहरणद्वारा सुगमतासे समझमें आ जा सकता है। मान लीजिये वृक्षपर एक फल है। उसे चक्षुरिन्द्रियद्वारा देखकर मनमें फलके होनेका ज्ञान हुआ, तत्काल उसके प्राप्त करनेकी इच्छा (लोभ) उत्पन्न हुई और उसमें कर्मेन्द्रिय (हाथ) को इसके लिये प्रेरित किया। यहाँ प्रेरणा किया हुई। दूसरा उदाहरण लीजिये, रास्तेमें एक सर्वप्रकाशक आँखोंद्वारा देखकर मनको उसका ज्ञान हुआ, उसे धानक समझकर बचनेकी इच्छा हुई और भागनेके लिये कर्मेन्द्रिय (पैरों) को प्रेरणा करना किया हुई। इसी प्रकार समस्त मानस-जगत्को हम ज्ञान, इच्छा और क्रियासे ओतप्रोत पाते हैं। परन्तु यह तीनों भी सत्त्व, रज और तमके ही रूपान्तर हैं। योगदर्शनके भाष्यमें वेदव्यासजी कहते हैं—

‘चित्तं हि प्रस्थाप्रवृत्तिस्पृतिरीत्यत् विगुणम्।’

अर्थात् चित्त (मन) की तीन अवस्थाएँ हैं—प्रस्था-(प्रकाश) शील ज्ञान, प्रवृत्तिशील क्रिया और स्थिति-शील इच्छा। इन प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थितिको सत्त्व, रज और तमका ही पर्याय समझना चाहिये। इसप्रकार मानसिक जगत्को भी हमने सत्त्व, रज और तमकी क्रीड़ाके रूपमें देखा।

अब रहा बौद्धिक जगत्। मानस-ध्यापारके उपरम होनेपर जो जीवनकी स्थिति होती है उसे हम बौद्धिक जगत्के नामसे उपार्करण करते हैं, उस समय हुद्दि या सो सत् अवस्थामें रहती है या चित् अथवा आनन्दकी अवस्थामें। इसप्रकार बौद्धिक जगत्का विश्लेषण भी तीन ही प्रमुख शब्दोंके अन्वर्गक होता है। सत्, चित् और

आनन्दको इस सत्त्व, रज और तमका ही रूपान्तर समझते हैं, क्योंकि सत् प्रकाशक है, चित् चतु है और आनन्द गुरुवृण्ण है।

इसप्रकार व्यक्त जगत्की तीनों अवस्थाओंका विश्लेषण करनेसे यह ज्ञात हो गया कि यह समस्त लोला सत्त्व-रज-तमकी कीड़ा है। इस कीड़ाके देखनेके हमारे पास तीन साधन हैं—बाह्यकरण, अन्तःकरण और तुदि। बाह्यकरण (विन्दियों) से भौतिक जगत्के व्यापार, अन्तःकरण (मन) से मानसिक जगत्के व्यापार तथा तुदिके द्वारा बांधिक जगत्के व्यापारोंका बोध होता है। तुदिके व्यापारके परे सत्त्व, रज और तमकी साम्यावस्था (अर्थात् जहाँ सत्त्व, रज और तम विकृतरूपमें न होनेके कारण अव्यक्तावस्थामें हैं) प्रकृति पर्देमें बैठी हुई यह सारी लीला करती जा रही है। ईश्वररूपण कहते हैं—

प्रकृतेर्महांस्तंतोऽहम्बारस्तसाद्विषयः पोदशकः ।
तसादपि बोदशकात्पञ्चमः पञ्चभूतनि ॥

जिस जगत्सूखी खेलको हम द्रव्य (तम), गुण (सत्त्व) और कर्म (रज) की कीड़ा समझते थे वह बहुतः इन तीनोंकी साम्यावस्था अर्थात् प्रकृतिका खेल है। प्रकृतिरूपी नटी रंगभूमिमें आती है, ‘वह मायाविनी अव्यक्तरूपमें रहकर तुदि (महन्) को प्रकट करती है, तुदिमें अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकारमें पञ्च तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रियों आती हैं, पञ्चमहाभूत प्रादुर्भूत हो जाते हैं’। इसप्रकार इस विलक्षण विश्वरूप रंगभूमिको सजाकर प्रकृति-नटी नृथ करती है। ।

* इसी निश्चयको सर जॉन उडरफॉन अपने ‘Power as matter’ नामक ग्रन्थमें एक Syllogism के द्वारा इस-प्रकार मिद्द किया है—

The mass of moving charge is a function of its velocity; the mass of matter is wholly the masses of the charges by which it is constituted; therefore, the mass of matter is also a function of velocity. Mass of things is thus dependent on its stress-system, or what may be called in sanskrit shaktivyuha.

भावार्थ यह है कि द्रव्याश्रित गुणोंका अन्तिक्रियापर निर्भर करता है और द्रव्य गुणका परिणाम है। इसको द्रव्य

यह तो हुआ शास्त्रीय इष्टमे प्रकृतिका विवेचन; अब देखिये आपुनिक वैज्ञानिक इस विषयमें क्या कहते हैं। विज्ञानवादी द्रव्य (matter) के दो प्रकारके विशिष्ट गुण मानते हैं—मुख्य और गौण। मुख्य गुणोंके अन्तर्गत आकृत्यन् (distraction), प्रसरण (extension), गुरुत्व (weight), दबाव (resistance) आदिका और गौण गुणोंके अन्तर्गत रंग (colour), गन्ध (smell) आदि का समावेश होता है। इनमें मुख्य गुणोंको यदि इस एवं विचार करके देखें तो यह सभी शक्तिके अन्तर्गत भा जाते हैं जिसे वैज्ञानिक stress या energy कहते हैं। और दूसरे प्रकारके गुण तो केवल इन्हीं मुख्य गुणोंके प्रभावमें इसे प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। इसप्रकार जगत्की समस्त कीड़ा-शक्तिकी कीड़ा ही समझी जा सकती है। इसी शक्तिको सार्वत्य प्रकृति नाम प्रदान करता है। इसीका स्वतन्त्र करता हुआ देवीभागवत कहता है—

त्वमसि भूसरिलं पवनस्तथा
समर्पि वह्निगुणश्च तथा पुनः ।
जननि नानि पुनः करणानि ॥
त्वमसि तुदिमनोऽप्यथद्वृतिः ॥
(३।५।)

अर्थात् ‘हे जननि! तू ही पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश (पञ्चभूत); तथा हनुके गुण (पञ्च तन्मात्रा), वज्रों इन्द्रियों, तुदि, मन और अहंकार हैं।’

इसप्रकार क्या पिण्ड, क्या ब्रह्माण्ड सबकी रूचना यह प्रकृति (शक्ति या माया) ही अव्यक्तरूपमें कर रही है। पिण्डमें गुरुत्व-गुण-विशिष्ट भौतिक शरीर मानसिक जगत्-का आवरण करती हुई तमस-प्रधाना सृष्टि है। इस आवरणके भीतर मतोविकारोंका समस्तरूप सूक्ष्म शरीर रज-प्रधाना सृष्टि है, एवं मानस-व्यापारके परे प्रकाश-शीला तुदि अर्थात् महत्त्व कारण-शरीर सत्त्व-प्रधाना सृष्टि है। इसी प्रकार भूलोक तमःप्रधान, अन्तरिक्ष रजः-प्रधान और शुलोक मतप्रधान होनेके कारण ब्रह्माण्डकी सृष्टि भी ठीक रिण्डवत् ही दीख पड़ती है, इसीलिये कहा गया है कि, ‘यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।’ यह तो स्थूल इष्टकी बात हुई; सूक्ष्म इष्टमें भी यदि जगत्के प्रत्येक द्रव्योंपर विचार किया जाय तो सर्वत्र ही एक अखण्ड और कियापर निर्भर करता है। इसप्रकार ममस्तद्रव्य-गुण-कर्म-शक्ति-स्थूल (Stress-system) अर्थात् प्रकृतिपर अवलम्बित है।

अध्यक्षरूपसे प्रकृति (शक्ति या माया) की ही लीला दीर्घ पड़ेगी ।

इस शक्तिके स्वरूपका अन्वेषण भी अनेक प्रकारसे किया गया है । आधुनिक विज्ञानवादी विचारके अनास्मक (positive) और अनास्मक (negative) दो स्वरूपोंका प्रत्यक्षकर उनके अद्भुत सम्मिलणसे जगत्के नाना विकारों (modifications) को चरितार्थ होते देखते हैं । अनास्मक और अनास्मक राशिका परम संयोग (sum total) गणित-शास्त्रके अनुसार $(+)+(-)=0$ शून्य ही होता है और शून्यका विवेचन नहीं किया जा सकता । वेदान्त भी मायाको अनिवृत्तनीय ही कहकर विवारण लेता है । इम-प्रकार शक्ति (प्रकृति या माया) के विषयमें आधुनिक भौतिक विज्ञानका विवेचन और वेदान्तका निश्चय एक हो जाता है ।

अब यह स्पष्ट हो गया कि जगत्में याबद्धिकार हो रहे हैं, सब शक्तिके खेल हैं । शक्ति ही सबको उत्पन्न करती है, वही सबका पोषण कर रही है और अन्तमें उसीके हारा सबका नाश भी हो रहा है । यही कारण है कि शक्तिमें भयभीत होकर उसका अनुप्रव्र ग्रास करनेके लिये जगत्में नानारूपण उसकी पूजा की जाती है । निवन्धके अर्थान्त वह जानेके भयमें शक्तिके जिन नाना रूपोंकी पूजा अति प्राचीनकालमें जगत्के प्रायः सभी सभ्य देशोंमें होती आयी है उसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता । इसलिये शक्तिके विषयमें प्रयोजन, और आधार-सम्बन्धी दो प्रमोक्षका उत्तर देकर ही विवारण लिया जायगा ।

शक्तिको इस कीदौको देखकर सामान्यतः यह प्रभ उठता है कि इसका प्रयोजन क्या है और यह किस आधार-पर नृथ कर रही है ? सांख्य-शास्त्र उत्तर देता है —

पुरुषस्य दर्शनार्थं तथा प्रवृत्तिः प्रवानस्य ।

अर्थात् 'प्रकृति' (प्रधान) की प्रवृत्ति, इसकी समस्त लीला पुरुषके दर्शनके लिये है । सांख्यके इस उत्तरमें दूसरे प्रभका भी समाधान हो जाता है, अर्थात् पुरुषके देखनेके लिये पुरुषके ही आधारपर प्रकृति (शक्ति या माया) नृथ कर रही है ।

इसप्रकार संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप समस्त क्रियाओंके कर्ताके रूपमें जिसे प्रकृति (शक्ति या माया) को हमने देखा था वह सचार्थतः वह पुरुषकी ही भविमा है,

उसकी कीदौ है, पुरुष पदा तमाशा देख रहा है और उसके इशारेपर नृथ करती हुई प्रकृति अनन्त-अनन्त व्यक्तियोंका सृजन, पालन और संहार करती जा रही है ।

अब वैज्ञानिक ! तू शक्तिकी कीदौके अवलोकनमें ही क्यों मुख्य हो रहा है ? देख शक्तिके तले कौन सोया दुआ सुस्करा रहा है—वह शिव है, मंगलमय है । अहा ! कैसा आश्रय है ! जो शक्ति (सती) शिवकी निनदा सुनते ही दृष्टके यशमें योगाभिमिद्वारा शरीर स्थाग करती है, वही सुप्रत्यक्षके ब्रह्मस्थलपर शिवके संकेतमें ही छ इसप्रकार नृथ कर रही है । परम आश्रय है !

शिवस्य निनदा हि याऽत्यजद्वपुः स्वेमकदा ।
तदइघ्निष्ठद्वयं यदे शिवे किमद्भुतम् ॥

शक्ति उसकी महिमा है वह पुरुष (शिव) इसमें कहीं महान् है, यह अस्तित्व सृष्टि तो उसका एक तुच्छ अंश है, उसका अधिकांश अमृतमय शुद्धिकोंमें है । परन्तु विना शक्तिके शिवका दर्शन होना दुलभ है; शक्तिके साधनसे, शक्तिकी कृपामें ही शिवकी प्राप्ति होती है । यही कारण है कि शिवके नाम लेनेके पहले शक्तिको स्वरण किया जाता है । सीता-राम, राधा-कृष्ण, गौरी-शंकर प्रभृति खोकविश्रुत नामोंमें सीता, राधा, गौरी, वही क्यों लहस्ती, सरस्वती, काली आदि समस्त शक्तिके नाम हैं और राम, कृष्ण, शंकर प्रभृति शिवके नाम हैं । इसी शिवको प्राप्त करना मानव-जीवनका परम धर्य है । श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ स्तम्भस्ति

न चेदिहवेदीन्महती विनोषेः ।

मूरेषु मूरेषु विचिन्त्य धीरः

प्रेतासाहोकादमृता भवन्ति ॥

अर्थात् यदि इस जन्ममें शिवको प्राप्त कर सिया तो ठीक है, नहीं तो महान् विनाशको प्राप्त होगा अर्थात् बारम्बार जन्म-मरणके अक्षमें पढ़कर त्रितापानलमें दर्श होता रहेगा । इसलिये धीर पुरुष अस्तित्व विश्वमें उस शिव-

का काली और शिवकी एक प्रतिकृति बहुत व्यापकरूपेण पायी जाती है । विद्वांशु और बंगालमें जो कालीकी मूर्ति होती है, वह इसी प्रकारकी होती है । नीने शिव मोये रहते हैं और उनके बक्ष-स्थलपर काली खड़ी रहती है । यह प्रतिकृति ही इस निवन्धके शक्ति-शिव-विवेचनकी प्रतिमा है ।

को विचार करके (प्राप्त करके) मरनेपर अमरत्वको प्राप्त होते हैं ।

जिसकी महिमा (शक्ति) के विषयमें कहा जाता है—

असितगिरिसं स्थात्कजलं सिन्धुपात्रे
सुरतश्वरशाङ्का लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिङ्गति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तब गुणानामीशा पारं न याति ॥

तथा नेति-नेति कहकर वेद भी जिसके वर्णनमें विराम लेते हैं, उस शिवके विषयमें कुछ न कह माइशा पामर औव तो इहापर सन्तोष करते हैं कि—

मूर्तिर्षदा विल्वदलेन पूजा-
इत्रयाससाध्यं बदनं च वाष्पम् ।
फलं तु तद्यन्मनसामिकाऽव्यं
दिः इवस्य विद्वेश्वरं पत्र देवः ॥



ईश्वरके नाम पत्र

(लेखक—मुशी श्रीकन्हैयालालजी एम० ५०, एल-एल० वी०, एचबोकेट)



क शारीबकी झोंपडी थी । दज्जी चिन्तित बैठा था । उमे नया टैक्स देना था, पर खानेहीको पैसे न थे, टैक्स कहाँसे देता ? अधीर होकर उसने बड़े प्रेम और श्रद्धासे ईश्वरके नाम एक पत्र लिखा और वह उमे ढाकानेमें छोड़ आया ।

सार्टरोंके हाथमें जब वह पत्र गया तो वह हैरान हुए कि इसका क्या करें ? पता इस तरह लिखा था—

‘सेवामें ईश्वर दीनदयालुके’

फिलाफेपर टिकट लगे थे । सार्टरोंने पत्रको पोस्ट-मास्टर जेनरलके पास भेज दिया, उसने उसे गवर्नरको दिया । उसमें लिखा था—

‘प्यारे ईश्वर ! मेरा नाम वी० काज़म्सकी है । मैं दज्जीका काम करता हूँ । तू जानता ही है कि मैं बहुत-से टैक्स लग जानेके कारण कितना कर्ज़दार हो गया हूँ; अब और नया टैक्स लग गया है, उसको देनेके लिये मैं असमर्थ हूँ; इसलिये मेरी भीजें भी कुर्स छोनेवाली है । अतः प्यारे भगवन् । मैं बड़ी चिन्तामें हूँ और तेरी दयाके लिये प्रार्थना करता हूँ, क्योंकि तेरे मिवा दुखे और कोई शरण नहीं दे सकता । यदि तूने मेरी सहायता न

की तो मैं और मेरे घरके लोग भूखें मर जायेंगे । मुझे तुरन्त एक हजार लाठी (तीन सौ रुपये) भेज दे । इससे मेरे घरमेंसे चिन्ता दूर हो जायगी और फिरसे आनन्द हो जायगा ।’

पत्रके नीचे दज्जीने अपना हस्ताक्षर किया था । गवर्नरने कुछ सोचा, किर अपने सेक्रेटरीको कुलाकर यह उत्तर लिखवा दिया—

‘मिस्टर वी० काज़म्सकी ! मुझे तुम्हारा पत्र मिला । इस पत्रके साथ पाँच सौ लाठीकी हुखड़ी भेज रहा हूँ । मैं आशा करता हूँ कि तुम अपने देशके प्रेमी और एक सदाचारी पुरुष बनोगे ।’

पत्र गवर्नरके लेटर-पेपरपर भेजा गया था और उसके महलका पता उसपर छ्या था ।

कुछ दिन बाद धन्यवादका पत्र गवर्नरके महलके पतेसे पहुँचा । उसमें यह लिखा था—

‘प्यारे ईश्वर ! मैं तेरी दयाके लिये, जो तूने एक ग़रीब बदूँकी दुर्दशा देखकर की, अनेकों बार धन्यवाद देता हूँ । सचमुच तू नेकी और प्रेमका ईश्वर है । हाँ, एक प्रार्थना और है कि अगर तू कभी फिर मेरी सहायता करे और रुपये भेजे तो गवर्नरके हाथों न भेजना । वहाँके लोग हर रकमका आधा फौज़के साथके लिये ले लेते हैं ।’

*योगीपती एक सच्चा घटना ।



ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीहनुमान्‌जी शर्मा)

(१)

पता नहीं, किस प्रथमद्वये प्राणोंका पोवण होता आ रहा था । व्यापक अन्ध-कारके अन्दर-ही-अन्दर अग्यित योनि, आँख और अवस्थाओंके विता देनेपर किसी प्रकारके प्रकाशकर पदार्थ (ज्ञान या सूर्य) का भाभास हुआ । उसमे अश्रु और अदृष्टवै अनेकों प्रकारके छोड़-आलोक, बन-उपवन, प्राणी-पदार्थ और नानाविधि पदार्थ यथाक्रम दीप्त पदे ।

उनमे इन्द्रकी उपलब्धिमे शक्तिका सज्जार हुआ, वरुणकी प्राप्तिमे बढ़ा महारा मिला, अग्निकी आराधनामे अनेकों काम हो गये और अन्तमें मरुतके मिश्रणने सब सम्पाप मिटा दिये । मालूम हुआ कि और भी अनेकों प्रकारके उपधारणीय पदार्थ प्रस्तुत हैं । उनके अनुभवमे विचार हुआ कि ये सब यथा हैं ? कहाँसे आये हैं ? और इनका दाता, प्रणेता या निर्माता कौन है ?

सम्भव है ये सब उस अन्धी बुद्धियाके खेल हैं जिसका पंगु पति उसके कन्धोंपर चढ़ा हुआ उसमे यथेन्द्र काम करवाता है । और औलोंवाले उसे विश्वमरणको बनाने या विगाढ़नेवाली 'आयुर्वेलकरा शुभा' मानते हैं । अन्धीके ऐसे विलक्षण काम और पंगुके ऐसे उत्कृष्ट अधिकार ! वडी ही विचित्र बात है ! समझमें नहीं आता कि असली तत्त्व क्या है ?

लोग कहते हैं कि इन्द्र, अग्नि, मरुदगण, देव-दानव, मानवराण, पृथ्वी, आकाश, लोकराण और पशु-पक्षी-कीटाणु-गण आदि प्रकृति-प्रदत्त पदार्थ हैं । संसारमें चर-अचर और इश्य-अदृश्य जो कुछ विश्वामान हैं, प्रकृतिकी विभूति हैं । सारे संसारको सावधान विगाढ़ देना या बना देना प्रकृतिका स्वभाव है ।

संसार प्रकृतिकी विकृतिमे अनता है और उसकी सकृति-मे विगड़ता है । मृष्टिकी रचना प्रकृतिका विकार है और महाप्रकृत्य उसका सुखाम्य या शयन है । यह विकार या सुखाम्य किसी एक हृतक होते हैं और एकके पीछे हृसरा पथाक्रम होते रहते हैं ।

भू-पृष्ठके किसी भागको जलप्रावित रखना, किसीको बक्षती हुई बालूका भूटान बना देना, सूखे और रेतीले भू-भागोंको हरे वृक्षोंसे वेष्टित रखना, या जनशून्य जंगलोंको प्राणी और पदार्थोंमें व्याप करना, अथवा असित व्यापिको मिटाकर उनको शून्य बना देना, हृष्यादि सब काम प्रकृतिके ही हैं ।

संसारमें जितने प्रकारके प्राणी-पदार्थ, उड़व-विनाश, शृङ्ख-आर्द्र, शीत-उष्ण, जन्म-मरण और छतु-परिवर्तन आदि जो कुछ हैं ये सब प्रकृति-साम्राज्यके प्रयत्न या विधानभाग हैं । हन्दीविधानोंमें विश्वको सर्दी, गरमी, वर्षा, बन-बाग-बगीचे, घेती-बारी, गन्य-सुगन्य, आँधी-तूफान, निम्नवधता और पञ्चभूत-समुद्रभूत, उपद्रव या शान्ति आदिका अनुभव होता है इसलिये पूर्वाचार्योंने प्रकृतिको देवी शक्ति, महामाया, महेश्वरी, जगद्भावा, विषेश्वरी, जगद्गुरु, चित्ति-संहार-करिषी, निदा, भगवती, नटी, नर्तकी, मववौद्धना और नानासुखी कहा है । ऐसी अवस्था-में सन्देह होता है कि फिर हृष्यर कौन है ?

(२)

उक्त सन्देहकी निष्पत्तिके लिये कहा जा सकता है कि किसी भी देश, जाति, समुदाय या अवस्थाके प्रायः सभी मनुष्य अपनी-अपनी भावना या धारणामे प्रेरित होकर हृष्यसिद्धि या अनिष्ट-सम्भावना आदिमें 'हृष्यर करे ऐसा हो' 'हृष्यर करे ऐसा न हो' 'हृष्यरने ही ऐसा किया है' या 'हृष्यरने ऐसा नहीं किया' हृष्यादि वाक्य उच्चारण किया करते हैं । क्यों किया करते हैं ? इसलिये कि उस समय उनकी अन्तरारामामें प्रकृतिका प्रभाव फीका पड़ जाता है और वे किसी अविन्यु, अव्यक्त, अनन्तस्वरूप, अदृष्ट सत्ता या सरवमें तन्मय हो जाते हैं । तब स्वतः वैसा उच्चारण होता है और उस उच्चारणके अमिट और सत्यसम्भव सत्यपर वे विश्वास रखते हैं । ऐसा करनेपर भी उनको हृष्यरका साधा रूप या तदाभास नहीं होता परन्तु वे मान लेते हैं कि यह हृष्यरने ही किया है या हृष्यर ही ऐसा करेगा, अथवा यही हृष्यर है । ऐसी धारणा उनकी उसी प्रकारकी होती है जिसप्रकार किसीने दूष नहीं देखा

हो किन्तु दहीके मिलनेपर भान लेता हो कि यह दूधका सत्त्व है ।

परन्तु इस रूपमें ईश्वरको भान लेनेवाले मनुष्य अस्त्वल्प होते हैं । जिन्होंने इष्टलाभ या आपत्ति-निवारण अथवा प्रकृतिविरुद्ध सम्भवका अनुभव किया हो अथवा करते रहते हों, वे किसी अवसरपर या किसी अंशमें ईश्वरों या उसकी सत्ताको भान लेते हैं किन्तु जो लोग इसप्रकारके कल्पनागत इष्टसिद्धि अथवा अनिष्ट-निरसन-मात्रमें मनमाने रूपमें की गयी कल्पनाओंको सहज ही ईश्वर नहीं मानते हैं ? जब कि प्रकृतिकी सामर्थ्यके समत्त कार्य असफल हुए चले जा रहे हों और उसके चाहकर विनष्ट किये हुए सकल काम सफल हुए चले जा रहे हों । तब वे विवश होकर ईश्वरकी सम्भावना भान लेते हैं । कुछ उदाहरण लीजिये —

प्रकृतिका नियम है कि अस्त्रिमें पद्म-हुए प्राणी या पद्मर्थ तत्काल या कुछ कालमें गल जाते, पिघल जाते या भस्त्र हो जाते हैं; पानीमें हृषे हुए उत्तराते, गरु जाने या विनष्ट हो जाते हैं; पृथ्वीमें दबे हुए सड़ जाते, मर जाते या उड़ा जाते हैं; हवामें उड़े हुए सूख जाते, विश्वर जाने या इलके हो जाते हैं और आकाशमें गिरे हुए गड़ जाने, फूट जाने या विलुप्त हो जाते हैं । इसी प्रकार महाविष्णके ज्ञानेसे मनुष्य मर जाते हैं; ग्राहादिके ग्रसनमें गजादि प्रस्त हो जाते हैं; बाज आदिके आक्रमणमें क्षुद्र पक्षी त्रन हो जाते हैं, मिहादि हिंसकोंके दाढ़में गये हुए गौ आदिका बचना कठिन हो जाता है । खड़ग-प्रहारमें गलविच्छेद होकर रहता है, सुनीषण बाणके मध्य प्रहारमें शश-शावक मर ही जाने हैं और तोष या बन्दूक आदिमें कोई भी प्राणी गत-प्राण हुए बिना नहीं रह सकते ।

कदाचित् नाश्य-नाशक, भेदा-भेदक और भक्ष्य-भक्षक आदिके यथायोग्य योग होनेपर भी नाश्यका नाश न हो, भेदका भेदन नहीं किया जाय या भक्ष्यका भक्षण न हो सके तो भानना पड़ता है कि प्रकृतिका पराभव नहीं, किन्तु प्रकृतिप्रणता ईश्वरकी सत्ताका प्रभाव है । पैसे ही अवसरों, कारणों या घटनाओंके संचयित होनेपर ईश्वरमें आस्था रखनेवाले कहा करते हैं कि 'यह ईश्वरने ही किया है' अथवा 'ईश्वर ही ऐसा कर सकता है ।'

(३)

कुम्हारके आवाँमें आग छगायी गयी है । इसकी

अनन्त ज्वालाओंने मिट्टीके बर्तनोंको लाल बना दिया है । और आग शीतल होनेपर बीचके घंडमें बिल्हीके बचे भाग गये हैं । सैकड़ों घंडोंके छान और छप्पर जल गये हैं । उनके अन्दर अनेकों जीव मध्य सामानके लाक हो गये हैं । और एक सुकोमल शिशु स्वस्थ सोया हुआ मिलता है । तीन मजिलके ऊँचे मकानमें अबोध बालक गिर गया है, प्रांगणके कठोर पथरोंपर पढ़कर पहले कई बम्तुएं विनष्ट हुई हैं और उन्हीं पथरोंपर पढ़कर वह बालक हैं सी-नुशी उठ बैठा है । पचास कीट ऊँची बृक्ष-शाखासे एक नित्यका अभ्यासी जल-कुण्डमें कई बार कूदा है और एक बार वह दसके टटवर्ती तुर्यमें अटककर मर गया है । बरसाती बादके आकस्मिक आक्रमणमें मार्ग-मध्यके प्रायः सब गाँव वह गये हैं और बगलका एक भौंपडा बच गया है तथा अति दूरका एक सुहृद महल पानीकी फट्कारमें टूट गया है ।

प्यासा गज जलाशयमें गया है, वहाँ ग्राहने उमे प्रस छिया है, प्राण जानेमें सैंडका अग्रामात्र शेष है । ये सी अवस्थामें गजके पदतलमें ग्राहतम्भु टूट गया है और गज बच गया है । कौरोंकी सभामें पारदर्शकोंके सामने लज्जा-शीला द्रौपदीका चीर उतारा जाना है, नप्र होनेमें दस गज चीरका कुछ ही अंश शेष रहा है और अन्तरामाके प्राप्राहमें वह अनन्त हो गया है ।

महाभारतके युद्धोद्यत वीरोंमें ध्यास भूमिमें गर्भिणी टिट्हरी आ गयी हैं । उस भूमिपर अगणित वीर और उनके रथ, घोड़े, हाथी आदि हताहत होकर ढेर हो गये हैं । उन्हींके बीचमें गज-घण्टाके नीचे टिट्हरी-शावक पोथिन हुए हैं । अति विशाल लॉह-नम्भमको अस्त्रिके आतपसे लाल किया गया है । उसी नम्भमें चिपक जानेके लिये बालक प्रह्लादको आज्ञा हुई है । उसी क्षण लॉह-नम्भपर अगणित चौटियाँ विचरण करती हुई देखी गयी हैं और भक्त प्रह्लाद हँसी-सुशी उसके चिपक गया है ।

इसप्रकारके नये और पुराने अगणित उदाहरण शास्त्रोंमें और संसारमें सुप्रसिद्ध हैं । इस क्षुद्रकाय लेखमें उनका दिग्दर्शन भी नहीं हो सकता । किर भी कुछ उदाहरण इस जग्मानेके और दिये जाते हैं ।

(४)

पिछली साल पैंसीस आदमी नावमें बैठकर यमुनाके परब्दी पार गये थे । रास्तमें मेह-चाँधी आयी और बिजड़ी गिरी । सबके बीचमें बैठकर एक आदमी महाराजे पाल

पहुँचनेपर बिजलीसे मर गया। दूसरी यात्रामें पूरे पचास आडमी नावमें गये। नूकानके वेगमें समूची नाव उत्तर गयी और एकके सिवा सब मर गये।

सुरभ्य महलके सुप्रकाशित प्रांगणमें सुरवेत शश्यापर इयामिह सोये हुए थे और कितने ही संरक्षकोंके साक्षियमें उनको काला सर्प काट गया था। एक फूटे घरकी

दूटी खटियापर अबोध शिशु सो रहा था, उसके समीप एक सौंप भी था और बच्चेके उछल-कूदमें वह दबताभिचता या आकुञ्चित भी होता था परन्तु फिर भी सौंपने शिशुको काटा नहीं था।

मीराके मारनेके लिये सोनेके प्यांगेमें हलाइल भेजा गया था। वह उसे ईश्वरका चरणोदक मानकर यी गयी थी और प्रसन्नताके साथ जीवित रही रही थी।

(५)

कहाँतक कहें, ईश्वरकी मनाका आभास करानेवाली अनेकों कथाएँ हैं। उनको सुनने, देखने और ध्यानमें लानेमें ईश्वरका होना माना जाता है। कठिनाई इस बातकी है कि उसका स्वरूप ममझमें नहीं आता। शास्त्रमें उसको अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, अनादि, निरञ्जन, निराकार और उपेनिःस्वरूप आदि बतलाया है। फिर सामान्य मनुष्य कैमे जान सकते हैं कि ईश्वर पंसा है?

व्रिकालदर्शी महर्षियोंने चराचर सृष्टिके प्रत्येक प्राणी

और पदार्थमें ईश्वरकी सत्ता स्वीकार की है और जनसमुदायके उद्धारके लिये उन्होंने कई देवी-देवताओंको ईश्वरनुल्य माना है। साथ ही ईश्वरके भी अनेकों अवतार बतलाये हैं। जो लोग ईश्वरके स्वरूपको समझ नहीं सकते किन्तु मृष्टिमें ईश्वरकी सत्ता मानते हैं, उनके ध्यानके लिये भगवानके स्वरूप और आकार-प्रकार भी निश्चित किये हैं।

अधिकांशने अपि, वायु, वर्ण और सूर्यांदिको ईश्वरके अंश बतलाया है। विशेषकर सूर्यको ईश्वर माननेमें किसीने संकोच नहीं किया है। विचारकर देखा जाय तो अनन्त, अव्यक्त, अनादि, अचिन्त्य, निरञ्जन, निराकार या उपेनिःस्वरूप आदिका आभास सूर्यमें प्रत्यक्ष आभासित होता है। अतः सूर्यको ईश्वरका प्रतिनिधि माननेमें कोई आपत्तिनहीं किन्तु बहुत दिनोंतक ईश्वरका और ईश्वरनुल्य सूर्यका स्वरण किया जाय एवं इनके स्वरूपका विचार किया जाय तो शोध हो सकता है कि ईश्वरके दरवारमें ऐसे अनेकों सूर्य और अनेकों मृष्टि हैं।

कदाचिन् कायदेके साथ कल्पना की जाय और सूक्ष्म दृष्टिमें ध्यान दिया जाय तो ईश्वरका और उनकी सावधव सृष्टिका अथवा सूर्यांदिका मम्पूर्ण ममावेद्या या ममाप्राप्त हमारे पारीरके अन्दर हो जाता है। फिर क्या चाहिये? यही कि वैसी धी-धारणा और विचार हों।

सिरजनहार साई

साई किया सो है रहा जो कुछ करै सो होइ।
करता करै सो होत है काहे कलयै कोइ॥१॥
सोइ हमारा साइयाँ जो सबका पूरणहार।
दादू जीवन मरणका जाके हाथ विचार॥२॥
संग भवन पानाल मधि आदि अन्त सब सिए।
सिरजि सबन कों देत हैं सोइ हमारा इए॥३॥
मनसा वाचा कर्मणा साहित्रका बेसास।
संघर्ष सिरजनहारका करै कोनकी आस॥४॥
सिरजनहारा सबनका ऐसा है समरथ।
सोइ संघर्ष है रहा जहं सकल पसारे हथ॥५॥
धनि-धनि साहित तू बड़ा कौन अनूपम रीति।
सकल लोक सिर साइयाँ हैं करि रहा अतीत॥६॥
हैं बलिहारी सुरतकी सबकी करै संमाल।
कोड़ी कुञ्जर पलकमें करदा है प्राप्तपाल॥७॥ दादूप्रालजी

ईश्वरका साक्षात्कार और नाम-महिमा

(लेखक—वार्षीजा श्रापक/सानन्दजी)

परम प्रिय वाचकवृन्द ! अनेक जन्मोंके मलिन संस्कारोंके कारण पुरुषकी बुद्धिमें ईश्वरके अस्तित्व और उनके नामकी महिमाके विषयमें सन्देह उत्पन्न होता है। उस सन्देहके निवारण करनेवाले साधनोंका उल्लेख आगे किया जाता है।

जिम्ब्रकार रसायन-शास्त्रके प्रयोगशालामें ऑक्सिजन और हाइड्रोजन इन दो गैसोंको मिलाकर विजलीकी गर्मी देते ही पानी बन जाता है और इसे देखकर विद्यार्थीको जल-तत्वके सम्बन्धमें सन्देह नहीं रह जाता। उसी प्रकार श्रीत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महारामाके पास जाकर अभ्यास करनेमें ईश्वरका साक्षात्कार होता है और तब समस्त सन्देह अपने आप दूर हो जाते हैं।

विजली अवरण व्यापकरूपमें सब जगह वर्समान रहती है, परन्तु स्वरको दिव्यलार्य नहीं देती; केवल विद्यु-शास्त्रका ज्ञाता ही उसे अपनी प्रयोगशालामें देख सकता है। वैसे ही ईश्वरको योगाभ्यासी अन्तर्दृष्टिमें तथा वेदान्त-के पारदर्शी ज्ञानचक्षुमें देखते हैं। अतः ईश्वर-साक्षात्कार-के लिये योगी तथा ज्ञानी बननेकी आवश्यकता है।

दो लक्षियाँ हाथमें लो। दोनोंमें अग्नि है परन्तु दीखती नहीं। जब दोनों लक्षियोंका धर्यण किया जायगा तब अग्नि प्रकट होगी। इसी प्रकार ईश्वर व्यापकरूपमें सब शरीरोंमें तथा इश्य जगतमात्रमें है, परन्तु दीखता नहीं। अभ्यासमुखी धर्यणके प्रभावमें परमारमा प्रकट होता है। उस अभ्यासके विषयमें श्रुति कहती है—

स्वदंहमणि इत्वा प्रणत चात्तराणिम् ।
ध्याननिमश्ननाभ्यामाद्व षट्यांक्षमुद्वत् ॥

अर्थात् अपने शरीरको अरणि (नीचेकी लकड़ी) और डॉको उत्तरारणि (ऊपरकी लकड़ी) बनाकर ध्यानरूपी निमंथनके अभ्यास करनेपर ईश्वररूपी अग्नि प्रकट होती है। तात्पर्य यह है कि सदगुरुही ब्रातायी हुई विधिमें डॉकारका जप करनेमें शरीरमें अधोमुख कमल मुरतिके बल्ये ऊर्ध्वमुख हो जाता है, नाद खुल जाता है, कमल लिख जाता है और इसे देखकर साधक आश्रयके समुद्रमें निमग्न

होने लगता है। उसे ताकाल ही ईश्वरका साक्षात्कार होता है। अनुभवी योगी कहते हैं कि—

‘उत्तर कमलकूँ पलट देख लें सब घट गम बिराजा ॥’

सब घट मोरा साईर्या सूनी संजन कोय ।

बलिहारी वा घटकों जा घट परगट होय ॥

श्रुति भी इसी रहस्यका उद्घाटन करती हुई कहती

है—

एको देवः सर्वभूतेषु गृढः

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरगतमा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताचिदासः

साऽनीं चेताः केवलो निरुणश्च ॥

ईश्वर एक है; उसके समग्रा और निर्गुण दो रूप हैं।

निराकाररूपमें ईश्वर सब शरीरोंमें तथा इश्य जगतमात्रमें ग्रुसरूपमें स्थित है, मव्रमें ओतप्रोत हो व्यास हो रहा है, वह सबका अन्तरामा है, सबमें वास कर रहा है, जीवोंके पाप, पुण्य और इश्य जगतका साक्षी है; ज्ञानरूप है, एक है और तीनों गुणोंमें परे रहकर उनका द्रष्टा है।

परमारमाके प्रकाशके लिये मध्यमे सुगम डपाय यह है कि सदगुरुही ब्रातायी हुई विधिके अनुमार भगवान्नामका सवाकोटि जप करनेमें ईश्वरका साक्षात्कार अवश्य होगा। यतिधर्मप्रकाश नामक ग्रन्थमें लिखा है—

मस्तु द्वादशसाहस्रे नित्यं प्रणवमध्यमेत् ।

तस्य द्वादशसाहस्रमेत्सैः परब्रह्म प्रकाशते ॥

अर्थात् जो प्रतिदिन बारह हजार प्रणवमन्त्र (ॐ)

का अभ्यास करता है उसको बारह महीनेमें परब्रह्मका प्रकाश दीख पड़ता है।

भगवान् श्रीकृष्णजीने श्रीमद्भगवतीतामें ब्रह्म-साक्षात्कारके तीन साधन बतलाये हैं—

ध्यानेनाद्वये पद्यन्ति कोचदत्तमानमामना ।

अन्ये सांहेयेन योगेन कर्मयोगेन चापये ॥

अर्थात् 'कोई सो धपने आरम्भामें आरम्भाके द्वारा—ध्यान-द्वारा परमारमाको देखते हैं, दूसरे सांख्ययोगके द्वारा तथा तीसरे उसे कर्मयोगके द्वारा प्राप्त करते हैं।'

श्रेताश्वतर-उपनिषद् में ब्रह्मवादियोंकी पारम्परिक
जिज्ञासा होती है—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्त जाता
जीवाम केन क च समर्पिताः ।
अधिष्ठितः केन मुखेतरं मु
वर्तमेह ब्रह्मितो व्यवस्थाम् ॥

अर्थात् 'इस संसारका कारण कौन है? इस कहाँमे
उत्थपन हुए हैं? किसके द्वारा जीवन धारण कर रहे हैं?
इस कहाँ प्रतिष्ठित है? किसके द्वारा अधिष्ठित होते हुए
इस ब्रह्मवादियोंकी मुखरहित (दुःखमय) अवस्थाको
प्राप्त हो रहे हैं?' इसके उत्तरका चिन्तन करते हुए वे
कहते हैं कि—

कालः स्वभावा नियतिर्यदच्छा
मृतानि शेनिः पुरुष इति चिन्तयत ।
स्थान एवां नद्वात्मभावा-
दात्मायनीशः मुखदुःखनेः ॥

'काल, स्वभाव, भावय, यहच्छा, पञ्चभूत, प्रकृति,
अथवा पुरुष इसके कारण हैं; अथवा इन सबके संयोगसे
संसार बना है। परन्तु आत्माके अभावमें इनमें कुछ
नहीं हो सकता है और आत्मा भी सो सुख-दुःखके
कारण परायीन है।' इसप्रकार प्रभको हृत न होते हुए
देखकर—

ते ज्यानयोगानुगता अपश्य-
नद्वात्मशारिंकं स्वगुणेन्मृदाम् ।
य. कारपानि निर्विद्वानि तानि
कायात्मयुक्तान्यार्थितिष्ठत्येकः ॥

'उन्होंने ज्यानयोगद्वारा अपने गुणोंमें निगृह आरम्भकि (माया) के साथ ईश्वरको देखा जो काल, स्वभावादि
समस्त कारणोंके करण रूपमें एक होकर अधिष्ठित था।'

इसप्रकार जिज्ञासुओंके हितार्थ ईश्वर-साक्षात्कारके
साधनोंके विषयमें जिज्ञा गया। अब ईश्वर-साक्षात्कारके
फलोंका किञ्चित् उल्लेख कर नाम-महाम्प्रपर कुछ लिखा
जायगा।

ब्रह्म-साक्षात्कारके फल—

'ब्रह्मविद् ब्रह्मेव भवति', 'तरति शोकमात्मवित्', 'ब्रह्म-
विद्वाऽप्ति परम्', 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशः ।'

'ब्रह्मेत पुरुषं महान्-
मादत्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव निदित्वामित्यन्ति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१

'तेषां सुखं शाश्वत न तरेषाम्, 'मुखकान्तिर्न न उद्यति', 'ब्रह्मान्
दृष्ट्याकौं जहाति', 'न तस्य प्राणा उक्तमन्ति ब्रह्मेव सन्ब्रह्मा-
पेतां', 'य पत्र वेद अहं ब्रह्मास्माति स इदं सर्वं भवति',
'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स इत्तमः पुरुषः ।'

सारांश यह कि ब्रह्म-साक्षात्कारमें मनुष्यके समस्त
दुःख न ए हो जाने हैं, उसके मुखकी कान्ति द्वित्र्य तेजमे
पूर्ण हो जाती है, उसके प्राण मरनेके पश्चात उक्तमण नहीं
करते, बल्कि ब्रह्म ही लोन हो जाने हैं, उसे परम शान्ति
और शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है, इत्यादि ।

पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म-साक्षात्कारका सबमें
सुखम साधन भगवान्म-सरण है। परमात्माकी अनन्त
शक्तियां हैं और तदनुसार नाम भी अनन्त हैं। जिसे
जिस नाममें प्रेम हो, वही नाम जपे। हाँ, प्रेम होना
चाहिये। कहा भी है—

'प्रसंगं प्रगट होहि भगवाना ।'

अग्नि जैसे सूखे तृणको दग्ध कर देती है, उसी प्रकार
प्रेममें लिया हुआ ईश्वरका कोई भी नाम सारे पापोंको
दग्ध कर डालता है। कहा है—

‘मोक्षकारणमाप्त्रयां भक्तिरव गरीयसी’

अर्थात् सुक्तिके जितने साधन हैं सबमें भक्ति श्रेष्ठ है।
भक्ति माता है और ज्ञान-वैराग्य उसके दो पुत्र हैं। भक्ति
न होनेमें ज्ञान-वैराग्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।
श्रीमद्भागवतमें कहा है—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो कर्मयोगस्तु कामिनाम् ।

न निर्विण्णानांतसकं भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदा ॥

अर्थात् 'विरक्त पुरुषको ज्ञानयोग, कर्मसक्त पुरुषको
कर्मयोग तथा ऐसे पुरुषहों जो न विरक्त हैं और न आसक्त,
भक्तियोग श्रेष्ठ है।' भक्तिके उपदेश देखेवाले महात्मा
कहते हैं कि—

शास श्रस्पर नाम जप दृथा शास मत खोय ।

का जानों या शासको आवन होय न होय ॥

कवीरदासजी कहते हैं—

अगर है शौक मिलनेका तो हरदम लौ लगाये जा ॥

ठीक है, निरन्तर नाम-जपके डारा भगवान्‌का साक्षात्कार अवश्यमधारी है। यथापि भगवान्‌के निरुण्य और सगुण दोनों रूप अगम हैं, तथापि नाम जपनेवालोंको दोनोंका ज्ञान सुगमतासे हो जाता है। ऐसा ही सम्मोका अनुभव है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

देखिय रूप नाम आर्थीना । रूप ज्ञान नहिं नामविहीना ॥
नाम रूप अति अकथ कहाधी । समृद्धत सुखद न परत बखानी ॥
अगुण सगुण बिच नाम सुमारी । उभय प्रबोधक अतुरु दुभार्ता ॥
जाना चहिं गूढगति जेऊ । नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ॥
साधक नाम जपहिं लव लाये । हाहिं सिद्ध अणिमादिक पाये ॥
नाम जीह जपि जागहिं योगी । विरति विरंचि प्रपञ्च वियोगी ॥
ब्रह्म मुखहिं अनुभवहिं अनूपा । अकथ अनामय नाम न रूपा ॥
शिव ब्रह्मादिक शुक मुनि योगी । नाम-प्रताप ब्रह्म-रस-भोगी ॥
उक्ता नाम जपत जग जाना । बालमीक भये ब्रह्म समाना ॥
उभय अगम युग सुगम नामने । कहुँ नाम बड ब्रह्मराम ते ॥
कहुँ लगि बरनी नाम बडाई । राम न सकहि नाम-गुण गाई ॥

महारमा कर्वारदासजी कहते हैं—

मूर मिळावे चन्दको चन्द मिलावे मूर ।
याहि भेद जिन जनियाँ ताहि मिला गुह पूर ॥

—४३०—

जीवन-वैचित्र्य

जीवनकी तरल-तरङ्गे, नित उठती हैं लहराती, पर खुद ही टकराकर हैं होती विनष्ट अज्ञानी । १ ।
यह जीवन-लीला-माया है इसकी चलन अनोखी, बस सदन खेल है इसका, कन्दन है अकथ कहानी । २ ।
इस दग्ध क्षुब्ध सागरमें, नीरव उठती हैं लहरे, बस मूक वेदनाकी है, उनमें वह एक निशानी । ३ ।

जिसने भी परम पिताका, दर्शन है सबमें पाया,
वह मुक्त हुआ मायासे औ बना आत्म-विज्ञानी । ४ ।

जा पवनपर चन्दा बस ताहि न ग्रासे काल ।
जो यह भैदे जानहीं सोहीं जौहरी लाल ॥
पानीमें पावक बसे अति धन बरसे मेह ।
तीनों अधर अकास है कौन पवनको छेह ॥
बलिदारी उस नामकी जिनकी दयासे लीनह ।
जो मह भेद बतावहीं सीस अरपि तेहि दीनह ॥
शास शासपर सुमिरन लागा । कहै कर्वीर विषय सब भागा ॥

गुरु नानक साहेब कहते हैं—

आत्म उपदेश संयम इन्द्रियको जापसो अजपा जाप ।
सदा रहे कंचनसी काया काल न कबहूँ द्यांप ॥

दूरिया साहेब कहते हैं—

नापहि जपे गून्य मन धर्म । पाँचो इन्द्रिय बसमें करे ॥
ब्रह्म अस्तिमें होमे काया । ताका विघ्न पसारे पाया ॥
नाम-जपकी अनन्त महिमा है । इसमें जो जितना ही गहरा बैठता है, उतना ही अधिक उमे आनन्द मिलता है । किनारे ही बैठकर कोई रक चाहे तो कहाँमें पा सकता है । कवीर साहेबने ठीक ही कहा है—

जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ ।
ही बैठी बृद्ध ढरी गही किनार बैठ ॥

रविकी प्रकाशमय किरणे सन्देश सदा जो लाती, हम नित्य भूल जाते हैं, यह भीपण-प्रथा पुरानी । ५ ।
रजनीकी नीरवतामें भी एक अजब विनिमय है, अद्वैत रहकी, उसने प्राङ्गणमें चादर लानी । ६ ।
यह 'अहम्'भावना ही तो, 'तू-नू मैं-मैं'सिखलाती, बस द्वैत-राज्यमें तब तो, वह करती है मनमानी । ७ ।

—प्रेमनारायण विपाठी 'प्रेम'

—४३१—

ईश्वरीय सत्ता

(लेखक— श्रीपापजी महाराज)

ईश्वर, सर्वभूताना हृदैरोऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रासृढानि मायया ॥



वि

सभी ईश्य-अदृश्य सभी बस्तुओंमें ईश्वरका निवास है । अनन्त ब्रह्माण्डका सञ्चालन भगवान्‌की मायाद्वारा हो रहा है । प्रथेक गतिमें, प्रथेक स्पन्दनमें मायाकी कीड़ा हो रही है । राग-द्रेष्टके प्रवाह स्वरूप है । राग-द्रेष्टके वशीभूत होकर हम सभी सत्य-चिन्तनमें पृथक् हो गये हैं । इस पृथक्नामें मायाकी अन्तरंग-लीला काम कर रही है । यही कारण है कि ईश्वरके अभित्तव पूर्व श्रीकृष्णके प्रेम-नखमें अविश्वासकी लहर उठ रही है ।

प्रपञ्चके मारी हैं पञ्च महाभूतोंका संयोग । इस संयोगमें, इस प्रपञ्चके प्राकृत्यमें हैश्वर-तत्त्वका गम्भीर बोध दूर हो जाता है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'मम माया दुरस्थ्या' मेरी माया वक्ती दुरस्थ्य है । इसके चक्करमें पड़कर सभी प्राणी पिप्स रहे हैं । विश्वके प्रथेक पदार्थमें जो संघात हो रहा है वह मायाका स्थूल खेल है । तारों पूर्वं नक्तोंके सञ्चालनमें जो किया हो रही है वह मायाकी अन्तरंग-लीला है । आधुनिक संसारमें, भाई-भाईमें, पिता-पुत्रमें, पति-पत्नीमें, शशु-भित्रमें जो संघात चल रहा है वह स्वार्थका स्थूल स्वरूप है । मायानिहित कावैर्में स्पृष्ट भावमें यही ईश्वरोचर हो रहा है । अनादिकालमें राग-द्रेष्टके वशीभूत होकर एक प्राणी दूसरे प्राणीको निगल जानेके उद्देश्यमें युद्ध करता आ रहा है । साधनाका उद्द्य ईश्वर-तत्त्व एवं श्रीकृष्णके महा प्रेम-तत्त्वको जानना है । इमारी प्रत्येक चेष्टामें यही उद्देश्य निहित है । प्रकृति-जगत्के समस्त प्राणी अनादि विराट्‌में निकलकर अनन्त विस्तारकी ओर जा रहे हैं । जिन्होंने यस्तिक्षित् साधनमें सफलता प्राप्त की है उन्होंने यही अनुभव किया है कि ईश्वर सब भूतोंमें निवास कर रहा है । भगवद्वर्णन एवं आरम्भसम्मेलनमें कोई भी अन्तर नहीं है । आत्म-दर्शनकी प्रणाली ईश्वर-दर्शनकी प्रणाली है । ईश्वरीय बोध मनुष्यको उप कर देता है । इसी सरह प्रेम-तत्त्वके गम्भीर प्रदेशमें घुसनेवाले लोगोंने अपने आपको लोकर एक अनिर्वचनीय आनन्दकी उपलब्धि की है । किन्तु

निवेदात्मक अवस्थामें मनुष्य अपने निर्दिष्ट साधन-पथसे दृथक् होकर नामिकताके बायुमरणमें प्रवेश कर जाता है । उस वक्त दमे ईश्वरीय बोध और ईश्वरकी व्यापकतामें नामिकताकी प्रतीति होने लगती है । उस समय उसकी सारी शक्तियाँ नामिकताके परमाणुओंमें ओतप्रोत हो जाती हैं । वह बहुत दिनोंतक नामिकताके धोर कुण्डमें पड़ा हुआ अहंभावके साथ खेल करता रहता है । भगवान् उसकी स्थिति बताते हुए कहते हैं—

इदमय मया लब्धमिमे प्राप्त्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदर्थपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौं मया हत् शतुर्दिनियं चापानपि ।
ईश्वरोऽहमह भोगी भिद्वाऽहं बलवान्मुसी ॥
आद्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति मदशो मया ।
यद्यमं दास्यामि मोदिष्य इग्नानविमोहिता ॥
अनंकच्चत्तिभान्ता मोहजालसमाप्ताः ।
प्रसक्ता कामभोगेषु पतन्ति नग्नेऽशुच्छां ॥

(गीता १६ । १३-१६)

सचमुच आस्तिकतासे रहित जीवन अन्धकारस्थ है । भगवान् कहते हैं—‘ते दत्तन्ति नरकेभ्युच्चाँ’ वे प्राणी महाघोर नरक-कुण्डमें पतित हो जाते हैं । ऐसे प्राणियोंका कल्पाया नहीं । जब वे धूरि-धूरि अपने प्रारथ-कर्मके अनुसार अपने नरक-कुण्डके जीवनकी समाप्ति कर पाते हैं तब ईश्वरीय कृपाका अनुभव करने लगते हैं ।

बिनूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति शानक्षुषः ।

संसारके वे प्राणी जो रात-दिन कामिनी-काङ्क्षनके चक्करमें पढ़े हुए हैं, ईश्वरीय महातत्त्वको नहीं जान सकते, किन्तु जिनके जीवनमें दिव्य नेत्र हैं वे ही उस महातत्त्वको देख और समझ सकते हैं । भगवान् कहते हैं—

‘मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रं मणिगणा इव ।’

यथार्थतः विश्वकी प्रथेक वस्तुमें ईश्वरीय सत्ता निवास कर रही है, ईश्वरीय सत्तासे रहित कोई भी वस्तु नहीं है ।

अस्ति, भाति एवं प्रीतिसे रहित कोई भी वस्तु नहीं है। 'सर्वं, शिवं, सुन्दरम्' प्रत्येक वस्तुमें निहित है। प्रकृति-जगत्के महाव्यापारमें ये तीनों अव्यक्तरूपसे निवास करते हैं। इस स्थलमें तीनोंकी अव्यक्तवस्थाका अर्थ पाठक यह न लगायें कि तीनोंका विशाल अन्तिम सीमित हो जाता है और उनका स्वरूप अशतः परिमित हो जाता है। किन्तु प्रकृति-जगत्के विराट् व्यापारमें भौतिक दृष्टिमें इनका अनित्य नहीं प्रतीत होता। ज्यों ही मनुष्य मायाकी कीदूरामें अलग होकर तात्त्विक विषयपर दृष्टि ढाकता है त्यों ही उसे 'सत्रे माणिगणा हृ' इस वाक्यका व्यथार्थ बोध हो जाता है। महामाया प्रकृतिके विराट् खेलमें समस्त प्राणी मोहित हो रहे हैं। प्रकृति समस्त प्राणियोंको कन्दुककी भाति नीचे-ऊपर फेकनेमें

ब्यस्त है। जब हैशरीय कृपा होती है तभी प्रकृतिके हाथमें प्राणीका छुटकारा होता है। जो व्यक्ति हैशरीय बोध प्राप्त करना चाहता है उसे प्रकृति-जगत्से छुटकारा प्राप्त करना होगा। छुटकारा प्राप्त करनेके लिये हैशरीय कृपाकी याचना करने पड़ेगी। अपने अहंकी हृत्या करनी होगी। अहंका नाश होते ही हैशरीय कृपाकी सुनहरी किरणें दृष्टिगत्वाचर होने लगेंगी। उन दिव्य किरणोंके द्वारा मनुष्य-जीवनकी सारी अन्धता मिट जायगी। फिर वह अपने हृदयमें हैशरकी महा मञ्जुल मूर्तिका दर्शन करने लगेगा इसीलिये तो भगवान् कहते हैं—'हृदेरेऽर्जुन तिष्ठति'

ॐ शान्तिः

ईश्वर निराकार और साकार दोनों हैं

(लेखक—स्वामी आर्द्धिनामदामी उदासीन)

कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्तुं शक्त ईश्वरः ।

थोर 'जो करने, न करने अथवा अन्यथा करनेमें समर्थ हो वही हैशर है'। हैशरका यह लक्षण निराकार और साकार दोनोंमें वर्तता है। हैशर एक है, परन्तु वादभेदमें दो प्रकारका माना जाता है। उसे निराकारवादी निराकार मानते हैं और साकारवादी निराकारके साथ उसे साकार भी मानते हैं। जो निराकारवादी हैं वह निराकार-सत्तामें ही पदार्थोंके प्रति कर्तृत्व, अकर्तृत्व तथा अन्यथा कर्तृत्व-शक्ति मानते हैं।

साकारवादी निराकारमें कुछ नहीं मानते। वह निराकार ब्रह्मको 'आकाशवन् सर्वगतश्च नित्यः' अर्थात् आकाशके समान सबमें स्थित और व्यापक होकर सबमें निर्लैप रहनेवाला तथा नित्य मानते हैं। साकारवादियोंमें साकार ब्रह्मको विभिन्नरूपमें माना जाता है; कोई तो उसे ब्रह्माण्ड (विराट्) रूपमें मानता है, जैसा कि—

सहस्रशीर्षं पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स मूर्तिं विश्वतो वृत्वाऽस्तिष्ठदशाऽङ्गुलम् ॥

—श्रुतिके हम मन्त्रमें व्यक्त किया गया है। कोई साकारवादी मायाद्वारा हैशरकी कल्पना करते हैं अर्थात्

ब्रह्मका मायामें पदा हुआ भाभास ही हैशर है। वे कहते हैं—

ब्रह्मत्रयं प्रतिब्रिघ्वत्वं यथा पुरुषकल्पतम् ।

जीवत्वर्माणस्त्रवद्वत्वं तथा ब्रद्वाणि कल्पतम् ॥

तार्थ्य यह है कि एक ही चेतन (ब्रह्म) का प्रतिब्रिघ्व मायामें पदता है तो वह हैशर होता है और वही प्रतिब्रिघ्व अन्तःकरणमें पदता है तो वह जीव होता है। इसप्रकार ब्रह्म-प्रतिब्रिघ्ववाद निराकार और साकार दोनों हैशरको मानता है।

जगत्का कर्त्ता कुछ लोग साक्षात् निराकारको मानते हैं और कुछ लोग परम्पराद्वारा मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त लक्षण दोनोंमें घटनेके कारण दोनों ही हैशरके वाचक हैं। हैशरका स्वरूप व्यापक और नित्य है और यही परम तत्व है, हृषीके कारण हैशर सर्वशक्तिमान् होता हुआ अनादि है।

हैशर स्वयं अतर्क्य है। अज्ञानियोंकी तर्कनामें तर्कद्वारा वस्तुकी सिद्धिकर प्रस्तुको पुनः प्रस्तुकराया जाता है। हैशरके अस्ति, भाति और प्रियरूप होनेमें उसकी सत्ता अनादिलिपा है जो निराकार और साकार दोनोंमें घटती है। हमलिये हैशरको निराकार और साकार दोनों मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये।

मेरा ईश्वर

(केतक—पं० बीदेवशर्मा 'अभय' विद्यालयकार, आचार्य गुरुकुल विश्वविद्यालय, काशीगढ़ी)



शर क्या है ? और उसकी भक्ति क्या है ? यह मैं नहीं कह सकता । पर मैं भी अपने एक ईश्वरकी भक्ति ज्ञासूर करता हूँ । अतः मुझे यह शिकायत भी नहीं होती कि लोग ईश्वर-भक्ति नहीं करते हैं । क्योंकि मेरी समझमें ईश्वर-भक्ति तो प्रत्येक मनुष्य करता है । पर मुझे यह शंका ज्ञासूर होती है कि असली ईश्वरको हमलोग बहुत कम जानते हैं । हम जिसे ईश्वर समझते हैं उसकी भक्ति तो हम करते हैं—स्वभावतः और सब दिक्षमें उसकी भक्ति करते हैं । जो मनुष्य धनको सर्व-समर्थ वस्तु देखता है वह दिन-रात धन-संग्रहमें लगा हुआ है और हसप्रकार अपने धन-प्रभुके लिये सब कुछ (अपना स्वास्थ्य, अपना धर्मतक) कुछीन कर रहा है । क्योंकि वह धनमें परे किसी अन्य ईश्वरको नहीं देख पाता है । इसी तरह संयारके असंख्यों मनुष्य विषयानन्दको, प्रतिष्ठाको, प्रभावको, विद्वासको, संगठन-शक्ति आदिको ईश्वर समझते हुए उनकी उपासनामें लगे हुए हैं ।

इन लोगोंको यह कौन बतावे कि यह ईश्वरकी भक्ति नहीं है, इन धन आदिमें ईश्वरत्व नहीं है । हन्हें धन आदिमें ईश्वरता (सर्व-समर्थता) साफ दिखायी देती है ।

हाँ, जब कोई क्षेत्र वा आपत्ति आती है और ये धन आदि उस समय हमारी रक्षा नहीं कर सकते, ये अनीश्वर मिदू होते हैं तब हम अवश्य कुछ देके लिये दीन और नश हो जाते हैं । माना हुआ हमारा आधार छिन जानेमें हम किसी अज्ञात शक्तिकी (असली ईश्वरकी) तरफ मुकते हैं । पर दुःख—आपत्ति टूटते ही फिर सब भूल जाते हैं और भौतिक सुखोंके सहारे अपने दिन मज़ेमें काटते जाते हैं । रिवाज या फँशनके तौरपर ईश्वरका नाम लेते जाते हैं, सन्ध्या-बन्दन, जप, पाठ भी करते जाते हैं, पर हमें ईश्वरकी और उसकी भक्ति करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती । मुख देनेवाले विषयों आदिके रूपमें हम अपने ईश्वरकी भक्ति अच्छी तरह करते जाते हैं और असली ईश्वरमें दूर रहते हैं ।

असली ईश्वरकी प्रांकी (असली ईश्वरका भणिक

दर्शन) हमें दुःख—आपत्तिके आ पड़नेपर क्यों दीखती है ? इसका उत्तर मेरी समझमें यह है कि दुःखोंके आ जानेसे स्वार्थका पर्दा कुछ ढेके लिये इट जाता है । आपत्ति आनेपर स्वार्थका बाह्याङ्गशर छिन्नभिन्न हो जाता है (यथापि अन्दर स्वार्थ-कृति बनी रहती है जो किर अपने इस बाह्य संसारको बना देती है) । मनुष्यव व्याप्ति ही वह वस्तु है जो मनुष्यको ईश्वर-दर्शनमें रोके हुए है, मनुष्यकी आँखोंमें असली ईश्वरत्वको ओमल किये हुए है । जिन लोगोंपर आया हुआ दुःख-क्लेश उनके स्वार्थको ढीळा करनेका भी कारण नहीं होता, उनके सभीप दुःख-जैसा ईश्वरीय दूत भी बेकार आता है । दुःखमें, वराम्यमें और ज्ञानमें या किसी भी प्रकारसे अथवा किसी भी क्रममें स्वार्थका छुन्ध हट जाय तो ईश्वर दीख जाता है । ईश्वरका स्वरूप क्या है ? ये सूक्ष्म बातें मैं नहीं जानता । मुझे तो इतना दीखता है कि स्वार्थके क्षय होनेपर जो कुछ दिखायी देता है वह सब कुछ ईश्वर है । मुझे इस ईश्वरके अरण करनेमें मुख भिजता है । इसका अनुभव करनेपर अपार आनन्द मिलता है । इसके बिना मैं रह नहीं सकता । यह परमेश्वर जब कुछ देके लिये भी दीखना बन्द हो जाता है, तो मेरा जी घरगाने लगता है । निष्काम, निःस्वार्थ, निरहंकार होनेपर दीखनेवाले (अनुभव होनेवाले) इस तरवये परे मुझे और कोई ईश्वर नहीं दीखता । इसके आगेकी किसी सूक्ष्म वस्तुको मेरी बुद्धि नहीं समझ सकती ।

यह, सब प्राणियोंमें सम होकर रमा हुआ, हर एक वस्तुमें समाया हुआ, मेरा ईश्वर है । संसारमें दीखनेवाली धन, जन आदिकी सब भौतिक, अभौतिक शक्तियाँ इस जगत्-सञ्चालक महाशक्तिके छुद अंश हैं । अतः इसमें अपनेको अर्पित करके मैं निश्चिन्तताका अनुभव करता हूँ । इससे परे किसी भी वस्तुमें ईश्वरत्व मुझे नहीं दीखता । इस वस्तुके अरण आते ही उसके लिये स्वभावतः प्रेम (भक्ति) उमड़ता है । सदा सब वस्तुओंमें उसके साथ अपनी एकता करनेमें परिवृत्ति प्राप्त होती है । विष्वकुल निःस्वार्थ हो प्राणियोंकी सेवा करनेसे उसकी सेवाका परम सुख भिजता है । केवल मनुष्य और पशुओंमें ही

नहीं, किन्तु वृक्ष भादि प्रयेक जड़ वस्तुके साथ भी एकताका अनुभव किये बिना शान्ति नहीं मिलती । वह सर्व सर्वव्यापक है और अपना (आत्मा) है । प्रयेक वस्तुके अन्तरतम में (प्रयेक वस्तुकी आत्मा होकर) वही बैठा हुआ दिखायी देता है । उसके साथ एक ही जानेकी अन्तर-लीब्र इच्छा सदा बनी रहती है । स्वार्थसन्ध्यताहारा उसके साथ एकताका अनुभव करतेमें अपार सुख मिलता है । साफ़ देखता हूँ कि जो आदमी दिन-रात नाम जपता है पर वह यदि स्वार्थ-धन्धको परे हटा, सर्वव्यापक होकर दीखनेवाली इस वस्तुको नहीं देखता; जो मनुष्य घरटों समाधि लगाता है, पर राग, द्रोग, अहंकारको नहीं भूलता वह मेरी समझमें असकी परमेश्वरमें बहुत दूर है । दूसरी तरफ जो मनुष्य सब प्राणियोंकी मेवामें अपने-आपको भूला रहता है, स्वार्थकी धन्धसे उपर उठ जाता है, वह सन्ध्या-वन्दन न करता हुआ, कभी भक्ति-स्रोत न गाता हुआ भी प्रभुका सभा भक्त है ।

मेरा ईश्वर तो यही है । जब मैं इसे अपने किसी अन्य भाईको दिखलानेकी चेष्टा करता हूँ तो यही कहकर दिखला सकता हूँ कि स्वार्थ, अहंकारके हट जानेपर,

अपने हस शरीरसे बाहर और जुदा, अपने-आपको देख लेनेपर 'सब जगह रमी हुई सब वस्तुओंको अन्दरसे मिलानेवाली जो एक सर्वंगत वस्तुका अनुभव होता है वही परमेश्वर है' । इस प्रभुको याद करके मैं अमर हो जाता हूँ । मरना-जीना एकसम हो जाता है । इस अपने प्रभुकी यादमें संसारका घोर-भोर भी कह देसा नहीं जिसे मैं सुखमें नहीं सह सकता । इसे देख लेनेपर (मेरी समझमें) मनुष्य किसी अन्यकी भक्ति नहीं कर सकता, ये मेरे प्रभु चुपकेमें मेरे देसे प्यारे और भजनीय हो गये हैं कि जब योंके जणोंके लिये भी मेरा बाह्य व्यापार बन्द होता है तो मेरा प्राण, मेरा मन, मेरी बुद्धि—ये सब-के-सब उस प्रभुका भजन करने लगते हैं, कुछ देर बाद शरीरका भी पुरु-एक अणु इस भजन-संगीतमें ममिलिन हो बजने लगता है और जो कुछ दिन-रात बाह्य व्यापार करता हूँ वह सब भी उस प्रभुके लिये—उसकी प्रीतिकी भावनामें—किया करता हूँ । हे मेरे प्रभु ! मेरा मध कुछ चौबासों घण्ठे सर्वभावमें तेरे लिये अर्पित है । हे देवे पाठक भाह्यो ! ईश्वर-भक्तियर मैं इसके सिवा और क्या लिख सकता हूँ !

ईश्वर अनन्त है

(लेखक—प० ब्रांगगाप्रसादजी महाना एम० ए०)

गलैण्डके प्रसिद्ध दार्शनिक कवि ब्राडनिंगने
इन नीचे लिखी थीं यानियोंमें परमारमाके
अस्तित्वके विषयमें अपने गमभीर अनुभवका
इसप्रकार उल्लेख किया है—

Though Master keeps aloof,
Signs of His Presence multiply
From roof to basement
Of the building.

कविके उक्त कथनका सारांश यह है कि विषका स्थायी यथापि स्वर्य अलग रहता है तथापि उसके अस्तित्वके सूचक लक्षण इस विषके समान झंग-प्रयंगोंमें देख पड़ते हैं । यह सारा विष उस प्रभुकी रथना-चानुरीका निदर्शन है—उसकी कमनीय कलाका कौशल है । चित्रकारके समान उसने बिना किसी उपादानके इस अद्भुत और सुग्रदर विषको मानो रचकर सदा कर दिया है । महारमा छसीदासने ठीक ही लिखा है—

'केशव ! कहि न जाय का कहिये ।
देखत तब रथना विचित्र अति, ममुसि मनहि मन रहिये ॥'

X X X X

'निरुपादनसमामित्तांव तन्यते ।
जगाचित्रं नमस्तम्भं कठाङ्गाध्याय शृङ्गेन ॥'

यह परिदर्शयमान विष एक महान् आश्रय है । उसका रथना-क्रम विचित्र है । उसका निर्माण बुद्धि-पुरुषःमर हुआ प्रतीत होता है । उसके मंगलनमें नियम और उद्देश्यकी हमें प्रतीति होनी है । यह सारा विष किसी अक्षर शक्तिके प्रशासनपर स्थित मालूम होता है—

'पतस्यैवाश्रस्य प्रशासनं गर्भि द्यावपृथिव्यैं विप्रते तिष्ठतः ।'

जैसे अद्वित्ये विमुर्लिंगा और सूर्यमें किरणें प्रकट होती हैं और उनमें ही लीन ही जाती है वैसे ही उस स्वयं प्रकाश प्रभुमें यह सारा प्रपञ्च प्रकट होता है—

‘यथार्चिंधोऽग्नेः सवितुर्गमस्त्ये
निर्याति संयान्त्यसकृत्सरोषिषः ।
तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो
बुद्धिमनःस्थानि शरीरसर्गः ॥’
(गजेन्द्रस्तुति)

यह विषय क्यों और किस क्रमसे प्रकट हुआ, हम प्रश्नके विषयमें मुक्त रहना ही अच्छा है। परमात्माकी ‘अघटितव्यनापटीयसी’ मायाके कार्योंको पूर्णरीत्या समझ लेना मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है। उसकी पराशक्ति अनिवार्यनीय है—

‘न तस्य कायं करुण च विद्यते
न तस्मभास्यविकश दश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विनष्टैव दूरंते
स्वाभाविकी ज्ञानबलकृपा च ॥’
(शेतावतर उपनिषद्)

यह जगन् परमाणुओंके आकस्मिक संपर्कमें नहीं बना है, परमाणुओंके आकस्मिक संयोगमें क्या यह ‘रचना विचित्र’ हो सकती थी? क्या भावाक्वि शेक्षणपियरकी नाटकीय रचनाओं और रेजीफी कवणमालाके २६ अशररके आकस्मिक संयोगमें उत्पन्न हो सकती थी? ये कल्पनाएँ नितान्त युक्तिशूल्य हैं। विषयकी घटनाएँ नियमशृङ्खलूपमें चलती हैं। उसकी रचनामें क्रम देख पड़ता है। वह सचेत पुण्यकी कृति भालूम् होती है। चेतन ही हम जगन्का नियमित और उपादान कारण है। प्रकृति परमात्माके संकल्पका उद्धार है—‘स ऐतत लोकाणु मृजा हति ।’ यह सारा विषय उसीमें ओतप्रोत है और उसमें जुदा भी नहीं। भगवान् ने गीतामें कहा है—

‘मतः पानरं नान्यकिञ्चिदस्ति धनेजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं मने मणिणा इव ॥’
परमार्थ-इष्टमें यह सारा विषय हरिस्प है—
‘हरिषेद जगत् जगदेव दृ-
ईरितो जगतो नहि नित्ततनुः ॥’

जगत् और जीवको हरिस्प कहनेका यही अभिप्राय है कि ये दोनों उसके ही अंश हैं जैसा कि गीतामें लिखा है—

‘यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमद्वित्तमेव वा ।
तत्त्वेवगच्छ तदं मम तेजोऽशसरमदम् ॥
अथवा बदुनेतेन किं ज्ञातेन तत्त्वं ।
विष्ण्याहमिदं रुद्धमेकाशेन स्थितो जगत् ॥’

जीव और जगत्को हरिस्प मानते हुए जीव और जगत्से हरिकी महिमाको परिमित करना उचित नहीं। शुतु पुकारकर कहती है—

‘पतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूर्वः ॥

गीतामें कहा है—

‘नातोऽस्ति मम दिव्यानां विमुक्तिनां पततप ।’

जो कुछ हमारे चर्म-चक्षुश्चाद्यमें दीखता है उसमें भी अधिक आश्र्यजनक हृष्टरकृत सृष्टियाँ विद्यमान हैं जो हमें बुद्धिगोचर नहीं होती—जो हमारी कल्पना-शक्तिकी पहुँच-के बाहर हैं। महाकवि शेक्षणपियरने यथार्थ लिखा है—

‘There are more things in Heaven and Earth, Horatio! thou are dreamt of in your Philosophy.’

उस प्रश्नके तेकर्त्त्वे और माधुर्यका पारावार नहीं। जीव उस दिव्य उद्यतिका विस्फुलिंगमात्र है। जगत् उसके जाज्वल्यमान तेजकी एक किरणमात्र है। यदि आकाशमें सहस्र सूर्य एक साथ उदित होकर अपना प्रकाश कैलावे तो कदाचित् उनका समस्त तेज परमात्माके विराट् तेजकी बराबरी कर सके—

‘दिवि मर्यसद्वस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि मः सद्वशी सा स्याद्वासस्तस्य महात्मनः ॥’

ईश्वरको तत्त्व-दीर्घियोंने द्विविधरूपमें अनुभव किया है। वे उसका ‘प्रह्ल’ और ‘आरम्भ’ हृत नामोंमें वर्णन करते हैं। वह हृत है और विषयका उपरूपण (बृद्धि) करने-वाला है इसलिये ‘ब्रह्म’ कहलाता है।

‘बृद्धत्वाद्बृहणवाच आत्मा ब्रह्मेव गीयते ।’

वह मनुष्यके अन्तर्जगतका ‘साक्षी’ और ‘चेता’ है इसलिये उसे ‘आत्मा’ कहते हैं। वह सद्, चिन्, अनन्त है। वह उपनिषद् के महावाक्यके ‘तत्’ और ‘त्वम्’ पदोंमें लक्षित होता है। वे ‘तद्’ और ‘त्वम्’ ब्रह्म और आत्मा—एक ही हैं। श्रीमद्बागवतमें कहा है—

‘वदन्ति तत्त्वविद्वत्त्वं यज्ञानमद्यग ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवनिति शब्द्यंते ॥’

उस परम तत्त्वको अपने संकीर्ण ईष्टिकोणसे देखनेके कारण हमें उसकी—

‘अणोरणीयान्मद्यतो महीयान्’

— महिमाका परा-परा आभास नहीं मिल सकता । असप्त, श्रुतिमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहकर उसका निर्देश किया है । उसे 'अनन्तं' अथवा 'भूमा' कहनेका यही तात्पर्य है कि हम किसी भी नाम, कल्पना अथवा विचार-सम्प्रदायसे उसका याथात्थ वर्णन नहीं कर सकते । लार्ड टेनीसनने ठीक ही लिखा है —

'Our little systems have their day;
They have their day and cease to be;

They are but broken lights of Thee,
And Thou, my Lord, art more than they.'

मनुष्यके संकीर्ण और दिक्षालयरिच्छाके विचार पर-मात्राकी अनन्तताको, उसकी असंख्य विभूतियोंको तथा आश्रयमयी कृतियोंको समझ नहीं सकते ।

उस 'अनन्तके अनुकूल' होकर अथवा उस 'अनद्य-नाद' के स्वरमें स्वर मिलाकर जीना और मरना मरणघर्षण-का एवित्र घ्येय होना चाहिये ।

ईश्वर-सिद्धि

(लेखक — रावबहादुर भारतिनामाणि विनायक देव, एम० ५०, एल-एल० बी०)



धर है या नहीं इस विषयपर जगत्के विद्वानोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । नानिक तो 'ईश्वरासिद्धेः' कहते हैं और किसी भी शास्त्रीय प्रमाणमें ईश्वरका सिद्ध होना नहीं मानते । मेपन्सर कहता है कि 'आदिकारण अज्ञात और अज्ञेय है' । ईश्वरके लक्षणमें सभी एकमत हैं । ईश्वर जगत्-कारण और बुद्धिमान् है, ईश्वरकी यह कल्पना सर्वथ मान्य है । परमात्मा परमब्रह्म आदि शब्दोंमें ईश्वरका वर्णन किया गया है । सभी धर्म ईश्वरके अस्तित्वपर ही प्रतिष्ठित हैं । वहिं ईश्वरको माने विना धर्मकी कल्पना ही नहीं हो सकती । ईश्वरके लक्षण-पर मतभेद हो सकता है परन्तु ईश्वरके अस्तित्वपर किसी धर्मका मतभेद नहीं है । बहुत-से विद्वानोंका मत है कि शब्दप्रमाणके अस्तिरिक्त अन्य प्रमाणोंमें ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती । अनुमान, प्रयत्न, उपमान-प्रमाणोंमें ईश्वर सिद्ध नहीं होता । वेदान्तसूत्रका आरम्भ ही हमी मिद्दान्तमें है । 'अथातो ग्रन्थं जिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रमें इस विषयका उपन्यास करके दूसरे ही सूत्रमें ब्रह्मका यह लक्षण बतलाया गया है 'जन्मादि ग्रन्थ्य यतः अन्य जगतः जन्मादि जन्मस्यतिलयाः ग्रन्थ्य सकाशात् तद्व्याप्तिः ।' अर्थात् इस जगत्की जाहींमें उपत्ति, स्थिति और लय होता है वही ब्रह्म है । इस व्याक्यमें ईश्वर-विषयक शब्दों-तीनों प्रकारकी कल्पनाओंका अन्तर्माल है । ईश्वरने जगत् निर्माण किया अर्थात् ईश्वर जगत्का कारण है । कारण दो प्रकारके

होते हैं—निमित्त और उपादान । बढ़ाईने रथ बनाया, इसमें बढ़ाई रथका निमित्त-कारण है और किसी वृक्षकी लकड़ी उपादान कारण है । ईश्वर किसी निर्माणमें केवल निमित्त-कारण माने गये हैं और किसीमें उपादान भी । बाह्वलमें कहा है God said let there be water and there was water ईश्वरने कहा,—'बहाँ पानी हो, और पानी हो गया ।'

इसमें ईश्वरको केवल निमित्त-कारण बतलाया गया है और जगत्का निर्माण शून्यमें माना है । ईश्वरकी कल्पनामें अचिन्त्य शक्तिमत्व है अर्थात् वह शून्यमें भी सृष्टि-निर्माण कर सकता है परन्तु वह कथन अनुचितकर है । उप-विषयमें पूछा है, 'कथमस्तः सज्जायेत', और 'सदेव सोम्येदमग्नं आर्यान्' यह उत्तर दिया गया है । कुछ विडान matter अथवा chaos यानी प्रकृतिको ईश्वर-भिज्ञ मानकर यह कहते हैं कि ईश्वरने Chaos में सृष्टि बनायी, यही सिद्धान्त इमारे यहाँ सांख्य-सत्सवक्षानका है । सांख्य-का विद्वान्त है कि प्रकृति और पुरुष विभिन्न हैं एवं पुरुष-सम्बिधिमें प्रकृति अर्थात् जट-प्रधान सृष्टि निर्माण करता है । परन्तु यह मत भी सचिकर नहीं है ।

'प्रकृतिः पुरुषश्चेव विद्यनार्दि उमात्पि'

यहाँ दो अनादि पदार्थ मानने पड़ते हैं अर्थात् ईश्वर-के न विभिन्न किये हुए अनादि पदार्थ मानने पड़ते हैं । यह भी सम्भव है क्योंकि ईश्वरकी कल्पनाको किंवित संकुचित करनेमें कोई बाधा नहीं । तथापि इस अस्तित्वको स्वीकारकर अद्वैत-सिद्धान्त यह कहता है कि ईश्वर जगत्को

अपने ही शरीरमें प्रकट करता है। इसके लिये 'यथोर्ण-नामिः' आदि दृष्टान्त प्रसिद्ध ही हैं। और ईश्वर ही निमित्त और उपादानरूपमें जगत्का कारण है। इसीको वेदान्म-शास्त्रमें 'अभिज्ञनिमित्तोपादान' सिद्धान्त कहा है और—
'तदनन्यत्वमारमणशब्दादिभ्यः'

इस वेदान्तसूत्रमें इसका प्रतिपादन होता है। ये तीनों सिद्धान्त (१, ईश्वरने शून्यमें जगत् निर्माण किया, २, ईश्वरने matter अर्थात् प्रकृतिमें जगत् निर्माण किया और ३, ईश्वरने अपनेसे ही जगत्का निर्माण किया) वेदान्तके 'जन्माच्यत्य यतः' सूत्रमें युक्तिये प्रतिपादित हुए हैं। यतःका अर्थ उपादान मुख्य है परन्तु निमित्त भी हो सकता है। 'येन' अथवा 'यस्मिन्' न कहकर 'यतः' कहना ठीक ही हुआ है।

ईश्वर अथवा यह जगत्का सदा है, यह मूल कल्पना सब धर्मोंमें और प्राणीमात्रके हृदयमें जड़ जमाये हुए है। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष पूछते हैं कि इस कल्पनामें प्रमाण क्या है? वेदान्तसूत्र इस प्रश्नका यही उत्तर देता है कि इसमें केवल शब्द ही प्रमाण है, इसके लिये प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान-प्रमाण नहीं हो सकते। शब्द-प्रमाणकी अर्थ है—आसावाक्य-प्रमाण। अन्तर्दर्शीश्वरीन्द्रिय-ज्ञान-सम्पन्न अधियोग्योंने ऐसा कहा है। यह उत्तर तीसरे सूत्रमें है 'शास्त्रयोनिन्वात्' अर्थात् शास्त्र—वेद ईश्वरको जगत् सदा बतलाता है। 'नन्तु समन्वयात्' इस चौथे सूत्रमें यह कहा है कि सारे शास्त्र-चर्चाओंका समन्वय करनेपर यही बात सिद्ध होती है। मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषदोंमें ऐसे अनेक बाब्य हैं जिनका समन्वय करना चाहिये। ईसाई और हम्लाम आदि अन्य धर्मोंके लोग बाह्यरूप और कुरान आदि प्रन्योगोंकी आस्त-प्रमाण मानते हैं।

निश्चय ही यही सिद्धान्त मानता होगा। ईश्वर प्रत्यक्ष-प्रमाणमें सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह शरीरिद्रिय है। बुद्धिमान् मनुष्य भौतिक शास्त्रकी रीतिमें ईश्वरकी खोजमें जहाँसक गये हैं वहाँसक उन्हें ईश्वरका पता नहीं जागा है। किसी नैयायिकको सूख्युकालमें यह कहा गया कि 'जगत्कारणं अर' उसने 'परमाणवः' का सारण किया, ईश्वरका नहीं। पर आजका भौतिक शास्त्र तो इन अनेक परमाण्योंके भी परे Electron तक पहुँच गया है। किसी समय बहुत-से Elements भाने जाने ये पर शब्द

एक Electron ही रह गया है, परन्तु वह Electron ईश्वर नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष-प्रमाणसे ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता। अनुमान-प्रमाणका तो यहाँ अवसर ही नहीं क्योंकि ईश्वरके विषयमें ज्ञाति नहीं हो सकती। 'यत्थ एष तदुपस्थितव्, यथा रथः' इम व्यासिमें सुन्धि उत्पत्तिमत् है अर्थात् उसका कोई कर्ता है। परन्तु ईश्वरका कर्ता कौन है, यहाँ अनुमान कुण्ठित हो जाता है। बढ़ावने रथ बनाया, वह रथका कर्ता हुआ और बढ़ावका भी कर्ता ईश्वर है पर ईश्वरका कर्ता कौन है? ईश्वर एक ही वस्तु होनेमें यहाँ अनुमान-प्रमाणको अवसर नहीं। यही हालत उपमान-प्रमाणकी है। क्योंकि ईश्वर निरपेक्षान है, उसमें कोई दृष्टान्त नहीं बैठता। प्रारम्भमें अधियोग्योंने रथके उप-मानसे ईश्वरकी कल्पना की थी और इसलिये रथकारकी भौति ईश्वरको बुद्धिमान् माना है। क्योंकि जड़ (सोल्फों-का प्रश्न) सृष्टिका कारण नहीं माना जा सकता। अनेक प्रकारकी क्लशलायुक्त सृष्टिरचना देखकर (जैसे मनुष्य-का शरीरस्त्र किमपकार सूक्ष्म और विभिन्न व्यापार-शक्तियोंमें युक्त है) आश्र्य होता है। 'रचना-नुपपत्तेश्वानुमानम्' इस वेदान्तसूत्रमें यह बनलाया गया है कि जड़-प्रकृति इसप्रकार रचना-चातुर्थ नहीं दिग्भवा सकती। पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओंने ईश्वरकी सिद्धिके लिये इसीको Argument of design कहा है। ये सब प्रमाण ईश्वरकी सम्भवताकी सिद्ध करनेवाले हैं परन्तु शास्त्रीय प्रमाणकोटिक नहीं पहुँचते।

इसप्रकार यह मानना पड़ता है कि ईश्वर-सिद्धिके लिये प्रत्यक्ष या अनुमानरूप शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलते। तथापि मेरा अपना आस मत यह है कि इस विषयमें प्रत्यक्ष-प्रमाण भी मिल सकता है। सूक्ष्म रीतिमें उचित स्रोज होनी चाहिये। हम अद्वावान् लोग शब्द-प्रमाणको और प्रतिप-सुनियोंके वचनोंको अवश्य सत्य मानते हैं, परन्तु यदि कोई वादी आकर पूछे कि 'अमेरिका है?' तो हम यही कहेंगे कि 'है' क्योंकि जिन लोगोंने जाकर अमेरिका की देखा है उन आस—विषयनीय पुरुषोंके वचन हम मानते हैं। तथापि इसपर भी कोई जांसा करे तो हम उसे जहाँमें बैठाकर समुद्रपर ले जाकर अमेरिका दिखला सकते हैं। इसी तरह हमारे अधियोग्योंके अतीन्द्रिय-ज्ञानी होनेपर कोई जांसा करे तो उसे हम अमेरिका ले जाकर विषयानेकी भौतिक प्रत्यक्ष बहुला सकते हैं मग नहीं? यह

प्रश्न भाता है। मेरी समझमें तो इसका यही उत्तर होना चाहिये कि 'हाँ, बतला सकते हैं।' अब इय ही इस विषय-की विशेष खोज होनी चाहिये और भौतिक शास्त्र-वेत्ताओंकी चित्तवृत्ति इस ओर झुकनी चाहिये। यह मार्ग स्वभ-सृष्टिका है। बहुत लोगोंको इस बातका अनुभव होगा कि प्रातः-कालके समय इस कोई कोई स्वप्न देखते हैं जो सच निकलते हैं। एक समयकी बात है, मैंने प्रातःकालके समय स्वप्नमें एक मुर्देंको ले जाने देखा और साथ जानेवालेमें पूछनेपर यह मालूम हुआ कि अभी इनका देहान्त हुआ है। मैं यह स्वप्न देख ही रहा था कि विश्वाला-प्रेसके स्वामी श्रीवासुदेवराव जोशीने आकर मुझको पुकारा कि 'उठो, चलो, दामठे सीताराम पन्तका देहान्त हो गया।'

मैं जग पड़ा और स्वप्नकी बात सत्य देख आश्रय करने लगा। विचार करनेपर इसका यही कारण प्रतीत हुआ कि प्रत्येक जीवात्मा परमात्माका अंश होनेके कारण विशुद्ध-संदेशकी भाँति भावी बातोंमें परिचित होता है। स्वप्न-शास्त्रका भी यह मत है कि प्रातःकालके समय जो अकलिप्त स्वप्न आता है। वह प्रायः सब होता है। मेरी समझमें इसका अनुभव अनेकों सज्जनोंको होगा। तात्पर्य यह है कि ईश्वर सर्वव्यापी ज्ञानस्वरूप है और सृष्टिकर्ता एवं सृष्टिमें अभिन्न है, इसका अनुभव मनुष्यको होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है और ईश्वर-मिदिके सम्बन्धमें भौतिक शास्त्रज्ञानके लिये सर्वथा विचारणीय है।

स्वराज्य

(लेखक—स्वामी श्रीप्रकाशनपादजी महर्जन)

जीवजीवनके प्रवृत्ति-निष्ठता-मूलक प्रथेक वृत्ति, स्पन्दन या कर्मके मूलमें प्रयोजन-बोध रहता है। प्रयोजन-बोध या तजनित संकल्प अध्यात्मका कामनाके विना कियो जीवकी कोई भी किया नहीं होती। इसीलिये कहा है—

प्रयोजनमनुदित्य न मन्दांडपि प्रवर्तते

अतः जीव-जीवनकी मूल-वायनाओं (Instincts) पर विचारकर जीवनके सहज स्वाभाविक आदर्श या लक्ष्यपर पहुँचना युक्ति-युक्त और विचार-मिदू है।

जीवनकी सारी प्रवृत्तियोंका विवेत्यण करनेपर पता लगता है कि उनके मूलमें, आहार, निद्रा, भय और मैथुन-का एक स्वाभाविक प्रयोजन-बोध है। कहा भी है—

आहारनिद्राभयमयुक्त

सामान्यमत्तु पर्याप्तगणान् ।

प्रवृत्तिका अर्थ है बाहरी जगद्की ओर गतिकी चेष्टा। परन्तु प्रकृतिका एक अल्लाय नियम यह है कि ज्यों ही बाहरकी ओर गति या किया (action) होनी है, ज्यों ही उस बाहु कियाके प्रतिकूल एक विपरीत किया (reaction) उत्पन्न होती है। इस किया और प्रतिकियामें गतिकी विपरीतता होती है पर मात्राकी समानता ही रहती है, (For every action, there is an equal and opposite reaction)—Newton's third

law of motion') यह जड़-विज्ञानका मुख्य नियम है, प्रकृतिके समस्त अंगोंमें एक ही नियम कार्य करता है। अतः मानविक-विज्ञान या अध्यात्म-विज्ञानका भी यह एक प्रधान नियम है। इसीलिये प्रथेक प्रवृत्ति, प्रथेक शास्त्रगति (——) के साथ-साथ उत्ती ही निष्ठता या अन्तर्गति (——) की भी उत्पत्ति हुआ करती है। यह प्रवृत्ति-निष्ठता, मुख-दुख, सम्पद-विपद, पाप-पुण्य, जन्म-मरण आदिकी अविरत, अवरुद्धेदग्धत घारा ही जीवन या संसार है। इसीलिये कहा जाता है संसार इन्द्रियक है—दोकां लंगाक्षेत्र है। संसारमें—जीवनमें जो कुछ हो रहा है, यह सभी इस प्रवृत्ति-निष्ठतमूलक इन्द्रियके अविरुद्ध, रहस्यमय, परिवर्तनशील भावकी अभिव्यक्ति-मात्र है। इसी तर्कको बंग-कवि दूसरे शब्दोंमें कहते हैं—

मुख-दुख दुष्ट मार्द,

मुखर लगियाये करे परिनि, दृग जाय तरे ठाँ—

अर्थात् मुख-दुख दुनों भाई हैं, जो मुखके लिये सुखमें प्रभं करता है, दुःख उसके पास आप ही जा पहुँचता है।

इन्द्रियकी यह विपरीत किया, इतने अशानस्त्रपमें एवं इतने सीधी बेगमें चलनी है कि उसीका एक अंग होनेके कारण मन उसे पकड़ नहीं पाता। उसी प्रवाहमें बहा जाता है; मनको प्रवृत्ति-निष्ठतिका ऐकान्तिक, सार्विक या

एककालीन बोध नहीं होता, यदि होता सो मन देखता कि जिस बड़ी प्रवृत्तिका उदय होता है उसी उण उतनी ही निवृत्तिकी भी उपरित होनेसे प्रवृत्ति-निवृत्तिकी विपरीतता एवं समानताके कारण, वे प्रति सुहृत्त परम्पर चंस हो रही है। (१) सुतरा दृश्य या देश, काल, पात्र नामक कुछ भी नहीं रह जाता या नहीं है; स्थग, सक्रिय, स्पन्दन-शील 'कुछ' भी नहीं है; है एक अखण्ड, शान्त केवल—जिसका इशारा श्रुति करती है—

'तेऽबावशिष्टः शिवः केवलोऽहम्'

—‘मैं शिव, केवल ही नियम अवशिष्ट हूँ’ मैं हूँ— शूर्यं, शान्तं, प्रजानम्, ‘शान्तं शिवमद्देहम्’ मैं ही हूँ; दूसरा सो और कुछ भी नहीं है। ‘यदि और मैं कुछ हैं’ ऐसा कहा जाय, तो वह मैं ही हूँ, मेरा ही नामान्तरमात्र है, इसीलिये तत्त्वदर्शी कहते हैं—

‘हमें आत्म-संस्थित कराया निरोध, तद्

अहङ्कर-चित्त-बुद्धि-मन ।

जानिने स्वरूप स्वीय, ब्रह्मा, विष्णु, भ्राता, शिव, तोमरई वैदिक विशेषण ॥

अथात् अहंकार, चित्त, बुद्धि और मनके निरोध करने-पर जब आत्म-संस्थित हो जाओगे, तब अपने स्वरूपका बोध होगा। उस समय जानोगे कि ब्रह्म, विष्णु, आत्मा, शिव सब दुम्हरे ही वैदिक विशेषण हैं यही बेदोनिषद् है, यही सम्बोधि है, यही प्रज्ञान है। एकमात्र ‘अहम्’ ‘अहमस्मि’ और जिस किसीका ही अस्तित्व स्वीकार क्यों न किया जाय, वह भी मैं हूँ। केवलमात्र ‘मोहम्’ ।

यदि ‘ईश्वर’ स्वीकृत है तो वह मैं हूँ। शेष सब दृश्य-मात्र, मायामात्र है, कुछ भी नहीं है; मनके सामने, अपने ही सामने, अपना ही स्वरूपमात्र है। यह केवल, शान्त, शिव स्थिति ही नित्य स्थित है। पर यह स्थिति भनके आगोचर है इसलिये प्रवृत्तिके साथ ही इस शान्त, शिव, केवल स्थिति-से बाहर निकलनेकी चेष्टाके साथ ही, इस चेष्टाको घंटमकर नित्य-स्थितिको स्थिर रखनेके लिये निवृत्तिका उदय होता है। यह निवृत्तिका भाव सभी जीवोंमें है। आध्यक्षरूपमें जिसमें इस निवृत्तिकी सीवता होती है, उसीका नाम है— मुमुक्षु। इस निवृत्तिका व्यक्त-बोध ही धर्म-बोध है। जिसमें इस ज्ञानका उदय होता है वही मानव है, वही नर है। इसीलिये प्रवृत्तिका भाव है—

आहारनिद्रामयैथनश्च
सामान्यमेतत् पशुमिनराणाम् ।

और निवृत्तिकी बाणी है—

अमों हि तेषामिविक्षा विशेषं
वर्णं हीनाः पशुमिः समानाः ॥

आत्मेतर वस्तुमें—एक ‘मैं’ तत्त्वके मिवा अन्य किसी अज्ञानज्ञनित कवित्यस वस्तुमें श्रद्धा करने और द्वैत-बुद्धिका आश्रय ग्रहण करनेका नाम पशुता है; एवं अद्वैत ‘मैं’ में स्थिति प्राप्त करनेकी चेष्टाका नाम ही मानवता है; इसीसे अस्तिका आदेत है—

‘आत्मेतयेत्रोपामीताव होने मर्व एकं भवन्ति, ‘मोऽन्या देवतामुपासनेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मैति न स वेद, यथा पशुरेव ए स देवानाम्’

और हसी बातको मौलाना रमने बड़ी सुन्दर भाषा-में व्यक्त किया है—

तपकह दर रुहे हैवानी बुअद्
रुहे बाहिद रुहे इन्सानी बुअद्

—पशुमें द्वैतका ज्ञान और मनुष्यमें अद्वैतका ज्ञान रहता है।

द्वैत विशय या आत्मेतर वस्तुको सत्य जान उम्के पीछे न दौड़कर अद्वैत, अविशय या आत्म-वस्तुमें स्थित होनेका भाव जीवमात्रका सहज स्वाभाविक धर्म है, परन्तु यह धर्म अव्यक्त भावमें रहता है, इसलिये उम्के अस्तित्वका बोध प्रत्यक्षमें नहीं होता, इसीसे मनुष्य और पशुमें भेद है। पर-राज्य स्थागकर स्व-राज्यमें सुप्रतिष्ठित होनेकी चेष्टाका व्यक्त रूप ही मानव-जीवन है; इसीलिये ‘व्यराज्य’ मनुष्यका जन्म-सिद्ध अधिकार है। यही मानव-धर्म है, यही आर्य-धर्म है। और मनुष्य इस धर्मकी अभिव्यक्ति है इसीलिये मनुष्यका गौरव है। इसीसे भागवतमें कहा है—

सृष्टा पुराणि विविधान्यज्याऽत्मशब्द्यः,
वृश्चान् सर्वासु पशुन् खगदंशमत्यान् ।

तस्मैर्गतुहृदयो मनुज विशेषः ॥

विश्वावत्रोधिषणं मुदमाप देवः ॥

—मानवेतर समर्थ स्थित करके भी ब्रह्माजीको तुसि नहीं मिली; तब अन्तमें उन्होंने बुद्धियुक्त विचारशील मानवकी सुष्ठि करके तुसि प्राप्त की।

ईश्वर-स्वरूप

(लेखक — स्वामीजी श्रीसर्वदातन्द्रजी महाराज)



तुम्ह अल्पज्ञ हैं और समय-समयपर यह अपनी अल्पज्ञता का परिचय देता रहता है। इसी अल्पज्ञताके कारण वह कभी-कभी स्वयं सन्मार्गको छोड़कर विपरीत सार्गपर चलता है तथा आरोग्यको भी उस सार्गमें ले जानेका प्रयत्न करता है, जिसका फल अन्तमें दुःख उठाना होता है। उसकी यह अल्पज्ञता दो प्रकारकी होती है—एक, किसी वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होना और हूसरी, किसी वस्तुको विपरीत समझना। इसमें पहली हानिकारक है और दूसरी दुःखप्रद। पहली दीनताको जगाती है तो दूसरी पराधीनतामें फँसती है। यह लोक-प्रथम्य बात है।

ईश्वर वेदादि सद्व्याघातप्रसिद्ध, अनन्तशक्ति, अनुलब्ध, अद्भुत-महिमा, विश्वव्यापक, विश्वभर, विश्वधार, सर्वज्ञ, सर्वव्याप्त, सर्वान्तर्यामी, निराकार, निर्बिकार, निराधार, धारा-विधाता, कर्मफलप्रदाता, निर्णय, निरञ्जन, न्यायकारी, पवित्र, विचित्र, सर्वभिन्न, असहाय, एक और सच्चिदानन्द-स्वरूप है। एतद्विरोपणविशिष्ट ईश्वरका वेद पश्चाती है। वह बतलाता है कि ईश्वर ही मंगलमय, मंगलस्वरूप और मंगलकारी है, उसीकी उपासना करनेमें मानव-समाजका कल्याण होता है। ईश्वर ही सबका ईश्वर और उपास्य है। उसके यथार्थ स्वरूपको न जानकर पुरुष दुःख उठाता है, तथा उसके यथावत् ज्ञानमें मनुष्य सन्मार्गमें आकर सर्वप्रिय हो जाता है।

किसी कारणवश वेद-प्रचारके मन्द पद जानेमें जन-समाजको छिप-भिज करनेवाले यहुमतवाद लड़े हो गये। मत-मतान्तरकी अधिकतामें एकता नष्ट हो गयी और मनुष्य-समाजका अहित होने लगा। वेद-प्रतिपादित ईश्वरस्वरूपको भूल जानेके कारण, मनमानी कल्यानओं-में ईश्वर-स्वरूपका निरूपण होनेके कारण, तथा विपरीत मिथ्या विश्वासमें संलग्न होकर पारम्परिक ईर्ष्य-द्वेषमें भग्न होनेके कारण मनुष्य समस्त प्रकारके गौरवमें हाथ छोड़ देता। सम्प्रदाय-भेदमें नाना प्रकारके बखें उत्पन्न हो गये। यह सबको प्रत्यक्ष ही है।

ऐसी अवस्थामें यदि वर्तमानकालके नवयुवकोंके मन-में परमेश्वर-विचार-विषयक सम्मेह उत्पन्न हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सामान्यतः मनुष्य-समाज और विशेषतः मुख्य-समाजकी रुचि ईश्वरमें बनाये रखने सभा उन्हें प्रभु-प्रेममें विमुख न होने देनेका एकमात्र यही उपाय है कि उनको ईश्वरका यथार्थ स्वरूप बतलाया जाय और सत्यासत्य-विवेक-विहीन मत-वादोंका दोष भी दिखलाया जाय। अन्यथा उनकी प्रवृत्ति नामिकताकी ओर बढ़ती ही जायाती, बन्द न हो सकती।

इस ईश्वर-विचार-प्रधान देशमें ऐसी प्रवृत्तिका उठाना निष्पन्नदेह गलानि और हानिकर है, इसलिये विद्वान् और विचारशाल अनुभवों पुरुषोंको इस कुरिसित गतिके दूर करनेका योग्यान्वय यह करना चाहिये, क्योंकि जो मनुष्य सन्मार्गमें दूर हो जाता है, उसे ईश्वर-उधर भटकना ही पड़ता है तथा उसका अनन्तःकरण अनेक प्रकारके विचारों-का स्थान बन जाता है। आज अधिकांश मनुष्योंकी यही दशा है। ईश्वर एकत्व, अपरिवर्तनशील तथा स्थिर-स्वभाव है; परन्तु जिजासु यह उसके विषयमें कुछ जानना चाहता है तो उसे एक ईश्वरके विषयमें अनेक प्रकारके उत्तर मिलते हैं। ऐसी अवस्थामें नवयुवकोंके मनमें, जिनकी प्रवृत्ति तक्ताल तांत्र और उस्माइन होती है, इसप्रकारके विचार यहज हा। उठने हैं कि 'या तो ईश्वर है हां नहीं और यदि है भी तो उसे कोई जान नहीं सकता, जिस मनुष्यके मनोराजन्में जैसा जँचता है वह उसे वैसा ही मान लेता है, ईश्वरको मानना ही सब योग्योंका मूल कारण है, इसमें जन-समाजको नाना प्रकारके दुःख उठाने पड़े हैं, श्रतण्ड्र ईश्वरका परिवारगा ही ठीक है।' भारतवर्षमें तो इसप्रकारके विचार अभी अनुरूपित ही हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य देशोंमें यह बृक्षके रूपमें आकर अपना कटु फल भी प्रदान कर रहे हैं।

जब इसप्रकारके अमर्दृष्य विचार ईश्वरके विषयमें हो रहे हैं तब वेदप्रतिपादित वास्तविक विचारसम्मत ईश्वरस्वरूपका निरूपण करना, तथा उसे ही एकमात्र उपायद्वय मानकर उसकी उपासनाके लिये छोगांको प्रेरित करना ही इस कुविचारधाराके रोकनेका उचित

उपाय जान पड़ता है। इसकिये ईश्वर-विचारमें बेदका विचार उपस्थित किया जाता है—

‘सर्वेषां बेदानां ब्रह्मणि तत्परमस्ति ।’

अर्थात् ‘साक्षात् या पश्यत्वा सम्बन्धसे सब बेदोंका तात्पर्य ब्रह्मको जानने और उसकी प्राप्ति करनेमें ही है।’ जो पुरुष जारी बेदोंको पढ़कर उस परमेश्वरके जाननेका यह नहीं करता, वह मनुष्य-जन्मके यथार्थ द्वैशको पूरा नहीं करता है; अतएव बेद-पठनसे जो जाग्र होना चाहिये उसमें वह बहित ही रह जाता है। वह जिन धनादि वस्तुओंके उपायेनामें सदैव तत्पर रहता है वह तो साथ नहीं देती है और जो साथ देनेवाली वस्तु भी उसको वह प्राप्त नहीं करता है। अन्तमें वह अपनी बेसमझीपर पछताता और नयनोंमें नीर बहाता हुआ शरीरको छोड़ देता है।

स एक पक पद वृत पक पद तमिन् सर्वे देवा एकवृतं
मवतीति ।

अर्थात् परमात्मा एक है। एकको तीन बार कथन करनेमें यह सिद्ध हो रहा है कि वह परिणाम-विकारसे दूर्घट्य सदा द्विरस है, वह मोक्षस्वरूप है और अपने भक्तोंके लिये मुक्तिका दाता है। वह विश्वस्याएक है। विश्वातुका अन्तःकरण यदि मङ्ग, विक्षेप और आवरणसे रहित हो तो उसे उसमें परमात्माके दर्शन होते हैं। सर्वाधार मर्वदिविकरणकी व्याख्यामें इसी समलूप ब्रह्माद्य व्याख्यालपनमें विद्यमान है। व्याख्य-व्यापक भावके सम्बन्धसे एक होते हुए भी दोनों स्वरूपसे भिन्न हैं। इस आश्चर्यमय महान् शक्तिका प्रतिपादन वेद जिसप्रकार करता है वह युक्त-युक्त है। संसारके विहान् अपनी-अपनी भाषामें वेदानुकूल ईश्वरका ही सकेत करते हैं। इससे कोई विसुल नहीं हो सकता। जो विसुल होता है वह दुःख उठाता है। यह तो एक ऐसी शक्ति है जो स्वीकृति (इकार) तथा अस्तीकृति (इनकार) दोनों अवस्थाओंमें प्रकट होती है।

वेदसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाला शास्त्र-शिरोमणि वेदान्तशास्त्र कह रहा है—‘जन्माद्यस्य भवतः ।’ अर्थात् इस संसारकी वस्तुति, पालन और यथासमय संहार जिसके अधिकारमें है वह वह है। इसी एक व्यक्तके युग-कर्म-भेदसे ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि ज्ञानके नाम है। ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नका यह कितना महात्मपूर्ण उत्तर है, इसे सुनकर मनुष्य मृक हो जाता है, उसके मनमें हर्ष और

मनकी विचारधारा बहने लगती है। इसका बारम्बार मनन करनेसे मनुष्यके मनसे अनिष्ट-विनाश हुर हो जाती है तथा सत्यता, निर्भयता, सहिष्णुता और उदारताका अन्तःकरणमें प्रकाश होने लगता है। ईश्वरका यथार्थ विचार करनेसे मनुष्य प्राचीनाकालमें प्रेम करना सीखता है।

इसकिये जो मनुष्य ईश्वरकी उपासना, उसकी चर्चा तथा उसकी महिला उपदेश ज्ञानतामें देता है उसका अन्तःकरण विनयभावसे युक्त तथा ईश्यां-द्वेषादि दोषोंमें मुक्त होना चाहिये। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, प्रयुत इसके विपरीत उदाहरण मिलते हैं। निर्भन और अशिक्षित पतित पुरुष, जिनकी विचारशक्ति हिन्दू-समाजके पीछे बढ़ती है तथा जो हिन्दू-समाजके अंग और श्रमजीवी हैं उनके उद्यानका जब प्रश्न उठता है तो साधारण जन-समाज तो उनका साथ देता है, परन्तु ईश्वरके पुजारी ही ईश्वरामें बातक होते हैं। ईश्वरका एजन करे और उसका स्वभाव ईसप्रकार सरक्षतासे हुर और कठोरतामें उत्तर हो तो उसकाइये लोगोंको किसप्रकार ईश्वरमें विद्यास और उसके एजनमें रुचि हो सकती है? ईश्वर-अन्तःकरण स्वभावमें मनुषा, वचनमें मनुषता और कोकहितकी प्रवृत्ति होनी चाहिये। भारतीय नवयुवक-समाजका आनंद जो ईश्वरसे विमुख हो रहा है, उसका कारण यह तथा-कषित ईश्वरके पुजारी हैं जो अपनेको सर्वोपरि मान रहे हैं।

बह जन-समाज स्वर्यं पतित हो जाता है जो औरोंको पतितावस्थामें देखना चाहता है। जो यथार्थ ईश्वरका अन्तःकरण होता है उसके अन्तःकरणमें ईश्वरकी दयालुता, स्माय आदि गुण स्वावाचिक ही उपस्थित रहते हैं, वह दूसरोंको कष्टमें नहीं देता सकता; वस्ति स्वर्यं हुःख उठाकर औरोंका हित करना उसका स्वभाव हो जाता है। यह बात वेद-विद्वित ईश्वरके ज्ञानमें मनुष्यके मनमें जागृत हो जाती है। वेदोंमें इसप्रकारके उपदेश स्थान-स्थानपर मिलते हैं जिनका पालन करनेमें मनुष्यका अन्तःकरण विद्येमसे पूरित हो जाता है, इस बातके न जाननेमें ही संसारमें बखेड़े बढ़ते जा रहे हैं, तथा धर्मप्राण भारतीय नवयुवकोंकी विचारधारा भी विपरीतगामिनी हो रही है।

लोके गुरुपन्नस्य देवार्थप्रतीतिः ।

अर्थात् ‘जो मनुष्य क्लोक-व्यवहारमें चहुर होते हैं, वेदावेका विचार ज्ञान उन्हींको होता है,’ यह महात्मा

कपिलका अनुशासन वदा ही महत्वपूर्ण है। वेद और स्तोकशक्तिमें कोई भेद नहीं है। जब वेदार्थका ज्ञान ही नहीं रहेगा तब तक्षिष्ठ परमात्माका यथार्थ बोध कैसे हो सकता है? यही कारण है कि विष्णवीत ज्ञानके फँटेमें पव भारतवर्षमें वदे-वदे अनर्थ उत्पन्न होते जा रहे हैं। अतः

जो मनुष्य-समाज छोकब्यापारमें जितना ही भिन्नता जायगा वह उतना ही वेदार्थके समीप होकर हैररके यथार्थ स्वरूपको तथा उसकी प्राप्तिके मार्गको अनुभव करेगा। यह सर्व है और यदि इस विचारकी ओर गति हो तो संसारकी उच्चति निस्सन्देह है।

ईश्वर प्रत्यक्ष हैं

(लेखक—स्वामीजी श्रीसोमतीर्थजी महाराज)



सारकी ओर विचार करके देखनेपर चेतन-सप्ताकी स्थिति दो प्रकारकी दीख पड़ती है—अभिमानीके रूपमें और आधेयके रूपमें। उदाहरणके लिये मनुष्यको ही लियें, वह अपने शरीरका अभिमानी है और पृथ्वीका आधेय है भर्यात पृथ्वीके आश्रयपर छहरा हुआ है। (शरीरके) अभिमानीकी शरीर-सम्बन्धी बाधा क्रियाएँ बिना किसी श्रम या यद्यके स्वभावतः हुआ करती हैं; अभिमानीको उसके लिये कोई यद्य नहीं करना पड़ता। जैसे हम छोरोंको पलकोंके गिराने-उठाने, मल-मूत्र त्यागने, सोते समय करवट बदलने आदिमें किसी प्रकारके यज्ञकी अपेक्षा नहीं होती है। यह सभी काम स्वभावतः ही होते रहते हैं।

हम देखते हैं कि आधारका प्रयोजन, केवल आधेयके भोगके लिये ही होता है। पृथ्वीके कारण हम सब भोग भोग सकते हैं और हमारे शरीरके आधारपर रहनेवाले जूँ तथा कीटाणुओंको हमारे शरीरहारग ही भोगकी प्राप्ति होती है। जिसप्रकार हमें पृथ्वीके भाव, तौल, परिमाण आदिका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार प्रयेक आधेयको आधारके भाव-तौलका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता है। हमारे सिरमें रहनेवाली जूँके लिये सिरके बाल बनन्पतिके तुल्य हैं; यदि उसे संयोगवश पीछपर जाना पड़े तो उसे वह एक बनन्पतिशूल्य स्तरपट मैदानके ही समान जान पड़ेगा। अथवा यदि उसे कानके भीतर जाना पड़े तो उसे वह एक बड़ी लम्बी-चौड़ी अन्धकार-मयी गुफा समझेंगा। कहनेका तात्पर्य यही है कि हमारे शरीरके कीटाणु हमारे शरीरकी इयत्ताको उसी प्रकार ठीक-ठीक नहीं जानते विसप्रकार हम कोग अपने आधार पृथ्वीकी इच्छाको नहीं जानते हैं। विसप्रकार हमें

ज्ञाना-पीना, शौचादि करना, सन्तानोत्पादन करना प्रमुखि कर्म पृथ्वीपर अनायास करते हैं और पृथ्वीको कोई शरीर नहीं मानते उसी प्रकार जूँ, मास तथा लधिरके कीटाणु अपने सभी प्रकारके कर्म हमारे शरीरपर करते हैं और हमें शरीर नहीं, यस्ति पृथ्वी-जैसी वही चीज़—आधार मानते हैं। हम इन कीटोंमें बने हुए कीटमय शरीरके अभिमानी हैं और पृथ्वीके आधारपर टिके हुए हैं। इसी प्रकार हमारे शरीरके समस्त कीट अपने-अपने शरीरके अभिमानी हैं और हमारे शरीरके आधारपर टिके हुए हैं।

अब यदि धोका-सा और सूक्ष्म विचार करें तो जान पढ़ेगा कि इन कीटोंका शरीर भी हमारे शरीरके समान ही सूक्ष्मतर कीटोंमें मिलकर बना है। क्योंकि यह निश्चय चाहत है कि प्रत्येक शरीरमें कीट होते हैं और कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ कीट न हों। सूक्ष्मवीक्षण यन्त्रमें देखनेपर यह जाना जा चुका है कि हमारे शरीरके रक्तके एक दृंगमें असंख्य कीटाणुओंके शरीर हैं, तथा साफ पानीके एक दृंगमें भी असंख्य कीट होते हैं। अन्तु, हमारे शरीरके कीटाणुओंके शरीर अपर सूक्ष्म कीटाणुओंमें निर्मित हुए हैं तथा हमारे शरीरके कीटाणु उन सूक्ष्म कीटाणुओंके आधार हैं, एवं वे सूक्ष्म कीटाणु अपने-अपने शरीरके अभिमानी हैं।

यदि इसी प्रकार आगे बढ़ने जायें तो यह ताँता वहाँ आकर खत्तम होगा जहाँ चेतन प्राणमय सत्ता के अतिरिक्त कुछ भी न बच रहेगा। यह चेतन-सत्ता उन सूक्ष्मतिसूक्ष्म कीटाणुओंमें लेकर हमारे शरीरतकमें आतप्रोत है। बीचके समस्त अभिमानी शरीरोंका बरा-ना भी स्थान ऐसा नहीं, जो उस चेतन-सत्तामें रहित हो।

यह तो हुई सूक्ष्मकी बात, अब जरा आँखे विसुकी और बढ़ें। पृथ्वी हमारा आधार है और हम उसके आवेद्य हैं। जिसप्रकार हमारे शरीरके आधारपर रहनेवाले आवेद्य-रूप कीटाणु हमारे शरीरसे पृथक् नहीं बल्कि हस्के ही एक अंग हैं उसी प्रकार हम भी पृथ्वीके एक अंग हैं। और पृथ्वी भी एक शरीर है। वैदिक साहित्यमें सभी पश्चात्यांका एक अभिमानी देवता माना गया है। मनुष्य-शरीरका अभिमानी देवता मनुष्य है, पृथ्वीका अभिमानी देवता पृथ्वी और सूर्यका अभिमानी देवता सूर्य है। जो होता है उसीका वह शरीर होता है और वह किसीका आवेद्य होता है। पृथ्वी एक अभिमानी आत्माका शरीर है जिसका आधार सूर्य है। सूर्य अपने शरीरका अभिमानी देवता है, जिसमें ममता प्राघमण्डलका समावेश हो जाता है, अतः उसका आधार कोई उसमें बढ़ा मण्डल है। इसी प्रकार आगे बढ़ने जायें तो हम अनन्त विश्वका एक चरम सीमाका अर्थात् निःसीम अभिमानी देवता मिलेगा। उमे ही हम ईश्वर कहते हैं।

वह ईश्वर सबका आधार है। उसका कोई आधार नहीं। यदि कोई उसका आधार होता तो वह उसको

भोग प्रदान करनेके लिये होता। जैसा हम पहले कह चुके हैं कि आधार आवेद्यके भोगके लिये ही होता है। परन्तु ईश्वर सर्वमय है अतः वह निराधार है।

ईश्वरको, जो समस्त विश्वका अभिमानी चेतनात्मा है, संसारके सञ्चालन करनेके लिये उसी प्रकार यह नहीं करना पड़ता है जिसप्रकार कि हमें आँखके भूमकानेमें यह नहीं करना पड़ता क्योंकि उसकी बाह्य नथा आनन्दतर समस्त क्रियाएँ स्वामानिकी होती हैं—

स्वामानिकी ज्ञानबलक्रिया च। (श्रुति)

भगवान्‌का निरूपण तो हुआ, परन्तु उसका प्रत्यक्ष कैसे होता है? उपरके विवेचनके पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरका प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि जब हम कहते हैं कि मनुष्य प्रत्यक्ष दीविता है तो हसका तात्पर्य यही होता है कि हम शरीर-विशिष्ट चेतन-सत्ताको प्रत्यक्ष करते हैं। केवल आत्मा कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः अब यह निर्विवाद मानना होगा कि यह समस्त विश्व ईश्वरका शरीर है और इसे शरीर-विशिष्ट ईश्वरका प्रतिकृति प्रत्यक्ष हो रहा है।

भगवान् मेरे बगीचेमें

(अध्यक्ष—आशुत नोर्मन अलेक्जेंडर, सम्पादक हथापनीयी, अमेरिका।)

आज सुबह मैंने भगवान्‌के दर्शन किये। धन्य हैं वे आँखें जिन्होंने उस प्यारे मनमोहनकी छविको निहारा! अमन्त कालसे प्राण उसकी लोजामें छपटा रहे थे। लोगोंने उमे पुकारते-पुकारते रात और दिन एक कर ढाला।

उम्मेसे कहै चिल्हा उठे—“देखो, भगवान् ये रहे।” कोई दूसरा कहने लगा—“भगवान् यहाँ नहीं, वहाँ हैं।” परन्तु हाय! कोई भी उनका पता न लगा सका! रात्रिमें जिसप्रकार बालक नीदमें चिल्हा उठते हैं उसी प्रकार असंख्य प्राणी ‘हे भगवन्! तुम कहाँ हो? सम्मुख क्यों नहीं आते?’ इसप्रकार चिल्हाते-चिल्हाते अपनी दुःख एवं नैराश्यपूर्ण स्वल्प जीवन-स्त्रीलालोंको समाप्त करके चले गये परन्तु उसका पता नहीं पा सके।

लाखों दूसरे भाई ‘यह सब मिथ्या है, कहीं कोई ईश्वर नहीं है’, इसप्रकार बिलखते-बिलखते ज्ञान निराशा-के द्वारकारमें विलीन हो गये।

परन्तु मेरे प्यारे भाईयो! क्या ही अच्छा होना यदि आजके भाग्यशाली उचाकालमें आप मेरे साथ मेरी बांधी-में चलते! अहा! मैंने उस प्रियतमकी छविको देखा ही नहीं, उसके हृदयहारी ममूँ मधुर स्वरको इन भाग्यवान् कानोंमें सुना भी। इतना ही नहीं, मैंने उसके सज्जोंमें प्रस्फुटित होनेवाली उज्ज्वासजनक स्वर्गीय सुगन्धका भी अनुभव किया।

पहले मुझे सन्देह हुआ कि कहाँ आँखें मेरी बङ्गना तो नहीं कर रही हैं? क्या यह मधुर मूर्ति जिसे मैं देख रहा हूँ, सच्ची है? सामने आग्रहकी शास्त्रापर नव किसलयोंके क्षेत्रमें ऐसी हुई झुलबुल बोल उठी, ‘क्या तुम नहीं देखते? क्या तुम नहीं देखते, यह वही तो है? जिस्तन्देह वही है।’

ईसाने क्या ही अच्छा कहा है—‘वही लोग ईश्वरका साक्षात्कार कर सकते हैं, जिनका अन्तःकरण शुद्ध है।’

कर्मफल ईश्वराधीन

(लेखक—पं० श्रीवरदेवता शास्त्री ऐदतीर्थ)

अहम्ब्राह्मणम् संशयात्मा विनश्यति ।

नायं कोऽप्तिं न परो न मुखं संशयात्मनः ॥ (गीता)

सारमें आकर जो अह-अनज्ञान रहेंगे,
संभव मिथ्याज्ञानमें फैसे रहेंगे, अज्ञा विज्ञ होकर
भी अश्रहधान-प्रदाविहोन रहेंगे, अथवा
संशयात्मा-सन्देहवादी बने रहेंगे किंवा
सन्देह-सागरमें गोते खाते रहेंगे, ऐसे लोगोंको तो न यह
लोक है, न परलोक है और न किसी प्रकारका सुख ही है ।

इसीलिये अज्ञानावस्थामें बाहर विकल्पके लिये
 अथवा विज्ञ रहने भी अश्रहधान कोटि किंवा सन्देहवाद-
 को मिटानेके लिये गीताने जो सुन्दर उपाय बताये हैं,
 वह ये हैं—

तद्विदि प्रिणिते परिप्रश्नन सेवया ।

उपरेक्षयन्ति ते ज्ञानं ज्ञानेनस्तवदर्तिनः ॥

अर्थात् तत्त्वदर्शी, साक्षात्कृतधर्मा आम ज्ञानी पुरुषों-
 के पाम आकर प्रणिपात्तसे (आम्बरिक अद्वाका घोतक
 नम्मकार, अभिवादनार्थि) मेवाये क्योंकि—

यथा सनन् स्वनितैऽन नरो वर्धिविगच्छति ।

तथा गुरुता विद्वां शुद्धूरविगच्छति ॥

विस्प्रकार कुदंडके लोडनेवाला कुदाचीमे खोदता-
 स्त्रोदता कुदु काकमें जड़को पाता है इसी प्रकार यद्यपि उपर्युक्त
 गुस्ताव विद्याको प्राप्त करता है । प्रथिपात और मेवा इन दो
 आवश्यक साधनोंके साथ-साथ, परिप्रश्न अर्थात् विज्ञानित
 विषयको स्पष्ट करनेके लिये, गुस्ते डगकी बातको स्पष्ट
 करनेके लिये, विविध प्रश्न—इसप्रकार पुरुष विज्ञ, अहधान
 और संशयरहित बनकर इष्ट वस्तुको प्राप्त कर लेता या
 पर अब वह परम्परा सुन-सी होती जाती है ।

अब ऐसी गुह-शिष्य-परम्परा कम देखनेको मिलती है और विदेशी पद्धति एवं विदेशी शासनमें शिक्षा-प्रणाली
 भी विदेशी और अस्त्राभाविक हो रही है, इसीलिये इसमें ऐस-

के युवक स्वशिक्षा, स्वशास्त्र, स्वधर्म और स्वकर्मके गहन
 तत्त्वोंसे अनमिश्र, अश्रहधान और संशयात्मा हो रहे हैं ।
 इनके मस्तिष्कमें ऐसे ज्ञान-विज्ञान भरे अथवा दूसे जाते हैं कि इनको न तो ईश्वरमें विश्वास रहता है और न
 कर्मफलमें ये कोरे संशयात्मा बन जाते हैं, इसीलिये भारत
 दुखी है, यह नवयुवक सदा पूछते रहते हैं कि 'तुम्हारा
 ईश्वर कहाँ है ? जीता है या मरा है ? यदि जीता है तो
 फिर भारतकी दुर्दशा क्यों हो रही है ? यह दिन-दहाडे
 अस्त्यावाचर और अनाज्ञान क्यों बढ़ रहे हैं ? धार्मिक भारत-
 वासियोंको, साचिक भारतवासियोंको, दैवी सम्पदके
 उपासक भारतीयोंको ये—

'ईश्वरोऽहम हौमी सिद्धोऽह बलवान् मुर्खी ॥'

'कोऽन्मोऽप्तिं सदशो भया'

'प्रद्विपन्तोऽन्म्यमूर्खका ॥'

भासुरी सम्पदाले इसों दृश्यों जा रहे हैं, क्यों जाये
 जा रहे हैं ? हृष्यादि ।'

प्रथ करनेवालोंको यह विद्वित नहीं कि कर्मफल भी
 कोइं बहुत है और वह उस ईश्वरके अधीन है जो कि
 हमारे कर्मांशार कभी हमारे प्रयत्नोंको सर्वथा निकल
 कर देता है, कभी प्रयत्नोंका फल बहुत देरमें देता है, कभी
 (प्रथ्यक्षरूपमें मालूम नहीं पहसा कि हमने कुछ किया
 किन्तु) विना कुछ किये ही दोनों हाथोंमें फल देता है
 और हम जाकिए इह जाते हैं कि हमने न कुछ किया और
 न कराया, येत-येतमें यह फल कैसे मिल गया ? हम अज्ञ,
 अश्रहधान, संशयात्मा यह नहीं जानते कि किसी समय,
 जन्म-जन्मान्तरमें सञ्चित कर्मका यह फल आया है । हम
 यह समझते हैं कि किये जानेवाले कर्मोंका फल तुरन्त ही
 अपने सामने आ जाय तो ईश्वर है नहीं तो नहीं, यह हमारी
 दूखता है । भक्त अबन्त कर्मांशयकी बातको तो हम
 कव जान सकते जब कि हम ऐसी जीवनमें जीर्ण-जी
 देनेते हैं कि इस-पाँच सालकी बासतको हम भूल जाते हैं । हृष्य, अश्रितज्ञमें स्वैर्य रक्षनेवाले योगीज्ञ अवस्थ ही

जन्म-जन्मान्तरके कर्मोंको जान लेते हैं, पर वह भी पूर्ण रीतिसे नहीं—एकदो जन्मके कर्मोंको जान भी किया तो कथा बात हुई ?

प्रायः नवविक्षित यह कहते रहते हैं—यदि किया हुआ कर्म निष्फल नहीं जाता तो वह कर्म स्वयं अब चाहे, जिस रूपमें चाहे जिसनी मात्रामें चाहे, फलेगा और अवश्य कलेगा। इसके फलनसे हैश्वरका अंडगा क्यों लगाया जाय ? इन संशयात्मकोंको यह विद्वित नहीं कि जड़-कर्म चेतनाश्रयके बिना स्वेच्छामें कल नहीं दे सकते। यदि कर्मोंमें हृष्मप्रकारकी चेतना-शक्ति होती तो सम्भवतः हैश्वरकी आवश्यकता न रहती, कर्म स्वयं ही एक हृष्मरा हैश्वर बन बैठता। इन लोगोंको यह पता नहीं कि कर्म करना, न करना, उलटा करना, यह सब जीवात्मके अधीन है। इसलिये जीवात्मा कर्म करनेमें स्वतन्त्र और फल भोगनेमें परतन्त्र है। इसलिये देखेंमें उपदेश दिया गया है कि—

कवेष्ठवेह कर्मणि त्रिजीविवेच्छतः समाः ।
पदं त्वयि नान्यथेऽप्ति न कर्म लिप्यते ननेऽ॥

(यनुः—इशोपनिषद्)

हे मनुष्य ! शुभ कर्मोंको करते हुए और फलकी हृच्छा छोड़कर सौ वर्षतक जीनेका प्रयत्न कर, इसमें तुम्हाको कर्म नहीं विपट्टे और न् भी कर्मालालमें जल-कमलवत रहकर मुख-नुःखोंसे ऊपर उठेगा ।

बात तो ठीक है, गीता भी ऐसा ही कहती है, उपनिषदोंका अस्पर्जनावाद, गौडपादकारिकाका अलेपवाद, कर्मयोग आदिका यही अभिप्राय है क्योंकि फल अपने अधीन नहीं है। इम संसारकी घटनाओंको सूक्ष्म दृष्टिसे देखें सो विदित होता कि कर्मोंकी विविध गति है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने एक प्रसंगपर कहा है कि—

समानमीहमानानां चार्चायानानां च केचिद्दैयेयुज्ज्ञन्ते अपरं न तत्रास्माभिः किं कर्त्तव्यम् ।

छात्रोंमें समानरूपसे पढ़ने और प्रयत्न करनेवालोंमें कुछ तो उस अंदको प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उस विषयको जान जाते हैं, दूसरे कोरे हुदू रह जाते हैं। इसमें इम कथा करें ? यही बात दूसरी जगह इम प्रस्त्यक्ष-रूपमें देखते हैं कि एक ही बत्तुके लिये कोई और प्रस्त

करके भी फलसे विजित रह जाता है, कोई नाममात्र फल पाता है, कोई बहुत कुछ न करके भी न जाने बैठेबैठे फल पा जाता है। कोई जन्ममें ही राजपुत्र, कोई जन्ममें ही श्रिदिनारायण, कोई जन्ममें ही गायक, कवि, विद्वान्, दुष्मिनान् और कोई जन्ममें ही जड़ होता है। यह आधिक, वैदिक और अन्य प्रकारकी विषमताएँ क्यों? सबका उत्तर एक है—कर्मफल। दूसरी ओर देखते हैं कि इसी जन्ममें किये गये बहुत-से कर्मोंके फल मिलते भी हैं, नहीं भी मिलते। यह क्यों ?—कभी-कभी उल्टे भी मिलते हैं, यह क्या आश्रय नहीं ? इसलिये मानना पड़ता है कि कोई ऐसी अदृश्य शक्ति थीषु अवश्य है जो कर्म-सूत्रोंको हाथमें लेकर प्रणियोंको स्वेच्छापूर्वक कल्पुतलीकी तरह नचाती रहती है। इसी बातको न्याय-दर्शनमें बहुत स्पष्ट किया गया है—

पूर्वपक्ष—

इंश्वरः कारणं पुरुषकर्मापलयदर्शनात् ।

(४१२९)

अर्थात् पुरुष जो प्रयत्न करता है यह आवश्यक नहीं उसका फल अवश्य ही पावे। इसमें ज्ञात होता है कि फल पराधीन है और वह जिसके अधीन है वही हैश्वर है।

उत्तरपक्ष—

न पुरुषकर्माभावे कलनिष्पत्ते ।

(४१२०)

यदि फल हैश्वराधीन है तो फिर पुरुषको दिना कर्म किये ही फल क्यों नहीं मिलता, दिना कर्मके ही फल मिलना चाहिये।

सिद्धान्तपक्ष—

तत्कारितत्वादहेतुः (४१२१)

अब पुरुष प्रयत्न करता है तब यदि हैश्वर अनुग्रह करता है तो उसका फल मिलना है, यदि पुरुषके पुरुषार्थके साथ उसका (हैश्वरका) अनुग्रह न हो तो वह कर्म निष्फल जाता है—इसलिये तुम जो कह रहे हो कि दिना ही कर्मके हैश्वर फल देवे यह बात युक्तियुक्त नहीं।

इसपर कोई यह आपत्ति कर सकता है कि किया हुआ कर्म नष्ट हो जाय यह बात कैसे ? समझानेके लिये गोदी-सी बात यह कह सकते हैं कि पूर्व-जन्ममें हुमने

किसीके किये-कराये कामको बिगाड़ा था, इस जन्ममें तुमने हसी प्रकारका काम किया, तुमको तो वह बात— बिगाड़नेकी बात याद नहीं रही। पर न्यायकारी ईश्वर जानता है, उसने भी न्याय-परायणतासे तुम्हारा किया-कराया काम बिगाड़ दिया, स्वेल बिगाड़ दिया अर्थात् तुम्हारे कर्मको निष्फल कर दिया—हसीसे इसप्रकारके विफल कर्मोंकी बात समझ लीजिये। किसीने पूर्व-जन्ममें इतना अधिक पुरुषार्थ किया कि इस जन्ममें बिना पुरुषार्थसे ही उसको बिपुल धन, बिपुल मामांगी, बिपुल बुद्धि, बिपुल विद्या मिली। इसमें किसीसे हृष्ट्या-दाहसी अथवा ईश्वरको कीमते रहनेकी क्या बात है ? मोटा-सा दृष्टान्त लीजिये—

एक किसानने खेतमें हल चालाया, बीज बोया, बुढ़ी भी हुई, फसल भी लहड़ी हुई, पर दैववत्ता उसे कोई और ही काट ले गये अथवा वह स्वयं अचानक मर गया और उस फसलका उपभोग दूसरे ही ले रहे हैं जिन्होंने जरा भी पुरुषार्थ नहीं किया था। हसी एक दृष्टान्तमें प्रारब्ध, क्रियमाण और सञ्चित कर्मोंकी बात समझमें आ जायगी। यह कर्म-मीमांसा और उसकी फल-मीमांसा इतनी गहन है कि भगवान् श्रीकृष्णको भी ‘गहना कर्मयो गतिः’ कहना पड़ा।

यह जन्म-चक्र-परम्परा भी इस कर्म-वैचित्र्यके कारण ही है। हसीलिये मनुष्य जो कर्म करता है—धर्म-अधर्म करता है उसके फलोंका नाम शास्त्रकारोंने ‘अदृष्ट’ रख दिया है। ‘अदृष्ट’ अर्थात् जो देखे नहीं जाने किन्तु जिनको भुगतना पड़ता है। अदृष्ट संकारोंकी भी यही महिमा है। जब ‘अदृष्ट’ प्रतियन्तक पढ़ जाते हैं तब पुरुषार्थ नहीं फलता। जब ‘अदृष्ट’ अनुकूल पढ़ जाते हैं, जिसने अंशमें अनुकूल पढ़ जाते हैं उसने अंशोंमें फल भी मिलता है। इस अदृष्टका प्रयत्नक है वही न्यायकारी प्रभु। गीतामें इस बातको—

(१) अविष्टानं तथा (२) कर्ता (३) करणं च
पृथग्विद्यन् ; विविधाभ्युपृथक् (४) चेष्टा: (५) देवं वेदान्
पञ्चमम् ॥

—कहकर व्यष्ट किया है। किसी कार्यकी सफलताके पाँच कारण हैं (१) अविष्टान अर्थात् स्वान (२) कर्ता = करने-बाबा (३) करण अर्थात् उपकरण (४) चेष्टा = प्रयत्न और (५) देव अर्थात् परमेश्वर जिसको इस देव कहते हैं वही देव है। इन पाँचोंमें प्रत्येक भी न रहे तो

कार्य विफल हो जाता है। प्रथम चार विद्यमान भी हीं और पाँचवाँ दैव प्रतिकृष्ण रहे तो सब अर्थात् अविष्टान, कर्ता, करण और चेष्टा विफल हो जाती हैं। एक कुम्हार मिट्ठी, उपकरण अर्थात् दशहाति सामग्री लेकर घड़ा बनाने बैठता है इसनेमें अदृष्टवश ऐसी अँखी आती है कि उस अँखीसे पासके एक पेड़की बड़ी शाखा बने-बनाये बड़ेपर आ पढ़ती है और बना-बनाया घड़ा नहीं हो जाता है। अथवा बने-बनाये घड़े घोंचेमें रख दिये और आँखा तैयार होने-पर देखते हैं कि आधा घड़ा पक गया, आधा कचा इह गया, अथवा घड़ा पक गया तो उसमें चीर पढ़ गयी हस्तिये कामका न रहा। कहिये हैं कि नहीं दैवविलसित ? यही बात मनुष्य अपने प्रथेक कर्ममें देखे तो न उसको हर्ष होगा न विषाद् ।

हसीलिये गीताने फलकी कामना छोड़कर निष्काम-भावसे कर्म करते रहनेका उपदेश दिया है। जब निष्काम-भावसे कर्म करोगे, फल मिले तो वाहवा, न मिले तो विषाद नहीं; योद्वा फल मिले तो भी सन्तोष रहेगा। जिसने इस अदृष्टका समझा, जिसने कर्मकी गहन गतिको जाना, जिसने देवगतिको पहचाना वह पुरुष जगद्गृह्णा है। जब अदृष्टका प्रवत्तक देव है—जैसा कि देवान्त कहना है—युभागुमांका प्रवत्तक वह है—तब वहो न उपीपन सब कुछ छोड़कर इस निष्कामभावसे अपने कर्म करते रहें। जब हमारा कोई कार्य सफल नहीं होता तब इस समयको दोष देते हैं, ईश्वरको दोष देते हैं और प्रारब्धकोंको समने लगते हैं। इसमें न समयका दोष, न ईश्वरका दोष, न प्रारब्धका दोष—यदि कुछ दोष है तो वह है कर्मदोष। वह, एक तत्त्वको समझ लीजिये।

‘स्वकर्मनुव्रद्धितो । ह लोकः ॥

मुक्त-जैसा अक्षय इस विषयमें अधिक विवेचन करतेमें असमय है। मैं गीता अध्याय १३के एक वाक्यकी ओर अनुगृहीतिर्देव, करके इस खेलको समाप्त करता हूँ। वह वाक्य यह है और वह महत्वका है—

‘तस्मान्त्वां प्रसां ते ॥

आख्ता, ममस्कार ! प्रथेक कार्य करते हुए चाहे वह देशका हो अथवा धर्मका, इस तत्त्वको न मूलिये। ईश्वरपर विश्वास रखिये और फलकी ओर न देख बेलटके आगे बढ़ते जाएं ।

ईश्वर-समर्पण

(क्रेस्क—हस्ती आदि अनिकोलस रॉयलिक)



दिक्षालाभनविच्छिन्न सत्ता ! प्रहृति-
की साम्याद्यामें जब खोभ
हुआ उस समय तु विद्यमान थी ;
समयके प्रवाहसे भी एवं सेरा
अस्तित्व था ; तु निर्गुण है , तेरे
अन्दर तीनों शक्तियोंका समावेश
है ; तु एक , सर्वध्यापक , चैतन्य
शक्ति है ; तु निळयरहित है , स्वयम्भू
है और अविन्द्य है । तेरी सत्ता सब अग्रह परिपूर्ण है , सब
कुछ सेरे अन्दर समाया हुआ है , तू ही स्मृतिकी उत्पत्ति एवं
पाठन करनेवाली है ; तुम्हे हम ईश्वर कहकर पूजते हैं ।

उपर्युक्त स्मृति रूपके आदिकवि Dergavin के
अमर काव्यके (जो उसने सन् १७८४ में लिखा था)
प्रारम्भिक पदका भावानुवाद है ।

एक दूसरा रूपक महाकवि यों कहता है —

‘मैं गगनमयदलमें उस परमेश्वरकी छविको
देखता हूँ ।’^१

रिराजाघरोंमें प्रार्थनाके समय निष्ठिलिखित वाक्यका
पाठ किया जाता है —

‘मेरा उस एक ईश्वरमें विश्वास है जो सर्वशक्तिमान्
पिता है और जो शावा , पृथिवी तथा प्रत्येक दृश्य एवं
अदृश्य पदार्थका रचयिता है ।’^२

संसारकी समस्त जातियाँ अपनी-अपनी भाषामें उस
परापर पुरुषोत्तम , समस्त प्राणियोंके प्राण , सारी सत्ताओंके
आत्मास्प परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ही अथक एवं
पवित्र प्रयत्न करती हैं । प्रत्येक पुरुष अपने-अपने संकुचित
हृपरेशमें तथा उस सौन्दर्य-राशि-विवरक परिच्छिङ्ग
ज्ञानकी सीमामें उस Elohim (परमेश्वर) के लिये
उत्तम-से-उत्तम नामोंका प्रयोग करता है । हम चाहते

* And in heaven I see God.

† I believe in One God the Father,
Almighty, Creator of Heaven and Earth
and of every thing visible and invisible.’

है कि परमात्माकी पवित्र नामावली उत्तरोत्तर बढ़ती
रहे । जब हम उनको एकत्रित कर एक ही साथ उनका
ठब्बारण करते हैं तब समय उनके अन्दर संमारकी सर्व-
श्रेष्ठ , सर्वोच्च वस्तुका भान होने लगता है , जिसके द्वारा
मनुष्यके मानसिक भावोंकी अभिव्यक्ति होती है और
जिससे स्थूल हाथोंपर पवित्रतम चित्रवर्ण लिखे जा सकते
हैं । जिस समय बालक नक्षत्रोंकी छटाका दर्शन करता
है और हसप्रकार अनन्त वस्त्रायडोंकी ओर दृष्टिपात करता
है तब समय उसके मसिल्कमें उस सर्वशक्तिमान्
परमेश्वरकी पवित्र विकाररहित सत्ताका भाव अवश्य
आगृहित होता है । हम उदास विचारमें उसके अन्दर वही
सनातन देवीयमान भाव उदित होता है जिसका वर्णन
निष्ठिलिखित पंक्तियोंमें किया गया है —

‘मेरे पिताके कई महल हैं ।’

इसमें एक दूसरी उकिका भी समर्थन होता है जो
उसनी ही महान् पूर्व व्यापक है । वह हसप्रकार है —

‘परन्तु वह समय आता है और हम क्षण मी वर्नमान
हैं जब सक्षा पुजारी उस परम पिताकी सब्जे भावमें पूजा
करेगा क्योंकि वह पिता ऐसे लोगोंकी स्वेच्छामें रहता है ,
जिनकी वह स्वयं सब्जे मनमें पूजा कर सके ।’

A. H. cotton नामक विद्वानने ‘Has science
discovered God ?’ (वह विज्ञानने ईश्वरका पता
लगाया है ?) नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है
जो हालहीमें प्रकाशित हुई है । उस संग्रहमें मुख्य-मुख्य
वैज्ञानिकोंके ईश्वर-विवरक विचारोंका संकलन किया गया है ।
उसके अन्दर Millikan, Einstein, Oliver Lodge,
Thompson, Byrd, Curtiss, Eddington,
Jeans, Mather आदि प्रसिद्ध विज्ञानविशारदोंके
विचार दिये गये हैं । इनमेंप्रत्येकने अपने ढंगसे
परमात्म-तत्त्वकी महिमा गायी है जो सबमें ऊँचा एवं
सबका समन्वय करनेवाला तत्त्व है और जिसके बिना
अनन्तताके महत्वकी कल्पना भी असम्भव है ।

वह समय अब नहीं रहा जब किसी छठे वैज्ञानिक
जाहुदादके नामपर हम भावन् तत्त्वका निराकरण किया

जाता था। मानव-जाति के इतिहास का परिशीलन करनेसे पता चलता है कि अब मनुष्यने अपने ही दोषोंसे अपनेको अज्ञानकृपी ओर अन्धकारसे भिरा हुआ पाया और अपने पाश्वरती पदार्थों, महान् आकृतियों पूर्ण मूळ तत्त्वोंके भर्योंके नहीं समझ सका तब उसने निराश होकर नास्तिकवादका आश्रय लिया। इसारे पूर्वज भी कभी-कभी इस अंहाकारपूर्ण दूषित सिद्धान्तके मानने लगते थे कि इसारे अतिरिक्त किसीकी सत्ता नहीं है। सभस्त दूरवर्ती लोकोंको वे अपने ही विनोदके विभिन्न टिप्पणीनेवाले दीपकमात्र समझते थे और सूर्यका भी वे अपने व्यक्तिगत आरामका साधन मानते थे।

बाजारफ़ (Bazaroff) नामक प्रसिद्ध नास्तिककी यह मूर्खतापूर्ण उक्ति थी कि मेरे मर जानेके बाद मेरी मिट्टीमें केवल Burdock के फूल उगेंगे। परन्तु इस-प्रकारकी मूर्खतापूर्ण डिल्यूयोंमें कहनेवालेकी निरभिमानता प्रकट होती हो, सो बात नहीं है। बास्तवमें इसप्रकारकी उक्तियोंसे वह यह स्पष्ट करता चाहता था कि इसारे जह-शरीरके साथ ही इमारा भी अन्त हो जायगा। उसे अपने आपेक्षिक एवं भौतिक ज्ञानका बड़ा गर्व था। टर्जेनफ़ (Turgeneff) नामक उपन्यासलेखकने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'Fathers and Sons' (पिता और पुत्र)में इसप्रकार-के एक नामिकका वर्णन किया है। टर्जेनफ़ (Turgeneff) खूब जानता था कि इसप्रकारके सिद्धान्त कितने भ्रमपूर्ण होते हैं। एक दूसरे रूसी लेखक दोस्तोव्स्की (Dostoevsky) ने इसी विषयपर एक उपन्यास लिया है जिसमें उसने अविष्यमें होनेवाले नास्तिक किसानोंका एक ठड़ाहरया दिया है। उसमें एक नामिक सियाहीका वर्णन आता है जो गिरजाघरकी एक अस्थन्त पवित्र बस्तुको एक सम्मेपर रखकर उसपर गोली चलाता है। 'ईश्वर नहीं है' इस बातको अपने मनमें दृढ़ करनेके हेतुमें ही वह इस अपवित्र कार्यको करता है। ऊँचों ही वह यह कार्य करता है, ऊँचों ही अपने सामने ईसामसीहकी-सी आकृतिको प्रकट होते देता है। अधिष्यमें आनेवाले नामिकवादके इस उदाहरणमें ईश्वरकी एक विचित्र प्रार्थनाका बर्णन है, जिसमें किसी पवित्र विद्वके हृष्यमें चमाकार विस्तारेकी इच्छा प्रकट की गयी है और यह हृच्छा मानव-हृदयके अन्तराम प्रवेशमें सहाये बनी हुई है। इसप्रकार महूष्य

अपने हृदयमें इस बातको समझता है कि विनाशका प्रत्येक रूप नास्तिकताका धोतक है।

इसारे पास हालहीकी छपी हुई एक मार्केंकी पुस्तक है जिसमें उन चमाकारपूर्ण घटनाओंका वर्णन है जो पिछले वर्षोंमें हुई हैं। इस पुस्तकके अन्दर पेसी अनेक घटनाओं-का वर्णन है जो कहाँ प्रथक्ष-दर्शियोंद्वारा प्रभाणित हो चुकी हैं और जिनका समाचारपत्रोंमें भी उल्लेख हो चुका है। Lourdes नामक स्थानमें छोर्गों-को चमाकारोंके द्वारा किसप्रकार स्वास्थ्यलाभ हुआ, इसका अस्त्र पुस्तकोंमें भी उल्लेख मिलता है। इसें यह भी पता लगा है कि सन् १९२८ई० में वल्गा (Volga) नदीके तटपर स्थित Kostroma नामक नगरमें एक बृह साधु-का देहान्त हुआ। उसके पत्रोंमें इमाल्यके तपत्तियों (Holies of Himavat) के आश्रमोंको कौन-सा मार्ग जाता है इसका वर्णन मिला है। इसके अतिरिक्त साइरेंटिया-के कुछ लोग जो पुराने ईसाईमतको मानते हैं अब भी Belovodye (White Waters) नामक पवित्र तीर्थकी यात्रा करते हैं और ईश्वरके साथ ऊँचे-से-ऊँचा मध्यन्द्र स्थापित करनेकी चेष्टा करते हैं। उसी मार्गमें 'Don-dam-donpa' अर्थात् तिष्वतके बीड़ोंके अनुभव-का सघमें ऊँचा ज्ञान प्राप्त होता है।

मनुष्य यदि विवेकानन्द नामिकवादके मार्गको छोड़कर ईश्वरके मार्गपर आसूढ़ हो जाय जो ज्योतिर्मय सर्गार्थक विचारका मार्ग है, तो उसे संसारकी सारी जातियोंमें ईश्वरकी सत्तामें असंस्थ्र प्रमाण एवं उसमें विकास उत्पन्न करनेवाली अनेक स्थर घटनाएँ भिलने लगेंगी, जिनका महत्व शुद्ध अन्तःकरणवाले लोगोंपर तुरन्त प्रकट हो जायगा। वे सारी जातियाँ जो ईश्वर-प्राप्तिकी चेष्टा कर रही हैं और जो ईश्वरको प्रकट कर रही हैं, अपने मनमें यह भी जानती है कि उनका अविलम्ब बहुत उज्ज्वल है। सब अपने-अपने हांगमे और अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उसी उज्ज्वल अविलम्बकी आशा लगाये उस सर्वशक्तिमात्र परमेश्वरसे दिल सोलकर प्रार्थना करते हैं। इसक्षात्वामें उस महापुरुषकी अगवानीके लिये सकेद शोका (White steed) भासीसे कसा-कसाया तैयार है। Hamadan का Rabbi यह कहेगा कि 'यदि तुम प्रकाशकी छोड़में

हो तो तुम भी Israel हो । के भारतवर्षके ब्राह्मण चसन्नलज्जनके लिये पुरुषोंको लेकर तुम्हारे साथ भगवान् ईश्वरलाकी अर्थों करने आ रहे हैं । उनमेंमें प्रयोग मनुष्य जो अपने हंगमे उस श्रेष्ठ एवं प्रशस्त भविष्यकी प्रतीकामें डायोग कर रहा है ईश्वरको जानता है ।

J. St. Hilaire द्वारा किलित 'On Eastern crossroads' नामक प्रसिद्ध पुस्तकमें गुरु-भक्तिके विषयमें एक बड़ी भावर्ण एवं प्रभावोत्पादक उकिका उछलक किया गया है जिसका भाव यह है—

"मुझे एक छोटी अवस्थाके हिन्दू-बालककी अच्छी तरह याद है जिसे गुरु मिल गया था । इसने उसमें पूछा कि 'गुरुके अभावमें यदि तुम सूर्यकी ओर झाँको तो क्या तुम्हें सूर्यका प्रकाश मालूम होगा ?'

लड़केने सुन्नकारक उत्तर दिया कि 'उस समय सूर्य-की सत्ता अवश्य रहेगी परन्तु अपने गुरुदेवके साक्षियमें मेरे लिये एक नहीं बारह सूर्योंका प्रकाश होगा ।'

भारतवर्षके ज्ञानका सूर्य अवश्य अमरकेशा क्योंकि नदीके तटपर एक ऐसा बालक बैठा है जो गुरुको जानता है ।"

जो लोग विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न पुरुषोंका इसप्रकार आद्वार करते हैं उनके अन्दर ईश्वरकी सत्तामें अटल विश्वास प्रकट होता है । केवल विश्वाय ही नहीं, उन्हें ईश्वरके स्वरूप-का परोक्ष ज्ञान भी है ऐसा प्रतीत होता है । ज्ञानके अनन्तर ईश्वरकी स्वोज प्रारम्भ होती है और स्वोजमें उसकी अभिव्यक्ति होती है । ईश्वर सर्वत्र विजयान है, कण-कणमें उसकी सत्ता व्याप्त है, इस बातको जान लेनेये ईश्वरकी महत्त्वामें कोई अन्तर तो आता ही नहीं । वलिक इस बातको जान लेनेपर सूक्ष्म-में-सूक्ष्म अवस्थाओंमें, दूरवर्ती लोकोंमें, यहाँतक कि इमारे नेत्र जिन-जिन वस्तुओंको देखते हैं और इमारे हृदयके अन्तर्मनमें प्रदेशमें इम जिस-जिस वस्तुका अनुभव करते हैं उन सबके अन्दर वास्तविकता आ जाती है । मनुष्यका हृदय सूर्योंका सूर्य है, वह उस सर्वशक्तिमान् प्रभुज्ञ मनिवर है । सब एक्षिये तो विज्ञान और महान् भगवान्में विरकालतक पार्थक्य नहीं रहता । शक्ति, रश्मि, लहरें, स्वर और वे सारी

* 'You are also Israel if you search for the Light !'

महत्त्वापें जो अंतोंमें नहीं दिखायी देतीं और जो ईश्वरकी वास्तविक शक्तिके चमत्कार हैं हमें हस बातके लिये प्रेरित करती हैं कि हम उनपर निष्पक्ष भावमें विचार करें, क्योंकि ऐसा करनेसे हम उम अनन्त ज्ञानांगवके समाप्त पहुँच सकते हैं, उन सबमें जैसे सुन्दर लोकोंमें जो सकते हैं जहाँ छोटे-छोटे सामाजिक भेद नहीं दीख पड़ते, जहाँ देष और घृणाका अस्तित्व ही नहीं है किन्तु सर्वान्मक विचारकी प्रचण्ड ऊळा जहाँ सदा प्रदीप रहती है और उस सर्वशक्तिमानके महान् सकलपके प्रकाशमें प्रभु द्व-हृदयकी बालासे मानवीय सङ्कल्प उदात्त हो जाता है ।

अबतक पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने हृदयका व्यापार शरीर-तक ही सीमित बताया है, उन्होंने उसकी उच्चतर उप-योगिताको नहीं समझा है । हृदयका कार्य उन सूक्ष्मातिं-सूक्षम शक्तियोंका परिवर्तन करना है जो निरन्तर उसमें से होकर प्रवाहित होती रहती हैं और ज्ञानको परिषक्षण-परिमार्जित करती रहती हैं । हिन्दुओंको प्राचीन धरमस्थान-से यह ज्ञान है कि मनरूपी हुर्वर्ष शक्तिका निवास हृदयमें है और यही कारण है कि वे लोग अब विचारकी बात करते हैं तब हृदयपर अपना हाथ रखते हैं । इसप्रकार भस्त्रिका यन्त्र जिसे कभी-कभी लोग हृदयके व्यापारमें बलपूर्वक पृथक् कर देते हैं किसमें वास्तविकताका सज्जा सहकारी बन जाता है और सहकारिताके इस भावमें आत्मा अर्थात् ईश्वरकी सर्वव्यापकताके महान् तत्त्वकी अभिव्यक्ति होती है । सहकारिताका भाव जो मानव-जातिके उज्ज्वल भविष्यके लिये पूर्वनिश्चित है सज्जी ईश्वरानुभूतिके विश्वकूल निकट है । जिन लोगोंकी आत्मा प्रबल होती थी वे ईश्वरका अनुवरण करनेके दायित्वपूर्ण कार्यसे भयमीत नहीं होते थे । Thomas a Kempis द्वारा रचित 'The Imitation of Christ' नामक पुस्तकमें अहंकारका भाव नहीं है अपितु उच्चतम सहयोगके लिये आद्वान है ।

पूर्वी देशोंमें प्राचीन कालमें ही ईश्वरकी भावना दृढ़ रही है, इसीलिये उन्हें हस बातको देखकर आश्रय हुआ कि विज्ञान अपनेको ईश्वरमें पृथक् करनेकी चेष्टा कर रहा है । पूर्वी देशोंमें हृदयको ईश्वरके निकट पहुँचानेवाली प्रथम सोदी भाना है । Mt. Sinai के तपस्त्रियोंने तथा सारे अधिष्ठियों एवं धर्मप्रवर्तकोंने, जिन्हें ईश्वर-प्राप्तिका इह

हम गया था, मानव-हृदयकी उन महान् शक्तियोंका पता लगा लिया था जो हमारे लिये आध्यात्मिक पथ-प्रवर्शक हैं।

स्वामी विवेकानन्दने ठीक कहा है कि कठिय प्राधुर्निक दार्शनिकोंने तर्सोंको समझनेकी शक्तिमें अन्तर होने-के कारण यह प्रभ उड़ाया कि ईश्वर शब्दके स्थानमें किसी अन्य परिभाषाका रखना आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु उन विज्ञ स्वामीजीने यह निर्णय किया कि इस शब्दके अन्दर ऊँचे-से-ऊँचे मानवीय प्रयोगोंकी शक्ति सम्भित है, इसीलिये उसके गम्भीर वाच्यार्थमें परिवर्तन नहीं करना चाहिये। वास्तवमें इसप्रकारका निन्दनीय प्रयोग उस आदिगुणकी खोजके समान होगा जब मनुष्यका अन्तःकरण, जो कई प्रकारकी प्रारम्भिक परिस्थितियोंके अन्धनमें था, असीम महत्त्वाके तरवको अपनी पार्थिव एवं सपेज बुद्धि और परिभाषाओंकी सीमामें छानेकी चेष्टा करता था।

परमार्थ-तत्त्वका जिसके अन्दर ऊँचे-से-ऊँचे अनन्त गुणोंका समावेश है इस अपने पार्थिव एवं परिमित शब्दकोषके द्वारा बर्णन नहीं कर सकते। किन्तु हृदयकी भाषा इसप्रकार संकुचित नहीं है। वह उस भाषाके द्वारा असीमताके उस सर्वोच्च ज्ञानको समझ लेता है जिसकी रक्षिताएँ चेतनारूपी कमल-कुमलपर कीड़ा करती रहती हैं। मुझे सारणा है कि एक बार मेरे स्वर्णीय प्रिय मित्र Alexander Block ने, जो एक प्रसिद्ध कवि थे Religious Philosophic Society (धार्मिक दार्शनिक परिषद) में जाना थोड़ दिया था। जब लोगोंने उनकी अनुवासितिका कारण एक्षा तो उन्होंने यह उत्तर दिया कि 'मैं वहाँ इसलिये नहीं जाता कि लोग वहाँ अनिवार्यनीयकी व्याप्त्या करते हैं'॥^{*} उनके लिये यह महान् अनिवार्यनीय वाचामगोचर शक्ति वास्तविक थी। कविकी सूक्ष्म इष्टमें सम्पूर्ण होनेके कारण उन्हें यह बात बड़ी धृष्टापूर्ण जांची कि इन्हें महान्, इन्हें सूक्ष्म एवं इन्हें अपरिचित्वा तत्त्वके विषयमें लोग वाल्लह करें, जिसकी पुकार केवल हृदयके कानोंको ही सुनायी देनी है। ईश्वरके लिये इस आहे कितने ही बड़े शब्दोंका प्रयोग क्यों न करें, उनके द्वारा

* Because they speak there of the Unpeakable.

उसकी वर्णनातीत महत्त्वमें परिचित्वाता आ ही जाती है, जो आस्तिकोंके लिये एक महान् दोष है। इस समय ईश्वर-को, प्राचीन शास्त्रोंकी आशाओंको, उस अनिवार्यता, वाचामगोचर वर्णनातीत अपरिचित्वा शक्तिको, उस बस्तुको जो हमारे निकटम है सथा जिससे प्रत्येक मानवहृदय सर्व-हितका विचार करते समय परिपूर्ण रहता है, मरण करनेका खास अवसर है। शास्त्रके सर्वोत्तम आदेशोंमें ईश्वरकी सर्वव्यापकताका क्षेत्रा सुन्दर बरान है !

संसार आनेक प्रकारके सङ्कटोंमें छिप-भिप्प हो रहा है। इस विपत्तिमें, इस देव्यावस्थामें आवश्यकता इस शातकी है कि एक बार फिर महान् ईश्वरीय तत्त्वका प्रचार हो। मनुष्य यदि उस तत्त्वका आंशिक अनुभव भी कर ले तो उसका जीवन नन्दनकानन बन जाय। जीवका ईश्वरमें विमुख होना, उस स्वतन्त्र, बन्धनरहित दर्दाप्यमान ज्ञानमें विमुख होना, एर्णाके घर्वनिश्चित आनन्दमें सुँह मोदना इस उपयोगी सांसारिक जीवनको शोकपूर्ण बना देना है। किन्तु हमारा भविष्य दुःखमय नहीं है, हमारे भारतमें विपत्ति नहीं छिपी है, हमारे लिये सर्वांतशाशी आनन्द, सगोरमक प्रचारधारा एवं हृदयरूप मन्दिरमें निकलने-वाला सुखमय सौरभ ये सब निश्चित हैं। ईश्वरोन्मुख मनुष्योंको परिणाममें कभी दुःख नहीं मिलता, उनका निवास सदा परिवर्तन परिष्ठम एवं ज्ञानके सुखमय उद्घानमें ही होता है। कवि Derjavin अपनी ईश्वरविषयक कविता-को इमप्रकार समाप्त करता है—

'हे मुक्तिकर्ता ! मैं तेरी ही मृद्गृह ! मैं तेरे ही ज्ञानका परिणाम हूँ ! तू जीवनके आनन्दमय जीवनको बहानेवाला है, तू ही मेरी आरमाका जीवन है, उमका स्वामी है। तेरी विज्ञता यह चाहती है कि मेरी अमर सत्ता सूख्युके भयानक गतंमें दोकर गुजरे, मेरी आरमा मर्त्यज्ञोक्ती संर करे और सूख्युके व्याजमें, मेरिपिता ! मैं तेरी अमन्तस्तामें किर समा जाऊँ !'

ओ अनिवार्यनीय अचिन्यशक्ति ! मैं यह जानता हूँ कि मेरी आरमाकी कल्पनाएँ तेरी छायाको भी नहीं जान सकतीं। परन्तु यदि तेरी महिमाका गान ही किया जाय तो इस शक्तिहीन मर्त्यज्ञीव इसमें बदकर तेरा क्या आदर कर सकते हैं कि इस अमर शरीर धारणकर तेरी इष्टिसे जोशक ही जायें और तेरे किये हुतजूतके आँख बहावें !'

आन्तरिक ज्योति

(लखिया—श्री लिल एक, एलन, धर्मपत्री स्ल० जेम्स एलन)



व प्रातःस्मरणीय प्रभु ईसामसीहने अपने शिष्योंमें यह कहा कि 'अपनी ज्योतिको जनतामें इसप्रकार जगामगाने दो कि उसके ढारा वे तुम्हारे सकार्योंको देख सकें और वे इण्डमें रहनेवाले उस परम पिताकी महिमाका विस्तार हो,'^४ उनका अभिग्राय केवल सत्त्वार्थोंके प्रभावको बतलाना ही नहीं था। चिरकालतक हमारी यह धारणा रही कि उनकी इस उकिका आशय केवल सकार्योंकी महिमाको बतलाना ही था, किन्तु कई वर्षोंके परिपक्व अनुभवमें जो दीर्घकालके मौन-साधन एवं ध्यानमें प्राप्त हुआ है, हमें यह ज्ञात हुआ है कि ईसाने सकार्योंमें प्रतिभासित होनेवाले प्रकाशमें विलक्षण किसी और ही प्रकाशका यहाँ संकेत किया है। पाश्चात्य एवं प्राच्य दोनों देशोंके धर्म-ग्रन्थोंमें ज्योतिका वर्णन आता है। उदाहरणके लिये निम्नलिखित वाक्यांश पर्याप्त हैं—

वह ज्योति जो मर्यालोकमें आनेवाले प्रत्येक मनुष्य-को उद्घासित करती है (The light that lighteth every man that cometh into the world) आन्तरिक ज्योति (The Inner light) ईश्वरके मुखकी ज्योति (The Light of God's Face) इत्यादि। हमें अपने आन्तरिक अनुभवमें जब उस ज्योतिकी वास्तविक सत्ताका पता लगा, सभीने हमारे ध्यानमें यह बात आ गयी कि जिन 'सकार्यों' का ईसामसीहके उपर्युक्त वचनमें उल्लेख है वे उस ज्योतिका रूप नहीं, प्रतिबिम्बमात्र हैं। जिवका परमार्थमाके माध्य निकट सम्बन्ध ही जानेपर अन्तरमें एक ज्योति जगामगाने लगती है और तब उसके तथा ईश्वरके मुखारविन्दके शीर्षमें कोई व्यवधान नहीं रहता। जब हमारा आन्तरिकरण कल्पनाहीन हो जाता है और हम पवित्रता एवं शान्तिके मार्गपर आरूढ़ होकर उस परम पिताके समीप पहुँच जाते हैं,

* Let your light so shine before men that they may see your good work and glorify your Father which is in Heaven.

उस समय हमें उसके प्रसारका अनुभव होता है और हमें यह भी भान होता है कि दूसरोंको भी उसकी सत्ताका ज्ञान है। वह ज्योति मस्तिष्कके अन्दर वास्तवमें प्रतीप रहती है और चेहरेके प्रत्येक अवयवमें उद्घासित होती है। इतना ही नहीं, शरीरकी प्रत्येक चेष्टामें वह प्रतिभासित होती है।

ईसामसीहने इस अन्तज्योतिको 'विलक्षण नेत्र' के नाममें निर्देश किया है। उन्होंने एक स्थलपर कहा है—'तुम्हारे अन्दर जगमगानेवाली ज्योति यदि कहीं अन्धकारमें आकृत हो जाय तो बताओ वह अन्धकार कितना महान् होगा ?' क्या इसलोग इस बातको नहीं जानने कि क्या वास्तविक पापाचरणसे —हन्दियन्परायणता, दुष्ट संकल्प, ईश्वरके अनुग्रहको प्राप्त करनेके साधनोंकी अवहेलना तथा ध्यान एवं प्रार्थनाकी आवश्यकताको भूल जानेके कारण इम उस प्रकाशको बुझा नहीं रहे हैं ? हम जानते हैं कि ईसारी क्रियाओं, संकल्पों एवं इच्छाओंमें वह प्रकाश शान्त हो जाता है। अधिक क्या, दर्शणमें यदि हम अपने मुखके प्रतिबिम्बको देखें तो हमें वह अन्धकार व्यष्ट दिखायी देगा, यद्यपि दूसरे लोग उस अन्धकारको नहीं देख सकते। वास्तवमें वह अन्धकार कितना महान् है ! जबतक वह ज्योति फिरसे प्राप्त नहीं हो जाती तबतक आत्मामें कितनी पीड़ा और छृपटाहट रहती है ? वह आन्तरिक ज्योति जिसके सम्बन्धमें योगियोंने तथा पुराने (Quaker) सम्प्रदायके अनुयायियोंने बहुत कुछ लिखा है, केवल आन्तरिक अनुभवकी अपेक्षा कहीं ऊँची बन्तु है। इन पंक्तियोंकी लेखिकाको लातार कहूँ वर्षोंमें भलीभांति यह विदित है कि जबतक आत्मा अपने अनुभवोंमें आज्ञानुवर्तिताका पाठ नहीं पढ़ लेता और उस ज्योतिको भीतर एवं बाहर निरन्तर जागृत रखने, उस पवित्र नीपको निरन्तर अखण्डरूपमें प्रदीप्त रखनेका उपाय नहीं जान जाता, जिससे कि वह सारे विश्वको उद्घासितकर उस परमपिताकी महिमाको बढ़ावे, वह प्रकाश किसी नहीं बार बुझ जाता है।

वह ज्योति आध्यात्मिक नहीं है, प्रस्तुत एक भौतिक ज्योति ही है, यथा पि वह ऐसे सूक्ष्म तत्त्वसे बनी हुई है कि उसे कोई कूँ नहीं सकता और मनके अतिरिक्त कोई उसका लाश भी नहीं कर सकता। वह इतनी सूक्ष्म है कि वह स्थूल पदार्थोंके अन्दर प्रवेश कर सकती है, मांस और हड्डियोंके आवरणको भेदकर चेहरे एवं कपालके अन्दरसे दिखावायी दे सकती है और जिस समय वह आरम्भाके स्नेहकी शक्तिको पाकर तेजीसे चमकने लगती है उस समय वह चारों दिशाओंमें फैल जाती है और आमावस्याकी रात्रिके अन्धकारको भी विदीर्घ कर सकती है। वह प्रकाश उस मनुष्यके व्यक्तिगत्ये प्रस्फुटित होता है।

है जिसे उसपर अधिकार प्राप्त हो चुका है। जो लोग अन्धकारमें हैं और जिनपर मृत्युकी छाया पढ़ी हुई है उनको प्रकाशका दान देनेका आधुनिक जगत्के साधारण धर्मोंपरेशकोने जो अर्थ समझा है उसकी अपेक्षा उसका वास्तविक अर्थ कहीं अधिक व्यापक है।

इन पंक्तियोंसे लेखिका इस शात्रों भलीभांति जानती है कि मनुष्यको अपनी आरम्भामें समय-समयपर यह प्रश्न पूछते रहना चाहिये, जो उसके लिये अत्यन्त लाभदायक है—

‘स्या वह ज्योति तुझारे अन्दर स्पष्टतया उज्जासित है और संसारमें अपनी किरणोंका प्रसार कर रही है।’

ईश्वर-मीमांसा

(लेखक—मीमांसाद्वाजी कानोदिया)

ध्येयं वदन्ति शिवमेव हि केविद्यं
शक्ति गणेशमप्ये तु दिवाकरं वै ।
रूपेस्तु तेर्तीष्व विभासि यत्त्वमेव

नमस्त्वं वद शरणं मम चक्रपाणं ॥



गनमें प्रायः सभी ईश्वरवादी हैं। कुछ लोग नर्कवादी या विद्या-तुद्रिके गर्वसे अनेक्षरवादीको मिद्र करनेका प्रयास करते देखे जाते हैं। परन्तु अन्तमें ईश्वरकी सत्ता मिद्र हो रही जाती है। यदि कोई कहे कि मेरे मुख्यमें जीभ नहीं है तो उसका यह कहना निराधार है, क्योंकि उसके बोलनेये ही जीभका होना मिद्र है। इसी प्रकार यदि कोई यह कहे कि मेरे पिता हुए ही नहीं तो उसका यह कथन भी निगचार ही होगा, क्योंकि जब वह है तो अवश्य ही उसका जन्मदाता भी म्वतःमिद्र है, चाहे वह उसको जाने या न जाने। यही बात ईश्वरके मगवच्चमें है। जब कोई मनुष्य किसी घने जंगलमें जाकर देखता है कि वहाँ एक मुन्द्र मन्दिर बना हुआ है और उसके समीप एक मुरम्ब वाटिका लगी है, जिसमें जाना प्रकारके फल-फूलोंके बृश यथास्थान मुद्यवस्थित हैं, तथा जिसके पक और एक चिदियालगाना भी है, जिसमें विभिन्न प्रकारके पश्च-पश्ची अल्प-भल्प विभागोंमें पिण्डोंमें बस्त है, ऐसी अवश्यकामें

उसे यह मानना ही होगा कि इन मवका बनानेवाला कोई अवश्य है। नियमित और मुद्यवस्थित कर्मके देवतानेये ही कर्ताका अनुमान होता है, यह स्वाभाविक है।

प्राचीन वैदिक युगमें एक समय इस जगत्को देवकर कुछ अधियोंके मनमें शंका हुई थी, उम समय उन्होंने जो निर्णय किया था उसका वर्णन चतुर्भुज-उपनिषद्में इसप्रकार है—

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।
कि कारणं ब्रह्म कु भ्य ताता ।
जंताम केन क च सम्प्रतिष्ठाः ।
अंधष्ठिता केन मूलं तपु ।
वर्तमानं ब्रह्मविदा व्यवस्थाम ॥

अर्थात् ‘ब्रह्मवादी कहने हैं, स्या व्यष्ट कारण है ? इस किसमें जन्म है ? किसमें जीते हैं ? और किसमें छोड़ होते हैं ? हे ब्रह्मवेत्ताओ ! बताओ वह कौन अधिष्ठाता है जिसकी व्यवस्थामें हम मुख्य-तुद्रोंमें बसते हैं ?’ इसके बाद म्यूलष्ठिये दीक्ष पदनेवा ते मूल-कारणोंको प्ररन्हर्ता म्वयं शंकायुक्त शब्दोंमें कहता है और साथ ही उनका निराकरण भी करता है—

कलः स्वमाता विद्यनिर्देशः ।
मूलानि यातिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एवा नवात्ममादा- ।
दात्मपर्यन्ताः मुख्य अहोः ॥
अर्थात् स्या काल, स्वमात, विद्यति, व्यष्टा व्यवस्था

पञ्चमूल कारण है, या जीवात्मा कारण है ? यह बात विचारणीय है। इनका संयोग भी कारण नहीं हो सकता क्योंकि ये अनास्म-पदार्थ जह हैं। और जीवात्मा भी सुख-दुःखमें किंतु रहनेके कारण सर्वशक्तिमान् नहीं है।

काल शब्दका अभिग्राय यही है कि समझ मृष्टि-सम्बन्धी क्रियाएँ काल-विशेषमें ही होती हैं, जैसे सभी वस्तुएँ अपने अस्तुमें ही उत्पन्न होतीं, फलती-फलनी और नष्ट होती हैं, इसीलिये कारणरूपमें कालका अनुमान किया गया है।

पदार्थोंके स्वभावमें ही जगतमें मारी कियाएँ होती देखी जाती हैं, जैसे अप्तिका स्वभाव जलानेका है और जलका जलानेका इत्यादि; अतएव स्वभावको कारणरूपमें अनुमान किया गया है।

नियति शब्दका अर्थ है होनहार। जैसे कोई मनुष्य पूर्ण सावधानीमें चला जा रहा है, अचानक वस्त्रपातमें उसकी मृत्यु हो जाती है और लोग कह उठते हैं, 'होनहार हो गेसो थी !' हरी प्रकार अकारण ही नियन्त्रितरूपमें समझ कियाएँ होती हैं, नियतिको कारण कहनेवाले ऐसा बतलाते हैं।

विना चेष्टाके जो काम अपने-आप हो जाय उसे यद्यप्ति कहने हैं, जैसे विना किसी चेष्टाके किसी वस्तुका बीज किसी सुनसान स्थानमें पहुँचकर वृक्षके रूपमें उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार यद्यप्ति जगत्का अस्तित्व है। ऐसा यद्यप्ति को कारण माननेवाले कहते हैं।

भूतानि शब्दमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पञ्च महाभूतोंका प्रहण होता है और पुरुष शब्द जीवात्माका शोतक है।

इसप्रकार कालादिको कारणरूपमें अनुमान करके उसका निराकरण भी इसी भोक्तमें कर दिया गया है। अर्थात् यह सब जह होनेके कारण कर्ता नहीं हो सकते, तथा जीवात्मा चेतन होनेपर भी अस्पृश, अस्पृशक्तिमान् एवं सुख-दुःखका भोक्ता होनेके कारण कर्ता नहीं है। इसप्रकार मूल-कारणका निश्चय न होते देख अधियोग्योंने अध्यात्ममें होकर देखा —

त अध्यात्मानुगता अपश्य-
न्देवात्मशक्ति स्वगुणैर्विद्धाम् ।
यः कारणमि निखलानि तनि
कालमन्त्रयुक्तान्यवित्तिहस्तकः ॥

अर्थात् 'सब उन भोगोंने अध्यात्मोगमें भग्न होकर अपने गुणोंमें छिपी हुई परमात्मशक्तिको देखा । जो स्वयं काल, स्वभाव, नियति, यद्यप्ति, यद्यप्ति, पञ्चमूल तथा भास्मारूप समस्त कारणोंके एक ही कारणरूपमें अविद्यित है ।'

इसप्रकार शब्दोंमें जगत्की उत्पत्तिमें मूलभूत अन्य सब कारणोंका निराकरण करके एकमात्र ईश्वरको ही आदि-कारण सिद्ध किया है। इसपर यदि कोई कहे कि इहम शब्दोंकी बात नहीं मानना चाहते, तो उसे तक और युक्तिद्वारा भी ईश्वरके अभिनवको स्वीकार करना पड़ेगा । जो नार्मिक विचारवाले जगत्की उत्पत्तिका मूल-कारण प्रकृति (Nature) को मानते हैं, ईश्वरको नहीं मानते, उनमें यह पृथा जा सकता है कि, 'क्या मृष्टि सुखवस्थित, नियमित और ज्ञानपूर्वक है अथवा अद्यवस्थित, अनियमित और अज्ञानपूर्वक ?' इसका उत्तर यदि यह मिले कि, वह अद्यवस्थित, अनियमित और भज्ञानपूर्वक है, तो यह सर्वथा असंगत होगा क्योंकि लोकमें इसके विरुद्ध देखा जाता है। जगत्में कोई भी कार्य अद्यवस्थित नहीं है, वज्ञिक जिस वस्तुकी जहाँ आवश्यकता है वही वहाँ रक्ती गती है। जीवोंके अङ्ग-प्रत्यक्षमें लेकर समस्त ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति सुखवस्थित और नियमित देखी जाती है। सूर्य-चन्द्र आदि समस्त प्रहोंका एक निर्दिष्ट गतिमें बर्तना, उनका क्रमानुसार उदय-अस्त होना, क्रन्तुओंका नियमित-रूपमें आना, अपने-अपने बीजमें बृंश और प्राणियोंका उत्पन्न होना, पाप-पुण्यका यथोचित फल यथा-समय बलाद् प्राप्त होना, ब्रह्माण्डके समस्त स्थावर-जंगम जीवोंके लिये जीवन-धारणोंपरी जल, वायु, आहार आदिकी यथायोग्य व्यवस्था हृत्यादि अनेक प्रकारकी सुखवस्थाः देखी जाती है जिनको ही भी अस्तीकार नहीं कर सकता और न उन्हें अनियमित ही कह सकता है।

जो स्वेच्छार प्रत्यक्ष हन्द्रियगोचर और ज्ञानगोचर होता है उसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, तथा जो कार्य नियमित और सुखवस्थित होता है वह ज्ञानपूर्वक ही माना जाता है और इसप्रकार उसका कर्ता भी अवश्य होता है। क्योंकि अज्ञानपूर्वक और प्रकृतिः हुए कार्यमें व्यवस्था और नियम नहीं रह सकते। अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुखवस्थित और सुनियमित सुष्टु ज्ञानपूर्वक होती है। इसप्रकार प्रकृतिको सुष्टुका

मूल-कारण माननेवालोंको यह मानना पड़ेगा कि या तो प्रकृति (Nature) चेतन है या स-चेतन।

यदि प्रकृतिको चेतन मान लिया गया तो ईश्वरकी सत्ता स्वीकृत हो गयी। तब केवल नामसाक्रांति ही भेद रह जाता है अर्थात् नात्मिक उसी चेतन सत्ताको प्रकृति कहते हैं जिसे शास्त्र ग्रन्थ, परमार्थमा, ईश्वर प्रभुति नामोंसे पुकारते हैं। केवल नाम-भेदसे वास्तविक भेद नहीं माना जाता, क्योंकि जगत्में देश, आसि, भाषा और सम्प्रदाय-भेदसे स्थिति-कर्ताको अनेक नामोंसे सम्बोधन किया जाता है। और यदि पूर्वपत्र प्रकृतिको चेतन न मानकर स-चेतन मानता है तब भी अनीश्वरादा सिद्ध नहीं होता, क्योंकि चेतनायुक्त प्रकृतिको स्वीकार करना सत्तिशेष परमार्थमाको स्वीकार करना है। शास्त्र भी कहते हैं कि प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है, जड़-चेतनके संयोगसे जगत्की उत्पत्ति है।

यावत्मंजपरं किञ्चित्सत्त्वं स्यावरजगत् ।
क्षेत्रेष्वज्ञसंयोगात् द्विद्वि भरतर्पतेऽपि ॥
(गीता १३।५६)

अर्थात् हे अनुज ! यावत् किञ्चित् स्यावर-जगत् वस्तु उत्पत्त होती है, उस सबको तू देख और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पत्त हुआ ही यमझ ! तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुषके पारम्परिक सम्बन्धसे सम्बूर्ज जगत्की उत्पत्ति है। अतएव सब प्रकारसे यह मानना पड़ता है कि सृष्टिका मूलकारण परमार्थमा है।

कोई-कोई मनुष्य ऐसा भी कहते हैं कि यदि ईश्वर है तो हम उसे देख क्यों नहीं पाते ? हमका उत्तर यह है कि जगत्में ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जिनको हम प्रत्यक्ष नहीं देखते, पर उनकी मत्तामें निश्चिन्तरूपेण विषाम करते हैं। जैसे, कूद्यमें ध्यापक मक्खन, काटमें उत्थित अग्नि इत्यादिको हम प्रत्यक्ष नेत्रोंसे नहीं देखते, पर हनके अन्तर्वर्तमें हमें तनिक भी सन्देह नहीं होता और साधनके द्वारा हम इन्हें प्रकट करके प्रत्यक्ष भी देखते हैं। हस्तप्रकार यज भास्तारिक वस्तुओंके प्रत्यक्ष न होनेपर भी उनका अस्तित्व माना जाता है तब ईश्वरके, जो युक्ति, अनुमान तथा शास्त्रमें सिद्ध है, अभिलेखमें क्योंकर सन्देह हो सकता है ? साथ ही ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनमें सिद्ध होता है कि साधनहारा ईश्वरका भी प्रत्यक्ष होता है।

वस्तुतः अभिस्य जागतिक पदार्थोंकी सत्ताके अनुरूप ईश्वरकी सत्ताको प्रमाणित करना ठीक नहीं है। क्योंकि जितने जागतिक पदार्थ हैं, जिनकी सत्तामें हमें एवं विषास हैं तथा जो हन्त्रिय-गोवर भी हैं वे सभी मायिक, अनित्य, परिणामी, वण्णसंगुर और नाशमान हैं। इसके विपरीत ईश्वर नित्य, सत्य, अपरिणामी और अविनाशी है। ईश्वर-के हम विलक्षण रहस्यको धीर ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। श्रीभगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

नामतो विद्रोहं मातो नाभावो विद्यते मत ।

उभयोरपि दृष्टाऽन्तर्वतनयोऽन्तर्वदर्शिभिः ॥

(२।१३।)

अर्थात् 'अभिस्य वस्तुका नो अभिस्य नहीं है और सत्-का अभाव नहीं है, इन दोनोंका तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंहारा देखा गया है।'

तत्त्ववेदा ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि एक परमार्थमा ही हम इत्य जगत्का आधार और स्वरूप है अर्थात् यही हमका अभिलेखनमित्तोपादान-कारण है। अभिलेखनमित्तोपादान-कारण उसको कहते हैं जो स्वयं निमित्त-कारण भी हो और उपादान-कारण भी। घटका उपादान-कारण मिट्टी है, और निमित्त-कारण कुम्भकार, चक्र आदि हैं। वस्तु जिसमें बनती है वह उपादान कहलाती है। वस्तु कार्य-रूप होती है और उपादान कारणरूप होता है, जैसे मिट्टी-में घट आदि बनते हैं, हमने घट कार्य है और मिट्टी उपादान-कारण है। घट बास्तवमें मिट्टी ही होता है, क्योंकि कार्य कारणमें मिट्टि अथवा विजातीय नहीं होता। निमित्त-कारण उसे कहते हैं जिसकी यहायतामें कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे घटकी उत्पत्तिमें उपादान-कारण मिट्टी है, परन्तु मिट्टी स्वयं घटरूप नहीं बन जाती, बल्कि घटके बननेमें कुम्भार, चक्र आदिकी यहायता आपेक्षित होती है, अतएव यहाँ कुम्भार, चक्र आदि निमित्त-कारण हैं। वेदान्तके अनुयायी हम जगत्की उत्पत्तिमें परमार्थमा स्वयं ही उपादान और निमित्त-कारण है, हस्तीलिये देने अभिलेखनमित्तोपादान-कारण कहा जाता है। श्रुति कहती है—

पर्णमद् पर्णमिदं पर्णापर्णमुदध्यते ।

पृष्ठस्य पृष्ठमादाय पृष्ठमवादित्यतः ॥

अर्थात् 'वह परम अधर मधिदानस्वयंत परमार्थमा पूर्ण है, यह जगत् (भी) पूर्ण है (क्योंकि) पूर्ण व्रहमें

(ही पह) पूर्णरूप जगत् निकलता है । यह पूर्ण जगत् पूर्ण ब्रह्म परमात्माको लेकर (पूर्ण ब्रह्म परमात्मा में ही अनन्यभाव से स्थित रहनेके कारण, पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है ।' तथा—

सर्वं स्वहिदं ब्रह्म तज्जलनिति शान्त उपासीत'

अर्थात् 'यह सब ब्रह्म है, उस ब्रह्ममें ही हस जगत्-की उपस्थिति है, उसीमें हसकी स्थिति है और उसीमें हसका लिय होता है । अतएव शान्त होकर उस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये ।' ईश्वरदि अनेक वचनोंमें ईश्वर ही जगत्-रूपमें प्रतीत होता है, यह ब्रात सिद्ध होती है । परन्तु 'ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है' यह धारणा तरब-ज्ञानके बिना नहीं हो सकती । तथापि शान्तिपूर्वक विचार करनेमें यह सौ स्पष्ट ही हो जाता है कि हस जीवका ईश्वरके साथ अनिर्दिष्ट कालमें एक अखण्ड सम्बन्ध चला आ रहा है और उसमें कोई भी जीव किसी प्रकार अलग नहीं हो सकता, क्योंकि जीव ईश्वरका ही अंश है ।

भगवान् कहते हैं—

ममवानशो जीवानके जीवन्तुः सनातनः ।

(गीता १३ । ३)

अर्थात् 'इस देहमें जीवारमा मेरा ही सनातन अंश है ।' गो० तुलसीदासजीने भी कहा है—

ईश्वर अश जीव अधिनाशी । चतुरं भ्रमन् महज सुखरागी ॥

इसीलिये जीव अशातरूपमें ईश्वरको मानता हुआ साधारणतः उसकी ओर आकर्षित भी होता है । जैसे सोया हुआ पुरुष जाग्रत्-अवस्थामें व्यवहृत वस्तु अथवा विशेष सम्बन्धवाले मनुष्यका नाम अक्षानन्तः भी कभी-कभी बोल उठता है, इसी प्रकार ईश्वरकी सत्ता न माननेका अभिमान करनेवाला पुरुष भी जब विशेष आपत्तिमें ग्रस्त हो जाता है तो अनिच्छापूर्वक भी ईश्वरको उकारने लगता है । एक बार वह जहाजमें बैठकर कही जा रहा था । उसी समय समुद्रमें एक भारी तूफान आया और वह जहाज दूबने लगा तब तो उस नासिकके मुँहमें भी बरबस यह आवाज निकल पड़ी कि 'हे भगवन् ! इस विपत्तिसे बचाओ ।'

इसप्रकार सामान्यतः (ईश्वरा या अग्निच्छासे) आसिक-नासिक सभी ईश्वरको माननेवाले ठहरेंगे । परन्तु बहस्तुतः विचार करके देखा जाव तो यथार्थकपासे ईश्वरको

माननेवाले बहुत कम मिलेंगे । क्योंकि जो कोण 'ईश्वर है' ऐसा कहते हैं, वे भी अधिकांशमें सबसुच ईश्वरको माननेवाले नहीं ठहरते । ईश्वरके माननेवाले के प्रधान कल्पणा हैं—पापाचरणसे निष्पत्ति, सदाचरणमें प्रबृत्ति, ईश्वर-में प्रेम, दुःख और हानिमें उद्गेश्यता और अचल शान्ति । यह सब लक्षण अकेलरूपमें उमीमें मिलेंगे जो यथार्थतः ईश्वरको माननेवाला होगा । इस कसौटी-पर कमपर प्रत्येक मनुष्य अपनी परीक्षा आप कर सकता है कि वह कहाँतक ईश्वरका माननेवाला है ।

इसप्रकार निश्चय हो गया कि यथापि सामान्यतः सभी ईश्वरको मानते हैं परन्तु विशेषरूपमें उमे माननेवालोंकी संख्या बहुत ही कम है । परन्तु विशेषरूपमें माननेवाले ही विशेषरूपमें ईश्वरकी ओर आकर्षित होते हैं । ईश्वरका सामान्य ज्ञान जीवको सम्पूर्ण दुःखोंमें मुक्त नहीं करता; उसका विशेष ज्ञान ही परम कल्पयाण-प्रद होता है । जैसे पारमके निष्ठ रहनेपर और उमे पारम कहते रहनेपर भी जबतक उसके गुण, प्रभाव और उपयोग-का ज्ञान नहीं होता तबतक मनुष्यकी दिव्यता बनी ही रहती है, जैसे ही उसके गुण, प्रभाव और उपयोगका विशेष ज्ञान हुआ वैसे ही दिव्यता भी नष्ट हो जाती है । इसी प्रकार परमात्माके विशेष ज्ञानमें दुःखोंकी निष्पत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है ।

ईश्वरके प्रधानतः दो भेद माने जाते हैं—निर्गुण और सगुण । निर्गुण स्वरूपको शुद्ध ब्रह्म, परमात्मा, केवल, चैतन्य आदि नाममें भी पुकारा जाता है । यह माया-रहित और केवल है । श्रुति कहती है—

यत्तदेवदेश्यमप्राप्नुयामगोत्रमवर्णं-

मच्छुरुओर्यं तदपाणिपादम् ।

नित्यं विसुं सर्वगतं सुमृद्धम्

तदव्ययम् यद्भूतमेनि परं पद्मर्थन्त वीरः॥

(मुण्डक० २ । ६)

अर्थात् 'जो न देखा जाता है, न पकड़ा जाता है, जिसके न गोत्र है, न वर्ण है, न नेत्र है, न श्रोत्र है, न हाथ है, न पाँव है; वह नित्य, विभु अर्थात् सबमें व्यापक बहुत सूक्ष्म और अव्यय है । ऐसे सब भूतोंके मूल-कारण-को भीर पुरुष देखते हैं' । श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवृक्षमामि यज्ञात्वामृतमशुरं ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्त्वासदुर्घयते ॥

(११ । १२)

अर्थात् 'जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा; वह अदिवाहित परम ग्रन्थ है, न उसे सब ही कहा जा सकता है और न असल ही कहा जा सकता है।'

इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृतियाँ निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं; परन्तु 'रूपभूत' रूपसे उसका वर्णन हो ही नहीं सकता। वेद उसका परिचय 'नेति-नेति' शब्दोंसे करता है, अथवा केवल 'अस्ति' (है) इस शब्द-से उसका परिचय कराया जाता है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न अकुश्या ।

अस्तीति ब्रह्मोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥

(कठ० ६। १२)

अर्थात् 'परमात्मा वाणीमें, मनमें अथवा नेत्रमें नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह परमात्मा केवल 'अस्ति' अर्थात् 'है' इसके अतिरिक्त कैसे उपलब्ध होता है?' इस प्रभका उत्तर इसके आगेकी श्रुति देती है—

अस्तीतिवोपलब्धव्यस्तत्वमविन चोभयोः ।

अस्तीतिवोपलब्धस्य तत्त्वमावः प्रसीदति ॥

(कठ० ६। १३)

अर्थात् 'वह है', इस रूपसे तथा तत्त्व-स्वरूपसे उसको जानना चाहिये। जब 'वह है' इसप्रकार अनुभव कर लिया तो उसका तत्त्वस्वरूप स्पष्ट हो जाता है।' वन्नुतः निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप मन, वाणी आदि इन्द्रियोंमें अतीत है, किसीकी सामर्थ्य नहीं कि उसे पकड़ सके। श्रुति कहती है—

'यतो वाचो निर्वर्तनं अप्राप्य मनसा सह ।'

अर्थात् 'जहाँसे मन और वाणी उसको प्राप्त किये विना ही कौट आते हैं।' भला, अलौकिक बस्तुको पार्थिव बस्तुओंके द्वारा कोई कैमें जान सकता है?

परम ब्रह्मके इस निर्गुण स्वरूपकी उपलब्धि होने-पर भी यह कथन नहीं बनता है कि मुझे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी है। इसी बातको श्रुति स्पष्टरूपमें कहती है—

यदि मन्यसे सुन्देति दम्भेवापि नूने वं वेय ब्रह्मणो रुपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्य नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥

(केन० २। १)

अर्थात् 'यदि तू समझता है कि मैं उसको पूरा-पूरा

जानता हूँ तो निस्सनदेह तृष्णाका स्वरूप अस्ति ही जानता है। इसका स्वरूप जो तू जानता है और जो देखताओंमें है (वह भी अस्ति है)। तब मैं समझता हूँ कि तुम्हे अपमा जाना हुआ अभी विचारने योग्य है' इसके आगेबाकी श्रुति-में श्रविध अपने तत्त्वनिष्ठ शिष्यसे पूछता है कि क्या तुम्हें ब्रह्मान हो गया है? शिष्य उत्तर देता है—

नाह मन्ये सुन्देति नो न बंदेति बेद च ।

यो नस्तद्देद तद्देद नो न बंदेति बंद च ॥

अर्थात् 'मैं यह नहीं जानता कि मैं ब्रह्मको पूर्णस्वरूपेण जानता हूँ, न यही कि मैं उसे नहीं जानता हूँ, क्योंकि मैं उसे जानता हूँ। इसमेंमें जो कोई उस ब्रह्मको जानता है, वह मेरी इस बातको जानता है कि मैं न तो उसे नहीं जानता हूँ और न जानता हूँ।' ऐसे विलक्षण निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन क्यों नहीं हो सकता है, इसका कारण भी श्रुति बताताई है—

न तत्र च्छुर्मच्छुति न वाग्मच्छुति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथेतद्विशिष्यादन्यदंत तद्विदितादधो अविदितादधि ॥

अर्थात् 'न वहाँ नेत्र पर्दृच्छते हैं, न वाणी पर्दृच्छती है, न मन ही पर्दृच्छता है। इस नहीं समझते, नहीं जानते कि कैसे उसका उपदेश किया जाय? वह जाने हुएमें निराला है और न जाने हुएमें भी निराला है, यह इसने बड़ोंमें सुना है जिन्होंने इसमारे लिये इसका कथन किया है।'

ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होनेपर ज्ञाता ज्ञेयमें भिन्न नहीं रहता, अर्थात् परिच्छिद्ध ज्ञाताकी अलग सक्षा नहीं रहती, केवल एक सञ्चिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है। उस समय न ज्ञाता रह जाता है, न ज्ञेय और न ज्ञान, अर्थात् त्रिपुरी मिट जाती है। तब क्या रहता है? इस प्रभका उत्तर देना कठिन है, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'ज्ञेयमात्र रहता है' अथवा 'ज्ञातामात्र रहता है'—

दोनोंका भाव एक ही है। निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपमें सजातीय विजातीय अथवा अस्ति कोई भी भेद नहीं है। एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ, अथवा एक पशुका दूसरे अपने ही जातिके पशुके साथ सजातीय भेद होता है। परमात्माके समान किसी दूसरे परमात्माके न होनेके कारण उसमें सजातीय भेद नहीं होता। वो विभिन्न जातिकी अस्तुओंमें जो पारस्परिक भेद होता है, उसे विजातीय भेद कहते हैं, जैसे मनुष्य और हड्डी दोनों विभिन्न जातिके

है अतः इनका पारम्परिक विजातीय भेद है। परमात्मा-में यह भेद भी नहीं है क्योंकि परमात्मा से भिन्न कुछ ही ही नहीं—

‘मतः परतरं नान्यत्किञ्चिदर्थात् धनजय ।’

मनुष्य-शरीरमें हाथ, पैर, सिर आदि तथा वृक्षमें मूल, दाढ़ी, पत्ते, फूल, फूल आदि अनेक भेद होते हैं। अपने भीतर ही होनेवाले इसप्रकारके भेदोंको स्वगत-भेद कहते हैं। परमात्माके अन्दर इस स्वगत-भेदका भी अभाव है। इसप्रकार निरुण शुद्ध वृक्ष तीनों प्रकारके भेदोंमें रहित है।

अब सगुण वृक्षका विचार किया जाना है। मायासहित वृक्षको सगुण वृक्ष कहते हैं। क्योंकि सख, रज, तम तीनों गुण ही मायाके स्वरूप हैं, इसलिये सगुण (गुणविशिष्ट) वृक्ष मायायुक्त ही माना जाता है। सगुण वृक्षके भी दो भेद हैं—सगुण निराकार और सगुण साकार। परमात्माके सर्वयापक मायासहित स्वरूपको सगुण निराकार कहते हैं। मृष्टिके आदिमें उसके सङ्कल्प-में मृष्टिकार्य आरम्भ होता है। जैसे—

मथा तत्त्वद
सर्वं जगदव्यक्तमर्तिना ।
मत्स्यानि सर्वं दूतानि न चाहं तेऽवविष्टि ॥

(गीता ९।४)

अर्थात् ‘मुम सच्चिदानन्दधनं परमात्माके अव्यक्तस्वप्ने यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत में अनन्तर्गत सङ्कल्पके आधारपर स्थित है इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।’ अत्रुति भी कहती है—

पक्का वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करति ।
तमात्मस्यं येऽपृथिव्यन्ति धारा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नवरंगाम् ॥

अर्थात् ‘सबको वशमें रखनेवाला, सब भूतोंका अन्तरात्मा, वह एक जो एकरूप (प्रकृति) को अनेक प्रकारका बनाता है उसको जो धीर पुरुष आत्मामें स्थित देखते हैं उन्हींको सदा मुख्यकी प्राप्ति होती है अन्योंको नहीं।’ इसप्रकार जो परमात्मा अव्यक्त, सर्वव्यापक और इन्द्रियानीत है, जिसे ‘अणोरणीयान्महतोमहीयान्’ अर्थात् सूर्यमें भी सूर्य और महाद्वयमें भी महाद्वय कहा जाता है, तथा जिसमें जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है वही परमात्मा सगुण निराकार-स्वरूप है। अब सगुण साकार-स्वरूपका विवेचन किया जावा है।

५६

परमात्माका जो स्वरूप मायासहित है तथा इन्द्रियोंके गोचर होने योग्य आकारवान् है उसे सगुण साकार-स्वरूप कहते हैं। जैसे—

शान्ताकारं भूत्रागशयनं पश्चानाम् सुरदशं ।
विश्वाधारं गगनसदां मधवर्णं द्रुमङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्भूतं गम्य ।
वनं विष्णुं भवभयहरं सर्वनैकैकनाथम् ॥

अर्थात् ‘जिसका शान्त स्वरूप है, जो शेषनागकी शस्यापर शयन न किये हुए है, जिसकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंका भी हृष्टर है तथा सम्पूर्ण विश्वका आधार है, जो आकाशके समान व्याप्ति है, जिसके सम्पूर्ण अंग अतिशय सुन्दर हैं, जिसे योगीजन ज्यानके द्वारा प्राप्त करते हैं, उस सम्पूर्ण लोकोंके स्वाभी, संसारके भयके दूर करनेवाले श्रीलक्ष्मीपरिति कमलनयन विष्णु भगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ।’

इसप्रकारके सगुण साकारस्वप्नके, सम्प्रदाय और मत-भेदमें, अनेकों नाम और रूप माने जाते हैं, जैसे—श्रद्धा, शिव, सूर्य, गणेश, दुर्गा आदि। भगवान्के हृष्म स्वप्नभेदका कारण भक्तोंके भावोंकी भिन्नता है। हिन्दू-सम्प्रदायमें भावकी ही प्रधानता है; इसलिये धातुमयी, पापाणमयी, मृत्युमयी, दारुमयी और मनोमयी आदि जितने प्रकारकी मूर्तिकी उपासना की जाती है, सबमें भावकी ही प्रधानता होती है। धातु या पापाणकी ऐसा नहीं होती। इसके वास्तविक रहस्यको न समझ सकनेके कारण कुछ लोग मिठी या पापाणकी मूर्तिकी पूजामें शंका करते हैं। परन्तु वे लोग यदि ऐसा धौर स्तुतिके मन्त्रोंके अर्थोंपर ध्यान दें तो सहज ही ज्ञ त ही जायता कि उनमें कहीं भी पापाण, मिठी या धातुकी प्रशंसा नहीं होती। अतएव उपासक अपने हृष्म (भाव) और वाणी (स्ववन) से जिसकी पूजा करता है वास्तवमें पूजा उसीकी होती है।

भगवान्के स्पसी सीमा बाँध लेना और यह कहना कि भगवान्का केवल एकमात्र यही स्वरूप है, कदापि उचित नहीं। कुछ माघ्रदायिन भाववाले लोग अपने हृष्म-देवके सिवा अन्य रूपोंही निन्दा भी कर देते हैं, पर ऐसा करना बालकवद् अज्ञता है। जो पुरुष अपने हृष्म-देव—भगवान्की प्रशंसा और दूसरेके भगवान्की निन्दा करते हैं वह वास्तवमें अपने ही हृष्मदेवका निरस्कार करते हैं। इस विचारकी एक आम्लायिका प्रसिद्ध है।

एक पिण्डाके दो पुत्र थे। उन्होंने अपने पिताके दोनों

पैरोंकी सेवा अलग-अलग बाँट रखती थी। एक दिन जब होनों अपने-अपने हिस्मेके पैरोंकी सेवा कर रहे थे कि संयोगसे एक पैर दूसरे पैरसे जा लगा और उस पैरकी सेवा करनेवाले लड़केने दूसरे पैरमें एक घूँसा जमा दिया और कहा कि 'तू मेरे सेव्य पैरमें क्यों आ लगा?' अपने देख्य चरणको भार लगाते देखकर दूसरा लड़का क्रोधमें आया और उसने दूसरे पैरपर दो घूँसे जमाये। इसप्रकार परस्पर क्रोधित हो दोनों पुत्र अपने पिताके पैरोंको पीटने लगे। उन बेटोंके यह नहीं समझमें आया कि इसप्रकार अपने पिताका अनिष्ट कर रहे हैं। पैरोंमें चोट लगनेसे पिताने उनको रोका, तब दोनों पुत्रोंने अपनी-अपनी शिकायत कह सुनायी। पिताने उनकी मूर्खतापर अफसोस करते हुए उन्हें बतलाया कि दोनों ही जिसं सेवा समझते थे वह वस्तुतः सेवा न थी, बल्कि पारमपरिक देवपके द्वारा मूर्खतावश पिताका अनिष्ट किया गया था।

इसी प्रकार जो लोगों अपने हृष्टकी उपासना करते तथा अन्य लोगोंके हृष्टकोंतुच्छ मानकर उसका तिरस्कार करते हैं वह अपने ही हृष्टका तिरस्कार करते हैं। हाँ, हृष्टदेव चाहे जिस रूपमें हा उसकी उपासना ईश्वरस्यमें ही करनी चाहिये; उसको सर्वेश्वर माननेमें कोई हानि नहीं है। परन्तु किसी देवकी निन्दा करनेका आधिकार किसीको नहीं है। हृष्टरमें विषास रसनेवाले तथा उसकी उपासना करनेवालेको नीचे लिखी बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

- १ ईश्वर एकमें अधिक नहीं हो सकता।
- २ ईश्वर एकदेशीय नहीं होता।
- ३ ईश्वर एकजातीय नहीं होता।
- ४ ईश्वर अल्पज्ञ नहीं होता।
- ५ ईश्वरकी सामर्थ्य परिमित नहीं होती।
- ६ ईश्वर पक्षपाती और स्वार्थी नहीं होता।
- ७ ईश्वरमें अन्य कुछ भी तथा कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।
- ८ ईश्वर किसी प्रकार पापाचरणका प्रेरक नहीं होता।
- ९ ईश्वर सर्वोच्च है और महापापीका भी हितेश्च है।
- १० ईश्वर एककालीन नहीं होता।
- ११ ईश्वर परम दयालु, सर्वज्ञ और आनन्दरूप है।

सभी उपासकोंको अपने-अपने हृष्टमें हृष्ट ग्यारह मावोंको अवश्य ही रखना चाहिये। जहाँ भावना अल्प होती है वहाँ लाभ भी अल्प होता है और जहाँ भावना महान् होती है वहाँ फल भी महान् होता है। यदि

वस्तुतः कोई हैश्वरका यथार्थ रूप देखना चाहे तो हुद्दिवक्लसे उसको देखना या दिखाना नहीं हो सकता। उसे तो यथार्थतः वही जानता है, जिसको वह प्रभु स्वयं जना देता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने ऐक ही कहा है कि—

'सो जाने जेहि देहु जनाई ।'

तुम्हरी हृषा तुम्हाहि रथनन्दन। जानत मकु भक्त उर-चन्दन ॥

श्रुति भी कहती है—

'यमेवैष वृणुते तेन कम्यः'

वस्तुतः भगवान् क्या है, इसे तो स्वयं वही जानते हैं, या उनके सब्जे प्यारे भक्त उन्हींकी हृषामें कुछ जान सकते हैं। 'अन्योंके कथन ईक नहीं', यह नहीं कहा जा सकता, और 'ईश्वर ईश्वरम्भूत अथात् [सा ही है]', यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ईश्वरका रहस्य अलौकिक है। प्रायः ईश्वरके विषयमें कहनेवाले अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार कुछ दरतक कहते भी हैं, फिर भी उनका कहना अत्यं दी रह जाता है। इस बातको म्यष्ट करनेवाली हाथीके स्वरूपके सम्बन्धमें पैर, सूँड, कान और दांतको ही हाथीं बतानेवाले चाह अँधीकी शोकोक्ति प्रसिद्ध ही है।

अतः ईश्वरके जितने भी स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णित है, तथा सब्जे भक्तोंने स्वीकार किये हैं। उन सभीको सम्मान-की ईष्टसे देखना चाहिये और अपनी प्रतिनि या सूचि जिस भाव (स्वयं या नाम) में हो उसीकी ईश्वरभावनामें उपासना करनी चाहिये। सब्जे अधिक ध्यान देने योग्य थात यह है कि साधकों अपने हृष्टमें किसी प्रकारकी अपर्णता नहीं देखती चाहिये, क्योंकि जहाँ अपर्णता है वहाँ ईश्वरत्व नहीं है। साधकका भाव दृढ़ और सर्वोच्च होना चाहिये, फिर वह चाहे जिस नाम-स्वरूपकी उपासना करे, वह सर्वेश्वर पूर्ण ईश्वरकी ही उपासना समझी जायगी। परन्तु यदि नाम-स्वरूप धृति मनोहर और श्रेष्ठ है, पर भाव श्रेष्ठ नहीं है तो वह उपासना सर्वेश्वर महेश्वरकी नहीं हो सकती। अब अन्तमें उस सर्वेश्वर परमारमाको प्रणाम करके लेख समाप्त किया जाता है—

ॐ लं बायमप्ति सर्विं मही च

उयोनीपि सर्वाणि दिशो द्रुमादीन् ।

सरिस्मुद्रांश्च देः गर्वां

ग्रिकृष्ण भूत प्रणमेदनन्यः ॥

—५४२—

ईश्वर अत्तर्क्य है

(लेखक—श्रीमुसिहासजी दमा, छत्तीसगढ़)



भाग्यवश संस्कृत-विद्याका हाथ होनेके कारण
आजकल वातावरण कुछ ऐसा हो गया है
कि देशके नवयुवक केवल उमी वातको
मानना चाहते हैं जो युक्तियुक्त हो और
बुद्धिकी कमीटीपर कमी जा सके। हमलिये
'ईश्वर है' मेंमा कहनेवालोंमें भी वह ईश्वरके
अस्तित्वमें युक्ति माँगते हैं। वह यह कठपि नहीं सोचते
कि हम विषयमें युक्ति माँगना न्यायानुकूल है या न्याय-
विवर्द्ध ? क्योंकि युक्ति या तर्कमें वही वस्तु जानी जा
सकती है जो परिचिन्ता हो। परिचिन्ता और विभु
वस्तुसी युक्तिडारा यिद्दि माननेमें निश्चिलिखित अनेक दोष
बलात्कार या प्राप्त होते हैं।

१—जो किसी वस्तुको सिद्ध करता है वह न्यायानुसार
अधिक-देशवर्ती होता है और जिस वस्तुकी सिद्धि की
जाती है वह गृन-देशवर्ती होती है। अधिक-देशवर्ती
वस्तु न्यून-देशवर्ती वस्तुकी अपेक्षा बिलु होती है। अतः
यदि युक्तिने ईश्वरकी यिद्दिका प्रयास किया जाय तो वह
साधक होनेके कारण ईश्वरकी अपेक्षा विभु ठहरेगी और
ईश्वर साध्य होनेमें युक्तिही अपेक्षा परिचिन्ता हो जायगा
तथा परिचिन्ता होनेमें घट-पट आदिकी भाँति नक्षर और
अनारम-पदार्थ ठहरेगा। परन्तु यह किसी भी ईश्वरवादी-
को अभीष्ट नहीं है। अतः यदि वस्तु पदार्थमें युक्ति माँगना ही
मर्वंथा युक्तिहीन और असम्भव है।

२—युक्ति कहते हैं हेतु या कारणको; जो एक प्रकारमें
अन्तःकरण अर्थात् बुद्धिकी परिणामी वृत्ति है। क्योंकि बुद्धि
जितनी अधिक कुशाग्र होती है उतनी ही अधिक पदार्थ-
याहिली और युक्तिप्रधान होती है। परन्तु वह स्वयं
प्रकृतिका कार्य होनेके कारण जड़ है, तथा चेतनके आभासको
प्राप्त करके ही चेष्टा करती और पदार्थोंसी निश्चय करती
है। शास्त्रोंने बुद्धिका लक्षण भी—'निश्चयात्मिका बुद्धि'
बतलाया है। परन्तु स्वयं जड़ होनेके कारण वह ईश्वरको
नहीं जान सकती।

'यो बुद्धः परतस्तु सः' (गीता)

'बुद्धरामा महत् पर' (श्रुति)

—हस्तादि श्रुतिन्मूलियोंका भी यही अभिवाय है कि
ईश्वर बुद्धिमे भी परे है। अतः बुद्धिके परिणाम अथवा
कार्यस्पृष्ट युक्ति उस परमात्माको कैसे जान सकती है ?
इसप्रकार बुद्धिरूप कारण और युक्तिरूप कार्यको ईश्वर-
सिद्धिमें कारण माननेमें 'मम मुखं जिह्वा नास्ति' के समान
बलात्कार व्याघात-दोष आ उपस्थित होता है। क्योंकि
जो वस्तु स्वयं जिसके बिना आसिद्ध है, उस अपने पूर्वभूत
सिद्ध साधकको वह किसप्रकार सिद्ध कर सकती है ? अतः
जड़ और परिचिन्ता बुद्धिमे चेतन और विभु ईश्वरकी
सिद्धिकी अभिलाया करना सर्वथा अयुक्त है।

३—प्रायः यह बात सुननेमें आती है कि नीबू मे-सीबू
बुद्धिवाला मनुष्य भी किसी सांसारिक कठिन समस्याके
भा पड़नेपर कह उठता है कि यह बात मेरी बुद्धिमें नहीं
आती। जब सांसारिक घटनाओंके समझनेमें ही बुद्धिमानों-
की बुद्धि असमर्थ रहती है तो उसके द्वारा उस ब्रह्माण्ड-
नायक प्रभुको जानना व्याघात-दोष-प्रसित बात नहीं
तो और क्या है ? पाञ्चरात्र-आगममें कैसा सुन्दर कहा
है कि—

अपि त्वं भगवन् ब्रह्माश्वशकमर्हयः ।
प्रदुर्यु यदुर्यु अभीष्टेऽनुमद्यापीशं नरीशो ॥

अर्थात् 'उस परमेश्वरको देखने, यज्ञ और प्रशंसा
आदिमे याधात्म्य जाननेमें ब्रह्मा, शङ्कर, हङ्द्र और
महर्षिण्य भी समर्थ नहीं होते हैं।' अतः जो
जगत्तायक ब्रह्मा और शिवादि-जैसे समष्टि-बुद्धिवालोंकी
बुद्धिका भी अविषय है उसे हम-जैसे शुद्र व्यष्टि-
बुद्धिवालोंकी बुद्धि कैसे प्रत्यक्ष कर सकती है ?

४—जो बुद्धि पहले ही अज्ञानावृत होनेके कारण
अपनेमें ईश्वरके प्रश्यत्का अभाव प्रकट करती है, उस
अज्ञान-तिभिरसे असित बुद्धिरूप अधिकरणमें साक्षात्
ज्ञानके पुञ्च और प्रकाशस्वरूप ईश्वर कैसे प्रकट हो सकते
हैं ? क्योंकि न्यायानुसार तम-प्रकाशकी भाँति दो परस्पर-
विरोधी गुणोंका एक ही समयमें, एक ही अधिकरणमें रहना
असम्भव है। युक्तिरूप कार्यका कारण बुद्धि स्वयं ही
अज्ञानका कार्य है और चिदाभासके बिना अस्यन्त जड़ है,
एवं कूरुत्परूप अधिष्ठानमें कलिपत्र है—

कूटसे कहियता बुद्धिस्त्रव चित् प्रतिविष्वकः ।

(पञ्चदशा ६ । २३)

—अर्थात् कूटस्यमें, कलिपत बुद्धिमें चैतन्यका आभास पड़ता है अतः ऐसी स्वसमताहीन, कलिपत, जड़ और परप्रकाशक्य क्षुद्रबुद्धिके भी कार्यस्वरूप क्षुद्रतित्तद्र युक्तिये ज्ञानस्वरूप, चेतन परमात्मवेवका ज्ञान प्राप्त करना स्वपुष्प तथा शशशृंगवत् आश्रयन्त असम्भव है ।

५—जो मनुष्य यह कहे कि ईश्वर मेरी बुद्धिमें नहीं आता, उम्ये कैमे मार्गे ? उम्ये आज्ञा चाहिये कि भाई ! बुद्धिमें परे तो तुम्हारे मनमें कोई वस्तु है दी नहीं, फिर जो तुम कहते हों। ‘मेरी बुद्धि,’ तो इस ‘मेरी’ में तुम्हारा कथा अभिप्राय है ? बुद्धिमें ‘मेरेपन’ का अभिमान करने वाला वह कौन है ? क्योंकि जो मनुष्य ‘मेरी पुलक’ में सा कहता है वह निश्चय ही पुलकमें पृथक् बोई भिन्न वस्तु होता है । जिसप्रकार पुलक और उम्ये अपना स्वन्व प्रकट करनेवाले पुलकमें परपर वस्तु और स्वामीका सम्बन्ध होता है उम्ये प्रकार बुद्धि और ‘मेरी बुद्धि’ कहनेवालें भी वस्तु (सेवक) और स्वामीका सम्बन्ध निश्चय है । क्योंकि ‘मेरी’ कहनेवाला बुद्धिका स्वामी हुआ और बुद्धि उम्यकी वस्तु (सेविका) ठहरी । फिर सेविकामें उम्यके स्वामीकी अनुभूति, उम्यके ऐश्वर्यजन्य आनन्द और सुखकी सीमा पछाना यथाया अनुकूल है । तुम उम्य मनुष्यमें, जो यह कहना है कि ‘युक्तिरामा मेरी बुद्धिमें ईश्वरको बैठा दो,’ यह पूछना चाहिये कि तुम ज़ं ‘मेरी’ कहते हो वह ‘मेरी’ प्रयोग करनेवाला जड़ है या चेतन ? यदि जड़ है तो ‘मेरी’ कहकर स्वरूप प्रकट करनेवाला कोई चेतन है या नहीं ? यदि इस ‘मेरी’ को जाननेवाला हृसरा और उम्य दूसरोंको जाननेवाला तीमरा—इसप्रकार मानें तो अनवस्था अथवा चक्रिक आदि दोष आ प्राप्त होंगे । और यदि वाढ़ी कहे कि बुद्धि स्वयं अपनेमें स्वच करती है तो यह यान सर्वथा असिद्ध है । क्योंकि वस्तु किसीकी होती है, वह स्वयं वस्तुयाली नहीं बन जाती । जैसे उम्यक किमी मनुष्यकी होती है, वह स्वयं पुलकवाली नहीं बन जाती । यदि बुद्धि स्वयं बुद्धिवाली (स्वत्व प्रकट करनेवाली) बने तो हृसरकी अव्याप्ति पुलक, घट-पट आदिमें हो जाती है । अतः बुद्धि स्वयं अपनेमें स्वबुद्धि करती है ऐसा कहना नहीं बनता ।

परन्तु वह मनुष्य जिसके अरमें युक्ति ही मात्र है

यदि यह कहे कि बुद्धिको ‘मेरी’ कहनेवालेको मैं नहीं जानता; मेरी युक्ति और बुद्धिमें वह परे है तो उसमें कहना चाहिये कि ‘भाई ! जब तुम्हारी बुद्धि और युक्ति तुम्हारे व्यष्टिस्व बुद्धिमें ‘मेरी’ कहनेवाले किसी पदार्थविदेषको नहीं समझ सकती और तुम्हारी बुद्धिका व्यष्टि अभिमानी स्वामी ही जब तुम्हारी बुद्धि और उसके कार्य युक्तिमें परे है तो समिति-बुद्धियोंके एकमात्र सञ्चालक, प्रेरक और नियामकों जो तुम्ह बुद्धिके परिणामस्वरूप युक्तिये समझना चाहते हो, वह वस्तुपुत्रका खपुष्पके चापमें शशशृंग हो तो हमें जीवन नहीं तो और क्या है ? बुद्धिके परिणामस्वरूप युक्तिहारा ईश्वरके प्रत्यक्ष न होनेमें केवल शुक्र युक्ति ही प्रमाण नहीं, बहिर वेद-भगवान् भी इस विषयमें उच्चस्वरमें धोषित करते हैं ॥

‘अनंद० ८ सर्वं विज्ञानानि त केन विज्ञानंयदित्तं तामरं केन विज्ञानायादित्तं’— ईशदारण्यक० २ । ४ । २६ ।

अर्थात् ‘हे मैत्रेय ! जिसमें यह सम्पूर्ण जाना जाना है, उम्यमें किसमें जाना जाय, विज्ञानासो किसमें जाना जाय ?’

‘पथ नेति नेति आमा अगृह्या नाह गृह्यते

अथात् आमा यह नहीं है, नहीं है; आमा अगृह्य है, उम्यका ग्रहण नहीं होता ॥

‘नान्योऽनेऽप्तिविज्ञानाः’— वृत्त० ३ । ७ । २३ ।

अर्थात् इस आमामें अन्य कोई विज्ञान नहीं है—

‘यत्र नन्यत्पदयति नन्यत्पृष्ठान्ति नन्यद्विज्ञानान्ति स नुमा, यत्रान्यत्पदयति अन्यत्पृष्ठान्ति अर्याद्विज्ञानान्ति तदत्परं यत्रैव मुमा नः मृतमय पदत्पर नन्यत्पदित्य दिति’— आनन्दारण्य० ७ । २४ । १ ।

अर्थात् जिसमें कोई नहीं देख सकता, जिसको कोई नहीं सुन अथवा जान सकता है वह भूमा अर्थात् आमा है । जिसमें दृसरा देख सकता है, जिसको दृसरा सुन सकता है, जान सकता है वह अनप है । भूमा निश्चय ही अनप है, जो अप है वह मर्य अर्थात् मरणशील है ।

श्रोत्रम्य श्रोत्र मनमो मनो० कनोपार्माद० २ ।

अर्थात् जो श्रोत्रका श्रोत्र है और मनका भी मन है ।

‘यो विज्ञान तित्तु विज्ञानाद्यन्तरो य विज्ञाने न बेद यस्य विज्ञानं’ शर्मण यो विज्ञानाद्यन्तरो यममर्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः’— ईशदारण्यक० ३ । ७ । २२ ।

अर्थात् यो बुद्धिमें स्थित होकर बुद्धिमें रमा हुआ है,

और बुद्धि जिसको नहीं जानती, जिसका बुद्धि शरीर है वह बुद्धिके भीतर रहकर उसको व्यापारमें लगाता है वही तेरा अविनाशी अन्तर्यामी आत्मा है।

इसप्रकार अनेक श्रुतियाँ उस परमामर्देवको बुद्धि तथा उसके कार्य युक्तिका अविषय प्रतिपादन करती हैं।

यदि एवंपत्र यह कहे कि बुद्धिमें 'मेरी' कहनेवाला कौन है, यह तो ईश्वर ही जाने, हम इसे क्या समझ सकते हैं, तो उसके कथनमें बलास्तार ईश्वरकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि जिससे बुद्धि न जान सके और जड़ों जाकर समझ उठि, युक्ति, तर्क और बुद्धिमत्ताका पर्यवसान हो जाय, वही आत्मा, वहों ईश्वर और वही परममात्र और उपास्य है। ऐसे विभु, अपगिञ्चित्त और पूर्णतम वस्तुमें युक्ति, माँगना स्वरूप न्यायाध्यक्ष बनने और ईश्वरको अपने न्यायका विषय बनानेहैं चेष्टा करना है।

६—संसारकी प्रायः मभी वस्तुः विपुष्टेग्रसित है । जैसे ज्ञाना, ज्ञान, जंय, ध्याना, ध्यान, ध्येयः उपायक, उपायना, उपास्य इत्यादि । हमलिये यदि युक्तिरूप बुद्धि की बृत्तिडारा ईश्वरका ज्ञान प्राप्त होना माना जाय तो युक्ति सो ज्ञान होती और ईश्वर जैव वस्तु ठहरेगा। ज्ञान-स्वप्न जज्जी अपेक्षा ज्ञेयस्वप्न वस्तु सर्वदा परिचित्त, छोटी और आज्ञानियन्थनी होती है । जैसे न्यायाध्यतकी अपेक्षा विवादहस्ती दोनों पक्ष न्यूनस्थानीय होते हैं और उम्म प्रधान पुरुष हाकियके दुक्षयके बन्धनमें होते हैं, अपने कथनहो उसके सामने निवेदन कर देनेके अनन्तर वह स्वयं जडवत् उम्मी देवामें उपस्थित रहते हैं और उसकी आज्ञानुकूल चेष्टा करनेके अतिरिक्त और कुछ कार्य न्यायालयमें नहीं कर सकते । यही स्थिति इमारी युक्तिके ज्ञान बननेपर न्यायानुमार विभु, अपरिचित्त, सर्वाधिष्ठान, जगत्प्रियन्ता और सर्वान्तर्यामी ईश्वरकी हो जायगी, जो सर्वथा युक्तिहीन और न्यायविहृद् है ।

इसप्रकार अनेकों युक्तियोंमें यह बात सिद्ध होती है कि ईश्वरके विषयमें युक्ति माँगना ही सर्वथा अन्यायग्रसित

और युक्तिहीन है । क्योंकि जो स्वयंप्रकाश और सबमें एकरस शोतप्रोत, सवका ज्ञाना, दृष्टा और स्वयंसिद्ध है उस सबके साधकको दूसरा कौन किसप्रकार सिद्ध कर सकता है? वह ईश्वर मन और वायाका भी विषय नहीं है —

'यन्मा वाचो निर्वतनं अप्राप्य मनमा मह ।'

अर्थात् वाणी और मन उसके पासतक विज्ञापूर्वक ही लौट आते हैं —

'न तत्र च्युर्गच्छनि न वागच्छनि न मनो न विद्मो न विजानेमा यथेतदनुग्रात् ।'

(केन ३)

अर्थात् 'उसके पासतक न गौण्यें, न वाणी और न मन ही पूर्णचंत हैं, अतः नहीं समझमें आना हि उसका किम-प्रकार यात्रानेन उपदेश करें, क्योंकि न तो वह ज्ञान है और न तुद्विष्ट हैं आ सकता है ।' इसप्राप्त वर्वर्गाच्छ-शिरोमणि वेद भी जब पूर्णतया उसका निष्पत्त करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं तर दूसरा कौन उसे मिद्द का दिक्षानेमें समर्थ हो सकता है?

हमलिये तुद्वयुक्तियोंमें उम्म परम शब्देय मर्वीमा ईश्वरकी यिद्विकी इच्छा करना केवल शुद्ध वाद है, यह बात हमने उपर युक्तिमें दरा यिद्व कर दी है । अतः जब युक्तिविश्वक प्रश्नका करना ही नहीं बनता तो यहौं ऐसे अमिद्र प्रश्नके उत्तरमें युक्तियाँ स्थापन करना अन्यथा-सिद्ध अरण्यरोदन और जल विलोक्त नवनीत निकालनेकी चेष्टा करनेकी भाँति व्यर्थ प्रयासमात्र है । गुरु नानकदेवकी इस वाणिके अनुमार कि, 'पितामी बात क्या जाने पूर्' दुश्शल और तुष्ट युक्ति उस प्रभुके पवित्र चरणोंतक नहीं पूर्ण सफली । हमलिये उस परमद्वयों उकि-युक्तियों, सबका कल्याण करनेवाला, युक्ति और मुक्तिदायक, निरतिग्राम आनन्दका देवाला जानकर उसके रसमपावन चरणरूपलोंमें सदा निःशङ्क होकर अनन्तभक्ति और गाढ़ प्रेममें अपने मनरूपी सुंगको समर्पण करना चाहिये, जिससे जन्म-मरणकी दुःसह पीढ़ा शान्त हो ।



ईश्वरकी महिमा

(लेखक—श्रीभगवानदासजी हालना)

‘क’
 ल्याण’ के इस ईश्वरांके लिये जो लेखोंकी सूची प्रकाशित हुई है उसमें एक विषय ‘ईश्वरकी महिमा’ भी है। इसी सम्बन्धमें कुछ शब्द निबेदन करनेकी मैं आशा चाहता हूँ। वास्तवमें ईश्वरकी महिमा इतनी बड़ी और अपार है कि उसे यथार्थ-रूपमें वर्णन करना प्रायः असम्भव है। किन्तु जैसा कि रामचरित-मानसमें लिखा है कि—

निज निज मति मुनि हरि गुन गवहि ।
 निगम शेष शिव पार न पावहि ॥

भगवान्की महिमाका वेद, शेषजी और शिवजी पार नहीं पा सकतं, उनकी उस अपूर्व महिमाको अपनी-अपनी लुकिके अनुसार श्रव्य-सुनियोंने कुछ-कुछ वर्णन किया है। मैं अपनी ओरमें कुछ न कहकर पहले ईश्वरके निर्गुण रूप-की परम कल्याणस्वरूप भगवान् शंकरने पार्वतीजीमें जो महिमा कही है उसीका नीचे रसास्वादन करनेकी पाठकों-से प्रार्थना करता हूँ—

निर्गुण रूपकी महिमा

आदि अन्त को जामु न पावा । मति अनुमान निगम अस गावा ॥
 बिनु पर चलउ सुनह बिनु काना । कर बिनु करम करह विध नाना ॥
 अननरहित सकल रस मोगी । बिनु बानो बकता बह जोगी ॥
 तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रह ध्रान बिनु बास असहा ॥
 असि सब भाति अलौकिक करनी । महिमा जामु जाहि नहि भरनी ॥

विश्व पाठकोंने देखा होगा कि भगवान् शंकरने किसने घोड़े शब्दोंमें ईश्वरके निर्गुण रूपकी कितनी सुन्दर महिमा कही है। अब नीचे उनके सुगुण रूपकी महिमा दी जाती है। किन्तु इसमें पहले भगवान् शंकरहीके दो शब्दोंमें यह बता देना अनुचित न होगा कि ईश्वर निर्गुण ब्रह्मसे सुगुण रूप क्यों धारण करता है। महादेवजी ईश्वरके निर्गुण रूपकी ऊपर दी हुई महिमा वर्णन करनेके बाद कहते हैं कि—

जेहि इमि गवहि वेद तुथ, जाहि धारहि मुनि ध्यान ।
 संप्रद सरथ सुर भगतहित, कोसलरपि भगवान् ॥

अर्थात् ‘जिस ईश्वरको वेदके आननेवाले परिव्रत इस-प्रकार गते हैं और जिनका मुनीश्वर लोग ध्यान करते हैं वही निर्गुण ब्रह्म ईश्वर भननेकी लिये दशरथके पुत्र होकर अयोध्यानाथ भगवान् श्रीरामचन्द्रका रूप धारण करते हैं।’

अब ईश्वरके इन्हीं सुगुण रूपधारी ‘कोसलपति’ भगवान् रामचन्द्रकी अपूर्व महिमा सुनिये। परम ईश्वर-भक्त और ज्ञानी काग्मभुशुणिङ्गीने श्रीरामचन्द्रजीकी जो अद्वैतिक महिमा वर्णन की है, उसे पढ़कर मनुष्य एक साथ ही भनि, प्रेम और आनन्दमें गढ़द ही जाता है। वह असूतरस अब पान कीजिये—

सुगुण रूपकी महिमा॥

राम काम सत कोटि सुभग तन । दुर्गा कोटि अमित अरि मदन ॥
 सक कोटि सत सरिस विवासा । नम सत कोटि अमित अवकासा ॥

अर्थ—सौ करोड़ कामदेवोंके समान श्रीरामचन्द्रजीका शरीर सुन्दर है और वे करोड़ दुर्गाके समान अनगिनती शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं। सौ करोड़ इन्द्रोंके समान जिनका भोग-विवास है और सौ करोड़ आकाशोंके समान विनाका विस्तार है।

मरुष कोटि सत बिपुल बन, रवि सत कोटि प्रकास ।

सर्सि सत कोटि सुसंताल, समन सफूल भवत्रास ॥

अर्थ—सौ करोड़ पवरोंमें भी जिनका उदादा बहु है और सौ करोड़ सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है। जो सौ करोड़ अन्द्रमाओंके समान शीतल हैं और संसारके सब सार्थकोंका नाश करनेवाले हैं।

काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरन्त ।

धूमकेतु सत कोटि सम, दुराचर भगवन्त ॥

अर्थ—जो सौ करोड़ कालके समान आयन्त दुस्तर (कठिनतामें तरनेयोग्य), दुर्ग अर्थात् कठिनाईसे प्राप्त होनेयोग्य और जो दुरन्त (जिनका अन्त नहीं) है। और जो भगवान् सौ करोड़ अप्तिके समान कठिनतामें धारण करनेयोग्य हैं।

* नाचे दिये हुए पथोंका अये भी इसलिये दे दिया गया है कि सब पालक पूर्णरूपसे इनका रूप ग्रहण करें।—लेखक

प्रभु अगाध सत कोटि पताता । समन कोटि सत सरिस कराता ॥
तीर्थ अमित कोटि सम पावन । नाम अखिल अध्युंज नसावन ॥

अर्थ—प्रभु सौ करोड़ पातांके समान अथाह हैं और सौ करोड़ यमराजोंके समान भयझर हैं । वे करोड़ों तीर्थोंके समान पवित्र हैं और जिनका नाम सब पापके समूहोंको भाश करनेवाला है ।

हिम गिरि कोटि अचल रघुवीरा । मिथुंकोटि सत सम गंधीरा ॥
कामवेनु सत कोटि समाना । सकल कामदायक मगवाना ॥

अर्थ—जो करोड़ों हिमाक्षय-पर्वतोंके समान अचल हैं, जो सौ करोड़ समुद्रके समान गहरे हैं और जो भगवान् सौ करोड़ कामवेनुओंके समान सबकी कामनाओंको पूरा करनेवाले हैं ।

सारद कोटि अमित चतुराई । विवि सत कोटि मृष्टि निपुणाई ॥
विष्णु कोटि सत पालनकरता । शुद कोटि सत सम संहरता ॥

अर्थ—जो करोड़ सरस्वतीके समान चतुर हैं और जो सृष्टिके उपकारनेमें सौ करोड़ विद्यासे भी अधिक निपुण हैं, जो सौ करोड़ विष्णुके समान पालनकरता है और जो सौ करोड़ महादेवके समान संहारकरता है ।

* * * * *

दशावतार

(लखक—एक प्रेमी महाशय)

ईश्वरके अनन्त अवतार हैं । भक्तोंके दुःख दूर करनेको उन्हें अनेकों बार अवतरित होता पढ़ता है—

परित्राणाय सानन्दानं दिनाशय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संमवानि युगे युगे ॥

(गीता ४।८)

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने स्वीकार किया है कि 'साहुओं-की रक्षा, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मका सम्यक् स्थापन करनेके लिये मैं बार-बार प्रकट होता हूँ ।'

जिसप्रकार ८४ लाख आसनों और योनियोंमें केवल ८४ आसन और ८४ योनियाँ प्रधान हैं और ८४ में भी सिर्फ़ १२ ही मुख्य हैं । उसी प्रकार अनन्त अवतारोंमें भी २४ अवतार प्रधान या प्रस्त्यात हैं और उन २४ में भी केवल १० ही मुख्य भाने जाते हैं ।

पुराणोंमें उनका अद्भुत, विचित्र और विस्तारके साथ वर्णन किया गया है, यहाँ भगवद्गीताके हृदयोपनार्थ उनका

बनद कोटि सत सम बनदाना । माया कोटि प्रपञ्च निघाना ।
भार घरन सत कोटि अहीसा । निरविनिरूपम प्रभु जगदीसा ॥

अर्थ—जो सौ करोड़ कुबेरोंके समान धनवान् हैं और जो करोड़ों माया और प्रपञ्चके खजाने हैं, जो सौ करोड़ शेषजीके समान (पुष्टीका) भार धारण किये हैं और जो अवधि और उपमारहित है ।

हमारे पाठकोंने ऊपर सर्वशक्तिमान् ईश्वरके सगुण स्वपकी कुछ महिमा देखी, किन्तु उसके अन्तमें जो कहा है कि 'निरविनिरूपम प्रभु जगदीसा' वही विलुप्त थीक है । अर्थात् जो प्रभु जगदीश्वर हैं उनकी न कोई सीमा है और न उनकी कोई उपमा हो सकती है । जैसे करोड़ों पट्टीजीनोंसे सूर्यकी उपमा नहीं दी जा सकती, जैसे असंख्य तारामणोंसे चन्द्रमाकी उपमा नहीं दी जा सकती और जैसे समुद्रकी उपमा समुद्रहीसे दी जा सकती है उसी तरह बन्तुतः ईश्वरकी या रामकी या कृष्णकी किसीसे उपमा नहीं दी जा सकती । उनकी उपमा तो उनहींसे भी जा सकती है ।

(१) मत्स्यावतार

साधारण दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है ।

सर्वप्रथम मत्स्यावतार दुआ था । उसके बाद कृष्ण, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, दुर्गा और कल्पि हुए ।

प्रथेक कल्पके अन्तमें महाप्रलय होता है । जिस समय प्रजापति (ब्रह्म) योगनिद्राके वश हो रहे थे, उस समय उनके मुख्यसे बेदादिका निष्काशन हो गया । उनको ईश्वीवेने हृष्टप किया तब बेदादिके विचारसे भगवान्ने शफरी या हिलसा नामकी मछलीका रूप धारण किया ।

उस अवसरपर राजविं सत्यव्रत भगवत्प्राप्तिके लिये केवल जल एकर कठिन तप कर रहा था । एक दिन वह हृतमाळा नदीमें जाकर तपण करने लगा, उसी समय उसकी अज्ञालिमें एक मछली आ गयी । राजा जो जलाजलिके साथ उसे भी नदीमें छोड़ दिया, तब वह मछली बोली कि—

राजन् ! मङ्गलीमार जन्मुओंसे मेरी रक्षा करनी चाहिए, नहीं सो ये सुने खा जायेंगे । यह सुनकर सत्यवत्तने उसे अपने कमरण्डलुमें हाथ लिया और आश्रममें ले आया । वहाँ आनेपर वह एक ही रातमें इतनी बदी कि कमरण्डलुमें नहीं समायी । तब राजर्षिने उसे एक कुर्में छोड़ दिया, वहाँ वह तीन ही मुहूर्तमें कुर्म-जितनी हो गयी । तब राजर्षिने उसे शतयोजनविस्तीर्ण जलाशयमें स्थान दिया, किन्तु वहाँ भी वह इतनी बदी कि जलाशय बसीसे भर गया । यह देखकर राजर्षिने पृथक कि—

भगवन् ! आप कौन हैं ? एक ही दिनमें आपने इस शतयोजनविस्तीर्ण जलाशयको ब्यास कर लिया । सम्भव है आप कोई अवसर हैं । यह सुनकर मस्त्यने उत्तर विधा कि—‘आजसे सातवें दिन वह सम्पूर्ण भूमरण्डल भूमुखावाद लोकोंसहित जलझांचित हो जायगा । उसी समय तेरे पास एक नाव आवेगी । उसके आते ही तू मेरे सींगमें उस नावको सर्परज्जुमें बाँध देना ।’ यह कहकर वह अद्वितीय हो गयी ।

सातवें दिन सत्यवत्त कुशासनपर बैठकर भरस्यावतार-का ध्यान करने लगा । देखने-देखते समुद्र उमड़ चले । महामेव बरसने लगे और सर्वत्र जल भर गया । इतनेमें एक नाव आयी, उसमें सप्तर्षियोंके साथ सत्यवत्त बैठ गया और स्तुति करने लगा । उसी अवसरपर एक शंगधारी महान् मरम्य देख पड़ा । राजर्षिने तुरन्त उसके सींगमें नौकाको बाँध दिया । वह उसे बढ़े बेगमें खींच ले गया और आँखी निरामें उसने उनको तातोपेश किया । अन्तमें हृषीकेवो मारकर व्रह्माको बेद प्रश्नन किया और आप मरस्यावतारमें स्वधाम पधार गये ।

(२) कूमवितार

जिस समय प्रलय-कालके जलमें भगवान् सो रहे थे, उस समय उनके शरीरमें आद्यात्मिक उत्पन्न हुई । हंसरने उसमें प्रवृत्ता, विष्णु और महेशको प्रकट किया । तब वही शक्ति शवसूपमें व्रह्माके निकट गयी, उन्होंने उसे चारों ओरमें देखा, इस कारण वे चतुर्मुख हो गये । फिर वह विष्णुके समीप गयी, उन्होंने उसे दूरमें ही छोटा दिया । अन्तमें उसने शिवके समीप रहनेकी इच्छा प्रकट की, तब विष्णुने कहा कि तुम सौ बार वारीर बदल सकोतोंमें तुम्हें स्त्रीकार कर सकता हूँ । यह सुन शक्तिने बैसा ही किया और वह शिवमें छीन हो गयी ।

शक्तिके स्थिर होनेपर विष्णुने व्रह्माको सृष्टि रचनेके लिये कहा किन्तु पृथ्वीका बीज न देखकर व्रह्मा कुछ न कर सके । तब विष्णुने कर्णभलसे भूमुखैटम उत्पन्न किये । उत्पन्न होते ही वे लानेको दौड़े । तब व्रह्माने विष्णुकी शरण ली और मधुकैटमको मरवा दिया । व्रह्माने उनके भेड़से मेदिनीको उत्पन्न किया । और हिन्दुओंसे पर्वत बनाये, किन्तु उनसे जब वह ढगमगाने लगी तब भगवान्ने कूर्मरूप भारत किया ।

(३) व्रगहावतार

व्रह्माने सृष्टिक्रम आरम्भ करनेकी आज्ञा पाये हुए मनुने पृथ्वीको जलशुद्धिविन देखकर उनमें कहा कि—हे व्रह्मन् ! यह समर्पण भूमि प्रलय-पर्यावरित्यमें निमग्न है । इसके उद्धारका उपाय कीजिये, जिसमें इस और मरीचि आदि आपकी आज्ञाका पालन करें ।

यह सुन व्रह्माने विचार किया कि जिसने मुझे उत्पन्न किया है वही इसका प्रबन्ध कर सकेंगे । उसी समय विचार-मग्न व्रह्माके नामानन्धमें अङ्गुष्ठप्रमाण वशाह वाहर निकले और वाहर आने ही उन्होंने गजेन्द्र-जैसा शरीर बनाकर ऐरावतकी तरह गर्जना की । तब व्रह्मादिने उनका मनवन किया । और वराह भगवान् जलमें प्रविष्ट होकर पृथ्वीकी ऊपर ले आये । अन्तमें हिरण्याक्षको मारकर स्वधामकी पवार गये ।

कालिकापुराणमें लिखा है कि यज्ञीकी उत्पत्ति वराहजीके अंग-प्रस्तर्योंमें हुई थी और उस समय उनकी संक्षया आठ हजार थी ।

(४) नृसिंहावतार

व्रह्माने वर प्राप्त करके दितिके पुत्र हिरण्यकशिषुने गौ, व्राण, देवता और विष्णुमें बैर किया था । उसके बार पुत्र थे । उसमें प्रह्लाद सबसे बड़ा था । पुत्रवासमल्य-के अनुरोधमें हिरण्यकशिषुने प्रह्लादको गोदमें बैठाकर एक बार पृथक कि—‘कहो बेटा ! तुम इतने दिनमें पद रहे हो, तुमने क्या-क्या सीखा ? इसके उत्तरमें प्रह्लादने कहा कि—

‘प्रदणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादेसवनम् ।

अर्थात् बन्दनं दास्यं सर्वग्रामसनिदेवनम् ॥

(धीमद्भा० ७।५।२३)

पितामही ! भगवन्-व्राणालाल वरानेदासी तौ प्रकारकी

मर्हि है। उसका मैंने गर्भीयमें अव्यवत किया है। यहाँ आकर तो मैं उसका अनुभीवन कर रहा हूँ।

यह सुमकर हिरण्यकशिषुने विचार किया कि यह तो अपने बैरी विष्णुका भक्त बना जा रहा है। इसको जीवित रखना विष्णुका बदाना है। यह विचारकर उसने प्रह्लादके भारनेके अवैकों बढ़ किये किन्तु भगवान्कपासे सब निष्पक्ष गये। तब उसने कहा कि 'कहो प्रह्लाद—हथियोंमें, सर्पोंसे, पर्वतोंसे और अधि आदिसे मुमदारी किसने रक्षा की—वहि तुम क्ष्वो कि—'सर्वध्यापी भगवान्नै।' तो यह वह इस जन्मेमें भी है? प्रह्लादने उत्तर दिया कि—'हाँ आवश्य है।' तब हिरण्यकशिषुने कोष करके अतिवेगसे उस अन्नपेर एक मुकु भारा। प्रेसा करते ही भक्तभवहारी भगवान्नने नृमिहावतर धारण करके गर्जन करते हुए जन्मेमें निकलकर दर्शन दिये और तत्काल हिरण्यकशिषुको भारकर प्रह्लादको अभ्यवदान दिया।

(५) वामनावतार

प्रह्लादके पोते विष्णुने इन्द्रादिसे परास्त करके इन्द्रासन लेनेका प्रयत्न किया था। यह देखकर देवमाता अस्तित्वके प्राप्तंशु करनेपर भगवान्नने उसके गर्भमें बल्यज्ञ होकर इन्द्रादिको स्वर्ग विभानेकी भवित्वा की। तदनुसार उन्होंने बामन-रूप धारण किया। यह सही है कि मांगनेसे अनुष्टुप्त छोटा हो जाता है। इस विचारमें भगवान् यहाँ ही बाबन अंगुक्षके बाबने बन गये।

विष्णुवाने उसमें बहुत कुछ मांगनेको कहा, किन्तु उन्होंने केवल तीन पैंड भूमि मांगी। विल उसके देनेको देयार हो गया। शुक्राचार्य जान गये कि ये भगवान् हैं। उन्होंने राजा को दाख देनेसे मने किया। परन्तु विल बाब्यवद था, उसने संकल्प कर दिया। बामन भगवान्नने पृथ्वीपर पैंड लगाये। पहले पैंडमें पृथ्वी और दूसरेमें आकाश नाप लिया। तीसरा पैंड आकी रह गया उस भूमयमें विलको बरचार छोड़कर पातालमें जाना पड़ा। भगवान् भी उसकी उदासासे मुग्ध होकर उसके द्वारपर द्वारपाल बन रहे।

(६) परशुरामावतार

अवधिके उब परशुराम रेखाके गर्भसे उत्पन्न हुए। उनके पाँच भाई और थे। एक विष अवधिमें जापने

पुत्रोंको किसी कारण रेणुकाके सिर काटनेको कहा। माताओं भारनेमें कोई भी पुत्र तैयार नहीं हुआ। अन्तमें उन्होंने परशुरामको कहा तब उसने तुरन्त अपने फरसाको उठाया और माताका मस्तक उड़ा दिया।

अवधिपि इस बातसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उनसे बर माँगनेको कहा। तब परशुरामने कहा कि 'मेरी माता जीवित हो लाय और इहाँ से इस कृत्यका स्मरण न रहे।' प्रेसा ही हुआ। परशुरामजीने मरोन्मत्त क्षत्रिय राजाओंका संहारकर पृथ्वीका भार उतारा।

(७) रामावतार

हृदाक्ष्या आ जानेपर भी दशरथके सम्मान न हुई, तब विश्वामित्रके अनुरोधसे उन्होंने 'पुत्रेष्टि' यज्ञ किया। उसके लिये अङ्ग-देशमें अस्त्वपश्च ग आये थे। यज्ञके यथावद् सम्पन्न हो जानेपर यशकुरवधमें एक पुरुष निकला। उसके हाथमें 'पशुवह' था। उसने वह दशरथको दिया। उस वस्त्रके प्रभावसे सीनों राजियोंके चार पुत्र हुए। उनमें बड़ी राजीनीत्यसाक्षरता रही थी। उनके आदर्श और विश्वाप्रद वरित्र बासीकीय रामायण भारिमें विस्तार से वर्णित है। वे मर्यादापुत्रतोत्तम थे।

(८) बलरामावतार

विषाहके बाद देवकीको कंस पहुँचाने गया तब मांगनेमें आकाशवाही हुई कि 'जिसको तूँ पहुँचाने जा रहा है इसका आठवाँ गर्भ तेरा बातक है।' यह सुन कंसने बसुदेव और देवकी द्वीर्णोंको कैवल्यानेमें डाढ़ दिया और अब-अब उसके गर्भसे बालक जन्मे तब-ही-तब वह उनको भारता रहा।

सातवें गर्भमें जो बचा आया उसको योगमात्राने बहाँसे हटाकर रोहिणीके गर्भमें रख दिया। उस समय रोहिणी बसुदेवके मित्र नम्भदावाके यहाँ थी। समय पाकर उस गर्भसे बबराम उत्पन्न हुए। उन्होंने बड़े-बड़े असुरोंका संहार किया और द्वितीय नामके बानरको भारा। अन्तमें उन्होंने अपने शरीरका योगमात्रसे त्याग कर दिया। और स्वज्ञाम बजार गये। तब समय उनके मुखसे फूजवाका एक महातर्प निष्ठा था और समुद्रमें प्रवेश कर गया था।

(९) वांद्रावतार

एक बार वैस्मैने देवराज इन्द्रसे पूछा कि किस कामके

करनेसे हमारा स्थिर राज्य रह सकता है। शुद्ध भावसे हमने उत्तर दिया कि तुम यज्ञ और वेदविहित आचार करो। तब दैत्योंने महायज्ञका आरम्भ किया यह देख देवताओंने विष्णुकी धारण की।

विष्णु संन्यासीका रूप धारण करके हाथमें एक पानी लेकर अपवित्र वेशासे यज्ञमें गये। इनको देखकर दैत्योंने परिचय प्राप्त किया। तब नवागतने उत्तर दिया कि—‘तुम जो यज्ञ कर रहे हो इसमें प्राणियोंका वध होता है। देखो जीवाहिसाके किये देख कितना सचिन्त रहता है। जब मैं चलता हूँ तो भूमिको बुहारीसे बहारकर पांच रखता हूँ।’

संन्यासीके उपदेशको सुनकर दैत्योंग भी ‘अहिंसा

परमो धर्मः’ मानते लगे। और उस नवागत संन्यासीने बौद्धरूपसे बैलोक्यका रक्षण किया।

(१०) कलिक-अवतार

भागवतादिमें किला है कि—कलियुगके अन्तमें अर्याकारोंसे प्रथेद्वित देवताओंके प्रार्थी होनेपर विष्णुयशका घर भगवान् कस्तिक प्रकट होते हैं। परम्पराम उनको वेद यदायेंगे। शिव शम्भासांका सम्बान सिखायेंगे। साथ ही एक घोड़ा और एक लड्ड देखे तब कस्तिक भगवान् सब पापियोंका बाल करेंगे।

आरथ रहे कि इस लेखमें देवताओंकी विस्तृत कथा किसी अंतमें नहीं आ सकी है। किन्तु कुछ अपरिचित और ज्ञातस्य जातीका ही समावेश किया गया है।

लोग ईश्वरको क्यों भूले जा रहे हैं?

(लेखक—कु० शीनिवासदामजी पोदार)



न सो चिन्नान हूँ और न शानी हूँ।
ऐसी जबस्थामें मेरा ईश्वरके विषयमें
चर्चा करना हायन्यास्पद हो सकता
है। इसलिये अपनी भूल-चूकके
लिये इसा चाहते हुए दयालु
पाठकोंसे निवेदन कर देना चाहता
हूँ कि वे इस लेखके दोषोंपर ध्यान
न देते हुए हृष्या इसमें यदि कुछ उपयोगी बात आ गयी
हो तो उन्नीपर विचार करेंगे।

सम्युगु, व्रेता तथा द्वापरयुगमें इस मूलषरह अनेकों
राक्षस तथा आतंत्रायी पुरुष उत्पन्न हुए, जिनके द्वारा
नाना प्रकारके पापोंका संसारमें आविर्भाव हुआ। नास्तिक-
वादके आविरचारक भी ये ही थे; परन्तु यथापि उन
मुरोंमें इस राक्षसोंके अन्याचारामें सम्मल जगत्में हाइकार
मच गया था और उनके भयमें लोग ईश्वरका नाम-
तक लेनेसे छरते थे तथापि अनसमुदायके हृष्यमें ईश्वरीय
सत्ताके विषयमें इह विश्वास तथा अट्ट प्रेम था। परन्तु
कलिमें यथापि वैसे राक्षस साक्षात् नहीं दीखते तथापि
जनताकी मनोवृत्तिमें ईश्वरीय सत्ताका अभाव देखकर
आश्रय होता है। तथा यह जाननेकी बड़ी उस्तुकता
होती है कि ‘लोग ईश्वरको क्यों भूले जा रहे हैं?’

बास असल यह है कि इस कलिमें भी पाप-प्रहृतिको
प्रोत्साहन देनेवाला तथा नास्तिकताका प्रबाध प्रचार करने-
वाला एक जड़ राक्षस आविष्ट हुआ है। पुराने समयके
राक्षस देवताओं तथा कथि मुनियों एवं ब्राह्मणोंके धर्म-कर्म
करनेमें नाना प्रकारके विष्णुउपस्थित करते थे और कभी-
कभी तो वे इनके जानके गाइक हो जाते थे, परन्तु यह
कलिका राक्षस जड़ होनेपर भी इतना बड़ा भयानक
नीतिज्ञ है कि इसने जनताकी रुचिको ही धर्म-कर्मकी ओरसे
मोड़ लिया है, तथा अब इसके मनुष्यस्वको ही निर्मुक
नाश करना चाहता है।

कलिकालका यह महाराष्ट्र शक्तियन्त्र (Power-machine) है। यह बड़ा ही बलवान् और
भयंकर है, इसकी समस्त चंद्राण् मानव-जातिके
अन्निवारको मिटानेके लिये ही हो रही है।
मनुष्यमें मानवोचित गुणोंका यह धीरे-धीरे लोप करता
जा रहा है। इसने ईश्वरीय सत्ताके विरुद्ध ऐसा प्रबल
विद्रोह बढ़ा कर दिया है कि बहुतसे देवतोंमें नास्तिकताका
साम्राज्य प्रतिष्ठित हो रहा है। देखनेमें सो यह मनुष्यके
लिये बड़ा ही उपकारी तथा आङ्गाकारी प्रसीत होता है
परन्तु योद्धा-मा विचार करते ही इसका असकी व्यरुप
समझमें आ जाता है। बस्तुतः यह हमारा महाव् गुण

शत्रु है और हमारे बीचमें रहकर अपने नाशकारी प्रयत्नों-द्वारा हमें प्रतिदिन नायुसक, निकम्मा और ईश्वरपराक्रमुक बनाता जा रहा है !

भगवान् मनु लिखते हैं कि मांसभक्षण, मदिरापान और मैथुनमें मनुष्यकी प्रहृति स्वास्थ्यविक होती है, परन्तु निहृति मनुष्यको महसूल प्रदान करनेवाली होती है। इसलिये सांसारिक विषयोंसे निहृत रहकर ही मनुष्य महाफलही चैतन्य अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। औरासी लाल योगियोंमें एक मानव-योगिको छांककर शेष समस्य प्रकृतिके अधीन रहनेके कारण निहृतिके लिये यह करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। मनुष्य भी यदि प्रहृति-मार्गमें ही जगा रहा तब तो बेचारा जीव सदा आवागमनके चक्रमें घूमता हुआ दुःख ही पाता रहेगा और कभी शान्ति न पा सकेगा।

परन्तु हम भारताक्षम शक्तियन्त्र (Power-machine) का आविभाव तो इसलिये हुआ है कि सोग सदा प्रवृत्तिमें हो फैसे रहें। यह केवल विलासिताकी सामग्रियां तैयार करता है और वह भी हातने अधिक परिमाणमें कि यदि मनुष्य उन्हें कितना ही अधिक उपयोग-में लाए, भगदार खाली नहीं हो सकता। शक्तियन्त्र अधिकाविक विलास-सामग्री तैयार करनेके लिये आगे बढ़ रहा है, इसके लिये दिन-पर-दिन नये-नये आविष्कार होते जा रहे हैं और मानव-जाति अधिकाधिक इसकी ओर आकर्षित होती जा रही है।

अच्छा, अब हम नाशकारी यन्त्रके प्रयत्नोंको देखिये। सबने पहले इसने मनुष्य-जानिको दो हिम्मोंमें बाँटा—पूँजीपति और मज़्जूर। इनमें पूँजीपतियोंके पास आवश्यकतामें अधिक धन मध्यम हो गया और वे विलासिताके उपारी बन मार्टों और बायुयानोंद्वारा संसारकी इका खाने छों। दूसरे बड़े बेचारे मज़्जूर, जो उम्हीकी भिलोंमें दिन-रात काम करके भी भरपेट अच्छ सानेके लिये नहीं पाते। पहले परिश्रमी मनुष्यगाँवोंमें काम करके सुखमें अपनी जीविका खालते थे, आज हम राक्षस-यन्त्रने उन्हें निकम्मा बनाकर दाने-दानेके लिये मुहताज कर दिया है। दिन-रात पेटको फिल्हामें लगे रहनेके कारण हूनको धर्म या ईश्वरसे कुछ सरोकार ही नहीं रह गया है। पूँजीपति नित-नये कारखानोंकी अवस्था करने, अधिकाधिक माल तैयार कराकर बाहर भेजनेके ही

पचड़ेमें लगे हुए हैं, उन्हें भी कहाँ फुरसत कि धर्म या ईश्वरके विषयमें कुछ सोचें। धनकी लिप्सामें उम्हात हो वे नये-नये आविकारोंके सफल करनेमें ही सानव-जीवनकी सफलता समझें चाहें हैं। विद्वानोंको भी इस राक्षस-यन्त्रने नहीं छोड़ा है, वे भी परमारम्भ-विषयक लघ्योंकी चर्चा तथा धर्म-प्रचार को छोड़कर शक्तियन्त्रकी उपयोगिता तथा भौतिक पदार्थोंकी उत्तिके प्रोत्साहनमें ही अपने जीवनको बदला अपना कर्तव्य समझते हैं।

पहले तो इसका प्रभाव शहरोंमें ही था पर अब वह संकामक रोगकी तरह धीरे-धीरे देहातके रहनेवालोंको भी अपने उम्रक-दम्रकसे आकर्षित कर रहा है। जो बेचारे अपना जीवन साधगी और पवित्रतामें व्यतीत करते थे वे भी अब इसके चक्रमें फँस गाँवोंको छोड़ कुण्ड-काशुण्ड बांधकर शहरोंमें आ रहे हैं। नगरोंकी जन-संस्था अब आदेके समान बढ़ रही है। उनके लिये बड़े-बड़े मकान बन रहे हैं जिनमें वे कद्दूतरक्षणेके समान ढूँसे जा रहे हैं। देहातोंकी खुली इवामें रहनेवाले शहरोंकी गन्दगीमें आकर, और वह भी एक जगह रहकर अपने स्वास्थ्यमें भी हाय खो रहे हैं।

जलकी गाया भी बड़ी ही भयानक और दुःखद है। कूप, तालाब और नदियोंका ताजा जल जो मिट्टी, इवा और सूर्यकी गर्मीमें शुद्ध होकर इमें मिलता था, वह आज लोहेकी टिक्कियां तथा लोहेके नलोंमें बन्द करके इमें पीनेके लिये मिलता है। इसमें हमारा स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है और हम दिन-प्रति-दिन कमज़ोर होते जा रहे हैं।

इसप्रकार इस शक्तियन्त्र (Power-machine) ने हमारे लिये दूषित पदार्थों तथा दूषित वातावरणको उपस्थितकर हमारे स्वास्थ्य और साविकताको नष्टप्राप्त कर दिया है। जिससे इस ईश्वरको दैँड़ता तो दूर रहे दिन-प्रति-दिन सांसारिक पदार्थोंके अजन्ममें ही शक्तिकी तलाश करते हुए उत्तरोत्तर विनाशकी ओर बढ़े चउं जा रहे हैं। इस यन्त्रने हमारे सामने धनकी महसूसको उत्तम बढ़ा दिया है कि इस धन जुटानेमें ही व्यस्त रहते हैं। धनके हारा उच्च-से-उच्च विलासितामय जीवन व्यतीत करनेके लिये इमारी पाश्विक वृत्तियाँ ड्याकुल रहती हैं। इस इतना भी नहीं विश्वासकरते कि सांसारिक सुख वाले वह कितना ही बद्दा ब्यां न हो, इमें शान्ति और सुख न वे सकेगा, विज्ञानियोंकी ओर हम जितना ही बढ़ते

आयोगे उतनी ही इमारी तृष्णा बदली जायगी और उतना ही आधिक इस व्याकुल और दुखी होंगे। सुखपद सो केवल एक ही ईश्वर है जो अनन्त है जिसमें सारी कामनाएँ लीन हो जाती हैं। परन्तु इस ईश्वरको भूल गवे हैं, ज्योंकि इस शक्तिपन्थरूपी महाराजासने हमारे ईश्विकोणको बदलकर विलासितामय बना दिया है। यही प्रधान कारण है कि संसारमें नात्तिकता बढ़ रही है और वह विनाशके गतिमें गिरता जा रहा है। समस्त अन्योंका प्रधान कारण यही शक्तिपन्थ है। इसकी काली करतूतोंसे महारे एवंज अच्छी तरह परिचित थे, तभी तो मनु महाराजने यन्त्रोंमें काम लेनेका निवेद किया है। चीन-देशके लियोटू-नामक महापुरुषने, जो चीनके तीन बड़े धर्मोंमें एक धर्मके प्रबन्धक थे, भी मन्त्रीमन्त्रे काम लेनेकी स्पृह शब्दोंमें मनाई की थी, इंगलैंड-देशके अगाध परिषद्वाकांक्षाने भी अशीर्णोंको दपेशाकी ईश्विसे देखा था।

उपर्युक्त विवेचनमें यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शक्तिपन्थके द्वारा मनुष्य भोगमें अस्त्यन्त प्रवृत्त होकर ईश्वरकी सत्ताको भूल गया है। जिसमें वह विलासिताकी ओर बढ़ता हुआ दिन-पर-दिन कमज़ोर होता तुःस-ही-तुःस भोग रहा है। अतः अब यह आवश्यक हो जाता है कि इस इन सब बातोंपर विचारकर इसमें बचनेका उपाय सोचें। यह रावणादिके समान जीवप्राणी राज्यस तो है नहीं कि इसके नाशके लिये महान् अङ्ग-शस्त्रकी योजना करनी पड़े। इसका तो सारा हारोमदार हमारी मनोहृतियों-पर है, बदि इमारी मनोहृतियाँ ठीक रास्तेपर आ जायें तो इस महाराजामन्त्रे के नह फैलनेमें देर न लगेगी। मनो-हृतियोंके ठीक करनेके लिये हमें बाह्यरूपमें तो विलासिताका स्वागतकर हाथकी कारीगरियोंको उत्तेजन देना होगा और साथ ही अपनी आनन्दित शक्तिको भी आगृह करना पड़ेगा। परन्तु इसके लिये हमारे पास साधन क्या है? कलिकालमें यह, पूजन आदि कार्योंका विविध दो सकना समझ नहीं जान पड़ता, ज्योंकि इसके लिये चतुर्दिंक शुद्ध वातावरण तथा पवित्र वस्तुओंका अभाव-सा दीख पड़ता है। परन्तु हमारे एवंज महर्षि क्रिकालज्ञ होनेके कारण कलिके दोरोंको पूर्णतया जानते थे और इसीकिये उन्होंने एक न्यरये कहा था कि—

‘हरेनाम हरेनाम हरेनामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्रेव नास्त्रेव नास्त्रेव गतिरन्यथा ॥’

तथा—

‘कलौ केशवकीर्तनम् ।

अयोत्त कलियुगामें केवल भगवान्नाम-जपमें सब अन्यों-का नाश होकर मानव-समाजका कल्याण हो सकता है। इसीलिये पतितपावन परम ब्रह्म परभास्माने स्वयं भगवान् अङ्गृष्टाचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतार लेकर कलिमें परमपद-साधनरूप कीर्तन-विधिका उपदेश किया है। भगवान् ने श्रीकीर्त्यानन्दप्रभुको विवाहकर गृहस्थ होनेकी आशा ही, तथा गृहस्थाप्रभमें रहते हुए ही भगवान्नामका प्रकार करनेके लिये उनको उपदेश दिया, जिसमें गृहस्थों-को भी कीर्तन करनेमें किसी प्रकारका संशय न हो। महाप्रभुने स्वयं भी एक जागृ बैठकर कीर्तन नहीं किया बल्कि उन्होंने कीर्तनको अप्निगत न रखकर उमे सार्वजनिक रूप दिया, तथा दृष्टित बातावरणको दूर कर जीवमात्रके कल्याणका सार्व भूल दिया। यही कारण था कि उन्होंने गाँव-गाँव और गली-गली घृम-घृमकर कीर्तनके रहस्यकी शिला लोगोंको दी। उन्होंने कीर्तनमें किसी सामाजीविशेषपर जार न ढालकर बहाँनक हो भगवचित्तमन्तर्में मन छागकर भगवान्नाम और गुणोंका कीर्तन करना ही बताया।

कैसा सुगम साधन है! इमें संयारके सब धर्मवाले अपना सकते हैं। ज्योंकि ईश्वरको माननेवाले सभी धर्मों-के लोग उनके नामकी प्रार्थना तथा गुणानुबादको परम पवित्र करत्यन्त मानते हैं। अतः सभी नर-नारी एक साथ बैठकर इस लोकावय जीवनमें प्राण पानेके लिये करण्यान्वयमें भगवान्नको प्रार्थना करें। कीर्तन करनेकाली मण्डिरिणी घृम-घृमकर शुद्ध प्रेममावयमें लोगोंमें भगवान्नाम-संकीर्तनके महाप्रभको बनावावें। यदि इस इसप्रकार समिक्षित प्रार्थना करेंगे तो हमारे सब आनन्दाद्वारा सुनकर भगवान्नका आसन अवश्य ढोक उठेगा और तब वह एतिशयावद भगवान्नस्वरूप हमारा अवश्य ही प्राण करेंगे और कलिके कल्याणमें इमारी रक्षाकर इसै उस मानव-समाज शाश्वत सुख और परम शान्ति प्राप्त कर सकेंगा।



ईश्वरके अटल विश्वासी भक्त

(प्र०—पं० बानन्दकिशोरजी शुक्ल वाणीभूषण)

(१)



दलीको स्वतन्त्र बनानेवाला और नवयुवकोंका अग्रणी नेता गेरीबाली हतना बढ़ा नामी पुरुष क्यों हुआ ? इस योग्यताका कारण उसकी माता-का ईश्वर-प्रेम है । वह बड़ी ही ईश्वर-परायणा साध्वी नारी भी और गेरीबालीका चरित्र सुधारनेमें उसीका पूरा हाथ था । गेरीबाली आप्यवरित पुलकमें लिखना है कि मुझमें असाधारण साहस देखकर जनता विस्मित होती है और मंग्राममें मेरे पास किसी देवी-शक्तिके होनेका अव्युभान करती है । इस साहस और शृंताका मूल कारण तो ईश्वरीय बलके ऊपर मेरे अठड़ विश्वासका होना ही है । मेरा हर विश्वास है कि जबलक सतीत्वकी अवतार देवीतुल्य मेरी माता, मेरे प्राच्य-रक्षार्थ परमेश्वरकी भाराभासमें मझे रहेगी, तबलक मुझे अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये बड़ा भी शङ्का नहीं । मैं ईश्वरके भरोमें निश्चिन्म हूँ ।

परिणाम यह हुआ कि, गेरीबालीके कानोंके पासमें युद्धसंग्रहमें समस्तानी हुई गोक्षियाँ चलने लगीं और तोपोंके गोले पूट-फूटकर अग्नि बरसाने लगे । उस समय इस दीरेको यही जान पड़ता था कि मेरी माता मानो घुटने टेककर जगवियन्ता ईश्वरके निकट अपने पुत्रके प्राण बचानेके लिये प्रबल प्रार्थना कर रही है ।

(२)

एक मनुष्यने किसी फकीरमें सीन सबाल किये—
(१) 'ईश्वरकी मता सर्वत्र है' ऐसा प्रत्येक जन कहता है, परम्परा मैं उसे क्यों नहीं देख सकता ! वह कहाँ है मुझे बताइये । (२) मनुष्यको उसके पापसे सज्जा किसकिये होती है ? क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है, प्रभुकी प्रेरणासे ही तो करता है । (३) ईश्वर शैतान-को नरकाशिमें डालकर सज्जा देता है, ऐसा भी क्यों होता है ? क्योंकि जैतान आप ही अस्तित्व है, तो किस अग्निकी अग्निके ऊपर क्या चलेगी ?

गम्भीरतासे इन प्रश्नोंको सुनकर फकीरने जमीनसे एक ढेला उड़ाया और तामकर प्रश्नकर्ताके लिये पर दे मारा ।

वह चोट जाकर होता-चिल्हाता काजीके पास पहुँचा, और उसने लालिश कर दी । काजीने फकीरको बुलाकर जबाब तालब किया कि बतलाओ तुमने हम आदमीको पत्थरमें क्यों मारा ? फकीरने बेधड़क उत्तर दिया कि मैंने हमके तीन प्रश्नोंका यह उत्तर दिया है । यह बतलावें कि सिरपर चोट लगानेसे जो दुःख हुआ है, उसका रूप कैसा है और वह इसे क्यों नहीं दीख पड़ता ? पीछे हम इसे ईश्वर बतला देंगे । (अर्थात् ईश्वर आन्तरिक अनुभवदारा देखा जाता है) दूसरा उत्तर यह कि, हमने जो कुछ किया सो एकमात्र ईश्वरकी प्रेरणामें किया है, किर ईश्वरकृत अपराधपर हमें सजा क्यों ? यह आदमी हमारा कसूर क्यों मानता है ? इसका शरीर मिट्ठी-का बना है, तो किर मिट्ठीकी मिट्ठीके ऊपर क्या बल सकती है ? फकीरने इसप्रकार उत्तर पाकर सबको बड़ा आश्रम हुआ । काजी साहब भी खुश हो गये ।

(३)

तिहवल्लुवारका दूसरा नाम मुनिवाहन था । ईश्वरी सन् १००में वक्षिणा भारतके एक चाण्डालके घरमें जन्म हुआ था । वह सङ्गोत्विद्यामें निपुण ईश्वरका परम भक्त था । भजन गाता-गाता बहुधा वह प्रेममम्ब हो ग्राह-ज्ञान-शृंख्य हो पड़ता था । सुप्रसिद्ध कावेरी तीर्थ श्रीरङ्गमें एक दिन नदीके मार्गमें गाते-गाते मूर्छित हो पड़ा था । इसी समय श्रीरङ्गनाथजीका एक पुजारी ठाकुरजीकी पूजाके लिये कावेरी जल भरने आता था, चाण्डालद्वारा रासा लक्षा जानकर उसने क्षोधित हो उसे ऐसा मारा कि तिहवल्लु होशमें आ गया । वह खड़ा हो गया और रासा खुल गया । पुजारी पवित्रतासे जल भरकर मन्दिर पहुँचा तो देखा कि भीरससे दरबाजा बन्द है । तब तो इसने भगवान्की बड़ी स्मृति-प्रार्थनाकर क्षम माँगी कि 'हे प्रभो ! मुझसे जाने-अनजाने जो भी अपराध हुआ हो, वह माफ करो ।' मन्दिरसे आज्ञा सुन पड़ी कि—'यदि तू उस मेरे चाण्डाल भक्तको कन्धेपर बैठाकर, मन्दिरकी प्रदक्षिणा करे तो तुरन्त दरबाजा खुल जाय ।' मेवक बहुत शरमाया । किर अति पश्चात्पूर्वक भगवान्की आज्ञाका पालन करनेपर मन्दिरका द्वार खुल गया ।

(५)

एक ब्राह्मणके मनमें धनवान् बननेकी वही लालसा थी । एसदर्य वह व्यापार करता और साधु-संग भी करता था । पर किसी तरह भी काफी धन एकप्र न कर सका । किसी रोज़ खेवासे खुश होकर एक साधुने कहा कि बृन्दावनमें भीसनातन गोस्वामीजीके पास पारसमणि है, जिसका स्वर्ण होते ही छोहा सोना बन जाता है । लोभी ब्राह्मण दौड़ा हुआ गोस्वामीजीकी खेवामें पहुंचा और प्रार्थना कर कहने लगा कि आप मुझे पारसमणि दे दें, तो मैं आपकी दशासे देशमें सबसे बड़ा सेठ बन जाऊँ । गोस्वामीजी बोले, वह रास्के देरमें पही है, उठा ले जा । मेरे किसी कामकी नहीं । ब्राह्मण आश्र्वय-चकित हो गया । उसने हाथ बोढ़ पड़ा, ‘भगवन् ! या पारसमणिमें भी उदादा कीमती कोई पदार्थ आपके पास है कि जिसके कारण आपने ऐसी मणि बेपरवाहीसे फेंक रखली है ?’ गुरुजी बोले, ‘हाँ, मेरे पास एक ऐसी बहुत है, जिसके सामने संसारकी सारी बग्नुते असार हैं ।’ ब्राह्मणने जब उसके लिये ही आग्रह कर दिया, तो महात्माने धीरेमें उसके कानमें ‘हरिनाम’ का मन्त्र सुनाकर धमके लिये उपरेश कर दिया । राम-धन लेकर वह सानन्द घर गया, और उसने सम्मित धन भी दान कर दिया । ‘निर्धनके हरिनाम परम घब ।’

(५)

किसी भीका एक पुरुषने सका प्रेम हो गया था । वह उसके बिना संसारमें कुछ भी नहीं देखती थी, प्रियतमके विद्योगमें उसका ज्ञाना-पीजा और सोना सब कूद गया था । उसकी सुन्दर काषा सूखने लगी । इतनमें समाचार मिला, तो व्यारेमें मिलनेको दौड़ चली । मार्गमें अकबर बादशाहका पदाव पड़ा था, बादशाह अपने खेमके पास जाजिम बिछाकर नमाज़ पढ़ रहा था । प्रेम-मतवाली जी बादशाह या उसके आसनका कुछ भी क्षयाल न रखती हुई, जाजिम रौदरी उधरमें जा निकली । अकबरको झोख लो लूट लड़ा, पर नमाज़ पढ़ता था, जोत रोकना ही पड़ा । वह जी प्रियतमसे मिलकर उसके साथ हँसती हुई जब छौटी, तभ बादशाहने कहा ‘अरी पारिन ! तुम्हे इतना भी होश न रहा कि यह जाजिम है । यहाँपर नमाज़ पढ़ी जा रही है ।’ प्रेममग्न जीने निर्मयताके साथ हँसकर उसकर दिया, ‘बादशाह सज्जामळ ! मैं हो मनुष्यके प्रेममें

पागल थी, इससे आपको न देख सकी । परन्तु आपने मुझे किस तरह देखा और जाना ? हंशवरके प्रेमी और विशासी भक्त उस प्रसुके ज्यान-समय सर्वदा ही सम्मय रहते हैं । प्रेममें बेसुध रहते हैं । आप कुरान पढ़कर थक गये हैं, पर आपके दिलमें अभीतक ‘मालिक’ के प्रति सका प्रेम नहीं उत्पन्न हुआ । नहीं तो ज्यानके समय मुझे न देखते ।

नर-राची सूक्ष्मी नहीं तुम कस लख्या सुजान ?

पढ़ि कुरान दौरा भए नहीं रच्यो रहिमान ?

(६)

मक्क राजनारायण बसु बृद्धावस्थामें रोगके कारण राज-गृहीमें रहने थे । देशभक्त बाबू अधिनीकुमार दत्तके आप गुरु थे । रोगका समाचार पाकर अधिनी बाबू गुरुदर्शनार्थ पैरेंचे । तीन महीनोंमें बसु महाशय लकड़वेसे पैदित है, अधिनी बाबू गम्भीर उदासीन मुख हो कमरोंके अन्दर गये । प्रणाम करते ही बसु बाबू बहुत प्रसन्न हो सहंवं बोले, अधिनी ! आज्ञा आओ, बहुत दिन ही गये तुम नहीं भिले थे । ऐसा कहकर एक हाथपे ही आर्लिंगन किया । दूसरा हाथ लकड़ा मारनेमें बेकाम था । तत्प्रबान् बातचीत शुरू कर दी । शेरी, बायरन, वहंस्यं, हाफिज़, भगवत्तीता और उपनिषदोंके बाब्य, श्लोकपर स्लोक वही सुनीमें बोलने लगे । मानो दुखकी जरा भी परवा नहीं । मानन्द नान घरटे व्यतीत हो गये । अधिनी बाबूको इसमें कुछ आश्र्वय दुश्मा और दिग्गं द्वानेसे समय उन्होंने पूछा,—‘आप-की तपियत अस्ती नहीं, यह जानकर मैं तो उशास हो आपको देखने आशा था । परन्तु यहाँ आकर देखता हूँ कि आपके आवन्दका कुछ ठिकाना नहीं ! तीन बासमें आप बिनारपर पड़े हैं, तथापि क्या आपको दुःख नहीं होता ?’ राजनारायण बसुने उभार दिया, ‘अधिनी ! मैं आज बाबू ही गया हूँ । जिस भगवान्की कृपामें इतने लीबनमें कितने ही सुन्दर हरय देखे, अनेक सुन्दर स्थान देखे, बहुत-से मारालिक बनाव देखे और आवन्दका उपसोग किया, उसी प्रभुकी बृद्धानुसार क्या थोड़े दिन मैं इस रोगाव्यापर प्रमचतासे पड़ा-पड़ा भजन नहीं कर सकता !’ इसीका नाम है सका भगवत्येम ! सके भगवत्तक रोगज्ञमित देनाको भी देना नहीं समझते ।

(०)

प्रार्बन्दाहारा रोग मिटानेका प्रयोग पाकाल्य देशोंमें सम्प्रवि चलने लगा है, जबने यहीं साहस्रमें जह सकाहन

होती है। संकटके समय ईश्वरपर पूरा विश्वास रखकर, उसीके अरोसे रोगीको छोड़ने और आरोग्य काम करनेवाले अनेक मनुष्य हैं। सर धामस म्यूरकी भी परमामात्रके प्रति ऐसी ही अदृढ़ अदा थी। इनकी प्यारी छान्दी बहुत चीमार हो गयी। नामी-नामी ढाक्टर हार गये। सब उपाय कर दाके। परन्तु किसी प्रकार भी उसकी निद्राको रोक न सके। अवस्था दिनों दिन ज्ञानाव होती गयी। सरो-सम्बन्धी सब निराश हो गये। उग्रीका दुःख देखकर म्यूरका हृदय भर आया। वह अशरणके एकमात्र शरण भगवान्के शरण हो गया, जिसके अन्यासानुसार उपासना-गृहमें जाकर बुटने टेक अश्रु-र्षी नयन साज्जि प्रसुते प्रार्थना करने लगा,—‘हे सर्वशक्तिमान् दयालु पिता ! तेरे किंवद्युक्त भी असम्भव नहीं। तू मेरी उपासनासे प्रसन्न हो तो मुझपर इतनी कृपा कर। मेरी प्यारी बेटीको बचा दे। मेरी यह जल प्रार्थना स्वीकार कर !’ योकी देर बाद स्वयं होनेपर अन्तर्यामी प्रभुको कृपासे घृतके मनमें ऐसा विचार डाल कि अमुक उपाय भी अजग्मा देखना चाहिये। आशा है कि इस उपचारमें रोगीको अवस्था

आम होगा। तुरन्त ही उसने ढाक्टरोंको अपना अभिग्राह बना दिया। उन लोगोंने स्वीकार कर कहा, तुम्हारा विचार बहुत ठीक है। इस रोगपर यही उपचार सर्वास्तम, सर्वमान्य है, अभीतक इमलोगोंको इसकी सुध नहीं आयी थी, ऐसी विस्मृतिके लिये आश्रय है।

इस उपायसे रोग अग गया। कन्या मृत्युमुखसे बच गयी। पिता के शुद्ध धन्तःकरणकी अस्तरण प्रार्थनाने जादूका असर किया। इस उदाहरणद्वारा यह नहीं कहा जाता है कि रोगावस्थामें कोई अोषधि आदिन करें। उपचारोंके साथ-साथ रोगी और उनके सम्बन्धी लोग प्रसुकी शरण पकड़ उनका आशीर्वाद भी एकाग्रचित्त हो माँगना सीखें। यही हमारा उद्देश्य है। ऐसे समय जो शान्तिका बातावरण रूप होता है, वह रोगीको आराम करनेमें वही मदद करता है। ईश्वर अपने भक्तोंकी सहायता अवश्य करता है।

शरणागतदीनार्थपरित्राणपरायणे ।

सर्वस्यार्थिरं देवि नारायणि नमोऽसु ते ॥

(गुजराती भादरां दृष्टान्तमालासे)

ईश्वर और परमेश्वरका स्वरूप

सी महाद्वन्द्वका शुद्ध वस्तुके ऊपर जो एक गौरवपूर्ण प्रभाव होता है, उसे ऐस्यं कहते हैं। इस ऐस्यंसे जो युक्त हो, उसकी ईश्वर संक्षा है। संसारमें चेतन या अचेतन कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, जिसपर ईश्वरके ऐस्यंका प्रभाव न हो; किन्तु इसकी अनुमूलि दंतनाओंको ही होती है। महर्चीतन्य ईश्वरपर अद्वापूर्ण विश्वास करना शुद्धचैतन्य जीवोंका एक स्वरूपगत स्वभाव है। जड़-बदू जीवोंमें इस स्वभावका परिचय मनुष्य-जीवनमें ही विशेषरूपसे पाया जाता है। इसका कारण यह है कि जीवकी चेतनता जितनी बड़भावापूर्व होती, वह स्वभाव उतना ही संकृतित होगा। चेतनता जितनी जड़-भावसे मुक्त होती वह स्वभाव भी उतना ही विकसित होगा। समस्त प्राणियोंमें मनुष्य ही जड़-भावसे अधिक मुक्त है। जिन्हें ईश्वरसिंहोंकी जीववर विचार करतेवे वह जात अधिक

स्पष्ट हो जाती है। नितान्त वन्यजीवनमें लेकर अस्थन्त सम्य जीवनपर्यन्त मनुष्य-जीवनकी अनेक अवस्थाएँ हैं। इन सभीमें किसी-न-किसी रूपमें ईश्वर-विश्वास अवश्य पाया जाता है। वन्यजीवनके मनुष्य पशुओंके समान जीवन व्यतीत करते हुए भी अपने चेतनगत स्वभावके कारण बड़े-बड़े पर्वतोंको, नद-नदियोंको, बृक्षोंको एवं प्रकाशयुक्त सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि जड़ीय पिण्डोंको अपना दाता, पाता, नियन्ता, ईश्वर जानकर पूजते रहते हैं। जैसे-जैसे इनमें बड़ताका हास एवं चेतनताका प्रकाश होता जाता है, वैसे-हो-वैसे इनके ईश्वर-विश्वासरूप स्वभावका विकास होता रहता है। यही मनुष्य-जीवनकी उत्तरिका क्रम है।

कोई-कोई मनुष्य ऐसे भी पाये जाते हैं, जो ईश्वरपर विश्वास नहीं करते। यह उनके चेतनकी अस्वस्थ अवस्था है। वे लोग दुर्भाग्यवश जीवोंमें ही क्रमोद्धतिके पथसे पतित हो, कुसङ्ग और कुशिशाके हारा कुसंस्कारोंका पोषण करते हुए कुतर्की बनकर अविश्वासके गर्वमें गिर

जाते हैं। इससे इन्हींकी हानि होती है, ईश्वरकी कोई हानि नहीं होती। सर्व सर्वत्र और सर्वदा समान होता है। जिसप्रकार पाँच और पाँच वश होते हैं, वह बात सभी देशोंके लिए सर्वत्रा ल्लीकार करते आये हैं। पाँच और पाँच बीस होते हैं, इसे कोई भी लीकार नहीं करता। यदि कोई ऐसा कहे भी तो वह पागल माना जायगा। हसी प्रकार ईश्वर-विश्वास सभी मनुष्य सर्वत्र सर्वत्रामे करते आये हैं। ईश्वर-विश्वास न करना स्वाभाविक नहीं है। यह कोगोंने पीछेसे सोचा है।

कोई मनुष्य कितना भी विद्या, विज्ञान, कला, सम्यतासे सम्बन्ध क्यों न हो, यदि उसमें ईश्वर-विश्वास नहीं है तो उसका लीबन पशु-जीवनसे किसी प्रकार भी उत्तम नहीं है। बास्तविक मनुष्य-जीवनका परिचय ईश्वर-विश्वाससे ही मिलता है। ईश्वर-विश्वास करनेवालोंकी साधारणतः दो ग्रेडिंग्स हैं—‘एक क्लिप्ट ईश्वरवादी’, दूसरे यथार्थ ईश्वर-वादी। कलिप्ट ईश्वरवादी नीतिको ही सर्वप्रजान मानते हैं। समाज-सङ्गालनके लिये जो नियम बनाये जाते हैं, उसे नीति कहते हैं। ये कांग ईश्वर-विश्वासको हसी नीतिका एक विशेष अंगमात्र मानते हैं। इन छोगोंका कहना है कि ईश्वर-विश्वासके बिना नीति समर्थन नहीं होती। ईश्वर-विश्वास-शून्य मनुष्य कितना भी नीति-निष्पुण क्यों न हो, जब कभी उसकी ईन्द्रियाँ विद्य-भोगोंके लिये प्रबल्लपसे लाभाप्त हो उठती हैं, उस समय वह प्रत्यक्षभावसे नीतिविद्वाँ कार्य प्राप्त कर बैठता है। ईश्वर-विश्वासकी परोक्षमें भी अनाचारमें प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि ईश्वर परोक्षमें भी सब देखता रहता है। ये छोग यह भी कहते हैं कि यदि ईश्वर है तो उसके माननेवा लेके बहुत कुछ काम है और यदि नहीं है तो भी उसके माननेसे कोई हानि नहीं है। इसके विपरीत यदि कहीं ईश्वर हुआ तो न माननेवालोंकी बहुत बड़ी हानि है। अतएव मनुष्यके सांसारिक जीवनके लिये ईश्वर-विश्वास बहुत ही हितकर है। दूसरी ओर्डिके ईश्वरवादी ईश्वरके अस्तित्वको यथार्थस्पते स्त्रीकार करते हैं। इनका कहना है कि यदि ईश्वरको बास्तविक न माना जाय तो उसका ईश्वरत्व ही कुछ नहीं रहता है।

‘कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थः स्वतन्त्र ईश्वरः।

इस उक्तिके बहुसार सामर्थ्यवालका नाम ही ईश्वर है। उक्तिरूप ईश्वर नीति वा कर्मके वरतन्त्र रहता है।

उसका महस्त्र एक न्यायी शासक (मॉडिस्ट्रेट) से अधिक कुछ भी नहीं रहता। उसमें भगव-गुणका अभाव हो जाता है, जो कि उसकी ईश्वरताकी रक्षाके लिये अस्वभव आवश्यक है।

ईश्वर इस विश्व-व्याप्ताएँ जीव और जड़ दोनोंकी अस्तर्यामी होकर स्थिति और सम्बिल्पसे अवस्थिति करता है। सक्ता विद्यमन करता है। व्याप्ताएँ अनन्त हैं। ईश्वर प्रत्येक व्याप्ताएँ अपनी सृजन-शक्तिहारा व्याप्तपसे स्थिति, पांचव-शक्तिहारा विष्णुहृषपसे पालन एवं विद्य-शक्तिहारा लक्ष्मणपसे संहार करता है। ये सब कार्य कभी स्वयं करता है, कभी शक्ति-सकार कर अधिकारी जीवों-हारा करता है। उस समय जीव भी ईश्वर-नामसे अभिहित-होते हैं। यही कारण है कि ईश्वरके अनेक रूप कहे जाते हैं, जिन्हें एवं-सुनकर बहुत-में कोग अनेकवर-वादी या अवैद्य ईश्वरोपालक हो गये हैं।

परमेश्वर एक है। जिसका ऐश्वर्य परम अर्थोद सर्वोपरि है, उसे परमेश्वर कहते हैं। इसके ऐश्वर्यमें सबके ऐश्वर्यका परमवसान है। समल ईश्वर-नाम-जाती ईश्वरोंकी ईश्वरता इसीमें स्थिर है। यह ईश्वरोंका भी ईश्वर भवेश्वर है—देवताओंका भी परम देवता है। भूति भी कहसी है—

‘तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं तैवतानां परमं च देवतम्।’

ईश्वर और परमेश्वर कोई पृथक्-पृथक् नो परार्थ नहीं है, ये एक ही स्वरूपतत्वके दो भावमात्र हैं। सृष्ट पदार्थोंके प्रति प्रसारित ईश्वराका नाम ईश्वर है एवं केन्द्रीभूत ईश्वराका नाम परमेश्वर है। बास्तव वस्तु एकमात्र स्वरूप-तत्व ही है।

वस्तुमात्रका कुछ-न-कुछ एक स्वरूप अवश्य होता है, अतएव बास्तव वस्तुका भी एक स्वरूप है। अदीय वस्तु-का स्वरूप जड़मय होता है—जैतन्य वस्तुका स्वरूप जेतनमय होता है। बास्तव वस्तु जैतन्यमय है—जातः उसका स्वरूप भी युद्ध जेतनमय है—यही उसका आकार है। यह स्वरूप चर्म-चक्रधूमोंका विषय न होनेके कारण अनेक छोग इसके अस्तित्वमें भी सम्भेद करते हैं।

मनुष्यको जो एक अद्विवद-जृति प्राप्त है, उसीके इस व्यक्तिका अवश्य ही सकता है। यह अद्विवद-जृति हीन

प्रकारकी है—स्थूलदेहगत इन्द्रियजनन्य शास्त्र, सूहन-
वेदगत मनोज्ञवदोत्त परं आत्मगत चिह्नशनसामर्थ्य ।
इनमेंसे प्रथम दोनों प्राकृत हैं, इनमें स्वरूपका प्रत्यक्ष
होना असम्भव है । आत्मगत चिह्नशनसामर्थ्यसे ही
स्वरूपका साक्षात्कार होता है ।

श्रीकृष्ण ही स्वरूपतत्त्व है । यही ईश्वर और परमेश्वर
दोनोंके व्याप्रय हैं । ब्रह्मसंहितामें लिखा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सचिदानन्दविग्रहः ।

अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारणकारणः ॥

अर्थात्—सचिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर है—
गोविन्द स्वयं अतादि, सबके आदि परं समस्त कारणोंके
कारण हैं ।

श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें ही इस श्रीकृष्णस्वरूपके
सम्बन्धमें लिखा है—

‘वेदं वास्तवमत्र वसु शिवदं तापत्रयोन्मूकनम् ।’

अर्थात् यही सबका वेद है, यही वास्तव वसु है,
कल्पायदाता है परं तापत्रयका विनाशक है ।

कृष्णकिंकर बालकृष्ण

हरि-नाम

भावुक-हृदय-सीपके मोती । मानस-चिन्तामणि अभिराम !
दिव्य अर्थसे भरे हुए हे अनुपमेय सद्गुण-गण-धाम !
जगमें ब्रह्म-तत्त्वके प्रतिनिधि ! भक्तोंके सर्वस्त्र ललाम !
बसो निरन्तर रोम रोममें अविनश्वर बनकर हरि-नाम ॥१॥

जिहवा करे तुम्हारा ही जप, कान सुने वह मंजुल तान
आँखोंमें हो छटा तुम्हारी, मनमें रमे तुम्हारा ध्यान ।
शासो-प्रश्वासोंमें भी बस उठे तुम्हारा ही कल गान
तब जानू जब स्वेद-छिद्र तक वही सुनावे नाद महान ॥२॥

प्रेम-सुधा-तरुके मीठे फल ! भव-सागरके सुहड़ पोत !
सत्पथके पथिकोंके संबल ! सात्त्विक-शक्ति-सरितके सोत !
अभ्यन्तर-तमके शुचि साबुन ! भुक्ति-मुक्तिके वर आगार !

हुआ करे मेरी नस-नसमें सदा तुम्हारा शुभ सज्जार ॥३॥
मुझ निर्धनके तुम ही धन हो, निर्बलके बल हो विस्मयात
आश्रयहीन दीनके आश्रय, तुम्ही पतितपावन अवदात ।

जीवन-नोकाके केवट हो, चित्त-पङ्कके शुचि जलजात !
सदा तुम्हारे पक्षे रँगमें रँगा रहे मेरा मन तात ॥४॥

नाम-रूप है एक, नाममें देखूँगा मैं रूप ललाम
'हरि' के परदमें ही स्थित हैं श्रीहरि चिन्मय जोभा-धाम ।
हरि ईश्वर है, ईश्वर हरि है, वहीं जीवका वर विश्राम
जिहवे ! भज आनन्द-मरण हो मधुराक्षर श्रीश्रीहरि-नाम ॥५॥

बङ्कदेवप्रसाद मिश्र, एम० ए०, ए०-ए० वी०

ईश्वरके आस्तित्वकी सिद्धि

(लेखक—५० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, प्रिय मारवाडी संस्कृत-कालेज, काशी)

रमात्माके बनाये हुए इस जगतमें सभी प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-प्रमाणके अभीन हैं। इन प्रमाणोंके बिना सदसत् वस्तुओंका व्याख्यान न हो सकनेके कारण इष्टानिष्ठाके निण्य कलनेवाला ज्ञान नहीं हो सकता। और इष्टानिष्ठाके ज्ञान बिना वस्तुओंमें इच्छाद्वय (अपेक्षा तथा उपेक्षा) की उत्पत्ति न होनेमें संसार-मात्रा ही लुप्त हो जाती है। यदि अनुमानकी प्रमाणता न मानें तो दूसरे पुरुषमें सम्भवत (रहनेवाले) संशय, विपर्यय आदिका केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणद्वारा ज्ञान न हो सकनेके कारण परपक्षके बिना जाने ही उसके स्वरहनमें प्रवृत्ति होनेमें अपनी छौंकिता और परीक्षका नष्ट होती है। प्रमाणतामें स्वतोप्राप्ति होनेके कारण ज्ञानकी प्रमाणतामें संशय नहीं होता, अतः प्रमाणताकी शक्ता करनेवालेकी प्रवृत्ति आदि किन्तु सभी अनुमानकी प्रमाणता न माननेमें प्रत्यक्षकी ही प्रमाणता नष्ट हो जायगी। फिर धूमके देखनेमें अप्रिका ज्ञान, सुखकी प्रसक्तासे सुखका ज्ञान, सुखकी मनिततामें दुःखका ज्ञान, रोदन आविसे शोककी अधिकता हैमें जानी जा सकती है। अतः ऐन्द्रिय प्रत्यक्षके समान अनुमानकी भी प्रमाणता भवशय स्वीकार करनी चाहिये। इसी प्रकार आगम (शब्द-प्रमाण) की प्रमाणता न माननेमें बालकका अपने माता-पिताका निश्चय, वनके पशुओंमें व्याप्ति, गवय आदिके हिन्द-अहिन्द होनेका निश्चय, ओपियर्योंके इतकर-अहिन्दकर होनेका निश्चय, शंख और मृतु पुरुषके कपाल आदिकी पवित्रता और अपवित्रताका निश्चय किमप्रकार किया जा सकता है? अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमकी प्रमाणता किसीके द्वारा भी स्वरहन नहीं की जा सकती। इन ग्रिविध जागरूक प्रमाणोंके रहते हुए आज जो प्रमाण-शक्तिसे अनभिज्ञ, वेद-मृत्युनि-पुराण-इतिहास आदिका लेशमात्र भी ज्ञान न रखनेवाले, पाश्चात्य कुशिङ्गामे युक्त मनिषाले, शर्थ और काममात्रमें जीन रहनेवाले सुधारक-धूरीय पुरुष ईश्वरके अस्तित्वमें ही शक्ता करते हैं तथा बहुमतके द्वारा ईश्वरका अभावतक निश्चय कर दाखते हैं, उनके व्यामोह (ब्रह्म) को भिटानेके लिये ईश्वरका उपकरण कर कुछ लिखा जाता है।

अब 'ईश्वर नहीं है', ऐसा को कहा जाता है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाणके अभावमें, अथवा अनुमान-प्रमाणके अभावमें या ईश्वरके प्रतिपादन करनेवाले आगम-प्रमाणके अभावमें कहा जाता है? यदि प्रत्यक्ष-प्रमाणके अभावमें, तो वह बाद प्रत्यक्षभाव है या मानस प्रत्यक्षभाव? यदि बाद प्रत्यक्षका अभाव मानें तो वह ठीक है, क्योंकि ज्ञानुष प्रत्यक्षका उद्भूत रूप तथा स्पार्शन प्रत्यक्षका उद्भूत स्पर्श हेतु है और ईश्वरमें उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्शका अभाव है अतः ईश्वरका ज्ञानुष और स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होता। ग्राण-रसादि इन्द्रियों गत्वा और रसादि गुणोंका ग्रहण करती हैं और ईश्वर युण नहीं, बल्कि युणवान् द्रव्य है अतः गम्धरसादि गुणोंके अभावमें ईश्वरको प्रत्यक्ष करनेमें ग्राणादि इन्द्रियोंकी असमर्थताके कारण ईश्वर-ज्ञानमें अविरिन्द्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरे, यदि ईश्वरके अभित्वके न माननेमें मानस प्रत्यक्षके अभावको कारण ईश्वर-ज्ञानमें अविरिन्द्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तीसरे, यदि ईश्वरमें अभाव तो वह कैसे प्रभ उठता है कि 'वह अभाव अपने मानस प्रत्यक्षका अभाव है अथवा सबके मानस प्रत्यक्षका अभाव है?' अपने मानस प्रत्यक्षके अभावमें वस्तुमात्रका अभाव मानना किमी भी विद्वान् को स्वीकृत नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा होनेमें अपने ज्ञानके अतिरिक्त सम्म वस्तुओंके अभावका प्रमङ्ग आ जाता है। यदि सबके मानस प्रत्यक्षका अभाव ईश्वरस्तिवके न माननेका कारण है, तो यह कैसे निश्चय किया जा सकता है कि किमीको भी ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं हुआ। यदि कोई कहे कि तुमने यदि ईश्वरको प्रत्यक्ष किया है तो मुझे भी उसको दिखलाओ। उसमें कहा जा सकता है कि तुम अपने प्रत्यक्ष किये हुए सुख-दुःखादिको मुझे दिखलाओ। तो इसका उत्तर यही मिलेगा कि मनोवेद्य सुख-दुःखादि दूसरोंको नहीं दिखलाये जा सकते। उसी प्रकार यम-नियमादि अनेक प्रकारके उपायों तथा अनुष्ठानोंमें पवित्र किये हुए मनके द्वारा जाननेयोग्य ईश्वर भी किमीको दिखलाये नहीं जा सकते। यदि कोई कहे कि इस-प्रकारका ईश्वरप्रत्यक्ष अमिन्तमूलक है, इसमें अनुसिद्धि नहीं हो सकती; तो तुम्हारे सुख-दुःखादिके प्रत्यक्षको भी आनिष्ट-मूलक कहा जा सकता है और इसमें सुख-दुःख भी सिद्ध नहीं हो सकते। इसपर यदि कोई कहे कि सुख-दुःखादिकी

बेदना सबको होती है, तो उससे पछा जा सकता है कि किसके सुख-नुःखादिकी बेदना सबको होती है ? जैसे तुम और हम सभी अपने अपने सुख-नुःखादिको अपने-आप जानते हैं, उसी प्रकार विचित्र और अनुष्ठानके द्वारा जिसका मन हुदू हो गया है उसीके द्वारा ईश्वर जाना जा सकता है, दूसरों-के द्वारा नहीं, ऐसा कहा जा सकता है । यदि सुख-नुःखके विषयमें कोई यह शङ्का करे कि ईश्वर-प्रासिका सुख और अनुष्ट-प्रासिका दुःख जैसा चेत्र (पुरुषविरोध) को अनुभूत होता है वैसा ही सुखे भी अनुभूत होता है । इसका उत्तर यह है कि शम, दम, तितिक्षामें युक्त निदित्थासनशील चेत्र-को जिसप्रकार ईश्वरका अनुभव होता है उसी प्रकारमें सुखे भी अनुभव होता है, क्या इसमें भी कोई शङ्का है ? यदि ऐसा कहे कि अपने अनुभवके बिना इस दूसरोंकी प्रतीतिमात्रपर विश्वास नहीं करने, क्योंकि दूसरे दोषवश शङ्कोंकी भी पीला देखते हैं, वडे चन्द्रमाओंकी प्रादेश (तज्ज्ञी और अंगुठेके वीचकी दूरी) मात्र समझते हैं, शुक्ल (सीप) को भी रजतहृष्टमें प्रहण करते हैं : भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्मा (प्रवल्लाना) आदिके कारण वस्त्र-ओंको अन्यथा बतलाने हैं, अनः केवल दूसरोंकी प्रतीतिमात्रमें किसी वस्त्रकी घताका निर्णय नहीं किया जा सकता । परन्तु उपर्युक्त मनुष्योंमें जहाँ पितृ, दूरप्याता, भय, प्रमाद, विप्रलिप्मा आदि दोष होने हैं वहाँ भ्रम कहा जा सकता है । योगमाधव, अनुष्ठानादिमें चंडीकल्पस्थव वीतराग योगीमें लेशमात्र भी दोषकी सम्भावना नहीं होती । अतः उनके प्रत्यक्षके अप्रमाणिकी शङ्का करना अपने-आपको कलंकित करनेके लिये दुःखाहस करना है, वही तो उसकी अप्रमाणिता सिद्ध नहीं की जा सकती ।

यदि कोई शंका करे कि 'योगियोंमें दोषका अभाव भी कैसे निश्चय किया जा सकता है ?' इसका उत्तर यों है कि उनके अभक्ष्य, अपेय, दैत्यमें अनुराग, कुजीविका, कृताकिंकता, व्यग्रता, अभिसन्धि, पास्तराङ्का संसर्ग, प्रवल्लाना आदि दोषोंमें हीन होनेके कारण उनमें दोषभावका निश्चय किया जा सकता है । 'अपने मनके द्वारा दूसरोंकी आरम्भाका प्रत्यक्ष न हो जाय इसलिये अपने मानस प्रत्यक्षके लिये परामन्याकृत विजातीय मनःसंयोगको हेतु मानते हैं, किर ईश्वरका मानस प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?' और यदि इसको हेतु न मानें सो दूसरोंके भी सुख-नुःखादि अपने प्रत्यक्ष-गोचर हो जाते हैं, अतः ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञान

सिद्ध नहीं होता ।' इस शङ्काका उत्तर यह है कि ईश्वरमें आरम्भ-जाति नहीं है । क्योंकि आरम्भ-जाति सुख-नुःख-के समवायी-कारणके स्पष्टमें सिद्ध होती है और ईश्वरमें सुख-नुःखका अभाव है । अतः ईश्वरके अनित्यकी सिद्धिमें मानस प्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष-प्रमाण) का व्याघात नहीं होता ।

ईश्वरकी सिद्धिमें अनुमान-प्रमाणका भी अभाव नहीं है । अनुमान-ज्ञान पद्धतिति, सरपद्धतिति, विपद्धतिति, अद्वा-धित, अस्तप्रतिपक्षित नामक हेतुओंमें होता है । इनका स्वरूप कहीं स्वयमेव और कहीं प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमनहृष्ट पाँच अवयवोंद्वारा निर्धारित होता है । हमप्रकारके हेतुओंके ज्ञानमें निर्वाच साध्यकी प्रतीति देखी जाती है । जैसे भूम आदि हेतुओंमें पर्वतादिमें अस्ति-की प्रतीति होती है । ईश्वरके अनित्यकी सिद्धिमें, दृष्ट्यु-कादिमें निर्धारित पद्धरूपेषेत कार्यहृष्ट हेतु है । (जैसे, दृष्ट्युक सकृत्तक है—प्रतिज्ञा; क्योंकि यह कार्य है—हेतु; जो कार्य होता है वह सकृत्तक होता है, जैसे घट—उदाहरण: दृष्ट्युक भी कार्य है—उपनय; हमलिये वह सकृत्तक है—निगमन ।) हममें उन दृष्ट्युकोंके उपादानको प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान नहीं है और ऐसा कोई कर्ता नहीं दीख पदता जो उपादानको प्रत्यक्ष किये बिना कार्यका सम्बादन करे, एवं दृष्ट्युकोंका कार्यस्पष्टमें देखकर उनके उपादानको प्रत्यक्ष करनेवाले ज्ञान, चिकिर्षा और कृतिमें युक्त कर्ता अर्थात् ईश्वरकी निर्वाच प्रतीति होती है । अतः कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वरकी सिद्धि अनुमानद्वारा नहीं होती ।

इसपर यदि कोई शङ्का करे कि प्रथम न होनेके कारण 'दृष्ट्युक नहीं है, अतः वे कार्य भी नहीं हैं । हमप्रकार अनुमान-वाक्यमें पक्षासिद्धि और हेतुमें स्वरूपा-सिद्धि-दोष होते हैं ।' परन्तु सावयव द्रव्य वाद्येन्द्रियों-द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं । अतः 'प्रसरेणुका सावयव द्रव्यमें आरम्भ होता है, क्योंकि उसका वाद्य इन्द्रियोंमें प्रत्यक्ष होता है' इस न्यायमें दृष्ट्युक निरवयव नहीं सिद्ध होते हैं इसलिये पक्षासिद्धि-दोष नहीं आ सकता । दृष्ट्युकके सावयव होनेके कारण उसका कार्यव भी सिद्ध ही है अतः हेतुमें स्वरूपासिद्धि-दोष भी नहीं आता ।

दूसरी शङ्का यह होती है कि 'अकुर आदि काय हैं परन्तु वे सकृत्तक नहीं देखे जाते, अतः यहाँ विपच्च-भावकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये दृष्ट्युकादिका काय

हेतु पर्याप्त नहीं है।' उत्तर यह है कि विषय निश्चित-साध्याभाववान्को कहते हैं, न कि संविग्रह साध्यवान्को। परन्तु अद्वारादिमें सकृदकारका सन्देह होनेसे संविग्रह-साध्य उपस्थित होता है अतः विषयकी आपत्ति नहीं आती। वस्तिक इंद्रवादिमें ईश्वरके व्याप्त रहनेके कारण उनमें सकृदक सिद्ध होनेसे विषयाभावकी प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार ईश्वरादिका कार्यत्व-हेतु सिद्ध हो जाता है। और यदि संविग्रह-साध्यकी विषय मानें तो पर्याप्तमें अभिका सन्देह होनेसे भूमध्य देतुमें भी विषयास्त्वका अभाव हो जायगा, जिससे अनुमानमात्रके उच्छेषकी आपत्ति आती है।

यदि यह शंका उठायी जाय कि 'ईश्वरुक कर्तृजन्म नहीं है, क्योंकि उनमें शरीराजन्मात्म है' इस तर्कसे साप्रतिपक्षका प्रमङ्ग आता है। परन्तु शरीर-विशेषण-वर्तित होनेके कारण यह हेतु उपयुक्त नहीं। वस्तिक असप्रकार पर्याप्तमें अभिकी सिद्धि करनेके लिये नीलधूमरूप हेतु व्याप्त्यासिद्धि-दोषमें युक्त होता है, उसी प्रकार इस हेतुमें भी व्याप्त्यासिद्धि-दोष है; और शरीर-विशेषणका उपादान म रहनेपर हेतुमें स्वस्प्यासिद्धि-दोषकी आपत्ति होती है। इसलिये सकृदक-कर्त्त्व-साधक उपयुक्त हेतुमें सप्रतिपक्ष-दोष नहीं आ सकता।

वाचकान्तरसे भी इस हेतुका बाब नहीं होता। 'अभिक शीतल है क्योंकि वह जलके समान ही हृतक (कृत्रिम) है,' 'शरुके समान प्राणीका अंग होनेके कारण नरशिरका कपाल पवित्र है' इश्वादि अनुमान-वाक्योंमें 'अभिकी शीतलता और कपालकी पवित्रता' के बाबक प्राप्यक्ष और व्याप्त्य-प्रमाण भिलने हैं परन्तु अद्वारादिकोंके एकत्र-कर्त्त्वके बाबक प्रत्यक्ष या आगम-प्रमाण कहीं नहीं भिलते।

यदि कोई शहा करे कि 'अद्वारादिके कलांकी उपलब्धिसे न होनेके कारण उपयुक्त हेतुमें साध्याभाव क्यों न विश्वय किया जाय?' तो इसका उत्तर यह है कि योग्य अनुपलब्धिसे ही अभावका ग्रहण किया जाता है, यदि ऐसा न होता तो गुरुत्व और संस्कारादिकों उपलब्धिसे होनेके कारण उनका भी अभाव हो जाता, परन्तु ऐसी वास नहीं है अतः साध्याभावका प्रसङ्ग लाभ अनुपलब्ध है।

अब यह प्रश्न उठता है कि ईश्वरके शरीर है वा नहीं? यदि है तो इस्त्र है या अस्त्र? परन्तु विचाराद्वा-

र्ग देनेके कारण ईश्वर नहीं माना जा सकता। अद्वय शरीर भाननेपर भी उसके अवयवी होनेके कारण घनीभूत पाशाणके भीतर रहनेवाले मैत्रक आदिके शरीरमें कार्य करनेके सिये अपनेके छिस-भिज किये दिना प्रवेश करना सम्भव न होनेके कारण ईश्वरमें कर्तृत्वका अभाव आता है अतः अद्वय शरीर भी मानना ठीक नहीं। उस शरीरको निष्पत्ति परमाणुरूप भी नहीं मान सकते, क्योंकि अन्तराल म रहनेके कारण उसमें मनका अभाव हो जायगा जिससे इन्द्रियोंका आप्रवायत्व ही सिद्ध न हो सकेगा। और 'वेणुनिद्रायांश्चयः शरीरम्'हम मानमें वेणु और इन्द्रियोंका आप्रवाय न होनेमें शरीरस्वका ही अभाव हो जायगा।

ईश्वरका शरीरभाव हो जानेपर यह अनुमान होता है कि 'घटादिके समान ईश्वर कर्ता नहीं है, क्योंकि वह अशारीरी है' इसप्रकार अकर्तृत्व सिद्ध हो जानेपर ईश्वरके अस्तित्वका ही अपलाप हो जाता है। परन्तु यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि अभाव-ज्ञानका कारण अधिकरण-ज्ञान होता है। ईश्वरामक अधिकरण-ज्ञानके अभावमें उसमें अशरीरित्वका ज्ञान न हो सकनेके कारण उनका कर्तृत्व-व्याप्त भिल्दा नहीं हो सकता। तथा अधिकरणके ज्ञानमें हम अनुमानटारा कर्तृत्वरूप धर्मिश्वाहक-प्रमाणका ही बाप हो जाता है।

कठोंडो शरीरी होना ही चाहिये, यह स्पासि भी विषयाभावक नक्के न होनेमें दुर्बल है, अतः वह कर्ता और कार्यमें कार्य-कारण-भावके अनुमन्दामात्रमें प्रबल तर्क-रूप कर्तृत्व-कर्तृत्वकी व्याप्तिका विचार नहीं कर सकती। अब यह शहा होती है कि सब अशारीरीमें कर्तृत्व कैसे वा मिलता है? क्योंकि सभी कर्ता कारक-स्वरूपका अवधारण (निष्पत्ति) करते हैं तब इश्वर करते हैं कि हम अनुपकार्य करें। तत्प्राप्त प्रयत्न करते हैं, तब शरीरको स्वापारमें लगाने हैं, एवात् कार्योंको एकत्रकर कार्य करते हैं। कर्ता अवधारण (निष्पत्ति), इच्छा, प्रयत्न, शरीर-स्वापार आदिके दिना कार्य नहीं करता है, इसप्रकार अस्त्र-व्यतिरेकसे तुदिके समान शरीर भी कार्यकी उपलब्धिमें कारण है अतः उसे इश्वर नहीं ज्ञान सकता है। शरीरका परिस्याग करनेपर तुदिका भी परिस्याग करना होगा। क्योंकि यदि शरीरके दिना ही अपने विशेष प्रमाणके कारण ईश्वर कार्य कर सकते हैं तो वह तुदिके दिना भी कर सकते हैं।

इस शङ्खापर यह आवेद होता है कि 'वया शरीरित्व ही कर्तृत्व है अथवा परिष्टामर्थकारकप्रयोक्तृत्व ?' यदि शरीरित्वको कर्तृत्व मानें तो सुधुस और डवासीन पुरुषके कर्तृत्वका प्रसङ्ग आ जाता है, अतः कोई शरीरी होनेसे ही कर्ता नहीं हो सकता । परिष्टामर्थकारक-प्रयोक्तृत्व तो अशारीरीमें भी सम्भव है । जैसे आत्माके हारा प्रतित हो अपना शरीर कार्य करता है, और इस शरीरके प्रेरणालूपी कार्यमें आमा दूसरे शरीरकी अपेक्षा नहीं करता, तथा न स्वशरीरकी ही अपेक्षा करता है क्योंकि ऐसा करनेसे आत्मामें क्रिया-विरोध उत्पन्न होता है ।

अब प्रभ यह होता है कि शरीर न रहनेपर ईश्वरमें किसप्रकार ज्ञान, इच्छा और क्रिया होती हैं । क्योंकि ज्ञानादिकी उत्पत्ति शरीरके बिना नहीं होती । इसका उत्तर यह है कि जहाँ ज्ञान, इच्छा और क्रिया आगमनकु तथा विनाशस्वभावयाली हैं वहाँ ही शरीरकी अपेक्षा होती है, जहाँ ये स्वतःसिद्ध हैं वहाँ शरीरकी अपेक्षा नहीं होती । अतः ईश्वरके शरीरी होनेका प्रमङ्ग नहीं आता । और न ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नको निरूप्तामें कोई विरोध आता है । क्योंकि रूप आदि गुणोंकी आश्रय-भेद (परमाणु और कार्यरूप) से निष्ठ और अनिष्ठ दो गतियाँ देखी जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानादिकी भी दो गतियाँ—निया-निष्ठ हो सकती हैं, इसमें विरोध ही क्या है ? इसप्रकार कार्यविशेषसे सिद्ध कर्तृत्वशेषकी सर्वज्ञता सिद्ध होनेके कारण कोई विरोध शङ्ख नहीं रह जाती । सर्वज्ञताके कारण उसमें मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता, मिथ्याज्ञानके अभावमें रागद्रवका अभाव और रागद्रवपके अभावमें क्रमशः प्रवृत्ति, धर्माधर्म, सुख-दुःखका भी अभाव होता है । तथा सर्वका ही अनुभव होनेके कारण उसमें स्वृति और संस्कार भी नहीं होते हैं, इसप्रकार संख्या, परिमाण, पृथकरव, संबोध, विभाग, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न-रूप आठ गुणोंसे युक्त मण्डपाल् ईश्वर है । वह मिथ्याज्ञानलूपी बन्धनसे रहित होनेके कारण बद्ध नहीं हैं और उसके अभावसे वह मुक्त भी नहीं है । इस तरह ईश्वरको अपनेसे विलक्षण ही जानना चाहिये ।

इसपर यदि कोई शङ्ख करे कि 'वहाँ कार्य होता है वहाँ कर्ता भी अवश्य होता है, इस सामान्य व्यापासिके हारा किसप्रकार ऐसे अलौकिक विकल्प कर्ताकी विद्धि हो

सकती है ?' परन्तु यह शङ्ख युक्त नहीं, क्योंकि कार्य-विशेषके हारा कारणविशेषका अनुमान कोकसिद्ध है, जैसे अन्य भूमिसे विकल्पण अन्यन-भूमिकी उपलब्धिसे बन्दनोद्भूत बहिर्भूत ही अनुमान होता है । तथा विलक्षण कार्यमें विलक्षण कर्ताका ही अनुमान किया जाता है । जैसे सुन्दर वस्त्रको देखकर कुशल कुविन्द (जुलाई) का अनुमान होता है ।

संसारकी सृष्टि और प्रलय ईश्वरकी इच्छाके अधीन है । क्योंकि उसके बिना सृष्टि और प्रलयकी व्यवस्था ही नहीं उपषेष्ठ हो सकती है । सृष्टि-प्रलय-व्यवस्थाको ईश्वरेच्छाके अधीन न मानकर अद्वैतके अधीन मानना भी ठीक नहीं है । क्योंकि अद्वैत अचेतन होनेके कारण नियामक नहीं हो सकता और नियामकताके अभावमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

यदि कोई कहे कि 'पुरुषके निमित्त प्रधानकी प्रवृत्तिमें सृष्टि और प्रलय होता है । क्योंकि पुरुषका निमित्त दो प्रकारका होता है—शब्दादिकी उपलब्धि और प्रकृति-पुरुषका भेद-दर्शन । और यह दोनों प्रधान (प्रकृति) की प्रवृत्तिके बिना सम्भव नहीं है । अतः पुरुषके निमित्त प्रवृत्त हुआ प्रधान (प्रकृति) जगत्का स्थान है और अनागत पुरुषार्थ ही प्रकृतिका प्रयोजक है, इसप्रकार अन्योन्याश्रय-दोषका अवसर भी नहीं आता है । तथा अचेतनकी भी दूसरेके लिये प्रवृत्ति देखी जाती है जैसे वस्तकी वृद्धिके लिये क्षीरकी प्रवृत्ति होती है ।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि इस मतमें सततका विनाश नहीं होता, अतः असत्-की उत्पत्ति न होगी । इसमें सृष्टि-प्रलयके कभी-कभी होनेकी व्यवस्था नहीं हो सकती । क्योंकि पुरुषार्थके सर्वदा विद्यमान इनेके कारण उसके हारा प्रयुक्त प्रधानमें सतत प्रवृत्तिकी आपत्ति होती है और पुरुषार्थका विनाश न होनेके कारण प्रलय भी नहीं हो सकता । इसपर यदि यह कहा जाय कि 'सख, रज, तमकी साम्यावस्थारूप प्रकृतिमें रजोमुखकी अभिवृद्धिसे सृष्टि, सर्वगुणकी वृद्धिसे जगत्की स्थिति और तमोगुणकी अभिवृद्धिसे प्रलय होता है, इस-प्रकार सृष्टि, स्थिति और संहारका क्रम चलता है ।' तो यह प्रभ उठता है कि 'सख, रज, तममें इसप्रकारकी विषमता ही क्यों जाती है ?'

क्षीरकी प्रवृत्ति भी चेतनके अधिकांशसे ही होती है नहीं तो यूक्त या दृश्यावस्थामें भी उसकी प्रवृत्ति होनी

चाहिये थी। इसी प्रकार कालविशेष किंवा स्वभावविशेषके द्वारा जगत्की उत्पत्ति होती है, यह मत भी निराकृत हो गया, क्योंकि चेतनद्वारा अधिकृत होनेपर ही अचेतन कार्य करता है। और स्वभावके स्वतन्त्र न होनेके कारण सृष्टिके पूर्वमें उसकी स्थिति भी नहीं हो सकती।

यदि स्वभावको परमाणुविद्धि मानें तो यह प्रभ उठता है कि वह नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो सर्वदा ही सृष्टि होनी चाहिये; और यदि अनित्य है तो किस स्वभावसे संहार और किस स्वभावमें उत्पत्ति होती है यह कारण बसलाना होगा। और स्वभावकी एकमात्रमें वृत्ति इनमें अन्यमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है; यदि उसमें अनेक-वृत्तियाँ भानें तो यह दंका होती है कि स्वभाव एक है या अनेक? एक माननेमें एक स्वभावमें उत्पत्ति कार्य भी एक ही स्वभाववाले होने चाहिये और इसमें अधिकैं भी शीतलता, तथा जलमें दहनशीलताकी आपत्ति हो जायगी। और यदि स्वभाव अनेक है तो यह प्रभ उठता है कि वे चेतन हैं या अचेतन? यदि चेतन हैं तो उनके भिन्न-भिन्न अभिप्राय होनेके कारण नियतकालमें सृष्टि और प्रलय नहीं हो सकते। यदि यह माना जाय कि एक ही अभिप्रायमें सबको प्रवृत्ति होती है तो हमारे मतकी अपेक्षा इसमें गौरव आ जाता है और इस महान् प्रयत्नके द्वारा अर्जित किये तुएँ मतका लाघव ही इमारा मत है। यदि स्वभाव अचेतन हैं तो इसका उत्तर ऊपर दिया ही जा सका है। अचेतन चेतनके द्वारा अधिकृत हुए विना कार्यक्रम नहीं हो सकते। इनमें से ही—

‘अग्रिहणो जर्तं शीनं शीतस्पर्शोस्तथानिलः ।

केनेदं चित्रितं तस्मात्प्रभावान्तद्वयस्तियति ॥’

‘अनिमित्तं प्रावात्पत्तिः करुपकेष्यदिदर्शनात् ।’

—इथादि प्रलाप भी निरस समझने चाहिये। क्योंकि संस्थानविशेषरूप तीक्ष्णता आदिकी उत्पत्ति अद्विशेषमें ही होती है। महर्षि कणादने भी यही बात कही है—

‘अग्रेकर्वज्जलं बायोस्तिथं गमनं

मनसाद्वं कर्माद्वकारितम् ।’

अर्थात् ‘अधिकार कर्वन्वज्जलं, बायुका तिर्यक् गमन, तथा मानस-कर्मोंकी उत्पत्ति अद्विद्वारा ही जारी जाती है।’

यदि कोई यह शहा उठाये कि, ‘ईश्वरकी ईश्वरी किस द्वेषसे सर्वदा ही जगत्की उत्पत्तिका प्रसङ्ग आता है

और सृष्टिकी ईश्वरीके नित्य होनेमें प्रलयकी प्राप्ति नहीं होती है। और प्रबोधको नियत्यवाको भी इतीकार करनेसे सदा जगत्की सृष्टिकी प्राप्ति न होकर प्रलय ही बना रहेता।’ तो इसका उत्तर यह है कि प्राणियोंके कर्मविपाकके अनु-सन्धानानुसार सृष्टि-प्रलय करनेवाली भगवान्की ईश्वरा स्वस्पृष्टः नित्य होती हुई भी कभी सृष्टिविचयक और कभी संहारविचयक होती है, अतः इसमें उक्त दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसपर यदि शहा हो कि ‘नियत्य ईश्वरमें कर्तृत्व किसप्रकार सम्भव हो सकता है? क्योंकि जो क्रियावान् होता है उसमें कर्तृत्व भी होता है।’ तो इसका समाधान यह है कि ‘ज्ञान-हृष्टा-प्रयत्नानमें ही कर्तृत्व होता है, केवल क्रियावानमें कर्तृत्व मानें तो क्रियाके संबंध मुलभ होनेके कारण सर्वत्र ही कर्तृत्वकी आपत्ति होती है। और ईश्वरमें ज्ञान-हृष्टा-प्रयत्न अव्याख्यत हैं, अतः उसमें कर्तृत्वका व्यावात कैसे सम्भव हो सकता है?’

अब प्रभ होता है कि ईश्वरके सृष्टि करनेमें क्या हेतु है—‘स्वार्थ अथवा परार्थ? उसकी सृष्टिका स्वार्थ हेतु नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर सुख-दुःखमें रहित होनेके कारण स्वार्थमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि परार्थ सृष्टि होती है तो सबको सुर्या उत्पत्ति करना चाहिये, नामा प्रकारके दुःखके भोगोंमें युक्त सृष्टि तीक नहीं।’ उत्तर यह है कि ईश्वरकी सृष्टि परार्थ ही होती है; और परार्थ को क्रिया होती है वह कलापीन देवी जानी है। ईश्वरमें सम्म प्राणियोंके दुःख नाश करनेकी ईश्वरास्पृष्टि करना है, उसमें सृष्टि होती है। अनादि शुभाशुभ संस्कारोंमें युक्त अपने अपार्थमरुणी शुभलामें वर्षे अपवर्ण-द्वारसे विहृत प्राणियोंके प्रति ईश्वरकी अनुकृपा क्यों न हो? किन कर्मोंके कल महीं भोगे रखे हैं उनका नाश सृष्टिके द्विमा नहीं हो सकता, अतः उक्त कर्मोंके भोगानेके लिये नरकादिकी सृष्टि करनेवाला ईश्वर द्वयात् ही है। उपभोगप्रवृत्तसे परिप्राप्त दुष्ट प्राणियोंको शीत-बीजमें विश्राम देनेके लिये वे प्रलय भी करते हैं, यह सब ईश्वरकी हृषा ही है।

इसपर यह शहा हो सकती है कि ‘विनाशकी कर्मोंके कलोपभोगमें प्रतिशब्द सम्भव न होनेके कारण सम्भव जगत्का एक साथ प्रलय होना उपपत्ति नहीं होता।’ परन्तु यह शहा युक्त नहीं है क्योंकि कर्मोंकी शक्ति ईश्वर-सृष्टि ईश्वरमें प्रतिवद्द होती है, उस ईश्वरासे प्रेरित होन

ही कर्म-कफ प्रदान करते हैं, उसकी इच्छासे प्रतिक्रिया हो कर्म-कफसे उपरत होते हैं। इसका कारण यह है कि अचेतन चेतनके अधिकानके बिना अपने कार्यके उत्पत्ति करनेमें समर्थ नहीं देखे जाते। अब यह शाहा होती है कि 'स्थिति और प्रकृत्यका हेतु ईश्वरेच्छा ही क्यों न मान लिया जाय, कर्मकी तो कोई आवश्यकता नहीं दीक्षा पड़ती?' इसका समाचार यह है कि कर्मके बिना जगत्-का वैचित्र्य सिद्ध नहीं होता; अतः कर्मोंके नियोजनमें ही ईश्वरकी स्वतन्त्रता है, जगतके वैचित्र्यमें नहीं। इस-प्रकार केवल ईश्वरके कर्तृत्वमें विश्व सृष्टिका प्रसङ्ग, जगत्-की विचित्रताकी अनुपस्थिति, अदृष्टकी अपेक्षामें उसीके हारा स्थिति-साम अस्त्रहोनेके कारण ईश्वर-कल्पनाकी अनावश्यकता, स्वार्थ-स्थिति आदिमें प्रहृत होनेसे ईश्वरकी अनीश्वरताका प्रसङ्ग, पराये प्रहृत होनेसे सुखमयी सृष्टिका प्रसङ्ग, समस्त जगतके संहारकी अकायदता, तथा नरक-काशागारमें प्राणियोंके द्वालनेकी निर्भयता प्रभृति प्रकारोंका निराकरण हो जाता है।

यहि कोई कहे कि दुःखमयी सृष्टिके कारण ईश्वरमें निर्दयता आरोपित होती है, तो यह युक्त न होगा, क्योंकि इसमें हितके लिये निष्ठुर व्यवहार करनेवाले रिता, अध्यापक तथा वैद्य भी निर्दय कहलायेंगे, जो कदाचि सकृद नहीं है। दुःखमयी सृष्टिके कारण ईश्वरमें दुर्जनता भी नहीं आरोपित की जा सकती क्योंकि उसमें दोपोका अभाव है। दोपोके अभावका कारण उसमें मोहका अभाव है, तथा मोहाभावका कारण उसकी सर्वज्ञता है। सर्वज्ञता उसमें सकल जगतके निर्माता होनेके कारण है इत्यादि बातोंका स्वयंसेव विचार करना चाहिये। इसप्रकार ईश्वर-के अस्तित्वको सिद्ध करनेवाला कार्यत्वरूप हेतु प्रत्यक्ष वर्तमान है और इसमें बापक प्रमाणका भी अभाव है अतः दृष्टिकोंके कर्तृत्वरूपमें ईश्वरकी निराकाश सिद्धि होती है।

इसी प्रकार 'घटस्थ कर्म प्रयत्नजन्य है अतः सृष्टिके आदिमें दृष्टिकोंप्रयोजक कर्म भी प्रयत्नजन्य हैं, 'धृतिके कारण गगनमें पक्षियोंका पतन नहीं होता, गुरुत्वविशिष्ट परमाणुका भी पतन नहीं होता है अतः उस पतनके प्रतिबन्धक प्रबल (धृति) का कोई प्रयोक्ता है।' 'घटका नाश प्रपद्धते होता है, अतः ब्रह्मापद्धके नाशके प्रयत्नका

भी कोई प्रयोक्ता है।' जिसप्रकार आनुभिक कलिपत छिप्यादिका व्यवहार स्वतन्त्र उरुपहारा प्रयोज्य है, उसी प्रकार व्यवहारत्वके कारण घटादि व्यवहार भी स्वतन्त्र उरुपहारा प्रयोज्य है।' 'जिसप्रकार ऐत्रवात्पञ्चम्या प्रमा वकृत्यार्थवाक्यार्थजन्म्या है उसी प्रकार शाब्द प्रमाके कारण वेदज्ञन्या प्रमा भी किसी विळक्षण वकृत्यार्थवाक्यार्थ-जन्म्या है।' 'वेदाद्यके कारण वेद धर्मासारिक उरुप्रणीत है क्योंकि जिसमें वेदव्य नहीं है वह काव्य सांसारिक उरुप्रणीत है।' 'महाभारतादिके समान बाक्यत्वके कारण वेद भी पौरवेय है।' 'एकत्वातिरिक्त संस्कारत्वके कारण दृष्टिक-परिमाणको उत्पत्ति करनेवाली संक्षय भी किसी बुद्धिकी अपेक्षासे उत्पत्ति होती है।'—इत्यादि अनुमान भी साक्षात् अथवा परम्परामें ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धि करते हैं। यही बात उदयनाचार्यने अपनी कुसुमाभृणीमें कही है—

कार्यमोजनभृतादेः पदात्प्रत्यमतः श्रुतः ।

ब्रह्मात्संस्थाविदेवाच साक्षो विश्वविदव्यमः ॥

इसप्रकार अनुमान-प्रमाण निर्बाध गतिसे ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धिमें प्रहृत होता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वरास्तित्वकी सिद्धिमें अनुमान-प्रमाणका अभाव है। आगम-प्रमाणका भी इसमें अभाव नहीं है।

'विश्वतश्चात्मुपरितः' 'पाणिपादोऽ।' 'अहं सर्वस्य प्रभवः०' 'यदा सदेव०' 'अज्ञो जन्तु०' 'मयाद्यक्षेण प्रकृतिः०' 'पिताहम-स्य जगतः०' 'ईश्वरमुपासीत०' 'सोऽकामयतः०' 'यः सर्वङ्गः स सर्ववित०'।

—इत्यादि अनेकों श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके प्रमाणोंसे ईश्वरका प्रतिपादन होता है।

आवश्यकता पड़नेपर ईश्वर शरीरविशेषको परिमाह करके प्राणियोंको सत्त्वकला-कौशल प्रभृतिका उपदेश देते हैं और सिवत्वाते हैं, भगवान्निष्ठोंकी रक्षा करते हैं, तुष्णी-को दण्ड देते हैं। इसी अभिप्रायमें उदयनाचार्यने आरम्भत्वविवेक ग्रन्थके मंगल श्लोकमें 'न्युरपतेः कारणम्' कहा है और भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

'परिव्राणम् साधूनां विनाशाय च दुर्भताम् ।

घर्मसंस्थापनार्थाय संमवमि युगे युगे ॥'

सब ईश्वर ही है

(देखन—वाचा माधवानन्दजी)



क समय किसी शिष्यने अपने गुरुके पास जा दण्डवत् कर दोनों हाथ छोड़कर पृथ्वी कि, 'हे भगवन् ! इस संसाररूपी आद्यरका मालिक कौन है ? यह संसार किसके हारा प्रकाशित हो रहा है ?' गुरुजीने उत्तर दिया— 'शिष्य ! इस संसारका मालिक ईश्वर है । यह संसार ईश्वरसे दसी प्रकार पृथक् कभी नहीं रह सकता जिसप्रकार सूर्यसे धूप, तथा स्वर्णसे भूषण अङ्गा नहीं रह सकते । हे पुत्र ! संसार और ईश्वरमें वस्तुतः कुछ भी मेद नहीं है, केवल अज्ञानीजनोंको ही इनमें भेद जान पड़ता है । अज्ञानके दूर होते ही संसार ईश्वररूप दीक्षने लगता है । जिसप्रकार जलमें अहर और बुद्धुद दिल्लायी देते हैं, परन्तु जलमें पृथक् न अहर है, न बुद्धुद है, उसी प्रकार जो कुछ दीक्ष रहा है अथवा सुननेमें आता है सब ईश्वर है । जह और चेतन सब उसके रूप है, उसके बिना न जह है न चेतन ।'

शिष्यने पुनः पृथ्वी—'हे दीनदयातु ! हम जगत्को ईश्वरने बनाया है या और किसी प्रकार बना है ?' गुरुजीने उत्तर दिया—'हे पुत्र ! ईश्वरसे भिन्न कोई वस्तु ही नहीं; तब वह कैसे किसको बनायेगा ? जैसे घट और मिट्ठीमें भेद नहीं है, जहाँ घट है वहाँ मिट्ठी भी है; बिना मिट्ठीके घट नहीं बनता, घटका समस्त अंग मिट्ठी ही है । इसी प्रकार संसार ईश्वररूप ही है । अज्ञानियोंको मृगनृष्णाके जलकी

भौति इनमें भेद भालूम होता है । जब ईश्वरकी प्राप्तिके किये अज्ञानी पुरुष को दिक्षा करते हैं और उनका अज्ञान दूर हो जाता है तो यह संसार ईश्वर-स्वरूप ही दिल्लायी देता है । शिष्यने फिर एका कि 'हे भजो ! जब यह संसार ईश्वर ही है तो यह माता-पिता, शी-पुत्र, शत्रु-मित्रादि सब प्रपञ्च भी शिष्या ही होगा ?' गुरुजीने कहा— 'हे पुत्र ! यह प्रपञ्च अज्ञानसे आसता है । जब तु मेद-बुद्धि दूर कर देगा तो तुझे यह संसार इस रूपमें नहीं भासेगा, सब ईश्वर ही दिल्लायी देगा । ईश्वरसे अलग द्वैतभावमें संसार भासता है । जिसप्रकार जल और बुद्धुद भेद-बुद्धिसे दो दीक्ष पहले हैं, बुद्धुदको यदि जलमें अलग करनेके लिये हम हाथ ढालें तो केवल जब हाथ आता है, बुद्धुद मिट जाता है; इसी प्रकार सांसारिक प्रपञ्चरूपी बुद्धुदको ईश्वररूपी जलमें पृथक् करना चाहें तो वह कठार्य अङ्ग न होगा, ज्ञान होनेपर केवल ईश्वर ही दीक्ष पड़ेगा ।' तब शिष्यने कहा— 'हे भजो ! जब हम सबको ईश्वररूप जानेंगे तब हममें पाप न होगा और पाप न होनेमें नरक भी नहीं जाना पड़ेगा । इमंतिये हमारे ऊपर दया करके वह उपाय बतलाइये, जिससे हम समझ जगत्को ईश्वररूप जानें ।' गुरुजी बोले— 'हे पुत्र ! जो कुछ कहने-सुनने, देखने-दिल्लानेमें आ रहा है, वह सब ईश्वर ही है । तू मेरे हम वाक्यपर विचास कर और 'वासुदेवः सर्वमिति' 'सब ईश्वररूप हैं,' इस अन्त्रका स्वयं जाप कर तथा दूसरोंमें भी यही जपाया कर । पहीं मोक्षका साधन है ।'

भक्तकी परस्य

भक्तकी परस्य तिक्तक, छापा, माका, करती, रामनामी, मुण्डन या बटामे नहीं होती । ये सब आवश्यक हैं, उसम है, परन्तु इनमें उसीकी शोभा बढ़ती है जिसका हृदय श्रीभगवानके प्रेममें पूर्ण हो गया है । जिसके हृदयमें भगवानकी अग्रह भोगोंमें घर कर रखता हो, उसको न तो यह भक्तोंका बाना धारण करनेका अधिकार है और न दूसरमें कोई लाभ नहीं । कंगालको कल्पतरी माननेमें कंगाली नहीं कूट सकती । हृदय पापकी आगमें जड़ता ही रहेगा । भक्त यह है को सर्वद सर्वदा अपने भगवान्को देखता है और उसके दिव्य गुण सरय, प्रेम, करण, ज्ञान आदिका अवृत्तरव ग्राण-पत्रमें करता है । वाचा हो या न हो ।



ईश्वर-भक्ति

(लेखक—पं० श्रीगयाप्रसादज्ञा शास्त्री 'आहारी')



'धर' यह कितना सुन्दर शब्द है। हम शब्दमें शान्ति है, तृप्ति है, सम्नोपय है, मिठास है और आकर्षण है। इस शब्दके सुनते ही हृदयमें प्रेम और आनन्द हन दोनोंका ही एक साथ सज्जार होता है। इन सब बातोंमें पता चलता है कि 'ईश्वर' शब्दके वाच्यर्थ-के साथ हमारा कोई निकटनम सम्बन्ध है। कौन-सा सम्बन्ध है हम बातका पता लगाना कठिन है। हाँ, वे कोई हमारे हैं अवश्य, हम बातमें सन्देह नहीं। हम मोहननिदामें पके सो रहे हैं। हमारी आँखोंके आगे अज्ञानका पट्टी पढ़ा हुआ है। हम देखते हुए भी नहीं देख रहे हैं। हम अपने सम्बन्धको भूल गये हैं। बहुत कुछ अरथ करते हैं किन्तु मृत्यु-पथमें नहीं आता है। उनके साथ हमारे काल्पनिक सम्बन्ध तो बहुतसे हैं। वे अनन्त नील गगन हैं, हम उनके एक छोटे-से नवल नक्षत्र हैं। वे परमपावन पारिजात-प्रसून हैं, हम उनके ही क्षुद्र किञ्चक-कण हैं। वे प्रेमके प्रशान्त महासागर हैं, हम उनके ही एक छोटे-से प्रेमविन्दु हैं। वे हमारे पृथ्य दृष्टेरेव हैं और हम उन्हींके पथ-प्रष्ट, आनन्द पुजारी हैं। हमारे और उनके बीच यही दैत्यावना और काल्पनिक सम्बन्ध हैं। वे हमें क्या समझते हैं, यह क्ये ही जानें। उनके साथ हमारा कोई वास्तविक सम्बन्ध है कि नहीं, हम प्रपञ्चमें कौन पके ? हाँ, हतना तो हम अवश्य जानते हैं, वे अक्षरस्मृत हैं, दीनदयालु हैं और हैं अशरण-शारण। यही उमका ऐश्वर्य या ईश्वरता है।

प्रकृति-सम्बन्धमें ही होती है। बाणी और मनमें अगोचर, माया-सम्पर्क-रहित परमात्मा-सत्ता को 'व्रह्म' कहते हैं। अज्ञानमयावनाके 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंमें यही 'तत्' पदवाच्य हैं। सर्वान्तर्यामी, सर्वलोककमाली, सर्वेश्वर्यशाली, मायामम्पर्कमहित परमात्मा-सत्ताको 'ईश' कहते हैं। अधिदेव-भावनाके 'मोऽहम्' आदि महावाक्योंमें यही 'सः' पदवाच्य हैं। समम्न विश्वके आयार, प्राकृतात्मक, परम सत्ताको 'विराट्' कहते हैं। अधिभूत-भावनाके 'कार्यव्रह्म' का सम्बन्ध दूसी स्थूलभावमें है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इन्हीं तीनों भावोंका स्पष्टीकरण निम्नलिखित मन्त्रके द्वारा किया गया है—

अद्यं ब्रह्म परमं स्तम्भाद्यतममुच्यते ।

अधिभूतं स्त्रो भावः पुरुषश्चापिदैवतम् ॥

अक्षर, परमब्रह्मका जो माया-सम्पर्क-रहित अपना भाव है, वही अध्यात्म है। उनका वरसंज्ञक जो प्रकृति-विलासमय भाव है, वही अधिभूत है। इसी प्रकार उनका पुरुषसंज्ञक जो प्रकृतिके ऊपर नियन्त्रणका भाव है, वही अधिदेव है। फलतः व्रह्म, ईश और विराट् ये तीनों ही सचिदानन्दमय परमात्माके रूपान्तर हैं।

◆ ◆ ◆ ◆

'सर्वे त्वमेव सुगुणो विगुणश्च मूमन् !'

हे सर्वद्यापिद ! तुम सगुण तथा निर्गुण सभी हो। तुम्हारा निर्गुण रूप मन और वाणीमें सर्वथा अगोचर है। शक्तिमती माया तुम्हारे समीप पहुँचनेमें असमर्था होकर लजामें दूर हट जाती है। तुम सांसारिक सुख-दुःखोंसे रहित, निरविकृत आनन्दमय हो। तुम नित्य, निरञ्जन एवं निर्विकार हो, इसीलिये तत्त्वज्ञ लोग तुम्हें निर्विशेष 'व्रह्म' कहते हैं। किन्तु हे सर्वान्तर्यामिन् !

'लोहणा तापि मुञ्जरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः'

वही तुम निर्गुण या निर्विशेष व्रह्म लोहणवश गुण और क्रियाओंसे बुक होते हो। जो तुम किसी समय मन, वाणी और इनिक्रियोंमें अगोचर होनेके कारण अज, अज्ञर, अशब्द, अस्पृश, अरूप, अव्यय, अरस, अगम्ब, अक्षर, अग्रादि, अनन्त एवं शुतिके द्वारा 'नेति-नेति' कहकर

◆ ◆ ◆ ◆ ◆

ईश्वरं शीलमन्येति 'ईश्वरः' अथवा है इति 'ईश्वरः' सर्वेश्वर्यशाली, सर्वलोकनियामक हृस्यर्थः, यही 'ईश्वर' शब्दका व्युत्पत्तिलिङ्ग अर्थ है। सचिदानन्दमय परमात्मा-का वर्णन व्रह्म, ईश और विराट् हन तीन रूपोंमें पाया जाता है। क्रमशः इन तीनोंका सम्बन्ध परमात्माके अध्यात्म, अधिदेव और अधिभूत भावोंमें है। एक और अद्वितीय परमात्मामें हस्तप्रकारकी भेदप्रतीति केवल

सम्बोधित होते थे, वही तुम अपनी हृष्टास्पिणी माया-शक्ति से सम्पर्कित होनेपर सर्वज्ञोक्तकसाक्षी, सर्वज्ञोक्तनियामक, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, अशरण-शरण, कल्पणामय, परितपावन एवं भक्तवत्सल भगवान् के नामसे पुकारे जाते हो ।

बद्धित तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ञानमद्भरम् ।

अक्षोति परमप्रयति भगवानिति शब्दते ॥

विस अद्वितीय ज्ञानसत्त्वाको सत्त्वज्ञानी 'तत्त्व' कहकर पुकारते हैं, वही निरुच्य ब्रह्म है, परमात्मा है और सगुण ब्रह्म भगवान् या 'ईश्वर' भी है । इसी भावको लेकर दैवी-भीमांसादशंकरमें स्पृहरूपसे किला गया है—

'प्रस्तुशयोरैक्यं पार्थक्यं तु प्रकृतिवैभवत्'

ब्रह्म और हृष्ट अर्थात् 'ईश्वरपदवाच्य' दोनों ही एक हैं । इन दोनोंमें भेदकी प्रतीति तो केवल प्रकृति या मायाके वैभवके कारण हो है ।

मायान्तु प्रकृतिं विद्यन्मायिनं तु महेश्वरम् ।

तस्यावद्यमूर्तैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

प्रकृतिको 'माया' और 'ईश्वरको' उसके सज्जालक 'मायी' समझना चाहिये । वही मायापति, महेश्वर इस समस्त विशाल विश्वके प्रथेक परमायुमें व्याप्त है ।

हे शीनवन्धो ! तुम्हारे निर्विशेषरूप 'ब्रह्म' और सर्वव्योपरूप 'ईश्वर' का यही तो सार है ।

॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति तथा पुराण आदि प्रम्योंमें सर्वत्र 'ईश्वर' का वर्णन तथा 'ईश्वर' की उपासनाका विवाच पाया जाता है । सभी दर्शन तथा शास्त्र मित्र-मित्र प्रकारमें 'ईश्वर' की सत्त्वाका निरूपण करते हैं । महा, विष्णु एवं महेश आदि सब 'ईश्वर' के ही नाम हैं । ईश्वरकी रजोगुणमयी शृष्टिकारिणी शक्तिका नाम ब्रह्म, सर्वगुणमयी श्वितिकारिणी शक्तिका नाम विष्णु एवं तमोगुणमयी प्रकृतिकारिणी शक्तिका नाम रुद्र है । इसप्रकार जगद्वारमा सगुण ब्रह्म ईश्वर ही इस अनन्त विश्वकी दत्तत्त्व, श्विति तथा प्रलयके नियामक है । 'ईश्वर' सर्वांधिपति, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् और सबके शरणरूप है । समक्ष चराचर विश्व ब्रह्मके बहामें है और वे पक्षमात्र इस विशाल विश्वके शासक हैं । अद्वितीयवत्तमें किसी भगवद्गुरुके वह दीक्ष ही कहा है—

यस्मिन्निदं यत्क्षेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।

योऽस्मात् परस्मात् परस्तं प्रपञ्चे स्वयम्भुवम् ॥

जिनमें यह विश्व है, जिनसे यह विश्व है, जिनके द्वारा यह विश्व है, जो स्वयं विश्वरूप है एवं जो इस विश्व और इस विश्वके परसे भी परे हैं, मैं उन स्वयम्भू भगवान्की शरण लेसा हूँ । अहो, कैसा सुन्दर वर्णन है और कैसी अनोखी भक्ती भावना है । एक ही श्लोकमें—

'तद्वक्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मेश्वरां ब्रजेत्'

अपनी शक्तिस्थिणी प्रकृतिकी उपाधिके संयोगसे निरुण ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म 'ईश्वर' भावको प्राप्त होते हैं, इस सर्ववादिसम्मत सिद्धान्तका केसा सुन्दर समन्वय है । यही सगुण ब्रह्म 'ईश्वर' अपने प्यारे भक्तोंके भक्तवत्सल, भगवान् तथा प्रेमपोषित प्राणियोंके प्राणाधार हैं ।

॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

प्रेमसुखाका प्यासा आया, प्यासा ही अब आना है ।

सच्च हे, श्रीहरि प्रेमरसामृत, ब्रिना शान्ति ब्रह्म पाना है ॥

यह समन्व विश्व प्रेमके पीछे पागल हो रहा है । प्रेमके लिये जीता है और प्रेमके ही लिये मरता है । संसारके लिये प्रेम ही सबमें अनोन्ती और बहुमूल्य चीज़ है । वह प्रेमके ऊपर सब कुछ निष्ठावर करनेको झणभरमें तंयार हो जाता है । यह प्रेमामृतका प्यासा प्राणी मरक्षणलके मृगकी भाँति प्रेम-मरीचिकामें तदप-तदपकर मरता है और उसी प्यासको बुझानेके लिये वार-वार औरासीका चक्षर भी काटता रहता है किन्तु हा, उसकी बह अपरिमेय प्यास बुझनेमें नहीं भाती है । बुझे नो भला कैसे युझे, वह अपने प्यारे प्रेम-मिलनुको क्षावकर विचयरूप ज्वालामुखीके अंगारेमें प्यासको बुझाना चाहता है । हे प्रेमरूप ! हरे !! यह आपकी कैसी प्रवद्धना है ? कैसी अनोखी छोड़ा है ? तुम्हींको तो पानेके लिये यह सब कायड हो रहा है और तुम प्रत्येक प्राणीके हृदयवेशमें बैठ दूप यह सब कौतुक देख रहे हो ? प्रेममें सुख है, शान्ति है और है अनिवार्यतीय आप-शृणि । इसीलिये तो इस प्राणि-जगत्का प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी शृणि के अनुसार मिथ, पुरु, कलश, अन-आन्य एवं मान-दैमद आदिमें प्रेमकी प्राण-प्रतिष्ठा कर रहा है । संसारके सभी समवद्धोंका मूकाधार प्रेम ही तो है । प्रेम ही संसारका कारबू है अब वह प्रेम

ही संसार है। हे प्रेमसिन्धो ! तुम्हारे प्रेमका एक विस्तु पाकर, जब यह जन्म-जन्मान्तरका प्यासा जीव अनन्त एवं अनिर्वचनीय आत्म-नृत्यिका अनुभव करता है, तो फिर जो पुण्यात्मा ग्राणी तुम्हारी उपासना करते-करते अपने नाम और हृषको भूलकर सिन्धुगामी नदी-नदकी भाँति तुम्हींमें मिल जाते हैं, उनके अनिर्वचनीय मुख, शान्ति तथा आत्मनृत्यिका वर्णन अला कौन कर सकता है ? नारदसूत्रमें परम भगवान् नारदका यह कहना अस्तरः सत्य है—

‘अनिर्बचनीयं प्रेमस्वरूपम्’ ‘मूकास्वादनवत्’ ‘शान्तिरूपात् परमानन्दस्पात्’ ।

शान्तिरूप और परमानन्दरूप होनेके कारण मूक (गूँगा) पुलकके रसास्वादनके समान प्रेमका स्वरूप सर्वथा अनिर्वचनीय है।

* * *

‘द्वीनावपर्विका मनमां भगवदाग्रस्पता सत्विक्ल-वृनिर्भिकिनित’

भगवद्भावनामें द्वीभूत होकर परम प्रियतम भगवानके साथ चित्तका जो सत्विक्ल तदाकार-आव (भगवदाकारस्पता) है, उसीको ‘भक्ति’ कहते हैं। अथवा—

‘मा पगनुर्गकीर्णधोः नन्मस्थम्यामृतन्त्रोपदशात्’

ईश्वरके प्रति परम अनुगामको ‘भक्ति’ कहते हैं। कारण, ‘ईश्वर’ के प्रति परम प्रेम होनेमें ही जीव अमृतरूपको प्राप्त होता है। जीव-जगत्का यही परम पुरुषार्थ, परमगति या चरम लक्ष्य है। हम इहले बतला चुके हैं, प्रेम ही संसारका कारण है अथवा प्रेम ही संसार है, अतः संसारके जितने भी मम्भूत हैं, वे सभी प्रेममूलक

हैं। एक प्रेम ही उपाधिमेवसे भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है। मित्रके प्रति प्रेमको ‘स्नेह’ कहते हैं, पुत्रके प्रति प्रेमको ‘वास्तव्य’ कहते हैं, प्रणयिनीके प्रति प्रेमको ‘रति या प्रीति’ कहते हैं, गुरुजनोंके प्रति प्रेमको ‘अद्वा’ कहते हैं। इसी प्रकार ईश्वर या इष्टदेवके प्रति प्रेमको ‘भक्ति’ कहते हैं। विश्वका प्रत्येक पदार्थ विनश्वर होनेके कारण मित्र, पुत्र एवं कल्प्र आदिमें जो प्रेम है, वह परिणामतापमें असमर्पित नहीं है। वहाँ प्रियजन-संयोग आविमें जो प्रेमानन्दकी प्रसीनि होती है, वह क्यों यहाँ दुःखोंसे संबलित होनेके कारण दुःखरूप ही है। यही कारण है निरयानन्दमयासी जीव जब इस लौकिक प्रेममें बार-बार प्रवचित होकर प्रेमज्ञित सुखके स्थान-पर भीषण परिणामतापको ही भोगता है, तो फिर उसे इस विनश्वर लौकिक प्रेममें चिरकिं हो जाती है। उस समय प्राकृत दुश्य, गुरुजनोंकी कृपा, सम्बंग एवं तत्त्व-चिन्तनके द्वारा ‘ईश्वर’ के प्रति जो परम प्रेम उत्पन्न होता है, उसीका नाम ‘ईश्वर-भक्ति’ है। ‘ईश्वर-भक्ति’ के द्वारा मनुष्य केवल आत्मकल्याण ही नहीं करता है किन्तु वह इस दुश्यमय संसारको सुखमय स्वर्ग दना देता है। ‘ईश्वर-भक्ति’ के ऊपर वह मांसारिक ऐश्वर्यों और स्वर्गिक सुधौंको कौन कहे ‘मोह-सुख’ तकको निछारवर कर देता है। इस अलभ्य लाभको प्राप्त करनेपर उसे अन्य किसी लाभका प्रलोभन नहीं रह जाता। ईश्वर-भक्त कृत-कृद्य हो जाता है। अपने परम प्रियतम, प्रेमरूप भगवान्-के साथ एकरूप होकर अपने अपरूप नाम और रूपको सदाके लिये उनके प्रेमसागरकी तरंगोंमें बहाकर वह स्वयं ‘प्रेमरूप’ हो जाता है। यही ‘ईश्वर-भक्ति’ का रहस्य है।

साक्षात्कार

माँकी ममतामें छोह-भरी क्षमतामें ,

स्नेहार्द्र पिताकी स्नेह-भरी समतामें ,

बच्चोंकी कोमल-कंठ-कलित वाणीमें ,

तू पतिपरायणा नारी कत्याणिमें ,

धर धरमें रहता पग पगमें मिल जाता ,

पर, अझानी तुम्हको पहचान न पाता ।

—सोहनलाल द्विवेदी, दौ० ८०

भक्तके भगवान्

(लेखक—महाश्रीमुरुनाथजी शास्त्री साहित्याचार्य)

[कहानी]

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । सावेव स मन्तव्यः सम्यग्ब्यवसिते हि सः ॥

क्षिं प्रभवति धर्मात्मा शशबद्धानितं निगच्छति । कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणदयति ॥ (गीता ९ । ३०-३१)

(१)

गणपुरी मथुराके उन गली, रास्तोंमें लोगोंकी बहुत वेहद भीड़ भच रही है, जो यमुनाके बहुत निकट पढ़ते हैं। सैकड़ों नर-नारी बगलमें धोती और कलमा लिये यमुनातटी के तरफ जा रहे हैं। उमंगभरे वस्ते यमुनामें खेल करनेकी सुशीमे आगे-आगे दौड़े जा रहे हैं। घाटोंपरकी दूकानें खूब मालसे भरी हैं। सौंदर्य सरीदनेवालोंके ठह लगे हैं। कपड़ों-मालावालोंकी आज बन आयी है, अच्छी तरह करड़ी बाँधी जा रही है। इस धूमधामका यही कारण है कि आज कानिंकगुफा हिसीया (यमाद्वितीया) का पुरुष-पर्व है। इस दिन सूर्यननद्या भगवती यमुनाका स्नान विशेषकर पुरुषप्रद समझा जाता है। दूर-दूरके यात्री यमुनाकी 'दुक्की' लेने आये हैं। यमुनाके घाटोंपर स्वचालन भीड़ हो रही है। लोगोंको गोता लगाकर निकलना मुहाल हो रहा है।

जनाने-घाटोंपर आज महिलाओंकी भीड़ है। किन्तु ही हिन्दू-रमणियाँ पुरुष-प्राप्तिके निमित्त यमुनामें गोता लगा रही हैं। कोई बाटकी सीढ़ियोंपर खड़ी होकर मृत्युदंडको प्रणाम कर रही है, कोई 'निहारो दरम मोहि भाव श्रीयमुने' कहकर प्रभाती ही गुनगुना रही है। जो पूजा-पाठ कुछ नहीं जानती वह केवल 'यज यजुने, यज यजुने' कहकर ही अपनी भक्ति प्रकट कर रही है। कई नवीनाएँ यहाँ भी अपने घरका ही पचड़ा लिये हैं। किसीने दीवाली कैमे मनी, इसका किस्सा शुरू किया। कोई घरपती महर्दी और चोटीका ही जिकर खेड़ बैठी, जो इनमें भी अधिक लज्जाली थीं उनकी कानों-ही-कानोंमें काना-फूसी होने लगी। ऐसे नामुक समयमें यकायक घाटपर एक हल्ला भच गया।

वारके एक तरफ एक युवती स्नान कर रही थी, वह थी समाजमें कलंकिनी बालविधवा। नाम या कमला। घाटकी अहुत-सी लिंगों उमे जानती थीं। पहचानेका एक कारण भी था। जिस मुहाल्ले में कमला रहती थी, उसी

सुहल्लेकी बहुत-सी लिंगों इस घाटपर नहाने आयी थी। इस पर्वके दिन कुलांगनाओंमें मटकर उसे नहाते देख सतीवके तेजसे प्रकाशित, सविशेषीकी प्रतिमूर्ति श्रीमती महिला-मण्डली क्रोध और धूणमें गरज उठी। कथा लिखनेवालेको सच कहे बिना नहीं रहा जाता कि जिसे ये कलंकिनी वेश्या समझती थीं, वह कोई बाजासू वेश्या न थी। यौवनके प्रलोभनमें पढ़कर बालविधवा कमला एक पहोची युवकके साथ घरमें निकल पड़ी थी। कुछ दिन अपने लानेवालेके साथ पृथक् मकान राम्नेके किनारे किराये लेकर रही। अब इन दिनों एक माधारण मुहर्ललेमें गृहस्थकी तरह रह रही है। यौवनकी छोंधी निकल जाने बाद कमला ने घर नेको भैं भाला, लेकिन अब क्या हो सकता था? घर छोड़कर बाहर जानेके बाद ममाज कब साथ दे सकता था? यौवनकी एकमात्र गलती कमलाके हृदयमें कैंट-सी खटकने लगी। अपने प्रणयीपर वह भाव न रहा। अधिक समय वह अकेनेमें बिताती थी। यमुना नहाने, नेवदर्शन आदिमें बहुत काल स्वतीन कर देती थी, किन्तु जिस समय कमला अपने लानेवालेके साथ राम्नेवाले मकानमें रहती थी, उसी समय कमलाके प्रति लोगोंके भाव एकदम बदल गये थे। उमे लोग वेश्याकी तरह अपृथक् समझने लगे थे। लिंगों परिचीन समझी जाकर धूणाके साथ उमकी कई आलोचना होने लगी।

यही कारण या कि जो स्त्री स्नोक्रपाठ कर रही थी, वह मूलि बन्दकर, नाक-भौं चदाकर बोली—'मर अमारी! इसी घाटपर मरने आयी थी क्या?' जो मृत्युदंडको प्रणाम कर रही थी, वह प्रणामको छोड़कर ज्येष्ठके मूर्यकी नरह गरमाकर बोल उठी—'हट यहाँमें, किञ्चायी नहीं देता, इमलोग यहाँ नहा रही है!'

कमला समाजमें कलंकिनी थी। जो पाप धोये नहीं चुकता, वह उमे धेरे हुए था। फिर वह यमुना-म्नानको क्यों आमी थी? यमुनाके पुरुषपरमें क्या वेश्याका पाप धुल सकता है? दोनों आँखोंकी रंगा-संरक्षितका प्रःइ

यमुनामें यिला सकनेपर वेहयोका पाप भी, मालूम होता है, खुल सकता है।

जो कुछ हो, कमला प्रतिदिन यमुना नहाने आती है। आज भी आयी थी। किन्तु इसके पहले ऐसा तीव्र तिरस्कार उमे कमी सहना नहीं पड़ा था। तो भी वह विचकित न हुई। आँखें भौंहों नीचे किये ही धीरे-धीरे आन समाप्त किया। पीतलके कलसेको जलमे भरकर घाटके ऊपर आयी। घाटके एक कोनेपर खड़े रहकर, छरते-दरते, आँसू बरसाती हुई आँखोंमें पुरुषसिल्ला यमुनादेवीकी तरफ उमने देखा। कलसको बगलमें लिये ही छुककर प्रणाम किया। इसके अतन्तर काले मेवकी तरह घने बालोंको पोशपर मुलाती हुई, वह गीले कपड़ोंमें अधर्म्मुले मिर रास्तेमें चलने लगी।

(२)

यमुनाके घाटमें कमलाका घर बहुत दूर था। अनुभान एक मील होगा। राता चलते-चलते उमके चित्तमें चिचार दुआ—‘सत्रूलोग देवताको जल चाहने जाते हैं। बहुन-सी छियाँ ठाकुरके मन्दिरमें पानघर, फूलधरकी येवा भी करती हैं। कहे ठाकुरके भराडारमें दाल, चावल बीनतेकी सेवा ही करती है। फिर मैं कर्मों न करूँ? मेरा जल क्या ठाकुरजी स्तीकार नहीं करेंगे? नहीं करें तो मैं उनके मन्दिरकी सीदियोंको ही धो आऊँगी। किन्तु उमका भी मुझे अधिकार है क्या? मेरा जल नीच जातियोंके भी काम नहीं आता। मेरे जलके छाँटे ल्यानेपर वे लोग भी अपवित्र हो जाने हैं फिर मुझे दालान वा सीदियोंके धोनेका अधिकार कैसे हो सकता है? देखें आज मदन-मोहनजी धोने देने हैं कि नहीं?’

ये बाँवें सोचती-सोचती कमला रास्ता तय करने लगी। यमुनाके घाटोंमें थोड़ी दूरपर ही श्रीमदनमोहनजीका प्रसिद्ध मन्दिर है। इस विशालकाय मन्दिरके आरों तरफ आने-जानेके आम रास्ते हैं, जिनकी लोगोंमें परिकमाके नामसे प्रसिद्ध हैं। इसी परिकमाके दक्षिणी प्रान्तमें कमलाका घर था। यह रास्ता और रास्तोंकी अपेक्षा कम चलता है। इसमें मकानोंकी संख्या भी बहुत हल्की थी।

कमला उस दिन घर न आकर जलपूर्ण कलसा लिये मदनमोहनजीके मन्दिरमें जा पहुँची। मन्दिरके चौकमें आकर वह खड़ी हो गयी। आगे जानेका और ‘बगमोहन’

? निजमन्दिरके आगेका आँगन।

की सीढ़ीपर चढ़नेका उसे साहस न हुआ। परिवित मनुष्यों-को देखते ही वह घबरा उठती थी। उजा ही क्या, अपने ऊपर उसे एक प्रकारकी शृण हो रही थी। सीढ़ियोंके सहरे सटी हुई वह बहुत देरतक खड़ी रही। उसके मनमें हङ्गा थी कि कलसेके जलमे मन्दिरके दालानको खोकर देख-सेवाके पुरायमें कुछ भाग ले, किन्तु साहस न हुआ। वह समाजमें कलंकिनी है। उसका छुआ जल अपवित्र है। कमला किसीसे कुछ न कहकर चुपचाप एक तरफ खड़ी रह गयी।

मन्दिरकी टहलनी एक अहीरनी बुहारी लिये औकमें बुहारी दे रही थी। वह कमलाको जानती थी। उसे बहाँ खड़ी देखकर उसने कहा—‘यहाँ क्यों खड़ी है? हट जा यहाँसे, बुहारी देने दे।’

कमला हटकर दूर खड़ी हो गयी। अहीरनीने सुन्नालाकर कहा ‘नू चाहती क्या है?’ कमलाने बिजाकते हुए जवाब दिया—‘मेरे हम कलसेके जलमें……’ आगे बोल न सकी। बोलनेका साहस ही न हुआ।

‘तेरे जलका क्या होगा री? क्या ठाकुरजीको नहलाना चाहती है?’

‘ना’

‘तो?’

‘सीदियाँ और दालानको धोना चाहती हैं।’

‘हट यहाँसे। इसके बिजाज तो देखो! हमलोगोंका ही युधा जल मन्दिरमें नहीं जाता। ये आयी हैं जल-सेवा करने! चल दूर हो यहाँसे।’

मन्दिरके ‘समाधानीजी’ जगमोहनमें बैठे कारण-विशेषमें दर्शनियोंका दर्शन कर रहे थे। उपरकी बात-चीतका कुछ इस्सा उनके कानोंमें पड़ा। आगे बढ़कर उन्होंने धीकीकी तरफ देखा। बढ़ी गम्भीरताके साथ पूछे लगे—‘क्या हल्ला कर रही है री?’

टहलनीने जोशामें कहा—‘हल्ला क्या है? लोगोंके आजकल बिजाज ही नहीं माते! बेश्या जल लेकर आयी हैं और कहती है कि ठाकुरजीके मन्दिरको धोऊँगी।’

ठाकुरजीके पारिषद् ‘समाधानीजी’ गौरवभरे स्वरमें कमलामें कहने लगे—‘देखो, तुम्हारा युधा जल कोई काम नहीं आ सकता। चौकमें भी नहीं लिया जा सकता। जबतक वह सूखे नहीं, उसपर लोगोंके पाँच पड़नेकी शंका है।’

कमला ने नीचा मुँह किये ही समाधानीजीकी आङ्गा सुनी। इसके अनन्तर उदास-मन, धीरे-धीरे चौकसे हटकर वह मन्दिरके पीछे बगीचेमें पड़ूँची। वहाँ थोड़ी देर ठहरकर कुछ सोचा। फिर चारों तरफ नज़र ढोकाकर एक बार देखा कि वहाँ भी कोई देखता तो नहीं है। फिर एकान्त देखकर वह भूमिपर बैठ गयी। ठाकुरजीका ध्यानकर कलसेका समूचा जल अर्थकी भाँति भूमिपर ढाल दिया। जलसे सिंची उस गीली सृष्टिकाको लेकर ल्लाट और जिहापर लगाया। इसके अनन्तर ठाकुरजीके उद्देश्यसे भूमिमें मस्तक टेककर प्रणाम किया। फिर साली कलसेको बगलमें लिये वह घरको चली।

(३)

वर्षके तीन सौ उनसठ दिनोंको पारकर आज फिर 'यमाद्वितीया' आयी है। कमला इस वर्ष प्रत्येक दिन यमुना-ज्ञानको गयी है और यमुना-जलमें कलसा भर मदनमोहनजीके मन्दिरके पीछे बगीचेमें बैठकर ठाकुरजीके उद्देश्यसे भूमिमें मस्तक टेककर प्रणाम किया। फिर साली कलसेको बगलमें लिये वह घरको चली।

आज फिर वही पुरुष-पर्व 'यमाद्वितीया' उपस्थित है। कमला आज बड़े सत्येरे ही यमुना-ज्ञानको चली। प्रतिदिनकी तरह आज भी पवित्र जलमें कलसा भर भक्ति और गत्रद-करणगे यमुनाजीको प्रणामकर वह घरकी तरफ लौटी। कमला उस दिन घर भी न गयी और न प्रतिदिनकी तरह वह मन्दिरके बगीचेमें ही पड़ूँची। आज वह यमुना-जल-पूर्ण कलसा लिये गीले वज्रोंमें मन्दिरके चौकर्में ल्लाटी है। दर्शनके लिये उसका हृदय व्याकुल है, आँखोंमें आँख सूटक रहे हैं। वह चाहती है एक बार दूरमें फिर ठाकुरजीका दर्शन करूँ। मन्दिरके जगमोहनको धोकर देव-मेवाके पुरुषको अब वह अपने हिस्सेमें लेना नहीं चाहती। वह तो मनुष्योंकी भीदमें दूरसे ही केवल एक बार ठाकुरजीकी मनोहर मूर्तिका दर्शन चाहती है। एक वर्ष पूर्व इसी दिन चौकर्में ल्लाटी होकर उसने ठाकुरजीकी मूर्तिके दर्शन किये थे। उस पर्वके दिन एक बारके दर्शनमें ही वंशी बजाते हुए श्रीमद्दशमोहनजीकी उस मनोहर मूर्तिको उसने अपने हृदयमें अकित कर लिया है। उस दिनमें लेकर आजस्तक वर्षभर वह उसी मूर्तिका लगातार ध्यान करती रही है। मन्दिरके पिछवाड़े, आमके दूक्षके नीचे बैठकर उसी मूर्तिका ध्यान करती हुई वह कलसमरे जलसे अर्थ

देती रही है। भ्यानके द्वारा हृदयमें चित्रित की हुई उस मनोहर मूर्तिको प्रत्यक्ष दर्शनसे आज फिर उज्ज्वल करनेकी वासना लिये वह मन्दिरमें आयी है। क्या ठाकुरजी दर्शन नहीं देंगे?

मन्दिरके दर्शन उस समयतक खुले नहीं थे। समाधानीजी भी किसी कामसे बाहर गये हुए थे। कमला बगलमें कलसा लिये चौकके एक तरफ ल्लाटी हो गयी। इस तरह खड़े-खड़े बहुत समय बीत गया, जलमें भरे कलसेको बहुत देरतक कमरपर लिये वह यक गयी थी, किन्तु ठाकुरजीके लिये लाये हुए कलसेको वह जमीनपर कैमे रख सकती थी? उसे खाली भी करना नहीं चाहती थी। उसने खिर कर लिया था कि आज चौकके किनारेमें ठाकुरजीका दर्शन करते-करते इस कलसेके जलको उनके चरणोंपर चढ़ानेका ध्यान करँगी। किन्तु ठाकुरजीका दर्शन दुर्भाग्य हो रहा है। बोझमें कमला बेबस हो चली। कमरपर बोझ लेकर खड़े रहनेकी बिलकुल शक्ति न रही। वह बड़ी दीनतामें ठाकुरजीका ध्यान करती हुई कहने लगी—‘हे स्वामी! अब खड़ा नहीं रहा जाता। पलभरके लिये एक बार दर्शन दे दंजिये।’

मन्दिरके मुख्याजी उसी समय कमलाके आगे होकर निकले। आजकल वह मेवामें सदा नहीं जाते। बृद्ध हो जानेके कारण उन्होंने इस पवित्र कर्तव्यसे छुटी जरूर ले ली थीं तो भी भगवत्सेवामें दृढ़ अनुराग होनेके कारण कुछ दिन अपनी इच्छामें मेवाके लिये ज्ञान करते हैं। आज भी मेवाके लिये भीतर जा रहे थे।

उन्होंने देखा कि चौकके एक तरफ एक छोटी कलसा लिये दर्सन सकती है। उन्होंने पूछा—‘बेटी! तुम क्या चाहती हो?’

यहाँ यह कह देना उचित होगा कि मुख्याजी कमलाको नहीं जानते थे परन्तु कमला उन्हें जानती थी और श्रद्धा भी करती थी। वे वास्तवमें भगवद्गीत ये और उपासनाके तत्त्वको जाननेवाले थे। उन्होंने सभी सम्बद्धायोंके भक्ति-शब्दोंका बड़े प्रेमसे मनन किया था। उनके बाह्य और यौवन-कालका परिचय हमें नहीं परन्तु वर्तमानमें वह बहुत ही श्रद्धेय हो गये हैं। भगवान्में किसीका योका भी सत्य-प्रेम देखते हैं तो उनका हृदय उत्तमित हो उठता है। वह परिवर्त और भगवद्गीत, वयोऽवृद्ध और मार्मिक, सरल

और उदाहर हैं। जो उन्हें एक बार भी पहचान जाता है वह उनमें अद्भुत किये बिना नहीं रह सकता।

कमलाको इससे पहले उसके हृतने पास आनेका अवसर नहीं मिला था, हूरसे ही उसने हृन्हें देखा था। शुभ्र केश, देवकान्तिमधित उस महापुरुषकी सात्त्विक मूर्तिको इस समय सम्मुख ही देखकर भक्तिपुरुषचित्तसे वह चुपचाप खड़ी रह गयी, कुछ जबाब न निकला।

प्रश्नका उत्तर न पाकर हृषि मुखियाजीने फिर पूछा—‘कहो बेटी! क्या चाहती हो?’

कमलासे तो भी बोला न गया। मुखियाजीने कहा—‘क्या ठाकुरजीके लिये जल लेकर आयी हो?’

‘ना’

‘तो क्या चाहती हो?’

‘ठाकुरजीका एक बार……’

‘दर्शन करना चाहती हो?’

‘हाँ’

‘आओ, मेरे साथ आओ, अभी पट स्लोलता हूँ। आगे खड़ी होकर अच्छी तरह दर्शन कर लेना’ कहकर वह तेजीके साथ मन्दिरमें चले गये। हारका परदा हटाकर उन्होंने देखा कि वह छी वहाँ नहीं है। हूर नज़र ढालकर उन्होंने देखा कि वह जगमोहनके नीचे चौकीमें ही खड़ी है। मुखियाजीने संकेत किया—‘उपर आ जाओ।’

कमला एकचित्त होकर नीचेने ही ठाकुरजीका दर्शन कर रही थी। ध्यानभंग होनेके बाद उसने देखा कि मुखियाजी उसे बुला रहे हैं। दर्शन करती-करती वह बढ़े व्यग्रभावसे आगे अवश्य बढ़ी परन्तु जगमोहनकी सीढ़ीके पास जाकर रुक गयी। आगे न जा सकी। अबके मुखियाजीने झोरसे तुकारकर कहा—‘उपर आकर दर्शन कर लो।’

कमलाको बड़ी तबफ़काहट थी कि वह पास जाकर ठाकुरजीका अच्छी तरह दर्शन करे किन्तु अपनी उस प्रबल वासनाको दबाकर नीचा मस्तक किये ही वह बढ़े पीर-भावसे बोली—‘आगे आनेका सुझको अधिकार नहीं।’

मुखियाजी-अधिकार क्यों नहीं है बेटी! जिसको ठाकुरजीके दर्शनकी हृष्णा प्रबल है उसको सब अधिकार है।

कमला—मैं…मैं…

मुखियो—तुम कौन हो?

कमला—मैं कहाँकिबी हूँ, समाजसे निर्वासिता हूँ।

मुखियो—नहीं, तुम कहाँकिनी नहीं हो, ठाकुरजीकी भक्त हो। ऊपर चढ़कर निश्चंक आगे आ जाओ।

कमला ठाकुरजीकी भक्त है! यह तो वह अवश्यक नहीं जानती थी। उसके शरीरमें एक विजली-सी दौड़ गयी। उसको अब कोई स्कावट न रही। वह सीढ़ी चढ़कर जगमोहनके आरम्भके किनारेपर ही खड़ी हो गयी।

(४)

इसी समय पीछेकी तरफसे समाधानीजीका स्वर सुनायी दिया। वह किसी बैण्टवसे बात करते-करते आगे आ रहे थे। कमलाको जगमोहनमें खड़ी देखकर वह एक-दम अप्रियता हो उठे। कर्कशकरणसे कहा—‘आभारी! जगमोहनमें चली आबी? वाह रे तेरे मिजाज! जा, नीचे उतर जा।’

कमलाका वह आनन्द और उत्साह एकदम जाता रहा। संकोच और अनुतापने उसके हृदयको एकदम दबा लिया। लजासे उसके पैर पस्थरके हो रहे थे, तो भी वह लौटनेकी कोशिश कर रही थी। इसी समय निजमन्दिरसे बाहर निकलकर मुखियाजीने समाधानीजीसे कहा—‘इस खीका तिरस्कार क्यों कर रहे हो?’

समाजो—देखिये न! मन्दिरके पास ही आ गयी है।

मुखियो—तो इसमें क्या अपराध हुआ?

समाजो—यह समाजकी कलंकिनी है, वेरया है।

मुखियो—वेश्याके लिये क्या ठाकुरजीके दर्शनका निषेध है?

समाजो—दर्शन निषिद्ध न हो परन्तु पास आकर स्पर्शन जरूर निषिद्ध है।

मुखियो—यह आपको किसने समझाया है? बड़े-बड़े पीठस्थानोंमें क्या होता है?

समाजो—बड़े धारोंके लिये कोई नियम नहीं।

मुखियो—तो किसी मन्दिरमें भी यह नियम नहीं है। मेरा विश्वास है कि पापी-से-पापीके स्पर्शसे भी भगवान् अपवित्र नहीं होते।

समाजो—तो किर पञ्चामृत आदिसे श्रीअंगदोधनकी व्यवस्था क्यों है?

मुखि०—यह है अपने लोगोंके लिये, ठाकुरजीके किये नहीं। भक्तलोग ठाकुरजीके शोधनका यत्न करके अपने मन-का शोधन करते हैं। जो भगवान् हैं, जर और अचरके स्वामी हैं, वह कभी अपवित्र नहीं होते। खैर, ठाकुरजीको तो हसने स्पर्श भी नहीं किया था। यह तो केवल चौंकसे आगे आकर जगमोहनमें सही हो गयी है। क्या इसीसे मन्दिर अपवित्र हो गया ?

समा०—हो क्यों नहीं गया ?

समाधानीजीको बहुत आगे बढ़ते देखकर प्रशान्त महासागरमें भी एक लहर उठी, मुखियाजीने जरा उत्तेजनाके स्वरमें कहा—‘अच्छा, प्रत्यक्ष देवता इन भी मदनमोहनजीके सम्मुख सबे रहकर क्या आप यह कह सकते हैं कि आप और मैं इस मन्दिरमें खड़े रहकर मन्दिरको अपवित्र नहीं करते ? समाजमें चाहे यह प्रत्यक्षरूपसे कलंकिनी है परन्तु या आप और मैं अनन्दर-में भी दूधके धोये ही निकलेंगे ? योदवनकी दातांको याद करके सबे हृदयसे कहिये तो देखें ?’

समाधानी महाशय इस बार सहम गये। थ इ देर चुप रहकर कमलाकी तरफ देखकर बोले—‘क्यों री ! क्या आज फिर चौंक घोने आयी है ? जा, जिस जगह नियम जल दाताती आयी है वहाँ जल ढाल दे।’

मुखियाजीने पूछा—‘निय कहाँ जल ढालनी है ?’

समा०—मन्दिरके बगीचेमें।

मुखि०—चलिये देखें।

दोनों वहाँसे उत्तरकर मन्दिरके समीप बगीचेमें पहुँचे। वहाँ एक पेढ़के नीचे प्रतिदिन जल ढालनेमें पड़ा हुआ एक गहड़ा दीखता था। उसको विलाकर समाधानीजीने कहा—‘यह अभागिन निय यहाँ जल ढालती है।’

मुखि०—जल कहाँसे लाती है ?

समा०—यह कौन जाने, परन्तु लोग कहते हैं कि निय यमुना-स्नानको जाती है फिर वहाँसे आकर निय ही यहाँ झलका अर्घ्य देती है।

मुखि०—यह जल ठाकुरजीके जलघरमें क्यों नहीं देती ?

समा०—क्या कर्णकीनके छुए जलसे देव-सेवा हो सकती है ? एक वर्ष पहले आजके ही दिन जगमोहन घोनेके लिये वह आयी थी, वही घोने नहीं दिया, फिर डसका जल सेवामें तो क्या काम आयेगा ?

मुखि०—आपके विचारसे काम न आवे, मैं काममें लैंगा। कहकर वह मन्दिरमें लौट आये। वहाँ आकर देखा कि जलका भरा कलसा लिये जगमोहनमें चढ़नेकी सीढ़ीके पास उसी तरह नीचा भरतक किये कमला लड़ी है। मुखियाजीने कहा—‘तुम जल ठाकुरजीके जलघरमें ले चलो।’

कमलाको इस बातपर विचार स नहीं आया। उसने पीछे फिरकर देखा, शायद और किसीके प्रति यह बात कही गयी है। किन्तु अपने पीछे किसीको न देखा। अब आश्र्यमरी इष्टिसे उसने मुखियाजीका ओर देखा। उन्होंने फिर कहा—‘यह जल जलघरमें ले चलो।’

असमभासमें पढ़ी कमला बड़े संकोचसे दो-चार पैद आगे बढ़कर जगमोहनमें लड़ी हो गयी। यह स्थान उसके लिये परमपावन तीर्थस्थेत्र था। उस स्थानपर वह आजतक नहीं आ पायी थी। जो लोग यहाँ खड़े रहकर ठाकुरजीका दर्शन करते थे उन्हें वह बड़ा भाग्यवान् समझती थी। इस सांभाग्यके लिये उसने कई बार औंसू घटकाये थे। आज कमला ठाकुरजीकी कृपामें उसी स्थानमें लड़ी है।

कमला जलघरमें नहीं गयी। जगमोहनमें पृक तरफ थोड़ी जगह दो बार हाथसे धोकर धड़ेको रख दिया। मुखियाजी स्वयं उमे उठाकर जलघरमें ले गये और थोड़ी ही देरमें धड़ेको स्थानी कर ले आये। आकर देखा कि कमला प्रांगणकी धूलिमें लोटकर साष्टांग प्रणाम कर रही है। जिस समय उठकर वह सबी हुई उस समय उसके कपोल और छातीसे होकर अश्रुभारायें वह रही थीं। देवोपम मुखियाजीने उमे लक्ष्यकर कहा—‘बेटी ! तुम जिस भक्तिमें ठाकुरजीके दर्शन करती आयी हो, मैं आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी वह भक्ति अक्षय हो। भक्ति-प्लुतचित्तमें ठाकुरजीको लक्ष्य करके चाहें किसी भी स्थानपर अर्घ्य दिया जाय, ठाकुरजी उमे प्रेममें ग्रहण करते हैं। ठाकुरजी आगे-पीछे भी कुछ नहीं गिनते। वे ब्राह्मण या शूद्र, गंगाजल वा सामाजरण पानी, इनमें भेदकी इष्टि नहीं दालते। वह तो चाहते हैं केवल भक्तका हृदय। तुम उनको अपना हृदय दो। अपने पापोंके लिये रोओ। तुम्हारे सब पाप छुल जायेंगे।’ मुखियाजीके चरणोंमें प्रणाम करके कमला र सौंठ आयी।

(५)

धरके आँग, भामके बृक्षके नीचे बैठकर एक युवा हुक्का गुडगुडा रहा था। उसने कमलासे पूछा—‘आज इतनी देर क्यों हुई ?’

कमला कुछ जवाब न देकर अपने कोठेरे चली गयी और अन्दरसे उसने किवाह बन्द कर लिये। वह मटीभरी भूमिपर लोटी हुई रोने लगी। उस रोनेका अन्त न था, विश्राम भी न था। किसीको मालूम न हो इसलिये मुखमें कपड़ा ढूँसकर खुपचाप रोने लगी। उसके मनमें निरन्तर यही धूम रहा था कि 'पापोंके लिये रोओ।' तुम्हारे सब पाप भुल जायेगे।' रोती हुई कमला भगवानको लक्ष्य करके मन-हीनमन कहने लगी—'ठाकुरजी! मैं जीवनपर्यन्त निरन्तर रोऊँगी। रो-रोकर अपनी छातीका रक्त आँखोंके द्वारा आहर निकाल दूँगी। हे दयामय! मेरे पापोंके धो दीजिये।'

उसी समय किसीने दरबाजेको स्फुरताया। कमला चौकिकर यिजलीकी तरह एकदम उठ खड़ी हुई। बड़े यज्ञ-में उसने अपनेको सैंभाला। आँखोंका जल पौछ दाला। किन्तु किवाह नहीं खोले। शश्यापर निश्चल होकर अपने अटष्टकी वातें मोचने लगी। दरबाजेपर जार-जोरमें धक्के पढ़ने लगे, किन्तु कमलाने उसपर दृष्टिक नहीं ढाली। योद्धा द्वेरा पीछे अपने मनमें कोई विचार स्थिर करके उसने हार खाल दिया।

द्वारपर वही युवा हाथमें हुक्का लिये खड़ा था। उसने कहा—'मालूम होता है कमल! किर तुम रो रही थी।'

कमलाने जवाब नहीं दिया। युवाने कहा—'क्यों रो-रोकर अपने देहो क्षोइना चाहती हो कमला!'

कम०—देहके रखनेमें क्या सुख है?

युवा—सुख? जितने दिन पृथिवीपर रहा जाय उतने दिन सुख ही है।

कम०—उतने ही दिन दुःख है। निरन्तर पाप-मृतिकी यन्त्रणा है।

युवा—तुम घर छोड़कर मेरे साथ चली आयी हो, क्या इसीका यह दुःख है? इसीसे क्या तुम बराबर रोती हो? पहले सो तुम्हारी यह बात न थी। वर्षभरसे तुममें यह परिवर्तन देखता हूँ। आज सच-सच कह दो! क्या करनेसे तुम फिर बैसी ही हो सकती हो?

कम०—वैसा होना अब कठिन ही नहीं, असम्भव है। मैं जो कुछ छोड़कर आयी हूँ, उसे कोई अब लौटाकर पीछा नहीं दे सकता।

युवा—हौर, इसे जाने दो। यह बतलाओ इतना रोती क्यों हो?

६२

कम०—रोती क्यों हूँ? छाती चोरकर दिखाये बिना शब्दोंमें यह समझाया नहीं जा सकता।

युवा—कमले! मैं ही तुम्हारे सब दुःखोंका मूल हूँ। तुम सुखसे पिता-माता, राजाधोंका-सा वंभव लिये संसार चला रही थी। मैं न जाने किस खोटे मुहूर्तमें तुम्हारे रूप और गुणोंपर सुख्य होकर तुम्हें चाहने लगा था। यदि मैं केवल प्रेम करके ही रह जाता तो भी तुम्हारे हृदयमें आज यह अप्ति नहीं जलती। मैंने अपने प्रेमको तुमपर प्रकट किया। तुमने भी उसका प्रतिदान दिया। कमला! कहो, अब किस उपायमें तुम सुखी हो सकती हो?

कम०—क्या तुम वह कर सकोगे?

युवा—कर सकूँगा। ग्राण देनेमें भी यदि तुम सुहृत्तभरके लिये भी सुखी होओ तो मैं उसके लिये तेंयार हूँ।

कम०—तो तुम सुखे छोड़कर अपने घर लौट जाओ।

युवा—घरमें मेरा कौन है कमला?

कम०—घरमें तुम्हारे भाई-पुत्र-धन-जन सब कुछ तो है।

युवा—किन्तु कमला नहीं।

कम०—कमला पाप है, जी पुरुष। इतने दिन पापकी मेवा की थी, अब पुरुषका परिचय करो।

युवा—कमलाकी तुलनामें खी?

कम०—खीके घरणोंके नीचे सैकड़ों कमलाएँ लौटती हैं। एक बार लौट जाकर तुम देखो तो सही।

युवा—कमला! तुम जिस मार्गमें जाना चाहती हो, मुझे भी उसका साथी बना लो। तुम्हें छोड़कर मैं नहीं रह सकूँगा।

कम०—जिस सुखकी आशामें मेरा संसर्ग चाहते हो, वह सुख अब नहीं पा सकोगे। तुम्हारा सुख खीके संसर्गमें है। मेरा सुख स्वर्गंगत स्वामीके चरणतलमें। मार्ग बिल्कुल अलग-अलग हैं। मुझे छोड़कर घर चले जाओ। नहीं तो.....।

युवा—नहीं तो क्या करोगी कमला?

कम०—नहीं तो, मैं ही इस घरको छोड़ जाऊँगी।

युवा—इतने प्रेमका यह प्रतिदान?

कम०—मेरे सम्मुख तुम्हारे प्रेमका अब मूल्य नहीं।

युवा—कमला! कमला! इतने दिन पीछे हमलोगोंका विदेश हो ही गया!

कमला अब उस जगह सही नहीं रह सकी। वहाँसे दूसरी तरफ चली गयी।

(६)

एक वर्ष अवृत्ति हो गया है। कमला अब अकेली है। अपने मनसे घरका काम करती है और चिन्ता करती है। घरके कामका अन्त है किन्तु चिन्ताका अवसान नहीं। अनन्त विचारसमूहोंको अपने हृदयमें बढ़ाये हुए जलमें भरे गम्भीर भेघतरदकी तरह कमला चारों तरफ चलती-फिरती है।

कमला पूजा नहीं करती, जप-तप कुछ भी नहीं करती। वह केवल एक कल्सा यमुनाजलका भरकर मदनमोहनजीके मन्दिरमें दे आती है। वहाँ ही उसका सब कार्य समाप्त हो जाता है।

निमनध रात्रिमें जब समझ पृथिवी बेलवर होकर सोती, उस समय कमला चुपचाप उड़कर श्रीमदनमोहनजीके मन्दिरके समुख पहुँचती। दरवाजेके आगे धूलिमें छोटकर बहुत देरतक रोती रहती। हस तरह वह प्रतिदिन करती। शीत-वर्षा कुछ भी नहीं गिनती। कमला किसीके भी घर नहीं जाती। उसके भी घर कोई नहीं आता। कमला किसीके भी साथ बातचीत नहीं करती, हृसरा भी कोई उससे बातचीत करनेके लिये लालायित न था। वह अकेली रोती। सप्ताहमें एक दिन आज्ञार जाती। वहाँमें दाल-चावल जो कुछ भी ला सकती, उसीमें अपने दिन काटती। दाल, चावल, लवण और नाममात्रको धी हतके सिवा वह कुछ नहीं स्वाती, स्वानेकी हृष्णा भी नहीं होती।

कमलाके पास रूप और यीवन दोनों ही थे। जहाँ ये दोनों होते हैं वहीं विपत्ति साथ है। कोई-कोई उसका पीछा करता। कमलाने एक दिन अपने हाथमें अपनी वह निविड़ केशाशि काट डाली। नाते लोहेसे कपोल और छातीको जलाकर विरुप बना डाला। उस दिनमें कोई पुरुष उसकी तरफ फिरकर नेम्बनातक नहीं।

कमलाके पास कुछ रुपये और गहने थे। यमुनाज्ञान करके लौटती बार वह उसमेंसे गरीब-दुखियोंको बाँट देती। यह धन पापमें कमाया न था। पिताका घर छोड़ने समय वह साथ लाती थी। तो भी डाकुरजीकी मेवामें इस ऐसेको लगानेका कमलाको साहस नहीं होता था।

यमुनाके किनारेपर आगर कहीं उसे अब्दे फूल दिखायी देते, उन्हें अवश्य डाकुरजीके लिये ले जाती।

जगमोहनमें दूर लहीं हुई कमला एक दिन डाकुरजीके दर्शन कर रही थी। जब उसने देखा कि मेरे लाये हुए फूलोंसे डाकुरजीके दोनों चरण ढके हुए हैं तब वह भक्ति और आनन्दसे अधीर होकर से उठी। उसने डाकुरजीको प्रणाम नहीं किया। ‘हे मदनमोहनजी’ कहकर एक दफा पुकारा भी नहीं। वह केवल रोने लग गयी। उस दिनमें आनन्द-विद्वालिपत्र दुई कमलाके उसी दशामें कितने ही दिन बीस गये।

कमला प्रतिदिन डाकुरजीकी मेवाके लिये यमुनाजल दे आती। फूल भिलनेपर फूल दे आती। कभी-कभी माला गूँथकर डाकुरजीके लिये दे आती। समाधानीजी अब कोई आपत्ति नहीं करने। कमला डाकुरजीके लिये जो कुछ दे आती उमे वह मादर ग्रहण करत।

इस तरह एक वर्ष और बीत गया। कमलाने एक दिन बकीलके घर जाकर एक दानपत्र लिखवाया। उसकी स्थावर-आश्वावर जो कुछ समर्पित थी, उसको इस दानपत्रके डारा मदनमोहनजीके अर्पण कर दिया। दानपत्र मदन-मोहनजीके मन्दिरमें रखकर कमला फिर मथुरामें विवाही नहीं दी। कहाँ गयी, किसीको मालूम न हो सका।

(७)

कमला घर छोड़कर कोई भी साथ न ले केवल एक साड़ी ही पहिने जगदीशके लिये रवाना हुई। रामा जानती नहीं, आने जानेवालोंमें पृष्ठकर आगे बढ़ती है। पासमें एक पैंथा नहीं, भिक्षा माँगकर पेट भरती है। दिन-पर-दिन बीतने लगे। कमला वहे उस्माइमें मार्गमें आगे बढ़ने लगी। इस तरह कई मास बीत गये। अभी जगदीशपुरी बहुत दूर थी। कमलाने अब पहलेकी तरह मार्ग नहीं चला जाता। कभी उपवास, कभी आधे पेट, यों करते-करते वह विश्वकुल दुर्वल हो गयी। उस्माइ धीरे-धीरे मन्द पढ़ गया। चलनेकी शक्ति कम-कमसे घट जुकी है। कमला इस समय ध्यान करने लगी—‘भगवन्! अब मेरी क्या गति होगी?’

कमला एक दिन रामा चलने-चलने एकदम धक गयी। सन्ध्याके समय ही वह रामसेके किनारे एक बृक्षके नीचे सो गयी। सोती-सोती सोचने लगी—‘मालूम होता

है मेरे भास्यमें जगदीशका दर्शन नहीं बदा है । जो वहाँ एक बार चला जाता है उसके पाप कट जाते हैं । मैं रो नहीं सकी, हृसीलिये मेरे पाप नहीं खुले । जगदीशजीके दर्शनको चली थी, मालूम होता है वह भी भास्यमें नहीं है । हे ठाकुरजी ! मेरा क्या होनहार है ? हस पाप-भारको उठाने-की अब मुझमें शक्ति नहीं ।'

सोचते-सोचते कमलाको निद्रा आ गयी । स्वप्नमें उसने देखा कि मध्याकाशमें एक मनोहर मूर्ति विराजमान है । वह देखने लगी—जिस जगह तारे खिलते हैं, चन्द्रमा सुशोभित होता है, उम स्थानपर नवजलधरस्याम, कमल-दललोचन श्रीमद्भूमोहन वंकिम-भंगिमा-से स्वर्णे वंशी बजा रहे हैं । उनके ओष्ठोंमें हास्य, नयनोंमें करणा विराजमान है । शत-शत चन्द्रमाओंके प्रतिविष्ट उनके नवोंमें पढ़ रहे हैं । लक्ष-लक्ष नम्रत्र उनके चरणतलमें लोट रहे हैं । आकाश, पृथिवी सब लुप्त हो चुके हैं । सब जगन्का तेज हड्डा होकर उम नृतिको धेरे हुए हैं । कमलाने नींदमें ही पुलकित-गरीर होकर पूछा—‘क्या आप ही श्रीहरि हैं ?’

उत्तर मिला—‘हौं’

‘क्या आप मुझे दर्शन देने आये हैं ?’

‘ना’

‘मैं आपके दर्शन करने जगदीशपुरी जा रही हूँ ।’

‘मैं जगदीशपुरीमें नहीं रहता ।’

‘तब कहाँ रहते हैं ?’

‘मैं मनुष्योंके हृदयमें रहता हूँ । जो मुक्तको उकार सकता है और मुझे देखना जानता है, वही मेरा दर्शन पा सकता है ।’

‘मैं पुकारना नहीं जानती । कृपा करके मुझे पुकारना सिखा दीजिये ।’

कोई उत्तर नहीं मिला । कमला आवेगमें फिर कहने लगी—‘हे ठाकुरजी ! मुझे आपको पुकारना सिखा दीजिये ।’

इस बार भी कोई जवाब नहीं मिला । देखते-देखते आकाशकी वह मूर्ति मन्द होती-होती आकाशपटमें लीन हो गयी । कमला व्याकुलहृदयमें पुकारने लगी—‘हे ठाकुरजी ! बता दीजिये किस उपायमें आप मिलेंगे ?’

दिग्दिगन्त प्रतिष्ठनित करता हुआ फिर चीस्कार सुनायी दिया—‘हे दयामय, बता दीजिये, किसप्रकारमें आप मिलेंगे ?’

उस कातर चीस्कारमें स्थावर-जंगाम, आकाश-पृथिवी भी पुलकित होकर प्रसिद्धनि करने लगे—‘बता दीजिये दयामय ! किस उपायमें आप मिलेंगे ?’

चीस्कार-शट्टरमें कमलाकी निद्रा टूट गयी । वह उठकर चारों तरफ देखने लगी । उसने पृथिवी देखी, आकाश देखा, तारे देख, किन्तु कही भी उम मूर्तिको नहीं देखा । निराशाकुल हृदयमें आकाशकी तरफ देखती हुई वह निमन्त्रण ढैठी रह गयी ।

स्वप्नमें जो कुछ सुना था, कमलाको सब याद था । कमला एक-एक करके उन वातोंको विचारने लगी । सबैरा हो चला था । कमला बृक्षके नीचेसे उठ खड़ी हुई । जिस रास्ते होकर मधुरामें आयी थी, उसी रास्तेसे मधुराकी तरफ लौट चली ।

(८)

कमलाका अम हट गया । वह अब जगदीशपुरी जानेके लिये लालयित नहीं है । कमलाकी मालूम हो गया है कि हृदयकी अवस्थाविशेषका नाम ही है ‘जगदीश-पुरी’ । जब अन्तःकरणमें श्रीगोपाकृष्णकी युगल मूर्ति निरन्तर विराजने लगती है तब ही मनुष्यको जगदीशके दर्शन हो पाते हैं । नहीं तो जगदीशपुरीमें पापाकुल हृदयमें चिरकालतक जीवन घटीत करनेपर भी मनुष्यको जगदीशका दर्शन नहीं होता ।

रास्ता चलने-चलते कमला विचारने लगी—‘हाय हाय ! मैंने क्या किया । अज्ञान-अबोध मनके वशीभूत होकर मैं जगदीशपुरीकी तरफ ढौँड आयी । हे मेरे मदन-मोहनजी ! अबोध पुत्रीको श्रमा करना । तुम्हारे चरण ही मेरे लिये जगदीशपुरी हैं, तुम्हारे चरण ही मेरे पुण्य-नीर्य हैं । तुम्हारे चरणोंपर जल ढालते-ढालते ही मैंने पापोंके लिये रोना सीखा है । पश्यर छोड़कर सोना पहिचाना है । तुम ही मेरे जगदीशपुरीके जगदीश हो । तुम ही मेरे बैकुण्ठके स्वामी श्रीहरि हो । हे ठाकुरजी, मैंने अपराधकी श्रमा करना ।’

कातरकरणमें मदनमोहनजीको उकारती-उकारती कमला रास्ता चलने लगी । दिन-पर-दिन—मास-पर-मास घ्यनीत होने लगे । कमलामें अब पहलेकी भाँति रास्ता नहीं चला जाता । एक दिनके मार्गमें दस दिन लग जाते हैं । उपवासोंसे क्षीण थके-माँदे देहको किसी तरह घसीटती हुई वही मुश्किलसे वह मधुरा पहुँची ।

उस दिन यमद्वितीयाका पुण्य-पर्व था, किन्तु कमला-को मालूम न था। रास्ते-धार्योंपर चारों तरफ लोगों-की भीड़ थी। सबका सुख यमुनाकी तरफ था। कौतुक-वश ही कमलाने एक छोटे पूछा—‘हैं री! तुमलोग सब कहाँ जा रही हो? छोटे अनसाकर जवाब दिया—‘मर अभागिन! वहा तुझे यह भी मालूम नहीं है कि आज ‘यमद्वितीया’ है।’

कमला भी यमुनाजी नहाने चल पड़ी।

यमुनाजीके जलमें करण्यर्थन्त डूबकर कमला विचारने लगी—‘आज फिर वही यमद्वितीयाका दिन है। इसी दिन मैंने ब्रत ग्रहण किया था, आज इस ही दिन व्रतका उद्यापन करूँगी। हे मा यमुने! मेरे पाप धो डाढ़ो। इस देहभारसे मुझे मुक्त कर दो मा! मा! मा!……’

इसमें आगे बोला न गया। दोनों गालोंपर होकर निस्तर अश्रुधारा बहने लगी। दोनों आँखोंके दो प्रवाह यमुनाग्रवाहमें मिल रहे थे।

ज्ञान करके कमला मदनमोहनजीके मन्दिरकी तरफ चल पड़ी। उसके देहमें न जाने कहाँमें इस समय नवीन शक्ति आ गयी थी, मनमें नदा उत्साह भर गया था। वह इस लम्बे राम्तेको बहुत थोड़े समयमें लौंधकर अति शीघ्रतामें मन्दिरके ऊंगनमें आ उपस्थित हुई।

उस समय दर्शन मूल नये थे। संकोचरहित कमला ध्वन्द्वाती हुई जगमोहनमें पहुँच एकचित्तमें डाकुरजीके दर्शन करने लगी। उस दिन बृद्ध मुखियाजी मेवामें स्वयं उपस्थित थे। आरतीके अनन्तर पीछे फिरकर उन्होंने देखा कि कमला लड़ी है। देखने ही वह उसे पहचान गये। उन्होंने कहा—‘आज बहुत दिन पीछे लौटी हो, डाकुरजीको प्रणाम करो बेटी!'

कमला डाकुरजीके चरणोंसे नेत्रोंको न हटाती हुई ही बोली—‘किसको प्रणाम करूँ? डाकुरजीको? उनके चरणोंमें मैं चित्य कॉटिकोटि प्रणाम करती आयी हूँ। उनके चरणोंमें मैं लोटा करती हूँ। मैं उन्हींके चरणोंपर मन्त्रकर लक्ष्य हुए पक्षी हूँ। अब कहाँ माथा टेककर किम प्रणाम करूँ गी?’

मुखियाजीको विस्मय हुआ। घोषी देर निस्तर रह-कर उन्होंने पूछा—‘चरणमृत लोगी?’

कमला—‘चरणमृत? चरणमृत कहाँ दोगे? सुखमें स्थान नहीं। समस्त देहपर मदनमोहनजीका अधिकार हो चुका। मन्त्रकपर मदनमोहन, जिह्वापर मदनमोहन। चरणमृत कहाँ दोगे?’

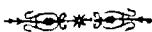
मुखियाजीको आश्चर्यके साथ-साथ कमलापर असीम श्रद्धा हो उठी। उन्होंने पूछा—‘कदा डाकुरजीका प्रसादी-पुष्प लोगी?’

कमला—‘कूल? दो। उनके चरणोंके पुष्प उनके चरणों-पर ही चढ़ा दो।

कहकर कमलाने अपना पैर आगे बढ़ा दिया। महानुभाव मुखियाजी बढ़े जानी थे, तो भी कमलाके पौँछपर प्रसादी-कूल बढ़ानेका साहम उन्हें न हुआ।

कमलाने किसी तरफ भी फिरकर न देखा। उसके दोनों नेत्र बन्द हो गये। वह ध्यानमग्न होकर धमरे वर्षी बैठ गयी। वह ध्यान फिर कभी भंग न हुआ और न वह नेत्र ही फिर कभी सूले। कमला मदनमोहनजीमें मिलकर मदनमोहनजी बन गयी।

मन्त्राके समय परमद्यात्म मुखियाजी कमलाके देह-को स्वयं बहन करके यमुनातटपर अग्रिमसंकार कर आये !!



ईश्वर-श्रद्धा

दर्शन-शास्त्र चाहे जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करें, अध्यारम चाहे जहाँ जाय, परम्पर ज्वलक इस संसारमें मृग्य है, ज्वलक मनुष्य-हृदयमें कमज़ोरी है और ज्वलक उस कमज़ोरीकी अवस्थामें मनुष्यके हृदयमें पुकार उठती है तथतक संसारमें ईश्वरके प्रति श्रद्धा बनी ही रहेगी। —स्वामी विवेकानन्द



ईश्वर-प्रेमकी विभिन्न अवस्थाएँ*

(लेखक—पं० आंप्रभुरत्तनी ग्रन्थाचारी)

कैतवराहितं प्रेम नहि भवति मानुषं लोके । यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति ॥



क-मर्यादाको मेटकर मोहनमे भन लगानेको मनीपियोंने प्रेम कहा है । प्रेमके लक्षणमें इतना ही कहना यथेष्ट है कि 'प्रैमैव गोप-रामाणां काम हृत्यगमव् प्रथाम्' अर्थात् गोपियोंके शुद्ध प्रेमको ही 'काम' के नाममे पुकारनेकी परिपाटी पढ़ गयी है । इसमे यही तात्पर्य निकला कि प्रेममें हृनिद्र्य-सुखकी इच्छाओंका एकदम अभाव होता है । क्योंकि गोपियोंको काममें किसी प्रकारके अपने शरीर-सुखकी इच्छा नहीं थी । वे जो कुछ करती थीं केवल श्रीकृष्णकी प्रभवताके निमित्त । इसलिये शुद्ध प्रेम हृनिद्र्य और उनके धर्मोंमें परेकी वस्तु है । हसीको 'राग' के नाममे भी पुकारते हैं । इस 'काम', 'प्रेम' अथवा 'राग' के तीन भेद हो सकते हैं । पूर्वराग, मिलन, विद्धोह या विरह ।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, मंसारी विषयमोग कुछ भी नहीं सुहाते । सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है । रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें ऐसे प्रेमियोंकी भिन्न-भिन्न दशाओंका बड़े विवारके साथ वर्णन किया है, इस संकुचित स्थलमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही विद्यावी देता है । इस सर्वनन्धमें भष्ट सात्त्विक भावोंका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संज्ञेषमें पहले उन्हीं आठ भावोंका वर्णन करते हैं । वे आठ ये हैं—स्वर्ग, कष्ट, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वर-भंग, पुलक और प्रलय । अब इनकी संक्षिप्त स्थान्या सुनिये—

स्वर्ग—शरीरका भूत्व हो जाता । मन और हृनिद्र्याँ जब बेष्टारहित होकर निश्चल हो जाती हैं, उस अवस्थाको स्वर्ग कहते हैं ।

कष्ट—शरीरमें कैंपकैंपी पैदा हो जाय, उसे 'बैपथु'

* गीताप्रेससे प्रकाशित होनेवाली श्रीश्रीचैतन्य-चरिताबलीके अमुद्रित पञ्चम खण्डके एक अध्यायका कुछ अंश ।

या 'कष्ट' कहते हैं । अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी दशा हुई थी । उन्होंने स्वयं कहा है—

‘बैपथु शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।’

अर्थात् सुके कैंपकैंपी छूट रही है, रोगटे खड़े हो गये हैं ।

स्वेद—शरीरमें पसीना सूटना, या पसीनेमें 'ल्य-पथ' हो जाना हमे 'स्वेद' कहते हैं ।

अश्रु—दिना प्रयत्न किये शोक, विसय, क्रोध अथवा हृषके कारण आँखोंमें से जल निकलता है, उसे 'अश्रु' कहते हैं । हृषमें जो अश्रु निकलते हैं, वे ठगडे होते हैं और वे प्रायः आँखोंकी कोरने भी चेको बहते हैं । शोकके ओंसू गरस होते हैं और वे बीचमे ही बहते हैं ।

स्वर-भंग—सुखमें अक्षर स्पष्ट उत्थारण न हो सके । उसे 'स्वरभेद' 'गदगद' या स्वर-भंग कहते हैं ।

वैवर्ण्य—उपर्युक्त कारणोंमें सुखपर जो एक प्रकारकी उदासी, पीलापन या फोकापन आ जाता है उसे 'वैवर्ण्य' कहते हैं । उसका असली स्वरूप है, 'आशुतिका बदल जाना ।'

पुलक—शरीरके सम्पूर्ण रोम खड़े हो जायें उसे पुलक या रोमाश्रव कहते हैं ।

प्रलय—जहाँ शरीरका तथा भले-बुरेका जान ही न रह जाय, उसे प्रलय कहते हैं । इन्हीं सब कारणोंमें बेहोशी आ जाती है । इस अवस्थामें प्रायः लोग पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं । 'बेहोश होकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़नेका नाम प्रलय है ।'

उपर्युक्त भाव हृष, विसय, क्रोध, शोक आदि सभी कारणोंसे होते हैं, किन्तु ईश्वरप्रेमके पक्षमें ही ये प्रशंसनीय हैं ।

पहले हम पूर्वराग, मिलन और वियोग अथवा विद्धोह ये तीन अवस्थाएँ प्रेमकी बता चुके हैं । अब उनके सम्बन्धमें कुछ सुनिये—

पूर्वराग—प्यारेमे साहारकार तो हुआ नहीं है, किन्तु चित्त उसके लिये तद्वप्त रहा है। इसे ही संख्यामें पूर्वराग कह सकते हैं। दिन-रात्रि उसीका ध्यान, उसीका चिन्तन और उसीके सम्बन्धका ज्ञान बना रहे। मिलनेकी उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाय, इसीका नाम पूर्वराग है। इस दशामें शरीरसे, घर-दूर तथा जीवनसे भी एकदम वैराग्य हो जाता है। उदाहरणके लिये इसी श्लोकको लिखिये—

हे देव ! हे दयित ! हे मुबनैकबन्धो !
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे कर्णौकसिध्धो !
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !
हा ! हा ! कदा नु भवितासि पदं दशामें ?

हे देव ! हे दयालो ! हे विभूतेषु एकमात्र बन्धु ! ओ काले ! अरे ओ चपल ! हे कर्णाके सामर ! हे स्वामिन ! हे मेरे साथ रमण करनेवाले ! हे मेरे नेत्रोंको सुख देनेवाले प्राणेश ! तुम कब सुझे दर्शन दोयो ?

इस श्लोकमें परम करुणापूर्ण सम्मोधनोद्गारा बड़ी ही मार्मिकाताके साथ प्यारेमे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी है। सचमुच अनुराग इसीका नाम है। ऐसी लगन हो, तब कहो वह निगोदा इस ओर दृष्टिपात करता है। बड़ा निर्दयी है!

अब दूसरा है, सम्मिलन-सुख। यह विषय वर्णनातीत है। सम्मिलनमें क्या सुख है, यह बात तो अनुभवगम्य है, इसे तो प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। इसलिये कवियोंने हमका विदेष वर्णन नहीं किया है। सम्मिलन-सुखको तो दो एक होकर ही जान सकते हैं, वे स्वयं उसका वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं, किर कोई वर्णन करे भी तो कैसे करे? अनुभव होनेपर वर्णन करनेकी शक्ति नहीं रहती और बिना अनुभवके वर्णन व्यर्थ है। इसलिये हम विषयमें सभी कवि उदासीनमें ही शीख पढ़ते हैं। श्रीमद्भागवतादिमें वर्णन है, किन्तु वह आटेमें नमकके ही समान प्रसंगवश यस्तिक्तिरु है। सभीने विरहके वर्णनमें ही अपना परिहल्य प्रश्रृतित किया है। और यदि कुछ वर्णन हो सकता है तो यस्तिक्तिरु विरहका ही हो भी सकता है। उसीके वर्णनमें मजा है। सम्मिलन-सुखको तो सिर्फ ये दोनों ही लूटते हैं। सुनिये, दसिक रसस्तानजीने दूर लड़े होकर इस सम्मिलनका बहुत ही धोड़ा वर्णन किया है। किन्तु वर्णन करनेमें कमाल कर

दिया है। दो प्रेमियोंके सम्मिलनका इतना सजीव और जीता-जागता चित्र शायद ही किसी अन्य कवियोंकी कवितामें मिले। एक सखी दूसरी सखीसे श्रीराधिकारी और श्रीकृष्णके सम्मिलनका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—

प. री। आज-कलिह सब लोक-रुज त्यागि दोऊ,
सोखे हैं सबै विवि सनेह सरसायबो।
यह रसस्तान दिन द्वै में बात फैलि जैहै,
कहाँलौं सयानी ! अन्द हायन लिपायबो॥
आज ही निहायो बीर, निपट कलिन्दी तीर,
दोउनको दोउन सौं मुख मुसकायबो।
दोऊ परैं पैयो दोऊ लेत हैं बैरैं,
उन्हें भूल गया गैयो, इन्हें गागर डालायबो॥

कैसा सजीव वर्णन है! वह भी कालिन्दीकूलपर एकान्तमें हुआ था, इसलिये छिपकर सखीने देख भी लिया, कहीं अन्तःपुरमें होना तो फिर वहाँ उसकी पहुँच कहाँ?

‘दोऊ परैं पैया दोऊ लेत हैं बैरैं,
उन्हें भूल गया गैयो, इन्हें गागर डालायबो॥’

—कहकर तो सखीने कमाल कर दिया है। अन्य हैं ये सम्मिलनको !

अब तीसीरी दशा है विरहकी। इन तीनोंमें उत्तरोत्तर एक दूसरीमें श्रेष्ठ हैं। पर्वानुरागकी अपेक्षा मिलन श्रेष्ठ है और मिलनकी अपेक्षा विरह श्रेष्ठ है। प्रेमरुपी दूधका विरह ही मस्तवन है। इसलिये कवीरदासजीने कहा है—

बिरहा-बिरहा मत कहो, निरहा है सुलतान।
जहि घर बिरह न संचरे, सो घट जान मसान॥

विरहके भी तीन में हैं। भविष्य-विरह, वर्तमान-विरह और भूत-विरह। इनमें भी परम्परमें उत्तरोत्तर उत्कृष्टता है। भावी-विरह यहा ही कल्पोपादक है, उससे भी दुःखदायी वर्तमान-विरह। भूत-विरह तो दुख-सुखकी पराकाहासे परे ही है।

पहले भावी-विरहको ही लीजिये। ‘प्यारा कल चक्का जायगा’ बस, इस भावके उदय होने ही कलेजेमें लो एक प्रकारकी ऐडन-सी होने लगती है, उसी ऐडनका नाम ‘भावी-विरह’ है।

ऐसो विरह-वेदना अपने किसी प्रियके विष्णुमें सभी-के हृदयमें होती है, किन्तु श्रीकृष्णके मथुरा-गमनका समाचार सुनकर गोपिकाओंको जो भावी-विरह-वेदना हुई, वह तो कुछ बात ही अनोखी है। वैमें तो सभीका विरह उत्कृष्ट है, किन्तु श्रीराधिकाजीके विरहको ही सर्वोल्लट माना गया है। एक सभी इस हृदयके हिता देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमतीजीके समीप आती है। उसे सुनते ही श्रीराधिकाजी कर्तव्यविमुद्द-सी होकर प्रलाप करने लगती है। उनके प्रकापका चिठ्ठिलाके अमर कवि श्रीविद्यापति ठाकुरने बदा ही मार्मिक वर्णन किया है—
राधिकाजी कह रही है—

‘मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कुछ अच्छा नहीं लगता । अरे ! ये निहुर प्राण भी सो नहीं निकलते। प्रियतमके लिये मैं किस देशमें जाऊँ ? रजनी बीतनेपर प्रातःकाल किसके कमल-मुखकी ओर निहारूंगी ? प्यारे तो दूर देशमें जा रहे हैं, मैं उनके विरह शोकमें मर जाऊंगी। समुद्रमें कृदकर प्राण गैंधा दूंगी, जिससे लोगोंकी दृष्टिसे औक्षण्ठ रह सकूँ । नहीं तो प्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-विदेशमें योगिनी बनकर धूमती रहूंगी ।’ यह भावी-विरहका उदाहरण है। अब वर्तमान-विरहकी बात सुनिये—

जो अबतक अपने साथ रहा, जिसके साथ रहकर भौति-भौतिके सुख भोगे, विविध प्रकारके आनन्दका अनुभव किया वही जानेके लिये एकदम तैयार खड़ा है। उस समय जो दिलमें एक प्रकारकी धड़कन होती है। सीनेमें कोई मानो साथ ही सैकड़ों सुखों नुमो रहा हो, उसी प्रकारकी-सी कुछ-कुछ दशा होती है उसे ही ‘वर्तमान-विरह’ कहते हैं।

गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है ? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले श्रीकृष्णके विरहमें व्रजांगनाओंकी क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमर वाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है—

पं ब्रनाणा विरहातुरा मृशं

व्रजस्तिः कृष्णविष्णुमानसः ।

विसुज्ज लज्जा छलुःस्य सुखरं

गोविन्द । दामोदर । माधवेति ॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीचितसे कह रहे हैं—‘राजन् ! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें आयन्त ही आसक हो रहे हैं, जो भविष्यमें होनेवाले विरह-हुःखको सरण करके घबड़ायी हुई, नान भाँतिके आर्त-वचनोंको कहती हुई और लोक-लाज आदिकी कुछ भी परवा न करती हैं, वे जैसे स्वरसे चिङ्गा-चिङ्गा कर हा गोविन्द ! हा माधव ! हा दामोदर ! कह-कहकर रुदन करने लगीं ।’ यही वर्तमान-विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनमें फिर कभी भेट होगी या नहीं। इसी चित्तधाका नाम ‘भूत-विरह’ है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण है। यदि मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका काम ही क्या ? फिर तो क्षमरमें हम शरीरको भस्म कर दें। प्यारेके मिलनकी आशा तो अवश्य ही है, किन्तु पता नहीं वह आशा कब पूरी होगी। पूरी होगी भी या नहीं, इसका भी कोई निश्चय नहीं। बस, प्यारेके एक ही बार दूसरे ही थोड़ी ही देरके लिये क्यों न हो, दर्शन हो जायें ! बस, इसी एक लालसामें वियोगिनी अपने शरीरको धारण किये रहती है। उस समय उसकी दशा चित्तिग्रह होती है। साधारणतया उस विरहकी दशा दशाएँ बतायी गयी हैं। वे क्ये हैं—

चिन्तात्र जागरोद्दोगा तानवं मलिनाङ्गता ।

प्राणो व्याधिरुद्धन्मादो मांदो मृत्युर्दशा दश ॥

(उज्ज्वलनालमणि ४० ६४)

‘चिन्ता, जागरण, उद्गेश, कृताता, मलिनता, प्रजाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु ये ही विरहकी दश दशाएँ हैं।’ अब इनका संदिश विवरण सुनिये—

चिन्ता—अपने प्यारेके ही विषयमें सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय सोचते रहनेका नाम चिन्ता है। मनमें दूसरे विचारोंके लिये स्थान ही न रहे। व्रज-भाषा-गगनके परम प्रकाशशब्द, ‘सूर’ ने चिन्ताका कैसा सजीव वर्णन किया है—

नाहिन रक्षा हियमें ठौर ।

नन्द-नन्दन अछन कैसे आनिये उर और ॥

चलत, चित्तवत, दिवस, जागत, स्वप्न, सोनत रत ।

इदवते वह स्थान मूरति छिन न इत डत जात ॥

कहत कथा अनेक ऊंचे लोक-लाज दिखात ।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिन्धु समात ॥
यमाम गत सरोज-अनन लसित-गति मुड़ हास ।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ॥

प्यासेको फिर नींद कहाँ ? नींद तो आँखोंमें ही आती है और आँखें ही रूपकी प्यासी हैं, ऐसी अवस्थामें नींद वहाँ आ ही नहीं सकती। इसलिये विरहकी दूसरी दशा 'जागरण' है।

जागरण—न सोनेका ही नाम 'जागरण' है, यदि विरहिणीको क्षणभरके लिये निद्रा भा जाय तो वह स्वप्नमें तो प्रियतमके दर्शन-सुखका आनन्द उठा ले। किन्तु उसकी आँखोंमें नींद कहाँ ? श्रीराधिकाजी अपनी एक प्रिय सखीसे कह रही है—

मा! पश्यति प्रियं स्वप्ने घन्यास्तुः सखि ! योगितः ।
अस्माकन्तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी ॥
(प्रधावली)

'स्वारी ससी ! वे लियों धन्य हैं जो प्रियतमके दर्शन स्वप्नमें तो कर लेती हैं। मुझ दुःखिनीके भास्यमें तो यह सुख भी नहीं बदा है। मेरी तो वैरिणी निद्रा भी श्रीकृष्णके साथ-ही-साथ मधुराको चली गयी। वह मेरे पास आती ही नहीं !' धन्य है, निद्रा आवें कहाँ, आँखोंमें तो प्यासेके रूपने अबू जमा लिया है। एक ध्यानमें दो तलवार समा ही कैसे सकती हैं ?

उद्ग-हृदयमें जो एक प्रकारकी हलचल और बेकली होती है, उसीका नाम उद्गेग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने उद्गेगका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

व्याकुल ही तड़पैं बिनु प्रीतम,
कोऽतौ नेकु दया डर लाओ ।
प्यासी तर्जौ तनु रूप-सुचा निन,
पानिय चीकों पर्हाई पिआओ ॥
जीयमें हैस कहूँ रहि जाय न,
हा ! 'हरिचंद' कोऽउठि धाओ ।
अैव न अैव पियारो थे ? कोऽ
हृल तौ जारके भेरो सुनाओ ॥

पाराकृष्णकी हृष हो गयी न ! भक्त कोई जाकर

हाल ही सुना देता तो इससे क्या हो जाता ? अब चौथी दशा कृशकाका समाचार सुनिये—

कृशता-प्यारेकी यादमें बिना खाये-पीये दिन-रात चिन्ता करनेके कारण शरीर जो दुबला हो जाता है, उसे 'कृशता' या 'तानव' कहते हैं। इसका उदाहरण लीजिये। गोपियोंकी वशा देखकर उद्वज्जी मधुरा लौटकर आ गये हैं और वहे ही करण-स्वरमें श्रीराधिकाजीकी दशका वर्णन कर रहे हैं। अन्धे सूरने इस वर्णनमें कमाल कर दिया है, सुनिये—

चित दै सुनौ स्याम प्रवीन !

हरि ! तुम्हारं विरह राधा, मैं तु देख्नी छीन ॥
तज्ज्ञो तेन, तमोल, मूढन, अग बसन मरीन ।
ककना कर बाम राह्यो, गाढ नुज गढ़ लीन ।
जब संदेशों कहन मुन्दरि, गमन मो तन कीन ।
स्वसि मुद्रावल धरन अदही, गिरि धरनि बलहीन ॥
कंठ बचन न बोल आँव, हृदय आँमुनि भीन ।
मैन जल भरि रोड दीनो, ग्रीसत आपट दीन ।
उठि बहुति समाग मट जां, परम साहस कीन ।
'मूर' प्रनु कल्यान पंस, जियहि आशा नीन ॥

यदि इसी एक अहिनीय पद्मों विरहकी मभी दशाओंके लिये उद्धृत कर दे तो सम्पूर्ण विरह-बेदनाके चित्र संचितनेमें पर्याप्त होगा। विरहिणीं श्रीराधाकी 'कृशता' 'मलिनता' 'चिन्ता' 'उडेग' 'व्याधि' 'मोह' और मृश्यु-तककी दशाओं दशाओंका वर्णन इसी एक पद्ममें कर दिया है। मृश्युको शाशकारोने माझात मृश्यु न बताकर 'मृश्यु-मृश्यु अवस्था' ही बताया है। श्रीराधिकाजीकी इसमें बढ़कर और मृश्यु-मृश्यु अवस्था हो ही क्या सकती है ?

मलिनद्रिता—'शरीरकी सुधि न होनेमें शरीरपर भैल अम जाता है, बाल चिकट जाते हैं, बछ गन्दे हो जाते हैं। इसे ही 'मलिनता' या 'मधिनांगता' कहते हैं। उपरके पद्ममें राधिकाजीके लिये आया ही है—

'तज्ज्ञो तेन, तमोल, मूढन, अग बसन मरीन ।'

प्रलाप-शोकके आवेशमें अपने-परायेको भूकंकर जो पागलोंकी तरह भूली-भूली बातें करने लगते हैं, उसका नाम 'प्रलाप' है। श्रीसीताजीकी लोकमें श्रीकृष्णमध्यक्षीके साथ श्रीरामचन्द्रजी उनोंमें फिर रहे हैं। हृष्यमें भारी विरह है,

अपने-परायेका ज्ञान नहीं, शरीरका होश नहीं, चौंककर लगते हो जाते हैं और प्रकाप करने लगते हैं—

कोइं ब्रह्म संख ! स्वयं स भगवानार्थः स को राष्ट्रः
के यूर्ध्वं बत नाथ ! नाथ ! किमिर्दं दासोऽस्मि ते कल्पणः ।
कान्तोरे किमिहासमहे बत संखे ! देव्यागतिर्मृद्युम्यते
का देवी ? जनकाविरात्रनया, हा ! जानकि ! कासि हा !!

भगवान् लक्ष्मणजीमे चौंककर पूछते हैं—‘मैंया ! मैं
कौन हूँ, मुझे बताओ तो सही ?’

लक्ष्मण कहते हैं—‘प्रभो ! आप साक्षात् भगवान् हैं।’
फिर पूछते हैं—‘कौन भगवान् ?’

लक्ष्मण कहते हैं—‘रघु महाराजके वंशमें उत्पन्न
होनेवाले श्रीराम !’

फिर आरं धीर देखकर पूछते हैं—‘अच्छा, तुम
कौन हो ?’

यह सुनकर अस्यन्त ही अधीर होकर लक्ष्मणजी
दीनताके माथ कहते हैं—‘हे स्वामिन् ! हे दयालो ! यह
आप कैसी बातें कर रहे हैं ? मैं आपका सरण्येवक
लक्ष्मण हूँ।’

भगवान् फिर उसी प्रकार कहते हैं—‘तब फिर हम
यहाँ जंगलोंमें बायों घृम रहे हैं ?’

शान्तिके माथ धीरेमे लक्ष्मणजी कहते हैं—‘हम
देवीकी सोज कर रहे हैं।’

चौंककर भगवान् पूछते हैं—‘कौन देवी ?’

लक्ष्मणजी कहते हैं—‘जगद्वन्द्विनी, जनकनन्दिनी
श्रीसीताजी !’

बस, सीताजीका नाम सुनते ही ‘हा सीते ! हा
जानकि ! तु कहाँ चली गयी’ कहते-कहते भगवान् शूक्रज
हो जाते हैं। इन बे-सिर-पैरकी बातोंका ही नाम ‘प्रलाप’ है।

व्यापि-शारीरमें किसी कारणवश जो बेदना होती है
उसे ‘ध्यापि’ कहते हैं और मनकी बेदनाको ‘ध्यापि’
कहते हैं। विरहकी ‘ध्यापि’ भी एक दशा है। उदाहरण
कीजिये। श्रीराजाजी अपनी प्रिय सखी छङ्कितासे कह
रही है—

उसापी पुटपाकतोऽपि गरलआमादपि छोमणो
एम्पेहरपि तुःसहः कुरुते इन्मन्मन्नाश्यादपि ।

६३

तीव्रः प्रौढविसूचिकानिच्चयतोऽप्युर्वर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनति गोकुलपतेर्विसूचयन्माजवरः ॥

(ललितमाथव नाटक)

‘हे सखि ! गोकुलपति उस गोपालका विच्छेद-उवर
मुझे बड़ी ही पीका दे रहा है। यह पात्रमें तपाये सुवर्णसे
भी अधिक उत्तापदायी है। पृथ्वीपर जिसने जहर हैं उन
मध्यमें भी अधिक धोरें पहुँचानेवाला है, वज्रमें भी तुःसह
है, हृदयमें छिद्रे हृषे शश्यसे भी अधिक कष्टवायी हैं तथा
तीव्र विसूचिकादि रोगोंसे भी बड़कर यन्त्रणाएँ पहुँचा रहा
है। प्यारी सखि ! यह उम्र मेरे मर्मस्थानोंको भेदन कर
रहा है।’ इसीका नाम ‘विरह-ध्यापि’ है।

उन्माद—साधारण चेष्टाएँ जब बदल जाती हैं और
विरहके आवेदनमें जब विरहिणी अटपटी और विचित्र
चेष्टाएँ करने लगती है, तो उसे ही ‘विरहोन्माद’ कहते
हैं। उदाहरण लीजिये। उद्धवजी मधुरा पहुँचकर
श्रीराधिकाजीकी चेष्टाओंका वर्णन कर रहे हैं—

ध्रमति भवनगमेनिर्वित्तं हसन्ती
प्रथमति तद वार्ता चेतनापेतनेषु ।
तुःति च भुवि राजा कमिष्टतांपी मुरारे
विषमविषमसंदोद्यारिवि भ्रान्तचित्ता ॥

अर्थात् हे श्रीकृष्ण ! श्रीराधिकाजीकी दशा क्या पूछते
हो, उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती
है, बिना बात ही स्थितिलिपाकर हँसने लगती है, चेतन-
मर्मस्थानमें ही या अचेतनावस्थामें, तुम्हारे ही सम्बन्धके
उत्तार निकालती है। कभी धृकिये ही लोट जाती है,
कभी पर-पर कौपने ही लगती है। हे मुरारे ! मैं क्या
बताऊँ, वह विजुवदनी राजा तुम्हारे विषम विरह-बेदसे
विभ्रान्त-सी हुई विचित्र ही चेष्टाएँ करती है।

नीचेके पदमें भारतेन्दु बाबूने भी ‘उन्मादिनी’ का बहा
ही सुन्दर वित्र सीधा है, किन्तु इसे ‘विरहोन्माद’ न
कहकर ‘ध्रेमोन्माद’ कहना ही ठीक होगा। सुनिये,
मौवरेके सनेहमें सनी हुई एक ससीकी कैसी विचित्र दशा
हो गयी है, पथ पदते-पडते भाव सजीव होकर आँखोंके
सामने नृत्य करने लगता है—

मूली-सी, अमी-सी, चौंकी, जक्की-सी, यक्की गोपी,
दुली-सी रहति कषु नाहीं सुखि देहकी ।

मोही-सी, मुमाई, कछु मोदक सो खाये सदा,
विसरी-सी रहै नेकु छबर न गेहकी ॥
रिस मरी रहै, कबौं फूली न समाति अंग,
हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेहकी ।
दूँके ते खिसानी होय, ठतर न आई ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेहकी ॥

मोह—अत्यन्त ही वियोगमें अंगोंके शिथिल हो जानेसे जो एक प्रकारकी मूर्छा-सी हो जाती है, उसे 'मोह' कहते हैं । यह मृत्युके समीपकी दशा है । इसका विवर तो हमारे रसिक हरिचन्द्रजी ही वही खूबीसे स्वीच सकते हैं । लीजिये, मोहमें मग्न दुर्घट एक विरहिनके साक्षात् दर्शन कीजिये—

याकी गति अंगनहीं, मरि परि गई मंद,
सूखि साँझारी-सी है के देह लागी धियरान ।
वादरी-सी दुदि भई, हँसी काढू छौन लई,
सुखोंके समाज, जित तित लागे दूरि जान ॥
'हरीचन्द्र' रावर विरह बग दुखमयो,
मग्न कछु और होनहार लागे दिखरान ।
नैन कुण्डिलान लागे, बैनहु अथान लागे,
आयो प्राननाथ ! अब प्रान लागे मुरक्षान ॥

सचमुच यदि प्राणनाथके पधारनेकी आशा न होती तो ये कुण्डिलाये हुए नैन और अथाये हुए बैन कवके पथरा गये होते । मुरक्षाये हुए प्राण, प्राणनाथकी आशामें ही अटके हुए हैं । 'मोह' की दशाका इसमें उसम उदाहरण और कहाँ भिलेगा ।

मृत्यु-मृत्युकी अब हम व्यास्था ल्या करें । मृत्यु हो गयी तो झगड़ा मिटा, दिन-रातके दुखमें बचे, किन्तु ये मधुररसके उपासक रागानुयायी भक्त कवि हतनेमें ही विरहियोंका विरह नहीं छोड़ेंगे । मृत्युका वे अर्थ करते हैं 'मृत्युके समान अवस्था हो जाना' । इसका इत्यन्त लीजिये । बँगलाके प्रसिद्ध पदकर्ता श्रीगोविन्ददासजीकी अमर-वासीमें ही वज्रासियोंकी दशभी दशाका दर्शन कीजिये—

मावव ! तुम यद निरदय भेज ।
मिछै अवधि दिन, गणि कृत राखव, ब्रजव-जीवन-ग्रेन ॥१॥
कोइ वरनितल, कोइ यमुनाजह, कोइ-कोइ लुठह निकुञ्ज ॥२॥
एतदिन विरहै, भरम-पथ येक्कु, तोहे तिरिदय पुनपुक ॥३॥

तपत सरोवर, थोरि सरिल जनु आकुल सफरि परान ॥४॥
जीवन मरण, मरण वर जीवन 'गोविन्ददास' दुख जान ॥५॥

हृती कह रही है—'च्यारे माधव ! भला, यह भी कोई अच्छी बात है, तुम हतने निर्दय बन गये ? तुनियाभरके स्तंष्ठे, कलकी कह आये थे, अब कल-ही-कल कितने दिन हो गये । इसप्रकार हठ-मूठ दिन गिनते-गिनते कवतक उन सबको बहलाते रहोगे । अब तुम्हें ब्रजकी दयनीय दशा म्या सुनाऊं, वहाँका इश्य बदा करण्योत्पादक है । कोई गोपी तो पृथ्वीपर लोट-पोट हो रही है, कोई यमुनाजीमें ही कूद रही है, कोई-कोई निभृत निकुञ्जोंमें ही कम्ही-लम्ही साँसें ले रही हैं । इसप्रकार वे अत्यन्त ही कष्टके साथ दिन-रात्रिको बिता रही हैं । तुम्हारे विरहमें अब वे मृत्युके समीप ही पहुँच चुकी हैं । यदि वे सब मर गयीं तो मैकड़ों खियोंके वधका पाप तुम्हारे ही सिर लगेगा । उनकी दशा ठीक उन मछलियोंकी-सी है जो थोड़े जळवाने गढ़-डंडें पड़ी हों और सूर्य उस गढ़-डेके सब जलको सोल खुका हो, वे जिसप्रकार योही-सी कीचर्में सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तबपती रहती हैं, उसी प्रकार ये तुम्हारे विरहमें तबप रही हैं । यह जीने हुए ही मरण है, यही नहीं, किन्तु इस जीवनसे तो मरण ही लाख दर्जे अच्छा । गोविन्ददास कहते हैं, उनके हुँखको ऐसा ही समझो !'

नियमानुसार तो यहाँ विरहका अन्त हो जाना चाहिये था, किन्तु वैष्णव कवि मृत्युके बाद भी किर उसे होशमें लाने हैं और पुनः मृत्युमें आगे भी बढ़ने हैं । रागमार्गीय अन्योंमें इससे आगेके भावोंका वर्णन है ।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान प्रवर्धनशील कहा गया है । (प्रतिक्षयावर्द्धमानम्) अनुराग हृदयमें बदसे-बदते जब सीमाके समीप तक पहुँच जाता है तो उसे ही 'भाव' कहते हैं । वैष्णवागण हमी अवस्थाको 'प्रेमका श्रीगिरयोजा' कहते हैं । जब भाव परम सीमातक पहुँचता है तो उसका नाम 'महाभाव' होता है । महाभावके भी 'रूप' महाभाव और 'अविरूप' महाभाव दो भेद बताये गये हैं । 'अविरूप' महाभावके भी 'मोदन' और 'मादन' दो रूप कहे हैं । 'मादन' ही 'मोदन' के भावमें परिणत हो जाना है, तब फिर 'दिव्योम्भाद' होता है । 'दिव्यो-म्भाद' ही 'प्रेम' या रतिकी पराकाष्ठा या सबसे अविद्यम स्थिति है । इसके उद्भूत्या, विन्द्र, जलपादि बहुतसे भेद हैं । यह विष्णोम्भाद औराविकालीके ही शरीरमें प्रकट हुआ

था। दिव्योन्मादावस्थामें कैसी दशा होती है इस बातका अनुमान श्रीमहागवतके निष्ठांकित श्लोकसे कुछुकुछु लगाया जा सकता है—

प्रवंदतः स्वप्रियनामकीर्त्ती
जातानुरागो दुर्तचित्त उम्भः ।
हस्यमयो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्मृत्यनि लोकबाहुः ॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४०)

श्रीकृष्णके अवण-कीर्तनका ही जिसने ब्रह्म ले रखा है, ऐसा अवशिष्ट पुरुष संसारी लोगोंकी कुछु भी परदा न करता हुआ अपने प्यारे श्रीकृष्णके नामसंकरनमें अनुरागवश कभी तो हँसता है, कभी रोता है, कभी चिक्खाता है, कभी गाता है और कभी धिरक-धिरककर नृथ्य करने लगता है।

इस श्लोकमें 'रौति' और 'रोदिति' ये दो धारु साथ ही हैं। इसमें श्वर जोरोंमें यह मारकर रोना ही अभिघट्जित होता है। 'रू' धारु शब्द करनेके अर्थमें ध्यवहृत होती है। जोरोंमें रोनेके अनन्तर जो एक करुणाजनक 'हा' शब्द आप-मे-आप ही निकल पड़ता है वही यहाँ 'रौति' क्रियाका अर्थ होगा। इसमें उन्मादकी अवस्थाका वर्णन नहीं है। यह 'उन्मादकी-सी अवस्था' का वर्णन है। उन्मादावस्था तो इसमें भी विचित्र होती होगी। यह तो मांसारिक उन्मादकी बात हुई, दिव्योःमाद नो फिर उन्मादमें भी बढ़कर विचित्र होगा। वह अनुभवगम्य विषय है, श्रीराधिकाजीको छोड़कर और किसीके शरीरमें यह प्रकटरूपमें देखा अथवा सुना नहीं गया।

भावोंकी ओर दशा बतायी गयी हैं—(१) भावोदय, (२) भाव-सन्धि, (३) भाव-शावल्य और (४) भाव-सान्निति।

किसी कारणविशेषमें जो हृदयमें भाव उत्पन्न होता है, उसे भावोदय कहते हैं। जैसे साथंकाल होते ही श्रीकृष्णके आनेका भाव हृदयमें उदित हो गया। हृदयमें दो भाव जब आकर मिल जाते हैं, तो उस अवस्थाका नाम भाव-सन्धि है, जैसे शीमार होकर पतिके घर लौटनेपर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी समिध हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उत्पन्न हो जायें तब उसे भाव-शावल्य कहते हैं। जैसे 'पुरोत्पत्ति-समाप्तारके साथ ही पश्चीकी भयंकर दशाका तथा पुन्न-

को प्राप्त होनेवाली उसके पुनर्वान मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्रबन्ध करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायें। इसी प्रकार हृदयस्तुके प्राप्त हो जानेपर औ एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है, उसे 'भाव-सान्निति' कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंको सहस्रा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनस्तु जो विरह-भाव था वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, स्लानि, तम, मद, गर्व, शंका, आस, आवेग, उन्माद, अपसार, व्याधि, मोह, सृति, आलस्य, जाह्नवी, ब्रीहा, अविह्या, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, ईनि, हर्ष, औसुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोय हन सबको ध्यभित्तारी भाव कहते हैं। इनका वैष्णव-शास्त्रमें विशदरूपमें वर्णन किया गया है।

हन मध्य शास्त्रोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगान लग जाय, दिलमें कोई खँस जाय, किसीकी रूप-माझुरी और्स्वर्में समा जाय, किसीके लिये उच्छट अनुराग हो जाय, तब सभी बेदा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेमें लगान लगानी चाहिये, फिर भाव, महाभाव, अधिरूढभाव तथा सास्त्रिक विकार और विरह-की दशाएँ तो आप-मे-आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा, स्यों-त्यों तड़फड़ाहट आप-मे-आप ही बढ़ने लगेगा। उम्म तड़फड़ाहटको बुलानेके लिये प्रयत्न न करना होगा। किन्तु हृदय किसीको स्थान दे तब न, उसने तो काम-कोधारि चोरोंको स्थान दे रखा है, वहाँ फिर महाराज प्रेमदेव कैसे पधार सकते हैं? सचमुच हमारा हृदय तो बधका है। स्तम्भ, रोमाञ्च, अशु आदि आठ विकारोंमेंसे एक भी सो हमारे शरीरमें स्वेच्छामें उदित नहीं होता। भगवान् देवव्यास तो कहते हैं—

तदश्मसारं हृदयं बोतं
यद् गृह्णमाणैर्हरिनामवैयैः ।
न तिकियताप्य यदविकारो
नेत्रे जलं गत्रयेहतुं हर्षः ॥

अर्थात् 'उस पुरुषके हृदयको वज्रकी तरह-फौलादकी तरह-समझना चाहिये, जिसके नेत्रोंमें हरि-नाम-सरण्य-मात्रसे ही जल न भर आता हो, शरीरमें रोमाञ्च न हो

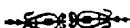
आते हों और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न होता हो ।' सचमुच हमारा तो हृदय ऐसा ही है । कैसे करें, क्या करनेवे नेत्रोंमें जल और हृदयमें विकृति उत्पन्न हो ? महाप्रभु चैतन्यदेव भी रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदधुधारमा बदनं गदगदरुद्धया गिरा ।
पुलकैनिचितं वपुः कदातव नामग्रहणं भविष्यति ॥

अर्थात् हे नाथ ! तुम्हारा नाम ग्रहण करते-करते कब हमारे दोनों नेत्रोंमें जलकी धारा बहने लगी, कब हम 'गदगद-करठले 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए पुलकित हो उड़ेंगे ?' वे महाभागा तो अपनी साथको पूरी कर गये । १८ वर्ष नेत्रोंमें दृढ़नी जलधारा बहायी, कि कोई मनुष्य इतने रक्तका जल कभी बना ही नहीं सकता । गौर-भक्तोंका कहना है कि महाप्रभु गरुद-स्तम्भके समीप, जग-मोहनके इसी ओर जहाँ खड़े होकर दर्शन करते थे, वहाँ

नीचे एक छोटा-सा कुरुड़ था, महाप्रभु दर्शन करते-करते इतने रोते थे कि उस गढ़देवमें अशु-जल भर जाता था । एक दो-दिन नहीं, साल-दो-साल नहीं, परे अठारह साल इसी प्रकार वे रोये । उन्मादवस्थामें भी उनका जगज्ञाथ-जीके दर्शनोंका जाना बन्द नहीं हुआ । यह काम उनका अनन्ततक अक्षुरण-भावमें चलता रहा । वैष्णव-भक्तोंका कथन है कि महाप्रभुके शरीरमें प्रेमके वे सभी भाव प्रकट हुए । क्यों न हों, वे तो चैतन्यस्वरूप ही थे । अन्तमें श्रीलिलितकिशोरीजीकी अभिलाषामें अपनी अभिलाषा मिलते हुए हम इस वक्त्यको समाप्त करते हैं—

जमुना पुलिन कुंज गहवरकी कोकिल है दुम कूक मचाऊँ । पद-पंकज प्रिय लाल मधुप है मधुर-मधुरे गूज सुनाऊँ ॥ कूरा है बन बीथिन डोलीं बचे सीधे रसिकनके साऊँ । 'ललितकिसोंगी' आस यही मम ब्रज-रज तजिंठिन अनत न जाऊँ ॥



पुकार

(लेखिका—श्रीमती यशोदांदेवी, धर्मपत्नी मुं० कन्देयालालजी एडवोकेट)

[कहानी]

(१)

तुम कठणके सागर तुम पालनकर्ता,
मैं अबोध अज्ञानी कृपा करो भर्ता,
ओइम् जय जगदीश हो ।
तुम पूरण परमात्मा तुम अन्तर्यामी,
पारब्रह्म परमश्वर तुम सबके स्वामी,
ओइम् जय जगदीश हो ।
जय जगदीश हो, प्रभु जय जगदीश हो ।

आरती स्वतम हो गयी, घण्टा, शंख, घडियाल रक्ष

दिये गये । सबने एकस्वरसे चिङ्गाकर कहा, बोली—परमपिता परमात्माकी जय । जगत्पतिकी जय ।

मध्यने सिर नवाये । पर एक प्रौढ़ा उसी तरह सिर झुकाये बैठी रही । आरती करनेवाले प्रौढ़ने कहा—'प्रिये ! क्या आज भजन न गाओगी ?'

प्रौढ़ने सिर उठाया, उस समय उसकी आँखोंमें आँखू बह रहे थे । वहे कष्टसे उसने कहा—देव, क्या इतने श्रिनोंकी सेवाका यही कल मिल रहा है ?

प्रौढ़—प्रिये ! शान्त होओ, जैर्य भारण करो, वह दीनोंके माय, अहरणोंको शरण देनेवाले जो कुछ कर रहे हैं,

अच्छा ही कर रहे हैं । आज तुम कैसी पगली हो गयी हो ?

प्रौढ़ा—आगर उनको दया आती तो क्या हम गरीबोंकी आह न सुनते ? आह ! मेरे बचे भूतों मर रहे हैं, मेरी सुकुमार बचियाँ दिलख रही हैं । ठाकुरजीकी नेवा क्या यों ही निरर्थक जा रही है ?

प्रौढ़—न कहो प्रिये, ऐसा न कहो । आज तुम बच्चोंकी दिलख, बचियोंकी तड़प देखकर अधीर हो रही हो । निश्चय रक्षो, वे सब मंगल कर रहे हैं । वे हमलोगोंकी परीक्षा ले रहे हैं, इस परीक्षामें हमें उत्तीर्ण होना चाहिये । अधीर न होओ, उद्यो, शान्त होओ । मुझे बड़ा दुःख हो रहा है कि तुम्हारे विचार आज तेसे क्यों हो गये ?

प्रौढ़—देव, क्या कहूँ, दुःख सहते-सहते मेरा कलेजा पक गया । सदा सुखमें पले हुए मेरे बचे आज जब रोटी मांगेंगे तो मैं क्या दूँगी ?

प्रौढ़—बस इसीलिये, इसीलिये भगवान्की दयापर सन्देह कर रही थी । अरे, इसके लिये तो मातृ-स्तेह काफी है, जहाँ तुम एक बार बच्चोंको प्यारसे हृदय क्षमा लोगी,

सारी भूख काफ़र हो जायगी। उठो, ठाकुरजीसे अपने आजके इस अपराधके लिये क्षमा माँगो। आहून्दा भूखसे भी कभी ऐसे चिन्हार अपने चिन्हमें न लाना। ज्ञान सोचो तो सही। नौ महीनेतक पेटमें बच्चेका कौन पालन करता है? उसीकी दयासे तो आज हमलोग हाथ-पैरवाले बने हैं। उसीकी दयासे आज चलने-फिरने और सुनेको शक्ति बनी है। यह सब उसीकी कृपाका फल है, उसीकी असीम दयाको कौन वर्णन कर सकता है? उठो क्षमा माँगो! इतना कहकर वे चले गये।

प्रौदा जाकर ठाकुरजीके मिहासनके सभीप खड़ी होकर न जाने कितनी देरतक हाथ जोड़े खड़ी रही। उस समय वह ध्यानमें इतनी निमग्न हो गयी कि उसे दीन-नुनियाँकी खबर न रही। थोड़ी देर बाद एक बच्चेने आकर कहा—
अम्मा, भूख लगी है कुछ सानेको दे।

प्रौदाको अब होश हुआ। उसने बच्चेको हृदयसे लगाकर कहा—बेटा! ठाकुरजीको हाथ जोड़ो, वे ही तुम्हें सानेको देंगे।

बच्चेने दोनों नहें-नहें हाथ जोड़कर कहा—ठाकुरजी महाराज! आज हमें अच्छी-अच्छी चीजें सानेको दो।

उस समय प्रौदाकी आँखोंमें आँसूकी धार बह रही थी।

(२)

अम्मा! आज खानेको क्या बनेगा? सिरकी कलशी डतारती हुई सरोजनी मातासे पड़ा। सरोजनी चौदह-पन्द्रह वर्षकी सुकमार बालिका थी, वह बाह्यकाल समाप्त करके युवावस्थामें पदार्पण कर रही थी। सरोजनी जैसी सुन्दरी थी वैसी ही सुशीला भी थी। सिरकी कलशी नीचे रख हाथकी धोती अरणीपर फैलाकर वह आँगनमें खड़ी हो गयी।

माँ उस समय न जाने किस ध्यानमें मझ थी, कुछ न बोली। सरोजनीने अपनी छोटी बहिन सरलासे पड़ा—
‘सरला! बाबूजी कहाँ हैं?’

सरला—सुमेर नहीं मालूम दीदी! आज जब तुम नहाने गयी, अम्मा बहुत रो रही थीं।

सरोजनी—तुम्हें मालूम है सरला! अम्मा क्यों रो रही थीं?

सरला—मुझे तो नहीं मालूम दीदी!

सरोजनी माताके पाम जाकर बैठ गयी, उम समय उसकी माँ हाथमें शायद कोई कुरता लेकर सी रही थी। सीनेमें वह ऐसी तन्मय हो रही थी कि उल्टा-पुल्टा कुरता सी रही थी परन्तु उसे इतना ज्ञान न था कि वह क्या कर रही है। सरोजनीने हाथसे कुरता ले लिया और बोली—माँ, देखो न, तुम उल्टा कुरता सी रही हो? आज कैसे बैठी हो?

अब माताके अपनी तन्मयताका ज्ञान हुआ, उसने कहा—हाँ बेटी, भूख गयी, तुम कब नहाकर आयी।

सरोजनी—मैं तो बहुत देरमें आयी हूँ, मैं पूछ रही थी कि खानेको क्या बनाऊँ, अभी राजू, विरज भूम्ये आने होंगे।

माँ—देखो बेटी, शायद मटकीमें कुछ आटा हो, उसीकी रोटियाँ सेंक लो।

सरोजनी—और पिताजी क्या खायेंगे माँ, ऐसी धूपमें कोई निकलनेका साहस नहीं करता, वे कहाँ गये?

माँ—बेटी, वे नौकरीकी तलाशमें गये हैं, कहीं खबर थी।

सरोजनी—माँ, तुम और पिताजी तो चिन्ताके मारे घुले जा रहे हों; उठो न, नहा-धो डालो, कैसा मुँह सूख गया है?

माँ—अभी नहीं बेटी, कुरता पूरा हो जाय, खुब्जकी अम्माने इसे आज ही माँगा है। तुम जाकर रोटी बना लो।

सरोजनी एक दीर्घ निशास छोड़कर उठ खड़ी हुई। भरणारथरमें जाकर उसने सब मटकियाँ ढूँढ़ डाली, पर किसीमें आटा न था। वह सब ही गयी। किस मुँहमें जाकर कहे कि आटा नहीं है। भाई भूखे आते होंगे, पिता भूखे आते होंगे, सरोजनी क्या कहेगी। वह आह करके जमीनपर बैठ गयी और रोने लगी। इतनेमें एक साधुने पुकारा—बच्चा भीख दो।

कोई न बोला। फिर साधुने आवाज लगायी—‘बच्चा, साधु भूखा है, एक रोटीका आटा दे जाओ।’

अबकी सरोजनी प्रस्तु पड़ी। इतनेमें राजू, विरजने दौड़े-दौड़े स्कूलसे आकर सरोजनीका पहा पकड़ लिया और बोले—‘दीदी! बच्ची भूख लग रही है, चलो स्कूलेको दो।’

सरोजनी बेचारी बड़े असमझसमें पड़ी, उधर साधु बार-बार हाँक दे रहा था। सरोजनी भाइयोंसे पहा छुड़ा-

कर दरवाजेके पास जाकर बोली—बाबा ! हमालोग भूखों भर रहे हैं तुम्हें कहाँमे दें ?

सानु—न कहो बेटी, ऐसा न करो । परमात्माकी दयासे तुम्हारे घरमें सब कुछ है ।

सरोजनी—बाबा ! तुम तो जिह कर रहे हो, अगर घरमें कुछ होता तो मैं तुमको भिक्षा न देती । हमारे दरवाजेसे भिक्षुक लौट जाय, हमसे क्या मुझे कम हुँख हो रहा है, परमात्मा हम दीनोंकी पुकारको नहीं सुनते । पुकारते-पुकारते थक गयी हूँ ।

सानु—न बेटी, उस जगद्विताकी दयाका पार नहीं है, उसकी सत्ता और महिमाका पार वह-वहे ज्ञानी नहीं पा सकते । तुम भूखी हो, हस्ती कारण तुम परमात्माको कठोर समझ रही हो । देखो जाकर तुम्हारे घरमें आदा भरा है । इतना कहकर साधु एक ओरको चल दिया । सरोजनी उसी-सी खड़ी रह गयी, पास ही माँ और भाई-बहिन लड़े थे । माँने कहा—बेटी, चलो घरमें चल ।

सरोजनी—(रोकर)—माँ वहे हुँखकी बात है भिक्षुक भूखा चला गया ।

माँ—क्या करूँ बेटी । जो कुछ हो रहा है अच्छा हो रहा है, विपत्तिमें धैर्य धारणा करना चाहिये, यह संभार परीक्षागृह है, यह सब परीक्षा हो रही है ।

सरोजनीने अन्दर जाकर दूँदा, पीछेकी ओर जिसे सरोजनी देखना भूल गयी थी, सचमुच एक मटकीमें आठा भरा था, उसने कहा—माँ ! देखो न साधु मच ही कह रहा था कि तुम्हारे घरमें आदा है, मैंने दूँदा ही नहीं ।

माँ—बेटी, उस साधुहीकी कृपाका फल है, सब-शक्तिमान् परमात्माने भेजा है, हुँखमें हमलोग पागल होकर न जाने क्या-क्या कह बैठने हैं ?

बोलो एक बार सर्वशक्तिमान् परमात्माकी जय !

सब बच्चे चिछकाकर कह उठे ठाकुरजी भहाराजकी जय । माँका मुख आनन्दमें खिल उठा । उसने बच्चोंको प्यारमें गले लगा लिया ।

(३)

जयशंकरप्रसाद काशीके एक कपड़ेको मिलके मैनेजर थे, काफी आमदनी थी, कम्पनीमें बड़ा मान था, मालिक हूँदमें बड़ा प्रसंग रहा करता था, उसे हृषपर असीम

विश्वास था । ये भी बड़ी सचाईमें काम करते थे, पर अन्य सारे कर्मचारी इनसे जलते थे, क्योंकि उन सबको इनके कारण उपरकी आमदनी नहीं होती थी, न तो ये सुद रुपया लूटते, न औरोंको लूटने देते । इनकी साखुता और न्याय-प्रियता कर्मचारियोंको असद्ग हो रही थी । वे सब भिलकर पद्धयन्त्र रचने लगे ।

घरमें पढ़ी श्यामा और दो लड़के राजमोहन, बज-मोहन और दो लड़कियाँ सरला, सरोजनी थीं । ये २५०) तनावाहके पाते । उसीमें श्यामा और बच्चे मधी सुश थे, सबसे बढ़कर उनके परिवारमें एक बात बहँ । यह थी, वह यह कि जयशंकरप्रसाद और छी-बच्चे सभी परमेश्वरके सब्जे भक्त थे । उनकी भक्ति उपरमें विश्वावेकी न थी । घरमें ठाकुरजीकी शूर्ति थी । सुदृश-शाम आरती-पूजा होती, बच्चे घरटा-वडियाल बजाते, जयशंकर आरती करते और श्यामा भजन गाती । कैसा सुन्दर हृश्य उस समय रहता ? जयशंकरप्रसाद दिल्लानेको तो गृहस्थीये थे, पर मन उनका सदा विरक्त रहता ।

समय सदा एक-सा नहीं रहता । संमार कम्पश्वेत है, परीक्षाघात है, सबकी परीक्षा होती है । जयशंकर-प्रसादके भी परीक्षाका समय आ गया । विपत्तियाँ कभी बूँदकर नहीं आतीं । मिलके मालिकको लोगोंके लगाने-बुझानेये इनके कार्योपर मन्देह हो गया । धीरे-धीरे वह मन्देह दृष्ट होता गया । दुरसनोंको चाल सूर्णी । कम्पनीके दो हजार रुपये गायब हो गये, जयशंकरप्रसादके हाथमें मारा कार्य था । कार्यकर्ता ही पकड़ा जाता है । बेचारे सब हो गये । मुहूर नौकरी करने गुमर गयी थी, कभी किसीने अंगुलीतक न उठायी थी, आज वे खीर हो गये । मालिकका सन्देह और भी पक्का हो गया । कम्पनीकी तरफमें गवनका सुकहामा चला शिया गया और वे काम-परमें सुअल्ल कर दिये गये । घरमें पढ़ी श्यामाने सुना तो सिर पीट लिया, जो बात कभी स्वस्मै भी न आयी थी, वही हो गयी, पतिपर मिथ्या दोषारोपण कर दिया गया । जयशंकरप्रसाद आकर एकदम खटियापर पढ़ गये और अपने भगवान्को पुकारने लगे ।

यह विपत्ति तो थी ही, घरमें जो कुछ पैंजी थी, पक्कीके आमूरथा थे, सब बेचबाचकर वे सुकहामें लगाने लगे । जयशंकरप्रसाद सुने हाथके आदमी थे, रिश्ततका पैसा लेना पाप समझते थे, नहीं तो आज उन्होंने सोनेकी

दीवार लड़ी कर की होती । मुश्किल से हजार-हेड-हजार के समान निकले होंगे, बेचकर काशी के पास ही गाँव में चले आये । काशी में उनकी हृतनी बदनामी ही गयी थी कि घर से बाहर निकला कठिन था । शहर के लोगों में हृतनी सहानुभूति नहीं होती कि वे विपत्ति में एक दूसरे के सहायक हों ।

जयशंकरप्रसाद गाँव में आकर भी बदनामी में न बच सके । सरोजनी काफी सयानी हो गयी थी । उसका ब्याह होना जरूरी था, यहाँ सानेको भी ठिकाना न था, ब्याह कैसे हो ? उधर मुकादमा दायर । कुछ समझ में न आता था कि क्या करें । बच्चों का सम्बा सुन्ह देखकर श्यामाका जी मसोस उटता । जिन बच्चों को हृतने लाइ-प्यार में पाला था, उन्हीं बच्चों को एक बार बेचना, सुन्ही रोटी जाने देख-कर वह तब्दील । लड़कियों के ब्याह के किन्तने मंसूबे उसने बांधे थे, वे सब उसके हृदय में रह गये, आज लड़कियों की सयानी देखकर वह घबड़ा जाती कि कैसे वह इनके हाथ पीछे कर सकती । गाँव को छियाँ तरह-तरह की बातें कहाने । कोइं-कोइं तो इयामाने कह बैठती, 'बहिन, तुम्हारे दाना कैसे हृतम होता है, सयानी लड़की को बैठा-कर क्या कराई खाओगी ? सचमुख शहरी लोगों को छाना नहीं आती, घर में जाना लड़कियाँ बैठी रहें, उनके मन में कुछ आती ही नहीं !' इयामा बेचारी क्या उत्तर देती, वह सिर मुकादमा ताने सुन लिया करती थी ।

दीनों लड़कियाँ दिन-पर-दिन निखरी चली आती थीं, श्यामा बेचारी उनको देख-देखकर घुसी जाती थीं, पतिसे कहती तो वे यही उत्तर देते 'परमामाको याद करो, वही सब दुःखोंको काटेंगे । वही हम सबोंकी विपत्तियोंका अन्त करेंगे ।' कभी-कभी पक्षी घबड़ा उठती पर जयशंकरप्रसाद के हृदय में विश्वास, साहस और धैर्य था । वह सोचते थे कि प्रभु सब ठीक करेंगे ।

(४)

सरोजनी रोज तालाब से पानी लेने जाती, मकान से तालाब दूर था, माँ चिन्ताके मारे सूखकर काँटा हो गयी थी, उसके बदन में हृतना झोर न था कि कलसी भरकर ले आये, सरका अभी क्षीटी थी, जयशंकरप्रसाद मुकदमे के पीछे हैरान रहते । कभी वहाँ, कभी वहाँ, इधर-उधर दौड़-धूप छागये रहते थे । जगह-जगह नौकरीकी तजाहामें मारे-मारे फिरते, पर कहीं सी ठिकाना नहीं करता था । साथ

ही सरोजनीके बिंदे वर भी दूँ दूँ करे, पर वर मिलना आसान काम न था । जिसके लड़के होते हैं उसके मिजाज शानपर चढ़े होते हैं । जहाँ जाते, वही दो हजार, चार हजार सुनाते । जिसके घर में दस रथयेक भी ठिकाना नहीं, वह हजार रथये कहाँसे लावे ? बेचारे चारों तरफ से इताश-से होते जाने ।

सरोजनी रोज सुबहको तालाब से पानी लाने जाती । एक दिन वह तड़के ही चली गयी । राह में एक दुष्ट युवक ने उसमे छेड़खानी की । मब और सबाई था, कुँड़-कुँड़ अंधेरा हो रहा था, लोग घरोंमें सो रहे थे, दुष्टने पीछे से आकर सरोजनीका छाँचल पकड़कर खीचा । सरोजनीने उसे ढाँटा, पर वह कब माननेवाला था ? निरुपाय अबलाने मन-ही-मन भगवानको पुकारा । उसके मन में निश्चय था कि 'जिसने द्रौपदीकी लाज रखी, जिसने गजराजको ग्राहके मुँहमें छुड़ाया, वह अवश्य मेरी रक्षा करेगा ।' उसने कहा, 'दुष्ट ! भला चाहता है तो ओढ़ दे मेरे आँचलको, सतीको न सता । कहीं भगवानका कोप हो गया तो बै-मौत मारा जायगा ।'

युद्ध-बुला न अपने भगवानको ! अब तो मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता ।

यह कहकर वह युवक सरोजनीको पकड़ना ही चाहता था कि सरोजनी चिङ्गा पही—'कहाँ हो मधुसूदन, कहाँ हो भगवन् !' मेरी रक्षा करो, इस पापीके हाथोंसे मेरे सतीत्वको बचाओ ।'

जरा-सी भी देर होती तो न मालूम सरोजनीपर क्या बीती, पर न जाने कहाँमें एक दूसरा युवक कृदकर आ पैँचा, आते ही उसने पहले युवकका गला पकड़कर उसके पीठपर दो लातें मारी और बोला—पापी ! एक घबड़ाका सतीत्व भंग कर रहा था, बोल सुअर, तेरे माँ-बहिन नहीं हैं ?

युवक धर-धर काँपने लगा, उसने हाथ जोड़कर कहा— आप हैं भद्रायजी ! मुझसे क्या करूँ ! माँग ! माँग इस अपनी बहिनसे, स्वरदार जो दूरे अब किसीपर अँखें उठायीं ।

न जाने कौन-सी प्रेरणा उस युवकके हृदयमें उठी । उसने हाथ जोड़कर कहा—'बहिन ! मुझ पापीको क्षमा करो ।' सरोजनी धर-धर काँप रही थी, उसकी समझमें कुछ नहीं आता था । वह गदगद हो गयी । भगवानकी प्रेरणासे आये हुए दूसरे युवकके प्रति उसका हृदय भक्ति-अद्भुत

भर गया । उसने अशुपूर्ण नेत्रोंसे मूक-भाषामें युवकका अभिनन्दन किया ।

सरोजनीको बचानेवाला गाँधके जर्मीदारका सुशील सुशिखित पुत्र सुरेन्द्रनाथ था ।

फिर उस युवकने कहा—बहिन ! क्या मुझे क्षमा न मिलेगी ?

सरोजनीने बड़े कष्टसे कहा—हमा ! मुझमे न माँगो । उस जगत्-पितासे माँगो जिसने दया करके तुम्हें आज कुकर्मसे बचाया । उसीकी याद करो, जिसको तुम समझते थे कि वह कहीं नहीं है । आजसे तुम किसी भी भीको अपनी बहिन समझ सकोगे ।

युवक-समझ सङ्घंगा बहिन, तुम्हारी दयामे ! यह कहकर वह सरोजनोंके पैरोंपर गिर पड़ा ।

सुरेन्द्रनाथने कहा—‘क्या आप मेरे साथ चल सकेंगी ? मैं आपको सुरक्षित बर पहुँचा दूँगा । इतने तड़के पानी लेने न जाया करें ।’

सरोजनी चल सकी हुई, हननेमें सुरेन्द्रके पिताने, जो हहा सुनकर आ रहे थे, पास आकर कहा—क्या है सुरेन्द्र ? यह क्यों हहा मचा था ? तुम यहाँ कैसे ? और यह इस समय क्यों आया ? यह कड़की कौन है ?

सुरेन्द्रने सब छृतान्त कहा । जर्मीदार आपने पुत्रका साहस सुनकर वह प्रसन्न हुए ।

फिर सरोजनीमें पृक्षा—नुम किसको लड़की हो बेटी ?

सरोजनी एक दृश्य चुप रही । वह कष्टमें उसने लजाते हुए कहा—उधर जो मकान है, मेरे पिता जयशंकरप्रसाद हैं ।

जर्मीदार—जयशंकरप्रसाद । तुम उन्हींकी कन्या हो, जैसे वह है, वैसे ही साक्षात् लक्ष्मी तुम हो बेटी ! मुझे तुम आपने पिताके बराबर समझना, आजतक मैंने तुम्हें नहीं देखा था । जाओ बेटी, तुम्हारी माँ बबराती होंगी !

सरोजनी एक बार उनके थरणोंमें सिर झुकाकर और मन-ही-मन आपने हृदयदेवको प्रणाम करके चली गयी ।

× × × ×

(१)

आज काशीकी अदालतमें काकी भीड़ है । एक ईश्वरके सबै भक्त और लेवकको अदालतसे सज्जा मिलनेवाली है । कितने लोग इस वसाहतोंको देख रहे हैं, कितने लोग कामा-कूसी कर रहे हैं कि ‘देखो, कैसा पासादरी निकला, उदरसे कैसा सज्जा और ईश्वर-भक्त बना फिरता था और

भीतर इस तरहके लेल लेल रहा था ।’ कुछ कोर फह रहे थे, ‘भाई, यह कलजुग है ‘मुँहमें राम, बगानमें छूटी,’ ‘रामनाम जपना, पराया माल अपना ।’ बस आजकल ऐसे ही भक्त हैं । बेचारे जयशंकरप्रसाद एक तरफ कैदीकी तरह सिर झुकाये लड़े सब कुछ देस-सुन रहे थे । आज मुक्तिमेंकी आखिरी पेशी है । आज ही उनके भास्यका फैसला होनेवाला है, उनके लिंगाक गवाही ही रही है । परन्तु जयशंकर यही सोच रहे हैं कि ‘परमात्मा जो कुछ कर रहे हैं अच्छा ही कर रहे हैं । उनके कार्योंको कौन समझ सकता है ?’ मन-ही-मन वह आपने हृदयदेवका स्मरण कर रहे थे । मालम होता है कि प्रभुने उनकी गुहार सुन ली । जजने कहा—‘हिसाबका खाता लाओ ।

मिलके मालिकने फौरन खाता पेश किया । जजने गौरमे देखा, देखते ही उसे विश्वास हो गया कि और सब जगहकी लिखावटोंमें यह लिखावट विलकुल भिन्न है, वह समझ गया कि यह आल जयशंकरका नहीं है, मिलके मालिकने भी देखकर मन-ही-मन कहा कि ‘दर-असल यह अपर तो किसी दूसरेके हैं ।’

जजने कहा—वेल, जयशंकर, तुम बरी कर दिये गये, वह विलकुल बनावटी जाऊ था ।

जजका कहना था कि जयशंकर संकटमोचन भगवान्नकी जयका नारा लाया जजको प्रणाम कर आपने घरकी ओर दौड़े । उनके मनमें था कि चलकर पहले ठाकुरजीकी स्तुति करें, जिन्होंने इस विपद्मे रक्षा की । मिलके मालिक पुकारते ही रह गये कि एक बात सुने जाओ, पर वहाँ कौन सुनता था, पागलकी भाँति जयशंकरप्रसाद भागे जा रहे थे । उनके पैर ढिकाने न पढ़े थे, ठाकुरजीकी दयाके सिवा इन्हें इस समय और कुछ भी याद न था ।

× × × ×

आपनी झोपड़ीमें जयशंकरप्रसाद रथामा, सरोजनी, सरला, राजू, बिरजू सभीके साथ हरिभजनमें लगे हुए हैं । भगवान्नकी आरतीका समय है, आज आरतीमें कुछ विशेष आनन्द है, सरोजनीने कुछ ज्यादा फूल इकट्ठा करके भगवान्नके लिये मोटा हार गूँथा है । भगवान्नका फूलोंसे शूगार किया गया है । जो कुछ साग-सत् धरमे मौजूद था उसे वह प्रेमसे बनाया गया है । आरती करके सब गुसाईं तुखीशीदासजीका भजन गाने लगे ।

हरि तजि और भजिये कहि ।

नाहिने कोठ रामसो भगवा ब्रह्म धर जाहि ।

गानेमें ऐसे मझ थे कि किसीको अपने तन-बदलकी सुधि न थी । मारे प्रसवताके सभी मस्त थे, इसमें किसीने पुकारकर एक पत्र दिया, परन्तु उम्है यह न सूझा कि दस पत्रको लोलकर पड़े । सब हरिभजनमें मझ रहे । थोड़ी देर बाद एक आदमी दूसरा पत्र दे गया, उसे मीलेकर रख दिया ।

शोधटेतक हरिभजनका समाँ बैठा रहा । जब सब सावधान हुए, तब जयशंकरप्रसादने पहला पत्र खोड़ा, पत्रको पढ़ते ही उनका चेहरा हँस्ते खिल डडा—श्यामाने पहला 'क्या है, किसका पत्र है ?'

जयशंकर—श्यामा ! जरा भगवान्की महिमा तो देखो ! भिलके भाजिकका पत्र आया है, उन्होंने लिखा है कि 'आप मुझमें नाराज होकर चले गये, आहये, आपकी जगह लाली है, गलतीमें आपपर मूठा मुकुदमा चला, इसका मुझे बड़ा दुःख है, मैंने कथहरीमें आपको पुकारा था परन्तु आप जलदीमें भागे चले गये । यह हो इजार लघ्येका चेक इर्जनेका भेज रहा हूँ ।' बोलो श्यामा ! किसकी इयासे ? सबने एक स्वरमें पुकारा, ठाकुरजीकी हृषामें, उस जगत्-पिताकी दृष्टासे ।

दूसरा पत्र खोड़ा गया । वह सरोजनीको दुष्टके हाथमें बचानेवाले सुरेन्द्रनाथके पिताका पत्र था । उसमें लिखा था—

प्रिय जयशंकरप्रसादजी !

मैंने आपकी पुत्रीकी बहुत प्रशंसा सुनी है, साल्लाहू लक्ष्मी है और मेरी बहू होने लायक है, आप हरिगङ्गा यह लघाल न किजियेगा कि मैं घनवान् हूँ और आप गरीब हैं । हृष्ण कोई चीज नहीं है । आपकी पुत्री साल्लाहू लक्ष्मीकी तरह मेरे घरमें उजेला करेगी । आशा है कि आप इसे स्वीकार करेंगे ।

आपका परमहितैषी
राजेन्द्रनाथ जर्मीन्द्रार

फिरमे सबने ठाकुरजीकी जयजयकार की । कहाँ तो हूँ भी गरीब घर न मिलता था, कहाँ ठाकुरजीकी दृश्यमें इतना बड़ा घर अनायास ही मिल गया । सबने चिन्ना-कर जय पुकारी । परन्तु सरोजनीने मन-ही-मन कहा— 'वाह भगवन् ! आपने मेरी पुकार खब सुनी !'

दार्शनिक विचारोंका केन्द्र ईश्वर

(लेखक—म० श्रीरवुरुद्धा नार्यजी वेदान्तकेसरी, न्यायमीमांसापाद्याय, तक्तेवान्ततीर्थ, वेदान्तशिरोमणि, दर्शननिधि)

मारे प्राचीन दर्शनकार वैदिक सिद्धान्तको ही आगे रखकर अपने-अपने दर्शनीय भूमि प्रतिपादनमें कृतकार्य हुए हैं । अतएव सभल दार्शनिक विचार मुख्यतया वेदानुकूल होते हुए कुछ थोड़े-मे परिगणित गौण विचारोंमें ही पार्थक्य रखते हैं । 'इयते अनेनेति दर्शनम्' इस व्युत्पत्तिसे विज्ञान (अर्थात् तत्त्वज्ञान) ही दर्शन शब्दका अर्थ है । इस अर्थके प्रतिपादक ऋषि-मुनि-प्रशीत दर्शन-शास्त्र अनेक होते हुए भी प्रधानतया वेदान्त, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग, इसप्रकार वह दर्शन ही माने जाते हैं । यद्यपि सर्वदर्शनसंग्रह नामक अपने बनाये हुए ग्रन्थमें माधवाचार्यजीने और भी अनेक दर्शनोंका संग्रह किया है, तथापि उनमें बौद्ध और चार्वाकादि दर्शनोंको छोड़कर वेदोंको माननेवाले समस्त भास्तिक दर्शनोंका उपर्युक्त इन्हीं पद्धर्णोंमें समावेश हो जाता है । इसी प्रकार चार्वाक्यदर्शन-स्त्रादि भक्ति-प्रतिपादक दर्शनोंका भी उक्त-

* लेख बहुत बड़ा होनेके कारण स्थानाभावमें पूरा नहीं दिया जा सका, अगले अंकोमें अवकाशानुसार छापेका विचार है । —सम्पादक

ईश्वरकी सत्ता, स्वरूप, स्थान, प्राप्तिके उपाय और फल

(लेखक—०० श्रीबाबूरामजी शुद्ध पवार्यवाचस्पति)



शरकी सत्तामें सन्देह करनेवाले प्राचीन कालसे हैं। क्योंकि हिन्दू-शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ जैन, बौद्ध, वादीक आदि नास्तिकोंके मतोंका लखड़न मिलता है। ईश्वरके न माननेवालोंको नास्तिक कहते हैं, परन्तु पाणिनि मुनिने नास्तिकका दूसरा ही लक्षण किया है। उनके अष्टावार्यी-सूतोंमें एक सूत्र है—‘अस्मि नास्ति दिष्टं मतिः’ अर्थात् जो परलोक तथा कर्मफलको मानते हैं वे आस्तिक हैं और जो इन्हें नहीं मानते वे नास्तिक हैं। शास्त्रोंमें कई प्रकारके नास्तिकोंका वर्णन आता है उनमें पूर्ण नास्तिक आर्द्धाक-मतवाले होते हैं। उनका सिद्धान्त है कि ‘देहसे भिन्न कोई आत्मा कहीं नहीं मिलती अतः देह ही आत्मा है।’ यदि कोई कहे कि ‘हमारा देह’ यह प्रत्यय सद्वको होता है, अतः इससे सिद्ध है कि आत्मा स्वामी और देह उसकी वस्तु है। परन्तु ‘हमारी आत्मा’ ऐसा प्रत्यय भी तो हमें होता है, अतः देह स्वामी और आत्मा उसकी वस्तु हो गयी। इसलिये देह और आत्मा में कोई अन्तर नहीं। दोनों एक ही हैं। इसलिये जब मनुष्य मर जाता है तो पुनः उसका जन्म लेना सम्भव नहीं। जैसे दीपकके तुम जानेपर पुनः उसे जलाकर यह नहीं कहा जा सकता कि वही रोशनी लौट आयी है। अतः आत्माकी सत्ता शरीरके साथ ही समाप्त हो जाती है। उस आत्माके लिये सर्व, नरक आदिकी कल्पनाएँ चिल्कुल भूती हैं और जब स्वर्गादि फल ही नहीं तो उसको प्रदान करनेवाला ईश्वर कहाँसे हो सकता है।

बौद्ध और जैन ऐसे नास्तिक नहीं हैं क्योंकि ये कर्मके कालको एर्पणतया स्वीकार करते हैं। परन्तु कहते हैं कि ‘जैसे भाँग धीनेसे नशा हो जाती है उसी प्रकार कर्म सद्व वा असद् जैसा हो वैसा ही उसका फल भी हो जाता है। फलका देनेवाला कोई ईश्वर नहीं, ईश्वरको मानना भ्रम-मात्र है। इनके भत्तेसे जीवकी दशा बहुत ऊँची मात्री गती है जिसको शास्त्र होनेसे मनुष्य तीर्थङ्कर तुद हो जाता है और उसकी जगतमें प्रतिष्ठा और पूजा होती है। यदि इनसे पूछो कि ‘यदि ईश्वर नहीं है तो संसारका रचयिता

कौन है?’ तो वह उत्तर देंगे ‘संसार कभी रक्षा ही नहीं गया।’ यदि पूछो, जगत्को कौन भारत कर रहा है? तो वह कहेंगे जगत्को कोई भारण नहीं करता, यह अनन्त आकाशमें गिरता चला जा रहा है। सहि आदि विषयोंमें भी इनके उत्तर ईश्वर प्रकारके प्राप्त होते हैं। अब संचेपमें इनके सिद्धान्तोंका लखड़न किया जासा है। पुण्ड्रदन्ताचार्य गन्धर्वराजने महिमासोत्रमें कहा है—

हे देवेश! जिस-विस वस्तुके अवयव (लखड़) हो सकते हैं उनकी उत्पत्ति भी अवश्य होती है, यह नियम है और पृथ्वी आदिके दुकड़े हो सकते हैं। तब उत्पत्ति भी सिद्ध है? आपको छोड़कर जगत्के नियमोंका अधिष्ठाता कौन हो सकता है? यदि ईश्वर नहीं है तो चतुर्दश भुवनोंके उत्पादनमें कौन समर्थ हो सकता है? केवल मूढ़ पुरुष ही है प्रभो! आपकी सत्तामें शंका करते हैं।

ईश्वरकी सत्ताके सम्बन्धमें दो प्रमाण और हैं—

१-जन्मसे गूँगे और बहरे पुरुष आकाशकी ओर अगुली उठाकर भगवान्का संकेत करते हैं।

२-जगतमें ऐसी बहुतन-सी घटनाएँ होती हैं जिनमें ईश्वरकृत माने बिना काम नहीं चल सकता। उन मनुष्यकी कुहि कारण सोबनेमें हैरान हो जाती है।

अच्छा, ईश्वर है तो उसका स्वरूप कैसा है? वृषि-मुनियोंने अपनी दिश्य ईष्टिसे प्रत्यक्ष करके ईश्वरको सद-विद-आनन्द तथा विरुद्ध चर्मयुक जैसे, निराकार और साकार, सर्व गुणयुक और निरुण्य, एवं सर्वार्थमय माना है। अब यह प्रभ हो सकता है कि ईश्वर जब इसप्रकारका हो तो उसका ज्ञान योग नहीं होता? इसका उत्तर स्वयं भगवान् अपने भीमुखसे दे रहे हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायसमावृतः ।

मूढोऽयं नामिजानाति लोको मामजमच्यम् ॥

(गीता ७। २५)

अर्थात् ‘भगवान्की योगमायसे विमुडमति हुए पुरुष भगवान्का दर्शन नहीं कर पाते।’ अब प्रश्न होता है, ईश्वर कहाँ रहता है? इसका उत्तर यह है कि पैसा

कोई स्वान नहीं, जहाँ ईश्वर न हो, वह सर्वध्यायी है। गीता कही है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतःश्रुतिमङ्गलं सर्वैमावृत्य तिष्ठति ॥

अब यह प्रश्न होता है कि ईश्वरकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उत्तर यह है कि मायाके कारण ही भगवान्की प्राप्ति नहीं होती, जो इस मायासे मुक्त होता है वही उनका दर्शन पा सकता है। मायासे बचनेके उपायको भी ख्यायं भगवान् ने श्रीमुखसे कहा है—

मायं ये प्रपद्यन्ते मायाप्रती तरन्ति ते ।

अर्थात् जो मेरी शरण आते हैं वे ही इस मायाको पार करते हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि ईश्वरके ज्ञानसे कल क्या मिलता है? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य ईश्वरपर विश्वास न होनेके कारण ही अनेकों पाप करता है। जब मनुष्यके हृदयमें भगवान्की कोई मूर्ति बसी रहती है तो उसमें कोई पाप नहीं होता, व्यर्थोंकि जब उसका मन किसी पाप-कर्ममें रत होना चाहता है तो घट वह हृदयस्थ मूर्ति सामने आ जाती है और मनुष्य भयमिलत हो पाप-कर्मसे बच रहता है। इसलिये यदि सब ही मनुष्य भगवान्के सब उपासक हो जायें तो फिर किसीको कोई दुःख कैसे दे सकता है और तब इस मृत्यु-लोकमें सर्वत्र सुख-शान्ति फैल जा सकती है। इसलिये कहा है कि—

यस्य सामाप्तिवेण जन्मसंसारबन्धनात् ।

विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभाविणां ॥

(वि० स०)

तथा—

यमो वैवस्वतो दंतो यस्तवैष हृदि स्थित ।

तेन चेदविवादस्ते मा गंगा भा कुरुन् गमः ॥

(मन०)

अर्थात् जो नियामक न्यायकारी प्रभु से तेरे हृदयमें स्थित है, उससे यदि तुझे विवाद न हो तो गंगा और कुरुक्षेत्रको मत जा। सारांश यह है कि गंगादि सीधोंकी यात्रा पापके नाशके लिये होती है और पाप करनेकी इच्छा होते ही हृदयस्थ ईश्वरकी प्रेरणा उससे बचनेकी होती है परन्तु मनुष्य उसकी अवहेलना करके पाप करता है, यदि उसकी अवहेलना न करे, प्रभुके संकेतके अनुसार चले तो फिर उसे गंगादि सीधोंमें अमर्या करनेकी आवश्यकता ही

न पड़े। भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपौष्ट्यो मोक्षयिष्यामि मा गुचः ॥

तथा—

अनन्याभिन्नतयन्तो मां ये जना पर्युपासते ।

तेषां निताभियुक्तानां योगद्वेषं बहुमयहम् ॥

संसारमें जीवोंको सबसे बड़ा दुःख जन्म-मरणका बन्धन है, जबकि आवागमन बना दुःख है मनुष्यको जन्म, जरा, रोग, मृत्यु आदि नाना प्रकारके कठोरसे पीड़ित होता रहना होगा। इस बन्धनको दूर करनेका एकमात्र उपाय है भक्तिहारा भगवान्को पाना। 'नान्यः पन्था विश्वेऽयनाय' अर्थात् 'इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है।' और भगवान्की प्राप्ति केवल मनुष्य-देहसे ही हो सकती है। इसलिये भगवान् व्यासजी कहते हैं कि—

सृष्टा पुराण विविधान्यजयामशक्तया

वृथान्सरीमृपशून् स्वगदगमतस्यान् ।

तैस्तैरनुष्टुद्यदयः पुरुषं विघाय

नद्धावलोक्विषणं मुदमाप देवः ॥

(श्रीमद्भा०)

अर्थात् 'अपनी अनादि शक्तिये ब्रह्माजीने वृक्ष, कीट, पशु, पर्शी, मधुमत्र, मछली प्रश्निति जीवोंकी रचना की, परन्तु उनसे उनका चित्त प्रसन्न न हुआ, तब उन्होंने ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करनेयोग्य मानव-प्राणीको रचा और इससे उन्हें तुष्टि मिली।' इससे यह सिद्ध होता है कि जिस मनुष्यने ईश्वरको न जाना, उसका जन्म अर्थ ही गया तथा ईश्वरके प्राप्त करनेकी ओ शक्ति ब्रह्माजीने उसे दी थी उसका ढीक उपयोग न कर वह कृतघ्य ही बना। जिसने ईश्वरको जान लिया उसका जन्म सफल हुआ और वह अनादि जन्म-मरणके बन्धनमें मुक्त हो कृतकृत्य हो गया।

यज्ञिन्तनं यत्सरणं गदर्जनं

यत्कीर्तनं यत्कथनं यदीक्षणम् ।

लोकस्य सद्यो विमुक्तोति कल्पसं

तस्मै सुमद्रव्रसे नमो नमः ॥

(श्रीमद्भा०)

अर्थात् 'जिन भगवान् श्रीकृष्णजन्मद्वाका विन्दन, स्वरण, अर्चन, कीर्तन, दर्शन संसारके समस्त पार्षदोंको धो देता है उन्हें इमारा बारम्बार नमस्कार ही।'

जीव और ईश्वर

(लेखक—दा० एच० डब्ल्य० बी० मोरेनो एम० प०, पी-एच० ही०)

ना स्तिकवादके जितने भी सिद्धान्त हैं उन सबके विपक्षमें तथा आस्मा एवं परमारमाके अस्तित्वमें सबसे बड़ा एवं सबसे अधिक विश्वसनीय प्रमाण मनुष्यकी प्रतीति है, जो उसके जीवन एवं विकासकी सारी अभिभृत्योंमें दृष्टिगोचर होती है। सभ्यनाके आशियुगमें मनुष्यके अनुभवमें यह बात आयी कि इस व्यश्यामान एवं व्यक्त जगत्की ओटमें कोई अहश्य एवं अध्यक्ष तत्त्व भी है, जिसकी अभिभृत्यकि अधिक वास्तविक होती है। इसीका नाम आस्मा अथवा जीव इस्ता गया। इस धारणाके अनुसार उस समयके मनुष्य Animism (जीववाद) के सिद्धान्तको मानते लगे, तथा वृक्ष, घन एवं मनुष्य सबके अन्दर जीवकी कहणाकी जाने लगी। आस्मा ही प्रत्येक वस्तुका जीवन माना जाने लगा। व्यष्टि-चेतनके पीछे ममष्टि-चेतन अर्थात् ईश्वरकी स्थिति मानी गयी। अप्रीकाकी अर्धनप्त जंगली जातियाँ, आस्ट्रेलियाके आदिम निवासी, मलायाप्रायद्वीपके असभ्य निवासी, न्यूगिनीकी बर्बर जातियाँ, अद्वृतसभ्य मलानेश्या और फीजीद्वीपके निवासी, मेकिस्को और पेरुके जंगली 'अज़टेक' और अमेरिकाके 'रेड हिंगियन' ये सभी प्रत्येक वस्तुके मूलमें जीवायामाका अस्तित्व मानते थे और विश्वका आस्मा अर्थात् ईश्वर भी उसके अन्तर्गत माना जाता था।

प्राचीन कालके मिश्र-देश-वासियोंमें गहन शार्श्विक तत्त्वोंके विवेचनकी शक्ति नहीं थी। उनका जीवायामा अथवा ईश्वरके अस्तित्वमें उतने ही अंशमें विश्वास था, जितने अंशमें उनका मनुष्यके भावी सुख-दुःखके साथ सम्बन्ध होता था। मिश्र-देश-वासियोंका हाल बतलानेवाली सबसे प्राचीन पुस्तक पिरामिड टेक्स्ट्स (Pyramid Texts) हैं जिसमें मृत्युके पश्चात् राजाओंकी कथा गति होती है इसका वर्णन है। उसमें लिखा है कि राजाओं एवं धर्मारम्भ पुरुषोंको मृत्युके अनन्तर स्वर्गसुखकी प्राप्ति होती है और दुष्कर्म करनेवालोंको नरकमें ढकेला जाता है और वहाँ उन्हें मारकीय आत्माओंके हारा अनेक प्रकारकी यातनाएँ भिक्षी

हैं। पुण्य और पापका निर्णय करनेवाला अधिकारी ओसिरिस (Osiris) कहलाता था। मिश्र-देश-वासियोंकी धर्म-पुस्तकोंमें—जो प्रेतात्माओंकी उस्तके कहलाती हैं—आस्मा और परमारमाके अस्तित्वको स्वतः सिद्ध माना है और उनका जीव और ईश्वरमें विश्वास होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यही है। सुकरात (Socrates), अफलातूँ (Plato) और अरस्टू (Aristotle) ये यूनानके सबसे बड़े दार्शनिक भाने गये हैं। अफलातूँद्वारा रचित अपोलोजी (Apology) नामक ग्रन्थमें सुकरातके विरुद्ध चलाये मामलेमें न्यायाधीशने कथा विचार किया तथा उसे किस-प्रकार मृत्युका दण्ड मिला, इसके विशद वर्णन है। यह ग्रन्थ हमें इस समय भी उपलब्ध है तथा संसारके साहित्यमें इसका बहुत ऊँचा स्थान है। सुकरातको इस विवरणमें कोई शंका न थी कि जीवसंशक्त कोई आध्यारिमिक शक्ति अवश्य है। उसका यह विश्वास था कि मृत्युके पश्चात् जीवायामा शरीरको छोड़कर परमारम्भ में मिल जाता है और उसके स्वरूपको कोई समझ नहीं सकता।

अफलातूँके अध्यात्मविषयक विवेचनपर उसके Theory of Ideas (सकलपसिद्धान्त) का गहरा प्रभाव पड़ा, जो विकलु स्वाभाविक था। वह सिद्धान्त यह था कि मानसिक संकल्प पक्ष वास्तविक सत्ता है और संसारका प्रत्येक पदार्थ उस वास्तविक तत्त्वका ही मूर्सल है जिसका अस्तित्व संकल्प-जगत्में है। अफलातूँके आध्यारिमिक विचारोंका उसके शिष्य अरस्टूपर भी बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने एक जगह अमृतत्वकी सिद्धि (Achieving Immortality) का उल्लङ्घन किया है। उसके Ethics (नीति-शास्त्र) नामक ग्रन्थ (१०-७) में यह लिखा है कि हमें उन लोगोंकी बात नहीं माननी चाहिये जो हमें मानवीय विचारोंकी सीमाके अन्दर रहनेको कहते हैं; किन्तु जाहीं-तक हो सके, हमें अमरत्वको प्राप्त करने तथा अपने सारे कार्योंको मनुष्यत्वके उत्तम आदर्शके सांचेमें डालनेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये। प्लॉटिनस (Plotinus) नामक दार्शनिकने 'अभिनव भाववाद' (Neo-platonism) नामक नये सिद्धान्तका प्रचार किया, जिसमें मनुष्यकी आध्यारिमिक वृत्तियोंके सम्बन्धमें जूर विषय गया है तथा

यह बताकाया गया है कि उनके हारा मनुष्य ईश्वर के साथ एकता एवं साहचर्य का रहस्यमय सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

प्राचीन रोमन-जाति के लोगों के आत्मा एवं परमात्मा के सम्बन्ध में व्याख्याता थी, यह निश्चितरूप से बताकाया कठिन है। रोम-देश में जबतक प्रजातन्त्र-राज्य स्थापित नहीं हुआ तबतक उन लोगों में राजनीतिक विचारका प्रचार नहीं हुआ था। प्रजातन्त्र के युग में उनरपर यूनानके दार्शनिक विचारों का प्रभाव पढ़ा और तबसे वे भी स्वतन्त्ररूप से अध्यात्म-विषय पर विचार करने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'Anima' एवं 'Deus' इन शब्दों का रीमन लोगोंने ही पहले-पहल प्रयोग किया था, किन्तु 'Anima' शब्द का उन्होंने केवल प्राणवायु के अर्थ में और 'Deus' शब्द का अपने अनेक देवताओं में से एक देवताके साकाररूप के अर्थ में प्रयोग किया था। रोमन साहित्य में प्लियस (Ennius) नामक गिद्धान्त के कालसे पूर्व (जिसकी रचनाएँ हम्मी सनसे १६४ वर्ष पूर्व की मानी जाती हैं) जीवात्मा एवं परमात्मा की स्वतन्त्र सत्ताका उल्लेख नहीं पाया जाता। एडियस (Ennius) के पश्चाती दार्शनिकों एवं राजनीतिज्ञोंमें से भी कुछने हीनकी सत्ताको मृष्टरूप से व्यक्त कर नहीं किया है। उदाहरणातः सिमरो (Cicero) एवं जूलियस सीजर (Julius caesar) दोनों ही संशयवादी थे; तथा स्त्युके टियस (Lucretius) के विचार स्थिर नहीं थे; उसके सिद्धान्त इपिक्यूरस (Epicurus) की भाँति बड़वाड़को लिये हुए थे।

हिन्दू-शास्त्रोंमें अति प्राचीनकालसे जीवात्माको शरीरमें सिल्प माना गया है और मृत्युके बाद भी उसकी स्थिति मानी गयी है। उनके मरने में ईश्वर ही एकमात्र पूर्ण पुरुष है जिसके अन्दर लीन होकर समस्त चराचर प्राणी शाश्वत मुख एवं पूर्णताका अनुभव करते हैं। कर्मोंका फल अवश्य मिलता है, इसको सिद्ध करनेके लिये ही पुरुषन्म के सिद्धान्त का आविष्कार हुआ। जगत् में पुराणाभा कष्ट पाने हैं और दुष्ट लोग पूलते-फलते हैं इस समाजन समस्याको हल करनेके लिये हिन्दुओंने काफी प्रयत्न किया। जीवन अनादि एवं अनन्त है तथा सांसारिक सुख एवं दुःख, सम्पत्ति एवं विपत्ति हमें अपने प्राकृत जन्मोंमें किये हुए, कर्मोंके फलरूप में ही प्राप्त होती हैं। पुरुषोंका सञ्चय वह जानेसे जीव आत्मारितमक उत्तिके उच्चतम शिखरपर पहुँचकर उस पूर्णब्रह्म परमात्मा में भिल जाता है अथवा क्रमशः अधोगतिको प्राप्त होकर अपनी हड्डियां एवं प्रयत्नसे फिर उपरकी ओर उठता है। मनुष्यकी आत्मा एक अव्यक्त वैतन्यशक्ति है

और उसके कर्मोंमें उस वैतन्यशक्तिकी उसकी आन्तरिक ज्योतिके सामने अभिव्यक्ति होती है। बौद्ध-ग्रन्थोंमें जीवात्मा एवं शरीरके बीचमें ही अन्तर बताया गया है कि जीवात्माकी न तो परिमाणा ही सकती है और न उसका बास्यार्थ ही निश्चित किया जा सकता है। उपनिषदोंमें आत्माके विषयमें, जिसे ब्रह्मके नामसे भी निर्दिष्ट किया गया है, यह कहा है कि वह एक सर्वव्यापक तत्त्व है जो सारे मनुष्यों एवं सारी वस्तुओंमें स्थित है। उनके मरनमें जीवात्मा उस समष्टि-चेतनरूप ब्रह्मका ही अंश है और मृत्युके समयमें देहके नष्ट होनेपर भी आत्माके अविनाशी बने रहनेमें कोई बाधा नहीं आती। जीवात्माकी समष्टि-चेतनरूप परमात्माके साथ एकताको पहचान लेना ही उसके यथार्थ महत्व एवं गुणको समझना है।

बैबीलोनिया-निवासियोंके मरनमें जीवनका अर्थ आत्माके साथ सम्पर्क होना नहीं किन्तु स्वतन्त्ररूप से स्थित रहनेकी शक्तिका नाम ही जीवन है। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य मरनेके बाद रसातलकी किसी लोहमें यातनामय जीवन स्थिति करता है और उस समय उसका शरीर प्रायः सड़ी हुई अवस्थामें रहता है। उनका शरीरसे भिन्न शरीरकी स्वतन्त्र सत्तामें विश्वास नहीं था, अतएव वे लोग प्रेतात्माके शरीरको तृप्त करनेके लिये उसकी कब्रके ऊपरकी जमीनको पानीसे सौंचते थे।

यहाँसी लोग आत्मा और परमात्माके स्वरूप-ज्ञानके बहुत निकट पहुँच गये थे। उनके जिनिसिस (Genesis) नामक ग्रन्थ भाग (२-७) में यह लिखा है कि 'Jahweh ने मनुष्यके नासारान्धमें प्राण-वायु छूँक दी और वह जीती-जागती आत्मा बन गयी।' 'I Kings' नामक ग्रन्थ भाग (१७-२२) में Elijahs के एक वच्चेको पुनर्जीवित कर देनेके प्रसंगमें यह दलेख मिलता है कि 'उस वच्चेकी आत्मा उसके शरीरमें फिर आ गयी।' उनकी बाह्यिकलमें मृत्युके बाद आत्मा कहाँ रहती है इस सम्बन्धमें कुछ वाक्य मिलते हैं। इसाइहा (Isaiah) नामक ग्रन्थभाग (१४। १-११) के देखनेमें यह पता चलता है कि मृत्युके बाद जीव शियल (Sheol) नामक छाया-जगत् (Shadow-world) में यातनाएँ भोगता है। हज़ेकिल (Ezekiel) नामक ग्रन्थमें प्रेतात्माओंके निवास-स्थान शियल (Sheol) को रसातलका एक भाग बताया गया है जहाँ सारी जातियोंकी प्रेतात्माएँ एकत्र हो जाती हैं और जहाँके निवासियोंको

Nephaim अर्थात् 'दुर्देशपक्ष प्राणी' कहा गया है। उस समयके प्रन्तोंमें भी आरम्भके अमरत्वका कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है। उदाहरणके लिये डेनियल (Daniel) नामक प्रन्थ भाग (१२-१३) में यह लिखा है कि 'जो खोग स्वर्यं समझदार है वे नक्षत्रोंकी भाँति अपनी उपोतिका प्रसार करेंगे किन्तु जो पवित्र आरम्भाएँ दूसरोंको भी सन्मार्ग-गामी बनाती हैं वे अनन्त कालके ध्रुवतारेकी भाँति चमकती रहेंगी ।'

जीवात्माको परमात्मासे अमरत्व प्राप्त हुआ है, इस सम्बन्धमें आगे चलकर Pharisee और Sadducee हन दो जटियोंमें मतभेद हो गया और Pharisee खोग यह मानने लगे कि एक निश्चित अवधिके अमरत्वर प्रतात्माएँ जागृत होकर जिससे अपने कबींमें सिक्षा आयेंगी, प्रतात्माओंके जागृत होनेके सम्बन्धमें ईसाह्योंका जो मत है उसका मूल Sadducees का सिद्धान्त ही है। Old Testament के कवितय ख्व्योंमें भी जीवात्माके अमरत्वका उल्लेख मिलता है। उदाहरणतः उसके 'Proverbs' नामक भाग (२२-२३) में यह लिखा है कि 'मनुष्य-की आरम्भ प्रभुकी ज्योति है ।' Ecclesiastes नामक भाग (१२।१०) में भी लिखा है कि 'आरम्भ हॉटकर परमात्मा-के पास चली जायगी, जहाँसे वह आयी है ।' Psalms नामक भाग (१६। १०, ११) में यह लिखा है कि 'नूरेरे जीवनका पथ-प्रदर्शक बन जा ! तेरे सञ्चित्यमें ही मुझे पूर्ण आनन्दका अनुभव होता है ।'

ईसाह्योंका सिद्धान्त Old Testament के सिद्धान्तोंमें बहुत कुछ मिलता-जुलता है; व्योंगी New Testament में Old Testament की मनोवृत्तिका ही असुररख किया गया है। ईसामसीहकी आरम्भकी पुनर्जीवितके सिद्धान्तको प्राचीनकालके ईसाह्योंने अचरणः मान किया, जिसके फलस्वरूप दो और बातें सिद्धान्तस्वरूपमें मानी जाने लगीं—एक तो आरम्भकी अमरता और दूसरी आध्यात्मिक पिताके स्पर्में ईश्वरका साक्षात्स्वरूपसे जीवकी सहायता करना। प्रेतात्माओंकी पुनर्जीवितके सिद्धान्तको केवल ईसाह्योंने ही नहीं माना है। Pharisées में भी इसका प्रचार था और उनसे भी पहले ईशानदेशके Mithra समग्रदायवालोंको तथा Babylonia देशके Tammuz नामक विद्वान्को जिश्रदेशके Osiris नामक पश्चितको, यूनानके Dionysius नामक दार्शनिको यह मत मान्य था। आरम्भके शीक्षण्य इस-

सिद्धान्तको मानते ही थे। Jerome नामक दार्शनिकके समयमें वह सिद्धान्त प्रचलित था कि ईश्वरके द्वारा ही जीवोंकी सृष्टि होती है। उन जीवोंका कथन वह था कि 'ईश्वरके यहाँसे प्रतिदिन जीवात्माएँ आयी हैं केवल जीवों-की रकमा मात्रान्पिताके रज-बोर्यसे होती है ।' Scholasticism नामके प्रचान अनुयायी Aquinas (ईस्टी सन् १२२४-१२७५) ने जीवके पितॄपमें यह कहा है कि इस नामरूपात्मक जगत्में सुषिकर्ता ईश्वर एवं उसकी भाँतिक सृष्टिके बीचका तत्त्व जीव ही है ।

मुसलमानोंके कुरानपर भी Old Testament का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उसमें लिखा है कि जब पुरुषात्मा पुरुरोंका देहान्त होता है तब अलाहमियों उनकी आरम्भाओंको अपने निकट बुला लेते हैं और क्रयामतके दिनतक उन्हें अपने पास ही रखते हैं और फिर उन्हें वापिस अपना-अपना घोला बख्ता देते हैं। मुसलमानोंका आम व्रयाल यह है कि इह हन्सानके जिससे भैंडुके जरिये बाहर निकलती है, मगर कुछ जीवोंका व्रयाल यह है कि वह जोपहीके पिछले हिस्सेकी तरफसे निकलकर जिससे जुदा होती है ।

विकास-सिद्धान्तके अनुसार जीवकी मरनमें बड़ी उद्धति मनुष्य-देहमें होती है। 'मनुष्य मरकर किर जन्म लेता है या नहीं' यह प्रश्न बहुत प्राचीन कालमें Job के समयमें भी पूछा गया था। अद्वालु पुरुष यह मानते हैं कि मरनेके बाद भी मनुष्यका सूहम (मानसिक) शरीर परमपिता परमात्माकी गोदमें निरन्तर निवास करता है। यह विश्वास केवल अन्ध-प्रदाताश्वोंका ही नहीं, कविकी कल्पना भी यहो है। कवि क्या कहता है, सुनिये—

तू हमें भिट्ठीमें न भिजाना, तूने ही मनुष्यको सिरजा है । वह बेचारा इसका प्रयोगन क्या जाने ? वह केवल इतनी ब्रात समझता है कि तूने उमे अरनेके लिये नहीं बनाया। उसका बनानेवाला तू है और वह तू म्यायकारी है; बस, इसीमें उसके सन्दोष है ।

मानव-हव्यकी यह आशा-ज्ञाता अनन्त कालतक प्राणित एवं पुष्टित होती रहेगी कि उसकी आरम्भ परमपिता परमात्माकी गोदमेंसे आयी है और इसलिये वह अमर है। मानव-जीवनकी सार्थकता केवल अपने जीवन-को सुधारनेमें ही नहीं है, उसका उद्देश्य तभी सिद्ध होता है जब वह दूसरोंके जीवनको ईसप्रकार उत्तम बना देता है कि वे पूर्णताके शिशरपर पर्दृष्टकर ईश्वरके सारण बन जाते हैं ।

ईश्वर एक है

(लेखिका—श्रीमती आर० एस० सुभाकृष्णी अम्मल वी० प०, एल० टी०)



के महान् तत्त्वदर्शकों कथन है कि संसारमें जितने मनुष्य है उतने ही देवता और उतने ही भगवान् है। यदि इम अति प्राचीन कालसे मनुष्यकी उत्तिं और उसके विकासका अध्ययन करें और भिन्न-भिन्न धुगोंमें मनुष्यकी इच्छा कैसी थी, इसका चिन्ह कल्पना-

के पटपर यदि सीधे सकें तो हमें ज्ञात होगा कि मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक अवस्थाओंमें किसप्रकार धीरे-धीरे एवं क्रमशः जागृति, विकास एवं उत्तिं दुई हैं। प्रारम्भिक अवस्थामें मनुष्यका स्थूल शरीर अधिक बुद्धि होता है और आन्तरिक शक्तियाँ प्रायः सभी सुस्त हती हैं। इसके अन्तर भनकी बारी आती है। मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। उसके विचार तथा उसकी बुद्धि ही उसकी रक्षा करती है, क्योंकि उसकी शारीरिक शक्ति धीरे, इथी इत्यादि अधिक बलवान् जन्मुओंकी शक्तिके सामने नगरय छहरती है। ज्ञान-ज्योंगों उसकी मानसिक शक्ति विकसित एवं उत्त द्वारा होती है, स्थूल-हीन-स्थूल वह अपने चारों ओर देखने तथा अपने सभी पवर्ती पदार्थोंकी जाँच-परस्त करने एवं उम्हें अपने अनुभव-की कसौटीपर करकर उनपर विजय प्राप्त करनेका निश्चय करता है। यहाँतक कि वह भयकरने-भयकर जंगली पशुओंको भी, जिनमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक शारीरिक बल होता है, अपने वशमें कर लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शारीरिक बलकी अपेक्षा बुद्धि-बल कहीं बड़ा है और वह मनुष्य, जो विशिष्ट ज्ञान एवं बुद्धिसे सम्पन्न है, उस मनुष्यकी अपेक्षा कहीं अधे है जिसका शरीर तो बलिह है परन्तु जिसकी मानसिक-शक्ति दुर्बल है। इसके पश्चात् मनुष्यकी नैतिक शक्तिका नम्बर आता है। कोई मनुष्य बहुत बुद्धिमान् है और भिन्न-भिन्न विषयोंमें उसका ज्ञान बहुत बड़ा-बड़ा है, परन्तु यदि उसमें चरित्र-बलकी कमी है तो समाजमें उसका उसना आदर एवं सम्मान नहीं होता, जितना एक चरित्रसम्पद कम बुद्धिमान् पुरुषका होता है, अन्तमें मनुष्यका आध्यात्मिक विकास होता है।

आध्यात्मिक पुरुष वह है जिसके अन्दर दैवीसम्पत्तिका यथेष्ट विकास हो, जिसने भगवत्-प्रेम, योगाभ्यास एवं तपके द्वारा अपनी अधम शृतियोंको, अपने आसुरी भावोंको दूषा किया हो और जिसने आध्यात्मिक भावोंको खूब जागृत कर किया हो।

इम भली भौति जानते हैं कि इन आर प्रकारके पुरुषोंमें, जिनकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ क्रमशः उत्तम हैं, परम्पर कितना अन्तर है। शारीरिक बलसम्पद तुरुषमें, जिसकी दूसरी शक्तियाँ उत्तम नहीं हुई हैं, तथा आध्यात्मिक पुरुषमें उतना ही अन्तर है जितना एक सर्वश्रेष्ठ जीव तथा अधम-से-अधम कोटिके मनुष्यमें है। मनुष्यजातिके क्रमिक विकासके अध्ययनमें ज्ञात होता है कि किसप्रकार मनुष्य क्रमः शारीरिक उत्तिमे मानसिक उत्तिमी ओर, मानसिकमें नैतिक उत्तिमी ओर तथा नैतिकमें आध्यात्मिक उत्तिमी ओर अप्रसर होता है। अतः इन विभिन्न श्रेणियोंके मनुष्योंकी ईश्वरके विषयमें भी विभिन्न धारणा होनी ही चाहिये। जिस मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्ति बहुत बड़ी हुई है उसकी ईश्वर-विषयक भावना भी उस मनुष्यकी अपेक्षा कहीं अधिक ऊँची और उदात्त होगी, जिसकी मनोहृति बहुत निष्ठगामिनी है। यही नहीं, जिन लोगोंका आध्यात्मिक विकास समान कोटिका है उन लोगोंमें भी ईश्वरके सम्बन्धमें विभिन्न धारणाएँ होती हैं। इसलिये यह उत्तिं यथार्थ ही है कि संसारमें जितने मनुष्य हैं उतने ही भगवान् और उतने ही ईश्वर हैं। हाँ, यदि कोई अनुचित बात है तो यह है कि कभी-कभी वे लोग भी, जिनका आध्यात्मिक विकास बहुत बड़ा-बड़ा है, अपने-अपने ईश्वरके विषयमें ज्ञागड़ने लगते हैं और इस बातको भूल जाते हैं कि ईश्वर एक है, उसके सम्बन्धमें उनकी धारणाएँ ही विभिन्न हैं। 'एकं सद्गुप्ता बहुवा वशन्ति,' 'एकमेवाद्वितीयम्' ये अनुत्याँ हस्ती बातको बतलाती हैं कि ईश्वर एक है, उसे लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं तथा अनेक प्रकारसे उसका वर्णन करते हैं। गुबाबके फूलमें एक ही प्रकारकी सुगन्ध आवेगी, चाहे इस उसे किसी भी नामसे पुकारें। सनेहमयी जननी आपने

छालको अनेक वारसल्प्यपूर्ण नामोंसे पुकारती है, किन्तु उन नामोंसे बालकमें अनेकता नहीं आ जाती, इस सम्बन्धमें एक बड़ा सुन्दर दार्ढान्त है। चार यात्री, जिनकी बोली अङ्गा-अङ्गर थी, दैव-संयोगसे एक ही स्थानपर पहुँच गये, थके-माँदे तथा भूख-प्याससे व्याकुल होनेके कारण वे एक वृक्षकी छायामें बैठ गये और अपनी भूख-प्यास मिटानेका उपाय सोचने लगे। चारों ही अपनी-अपनी भावामें एक ही फळका नाम लेकर जाह्ने लगे। उन्हें इस बातका ज्ञान नहीं था कि इमलोग एक ही फळको ज्ञाहते हैं। इतनेमें फळ बेचानेका उभरसे आ निकला। दैव-संयोगसे उसके पास वे ही फळ थे जिनके किये आरो यात्रियोंमें झगड़ा हो रहा था। ज्यों ही उनकी इष्ट उन फळोंपर पढ़ी, सब-के-सब आनन्दके मारे डब्लू पढ़े और कहने लगे कि इम हीसी फळको ज्ञाहते थे। सबका झगड़ा मिट गया। यह तो हुआ दृष्टान्त। इसका दार्ढान्त यह है कि जिसप्रकार एक ही फळके निष्ठ-निष्ठ भावाओंमें निष्ठ-निष्ठ नाम हैं, हस्ती प्रकार ईश्वर एक है, उसके नाम, गुण एवं स्वरूप कई बताये गये हैं। तामिक-भावाके एक महाकविने ईश्वरको समुद्रकी उपमा दी है। जिसप्रकार संसारकी समस्त नदियाँ समुद्रमें आकर अपने नाम, रूपको पूर्णतया विलीन कर देती हैं उसी प्रकार सारे धर्म ईश्वरके निकट पहुँचकर अपने भेद-भावको सर्वथा भूल जाते हैं। विशिष्ट ज्ञानसम्पद मनुष्योंको ज्ञाहिये कि वे इस बातको भली भाँति हृदयंगम करके एक दूसरेके विचारोंके प्रति आश्र एवं सहिष्युताका भाव रखें और मामूली मतभेदके कारण

लड़ाई-झगड़ा न करें। इम सब भगवत्प्राप्तिके मार्गपर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहे हैं और क्रमशः उच्चतिकी सीधीपर चढ़ रहे हैं। जबतक इमलोग निष्ठ अवस्थाके साधक हैं तभीतक यह समझते हैं कि इमलोगोंके ईश्वर अङ्ग-अङ्ग हैं। कुछ ही आगे बढ़नेपर सारी अनेकताएँ मिट जाती हैं और यह अनुभव होने छाता है कि बास्तवमें ईश्वर एक है।

अङ्गज्ञ भगवान्ते शीतामें कहा है—

यो यो यो यो तनु मकः प्रद्यार्थितुमिष्ठति ।
तस्य तस्याचालां ग्रद्धां तमेव विदधाम्यहम् ॥

(७।११)

लो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको प्रदानेसे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी मैं उस ही देवताके प्रति प्रदानोंस्थिर करता हूँ।

यं य वापि स्मरन्माव त्यजत्यन्ते कलंवरम् ।
तं तमेवैति कीर्तय सदा तद्वावमावितः ॥

(वीता ८।६)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अस्तकालमें जिस-जिस भावको अरण करता हुआ शीरको स्यागता है, उस-उसको ही वह प्राप्त होता है, परन्तु सदा उस ही भावको चिन्तन करता हुआ, क्योंकि सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी प्रायः उसीका अरण होता है।

बस, इम चाहे जिस रूप या चाहे जिस नामसे ईश्वरकी उपासना करें, वह सबको स्वीकार कर लेता है, क्योंकि वह एक है।

ईश्वर-प्राप्तिके उपाय

१—ईश्वरके प्रभाव और महत्वको यथार्थ जाननेवाले महायुरुषोंका संग।

२—ईश्वरके प्रभाव और महत्वसे पूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन।

३—ईश्वरके नामका जप और गुणोंका श्रवण-कीर्तन।

४—ईश्वरका ध्यान।

५—विश्वरूप भगवान्की निष्कामभावसे सेवा।

६—ईश्वर-प्राप्तना।

७—ईश्वरके अनुकूल आचरण यानी सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, अस्त्वेत्य, ब्रह्मचर्य, धनवृत्त, तप, स्वाध्याय, भास्तिकता और धर्मा आदिको बढ़ाना।

८—लोक-परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य।

९—सद्गुरुमें परम श्रद्धा और गुरु-सेवा।

१०—ईश्वरमें अलण्ड विश्वास।

११—घर-बाहर सर्वत्र ईश्वर-चर्चा।

१२—अभिमान, दम्भ और कठोरताका सर्वथा त्याग।

१३—काम क्रोध लोभसे बचना।

१४—नास्तिक-संगका सर्वथा त्याग।

१५—परधर्म-सहिष्णुता।

१६—सदमें ईश्वरमुद्दि रखते हुए ही बर्ताव करनेकी वैष्णा।

ईश्वर नहीं है, ऐसी बात न कहो

(लेखक—भिसु श्रीगौरीशंकरजी)



ईश्वरकी सत्तामें संशयके लिये अवसर ही नहीं है, इसलिये उसमें सन्देह करना उचित नहीं है। क्योंकि इस विषयको दर्शनकारोंने अन्यन्त सपष्ट कर दिया है, योगी-जनोंने इसे योगाभ्यासके द्वारा प्रस्तु किया है, धर्ममें विश्वास रखनेवालोंकी ईश्वरमें निष्ठा सदाचारे निश्चलहृषये खली आती है और सर्वसाधारणकी धारणा तो ईश्वरकी सत्तामें परम्परासे देखनेमें आती ही है, अतः इस विषयपर कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है; परन्तु आजकल कुछ लोगोंको पाश्चात्य-विचार-पिण्डाचिनीके संस्कारोंसे तथा पाश्चात्य-संसारसे 'ईश्वर है या नहीं है,' इसप्रकारकी कुभावना पैदा होने लगी है। पाश्चात्य-देशोंमें नाभिकताका जोर है, परन्तु वहाँ भी दैत्यपुरीमें प्रह्लादके समान ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करनेवाले लोग पाये जाते हैं। कुछ ही दिन पहलेकी बात है। युरोपेके एक प्रधान नगरमें एक पुरुष रहता था जो ईश्वरकी सत्ताकी सर्वत्र देखता था, परन्तु दूसरे पुरुषोंके विलासके लिये वह कहा करता था कि 'भाई, परमारमा कोई वस्तु नहीं है और न कोई उसको सिद्ध ही कर सकता है।' विलासीजन प्रायः दूसरोंको चिनाया करते हैं, अतः लोग उसको यह कहकर चिनाने लगे कि 'ईश्वर है और उसे सिद्ध भी किया जा सकता है।'

प्रभो

प्रभो ! एक छुट्ठ प्राणी जिसे अपने ही अस्तित्वका पता नहीं, तुम्हारा अस्तित्व सिद्ध करनेका हास्यस्पद प्रयत्न कर रहा है, कहाँ तुम्हारी अनन्त शक्ति और कहाँ यह तुम्हारे ही हाथोंका बना एक छोटा-सा खिलौना !

लीकामय नटवर ! तुम्हारी लोला अनन्त आश्रयभयी अलौकिक है। इसकी मोहिनी मायाकी अमरकमें चौधिया-कर मेरे चर्म-चतु अशानान्धकारकी काली यवनिकासे ढक गये। ग़ज़ब हो गया नाथ ! भूल गया अपने लक्ष्यको इस विज्ञानमयी भुलावनी विषय-नृष्णामें फँसकर ! तुम्हि तुम्हारे अस्तित्वमें भी सन्देह करने लगी ।

वाचाओ स्वामिन् ! तुम्हि दो, वही शान्तिप्रदा स्विर

६५

परन्तु इस भजाकका उसपर उलटा असर पड़ा, वह स्वयं निश्चय कर बैठा कि ईश्वर यथार्थमें नहीं है। अपने इस निश्चयका वह प्रचार भी करने लगा। एक दिन वह बहुत-से पुरुषोंके बीच बैठा कह रहा था कि 'आज मैं आपलोगोंके सामने परमेश्वरको सौ गालियाँ हूँगा। इससे यदि किसी प्रकारका दण्ड मुझको न मिला तो यह निश्चय हो जायगा कि ईश्वर है या नहीं।' हतना कहकर वह गान्धी गालियाँ बकने लगा और साथ ही यह भी कहने लगा कि 'देखो भाई, आज साधारण मनुष्य भी किसीको ऐसी गाली नहीं सह सकता, परमारमा तो परम पुरुष कहलाता है, वह यदि होता तो क्योंकर सहता ?' हतना कहना था कि अक्सात उसके ऊपर किसी पक्षीने वीट कर दी और उसी समय उसका शरीर दण्ड होने लगा। अब वह मनुष्य व्याकुल होकर इधर-उधर देखने लगा और नब्रतापूर्वक प्रभुके पवित्र नामोंका उच्चारण करते हुए लोगोंसे कहने लगा, 'देखो भाई, मुझे मज़ाक का फ़ल मिल रहा है। अब आपलोग इससे सीख सकते हैं कि किसीको ईश्वरकी महत्ता या उसकी सत्तामें कभी सन्देह न करना चाहिये।' इस आश्र्यवनक घटनाका अवतक वहाँ प्रभाव है। अतः हमलोगोंको भी, 'ईश्वर नहीं है,' इसप्रकारकी बात कभी दिलगीमें भी नहीं कहनी चाहिये। ईश्वरकी सत्तामें स्वप्नमें भी सन्देह करना उचित नहीं है।

तुम्हि जिसे पाकर तुम्हें भली भाँति समझ देकूँ ! 'मैं' के भ्रममें भ्रमित इस अनाथको सहारा दी नाथ ! नहीं तो इस अभिमानकी मस्तीमें भ्रमसत हो यह मत पाप-पंकमें धूँस जायगा ।

चाहे जितने अपराध क्यों न करूँ, पर हूँ तुम्हारी ही एक छुट्र-सन्तान ! प्रभो ! अपना मंगलमय हाथ मेरे मस्तक-पर रख मुझे अभय कर दो, जिसमे फिर ऐसी भूल कभी न हो और तुम्हारे दिल्लाये पथपर चिरकालतक चलता रहूँ।

प्यारे भालिक ! यह जीवनकी जीर्ण तरी तुम्हारे हाथों समर्पित है, मेरी सारी भूलोंको भुलाकर चैमालो अपनी शीज़को, यह जीर्ण-से-जोर्ध्वे होकर दूट जाय तुम्हारे चरणतङ्कमें ।

—मोइन

अनीश्वरवादसे जगत्का संहार

(ल०—राजाबहादुर श्रीभीलक्ष्मीनारायण इरिचन्दन जगदेव पम० आर० ५० एस०, पुरातत्त्व-विशारद, विद्यावाचस्पति)

ईश्वर ही एकमात्र समातन-तत्त्व है । वेदोंने उसे सत्य एवं अनन्त बताकाया है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' 'आनन्दं ब्रह्मयो बिहून् न विभेति कदाचन ।' 'चावाभूमी जनयन् देव एको विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।' अर्थात्—ब्रह्म आधान्तर्हीन है, वह ज्ञानरूप एवं आनन्दभय है ।…… वह पृथ्वी एवं आकाशका रचयिता है, विश्वका अधिपति है एवं श्रिमुखनका रक्षक है । श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—

य एनं देति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हत्यम् ।

उमौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्तयते ॥

न जायते भ्रियते वा कदाचि-

ज्ञायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

जो मनुष्य ईश्वरको जन्मने एवं मरनेवाला सामता है वह मूर्ख है । वस्तुतः आत्मा नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, वह शरीरके नाशसे नाश नहीं होता है । आत्मा इस अनित्य देहस्थी कारागारमें आबद्ध है, किन्तु जो ज्ञो ज्ञानी है वे कर्म-फलके संन्यासके द्वारा अर्थात् भगवान्नके श्रीचरणोंमें सब कुछ निवेदन करके उसीका निरम्मत स्मरण करते हुए इस कारागारसे मुक्त हो जाते हैं ।

यदि जीव और ईश्वरमें भेद न होता तो ईश्वरकी सृष्टिका भोग नहीं बनता । उदाहरणके लिये किसी फलका आस्वादन तभी सम्भव होता है जब फल एवं उसका भोक्ता दोनों ही हों । यदि दोनोंमेंसे एकका भी अभाव हो तो आस्वादन नहीं हो सकता । इसी प्रकार जीव एवं ईश्वरकी भिन्न सत्ता होनेसे ही ईश्वरकी सृष्टिका भोग होता है । यदि इमं ईश्वरकी सत्तामें विभास न करें तो जीवोंकी सृष्टि निफल हो जाती है और ऐसी दशामें जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती । परन्तु जो लोग यह समझते हैं कि सृष्टि विना किसी कारणके ही उत्पत्त हो गयी, वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं । इमं देखते हैं कि विना कारणके कोई कार्य नहीं हो सकता । उदाहरणातः भद्रा बनानेके लिये इमें मिठी, छोटी, चाक, जल और कुम्हार, हसने कारणोंकी आवश्यकता होती है । जिसप्रकार घबेरी उत्पत्ति इतने कारणोंके समवायसे होती है इसी प्रकार यह ईश्वरान जगत् भी किसी-न-किसी पुरुषके प्रयत्नका फल होना

चाहिये । जिसप्रकार साधारण प्रयत्नसे साधारण कार्य होते हैं इसी प्रकार असाधारण प्रयत्नसे असाधारण कार्य होते हैं । यह सृष्टि साधारण प्रयत्नसे नहीं हो सकती । अतः इमें यह मानना पड़ेगा कि इसे उत्पत्त करनेवाला कोई असाधारण पुरुष अवश्य है । वह असाधारण व्यक्ति ईश्वर है । उसकी सत्ताको अस्तीकार करना उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना किसी बालकका माता-पिताकी सत्ताको अस्तीकार करना । अतः ईश्वर इस सृष्टिका वास्तविक कारण है । इमं प्रायः देखते हैं कि कार्यके न इनेपर कारणके अभावका अनुमान होता है । उदाहरणके लिये जब हमारे पास कोई घड़ा नहीं होता उम्म समय इमें उसके कारणोंके सम्बन्धमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं होती । इसी प्रकार यदि इमं ईश्वरकी सत्ताको अस्तीकार करें तो इमें विश्वकी सत्ताको भी निषेध करना होगा । विश्वकी सत्ता उम्म के रचयिताकी सत्तामें सत्ता प्रमाण्य है ।

ईश्वर न होता तो लोग पाप और पुण्यका विचार ही क्यों करते ? यदि इमें अपने कर्मका फल देनेवाला कोई न हो तो हमारे लिये यह विचारनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि कौन-सा कार्य उचित और कौन-सा अनुचित है, क्योंकि उन्हें देवनेवाला और उनकी शुभाशुभताका निर्णय करनेवाला कोई नहीं है । हमारे अनंद्र पापमें बचनेकी तथा धर्माचरण करनेकी जो आनन्दरिक प्रवृत्ति होती है वह ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है ।

पुराणोंमें लिखा है कि ईश्वर आनन्दका भरणार है, वह आनन्द हृदय, अप्नि अथवा अन्य किसी देवताको भी प्राप्त नहीं है । उस आनन्दकी प्राप्तिके लिये मनुष्य ईश्वरकी उपासना करता है और सदाचारमें प्रवृत्त होता है । उसके सत्कर्मोंके फलस्वरूप उसका भविष्य-जीवन सुखमय हो जाता है ।

जिसप्रकार दीपकके बिना भवन अन्धकारमय हो जाता है और गृहपतिके अभावमें सारा गृहस्थ चौपट हो जाता है उसी प्रकार ईश्वरके बिना मनुष्यकी उक्तति असम्भव है । ईश्वरके अस्तित्वमें अविश्वास करना अपने-आप अपना संहार करता है । ईश्वरको न माननेसे उच्छृंखलता फैल जाती है और संसार दुराचारका आगार बन जाता है । अतः ईश्वरको अवश्य ही मानना चाहिये ।

ईश्वरके अस्तित्वका समर्थन

(लेखक—स्वामीजी श्रीतपोदवनजी महाराज)



भर है या नहीं’ इसप्रकारका विकल्प अशिक्षित बुद्धिवालोंको हुआ करता है। शिक्षित बुद्धिवाले ऐसा विवाद नहीं करते, क्योंकि वे ‘ईश्वर है’ इसप्रकार जानते हैं और उसका अपरोक्ष अनुभव करते हैं। ‘ईश्वर नामका कोई भी तत्त्व नहीं है,’ यह किसी भी प्रमाणसे मिल नहीं किया जा सकता, ‘ईश्वर एक तत्त्व है’ यह प्रमाण-नियुण विद्वानोंके द्वारा सब प्रमाणोंद्वारा सिद्ध किया जाता है। ‘यदि परमेश्वर नहीं है तो जगत् भी नहीं है,’ इसप्रकार शशविषय (व्वरगोपके सींग) के समान जगत्की रूपहीनताकी आपनि होनी है जिसका पर्याय शून्य भी है। परन्तु यह कथन शयुक्त है, क्योंकि प्रलक्षणादि प्रमाणोंमें जगत्का अस्तित्व सिद्ध है। घट है, पट है, नाग (हमी) है, नग (पर्वत) है, नगर है इत्यादि घट-पट आदि विभिन्न आकारोंका संसार है, यही सब मनुष्य स्वीकार करते हैं। जगत नहीं है, हमें न तो कोई स्वीकार करता है और न व्यवहारमें लाता है। ऐसी अवस्थामें सत्ताविशिष्ट इस उपादेयामक अर्थात् कार्यभूत जगत्का कोई सत्ताविशिष्ट उपादानात्मक कारण होना आवश्यक है, इसमें लेशमात्र भी मन्देह नहीं; जैसे लोकमें स्वर्णनिर्मित कुण्डल, कंकण, मुत्रिका आदि कार्योंका उपादान स्वर्ण देखा जाता है। इसलिये इस सत्तामक वस्तु-जगत्का कारण तथा समस्त कार्योंमें समवेत ईश्वर-तत्त्व है। उस ईश्वर-तत्त्वके नामित्वका समर्थन अपनेको दार्शनिक साननेवाले प्राचीन अथवा आधुनिक धुरुष कैसे कर सकते हैं?

सत्तात्मक होनेमें ईश्वरकी ज्ञानात्मकता तथा अनन्तता भी मिल हो जाती है, क्योंकि जड़ और परिच्छिक वस्तुमें सत्ता अर्थात् आविनश्वरता नहीं रहती—जो जड़ और परिच्छिक वस्तु है वह विनाशशील और अमर्त्य है, तो सा लोकमें देखा जाता है। इसलिये सत्य और ज्ञानरूप परमारम्भ देश, काल और वस्तुमें अपरिच्छिक हैं, तथा सर्वस्वतन्त्र शोकरहित प्रत्यगात्माके भी आत्मा एवं समस्त प्राणियोंके परम प्रेमपात्र होनेके कारण असीम ज्ञानवृद्धि,

और जगत्के आवारभूत भी हैं, इसमें कौन बुद्धिमान् वस्तु बन्दै कर सकता है? बल्कि कर्त्ताके बिना कार्यकी उरपरिसि नहीं होती, स्वर्णकारके बिना कुरुक्षल आदि नहीं बन सकते, इसलिये जगत्का कर्त्ता होनेसे ईश्वर निर्मितकारण भी है। तथा वही परमात्मा विष्वका द्वयादानभूत, सर्वस्व, सर्वशक्तिमान् अद्वितीय एवं सत्यज्ञानानन्दवरूप है, यह आपाततः स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि ईश्वरके अस्तित्वके इतर वस्तु हैं ही नहीं। वही सृष्टि करके जगत्को स्थितिकालमें नियमित करते हैं। ‘अद्वितीय सर्वशक्तिमान् परमात्मा जगत्के कर्त्ता पूर्व नियामक हैं’ यदि यह स्वीकार न किया जाय तो यह बतलाना होगा कि किसकी शक्तिये नियन्त्रित होकर ये सूर्य, चन्द्रमा आदि तथा पर्वत, समुद्र आदि अपने-अपने स्थानोंका अतिकरण न करते हुए अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त हो रहे हैं। इसमें यह भली भाँति निश्चय हुआ कि सबके कर्ता तथा सबके नियामक परमात्मा हैं, जिनकी शक्तिये यह समस्त सूर्य, चन्द्र, पर्वत, समुद्र आदि अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त हो रहे हैं। भगवती श्रुति भी अथवन्त गम्भीर शैलीमें इसी अर्थका प्रतिपादन करती है—

‘भीवाऽस्माद् वातः परते भीषणेदति सूर्यः’

‘अतः समुद्रा पिरयश्च संते’ इत्यादि ।

जिसके भयमें वायु, सूर्य, चन्द्र, नदी, समुद्र प्रभृति मयोद्धाका अतिकरण न करके अपने कर्ममें निरन्तर परिनिषित देखे जाते हैं, वह ‘सर्वेश्वर सर्वनियामक है’ ऐसा समझना चाहिये; ‘वह नहीं है’ ऐसा समझना ठीक नहीं। इसप्रकार केवल न्यायके बलमें ही नहीं बल्कि अनुभवके बलमें भी विद्वानोंको ईश्वरकी सिद्धि होती है। विद्वान् परमहंस योगीजन सम्यक् पराभक्ति नामक अन्यात्मशानदीपके प्रकाशमें उस सविदानन्दस्वरूप ईश्वरका प्रत्यक्ष करके उसमें सदा रमण करते हैं। इस-प्रकार निरन्तर हृदयके अभ्यन्तर सक्षात् ईश्वरका अनुभव करनेवाले हमारे ग्राचीन महर्षियोंके उद्गारस्वरूप इन स्त्रामक वाक्योंको सब लोगोंको समझना चाहिये—

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,’ ‘विज्ञानमनन्दं ब्रह्म।’

— इत्यादि ईश्रके लभणपरक वाक्य उपनिषदोंमें प्रसिद्ध हैं। ये वाक्य शुष्क अनुमानमात्रका सहारा लेनेवाले, वस्तुतत्त्वका कुछ भी अनुभव नहीं रखनेवाले लोगोंके लिये नहीं हैं, यह विशेषरूपसे कहना है। अतः यह वात सिद्ध होती है कि कोई निराकांक्ष परमेश्वर-तत्त्व अवश्य है और वह भी सत्तामात्र है, इसपर अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं।

उपर्युक्त विचारोंसे यह समर्थन किया गया कि ईश्वर-का मुख्य स्वरूप पारमार्थिक, निराकार एवं अपरिणामी है। अब उसके जो स्पावहारिक परिणामी तथा अप्रश्नन (गौण) अनेक रूप हैं उनकी भी उपपत्तिपूर्वक सिद्धि की जाती है। यदि अनुमान और अनुभवमें सत्तामात्रस्वरूप जगत्का कारण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, कोई बन्तु ईश्वरपूर्वाच्य स्तोकार की जाती है तो ‘वह वस्तु भक्तजनोंके उपर अनुकर्षित हो उनके द्वारा कल्पित भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होती है’ ऐसा माननेमें कोई अनुपत्ति नहीं होती। तथा स्वयं निराकार भगवान् भी चतुर्भुज, चतुर्मुख, त्रिनेत्र आदि और राम-कृष्ण आदि विभिन्न आकारोंको धारण करते हैं, एवं भक्तजनोंके दर्शन, कीर्तन और भजनका विषय बनते हैं, इसमें भी कुछ अयुक्त नहीं जान पड़ता। भगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रत्यन्ते तांस्तंयं भजाम्यहम् ।

अर्थात् ‘जो भक्त अप्य स्वरूपमें मेरी अनन्य भक्तिके द्वारा उपासना करते हैं मैं उन्हें उसी स्वरूपमें दर्शन देकर अनुग्रहीत करता हूँ।’

उन् भक्तोंके संकल्पके अनुमार करुणावस्थालय परमामाने यथासमय उनके आगे अवतार धारण किया है और उन भक्तोंने भगवान्-के मध्युल स्वप्नोंके देखकर अपने अन्मको कृतार्थ किया है। भक्तवासल परमेश्वरने उन लोगोंको अतीष्ठ वरदान वेकर अनुग्रहीत किया है, यह सब वृत्तान्त पुराण तथा भगवत्-चरित्रके जाननेवाले विद्वानोंसे छिपे नहीं हैं। जिसप्रकार अतीतकालमें ध्रुव, प्रह्लाद आदि तथा श्रीचैतन्य, तुलसीदास, मीराबाई ग्रन्थानि ओह भक्तजनोंसे अपने मनःकल्पित मनोहर स्वरूपोंसे अन्तर्यामी भगवान्-का साक्षात् दर्शन किया था, उसी प्रकार आज भी कोई भी अद्वालु पुरुष अपनी अनन्यभक्तिके द्वारा अपनी भावनाके अनुसार कल्पित साकार स्वरूपसे

परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। इस विषयमें किसी भी विद्वान्को विप्रासिपति नहीं हो सकती। इसी प्रकार वैदिक धर्मावलम्बियोंके समान वेद-वाचा इस्लाम तथा ईसाई-धर्मके अनुयायी भी अपनी-अपनी भावनाके अनुकूल अपने परम ईश्वरूपसे परमात्माको मानने, दर्शन, उपासना तथा कीर्तन करनेके योग्य हैं। इसका कोई भी निषेध नहीं कर सकता। यदि हम इन्दूलोग चतुर्भुज आदि स्वरूपसे अपने व्यापे अन्तर्यामी भगवान्-की उपासना तथा उनका साक्षात् दर्शन करनेमें समर्थ हो सकते हैं तो इतर धर्मावलम्बी भी अपने अनुकूल परम ईश्वरूपसे उस प्रियतम परमात्माकी उपासना तथा उनका दर्शन कर्यों नहीं कर सकते? अवश्य ही वे लोग भी ईश्वरका दर्शन कर सकते हैं, यह व्याय तथा अनुभवसे सिद्ध है।’

‘पक्ष सदिप्रा बहुधा वदन्ति ।’

अर्थात् एक अपरिणामी पारमार्थिक ईश्वरतत्त्व ही विद्वानोंके द्वारा अनेक प्रकार तथा स्वरूपोंमें व्यवहृत होता है, इस परम सत्यको आजमे हजारों वर्ष पहले हमारे पूर्वपुरुषोंने उच्चस्वरसे घोषित किया था। इसलिये हम वैदिक धर्मकी महिमाको धन्य समझते हैं।

अतः अद्वालु और अधिकारी पुरुषोंके द्वारा स्वयं निराकार परमात्माकी भी साकाररूपसे उपासना और उनका साक्षात् दर्शन भी किया जा सकता है। इसप्रकार भक्तजनोंके मनको आनन्दित करनेवाले जगत्-प्रतिपालक परमेश्वरके साकार स्वरूप भी हैं, ऐसा समझना चाहिये। ‘उसके साकार रूप नहीं है’ ऐसा समझना कशापि तीक नहीं। यही रूपों, दाशास्य द्वार्शनिक विद्वानोंमें सबसे प्रधान द्वेषो, अरिस्टोटल, कार्ट, हेगल आदिने भी परमेश्वर-तत्त्वका प्रतिशेष नहीं किया है। यह वात उन महाशयोंको जाननी चाहिये जो महाप्रे व्यास आदि प्राच्य मुनियोंके वाक्योंकी अपेक्षा पाश्चात्योंके वचनोंको ही प्रबल प्रमाण मानते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि वासी और मनके गोचर न होने तथा कार्य-कारण-भावमें परे होनेके कारण प्रत्यक्ष या अनुमान किसी भी प्रमाणमें ईश्वर-तत्त्वका अल्पी तरह निर्णय नहीं किया जा सकता। परन्तु उभका यह विद्वान्स ईश्वरकी असत्ताका प्रतिपादन नहीं करता वहिं ईश्वर-तत्त्वके निर्णय करनेमें उनके असामर्थका घोसन करता

है। इसप्रकार हनके द्वारा स्वयं ईश्वरकी महिमाका समर्थन होता है। बहिक, यदि सर्वनियामक परमेश्वर साकार अथवा निराकार हैं तो उनकी उपासनाके द्वारा प्राप्त होनेवाला उनका दर्शन ही मानव-समाजका मुख्य धर्म है, इस बातमें किसी भी सदसद्विवेकमें समर्थ विद्वान्को संशय नहीं हो सकता। जगरिष्ठा परमात्माकी उपासना तथा उसका साधारणकार करनेका अधिकार मनुष्यको ही है, पशुओंको नहीं, यह बात हमें विशेषरूपसे याद रखनी चाहिये। चारों पुरुषार्थोंमें ईश्वर-दर्शनरूप मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, अर्थ और काम नहीं। इस प्रसिद्ध पुरुषार्थके जानेवाले हमारे पूर्वज महर्षियोंने इस भारत-वर्गमें अन्य देशोंके लिये ईश्वर-दर्शनमें लगानेवाली अपूर्व धर्म-मर्यादाको निश्चितकर उसका सम्मक् प्रचार किया था। यह इस भारतीयोंके लिये परम सौभाग्यकी बात है। मनान, भोजन, मैथुन आदि सर्वसाधारणके समस्त कर्म भी जिसप्रकार परमपरासे ईश्वरानुभवमें साधक बनें उसी प्रकार उन्हें उन्होंने धर्मके रूपमें घोषित किया है। ऐसी भारतीय धर्म-मर्यादाकी महिमा है। तात्पर्य यह है कि मनान, भोजन, मैथुन आदिका आचरण विषयके आनन्द-भोगके लिये नहीं है बल्कि परमपरासे मोक्षके लिये है।

वेष्टते-देखते नष्ट हो जानेवाली भौतिक सम्पत्ति नहीं, बल्कि नियानन्दस्वरूपिणी अद्यात्म-सम्पत्तिको प्राप्त करना ही उनका परम लक्ष्य था। इस प्रकृत धर्म-मर्यादाके सामर्थ्य-से ही आज भी हमारा हिन्दू-समाज सचेतन होकर और रहा है। यह इमलोगोंके लिये अभिमानकी बात है। जगन्के दृष्टिहासका निरोक्षण करनेपर यह कोई भी स्पष्टतः जान सकता है कि बहुतेरे समाज भौतिक सुख-सम्पत्तिको ही परम पुरुषार्थ मानते हुए वर्षोंतके छोटे-छोटे गुल्म आदिकी भौति तत्त्वकालमें तत्त्वस्थानेमें उदित हुए, वहे और नष्ट हो गये। परन्तु हिन्दू-समाज भौतिक सम्पत्तिसे संयुक्त अथवा वियुक्त होकर अध्यात्म-आद्वास्पी क्यवच शरीरमें धारणकर एकरूपसे पूर्वके समान आज भी जीवित है। यह बात ऐतिहासिक लोग मानते हैं तथापि विषयतृष्णासे अन्वयुद्धि हुए अपेक्षों परिणाम समझनेवाले आधुनिक पुरुष परोक्षरूपसे भी परमात्माके अस्तित्वका निराय करनेमें असमर्थ होकर, जैसे द्विवान्ध (उल्लू) पती भवयं सूर्यके दर्शनमें असमर्थ हो ग्रिमुखनको सूर्यके अस्तित्वसे शून्य प्रमाणित करता है, वैसे ही जीवितजातीके माथ संमारको ईश्वरहीन कहते हैं, वैसे ही स्वदेशी हों या दिवेशी, ईश्वरदाढ़ी यथापूर्वको परिडोंको उन देशारोंपर दया करनी चाहिये।

भगवान्

स 'ईश्वरांक'में ईश्वरके सम्बन्धमें अपेक्षोंपरेके ऐसे पृथ्यक्षरण सन्तों, महात्माओं, विद्वानों और गुरुजनोंके लेख प्रकाशित हो रहे हैं कि जिनकी पवित्र चरण-धूलिको मनकपर चढ़ाकर मुझे अपना जीवन सफल करना चाहिये। इनमें कई महानुभाव तो पेसे हैं, जिनके चरणोंमें बैठकर आजीवन उपदेश ग्रहण करना मेरे लिये परम सौभाग्यका विषय है। ऐसी अवस्थामें मैं क्या लिखूँ? मुझमें न तो योग्यता है और न कुछ लिखनेको मेरे लिये रह ही गया है। तथापि कुछ प्रभी मिश्रोंकी अभिलाषा देखकर मैं बहुत ही संश्लेषमें अपने विचार लिख रहा हूँ।

१-सविदानन्दचन परमात्मा स्वयं ही अपने स्वरूपके ज्ञाता है, वे अनिवार्यनीय हैं, अनुभवगम्य हैं।

२-भगवान् ही सब कुछ हैं, भगवान् ही सब रूपोंमें भासते हैं, भगवान् ही अपनी मायाशक्तिके द्वारा सब

रूपोंमें परिणत हैं, भगवान्में ही गवकी उपत्ति है, उन्हींमें सचका निवास है, उन्हींमें सब लक्ष होते हैं। सृष्टि-स्थिति-प्रलयके आधार, निवास और कर्ता वही हैं। वे सत हैं, मत-असत हैं, सत-असत दोनोंसे परे हैं। सब कुछ उनमें है, वे सब कुछमें हैं, 'सब कुछ' कुछ नहीं है, केवल वे ही हैं। वे सभी जाने अपनी-अपनी गीमामें सत्य हैं। हत्येपर भी भगवान् इन सबसे विलक्षण हैं। जितना भी परमात्माके स्वरूपका वर्णन होता है, सब शास्त्राचन्द्र-स्वायमें उनका लक्ष्य करनेके लिये ही है।

३-भगवान् सर्वधार, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर, सर्व-शिरोमणि, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वरूप, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, शिव, सुन्दर, गुणासीत और कालातीत है। वे निर्गुण हैं, संगुण हैं, निराकार हैं, साकार हैं, दोनोंसे परे हैं, उनमें सब कुछ सम्भव है। अनवकाशमें अवकाश और अवकाशमें अनवकाश कर देना उनकी लीलामात्र है। वे कर्तुमकर्तु-मन्यथाकर्तु समर्थ हैं।

४—वे एकदेशीय, एककालीन न होते हुए ही अवसार लेते हैं, प्रकट होते हैं, भक्तों उसकी ईच्छातुसार दिव्य साकार दिव्य विग्रहमें दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। यह सर्वथा सत्य है। वे परम दयालु, परम सुहृद, परम न्यायकारी, परम पिता, स्नेहमयी माता, स्नामी, सखा सब हैं। वे पतितपादन, दीनबल्तु, आशरणशरण, भक्तवस्तल हैं, इसीलिये अपना दिव्य साकार रूप प्रकट करते हैं। वे सम, उदासीन, पश्चातहीन, सबके आश्रय, सुभ-प्रेरक अशुभ-बाधक, रक्षक, योगलेमवाहक, शारणागतवस्तल, प्रेममय और पावनकर्ता हैं।

५—उनको प्राप्त करनेके अनेक मार्ग हैं, अपने-अपने अधिकारके अनुसार मार्गोंका अनुसरण होता है। अनेकों नाम-रूपोंमें आख्यात भगवान् वास्तवमें एक ही है, उनको पानेके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। जैसे भगवान्की एकत्रमें कभी हीत नहीं हो सकता, ऐसे ही सभी मार्गोंकी कभी एकता नहीं हो सकती। लक्ष्य स्थान एक है, परन्तु वहाँ पहुँचनेके पथ सदा ही अलग-अलग रहेंगे।

६—अपने-अपने पथपर चलकर सबको भगवान्की ओर आगे बढ़ना चाहिये। मनुष्य-जीवनका यही परम और चरम उद्देश्य है।

७—जो हस उड़े इय-सिद्धिमें लगे हैं वही बुद्धिमान हैं, शेष सब लोग भूलमें हैं। हस भूलका परिणाम महान् दुःखदायी होगा।

८—ईश्वरके न होनेकी बात करना और सुनना बहुत्सु: महापाप है। इस महापापसे मनको सदा बड़ी साक्षात्तीके साथ बचना चाहिये।

९—‘ईश्वर है’ यह विश्वास ठढ़ और पूर्ण होनेपर मारे दोष आप ही मिट जायेंगे और सत्रके लिये परम शान्ति प्राप्त हो जायगी। ईश्वर-कृपापर भरोसा करनेमें ही ईश्वरमें विश्वास होगा।

१०—इसके लिये सन्त-महारमाओं और शास्त्रोंकी वाणीका विश्वासपूर्वक अवण, भनन करना चाहिये तथा शरणागत होकर भगवान्में आर्त प्रार्थना करनी चाहिये।

११—भगवान्के नामका जप प्रेमसहित सशा करते रहना चाहिये। जीवन बीमा जा रहा है। यह व्यर्थ चला जायगा तो फिर पद्मसारेका पार नहीं रहेगा।

विनीत—हनुमानप्रसाद पोद्दार



स० श्रीचन्द्रजी और बा० जहाँगीर

(प्रेक्ष—आंसन्तप्रसादजी, सातुबेला)

बादशाह-हिन्दू कहते हैं कि ‘ईश्वर साकार है’ फिर वह दिल्लालायी वर्षों नहीं पढ़ता ?

सद्गु-निराकार ईश्वरने ही साकार जगत्का रूप धारण किया है, यह सारा जगत् ईश्वररूप है। अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप इन पाँच वस्तुओंसे यह जगत् बना है। इनमें अस्ति-सत्, भाति-चित् और प्रिय-आनन्द ये तीन प्राण-ईश्वर हैं, और नाम, रूप जगत् है, ये दोनों नाश होनेवाले हैं, इसीलिये जगत् नाशबान् कहलाता है, पर सत्, चित्, आनन्दरूपसे ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, अतः सर्वध्यापक है।

बादशाह-आपके हिन्दू-मतसे खास-खास मन्दिरोंमें ईश्वरको विवाजमान समझकर मूर्ति-पूजा की जाती है, तब फिर ईश्वर सर्वध्यापक के में हुआ ?

सद्गु-सांसारिक दयवहारमें लगे हुए जीवोंको ईश्वर-की सर्वध्यापकता समझाने पूर्व उनके चित्तको एकाग्र करनेके लिये ही मूर्ति-पूजा है। यह पथरय या धानुकी पूजा नहीं है, पर पथरमें व्यापक ईश्वरकी पूजा है, पथरका नाम लेकर पूजा नहीं की जानी, ईश्वरका नाम लेकर की जाती है।

संसारके प्रत्येक मत-मतान्तरवाले अपने-अपने खास ढंगमें पूजा करते हैं, इसका क्या भतलब है ? यहो कि, उक्त मतवाले परमारमाकी प्राप्तिका वही मार्ग समझते हैं जो उनके आचार्योंने बतलाया है। हमारे हिन्दू-धर्ममें तो यद्याँतक कहा है कि—‘जले विल्लु, झ्यले विल्लुः’ सब जगह ईश्वरको व्यापक समझो, इन मूर्तियोंमें भी वही ईश्वर है, उसी सर्वध्यापी ईश्वरकी पूजा करो। इस मूर्ति-पूजामें तो ईश्वरकी सर्वध्यापकता ही सिद्ध होती है, यह तो हृदय शुद्ध करनेका एक मार्ग है, क्योंकि पवित्र हृदय होनेपर ही ज्ञान प्राप्त होता है।

ईश्वर सर्वध्यापक है, पर उनको देखनेके लिये दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता पड़ती है। जिसप्रकार दूधमें भी दिल्लालायी नहीं पढ़ता, काष्ठमें अस्ति ईष्टिगोचर नहीं होती, पर दधिको भन्धन करनेमें भी और काठको रगड़नेमें अस्ति उपज होती है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्धिमें सदगुर एवं सत्संग-द्वारा अवश्यकर, मूर्ति-पूजा, भक्ति, योग आदि साधनोंमें जिम्मल अन्तःकरण होनेपर ईश्वरज्ञान होता है। इसीमें जीवका कल्याण होता है।

क्षमा-याचना



त वर्ष कल्याण और सर्व-कल्याणाधार श्रीभगवान्‌के प्रेमी, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयके प्रोफेसर महोदयने बातों-हो-बातोंमें कहा कि 'कल्याणमें ईश्वरवादकी मिटिके सम्बन्धमें कुछ चर्चा होनी चाहिये। इस समय देशमें कई कारणोंमें अनीश्वरवादकी ओर लोगोंका कुछ

मुकाब हो रहा है, ऐसी अवस्थामें ईश्वरवादके समर्थनमें कल्याणमें कुछ लेखोंका प्रकाशित होना अति आवश्यक है।' उस समय कल्याणका 'कल्याणक' प्रकाशित हो चुका था। इसके बाद जब अगले वर्षके विशेषांकके सम्बन्धमें विचार होने लगा, तब प्रोफेसर महोदयके शब्दोंके संस्कार हृदयमें जग उठे और सर्वममतिसे ईश्वरांक प्रकाशित करना निश्चित हो गया और तभीसे—गत पाँचासमें ही 'ईश्वरांक' की तैयारी आरम्भ कर दी गयी। काम बहुत बड़ा था, इमलोग अपनी शक्तिकी अल्पताको लूट जानते थे, इसमें बीच-बीचमें साइसमें कमी होना स्वाभाविक था, परन्तु ईश्वरकी अपार कृपाके भरोमें काम चलने लगा। देश-विदेशके सम्मान्य सन्तों और विद्वानोंमें लेखोंके लिये प्रार्थना की गयी और अति आनन्दकी बात है कि हमारी प्रार्थनाका बड़ा ही आशातीन उत्तर मिला। ईश्वरांकके लिये हतने लेख आये कि परिशिष्टांकसहित ६०० से अधिक पृष्ठकी बहुत ढोस सामग्री दी जानेपर भी संख्याके इसाबादसे दो तिहाईने अधिक लेख रह गये। इसमें यह भी सिद्ध हो गया कि अभी भारतवर्षमें ईश्वरपर जितना विश्वास है, उसको देखते अविश्वासका प्रचार करनेवालोंकी संख्या आटोंमें नमक-जितनी भी नहीं है।

यह सत्य है कि न तो ईश्वरका यथार्थ सरूप ही शब्दोंमें बतलाया जा सकता है और न प्रमाणोंके बलपर किसीके हृदयमें ईश्वरका विश्वास ही कराया जा सकता है। ईश्वर-विश्वास तो ईश्वर-कृपासे ही होता है। फिर हमलोगोंमें तो ऐसी कोई योग्यता ही नहीं है जो ईश्वरके सम्बन्धमें कुछ भी कह सके। हम जब अपनी ओर देखते हैं तो हमें सुकृष्टिसे यह सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि हमारी शक्ति, हमारी योग्यता और हमारी आकांक्षाका फल यह 'ईश्वरांक' नहीं है। भगवान्‌ने कृपा करके इसी बहुने इस पवित्र चर्चामें जीवनका कुछ अंश वितानेका

मुख्यसर दे दिया; और भगवत्प्रेणासे सन्त-महारथा विद्वान् और प्रेमी महानुभावोंने लेख लिखकर, अनु विविध प्रकारसे सहायताकर हमें इस योग्य बना दिया जिससे हम अल्पशक्ति और अल्पमतिके व्यक्ति ईश्वरके नामपर यह मन्य आपलोंमेंके सामने उपस्थित कर सके।

जिन महानुभावोंसे हमें इस कार्यमें सहायता प्राप्त हुई है उनके नामोंकी पूरी सूची तो बहुत बड़ी है, हम उन सभी सज्जनोंके हृदयमें कृतज्ञ हैं, परन्तु जिन महानुभावोंने सत्परामर्श देकर, लेखकोंके नाम-पते बतला कर, लेखकोंसे अनुरोधकर, अन्य भाषाओंके लेखोंका अनुवाद कर, चित्र प्रदान कर, सामग्री-संग्रहमें सहयोग देकर अथवा अन्य विविध प्रकारसे हमारी महायता की है, उनमें सुख्यता निश्चिलिखित सज्जनोंके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

प० श्रीजीवनदासकरजो याजिक एम० ए०, प० श्री-चिम्मनलालजी गोस्वामी एम० ए०, प० श्रीगंगाप्रसादजी नेहता एम० ए०, प० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प० श्रीमद्वनमोहनजी शास्त्री, आचार्य श्रीक्षितीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीरघुवर मिट्टूलाल पम० ए०, महामहोपाध्याय प० श्रीगिरपत्रजी शर्मा, प० श्रीलक्ष्मण नारायणराम, प० श्रीरामसेवकजी त्रिपाठी, प० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी, प० श्रीरामद्वालजी मजूमदार एम० ए०, श्रीराम-चन्द्र कृष्ण कामन, महाशय श्रीकाशीनाथजी, श्रीनारायण-दास के० गान्धी सत्याग्रह-आश्रम, श्रीरघुनन्दनप्रसाद-सिहजी, श्रीसदानन्दजी, श्रीतारापुरवाला, श्रीफिरोज़ सी० दावर, श्रीगुरुंदित्ताजी लक्षा, प० श्रीविष्णु वापट शास्त्री, श्री लिली एकून, व्यवस्थापक गीता-पठावाला बम्बई, श्रीलक्ष्मीरामजी चूड़ीबाला, श्रीरामजीमल बाबूलाल, प० श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर दी० ए०, श्री आर० एस० नारायण स्वामी, श्रीरामरक्षवाजी गुरुकृष्ण कांगड़ी, प० श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी दी० ए०, सम्पादक डान Dawn, सेठ श्रीकाशीयालालजी पोहार, प० श्रीगणेशदत्तजी शास्त्री विद्यानिधि, सोहनलालजी गोयलीय आदि आदि।

इसके अतिरिक्त हम अपने परम प्रिय श्रीवासुदेवशरण-जी अग्रवाल, एम० ए० महोदयके बहुत ही श्रद्धी हैं, जिन्होंने

आरम्भसे अन्ततक विविध प्रकारकी सहायता देकर इस अंकको सर्वांगासुन्दर बनानेमें सब्जे हृदयसे अपनी शक्तिका पूरा प्रयोग किया है। यथापि सात पदपर प्रतिष्ठित होनेके कारण वे इस अंकके सम्पादकरूपमें पाठकोंके सामने नहीं आ सके, तथापि इस अंकमें उनका बहुत कुछ प्रयत्न है, यह बात तो निर्विवाद ही है।

ईश्वरांकमें प्रकाशित सभी मत तो कव्याण-सम्पादक-के हैं और न कव्याणके ही हैं। यह बात पाठक ध्यानमें रखें। अस्तु ।

ईश्वरांकके लिये हिन्दीके अतिरिक्त संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगला, उर्दू, अंगरेजी, प्रैच, गुरुसुखीमें अनेकों लेख आये थे, जिनका अनुवाद कराया गया। इस बाके लेखकोंमें युक्तप्रान्त, बंगल, विहार, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक, मद्रास, पञ्चाब, राज्यताना आदि विभिन्न प्रान्तीय भारतीय विद्वानोंके अतिरिक्त हिंगलैयड, अमेरिका, रूस आदि देशोंके विद्वान् भी हैं। इनमें सब सम्प्रदायोंके हिन्दू, बौद्ध, जैन, मिथ, मुसलमान, पारसी, हिंसाई आदि सभी हैं। इसमें सबकी ईश्वरप्रियताका पता लगता है।

इस अपने कृपालु लेखकों और कवियोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए विविध श्रुतियोंके लिये उनमें कर-बद्र क्षमा-याचना करते हैं। लेखोंके बहुत अधिक आ जानेके कारण अनेक स्वीकृत लेख प्रेसमें देकर हच्छा न रहनेपर भी वापस लेने पड़े हैं। स्थानाभाव और अन्यान्य कारणों-से काट-छाँट भी की गयी है। कहूँ लेख अधूरे छोड़े हैं, तथा कुछका केवल अंशमात्र ही छोड़ा है। इनमा बड़ा अंक कर देनेपर भी सब लेख नहीं दिये जा सके, सब गिराकर ४८६ कविता और लेख आये हैं, जिनमें केवल

१२६ ही छप सके हैं। लेख न छप सकनेके अपराधके लिये कृपालु लेखक महोदय कृपाकर क्षमा करें।

इस अंकके लिये जितने विषय सोचे गये थे, उनमेंसे बहुत-से रह गये हैं। सरलता लानेकी चेष्टा करनेपर भी विषयकी गम्भीरतासे ईश्वरांक कुछ गम्भीर हो गया है। एक पूज्य महानुभावने इसके कुछ लेखोंको सुनकर कहा कि यह तो दर्शनांक है। अस्तु, जैसा कुछ है, आपके सामने है, अच्छे-बुरेका निर्णय आप ही लोग करें। इमलोग तो आप गुरुजनोंकी आज्ञाके वाहक हैं और उसमें सदा श्रुति ही जानेकी ही सम्भावना है। इस अंकके सम्पादन करनेमें हमने जो अनिवार्य चेष्टा बन पड़ी है, गुरुजन, महात्मा, सन्त, ज्ञानी, भगवत्प्रेमी, ईश्वरपरायण, ईश्वर-मर्मज सुधी जन और पूज्य विद्वज्ञ तथा अनुभवी सम्पादकगण उस घटताके लिये कृपया क्षमा करें।

जो मनसा और वचसा भी अविन्द्य और अग्रज है, उसे शब्दोंकी सामाजिक व्यवस्था करनेके इमारा यह प्रयत्न तत्त्वस्तु या परमार्थकी इष्टिमें केवल मोह-जनित ही है।

अविद्याको आधार बनाये बिना इसप्रकारका आयोजन हो ही नहीं सकता। पर आधमसन्तोष इतना ही है कि अविद्याजनित प्रयास भी मृत्युसे पार उत्तरनेका एक साधन बनाया जा सकता है। विद्या और अविद्या दोनों ही नारायणी सत्ता या मायाके भेद हैं। उस मायामें हृष्टनेके लिये हमारी प्रार्थना यही है—

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥

सम्पादक

स्वीकृत

(१)	(२)	(३)	(४)
धरसे यह सोच उठी थी उपहार ढन्हें मैं दूँगी करके प्रसन्न मन उनका जनक तुम आज्ञाश लूँगी	पर जब उनकी वह प्रतिभा नयनोंसे देखी जाकर तब छिपा लिया अश्वलमें उपहार-हार सक्राकर	मैं करकोंके भीतर तण्डुल जिसने पहचाने वह हार छिपाया मेरा रहता कब तक अनजाने	मैं कृजित मूक सही थी प्रभुने धीमे भक्ताया फिर सड़े सामने भेरे होकर निज शीश मुकाया

—(बचन)

—॥ परिशिष्टांक ॥—

प्रश्नोत्तरी



नमोस्त्वनन्ताय सहस्रूतये
 सहस्रादाक्षिण्यरोरुचाहवं ।
 सहस्रनामे पुरुषाय शाश्वते
 सहस्रकोटियुगधारिणं नमः ॥

वर्ष ७
अंक २

कल्याण कार्यालय,
 गोरखपुर

{ भाद्रपद
 { १९८९

ॐ पूर्णमः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड-द्विज-नृपा द्वधमास्तोऽन्ये याताः ममानपद्वीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुद्य ब्रह्मन् यस्याश्चेतः कथं शरणमपि न भक्तिमनाम् ॥

वर्ष ७

गोरखपुर, भाइपद १९८९ सितम्बर १९३२

{ मंख्या २
पूर्ण मंख्या ७४

कल्याण-प्रार्थना

ब्रह्मा दक्षः कुचेरीं यमवर्णममद्यहनिचन्द्रेन्द्ररुद्राः
श्रेत्रा नद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा देत्यगन्धर्वनागाः ।
द्वीपा नक्षत्रतारा रविवस्त्रमुनयो व्योम भूरभिनी च
संलीना यस्य सर्वे व्रषुषि स भगवान् पातु नां विश्वस्तः ॥

प्रार्थना

(१)

प्यारे ! तू ही हमसे अपनी कुछ प्रार्थना कराय तो कर सकते हैं, नहीं तो नहीं । तुम रिक्षानेहारे हम होते कौन हैं ? न वह लगामसे लहराता हुआ मस्त मन है, न वह पीरके चूमती हुई रस-भरी बाणी है और न प्रेम व मेहमानें रंगे हुए हमारे वे सारिक कर्म ही हैं । अब कैसे करें तेरी प्रार्थना ? सुनते हैं, प्रार्थनासे ही तो तेरी रीझका रास्ता हमें गिरेगा, पर यहाँ तो उम कृचेकी तरफ जानेको मन ही नहीं होता ।

नाथ ! हमारे घटाते मनको यदि तू अपनी सुम-क्यानकी रसरीसे बांध ले, तब कहीं उमपर तेरी मानिनी रीझके मोहन मन्त्र अंकित हो सकेंगे ।

हमारी विषय-विहारियी बाणीको यदि तू अपने अद्वैत-रसमें भिगो दे, तभी वह प्रेम-वीरमें मतवाली होकर तेरे मधुर गामडी रट लाता सकेगी । और, हमारे कठोरतम कूर कर्मोंको यदि तू कल्पणाके गहरे रंगमें ढुबो दे, तभी वे तेरी परम प्रीतिको आलिङ्गन दे सकेंगे ।

अभी वह सब कहाँ है ! तेरे प्यार-भरे संकेतोंका अर्थ कलाना तो दूर रहा, हमारी रुदी हुई नजर भी उनपर नहीं जाती । हम अन्धे हैं, आँखें हैं, पर अन्धे हैं । हम तेरे प्रकाशकी भीख माँगते हैं । सुमा दे प्यारे, अपनी रीझकी वह राह, वह गोकुलगांवकी गली, फिर करा ले हमसे अपनी मन-चाही प्रार्थना, जितनी भी और जैसी भी तू कराता चाहे ।

हाँ, हम आज तेरे प्रेम-प्रकाशकी भीख माँगते हैं—उसे माँगते हैं हम अच्छी आँखोंसे, भूँड़-भट्टके दिलसे, बौखलायी हुई बाणीसे और अपने काले-कुटिल कर्मोंसे । अब हमारे अनोखे स्वामी ! हम विलारियोंकी हस तड़पती हुई माँगको ही बढ़ि तू, अपना मन समझानेके लिये, प्रार्थनाके रूपमें ले रहा है, तो अच्छी बात है, सुरक्षमें ही हम तेरे प्रार्थियोंमें आ गये । पर तेरी सबसे बड़ी कृपा तो यही होगी, नाथ, कि हम प्रार्थना तो करते आयें, पर मस्त रहा करें इसी बेल्वरीमें, कि तेरी प्यारी रीझ हमारी गिरफतसे अब भी कोसों दूर है । और हाँ, एक तो बैंसे ही तक आ गये हैं अपनी भद्रामाली सुरीसे, अब वह और गलेसे न किपटे, बस यही तो तुम्हारे आहते हैं ।

हममें जो कुछ भी 'हमारा' हो, उसे तू अपनी रीझके जीने तारीमें उलझा ले, बस, हसीमें हमारे बेकाह जीवनकी सारी उछालन सुखह जायगी । तेरी सुधी, तेरी मझी, हसी अर्जको तू प्रार्थना मानता है, तो मानता जा, हमारा क्या बहा !

प्यारे, प्रियतम, प्रभो ! कव सुझायगा तू अपने प्रेम-प्रकाशका वह प्यारा रास्ता, कि जिसके सदारे मैं तेरे पैरों-को अन्तरामाके ओटोंमें चूम सकूँगा ।

—विद्योगी हरि

(२)

इन्दुं केरविणीव कोकपट्टीवाऽमेजिनावलुम्

मेघं चातकमण्डलीव मनुष्प्रश्नीव पृथग्वजम् ।

माकन्द पिकमुन्दरीव रमणीवारेश्वरं प्रेपितं

चेतोवृत्तिरियं सदा प्रियवर ! त्वां द्रष्टुमुक्तप्तेऽ ॥

जिसप्रकार कुमोदिनी चन्द्रमाके लिये, चक्रव-चक्री सूर्यके लिये, चातक-मण्डली मेघके लिये, भग्न-गण उपर्योंके लिये, कोयल आमके लिये तथा सुन्दरी सती अपने प्रवासी पतिके लिये उक्तपितृ रहती हैं उसी प्रकार हे प्रिय परमात्मन ! तुम्हारे इर्दंनके लिये हमारी चित्तहृति उक्तस्थित हाँ रही है ।

नो मुक्तैरै पृथृयामि नाथ तिमैवै कार्यं न सांसारिके;

किन्तव्योत्य करौ पुनः पुनर्गिदं त्वामेवामर्घयथेऽ ।

स्वेष्ट चागणे रियै विचलने दुःखं मुत्ते मनिद्र

कातरं निश्चिवासरे च सततं मकिर्ममास्तु त्वयि ॥

हे प्रभो ! मैं न मोहको इच्छा करता हूँ और न सांसारिक भोगोंकी, किन्तु कर्तवद हीकर है ईश ! मैं बार-बार तुम स्वामीसे यही माँगता हूँ कि म्यमर्मेजागृतिमें, स्थितिमें-गतिमें, दुःखमें-सुखमें, घरमें-बगमें, रात्रिमें-दिनमें निरन्तर आपमें ही मेरी भक्ति रहे ।

रामे कृष्ण रमे लिंगो सीते गम शिवे शिव ।

मासि सासि नमो नित्यं योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥

आप चाहे राखे हों चाहे कृप्य, चाहे लक्ष्मी हों चाहे विद्यु, चाहे सीता हों चाहे राम, और चाहे पार्वती हों चाहे शिव, चाहे जिस लीकप या तुरुषकपमें आप हों आप (हेशर) को नित्य नमस्कार है, नमस्कार है ।

—संग्रह० रामरामिहु इरकालका

—प्रश्नावली—

- १—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?
 २—ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं ?
 ३—ईश्वरके होनेमें कौन-कौन-से प्रबल प्रमाण हैं ?
 ४—अपने जीवनकी ऐसी सच्ची घटनाएँ लिखिये,
 जिनसे ईश्वरकी सत्ता और दयामें आपका
 विश्वास बहुत बढ़ा हो ?

उपर्युक्त चार प्रश्न कुछ चुने हुए सन्त-महात्मा और विदान् पुरुषोंकी सेवामें पत्रद्वारा भेजे गये थे, और कुछ ऐसे विरक्त महात्माओंकी सेवामें, जिनमेंसे अधिकांश जन-कोलाहल-गून्य तपोभूमियोंमें निवास करते हैं और लिखने-लिखनेका न तो सामान रखते हैं तथा न लिखना चाहते ही हैं, प्रश्नावली देकर श्रीप्यारोलालजी डागा और श्रीगम्भीरचन्द्रजी दृजारीको भेजा गया था। बड़े ही आनन्दकी बात है कि बहुतेरे महानुभावोंने कृपा करके प्रश्नोंका उत्तर दिया है। चतुर्थ प्रश्नका उत्तर देनेमें सन्तोंने बहुत ही संकोच किया है। अपने जीवनकी शुद्ध आध्यात्मिक घटनाएँ बतलानेके लिये तो प्रायः ही अस्वीकार कर दिया। बात भी उचित ही है, सर्वसाधारणके सामने आध्यात्मिक अनुभवकी बातें प्रकट भी नहीं करनी चाहिये। इसीलिये जिन महानुभावोंने कृपा करके कुछ बातें बतलायी थीं, उनको भी पूरा-पूरा प्रकाशित करना उचित नहीं समझा गया, इससे बे लोड दी गयी हैं !

पहले प्रश्नका कुछ महानुभावोंने यह समझकर उत्तर दिया है कि ‘ईश्वरको माननेमें क्या हेतु है’ और कुछने यह समझकर कि ‘ईश्वरको माननेमें क्या लाभ है’ कुछने चारों प्रश्नोंका एक ही साथ उत्तर दिया है। जिन प्रेमी सज्जनोंने सन्तोंसे उत्तर लिखवानेमें सहायता की है उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं।

महात्मा गांधीजीसे भी इसी आशयके कुछ प्रश्न पूछे गये थे। उन्होंने यरवदासे उत्तर भी दिया था, परन्तु निम्नलिखित शब्दोंमें आपनेकी आझ्मा नहीं दी, इससे उन्हें नहीं छापा गया। महात्माजीके सत्यकी महिमाको बढ़ानेवाले शब्द ये हैं—

‘छापना नहीं’…………आत यह है सरकारी लोग मेरे खतोंका या विचारोंका प्रकट होना चाहते नहीं हैं, उनकी दृष्टि मैं समझ सकता हूँ और उसके अनुकूल यथाशक्ति चलता हूँ…………यह सब व्यवहार विश्वाससे चलता है। सत्यको ही परम ईश्वर माननेवाला मैं इस विश्वासका बात करना नहीं चाहता हूँ। अस्तु ।

अब उपर्युक्त प्रश्नोंकी उत्तरावली प्रकाशित की जाती है, पाठक-पाठिकागण इससे यथेष्ट लाभ उठावेंगे। ऐसी आशा है। —सम्पादक

उत्तरावली

—४०४०—

(१) स्वामी श्रीउडियास्वामीजी महाराज

१, २, ३—मनुष्य किसी नवीन वस्तुको देखकर उसके आननेकी हृच्छा करता है, जिसप्रकार बड़ा चन्द्रमाको देखकर अपनी मासे उसका नाम पूछता है, फिर उसे पढ़नेकी हृच्छा करता है, इसी प्रकार प्रथेक मनुष्यमें तीव्र हृच्छाएँ होती हैं—१ वस्तुको देखनेकी, २ उसके आननेकी और ३ उसे प्राप्त करनेकी ।

उसका (जीवका) ज्ञान अपूर्ण है, इस बातको वह सदा अनुभव करता है और उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा करता रहता है । वास्तवमें हम अस्प-ज्ञान, अस्प-शक्ति और अस्प-क्रिया हैं । इस अस्पूर्णताको पूर्ण करनेके लिये हमें ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये, हमारा अस्प-ज्ञान, अस्प-शक्ति तथा अस्प-क्रिया ईश्वरको माने बिना कभी पूर्ण हो नहीं सकती ।

ईश्वरकी सत्ताको न माननेसे हम सदैव अस्प-ज्ञानी, अस्प-शक्ति तथा अस्प-क्रिया ही रहेंगे; ज्ञानी कभी नहीं हो सकेंगे । क्योंकि ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार न करनेसे स्वाभाविक ही हमारी प्रहृति संसारकी ओर होगी; फलतः हम जड़बाढ़ी और जड़मति हो जायेंगे । जीवका स्वभाव प्रेम करता है—ईश्वरको न माननेसे वह विषयरूप संसारसे ही प्रेम करेगा ।

अपने स्वाभाविक अस्प-ज्ञान, अस्प-क्रिया तथा अस्प-शक्तिका अनुभव होते रहनेसे स्वयमेव ही यह सिद्ध हो जाता है कि कोई एक ऐसा महान् जरूर है, जो पूर्ण-ज्ञान, पूर्ण-क्रिया और पूर्ण-शक्ति है । हमारी अपनी अपूर्णता ही किसीकी दृष्टिता एवं महत्त्वाको सिद्ध करती है ।

हम जानते हैं कि हम पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि-को केवल अपने व्यवहारमें ही बा सकते हैं, उनको मिळाकर कोई नवीन वस्तु भी बना सकते हैं, परन्तु हम उन मूल-तत्त्वोंका नियोग कभी नहीं कर सकते ।

हमारी यह अशक्ति ही किसी महान् शक्तिको सिद्ध करती है । जो जिस वस्तुका नियोग-कर्ता होता है, वही

उसका द्रष्टा भी होता है । हम हम पञ्च महाभूतोंके और इस अक्षिक्ष व्रजाघटके न लाठा हैं, न लाठा हैं और न जाता ही है । हमारी यह अस्प-हांठ तथा अनभिज्ञता ही किसी सर्वद्वष्टा तथा सर्वशक्ते अस्तित्वको सिद्ध करती है ।

जो लोग परमात्माके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते, उनको वह तो अवश्य मानना पड़ता है कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश हम पञ्च महाभूतोंका तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिका कोई कर्ता अवश्य है, क्योंकि जह वस्तु अपने आप 'निर्मित' नहीं हो सकती, दो वस्तुओंके मिलनेसे तीसरी अवश्य बन जाती है, पर उसमें भी मिलानेवाला कोई कारण होता है । मिलाई आनेवाली मूल वस्तुओंका कर्ता होना तो अवश्यम्भावी है, परन्तु उसे लोग न तो स्पष्ट देख सकते हैं, न सूक्ष्मजुदिहारा उसका अनुभव ही कर सकते हैं, इसलिये किकरीन्धनिमूढ़ होकर बिना समझौते अनायास ही यह कह बैठते हैं कि सब कुछ अपने-आप ही बन गया । यथापि वे यह अवश्य अनुभव करते हैं कि उनका ऐसा कहना निःनान्त ही निराजार, निस्सार एवं निर्मूर्ख है ।

निज-निर्मित वस्तुओंको हम बना सकते हैं और बिनाइ भी सकते हैं परन्तु ईश्वर-निर्मित वस्तुओंको न हम बना सकते हैं और न नष्ट कर सकते हैं ।

हम जलसे बर्फ और मिहीसे इंट बना सकते हैं और उन्हें बिंगाड़ भी सकते हैं परन्तु जल तथा मिहीको न हम निर्माण कर सकते हैं, न हम उन्हें नष्ट कर सकते हैं । जब हम अपने बिचारसे उन्हें नष्ट हुआ समझते हैं, तब भी वे वास्तवमें नष्ट नहीं होते, केवल उनका रूपान्तर हो जाता है । हमारी यह असमर्थता ही उस सर्वसमर्थके अस्तित्व-को सिद्ध करती है । हमारी सामर्थ्य और शक्तिका हास प्रतिचय होता रहता है, ईश्वरकी शक्ति कभी न तो बढ़ती है, न नष्ट होती है, ईश्वर सदा-सर्वदा एकरस रहता है ।

हमारी असमर्थता और क्षमुता इसीसे प्रकट है कि निरन्तर जनेकानेक साधना करनेपर ही हमें सिद्धिर्थों प्राप्त

हो सकती हैं और वह भी बहुत ही परिमित। अमन्य सिद्धिकी प्राप्ति हम नहीं कर सकते, हम सृष्टि करनी नहीं रख सकते, जीव सर्वभ्यायक करनी नहीं हो सकता, एवं शिखिके हम नहीं जान सकते। कोई कितना ही कुशल शर्यों न हो, दूसरा उसमें दोष निकाल सकता है, इच्छके कारणमें कोई दोष नहीं निकाल सकता।

यों सो हम प्रतिदिन ही जाग्रत्-अवस्थामें उत्पत्ति और सुधुपति-अवस्थामें प्रछय किया करते हैं परन्तु सर्व-उत्पत्ति और सर्व-प्रछय हम नहीं कर सकते।

हम आमके बृहको लगाते हैं, उसे नष्ट भी कर सकते हैं परन्तु बीजको नष्ट नहीं कर सकते। मतलब यह कि निष्ठ-निर्मित वस्तुओंको हम बना-बिंगाव सकते हैं, ईश्वर-निर्मित वस्तुओंको नहीं।

यह अनुमान सर्वथा निम्नकृत है कि प्रकृति स्वयं ही सजनका कार्य सम्बादन कर लेती है। क्योंकि प्रकृति कियाहीन और जड़ है, वह स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकती। जिसप्रकार हमारी क्रिया-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, हमारे अधिकारमें है। इसी प्रकार तत्त्वोंकी क्रिया-शक्ति भी उनके (प्रेरक) सञ्चालक प्रभुके हाथमें है। हममें दो शक्तियाँ हैं, १ आर्थिक (ईश्वरीय) और २ प्राकृतिक (मायिक)। हमारी हस दूसरी शक्तिका सञ्चालन पहली शक्तिके हारा ही होता है।

(क) हमारे घरमें देवीकी उपासना अधिक थी, मैंने भी देवीका अनुष्ठान किया था, वह हसलिये कि संसार बहुत तुच्छी है, किसी प्रकार उसका दुःख दूर किया जा सके तो उत्तम है। मेरे नाममें यह कामना हुई कि मुझे यदि श्रौपशीकी हाँड़ीका-दा एक पात्र मिल जाय तो अनायास ही जोगोंका कुछ उपकार हो सकता है। हस अनुष्ठानकी पूर्तिके लिये मैं कामरूप जाकर कामादा-देवीकी उपासना करने लगा। कुछ दिनों पश्चात् कामरूपके निकटवर्ती एक महान् ब्रह्मचारीका शिष्य हो गया। ब्रह्मचारीजीकी भूम्युके पश्चात् उनके श्वानपर जोगोंने मुझे महस्त बना दिया। महस्त होनेकी अवस्थामें भी मेरा अनुष्ठान कराता रहा, उस समय वहाँ बहुत लोग आया करते और रोज़ लगाभग तीन-चार सौ लग्ये आते। मैं उन स्पर्धोंको स्वर्ण न करता। दूसरे ही जोग उन्हें साझुओंके भववारे आदिमें जर्व करते

रहते। उस समय मैं किसीके लिये जो कुछ कह देता, वही सत्य हो जाता। किसीको दुराचारी-पारी कहता तो वह उत्तर न्वीकार करता, सुनते यह दोष है। यह दूरा पर्याप्त दिनतक रही, फिर मैंने सोचा कि इस तरह रहना यीक नहीं। यदि काल स्पर्धे भी मिल गये तो एक गाँवका कह दूर होगा। तत्प्रथात् यह बात व्यालमें आयी कि यदि श्रौपशीकी तरहइका मुझे कोई पात्र मिल जाय तो भी उससे क्या होगा? यह सब सोचकर मैं एक दिन चुपकेसे शौकके बहाने चल दिया और मैंने आठ कोसपर पहुँचकर ही दम लिया। इसके पश्चात् जंगलमें घूमता रहा। दुर्गाका उपासक या ही, अब मुझे श्रीकृष्ण-प्रेम भी होने लगा।

एक रातकी बात है; सूर्य अस्त हो गया था, चन्द्रमाकी चाँदनी छिटक रही थी, जंगलमें नहरके किनारे एक सुन्दर बालक और एक बालिका भेरे समीप आकर कहने लगे, ‘कहो तो बाबाजी, हम रोटी लायें,’ मैंने कहा ‘इतनी रात तुम कहाँसे रोटी लाओगे?’ उन्होंने कहा ‘हमारा गाँव पास ही है।’ वे घूम-घामकर योद्धी ही देरमें रोटी ले आये। मैंने रोटी खायी और वहीं सो रहा। प्रातःकाल बहुत सबेरे भेरे उठनेके पूर्व ही वे दोनों फिर आये और बोले, ‘बाबा! मढ़ा पीओगे?’ मैंने कहा ‘तुम इतने सबेरे फिर कहाँसे आ गये और इस समय मढ़ा कहाँसे लाओगे?’ उन्होंने कहा ‘हमारा गाँव निकट ही तो है।’ वे इधर-उधर घूमकर तस्काल ही मढ़ा ले आये और मैंने उसे पी लिया। उनके चले आनेपर मैंने खोज की तो मालूम हुआ कि वहाँ दूर-दूरतक कहीं गाँवका नामनिशान भी नहीं, बगल-ही-आगल है।

(ख) मेरे एक मित्र ब्रह्मचारीजी भगवान् श्रीकृष्णके उपासक थे और उनसे शिक्षा लेने जा रहे थे। मार्गमें उन्हें बड़ी व्यास लगी, उनका कबूल सूखा जाता था; लोटा, डोर उनके पास थे, वे एक कुँपर गये, तब मालूम हुआ कि कुँआँ बहुत गहरा है। लोटा फौसनेपर जलका पता नहीं। जल बहुत नीचा था, निराश होकर वे वहीं बैठ गये; अत्यधिक व्यासके कारण प्राण अत्यन्त छटपटाने लगे। ऐसा मालूम होता था कि अब दस-ही-पाँच मिनटोंमें प्राण निकल जायेंगे। उस समय वे ‘हा कृष्ण! हा कृष्ण!’ तुकरने लगे। इतनेमें ही यकायक एक बालक उनके पास आया और कहने लगा कि ‘मुझे अपना लोटा-डोर दे दो,

‘मैं बहु काढ़ूंगा ।’ ब्रह्मचारीजीका लौटा-बोर लेकर वह बालक उसी कुएँसे बहु शौच लाया और उसने आकर उन्हें चिका दिया । तबनन्तर बाककने कहा ‘तुम जिस साक्षे पास जाते हो वह महा पालवद्वी है ।’ ब्रह्मचारीजीने कहा कि ‘तुम छोटे-से बालक उस साक्षे पालवद्वको क्या जानते हो और तुम कहाँ रहते हो?’ उसने उत्तर दिया कि ‘मैं बहीं जंगलमें गाय खाराया करता हूँ, मैं उस साक्षोंको तूँ जानता हूँ ।’ इसके बाद ब्रह्मचारीजी जब होशमें आये तो उन्हें वह बालक नहीं दीख पाया, कुएँपर जाकर छोटा फँसा सो भालूम हुआ कि वह पहलेकी ही भाँति खूब गहरा है ।

(ग) अतरौंकी तहसीलमें एक कायस्थ गृहस्थ रहते थे, घरमें भी, पुरुष तथा एक लड़की थे तीन प्राणी थे, पुरुष पटवारीका काम करते थे । किसी मामलेमें उन्हें सात सालकी जेब हो गयी । घरमें कन्या और भी रह गयीं । लड़की व्याह-योग्य हुई, घरमें कुछ था नहीं; उसके मामाने विवाहका सारा भार अपने ऊपर लिया, विवाह पक्का हो गया । जब विवाहके तीन-चार दिन रह गये, तब किसी कारणसे मामाने साक इन्कार कर दिया कि ‘मुझसे कुछ भी नहीं हो सकेगा ।’ बरात आनेवाली है, व्याहका दिन है, पर घरमें कुछ भी नहीं है । बेचारी भी महान् कहसे पीविता होकर रात्रिको एक कोठरीमें आ पड़ी । पढ़ोसी कायस्थीने बिचार किया कि, बरात आ रही है, यदि वह बिना सास्कार वापस लौट गयी तो इम सबकी बदनामी होगी । यह बिचारकर उन लोगोंने कुछ प्रबन्ध करके भट्टी खुदवानेका लगाया ज्ञाया । सब बैठे थे, भट्टी खुद रही थी । उसी समय भट्टी खोदनेमें ही एक बहा निकला । लोगोंका ध्यान दूसरी ओर था, भट्टी खोदनेवाले दोनों आदमियोंने सब्बाह करके बहा उड़ाना चाहा । उनमेंसे एक आदमी उसे कपड़ेमें छिपाकर किसी कामके बहाने बदलने लगा । भट्टी खुदनेकी जल्दी भी, दोगोंने कहा ‘भाई, काम कोइ-कर कहाँ आये हो?’ वह कुछ बहाना बताकर आये बहा । लोगोंको ऐसे बहु उसका काम कोइकर आया बहुत बुरा लगा । एकने उठकर उसे रोका, देखा तो कपड़ेमें छिपा एक बहा है, उसे निकलकरा, तो भालूम हुआ उसमें पाँच-सात सौ या कुछ कम-ज्यादा लम्बे हैं, देखते ही सब लोगोंने कहा ‘भगवान्की कुप्पा है, इस कढ़कीके माल्ह-से वह निकल है, तुम कहाँ ले आये हो?’ लोगोंने आकर

कम्याकी भाँको कोठरीसे निकालकर उससे सारा हाथ कहा, और उसी लम्बेसे उस कम्याका विवाह सम्पन्न किया । भगवान्के उसकी कल्प-पुकार सुनी ।

(घ) अलीगढ़में एक कायस्थ-घरानेके दो लड़के थे, एकको संग्रहीजी भीमारी हो गयी । अनेकों बैध-बालकर्णी-का इलाज कराया गया, बरका सब जेवर नह हो गया, पर कुछ काम नहीं हुआ । दैवयोगसे कोई महारमा वहाँ आ गये । उन्होंने उसकी हाथत देखकर कहा ‘उन्हें तो मरना-जीना एक बराबर है ई । मैं तुम्हें पह महामन्त्र बताता हूँ, इसका अशण्ड जाप करो । श्रीरामचन्द्रजीका इष्ट रक्षो ।’ उसने उसी समयसे महारमाजीके आदेश-जुसार जाप प्रारम्भ कर दिया । बिना किसी भी भोजनिके एक मासके जापसे रोग पूर्ण शान्त हो गया । इसके बाद उसकी ऐसी स्थिति हो गयी कि श्रीराम, सीता और लक्ष्मण हर समय उसे अपने साथ रहते प्रतीत होने लगे । बदलते-फिरते, नहाते-बोते, शौच जाते सभी समय यही हाल । एक दिन शौच जाते समय उसने देखा कि वही शूर्ति सामने लगी है, वह बोला ‘महाराज ! शौचके समय तो मत आया करो । उसी दिनसे फिर दर्शन नहीं हुए ।

(इ) यमुना-किनारोंका सेवकी तहसीलका एक जाट भेरे पास आता-जाता था, उसकी घटना है । वह हर पूर्णिमा-को यमुनाजी पार करके दृन्दावन जाता और वहाँ श्रीबींके-विहारीजीके दर्शन करता । यह नियम उसका तीस-बालीस बर्षे था । एक समय पूर्णिमाके पहले दिन चालुरेशीको उसके जवान लड़केकी मृत्यु हो गयी । एक ही लड़का था । गाँवभरमें हाहाकार भय गया, लड़केकी लाश लेकर गाँवके बहुत-से लोगोंके साथ वह यमुना-किनारे रमणीय गया और उसने लड़केका दाह-संस्कार किया । इस कामसे खुदी पानेपर जब सब लोग चलने लगे तो वह जाट बोला ‘भाई ! जो होमा था सो हो गया, आप लोग तो सब बर जायें, मेरे कल पूर्णिमा है, मुझे श्रीबींके-विहारीजीके दर्शन करने हैं । मैं तो अब दृन्दावन जाऊँगा ।’ सब कोग कहने लगे ‘कैसा पागल है, जवान लड़का मरा है, लोग इसके बरपर आयेंगे और वह कहता है तुम्हे दृन्दावन जाना है ।’ कई लोगोंने उसे समझाया वह उसने वही माना और कहा कि ‘मेरा तो बहुत लिमोंसे वह नियम है, मैं तो श्रीबींके-विहारीजीके दर्शनको तो अद्वय जाऊँगा, जाए कुछ भी हो ।’ इसना कहकर वह चक

दिया । हवा बढ़े देखते चक रही थी । वर्षा भी होने लगी । साथके सब लोग लो घर चले आये । उसने जाव-बालेको पमुनाजी पार करनेको कहा, महाइने ऐसे अपहर दृक्षामर्मे जाव ले जानेसे साफ हम्कार कर दिया । जाटको पुच-शोक तो था ही, सब कल पूर्णिमाको सबैरे नियमामुसार श्रीबाँकेविहारीजीके दर्शन नहीं होन्गे, इस बातपर उसे बदा दुःख हुआ । वह शोकसे अस्थापत धीर्घित होकर उसी महाइकी कुटिवार्द्दें जा पड़ा । उधर श्रीबाँकेविहारीजीका पण्डा रात्रिके बारह बजेतक जाटका इन्द्रजार करके अपने घर गया, ज्योंकि जाट चतुर्दशीकी ही रात्रिको छन्दावन पहुँच जाया करता था ।

इधर रात्रिको जाटने देखा कि 'पण्डाजी सामने लड़े हैं और प्रसाद दे रहे हैं । जाटने प्रसाद लिया, जल पिया और सो गया । सबैरे आँख झुलनेपर जाटने अपनेको कृन्दादाममें उसी कोठीमें पाया, जहाँ जाकर वह हमेशा रात्रिको सोचा करता था । सब उसे बदा आश्रय हुआ । उसने सोचा 'मैं तो यमुनाके उस पार सोचा था, यहाँ कैसे आ गया' रात्रिकी पण्डाजी-के प्रसादकी छटना याद आयी, उसने पण्डाजीसे आकर एक तो, पण्डाजीने कहा कि 'आई, मैंने तो प्रसाद नहीं दिया, हो न हो, तुम्हें भगवान् श्रीबाँकेविहारीजीने दर्शन दिया है ।' उस कोठीमें जल और प्रसादके कल्प भी विसरे हुए मिले । जाट बोला 'हाय ! लाखाने बदा धोका दिया ? वह जाट अब मर गया है ।

(च) मैं इराहारके कुम्भसे बायिस लौट रहा था, रास्तेमें जिला सुजफक्करनगरके एक गाँवमेंसे जाना हुआ, वहाँ एक ब्राह्मणने भिक्षा करायी । मैं वहाँ रुक गया । बहुत-से लोग वहाँ आये । उनमें एक शाकुरसाहेब भी थे—उनकी अवस्था ७०-७५ वर्षकी होगी, खेतरेपर बदा तेज, शरीर स्व इच्छुष था । वे प्रायः विनम्र जावा लिये अप करते रहते । यों वे अपनैको आर्यसमाजी कहते । मैंने एक दिन उनसे एक, 'आप आर्यसमाजी हैं, पिछे भालासे जप कैसे करते हैं ?' उन्होंने अपने शीबनकी छटना इस-प्रकार सुनायी—

'ओरी अवस्था आठ-दस वर्षकी थी, सब मुझे श्री-स्वामी दयालभट्टीके वर्षमात्रा सौभाग्य प्राप्त हुआ । उनके ब्रह्मचर्य और सत्यताको देखकर मेरी उनपर भपार आदा हो गयी । मैंने उनके ब्रह्मचर्य और सत्यका आदर्श-

सामने रखकर शीबनकर हन दोनों ब्रतीके पाठ्यका निष्पत्ति किया । मैं श्वामीजीका पूर्ण अनुगामी बन गया । स्वभावतः मेरे विचारमें श्रीकृष्णके लिये यह अटल निष्पत्ति हो गया कि कृष्ण ही भारतवर्षके पतनका कारण है । हुनियामरके छह-कपट, व्यमिचार आदि वित्तने दीप हैं, सब उसमें थे । कृष्ण नहीं हुआ होता तो शायद भारतवर्षमें यह पाप इस रूपमें नहीं फैलता । इस आवासासे मैं कृष्णका भरपूर विरोधी हो गया । मेरा ब्रह्मचर्य और सत्यका ब्रत चालू रहा ।

अनुमान २०-२२ वर्षकी उम्रमें मैं काशी चढ़ा गया, इस बीच मैं कुछ पद-किल्स भी गया था । मैं पहलवानी करता था । काशीमें एक ठाकुरसाहबको पुक ऐसे हृष्ट-पुष्ट पहलवानकी लकाई-भगाड़ेके समयके लिये अस्तर थी । उन्होंने मुझे रख लिया । मेरे जिम्मे कुछ भी काम नहीं था । लूक कसरत करना, बादाम-जी हृथियि चाहे जिसने माल खाना, पहलवानी करना और ठाकुरसाहब जब कभी कहीं बाहर आये तो जाठी लेकर उनके साथ हो जाना । मैं निष्प ग्रातः ३॥-४ बजे उठता । जी॒-ज्ञान करके २-३ घण्टे स्व॑ सन्ध्या-नायनी-अप आदि करता । दिनमें प्रायः तीन चार बार चान करता । तोपहरकी और सायंकी सन्ध्या करता । मेरा जीवन स्व॑ आचार-विचार, कर्म-काष्ठमें भीतता । इन सब बातोंके अस्तिरिक्त मैं रात्रिको नियमसे प्रतिदिन आर्यसमाजमें जाता और पुक घण्टे व्याख्यान देता । व्याख्यानमें मेरा एकमात्र विषय रहता, कृष्ण और रामकी भरपेट निन्दा करना और उन्हें शक्तिभर गालियाँ देना । जिन ठाकुरसाहबके वर्हा मैं रहता था उनके एक श्रीकृष्ण भगवान्नका मनिदर था । उसके पुजारी श्रीकृष्णके बड़े भक्त थे । ठाकुरसाहबके उम्रमें भी ठाकुर-पूजा थी । उनके ऊ-पुरुष बड़े-द्वादे प्रायः सभी बड़े भ्रमसे पूजा करते । यथापि मैं श्रीकृष्णका कहर विरोधी था परन्तु मेरे ब्रह्मचर्य और सत्यके ब्रतसे प्रसन्न होकर मन्त्रिके पुजारी और ठाकुरसाहब क्षेत्रों ही मुक्षपर बदा स्नेह रखते । कभी-कभी पुजारीजी मुक्षसे कहते 'ठाकुरसाहब, यदि तुम कृष्णकी उपासना करो तो तुम्हारे-बैंसे सच्चे आदमीको बहुत बल्दी साक्षात्कार हो जाय ।' पुजारीजी तो मुक्षपर बदा अनुग्रह करके यह बातें कहते पर मैं उनके बदलेमें उनको और उनके कृष्णको भरपेट लोटी-खारी मुक्षाता । पुजारी

प्रापः यही कहते और मेरा बही उत्तर होता। एक दिन पुजारीजीने बब किए यही बात कही तो मुझे बहुत ही क्रोध आ गया। मैंने शक्तिमार कृष्ण और पुजारीको बहुत कुछ बुरा-भला कहा। यहाँतक कि उस दिनके मेरे इस कठोर कथनसे पुजारीजी अधित्त होकर रोने लगे।

उस दिन पुजारीजीको बहुत ही कष्ट हुआ। मैं उस दिन रात्रिको उस बजे दूष पीकर सर्देवको भाँति भूमिपर सो गया। पास ही तरक्तपर पुजारीजी सो रहे थे। रात्रिको मेरी अंख सुली तो क्या देखता हूँ कि लूप उजाला हो रहा है, महान् सूर्यका-न्सा प्रकाश है, मैं एकदम फक्फड़ा-कर उठ चैंडा, मैं प्रापः साडे तीन बजेका जागनेवाला, आज हतानी देर हो गयी, मुझे बबा कष्ट-सा हुआ। मैंने उठकर देखा, परिणामजीके सख्तके पास दम-बारह वर्षका एक सुन्दर बालक लका है और मुझे देख-देखकर हँस रहा है। मुझे उस बालकको इस तरह सुम्भवते देखकर गुस्सा आया और मैंने उससे फटकारकर कहा 'मेरी छोती-लोटा कहाँ है, जल्दी ला, हँसता क्यों है?' वह यह सुनकर और हँसने लगा। मुझे बढ़ा बुरा लगा, मैं उसे मारनेको दौंडा। बालक तख्तके चारों ओर भारने लगा। मैं उसके पांछे-पांछे भागता, बालक आगे-आगे तख्तके चारों ओर चढ़ार लगाता, पर मेरे हाथ नहीं आता। वह यों-यों हँसता, यों-ही-यों मुझे क्रोध घटता, मैं उसे फटकारना और चिल्हाता। मेरा चिल्हाना सुनकर पुजारीजी भी उठ चैंडे, और भी आसपासके बहुत-मेरे छो-पुरुष बहाँ जमा हो गये। वे सब-के-सब आश्चर्यसे मुझसे बार-बार पूछने लगे, 'ठाकुरसाहब, क्या बात है? आज आपको क्या हो गया है?' मैं उस बालकके हँसनेकी शैतानी बतालाकर कहने लगा 'देखो, इस बालक-को समझा दो, नहीं तो इसके इकमें अच्छा न होगा।' वे बेचारे कुछ भी नहीं समझ सके। जब इस झन्डामें बहुत देर हो गयी तो मैं देखता हूँ कि वह लूपका इटने पुजारीजीकी गोदमें जा चैंडा और तरकाल अरथ हो गया। मैं भी हैरान रह गया। इसीके साथ मुझे जो बढ़ा भारी प्रकाश दीख रहा था, वह जाता रहा, चारों ओर वही रातका अम्बकार ढा गया। लोगोंसे तथा पुजारीजीसे बात हुई, तो वे कहने लगे 'ठाकुरसाहब! यहाँ तो कोई लूपका नहीं है, हम सब लोग वहे आश्चर्यमें हैं कि आज इस रात्रिके समय आपको न जाने क्या हो

गया है?' मैंने अपनेको कुछ और सावधान करके वही दिलवायी तो रातका एक बजा था। मैंने सारी घटना लोगोंको सुनायी। सब कहने लगे 'ठाकुरसाहब, जिनकी आप बहुत निन्दा करते थे, यह अम्बकार उड्हीका तो नहीं है?' मैंने कहा 'कुछ भी हो, ऐसी बातोंसे मैं कृष्णको भगवान् नहीं मान सकता। हाँ, आजसे मैं कृष्ण और पुजारीजीको गालियाँ नहीं दूँगा।' उस विषये मैंने गालियाँ देना बन्द कर दिया और प्रापः पुजारीजीके पास मण्डिरमें आने-जाने लगा।

एक दिन मैं मन्दिरमें जाकर देखता हूँ कि जिन ठाकुरसाहबके यहाँ मैं रहता था, उनका बारह-तेरह वर्षका एक लड़का, जो तीन-चार महीनेसे जन्मसाल गया था, वहाँ लड़ा है। उसे देखकर मैंने उससे पूछा 'नू कब आया?' वह बोला 'मैं तो कल ही आ गया था।' मुझे इठमे बड़ी चिढ़ी थी। मैंने कहा, 'नू मेरे सामने फूँ बोलना है, मैं तो हर समय घरमें रहता हूँ, वहीं खाता-पीता हूँ, मैंने तो तुझे कलसे नहीं देखा।' लूपका यह सुनकर मेरी तरफ देख-देखकर हँसने लगा। मुझे बढ़ा गुस्सा आया, एक तो मूँझ बोलता है और फिर हँसता है नालायक—मैं उसे मारनेको दौंडा। वह भी भागने लगा। वह फिरकर मेरी तरफ देखता और हँस देता; वहाँसे भागकर वह घरकी तरफ चका, मैं भी उसीके पांछे-पांछे दौंडा। वह दौबकर घरमें घुम गया मैं भी चिल्हाता हुआ गुम्मेसे भरा घरमें चला गया, वहाँ भीतर घरमें मुझे चिल्हाते देखकर घरके छो-पुरुष अबाकू रह गये और मुझसे पूछने लगे 'ठाकुरसाहब! क्या बात है?' मैंने कहा, 'यह तुम्हारा लूपका जो अभी घरमें आगकर आया है, बढ़ा शैतान है—मुझमें हूठ बोकता है कि मैं कल आ गया था और मुझे देख-देखकर हँसता है। इसे जल्दी निकालकर लाओ, कहाँ आकर छिपा है?' घरके सब लोग कहने लगे 'ठाकुरसाहब! आपको आज क्या हो गया है?' वह लूपका तो तीन-चार महीने हुए जन्मसाल गया है, वह यहाँ कहाँसे आया?' मैंने कहा, 'जहाँ अभी मेरे सामनेसे आगकर आया है।' इसपर सब लोगोंने कहा 'आप जाहे जहाँ घरभरमें देख सकते हैं, यहाँ कोई नहीं है।' मैंने सारा घर ढाला, उसे न पाकर मुझे बढ़ा ताड़पुल हुआ। तब मैंने सब लोगोंसे अपना हाल कहा। वह घटना सुनकर कहूँ कोग कहने लगे, 'ठाकुरसाहब, यह उसी

हृषका चमत्कार दीखता है ।’ मैंने कहा ‘भाई ! आहे जो कुछ हो, जबतक एक बार फिरसे ऐसी कोई बात नहीं हो सकती तबतक मैं उसको ‘भगवान्’ नहीं मानूँगा ।’

मैं रोज मन्दिरमें पुजारीजीके पास आता ही था, पूर्व घटनाके लीक बाहरमें दिल, मैं देखता हूँ कि वही बालक, जो घर भाग गया था आज फिर मन्दिरमें बढ़ा हैं स रहा है । मैंने कहा, ‘कहो, कहाँ ये ?’ बालक बोला, ‘आह, इम तो यहीं रहते हैं ।’ मैंने कहा, ‘उस दिन आप छूट करो बोले ये कि मैं कब आवा हूँ ?’ बालक कहने लगा ‘ठाकुरसाहब, आपको मालूम नहीं, इम लेकिन

कई बार ऐसी छूट बोल आते हैं ।’ यह कहकर बालक तुरन्त अदृश्य हो गया । मैं पुजारीजीके चरणोंपर गिर पड़ा और अपने पूर्व अपराधोंके लिये क्षमा माँगने लगा । पुजारीजीने बड़े प्रेमसे मुझे डाढ़ाकर हृषयसे लगा लिया और द्वादशांश्चर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) मन्त्रका मुझे उपदेश किया । उसी समयमें मैं आर्यसमाजी होते हुए भी इसप्रकार मालामे द्वादशांश्चर-मन्त्रका जप करने लगा और भगवान् श्रीकृष्णका उपासक बन गया । तबसे अबतक मेरी वही स्थिति है ।

(२) स्वामी श्रीअन्युतमुनिजी महाराज

चारी प्रश्नोंको सुननेपर आप बोले—

‘पहले तीन प्रश्नोंपर तो विद्यानेवालेकी सुविधा होनेसे विद्यानेकी जी चाहता है । चौथे प्रश्नके सम्बन्धमें मेरे जीवनमें वही-वही घटनाएँ हैं । मैंने तो यहीं समझा है कि ईश्वरमें विद्यास होनेपर जब मुझ-जैसेका उदाहर हो गया, तो कोई कैसा ही वापी-से-परावी क्षणों न हो, विद्यास होनेसे उसका अवधय ही उदाहर होगा । मेरा जीवन दृष्टव्यसे कम नहीं है । मैंने अपने जीवनके जीवनसे वर्षमें गुरुसे मन्त्रोपदेश किया । तभीसे मुझे तो आत्मवर्णन हो गया । मुझे तो प्रेम रीढ़े हुआ, दर्शन पहले । तभीसे मैं अपनेको कृतकृत्य भानने लगा ।

(दूसरी बार कहा—)

पदि ईश्वर है तो, क्या हमारे न माननेमें वह नह हो जायगा ? कुमारिक भहने हसी प्रकार ईश्वरको न मानने-वालोंको समझाया था कि ईश्वर पदि नहीं है और इम उसे मानते हैं तो उसके न होनेके कारण हमारे इस कोडके कर्म सिर्फ नह हो जायेंगे और अधिक-से-अधिक हम तुम-वैसे ईश्वरके न माननेवाले हो जायेंगे, इससे अधिक-से-अधिक ईश्वरी यही हानि होगी कि तुमने संसारके और्गोंको भोगकर मौज उड़ावी और हमने न उड़ावी । और पदि ईश्वर हुआ सो फिर तुम न माननेवालोंकी क्या दशा होगी ? तुमको तो फिर किसी भी प्रकार उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

कुमारिक भहने विन गुरुओंसे विद्या पढ़ी थी, उन्हींको परामर्श किया । गुरुके परामर्श करनेके पासके कारण

उन्होंने प्रायश्चित्त करनेका निष्ठय किया, यथापि श्रीशंकर स्वामीने उनसे कहा था कि तुमने यह सब धर्मके लिये किया है तथापि कुमारिकने शिष्टाचारके नामे प्रायश्चित्तहृष अपनेको द्वाभ सुलगाकर भस्म कर दिया ।

शुक्रिका वाक्य है—

असंज्ञ त भर्त्ता असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥

(तैत्तिरीय उ० ६)

जो कहता है ब्रह्म नहीं है, वह आप भी नहीं हैं, वह अपनेको भी नहीं मान सकता । उसके आत्माका भी लकड़न हो जायगा, वह असद् हो जायगा, मुर्दा हो जायगा । उसे मनुष्य-योगि नहीं प्राप्त होगी । जो ब्रह्मकी सत्ता मानता है, वही सन्तुरूप ब्रह्मको जानता है और तभी वह अपनेको भी मान सकता है । ईश्वर-सिद्धिके लिये शारीरिक दृश्याध्याय, हिंसीय पादके सूत्र ४८, ४९, ५०, ५१ देखने चाहिये । संस्कृतमें इन सूत्रोंका सिद्धान्त यह है—

भीमांसक कर्म और फल दोनोंके बीचमें एक अरह है यह मानता है, यज्ञ-कर्म किया तो किया तो कर्मके साथ नह हो जाती है, फल होता है काङ्कास्तरमें, उस समय कर्म तो फल पैदा कर नहीं सकता । कर्म करनेसे जो अरह-संस्कार बनता है, वही फल देता है, वह तबतक नह नहीं होता जबतक कि फल न हो जाय । उसका कहना है अरह तो तुमको भी मानता होगा, जब अहरसे फल हो जायगा तो ईश्वरके माननेकी क्या जरूरत है ? वेदान्ती कहता है, अरह जह है और जह

कभी कह दे नहीं सकता। इसकिये जो शाष्कारात्मेसे माना हुआ ईश्वर है, कर्म आहे नह हो जायें, पर वह उस ईश्वरको मालूम रहता है और काकान्तरमें वही उसका फल देता है, इसकिये बीचमें अराटके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

ईश्वरको माननेसे लाभ

कीट भ्रमरके भयसे उसका ज्यान करता है, ज्यान करते-करते वह तथ्यरूप हो जाता है। इसी प्रकार जो भगवद-स्वरण करते हैं वे भगवदरूप हो जाते हैं। ईश्वर—परमेश्वरके माननेसे, स्वरण करनेसे सब प्रकारके कष्ट दूर होते हैं, यह लाभ है। जो सदा उसका स्वरण करते हैं उनपर तो कष्ट आते ही नहीं। विपत्तिकालमें लोग

उसका स्वरण करते हैं, इससे सिद्ध है कि उसके स्वरक्षणे विपत्ति—कष्ट दूर होते हैं। विष्णुसहस्रनाममें पाठ है कि स्वरणमात्रसे जन्म-स्वरणरूप बन्धनसे मनुष्य कृष्ट बाता है।

सारा संसार—सूर्य, चम्प आदि आपने-आपने निवाससे चढ़ते हैं, यह बड़ा भारी प्रमाण है कि इनको बनानेवाला कोई अवश्य है। एष सृष्टि सब नश्वर है, कार्य है, इसका बनानेवाला कारण अवश्य ही कोई होना चाहिये। इस जीव इसके कारण नहीं हो सकते। इस पहाड़ नहीं बना सकते, जल नहीं बना सकते, पृथिवी नहीं बना सकते, परतः इनका बनानेवाला कोई अवश्य है।

यही ईश्वरके अस्तित्वमें प्रबल प्रमाण है। यह शरीर तो जड़ है, वह सो तुम हो नहीं, इसमें जो चेतन द्वारा है वही तुम हो !



(३) स्वामी श्रीनिर्मलानन्दजी महाराज

ऐसे प्रभ न तो भक्त ही कर सकता है न तो ज्ञानी ही, यदि कोई भक्त या ज्ञानी है और वह कहता है कि 'ईश्वर है या नहीं' तो मैं उसे भक्त या ज्ञानी नहीं मान सकता। इसप्रकारके प्रश्नोत्तरसे भक्त या ज्ञानीको तो कुछ लाभ होगा नहीं। हाँ, नाशिक या संशयचेताको अवश्य ही छाप हो सकता है। यहाँ मेरे पास एक ढाकुर आया करते हैं, उन्होंने आकर एक विन कहा कि बचपनमें तो वह संशय था ही नहीं। हाँ, कालेजमें जब पढ़ता था, तब संशयकी इक्षित तो नहीं, पर कभी-कभी यह कहना एक नालिक मिश्रके सहवाससे उठती कि 'ईश्वर है या नहीं ?'

मैंने उससे छः—सात प्रभ किये, मैंने कहा 'पहले तू वह बता कि ईश्वर न माननेसे क्या लाभ है, माननेसे क्या हानि है ?' मेरा स्वामी इसी प्रकार समझानेका है।

अनुभवके सम्बन्धमें तो मैं दावेके साथ कहता हूँ कि जो शास्त्रमें है उससे खिल किसीको कोई अनुभव हो नहीं सकता। यदि कोई कहता है तो उसकी वह साधारण कहना है, अनुभव नहीं। आहे जितने विहान, आ जायें मैं यह माननेको तैयार नहीं।

ऐसी बात नहीं है कि मेरे जीवनमें ऐसी बटनार्द नहीं हुई है, बहुत हुई है, पर मैं इस विषयमें कुछ भी कहनेको तैयार नहीं।

प्रभ तुमः पूजनेवर आपने क्या कहा: उत्तर दिया—

१-२—दुःखकी आत्मनितक निष्ठृति और निरतिशय सुखकी प्राप्तिके लिये ईश्वरको मानना चाहिये। दुःखकी निष्ठृति तो सामान्य कर्मोंसे ईश्वरके न माननेपर भी ही सकती है जैसे प्यास या भूखका दुःख पानी या भोजन मिलने-पर निष्ठृत हो जाता है। परम्परा उससे आत्मनितक निष्ठृति नहीं होती। कल किर भूख या प्यास छोगी। ऐसे ही पुत्र-धनके अभावमें दुःख होता है। जिसके भावमें सुख होता है, उसके अभावमें दुःख होगा ही। इसप्रकार आत्मनितक दुःख-निष्ठृति—परम और निरतिशय सुखकी प्राप्तिके लिये ईश्वरको मानना चाहिये।

मैंने पछा, 'निरतिशय सुख क्या है ?' तो आप बोले—जिसके अतिरिक्त और सुख हो ही नहीं सकता। सुखका स्वरूप जो कुछ कहा जा सकता है, जितना शब्दी-द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, उतना ही किया जायगा। करके देखो, जो साधन आदिमें प्रवृत्त तुम्हा है, जिसका कभी दूर मिटानेके लिये भी चित्त एकाग्र तुम्हा है, वही हसे जानता है। राज्य-मोगादि जगत्का सम्पूर्ण सुख एक और एकसे तो यह उससे करोड़ों गुजा अधिक होता है ऐसा श्रुति और पुराणोंमें भी लिखा है और आपने विज्ञानमें भी यही आता है।

सुखकी विज्ञानार्द्द तो सबको प्रत्यक्ष ही है। की-

सुख, भोजन-सुख आदि में भिन्नता है। व्यावहारिक सुख जितना है, जिसे विषय-सुख कहते हैं उसकी बराबरी इस निरतिशय सुखसे नहीं की जा सकती, वह इससे बहुत दूर है।

सुखको सभी पुरुष जानते हैं। कोई भी पुरुष यह नहीं कह सकता कि सुख क्या बनता है, क्योंकि वह तो उसे अनुभूत है, जाहे वह विशेष सुख नहीं जानता है। जो योद्धा सुख है, उसीसे निरतिशय सुखका अनुग्राम कर ले। जो दुःख-निवारण नहीं करता जाहिता है, वह न माने, पर दुःख-निवारण और सुखकी प्राप्ति सब जाहते हैं। इसे सदको मानना ही पढ़ेगा। यदि ईश्वरको मान किया तो श्रुति, स्मृति आदि सब ईश्वरके ही तो आवेश है। उनका पाठ्यन किया जाय तो दुःखकी आत्मनिष्ठक किटूकि और निरतिशय सुखकी प्राप्ति हो जायगी। कोई यह कहे कि श्रुति, स्मृति तो अधियोंके वाक्य हैं, तो इसका उत्तर यह है कि अधियोंको ये कहाँसे मिले, ब्रह्मासे मिले, और ब्रह्माको कहाँसे मिले, उसी ईश्वरसे !

३—ईश्वरके अस्तित्वमें तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, आगम, अनुमान ।

प्रत्यक्ष—जो इन्द्रियोंसे देखनेमें आवे ।

आगम—भगवान्‌के आदेश श्रुति, स्मृति आदि । धर्म-जिञ्चासुअंशोंके लिये परम प्रमाण श्रुति ही है, इससे परे और क्या है ?

अनुमान—योद्धा देखकर आरोका निश्चय करना जैसे खुएँसे अभिन्न। अनुमान प्रत्यक्षके बिना नहीं हो सकता, वह प्रत्यक्षके अन्तर्गत है और प्रत्यक्ष ही सुख्य है (शास्त्र माननेवालोंके लिये शास्त्र प्रथक्ष है) ।

जो कहता है, ईश्वरको नहीं मानना चाहिये, मैं उससे पूछता हूँ कि उसने कैसे जान किया कि ईश्वर नहीं है ? यह उसने किस प्रमाणसे जाना ? जिसने छन्दन (इङ्गलैण्ड) देखा नहीं, वह संशय कर सकता है कि 'वह है या नहीं ?' पर यह नहीं कह सकता कि 'है ही नहीं !' ऐसा तो वह तभी कह सकता है जब वह स्वयं वहाँ जाय और उसे कन्दन न मिले । × × × न विश्वास हो सो परिव्रक्ष

और कह स्वीकार करके वह इङ्गलैण्ड जाकर देख ले, वहाँ जानेपर मालूम हो जायगा कि कन्दन है या नहीं । यही जात ईश्वरके सम्बन्धमें है, कोई कहे कि ईश्वर है ही नहीं, तब भी माननेमें बड़ा काम है ।

एक समय भक्तिमती भीरापर एक कामी भासक हो गया । उसने बड़ी हिम्मत करके भीरासे एक दिन अपने मरम्मी बात कही । भीराने सुनकर उसके कल्पयाणके लिये कहा 'यह तो कोई बात नहीं, तुम इतनी विस्ता न करो, कल अमुक समय अमुक स्थानपर मेरे पास आना और अपनी इच्छा पूरी करना ।' वह बहुत प्रसन्न हुआ । बड़ी कठिनाईसे उसने दिन-हातका समय बिताया । जब भिलनेका नियत समय आया तो वह बड़े प्रसन्नचित्तसे नियत स्थानपर गया । भीराने पूर्वसे ही दो-चार अच्छे-अच्छे आदमी बुझा रखते थे और उनके माध्य सरसंगकी चर्चा हो रही थी । वह आदमी भी वहाँ जाकर बैठ गया और सोचने लगा 'समझ है भीरा इन कोर्गोंसे कुछ सुविद्धा पानेपर भीरा कामना पूर्ण करेगी ।' थोड़ी देर बात कर चुकनेपर भीराने बड़े ही सरल भावसे उस कामीसे कहा, 'तुम जिस कामके लिये आये हो, उस अपनी कामनाको पूरी करो, मैं तैयार हूँ ।' वह पुरुष बहुत सुखाया और चुप हो गया । इसपर पासके बैठे लोगोंने बात उड़ी सो भीराने सारी सत्य घटना कह सुनायी और वह उस पुरुषसे कहने लगी, 'मैं तो तैयार हूँ, तुम सङ्कोच क्यों करते हो ?' वह पुरुष और भी छज्जित हुआ, पर अन्तर्में वहीं हिम्मत करके बोला, 'मरका यहाँ ये लोगों बैठे हैं इनके सामने ऐसा कैसे हो सकता है ?' भीरा कहने लगी कि 'इनके (सांसारिक जीवोंके) सामने नहीं कर सकते तो वह विष्वन्नभर, जगत्विष्वन्ना विससे कोई भी जगह लाई नहीं है, जो सब जगह भौजूद है, जो मेरा परम भेनी है, उसके सामने मैं कैसे कर सकती हूँ और तुम भी कैसे करोगे ?' वह पुरुष बहुत ही छज्जित हुआ और भीराके चरणोंपर गिरकर उमा माँगने लगा ।

इसके बाद स्वामीजी महाराजने दो विचित्र सत्य घटनाएँ सुनायी, परन्तु प्रकाशित करनेकी आज्ञा नहीं थी, इससे उन्हें प्रकाशित नहीं किया गया ।



(४) स्वामी श्रीहरिबाबाजी महाराज

वार्ता प्रश्नोंको पूछनेपर आप बोले—

मैं तो क्या कहूँ ? मुझे तो न किसी प्रकारका अनुभव है, म कोई ऐसी विशेष बात है। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि भगवत् सुखपर प्रेम करते हैं, मुझे अपना मानते हैं, पहीं मैं तो भगवत्की अपने उपर वही कृपा मानता हूँ।

भगवान्‌के सम्बन्धकी बात तो क्या कहूँ ? सापु-संन्यासियोंमें कहीं-कहीं वह बात नहीं मिलती, लोडोटेक्षोटे बालकोंमें मिलती है। भगवत्-सम्बन्धी बाल इन बालकोंसे पूछो (दैवयोगसे उसी समय कहींसे चार-पाँच बालक भी वहाँ आ गये)। श्रीस्वामीजीने उनसे पंजाबी (भाषा) मैं कहा, 'बालको ! भगवान्‌को तुम्हें गानते हो तो कहो !' कहूँ बार पूछनेपर और तो सब कुप रहे परन्तु उनमेंसे एक बचा बोआ, 'परमेश्वर सब जगह है,' स्वामीजी बोले 'सब जगह है, तुमने खोगोंसे सुना है या देखा भी है ?' इसपर सब बालक कुछ तुपसे ही रहे। तब स्वामीजी भगवान्जीने एक गुस्का उदाहरण देते हुए कहा कि 'दो शिष्य थे, उनसे गुरुजीने भगवान्‌का—ईश्वरका स्वरूप पूछा, एकने अनेक शास्त्रसम्बन्ध बातें बताईं, उसके रूपका विविध प्रकारसे वर्णन किया, दूसरेसे पूछा गया तो वह कुछ भी नहीं बोला, केवल कुप रहा।

ईश्वरको लो देखता है वह कुछ कह नहीं सकता। उसके लिये जब कुछ कहना होता है, तो उससे नीचेकी श्वितमें उत्तरकर ही कहना होता है। ईश्वरका साक्षा बर्णन मौल है, ईश्वरको यदि देखनेकी इच्छा हो तो जाकर भगवान्‌के भक्तोंके वर्णन करो। वही ईश्वरका रूप है। संसारके उदाहरणसे ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। भगवान्‌के भक्तोंके पास जानेसे स्वामायिक ही सुख और शान्मित्रा अनुभव होता है। संसारके पाप-ताप नहीं होते हैं। यही उसका प्रस्तुत स्वरूप है, इसमें अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता।

होशियारपुरके एक प्रेमी बचील महोदयने श्रीहरि-बाबाजी महाराजके लीचनकी कहूँ घटनाएँ बतलवाईं, परन्तु श्रीबाबाजीकी आङ्गा विना उनको प्रकाशित करना उचित नहीं समझा गया।

(इन्हें प्रार्थना करनेपर निष्ठकिञ्चित एक ज्ञापने मेला।)

३- श्रीहरि: श्रीगुरवे नमः ।

प्रस्तु देवे परामकिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता हृष्ट्यः प्रकाशने महात्मनः ॥

भगवत् उद्घोषोंका संग और सामीच्य ही श्रीभगवान्‌की भक्ता और उनके आनन्दको प्रत्यक्ष दिलाकाता है। पूज्यपाद श्रीगुरुदेवकी सभीप्रतामें विना ही किसी साधन या प्रयत्नके मुस्त्री श्रीभगवान्‌की स्फुरिं प्रायः निश्चत्तर रहती थी और यदि कभी स्वप्नमें भी संकट या भय होता तो अपने आप उसी अवस्थामें श्रीभगवान्‌द्वारा वह इट जाता था। श्रीगुरुदेवके वाच्यामृत इस समय सरथ आते हैं। अकबरने बीरबलसे पूछा—

१-उम्हारा खुदा कहाँ रहता है ? २-क्या करता है ?
३-क्या खाता है और ४-संकल्पद्वारा ही सब कुछ करनेमें समर्थ हीनेपर भी अवतार वर्णों भारत्य करता है ? बीरबलने तीन प्रश्नोंका उत्तर दिया—

१-रहता तो सर्वत्र ही है पर प्रत्यक्ष प्रकट सन्तोषे हृदयमें होता है। यदि मिलना चाहो तो वही मिलेगा।

२-कावियोंको पाजी और पाजियोंको काजी (भन-वस्त्रिक परिवर्तन)।

३-बीवामिमान।

चौथे प्रश्नके उत्तरके लिये बीरबलने कुछ मुहक्त मौँगी और इसी बीचमें अकबरके लोटे शाहजादेके समान एक नक्ली बालक बनवाया जो ठीक बैसा ही दीख पड़ता था। बच्चेको लेखानेवाली दासीको समझा दिया कि 'जब आज सालंकालको बादशाह बाहरसे आकर जलाशयके पास बैठे और तुम्हें तुकारकर बचा माँगें तो असली बच्चेको दूसरेके पास छिपाकर नक्ली बचा देते समय पौंछ फिसक जानेका बहाना करके गिर पड़ना और साथ ही नक्ली बच्चेको जलाशयमें गिरा देना।' शासको अकबरके बादशाहे आकर बैठने और दासीको बच्चेके लिये तुकारमेपर दासीमें बैसा ही किया। बच्चेको पानीमें गिरते देख बादशाह बदर-कर स्वयं जलमें झुकनेको तैयार हो गये, इतनेहीमें बीरबलने अट असली बचा आकर कहा 'सरकार ! बदराइपे वहीं, जलाशाह तो यह मौजूद है।' अकबरको श्रीबाबाजी ऐसी

चेष्टापर क्षोध आदा और उसने वीरबल्लक्ष्मी दृष्टिका हुक्म दिया । वीरबल्लने कहा 'हजूर, मैंने तो आपके प्रश्नका उत्तर दिया है । हम आपके सैकड़ों नौकर-चाकर भौजूद थे जो आपकी आज्ञापर प्राण्यातक देनेको तैयार थे, तो भी बचेपर आपका इतना नहीं था कि आप स्वयं जल्में कृदनेको विद्वान् हो गये । इसी प्रकार संकल्पमात्रसे ही सब कुछ करनेमें समर्थ होनेपर भी श्रीभगवान्को अपने भक्त इतने प्यारे हैं कि वह प्रेमविवश होकर स्वयं प्रकट होते हैं ।

(क) श्रीश्रीगुरुदेवको श्रीबृन्दावनमें प्रकट दर्शन

श्रीमहाराजजी (श्रीगुरुदेव) को यह जानकर कि, अब भी श्रीबृन्दावनके श्रीसेवा-कुञ्जमें श्रीश्यामसुन्दर पूर्ववत् लीला करते हैं, दर्शनकी बढ़ी हड्डी हुई । श्रीसेवा-कुञ्जमें रासको कोई रहने नहीं पाता, इसलिये श्रीमहाराजजी आधी रात्रिके करीब जाकर कुञ्जकी दीवारपर चढ़कर बैठ जाते और भगवत्-स्मरण करते रहते, फिर चार बजेके करीब उत्तरकर आ जाते । इसी प्रकार करते-करते जितने दिनोंका भनमें संकल्प किया था, उनमें केवल एक ही दिन शेष रह गया, पर दर्शन नहीं हुए । अन्तकी रात्रि आ गयी । भन आशा और निराशा दोनोंसे भरा था कि अक्षमात् सामने रासमण्डल प्रकट हुआ । एक सखीने कहा 'यहाँ तो कोई मनुष्य है ।' श्रीश्यामसुन्दर बोले 'नहीं वह तो मेरे परम भक्त हैं ।' रास आरम्भ हुआ, चारों ओर प्रेमानन्द छा गया । उस परमोरुद्धर रसको पानकर श्रीमहाराजजी प्रेमानन्दमें विभोर हो गये, इसनेमें श्रीश्याम-सुन्दरने आकर श्रीमहाराजजीके कन्धेपर अपना करकमल रक्षा और कहा, 'मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो ।' श्रीमहाराजजीने कहा 'आपके दर्शनसे परे और क्या है ? बस, ऐसा ही आपके चरणोंमें प्रेम बना रहे ।' श्रीश्यामसुन्दर 'तथासु' कहकर मध्यबलसहित अन्तर्धान हो गये । श्रीमहाराजजी भी मस्तीमें झूमते-झूमते वहाँसे आ गये । श्रीमहाराजजीके मुलारविन्दसे जीवनभरमें एक बार एकान्तमें यह प्रसंग सुना था । सुनाते समय श्रीमहाराजजीके रोम-रोमसे विष्णुनन्द प्रकट हो रहा था और वही स्फुरते मेरे वीरबल्का साधन है और साधन रहेगी ।

(ल)—'योगक्षेमं वहास्वहम्'

श्रीमहाराजजी विश्वाप्ययन-काल (संन्यस्त अवस्था) में श्रीकाशीजीमें निवास करते थे । एक बार अनन्यायमें एक दूसरे वृद्ध श्रावण परिहतजीके साथ वे बाहर वनज्ञमण और एकान्तसेवनको गये । वे सर्वत्र आनन्दपूर्वक प्रस्तरक्ष श्रीभगवान्के प्रकाशका अनुभव करते और घूमते-घूमते वोपहरको जंगलमें एक दृटे हुए मन्दिरपर पहुँचे । धूप अचिक थी, विश्रामके निमित्त वहीं बैठ गये । दोनोंको भूल भी लब लग गयी थी, परन्तु यिक्षके निमित्त पास कोई बस्ती नहीं । परिदृस्त बोले 'अब क्या किया जाय ?' श्रीमहाराजजी बोले, 'गोविन्द-भजन करो, स्मर्तव्यः सदा विष्णुः विस्मर्तव्यो न जातुविद् ।' इतनेमें ही एक विलक्षण उपरुप वनमें आया, उसके हाथमें एक दोना, जिसमें पाँच ऐडे थे, श्रीमहाराजजीके सामने प्रसाद रख प्रणाम कर, वह चाला गया । कुछ बातचीत नहीं हुई । परिदृष्टजीने यह 'कोई आपका भक्त था क्या ?' श्रीमहाराजजीने मुसकराकर कहा 'हाँ, भक्त ही था (व्याकुंकि चिरकालमें भक्तोंके सबसे भक्त श्रीभगवान् ही हैं) । अब महाराजजी परिदृष्टजीसे और परिदृष्टजी महाराजजीसे आग्रह करने करो कि 'इससे जलपान कर लें, आपको बहुत भूख लगी है ।' एक दूसरेको ऐसा कहें पर संकोचवश उन पेड़ोंको ग्रहण कोई न करें । तब फिर मन्दिरकी छतपरसे उसी पुरुषकी आवाज आयी, कि 'संकोच मत करो, दोनों ग्रहण करो ।' कुछ आश्र्य और आनन्दके पीछे दोनोंने एक-एक कक्षे पेढ़ा उड़ाना आरम्भ किया । दोनों स्वचिपूर्वक पेढ़े साते जायें, पर दोनोंमें वही पाँच-के-पाँच । दोनोंने पेटभर प्रसाद पाया । पर दोनेके ऐडे पाँच ही बच रहे (अनन्त श्रीभगवान्-स्त्रीलालोंको देख दोनों आनन्द-उत्साहसे भर गये । सायंकाल काशीजीमें आ सब किसीको उसमेंसे प्रसाद दिया । फिर भी दोनेके ऐडे पाँच-के-पाँच । तब श्रीमहाराजजीने उस दोनोंको प्रसादसहित श्रीभागीरथीजीके अपर्ण कर दिया ।

ऐसी श्रीमहाराजजीके सम्बलपुरकी शीसियों अलौकिक पटनाएँ स्मरण आ रही हैं, संकोचवश लिखनेका साहस आपका—

स्वतःप्रकाश



(५) ब्रह्मचारी श्रीरामशरणदासजी

१-३ प्रभ सुनकर आप बोले—

जीव हृष्टरका अंश है । जिसप्रकार वचपमसे बकरियों-में रहनेके कारण सिंह निज स्वरूपको भूलकर, अपनेको बकरीका बक्ष मानने लगता है, अपनी शक्ति-सामर्थ्य-समावका उसे पता नहीं रहता । हसी प्रकार यह जीव भी अपनेको भूला हुआ है ।

इतना बड़ा हमारा शरीर प्रारम्भमें कामदेवकी पृक वृत्तके रूपमें था । नौ-दस महीने गर्भमें रहा । इसमें हवाके धागेके समान थास है । यह उसीकी शक्तिसे बना है, यदि कोई कहे कि इसे हमने बनाया, तो यह कहना मिथ्या है, एक नेत्र फूट जाय, हम नहीं बना सकते । जिसने ऐसा सुन्दर शरीर बनाया, जिसने सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी पदार्थ बनाये, उसको इस शरीरमें आकर हमने भूला दिया । हमको यह भी मालूम नहीं कि हम कहाँसे आये हैं, कौन हैं, कहाँ जायेंगे । जिस बक्षसे हमारा परमारम्भमें विछोड़ हुआ, हम उसे भूल गये । परमारम्भ तो सब जगह व्यापक है ।

इसमें अनेक आकांक्षाएँ पैदा होती हैं । चाहे श्रिलोकीका वैभव प्राप्त हो जाय तो भी आगे कुछ और पानेकी इच्छा बनी ही रहती है ।

जिसका बीज होगा, उसका वृक्ष होगा । गेहूँका बीज अंकुर होकर जल्की सहायतासे वृक्षके रूपमें परिणत होता है । वही बीज जल न मिलनेसे गरमीके कारण अंकुरकी जगह घुनका रूप धारणकर स्थान अपनेको ही भवण करता है । फिर वह गेहूँ उग नहीं सकता ।

इसलिये मनुष्यको ऐसा उपोय करना चाहिये कि जिसमें वह सर्वव्यापक परमारम्भमें मिल जाय; उसकी प्राप्तिका साधन उपासना-कर्म-ज्ञान आदि हैं । सम्मोके समागमसे वह मिल सकता है ।

४-५ आठ-दस वर्षका या, तभीसे श्रीमद्भागवत

आदिकी कथा बड़े प्रेमसे सुनता था । एक समय कठियावाड गुजरात गया, वहाँ बहुत दिन रहना हुआ । मेरे गुरुदेव बुन्देलखण्डकी ओरके थे । झाँसीकी लकड़ईमें वे अंगरेजोंसे लड़े थे । उनके हाथसे अठारह अंगरेज मारे गये थे । उसके बाद वे दैश्वाद हो गये । उनको बुन्देलखण्डमें जानेकी हजाजत नहीं थी । उनके साथ मेरा खूब सरसंग हुआ । वहाँसे वे श्रीद्वारकाजी दर्शनके लिये गये । रास्तेमें उनका देहान्त हो गया । मैं अकेला ही श्रीद्वारकाजीकी ओर चल पड़ा । रास्तेमें श्रीबुन्दावन या श्रीअयोध्याजीकी कोई मिलता तो मैं उससे प्रारंभना करता कि कोई ऐसा भजन कहो जिससे मुझे भगवान्के दर्शन हों, जब वे भजन कहते तब मैं खूब रोता । पहले भी प्रभुकी यादमें मैं बहुत रोया करता था । एक दिन एक जंगलमें दो-तीन मीलतक कोई गाँव नहीं था । जेठा महीना था । वह कड़ाकेकी धूप पढ़ रही थी । एकावशीका दिन, मेरा व्रत था । आसपास ढाकके बहुत-से वृक्ष थे । मैं श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये रोता आता था । उसी समय देखता हूँ सो आगे एक इयाम रंगका पुरुष पाँच-सात लकड़ोंकी साथ लिये कोई पाँच-छः सौ गौँघोंको चरा रहा है । एक फटा-सा कपड़ा लपेटे हुए है । मुझसे बोला, ‘महाराज ! हमारे तिलक कर दो, हम तुम्हारे चेहे हो जायेंगे ।’ फिर कहा कि, ‘अपना यह क्षोटा हमें दे दो ।’ मैंने अपना लोटा उसे दिया । उसमें तीन सेर दूध आता था, तस्काल ही उसने वह लोटा दूधसे भरकर मुझे दे दिया और कुंजेकी मिली दी, तदनन्तर बोला, ‘हम गौ ले आवें ।’ बस, इतना कहकर वह अदृश्य हो गया । मैंने देखा, न वहाँ गौए हैं और न वे पाँच-सात बालक ही । यह देखकर मैं बहुत ही पछताया-रोया ।

इसके बाद ब्रह्मचारीजी महाराजने कहे अमृभवकी बातें कृपा करके और बतलायीं ।



(६) स्वामी श्रीविलासपुरीजी महाराज

१-जीवमें पाँच हँसा हैं—अविद्या, असिता, राग, द्वेष और अभिनवेश । ईश्वरमें इन दोषोंका अभाव है, उनकी कृपामें जीवके दोष दूर हो जाते हैं । अतः अपने दोष निकालनेके लिये ईश्वरको मानना चाहिये ।

२-ईश्वरके न माननेसे दोष बने ही रहेंगे । यह हानि है ।

३-प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द । प्रत्यक्ष—नेत्रोंसे दीखनेवाले इस कार्बहृप सारे संसारका कोई कारण अवश्य है । इससे अधिक और प्रत्यक्षका वह विषय नहीं है ।

अनुमान-विद्वको देखते ही दो बातें सिद्ध होती हैं, एक उसके बनानेवाला कोई विद्वकार है और दूसरी स्थानी—रंग है । इसी प्रकार जगत्को देखनेसे उसके

बनानेवाले ईश्वर (विद्वकार) और प्रकृति (स्थानी) का अनुमान होता है ।

शब्द-प्रमाण—तो हम नित्य ही मानते हैं । किसीने आकर परदेशमें गये हुए पुस्तकी मृत्युका समाचार कहा, वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान न होनेपर भी कहनेवालेके शब्दको प्रमाण मानकर पिता-माता दुखी हो जाते हैं । ईश्वरके लिये शब्द-प्रमाण वेद, गीता तथा अन्यान्य शास्त्र हैं ।

४-ईश्वरकी कृपालुताका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि ईश्वर कर्मोंका फल सुख-दुःख तो और योनियोंमें भी दे सकता है पर मनुष्य-योनि ही ऐसी है जिसमें शुभाशुभ जाननेकी और ईश्वरको पहचानेकी शक्ति है । ईश्वरने वह ऐसी शुभयोनि देकर हमपर बड़ी ही कृपा की है ।

—१—*—२—

(७) स्वामी श्रीअनन्ताश्रमजी महाराज

प्रथम सुनानेके पश्चात् विशेषरूपसे अनुभव कहनेकी प्रार्थना की गयी थी, उसपर आप बोले—

‘मेरा जन्म जालन्धरके निकट लुहार ग्राममें क्षत्रिय-कुलमें हुआ था, वधपनमें ही श्रीमद्गांगवत् आदिकी कथा सुननेमें मेरी बड़ी खँची थी । कथामें मैंने एक दिन यह प्रसंग सुना कि गुरुके विना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती । तबसे मुझे गुरु मिलनेकी लालसा बढ़ने लगी । मेरा विचार था, संसारमें महात्मा तो बहुत हैं, पर ऐसे महात्मा बहुत कम हैं कि जिनसे वात्सविक लाभ मिल सके । दैवयोगसे एक बार गाँवके बाहर एक महात्मा आकर छहरे । मैं तो उनके पास नहीं गया, पर और बहुत-से लोग उनके दर्शन और सत्संगके लिये बहाँ जाते । मेरे पिताजी बड़े शुद्ध आचारके तथा ईश्वरपरायण पुण्य थे । एक दिन लोग पिताजीको भी बहाँ ले गये । वहाँसे लौट-कर कहाँ लोगोंने मुझसे कहा, ‘महात्मा बड़े अच्छे दीखते हैं ।’ मैंने पछा ‘अपने उनमें क्या अच्छापन देखा ?’ जे कहने लोगे वे उत्तरहित और निरभिमान महात्मा है, किसी विचायपर उनसे बात हो रही थी, उस समय हमने

ठीक उनके विचारोंके विपरीत बात कही । यद्यपि हम जानते थे कि हमारा कथन ठीक नहीं है । हसपर भी वे अधिक बाद-विद्याद न कर शान्त ही रहे और योले ‘यही ठीक होगा ।’ यह महात्माका मुख्य लक्षण है ।

मैं उनके पास गया, मुझे भी उनके प्रति कुछ अद्वा-सी हो गयी । हृस बार तो वे चले गये, कुछ दिनों बाद दूसरी बार आये, तब मैंने उनके सामने कुछ प्रसाद रख-कर उनसे दीक्षाके लिये प्रार्थना की । वे कहने लगे ‘मैं कुछ नहीं जानता । गुरु सोच-समझकर करना चाहिये । विना विचारे काम करके तुम वे छे पछताओंगे ।’ हसप्रकार हिला-हिलाकर वे मुझे बहुत दिनोंतक जाँचते रहे और दूसरे-दूसरे महात्माओंके जाम गुह-दीक्षा लेनेका बताते रहे । वे ज्यों-उमों मने करने लगे, यों-ही-यों मेरी श्रद्धा उनपर बढ़ने लगी । मैं उन्हींसे दीक्षा लेनेकी प्रार्थना करता रहा । एक दिन मैंने कहा ‘महाराज ! यों ही जीवन-का अन्त हो जायगा और कुछ लाभ नहीं होगा ।’ वे बोले, ‘नहीं, ऐसा नहीं होगा ।’ तब उन्होंने मुझे कुछ लाभारण-की बात बतायी । मैं सात वर्षतक उनके

आदेशानुसार साधन करता रहा । गुरुजी कभी-कभी प्रामाणे आते, कभी बाहर दूसरी जगह विचरने चले जाते । सात वर्ष के अनुष्ठानके बाद एक दिन मैं रास्ते से जा रहा था कि यकायक मेरी अवस्था पलट गयी । शरीरकी दशा-का कुछ पता नहीं रहा । यह म्पष्ट अनुभव होने लगा कि मेरी ही सत्तासे सारा संसार परिपूर्ण है । पश्चु-पश्ची, जल-थल और पत्ते-पत्तेमें सुझे यह प्रतीति होती थी कि मैं ही इन सबको सत्ता दे रहा हूँ । यह अवस्था कई घरटोंतक रही । फिर उसी प्रकार मेरी पूर्व-अवस्था हो गयी । उस समयके बाद मैं बहार छहसी साधनको करता रहा । जब सात वर्ष और बीत गये तब एक दिन मैंने गुरु महाराजमे कहा 'महाराज ! बारह वर्षों-में तो छुड़ीकी भी बदलती है, भगवान् सुन लेता है, सुझे चौंवह वर्ष हो गये । अब तो कृपा करो ।' तब उन्होंने मुझे असली बात बतायी । उसके मालूम होते ही अनदरमे एकदम आनन्दके फच्चारे सूटने लगे । ऐसा मालूम होने लगा कि सारा जगन् आनन्दमे परिपूर्ण है । यह अवस्था बढ़ती ही चली गयी । यहाँतक कि मैं बहतर-बहतर घटें-तक इसी अवस्थामें रहने लगा, साने-पीनेकी कुछ सुधि नहीं, उस समय मेरे पास होकर जो लोग निकल जाते

या मैं जहाँ होकर निकलता, आस-पासके लोग चकित रह जाते, उन्हें कुछ बढ़े ही आनन्दका अनुभव होता, वे कहते 'यह क्या हो गया !'

इसके बाद श्रीसामीजी महाराजने अन्य कई महारथ-पूर्ण अनुभव सुनानेकी महत्ती कृपा की। फिर कहा—

‘मेरी बहुतर घटेतक समाधिकी दशा रहती। निरुण रूपका अनुभव होता। सगुणका कभी-कभी दुआ। और तो कई लोगोंको मेरी इसे विव्याहामके वर्षन हुए। मेरे अनंदर जो-जो विलक्षण हालतें कहे वर्षतक रहीं, उनको मैं कह नहीं सकता। उस समय ऐसी खिति रही कि मेरे पास होकर कोई आदमी निकल जाता तो वह एक अपार आनन्दमें हूब जाता। उस स्थितिमें मुझे क्षुधा-पिपासा आदि भी नहीं आपते थे। मेरी हालत ऊँची होती तो गुरुली नीचे गिरा देते। तीन बार मेरी हालत गुरुलीने नीचे गिरायी। मैंने दुखी होकर कहा ‘महाराज ! ऐसा क्यों करते हो ?’ तो कहा ‘तुमसे बहुत काम कराना है।’ जब मैं कई लोगोंकी ऐसी अवस्था कर देता तो गुरुली महाराज कहते ‘ऐसा पागल नहीं बनाना’ उन्होंने तीन बार ऐसा कहा और जिस दिन तीसरी बार ऐसा कहा उसी दिनमें मरमतें वह शक्ति नहीं रही !

(c) स्वामी श्रीचिदानन्दजी महाराज

इस वृद्धावनकी परिकमामें जा रहे थे। धूप बहुत पहसी थी। एक जगह छाँहमें बैठ गये, और भी बहुत-से लोग बैठे थे। चित्तमें श्रीकृष्ण-दर्शनकी अस्यन्त आकंक्षा कहौं दिनसे लग रही थी। उसी समय बालरूपमें पीताम्बर पश्चिमे, सिरपर मक्ट रखके, हाथमें वंशी स्त्रिये

प्रभुके दर्शन हुए । उसी वाण एक बैंदरियाको एक कुरतेने
एकड़ लिया । उसके कारण वही चिलाहट-सी मच गयी ।
मेरा ध्यान भी उधर गया । फिर मैंने देखा तो वह मूर्ति
नहीं दीख पड़ी ।

(१) एक भावुक महानुभाव

(नाम प्रकट करनेका अनुमति नहीं)

आज सुके भजन करते समय यह प्रतीत हुआ कि ईश्वरके अस्तित्वाका प्रबल प्रमाण मौत है, इसमें बदलते और कोई प्रबल प्रमाण नहीं।

जिन्दगीभर तो बहुत-से मनुष्य अपने पुरुषार्थपर निर्भर रहते हैं। यह पुरुषार्थ उनका है तो भरसे समय बे-

क्यों नहीं अपना पुरुषार्थ कर लेते ? यह निश्चय है कि बड़े-बड़े नामिक भी मरना और बदा होना नहीं चाहते ।

जब वक्त थे तब सो बदाने-घटानेकी शक्ति तुम्हें थी नहीं। यदि उसे भी पुरुषार्थसे बदाया मानते हो तो फिर प्रयत्न करते भी शारीर व्यौं क्षीण होता है? नौजवानको पुरुषार्थ करते-करते व्यौं बीमारी आती है?

कोई ऐसी शक्ति दुनिया में अवश्य है जो इमारी इच्छा और उद्योगके विपरीत इसको भरने-जीनेके लिये आव्य करती है।

बड़े-बड़े पण्डित, कवि, गुणज वरिष्ठतामें कर्यों रहते हैं। इससे सिद्ध है कि कोई शक्ति इमारे ऊपर रहकर शासन करती है।

(१०) सुखकी चोईवाले महात्मा

तीन रूप हैं— १ अस्ति (सद्), २ भासि (प्रसीति चेतनता), ३ प्रिय (ज्याता आनन्दमय) यह तीनों रूप सबमें पृक्ष से रहते हैं।

घटकों फोड़ दो तो उसका नाम, आकार आहे न रहे पर अस्ति, भासि, प्रिय नहीं होगा।

संसारके सभी आदमी सुख चाहते हैं और पूर्ण सुख जीवमें है नहीं, बह उस परमात्मामें है। इसलिये ईश्वरको मानना चाहिये। यदि तुम शून्यको नहीं जानते और कहते हो कि कुछ नहीं, तो तुम्हारा कहना नहीं बनता। और अगर जानते हो तो जो जाननेवाला है वही शुद्ध सचिदानन्दस्वरूप तुम हो।

अपने आपमें घटा लो। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सब मैं हूँ। मैं सब अवस्थाओंको जानता हूँ। सबका ज्ञाता हूँ। जो मैं जाग्रतमें हूँ वही स्वप्नमें हूँ, जो स्वप्नमें हूँ वही सुषुप्तिमें हूँ। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तुम्हें नहीं जानते, तुम तीनोंको जाननेवाले हो।

तुम सबमें प्यारे हो, तुम्हारे ही प्यारको पाकर सब प्यारे प्रतीत होते हैं, साँझ जिसके साथ लगती है उसीको मीठा बना देती है।

मेरे निजके गाँवमें एक कुआँ और मन्दिर था। वहाँ इस शारीरके एक सम्बन्धी विश्वार-सागर अन्ध पड़ते। मुझमें और तो कोई संस्कार था नहीं, परमात्मा है या नहीं, इसका भी कोई विशेष विश्वार नहीं था। अन्धमें एक दिन गुरुकी महिमा सुनी, वह विश्व चाह दिन चला और उसे मैंने नित्य बड़े भ्यानसे सुना। वह कुछ उस समय मुझे कथन-सा हो गया—

ब्रह्म अर्थात् भूते पिछाने। आत्म ब्रह्मरूप इक जाने।
भूत पंचकी बुद्धि नसावै। अद्य अनन्त ब्रह्म दरसावै॥
मह मिथ्या मृग-तृष्णा समान। अनुकूल इम भासत नहीं आन।
सो गुरु दे अद्भुत उपदेशा। ब्रह्मक सिद्धा न दुर्लिख कैशा॥

एक दिन मैंने यह कथावाचकजीको सुनायी, उन्होंने कहा, 'तुम्हारी बुद्धि बड़ी चल रही है, तुम्हाँ पढ़ा करो।' उस दिनसे मैं ही पढ़ता। पढ़ते-पढ़ते यह निश्चयन्ता हो गया कि आरम्भा सत्य है यह सब संसार मिथ्या है। जब मिथ्या है तो इसके लिये क्या यह करना है? तीन दृष्टियाँ हैं— १ शास्त्रीय, २ लौकिक और ३ ज्ञान।

शास्त्रीय दृष्टिसे तीनों काजमें संसार है ही नहीं, ज्ञान-दृष्टिसे वह अनिवृत्तनीय है और लौकिक दृष्टिमें सत् है।

दस समय यह निश्चय हुआ कि यह सब ब्रह्मरूप है। वहाँ एक महात्मा प्रायः महीने-दो-महीनेपर आया करते थे। विद्या साधारण तो वहाँके परिषदोंसे पढ़ी थी, उन महात्माके सहवाससे मेरी संन्यास लेनेकी इच्छा और बढ़ी। मैंने परिषदजीसे आज्ञा माँगी। परिषदजीने कहा 'इमारे कन्या है, उसकी शादी करके दस वर्ष आद इकहा संन्यास लेंगे, तभी तुम्हें पढायी हुई विद्या सफल होगी। इस बीचमें अभ्यास करते रहें।' जो सन्त-महात्मा आते उससे वे बार-बार साधनकी बातें पूछते रहते। इसप्रकार मारह वर्ष बीस गये, तब मैंने परिषदजीसे कहा, आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी, अब हम जाते हैं, आपने दस वर्षका वक्षन दिया था। उससे एक वर्ष और अधिक हो गया। इसप्रकार चालीस वर्षकी अवस्थामें मैं घरसे निकला। संन्यासकी इच्छासे मैं ज्ञातिकेश गया। गुरुजीके पास ब्राह्मरूप मासतक नित्य जाता, पर वे नेत्र नहीं मिलाते। एक दिन कूपा करके उन्होंने मुझे गंगाजीमें लबा किया और अपने ही हाथी मेरी रिलाउ उतार दी। तबसे आनन्दकी उपलब्धिका अभ्यास करता हूँ। जब आनन्दकी उपलब्धि होती है तभी संसारसे मन नहीं हटता। अभ्यासके बलसे मेरा भनुभव होता है कि सारा ब्रह्मरूप मेरी ही सत्तासे स्थित है।

अभ्यासमें भित्य ही कुछ ऐसा विकल्प निकलता है

स्थौर्यके समान होता है, अबतक ध्यान नहीं कृप्ता, वह नहीं मिटता।

इसके बावजूद महाराजीने अपने साधनकी तथा अनुभवकी कई विषयाण बातें बतलायीं।

(११) स्वामी परमहंसजी, राजधान

मैं पन्द्रह वर्षमें अब पचदशर वर्षतक सम्भास-आश्रममें हूँ। बदायूँमें एक परिवहनी वडे प्रेमसे दस वर्जेतक भागवत, रामायण कहते थे, उन्हीं परिवहनीके सासंगसे मुझे पहले-पहल लगान लागी। वे मेरे ही ग्रामके रहनेवाले थे।

मैं छहकपनसे ही भागवत-धर्मका आचरण करने लगा था। छहकपनसे भगवद्भजनके अभ्यासका यह फल है कि इस कृदावस्थामें भी कोई दुःख नहीं ध्यापता है। ऐसे दयालु हरिके भजनकी कथा कहें, उन दयामयकी दयालुताका सरण्य आते ही हृदय गढ़द हो जाता है (इस समय आपके अशुपात्र होने लगा)। प्रभो! आपकी शरण है। जब भनुष्य भगवान्नकी शरण ले लेगा तभी निर्भय भजन करेगा। भगवान् प्रेमसे प्रकट होते हैं। भक्त अपने स्वामीको प्रस्तुक देखकर प्रसन्न होता है। जहाँ भक्त सरण करता है, वही भगवान्नका दर्शन होता है।

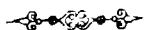
किसी प्रकार वह मुक्ति दे भी दे, पर भक्तिका मिलना बहुत कठिन है। भगवान्नकी कृपा ही भगवद्-दर्शन है, दसीका ध्यान और मनन करें। जो बहुत हैं, विद्यमानस्तुपसे सब भगवान् ही हैं। उन्हें प्रेमसे भजना चाहिये।

जब भगवान्नका चिन्तन-सरण किया जाता है तभी

यह दर्शन देते हैं, जैसे गौ बछड़ेकी रक्षा करती है, ऐसे ही भगवान्नकी महाकृपा रक्षा करती है और वही उसके दर्शन हैं।

भगवान् भक्तके समीप रहते हैं, इसीसे हमें उस समीप ही प्रतीत होते हैं, जो कुछ है सब उन्हींका है। रात-दिन वे श्यामसुन्दर मुरुर्धीभारी आँखोंके सामने रहते हैं।

बदकपनमें ही भागवतसे अधिक प्रेम रहा, इसीसे लोग मुझे परमहंस कहने लगे। जैसे बने वैसे मनको भगवान्नमें लागें। दस-बारह वर्षकी बात है, रातको मैं जंगलमें सो रहा था, एक जीव मरे चारों ओर ढोकता रहा। एक दिन वह मेरे सिरमें टकराकर लोटने लगा। मैं जब जागा तो वह भाग गया। डेलनेपर ऐसा मालूम हुआ जैसे गधेका बक्षा हो, पिण्डाई गधे-जैसी, मुख सिंह-जैसा। उसे लोग भोकड़ कहते हैं, वह जीवित मनुष्यपर चोट नहीं करता। मेरी तो प्रभु रक्षा करते हैं। अब तो बड़ नहीं रहा, नहीं तो दिनमें श्रीमद्भागवत पदता, ऊँचे स्वरमें भगवद्-नाम लेता, रात्रिको बड़े वेगसे कीर्तन करता। खूब ही प्रेम आता, बड़ा भारी आनन्द आता, अधुधारा बहने लगती। जैसे-जैसे नाम लेता हूँ वैसे-वैसे मंगकमयी श्यामसुन्दर मूर्तिके दर्शन होते हैं।



(१२) स्वामी श्रीअतुलानन्दजी महाराज

१—जीवका असली स्वरूप ब्रह्म है, उसके साथ एकीभूत होनेके लिये ब्रह्म (ईश्वर) को मानना चाहिये। एकीभूत हुए बिना माया नहीं छूटेंगी। मायाके न छूटनेसे अन्म-मरणस्तुप उपाधि बनी ही रहेगी।

२—ईश्वरको न माननेसे आरम्भस्तुपका बोध न होगा, स्व-स्वरूपकी पहचान न होगी। अपने स्वरूपको पहचाने बिना अन्म-मरणके बाकसे जीव नहीं छूट सकता।

३—जीव जब माया—विद्यमान चिन्तन छोड़कर प्रसुका मनन करता है तब उसे अनुभव होता है, सचिवानन्द,

पूर्णानन्द, महानन्द योतिमय स्वरूपका दर्शन होता है।

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल इन सबको कौन शक्ति देता है? इन सबमें जिसका अस्तित्व है, इसको जो नियमानुसार चलाता है, वह ईश्वर है, यही ईश्वरका प्रबल प्रमाण है।

४—योद्धा-बहुत जो भजन करके देखा है, उससे मुझे ऐसी चीज़ मिली है जिससे मैं कृतकृप हो गया हूँ, जिसे बतानेकी शक्ति मुझमें नहीं है। ईश्वर-कृपा मुझे अपैक प्रकारसे प्राप्त हुई है।

इस शारीरको नौ वर्षकी उम्र से साकार मूर्ति श्रीहृष्ण, काढ़ी, विव आदिकी उपासनाका शौक था । वह उपासना सतारह-अठारह वर्षकी उम्रतक लगातार चलती रही । अठारह वर्षकी उम्रमें वैराग्य हुआ । यह इच्छा हुई कि ईश्वर साक्षात् मिलना चाहिये, पर वह कहाँ मिलेगा ?

पहाड़, नदी, जंगलमें कहाँ मिलेगा ? उसी समय गृहस्थ-को छंड दिया, विवेक-वैराग्य जागा । मैंने जंगल, गुफा, पहाड़ोंमें खब भजन किया ।

इसके बाद प्रार्थना करनेपर आपने अपने कठोर साधनकी कुछ शर्तें बतानेकी कृपा की ।

(१३) स्वामी श्रीलद्दमणसिंहजी

(इस समय आप नेत्रहीन हैं । अवस्था लगभग सत्तर वर्ष ।)

१-ईश्वरको अपने कक्षायाके लिये मानना चाहिये । कल्याण दो प्रकारका है, संसार-दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति, यही मोक्षका स्वरूप है । क्योंकि संसारमें जन्म-मरण और नाना प्रकारके दुःख हैं, इन दुःखोंकी आत्मनितक निवृत्ति ईश्वरके माने दिना नहीं होगी ।

२-न माननेमें जन्म-मरणरूप दुःखसे कभी छुटकारा नहीं होगा । यही सरमें बड़ी हानि है ।

३-ईश्वरके बेद और श्रुति आदि सुख्य प्रसाद्य हैं । संसारकी दृष्टिमें जैसे माता-पिताको मानते आये हैं, उसी प्रकार बेद, श्रुतिके प्रसाद्योंको मानना चाहिये ।

४-वैराग्य आदि साधन अपेक्षित हैं, साधन दिना साध्य बस्तु नहीं मिलती । मनुष्य अनेक जर्मोंसे जब भजन करता चला आता है, तब परमारम्भकी कृपामें उसे

कोई महात्मा मिल जाते हैं, वे समझा देते हैं कि जिसका दूभजन करता है, वह आप ही है । जब सभी कुछ ईश्वर नज़र आता है तब वह किसके साथ राग करे और किसमें प्रेम करे ? यह भी शाब्दिक बात है । अनुभव नहीं ।

जो अनुभव है वह कहनेका विषय नहीं, मन-वाणी वहाँतक जा नहीं सकते ।

संसारको असार जानकर इधर आनेके लिये मनमें प्रवृत्ति हुई, मेरा जन्म जिला होशियारपुरसे तीस कोसपर एक स्थान दिसुआ मकरियामें हुआ था । पर्वीस-छब्दीस वर्षकी अवस्थामें यह वैराग्यकी भावना उठी, फिर गुह मिले । यह संसार असार है, लोगोंके जन्म-मरणको देखकर भजनकी ओर प्रवृत्ति हुई थी । मुर्देके साथ जाते हैं, उस समय प्रायः सबको वैराग्य हो आता है, पर वह ठहरता नहीं, वैराग्य असली होना चाहिये ।

(१४) श्रीज्वालासिंहजी

(आपने कृपापूर्वक अपनी आँखों-देखी दो बटनाएं सुमारीं)

(क) संवत् दद के भावण-मासमें एक पागल अवधूत यहाँ पधारे, उन्हें प्रायः सभी पागल कहकर पुकारते । अवस्था देखनेमें लीस-बत्तीसकी होगी । रंग गोहुँआ, खेहरा प्रकाशयुक्त, हॉठ जाल, ब्रह्माचर्यसे पूर्ण, दुपहरीमें आकर यहाँ लहे हो गये । क्षेत्रसे लेकर भिजा की । यहाँसे आर कोसपर ध्योरेद गाँवके बोलेसिंह पहलवान कभी-कभी मेरे पास आते थे । वे अज्ञकी यात्राके मेरे मित्र थे । वे भी यहाँ थे । उसी समय इरहारपुरका एक लोधी आया और कहने लगा 'मेरी ली बहुत लीमार है, कुछ

दवा हो तो दे दो, उसकी पसलीमें बढ़ा दर्द है ।' पागल महाराज भी यहाँ बैठे थे, लोधेकी बात सुनकर वह अचानक बोल उठे 'जा, देख अब दर्द नहीं होता ।' लोधेने उसे यों ही पागलकी बात समझी और उसपर कुछ ध्यान नहीं दिया । मैंने कहा, 'महात्माकी बात है, दूधर आकर एक बार देख ।' वह घर गया और तुरन्त ही बापस लौटकर बोला, 'उसको आराम है, पहले दाहिनी पसलीमें दर्द था अब योदा-सा बाईं पसलीमें रहा है ।' (उसके दर्दका बहुत दिनसे इक्काज हो रहा था, पर कापदा नहीं होता था ।) यह सुनकर पागलने फिर कहा, 'जा देख, अब दर्द नहीं है ।' लोधी फिर घर गया और

आकर कहने लगा 'आराम है !' कोधेने पागलके चरण पकड़ लिये । पागल व्हाका भारकर मस्त हँसी हँसने लगा और बोला 'यारे कृष्ण ! ऐसा खोला न दिया करो, तुमने मेरे मुँहसे क्या निकलवा दिया ?' मेरे मित्र पहलवान कहने लगे, 'महाराज ! उस प्यारे कृष्णके हमें भी दर्शन कराइये, पर हम देखेंगे चतुर्भुजी रूप !' मैंने भी कहा 'महाराज, हँहें करा दो, फिर हमें भी कराना !'

मेरे मित्र पहलवान निष्ठ पचास हजार नाम-जप किया करते थे । वे आश्रमके नीचे गंगामें पूज्य श्रीअच्युत मुनि-जी महाराजकी जो नौका साली लड़ी थी, उसमें भजन करने चले गये । एक घरटे बाद पागल भी वहीं पहुँचा । पहलवान नौकाके कमरमें बैठे सन्ध्या कर रहे थे, पागलने जाकर कमरके किवाड़ बन्द कर दिये, उस समय पहलवानको श्रीकृष्णकी कई रंगोंकी एक अति भयानक आकृति दीखने लगी । (पहलवानके बसलाये हुए उस समयके रूपकी बाद आती है तो मेरे रोगटे खड़े हो जाते हैं ।) पहलवान उसे देखकर हर गये और लगे भागने । पागलने उनके दोनों पहुँचे पकड़ लिये और हाथ पीछे करके उन्हें जकड़कर बैठा किया । पहलवान विश्वुल बेहोश-से हो गये । तब पागलने उन्हें छोड़ा । थोड़ी देरमें जब उन्हें होश आया तो वे धर-धर काँपते मेरे पास आये और वहाँका बृत्तान्त कहने लगे । मैंने उन्हें डॉट निया कि 'खबरदार, मैंसी धातें कहने योग्य नहीं हैं, तुम्हारे धन्य भाग्य हैं जो यह बात नसीब हुई ।'

पहलवान भाँग पीया करते थे, जब भागने लगे थे तो पागलने भाँगकी गोली पहलवानसे वहीं लीन ली थी । पागल वहाँसे चले गये और शामको भाँग पीये हुएकी-सी स्थितिमें आकर यहाँ पहुँचे सीमेशटके चबूतरेपर लड़े हो गये । पहले मैंने कहा था 'महाराज ! इनको दर्शन करा दो, फिर हमें भी कराना !' पागल पहलवानसे कहने को 'अगर तू रहा-सहा चतुर्भुजी देखना चाहता है तो, या तो तू नहीं होगा या तेरा पुत्र नहीं होगा !' मुझसे कहा, 'तू भी दर्शन करना चाहता है ?' मैंने कहा, 'आप नाखुश न हों, हमें नहीं चाहिये । हम तो ऐसे ही भले हैं !' पागल बोले, 'अच्छा, देखना चाहता है तो पहले श्रीकृष्णके कालिय-नागको देख !' देखते-ही-देखते अक्षमात् एक बढ़ा अद्यकर काका सर्प आया (वहाँ पहुँचे सीमेशटके चबूतरेपर सर्प होनेकी था आमेकी किसी प्रकार भी सम्भावना नहीं हो सकती)

और मेरी जांघतक दोनों पैरोंमें लिपट गया । मैं भौंचक रह गया और एकदम झटका देता हुआ तड़ककर दूर जा लड़ा हुआ । सर्प मेरे पैरोंसे छूटकर वहीं पास ही देखते-ही-देखते लुस हो गया । बादमें देखा भी, पर कहीं पता नहीं लगा ! पागल उस समय चिछाकर बोले, 'देखा, कृष्णका कालिय-नाग और वहेगा कृष्ण-दर्शन ?' मैंने कहा, 'नहीं महाराज ! आप क्रोध न करें, मुझे कृष्ण-दर्शन नहीं चाहिये ।'

मुझे बुखार हो गया, इसके बौधे दिन मैं और पहलवान रास और दर्शनोंकी इच्छासे बृन्दावनके किये चल पड़े । हन्दावन जाते समय मुझे १०२ डिग्रीका जल हो गया । हम दोनों बृन्दावनके निकट जा रहे थे, देखते हैं, जयरुतवालोंके मनिदरके पास एक पेड़की जड़में वहीं पागल धोक दिये पड़े हैं । मैंने कहा 'पागल तो यह पड़े !' और, हमलोग बृन्दावन पहुँचे । दो-सीन दिन रास देखा, टिकारीबाली रानीके मन्दिरमें छाटेकालकी मण्डलीका रास होता था । हम द्वारा उसीं मण्डलीका रास देखते । तीसरे दिन वहाँ ऊखल-बन्धन-लीला थी । हम बड़े प्रेमसे सुन रहे थे, उसमें एक बात बड़ी उसमें और विलक्षण आयी, जिसके कारण हमारा हृथय व्रवित होने लगा । जब मैया यशोदा वज्रचन्द्रलालको पकड़नेके लिये दौड़ती है और लीला धर लीला करते हुए हाथ नहीं आते, तब मैया श्यामसुन्दरको लड़े रहनेके लिये सरय-युगके भक्तोंकी शपथ दिलाती है, पर प्रभु हाथ नहीं आते, फिर ब्रेताके भक्तोंकी शपथ देती है, तो भी उन्हें नहीं पकड़ पाती, फिर द्वापरके भक्तोंकी शपथ देती है, हसपर भी वे हाथ नहीं आते, अन्तमें कलियुगके भक्तोंकी शपथ देती है । जिस समय कलिके भक्तोंकी शपथ महाराज सुनते हैं, उसी समय लड़े हो जाते हैं और मैया पकड़कर उन्हें ऊखलमें बाँध देती है । फिर ऊखल धरके सामनेके बृक्षोंमें आक जाता है । यह लीला हो रही थी । भगवान्नने दोनों बृक्षोंको फटका देकर तोड़ा और उनमेंसे प्रकट हुए यमलाञ्जन भगवान्की स्तुति करने लगे । उस समय भगवान्का चतुर्भुज रूप था । यमलाञ्जन यह स्तुति कर रहे थे—

धन्य मुनिवर शाप दीनो अति अनुग्रह सो कियो ।
जासु सुर-ब्रह्मादि दुर्लभ नाथ ! तुम दर्शन दियो ॥
अब कृष्ण करि प्रभु देहु यह दर चरण-पंकज मति रहे ।
जन्मे जहाँ निज कर्मदश, तहुँ एक तुम्हारी रति रहे ॥

जिस समय यह 'भन्न्य मुनिवर शाय दीनो' शब्द कहे जा रहे थे, उस समय मैंने पहलवानकी तरफ मुड़कर देखा कि मेरे और पहलवानके सिरके ऊपरसे पीछे से लड़े होकर पागल हाथ बढ़ाये हुए भगवान्के चतुर्मुखस्पटकी ओर अंगुलीका इशारा कर रहे हैं और कहते हैं 'ले, कर से दर्शन चतुर्मुखस्पटके'। रास समाप्त हुआ तो पागल बोले, 'तूने हमें हताही दूरसे परेशान किया।' यह कहकर वे तो चले गये—इधर रास समाप्त होते ही पहलवान बै-मुथ-मे हो गये, वे प्रेममें विभोर हो गये, उस दिन पहलवानको बढ़ा ही आनन्द आया। पहलवानने कहा कि 'आज कहीं पेसा भास्य हो जाय कि नाय (जो रासमें चतुर्मुख भगवान् बने हुए थे) के चरणारविष्ट इस मस्तकपर लग जायँ।'

रास समाप्त होनेपर श्रीठाकुरजीको मैं ही अपने कन्धे-पर चढ़ाकर निवास-स्थानपर ले जाया करता (मैंने बहुत बड़ी खोज-दीनके बाद वज्रभरकी सभी रास-मरणीलियोंमें सुनकर इस मरणीलीके श्रीठाकुरजी सथा महारानीजीके प्रति अपना सब कुछ अपेण किया था)। उस दिन पहलवानके कन्धेपर बैठनेके भीठाकुरजीसे प्रार्थना की। श्रीठाकुरजी उछलकर पहलवानके कन्धेपर बैठ गये। पहलवान उनके दोनों अरणकमर्लोंको अपने हाथोंमें धामे अपार आनन्दमें मझ होते हुए उन्हें निवास-स्थानपर ले गये। उस समयकी पहलवानकी आनन्दस्थिति देखनेयोग्य थी। वहाँमें पहलवान भेरे पास देहेपर आये और शेय राश्रिभर उनको नींद नहीं आयी, हँसते-हँसते प्रभात हो गया। दूसरे दिन हम दोनों भेरियाको चल दिये। रास्तेमें मुझे भी ज्यादा तकलीफ हो गयी। मैं सो गाढ़ीमें आया और पहलवान पैदल आये। यहाँ आकर पहलवानको छः लघन हुए। परन्तु वह यहाँ मन्दिरमें जो नित्य कीर्तन हुआ करता था, उसमें जरूर जाने। एक दिन वह बोले, एक बालिशभर ऊपरतक पैरोंकी जान निकल गयी है। दूसरे दिन बोले, सो विसापैर निर्जीव हैं। तीसरे दिन तीन, चौथे दिन चार, पाँचवें दिन पाँच, इस तरह कहते-कहते छठे दिन कहने लगे, अब सारे शरीरके प्राण निकले जा रहे हैं। अन्तिम समय कहने लगे कि 'जिसके लिये हम यह 'जी' काये थे, वह हमें मिल गया। अब यह शरीर रहे या न रहे, कोई बात नहीं।' अन्त समयमें मुझसे बोले 'मैया, राघारमणसे

इमारा अरण हूना कहना और कहना हमारे हेतु वे किर राघारमण बनेंगे, हम किर उन्हें इसी भावमें देखेंगे।' अन्त समयमें यह पद कहा—

जिस हालमें जिस देशमें जिस देशमें रहूँ।

राघारमण राघारमण राघारमण कहूँ॥

इसप्रकार उस मनमोहनके प्रेममें मतवाले भक्तने अपने प्राण विसर्जन कर दिये।

उनकी स्थिति कुछ ऐसी हो गयी थी कि वे सोतेमें, जागतेमें प्रायः प्यारे मनमोहनकी अनेक लीलाएँ देखा करते। ऐसे-ऐसे पद सुनाते जो किसी पुस्तकमें देखनेको नहीं मिलते। यहाँतक कहते कि प्यारेके आनन्दमेंसे मुझको कोई जगा देता है और कहता है 'उठकर भजन कर।'

काँहै कहता, 'भजन क्यों नहीं करते?' तो कहते, 'भजनका जो फल है, वह प्यारे भेरे सामने लड़े हैं।' रास देखनेके बाद वे आठ-नौ दिन जिये। वे कहते, एक बड़ा निमंल शीशा है, उसके दायें-बायें सूर्य और चन्द्रमा हैं, शीघ्रमें प्यारेकी मधुर मूर्ति है। बजमें रहते, तबतक वे प्रायः इसी पदको गाते रहते—

'मांस पै मुकुट देख, चन्द्रका चटक देख,
छविकी ढटक देख, रूपरस पीजिये।

(८) एक बहुआरी आये थे, उन्होंने यहाँ आकर चालीस दिनोंका पुरश्रण किया। क्षेत्रमें भोजन पा जाते और सारा समय गङ्गाकिनारे व्यतीत करते। डेढ़ मासके बाद जब अनुष्टान समाप्त हो गया, सब वे यहाँसे ब्रज-यात्राको जानेका विचार करने लगे। लक्ष्य उनके पास कुछ नहीं था। मैंने उन्हें एक रुपया दिया और कहा 'आप अलीगढ़तक पैदल जाह्ये, वहाँमें रेलमें बैठ जाह्येगा।' वह अलीगढ़ तो गये नहीं, राजधान गये और स्टेशनपर जाकर उन्होंने अलीगढ़तककी टिकट लेनेका विचार किया, इतनेमें एक आदमी आया और बोला, 'महाराज ! मधुरा तो नहीं जाओगे ? भेरे पास एक टिकट है।' वह बोले 'इमारे पास इतने दाम नहीं।' परन्तु वह आदमी बिना दाम लिये ही टिकट देकर चला गया। उनकी आवाजा ऐसी थी कि सम्पूर्ण तीर्थ गिरिराजके दर्शन करनेपर भी यहि भगवान् नहीं मिले तो और कहीं नहीं मिलेंगे क्योंकि श्रीराम और श्रीकृष्णकी प्राचीन निशानी है तो गिरिराज है। जब मुसलमान भक्त रसखान, आळम,

आदिल आदिने गिरिराजकी परिकमामें भगवान्के दर्शन किये हैं तो मैं तो हिन्दू हूँ, मुझको क्यों नहीं दर्शन होंगे ? वह मधुरा उत्तरे, वहाँसे गिरिराज पहुँचे। परिकमाकी कीमत एक रुपया जो उनके पास था, खर्च हो चुका था। एकादशीके ब्रतका दिन था। इनका रात-दिनका समय भगवान्म-जपमें ही बीतता था। परिकमा कर चुके तो एकादशीके दोपहरके समय इन्हें एक लड़का भिला और बोला 'गाढ़ा, तुम परिकमा कर रहे हो, आज तुमको भोजन नहीं भिला, हम तो कहूँ परिकमा करने आये थे, यहाँ भिक्षाका ठीक नहीं है, प्यारेकी ऐसी ही मर्ज़ी है, हम क्या करें?' लड़का बोला, 'चलो, हम अपने घर स्थिता लावें।'—लड़का उन्हें एक ब्राह्मणीके घर ले गया। ब्राह्मणी बड़ी भक्त थी, एकादशीके दिन

फलाहार बनाये बैठी थी। लड़केने घरमें जाकर उन्हें पानी दिया। ब्राह्मणीका यह नियम था कि कोई साथु आता तो पहले उसे भोजन कहाती फिर आप कहती। ब्रह्मचारीजी बैठ गये, ब्राह्मणीने फलाहार परोसा। ब्रह्मचारीजी खाने लगे। लड़का खला गया। जब फलाहार कर चुके तो ब्राह्मणी बोली, 'महाराज ! मैं तो इसी आशामें थी कि कोई आवे तो फलाहार कराऊँ। आपको कौन बुलाकर लाया ?' ब्रह्मचारी बोले 'मुहारा पुत्र लिया लाया था, बोला 'यह घर मेरा है।' बुढ़िया कहने लगी 'महाराज ! मेरे तो कोई पुत्र ही नहीं, इस लड़कोंसे सो मैं जानती भी नहीं, कौन है !' यह सुनकर ब्रह्मचारीजी लंग रह गये और फूट-फूटकर रोने लगे। यह घटना स्वयं ब्रह्मचारीजीने वापस लौटनेपर मुक्कसे कही थी।

(१५) स्वामी श्रीभोलेबाबाजी

बहुत-से लोगोंको कहते सुनता हूँ कि ईश्वर दूर है, मैं कहता हूँ, हाजिरा-हुजूर है, सर्वत्र भरपर है। कई कहते हैं कि ईश्वर नहीं है, मेरा कहना है कि ईश्वर हर कहीं है। पासमें भी पास है, सासुल-खास है। सबका अपना आप है, निष्पाप है, निप्पाप है, आनन्दका समुद्र वैमाप है, शान्तिका अचल पहाड़ है, उसमें न पर्दा है न आड़ है ! ईश्वर-कृपा विना ईश्वरका ज्ञान नहीं होता, ईश्वरके ज्ञान हुए विना मनुष्यका कल्याण नहीं होता। ईश्वरका ज्ञान हुआ कि शणभरमें जीवका कल्याण हुआ ! ईश्वर सन्मान है, चिन्मान है, सुखमान है, अमान है ! सन्मय है, चिन्मय है, आनन्दमय है, विरामय है ! शुद्ध है, शुद्ध है, निर्मुक है, अक्षय है, अद्यय है, अनिरुद्ध है, प्यारे-से-प्यारा है, सर्व उपाधियोंसे न्याया है, उजियारोंका उजियारा है ! न उसका रंग है, न रूप है, रंग-रूपमें रहित अरूप है, न उसमें छाया है न अरूप है, उपमारहित अनूप है, मिक्कल है, निरञ्जन है, भवभयमञ्जन है, अँखोंको लोलनेवाला अद्भुत अञ्जन है, अपने जानोंके लिये सुखदाता इञ्जन है ! एक है, शान्त है, अद्यय है, अनन्त है, सब कष्टनालोंसे दूर है, सब नृतोंका नूर है ! अन्यका है, अचिन्त्य है, इन्द्रियोंसे पर मनमें रहित निश्चिन्त है, अक्षयनीय है, अनिर्वचनीय है ! पावनमें भी पावन है, शुद्धसे भी शुद्ध परम सुहावन है, प्राणोंका प्राण है, जानकी जान है, सत्य है, मृत्त है, प्रशान-

है, न ग्राह्य है न स्याज्य है, न प्राप्य है न अप्राप्य है ! अपना आप होनेमें सर्वदा ही प्राप्त है, उसको जानकर करन्त्य हो जाता समाप्त है ! एक है. अद्वितीय है, फिर भी मायामें मोहित पुलरोंको भासता सद्वितीय है ! स्वयंज्योति है, सबको प्रकाशता है, सबमें प्रथम भासता है, स्वयंसिद्ध है, विद्वानोंको प्रसिद्ध है, अविद्वानोंको अप्रसिद्ध है, सब कुछ होता दसीसे सिद्ध है ! मिथ्या भी संसार ईश्वरकी सत्तामें सक्षा-सा प्रतीत होता है, अशुचि भी देह ईश्वरकी पवित्रतामें पवित्र-सा दिव्यायी देता है, जैसे मृतिका सत्य है, घट कल्पित है, जैसे सुवर्ण वन्तु है, भूषण आरोपित है, जैसे लोहा परमार्थलूप है, खद्गादि अध्यम हैं, इसी प्रकार एक ईश्वर ही सर्य है और सर्व नाम-रूप जगत् उसमें अन्यारोपित है !

एक ईश्वर सर्वत्र परिष्ण है, म कहीं जाता है, म कहीं आता है, सर्वदा है, सर्वत्र है, मन समझता है कि मैं सबसे अधिक दौधनेवाला हूँ, मेरे समान कोई दौध नहीं सकता, परन्तु जब मन ईश्वरका दर्शन कर लेता है, तो समझता है कि मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ वहाँ ही ईश्वरको पाता हूँ, इसलिये मैं कोई बस्तु नहीं हूँ, ईश्वर ही मेरा स्वरूप है ! ईश्वर न हिलता है, न झुलता है, न बदलता है, किन्तु सर्वदा एकरस है। इग्नियाँ ईश्वरतक नहीं पहुँच सकतीं, क्योंकि जहाँ-जहाँ इनियाँ जाती हैं, वहाँ-वहाँ

ईश्वर पूर्वसे ही विद्यमान है। अनेक विश्व ईश्वरमेंसे उत्पन्न हो-होकर लग हो जाते हैं, ईश्वर ऊर्ध्वा-का-न्द्रों ही रहता है, ईश्वरमें विश्वका नामतक नहीं है, ईश्वरकी मायासे भोगित पुरुषोंको ईश्वरमें विश्व भासते हैं। परमार्थसे ईश्वर असंग है, अनंग है, निष्कल है, निरञ्जन है, गुणातीत है, मायातीत है, कायातीत है, सर्वातीत है, घोस है, निर्घोष है, निर्दोष है, ऐसे ईश्वरमें विश्वकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यह विश्व ब्रह्माका रचा हुआ है, पेसा शास्त्रकारोंका कथन है, यह उनका कथन ठीक ही है, परन्तु मन बिना यह विश्व देखनेमें नहीं आता, मनमें ही देखनेमें आता है, इसलिये विचार कर देखा जाय, तो यह विश्व मनका ही रचा हुआ है। जब भन बारम्बार ईश्वरानुमन्धान करता है तो मनको निश्चय हो जाता है कि मैं मन नहीं हूँ, किन्तु अक्षय, अध्यय, निरामय शिव हो हूँ। तब वह इसप्रकारका अनुभव करता है—

अहाहा ! मैं मन नहीं हूँ, अब मैं नाममात्रका मन हूँ, देखनेमात्र हूँ, संस्कारमात्र हूँ, जली हुई रस्मीके समान दूसरोंकी ईटिमें मनका आकार हूँ, वस्तुसः सच्चिदानन्द निर्विकार निश्चाकार हूँ। शुद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, निरञ्जन हूँ, निर्मुक्त हूँ, चिदघन हूँ, शब्दमें रहित हूँ, स्पर्शमें वर्जित हूँ, रूपमें हीन हूँ, रूपमें विहीन हूँ, गन्धमें शून्य हूँ, सर्वमें पीन हूँ, शब्दका शब्द हूँ, स्पर्शका स्पर्श हूँ, रूपका रूप हूँ, रसका रस हूँ और गन्धका भी गन्ध हूँ। आकाशका आकाश हूँ, वायुका वायु हूँ, तेजका तेज हूँ, जलका जल हूँ और पृथिवीकी पृथिवी हूँ। पर्वमें मैं हूँ, पश्चिममें मैं हूँ, दक्षिणमें मैं हूँ, उत्तरमें मैं हूँ। आद्य-अन्त-मध्यमें रहित हूँ, सर्व भेदोंसे वर्जित हूँ। सर्व नाम मेरे ही हैं, सर्व नामोंसे मैं रहित हूँ, तीनों देहोंसे रहित तीनों देहोंका साक्षी हूँ, तीनों लोकोंसे रहित तीनों लोकोंका प्रकाशक हूँ ! देहों और लोकोंका ही नहीं, उनके अभावका भी मैं साक्षी हूँ।

मैं ही एक सुखरूप हूँ, मेरे सिवा सब दुःखरूप है, मांसादिका वश हुआ स्थूल देह प्रत्यक्ष दुःखरूप है; बासार्ण, सूक्ष्म शरीर कामादिका हेतु होनेमें दुःखरूप हैं और कारण-शरीर अज्ञानरूप होनेमें दुःखरूप है, तीनों गुण हुःखरूप

हैं, तमोगुण अज्ञानरूप होनेमें, रजोगुण विक्षेपरूप होनेमें और सत्त्वगुण परिणामी होनेमें दुःखरूप है। तीनों गुणोंका बना हुआ ब्रह्मार्थ दुःखरूप है, यथापि ब्रह्मार्थ दुःखरूप है परन्तु यह ब्रह्मार्थ मुक्त आनन्दस्वरूप आत्मामें अध्यस्त होनेमें मुक्तमें इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मेरे विचारमें ब्रह्मार्थका आत्मनिक प्रलय ही गया है। आत्मनिक प्रलय ही ब्रह्मस्वरूप सुखरूप है, इसीका नाम भोक्ता है, यह ही कैवल्यपद है, यह ही निर्वाण है, यह ही मेरा स्वरूप है, इसलिये मैं शान्त हूँ, सुख हूँ, आनन्द हूँ, परमानन्द हूँ, अमृत हूँ, निरामय हूँ, निरञ्जन हूँ, भूमा हूँ, निर्विकार हूँ, निर्मय हूँ, निःशोक हूँ, निर्मोह हूँ, सदाचित हूँ, देहातीत हूँ, मायातीत हूँ, निष्पद्धत हूँ, अद्य हूँ, एक हूँ, अच्छेद हूँ, अभेद हूँ, निरवध हूँ, ब्रह्मातीत हूँ। क्या कहूँ क्या हूँ, जो हूँ सो हूँ, सुखका अहय सागर हूँ, शान्तिका अचल पहाड हूँ, अल्पार्थ आनन्दका भण्डार हूँ, रसोंका रस हूँ, सारका सार हूँ, वाह गुरु ! वाह शाश्व ! वाह ईश्वर ! मालामाल कर दिया, निहाल कर दिया, मंसार-सागरसे पार कर दिया ! आप सीनोंकी कृपा बिना कोई अपने बलसे अथाह संसार-समुद्रका पार नहीं पा सकता, आपकी कृपा ही संसार-सागरसे पार करनेवाली और नरको नारायण बनानेवाली है ! सनकादि शुरुओंकी नमस्कार है ! करोड़ों बार नमस्कार है !! बारम्बार नमस्कार है !!!

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

कुँ०-नाना कुछ भी है नहों, एक तत्त्व भरपूर ।

सबका अपना आप सो, नहीं पास नहि दूर ॥

नहीं पास नहि दूर, सर्वमें एक समाया ॥

सचित् पूर्ण अखण्ड, भद्र दिखलाती माया ॥

भोला ! सो नर बन्य, तत्त्व जिसने पहि चाना ॥

सो नर है हतभाग्य, एकमें देखे नाना ॥

भूमा हीं सुखरूप है, अल्प माँहि सुख नाहि ।

अविचल सुख यदि इष्ट हो, लम हो भूमा माहि ॥

लग हो भूमा माहि, मोइ ले मुख भोगोंसे ।

हो जा अपना आप, लृः जा सब रोगोंसे ॥

भोला ! पीतर देख, फिरे मत बाहर धूमा ।

अल्प माँहि सुख नाहि, मात्र केवल सुख भूमा ॥



(१६) पण्डितप्रवर श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न

१ अपने मनुष्य-जन्मको सार्थक करनेके लिये ईश्वरको मानना चाहिये ।

व्याख्या—

जीवमात्र ही त्रिगुणाभिका मायाके अधीन हैं । सच, रज और तम ये तीन गुण हैं: सत्त्वगुण ज्ञान और सुख-प्रधान है, रजोगुण कर्म और दुःख-प्रधान है एवं तमोगुण आत्मभाव और मोह-प्रधान है । सभी जीवोंमें यन्त्रित्विक-रूपसे ये तीनों गुण अपनी शक्तिको प्रकट करते हैं । अन्यान्य जीवोंमें ज्ञानका विकास अल्प होनेके कारण वे तम-प्रधान हैं; मनुष्य कर्म द्वारा होनेके कारण मायारातः रज-प्रधान होनेपर भी उसमें जाति-वर्ण-भेदमें साक्षादि गुणोंका आपेक्षिक सारतम्य रहता है । इन तीनों गुणोंकी त्रितन्त्री-रज्यमें जीव-मात्र बैधे हुए हैं । सत्त्व-प्रधान मनुष्य ज्ञान और सुखके बन्धनमें, राजस मनुष्य कर्म और दुःखके बन्धनमें और तामस मनुष्य निदा, प्रमात्र, आळम्य और भयमें अभिभूत होनेके कारण हनके बन्धनमें बैधे हैं । इस बन्धनसे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय है—ईश्वरकृपा । भगवान् ने स्वयं कहा है—

मामेवं प्रपद्यन्ते मायामता तर्गति ते ।

'जो मेरी शरण होते हैं वे मेरी मायामें तर जाने हैं' । इस प्रमाणमें ही नहीं, जरा-सा प्रथम करनेपर इस बातको प्रत्यक्ष भी किया जा सकता है । मनकी कैसी भी अवस्था हो, कुछ देरतक बलात् यैठ जाओ और मनको अपने हृदय-कमलपर स्थित हृष्टदेवके अरणोंमें लगा दो, थोड़ी ही देर क्यों न हो, फिर देखो, उस समय जो शान्ति मिलती है वह कितनी मधुर है ! इसप्रकार जितनी अधिक देर बैठ सकोगे, उतना ही शान्तिका आस्वादन अधिक मिलेगा, इस प्रशान्त भावके स्थानी होनेपर, यदि इसी अवस्थामें देह-स्थान ही जायगा तो तुम सहज ही बन्धनमें मुक्त होनेके मार्गपर चले जाओगे । ईश्वरको न माननेपर यह शान्ति तुझे कभी नहीं मिल सकती । सम्भव है कि शराबके नदी-की भाँति तुझे कामिनी-काङ्क्षनमें उदास आनन्दका अनुभव हो, किन्तु वह शान्ति नहीं है, अन्धन-मुक्तिका मार्ग नहीं है । पता नहीं, संसार-नदीके प्रवाहमें बहते-शहने तुम किस अयानक अथाह सागरमें जाकर गिर पड़ोगे । ईश्वर-भक्ति

इस भव-नदीके बीचमें एक आनन्द-हीप है, इस हीपका आश्रय यिल जानेपर नदीमें बहना नहीं पड़ता । नहीं तो, इस बातका कोई निश्चय नहीं है कि इस जन्मका मनुष्य दूसरे जन्ममें किस योगिको प्राप्त होकर पुनः भ्रमणके लकड़ी पह जायगा, ईश्वरका आश्रय लेनेपर ही मनुष्य-जन्म सार्थक होगा, तभी वह उल्टा बहकर संसार-सरिताके मूल-स्थानपर पहुँच सकेगा ।

२—ऐसी कोई हानि ही नहीं है जो ईश्वरमें अविश्वास करनेपर न हो ।

व्याख्या—

ईश्वरमें अविश्वासी मनुष्य नीतिके रूपमें सत्यनिष्ठाको अहसा कर सकता है परन्तु ऐसी अवस्थामें युहास्पसे उसका सत्यनिष्ठामें गिर जाना बदुम सम्भव है । जिसका ईश्वरमें विश्वास नहीं है, जिसके मनमें भगवकृपा प्राप्त करनेकी हृच्छा नहीं है, वह कितना ही समाजसेवक क्यों न हो, केवल नीतिका आश्रय लेकर वह काम-क्रोधादि रियुणीकी सामयिक उत्तेजनामें कभी नहीं बच सकता और उपर्युक्त शान्तिके मार्गकी ओर सो । वह जा ही नहीं सकता । अतएव ईश्वरको न माननेमें सत्यमें गिरना, ईन्द्रियसंयमका आभाव और शान्तिपथके अनुसन्धानमें असमर्थता आदि अनेक प्रकारकी हानियाँ होती हैं ।

३—ईश्वर समस्त प्रमाणोंमें अतीत है, ऐसा दर्शनिकाण कहते हैं, उनके इस कथनका क्या अर्थ है, इस विषयपर मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता । पर मेरा अपना मत यह है कि ईश्वर सर्व-प्रमाण-सिद्ध हैं । एक गृहसे लेकर वहे भारी प्रहृतक जिस ओर भी देखो, सभी ईश्वरका प्रमाण है । यह अनन्त विचित्रतामय विश्ववट कोई आकृतिक नहीं है, अचेतनका विकास नहीं है, इसके अन्दर जो नियुक्ता भरी है, उसको सर्वज्ञ और सर्व-शक्तियोंके स्वामीके अतिरिक्त और कोई नहीं दिखला सकता । इसके सिवा मैं अपने विश्वासपर यह भी कहता हूँ कि भगवान् भक्तके ईष्टिगोचर और वाक्य-प्रयोगके द्वारा अतिगोचर भी दुजा करते हैं । शास्त्रप्रमाण सो है ही, मैं पुनः कहता हूँ कि ईश्वर सर्व-प्रमाण-सिद्ध हैं । उनको प्रथम किया जाता है, अनुमानसे समझा जाता

है और आस-वासोंसे जाना चाहा है। इन्हरकी सिद्धिके लिये प्रभाण नहीं हूँ दिना पड़ता।

४—प्रायः ३३-३४ वर्ष पहलेकी बात है। श्रावणके कृष्णपतकी रात्रि थी, आकाश बादलोंसे आळ्हा-दित था, मैं रातको आठ बजेकी दूर नमे, कछकसेसे अपने घर जा रहा था। हमारा मकान भट्टपांडी गांवमें कछकतेमें साढे बाईस मील उत्तरकी ओर है। बाईस मीलपर काँकनाडा स्टेशन है, स्टेशनसे उत्तर छः-सात मिनटके रास्तेपर हमारी पाठशाला है, उसमें उत्तर तीन-चार मिनट चलनेपर हमारा घर मिलता है, रेलकी पटरीके नीचे हम समय स्टेशनसे लेकर हमारे घरके पाससक पक्की सड़क बन गयी है। किन्तु उस समय पक्की सड़क नहीं थी। बल्कि पाठशालाके सामने एक पुष्करणी थी और पूर्वकी ओर रेलके तार लगे हुए थे; पुष्करणीके पूर्वांश और तारोंके पश्चिमांशके बीचसे एक छोटी-सी पगड़पांडी थी। दूर न आनेके समय भगवकृपासे मेरा मन उनके नाम-कीर्तनमें जग गया। जिय समय दूर बारकपुर स्टेशनपर पुँछी, उस समय थोड़ा-थोड़ा पानी बरस रहा था, बारकपुरमें सारी गाड़ी खाली हो गयी। उच्चस्थरसे नाम-कीर्तनका सुयोग देखकर मेरे मनमें अरथन्त आनन्द हुआ, परन्तु वर्षा और अन्धकारको देखकर कुछ छोंके लिये मन जरा चक्कल हो गया। रेलके किनारे रास्तेकी फिसलाहट और अँधेरेमें पुष्करणीके बीचसे होकर जानेमें छोशकी बात याद आ गयी, मनमें मनुरण हुई कि कहाँ तो यह आनन्द और कहाँ दूर नमें उत्तरते ही उत्तरा क्षेत्र ! परन्तु दूसरे ही क्षण यह विचार जाता रहा और मैं नाम-कीर्तनके आनन्दमें निमग्न हो गया। हमसे यह नहीं समझना चाहिये कि उस समय मुझे बाधाशान नहीं था, क्योंकि काँकनाडा स्टेशन आते ही मुझे पता लग गया और मैं गाड़ीसे उत्तर पड़ा। अब नाम-कीर्तन बन्द हो गया। सब और अन्धकार क्षा रहा था, सीधे रास्तेमें बड़ी फिसलान है और दूरके राज-पथपर शराबियोंका उपद्रव है। अन्दर मैंने सीधे रास्तेसे ही जाना ख्याल किया और धीरे-धीरे चल पड़ा। कुछ ही दूर चला था कि मैंने देखा, लालदेन लिये कोई आ रहा है और दशियाँ और बोरसे आगे बढ़ रहा है, रास्तेके बगलमें आते ही मैंने देखा, मेरे ही दो विद्यार्थी हैं। मैंने विस्त द्वारा कहा ‘तुम कोग कहा जा रहे हो ?’ उन्होंने कहा ‘आपको क्षैति !’ मैंने

फिर पूछा ‘तुम क्षैतियोंको क्षैते पता लगा कि मैं इसी दूर नसे आ रहा हूँ ?’ विद्यार्थियोंने उत्तर दिया—‘अभी जो दूर नसे श्वेशनसे निकल गयी उसमें आपही तो थे औरसे इमण्डोंका नाम लेकर उकारते हुए कह रहे थे कि रोशनी लेकर जलदी नसे श्वेशनपर आओ, इसीसे इमण्डोग दौबे आये हैं।’ दूर नसे श्वेशनमें उत्तरकी ओर गयी, फिर तुम दक्षिणकी ओर क्यों आये ?’ मैंने छात्रोंसे पूछा। उन्होंने कहा ‘ठीक तो नहीं कह सकते कि पेसा क्यों किया, परन्तु यह सोचा कि पहले काँकनाडा स्टेशन देखकर तब उत्तरके नैहाटी स्टेशन जायेगे, इसीसे इधर चले आये ।’ मैंने सोचा, ‘मैं कितना हत्यार्य हूँ, मुझे इस सामान्य क्षेत्रका अरण न होता, तो पता नहीं कितनी भगवत्-कृपा प्राप्त होती ! उस समयकी मनकी स्थितिका क्या वर्णन करूँ ? मेरी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी । मैंने गद्दूद-कश्च द्वारा कर दोनों छात्रोंने कहा ‘अब, तुम बड़े भगवान् हो, तुमने आज भगवान्के शब्द अवल किये, मैंने तुम्हें नहीं पुकारा था, यह पुकार तो उन्हींकी थी ।’

वे दोनों ही छात्र अध्यापक हुए। दोनोंने ही उपस्थियों प्राप्त की । इनमें ये मधुरेश तरकीर्थ तो मिमङ्कापाठ-राज्यके समा-पण्डित हुए; अब इनका परलोकवास हो गया है और दूसरे श्रीमान् रामरत्न तरकीर्थ इस समय भेदिनीपुर जिलेकी प्रधान चतुष्पाठीके प्रधान अध्यापक हैं।

उस समय मुझे इसप्रकारकी कृपाके और भी अनुभव होते, किन्तु योग्यद्विके साथ-ही-साथ मेरी अवनति होती गयी। हम समय मैं प्रभुसे दूर हूँ। उनका परिष्कर अपराधी भूत्य हूँ। ये सब बातें खोलनेकी नहीं थीं, किन्तु बहुत दिनोंमें मैं उन्हें भूल रहा हूँ, उनकी कृपाका अनुभव नहीं कर पाता हूँ, इसीमें निराश होकर आज यह लिख रहा हूँ।

चौंगे प्रभका उपसंहार यह है कि मैं अपनी दूसर्वकी उद्धरमें ही, केवल बाईस बघ्योंके अन्दर पहले पितृ-हीन और फिर मानृहीन हो गया था, तबसे वही—‘पिता-माता बन गये और उन्होंने ही मेरी रक्षा और शिक्षादिकी सारी व्यवस्थाएँ की। इस सम्बन्धकी प्रत्येक बटाना मेरे लिये उनके माता-पिता होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है; किन्तु इन बातोंका केवल मुझको ही पता है, हूँसरा

कोई साधी नहीं, इसीसे मैंने इनका उल्लेख न करके, केवल एक उसी घटनाका वर्णन किया है, जिसका एक अप्रमाणी साक्षी अभीतक जीवित है। कालटेन लेकर स्टेशनपर छात्रोंको बुझाना मेरे उन पिता-माताका ही कार्य था, इसमें कोई सन्देह नहीं। कारण, छात्र मेरी पाठशालामें पढ़ रहे थे, अनेक छात्र थे, घलती हुई गाड़ीसे मनुष्यके पुकारनेपर उसका बाहरके लोगोंद्वारा सुना जाना असम्भव है। यद्यपि इमारी पाठशाला रेलमें ५०-६० कुट्टी दूरीपर ही थी, किन्तु घलती गाड़ीसे और मेरे ही स्वरसे पुनः-पुनः पुकारना भगवान्की छोड़के सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। छात्रोंने मुझसे कहा था कि 'इमलोग निःसन्देहस्थग्ने आपकी ही आवाज सुनकर दौड़े आये हैं। कॉन्कानामें उत्तर देश मीलकी दूरीपर नैहाटी स्टेशन है, आप यहाँ न मिलते तो इमलोग नैहाटी जाते, परन्तु यहाँमें कूटकर नैहाटीको जाती हुई गाड़ीसे आपकी आवाज सुनकर भी हम यहाँ कर्मों आये,

इस बातका ठीक उत्तर हम नहीं दे सकते, प्रबल हृष्णा हुई कि पहले यही स्टेशन देख चले।'

कृपाकी यह घटना अति क्षुद्र होनेपर भी उन मातापिताने यह सोचकर कि, इस अँधेरी बरसातकी रातमें इमारा बचा हृशकर मार्गसे कैसे आयगा, उसका उपाय किया था। मेरे घर कौटनेका कोई समय निश्चित न होनेके कारण मैं पहलेसे कोई व्यवस्था न कर सका, किन्तु मेरे माँ-बापने वह व्यवस्था—प्रकाश लेकर सामने जानेवालेकी व्यवस्था कर दी।

इस समय मैं भक्तिशूल्य, कठिन-दृश्य होनेपर भी, उसकी कृपाकी बातका अरणकर सचमुच सुख हो जाता है और भी कितनी ही बातें हैं, पर उन्हें कह नहीं सकता।

पोहारजी ! आप चिरजीवी हों, आपके इस प्रभासे उस समयके भावने जाग्रत होकर अणकाळके लिये मेरे हृदयको शीतल कर दिया ।

(१७) रमण महर्षि

१-पर्योकि ईश्वर (आत्मा) हमारे लिये सबसे बढ़कर प्रिय है, इसकिये इम निश्चयपूर्वक उसमें विश्वास करते हैं तथा इसमें उसमें विश्वास करना भी चाहिये। ईश्वर हममें भिन्न नहीं है, वस्तिक वह हमारा अन्तर्तम आत्मा है। इसीलिये इम ईश्वरकी ओर आकर्षित होते हैं।

२-जो मनुष्य ईश्वरमें विश्वास नहीं करता, वह केवल अगरके बाह्यस्वरूपके प्रत्ययमें ही निमग्न रहता है। और यह समस्त शोक और मन्त्रापका मूल कारण है। शान्ति और आनन्दके आनेवाले पुरुषको अपने भीतर ईश्वर अर्थात् सत्-चिद-आनन्दको स्वोजना होगा।

३-अन्तर्ज्ञान-सम्बन्धी अनुभवके लिये किस प्रमाण—प्रबल प्रमाणकी आवश्यकता है? प्रमाणकी अपेक्षा अन्तर-अनुभव कहीं अधिक विश्वसनीय होता है। ईश्वर है। केवल ईश्वर ही है और आप उसके अस्तित्वका प्रमाण भीगते हैं। इस विषयके बाँदिक (तार्किक) प्रमाण भी है, वे शास्त्रोंमें मिलते हैं। परन्तु अन्तर्ज्ञान सबसे प्रबल प्रमाण है।

४-पहलेकी बात है, जब मैं अरथात् बेल्लुके

मन्दिरमें गया, तो वहाँ कोई न था। इसकिये मैं सामनेके शिखरके समीप खड़ा-खड़ा प्रसीक्षा करने लगा। धोकी देरके बाद मन्दिरका डार खुला और मैंने अन्दर प्रवेशकर मरणपूर्वक स्थान ग्रहण किया, वही स्थान उस अँधेरे मन्दिरमें कुछ प्रकाशमय था। वहाँ बैठते ही मैं भ्यानमें मझ हो गया। अचानक मुझको विद्य प्रकाश दीख पड़ा जो प्रस्फुटित होकर अपनी दीसिसे चतुर्दिक दीसिमान हो रहा। मैं अपने स्थानमें उठा और मैंने सोचा कि 'अवश्य ही भगवान्का यहाँ आविर्भाव होगा' और यह देखनेके लिये कि कहीं प्रकाश अन्दरसे तो नहीं कूटा पड़ता है, मैं मन्दिरके गर्भगृहमें गया। परन्तु उस कोठरीमें ऐसा प्रकाश न पाकर मुझे विश्वास हो गया कि वह प्रकाश प्रतिमामें नहीं आया था। वह प्रकाश चाहे जो हो, वह न लक्षण लियी न हो गया। इसके बाद मैं पुनः समाधियमें बैठन हो गया। जिन्हें विदेश जानना हो उन्हें श्री बी० वी० एन० स्थानी-लिखित 'Self-realisation' मामक ग्रन्थ-के पृष्ठ २०, २१, २३, २४, २५, २६, २८, ३०, ३१, ३२ को देखने चाहिये।

(१८) श्रीजयदयालजी गोयन्दका

ईश्वरके विषयमें जो प्रश्न किये गये हैं उनको सुनकर मुझको आश्र्य नहीं होता, क्योंकि यह विषय बुद्धिकी पहुँचके बाहरका है। आश्र्य सो इसमें मानवा चाहिये कि जो ईश्वरको मानते हुए भी वही मानते। ईश्वरके तत्त्वको न जानकर ईश्वरको माननेवाले कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वक्षिमान्, व्यायाकारी, कर्मफलदाता, सत्य-विज्ञान-आनन्दधन है, इसप्रकार ईश्वरके स्वरूपको बताते हैं, पर ईश्वरके निर्माण किये हुए नियमोंका पालन नहीं करते। ऐसे उरुचोंका मानना केवल कथनमात्र है, ऐसे ही मनुष्योंकी मूर्खताका यह फल है कि आज संसारमें ईश्वरके अस्तित्वमें सन्देह किया जाता है। ईश्वरको सर्वज्ञ न माननेवालोंकी अपेक्षा अन्यश्रद्धासे भी ईश्वरके माननेवालोंको उत्तम समझता हुआ भी मैं उनकी निष्पा इसकिये करता हूँ कि ऐसे अन्यश्रद्धावाले मनुष्य ही अनीश्वरवादके प्रचारामें एक प्रधान कारण हुए हैं। जो वास्तवमें ईश्वरको समझकर ईश्वरको मानते हैं, उन्हींका मानना सराहनीय है। क्योंकि जो ईश्वरके तत्त्वको जान जाता है उसके आचरण परमेश्वरको मर्यादाके प्रतिकूल नहीं होते, प्रत्युत उसीके आचरण प्रभायाभूत और आदरणीय होते हैं। मगावान् कहते हैं—

यद्यद्यश्वरति श्रेष्ठस्त्तदेवतोऽनः ।
स यत्प्रमाणं कुक्षे लोकस्त्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३ । २१)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बरतते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रभाया कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बरतते हैं। ऐसे पुरुष ही ईश्वरवादके सब्जे प्रवारक हैं, मैं तो एक साधारण पुरुष हूँ। यद्यपि ईश्वर-विषयक प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मैं असमर्थ हूँ, तथापि कल्याणके पाठकोंके लिये साधु पुरुषोंके संग और अपने विचारसे उत्पत्त हुए भावोंका कुछ अंश अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार अपने अनो-विनोदके लिये उनकी सेवामें रखता हूँ। सज्जनगण मुझे बालक समझकर मेरी त्रुटियोंपर छमा करते हैं। ईश्वरका विषय वहा गहन और रहस्यपूर्ण है, इस विषयमें बड़-बड़े परिवहतजन भी भोग्यहूँ हो जाते हैं, फिर मुझ-सरीखे साधारण मनुष्यकी तो बात ही नहा है।

६६

१-(क) ईश्वर बिना ही कारण सबपर दया करता है, प्रस्तुपकारके बिना न्याय करता है और सबको समान समझकर सबसे प्रेम करता है। इसलिये उसको मानवा कर्तव्य है और कर्तव्य पालन करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है।

(अ) ईश्वरको बिना मानेडसके तत्त्वकी स्थोज नहीं हो सकती और उसकी स्थोज हुए बिना उसके तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता और ईश्वर-ज्ञानके बिना कल्याण होना सम्भव नहीं।

(ग) ईश्वरको माननेसे उसकी प्राप्तिके लिये उसके गुण, प्रेम, प्रभायको जाननेकी स्थोज होती है और उसके नामका जप, स्वरूपका ज्ञान, गुणोंके प्रवण-मनमकी चेष्टा होती है, जिससे मनुष्यके पापों, अवगुणों एवं दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

(घ) अस्त्री प्रकारसे समझकर ईश्वरको माननेसे मनुष्य-के ह्रास किसी प्रकारका दुराचार नहीं हो सकता। जिन उरुचोंमें दुराचार देखनेमें आते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरको मानते ही नहीं हैं। मूले ही ईश्वरवादी बने हुए हैं।

(क) सम्बन्ध हृदयसे ईश्वरको माननेवालोंकी सदाये जय होती आयी है। भ्रव-प्रद्वाददिव्यजैसे अनेकों उच्छ्वस उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं। वर्तमानमें भी सज्जे हृदयसे ईश्वरको मानकर उसकी शरण लेनेवालोंकी प्रत्यक्ष उपलिदेखी जाती है।

(च) सम्पूर्ण ज्ञाति, स्मृति आदि शास्त्रोंकी सार्थकता भी ईश्वरके माननेसे ही सिद्ध होती है। क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्येष्ठ ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है।

वेदे रामायणं चैव पुराणे भारते तथा ।
आदौ मध्ये तथा चान्तं द्विः सर्वत्र गीयते ॥

इसी प्रकार ईश्वरको माननेसे अनन्त फाल है।

२-(क) कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेवाले सर्वव्यापी परमात्माकी सत्ता न माननेसे मनुष्यमें उच्छ्वसकृता बढ़ती है। उच्छ्वसल मनुष्यमें फूल, कपट, चोरी, जारी, हिंसादि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, छोड़, भोग, अहंकार आदि अवगुणोंकी बुद्धि होकर इसका पतन हो

आता है जिसके परिणाममें वह और महा दुर्ली बम आता है।

(ल) ईश्वरको न माननेसे ईश्वरके तत्त्वज्ञानकी खोज नहीं हो सकती और तत्त्वज्ञानकी खोजके बिना परमात्मा कल्पणा नहीं हो सकता।

(ग) ईश्वरको न माननेसे कृतज्ञताका दोष आ जाता है, क्योंकि जो उत्तम सर्व संसारके उत्पत्ति तथा पालन करनेवाले सबके सुदृढ़ उस परमप्रिता परमात्माको ही नहीं मानते, वह यदि अपनेको जन्म देनेवाले माता-पिताको न माने तो क्या आश्वर्य है? और जन्ममें उपकार करनेवाले माता-पिताको न माननेवाले के ममान दूसरा कौन कृतज्ञ है?

(घ) ईश्वरको न माननेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक स्थिति नहीं हो जाती है और उसमें पशुपन आ जाता है। संसारमें जो कोण ईश्वरको नहीं माननेवाले हैं, गौर करके देखनेसे उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

इसी प्रकार ईश्वरको न माननेमें अन्य अनेको महान् द्वयियाँ हैं, पर विस्तारके भयमें अधिक नहीं लिखा गया।

३-ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण पूछना कोई आवश्यक बात या बुद्धिमत्ता नहीं है। इस विषयमें प्रभ करना साधारण्य है। स्थूलतुदिसे न समझमें आनेवाले विषयमें अममदार पुरुषको भी शंका हो जाती है, किंतु साधारण्य मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? परन्तु विचारनेकी बात है कि जो परमात्मा स्वतःप्रमाण है और जिस परमात्मामें ही सबका प्रमाण लिद होता है उसके विषयमें प्रमाण पूछना एक प्रकारका बालकपन है, जैसे किसी मनुष्यका अपने ही समझमें शंका करना कि 'मैं हूँ या नहीं' अर्थ है, जैसे ही ईश्वरके विषयमें पूछना है। यदि कहो कि 'मैं तो प्रत्यक्ष हूँ, ईश्वर तो पैसा नहीं' सो यह कहा जा सकता है, परन्तु असल बात तो यह है कि परमात्मा इसमें भी बदल प्रत्यक्ष है। कोई पूछे कि 'हमसे बदल परमात्माकी प्रत्यक्षता कैसे है?' इसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न-अवस्थाके अनुभव किये हुए पराये और शरीर आग्रह-अवस्थामें नहीं रहते, इसी बातको लेकर यह शंका हो सकती है कि यह जाग्रत-अवस्थामें दीखने-वाले पराये और शरीर भी किसीका स्वप्न हो, क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंका स्वप्न-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, जैसे ही जाग्रत-अवस्थाके पदार्थोंका जाग्रत-अवस्थामें परिवर्तन

देखते हैं परन्तु बिससे इन सबकी सत्ता है और जो सबके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता, जो सबका आजार और अधिष्ठान है, उस निर्विकार परमात्माकी प्रत्यक्षता हमारे व्यक्तिगत अस्तित्वकी अपेक्षा बहुत विशेष है, पर ईश्वरकारकी प्रत्यक्षता उन्हीं महात्मा पुरुषोंको होती है कि जिनकी महिमा सब शास्त्र गते हैं। जो सूक्ष्मदर्शी है वे ही सूक्ष्मदुदिके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। इस विषयमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके बचन प्रमाण हैं। जिनको स्वयं साक्षात् करनेकी हड्डा हो वे भी श्रुति, स्मृति तथा महात्मा पुरुषोंके बताये हुए मार्गके अनुसार साधनके लिये प्रयत्न करनेसे परमात्मा की प्रत्यक्ष कर सकत है। परमात्माके अस्तित्वकी मिद्दिमें युक्तिप्रमाण भी हैं। कायंकी मिद्दिये कारणके निश्चय करनेको युक्तिप्रमाण कहते हैं। संसारमें किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति और उसका सञ्चालन किसी कर्ताके बिना नहीं देखा जाता। इसमें यह निश्चय होता है कि पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा और काल आदिकी रचना और नियमानुसार उनका सञ्चालन करनेवाली कोई बड़ी भारी शक्ति है, डसी शक्तिको परमात्मा समझना चाहिये। यदि कहो, 'विना कर्ताके प्रकृतिमें ही अपने-आप सब उत्पत्ति होते जाते हैं इसमें कर्ताकी कोई आवश्यकता नहीं, जैसे वृक्षमें बीज और बीजमें वृक्ष अपने-आप ही उत्पत्ति होते हुए देखनेमें आते हैं' सो ठीक है, किन्तु यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। प्रयत्न तो यह बात विचारनी चाहिये कि पहले बीजकी उत्पत्ति हुई या वृक्षकी? यदि वृक्षकी कहां सो वृक्ष कहाँमें आया और बीजकी कहां तो बीज कहाँमें आया? यदि दोनोंकी उत्पत्ति एक साप कहा। तो किसके द्वारा किसमें हुई? क्योंकि बिना किसी कारणके कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। जिसमें भी और जिसके हारा बाँज, बूझ आदिकी उत्पत्ति हुई है वे ही परमात्मा हैं।

दूसरा प्रभ होना है कि यह प्रहृति जह है या चेतन। यदि जह कहो तो चेतनकी सत्ता-मूलसिंहे बिना किसी पश्चार्यका उत्पत्ति और सञ्चालन होना सम्भव नहीं और यदि चेतन कहो तो फिर इमारा कोई विरोध नहीं क्योंकि चेतन-शक्ति ही परमात्मा है, जिनके हारा इस संसारकी उत्पत्ति हुई है। केवल संसारकी उत्पत्ति ही नहीं, चेतनकी सत्ता बिना इस संसारका सञ्चालन भी नियमानुसार

नहीं हो सकता। विना यन्म्रीके किसी छोटे-से-झोटे यन्म्रका भी सञ्चालन होता नहीं दिखायी देता। किसी भी कार्यका सञ्चालन हो, विना सञ्चालकके वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है अतएव जिसमें इस संसारका नियमानुसार सञ्चालन होता है, उसीको परमात्मा समझना चाहिये। जीवोंके किये हुए कर्मोंके फलोंका भी सर्वव्यापी, मर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परमात्मा के थिना यथायोग्य भुगताया जाना सम्भव नहीं है, यदि कहो 'कर्मोंके अनुसार कर्ता पुण्यको किये हुए कर्मोंका फल अपने-आप मिल जाता है' तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि कर्म जह दोनोंके कारण उनमें कियाओंके अनुसार फल-विभाग करनेकी शक्ति नहीं है और चेतन जीव तुरे कर्मोंका फल दुःख स्वयं भोगता चाहता नहीं। और जीवी करता है और जीवीके अनुसार राजा उन्में दरढ़ देता है परन्तु न तो वह जीव जेलमानेमें स्वयं भोगता है और न वह जीवीरूप कर्म ही उन्में जेल पड़ूँचा भक्ता है। राजाकी आजायं नियत किये हुए अधिकारी लोग ही जीवीके अपराधके अनुसार उन्में जेलका दरढ़ देने हैं, ही प्रकार पाप-कर्म करनेवाले पुरुषोंको परमेश्वरके नियत किये हुए अधिकारी देवता पाप-कर्मोंका दुःखरूप दरढ़ देते हैं। ऐसे ही यह जीव किये हुए सुकृत कर्मोंका फलस्त्रप सुख भोगनेमें भी असमर्थ है। जैसे कोई राजाके कानूनके अनुम र चलनेवाले ध्यक्तिको गजा या उनके नियत किये हुए पुरुषोंद्वारा कर्मोंके अनुसार नियत किया हुआ ही पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकारमें सुकृत कर्म करनेवाले पुरुषोंको भी उनके कर्मोंके अनुसार परमेश्वरद्वारा नियत किया हुआ फल मिलता है। अज्ञानके द्वारा योहित होनेके कारण जीवोंको अपने कर्मोंके अनुसार स्वतन्त्रतामें एक शरीरमें दूसरे शरीरमें जानेका सामर्थ्य और ज्ञान भी नहीं है।

इसके सिवा सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वप्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवत्ती सृष्टिकी रचना विना किसी परम बुद्धिमान् चेतन कर्ता के नहीं हो सकती।

इस उपर्युक्त विवेचनमें यह बात सिद्ध होती है कि परमेश्वरके बिना न तो संसारकी उत्पत्ति सम्भव है, न सञ्चालन हो सकता है, न जीवोंको उनके कर्मसङ्कलक यथायोग्य फल प्राप्त हो सकता है और न सप्त्योजन सृष्टि हो सकती है।

उपर्युक्त प्रमाण तो इकानुकूल दिये गये हैं, बत्तुतः

ईश्वर 'स्वतःप्रमाण' प्रसिद्ध है, क्योंकि समूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि ईश्वरके प्रमाणसे ही सिद्ध होती है, इसलिये उसमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं।

ईश्वरके होनेमें शास्त्र भी प्रमाण है, समूर्ण भ्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंका तात्पर्य भी ईश्वरके प्रतिपादन-में ही है। इसके लिये जगह-जगह असंख्य प्रमाण देख सकते हैं।

यजुर्वेद—

ईशावास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत् ।

'इस जगत्में जो कुछ भी है वह सब-का-सब ईश्वर करके ब्यास है।'

ब्राह्मसूत्र—

'उन्मादस्य यत्' 'शास्त्रयोनित्वात् ।'

जिसमें उत्पत्ति, स्थिति और पालन होता है, वह ईश्वर है। शास्त्रका कारण होनेमें अर्थात् जो शास्त्रका उपायक है तथा शास्त्रद्वारा प्रमाणित है, वह ईश्वर है।

गीता—

सर्वस्य चाहं इदि संनिविष्टोः

मतः सूर्तिझानमपोहनं च ।

बैदेश सर्वैरहमेव वेदोः

देशान्तर्हदेविदेव चाहम ॥१५॥१५॥

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीस्तप्तमें स्थित हूँ तथा सुकृतसे ही स्मृति, ज्ञान और अपेहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोरय हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशोऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामपन्सर्वभूतानि यन्त्रास्वदानि मायया ॥१५॥१५॥

'हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूप हुए समूर्यं प्राणियोंको अस्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भ्रूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

उपातिष्ठामपि तज्ज्योतिस्तुमसः परमुच्यते ।

ज्ञानं हृदयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विहितम् ॥१६॥१६॥

‘वह ब्रह्म ज्योतिर्योका भी ज्योति एवं मायासे अति वरे कहा जाता है तथा परमात्मा बोधस्वरूप और जानने-योग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके दृष्ट्यमें स्थित है।’

उत्तमः पुरुषस्त्वन्मः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमात्रिश्च विमर्शयय इंश्वरः ॥ १५॥१७

‘उन (क्षर, अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो सीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है, एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है।’

योगदर्शन—

ह्रेशकर्मविषयकाशयैरपरपरामृष्टः पुरुषविशेष इंश्वरः ।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबोधम् ।
पूर्वेवामपि गुरुः कालनानवच्छेदाद् ।

(समाधिशाद २४-२५-२६)

‘अविद्या, अभिन्नता, दाग, द्वेष, अभिनिवेश (मरण-यम) इन पाँच लोकोंमें, पाप-युख आदि कर्मोंमें, सुलदुःखादि सोर्गोंमें और समर्थयं वासनाओंमें रहित पुरुषविशेष (पुरुषोत्तम) इंश्वर है। उस परमेश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञता है। वह पूर्वमें होनेवाले ब्रह्मादिका भी उत्पादक और शिष्क है तथा कालके द्वारा उसका अवच्छेद नहीं होता।’

उपरिवर्त—

बतो वा इमानि भूतानि जानते, येव जातानि जीवन्ति, बत्प्रयन्त्यमिसंविशन्ति । तद्विजित्वासत्त्व । (तत्त्विरोध ३ । १ ।)

‘जिससे सब भूत उत्पत्त होने हैं, जिससे उत्पत्त हुए जीने हैं, नाश होकर जिसमें लीन होते हैं, उसको तु जान, वह ब्रह्म है।’

एको देवः सर्वभूतेषु गृहः
संवर्त्यापि सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्मात्मकः सर्वभूताविवासः
साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥

‘एक ही देव (परमात्मा) सब भूतोंके अन्तरात्मामें विराजमान है, वह सर्वात्मापि है, सब भूतोंका अन्तरात्मा

है। वही कर्मोंका अध्यक्ष, सब भूतोंका निवासस्थान, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है।

आगचतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं ब्रह्म च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रवा स्वप्रवृत्तिरिशेषणः ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमर्थी दित्तः ।
सुत्रन् रक्षन् हरन् विश्वं दप्रे संज्ञाक्रियोचिताम् ॥

‘हे ब्राह्मण ! मैं ही ब्रह्म हूँ, शिव हूँ और जगत् का परम कारण हूँ। मैं ही आत्मा और इंश्वर हूँ, अन्तर्योमी हूँ, स्वयं दृष्टा हूँ तथा निर्गुण हूँ। मैं अपनी त्रिगुणमयी मायामें समाविष्ट होकर विश्वका पालन, पोषण और संहार करता हुआ कियानुसार नाम धारण करता हूँ।

महाभारत-अनुशासनपर्वके १४३ वें अध्यायमें कहा है—

अनादिनिवन्धनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
कोकार्यस्थ स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्महं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
कोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतमवद्वाम् ॥ ७ ॥
परमं यो महत्ततः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मंगलतानाम् मंगलम् ।
देवतं देवतानाम् भूतानां योऽत्ययः पिता ॥ १० ॥

‘उम अनादि, अनन्त, सर्वलोकव्यापक, सर्वलोकमहेश्वर, सब लोकोंके अध्यक्षकी सदा स्तुति करनेवाला सब दुःखोंको खांच जाता है।’ ‘जो परम ब्रह्मय, सब भूतोंके जाननेवाले, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, सर्वभूतोंको उत्पत्त करनेवाले महान् भूत हैं।’ ‘जो नेत्रके परम और महान् पुत्र हैं, जो बड़े-से-बड़े तपोरूप हैं, जो परम महान् ब्रह्मरूप हैं और आक्षयके परमधारम है।’ ‘जो पवित्र वस्तुओंका पवित्र है, जो मंगलोंका मंगलरूप है, जो देवताओंका परम देवता है और जो प्राणी-मात्रका अविवाही पिता है।’

आहमीक्षीय रामायण—

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ह्यानविदां विष्णु ।
अहम् ब्रह्म सर्वं च मध्ये जानते च रात्रेः ।
लोकानां त्वं परो चो विष्वस्तेन ब्रह्मतुर्मुखः ॥

ब्रह्म कहते हैं, हे देव ! आप समक्ष लोकोंके कर्ता, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ विभु हैं। आप ही सब लोकोंके आदि, भग्न, अन्तमें विश्वाजित अक्षर ब्रह्म और सत्य हैं, आप सब लोकोंके परम-धर्म विवरकसेन चतुर्भुज हरि हैं।'

जैम, बौद्ध और चार्वाक आदि कठिपय मर्तोंको छोड़कर ऐसा कोई भी वेद-शास्त्र नहीं है जिसमें ईश्वरका प्रदिपादन न किया गया हो। यहाँतक कि मुसल्लमान, ईसाई आदि भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं। यथा—

कुरान—पूर्व और पश्चिम सब सुदाके ही हैं, तुम किब्र भी अपना मुँह धुमाओगे, उधर ही सुदाका मुख रहेगा। कुरा वास्तवमें अत्यन्त ही उदाहर है, सर्व-शक्तिमान् है।

ईसाने कहा है—जिसका ईश्वरमें विश्वास है तथा वो भगवान्स्की शक्तिका आश्रित है, वह संसारसे तर जायगा, पर अविश्वासियोंकी बड़ी दुर्गति होगी।

४—मनुष्य यदि विचाररहितमें देखे तो उसे न्याय-कारी और परमदयालु ईश्वरकी सत्ता और दयाका पद-पदवर परिचय मिलता है। प्राचीन और अचार्योंने बहुत से महारमाणोंकी जीवनियोंमें इसप्रकारकी घटनाओंके अनेकों प्रमाण प्राप्त होते हैं। मैं अपने सम्बन्धमें इस विषयपर क्या लिखूँ ? अवश्य ही मैं यह विनय कर सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् विज्ञानानन्दधन परमात्माकी सत्ता और दयापर तथा उसमें होनेवाली महारमाणोंकी जीवन-घटनाओंपर निश्चय करनेसे अवश्य लाभ होता है।

(१९) श्रीपरमहंस बाबा श्रीअवधिविहारीदासजी महाराज, त्रिवेणीबाँध

१—ईश्वरको दो कारणोंसे माना जाता है। पहला कारण यह है कि जीव ईश्वरका अंश है और अंशका धर्म है अंशीको मानना, क्योंकि अंशीके विना अंशका निर्वाह ही नहीं हो सकता है। अतः अंश यदि अपने धर्मका पालन करनेके लिये ईश्वरको (अंशीको) न मानेगा तो उसे माना प्रकारके दुःख उठाने पड़ेगे। जीव ईश्वरका अंश है इसमें ये प्रमाण है—

मर्मवाणी जीवलोके जीवमृः सनातनः ।

(गीता)

ईश्वर अंश जीव अविनाशी । जेतन अमल सहज सुखराशी ॥
(रामचरितमानस)

दूसरा कारण है कि ईश्वरको माननेवाले ही श्रियोग कर सकते हैं। श्रियोग अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन्हींमेंसे किसेके द्वारा साधन करता हुआ जीव अपने जीवनके वर्षम लक्ष्य ईश्वरको प्राप्त होकर जन्म-मरणके चक्रमें छुटकर अचल हो जाता है। ईश्वरके नहीं माननेसे मनुष्यका उद्धार कभी नहीं हो सकता है। प्रमाण यह है—

सतित-जल जल-निवि महें जाई होइ अचलजिमि जिव हरि पाई ॥

अहः ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये ।

२—ईश्वरको न माननेवालेको श्रियोग दुर्लभ है और योगसे अह दूसरा कोई लाभ नहीं। इसमें प्रमाण है—

यं लब्ध्वा ज्ञापरं लाभं मन्यते नविक ततः ।

* यस्मिन्नियो न दुःखेन गुरुणापि विचालयते ॥

तं विद्याददुःखसंयोगवियोगं योगसक्षितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगाऽनिविष्णवेतसा ॥

(गीता ४ । २२-२३)

लाभ कि रथुपति महिं अकुण्डा । × × × ×
लाभ कि कलु हरिमकि समाना । जोहे गावहि श्रुति संत पुराना ॥
(रामचरितमानस)

ईश्वरको न माननेवाले इसप्रकारके भक्तियोगसे विक्षित रह जाते हैं, भक्तियोगसे रहित होनेके समान दूसरी कोई हानि नहीं है। इसका प्रमाण यह है—

हानि कि जग यहि सम कलु भाई । भजिय न रामहि नरतनु पाई ॥

सारांश यह है कि ईश्वरको न माननेवाला अधोगतिको प्राप्त होता है और इससे बढ़कर कोई हानि नहीं हो सकती है।

१-पुराणोंमें यह बात स्पष्टरूपसे लिखी मिलती है कि समुद्रके मन्थन करते समय जब हड्डाहल विष निकाला और उसके तेजसे देवता-दैत्य सब जलने लगे, तब शिवजीने भगवान्का नाम लेकर उसको पान कर लिया। भगवान्ने उनकी रक्षा की, उस हड्डाहल विषसे सृष्टुके स्थानमें अमृतका फल उन्हें प्रदान किया। इससे ईश्वरका होना सिद्ध होता है। दूसरी एक कथा सबको विदित ही है। हुर्योधनकी सभामें दुःशासनने द्वौपदीका चीर पकड़कर उसे नंगी करना चाहा। द्वौपदीने ईश्वरका मरण किया, दुःशासन चीर स्वाँचते-स्वीचते हार गया, उसकी एक ओर चीरका पहाड़-सा हो गया, परन्तु द्वौपदीको वह नंगी न

कर सका। द्वौपदी वैसे ही चीर पहने लगी रही। यह ईश्वरकी रक्षाका सुन्दर उदाहरण है, इससे ईश्वरके होनेमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

ईश्वरके होनेका तीसरा प्रमाण यह है कि गर्भगत शरीरमें प्राण-वायुका प्रवेश करना और पुनः शरीरसे उसका बाहर निकलना किमका स्वेच्छ है? सिवा ईश्वरके ऐसी सामर्थ्य और किसीमें नहीं है। इसमें भी ईश्वरका होना सिद्ध है।

४-ऐसी घटनाओंका वर्णन सर्वसाधारणके लिये नहीं किया जा सकता, यह कुछ अधिकारी पुरुषोंको ही बतलाया जा सकता है। इसलिये विवरता है।



(२०) श्रीआनन्दस्वरूपजी 'साहबजी महाराज'

१-हमें ईश्वरमें विश्वास करना चाहिये, क्योंकि ईश्वर आत्मतत्त्वके लिये सम्मतिनीय आध्यात्मिक विकासकी सर्वोच्च अवस्था है।

२-यदि इस ईश्वरमें विश्वास न करेंगे तो या तो इस निरदेश्य जीवन विताते रहेंगे या किसी तुच्छ विषयकी प्राप्तिमें इसे लगा देंगे, जिसमें हमें जीवनकी सर्वोच्च अवस्थाका आनन्द प्राप्त नहीं हो सकेगा।

३-ईश्वरके अन्तिमत्वके विषयमें मेरे पास दो प्रमाण हैं- अर्थात् अनुभव और भगवत्प्राप्त महारम्भाओंके अस्तवहनीय आस्वादय।

४-सन् १९१७ है० मैं मैं अम्बालामें मैट्रिक्युलेशनकी परीक्षामें सम्मिलित हुआ था। सभी कहा करते थे कि मैं अमुसीर्ण हो जाऊँगा, क्योंकि मैं छासमें कमज़ोर था। मैं बहुत ही खिल रहा करता था और किंकर्णविमुद्द-सा हो गया था। मैं एक भिशन हाईम्कूलमें परीक्षामें बैठा था, उस स्कूलमें पढ़ाई प्रारम्भ होनेके पहले प्रतिदिन प्रातः ईश्वर-प्रार्थना हुआ करती थी, परन्तु कोई भी विद्यार्थी उसमें शिल्पसर्वी नहीं रखता था। परीक्षाकलके प्रकाशित होनेके एक दिन पहले, जो नियमतः लाहौरसे प्रकाशित होनेको था, वब मैं अस्त्यन्त खिल-सा हो रहा था, तब मेरे मनमें आया कि मैं भी सनिक प्रार्थना करनेकी सो खेटा करूँ। अपने अबोध बालभावसे मैं पौच मिनटतक ईश्वरकी प्रार्थना करता रहा और तरकाक ही मुझे एक ऐसा आनंदिक अनुभव हुआ, जिससे मुझे

निश्चय हो गया कि मेरा परीक्षाफल सर्वथा अनुकूल होगा, तब मुझे बहुत ही आश्र्य और आनन्द हुआ। इस अनुभवमें मुझे स्वभावतः मानवता मिली और मैं तमाम चिन्ताओंमें सुख हो गया। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं पुनः प्रार्थनाके लिये बैठा तब फिर मुझे वही अनुभव हुआ, परन्तु जिम समय मैं आसनपर बैठा इसका आनन्द ले रहा था, मेरी उस कोठरीकी खिड़कीके नीचेमें किमीने पुकारकर कहा कि 'तुम अनुसीर्ण हो गये।' लाहौरमें मेरे एक सम्बन्धीका हसी आशयका तार आया था। मैं इस समाचारको सुनकर अवाक् रह गया। मैं भीरेसे अपनी कोठरीके दरबाजेपर पहुँचा और वही आशङ्कामें उसे खोला परन्तु एक अन्तर्भूति बलात् मुझे शान्त और निर्भय रहनेके लिये प्रेरित करने लगी। मैं सबकर पढ़ा और तारको अपने हाथमें ले लिया। उसे एक, दो, तीन बार पढ़ा और भीतर-ही-भीतर बहुम दुखी हुआ। मेरी दाढ़ी, जो बहाँ पर गयी थी, मुझे साम्बन्धी देने लगी परन्तु मैंने उसे यह कहकर चुप करा किया कि मैं फेल नहीं हो सकता। मैं प्रस्तावित गया जो मेरे घरसे दो फ्लाईकी दूरीपर था और वहाँ मैंने अपने सहपाठियों और उसके सम्बन्धियोंका लमघट देखा, जो अनुसीर्ण छात्रोंकी नामांकणीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। कठीब ३१ बजे पोर्ट-मास्टरने इमारे हाईम्कूलके एक प्रतिनिधियोंको एक बन्द लिफाका दिया। लिफाका लोककर नामांकणी लिकाडी गयी। उसके देखनेपर वह पता लगा कि मैं अमुसीर्ण

नहीं हुआ हूँ बलिक विचाराधीन (Under Consideration) इस्ता गया है। इस 'विचाराधीन' शब्दका अर्थ कोई भी नहीं समझा सका, क्योंकि यह शब्द प्रथम बार ही अनुच्छीर्ण छात्रोंकी सूचीमें आया था। एक ही

सप्ताहमें जब मुझे उच्चीर्ण होनेकी सूचना मिल गयी तो इस शब्दका अर्थ स्पष्ट हो गया।

यही मेरे जीवनकी पहसु घटना है जिससे भगवान्‌के अस्तित्व और उसकी व्यामें मेरा विश्वास इह हुआ।



(२१) श्रीज्योतिजी *

१-जो निष्ठ चैतन्यस्वरूप और सत्य वस्तु है उसमें विश्वास करना ही होगा। यह हमारे जीवनके साथ एक सूत्रमें प्राप्ति स्वतःसिद्ध विषय है। जब एक छोटा शिशु गाढ़ निद्रामें भौतिक संस्कारोंसे दूर रहता है तब वह अपने साथी प्राणात्मके दर्शन कर हँसता है, रोता है और भाँति-भाँतिके स्वेलके भाव दिखाता है। इस भात्को बहुतेरे मनुष्य अपनी आँखोंमें देखते हैं। उसी प्रकार ईश्वरमें विश्वास भी इमण्डोर्गोंका स्वतःसिद्ध संस्कार है। अतएव यदि इम शिशुकी निद्राके साथीके समान उमस्को (ईश्वरको) साथी बनाना चाहें तो इसके लिये इसें कर्म, ज्ञान और भक्तियोगका अवलम्बन करना आवश्यक है। शिशु क्रमशः जितना ही पिता-माताके मंस्कारसे आधुक्ष होता जाता है, उतना ही चैतन्य-सत्तामें वह दूर होता जाता है। यह विश्वनियन्त्रकाका ही सेवक है और इसी सेवमें आनन्द है। ईश्वर तो केवल निष्क्रिय भौत्का और दशक है। जबतक जीव किसी भी कौशलमें उसके समान नहीं हो जाता तबतक इस सेवकका विश्वास नहीं है।

हमारे नेत्रोंके अगोचर मन नामक एक वस्तु है। उसे किसी प्रकार भी अस्त्विकार नहीं किया जा सकता। मनके पीछे वह विवारात्-चैतन्य-शक्ति वर्तमान है। उसीके प्रकाशमें मन प्रकाशित है। मन जब ज्ञान-शक्तिके अवलम्बनसे निश्चलताको प्राप्त होता है तब प्रस्तुत ही वह ईश्वरके लिये अर्थन्त स्थाकुल देखनेमें आता है। उस समय वह ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुको स्वीकार नहीं करना चाहता। उसकी वाणी रुक जाती है, नेत्रोंके जल (अशुभ्रवाह) से उसका वहःस्थल प्रवाहित हो उठता है। परन्तु उस समय भी उसे ईश्वरके दर्शन

या उसकी उपकृति नहीं होती। यह अवस्था बहुत कुछ इमशान-चैराग्यके सहशा होती है।

यदि कोई कहे कि 'मनसे लेकर संसारमें जितने पदार्थ हैं, सभी प्राकृतिक नियमोंमें बलते हैं, असः ईश्वर नामक किसी शक्तिमान् पदार्थके कल्पना करना अर्थ है' ऐसा कथन अमर्पूर्ण होगा। क्योंकि प्राणिजगतमें देखा जाता है कि मनुष्यके अतिरिक्त सभी प्राणी प्रकृतिके नियमोंमें बलते हैं, उनको 'मैं' का बोध नहीं है। मनुष्यको 'मैं' का बोध है। तथा उसी 'मैं' वस्तुका अन्वेषण करते-करते ही आरम्-चैतन्य ईश्वरका पता लग जाता है। उसकी उपकृति साधनके द्वारा ही हो सकती है।

अनेकों कारणोंसे इस ईश्वरमें विश्वास करनेके लिये वापर्य हैं। बास्तवमें यह विश्वास हमारे जीवन और जीवनके संस्कारोंकी समाप्ति है। इमारा जीवन अनेक शक्तियोंका समन्वयस्वरूप है। इनका अच्छी तरह विश्लेषण करनेसे ईश्वरके अतिरिक्तका पता लग जाता है। ईश्वरको न मानना अपने-आपको ही सो देना है। क्योंकि चार ही दिनों बाद इमलोगोंको अनिश्चित अवस्थामें जगत्से विदा होना होगा। केवल प्रकृतिको ही जीवनका आदि और अन्त मान लेनेसे जीवनके रहस्यका उद्घाटन नहीं होता। चैतन्य-सत्ताके बोध और अतीनिद्य-ज्ञानके द्वारा जीवनमें गम्भीर ज्ञान और आनन्दकी प्राप्ति होती है, इसकी भीमांसा केवल युक्तियोंसे नहीं हो सकती। क्योंकि युक्ति किसी अनुभवसिद्ध विषयका अवलम्बनकर अग्रसर होती है और वह विषय यदि मनकी अम-प्रमाद-पूर्ण अवस्थाका अनुभव है, तो उसका फल भी तदनुरूप होना निश्चित है। अतएव केवल अनिर्वचनीय चैतन्य-

* भद्रेय पं० शंगोपीनाथजी कविराज एम० ८० से मालूम हुआ है कि श्रीज्योतिजीने एक संन्यासीजीकी कृपाने बाल्यकालमें ही बहुत विलक्षण-विलक्षण अनुभव प्राप्त किये हैं। वे अज्ञातम्-तत्त्वमें एक विशेष अनुभवसम्पन्न पुरुष हैं, परन्तु लिपकर रहते हैं, इसीसे इनका असली नाम प्रकाशित नहीं किया गया। —सम्पादक

सत्ता के स्पर्श से ईशर में विश्वास हो सकता है। इसके सिवा वास्तविक ईशर-विश्वास के लिये और कोई भी दराय नहीं है।

२-ईशर के अस्तित्व के सम्बन्ध में विश्वास न हो अथवा जीवन में ईशर की उपलब्धि न हो सके तो भनुष्य-जीवन में इससे अधिक दुर्मायगी वात क्या हो सकती है? क्योंकि प्राणिजगत में भनुष्य अष्ट है, तथा एकमात्र भनुष्य ही धर्म का अवलम्बन कर ईशरतक पहुँच सकता है, इसीलिये भनुष्य की हत्ती बेघटा है। ईशर के अस्तित्व के सम्बन्ध में ज्ञान न होने से सर्वपेता अधिक हानि यही है कि इम पहले जिस प्रकार पूर्ण वैतन्यस्वरूप थे, उस अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकें। सहिं दो भाव हैं—एक प्रकाश और दूसरा अन्धकार। इनमें अन्धकार का विकास नहीं होता, परन्तु प्रकाशमें विकास होता है। यदि ईशर-रूप पूर्ण सत्ता की उपलब्धि न हो सकी तो इसे सदा के लिये मोहम्मद ही अन्धकारमें विलीन होकर रहना पड़ेगा। प्रभ ही सकता है कि इसमें क्या हानि है? वस्तुतः इसमें हानि निश्चय है, क्योंकि वैतन्यकी आलोक और अन्धकार-मय जो दो अवस्थाएँ हैं उनमें से आलोकमें सहोच और विकासकी क्रिया परिलक्षित होती है, परन्तु अन्धकार सदैव संकुचित रहता है। अतएव इस संकुचित और अवगुणित अन्धकारमय अवस्थामें पढ़े रहने से कोई भी लाभ नहीं होता। अन्धकार अथवा जड़-अवस्थामें वैतन्य सुरस्य में अवस्थित रहता है, उसमें किसी वस्तु के ज्ञान और शक्तिका विकास नहीं हो सकता। प्रकाशमें सभी क्षुब्धोंका विकास होता है। विकासमें आनन्द है। अतएव आनन्दकी कामना रसनेवालोंको प्रकाश प्राप्त करना आवश्यक है। जीवनमें तीन न्यू दिखायी देते हैं। प्रथम सरमें सुख-नुस्ख आदि किसी प्रकारका बोध नहीं होता, यह सुखस अज्ञानवस्था है। द्वितीय सरमें सुख-दुःखका बोध है, मनमें चम्कता है, इन्ह है। तृतीय सरमें पूर्णवस्था, अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्दका विकास है, यह पूर्ण स्वाधीनवस्था है, इसमें आरम्भ-वैतन्य देखा और कालकी सीमा लांघकर देशीप्यमान रहता है। यह अवस्था समरूप है। अतः यह सिद्ध है कि ईशरमें विश्वास न करने से इसे प्रथम अवस्थामें ही पढ़े रहना होता है।

३-ईशर के अस्तित्व के सम्बन्ध में मन ही ज्ञान-सिद्ध

प्रमाण है। परन्तु मन ईशर नहीं है। इस जो तीन बस्तु अथांत्र मन, बुद्धि और अहङ्कारको लेकर गव्ह करते हैं, इनमें से कोई भी ईशर नहीं। बुद्धि और अहङ्कार मनके ही अनुचर हैं। फिर मन भी जो बाह्यता है वह कर नहीं सकता। मनके पीछे एक विराट वैतन्य-सत्ता है जो जलमें रस-प्रदानकी भाँति निश्चल-भावसे सब कुछ दे रहा है। उसीको इम प्राणाराम, ईशर अथवा वृक्ष कहते हैं। मन में ही की मादकतासे आच्छाद होकर सांसारिक व्यापारमें लिस होनेपर भी जीवनके अन्तिम कालमें ईशरको अस्तीकार नहीं कर सकता। उस समय सब भूक्ते पकड़ी जाती हैं। मन जब देहरूप घटका आधायकर कार्य करने योग्य होता है तब भी ईशरकी सहायता न रहनेपर उसका कार्य सुचारूस्पैण सम्पन्न नहीं हो सकता। पक्षान्तरमें, यदि मनको ही ईशर माना जाय तो मनके लिये असाध्य कोई भी कार्य क्यों होना चाहिये? वस्तुतः इम यदि मनको शुद्ध कर सके तो वह इसे ईशरके समीप पहुँचाकर स्वयं विलीन हो जाता है। उस समय मन नहीं रहता, बक्ति के मनके असीत एक बोधशक्ति रहती है। सारांश यह कि, चित्तके शुद्ध होकर क्रमशः स्थिर होनेपर पहले वैतन्यसत्ताकी परोक्ष तथा उसके बाद अपरोक्ष अनुभूति होती है। तब मनके द्वारा ही मनकी भूक्त पकड़ जाती है और मनके सबध होते ही सत्यका प्रकाश होता है। ईशरके दर्शन ही ईशरके अस्तित्वमें प्रकाश य प्रमाण है।

४-अपने जीवनकी ईशरोपलक्षित-सम्बन्धी वातें बतलानेमें शोष जाता है और वे ठीक-ठीक बतलायी भी नहीं जा सकतीं। यह कोई साधारण विषय नहीं है कि जिसको कहने अथवा लिखनेमें ही लोग समझ सकें। क्योंकि यह प्रथेकके प्राणकी वस्तु है तथा मन ही इसका साक्षी है। इसके अतिरिक्त जिसने जिस भावसे ईशरको देखनेकी चेष्टा की, उसी भावसे उसने उसको देखा है। किन्तु पूर्णवस्थी ईशरमें देखनेपर श्रीकृष्णके चरित्र एवं उनके उपदेशका अवलम्बन करनेके सिवा कोई उपाय नहीं है। अन्य जो कुछ वर्तमान युगमें हो रहा है, सब उसीका सर्वित-चर्चणमात्र है। गीतामें उन्होंने जिस 'मैं' शब्दका व्यवहार किया है, वह प्रस्तेक जीवका 'मैं' है, व्यक्तिगत 'मैं' नहीं है। वर्तमान युगकी भावामें कहा जा सकता है कि वह हिन्दू, मुसलमान, हिन्दू, सबका 'मैं' है। वह

पर्वका 'मैं', कर्मका 'मैं', ज्ञानका 'मैं' और भक्तिका 'मैं' है। उस पूर्ण वस्तु भगवान्‌को ही 'मैं' कहकर बर्चन किया गया है। अवश्य अस्यात्म सामर्थ्यवान् प्रातःस्मरणीय महारमाणोंने ईश्वरको उपलिंगके विषयमें जाना प्रकारकी बातें कही हैं, किन्तु विश्वरूपदर्शन कराकर ईश्वरको उपलिंग कोई करा सके हैं या नहीं, यह हम नहीं जानते। परन्तु भीकृष्ण-समाज अर्जुनका मोह सो इतने-पर भी दूर नहीं होता। हा ! हम किन्तु मूल हैं कि आज बिना बाधा, बिना ही कष्ट परिषदोंके समान केवल भाषापर निर्भर करके ईश्वर-तत्त्व समझानेकी बेटा करते हैं। अन्तु, भूमिकाको छोड़कर अपनी दो एक बातें कहता हैं। विश्वास-अविश्वास मानव-जीवनकी नीति है। परन्तु इससे मेरी नीतिमें परिवर्तन न होगा। मैं जो हूँ वही रहूँगा।

संसारमें, ईश्वरमें विश्वासके विषयमें भिन्न-भिन्न महारमा भिन्न-भिन्न मत प्रकाश करते हैं, तथा पृथक्-पृथक् भ्रमोंका निर्भय कर गये हैं। मत और मार्गोंकी अभिन्नता कहीं भी नहीं पायी जाती। इसका वामविक कारण वही है, वह अनन्त, असीम और चैतन्यस्वरूप है। उनकी माता-पिता अथवा बन्धुके रूपमें उपलिंग की जाती है; पिता-माता अथवा बन्धुके समान उनके साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है; यही क्यों, उनके साथ कथा-वार्ता (बातचीत) भी की जा सकती है। किन्तु इसप्रकार करनेमें कोई वैसा ईश्वर नहीं हो जाता। ईश्वरके विषयमें जो यह बात कहीं गयी है वह दो प्रकारमें सम्भव हो सकती है। (१) साधक मनकी छृताके ऊपर अवलिंगित कर विराट् चैतन्यके द्वारा इच्छानुरूप सृष्टिका विकास कर सकता है; अथवा (२) जो चैतन्य-सत्ता निरन्तर मनके पीछे रहती है, वह कभी-कभी दया करके भ्रमको दर्शन देती रहती है। किन्तु जो ईश्वर हो जाते हैं, उनको फिर दर्शनकी आवश्यकता नहीं होती। वह पूर्ण अस्तुमें स्थित होकर पूर्ण ही हो जाते हैं, दूसरा कुछ रह नहीं जाता, वह सुखुम नहीं होते, पूर्ण बोधको प्राप्त कर चैतन्यस्वरूप हो जाते हैं।

मैंने ईश्वर-दर्शनके सम्बन्धमें अपने जीवनमें जो अनुभव किया है, उसमेंहीसे दो-एक घटनाओंको संबोधित किया जाता है।

(क)

उस समय मेरी अवस्था बारह-दरेह बर्चनी थी। एक महारमाके अनुग्रहसे मैंने ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें सैकड़ों घटनाएँ देखी थीं। एक दिन देखता क्या हूँ कि वह महापुरुष मेरे समीप बैठे हैं, उन्होंने क्या किया, मुझे जात नहीं है। मैं देखने लगा कि आकाशसे एक योनिमय पदार्थ मानो मेरे भीतर प्रवेश कर रहा है। उसके प्रवेश करते ही मैं देखने लगा कि 'मैं' रूपमें मेरा कुछ भी नहीं रह गया है। समीप ही एक बिल्ली बैठी थी। मैंने उसका और देखा तो जान पड़ा, मानो वह भी मैं हूँ। फिर तो जिस और मेरी ईश्वरने लगा, मानो एक आनन्दकी तरंग तरंगित हो उठी। उसी अवस्थामें अक्षसान में सोचने लगा कि कहीं मेरा मन्मिष्टक तो विंगड़ नहीं गया है ? नहीं तो मैं ऐसा क्यों देखता हूँ ? इसी अवस्थामें मैं बिल्लीको एकड़ने चला, जैसे ही मैंने बिल्लीको पकड़ा, मैं देखता हूँ कि मैं मानवी 'मैं' नहीं हूँ, तथा मैंने कभी पृथक् मनुष्यरूपमें जन्म लिया है, यह भी सारण नहीं है। मैं बिल्ली होकर अधिक समयतक न रह सका। अपनी पूर्वावस्थामें लौट आया, किन्तु शरीरमें मानो अब भी एक नशा-सा छाया हुआ था। वह महारमा हँस रहे थे। बोले—‘इसके लिये मनुष्यको साधन करना पड़ता है, यह अर्थात् ही कठिन है। विराट् चैतन्य तुम्हारी साधनावस्थामें यदि कृपा करे तो तुम हम अवस्थामें पहुँच सकते हो, नहीं तो नहीं पहुँच सकते।

ईश्वर-दर्शनकी सत्यताको प्रमाणित करनेके लिये एक प्रश्न उपाय है। अपनेको आरम्-चैतन्यमें लीन करके भी उसमें पृथक् रहनेका एक कौशल है अर्थात् द्वैतभावमें निर्बोधके समान दर्शकके रूपमें रहा जा सकता है। पश्चात् जब ज्ञान होता है, जब दर्शनीय विषयका पूर्ण ज्ञान होता है उस समय किसी प्रकार भीभूल-आन्त नहीं हो सकती है। (जो देखना नहीं जानते उनके लिये समझनेका कोई उपाय नहीं है; क्योंकि यह विषय साधनकी अपेक्षा रखता है।)

मनुष्यके जीवनमें जो विभूति-दर्शन होता है, उसमें ज्ञानतः कोई विशेषता न रहनेपर भी बहुत कुछ विचारणीय बातें रहती हैं।

(८)

१४१७ ई० में जब मैं काशी आया, उस समय मैं विश्वकृष्ण ही अपरिचित था । अग्रस्त्यकुरुक्षे एक गृहस्थके नाम एक सजानका एक पत्र लाया था, उसके सहारे एक अपरिचित घरमें चला गया । मकान-मालिक महानुभाव उपस्थित नहीं थे, उनकी कम्बाने मुझे तीसरे लहलेका एक कमरा दिखा दिया । मैं अस्य-न संकोचके साथ कपड़े-लाटे रखकर, एक चटाईके ऊपर लेटे-लेटे बाबा विश्वनाथ और माँ अच्छपूर्णाका चिन्तन करने लगा, एवं अत्यन्त पवित्र भावसे उनके चरणोंमें प्रार्थना करने लगा । यही मेरा प्रथम काशी-दर्शन था । काशीके महास्थानसे मेरा हृदय पूर्ण था । परन्तु तिसपर भी पराधीन मन यह सोच रहा था कि यदि वस्तुतः परमेश्वर पूर्णरूपसे केवल यहीं रहते हैं तो जगत्के अन्यान्य प्रान्तोंके लोग किसप्रकार उन्हें प्राप्त करेंगे ? मैं इसी विचारमें मन था, उसी समय देखता हूँ कि एक छीं गोदमें एक शिशुको लिये हुए नीचेसे सीधियोद्धारा मेरे पास आकर खड़ी हो गयी और बोली—‘बाबा ! तुम जो सोच रहे हो वहीं ठीक है । परमेश्वर सर्वत्र विश्वमान है, भक्तोंने उनको भिज्ज-भिज्ज स्थानोंमें प्रकट कर दिया है ।’ उसी समय एक दूसरी छीं उमा-सीढ़ीसे आकर मुझमें कहने लगी—‘आन करके भोजनके लिये आये हैं ।’ पहली छीं अब नहीं ठहरी, मेरे देखते-देखने ही वह सीढ़ीसे उतर गयी । दूसरी छींमें मैंने पछा—‘क्या आपने गोदमें बच्चोंको लिये एक छींको अभी जाने देखा है ?’ उसने कहा—‘नहीं, मैंने तो नहीं देखा; हमारे घरमें तो बच्चोंको गोदमें लिये कोई भी छीं नहीं आयी ।’ मैं आश्चर्यान्वित होकर मन-ही-मन सोचने लगा कि ‘वह पूर्ण वस्त्रमयी माँ ही आयी थीं, क्योंकि उनकी गोदमें मैंने जिस शिशुको देखा, वह मेरे ही अनुरूप बालक जान पड़ना था, अर्थात् विश्वरूपमें मानो मैं ही था ।’

ऐसे मनुष्य कम हैं जिनके जीवनमें ईश्वरके सम्बन्धमें इसप्रकारकी छोटी-छोटी घटनाएँ न होती हों; इन सब विमूलियोंमें कोई रहस्य न होता तो लोगोंके मनमें ईश्वरके प्रति विश्वास होना अस्वाभाविक हो जाता ।

हमारे जीवनके कुछ तर हैं । वे तर स्थूल, सूक्ष्म, कारण एवं महाकारणद्वारा आवृत हैं । इनमें महाकारण पूर्णवस्था है, कारण वीजावस्था है, सूक्ष्म स्थूलकी लालाके

समान अवस्था है और स्थूल घटावस्था अवयवा पिण्डावस्था है । घर-बाजोंके बिना जिसप्रकार अवश्यका उचावस्था नहीं होता, इसी प्रकार यह परिवर्त्यमान जगत् स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारणके बिना नहीं चल सकता; इन्हींके द्वारा जगत् आवृत है । अतएव इमारा जीवन भी स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारणके भीतर छिपा हुआ है । सूक्ष्म अर्थात् क्रितीय स्तरसे यह समस्त स्तर प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं । बगालके चित्रसे यह विषय समझमें आ सकता है ।

इस चित्रमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारणके सम्बन्धमें वर्णन है । इमरे इस दृश्यमान जगत् के पीछे सूक्ष्म जगत् है, इस स्थूल जगत्में जो कुछ कहते हैं, वही कमंके फलरूपमें सूक्ष्म जगत्में जगत् होता है । जिसप्रकार स्थूल देहके कमंके फल सूक्ष्म देहमें जन्मान्तरके लिये अणुरूपमें स्थित रहते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत्के अणुरूपमें सदा विराजमान है । यदि कोई अस्पकालके लिये भी स्थूल जगत्से अलग होकर देखनेकी शक्ति प्राप्त कर लें तो उन्हें उस समय सूक्ष्म जगत्की अभिज्ञता और उसका आमास भिल सकता है । सूक्ष्म जगत् न तो गाद अन्धकारमय है और न गाद प्रकाशमय । चित्रमें जिसप्रकार रंग दीख पड़ता है, वह उसी प्रकारका है । उसका रंग कभी परिवर्तित नहीं होता । पृथ्वीको परिवर्तित किये हुए सन्ध्याकाळीन मंधके समान उसका रंग होता है । वृष्टिके बाद जिसप्रकार आकाशमें इन्द्रधनुष पृथ्वीको परिवर्तित करता है उसी प्रकार सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत्को परिवर्तित किये हुए है । सूक्ष्म जगत्में स्थूल जगत् अन्धकारास्त्रिय वीक्ष पड़ता है । किन्तु प्रकृतिके नियमानुसार जब कोई जीव स्थूल जगत्के समीपवर्ती होता है तब अन्धकार और प्रकाश मिले हुए श्रीख पड़ते हैं । यह इन्द्रधनुषके समान परिवर्तनके भीतरके भोक्ती अवस्था है । सूक्ष्म जगत्-में सूर्यका प्रकाश नहीं है । पृथ्वीमें आकर प्रवेश करनेमें सूर्यका प्रकाश मिलता है, तथा सूर्यके दर्शन होते हैं । आकाशमें इस जो यह-नक्षत्रोंमें प्रकाश देते हैं वह परम्पर एकके प्रकाशमें दूसरेमें फैला हुआ प्रकाशमात्र है । प्रथम अर्थात् आदिमकाश कहाँसे आता है, इस बातको कोई नहीं बताका सकता । इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत्का प्रकाश कहाँसे आता है, पह भी नहीं कहा जा

सकता । सूक्ष्म जगत के ऊपर भी भव-नदी और अहङ्कार-रूप परीक्षा-क्षेत्र इत्यादि चित्रमें दिखाये गये हैं वे साधन-जगत के विषय हैं; अर्थात् स्थूल जगत के नाना विषयोंमें नैतिक शीघ्रताकी परीक्षा देते-देते जब हमें यथार्थ ज्ञान होगा, तब इस सूक्ष्म जगत को लॉचकर कारण जगत के समीपवर्ती होंगे । बुक्षका कारण जैसे बीज है, सृष्टिका कारण भी वैसे ही कारण-जगत है । वहाँ (कारण-जगतमें) सभी वस्तुओंकी मूर्तियाँ अंकित हैं । पृथ्वीसे शुद्ध सत्ताको लेकर कारण-जगतमें पहुँचना होता है । जहाँ पहुँचनेपर स्थूलमें और सूक्ष्ममें भटकनेका कारण समझमें आ जाता है । किन्तु बीचमें भव-नदी परीक्षा-क्षेत्र है और अहङ्काररूपी जल है जो चित्रमें दिखाया गया है, उसे एक प्रकारमें बीजमें जल, प्रकाश तथा इवा देनेके समान समझना होगा । क्योंकि जल, प्रकाश और इवाके न पानेपर बीज अंकुरित और प्रस्फुटित नहीं होता । भव-नदीमें परीक्षा देकर पार होनेके समय भी भींग रूप अहङ्कारका त्याग करना पड़ता है । सूक्ष्म जगत के पीछे ग्रन्थ कारण-जगत के मध्यवर्ती स्थानमें एक प्रकारका कम्पन है, वह देखनेमें समुद्रकी लहरोंके समान है । इसीलिये शोल-चालकी भाषामें उसे भव-नदी कहते हैं । उसीमें मनुष्यको महाराजा हरिश्चन्द्रके समान अपने पुरायका चिन्तन करते-करते अहङ्कार आकर रोक देता है । भव-नदी-परीक्षा-क्षेत्रमें अहङ्काररूप जलको लहरें सहज ही पार होने नहीं देती ।

यह कारण-जगत् क्या है? सृष्टिकर्ताकी इच्छाका जहाँ विकास और सूर्ति देखी जाती है, उसे ही कारण-जगत् कहते हैं । वह प्रायः स्थिर है, उसमें चाल्लव्य सामान्य ही होता है । वहाँ अनेक साधु-महारामा वास करते हैं । योगसंधकरण योगके द्वारा, कर्मयोगी कर्म-योगद्वारा, ज्ञानी ज्ञानयोगके द्वारा, एवं भक्तजन भक्तिके द्वारा वहीं जाकर स्थिर हो सकते हैं । ये समस्त साधु-महारामागण स्थूल जगत के मङ्गलके लिये समय-समयपर पृथ्वीमें आते रहते हैं । सूक्ष्म जगत् और भव-नदी उनको रोक नहीं सकती । वह जहाँसे आते हैं, काम शेष होनेपर फिर सीधे वहीं लौट जाते हैं ।

महाकारण अथवा महाशक्ति चैतन्यकी पूर्ण अवस्था है । गम्भीर वस्तु नीतिकर्त्त ग्रसीत हुआ करती है, इससे इसका भी बर्ण नील है । वह महाशक्ति सुदृश वस्तुओंको

लेकर धीर-स्थिर-भावसे दृष्टके रूपमें स्थित है । वही पूर्ण अवस्था है । मनुष्य इस अवस्थामें पहुँचनेपर ही सर्वथा पूर्ण हो जाता है । तब द्वैतभाव नहीं रह जाता, अर्थात् वह भी हो जाता है ।

ईसरकी पूर्णताकी उपलक्षित करनेके लिये इस समस्त स्थूल, सूक्ष्म और कारणके भीतरमें होकर महाकारण अथवा पूर्ण ईश्वर-तत्त्वमें पहुँचना होता है ।

(ग)

जब उस नितान्त दास्यावस्थामें भगवद्वर्णनके लिये व्याकुल होकर मैंने संन्यास-जीवन वितानेका सङ्कल्प किया था, उस समय एक दिन हुगली जिलेके श्रिवेणीके तटपर जो घटना घटी थी, उसको किस भाषामें व्यक्त करूँ, यह समझमें नहीं आता । संन्यास शब्दका यदि कोई अर्थ है, और गीताके—

‘सर्ववर्मनपरित्यज्य मामेकं शरणं त्रज ।’

—वाक्यमें यदि कोई सरयता है, तो उस समय मुझको वही सत्यता प्राप्त हुई थी । मेरी उस समयकी अवस्था वस्तुतः ही अप्यक्त है । दो दिन और दो रात वहाँ गङ्गा-जल पीकर और भूंजा खाकर बिताये । मैं सर्वथा निराश्रय और अपरिचित था । एक अपरिचित मनुष्य मेरे साथ थे, पर वह भी एक दिन रहकर ही चले गये थे, अतन्त्र मैं अकेला था । तीसरे दिन रात्रिके शेष कालमें शुभाकी ज्वाला और मनके संतापमें लेटे-लेटे मैं विचार कर रहा था और प्रभात होनेकी बाट देख रहा था, इसी समय एक लीने आकर मेरा नाम लेकर पुकारा । पुकार सुनते ही मैंने आँख सोलकर देखा, सचमुच एक लाल रंगकी साढ़ी पहने एक छोटी लड़ी है, उनके हाथमें एक रकाबी है जो सोनेकी मालूम पदती थी । उनके शरीरमें निकलती हुई ज्योतिने उस स्थानको प्रकाशमय कर दिया था । वृम्मी बार उनकी ओर आँख सोलकर देखनेकी सुझमें शक्ति नहीं रही, मैं आँखें मूँदे हुए ही उनके साथ बातें करने लगा । आँखें मूँदी रहनेपर भी मानो मेरे भीतरमें होकर प्रकाश आँखोंके द्वारा बाहर निकल रहा था, इसलिये मैंने दोनों हाथोंसे आँखोंके ढाँक लिया था । वे सुभको पुकार-कर बोलीं ‘क्वा गङ्गा-स्नान नहीं करोगे? अबेर हो रही है ।’ मैंने हाथकी आँखसे जरा-जरा आँख सोलकर देखा कि वह एक धालीमें कूल तोड़ रही है । मैं जहाँ था, वहाँ एक तापके वृक्षके छारों सीर नाना प्रकारके फूलोंके पौधे

पितामह आदिको भी न मानना चाहिये, क्योंकि पिता आदिके माननेमें भी शब्द-प्रसार ही है। इसी प्रकार ईश्वरकी सिद्धिमें भी वेद, अति, स्मृति, पुराण आदि अनेक साक्ष प्रमाण हैं।

जिस वस्तुका प्रभ होता है, उसका सामान्य ज्ञान होता है जैसे उत्तराखण्डके गौरी-फलको कोई नहीं जानता इसलिये तदिवयक प्रभ ही कोई नहीं करता। जैसे ही नासिकोंको भी ईश्वरका सामान्य ज्ञान है, इसलिये उनके कथनमें ही ईश्वरकी सिद्धि होती है। आसिकोंको तो विशेषरूपसे ईश्वरका ज्ञान अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार होता है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि अवतार ईश्वरके विशेष रूप हैं और सचिदानन्द ईश्वरका सामान्य रूप है। आसिकोंको ईश्वरके सामान्य और विशेष दोनों रूपोंका साक्षात्कार होता है।

लक्षण और प्रमाणमें ही वस्तुको मिद्दि होती है केवल कथनमात्रमें नहीं, इसलिये अब ईश्वरके कुछ लक्षणोंका कथन किया जाता है।

‘सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ यह ईश्वरका स्वरूप-लक्षण है। ‘जगास्त्वं तत्त्वे सति ब्रह्मुपादानमरवद्य’ और ‘जग्मायस्य यतः’ (ब्रह्मसूत्र १।१।२) यह उमका तटस्थ लक्षण है। ‘अन्तर्यामयिद्विद्विद्विषु तद्वर्म्यपदेशात्’ (ब्रह्मसूत्र १।२।१०) जिनने अधिवेश आदि परायां हैं उन सबका अन्तर्यामी अर्थात् नियन्ता है। यह बात श्रुति भी कहती है। सबका नियन्तापना यह परमारम्भका ही धर्म है, पृथ्वी आदि अभिमानी देवताओंका धर्म नहीं है। वह युक्ति मिद्दि भी है क्योंकि ‘फलमत उपपत्तेः’ (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) ‘इस ईश्वरसे ही समर्पणं फलकी प्राप्ति होनेमें’ वह सर्वका अर्थात् है और मृष्टि, स्थिति, संहार करनेवाला भी वही है।

जिस ईश्वरको न जाननेसे सब अन्योंकी प्राप्ति होती है और जिसको जाननेने भोक्ता की प्राप्ति होती है, वही ईश्वर सर्व प्रकारके जिज्ञासु अधिकारियोंको जिज्ञासितव्य है। जैसे सृष्टिके ज्ञानसे सृष्टिके सम्पूर्ण पश्चायोंका ज्ञान हो जाता है, सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णके सम्पूर्ण आमृपशर्णोंका ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार एक ईश्वरके ज्ञानसे समर्पणं जगत्के पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। जब ईश्वरको केवल कर्ता ही न भानोगे तो उपर्युक्त इष्टान्तोंका विरोध होगा। और यदि ईश्वरको केवल उपाधान-कारण ही भानोगे तो

प्रतिज्ञाके वचनोंका विरोध होगा ॥। जिस एकके अवज्ञसे सबका अवज्ञ हो जाता है, जिस एकके ज्ञानमें सबका ज्ञान हो जाता है, जिस एकके मननमें सबका मनन हो जाता है। वह सब प्रतिज्ञा-वचन हैं।

यदि ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वज्ञकिमान् नहीं भानोगे तो सर्व-सृष्टिका कर्ता ईश्वर नहीं होगा, क्योंकि जिसके प्रति उपाधान-कारणका अपरीक्ष ज्ञान हो और जिसमें ईश्वा एवं यज्ञ हो, वही कर्ता कहलाता है। मायाके तमोगुण-युक्त होनेसे ईश्वर जगत्का उपाधान-कारण है और रजोगुण-युक्त होनेसे ईश्वर जगत्का ज्ञान है और सत्त्वगुणयुक्त हुआ वही सर्वज्ञ है।

ब्रह्म (ईश्वर) प्रपञ्चका उपाधान है। जो उपाधान होता है वह कार्यमें अनुगत होता है; जैसे घटका सृष्टिका उपाधान-कारण है, वह घटमें अनुगत है, इसी प्रकार ईश्वर सब प्रपञ्चका उपाधान-कारण है। इसलिये वह सब-में अनुगत है जैसे ‘घटः सत् पटः सन्’ घट है, पट है, यह सत्ताकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार ‘घट प्रतीत होता है,’ ‘पट प्रतीत होता है,’ यह चेतनाकी प्रतीति है और ‘घट प्रिय है पट प्रिय है’ यह आनन्दकी प्रतीति है। ये सब ईश्वरके सचिदानन्दस्वरूपका ही बोध कराते हैं। ईश्वर ही सब पश्चायोंमें एर्य होकर व्यापकरूपमें प्रतीति हो रहा है, जैसे घटमें नेत्रोंमें सृष्टिकाकी ही प्रतीति होती है, घट मानना मिथ्या है, इसी प्रकार सब जगह सचिदानन्द-घनं परमारम्भको ही प्रतीति होती है। नाम-स्पारणक जगत् वात्सल्यमें परमारम्भमें विश्व कुछ भी नहीं है, यह बात छान्दोग्य-उपनिषद्में घेतकेतुके प्रति उदालक-अपिने बहुत विभारके साथ कर्णन की है।

यह सम्पूर्ण ब्रह्मायह ईश्वरका स्थूल शरीर है और सम्पूर्ण समष्टि सूक्ष्म शरीर ईश्वरका सूक्ष्म शरीर है, एवं माया उसका कारण-शरीर है। ईश्वरके इन तीनों शरीरोंके अन्तर्गत

* ‘येनाश्रुतं श्रुतं अवत्यमतं परमार्थित विद्वायमिति XXXII।’

वया सोम्येकेन सृष्टिकेत्येव सर्वं सृष्टिमें विश्वात् ० यादाचारमणं विकारो नामवेद्ये सृष्टिकेत्येव सत्यम् ॥ यया सोम्येकेन क्लोहमणिना सर्वं क्लोहमणं विवात् ० यादाचारमणं विकारो नामवेद्ये क्लोह-मित्येव सत्यम् ॥ (छान्दोग्य ६।१।३, ४, ५)

‘सदेव सोम्येदमप्य यामीदेक्षेयादिवीयम्’

(छान्दोग्य ६।२।१)

ही समर्थ व्यष्टि-सारीर एवं सम्भूत प्रपञ्च है। जैसे खेतमें अक्षग-अक्षग क्षारे होते हैं और वह खेत सब खारोंमें अनुगत है; इसी प्रकार सब व्यष्टि सारीरोंमें ईश्वर अनुगत है। वह ईश्वरको न मालोगे तो अपनेको तथा इस ग्रामदण्डों भी वही माला चाहिये, क्योंकि यह सब ईश्वर करके ही व्याप है। ईश्वरके निषेद्ध सबका निषेद्ध होगा। अपना शारीर सबा जगत् प्रतीत होता है इसकिये उसका अभाव नास्तिकको भी इह नहीं है, इस न्यायसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है। यदि कोई यह कहे कि जो प्रतीत होता है वही हुआ करता है, जो प्रतीत नहीं होता वह होता नहीं, उसके उत्तरमें ये आठ छान्त दिये जाते हैं।

'दूर, समीप, इन्द्रियको हानि। मन चक्षु, सूक्ष्म, विवान। तिरोधान, सजाती-सह। अट हेत घारे चित अह॥'

(१) दूर—जैसे पक्षी उड़ता हुआ आकाशमें दूर चक्षु जाता है तब प्रतीत नहीं होता, परन्तु ऐसा नहीं कहा जाता कि पक्षी नहीं है।

(२) समीप—जैसे नेत्रोंमें अभ्यन्त अस्यन्त समीप है किन्तु अपनेको प्रतीत नहीं होता तो भी अभ्यन्त नहीं है यह नहीं कह सकते।

(३) इन्द्रियको हानि-अन्धा रूपको नहीं देखता है तो भी रूपका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि नेत्रवाले रूपको देखते हैं।

(४) मन चक्षु—मनके चक्षु द्वारेसे पदार्थ प्रतीत नहीं होते तो भी पदार्थोंका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि पदार्थ है।

(५) सूक्ष्म—सूक्ष्म परमाणु प्रतीत नहीं होते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि परमाणु हैं।

(६) चिरोधान—जैसे राक्षसहलमें परदेके अन्दर रानी बैठी हुई प्रतीत नहीं होती, तो भी रानीका अभाव नहीं कहा जाता।

(७) तिरोधान—वारे दिक्षमें वही दीखते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि सूर्यके प्रकाशसे वे नहीं दीखते।

(८) सजाती-सह—वर्षाका जल जो ताकाश या नदीमें जिल जाता है जिससे उसकी अक्षग प्रतीति नहीं होती किन्तु वह नहीं कहा जाता कि शुष्किका जल उसमें नहीं है।

इन सबको अन्य कोरोंके न देख सकनेवर भी योनी पुरुष हँहे देखता है।

इसी प्रकार विचारस्पी नेत्रोंसे रहित जो अनीश्वरवादी हैं, वे ईश्वरको नहीं मानते तो भी ईश्वरका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि जो विचारवान् अस्तिक पुरुष हैं, वे ईश्वरको अपने आत्महृपसे सर्वत्र देखते हैं।

गुरु-ग्रन्थ साहबमें भी ईश्वर-सिद्धिके लिये अनेक प्रमाण स्थक-स्थकपर दिये गये हैं, उनमेंसे कुछ विग्रहानन्द-मात्र नीचे लिखे जाते हैं।

'यह जो दीर्घ अम्बर तारे, किन ओं चीते चीतन हारे।'

वह जो आकाशमें तारे लगे हैं वह किस चित्तेने निश्चित किये हैं, इस दीर्घिसे इनके कर्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है।

'तृ कर्ता सच्चार मैठा सौंदे।'

हे परमार्थन ! तू सर्व जगत्का कर्ता है और सच्चा है अर्थात् आपका है और मेरा स्वामी है। प्रारम्भमें भंगलाचरण करने हुए गुरु नानक साहब कहते हैं—

'एक चं सतनाम कर्ता पुरुष निर्मठ, निर्वैर।'

जकलमृत अजूनि सैमं गुरुप्रसाद जप॥'

अर्थ—एक अद्वितीय ब्रह्म जो परमार्थमा है वही हमारा उपास्य है, वह कैसा परमार्थ है कि वह ओमूत्तरूप है। अब उसका स्वकृप-लक्षण तथा तटस्थ-लक्षण कहते हैं। सतनाम अर्थात् सब हो स्वरूप जिसका ऐसा कहनेसे उसके स्वकृप-लक्षणका बोध हुआ और कर्तासे तटस्थ-लक्षण कहा, अर्थात् नामाभ्याव जो जगत् है उसका वह कर्ता है। यदि कहो कर्ता प्रधान होगा तो इसका उत्तर यह है कि 'नहीं', पूर्ण होनेसे पुरुष ही कर्ता है, उसीको उपादान-कारण भी कहते हैं। किंतु वह कैसा है कि जिसको किसीका भय नहीं है और किसीसे बैर नहीं है। जिसका कालसे रहित स्वरूप है, जो मृत्युका भी मृत्यु है। वह अजूनि यानी कारणसे रहित है। जिसका कोई कारण नहीं है और वह सबका कारण है। सैमं अर्थात् प्रकाशस्वरूप है। 'गुरुप्रसाद' यानी गुरुकृपासे ही प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहजी कहते हैं—

'ब्रीजसकेत अगतके ईशा' दोभावमात्र तदावादक।

चिह्न है जिसकी ध्वजामें, ऐसा सर्व भगवत्का नियन्ता
हैंचर है।

गुरु गोविन्दसिंहका शब्दप्रसाद संवेदा—

‘दीनकी प्रतिपाद के नित, सन्त उचार गनीमन गाँव।
पश्चि पश्चि नग नग नरचिप, सर्वं समै सबको प्रतिपार॥
पाषत है जलमें घलमें, पहाड़े कड़के नहीं कर्म विचारे।
दीनदयाल दयानिधि देवन देखत हैं पर देत न होर॥’

मूँ श्वेष कुख्यमनी सोङ्हवाँ—गुरु नामक साहच
कहते हैं—

‘आदि सच जुगादि सच है भी सच, नानक होसी भी सच।’

सुषिकी उत्थसिसे प्रथम वह परमात्मा सद था।

‘सदेव सोम्येदमप्त आसादेवादितीयं ब्रह्म’

(छान्दोग्य० ६। २। १)

सरथयुग आदिके पूर्व इच्छा-कालमें वह परमात्मा
सत् हुआ। ‘तैक्षत बहु स्त्राम् ग्रनायेऽ’ वह परमात्मा
वर्तमान-कालमें भी सत् है और गुरु नानकजी कहते हैं
वह भविष्यमें भी सद् ही रहेगा। इसी मूँ-श्वेषकी
ध्वजामें चिह्नते हैं—

‘चरण सत् सत् परसनहार, पूजा सत् सत् सेवदार।
दरशन सत् सत् पेहनहार, नाम सत् सत् ध्यावनहार॥
आप सत् सत् सब वारी, आपे उगु अंषु उगुकारी।
शब्द सत् सत् प्रबकता, सुरत् सत् सत् जस सुनता॥
बृहनहारको सत् सब होय, नानक सत् सत् प्रमु सेय।

इसप्रकार जाननेवालेको सर्वत्र सद् परमात्मा ही
प्रतीत होता है, क्योंकि भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन
तीनों कालोंमें वह सत् है। और भी कहा है—

आद पूर्ण मध्य पूर्ण अन्त पूर्ण परमेश्वर है।
सिमरन्त सन्त सर्वत रमण, नानक अघ नासन जगदीश्वर है॥

* * * *

एक कृष्ण सर्व देवा, देव देवात आत्मा, आत्मा बासुदेवस्य।
जे को जाणे भ्यो। नानक ताका दास है सोइ निरजन देव॥

* * * *

बासुदेव सर्वत्रमें ऊन न कतहु ठाय।

अन्दर बाहिर सदा संग, नानक कहि दुराय॥

नानकजी कहते हैं कि जो सबमें विवास करता है अथवा
चिह्नमें सब विवास करते हैं वह बासुदेव सर्वत्र है। किसी

जगह भी उसकी कमी नहीं है। क्योंकि वह अन्दर
बाहर सदा संग रहनेवाला है। हे नासिको ! ऐसे
परमात्माको तुम क्यों छिपाते हो ? वह परमात्मा तुम्हारे
छिपानेपर चिप नहीं सकता। जैसे उल्ल सूर्यका
अभाव नहीं हो सकता। सूर्य तो अपना अभाव करनेवाले
उल्लको भी अपना प्रकाश ही देता है, इसी प्रकार सर्व-
प्रकाशक ईश्वरका नासिक लोग अभाव करते हैं, यह उनकी
भूल है, क्योंकि नासिकोंकी सिद्धि भी ईश्वरमें ही होती
है। इसलिये ईश्वरको सदा भानना चाहिये।

जल थल मही अल पृथी, स्वामी सिरजनहार।

अनेक माँति होय पसर्या नानक पकुंकार॥

जल, मध्यभूमि, पृथी, आकाशादि पञ्चभूतोंमें वह
परमात्मा पूर्ण हो रहा है, वह परमात्मा सबका नियन्ता
है और वह नाना स्फूर्त्योंमें संसाररूप होकर विस्तृत हो
रहा है, उसकी अँकार नाम है इसलिये ईश्वरमें भिन्न कोइं
वस्तु नहीं है।

बासुदेवः सर्वमिति । *** (गीता ७। १९)

सर्वं स्तिवदं ब्रह्म । *** (उपनिषद्)

४-जिस ईश्वरकी ध्वजासे हम आपलोगोंमेंसे निकल-
कर हम वेषमें आये और आपलोग हमलोगोंको नमस्कार
करते हैं तथा आपके परिचित लोग आपको भक्त जानकर
नमस्कार करते हैं, यह सब ईश्वरकी ही दया है और
ईश्वरमें विश्वास बढ़ानेवाली ही बातें हैं।

घटनाएँ

(क) एक सन्त कहै वर्षे पहड़े मुझे मिले ये, उन्होंने
अपने जीवनकी एक घटना मुझे सुनायी थी, जिसमें ईश्वरकी
सक्ता और उसकी दयामें विश्वास विशेष बढ़ता है।

वह सन्त ब्रह्मीनारायणके दर्शनार्थ गया था, वहाँसे
जौटे समय रास्तेमें उसके दस बहुत क्लाने क्लो, जिससे
वह बहुत निर्बंक हो गया; तब वह एक गुकामें बेहोश होकर
पड़ गया। इसके बाद एक पुरुष उसके पास आकर
बोला कि ‘महारामाजी ! यह दवा लाइये और इसका
पथ्य हम भेज देंगे।’ तदुपराम्भ क्षे जाए बाद वही और
भात लेकर वही पुरुष आया और उस महारामाको देकर
चाका गया। इसी प्रकार तीन दिनोंतक वह पुरुष दीक्षा

समयपर आकर दवाई तथा पद्ध्य उस महारामाको बराबर देता रहा। अब महारामाके शरीरमें कुछ शक्तिका सज्जार हुआ तब के एक दिन गुफासे बाहर निकले तो उनको अपने चारों ओर बर्फ-ही-बर्फ दिखायी दी। कहीं कोई मनुष्य या पश्च-पश्ची आवि वस्तु नजर न आयी। तब तो उनको बढ़ा आश्वर्य हुआ कि 'वह आदमी कौन है और मेरे लिये जानेको कहाँसे लाता है?' हसके बाद जब वह पुरुष जानेके लिये सामान लेकर आया, तब उसमें महारामाने पूछा कि 'आप कौन हैं? कहाँसे आते हैं? कहाँ रहते हैं?' हसके उत्तरमें उस पुरुषने कहा कि 'आप क्या लीजिये, इन प्रभाँसे क्या प्रयोजन है?' तब महारामाने बड़े आग्रहसे कहा कि 'आप अपना हाल बता देंगे तभी स्थायेंगे, नहीं तो नहीं स्थायेंगे।' हसके बाद वह पुरुष उस महारामाको उसी जगह घुरुस्ज विणु भगवान्के रूपमें दीखने लगा और बोला कि 'मैं भगवान् हूँ' तब वह महारामा बोला कि 'तो आप यहाँ साक्षात्-रूपसे सेवा करते हैं पर अन्य जगह आप साक्षात्-रूपसे सेवा करों नहीं करते?' तब भगवान् बोले कि 'जहाँ कोई नहीं होता, वहाँ हम साक्षात्-रूपसे सेवा करते हैं और जिस जगह अन्य कोई होते हैं वहाँ हम अपने भक्तोंके हारा सेवा करते हैं।' हससे यही सिद्ध हुआ कि ईश्वर ही सबका योगक्षेम करता है—

अनन्याश्वन्तमन्तो मां ये जना पर्युपात्ते ।
तथा नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वद्यम्भम् ॥
(गीता ९।२२)

(अ) रियासत पटियालामें अमरगढ़ नामक एक कस्बा है। उसमें एक ब्राह्मण रहता था, जिसकी टाँगें जुधी हुई थीं, इसलिये वह लकड़ोंके खदाउँके महारोंसे बैठा-बैठा ही चढ़ा करता था। उसने अपने मनमें विचार किया कि मैं श्रीजग्नाथ भगवान्के दर्शन करूँ तो मेरा जीवन सार्थक हो जाय। पश्चात् उसने अपने घरवालोंमें कहा कि 'मुझे श्रीजग्नाथजी जानेके लिये खर्च दे दो, क्योंकि मुझे वहाँ दर्शन करनेके लिये जाना है।' घरवालोंने कहा कि 'तुम दिनभरमें एक मीलसे अधिक तो जा नहीं सकते फिर हत्ती दूर श्रीजग्नाथधाम कैसे जाओगे?' उस समय रेलगाड़ी तो यी नहीं, हसलिये उसके सम्बन्धियोंने भी जानेकी राय नहीं दी। परन्तु उसने किसीकी बात नहीं सुनी। हसपर सब गाँववालोंने भी उसे जानेसे

बहुत रोका परन्तु वह अपने हड़ संकल्पसे जरा भी न दिगा और जानेके लिये तैयार हो गया। तब उसके घर-वालोंने उसको राम्तेके लिये कुछ खर्च दे दिया और वह अपना थोड़ा-सा सामान पीठपर बाँधकर प्रमुका स्मरण करके घरसे चल पड़ा। चलते-चलते थोड़ी दूर जानेके बाद वह यक गया और जंगलमें एक वृक्षके नीचे जाकर छायामें विश्राम करने लगा। उननेहीमें उसी जगह एक पुरुषने आकर उसमें पूछा कि 'तुम कौन हो और कहाँ जा रहे हो?' हसके उत्तरमें उसने कहा कि 'मैं ब्राह्मण हूँ और श्रीजग्नाथ भगवान्के दर्शनके लिये जा रहा हूँ।' तब उस पुरुषने कहा कि 'ब्राह्मण-देवता! तुम वहाँतककैसे जा सकोगे, तुममें चलनेकी शक्ति नहीं ही नहीं, अच्छा हो, तुम यहाँमें लौट जाओगे।' हसप्रकार उस पुरुषने बहुत मने किया तब ब्राह्मण बोला कि 'मैंने नो अपना शरीर श्रीजग्नाथजीके अर्पण कर दिया है, हसलिये बिना उनके दर्शन किये मैं लौट नहीं सकता।' हसपर उस पुरुषने कहा कि 'यदि श्रीजग्नाथजीके दर्शन तुम्हें उसी जगह हो जायें तब तो लौट जाओगे?' तब ब्राह्मण बोला कि 'हमको तो श्रीजग्नाथजीके दर्शन करने हैं, कहीं-पर हो जायें।' तदनन्तर उम ब्राह्मणकी वही पुरुष भगवान् श्रीजग्नाथजीके स्वप्नमें दीखने लगा, ब्राह्मणने अद्वारपैक श्रावण करके उसमें कहा कि 'हे नाथ! आपके दर्शन सो मुझे हो गये हैं, परन्तु मेरे गाँववाले हम सातकों नहीं मानते, हसलिये आप कोई चमकार विलालाहये जिससे उनके मनमें सन्देह न रहे' तब भगवान्नने उसकी पैँडीपर अपना चरण रखकर एक झटका ढेकर उसे सीधा, सुन्दर पुरुष बना दिया और स्वयं अन्तर्भूत हो गये। तदनन्तर वह ब्राह्मण भगवान्में प्राप्तिहोकर उनकी अहैतुकी असीम दयाका तथा उनके मायूरस्पका चिन्तन करता हुआ अपने पैरोंमें चलकर घर पहुँचा और यह घटना सबमें कही, तब सब लोगोंने इस बातको मान लिया। हस घटनाको हुए करीब सत्तर-अस्ती वर्ष ही हुए होंगे। उस ब्राह्मणकी सन्तान उसी आममें अभीतक मौजूद है। यह घटना भी ईश्वरकी सक्ता और उनकी विशेष श्रद्धाकी परिचायक है।

(ग) योहे ही वर्ष पहलेकी बहुत प्रसिद्ध वृन्दावनकी घटना है, श्रीनारायण स्वामीजी एक बड़े प्रसिद्ध भक्त हुए थे, जिनके बनाये हुए बहुत-से पद तथा दोहे आजकल बहुत

प्रचलित हैं। उन्हीं महारामकी एक असृतसरमें रहने वाली कुबरी शिद्या थी, वह प्रायः प्रतिवर्ष भावणके छालोंके समय बृन्दावन जाया करती और वहाँपर नारायण स्वामीकी मंदीपर रास कराया करती थी। एक समय भगवान् श्रीकृष्णकन्द्रका स्वरूप बननेवालेसे रास-के समयमें उस कुबरी की मार्हने पर्यावरण की कि 'भगवन् ! मधुरामें रहनेवाली कुबरीकी कृष्ण तो भगवान्नने सकाल दूर कर दी थी, आप भी भगवान् हैं, इसलिये मेरी कमर भी सीधी कर दीजिये।' इतनेमें जो भगवान्के रूप बने थे, उन्होंने आकर उस कुबरी मार्हके कमरमें एक लाल मारी, जिससे सकाल उसकी कमर सीधी हो गयी। यह थोड़े ही बर्योंकी घटना है, जिसे बहुत लोग जानते हैं। हमें भी एक महारामने यह बात उस कुबरी मार्हकी जबानी सुनी हुई सुनायी थी। सिद्धान्तसे भी यह कोई असम्भव या दुर्घट बात नहीं है। यह घटना भी ईश्वरकी सत्ता एवं उसकी विशेष दयाको प्रकट करती है—तात्पर्य यह कि जिसका ईश्वरकी सत्ता और उसकी दयापर पूर्ण विश्वास है उसको उससे लाभ भी पूर्ण होता है। अनेक भर्तोंकी जिन घटनाओंका वर्णन सुना जाता है वे सब ध्रुव सत्य हैं। इसलिये ईश्वरमें और उसकी दयामें पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। इसमें किञ्चित्-मात्र भी संशय नहीं करना चाहिये, क्योंकि भगवान्नने गीतमें कहा है 'संशयारमा विनश्यति' (४।४०) संशयवाला पुरुष विनाशको प्राप्त होता है।

(अ) सं० १९६०में हरिद्वारका कुम्भ था। यह हमारे आँखें-देखी बात है। रात्रिमें एक बेरोके कृष्णके नीचे हमलोग नेत्र मूँद हुए ज्यानमें बैठे थे। उसी समय एक मिह ईमलोगोंके पास आ गया और गरजने लगा। हमने कभी मिहकी गर्जना सुनी हुई नहीं थी, इसलिये हमें दर नहीं लगा और हमने अपने बद्धको हिलाकर थोका शब्द किया, जिससे वह सिह पीछे हट गया। इतनेमें वहाँ इश्वा होने लगा, सब किसी महारामने आकर हमसे कहा कि 'आशी वहाँ सिह आया था।' हमी प्रकार कई दफे सर्व हमारे शरीरपर चढ़ गये, और भी हमारे पास आये। उस समय हमारी सहायता करनेवाला कोई स्वर्कि हमारे पास नहीं था और जब हमने ईश्वरका ज्यान किया तब उसने हमारी रक्षा की। इसलिये ईश्वर सत्य है ! सत्य है ! सत्य है ! ईश्वरपर अवश्य विश्वास करना चाहिये।

जब देवताओंको अपनी विजय देखकर अभिमान हुआ तब उनका मान भङ्ग करनेके लिये उमादेवीके रूपमें वहाँपर ईश्वर प्रकट हुए, यह कथा 'केन उपनिषत्' में विश्वासपूर्वक वर्णन की गयी है। प्रद्वादके लिये वे खम्मे-मेंसे प्रकट हो गये, बर्योंके वे सब जगह प्यास हैं। ग्रीष्मी, गजेन्द्र, ध्रुव आदिकी कथाओंको पढ़ने, सुनने, भवन करनेसे उनकी सत्ता तथा दयामें विश्वास अधिक होता है। जिस समय, जिस जगह इव विश्वासपूर्वक उम्हे पुकारो उसी समय वहाँपर वह प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं।

एक ब्राह्मण बड़ा गरीब था, उसके पास कुछ भी नहीं था, किन्तु उसके मनमें यह हृच्छा हुई कि मैं किसी प्रकारसे राजा के दर्शन करूँ। हरी चिन्तामें वह दिन-रात दुखी रहा करता था। वह यह बात जानता था कि मुझ-जैसे कँगालेको राजा के पास कौन जाने देगा ? एक दिन वह एक महारामाके पास जाकर उनसे शोला कि 'महाराज ! मुझे राजा के दर्शन कैसे हों, मुझे हसी बातको चिन्ता हर समय कीरी हहती है।' तब उस महारामने कहा कि 'भाई ! राजा का मकान बन रहा है, उसमें जाकर कुछ भी मज़ूरी न लेकर राजा के दर्शनके लिये मन लगाकर सूख डासाइ-पूर्वक काम करते रहो, ऐसा करने रहनेसे किसी दिन राजा के दर्शन भी हो जायेगे। यह बात सुनकर वह पुरुष राजा के मकानमें प्रेमपूर्वक काम करने लगा, सन्ध्या-समय जब अन्य सब मज़ूरोंको मज़दूरी दी गयी, तब वह ब्राह्मण-को भी दुलाकर मज़ूरी देने लगे, तब वह शोला कि 'मैं तो कुछ भी नहीं हूँ, क्योंकि मैं तो केवल महाराजाके लिये ही काम करता हूँ।' जब इसप्रकारमें काम करते हुए किसपराकरे यह बात राजा के पास पहुँची कि 'एक मज़दूर कुछ भी मज़ूरी न लेकर केवल आपके लिये ही काम करता है।' इस बातको सुनकर राजा शोला कि उस सुनसे क्या चाहते हो ?' इसपर वह ब्राह्मण शोला कि 'हमको तो आपके दर्शनकी हृच्छा थी, सो हो गये, अब कुछ भी हृच्छा नहीं है।' राजा ने उसको बहुत-से ब्रह्मादि पदार्थ देने चाहे किन्तु उसने कुछ भी नहीं लिया, तब राजा ने उसको अपने बराबरका अधिकार देकर अपने सद्धा बना लिया।

शाहान्त हसप्रकार है कि जो ले ग चल, मान, छी,

पुत्रादि सांसारिक पदार्थोंकी कामना करके ईश्वरकी आराधना करते हैं वे तो राजाके मजदूरोंकी भाँति नियत किये हुए पैसे पानेके ही अधिकारी हैं । पर जो विष्णुम भक्त केवल ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये ही कर्म या दपासानादि करते हैं, परमेश्वर हस लोकमें भ्रुव, प्रह्लादकी भाँति उनके इहाँोंकी निष्पत्ति करके अन्तमें उन्हें अपने धाम या मोह-पदकी प्राप्ति करा देते हैं ।

इसलिये उन ईश्वरकी शरण होकर निष्काम भावसे उनकी भक्ति करनी चाहिये । कलियुगमें यही सबसे सरल और सर्वश्रेष्ठ उपाय है ।

जै प्राणा 'हौ' 'मै' तजी, कता राम पिलान ।

कह नानक बह मुक नर, एमन साची जन ॥

जिस व्यक्तिने अपने सादे तीन इथके शरीरके अहंकारको श्याम दिया है और सबके कर्ता ईश्वरको सत्कर्मे जान लिया है, गुरु नानकजी कहते हैं 'अरे मन! वह मनुष्य मुक्त्वरूप ही है यह बात सत्य समझ ।'

एक राजा था, उसने अपने देशमें दिंडोरा पिटवा दिया कि 'जो व्यक्ति दो घटकोंके अन्दर हमारे पास आ जायगा उसको हम अपना राज्य दे देंगे ।' ऐसा कहलाकर उस राजाने अपने बैठेकी जगहके बीचके रास्तेमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके उत्तम-से-उत्तम भोग्य पदार्थ अपने पास आनेवालोंको मुफ्तमें भोगनेके लिये रखवा दिये, जैसे अच्छे-अच्छे गायन गानेवाली सुन्दर अप्सराओंके सदृश युवती छियाँ सत्य फोनोग्राफ, हारमोनियम, टम्बूर, मितार, दीणा, मृदंग आदि अनेक वाय बजानेवाले प्रवीण लोग नाना प्रकारके गायनके साथ वाय बजाकर भनको मोहित करने लगे । मखमली गहाँकी शायदा एवं भनको सुभनेवाली इन्द्रकी अप्सराओंको भी अपने रूप-लावण्य और मन्द सुन्दरानसे मात करनेवाली युवती छियाँ अपनी ओर आकर्षित कर रही थीं । अनेक प्रकारके नाटक, सिनेमा तथा नेत्रोंको मोहनेवाले सुन्दर-सुन्दर दृश्य पदार्थ रखवा दिये कि वे देखनेवालोंको दूर जाने ही नहीं देते । खानेके लिये भेवा, मिटाई, फल आदि इतनी सामग्री एकत्रित कर दी गयी कि उनकी संख्या ही नहीं गिनी जाती तथा उनके रसास्वादन किये बिना ही मुँहमें पानी भर आता है । इसी प्रकार मुगन्धिके लिये अतर, फुलें, पूसें, तुष्ण, बाग-बागीचे

ऐसे रखे गये कि वहाँसे इटनेको चित्त ही नहीं चाहता । यह तो इन्द्रियोंके कुछ विषय हुए । अब भनको फँसानेके लिये भी नाना प्रकारकी सामग्री एकत्रित कर दी गयी । इन सब भनोभोइक सामग्रियोंके उपभोगका आनन्द बिना ही कुछ दिये भन चाहे जितना करनेकी सुली आज्ञा राजने सबके लिये दे दी । साथ ही यह भी कह दिया गया कि दो घण्टे पूरे होनेपर सबको जबरदस्ती बाहर निकाल दिया जायगा ।

हजारों-लाखोंकी संख्यामें लोग राजामें मिलनेके लिये वहाँ एकत्रित हो गये । पर सबने अपनी-अपनी सचिके अनुसार अपना भन उन भोग्य बस्तुओंके उपभोगमें लगा दिया, अधिकांश तो उनमें इतने निमग्न हो गये कि राजाके पास जाना ही भूल गये । कुछ बुद्धिमान थे, उन्होंने विचार किया कि अभी तो समय बहुत है, इन पदार्थोंका उपभोग कर लें, ठीक समयपर राजाके पास पहुँचकर राज्य ले लेंगे । ऐसा-विचारकर वे भी उन भोग्य सामग्रियोंमें ही लिस हो गये । उनमेंमें किसी एक अति बुद्धिमान व्यक्तिने ऐसा विचार किया कि यह सब सामग्री तो राजाकी है और राजाके पास जानेमें जब हम स्वयं राज्यके मालिक ही हो जायेंगे फिर यह सब सामग्री शाप ही हमारी हो जायगी, तब भनचाहा इनका उपभोग कर लेंगे । ऐसा विचार करके वह व्यक्ति किसी भी और जरा भी न ताक सीधा तेवरीसे चलकर राजाके पास पहुँच गया । राजामेंट होते ही राजाने अपनी पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार उसको राज्य देकर स्वयं बनकी राह ली ।

दाण्डान्त इसप्रकार समझना चाहिये कि ईश्वररूपी राजाने मनुष्योंके लिये सम्पूर्ण भोग्य पदार्थ रखकर उनको आज्ञा कर दी कि जो जीव मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके इन सब पदार्थोंमें मोह इटाकर केवल मेरे परायण हो जायगा उसे मैं अपने परमधामका मालिक बना दूँगा या उसे परमपद यानी मोक्षपदकी प्राप्ति करा दूँगा । परम दयालु ईश्वरकी ऐसी आज्ञा होनेपर भी मायामरीचिकामें मोहित रहनेवाले अधिकांश जीव मायिक पदार्थोंके उपभोगमें ही अपना जीवन नष्ट कर देते हैं, कुछ समझदार लोग ऐसा विचार करते हैं कि अन्त समयमें ईश्वरमें प्रेम करके संसारी पदार्थोंसे मोह इटा लेंगे किन्तु जैसे दो घटकों

अधिके समाप्त होते ही उन लोगोंको धके देकर निकाल दिया गया, हसी प्रकार भासीकी अवधि दूरी होते ही इन जीवोंको कालदेव अवरकली घाँसे ले जाकर उनके अपने-अपने कमीमुसार चौरासी लक्ष योनियोंके छहरमें अमण्ड करतांगे। नचिकेताके सदृश कोई विरो ही वैराग्यवाद

पुरुष ब्रह्मलोकर्पर्यन्तके सरपूर्ण भोग-पदार्थोंको नाशवान् समझकर उनमें दोषपटि करके ईश्वरके भजन-भाजनमें परायण हो जायगा तो उसको हसी अन्ममें ईश्वरका साक्षात्कार होकर परमपदकी प्राप्ति हो जायगी।

इति: ॐ तत्सत्

(२३) स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी 'कैलासाश्रम'

एको देवः सर्वभूतेषु गृहः
सर्वव्यापीं सर्वभूतानन्तरात्मा ।
कर्त्तार्यापुः सर्वभूतापिवासः
मातृं चेतनं केवलं निर्मुणम् ॥

अर्थात् 'एक ही देवता सब भूतोंके भीतर है, वह सर्वव्यापी है, वह भूतोंका अनन्तरात्मा है, क्योंकि अभ्यक्ष है, वह भूतोंका अधिवास है, साही है, चेतन है, अद्वैत है और निर्मुण है।'

मूर्खसे लेकर बड़े बड़े विद्वानतक, बड़े-बड़े, श्री-पुण्य मध्ये दिन-रात हस मायामरु भैनिक प्रत्यक्षीकी विचित्रता-का अनुभव करते हैं। सबको प्रत्यक्ष दीम्बनेवाले हस अपूर्व न्यावहारिक मंसारको कोई भी अच्छीकार नहीं कर सकता। नेहारमवादी नामिकसे लेकर परम आनन्दिक अक्षयवादी वेदान्तीनक सभीने अपनी-अपनी प्रक्रियाके अनुमार हस कार्यस्थी जगत्-ली उपस्थि, स्थिति और प्रलय-का निरूपण किया है, तथा कार्य-कारण-पूर्वक ही बुझा करता है, हस लौकिक न्यायके अनुसार उन्हींने जगतरूप कार्यके कारणका निरूपण करनेकी भी चेष्टा की है।

'भूतानीति च तद्विदः ।'
'यक्षा इति च तद्विदः ।'
'पश्चविशेषक इसंके पश्चविशेष इति चापरे ।'
विभूतिं प्रसवं तन्यं मन्यन्ते सुषिद्धिन्तकाः ।
स्वप्रमायाम्बुद्धेष्ठि मृद्गर्वैरिकरितपता ॥
इष्टामात्र प्रयोः मृद्गर्वति सृष्टौ विनिश्चिता ।
कालाप्रसृति भूतानां मन्यन्ते कालाचिन्तकाः ॥
मोगायं मृद्गर्वित्यं क्रीडायमिति चापरे ।
देवस्याम्य स्वभावेऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥

अर्थात् 'भूतवादी जगतका मूलकारण पश्चभूतोंको ही बताते हैं। याज्ञिक लोग यज्ञोंका कारण बताते हैं। कोई

पश्चीस सत्त्वोंको, कोई छब्बीस तत्त्वोंको कारण मानते हैं। कोई कहते हैं कि यह जगत् द्वप्रके समान अध्या माया-स्वरूप है। दूसरे कहते हैं भगवानकी इष्टामात्रसे जगतकी सृष्टि ही जाती है। कालवाली कहते हैं कि कालसे पश्चभूतोंकी सृष्टि होती है। दूसरे कहते हैं कि सृष्टि भोगके लिये है और तीसरे कहते हैं कि यह जगत् भगवानकी लीला है। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर अपाप्तकाम हैं, उनको ब्रह्मा नहीं होती, सृष्टि करना उनका स्वभावमात्र है।'

इसप्रकार विभिन्न मनवादी अपने-अपने मतानुसार सृष्टिके कारणकी कल्पना करते हैं। यह सृष्टि चाहे जिस-प्रकार बनी हो, बुद्धिमानोंके लिये विचारणीय यह है कि हस अद्भुत जगतरूपी शिल्पका शिल्पी कौन है? जिसप्रकार किसी प्रदर्शनीमें जानेपर घाँसेके विचित्र शिल्प तथा कलाकौशलादिको देखकर उनके रथयित्राके अनिवार्यी गूढ़तिं दशरंकके चित्रमें स्वयमेव उपज्ञ होती है, उसी प्रकार हस अनिवार्यी जगत् शिल्पके कर्ताके रूपमें ईश्वरकी अनुभूति सबके चित्रमें स्पष्ट अथवा अस्पष्टरूपसे होती ही है। उपनिषदोंके अनुयायी ईश्वरको शुद्ध-बुद्ध-सुकृत-स्वरूप मानते हैं। करिकोंके अनुयायी आदि विद्वान् सिद्धको हैश्वर कहा करते हैं। पर उन्हिं सुनिके अनुयायी हैश, कर्म-विपाकादि सम्बन्धसे रहित पुरुषविशेषको हैश्वर मानते हैं। याज्ञिक लोग यज्ञ-पुरावके हैश्वर कहते हैं। सार्किंक लोग निष्पत्तान आदि अष्ट गुणोंसे विशिष्ट चेतन विभु कर्ताको ही हैश्वर मानते हैं। मीमांसक लोग भी उपास्यरूपसे हैश्वरको मानते हैं। चार्चाक लोग भी हैश्वरको अवहारसिद्ध मानते हैं। अधिक क्या—

जलसापाणमूरुक्षाहवास्याकुद्धकदयः ।

ईश्वरः सर्वं पैवेते पूजिताः फलदायिनः ॥

अर्थात् 'जल, पर्वत, विही, काढ, कोहा, कुद्धक आदि

यह सभी ईश्वर ही हैं, इनकी पूजा करनेसे ये अवश्य ही कष प्रदान करते हैं।'

इसप्रकार जब सबने किसी-न-किसी रूपमें ईश्वरको माना है तो किरणेसे सर्वानुभव-प्रसिद्ध ईश्वरमें सन्देह ही कैसे हो सकता है? और जब सन्देह ही नहीं तो उसके निरूपणकी क्या आवश्यकता है? तथापि विभिन्न बादोंके पारस्परिक विरोधके कारण लोगोंके मनमें जो यह संशय होता है कि 'ईश्वरको क्यों माना जाय, उसके न माननेमें क्या हानि है तथा ईश्वर ही इसका प्रमाण क्या है?' इनके निवारणके लिये याकिन्तु शास्त्रीय युक्तियोंकी सहायतामें यहाँ ईश्वर-सम्बन्धीय विचार किया जाता है। यथापि ईश्वर श्रुतिमूल-अनुभव-प्रसिद्ध होनेके कारण मिद्द ही है तथापि जबतक श्रुति-सृष्टि-जन्य प्रमाण तर्कद्वारा उपलब्ध नहीं किया जाता तबतक यथार्थतः वस्तु-विषयक प्रमाणानकी उत्पत्ति नहीं होती। जिसप्रकार घट-पट आदि कार्यके कारण कुम्भकार और तनुवाय (जुलाहा) आदि हैं, यह बात सबको अनुभवसिद्ध है, किरण यदि कोई अश पुरुष मन्देह करे कि घटारमक कार्य है तो रहे, पर उसका कारण कुम्भकारको क्यों मानें? इस संशयके निवारणके लिये यही युक्ति दी जा सकती है कि बिना किसी चेतन कर्त्ताके कथ्य-प्रीता आदि आकारविशिष्ट घटारमक कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि यदि घटारदि कर्त्तजन्य नहीं होगा तो वह कार्यरूपमें नहीं आ सकता, क्योंकि जो कार्य होता है वह कार्याभिन्न कर्त्ताके द्वारा ही होता है। इस सार्वत्रिक व्याप्तिके अनुसार अन्यथा कार्य-कारण-भाव सम्भव नहीं है।

त्रेव, गन्धर्व, यज्ञ, रज, पितृ, पिशाचादि विचित्र; न्यर्ग, मर्य, पाताल, चन्द्र, सूर्य, मः, नक्षत्रादि विकल्पणः विविध प्राणियोंके उपभोगके योग्य स्थान और साधन आदि विशेषणमें युक्त जगत्, जो परम अभिन्न, अत्यन्त कर्मकुशल शिल्पियोंसे भी रुचा जाना असम्भव है, तथा जो सदा देश-काल-निभिन्नके अनुसार एक महान् नियमका अनुवर्तन करते हुए प्रवृत्त और निवृत्त हो रहा है, अवश्य ही भोक्ता और कर्म तथा फलका विभाग जाननेवाले किसी पुरुषके प्रयत्नसे उत्पत्त हुआ है। ज्ञोक्तमें भी देखा जाता है कि गृह, ग्रासाद तथा रथ आदिकी रचना इसका विभाग जाननेवाले किसी चेतन पुरुषके प्रयत्नपर निर्भर करती है। इसी प्रकार यह भी मानना ही पड़ेगा कि इस

विचित्र जगत्की रचना भी किसी चेतन सर्वज्ञ पुरुषके द्वारा हुई है। इसी बातको प्रमाणकुशल नैयायिकोंने 'शिष्य-कुरादिकं कर्त्तजन्यं कार्यत्वाव घटवत्' इस अनुमानसे सिद्ध किया है। इसप्रकार जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी स्थवस्था अन्यथासिद्ध न होनेके कारण जगत्-कर्ता ईश्वरको स्वीकार करना ही पड़ता है।

यहाँ यदि कोई नाम्निक शङ्का करे कि 'जब पृथ्वी, अल, अग्नि और वायु इन चारों भूतोंके संघातरूप कारणसे ही जगत् उत्पत्त हो सकता है तो इनमें पृथक् ईश्वरको क्यों माना जाय?' इसका उत्तर यह है कि 'भूतवर्ग स्वयं अचेतन हैं, अचेतन पदार्थमें स्वयं प्रवृत्ति नहीं बन सकती और प्रवृत्तिके न होनेमें इनका पारस्परिक सम्बिलन भी सम्भव नहीं; यदि सम्बिलन (संघात) नहीं तो मृष्टिकी उत्पत्ति ही कैसे हो सकती है? यदि कोई कहे कि 'जड़-वायु तो स्वतः प्रवृत्त होकर अन्तरिक्षमें तृणादिको धारण करता है, इसी प्रकार ये सब भूत भी स्वतः प्रवृत्त होकर जगत्का हेतु बन जा सकते हैं।' परन्तु यह दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि यदि जड़-वायु स्वतः प्रवृत्त होकर कार्य करता तो जड़रूप साधारण धर्म-विशिष्ट शक्त आदिमें भी स्वतः प्रवृत्त होनी चाहिये थी परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। यह सभी जानते हैं कि शक्तमें गति चेतनहारा ही होनी है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि जड़-भूतोंका पारस्परिक मिलन भी किसी चेतन पुरुषके ही अधीन है। श्रुति भी कहती है—

'योऽप्नु तिहन् योऽप्ने अन्नरो यमयति ।'

(बृद्धारण्यक)

'मीवाऽस्माद् वातः पतते ।'

'तस्मिन्पादे मातरिश्चादवति ।'

'भयादस्याग्रिस्तपति भयात्पति सूर्यः ।' हृष्पादि ।

भावार्थ यह है कि सर्वनियम्ना ईश्वर सबके अस्तर्गत अस्तर्यामीरूपमें स्थित होकर सबको प्रेरणा कर रहे हैं।

यदि कोई कहे कि यह जो विचित्र उपभोगों तथा प्राणियोंके विविध कर्मरूप साधनकी विलक्षणतासे पृथ जगत् है वह कर्मके द्वारा ही बना है, क्योंकि ईश्वरमें विषमता और निर्झणता आदि दोषोंको दूर करनेके लिये कर्मनिष्ठ अविष्ट्य प्रभावको सर्व बादियोंने जगत्की

विविश्रताका कारण अङ्गीकार किया है, अतएव सर्ववादि-सम्मत कर्मको अवृद्ध जगत्का कारण माननेसे यदि काम चलता है तो एक और निय सर्वज्ञ ईश्वरको जगत्का कर्ता मानना धर्य है ।

परन्तु यहाँपर विचारणीय यह है कि कर्म जड है या चेतन ? कर्मको स्वरूपमें अवश्य ही जड कहना होगा और वह जड-कर्म स्वतन्त्र होकर किसी कार्यका कारण नहीं बन सकता । जिसप्रकार दण्ड, चक्र आदि सामग्रियोंके एकत्रित रहनेपर भी उनको प्रेरित करनेवाला कुम्भकार-रूपी कर्ता यदि न हो तो घटरूप कार्य नहीं बन सकता, उसी प्रकार कर्म आदि जड-कारणोंके वर्तमान रहनेपर भी विना कर्ता ईश्वरके हम विविश्रतासे पूर्ण जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अधिक क्या, एक रज-कण भी अन्तर्यामी ईश्वरके संकेत विना अपने स्थानसे हिल नहीं सकता । फिर हम विशाल प्रश्नाशब्दके उद्भव और प्रलयकी तो आत ही ब्याहै ?

व्योकि जड-कर्म कर्ताके अधीन होनेमें उसके प्रयत्नसे उत्पत्ति होता है, तथा उस प्रयत्नके शान्त होनेके साथ ही शान्त हो जाता है, अतः कर्ताके प्रयत्नके उपरम होनेपर उपरत होनेवाला कर्म कालान्तर अथवा देशान्तरमें चेतन कर्ताके सिवा कैसे फलको उत्पत्ति कर सकता है ? हसीलिये फलदाता चेतन पुरुषको मानना ही पड़ेगा और वही चेतन ईश्वर है ।

पुनः यदि कोई शक्ता करे कि, 'कर्म यदि स्वतः फल-दाता न होनेमें जगत्की उत्पत्तिका कारण नहीं बन सकता तो कर्मकर्ता जोवको ही फलदाता क्यों न मान लिया जाय ? फिर जगत्-उत्पत्तिके जिये कारणभूत एक वृथक् ईश्वरके माननेकी आवश्यकता ही नहीं होगी ।' यह शक्ता भी विल्कुल ही युक्तिहीन है, क्योंकि अत्यन्त और अद्य शक्तिमान् होनेके कारण जीव सब काल, सब देश, सब निमित्तों तथा तदनुरूप फलों एवं उन फलोंके यथोचित विभागमें अभिज्ञ नहीं हो सकता, फिर वह फलदाता तथा जगत्कीमात्रा कैसे हो सकता है ? और यदि जीव ही स्वतन्त्ररूपसे कर्मनियन्ता, फलदाता और सर्वदेशकालादि-का ज्ञाता होता तो उसे कर्म अग्रिष्ट फलको प्राप्ति होती ही नहीं । भला संसारमें ऐसा कौन सूखे है जो स्वेच्छासे स्वयं दुःख भोग करना आहता है, बलिं—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
जीवाग्र्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनपि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

तथा—

'एष हृद साधु कर्म कारयति' (श्रुति)

—इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीव (कर्म-फल-भेदगमे) कदापि स्वतन्त्र नहीं है । इसलिये वह जगत्कर्ता, फलदाता नहीं हो सकता । अतः कर्म और उसके फलोंका विभाग-कर्ता तथा सबका नियन्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् स्वतन्त्र ईश्वरको मानना ही होगा ।

यदि कोई कहे कि 'निर्निमित्तक कर्म ही फल प्रदान करनेमें प्रकृत होता है, यदि ऐसा मान ले तो अनिष्ट-फलाप्राप्तिरूप दोष भी नहीं आता है और ईश्वरको भी प्रेरकरूपमें निमित्त माननेकी आवश्यकता नहीं पड़ती है ।' यह लाघव प्रदर्शित करनेवाला सिद्धान्त केवल अविचारमें ही सुन्दर दीक्षा पड़ता है, क्योंकि हम समारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसे निर्निमित्तक (विना निमित्तके बनी हुई) कहा जाय । धोटी-मे-झांटी वस्तुका विकार भी विना निमित्तके नहीं हो सकता । अतएव लोकविरुद्ध तथा प्रमाणान्तरमें सिद्ध न होनेमें कर्म विना किसी निमित्तके विकृत होकर फलरूपमें परिणत हुआ किसीका भोग्य नहीं बन सकता ।

निरीश्वरवादी बौद्ध कहते हैं कि, 'जैसे अयस्कान्तमणि कदाचिन् चेतनके द्वारा प्रेरित होनेपर कालान्तरमें भी लोहेका आकर्षक होती है, वैसे ही भृणिक विज्ञानरूप आरम्भाका किया हुआ कर्म भी कालान्तरमें फलका प्रेरक बन सकता है । ईश्वर कोई वस्तु नहीं है ।' परन्तु यह मत अतिनिमूलक है, क्योंकि कर्म सदा कर्ताके साथ रहता है और अणिक विज्ञानमें कालान्तरमें कर्ताका अभाव हो जाता है जिसमें न तो कर्म ही रहता है और न उसका फल भोगनेवाला । यदि कोई कहे कि उस कर्मफलका भोक्ता दूसरे लक्ष्यमें उत्पत्ति हुआ दूसरा विज्ञानारम्भ हो जाता है, तब तो अत्यन्त ही अव्यवस्था-दोषकी प्राप्ति हो जायगी । कर्म करेगा कोई एक और फल भोगेगा कोई दूसरा । इसप्रकार 'अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसंग' द्व्यमान् दोष उत्पत्ति हो जायगा । कर्म अणिक होनेके कारण

विना कल प्रदान किये ही नह दो जायगा और यही 'हृतविग्राणाश' दोष है; तथा विना ही किया हुआ कर्म फल देनेमें प्रकृत होगा जो 'अहृताभ्यागम' दोष है। ऐसी अव्यवस्था हो जानेसे फिर संसारमें कौन पुरुष फलकी इष्टाद्यमें प्रकृत हो सकता है? अतः कालान्तरमें फल आदिके व्यवस्थापकके रूपमें ईश्वरको अवश्य ही मानना चाहिये।

जरन्मीमांसक कहते हैं कि, 'फल आदिके व्यवस्थापक जब कर्म मौजूद ही हैं तो प्रमाणादीन ईश्वरके माननेकी व्या आवश्यकता है?' वेद भी तो 'यजेत् स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्योंमें स्वर्ग-फलको उद्देश्य करके यागादिका विधान करते हैं, इसमें स्पष्ट है कि यज्ञादि कर्म ही स्वर्गादि फलके उत्पादक हैं। फिर वेदने भी तो कहीं ईश्वरका प्रतिपादन नहीं किया है। यदि कोई कहे कि क्षणिक यागादि कर्म 'कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गादि फलके उत्पादक कैसे हो सकते हैं, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि यागादि कर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति न हो तो वेदका वचन अवश्य हो जायगा और इसमें वेद अप्रामाणिक हो जायेंगे। किन्तु वेद भूपौर्हेय निरपेक्ष स्वतःप्रमाणस्तरूप हैं अतः यागादि कर्म नाशवान् होनेपर भी स्वर्गादिका कारण बन सकता है।' इसपर यदि कोई आश्रेप करे कि 'कारण तो वह होता है जो कार्यके अव्यवहित नियत पूर्ववर्ती है।' स्वर्गादि फलरूप कार्यके उत्पाद होनेके अव्यवहित पूर्ववर्त्यमें तो यागादिरूप साधन कभी विद्यमान नहीं रहते फिर वह यागादि कर्म स्वर्गादिके कारण कैसे हो सकते हैं? इसका मीमांसक उत्तर देते हैं कि 'क्षणिक ओविधिसंबन्धसे उत्पाद हुआ स्थायी संस्कार जिसप्रकार कालान्तरगत आओग्यका कारण होता है, उसी प्रकार यागादि कर्म नाशवान् होनेपर भी तजन्य अवान्तर स्थायी अष्टद्वारा स्वर्गादि फलको प्रदान करेगा। भाव यह है कि यागादि कर्मसे एक स्थायी अष्ट उत्पाद होता है जो यागादिके नह दो जानेपर भी नह नहीं होता और वही कालान्तरमें यागादि अनुष्ठान करनेवालोंको स्वर्गादि फल प्रदान करता है। अतः ईश्वर फलदाताके रूपमें सिद्ध नहीं होता है। ईश्वरके सम्बन्धमें जो वेदवाक्य मिलते हैं वे अर्थवादरूप होनेसे इसमें प्रमाण नहीं हो सकते, अतः उनसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती।'

मीमांसकोंकी यह कल्पना भी मुक्तिविस्तृद्ध है। इहके

अनुसार ही अष्टाद्यकी कल्पना हुआ करती है। इष्टविस्तृद्ध कल्पना कभी आदरणीय नहीं हो सकती। लोकमें देखा जाता है कि जो-जो कर्म कालान्तरमें फल देनेवाले होते हैं उनके वे फल अवश्य ही चेतनप्रयुक्त होते हैं। कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक तो इष्ट फल देनेवाला और दूसरा अष्ट फल देनेवाला। इनमें पहला इष्ट फल देनेवाला फिर दो प्रकारका होता है, एक तो तत्काल फल देनेवाला और दूसरा भविष्यतमें फल देनेवाला। गमन, भोजनादि कर्म प्रसिद्ध-तृसि आदि फल तत्काल ही प्रवान करते हैं; दूसरे कृषि, सेवा आदि कर्म नीहि, दृश्य आदि फल भविष्यतमें प्रदान करते हैं। तत्काल फल प्रदान करनेवाले कर्म फलधानके बावृ नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् वे फलापवर्गी होते हैं और कालान्तरमें फल देनेवाले कर्म फल देनेसे पहले ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् वे उत्पन्न-प्रध्वंसी होते हैं। यह उत्पन्न-प्रध्वंसी कर्म चेतन कर्ताके विना कालान्तरमें फलदायक नहीं हो सकता। लोकमें देखा जाता है कि राजा, सेव्यबुद्धिमे किये हुए सेवारूप कर्मके नष्ट होनेपर भी कालान्तरमें सेवानुरूप फल सेवकको प्रदान करता है। सेवा-कर्म स्वतः नष्ट होकर कालान्तरमें कर्तापि स्वतन्त्र फलदाना नहीं बन सकता और न सेवाजन्य अष्ट ही स्वतन्त्र फल देसकता है। इसी प्रकार कृषि आदि कर्मोंके द्वारा उत्पन्न धान्य आदि फलको कालान्तरमें पकनेपर कृषकके घरपर न तो कृषकके छोड़े हुए हल आदि यन्त्र, न कृषि आदि कर्म और न तजन्य संस्कार ही पहुँचाते हैं, बल्कि किसी चेतनप्रयुक्तके द्वारा ही उस धान्यरूप फलकी प्राप्ति कृषकको होती है। इस लौकिक इष्टान्तके अनुसार उत्पन्न-प्रध्वंसी यागादि कर्म भी चेतन ईश्वरके विना कालान्तरमें फलके पहुँचानेवाले नहीं हो सकते। अतः फलप्रदाताके रूपमें सर्वश नियम चेतन ईश्वरको माने विना काम नहीं चल सकता।

मीमांसक यह भी शंका कर सकते हैं कि 'लौकिक कर्ममें यह नियम लागू होते हैं, तो वैदिक कर्मोंको इनके अधीन लों किया जाय?' यह शंका यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि पद्धर्थ अपने स्वभावको कदापि नहीं त्याग सकता। जिसप्रकार किसी भी देश, कालमें अग्नि अपनी उष्णताको नहीं त्याग सकती, उसी प्रकार कर्म भी चाहे वह लौकिक हो या वैदिक, कर्मत्वधर्म सामाज्य होनेके कारण अपने धर्म (अर्थात् कर्ताओंकी अपेक्षा फल-प्रदान)

को कभी नहीं स्वाग सकते। अब रह गया कि 'याग अदृष्टके हारा कर्म-फलको प्रदान करेगा,' तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि अदृष्ट व्यापार है और व्यापार कारणके आश्रित होता है। जैसे वक्तव्य अस्तित्व व्यापार दरख़तके आश्रित और दरख़तन्य होता है। अब अदृष्ट व्यापारवान् कर्म यागके आश्रित और यागसे उत्पत्त होता है, वह याग आदि कर्मके नाशसे आश्रयहीन होकर कहाँ छहर सकता है? और व्यापारवान्के नाशके माध्य व्यापार-का नाश अवश्यमात्री होनेके कारण यागादि कर्मोंके नष्ट होनेपर अदृष्ट स्थायी नहीं हो सकता, फिर वह सर्वांका उत्पादक कैसे हो सकता है? अतएव अदृष्टके फलोत्पादक न होनेपर ईश्वरको कर्म-फल-दाता मानना ही पड़ेगा। अतएव सर्वलोकमात्री कर्म, कर्मफल और भोक्ताको जाननेवाला ल्लेशकमंविषाकाशयमें रहित सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध होता है जो असंग और निलेंप रहकर जीव-जगदका एकमात्र धारा, कर्ता और नियन्ता है। भगवान् स्वयं श्रीमुकुसे कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृषेऽग्निं तिष्ठति ।
आप्यन्सर्वभूतानि यन्त्राहृष्टानि मायथा ॥

यहाँ यदि कोई शंका करे कि, 'निलेंप सर्वान्तर्यामी ईश्वर ही सबका प्रेरक और नियमक है, तो निग्रहानुग्रहका कर्ता होनेसे वह राग-देखादिसे युक्त हो जायगा और लोक अथवा वेदमें इसके प्रभावा भी भिजने हैं। क्योंकि जोकर्मे कुछ मनुष्य तो धन-दौलतके अधिकारी बनकर भौति-भौतिके मनोरम एवार्थोंका भोग करते हैं और दूसरे निरन्तर दुःख भोगते हुए हाय-हाय करते दिन व्यसीत करते हैं। वेदमें लिखा है—'स एष मात्रु कर्म कारयति'। तथा स्वयं भगवान् कहते हैं कि—

‘तेवमह समुद्दत्तं मृत्युमंसरसामग्रत् ।
परित्रिणाय सावूनी विनाशय च दुष्कृताम् ।’

—इसप्रकार ज्ञात होता है कि भगवान् किसीको तो अपना भ्यारा मानकर सुख-भोग तथा मोक्ष-प्रदान कर अनुग्रह करते हैं और किसीको शत्रु मानकर धोर नरकमें डाल निग्रह करते हैं। इसप्रकार भगवान्में पक्षपातादि दोष आ जाते हैं; किर अपने समान ही पक्षपातादि दोषमें युक्त भगवान्को माननेमें क्या काम?

ठीक है, परन्तु निग्रहानुग्रहके कर्ता होनेसे ही ईश्वरमें

पक्षपात तथा रागादि दोष नहीं आ सकते। लोकमें तो इसके बहुतेरे इष्टान्त मिलते हैं—माता-पिता अपने सम्तानोंके प्रति निग्रहानुग्रहकर्ता होनेसे न तो पक्षपातादि कहे जा सकते हैं और न रागादि वाद् ही कहे जा सकते हैं; क्योंकि वे निग्रहानुग्रह जो कुछ करते हैं, सम्तानके सर्वथा कल्याणके लिये ही करते हैं। इसी प्रकार कृपालु परमपिता परमेश्वर भी निग्रहानुग्रहारा भूतोंका कल्याण ही करते हैं।

इसपर यदि कोई शङ्का करे कि 'अज्ञ माता-पितामै यह इष्टान्त घट सकता है, परन्तु सर्वान्तर्यामी ईश्वरमें यह कैसे घटेगा? अन्तर्यामी होनेके कारण समरस होनेसे ईश्वरको सब भूतोंकी एकाकार प्रवृत्तिका कारण होना चाहिये; फिर जब वह आसकाम ही है तो 'आसकामय का स्थाहा' इस श्रीत-स्नायके अनुसार ईश्वरमें सुख-दुःख-का दातृत्व नहीं बन सकता।' ये शंकाएँ भी निराधार हैं, क्योंकि ईश्वरमें उसप्रकारका प्रेरकत्व नहीं है। शास्त्रमें अनादि कर्मोंकी वासनामें संक्षिप्त अन्तःकरणमें उपहित वैतन्यके साक्षित्यको ही अन्तर्यामी ईश्वरका प्रेरकत्व कहा गया है। जिसप्रकार चुम्बक केवल साक्षित्यमें ही लोहेका प्रेरक होता है, इसी प्रकार प्रेरक होनेके कारण निलेंप ईश्वरमें दोष नहीं आ सकता। अनादि कर्मवासनाके अनुरूप विज्ञानामाका परिणाम ही ईश्वरकृत जीवकी प्रवृत्ति है। उन वासनाओंके अनुमार जीव जैसे-जैसे कर्म करता है, वैसे ही ईश्वर उसे कल देता है। जिसप्रकार राजा दुष्कृतों दण्ड देने तथा शिष्टको पालन करनेमें अन्तर्यामी नहीं कहलाता उसी प्रकार ईश्वर कर्मानुसार सुख-दुःखदाता होनेपर भी दोषका भागी नहीं हो सकता। इसमें श्रुति-स्मृति आदिकै अनेकों प्रमाण हैं।

‘एष हौव मात्रु कर्म कारयति, एष उ पवाऽमात्रु कर्म कारयति, ‘पुण्यं वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।’ स वा एष महान् अज्ञ आनामानादो वमुदानः—इत्यादि श्रुतिः।

‘ये यथा मो प्रवद्धते तांत्रैषैव भजाम्यहम् ।’

‘नदर्ते इत्यचित्पापं न चैव सुष्ठृतं दिमुः ।’

‘अहनेनावृतं ज्ञानं तेन मुष्ठान्ति जन्तवः ।’

—इत्यादि श्रुतिः

‘लोकवतु लीनैकैदत्यम्’ ‘वैष्म्यनैपृष्ठं न संपेक्षत्वात्या हि दर्शयति ।’ ‘कलमत उपपत्ते ।’ ‘श्रुतवाच् ।’ ‘पूर्वं तु वादरायणो देतुम्यपदेशम् ।’ —वैत्यादि व्रजस्त्र

पुनः यह शक्ता होती है कि 'अपने उपभोगके साधनों-के नियन्ता चेतन जीवके होते हुए भी जीवातिरिक्त किसी ईश्वरको नियन्ता माननेसे, उस ईश्वरके लिये दूसरोंको नियन्ता मानना होगा और उस दूसरके लिये दूसरोंको मानना होगा; इसप्रकार अनवस्था-दोषकी आपसि होगी, अतः अनवस्था-दोषके परिहारके क्षिये जीवातिरिक्त नियामक ईश्वरको मानना ठीक नहीं।' यह शक्ता भी सुक्षिण नहीं। क्योंकि सबका प्रथम भूत ईश्वर सबका आत्मा होनेके कारण जीवका भी आत्मा है। कलिपत्र औपाधिक भेद रहनेपर भी ईश्वर जीवसे तरवरातः भिज नहीं है। अतः अनवस्थादि दोषका लेश भी ईश्वर-सिद्धिमें बाधक नहीं हो सकता। भगवती ग्रुति भी ईश्वर और जीवकी अभिज्ञता-का प्रतिपादन करती है—

'स आत्मा तत्त्वमयि इवेतकेतो ।' 'तत्मृहवा तदेवानुप्राविशत् ।'
'अनेन जीवेनामनानुप्राप्तिय व्याकरणाणि ।'

'कार्योपाधिक्षमेवजीवः कारणोपाधिरीधरः ।' —इत्यादि

सांसारिक जीवके आत्म भूत होनेसे ईश्वर भी सांसारिक हो जायगा, ऐसी शक्ता भी ठीक नहीं होती; क्योंकि ईश्वर मन्त्र धर्माधर्ममें असंतुष्ट होनेके कारण निर्लेप और निरवश है।—असंगो द्वयं पुरुषः। इसप्रकार ईश्वर केवल युक्तियोंसे ही सिद्ध है, ऐसी बात नहीं। वलिक वह शत सहस्र श्रुति-स्मृति आदि प्रमाणोंमें भी प्रमाणित है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
ने लिप्यते चालुयेवाहृदैषैः ।
एकस्तदा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकुःसेन बाह्यः ॥

(कठ०)

'विजरा विमुत्युः' 'जरामृत्युमत्तेति'— (छान्दो०)
'सत्यकामः सत्यसंकल्पः एव सर्वेश्वरः पुण्यं कर्म कारयति ।'
(छान्दो०)

'अनहनन्त्येऽमिकाकशीति' (मुण्डक, श्वेता०)

'पतस्य वाऽप्तरस्य प्रशासने गार्भी' (ईश्वराण्यक०)

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'— (सैतीरीय०)

'सूर्योच्चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' (ऋग्वेद)

'विद्वत्तम्भुत्त' ... शावामूली अनन्देव एकः । (यजुर्वेद)

'विद्वस्य कर्त्ता तु ब्रह्मस्व गोपा ।' 'अपणियादो जननो ग्रहीता' (श्वेता०)

५२

'मः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्डक०)

'एव सर्वेश्वर एव सर्वज्ञ प्रयोऽन्तर्यामी' (माण्डूक्य०)

'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु मन्त्रेश्वरम् ।' (श्वेता०)

'स ऐक्षत लोकान्तु सृजा इति स इमांलोकानमृजत्त' (ऐतरेय०)

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयति' (तानिराय०)

'तदैक्षत बहु स्यामिति' (छान्दो०)

'तथाऽप्तरद्विविदाः सौय यमादा ।' (मुण्डक०)

'तत्त्वामरुपाम्यामेव व्याक्रियत' (ईश्वराण्यक०)

'समे सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्ते परमेश्वरम् ।'

'यथा सर्वतं सौक्षम्यात् ।' 'प्रकृति स्वामिविदाः ।'

'मयोऽप्त्यस्थ प्रकृतिः सूर्यो सच्चाचरम् ।'

'अहमादिहि भूतानां मध्यमन्तस्त्येव च ।'

'अहे ईश्वरस्य जगतः प्रमदः प्रलयस्था ।' (गीता)

'जन्माद्यस्य मतः ।' 'शाल्योनित्वात् ।'

'ईश्वरेनशब्दम् ।' 'स्वाप्ययात् ।'

'नेतरोऽनुपत्तेः ।' 'अनन्तस्तद्भर्मोपदेशात् ।' (मध्यमन्त्र०)

एक पद हि भूतसमा भूत भूत व्यवस्थितः ।

एकघा बहुघा चैव दशयते जलचन्द्रवत् ॥

(महामात्र मोक्षपर्व ।)

अतश्च संक्षेपिमं शृणुध्वं नाराषणः सर्वमिदं पुराणः ।

स सर्वकालं च करोति सर्व सहारकाले च तदत्तिं भूयः ॥

(पुराण)

'जन्माद्यस्य मतोऽन्वयात्' (श्रीमद्भागवत)

इसपर यदि शक्ता की जाय कि उपर्युक्त वाक्य प्रमाण नहीं माने जा सकते, क्योंकि यह केवल अर्थवादमात्र है; तो यह कथन युक्तिसंगत नहीं हो सकता। क्योंकि अर्थवाद-वाक्य उन्हे ही कहते हैं जो स्वार्थमें प्रमाणशृण्य होकर विधि-निषेधमें परे अर्थात् अङ्गमात्र हैं। परन्तु उपर्युक्त प्रमाणवाक्य किसी विचिह्नित विधि या निषेधके शेषभूत नहीं है, अतः यह अर्थवाद-वाक्य नहीं कहे जा सकते।

इन वाक्योंके समन्वयसे जिस अनन्यवादिक ईश्वर-सम्बन्धी शानकी उत्थति होती है उसका बाध देखनेमें नहीं आता। इसलिये उपर्युक्त अनुति आदिके वचन स्वार्थमें ही प्रमाण-भूत है, अर्थवाद नहीं है।

बूसरा एक नियम यह है कि जिस शब्दसे अवाक्य प्रमा उत्पन्न होती है वह शब्द भी स्वार्थमें प्रमाणभूत होते हैं; अतः समस्त ईश्वर-सम्बन्धी वाक्य अवाक्य शानकी होनेसे स्वार्थमें प्रमाणभूत हैं, अर्थवाद कदाचि नहीं है।

ईश्वरके अस्तित्वमें अप्रतिरोध (निषेध वाक्यका अभाव) भी प्रमाण है। अर्थात् 'हे वाव ब्रह्मणो स्ते मूर्त्ति जीवाद्युत्त चेति'—इसप्रकार ईश्वर-स्वरूपका प्रस्ताव करके श्रुतिने 'नेति' 'नेति' से उस स्वरूपकी इयत्ताका निषेध किया है। ईश्वरकी प्रस्तावना करके श्रुतिने कहीं उसका प्रतिरोध नहीं किया है।

जो छोग कैवल प्रधान (प्रकृति) को ही जगत्की उत्पत्तिका कारण भानकर ईश्वरका लब्धान करते हैं, उनके इस सिद्धान्तमें भी अव्यवस्थास्त्रप दोष आता है। क्योंकि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुणोंकी विषमताका नियामक ईश्वरको न भाननेसे सदा ही सृष्टि तथा सदा ही प्रलयका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इस वातका भगवान् वेदव्यासने 'ईक्षतेर्नाशवद्यम्' 'गौणीश्वरेश्वरमश्वद्यात्'—हस्यादि अपने श्रुतिमूलक सुत्रोंके द्वारा भलीभांति नियंत्र किया है।

अतपूर्व देश-काल-त्रिमित्त-विषाक्त प्रमृतिके विभागको जाननेवाले, ऐवादि कर्मोंके अनुभूप फलको जाननेवाले, सब प्रायिक्योंके बुद्धि-कर्म-फल आदिके विभागको जाननेवाले साक्षी सर्वभूतान्तरात्मा अन्तर्यामी एक सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान् ईश्वर सिद्ध है।

जिस सर्वान्तर्यामी सर्वान्तरात्मा ईश्वरकी सत्ताके बिना स्थावर-जड़मात्रक किसी पदार्थका अस्तित्व नहीं हो सकता है, जिसकी सत्तासे ही समस्त चराचरकी उत्पत्ति-स्थिरता जय निश्चित है और जिसकी इष्टा ही एकमात्र सब जन्मुद्भाओंके भोगापवर्गका कारण है, ऐसे साक्षात् अपरोक्ष ईश्वरको स्वर्ण माना जाय, उसे न माननेसे क्या हानि है, उसकी दधालुतामें अनुभव क्या है ? हस्यादि शक्तियोंके लिये अवसर ही कहाँ है ? इस निष्कर्षमें ईश्वर-स्वरूपन्धी जो विचार किये गये हैं, उनमें पाठकोंको विचारपूर्वक देखनेमें इन सब प्रश्नोंका समाप्तान हो जायगा ।'

अधिक क्या, ईश्वरको न भानना और अपनी सत्ताको अंगीकार न करना एक ही बात है। संसारमें ऐसा कौन मूर्ख और आनंद पुरुष होगा जो ईश्वरको न भानकर अपनी सत्ताको भी खो देगा । 'असदव्याप्तेति चेतेव स्वयमेव भवेदसत् ।' विज्ञान्त पुरुषके बिना दूसरा कोई अपनी सत्ताका अपलाप नहीं करता—'म्वासरवं तु न कस्मैचिद् रोचते विभ्रमं बिना ।',
‘स पर्यगच्छुकमकायमद्रग्ममातिरि-गुद्धमपापविद्धं, कविमनीवी परिभः स्वं भूम्यायतश्यतोऽर्थात्यवदधाच्छाश्चतीम्यः समाप्तः ।’

(२४) स्वामीजी श्रीकेशवानन्दजी अवधूत

१—पिताको क्यों मानना चाहिये ? यति पिताको हम नहीं माननेगे तो वर्णसंकर कहे जायेंगे । जो पिताकी हस्ति देखकर बेदविहित कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, वह सुपूर्त है और जो पिताके कहनेमें कार्यमें प्रवृत्त होता है वह पूर्ण है। भगवान् रामचन्द्रजी सुपूर्त हैं और निचिकेता पूर्ण है और जो पिताकी आशाको भी नहीं मानते वह कुरुत है; जैसे राजा यथास्तिके पुत्र ।

अव्याहृत माया जिसके अधीन है, जो शुद्ध सर्वगुणवाला, सर्वं संस्कारोंका आश्रय अर्थात् प्रेरणा करनेवाला है, सर्वरूप जगत्का उपादान और निमित्त-कारण है, जो हिरण्यगर्भ और विश्वाटका भी कारण है तथा व्यष्टि-समष्टि सबका अन्तर्यामी है, ऐसे प्रकाशस्त्रप सबके पिता, सबके प्रेरक, अन्तर्यामी ईश्वरको क्यों नहीं भानना चाहिये ? शूष्म, पत्तर, शूष्मी, छता, सबमें उसी एक ईश्वरकी

ज्योति श्लमला रही है, ऐसे ईश्वरको क्यों नहीं भानना चाहिये ? जो ऐसे ईश्वरको नहीं भानते हैं, वे वर्षसंकर हैं ।

२—ईश्वरको न भाननेवालेका जन्म लेना वृथा है, उससे पृथ्वीका भार बढ़ता है, उसको प्रत्यवायकी प्राप्ति होती है । जो पिताको न भानेगा, पिताको आज्ञाको न भानेगा वह (एक प्रकाशसे) वर्णसङ्कर कहलावेगा । ईश्वर सबका पिता है, वीर्यरूप भी वही है, जीवनस्त्रप भी वही है, जिसके अधीन प्राण है, जिसके अधीन जीवन है, उसको न भानकर सुखकी ईश्वरा करना वृथा है, क्योंकि सुखका कारण (उत्तम-स्थान) तो ईश्वर ही है । शास्त्रमें भी कहा है ।

ईश्वरानुप्रहारद्वातुं सामद्वैतवासना ।

महद्वयशिरिवाणं विप्राणमुपजावते ॥

सागुण-क्षिण्य दोनों हृष्प ईश्वरके विना

'मैं' और 'तू' कोई नहीं है। नाम-रूप मिथ्या हैं। अस्ति, भाति, प्रिय हैशरका स्वरूप है। वह सच्चिदानन्द हैशर ही सत्य है, नाम-रूप जआल है, जो नाम-रूपमें फैसे हुए हैं उनको सुख कहा है?

३-बेद स्वतः प्रमाण हैं इसलिये हैशर स्वतःसिद्ध प्रमाण है, और सब परतः प्रमाण हैं, हैशरके अस्तित्वके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता ही क्या है? १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान (शब्द), ३ उपमान, ४ अर्थापत्ति, ५ अनुपलङ्घित यह सब स्थूल वस्तुको ही प्रमाण करते हैं। हैशर अभ्याकृत है, शुद्ध सत्त्वगुण ही प्रमाण है, वह निर्विकार है। हैशर अपने स्वरूपको कभी विस्मृत नहीं हुआ, इसलिये उसके लिये प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। वहमें तो बेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि सब शास्त्र हैशरका ही प्रतिपादन करते हैं।

४-चक्रवर्ती राजा है, योवन इद है, सब विद्याओंमें पूर्ण है, शत्रुओंमें रहित है, सब उसमें भयभीत होते हैं, सुमरी छियाँ उसके पीछे खड़ी होकर चौंचर दुला रही हैं। देह नीरोग है, पुष्ट और स्थूल शरीर है, यह पुरुष-सुख है। इसमें सौंगुना सुख मानव-गन्धर्वको है, उसमें सौंगुना सुख देव-गन्धर्वको है, उसमें सौंगुना अजान-देवको है, उसमें सौंगुना कर्म-देवको है, उसमें सौंगुना सुख सुख देवोंको है—११ रुद्र १२ सर्य द वसु ये सुख्य देव हैं—इनमें सौंगुना सुख इन्द्रको है, इन्द्रमें सौंगुना शृहन्पतिको है, बृहस्पतिमें सौंगुना सुख प्रजापतिको है, प्रजापतिमें सौंगुना सुख हिरण्यगर्भको है, हिरण्यगर्भमें सौंगुना सुख व्राह्मणेताको है। ऐसा सुख जिन्होंने निष्काम कर्मके द्वारा अपने स्वरूपकी प्राप्ति की है, उनको प्राप्त है। वे स्फुरणारहित बृहितमें खेल रहे हैं। क्योंकि उद्दिका कारण हिरण्यगर्भ है और हिरण्यगर्भ भी त्रिगुणोंकी अन्दर है किन्तु जो हैशरको प्राप्त हो गया है वह तो गुणातीत है। वहाँ निर्गुण-संगुणका भेद नहीं रहता। अब्रवेत्ता अपने सुखकी महिमा अपने सुखमें बर्णन नहीं कर सकता क्योंकि उस सुखकी महिमा अकथनीय और उसमें अभिज्ञ है।

[इसके बाद आपने जीवनके कई महावर्षों और

विलक्षण अनुभव सुनाये। किर आगे कहा—] यदि देव-पूजा नहीं करोगे, ठाकुरहार, महारामाओंके पास तथा तीर्थोंमें न जाओगे तो चरण और देह पवित्र कैसे होंगे? एक गंगाजी, दूसरे अवतारोंकी कथा, तीसरा साधु-संग यह तीनों संसारके जीवोंको तारनेके लिये हैं। जो इनका सेवन नहीं करते, वे मनुष्य अथवा हैं। जो श्रीराम-कृष्ण आदि अवतारोंकी निन्दा करते हैं वे वर्णसंकर हैं। एक रोमकी भी निन्दा नहीं की जा सकती। कौन-सा ऐसा रोम है जिसमें वे पर्याप्त नहीं हैं? क्या बनकर किसकी निन्दा करते हो? उस ब्रह्ममें निष्पत्ति प्रपना रूप तो हमें बताओ? परमात्मामें भिन्न कोई वस्तु हो, तब तो निन्दा की जा सके। वह तो रोम-रोममें भरा हुआ है। कारण-कार्य सब वही है। जो उसको नहीं जानते, वे ही निन्दा करते हैं। अपने पेटके लिये जो श्रुति-स्मृतिका उलटा अर्थ करते हैं वे शर कहलाते हैं। उनका न भला होगा और न इसलोक तथा परलोकमें उन्हें सुख ही भिडेगा। उनकी युग-युगान्तरोंमें दुर्गति ही होती। वे लोग भविष्यको नहीं विचारते। बुद्धिमन् वही है जो पहले कर्मका फल विचारे और फिर उसमें प्रवृत्त हो। जो परमार्थ सम्य है यह शुद्ध है, जो व्यावहारिक हैशर-रचित है वह सुख-दुःखका हेतु नहीं, जो प्रातिभासिक है वह मनोभव है, इसमें जो कैंस जाते हैं उनका उद्धार कैसे हो सकता है? वह सुष्टि भनोभवी है इसलिये जो हैशर-शरणमें आ पहले है, वे जन्म-मरणके दुःखमें कभी नहीं पड़ते। जो हैशर-शरणमें आते हैं, वे मूलमें सब दुःख गँवा डेते हैं। जो अहंता-ममताको छोड़ हैशर-शरणमें आते हैं, वे अपने स्वामीको हृदयमें पाने हैं। द्रैत-कल्पनाका मूल मँडाते हैं, एक ही अखण्ड नजर पाते हैं, मरणमें सत्यरूप भिलाते हैं, किर गर्भमें नहीं आते हैं; जो हैशरके गुण गाते हैं, वे हरदम अखण्ड सुख पाते हैं, वे हैशररूप हो जाते हैं, जो सुखकी महिमा गाते हैं, वे दुःखमें कभी न आते हैं। अन्तर-बाहर आप समाना, सपुरुष परण परमाना। सब बस्ती सब ठौरमें, एको व्याप पिढ़ाना। अन्तर बाहर आप समाया, सब जगत जिन आप उपाया। जन्म-मरणका फिर भ्रूल न थाया, ऐसा हैशर जिन्होंने हृदयमें गाया, संकट करे परम पद पाया।



(२५) स्वामीजी श्रीकल्याणदेवजी

१—ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि ईश्वरने हम जीवोंकि लिये संसारमें अनेक प्रकारके भोग-पदार्थ और भोग भोगनेके स्थान और नाना प्रकारके शरीर निर्माण किये हैं। उमरे विशेष करके मनुष्य-देहमें पशु-पक्षियोंसे अधिक ज्ञान देकर इमारा बड़ा भारी उपकार किया है। तथा जलधर, स्थलधर और आकाशमें विचरनेवाले सब जीवोंका मनुष्यको राजा बनाया है।

बहुलोकपर्यन्त भोग और कैवल्यपर्यन्त मोक्ष—ये दोनों ईश्वरके आराधनामें ही प्राप्त होते हैं। इसलिये भोग और मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंको चाहिये कि ईश्वरको मानकर ध्यास-रवास उनका आराधना करे। जिसने गर्भमें तथा बाह्य-अवस्था आदिमें रक्षा की है, ऐसे ईश्वरको एक झण भी न भूलना चाहिये।

२—ईश्वरको न माननेमें महान् हानि वेदमें कही है—

असंज्ञ द स मदति । असद्ब्रह्मोति वेद चंत् ॥

(तैतीरीय०)

जिसने ईश्वर किये उसको न मानना कृतज्ञता-रूप महापाप है। हिरण्यकशिषु, रावण, कंस, शिशुपाल आदि ईश्वरको न माननेवालोंकी कैसी दुर्दशा हुई है? जो ईश्वरको नहीं मानता, उसे अपने आपको भी न मानना चाहिये। क्योंकि 'तत्सद्गु तदेवानुप्राविश्ट' (तैतीरीय० ब्रह्मा० ६) जीवरूप करके ईश्वरने ही प्रबंश किया है। ईश्वरको न माननेमें जन्म-मरण आदि चौरासी लक्ष योनिकी प्राप्तिरूप महा अनर्थकी प्राप्ति होती है। यह बास कठ-उपनिषद्में भी लिखी है—

'न सामप्रायः प्रतिमाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्बद्धामापद्यते म ॥'
(१।२।५)

३—‘मैं हूँ’ यही ईश्वरके होनेमें प्रबल प्रमाण है। अस्तिकोंके लिये ईश्वरके होनेमें प्रमाण देनेकी ज़रूरत ही नहीं है, उन्हें तो सदा-सर्वदा ईश्वर प्रत्यक्ष ही भाव होता है और श्रुति, मृत्ति, सूत्र, इतिहास, पुराणादि शास्त्र ईश्वरकी सिद्धिके प्रबल प्रमाण हैं। एषा भ्रुति—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन आतानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिक्षासस्त्व । तद्व्रद्धोति ।
(तैतीरीय० भग्य० १)

ब्रह्मसूत्र—

जन्माद्यस्य वदः (१।१।२) शास्त्रयोनिवात् (१।१।३)
अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्तमधीयत पके ।
(२।१।३।४३)

श्रीमद्भगवद्गीता—

अहं सर्वस्य प्रभवो मतः सर्वं प्रवर्तते । (१०।३)
मैमेवशो जीवोंके जीवभूतः सनातनः । (१५।७)

श्रीमद्भागवत—

इधरो जीवकहन्ता प्रविष्टो भगवान् स्वप्नम् ।
. एकादश रुक्म्य ।

अन्य शास्त्र—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन इदि स्थितेन
स्था नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

वारों वेदोंके चार महावाक्य भी ईश्वरके प्रबल प्रमाण हैं, यथा—

'प्रज्ञानं ब्रह्म' ऋग्वेदार्थ—पंतरेयोपनिषत् (४।४)
'प्रहं ब्रह्मास्मि' यजुर्वेदार्थ—बृहदारण्यकोपनिषत् (२।४।१०)

'तत्त्वमसि' सामवेदीय- लाङ्दोग्योपनिषत् (६।८।७)
'अशमात्मा ब्रह्म' अथर्ववेदार्थ माण्डूक्योपनिषत् (२)

४—अपने जीवनकी घटनाके सम्बन्धमें वास्तवमें तो उत्तर नहीं दिया जा सकता और वेदे ईश्वरकी दया सो मदा-सर्वदा अनुभव हुआ करती है। प्रयेक वर्ष, प्रयेक मास तथा प्रति मसाहमें कोई ऐसी घटना होती ही रहती है, जिसमें ईश्वरकी दयामें विह्वास विशेष बढ़े। क्योंकि अशुभ मार्गसे हटाकर शुभ मार्गमें सदा ईश्वर ही लगाता है। एकान्त स्थानमें रहनेकी रुचि उत्पन्न करके आरम्भित्वान्तरमें तथा सत्संग और शास्त्र-विचारमें प्रवृत्त करके प्रतिक्षण्य परमारम्भ दयाका दान करता है; समय-सम्बन्धर पोग़ल्से फरता है; आत्मानु-

सञ्चानको छोडकर लौकिक कामना तो कभी सन्तको होनी ही नहीं चाहिये। ईश्वरकी दयामें इससे बदल विवास ही क्या हो सकता है? मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति, सद्गुरुकी प्राप्ति, आत्मज्ञानकी प्राप्ति, शरीरकी नीरोगता, मोक्षमार्गके सम्पूर्ण विज्ञोंकी निष्ठति—यह सब ईश्वर-कृपासे ही होने हैं।

गुह अन्य साहबमें लिखा है—

‘जो जो चितवेसन्त जन सो सो लेता मान’

जैसे वजा अपने माता-पितामें कोई चीज़ माँगता है तो वह बस्तु उसे मिल जानी है, इसी प्रकार ईश्वरसे भक्त-जन जो-जो पदार्थ माँगता है ईश्वर उसे प्राप्त करा देता है। इससे बदल ईश्वरकी दया क्या होती ?

(२६) स्वामी श्रीनिवार्णप्रकाशजी

१—श्रीभगवान् गीतामें इसका उत्तर देते हैं—

जरारणमोक्षाय मामाप्तिव यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तदिदः कृत्स्मध्यामं कर्म चाक्षितम् ॥ ७ । २८ ॥
मां हि पार्थ व्यपात्रियं मेऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्वासु यथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ७ । ३२ ॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनः पर्युपासते ।
तेषां नित्यभियुक्ताना योगक्षमं वहाम्यहम् ॥ ७ । ३२ ॥

२—श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

अश्रद्धधानः पुरुषा धर्मस्याध्य परंतप ।
अप्राप्य मां निर्वत्सं मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ८ । ३ ॥
मीचतः मर्दुर्गाणि मन्त्रसादातरिष्यसि ।
अथ वेष्टवहक्षागत्र श्रोप्यसि विनश्यसि ॥ ८ । ४ ॥

३—यह प्रभु द्वैतवादमें किया जा सकता है। द्वैतवादमें न सो ऐसे प्रभु बनते हैं और न उनका उत्तर ही बनता है, क्योंकि ‘सर्वं स्वत्विदं ब्रह्म’ ‘अथमात्मा ब्रह्म’—अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है, एक अद्वैत सत्तामात्र है।

यह सृष्टि ही ईश्वरके होनेमें प्रायः प्रबल प्रमाण है। कार्य स्वयं ही अपने कारणका प्रमाण होता है। जैसे घटमें प्रलीन होता है कि इसका कोई बनानेवाला (कर्ता) भी है। यदि प्रकृतिवादी कहें कि सृष्टि परम्परामें चली आती है, इसका कर्ता कोई नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि प्रकृति तो स्वयं जड़ है, अतः इसका कर्ता अवश्य ही चेतन मानना पड़ेगा। जैसे यदि कोई लिखे हुए कागजको कहे कि इसके अक्षर स्वयं ही बन गये हैं, इनका लिखनेवाला कोई नहीं, तो यह बात नहीं बनती। इसका प्रमाण गीतामें इसप्रकार है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मतः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ १० । ८ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म नस्मिन्मां दध्यन्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो मवति भारतः ॥ १४ । ३ ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां द्वंशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रासुङ्गानि मायया ॥ १८ । ६ ॥

४—एक बार मैं मपरिवार गंगोत्री, जग्नीत्री तथा बद्रीनारायणकी यात्राके लिये निकला। उम्म समय मेरी अवस्था करीब १८ सालकी थी। गंगोत्री पहुँचनेपर एक अर्थन्त शीतल स्वभावके भाहागम्भीर ब्रह्मचारी भाहामाका दर्शन हुआ। मैं तीन दिनतक उनका सत्संग करता रहा। वह महारम्भ पहले उत्तरकाशीमें निवास करने थे, बारह वर्षतक उन्होंने फलाहार किया, परन्तु आरम्भाको शान्ति न मिली, अन्तमें उनको वैराग्य हो गया और उन्होंने गंगोत्री-में जाकर शरीर कोइ देनेका विचार किया।

उत्तरकाशीमें वह महारम्भ गंगोत्रीकी ओर चल दिये और वहाँसे चार भील ऊपर ब्रह्माके बनमें पहुँचे। उस बनमें जाकर एक गुफाके भीतर वह तीन दिन-रात निराहार पड़े रहे। तीसरी रातको एक अवधूत भोजपत्रकी कौपीन पहने उनके सामने गुफामें उपस्थित हुआ और बोला—‘महारम्भ! तू क्यों भूखा-प्यासा पड़ा है?’ महारम्भ चौक पड़े। सामने इयामवर्ण अवधूतको देखकर बोले कि ‘हे प्रभु! आप कौन हैं?’ अवधूतने उत्तर दिया—‘मैं इत अवधूत हूँ।’ महारम्भ उनके चरणोपर गिर पड़े और बोले—‘भगवन्! मुझे इसने दिनोंके कष्ट सहन करनेपर भी शान्ति नहीं मिली, इसलिये मैं अब यह शरीर छोड़ देना चाहता हूँ।’ अवधूत बोले—‘तुम्हें अवश्य शान्ति मिलेगी।’ तु

शान्तिस्वरूप ही है । आब अब प्रहण कर । आजकल अब में ही प्राण है । और यहाँसे शीघ्र चला जा ।' इतना कहकर वह महारामा अदृश्य हो गये ।

वहाँसे वह ब्रह्मचारीजी गंगोत्री आये और तबसे महाशान्तरूप हो ब्रह्मानन्दमें मग्न हो रहने लगे । उन महारामासे जब मुझे सक्षात्कार करनेका शुभ अवसर मिला और जब उनका समस्त वृत्तान्त सुननेमें आया तो मेरा विश्वास ईश्वरमें और अधिक बढ़ गया । घर आनेके थोड़े ही दिनों बाद मैंने भगवान् श्रीकृष्णजीकी शरण ली ।

कहाँसे हो ?

वैराग्य नहीं है विषयोंसे तो मन उपराम कहाँसे हो ? शम आदि नहीं हैं साधन जो तो आत्मज्ञान कहाँसे हो ? त्रिसना न गयी तन-मन-धनसे तो अन्तर शान्ति कहाँसे हो ? जब अन्तर शान्ति न प्राप्त हुई तो सुख निर्वाण कहाँसे हो ?

जो मुरु ही नहीं है मुलशनमें तो मुरु आबाद कहाँसे हो ?

जब अकल फिरगी तब हुआ तो फिर इन्साक कहाँसे हो ?

वैष्णव कफीरी नहीं करी तो फिर आजाद कहाँसे हो ?

जब कुँफ कि शब्द नहीं दूर हुई निर्वाण-प्रकाश कहाँसे हो ?

करता करता कर रहा और करे नहीं कोप ।

साहब सब समरथ हैं जो कुछ करे सो होय ॥

जो कुछ करे सो होय और नहीं करनेहारा ।

हैं हैं मैं मैं करे अब नहीं जाननहारा ॥

बाजीगरका खेल हृष्ण गीतमें गाया ।

ईश्वर प्रेक है सिथित मरमात भाया ॥

कह निर्वाणप्रकाश भाशा है हृष्ण तुम्हारी ।

जित मावै तित करी लाज है तुम्हें हमारी ॥

(२७) स्वामी श्रीब्रह्मकेतुजी उदासीन

सं० १६६० विक्रमकी बात है । मैं श्रीब्रह्मकाधीश भगवान्का दर्शनकर श्रीदारका-धाममें यात्रा करता हुआ श्रीपुष्कर-नीर्थके निकट अजमेर-नगरमें पहुँचा । वहाँ सार्यंकालमें आनासागर-लालाक्षके नटपर हृदयोगिराज श्रीस्वामी सन्तरामजी उदासीन महारामाके दर्शन हुए । उनसे बहुत कुछ कथा-वार्ता होनेके बाद मैंने पूछा कि 'भगवन् ?' अपने जीवनकी कोइ प्रेसी घटनाका वर्णन कीजिये जिसमें भगवान्की सत्ता और उम्रकी दयामें आपका विश्वास है हुआ हो ।' महारामाजी थोड़े— मैं युवावस्थामें घरमें निकलकर सरकारी फौजमें भरनी हो, सीमाप्रान्तमें पेशावरके समीप पूँक द्यावनीमें रहता था । एक दिन हमारे सामने ही उधरके यथन लोग गोवध करनेके लिये तैयार हुए । मैंने उनको मना किया, हमपर वे लोग हमारे ऊपर ब्रिगड लड़े हुए । मुझसे भी नहीं रहा गया और उनको प्राण-दण्ड देकर मैंने गो-मालाका उड़ार किया । उनके सम्बन्धियोंने सरकारमें फरियाद की । मेरे ऊपर मुकदमा चला और मैं ईश्वरकी प्रार्थना करके अदालतमें गया । उसकी हृषासे मेरी रिहाई हो गयी और मेरा विश्वास भगवान्में खूब बढ़ गया । फिर तो मैंने नौकरी छोड़ दी और काशीमें जाकर कुछ दिनतक संस्कृत पढ़ी ।

पीछे एक दिन भगवप्रेरणासे मैं श्रीरामेश्वरजीकी यात्राके लिये चल पड़ा ।

रामनेमें निजाम हैदराबादके राज्यमें श्रीगोदावरीके नटपर मैंने एक ब्राह्मणोंके ग्राममें चानुर्मास विताया । उस गाँवमें दो भीलकी दूरीपर एक सुन्दर मनोहर वनमें एक हृदय महारामा रहते थे । वह महारामा पञ्चाके रहनेवाले थे और लगभग तीस वर्षसे उम्र वनमें रहा करते थे । पहले जब आये थे तब उनमें संस्कृतकी गलत भी नहीं थी, परन्तु अब वह संस्कृत खूब बोलते थे । उनकी ल्याति मुकुर मुझे उनसे मिलनेकी अर्थन्त अद्वा हुई और मैं एक शिव उनके दर्शनके लिये वहाँ पहुँचा । वह गौर शरीर, ब्रह्मवर्चस-सम्पन्न, जटाजट-संशोभित, शरीरमें विभूति लगाये सिद्धासनपर बैठे थे । उनकी आयु ७०-७५ वर्षके लगभगकी जान पड़ती थी । वह बोहश नाभवाले मन्त्रकी निरन्तर धूनि लगाते रहते थे । मेरे वहाँ पहुँचने-पर मन्त्र-जप धीरे-धीरे करने लग गये । मुझसे उस महारामाये संस्कृतमें ही सम्भाषण हुआ । मैंने उनसे पूछा—'भगवन् ?' आपने संस्कृत कहाँ और किसमें पढ़ी ?' महारामाने कहा—'यहाँ ईश्वरसे !' मैंने फिर पूछा—'सो कैसे ?' महारामा थोड़े—'मुझे, मेरा जन्म पञ्चाकमें हुआ था । मैं

वचनसे ही घर-द्वार छोड़कर सामु-बेशमें निर्वाण-मण्डलीमें रहने लगा था। श्रीगोदावरी-कुम्भ-पर्व करनेके लिये मैं हैवर आया। हैवर संस्कृत जाननेवाले आशौलनमें एक दिन बात-चीत हुई, उसने बात-ही-बातमें कहा कि 'तुम सामु लोग अपव होते हो।' यह सुनकर मेरा चिर बदा ही दुखी हुआ और मैंने तीन विन-रात अज-जल छोड़कर उदासीन भावसे काल अपरीत किया। चौथे दिन प्रातःकाल स्वभा-वस्त्रमें महर्षि नारदके दर्शन हुए और उन्होंने कहा— 'साधो! हरि-नामको रात-दिन रटते रहो। अल्प कालमें ही विद्वान् हो जाओगे।' नारदजीके हसी उपदेशसे मैंने

हरि-नामकी रटन छायाची और उसीकी कृपामें मेरी हृष्टा पृथ्वी हो गयी।

महाराजने अपनी कुटियामें ले जाकर सुक्ष्म सिद्धान्त-कौमुदी, महाभाष्य तथा पद्मदर्शन सभाप्य दिखाये और कहा कि 'आजकल मैं अद्वैत-सिद्धिको विचारा करता हूँ।' हमें सुनकर हैवरमें मेरा अत्यन्त ही विश्वास और प्रेम बढ़ा।

अब मेरे मनमें आप पुरुषोंके बचनोंपर अत्यन्त ही दृढ़ विश्वास हो गया है। 'भगवद्गत्त जो चिन्तन करते हैं उसे हैवर अवश्य पूर्ण करता है।' सुक्ष्म हसमें तनिक भी नन्देह नहीं रह गया है।

(२८) रायबहादुर लाला श्रीसीतारामजी वी० ए०

१—आप जानते हैं कि हमारे धर्ममें हैवर हमारी अपील तभी सुनता है जब हममें प्रीति, प्रतीति और गति तीनों होती हैं जो तुलसीदासजीने कृष्ण-गीतावलीमें लिखा है—

तुलसी निरक्षि प्रतीति, प्रीति, गति आरत-पाल कृपाल मुरारी।
बसन वेष रासी विसेष लक्षि, विरदावलि मूरति नर नारी॥८॥

द्रौपदीकी साक्षीकी बद जाना करोलकलिप्त घटना माननेवालोंको हम क्या कहें, परन्तु आजकलका विज्ञान आत्मवल (Will-force) की बड़ी महिमा बताता है। यही बद है जिसके कारण एक मुट्ठी भर हड्डीका बूदा बड़े-बड़े शक्तिशालियोंको शङ्का के चक्करमें ढाल देता है। उसके पास न कोई अस्त्र है न शस्त्र, न धन है न राज्य है, केवल

* जिन महाशयोंने कृष्णगीतावलीको नहीं पढ़ा है, उनके लिये पूरा पद लिखा जाता है—

कहा भयो कपट जुआ जो हीं हारी।

महावीर रनधीर पांच पति, ख्यों देहैं मैहि होन उघारी ॥
राज समाज समासद समरथ; भीकम द्रोण धर्मधुरवारी ।
अबला अनव अनवसर अनुचित; होत हेरि करिहैं रखवारी ॥
यो मन गुनत दुसासन दुरबन; तपस्यों तकि गहि दुँहुँ कर सारी ।
सकुचि गात गोवति कमठी ज्यो; हहरी हृदय विकल मह मारी ॥
अपनेनिको अपनो विलोकि बल, सकल आस विस्तास विसारी ।
हाथ ठाठा अनाथ-नाथ सो; 'पाहि पाहि' प्रभु पाहि पुकारी ॥
तुलसी निरक्षि प्रतीति श्रीति गति; आरत-पाल कृपाल मुरारी ।
बसन वेष रासी विसेष लक्षि, विरदावलि मूरति नर नारी ॥

यही एक आत्मबल अभिमानियोंका गर्व चूँ करनेमें समर्थ हो जाता है। किसीकी हिम्मत नहीं पड़ती कि एक ही बारमें दसका काम तमाम कर दे। यह आत्मबल ही मही, परन्तु हम आत्मबलका सज्जालक कौन है?

मनुष्यका चित्त स्वभावमें अवलम्ब मौगलता है। किसीको चोट लगती है तो वह 'शाप-रे-वाप' चिलाता है, माँ बछेको पीटती है तब भी बद्धा 'माँ-ही-माँ' पुकारता है। हसका क्या कारण है? बापको मरे बहुत दिन हो गये। अब वह सहायता करने कैसे असेगा? परन्तु बचपनमें जब बाप जीता था तो उसने बछेको कई बार बचाया था। वही बात बड़े होनेपर भी बछेके चित्तमें गड़-सी गयी है या यों कहिये कि वह स्वभावहीसे एक अदृश्य अवलम्बन ढूँढ़ रहा है। यूनानके प्रसिद्ध हीम एपिक्टिटस (Epictetus) ने लिखा है कि अत्याचारी जिस रीतिसे प्राण-हृत्या करता है वह अत्यन्त सुगम है। कभी किसी अत्याचारीने किसीका गला क्ष: महीनेमें नहीं काढा, परन्तु जबरात्म होकर मरनेमें कभी-कभी बरसी लग जाते हैं। अत्याचारी अपने जीमें यह समझा करे कि इस प्रबल है, हमारा कोई क्या कर सकता है। परन्तु कितने अत्याचारी कुत्सोंकी मौत मरे हैं। प्राण निकल जानेपर उनकी वह शेषों कहाँ गयी? उनका बल किसने हर लिया? जिन लोगोंने उनका अत्याचार अपनी आँखों देखा है वे कहते हैं कि अब्जा हुआ जो वह कुत्सोंकी मौत मरा। औरक्षेष धर्मान्वय था। उसे पूरा विश्वास था कि मैं भी कुछ कर रहा हूँ वह इस्लाम-धर्मके अनुशूल

है; मन्दिर तोड़ना, काफिरोंका वध करना परम धर्म है, हससे मुक्षको खुदावन्दताला विहिश्टमें सबसे ऊँचा स्थान देगा। परन्तु भरते समय उसकी भूति किसने केर दी और वह भरनेमें डर रहा है और कहता है—

दरचे बादाबाद मा किठीं दराब अन्दाखतम

अर्थ—जो आहे सो हो, हमने तो अपना बेड़ा पानीमें ढाल दिया।

उसके हस वाक्यपर विचार कीजिये। उसको प्रतीत होने लगा कि ऐसी प्रजाको सत्ताना, जिनका केवल धर्म उसमें भिज था, अच्छा काम न हुआ और उसकी विहिश्टमें परमपद पानेकी आशा सन्देहके आवर्तमें पड़ गयी। हसका क्या कारण हो सकता है? वही छठा अवलम्ब।

जिनका अवलम्ब सच्चा है वे वहे सुखमें संमारको छोड़ते हैं। जैसा कि बालिके विषयमें गोस्तामी तुलसी-दामने लिखा है—

गमचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।

मुमन-माल जिमि कप्ठं, गिरत न जानइ नाग॥

इसके पहले बालिका वाक्य भी सारागर्भित है—

मुनहु गम स्तामी सकल चलन चातुरी मोरि।

प्रमु अजहूँ में पातकी अन्तकाल गति नोरि॥

इसमें कृष्णगीतावलीकी 'गति' भी आ गयी है, जिससे यह ज्वनित है कि तुमको छोड़कर मेरा और कहीं ठिकाना नहीं है और प्रीति तो दोनोंके प्रथम चरणोंमें ही। इसी प्रीतिकी शुद्ध पराकाष्ठको भक्ति कहते हैं।

इस प्रभापर पूरा-पूरा विचार करनेमें यह नेत्र बहुत बढ़ जायगा। इसमें एक ही बात और लिखी जानी है। फिजियालोजी (Physiology) में मनिक तथा भेस-दण्डमें अनेक केन्द्र (Centres) देख गये हैं, जैसे सरके मस्तिष्कके एक भागमें बोलनेका केन्द्र है। उस भागके ऊपर खोपड़ीमें कहीं चोट लगी तो उस केन्द्रका काम बन्द हो जाता है और मनुष्य बोल नहीं सकता। परन्तु इसके आगे विज्ञान काम नहीं करता और देवकी वही भूति सिद्ध होती है—

बतो वाचो निवर्त्तने अप्राप्य मनसा सह।

अभी योदे दिन दुष्ट ईंग्लिस्तानके एक सुप्रसिद्ध अध्यात्म-विज्ञा (Spiritualism) के पवित्र भर

आखिवर लाजने कहा था कि जीवन-विज्ञानमें अनेकों प्रसङ्ग ऐसे आते हैं जिसमें तुदि काम नहीं करती और यही मानना पड़ता है कि इस जीवकी सज्जालन करनेवाली कोई शक्तिविशेष है जिसका इस अनुमान ही कर सकते हैं।

इन्हीं दो बातोंमें अर्थात् मनुष्यका हृदय एक सच्चा अवलम्ब आहाता है और दूसरा यह कि विज्ञानकी इतनी उक्ति होनेपर भी अनेक बातें ऐसी हैं जो बिना एक अद्यत्य सज्जालक शक्ति भाने हुए समझमें नहीं आ सकतीं, इस ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करते हैं।

२—इसका पहला उत्तर तो प्रभ (१) के उत्तर-के अन्तर्गत है अर्थात् मनुष्य, जिसका हृदय अवलम्बन माँगता है, निरालम्ब हो जायगा और उसका जीवन दुःखमय होगा। हमने बहुत-से नालिकोंके चरित्र पढ़ हैं—जैसे डेविड ह्यम (David Hume) जो वहे सज्जन और वहे उदार थे। बौद्ध-धर्मको भी लोग नारितक मानते हैं। परन्तु इसके धार्मिक और विनयसम्बन्धी सिद्धान्त बहुत बढ़े-चढ़े हैं। श्रीराहुल मांकृतायनकी रची पुस्तक बुद्धचर्या-की भूमिकामें लिखा हुआ है कि बुद्धदेवके उपदेश दो प्रकारके थे। एक साधारण धर्म और दूसरके विषयमें और दूसरे भिक्षु-भिक्षुयितोंके नियम। पहलेको पालीमें 'प्रग्म' (धर्म) कहा गया है और दूसरेको विनय। इस धर्ममें तथा मीमांसकोंमें कर्म प्रधान है। पर इसे कर्म कहो या नैयायिकोंके अनुसार कर्ता कहो, अथवा वेदान्तियोंके मनमें व्रह्म मानो, हमारी समझमें केवल नाम-मात्रका कहगाड़ा है। एक अक्षर-शक्ति माननी ही पड़ेगी, चाहे उसे किसी नाममें पुकारो। साधारण जनतामें इतना आरम्भ नहीं होता कि डेविड ह्यमको भौति अपना चरित्र शुद्ध रखें। अभी तो यह है कि हमारे पांचों उलिस या राजकमचारी नहीं देखते परन्तु ईश्वर सो देखता है। मनुने मनुष्यके शरीरमें जो ईश्वरका एक प्रतिविष्ट आध्मा है उसको हमारे कर्मोंका साझी माजा है। मनुस्मृतिमें न्यायाचीशका धर्म है कि गवाहको यह समझा देकि मृत भत छोलो। उसका एक वाक्य यह है—

अर्द्देव हातमनः साक्षी गनिरास्मा तथात्मनः ।

मावस्त्वा: स्वमात्मानं नृणां सप्तिष्ठमुत्तमम् ॥

आरम्भ ही आत्माका साक्षी है, आरम्भ ही आत्माकी गति है। देसा बानकर तुम मनुष्योंके उत्तम साक्षी आपनी आत्माका अपनाम (भूद बोलकर) न करो।

सूचकांटिक-नाटकमें एक नीच शास यह कह रहा है कि चन्द्रमा और सूर्य साथी हैं, यह सब उसी सिद्धान्त-को सुचित कर रहा है कि इमारे कर्मोंका देखनेवाला एक अधरय पुरुष है जिसकी शक्तिको अगर इम समझें तो इसे पापकी प्रहृसिसे रोकता है। ऐसी शक्तिमें विश्वास न होनेसे साधारण अनन्त स्वरूपन्द हो जायगी, जिसने प्रजा-विप्रवक्ती सम्मानना है। यह इमारे जानमें बड़ी हानि है।

३—ईश्वर प्रभाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। ईश्वर-सिद्धिके सारे प्रभाण उपभान (Analogy) ही हैं और कोई कोई दार्शनिक उपभानको प्रभाण नहीं मानते। ऐसे उपभानका एक उदाहरण इम रोमन दार्शनिक एपिकट्टिसके वाक्यसे उद्भृत करते हैं—

इमलोग संसारके कामोंमें ऐसे ही फैसे रहते हैं जैसे मेलेवाले मेलोंमें। मेलोंमें गाय-बैल विकनेको आ रहे हैं। मेलोंकी भीड़का अधिकांश क्रथ-विक्रमके क्षिये आया हुआ है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो केवल मेला देखने आये हैं और यह पुछते हैं कि मेला कैसे लगा और क्यों लगा, किसने लगाया और किस प्रयोजनमें लगाया? इस मंसारकी भी यही दशा है। इसमें कुछ तो पशु हैं, जिन्हें केवल अपने चारेकी चिन्ता है। धोड़े-मे लोग यह जानना चाहते हैं कि संसार क्या है और इसका शासनकर्ता कौन है।

प्रभ-क्ष्या इसका कोई शासनकर्ता नहीं है?

उत्तर-विना शासनकर्ता और निरीक्षकके किसी भी राज्य या कुलका प्रबन्ध एक दिन भी नहीं जल सकता और इसना बद्धा संसार केवल संयोग (Chance) से कैसे स्थिर रह सकता है? जब शासनकर्ता का अस्तित्व सिद्ध हो गया तो यह प्रभ उठते हैं—

(१) इस शासनकर्ताके गुण क्या हैं?

(२) उसके शासनकी रीति क्या है?

(३) इमलोग जो उसके शासनमें रहते हैं, क्या हैं और किस प्रयोजनसे बनाये गये हैं?

ऐसे विचार उन्हीं धोड़े-से दर्शकोंके विचारमें उठते हैं जो इस मेलेका तत्त्व जाननेका प्रयत्न करते हैं और मेलेसे बौट जाते हैं परन्तु और मेलेवाले ऐसोंपर इंसते

हैं। पशुओंमें भी समझ होती तो वे भी उनपर इंसते जिनको दाना-वास छोड़कर और बातोंकी चिन्ता नहीं रहती है।

ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु सबका खण्डन हो सकता है। इसीसे सांख्य-शास्त्रके आचार्य कपिलने कहा है कि—

ईश्वरासिद्धः

संसारमें साधारणतः और भारतवर्षमें विशेष करके अनेक सन्त हो गये हैं। इसका एक उदाहरण महात्मा सुरक्षितरो है। सुरक्षितरोजी मिथिलेश-नन्दिनीजीको अपनी बेटी मानकर भावना करते थे। अयोध्या आते थे तो सरयुके उत्तर तटपर वहरते थे, क्योंकि जामातके नगरमें जाना निषिद्ध है। उनके पास सीताजीकी बड़ी सुन्दर मूर्ति थी, जिसका वे निय शूंगार और पूजा करते थे। एक दिन फूलोंके बड़े सुन्दर गहने बनाकर आपने मूर्तिका शूंगार किया और ध्यानमग्न हो गये। भावना करते-करते कहने लगे कि इसने सो अपनी बेटी महाराज दशरथके घर यह समझकर व्याही थी कि वे धनाढ़ी हैं, पुरीको सोने-के गहने पहानायें। हस्ती भावनामें वह अस्त्यन्त ध्याकुल हो गये और रोने लगे। श्रीजी भावनामें उनको दर्शन देकर बोली कि ‘बाबा, सोच न करो, यहाँ गहनोंकी कमी नहीं है, गरमीके कारण सोनेके गहने उतार दिये और फूलके गहने पहन लिये हैं।’

क्या इम इनको भूता मङ्कार और दगावाल समझें? या पागल भानें? परन्तु और बातोंमें सम्मेंका पागलपन देख नहीं पढ़ता। इनके उपदेश समाजकी स्थितिके लिये अस्त्यन्त लाभकारी होते हैं। इजारों इनको पृजते हैं। इनमें किनते पहेलिये विद्वान् भी होते हैं। इम यह माननेको तीव्रां है कि धर्मके नाममें बड़े-बड़े अस्त्याचार हुए हैं, परन्तु इसमें धर्मका क्या दोष है? दो-चार बने हुए सन्त स्वार्थी लोभी लम्पट निकल गये तो इसमें सारा सन्त-समाज कैसे कलंकित हो सकता है? धर्म वही है जिसमें उपदेश धृष्ण करनेवालेके विचारोंकी शान्ति हो; दुःख सहन करनेकी क्षमता बढ़ जाय और ऐसे उपदेश सम्मेंहीमें प्राप्त हुए हैं। इम उनको मङ्कार कैसे कह सकते हैं? ईश्वरके अस्तित्वका यह बहुत पुष्ट प्रमाण नहीं है, परन्तु इमारे मरणमें यह एक प्रस्तुत प्रमाण है।

कारसीमें एक पथ प्रसिद्ध है—

मर्दने सुदा सुदा न बाशन्द । नेकिन बहुदा युदा न बाशन्द ॥

अर्थ—

इरिन यदपि नहीं हरि भहीं । हरिसे कबहुँ बिलग नहि रहीं ॥

परन्तु भक्त और भगवान्त दोनोंकी महिमा उसीके समझमें आ सकती है जिसमें अदा और भक्ति दोनों हैं । मैं अयोध्यावासी हूँ । मेरे माता-पिता दोनों बैचाव थे और अयोध्याके प्रतिष्ठ महाराम बाबा रघुनाथदासनीके शरणागत थे । ये भगवानुरुप पहले बावशाही सेवामें रार्ट (Robert) साहबकी पक्षटनके सिपाही थे । मैं हनका बहुत सुँहलगा था । मैंने हनसे पूछा 'बाबाजी, मैंने सुना है कि एक बार आपके बदले भगवान्‌ने पहरा दिया था ।' बाबाजी कहने लगे—'बच्चे, हम क्या जानें, किसीने हमारे बदले पहरा दे दिया थीगा । हम तो दिन-भर अपनी बारकर्म बैठे 'सीताराम, सीताराम' जपते थे । कुछ भक्त सिपाही भी हमारे पास आकर बैठ जाते थे और घटटों रामधुन होती थी । एक बार हमने अपनी पक्षटनके कक्षान साइबके पास जाकर सक्षाम किया और उसमें कहा कि 'हम आपकी नौकरी न करेंगे ।' कक्षान बड़ा सज्जन था कहने कगा कि 'रघुनाथर्सिंह ! हम तुमको जानते हैं, सुम बड़े भक्त हो । तुम जहाँ भी चाहे रहो, तुम्हारी तनबवाह तुम्हारे पास भेजता दी जायगी ।' बाबाजीने उत्तर दिया—'मनुष मर्जी देते हैं कैसे राखें राम ।' इसका अर्थ यह है कि 'हम आपके नौकर हैं, काम भी पूरा नहीं करते सब भी आप हमको खानेको देते हैं । जब हम भगवान्की सेवा करेंगे तो वह हमको कैसे भूखा रख सकते हैं ?' इतना कहकर बाबाजी जगज्ञायुपुरीको चले गये । बहाँसे लौटेनपर कुछ दिन चित्रकूट रहे । फिर अयोध्यामें बासुदेव-घाटपर मौनीबाबाके शिष्य हुए और फिर बाबाजीवन श्रीश्यायोध्यासे बाहर नहीं गये, मेरे माता-पिताको बाबाजीके घरणोंमें बड़ी भक्ति थी । मेरा नाम भी उन्नीका रक्खा हुआ है । मेरे जितने संस्कार हुए सब बाबाजीकी आज्ञासे किये गये । जब मुण्डनका समय आया, तो पिताजीने बाबारे निवेदन किया कि बच्चेका मूँहन करना आहिये । बाबाजी बोले 'कल ले आओ, नाहीं भी साथ लेते आना ।' घर छौटकर जब मेरी मातासे कहा तो माता कहने चाही कि 'साइत भी पूँछ ली है ?' पिता-

जीने कहा कि 'बाबाजीकी आज्ञासे बहकर साइत नहीं हो सकती ।'

दूसरे दिन हमलोग गवेशी नाईको साथ लेकर छावनीमें पहुँचे । बाबाजी उस समय सरयू-ज्ञान कर रहे थे । पिताजीको दण्डवत् करते देखकर अपने शिष्यसे बोले कि 'वह कटोरी उठा लाओ जिसमें हम शालग्राम नहालते हैं ।' शिष्यने कटोरी लाकर नाईको दे दी और उसने उसमें सरयू-ज्ञक भर लिया । बाबाजीने कहा 'अरज्ञा मूँह लो ।' नाई यिताजीको देखने लगा और पिताजीने डसका अभिग्राय समझकर कटोरीमें कुछ रूपये ढाल दिये । मुरादन हो गया और हमलोग बाबाजीको दण्डवत्-प्रणाम करके घर चौट आये । ताहे इसके पीछे बहुत दिनोंतक जिमा और सदा यही कहता रहा कि 'भहशा जबसे है कटोरा मोरे घर आया है, मोरे खायका नहीं घटा ।'

इसके पीछे ही दिन पीछे पौँछवें वर्षमें विशारम्भ निश्चय किया गया । हमलोग कायस्थ हैं, हमारे यहाँ मौजकी बुलाये जाते थे और कातिहा पढ़कर 'विसिल्हाह' कराया जाता था । परन्तु पिताजीकी भक्ति उन्हें फिर बाबाजीके चरणोंमें ल्हीच ले गयी और बाबाजीकी आज्ञासे पाटी-बोरका लेकर हमलोग छावनी पहुँचे । बाबाजीने बोरके-में सरयूजीका कीच धोकाया और कसेहरी (एक प्रकारकी कच्ची किलक) भगवाकर उसकी लेखनी बनायी गयी । फिर महारामाजीने मुझे अपने पास बिठा लिया और पटीके ऊपर विनयपत्रिकाका एक पट लिखा । बाबाजी बोकते जाते थे और मैं दोहराता जाता था । पद समाप्त होनेपर वही पाटी, बोरका और कजम मुझे दे दिये गये और मुझसे कहा गया कि इसी लेखनीमें पाटीपर एक रेखा ल्हीच दो । बाबाजीका पक्काया हुआ कलम मत्तर बरस हो गये, अबतक मेरे हाथसे नहीं छूटा ।

जब स्कूलमें नाम लिखा गया तो जब-जब परीक्षा होती थी बाबाजीसे आज्ञा ली जाती थी । ५ बरस स्कूलकी और ४ बरस कालेजीकी पदायीमें कभी बिरला ही अवसर हुआ है जब दर्जेमें पहले से दूसरा नम्बर आया हो । अबधके स्कूलोंको भिलाकर जब परीक्षा हुई तो अबधमें सबसे ऊँचा नम्बर रहा । जब अबध और परिमोत्तर देशके कालेजोंको भिलाकर इमित्हान किया गया तो उसमें भी अबध ही नम्बर रहा और जब भी १० प० की परीक्षा ही

गयी तो उस समय अकेला कलकत्ता-विश्वविद्यालय था जिसमें लंका (कोलकाता), रंगन, पश्चात, मध्यप्रान्त और पश्चिमोत्तर देशके छात्र सम्मिलित थे, उसमें भी सबको ऊँचा नम्बर भिला, जो हस्त प्राप्ति के रहनेवालेको न पहुँचे कभी भिला था और न उसके पीछे कभी भिला । कलकत्ता-विश्वविद्यालयमें अवश्यक मेरी प्रतिष्ठा है और वहाँके सुप्रसिद्ध बाह्य-चान्सलर सर आशुसोष मुखोपाध्याय मुझे One of my most distinguished fellow graduates for whom I have the highest respect लिखा करते थे ।

तीसरी घटना हसीके कुछ दिन पीछेकी है । जून १८७९ में मेरा विवाह हुआ । जब बरात समर्थीके हार-पर पहुँची और पालकी उत्तराकर रक्खी गयी, उन्हीं बाबाजीके दो चेले फूलकी पुक माला और दो बड़े-बड़े आम लिये हुए पिताजीके पास पहुँचे और बोले कि 'बाबाजी-ने बच्चे के लिये यह माला और दो आम भेजे हैं, पिताजी उनको लेकर मेरे पास आये । माला मेरे गलेमें ढाल दी गयी और दोनों आम जैमें ही बैरागी मेरे हाथोंपर रखने लगा, पिताजी बोल उठे कि बाबाजीने तुम्हें हस्त विवाहसे दो पुत्र दिये । दोनों पुत्रोंमें ज्येष्ठ हस्त समय आबकारीकमिभर-का परसनल असिस्टेण्ट है और उसका छोटा भाई रजिस्ट्रार डिपार्टमेंटल इकाजिमिनेशन्स है । हस्तके उपरान्त उमकी मानाने त्रिवेणी-वास लिया ।

मुझे भी बैण्णधी शिक्षाका प्रभाव पद-पदपर अनुभूत हुआ है । संसार कींठोंका बन है । बड़े-बड़े संकट झौलने पढ़े हैं परन्तु हस्त शिक्षाने कवचका काम किया है । छोटे मुँह बड़ी बात है, परन्तु अनेक अवसरोंपर ऐसा अनुभव हुआ है कि भनुत-वाण लिये हुए सरकार मेरे पीछे लड़े हैं और कहते हैं कि 'सावधान, जबतक तू धर्मपथपर चलेगा, तेरी रक्षा की जायगी और तू विच्छिन्न होगा तो तू भी मार ला जायगा ।'

हस्त ७५वर्षके जीवनमें अनेक घटनाएँ ऐसी हुई हैं जिनसे बचनेके लिये ईश्वरको धन्यवाद दिया गया है । साहित्यक्षेत्रमें ही एक महाशयने हमारा अपमान करनेमें कोई कसर नहीं रखी परन्तु हमने कभी उनकी और

उनके साथियोंकी परवा न की । हमारे भित्रों और सहायकोंकी कमी नहीं थी परन्तु सबको रोक दिया और यही कहते रहे कि जो व्यर्थ द्वेष या ईर्ष्यके बश हमपर बार कर रहा है उसके प्रत्युत्तरमें कोई जाम नहीं है, ज्योंकि ईर्ष्य एक ऐसी अग्नि है जिसे मनुष्य आप ही उत्पन्न करता और आप ही उसमें भय होता है । और ईश्वरकी दयासे हमारी हारनिको कौन कहे, लगातार उच्चति ही होती गयी । और हमें इस बातका सन्तोष है कि हम कुछ साहित्य-जीवियोंकी सहायता कर रहे हैं । इसको हम ईश्वरकी दया न कहें तो क्या कहें ?

एक घटना हम और लिखना चाहते हैं । मुरादाबादमें जब हम डिप्टीकलक्टर थे तो एक मण्डली पेसी बनी हुई थी जो कहती थी कि हमसे मिलकर रहो, जितनी चाहो उतनी रिश्वत लो । उस मण्डलीमें नित्य ररिद्धियोंका जलसा होता था । यह भी एक प्रलोभन था । परन्तु हमने अपने कर्तव्यके विचारमें उस मण्डलीमें सम्मिलित होना स्वीकार न किया । एक दिन २० वीं तारीखको सूर्य अम छोने लगा जब हम कच्छीरमें उठे । विकटोरिया-फिटनकी सवारी थी । सईसने कहा कि टप (Hood) पिरा दिया जाय, हमने कहा नहीं, देर हो गयी है घर चलो । जब हम शहरमें पहुँचे तो तहसीलके फाटकेके सामने एक दुष्टने एक लाटी चलायी । लाटीका बार टपपर पड़ा और उसकी उछलती चांटहमारी बायें केनपटीपर लगी । इसके कारण वहाँ सूजन हो गयी । टप न उठा होता तो खोपड़ी चूर हो गयी होती । हमारा गूजर चपरासी कोचबकसपरमे कूद पड़ा और उस दुष्टको पकड़कर कोतवाली ले गया । दूसरे दिन ज्वाइण्ट मजिस्ट्रट टैन उसे आठ महीनेका कारावास दिया । हम जानते थे कि उसने यह काम किसकी प्रेरणासे किया है परन्तु ईश्वरको धन्यवाद देकर सुप रहे । इसे ईश्वरकी दया न कहें तो क्या कहें ?

आपने अपनी आँखों देखा है कि हमने अपने मकानमें एक कमरा रामायण-मन्दिर बना रखा है । उसमें अनेक प्रकारके रामायण-ग्रन्थ और रामचरित-सम्बन्धी चित्र हैं । हम उसीमें रहते हैं । चौकीके सामने श्रीरामजानकीका एक सुन्दर चित्र लगा हुआ है । उसके दर्शनसे खोचन तृप्त रहते हैं ।

(२९) महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण

१—श्रीभगवान्‌को माननेमे मनुष्य परा-शास्ति और शाश्वत-स्थानकी प्राप्तिका अधिकारी होता है । प्रमाण यह है —

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति ।

प्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्राहृडानि मायथा ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभूतेन भारत ।

दत्तप्रसादात्परा शक्तिं स्थानं प्राप्त्यसि शाश्वतम् ॥ (गीता)

२—श्रीभगवान्‌को न माननेमे मनुष्य इस संसारमें सर्वथा विजित होता है तथा बूसरोंका अनिष्ट करनेमें प्रकृत होता है । प्रमाण—

अस्त्वमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।

अपरस्परसमूलं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥

एतां दृष्टिप्रदृश्य नष्टमानेऽन्तपुद्युष्यः ।

प्रमवन्त्युपकर्मणः क्षयानं जगतेऽहिताः ॥

कामाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।

मोहादृग्दृष्टिवाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिवताः ॥ (गीता)

३—अनुमान और भूतिके द्वारा भगवान्‌का परोक्ष-ज्ञान होता है । उनकी हृषा होनेसे प्रत्यक्ष-प्रमाणद्वारा भी सर्वत्र उनकी सत्ताकी उपलब्धि हो सकती है । प्रमाण—

ये मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यति स च मे न प्रपश्यति ॥ (गीता)

न्यायाचर्चेभ्यमीशश्य अवणानन्तरागता ।

उपासनैव क्रियते मननव्यपदेशमाक् ॥

(न्यायकुमाराज्ञि)

तं द्वैषनिवदं पुरुषं पृष्ठापि । (छान्दोश्चोपनिवद्)

४—जीवनकी प्रत्येक विपक्षिमें ही ईश्वरकी मत्ता और करणा स्पष्टरूपमें प्रकाशित होती है । जैसे—

विषदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्युराः ।

मवतो दर्शनं यस्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

(भीमद्वागवत)

(३०) सर लत्लूभाई साँवलदास

३—जिन लोगोंने हम जगत्के कारण और प्रयोजन-को समझनेके लिये गम्भीरतापूर्वक विचार किया है उनको अर्धाचीन विज्ञानके द्वारा प्राप्त हुए परिणामों नया अर्धाचीन और प्राचीन दार्शनिकोंके द्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्तोंके अध्ययनमें ज्ञात होता है कि विज्ञान और दर्शनकी अधिकार-सीमाके परे एक बहुत है जिनकी क्षियाक्षीलता ऐसे दृश्योंमें व्यक्त हो जाया करती है जिनका रहस्योदायाटन विज्ञानके द्वारा नहीं होता, तथा जिनका निर्णय तथा कथित वैज्ञानिक रीतिहारा नहीं किया जा सकता । उस जाकि अथवा मत्ताके गुणोंका वरांन वैशिककालीन वैशियोंकी 'नेति-नेति' के द्वारा सम्यक्रूपमें होता है । उम शक्तिको परवाह, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, पुरुषप्रकृति, भगवान् अथवा दैव जिन नामसे मनुष्य चाहते हैं, पुकारते हैं । जब विज्ञान जगत्के रहस्य-के उद्घाटनमें असमर्थ होता है तब प्रायः हम सबके भीतर इसके सम्बाधानकी डस्कलट्ट होती है, जो इसे

किसी देवी शक्तिमें विश्वास करनेके लिये विचार करती है जिसे हम ईश्वर कहते हैं । मैं समझता हूँ कि ईश्वरको सत्तामें विश्वास करनेमें यह सर्वश्रेष्ठ प्रबल प्रमाण है ।

४—उष्ण वाह्यण-बंशमें उपलब्ध होने तथा सवानमी देवी और देवताओंके विश्वासमें पातें-पोमें जानेके कारण पाश्राय लेखकों तथा धार्मिक हिन्दू सुधारकोंके करदान-मण्डनके सम्पर्कमें आनंदर मेरे हृदयको गहरी टेस लगी । आगमटस कौट, हवर्ट एंप्रेसर और हैलसलेके प्रत्योंको पढ़कर मेरी प्रद्रुता मूलतः लड़काणा गयी । लालसू बैडला और शीमीनी पूजी बेयरटके लेखोंने मेरी बीस बर्चकी अवस्थामें ही मुझे संशयवादी (Agnostic) बना दाका । यद्यपि मैं तुले तौरपर ईश्वरको अस्तीकार करता था परन्तु बहुधा अपने विज्ञानके अधूरे ज्ञानपर मैं विराजा हो जाया करता था । जैसे-जैसे समय चीतता गया और जैसे-जैसे मुझे यह बान पढ़ने लगा कि विज्ञान और अर्धाचीन दर्शन परम झाक्के द्वारको नहै

खोलते, वैसे-ही-वैसे मेरी निराशा बढ़ती गयी। इसी सन्दर्भ मानसिक दशामें मेरे भद्रास्पद गुरु श्रीरामकृष्ण आण्डारकरने मेरे हाथमें William James की *Verities of Religious Experience* नामक पुस्तक दी। यहाँसे मेरे धार्मिक जीवनमें परिवर्तन प्रारम्भ हुआ।

विज्ञान और दर्शनके परे कोई शक्ति है, इस विश्वास-
का बीज मेरी वही लड़कीकी दुःसाध्य बीमारीके अवसरपर
मेरी स्वर्गीय पत्नीकी ईश्वरीय भावनाके हारा पलटविन् हुआ।
मेरी दूसरी लड़की ने जब अपनी श्रीधरकालीन और
दुःसाध्य बीमारीमें अस्थन्त शारीरिक पीड़ासे दुखित

हुते हुए भी अस्ति और अद्वाके पश्चोंकी रचना की तो उसके प्रभावसे मेरी ईश्वरास्तिथिकी अद्वा और भी अधिक बढ़ गयी। इत्यप्रकार जिस अमृतपूर्वे अद्वामे मैं सम्पर्क हुआ, वह न तो मेरे बधानकी अद्वा थी और न इमारी सहायता: देशवासियोंकी अद्वा थी, परन्तु मेरे प्रयोजनके लिये वह पर्याप्त थी। ईश्वरमें इत्यप्रकारकी आस्थाका पुनर्वार होना उस प्रमुखी महत्वी दयाका एक चिह्न है। मैंने उम्मीको कृपा तथा रक्षाके अनेकों प्रसंगोंका अनुभव किया है, परन्तु वह मेरे व्यक्तिगत्ये इतना घनिष्ठ सम्पर्क रखते हैं कि उनका उड़नेले न करना ही ठीक है।

(३१) स्वामी श्रीअमेदानन्दजी, अध्यक्ष श्रीरामकृष्ण वेदान्त-आश्रम

१- ईश्वर हमारे प्राण पूर्व चेतनाका अनन्त स्रोत है तथा हमारे आत्माका आत्मा है। इसीलिये हमें उसके अस्तित्वमें विश्वास करना चाहिये। हम उसीके अन्दर रहते हैं, उसीके अन्दर जलते-फिरते हैं और उसीके अन्दर जीतते हैं। परन्तु हमें ऐसे ईश्वरकी सचामें विश्वास नहीं करना चाहिये जिसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि वह हम बाह्य जगत्को शून्यमें उत्पन्न करता है और जो अपने धार्म में सिंहासनासीन होकर पापियोंको नरककी ज़ालामें अनन्त कालतक ज़लाता है और पुण्यात्माओंको अद्यत्य स्वर्ग-सुखकी प्राप्ति कराता है। हमप्रकारका ईश्वर साधप्रदायिक मिथान्तों पूर्व विधि-निषेधोंके पोषक प्रचारकोंकी कल्पनामें ही रहता है।

और हमारा जीवन पशुओंका-सा हो जायगा । दूसरे और तीसरे प्रश्नोंका उत्तर भी हमींके अन्दर आ जाता है ।

४—मैंने सारे संसारका भ्रमण किया है। मैं जिस समय
संसार-न्याश्राके लिये चला था, उस समय एक बिल्कुल
अकिञ्चन संन्यासी था। मैंने लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क,
सैन्फ्रान्सिस्को सथाअमेरिकाके संयुक्तप्रदेश, कनाडा,
अलास्का एवं मेक्सिकोके अन्यान्य नगरोंमें भाषण दिये,
अमेरिकाके संयुक्तप्रदेशमें धर्मोपदेशके रूपमें २५ वर्ष
ब्यतीत किये, अटलान्टिक महासागरको सत्रह बार पार
किया। जापान, चीन एवं फ़िलिपिनाहृत्रीप्रमें भ्रमण किया
और भारतवर्षको लौटनेपर मैंने पैदल हिमालयको पार
किया और तिब्बतको गया और फिर २५ वर्षतक
केवारनाथ, बद्रीनाथ, गঙ्गोत्री, जगन्नाथरी, अमरनाथ,
द्वारका, रामेश्वर एवं अन्य स्रोतोंमें भ्रमण करता रहा।
मेरे जीवनके हस दीर्घकालमें हजारों ऐसी घटनाएँ हुईं
जिनमें सेरा हैररकी सत्तामें विश्वास ठहरोता गया और
भुक्त सर्वश्रु उस सर्वशक्तिमान जगदीश्वरकी दया-हीनदया
दीख पड़ी। जिसे हृष्टमें विश्वास होता है उसकी भगवान्
स्वयं सारी अवस्थाओंमें रक्षा करते हैं। वह जीवन्मुक्त
हो जाता है और शरीर छोड़नेके बाद शक्तिसुख एवं
ब्रह्म-भावको प्राप्त हो जाता है।

* पहले और दूसरे प्रश्नोंका भी आपने उत्तर लिखा था, पर किसी कारणवश उसको प्रकाशित नहीं किया गया। पूर्ण वर्णोष्ठान, विद्याज लेखक महोदय कल्याणकी नीतिको समर्पकर क्षमा होंगे। — सम्पादक

(३२) श्रीआनन्दघनरामजी

१-(क) क्योंकि, हमारे कल्याणके लिये प्रयत्न करनेवाले आह-पुरुषोंने ईश्वरमें विश्वास करनेके लिये कहा है ।

(ल) क्योंकि, हमें एक ऐसी शक्तिकी आवश्यकता है जो हमें कल्याण प्रदान करनेवाली, उच्छितमें सहायता पहुँचानेवाली हो ।

(ग) सत्य और सामर्थ्यवान् शक्तिरूप ईश्वरका अस्तित्व है, इसलिये हमें उसमें विश्वास करना चाहिये ।

२-(क) ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं करनेमें हम श्रेष्ठ और महान् विश्वायोंके बचनोंका उहङ्करण करनेवाले अहंकारी होकर पतितावस्थाको प्राप्त हो जायेंगे ।

(ल) हम कभी अपनी पूर्ण उज्ज्ञान नहीं कर सकेंगे ।

(ग) ईश्वर एक श्रेष्ठ शक्ति है, ऐसा विश्वास न होनेमें उस शक्तिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न नहीं हो सकता, और उसके सामर्थ्य और गुणका ज्ञान नहीं हुआ तो उसके साथ एकत्रितीय प्राप्ति न हो सकेगी, हमें हम अज्ञानी, सामर्थ्यहीन, धीन, हीन और कुश्रुत ही बने रहेंगे ।

३- (क) पूर्वकालीन पुरुषोंमें अधिकाधिक लोगोंने ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार किया है ।

(ल) योगशास्त्रकर्ता महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्षेत्रकर्मविपाकाशयैरपरपरमृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

(१ । २४)

अर्थात् लेखा, कर्म, जन्म आदि अविद्यामें रहित उद्धार करनेमें समर्थ पुरुष ही ईश्वर है ।

तत्त्वनिरातशयं सर्वज्ञदीज्ञम् । (१ । २५)

अर्थात् उसमें असीम सर्वज्ञानका दीज्ञ है ।

पूर्ववामपि गुरुः कोलेनानवद्धेदात् । (१ । २६)

अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ और कालकी सीमाके परे है ।

(ग) भूति भी कहती है—

ब्रह्मत्र स्वशर्तं प्रहस्तमिवेयामाप्रित्य लोकान्सुहुता प्राविद्यान्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनो बुद्धिनिद्र्यनियन्त्रित्वादीश्वरः ।

(निराकरणोपनिषद्)

अर्थात् वह ब्रह्म अपनी जड़ियों प्रहृतिके घोग्से सब

लोकोंको उपचाकर उनके अस्तित्वमें प्रवेश करके सबकी बुद्धि, इन्द्रिय आविद्या नियन्त्रण करता है, तथ उसे ईश्वर कहते हैं ।

(घ) श्रीमद्ध्युक्तराचार्य भी कहते हैं—

मायोपाधिसनीभर इत्युच्यते, अविद्योपाधिसनात्मा, और इत्युच्यते । (तत्त्वबोध)

अर्थात् ब्रह्म मायाकी उपाधिसे युक्त होकर ईश्वर कहलाता है तथा अविद्याकी उपाधिसे आत्मा अयवा अविद्य कहलाता है ।

(ङ) श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् ने कहा है—

ईश्वरः सर्वमूत्तानां दद्वेऽर्जुन तिष्ठति ।

(१८ । ६१)

अर्थात् हे अर्जुन ! ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें वास करता है ।

यो लोकत्रयमादिश्य विमर्शेष्य ईश्वरः ।

(गीता १५ । १०)

अर्थात् जो अविनाशी सीमों लोकोंमें व्याप्त होकर उसको धारणा-पोषण करता है वह ईश्वर है ।

इसप्रकार आप-वाक्य शब्द-प्रमाण है । अब अनुमान-प्रमाण लीजिये । जिसप्रकार वर्षाकी अनेक बृंदे जिस अज्ञान खजानेसे निकलकर भाकाशमें आ पृथ्वीपर गिरती हैं उन्हींको समुद्र कहा जाता है । ये बिन्दु उसके योतक होते हैं, उसी प्रकार वह अनम्न भूत जिसमें निर्माण होते हैं वह खजाना ईश्वर ही है ऐसा अनुमानद्राशा व्यक्त होता है । अब प्रत्यक्ष-प्रमाणको लीजिये ।

मैं हूँ । मैं ज्ञान, सुख और सत्त्वाका स्वयं अनुभव करता हूँ । मैं हूँ (अस्ति), इस विद्यमें मुझे राहा ही नहीं है । मैं हूँ, इसकी ज्ञानमुरणा (भावि) मुझे ही होती है, मुझे सबमें अधिक प्रिय 'मैं' ही है । यही (सद्विद्य, आनन्द) सामर्थ्य, ज्ञान और आनन्दका पूर्ण ज्ञानिक्षयान अर्थात् ईश्वरका प्रत्यक्ष-प्रमाण है ।

इस 'मैं' स्वयं सीमित सत्ता, सीमित ज्ञान और सीमित आनन्दका अहङ्कार मेमके हाता वितनी अधिक सीमामें एकरूप होकर बड़ा जायगा उठाना ही अधिक ईश्वरीय सामर्थ्य अनुभव करने-करते अनुभव पूर्व

ईश्वरीय सत्ताके अनुभवका आनन्द प्राप्त करेगा । वह प्रत्यक्ष-प्रमाणका ज्ञानानुकूल अनुभव प्रस्तुत है ।

(४)—इस प्रश्नके उत्तरके लिये मेरी १५ वर्षोंकी अवधिस्थासे लेकर आजतक लगभग ७० वर्षके अनेक अनुभव मेरी डायरीमें दर्ज हैं, उनमें ६० डायरियाँ मेरे पास देखी हैं, जिनमें बड़े-बड़े छोगोंके अनुभव उनके हस्ताक्षरके साथ छिपे हुए हैं । तथापि उनमेंसे केवल ८ अनुभव संक्षेपमें यहाँ दिये जाते हैं ।

(क) मेरे पिताजी छोटी अवधिस्थासे ही पुराण आदि प्रन्थ बाँचा करते थे । जब वे पोथी बाँचने लगते तो मैं उनके पास बैठकर सुना करता था । परम्परा पोछे जब मैं शिक्षा प्राप्त करने लगा और कुछ साहित्यका मैंने अध्ययन किया तो उन कथाओंके विषयमें मुझे संशय होने लगे । ऐसी स्थितिमें ही मैं सन् १८८३ हूँ में चिन्हणी गाँव अपने ननिहासमें गया । एक दिन मैं गाँवके बाहर उत्तर भूमिमें जाकर बैठा था कि मुझे स्पष्टतः यह बायी सुन पड़ी कि ‘मूँछः महीनेके अनंदर मर जायगा ।’ मैंने तभीसे पाठशास्त्रा छोड़ दी और पड़ना लिखना भी छोड़ दिया तथा शिवमन्दिरमें बैठकर दिन-नात भगवान्नके व्यानमें बिताने लगा । छः महीने बीतनेपर मुझे सन्नोष हुआ और तब इन्द्रियातीत ज्ञानका भी मुझे अनुभव होने लगा । सन् १८८४ के सितम्बरमें मेरे पिताजा अचानक देहान्त हो गया । स्कूलमें मेरी शिक्षा मराठी पाँचवें दर्जेतक हुई थी तथा अंगरेजी दूसरी उपलक्षसे मैंने इस पाठ पढ़े थे । सन् १८८५ हूँ मैं में पटवारीगिरीकी परीक्षा पास करके पटवारीका काम करने लगा । किसी सुयोग्य सदगुरुहारा भन्न लेनेकी इच्छा मेरे मनमें उत्पन्न होने लगी, परन्तु खोजनेपर मुझे कोई योग्य गुरु न मिला । अचानक ता० ६-८-१० को एक पुरुषने स्वभूमें मुझे मन्त्रोपदेश किया और अपनेको चैतन्य-सम्प्रदायका अनुयायी बतलाकर परानन्द और ज्ञाननन्द नामक प्रन्थ पढ़ने तथा नागपुरकी ओर साक्षात्कार होनेकी बात कहकर चला गया । जगनेपर मैंने बहुत दिनोंतक उन पुस्तकोंकी ज्ञानशक्ति । अन्तमें एक दिन एक बनियेके रही कागजोंके बोरेमें खोजनेपर मुझे अचानक वे व्याप्त मिल गये और उन्हें पाकर मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ । किंवित थीं ११—१२—१३ हूँ १० के दिन नागपुरकी ओर नादगाँव नामक ग्राममें वर्षान मिये हुए पुरुषके बाबू समयके लिये

मुझको दर्शन हुए और उन्होंने मुझे स्वप्नकी याद दिलायी और फिर प्रसाद देकर वह कहीं निकल गये ।

(ख) ता० ८—१२—१० हूँ ० की बात है, मैं तासगाँव-में पटवारीका काम करता था । एक दिन कलापटर मिं केंद्रीने मुझे बाँधोंकी ओर फस्त जाँघ करनेके लिये बुलाया । वह काम किसी दूसरे पटवारीहारा हुआ था, उसके विषयमें मुझे कुछ जानकारी न थी, उस समय जो मैंने साहबके साथ स्पष्ट और स्तरी बातें की तो उसे मुझपर गुम्सा हो आया । चिटनालीस बलवन्त मास्कर लॉडेकरने उनसे बन्तुस्थितिको खूब समझा दी थी, तथापि वह एक पटवरको ढोकर मारकर मेरी ओर बैंत उठाकर लपका; मैं प्रभु-अरथमें ज्यों-का-र्सों जान्त और निर्भय सड़ा था । मेरे समीप आकर उसने मेरे ऊपर उठाये हुए बैंतको बापस लिया और क्षेत्रित होकर चपरासीको बुलाकर उसमे कहा—‘उठाओ पथर, सिरपर दो ।’ चपरासीने पथर उठाकर अपने सिरपर रख लिया । साहेबने किस एक-दो-बार उसे ‘सिरपर दो, सिरपर दो’ कहा; और चपरासीने दोनों ही बार उत्तर दिया—‘ले लिया है साहब !’ तब साहबने उमे दो बैंत लगाये और कहा—‘फैक दो’ चपरासीने पथर फैक दिया । इसप्रकार साहेब-के ‘दो’ शब्दको उसने ‘दो’ समझा और बैंत मेरे ऊपर न लगाकर उसके ऊपर कहे ।

(ग) ता० ४-९-१७ की बात है । मैं बैंदरी गाँवमें पटवारीके कामपर था । कागजात देखनेके लिये साँगलीके नायव-पदाधिकारीने मुझे बुलाया । उनके कुकर्ने कागजों-को देखनेके लिये मुझसे कुछ रुपये माँगे और बिना रुपये लिये कागजोंको देखनेमें इनकार कर दिया जिससे मैं लौट न सका । अन्तमें जैने एक दिन सबरे नायव-पदाधिकारी-के घरपर आकर गुस्सपसे उससे सब बातें कह दालीं । दोपहरके बज्क कच्छही जाकर उसने मुझे बुलाया और सरकारी तौरपर मुझसे ज्ञान तलब किया और कहा कि ‘ओ कुछ तुमने मुझसे कहा है तो मैं सिद्ध करो, नहीं तो मेरे आफिसको बदनाम करनेके कारण तुमपर दावा किया जायगा ।’ मैंने कहा—‘कोई गवाह तो मेरे पास नहीं है, उस कहके ही बुलाकर ज्ञान तलब कर लीजिये ।’ कुकर्ने उलटे मुझपर ही दोषारोपण किया और कहा कि, ‘यही जल्दी लौटनेके गर्जसे कागजातको देखनेके लिये मुझे दो रुपये दे रहा था परन्तु मैंने कम आगेपर देखनेका बाद

किया था, इस वासको शिरगाँवका पटेल जानता है ।' यह सुनकर मैंने उसकी ओर देखकर जोरसे पछा—'क्या आपने मुझसे रुपये नहीं माँगे थे ?' मेरे शब्दोंको सुनते ही वह बेहोश होकर झटकीनपर गिर पड़ा । डा० गोडवेके बुजाने चपराई दौड़े, उनके आनेके पहले ही वह होशमें आया और अपने रुपये माँगनेके अपराधको स्वीकारकर उसने कमा माँगी । इसप्रकार उस प्रसङ्गमें प्रभुने मुझे बचाया ।

(ब) ता० ११-११०१ की बात है प्लेगके कारण इमलोग वासदीके लेतोंमें मोंपियोंमें रहते थे तथापि मैं प्रतिविन सौ-पचास प्लेगके रोगियोंको देखकर उन्हें ओषधि दिया करता था । इसी बीच मुझे और मेरी भीको बुजार चढ़ आया और तीन दिनतक इस पड़े रहे । डा० साधवराव सोनी रोज आकर हमें देख आया करते थे । एक दिन मैं बिल्कुल बेहोश हो गया । घरके लोग सब काम बोड़कर मेरे पास बैठ गये । मेरा मानसिक जप चल रहा था । एक बजेके बाद तो मुझे कुछ भी होश न रहा, केवल मनोमय जपका स्मरण हो आता था । करीब तीन बजेके समय मेरी बार्यां और एक काली और भयकर बड़ी आकृति आकर बैठ गयी और मेरी पीछें नीचेमें हाथ ढाककर उसने मुझे उडाना चाहा । इस समय मेरी आँखें सुँदी हुई थीं परन्तु वह स्वप्न नहीं था; इसी बीच आकाशमें एक लम्बी-सी सूक्ष्म आकृति दीख पड़ी और एक सूक्ष्म आवाज सुनायी देने लगी । वह आकृति मेरे समीप आने लगी और आवाज भी कुछ बुझन द्वारे लगी । वह आकृति उस काली आकृतिकी अपेक्षा बड़ी थी, समीप आते ही वह पूर्णतया शीत पड़ने लगी । उसका शरीर उजका और मुँह जाल था, ऐसी श्रीनूमान्-जीकी सूर्सिको मैंने देखा । वह उस काली आकृतिको एकड़कर आकाशमें उड़ गयी । सब मुझे बाहरी होश हुआ, मुझमें ताकत आ गयी और मैं कपड़े पहनकर बाहर चला गया । कोरोने कहा कि हमें सक्रियता हो

गया है, बाहर न आने दो; परन्तु मैंने सबको अपने होशमें आनेका विश्वास दिलाया । मैं तो भीक दूर डा० सोनीके पास गया, उन्होंने देखा तो मुझे ३०३ बुजार था । वहाँसे मैं और वह साथ-साथ मेरी छोपड़ीको आये । मैं तो उसी तृण अच्छा हो गया और मेरी भी दूसरे दिन चंगी हुई ।

(क) ता० २६-११-१६१७ हॉ की बात है । मैं नियमित नियमके अनुसार आनन्दपर्वक काम-धन्यवेम लगा हुआ 'राम-नाम' स्मरण कर रहा था, उसी समय कुछ मित्र मुझसे फिलोके लिये आये हुए, एक स्नेहिके दिये हुए फलको मैं अपने मित्रोंको ईवरार्पण-बुद्धिसे बॉटकर अन्तमें अपने मुँहमें दे ही रहा था कि इतनेमें मेरे सामने अनन्तरिक्षमें नीलवर्ण प्रकाशमय वज्ञाभरणोंसे युक्त पैरोंमें पैजनी पहने सुरक्षी बजाती और नृत्य करती हुई एक वित्त की एक सजीव मूर्ति दीख पड़ी । अकस्मात् प्रकट हुई उस दिव्य मूर्तिको देखकर मैं चकित हो गया । मेरे नेत्रोंमें आनन्दाभ्यु भर आये, शरीर-में रोमाश्च हो गया और मैं तल्लीनमावसे उसकी ओर देखने लगा, वह मूर्ति बैसे ही नाचती हुई ऊपर उठती थीकी ही दरमें अनन्तरित ही गयी । मैं उसके स्वराके आनन्दमें मंसारको भूलकर वही स्वर्ण हो गया । बोलते-बोलते अचानक मेरी ऐसी अवस्थाको देखकर मित्र-मरणहोंकी विमित हो गयी । एक आदमी दाकरको बुलाने गया । दाकरके आनेके पहले ही मैं उनके साथ आनन्द-पूर्वक बातें करने लगा और मैंने इस चमकारको कह मुनाया ।

इसप्रकार मानवी शक्ति तथा मानवी प्रयत्नके परे अनेक प्रकारके अनुभव प्रदानकर प्रभु मेरे मनको विकसितकर सदा-सर्वं आनन्दपर्वक हरि-स्मरण कराते हुए परतुःस-निवारण तथा शान-शासके कार्यमें जीवन वितानेके लिये योग्य सहायता करते रहते हैं ।

(३३) राववहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए०, एल-एल० बी०

१-२—ये दोनों प्रश्न मेरी समझने व्यर्थ हैं । इश्वर हैं तो यह प्रश्न ही नहीं जलते । आप यदि काहें तो यह मान सकते हैं कि जक, आकाश अथवा सूर्य कुछ भी नहीं हैं और वह भी मान सकते हैं कि इन सबकी सत्ता-को न मानने मैं ही आम हूँ । परन्तु आपके न माननेवे

भी हूँकी सत्ता अवश्य है । इसके अस्तिरिक्ष अपने क्षम-के लिये इसी बातपर विश्वास करता बुद्धिमालीका काम नहीं ।

यदि हमें यह निश्चय है कि हंसवर हैं तो किर आपके मानने और न माननेवे हुए बलता विग्रहता नहीं ।

३—यह प्रश्न है कि ईश्वरकी सत्ताको माननेके लिये आपके पास क्या प्रमाण हैं बिल्कुल ठीक है। ईश्वरकी सत्तामें मुख्य तीन ही प्रमाण हैं, पहला अनुमान, दूसरा शब्द और तीसरा प्रयोग। हमारे जो स्वप्न सचे निकलते हैं उनके हारा ईश्वरकी सत्ता प्रस्तुत सिद्ध है। हन सब प्रमाणोंका विचार मैं अपने निवन्धनमें कर चुका हूँ।

४—इस प्रश्नमें आप दो बातोंको भूल से पकड़ में ही रख देते हैं। आप मुझने यह चाहते हैं कि मैं ईश्वरकी सत्ताके प्रमाणरूपमें अपने कुछ और अनुभव बताऊँ, परन्तु आप साथमें ‘दया’ को भी जोड़ देते हैं। इथाका प्रश्न बिल्कुल भिज है। पात्रात्मक विद्वानोंके मतमें ईश्वर सर्वशक्तिमान् एवं दयासामाग्र हैं, किन्तु वेदान्त-दर्शनको यह मिद्दान्त मान्य नहीं है। महर्षि बादरायणने एक सूत्रमें कम्बके मिद्दान्तको माननेके लिये ‘वैपर्यनेष्ट्यग्र-प्रसंगात्’ इस कारणका निर्देश किया है। किन्तु हमारे सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यको उमके कम्बके अनुसार ही शुभाशुभ फल मिलता है। इस कम्बके मिद्दान्तको न माननेमें ईश्वरके अन्दर विषमता (वैपर्य) एवं निर्दयता (नैषंग्र) का दोष आमा है। ‘हिन्दुधर्माची तरवे’ इस विषयपर मैंने जो कोई निवन्धन लिखे हैं तथा स्थाय्यान दिये हैं उनमें मैंने इस विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। मैं ईश्वरके अन्तिवके प्रमाणमें अपने एक स्वप्नका उल्लंघन करूँगा। वह हम्प्रकार है—अपनी हिन्दु-भारतका अन्त नामके पुनर्के मुद्रण-व्ययमें कुछ कमी पड़नेके कारण श्रीमान् महाराजा साहेब कास्मीरको इसे अपेण कर उनमें कुछ द्रव्य प्राप्त करनेके उद्देश्यमें मैं

श्रीकाशगर गया और वहाँ आठ-दस दिन घटहरकर इसके लिये उद्योग करता रहा, किन्तु सफल नहीं हुआ। मेरे मित्र जिनके यहाँ मैं ठहरा था, सुक्लमें कहने लगे कि तुम कुछ दिन और ठहरो और काश्चीरकी मैर करो। वे मुझे किसी प्रकार भी जाने नहीं देते थे। एक दिन रातको प्रातःकालके करीब मैंने स्वप्नमें एक आवाज़ सुनी ‘आरे, वैष्ण ! तू यहाँ क्यों पड़ा है, दक्षिणको लौट जा ।’ दूसरे दिन प्रानःकाल ही एक जल्दी तार मिला। बम्बईके निकट शासवने नामक आममें एक वैश्याश्रम है। यह तार उनके सुखायाध्यापकका भेजा हुआ था। उसमें लिखा था कि ‘अमुक तिथिको इस आश्रमका वार्षिक समारम्भ है इसके लिये आप अव्यक्त चुने गये हैं अतः अवश्य पधारिये।’ इस तारको पक्कर मेरे मित्रको आज्ञा देनी ही पड़ी। वग, फिर क्या था, मैं तुरन्त वहाँसे चल पड़ा। लौटी बार मैं इन्दौर होकर आया। वहाँ मेरे एक मित्र सरदार कीबे साहब है, मैं उनमें मिला तो उन्होंने मुझमें पूछा कि आप काश्चीर क्यों गये थे ? मेरे कारण बतलानेपर वे बोले ‘आप हतनी दूर क्यों गये ? मैं आपको इस हिन्दी पुनर्के मुद्रणके लिये सरकारी ग्राहणमें एक हजार रुपये देता हूँ।’ यह कहकर उन्होंने सप्तयोंका चेक भी उसी समय लिखकर दे दिया। मैं अपने इस स्वप्नपर आश्रय करने लगा और उम समय मुझे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि ईश्वर केवल है ही नहीं, किन्तु वे सबके अन्तःकारणमें रहकर ‘आमर्थन् सर्वभूतानि यन्त्रास्तानि मायथा।’ इस वचनके अनुसार सारे संसार-क्रको यन्त्रवत् चला भी रहे हैं।



(३४) डा० तारापद चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी०

१—क्योंकि ईश्वरमें विश्वास करना हमारा आन्तरिक स्वभाव है। देखा गया है कि मनुष्य जन्ममें ही ईश्वरमें विश्वास करता है। बिना किसीके उपदेशके वह एक ऐसी वस्तुमें विश्वास करता है जो स्वयमेव अस्त्रीय है तथा उसके नियमन और बुद्धिके परे है। कोई जन्ममें नामिक नहीं होता बस्तिक बनाया जाता है। वह परिस्थितियोंमें निर्मित होता है तथा अपने अपूर्व निर्णय (विकृत निगमन) के हारा ईश्वरकी यथार्थ भावना करनेमें असमर्थ होता है। इस अपने अस्तित्वके समान ही ईश्वरके अस्तित्वका निषेध नहीं

कर सकते। यथापि वह हमारी नक्षत्रिकी पहुँचमें बहुत दूर है तथापि हमें उसकी उपस्थितिका पग-पगपर अनुभव होता है।

२—ईश्वरमें विश्वास न करनेमें यही हानि होती है कि इस एक ऐसे तत्वको जान-दृष्टकर भुला देते हैं जो हमें कभी नहीं भूलता। यह तो मार्गमें पड़े हुए ढोकर देने-वाले पर्थर्डोंका विचार न करके आँख मृदंद करके दौड़नेके समान है। बहिक साथ ही ईश्वरके दयालु स्वरूपके प्रति अद्भुती अवज्ञा करनेमें इस कृतग्र बग जाते हैं, और

स्वयमेव जीवनके इस भ्रम-जालमें निरन्तर सहायता करने-वाले एक मित्रकी सहायतासे छाभ उठानेसे बचित रह जाते हैं।

(३)-ईश्वरकी भावना केवल अन्तर्ज्ञानसे होती है। ईश्वरसे एक ऐसी वस्तुका भाव होता है जिसमें प्रयेक वस्तुका समावेश हो जाता है। वह एक तत्त्व है जो आधम और अनाधम—समस्त इश्योंकी व्याख्या करता है। वस्तु स्वभावके अनुरूप, हमारी समस्त सत्ताके उसके अन्तर्गत होनेके कारण वह हमारी शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी शक्तिका विषय नहीं बनाया जा सकता। बुद्धिके द्वारा उसे खोजना, पुरुषीपर रहकर इसके चक्रके देखनेकी चेष्टा करनेके समान है। यही कारण है कि बुद्धि उमे पूरा-पूरा नहीं समझ पाती और संशयके लिये कुछ-न-कुछ अवसर रह ही जाता है। परन्तु हम उसका अनुभव कर सकते हैं और यह अनुभव ही उसके अस्तित्वमें विश्वास करनेका दृढ़ आधार है। तथापि हम कुछ हेतु उपर्युक्त करत हैं जिनसे हमारा समाधान हुआ है तथा जो औरेंका भी समाधान कर सकते हैं।

(क) ईश्वरके किसी रूपमें विश्वास करना, घाहे वह रूप केसा ही भावा क्यों न हो, हमारा जन्मजात स्वभाव है। देखा गया है कि अस्त्यन्त असम्भव जातिका मनुष्य भी किसी शक्तिमें विश्वास करता है जिसे वह अदृश्य समझता है और इसकिये उसकी अपने ही महे दंगमें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता है। सुसम्भव पुरुषके मनमें ईश्वरके दूसरे ही स्वरूपका भाव होता है जो सृष्टिके कल्याणके लिये सदा ही सावधान और चैतन्य रहता है। सुसम्भव पुरुष उसकी पूजा, उसकी महिमा और दयाका गुणागान करता हुआ उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। इस-प्रकार ईश्वरके दो स्वरूप हैं—भयानक और दयालु। पहले स्वरूपसे वह एक निरंकुश शासकके समान है, जिसके आदेशको पालन करना ही होगा। कोई भी, यहाँतक कि जड़-पदार्थ भी दखलमुक्त हो उसके आदेशोंकी अवहेलना करनेका साहस नहीं कर सकते। सूर्य, तारे, नक्षत्र, अग्नि, वायु और जल सभी नतसिर हो उसके आदिष्ठ पथका अनुसरण कर रहे हैं। दूसरे स्वरूपमें वह श्रद्धेय पिता, स्नेही मित्रके समान है, जो महान्-से-महान् और तुच्छ-से-तुच्छ प्राणीकी समानरूपसे सुचिलेता है। वह शिशुके उत्पत्त होनेके पूर्व ही माताके लिनोंमें दृश उत्पत्त कर देता

है, तथा जगत्को सब प्रकारसे सौम्य और सुसज्जित बना प्राणियोंके निवास योग्य बनाता है। यह दो स्वरूप जो जगत्के कोने-कोनेमें अभिव्यक्त दील पड़ते हैं प्रायः सार्वभौम ईश्वर-विश्वासके मूल आधार हैं।

(ख) सभी भुगों और देशोंके महामासोंने, जिन्हें तत्कालीन पुरुषोंने बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टिसे अपनेसे बहुत ही श्रेष्ठ समझा था, ईश्वरमें विश्वास तथा उसकी दया और न्यायमें श्रद्धा रखनेकी शिक्षा दी है। एवं उनमें किसी अन्य प्रवृत्तिका आरोपण नहीं किया गया है। उनमें भ्रमका सो आशेष ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि भ्रम या तो अस्त्यन्त अस्यमे उत्पत्त होता है या उत्कट अभिलाषासे। क्योंकि किसी भनुष्यका असरके पीछे दौड़ना सम्भव नहीं है, और एक सबे पुरुषमें, जो सांसारिक ऐश्वर्यकी विलक्षण ही परवा नहीं करता, अस्त्यन्त अस्यका होना स्थीकार नहीं किया जा सकता। इसलिये यह परिणाम निकाकना युक्ति-संगत है कि उन महात्माओंने अपने श्रेष्ठ अन्तर्ज्ञानके द्वारा, सांसारिक कार्यकलापकी क्षुब्धतामें सुकृ ही ईश्वरका प्रत्यक्ष अनुभव किया और दूसरोंको जो इससे बचित थे, अपने निजी विश्वासद्वारा प्रोत्साहित करनेकी चेष्टा की।

(ग) यह जगत् प्रत्यक्षरूपमें सामज्ञ्य और असामज्ञ्यका सम्मिश्रण है। रचना और विनाश, अमृत और विष, जीवन और मरण, प्रकाश और अन्धकार इस संसारमें साध-साध चलते हैं। तथापि संमारका प्रवाह चला जाता है, और विभिन्नतामें एकता, असामज्ञ्यमें सामज्ञ्य, क्षणभंगरुतामें नित्यता दीख पड़ती है। वह कौन-सी शक्ति है जो समन अव्यवस्थित शक्तियोंको नियमनमें रखती है, तथा समन असामान्यक दरर्थोंमें एक चरम सत्यका निश्चय कराती है? हम इस जगत्में प्रत्येक वस्तुको अपने स्थानमें पाते हैं, प्रत्येक वस्तुको अपने पृष्ठोंपर मात्र है, परम्पर क्रिया-प्रतिक्रियामें लगी हुई अपने निजी दंगमें विकसित हो रही है, मानो सबका लक्ष्य एक ही है। मनुष्यके मनमें इससे श्रेष्ठ रचनाका चिन्तन नहीं हो सकता। वह कौन है जो इसप्रकार छोटेसे-छोटे अणुओंके द्वारा खेल रहा है? इसे कोई बहुज्ञा, प्रकृति अथवा अनन्त कालकी क्षुब्धता ही क्यों न कहे, हम तो हमें ईश्वर कहेंगे। केवल नाममें मतभेद हो सकता है, तथ्यमें सब ही एक मत है।

(घ) इसमेंसे प्रत्येक भनुष्य करते हैं कि इस है, और

अपने निजके अस्तित्वमें अपने विश्वासका आधार केवल अपनी चेतना होती है। अर्थात् इस अनुभवका विषय एक अद्वैत सत्त्व है जो शरीरमें बिल्कुल ही भिज़ है, यह जीवनकी विभिन्न परिवर्तनशील अवस्थाओं—बाल्य, युवा, वृद्धावस्था, जाग्रत्, स्वप्न, सुखुमि प्रभृति सभीके अन्तर्गत अनुभूतिकी एकत्राके द्वारा सत्त्व उस स्मृति-शक्तिके द्वारा सिद्ध होता है जो जीवनकी विभिन्न अवस्थाओंको एक सूक्ष्म में प्रथित करती है। हम जानते हैं कि हमारा शरीर भौतिक है, क्योंकि वह द्रव्योंके द्वारा अर्थात् रज-वृद्धिके द्वारा निर्मित होता है, द्रव्यके द्वारा पोषण किया जाना है, और द्रव्योंकी कर्माके कारण विनाशको प्राप्त होता है। हम यह भी जानते हैं कि समस्त भौतिक द्रव्य जड़ होते हैं, इसलिये किसी प्रकारके भी विनियम अथवा मिश्रणमें द्रव्यके द्वारा चेतना नहीं उत्पन्न हो सकती, क्योंकि यह माना जाता है कि द्रव्यात्मक विभिन्न तत्त्वोंके मिश्रणके द्वारा हम केवल उनमें किसी विशिष्ट रीतिमें सहयोग करनेके लिये प्रेरित कर सकते हैं परन्तु इसमें हम ऐसे किसी पदार्थको उत्पन्न नहीं कर सकते जिसका उनमें सर्वथा अभाव है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि जिसे हम आत्मा या जीव कहते हैं वह सत्ता है, परिणाम नहीं है। इसलिये वह अनादि, अनन्त और नित्य है। तत्त्वतः शक्तिस्वरूप होनेके कारण, जो केवल अपनी उपस्थितिमें द्रव्यके रचनात्मक गुणोंको इसलिये प्रेरित करता है कि अपने आश्रयके लिये एक अस्थायी जीवन-गृह बना और उसकी रक्षा कर सके, वह तत्त्व एक तथा समस्त प्राण-धारियोंमें एक ही रूपमें है। उत्ताप्ता अथवा विद्युतके समान प्रत्येक वस्तुओंमें इसे अन्तर्भूत मानना पड़ेगा जो उनके समान ही स्वयमेव कुछ अधिष्ठानोंमें जिसे हम सजीव कहते हैं अभिव्यक्त होता है, तथा निर्वाचन पदार्थोंके द्वारा उनके आन्तरिक गुणोंका निर्धारण करते हुए क्रिया-शील होता है। इस सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमानको हम ईश्वर कहते हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि क्या द्रव्य (प्रहृति)

पूर्णतया आत्मा (पुरुष) में भिज़ है अर्थात् क्या ज्ञाता से ज्ञेय तत्त्वतः अलग है? यदि अलग है तो ज्ञानका प्राप्त करना कैसे सम्भव है, क्योंकि ऐसी कोई निर्दिष्ट प्रणाली नहीं जिससे एकका प्रवेश दूसरेमें हो सके? यह देखा जाता है कि द्रव्यके समस्त गुणोंका वर्गीकरण केवल रूप, रस, गन्ध, सर्वज्ञ और शब्द अर्थात् उन तत्त्वोंमें हो सकता है जो क्रमशः हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये जाते हैं। हमारी छहीं ज्ञानेन्द्रिय मन है जो हन पाँचोंका सञ्चालन करता है, तथा हनके अनुभवोंको विचारसे संयुक्त करता है। यह माना जाता है कि गुण विशेषतः जब वे हन पाँच तत्त्वोंके रूपमें रहते हैं तब उस द्रव्यसे जिनमें उनका सम्बन्ध रहता है अलग नहीं किये जा सकते, तथा उनमें जो संवेदन हमारी तत्त्व इन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं वह हन दोनों प्रकारके तत्त्वोंके सामर्थ्यके प्रत्यक्ष रूप हैं। इसरे शब्दोंमें ज्ञानके साधन, स्वयं ज्ञान और ज्ञेय एक ही श्रेणी तथा एक ही प्रकारके हैं। मन जो उन्हें एकत्रित और संयुक्त कर सकता है उसमें उनके ग्रहण करनेकी शक्ति आवश्यक है और इस बातका ओर आत्मामें ही होना चाहिये जो केवल अपनी उपस्थिति-मात्रासे मनमें जीवन प्रदान करता है। इसप्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञाता और ज्ञेयके हन दो विभिन्न स्वरूपोंमें केवल एक ही तत्त्व, ज्ञान अथवा चेतना है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि 'ईश्वरका अस्तित्व' यह कथम केवल लौकिक प्रयोग है क्योंकि 'ईश्वर' और 'अस्तित्व' समानार्थक शब्द हैं।

४—मेरा अपने जीवनका एक अनुभव यह है कि आहे कितनी ही अवध्य कठिनाइयाँ उपस्थित हों, तुम्हें ईश्वरकी सहायता निश्चय ही प्राप्त होगी—शर्त यह है कि तुम उसकी कृपाके द्वारा प्राप्त अन्तःकरण और बुद्धिके अनुकूल काम करो, वह सहायता किसी अलौकिक रीतिसे नहीं, बल्कि बहुधा ऐसे सामान्य निमित्तोंके द्वारा मिलती है कि तुम्हारे लिये यह जानना भी कठिन हो जाता है कि इसमें उपकार करनेवाले ईश्वरका हाथ है।



(३५) श्रीयादवजी महाराज, बर्मर्व

१-भगवान्‌को हसलिये मानना चाहिये कि—हस सारे नाशवान् जगतमें एक वही अचल सत्य है। उसे मानना चाहिये आपण्ये पृष्ठतामें पहुँचनेके लिये, असत्यमें निकलकर सत्यमें पहुँचनेके लिये, मृत्युमेंमें अमृतस्वकी प्राप्तिके लिये, देहसे छूटकर आस्माको पानेके लिये, मायाके पुराने बन्धनोंमें छूटकर मुक्त होनेके लिये, अधोगतिके घोर अन्धकारमय गहरे गड्ढेमें निकलकर देवताओंकी उच्च भूमिकाका दर्शन करनेके लिये, तिमिरमें निकलकर दिव्य ज्योति प्राप्त करनेके लिये, पाप-पथको परिष्यागकर पुरुष प्रदेशमें प्रवेश करनेके लिये, मायामें मुक्त होकर महापद पानेके लिये और नोक, मोह, कुश, सन्ताप, रोग, जरा, मरण आदि दुःखोंमें छूटकर परमधारमें—परब्रह्मके अनन्तकालीन अलौकिक दिव्य सुख, शाश्वती शान्ति एवं अखलड आनन्दमें विहरनेके लिये।

हसप्रकार अपने श्रेयके लिये, हितके लिये या कल्याणके लिये परमेश्वरको मानना पढ़ता है।

२-मनुष्य अपने प्रथेक कर्मके जिम्मेवार है, हन्साफके समय उसे प्रभुके सामने हिसाब पेश करना पड़ेगा। यही समझकर संसारमें सारे पापोंको छोड़कर मनुष्य पुरुषमार्गपर चलता है।

परन्तु जब मनुष्य अमवश यह मान लेता है कि परमेश्वर ही नहीं है, अपने किसी भी कर्मका जवाब पछेनेवाला ही कोई नहीं है, तब उसके लिये पाप-पुरुष-जैमी कोई चीज़ रहती ही नहीं। उसके लिये पाप-पुरुष दोनों समान हैं। धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, सत्य-असत्य आदिमें आभिकके मनमें जो भेद रहता है, वह नाभिकके मनसे निकल जाता है। वह उद्धृत लगता है।

ऐसा मनुष्य, किम समय, किम सुहृत्में कौन-सा दुष्कर्म नहीं कर देंगा, यह कहना असम्भव है। ऐसे मनुष्य देश, समाज और कुटुम्ब ही नहीं। अपने लिये भी भयहर होते हैं।

क्योंकि ज्यों ही मनुष्य धर्मकी मर्यादा और बन्धनोंमें छूट जाता है, ज्यों ही वह म्वेष्छाचारी हो जाता है। फिर मनमानी करनेको उसके लिये दसों दिशाएँ सुली हो जाती हैं।

उसे दोप तो लगता नहीं, उसके सिरपर कोई हन्साफकरनेवाला है इस बातको वह मानता नहीं, अन्तमें अपने कृत्योंके लिये कहीं जवाब तलत्र होगा यह बात उसे स्वीकार नहीं। फिर किसीका धन हर लेनेमें क्या आपत्ति है? किसीके पास कोई अच्छी चीज़ देखी और उसको लट लिया, इसमें क्या खराबी है? किसीकी ज्ञाको उड़ा लेनेमें क्या हर्ज है? और यदि किसीके साथ झगड़ा हो जाय, वैभवनस्य या वैर हो तो उसे मदाके लिये हटा देनेमें—मार डालनेमें ही कौन-सा दोष है? कुछ नहीं।

सचमुच, मनुष्य जब यह मानने लगता है कि ‘परमेश्वर नहीं है’, तब वह मनुष्य न रहकर राक्षस बन जाता है। ऐसे नाभिक जहाँ वह जाते हैं, उस स्थानमें और नरकमें कोई विदेश भेद नहीं होता।

परमेश्वरको न मानना सर्वनाशको निमन्त्रण देना है।

३-शृंग अध्यक्षमेंसे व्यक्त सहित कहाँमें पैदा हो गयी? मांस-मृत्र और विषामें मनुष्य यन जाता है, उसमें जीव आ जाता है, फिर उसों तो वह अपार विचारवान्, अगाध-बुद्धि और अथन्त चतुर होता है। यह सब बातें कहाँमें आयीं?

एक ही बीर पुरुष रणक्षेत्रमें सहमों मनुष्योंको मार देता है, उसमें यह शक्ति कहाँमें उत्पन्न हो गयी? फिर जब वही दह पड़ता है, तब उसे शमशानमें ले जानेके लिये उठानेको उलटे चार आदमी बुलाने पड़ते हैं; अब उसकी वह शक्ति कहाँ चली गयी?

एक राजा लाखों मनुष्योंपर हुक्मत चलाता है। परन्तु मरनेपर उसकी कीमत भी मिट्टी बराबर हो जाती है। उस समय वैद्योंको बुलाइये, वे कपालपर हाथ रखकर करेंगे,—मरे मनुष्यपर हमारी दवा कोई काम नहीं करनी। जबतक जीव होता है, तभीतक दवाएँ कारगर होती हैं। वैद्य यदि जिला भक्ते हीं अथवा उनकी दशाओंमें यदि जीवन देनेकी शक्ति हो तो सृष्ट देहपर उनका असर क्यों नहीं होता? क्या उस समय औषधका तत्त्व निकल जाता है? क्या वैद्योंकी होशियारी मारी जाती है?

अन्धेमें दीपक झलमलता है, वैसे ही शून्यमेंसे यकायक चेतन प्रकट होता है। और जैसे दीपकके बुझते

ही अन्धकार छा जाता है, वैसे ही चेतनके निकल जानेके साथ ही देहके लिये समस्त सार वस्तुएँ असार हो जाती हैं। ऐसा वह जीवन-तत्त्व क्या वस्तु है?

पञ्चभूतोंसे प्राणी यनते हैं, वैज्ञानिक कहते हैं कि हमने पाँच तत्त्वोंपर विजय प्राप्त किया है, उनको अपने वशमें कर लिया है। पवन, जल, अग्नि और आकाशी तत्त्व आज मनुष्यके द्वास बनकर नौकरोंकी भाँति काम कर रहे हैं यह हमारा प्रताप है।

इन वैज्ञानिकोंने पूछिये, क्या आप इन तत्त्वोंमें प्राणियोंकी रचना कर सकते हैं? क्या आप मृत देहको जीवन बना सकते हैं?

जीव क्या है? कहाँसे आता है? किम तरह आता है? देहमें कथ और कैमें प्रवेश करता है? मरनेके समय वह देहमें निकलकर कहाँ जाता है? इन प्रक्षोक्ता निश्चित उत्तर आप दे सकते हैं? हमारी नजरके सामने मनुष्य मरने हें परन्तु किसीने जीवको जाने देखा है? उसे रोकनेकी शक्ति किसीमें है? देहमेंसे निकलनेके बाद कोई वापस उसी देहमें प्रवेश कर सकेगा? दुनियामें वडी-बड़ी खोज

हुई है, हजारों नये हुमर और सहस्रों गुस कलाएँ मनुष्यके हाथली हैं, यह सत्य है, परन्तु वडी-बड़ी दींग हाँकनेवाले वैज्ञानिक, बदुमूहयदान् ओपिधियाँ रखनेवाले प्राणाचार्य वैद्यराज, एवं अतुर कलाकार आदिसे यह प्रश्न है कि क्या आप जीवन-मरणके भेदका पता पर सके हैं? उसका सञ्चालन-सूत्र क्या आपके हाथमें है? आप इस विषयमें अपनी हृष्टानुसार कर सकते हैं? आप इसका उत्तर दे सकते हैं? सभी सिर हिलाकर अपनी असमर्थता प्रकट करेंगे। सभी कबूल करेंगे कि हमारा ज्ञान अपूर्ण है, हम अपर्ण हैं, हमारी समझ अभी अधूरी है।

इसप्रकार हार मानकर जहाँ मनुष्यमात्र अपनी असमर्थता घोषित करते हैं, वहाँ हमें निश्चय विश्वास होता है कि इस विश्वका सञ्चालक और नियन्ता कोई है। जगन्में निश्चय होनेवाली अद्भुत घटनाएँ इस महासमर्थ प्रभुके अस्तित्वकी साक्षी दे रही हैं और दृश्यमें कीदू करनेवाला समस्त क्रीदार्डोंका सूत्र उस मर्वशक्ति-मान् महान् परमात्माके हाथमें है, इस बातको सावित कर रही हैं।*

(३६) परिणितवर श्रीमायारामजी वेदान्ततीर्थ

अपनी बुद्धिमें इन प्रश्नोंका उत्तर देना मुझे बहुत ही कठिन मालूम होता है। इंश्वरामित्य-विषयक विचारार्थव अथवत् ही गम्भीर है, उसका थाह हमारे परम पृथ्य महर्षि विश्विष्ट, वामनेव, भृगु, अंगिरा आदि तथा अर्चार्चीन विद्रव-श्रेष्ठ उद्यननाचार्य, गंगशोपाद्याय प्रभृति भी नहीं पा सकते हैं। अतः इस विषयका यदि सम्यक् विवेचन मैं न कर सकूँ तो इसमें आश्वर्य ही क्या है? इसलिये मेरे इस विचारमें जो अनुचित हों उनका समाहित विचारसे समाधान कर दियालू विद्वद्वन्द्व इस प्रदर्शित करेंगे। क्योंकि ज्ञान ही सपुरुषोंका भूषण है।

जगत् दो पदार्थ हैं—चेतन और अचेतन। अचेतन-पदार्थके ग्रहण, स्थान अथवा नाश आदि व्यापार चेतन-जन्य ही होते हैं; जैसे घट-पट आदिकी उत्पत्ति, स्थिति,

तथा उनका व्यवहार और नाश यह सभी जीवरूपी चेतनके प्रयत्नद्वारा होता है। परन्तु पृथ्वी आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लग्न जीव-चेतन्यके प्रदर्शनमें नहीं होता, क्योंकि जीवमें पृथ्वी आदि उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान, चिकिर्षा और कृति निश्चयरूपा नहीं है। अतः एक ऐसे पदार्थकी कल्पना आवश्यक है, जिसमें यह निश्चयरूपमें रहते हों। पृथ्वी आदि पदार्थ घट आदिकी तरह जन्य हैं और जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता, अतः इनके कर्त्तारूपमें जीवातिरिक्त एक चेतनकी आवश्यकता है और वही चेतन हृष्टर है। हृष्टर अनुमान और शब्द-प्रमाणमें रित्व होता है। हमारे देशके प्राचीन विद्वानोंने अनुमान-प्रमाणमें कार्यत आदि निश्चलस्थित हेतुओंसे इंश्वरकी सिद्धि दिखलायी है। जैसे—

* पृथ्य चरण श्रीयाद्रवजी महाराज अब इस संसारमें नहीं रहे, उन्होंने सारी उत्तरार्थक और इरि-नामका जप, कार्त्तन और प्रचारकर जीवनका परम लाभ प्राप्त किया। ऐसे पुण्य-पुरुषोंका ही संसारमें जन्म लेना सार्वक है। —सम्पादक

कार्योजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषात् साध्यो विश्विदव्ययः ॥
(कुम्भाङ्गलि ५ । १)

अर्थात् कार्यस्व, आयोजनस्व, धृतिमर्त्य, पद, प्रत्यय, अुति, वाक्य, संख्याविशेषमे विश्विद् हैंशरकी सिद्धि होती है ।

कार्यस्व—(शिखद्वृकरादिकं सकर्तुंकं कार्यत्वात् घटत्)

अर्थात् जिसप्रकार घट-पटादि कार्य सकर्तुंक है, उसी प्रकार पृथ्वी और अंकुर आदि भी कार्य होनेमे सकर्तुंक हैं, और वह कर्ता पृथ्वी आदि उपादान-गोचर अपरोक्ष ज्ञान, चिकिर्षा और कृतियुक्त हैंशरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता ।

आयोजनस्व—(सर्वाद्यकालीनद्वयणुकारप्रभवरमाणुद्वयसंयोग-जनकं कर्म चेतनप्रयत्नपर्वं कर्मत्वात् अस्मदादिशरीरक्रियावत्)

अर्थात् जिसप्रकार हमारे शरीरकी क्रियाएँ चेतनके व्यापारमे ही उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार सृष्टिके आदि कालमें द्वयणुकमे लेकर परमाणुद्वयसंयोगपर्यन्त जो कर्म है वह चेतनके प्रयत्नमे ही उत्पन्न हुए हैं । परन्तु यहाँ चेतन-पदमे जीवका भ्रष्ट न होकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैंशरका ही शोध होता है ।

धृतिमर्त्य—(ब्रह्माण्डादि पतनप्रतिबन्धकी मूलप्रयत्नवदविहित धृतिमर्त्यात् विधित विद्वान्मृतकाहृत्)

अर्थात् जिसप्रकार आकाशमें पश्चियोंके द्वारा मुँहमें धारण किये जानेपर काष्ठादि स्थित रहते हैं, उसी प्रकार धारण किये जाने (धृतिमर्त्य होने) के कारण ब्रह्माण्डादि भी अपने पतनके प्रतिबन्धकरूप किमी प्रयत्नवान्में अधिष्ठित हैं; और वह प्रयत्नवान् हैंशरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता ।

पद—(पटादि सम्प्रदायव्यवहारः स्वतन्त्रपुरुषप्रमाणः व्यवहारत्वात् आपुनिकलियादि व्यवहारत्)

अर्थात् जिसप्रकार आपुनिक लिपि आदिका व्यवहार स्वतन्त्र पुरुषके द्वारा होता है उसी प्रकार व्यवहार होनेके कारण घट-पट आदि पर्दोंका प्रथम व्यवहार स्वतन्त्र पुरुषके द्वारा ही प्रयोगमें आया होगा और क्योंकि जीवको सृष्टिके आदिमें घटपटादिविषयक ज्ञान सम्भव नहीं, इसलिये

घटादि पर्दोंको प्रथम व्यवहारमें प्रयुक्त करनेवाला हैंशरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता ।

प्रत्यय—(वेदजन्यकाने कारणगणन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादि-प्रमात्)

अर्थात् जिसप्रकार प्रत्यक्षादि प्रमा कारणगुणजन्या अर्थात् किसी चेतनमे होती है, उसी प्रकार प्रमा होनेके कारण वेदजन्य ज्ञान भी कारणगुणजन्य अर्थात् किसी चेतनद्वारा होना चाहिये और वह चेतन जीव नहीं ही सकता, क्योंकि वेदजन्य ज्ञानका उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान उसे नहीं है । इसलिये सहृद् ज्ञानविशिष्ट केवल हैंशर ही सिद्ध होता है ।

श्रुति—(वेदः पौरुषेयो वेदवात् आयुवेदवत्)

अर्थात् जिसप्रकार आयुर्वेद पुरुषप्रणीत होता है उसी प्रकार वेदवत्के कारण वेद भी पुरुषप्रणीत है और वह पुरुष जीव नहीं हो सकता, क्योंकि वेद महाज्ञानकल्प है, इसलिये जीवानिरिक्त हैंशर ही वेदप्रणेता मिद्द होता है ।

वाक्य—(वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात् भारतवत् वेदवाक्यानि पौरुष्याणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्)

अर्थात् जिसप्रकार भाराभारतादि वाक्य पुरुषप्रणीत है उसी प्रकार वाक्य होनेके कारण वेद भी पौरुषेय हैं, परन्तु वेदके महाज्ञानकल्प होनेके कारण चेतन जीव उसके प्रणेता नहीं हो सकते, अतः तद्विषयक उपादानज्ञानयुक्त हैंशर ही वेदवाक्यप्रणेता सिद्ध होता है ।

संख्याविशेष—(द्वयणुकर्माण सङ्कृत्यात्न्यं परिमाण-प्रचयाऽन्यते सति जन्यपरिमाणत्वात् प्रकृष्टतादशकपालसद्वश-कुपलद्वयारब्धपरिमाणत्)

अर्थात् जिसप्रकार प्रकृष्टक्षयालद्रयत्वं परिमाणमें उत्पन्न घट-परिमाण है उसी प्रकार परिमाणप्रचयके अनादि होनेमे जन्यपरिमाणके कारण द्वयणुक-परिमाणाण संख्याजन्य हैं । और सृष्टिके आदिमें इस द्वयणुक-परिमाणगत द्वित्व-संख्याकी उत्पत्ति हमारे बुद्धिद्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि उम समय तृतीयक्षणा अथवा चतुर्थक्षण-५वंसप्रतियोगिनी बुद्धिका अभाव है । अतः इसप्रकारकी संख्याका उत्पादक नियम बुद्धिवाला हैंशर सिद्ध होता है ।

३—हैंशरको यदि न माना जाय तो अचेतन कर्मोंका फलवाका किसी-न-किसीको मानना ही पड़ेगा । यदि कोई

कहे कि अचेतन कर्म स्वयं फल देते हैं, तो यह बात युक्त न होगी। क्योंकि यदि कर्म किसी चेतन्यके नियन्त्रणके बिना स्वयमेव फल प्रदान करें तो कर्मोंका फल सब समयमें ही भिलना चाहिये, परन्तु ऐसा जगत्‌में नहीं देखा जाता; अतः कर्मोंका फलप्रदाता ईश्वर है। पुनः यदि शक्ता की जाय कि 'मान लें, यदि कर्मफलदाता ईश्वर है, और जगत्‌में किसी मनुष्यको सुखविलाससे पूर्ण तथा किसीको दीन-हीन अकिञ्चन बना देता है जैसा कि देखा जाता है, तो इसमें ईश्वरमें वैष्णव-नैर्धर्य दोप आ जाता है।' परन्तु ऐसी शक्ता युक्त नहीं, क्योंकि ईश्वर कर्मफल देनेमें सततन्त्र है और जीवोंको उनके कर्मनुसार ही फल प्रदान करता है, अतः उसमें पक्षपात-दोप नहीं आ सकता। इसलिये ईश्वरको माने बिना सांसारिक व्यवस्था प्रभागित नहीं हो सकती।

३-ईश्वरास्तित्वमें अनुमान-प्रभाण किञ्चित् प्रदर्शित किया गया, जिसे विशेष जाननेकी हृच्छा ही वह श्रीउद्यन्तचर्यकृत 'कुमुमाञ्जलि', श्रीगंगेशोपाध्यायकृत 'ईश्वरानुमान-चिन्तामणि,' कदम्बीकारकृत 'ईश्वरानुमान-कदली' आदि ग्रन्थोंको देख जिनमें अनुमानसे नाना प्रकारकी युक्तियोंपूरा ईश्वरका सिद्धि की गयी है।

अब ईश्वरकी सिद्धिमें ईश्वरोक्त वेद भी प्रभागित हो जाता है। चैसे—

'दावामुमी जनयनदेव एकः

विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गेत्सा ।'

अर्थात् 'स्वर्ग और पृथ्वीको बनानेवाले वह एक ही देव (परमात्मा) सबकी रक्षा करते हैं।' तथा—

यो ब्रह्माण विद्वाति पूर्वे

यो वै वेदोऽश्रुं प्रहिणति तस्मै ।

तं हं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं

मुमुक्षुवै शरणमहं प्रपदे ॥

अर्थात् 'सृष्टिके आदिमें ब्रह्माको उत्पन्नकर जो वेद-ज्ञान प्रदान करता है, उस आत्मबुद्धिके प्रकाशरूप देवके शरणमें मैं मुमुक्षु जाता हूँ।' इसप्रकार अनेक श्रुतियाँ ईश्वरके अस्तित्वमें प्रभागित हैं।

भगवान् वेदव्यापासने अपने वैष्णवसूत्रमें 'जन्माश्रय यसः' तथा 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञानिरोधाद्' इत्यादि सूत्रोंसे स्पष्टतः ईश्वरको सिद्ध किया है।

परम कारुण्याभ्रगण्य भरावान् महर्षि पतञ्जलिजी भी कहते हैं कि—

'क्षेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'

अर्थात् 'क्षेश-कर्म-विपाकादिसे असंस्पृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है। तथा भगवान् गौतमने भी अपने हस त्रै—'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मसाकस्यदर्शनात्' अर्थात् पुरुषके कर्मोंके साफ़व्यस उनके कारणरूपसे ईश्वर सिद्ध होता है।'—से ईश्वरकी सिद्धि की है। महर्षि कणाद भी 'संज्ञा-कर्मत्वस्मृद्धिशिष्टानां लिङ्गं प्रत्यक्षप्रवृत्ततया संज्ञाकर्मणः'—इत्यादि सूत्रोंमें ईश्वरकी आवश्यकता बतलाते हैं।

सांख्यसूत्रके पञ्चमाध्यायमें यद्यपि ईश्वरको अन्यथा सिद्ध किया है तथापि उसके कपिलप्रणीत होनेमें सन्देह है। यदि सांख्यसूत्र कपिलप्रणीत है तो 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्रको प्रांडिवादमात्र माना जा सकता है और यदि नहीं है तो इसकी प्रामाणिकता इही नहीं मानी जा सकती। वाचस्पति मिश्रने अपनी सांख्यतत्वकांसुदीमें 'न च क्षीरप्रवृत्तरैर्योश्चराधिष्ठाननिवन्धनस्त्वेन साध्यत्वात् साध्येन' हृयादिद्वारा ईश्वरमें कर्तव्यका खण्डन किया है और बतलाया है कि किसी भी कार्यमें कास्त्रय और स्वार्थसंही प्रेषणापुरुषकी प्रवृत्ति होती है। सृष्टिकी उत्पत्तिके पूर्व जीवोंको सुख-दुःखके साधक इन्द्रियादि नहीं होते, क्योंकि उस समय ईश्वर होने के दुःख-परिहारक कारुण्य और ईश्वरमें कहाँसे आ सकता? अर्थात् कारुण्यसे ईश्वरद्वारा मृष्टि सिद्ध नहीं होती। यदि कोई कहे कि मृष्टि होनेके बाद जीवोंके दुःखसे कर्तव्यावश ईश्वर उनपर दथा करता है, तो यह भी सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि जीवोंमें दुःख होनेमें तत्परिहारक ईश्वरमें कर्तव्यका होना तथा ईश्वरमें कारुण्यके होनेसे जीवोंमें दुःखका होना अन्योन्याश्रय-दोप पूर्ण हो जाता है। अतः कारुण्यसे सृष्टिमें ईश्वरकी प्रवृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। दूसरे ईश्वरके पूर्णकम होनेके कारण भी अपने स्वार्थके उद्देश्यसे सृष्टिमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, अतः ईश्वर कदम्बि जगत्का कर्ता नहीं है, किन्तु प्रकृति ही जगत्कर्ता है।

परन्तु सांख्यवादियोंकी यह बात युक्तियुक्त नहीं है, भगवान् वेदव्यापासने अपने वैष्णवसूत्रके 'ईच्छत्वानिरोधाद्' इत्यादि सूत्रोंसे सांख्यमतका निराकरण होता है। महर्षि जैमिनि

तथा कुमारिल भइ प्रभृति पूर्व-भीमांसकोने भी अपने शास्त्रोंमें ईश्वरकी चर्चा नहीं की है, कर्मकी प्रधानता। दिखलाना ही उनकी इस प्रवृत्तिका कारण है।

उपर्युक्त संचित प्रमाणोद्धारा ईश्वरको अनेक नामोंवाला कहा गया है—

यं शैवा: समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धानुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हत्वित्यथ जैनशासनरताः कर्तेति भीमांसकाः
सोऽयं नो विद्वातु वाङ्मित्रकर्त्त्रैदोऽप्यनामो हरिः ॥

अर्थात् ‘जिस ईश्वरको शैवलोग ‘शिव’ मानकर उपासना करते हैं और वेदान्तीलोग जिन्हें ‘प्रकृष्ट’ मानते हैं, वौद्ध ‘बुद्ध’ मानते हैं, प्रमाणपट नैयायिकण जिन्हें ‘जगत्कर्ता’ मानते हैं, जैनीलोग जिन्हें ‘अहंन्’ मानते हैं और भीमांसक जिन्हें ‘कर्म’ मानते हैं, ऐसे त्रिलोकीनाथ हमारी रक्षा करें।’ यदि सच पूछा जाय तो संसारमें कोई पेसा पुरुष न होगा जो ईश्वरको न मानता हो। महानामिक आर्थार्कादि भी किसी-न-किसी तरह ईश्वरको मानते ही हैं; श्रीठदयनाचार्यजी कुसुमाञ्जिलिमें लिखते हैं—

इह यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इति औपनिषदाः; आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः; हेशकर्मविशाकाः-शैयरपरामृष्टाः निर्माणकार्यविष्टिय सम्प्रदायप्रयोतकोऽनुग्राह-कर्त्तेति पातञ्जलाः; लोकवेदविरुद्धरपि निर्निप्तं स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः; शिव इति त्रैवाः; पुरुषोत्तम इति वैश्यावाः; पितामह इति पौराणिकाः; यज्ञपुरुष इति याजिकाः; निरावरण इति दिग्मन्त्राः; उपास्यत्वेन देशित इति भीमांसकाः; यावदुक्तोऽपन्त इति नैयायिकाः; लोकव्यवहारसिद्ध इति चारोंकाः; किं बहुमा करंबेऽपि यं विश्वकर्मेति उपासने तरिम्लेवं जातिगोत्र-प्रवरचरणकुलवामिदविदासंसारं प्रसिद्धाऽनुवाते भगवते सन्देह एव कुतः ? किं निरूपणीर्थमिति ।

आर्थात् इस संसारमें किसी भी पुरुषार्थके बाहनेजाले पुरुष ईश्वरको मानते हैं। ऐसे अद्वैतवादी ईश्वरको शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाला मानते हैं, कपिलमतवाले उसे आदि विद्वान् और सिद्ध मानते हैं, पातञ्जल उसे छंशादिरहित और निर्माणकार्यविष्टित सम्प्रदायप्रयोतक और अनुग्राहक कहते हैं, महापाशुपत छोग लोक-वेद-विश्वद्वये निर्लेप और स्वतन्त्र मानते हैं, शैव उसे शिव कहते हैं, वैश्यण पुरुषोत्तम कहते हैं, पौराणिक पितामह कहते हैं, याजिक उसे यज्ञ-

पुरुष कहते हैं, दिग्मन्त्र (जैन) उसे वज्च-रहित कहते हैं, भीमांसक उसे उपासनामें प्रसिद्ध कहते हैं, नैयायिक जगत्कर्ता कहते हैं, चारोंक लोकव्यवहारसिद्ध कहते हैं, अधिक व्याकुण्ठ कहते हैं, विश्वकर्मा कहते हैं इस गोत्र-प्रवरादिके समान समस्त संसारमें प्रसिद्ध परमात्मामें सन्देह कहाँसे हो सकता है ?

ईश्वर वेदोंके हारा हिताहित उपदेशोंको देनेवाला जगत्का परमपिता है। उसे नैयायिकलोग जगत्का निमित्त-कारण तथा अद्वैतवादी अभिज्ञ निमिसोपादान-कारण मानते हैं। इसी प्रकार समस्त आचार्य ईश्वरको जगत्का कारण मानते हैं। ईश्वर पितृवत् द्यात्वा है, कोई भी दुश्शरित पुरुष उसकी शरण लेता है, तो वह परमेश्वर उसे पुनीतकर सर्वोदय देता है। जीव भगवान्की शरण लेकर ही उसकी कृपामें इस महादुःखरूप संसारमें नर जाते हैं। एक उपासक कहना है—

अपग्रथमहस्तमाजन परित भीम भवाणवोऽरे ।

अगति शरणागत मन्त्रङ्गपयोऽवद्यमात्मसामुद्रु ॥

अर्थात् हे भगवन् ! इस भयझर संसारमें गिर हजारों अपराधोंका पात्र बना हुआ मैं दूसरे किसी मार्गको न ढेखकर आपके शरणको प्राप्त होता हूँ। नाथ ! अब आप कृपाकर मुझे अपनाह्ये ।'

४- सुमे भगवान्का अकारण परमद्यानुत्तापर विश्वाम हैं, वह अनेक अवमर्त्तोपर मरं अपराधोंका विचार न कर मेरी चित्त-वृत्तिको अपनी ओर लगाता हुआ जगत्के नाना प्रकारके दुःखोंमें आण करता है। भगवानके समान दूसरा कोई भी कस्याशील तथा परमोद्धार नहीं है। भगवान् व्यवं श्रीमुखमें कहते हैं—

अपि बेमुद्गजारो भजते मामनन्यमारु ।

मामेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥

श्विष्म भवति घर्मत्मा शश्च्छान्ति निगच्छति ।

कीन्तय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणदयति ॥

मां हि पार्थ न्यपाश्चित्य यऽपि स्युः पापयोनयः ।

लियो वैश्यास्तथा शृदास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि सब कर्मोंको छोड़कर भगवान्के अनन्य शरण हुआ जाय तो बिना किसी ही कियाके मनुष्यका डंडार ही सकता है। भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं त्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयित्यामि मागुच्छः ॥

जब-जब विक्षेपादि द्वारोंसे मेरा मन विक्षिप्त होता है
तब-तब उस परमात्माके नामस्वरणये मेरे चित्तमें शान्ति
आती है । उसके स्मरण और ध्यानमें मनुष्य सब कुछ
प्राप्त कर सकता है । मैं तो श्रीहरिको संसाररूपी बटका
बीज मानता हूँ—

भव एव वटः प्रोक्तः तत्पतिः परमेश्वरः ।
तमेव नौमि देवेशं श्रीशं वटपतिं प्रमुम् ॥

अथर्वं संसार ही वट है और उम्यका पति परमेश्वर
है अनः उम्य देवेश लक्ष्मीपति प्रभु वटपतिको मैं नमस्कार
करता हूँ ।

इन वटपतिं भगवान्को मैं शिवेश या श्रीशमें अभिन्न

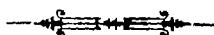
मानता हूँ, यही मेरा सगुण-ब्रह्मके सम्बन्धमें निश्चय है,—
इसीको श्वनिर्मित बटपत्यष्टकमें मैंने इसप्रकार लिखा है—

निराकारं स्वामिजयतु तव रूपं श्रुतिनुतं
अहं तु त्वा मरये करचरणयुक्तं गुणनिविम् ।
शिवेशः श्रीशो वा भवतु न मिद यत्र तमहं
नमामि श्रीनाथं भद्रमपहरं श्रीवटपतिम् ॥

भगवान्को अपरम्पार महिमाको सुख-जैसा मन्दप्रकृ
मनुष्य क्या वर्णन कर सकता है ? पर हरिचरण-मेवी
भगवन्-भक्तोंकी कृपामें जो कुछ सुना था, किस दिया है ।
अब हमे—

यत्करोमि यददृशनासि यज्जहेषि ददासि यत् ।
यत्परम्परासि कौन्तेय तत्कुरुप्व मदर्पणम् ॥

इस शोकके अनुसार प्रभु-धरणोंमें समर्पण करता हूँ ।



(३७) स्वामी श्रीशिवानन्दजी

१ प्रत्येक मानव-प्राणीके लिये ईश्वरमें विश्वास करना
अनिवार्य है । इसके बिना मनुष्यका चल ही नहीं
सकता । अविद्या अथवा अज्ञानके प्रभावसे मनुष्यको दुःख
मुख-सा प्रतीत होता है । जगत् दुःख, शोक, विपत्ति
और क्लृशोंमें पूर्ण है । जगत् आगामा गोला है । राग-दृग्य,
क्रोध-ईर्ष्या और मन्त्रसे भरा हुआ अन्तःकरण जड़ती
दूरी भट्टी है । विषयी पुरुष भ्रमके कारण मोहमें पड़ रहे
हैं । जन्म-मृत्यु, जरा-रोग और शोकसे हमें स्वयम्भव सुख
होना है । यह केवल ईश्वरमें विश्वास करनेमें ही हो सकता
है । उमरा कोई उपाय नहीं है । धन और गैरिक्यमें हमें
यथार्थ सुख नहीं मिल सकता । यहाँतक कि यदि हमें
सार्वभीम राज्यकी भी प्राप्ति हो जाय तो उससे भी हमें
चिन्ता, क्लृश, दुःख, शोक, भ्रम और निराशा आदिसे
सुटकारा नहीं मिल सकता । केवल ईश्वरमें श्रद्धा तथा
ध्यानके द्वारा भगवन्-प्राप्ति होनेमें ही यथार्थं शाश्वत
सुखकी प्राप्ति हो सकती है तथा हम सब प्रकारके भ्रम
और चिन्तानालमें ब्राह्मण पा सकते हैं, जो प्रतिष्ठण हमें
जलाते रहते हैं । ईश्वरमें श्रद्धा होनेमें हम उसका
सतत विस्तार करनेके लिये तथा उसका ध्यान करनेके
लिये प्रेरित होते हैं और फलतः हमें भगवत्यापि ही
आती है ।

ईश्वरमें और ईश्वर-प्राप्तिमें श्रद्धा रखनेमें हमें परम
शान्तिकी प्राप्ति होगी, उस शान्तिके प्राप्त होते ही समस्त
दुःख निर्मूल हो जायेंगे । फिर हमारा भटकना बन्द हो
जायगा । हम कर्मके बन्धनमें कूट जायेंगे । हम अमर हो
जायेंगे । हमें शाश्वत दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति होगी । हम एक
ऐसे पदको प्राप्त होंगे जहाँमें पुनः हिंसुः दुःखमय लोकको
लौटना न होगा, क्योंकि दिव्य ज्ञानके द्वारा हमारे पापों-
का नाश हो जायगा । हमारा मन सदा समाहित रहेगा ।
फिर हमें न तो सुखकी प्राप्तिमें हर्ष होगा और न दुःखकी
प्राप्तिमें विचाद ही होगा । हमारा अन्तःकरण हिंसवत्
शीतल हो जायगा और हम दिव्य चेतनामें सदा अवस्थित
रहेंगे । हमें अक्षय सुखकी प्राप्ति होगी । हम ईश्वरके
साथ एकरस हो जायेंगे तथा हमें नित्य, अनन्त, अक्षय
आनन्दकी प्राप्ति होगी । दिव्य चेतनामें अवस्थित होनेपर
हम भारी-से-भारी दुःखमें भी विचलित न होंगे । हमें
अतीनिद्रिय आनन्दकी प्राप्ति होगी ।

यदि हम अनन्य विश्वसे इतापूर्वक भक्तिभावसे
ईश्वरकी अर्थना करेंगे तो वह हमें एवं अभय प्रदान
करेंगे । ईश्वर हमें बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा
हम उन्हें सुगमतासे प्राप्त कर सकें । हमारे ऊपर कृपायुक्त
हो वह हमारे अङ्गान्तरकारको आनन्दयोतिके प्रकाशद्वारा

नह कर देते हैं। यदि हम इ भक्ति और श्रद्धापूर्वक अपने मनको उसमें लगावें तो वह संसार-समुद्रसे शीघ्र ही हमारा उद्धार करते हैं। हम तीनों गुणोंको पार कर जाते हैं तथा जन्म-सृष्टि, जरा-शोकसे छुटकारा पाकर अमर-सुखाका पान करते हैं। उनमें विश्वास करनेसे भक्ति और श्रद्धाके द्वारा हम उन्हें तत्त्वतः जानेंगे तथा उसमें प्रवेश करेंगे। उनकी कृपासे हम मार्गमें आनेवाली समस्त आधारोंको दूर करेंगे तथा परमपव—परमभासको प्राप्त होंगे।

२—यदि हम ईश्वरमें विश्वास न करेंगे तो हमें इस संसारमें बारबार जन्म लेना पड़ेगा तथा नाना प्रकारके दुःख सहने पड़ेगे। अज्ञानी, श्रद्धाहीन तथा संशयारमा पुरुष विनाशको प्राप्त होते हैं। उन्हें तनिक भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती। संशयारमाके लिये न सो इच्छको है और न परछाओ। जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास नहीं करता, वह सत्य और असत्यको नहीं पहचान सकता, उमेर विवेक-शक्ति नहीं रहता। ऐसे पुरुष असत्यवादी, अभिमानी और अहंकारी होते हैं। उन्हें अतिशय काम, कोष और लाभ होता है। वे गर्हित उपर्योगमें धनका भर्जन और संग्रह करते हैं। वे आसुरी स्वभावके भनुष्य बन जाते हैं। वे नाना प्रकारके घोर पाप करते हैं। उनके जीवनका कोई आदर्श नहीं होता, वे आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, तथा जन्म-जन्मान्तर मृदताको प्राप्त हो जीनतम नरकमें कियते हैं।

३—तृतीय प्रक्रिया उत्तर 'वृक्ष' शीर्षक लेखमें आ गया है।

४—स्वाभार उंड सौ वर्ष हुए, दिल्ली-भारतके त्रिवेणीपुरी-जिल्लेमें कास्त-स्थानके ममीप नेस्त-आममें सदाशिव वृक्ष इन्द्र सरस्वती नामके एक बहुत ही प्रसिद्ध ज्ञानी-योगी रहते थे। उन्होंने व्रष्टसूखहति, आग्नेयिणी-विकास तथा अन्य वहुतरे ग्रन्थोंका प्रश्नायन किया था तथा नाना प्रकारके घटकार दिल्लीये थे। एक बार जब वे कावेरीके टटपर समाधिमग्न थे कि बादसे वहकर किसी दूसरे स्थानमें चले गये और बालुके नीचे गढ़ गये। मजबूर खेत जोतनेके लिये गये और उन्होंने योगीके सिरपर आघात किया और उससे कुछ रक्त निकल आया। उन्होंने वहाँ सोइना शुरू किया और एक योगीको समाधिल्य देकर वे अस्तव्यत चकित हुए।

दूसरी बार एक समय वह अवशुष्टके करमें जगे ही

एक मुस्समान-सरदारके जानाना-स्त्रीमें बुस गये। वह सरदार महारामाके ऊपर बहुत ही गुप्ता हुआ और उसने क्रोधमें उनकी एक बाँह काट डाली। सदाशिव ब्राह्मण विना ही कुछ कहे-सुने वहाँसे चल दिये, उनके ठंगसे मालूम होता था कि उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं है। सरदार महारामाकी इस अमृत अवस्थापर अत्यन्त ही चकित हुआ। उसने विचारा कि यह मनुष्य अवस्था ही कोई महाराम है। उसे बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और उसने महारामसे इसा माँगनेके लिये उनका पीछा किया। सदाशिवको पता ही न था कि उनकी बाँह कटी हुई है। जब सरदारने कैम्पकी सारी घटना उनमें कह सुनायी तो सदाशिवने कह दिया कि हमने तो क्षमा कर ही रखती है और उन्होंने अपनी कटी हुई बाँहको छू दिया। वहाँ तका नयी बाँह निकल आयी।

इस महारामाके जीवन-चरित्रको जाननेमें मेरे मनपर गहरा प्रभाव पड़ा। मुझे इद विश्वास हो गया कि मन और इन्द्रियोंकी कीबासें तथा विषयोंमें परे एक स्वतन्त्र विद्य जीवन है। वह महारामा जगत्परं नितान्त अनजान रहते थे। जब उनकी बाँह कट गयी थी तो उन्हें तनिक भी उसका अनुभव नहीं हुआ था। वह दिव्य जीवनामें सराबोर थे। साधारण पुरुष शरीरमें एक सूर्क्षे क्षमनेमें भी चीकार कर उठता है। आस पुरुषोंके हारा जब महाराम सदाशिवकी इस अन्नुन घटनाको मैंने सुना और जब मैंने हमें पुरुषोंमें पदा तब मेरे मनमें एक इद विश्वास हो गया कि एक दंवी सत्ता तथा दंवी शाश्वत जीवन है जहाँ समस्त दुःख विसीन हो जाने हैं, समस्त कामनाएँ परिवृत हो जाती हैं तथा मनुष्यको परम आनन्द, परम शान्ति तथा परम ज्ञानकी प्राप्ति होती हैं।

ईश्वरकी दया

निष्प्रलिखित विचारोंमें मुझे सदा ईश्वरकी अर्थीम दयाका अनुभव होता है।

मानाके गर्भमें कल्प और भ्रणका पालन तथा दस भास्तवक उनकी इस कौन करता है?—ईश्वर! शिष्युके उपर द्वारा देनेके पूर्ण मानाके भनोंमें दृधका प्रबन्ध कौन करता है?—ईश्वर! भोजनको रस और रक्तके रूपमें कौन परिणाम करता है?—ईश्वर! रक्तके दृष्ट्यसे घमनी-मैं कौन प्रशादित करता है?—ईश्वर! मङ्गले तजाम

अँतिमियोंमें अध्योभागमें कौन पहुँचाता है ?—ईश्वर ! उस में दफकों जो अखण्ड चहानके भीतर रहता है भोजन कौन पहुँचाता है ?—ईश्वर ! वह शरीरके भीतर मेहतर-का काम करता है, वह बाध्य जगतमें सुधरका रूप धारण्याकर प्राकृतिक मेहतरका काम करता है। वह नारंगी-अंगूरका रूप धारण्याकर तुम्हारे सुखे गलेकी प्यास खुशाता है। वह एक सावधान नौकरके समान तुम्हरी आँखोंके पलकोंको बन्द कर देता है जिसमें उनमें खूल न पड़ने पावे। वह तुम्हारे लिये सब कुछ करता है। उसकी

असीम अनुकूल्या प्रत्येक वस्तुमें, सृष्टिके प्रत्येक परमाणुमें दीख पड़ती है। एक छोटेमें अपराधके करनेपर भी तुम्हें अपने नौकरको क्षमा करना बहुत ही कठिन जान पड़ता है। तुम कितना क्रोध प्रकट करते हो, परन्तु परमाणमा असंक्षय जन्मोंके तुम्हारे करोड़ों ओर अपराधोंको जमा कर देता है। वह कैसा अद्वितीयवान् है ? उसकी आर्द्ध करणाको तो देखो ! उसका सतत चिन्तन करते रहो। उसमें बदा स्थरण करो। श्रद्धा और भक्तिके साथ उसके हरि, राम, नारायण, शिव प्रभृति नामोंका जाप करो।

(३८) श्री-श्रीभीमचन्द्र चटर्जी बी० ए०, बी० एल०, बी० एस-सी०, एम० आइ० इ० इ०, एम० आइ० इ०

ईश्वरानुग्रहकी प्राप्ति-मुक्ते अपने जीवनमें ईश्वरानुग्रहकी प्राप्ति कर दुई हैं, यह बात पूढ़ी गयी है। अपने विषयमें कुछ कहना यथापि शिष्टाचार-विकृद्ध होगा तो भी मैं जीवनकी कुछ घटनायोंको संखेपमें लिख रहा हूँ। इसमें जहाँ कहीं अहङ्कारका भाव आवें, उसपर पाठक कृपया ध्यान न देंगे।

वचनमें ही पितृहीन होनेके बादमें आजतक मैं ब्राह्मर ईश्वरकी कृपाका उपभोग करता आ रहा हूँ। अतएव उसकी कृपाका कौन-सा नमूना आपको बतलाऊँ, यह समझमें नहीं आता। अनेकों घटनाएँ सावधान दृष्टिमें देखनेपर अशुभ जान पढ़ी थीं, परन्तु कुछ दिनों बाद यह बात समझमें आ गयी कि शिव कभी अशिव नहीं हो सकते। मैं दौर्वा वर्षका शिशु जब पितृहीन हुआ, उस समय मेरी माना कहती थी कि 'जब तुमलोगोंको कोई अभाव हो, तभी शिवको स्मरण करना, वह सर्वव्यापी है, अतः जिस अवस्थामें तुम जहाँ उन्हें पुकारोगे, वे सुनेंगे और जो अच्छा होगा, करेंगे। शिव अशिव नहीं हो सकते।' उनको केवल अपनी अवस्था जना देना, क्या चाहिये तथा क्या नहीं चाहिये, इसको वह आप समझ संतो !' यह 'मानृ-आदेश' ही हमलोगोंकी मूल सम्पत्ति (Capital) है, जीवनभर हम इसीको लेकर उथल-पुथल करते रहे हैं।

जबके बाद ही मेरा आस बन्द (Suspended respiration) हो गया और शरीरपर मिही-सी लोग रहनेके कारण आयने मृत शिशु समझकर उसको फेंक देनेके

लिये गमछेमें बाँध लिया और सूतिकागृहको साफकर मुझे ले जानेको तीयार ही थी कि उसी समय मेरी चाची-ते 'पुश्त हुआ किन्तु मरा हुआ' मुनकर विस्मित और दुःखित हो सूतिकागृहमें प्रवेश किया; उसने मुझे खोलकर मेरे शरीरमें मिट्टी इटाकर देखा कि शरीरका लाल रंग है तथा मह जानेपर जो दुर्गन्ध होती है, वह भी नहीं है। उन्होंने सन्देह करके शरीरका सब मैल हटाया और पैरोंपर, मुँहमें गोल मिर्च लागी तथा और क्याक्या किया, मुझे मालूम नहीं। फल यह हुआ कि मैं रोने और खास लेने लगा। भगवान्की कृपाएँ उस समय गंगा-नाद्रा नहीं करनी पड़ी। चाची बहुधा मुझे मेरा जन्म-कृत्तान्त सुनाया करती थीं।

मेरी अवस्था लाभग चार वर्षकी और मेरे बड़े भाईकी सात वर्षकी थी, उस समय मेरे अस्यन्त कठिन रोग हो गया। माताने कोई उपाय न देख श्रीश्रीबाबा देवनाथजीके यहाँ धरना दिया। बाबा भोजेनाथजी कृपाप्राप्तान करती हुई वह दिना कुछ खायेपिये मनिदरमें रहने लाई। हम दोनों भाइयोंने पहले दिन बाजारमें खरीदकर कुछ खा लिया, दूसरे दिन भात न मिलनेमें हमें कष्ट जान पड़ा और हमने भान बनाया, किन्तु उतारनेके समय भासमें भरी हाँड़ी उतट गयी और हम दिना खाये ही रह गये। हमने शिवसे प्रार्थना की कि 'हमें बहुत ही भूख सता रही है, आप शीघ्र ही हमारी माताको आदेश देकर कृतार्थ कीजिये।' कहनेकी आवश्यकता नहीं कि बाबा शिवने उसी हातको हमारा कन्दन सुना और माताको आदेश

देकर कृतार्थ किया। यात्रको जब मेरा रोग बहुत बढ़ गया, तब कलकत्ताके प्रसिद्ध डॉक्टर R. L. Dutta ने जवाब दे दिया तथा मुझे तीन दिन घरसे बाहर तुलसीके तले रखा गया। उस समय माताने कहा कि 'दूसरे सालेवने जवाब दे दिया है परन्तु बाबा वैद्यनाथने आदेश किया है कि तुम्हारा पुत्र अकालमें ही कालके गालमें नहीं जायगा, इस आदेशकी बात मेरे द्वारा कहलाकर माताने मुझे दूसरे डॉक्टरको दिखानेके लिये कहा और साथ ही यह भी कहा कि 'कोई भी डॉक्टर हलाज करें, मेरा लड़का अवधर्य बच जायगा। सो भर्त एक डॉक्टरका हलाज कराना चाहिये—' निमित्तमात्र भव सव्यसाचिन्।' इसी समय एक दिन डॉक्टर बाबूने मेरे बेटेहोना ठिचर भालिश करनेकी अवस्था की, परन्तु कम्पाउंडरहरने भूतसे उसे खानेकी दवा बनलाकर भेज दिया। मेरी माता अंगुलीसे दवा उठाकर मुझे खिलाना चाहती थी, परन्तु दवामें अत्यन्त दुर्गन्ध पाकर डॉक्टरके बिना दिखाये खिलाना उचित नहीं समझा और उसको अलगा रख दिया। कहना नहीं होगा कि भगवत्कृपामें इस बार भी मेरे प्राण बच गये। उनके इस विभासकी तथा मेरे बचनेकी यह बात आज भी मेरे हृदय-पटपर अद्वित है। शिवने हमारी पुकार सुनी। बाल्यकालमें ही उनकी कृपापर मेरा हृदयशस्त्र हो गया, ज्यारह महीने रोग भुगतकर मैंने पट्ट लिया। और भगवकृपासे मैं अबतक जीवित हूँ।

परिप्रकार अभ्यास—अस्थन्त गरीब होनेके कारण ज्योतिषियोंने तथा दो एक आरम्भीय वज्रनोने कहा—इसके नसीहतमें विद्या नहीं है, यह कभी हृष्टैस भी पास नहीं कर सकेगा, इसप्रकार कई तरहकी असुविधा होनेके कारण में पड़ना छोड़कर तेरह वर्षकी अवस्थामें New Glenes चायबागानमें नौकरी करने जलपाइयुक्ती चला गया। पांच महीने बिना बेतन काम सीखनेपर १५) महीना बेतन हुआ। उसमेंसे १०) मैं माताको भेजता था और ५) मैं अपना सारा काम चलाता था। मैंने सिर्फ दस महीने यह नौकरी की। सुबह ६ बजेमें ११ बजेतक, फिर १२ बजेमें ८ बजेतक तथा पुनः रातको ६ बजेमें २ बजेतक काम करता था। इसप्रकार १८ वर्षटा फैक्टरीमें चाय रींयार करता था। बेतन केवल १५) मासिक था। भगवान्की यह विदेश कृपा थी क्योंकि इसके कारण मुझमें परिश्रम करनेकी जाकि आ गयी और अभ्यास हो गया।

लड़कपनमें यदि इसप्रकार परिश्रम करनेका अभ्यास न होता तो मैं कभी इतना काये नहीं कर सकता।

इश्वर-निर्भरताकी शिक्षा—लड़कीमें कोई अनुचित कार्य न करनेपर भी तीन वर्ष अध्ययन करनेके बाद मुझपर मिथ्या दोषारोपण कर मुझे कालेजसे निकाल दिया गया। एक सप्ताहके बाद ही मुझे गारण्डीइनौकरी मिलनेवाली थी, हासी समय मुश्पर यह आधात लगा। मैंने लाचार होकर गवर्नर जनरलके समीप सेमोरियल भी भेजा परन्तु कोई फल न हुआ। भगवान्की हृष्टा दूसरी ही थी। घर-हाउर-सर्वस्व बन्धक रखकर छाण लेकर पढ़ने गया था, सोचा था कि विश्रय ही हृतकार्य होजाएगा। हठात् ऐसा क्यों हो गया, उस समय मैं बहुत संचनेपर भी नहीं समझ सका। ऐसी अवस्थामें मेरे मनमें धर्मश्याग या आरम्भरथा करनेकी बात न आयी हो, वेसी बात नहीं है। सम्भवतः मुझसे पहले कोई भी आश्र कालेजमें हृष्प्रकार अपमानित नहीं हुआ होगा, इसप्रकारकी तुलनामुलक धारणा मुझे और भी अधीर बनाये हालती थी। किन्तु 'शिव अशिव नहीं हो सकते' हृष्म हृष्म विश्वासके सहारेमें ही मैंने धर्म धारण किया, किसी कर्मफलका भोग था, हो गया। 'भोगादेव क्षयः' 'भोगनेमें भोगोंका नाश होता है,' हृष्म विचारमें मुझे विशेष साम्बन्धना मिली। मैं उस्साहके माथ पढ़नेलिम्बने एवं अन्यान्य कर्मोंमें लग गया। मुझे भगवान्के ये शब्द याद आ गये—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽयत्मचेतसा ।

निराशानिर्भमा भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः ॥

(मीठा ३।३०)

अर्थात् 'मुझमें समझ कर्मोंको अप्याम-चित्तमें निरेप करके, आशा-ममता-रहित तथा शोक-शून्य होकर युद्ध करो।'

कर्मप्रेताविकारने मा फलेतु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्मूर्ति ते सहोऽस्वकर्मणि ॥

(मीठा २।४९)

अर्थात् 'तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है, कर्मफलमें कदाचि नहीं। तुम कर्मफलके हेतु न बनो और म कभी कर्म न करनेमें ही तुम्हारी प्रहृति हो।'

आगे चलकर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे मैं पुनः-पुनः इसी कालेजके Final अर्थात् अन्तिम परीक्षाका परीक्ष

मिर्दान्धि होता रहा। एवं इसी लकड़ी-कालेजके प्रिसिपल एवं डाइरेक्टर आफू पर्सिलक इन्स्ट्रुक्शनगे लकड़ीके इलेक्ट्रिकल हाइड्रिनियरिंगके शिक्षकको इलेक्ट्रिकल हाइड्रिनियरिंगकी शिक्षा किसप्रकार देनी चाहिये यह जाननेके लिये मेरे पास भेजा।

सरकारी नौकरीमें कुछ दिनोंतक पाप-क्षय करके मैं निर्विज जीवन विताता तथा कुछ पैंजी भी इकट्ठी कर लेता। यीच-बीचमें भीखकी झोली नहीं उठानी पड़ती। परन्तु रुक्कीमें नौकरी न मिलना बहुत अच्छा हुआ, प्रेसा करके भगवान्‌ने मुझपर कितनी कृपा की, सो कहा नहीं जा सकता। मैं कालेजसे निकाले जानेके बाद वहाँ एक सर्टिफिकेट लेने गया था, परन्तु प्रिसिपल महोदयने वह भी नहीं दी। उन्होंने 'मैं उम कालेजमें तीन वर्ष पढ़ चुका हूँ' इसका भी प्रमाणपत्र न देकर मुझे Non-Engineer बनाकर संसार-यात्रा-निर्वाह करनेके लिये संसारमें भेज दिया। परन्तु भगवान्कृपामें मैंने आगे चल-कर लन्दनकी M. I. E. E. (Chartered Electrical Engineer) और M. I. E. उपाधि प्राप्त की जो अङ्गूष्ठेण्ट और भारतका ऐए Professional recognition है। अबतक इस उपाधिवाले भारतमें मिर्फ़ पॉच ही सज्जन है, जिनमें जान पड़ता है कि विना विलायत गये यह भगवान्कृपा मुझपर ही दुर्व्वाह है। भगवान्कृपा करके नाना प्रकारकी शिक्षा देने हैं, चायबगीचेका मजदूर कहाँ-तक सीख सकेगा इस बातको शिव जानते थे। शिवकी हृच्छा वैसी नहीं थी। अपने पैरोंपर खड़े होना होगा। साहसर्वक परिश्रम करना होगा। देशके दुःखदारिद्रियकी ओर देखकर चलना होगा, अहङ्कार और अभिभानको डानार फेंकना होगा। मौं कालीकी उपासना करनी है तो उसका बाहन शब्दप्र महादेव होना होगा अर्थात् देहाभ्यासानको बिल्कुल ही स्थाग करना होगा, तभी मौं इमारे वक्षःस्थलपर नाचेगी, ऐसा न करनेमें मौं इमारी कन्यारुपिणी होनेके कारण थोटी बालिका पास आनेमें दरेगी। अन्यथा हिलने-हुळनेसे माँको भय लगता है, इसकिये सर्वथा शब्द या मृतरूप (अहङ्कार-शून्य) होनेकी शिक्षा दी गयी है।

उनकी कृपासे असम्भव सम्भव हो जाता है—

त्वामाप्तिरात्मा-
न्त्वामाप्तिरात्मयतां प्रयाप्ति ॥

(चण्डी)

मैं जिस समय लकड़ीमें पड़ता था, उस समय वहाँकी पदार्थी प्रथामें मेरी श्रद्धा बहुत ही उठ गयी थी, वहाँ गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भी नहीं रह गया था। इमारे साहब शिक्षकगण कुत्ते-बिल्हीके समान भी नहीं समझते थे। यह सब देखकर मैंने स्वयं एक हाइड्रिनियरिंग-विद्यालय खोलनेका विचार किया था। इस विषयमें मेरे परम बन्धु श्रीयुत प्रमथनारायण विश्वास (Retired Divisional Engineer) महाशय जो अभी जीवित हैं, साक्षी दे सकते हैं। परन्तु धन कहाँसे आवे? भगवान्के राज्यमें धनके लिये कोई सक्षार्थ लकड़ी नहीं रह सकता। इसी विश्वासपर मैं कर्म करने लगा। इस उद्देश्यमें मैंने पन्द्रह वर्ष परिश्रम करके जो ग्रन्थ लिखा, उसका तृतीयांश सात बरहाँमें ग्राह्य: ३००० पृष्ठोंमें प्रकाशित हुआ है। मैंने सन् १९१३ में पूज्यपाद श्रीमान मदनमोहन मालवीयजीको इन्हिनियरिंग-कालेजका प्रथम Estimate दिया जो २८७००० का था। १९१६ में मैंने जो दूसरा Estimate दिया था वह ५०००००) था। इसी वर्ष हिन्दू-युनिवर्सिटी एक्ट (Hindu University Act) पास हुआ। महाराज पटियालाके ५००००००) मंजूरी देनेपर सन् १९१८ में पूज्यी मालवीयजीने मुझसे एक और Estimate चाहा, उमे मैंने ४२ विश्वविद्यालयोंके Prospectus पढ़कर क्वः महीनेमें तैयार किया, वह ८१००००) का था। इस Estimate के छप जानेपर मालवीयजीने विज्ञोंकी सम्मतिका (Expert opinion) संग्रह किया तथा लकड़ी सम्मतिके अनुसार यह कालेज १९१८ में संस्थापित हुआ। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने मेरे स्वप्रको कार्यरूपमें परिणतकर अपनी असीम दया प्रकट की। मेरी १८ वर्षकी वासना पूर्ण दुर्व तथा १६ वर्षकी साथना सिद्ध हुई। यह कार्य भी भगवत्कार्य ही है। मैं इसप्रकारकी कृपाका पात्र होनेमें सर्वथा अधोग्य होनेपर भी कभी-कभी यह स्मरण हो जाता है कि उन्होंने मुझपर कितनी दया की है, जो मुझे अब कोई कामना नहीं रह गयी है और न किसी प्रकारकी चिन्ताका इच्छारण रह गया है।

भगवत्कृपासे मौंकी दया होती है—मेरे लकड़ीसे विफल-मनोरथ होकर लौटनेके बाद एक दिन माताजी अकेली बैठी मन-ही-मन कुछ कह रही थीं। इतनेमें ही मैं उनके पास चला गया। मैंने पूछा—'आप क्या बोल रहीं थीं?'

उन्होंने उत्तर दिया, 'देख, आज मैं तुमको एक आदेश देसी हूँ। इसीको तुम मेरी यथार्थ आशा समझना। दूसरे समय यदि मनकी दुर्बलताके कारण मैं और कुछ कह दूँ तो उसे न मानना। सदा अरथ रखना कि यही मेरी यथार्थ आशा है।' फिर उन्होंने कहा—'इसप्रकार हमलोगोंके अध्यन्तर अर्थात् अध्यात्माव है, इस अध्यात्मावके कारण यदि कुचे-सियार मेरे हाथ-भासको खा जायें तो भी तुम मेरी और देखकर पढ़ना छोड़ धनकी चेष्टा न करना। अभी कम-से-कम बीस वर्ष और पहना। मैं एक ही गहर प्रसव करना चाहती हूँ, अस्त्रकी भाँति कचे अरडे तोड़कर निकले हुए बच्चोंका दल नहीं।'

मेरी माताने २१ बार रामायण और १६ बार महाभारत और हितोपदेशका पारायण किया था। भगवत्पूर्णासे ही ऐसी माँ मुझे भिन्नी थी।

भगवन्पर निम्नताकी शिक्षा—कलकत्तेमें मेरे बड़े लड़कोंको डाइकायड ही गया था। ८२ दिनके बाद उसे पथ्य दिया गया था। उस समय मैं बंगाल-टेकनिकल स्कूलमें काम करता था। वहाँ सुबे ११०) मासिक बेतन मिलता था। लड़केकी बीमारीके समय मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं थी। एक दिन मेरी जीने कहा—'आज मैंने कानकी बाली बन्धक रखकर डाक्टरकी फीस ही है; कल डाक्टरके आनेपर क्या दूँगी?' मैंने अपने साथ काम करनेवाले परम बन्धु श्रीयुक्त पृष्ठचन्द्र गঙ्गोपाध्याय (जो आज शिवपुर-हितिनियरिंग-कालेजके अभिन्नैरुट प्रोफेसर आफ मंकिनिकल-हितिनियरिंग हैं) महाशयमें यह बात कही। उन्होंने कहा—'मेरे पास एक सोनेकी छड़ी है, उसे मेरी जी नहीं लानसी, वह मैं आपको देता हूँ, आप उसको बन्धक रखकर अथवा बेचकर अपना काम छलाइये, पीछे देखा आयगा।' उनकी इस बातको सुनकर मैंने उन्हें आन्तरिक बन्धवाद देकर कहा—'माझे, कल आवहनकता पड़नेपर ले जाऊंगा।' यह कहकर मैं वहाँसे चला आया क्योंकि मुझे उस समय भगवान्की यह वास्ती याद हो आयी थी—

अनन्याश्विन्तयन्तो मा ये वनः पंचपासं।

तेऽन् नित्याभियुक्ताना योगदेशं बहुपदम्॥

(गीता ५। २२)

अर्थात् 'अनन्यमात्रासे विमुक्तन करते करते जो छोग

मेरी उपासना करते हैं, उन अपनेमें नित्ययुक्त हुए पुरुषोंका मैं योगदेश महन करता हूँ।' दूसरे मनुष्योंको पुरुषार्थकी आवश्यकता पढ़ती है। भगवान्के उपर यथार्थरूपमें निर्भर करनेमें ही मेरे पुरुषार्थका अन्त हो गया, फिर मेरे लिये जो श्रेय होगा, वह आप ही करें। उस समय शिवके उपर अभिभान हो आया और मैंने मनमें निश्चय कर लिया कि उन्हींके भरोसे रहूँगा, जो कुछ होना होगा, हो जायगा। वह सर्वज्ञ प्रभु मानो मेरे निवेदनकी ही बाट देखते थे। आभी एक घटणा भी नहीं बीता था कि इतनेमें एक मनुष्यने मुझे पुकारकर कहा—'महाराजा कासिमबाजार आपको बुला रहे हैं।' मैंने दूसरे दिन प्रातःकाल उनसे भेंट की, उन्होंने मुझमें राष्ट्र कि 'आपका बेतन कितना है और कबसे इमारे यहाँ कार्य (Vice-Principal Polytechnic Institute of Maha-raja Kasimbazar में) कर रहे हैं।' मैंने उनमें कहा कि 'मैं छः मासमें कार्य कर रहा हूँ।' फिर उनके यह पूछेपर कि कितने राष्ट्रमें मेरा काम चल सकता है, मैंने कहा कि २००) मासिक मेरे लिये येष्ट होगा। उन्होंने कहा करके मुझे डेंड सी हाये मासिक ड्रेनेके लिये कहा। मेरा सब दुःख दूर हो गया। इस बेतन-हृदृष्टिमें मेरा Credit बढ़ गया, लोग मुझे आशा देनेपर राजी हो गये, क्योंकि मेरी आमदानी बढ़ ११०) से १५०) हो गयी थी। घण्टे भरके निवेदनमें ही यह कार्य हो गया। दूसरे सोग इसमें काकतालीय संयोग कह सकते हैं। किन्तु जिमको अपनी जीके साथ ऐसी बालचीत होनेपर पुरुषार्थकी असाध्य जानकर इसप्रकारके निवेदनसंसाफ़ लिल मिल गया वह प्रभुकी कृपाके सम्बन्धमें कवायि अविक्षास नहीं कर सकता। यही मेरी माताकी शिक्षा है। मैंने बारम्बार इसको अज्ञाया और अवशक कभी विफलमनोरथ नहीं हुआ। किन्तु यह बाद रखना चाहिये कि प्रभु करेंगे वही, जो यज्ञजग्नक होगा। इमारी प्रार्थना इमारे इष्टके प्रतिकूल भी हो सकती है। शिव इस बातको समझते हैं, इस नहीं समझते। इसीलिये बहुधा इम अपने इच्छानुसार फल म पानेपर उस सर्वज्ञ सर्ववक्तिमानको दोष देने लगते हैं।

११११ ईस्टीके प्रीप्प कालमें मेरे बड़े भाई साहेबने मुझे एक शाकधार्मकी भूमि देकर कहा कि 'जारायणकी दूजा करनेमें एक ही महीनेमें विशेष मङ्गल होगा तथा वशार्थतः कोई अमङ्गल न होगा।' मैं पूछा करने लगा, पर

मङ्गल अमङ्गलकी बात भूल गया, जिस दिन एक महीना समाप्त हुआ उस दिन मेरी ओंने सबेरे ही मुझसे कहा—‘जेठजीके कथनानुसार आज एक महीना परा हो गया परन्तु कुछ भी तो नहीं हुआ’। मैंने कहा—शालग्रामजीकी मूर्तिसे मेरे भगवान्‌का नामकीर्तन तो हुआ ही है, यही मङ्गलमय है। तथा—

यद्यदाचरति प्रेषस्तत्तदेवतेरो जनः ।
स यत्प्रामाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३।२१)

अर्थात् ‘श्रेष्ठ व्यक्ति जो-जो आचरण करते हैं, साधारण लोग भी वही-वही कर्म करते हैं। वह जो प्रमाणित करता है इतर लोग उसीका अनुवर्तन करते हैं।’

‘मैं नारायणकी मंवा करता हूँ, इसे देखकर हमारे बाल-बच्चे भी भगवत्कीर्तन करेंगे, यही परम लाभ है। तथा यह बात भी बाद रखनी चाहिये कि मैं प्रभुके शरण्यागत हूँ, अतएव यह भी हो सकता है कि उनकी विद्वेष कृपासे मैं किसी महान् विषयसे बच गया हूँ। विषयत आकर चली गयी हो और उनकी कृपासे मुझे उसका कुछ पता भी न लगा हो। अतएव भाई साहबके बच्चन सभी प्रकारसे सत्य ही तो हुए हैं।’ ये बातें ही ही रही थीं कि मेरा बड़ा लड़का आया और गङ्गा-चानकीजी जानेके लिये मुझसे अनुमति माँगने लगा। इसके बाद दूसरे और तीसरे लड़केने भी आकर गङ्गा-चानकीजीके लिये अनुमति चाही। मैंने कहा, ‘आज मेरा मन मुमलोंमें खान करनेके लिये जाने देना नहीं चाहता।’ इसी बीचमें मेरे टाइपिस्ट श्रीलेन बाबू आ पहुँचे तथा अपने साथ लड़कोंको गङ्गा-चानकीजीके लिये भेजनेका अनुरोध करके दे उन्हें साथ ले गये। लगभग दो घण्टे बाद देखता हूँ कि मेरे लड़के तथा श्रीलेन बाबू भूखि-भूसरित शरीरसे मेरे सामने आ रहे हुए। एषनेपर उन्होंने कहा कि हमारे अगस्तकृष्णकी एक गलीके कोनेपर आते ही एक चार-तला मकान हमारे सामने ही फटकर क्षणमात्रमें गिर पड़ा और दो-चार सेकण्ड भी यदि हम आगे बढ़े होते तो चारों आदमी दब गये होते और भरभरके सशक्त क्षिये शोकसागरमें ढूबना पड़ता। उस मकानके शिरनेसे तीन आदमी, एक जोड़ा और एक साँड़ थे पाँच ग्राणी मर गये।

शालग्रामजीकी पूजाका सुफल प्रस्तुत हो गया। यह किससे समय मैंने अपने दूसरे और तीसरे लड़केको अलग-अलग ले जाकर पूछा कि यों तो भगवान् सदा ही मुझपर दया करते हैं किन्तु कब उन्होंने सबसे अधिक कृपा की है? इसके उत्तरमें दोनोंने बिना एक दूसरेसे पूछे इसी घटनाको सर्वप्रधान कृपापूर्ण बताया।

आज छः बर्ष हुए मेरा एक लड़का छुणानारायण १ बर्ष १० मासकी उम्रमें काशी-लाभकर मुक्त हो गया। मेरी ओंने उसके शोकमें आहार त्याग दिया। एक ग्लास शर्बत और आधमेर दूधपर दो बर्ष रहनेके बाद उन्हें भवानक बीमारी हो गयी। मुखमें अत्यन्त दुर्गंधमय लाल निकलने लगी। सारे सन्धिस्थान केशके समान काले हो गये; यहाँतक कि जीभतक काली हो गयी। यहाँके सभी अच्छे-अच्छे डाक्टर देखकर कुछ भी नहीं निश्चित कर सके। कलकत्तेके भी खास-खास डाक्टरोंने देखा परन्तु कुछ भी फल न हुआ। दिनमें जश दो-तीन बार नाड़ी छूट जाया करती थी, ऐसे समय काशीके प्रसिद्ध सांधु महारमा श्रीहिंदूरबाबाके उपदेशके अनुसार एक दिन शनिवारके प्रातःकाल मैंने ऊंसे कहा—‘तुम यदि एक काम करो तो उसमें आज ही कोई ऐसा अच्छा डाक्टर, कविराज अथवा अच्छी औपाध प्राप्त हो जायगी, विसमें तुम्हारा श्रेय होगा वही होगा।’ उनके यह एषनेपर कि मुझे क्या करना होगा, मैंने कहा कि, ‘बस, केवल राम राम जप करो।’ उन्होंने समझा कि शायद मेरा सृष्टु-समय समीप होनेके कारण ही यह ऐसा कह रहे हैं। किन्तु मैंने उस भावसे नहीं कहा था। मैं जानता हूँ भगवान् कहते हैं—

चतुर्विंश मजन्ते मां जनः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आत्मो जिज्ञासुरीर्थी ज्ञानी च मरतर्षभ ॥
(गीता ७।२६)

अर्थात् ‘हे मरतर्षभ ! हे अर्जुन ! सुकृतिशाली चार प्रकारके व्यक्ति मुझे भजा करते हैं—आत्म, जिज्ञासु, अर्थर्थी और ज्ञानी।’ मुझ-जैसे संसारो मनुष्य Priviledge अथवा अधिकार केवल आत्म होनेपर ही है। श्रीरामने मुझको इससे ऊँचा अधिकारी नहीं बनाया। हमारे न चाहेनपर भी वे कृपा करते हैं, इसपर हम उनकी ओर नहीं देखते। कारण यही है कि अत्यन्त तमभावने हमको बैठ रखा है, अतः अब कोई उपाय नहीं है।

मध्याह्नके ११ बजे उनकी नाड़ी कूट गयी। अब उनको रामनाम लेनेमें भी प्रसभर्थ देखकर मैंने सारी अवस्था श्री-रामके प्रति निवेदन कर दी। इसी नाड़ी क्षोडनेकी अवस्थामें सन्ध्याके समयमें अचानक Captain J. M. Gupta M. B. महाशय (जिनके साथ अवतक केवल दो ही दिनका परिचय था) मोटरमें आये और मकानमें ऊपर आकर मुझमें कहने लगे—‘I came to you as a friend and not in my professional capacity’ ‘आपके एक द्वात्रके हारा मैंने सुना कि आपकी जी अस्पत्त पौष्टि है, इसे सुनकर मुझमें रहा नहीं गया। मनमें आया कि आप निश्चय ही डाक्टरको दिखलाते हैं, ऐसी अवस्थामें Professional etiquette के लिये बिना बुलाये जाना उचित नहीं है, परन्तु भीतरमें एक ऐसी आवाज आयी जिससे मैं रुक न सका। इसीलिये मैं उन्हें देखनेके लिये आया हूँ।’ मैंने तकाल अपने बन्धु डाक्टर अमरनाथ बन्दोपाध्याय महाशयको भी बुला लिया। दोनोंने मेरी जीको देखा और गुप्त महाशयने कहा—‘भीमबाबू क्या चाहते हैं?’ मैंने कहा—इन्हें लखनऊ ले जाया जा सकता है या नहीं? उन्होंने उत्तर दिया Pulse (नाड़ी) ही नहीं है, दरबाजेये बाहर निकालते ही Heart fail हो जायगा और मणिकर्णिकाको जाना होगा। मैंने कहा कि ‘आप जो अच्छा समझें वही करें।’ फिर गुप्त महाशयने कहा—‘मैंने परिचयों करनेवालोंमें पूछा था, उन्होंने बतलाया कि आज कुल एक तोला पेशाब हुआ है, और एक तोला दूध भी नहीं पिया है। कई दिनोंसे नींद नहीं आयी, अतएव जिसमें नींद आवे और प्रातः कुछ भूल लगे, वही उपाय करना उचित है।’ तकाल ही उन लोगोंने विचारकर औपचार्य और उसी अन्यायको नींद आ गयी। दूसरे दिन प्रातः रोगिणी भूलके कारण कुछ लानेके लिये माँगने लगी। डाक्टर गुप्त दूसरे दिन प्रातः-काल आकर बोले कि ‘कल बीमारीको बिना ही समझके देवा दी थी। अब यह देखना चाहता हूँ कि क्या बीमारी है और इसमें कौन-सी औपचार्य देनी चाहिये।’ मैंने उनको पहले दिनकी बारी बातें कह मुनायी और कहा ‘कल भगवान् ने औपचार्य दी है, अब आप भूल भी डाक्टर ने देंगे सो यह बच आयगी।’ उन्होंने परीक्षा करके कहा कि रोग Typical Scarvey है। कहना गर्भी होगा कि श्रीरामकी कृपासे और उनकी विदिसासे मेरी जी अस्पत्त पीड़ित रोगमुक्त हो गयी। मेरी जी श्रीरामकी कृपासे ही अच्छी

हुई, इस बातको डाक्टर अमरनाथ बाबू भी मुक्तकरणमें स्वीकार करते हैं। ज्योंकि उस अवस्थामें रोगीको अच्छा करना मनुष्यके लिये असाध्य था।

मनुष्यका मन अस्त्यन्त दुर्बल तथा साधारणतः अफुलज्ञ है। इसलिये जो हो गया है उसे बहुतेरे Chance या काकतालीय संयोग कहेंगे। परन्तु इसी विश्वासके ऊपर अर्थात् भगवान्कृपाके ऊपर मैंने एक ग्रन्थ लिखा है जो अन्य किसी प्रकार भी मुक्तमें नहीं लिखाया जा सकता था। प्रभुने यदि उमे भागलजनक समझा और मुझमें बासविक लोक-हित-व्रत देखा तो यह ग्रन्थ प्रकाशित हो जायगा। वे यदि समझेंगे कि उसमें मङ्गल नहीं होगा तो वे मङ्गलमय प्रभु इसको कदापि प्रकाशा नहीं करेंगे। महावास्त्रायनीय ऐसे शिव कभी अशिव न होंगे। अतएव इसके प्रकाशित होनेपर भी रामकी कृपा, और प्रकाशित न होनेमें भी राम (भगवान्) की कृपा समझकर मैं धन्य होऊँगा। ग्रन्थ आयुर्वेदी औपचार्य और वृक्षालतादिसम्बन्धी (Ayurvedic Materia Medica and Pharmacology) है, अभी छपानेसे अनुमानतः १५-१८ सरलद्वयमें (प्रत्येक लगभग १०० पृष्ठ) समाप्त होगा, इसके लिये मैंने विन्यासचल दो वर्ष, हिमालयमें चार वर्ष और अन्यान्य स्थानोंमें प्रायः १२ वर्षतक शास्त्रोक्त भेषजोंका अनुमन्वान किया है। मैंने इसमें सम्बन्धनः २० वर्षतक १६ घट्टा तथा कुछ वर्ष (प्रायः ८ वर्ष) बीम वर्षांते प्रतिदिन परिश्रम किया है। इसप्रकार परिश्रम करना मैंने चायबागानमें सीखा था। इतिनियर होने हुएं आयुर्वेदोक्त औपचार्य-सम्बन्धी पुस्तक जिसमें मेरा प्रयोजन केवल भगवन्-इच्छा ही है। इसके लिये पहाड़की कन्द्रशाखोंमें छः वर्ष धूमना पड़ा। उनकी कृपा न होनेमें इसप्रकार परिश्रम-साध्य विषयमें कभी मैं योग नहीं दे सकता था।

परम भावसे विश्वास करनेमें ही वह जीवनको आकरण कर लेना है और वही भक्तिकी प्रतिष्ठ होती है। इसमें भक्तिकी मात्रा बहुत ही कम है किन्तु यही होमियो-रैथिक हाई ऐव्यूशनके समान कार्य करती है, इस बातको मैंने प्रत्यक्ष देखा है। अनाथ-बन्धु भगवान् जीनोंके ऊपर बड़ी दया करते हैं, मैं जानता हूँ कि मेरे कोई सहारा नहीं है, इसीमें प्रभुने इतारी कृपा की। मैंने देखा कि आयुर्वेदी औपचार्योंमें वही गदबद मर्दी है, एकके स्थान-में दूसरी ही जीव व्यवहारको जापी जाती है, इसीलिये

ओषधि-निर्णयका भार भगवान्‌ने मेरे ऊपर दे दिया । यही समझकर यह परिश्रम किया गया । मैंने कभी सोचा ही नहीं कि मेरी पुस्तक प्रकाशित होगी या नहीं, अथवा इसे कोई पढ़ेगा या नहीं । पोछे जब पुस्तक प्रायः समाप्त हो चकी तो मैंने देखा कि इस पुस्तकको सचित्र प्रकाशित करनेमें चार काल हृपये लौटे । तब मैं कहूँ देखी नदेशोंके पास गया परन्तु कहीं भी सफलता नहीं हुई । मैंने समझा कि मेरा काम अभी श्रीरामके मन-लायक नहीं हुआ । कुछ और त्याग तथा परिश्रम नहीं करनेसे साथान सिद्ध होनेवाली नहीं है । किन्तु यदि मैं पहले जानता कि चार काल हृपये न होनेसे यह प्रन्य प्रकाशित न होगा तथा

यदि मुझे इस प्रन्यके प्रकाशनसे यह किंवा अर्थ-प्राप्तिकी आशा रहती तो कदापि इस प्रन्यके लिखनेमें हतता कठोर परिश्रम नहीं करता । भगवान्‌की कृपामें ही इसप्रकारके माव मेरे मनमें नहीं उठे थे । उनके प्रीत्यर्थ ही मैंने इस काममें हाथ ढाला था, प्रकाशित होनेके लिये नहीं ।

शिवने घायवागानसे लैटे हुए कुलीके द्वारा ३० लखडो-में ऐसे प्रन्य लिखवाये, जिनके छपनेपर १५००० पृष्ठ हो सकते हैं । इसके लिये मैं उनको सहस्रों बार प्रणाम करते हुए कहता हूँ कि—

मूके करति वाचालं पंगुं लंघयतं मिरिम् ।
यदृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

(३६) श्रीनिलिनीमोहन सान्याल एम० ए०

१-इस विष-संसारके प्रत्येक अंशको—चाहे वह बड़-जगत् हो, चाहे जीव-जगत्, चाहे मनुष्य-समाज—भलीभांति निरीक्षण करनेसे हमें इस बातका अनुभव होता है कि यह ठाट किसी विराट् सत्ताका प्रकाश है । इसके छोटे-से-छोटे पदार्थके भीतर भी जो सृष्टि-कौशल, रचना-नैपुण्य तथा अनिवार्य नियमका परिचय मिलता है, उसमें स्पष्ट उपलब्ध होता है कि किसी विचारशील सत्ताके द्वारा यह सारा जगत् नियन्त्रित हो रहा है । अतएव हमारे सुख-दुःख उसकी अधीन हैं । जब इस बास-की अनुभूति होती है, तब वह जैसे भासाकी गोदृका आश्रय मिलनेसे अपने आपको भय-शून्य तथा परम सुखी समझते हैं, वैसे ही इस विषद्-संकुल अव-सागरमें हमारा एक आश्रयदाता है, यह समझकर इस निःशक्त हो जाते हैं और सन्तोष अनुभव करते हैं, अतएव हमें ईश्वरपर विश्वास रखना आवश्यक है ।

२-यदि ज्ञान-नुद्दि-विचार-सम्पर्क कोई महान् सत्ता इस विश्वकी चालक न हो, तो यह अनियममें ही चल रहा है, क्या यह आकृमिकताका ही लिला-क्षेत्र है ? यदि ऐसा ही होता, तो मनुष्यकी नैतिक तथा धार्मिक तुदि अर्थ-हीन हो जाती और मनुष्य-समाजको उत्तिकी राहपर चलनेकी आवश्यकता न रहती ।

३-ईश्वर-विश्वास मानव-मनकी एक तीव्र आकांक्षा है । सभीमें यह मनोभाव पाया जाता है । जब मनुष्य अपने आपको असहाय, निःसङ्ग वा व्यथित समझता है, तब वह ऐसे एक देवताको खोजता है, जो उसके दुःखका मोचन कर सकता हो—जिसपर वह निर्भर कर सकता हो । इस देवताकी शरणमें आकर उसे सान्त्वना तथा बल मिलते हैं ।

मनुष्य यह भी चाहता है कि इस जीवनके कष्टोंको होलते हुए और सरय तथा शुद्ध राहपर रहते हुए वह उस पार पहुँचेगा तब उसे भविष्य-जीवनमें भी उस देवताका आश्रय मिलेगा, जिससे वह शान्ति और आनन्द-का उपभोग कर सकेगा ।

४-आयुकी वृद्धिके साथ-साथ ईश्वरपर भेरा विश्वास दृढ़तर हो रहा है, और आहन्दे उनके आश्रयमें रहने-की आकांक्षा बढ़ती जा रही है । मेरे जीवन-कालमें मेरी बहुत-सी प्रार्थनाएँ उन्होंने पूर्ण की हैं । आप भले ही हैं, परन्तु मैं भी-धीरे श्रीकृष्ण भगवान्‌को इस वस्तुमें अनुभव करने लगा हूँ, यथापि मैं अभीतक रिपुओंके वशमें हूँ ।

(४०) श्रीप्रज्ञानपादजी

आपके प्रश्नोंके जवाब देनेके पहले 'ईश्वर' के अर्थके सम्बन्धमें सुन्पष्ट धारणा होनी चाहिये । 'सब' या 'सत्य' को 'ईश्वर' का 'प्रत्यय' वाचक समझनेमें 'सब' ही है और वह है 'एक' और 'अद्वितीय' जिसका लिंग—मैं हूँ । शाश्वत-भाषामें कहनेमें—

'एकमेवाद्वितीयम्'

'सेऽहमस्मि ।'

जो भी कुछ कहा जाय, सब कहनेके मूलमें, सब अपेक्षिक (Relative) सत्यके आवाहन-स्वरूप, मैं हूँ निरपेक्ष (Absolute), पारमार्थिक सत्य । मेरे अस्तित्व-के ऊपर ही 'सब कुछ' (सुखमें अलग, प्रामेतर) का अस्तित्व निर्भर करता है । मैं ही 'सब कुछ' की 'पदवी' हूँ । मैं अपनी 'महिमा' में (खें महिमा) में स्थित हूँ । परिदृश्य-मान 'संसार' या 'भव' के भीतर ओतप्रोत होकर 'स्थिर' या 'अचल' मैं स्थित हूँ । सुतरां सुखमें 'अलग' कुछ है नहीं, जो सब मालूम होते हैं—वे सब ही सिर्फ 'मानो' हैं—'हैं नहीं,' सिर्फ 'मानो' हैं । सब कुछ मेरी ही 'महिमा' है । मैं जैसा चाहूँ (यदि मैं चाहूँ तो) वैसा ही हो जाय, क्योंकि मेरे अतिरिक्त और कुछ न रहनेके कारण मेरे मंकलपके विश्व कुछ बाधा हो नहीं सकती । मेरा प्रभाव अप्रतिहत है । जब मैं कुछ 'चाहनेवाला' 'सङ्कल्प करनेवाला' मालूम होता हूँ—उस समय मेरे कियाशील रूपका उदय होता है,—अर्थात् 'मन' का उदय होता है । वह मन 'अहम्' का अभिमान करता है, अतः उसके साथ 'अहंकार' युक्त रहता है; यही अहंकार अथवा मन 'अभिविवेश' के कारण क्रमशः अपने 'व्यापक' रूपमें हटते-हटते मानों सीमावद्ध स्थग्नरूपको प्राप्त होता है । उस समय वह अपने व्यक्त, स्वरूप, छुद रूपको ही अपना सत्य रूप समझकर अपने अव्यक्त, अनन्त, वृहत् सत्य रूपको भूल-सा जाता है । अतः वह अपनी अमहाय, उपाधियुक्त अवस्थामें विहृत होकर अपनेमें अतिरिक्त, आरम्भतर किसी सर्वशक्तिमान् तथाकथित ईश्वरकी कल्पना करता है और उसमें 'शक्ति', 'दया', 'बल' आदिके लिये प्रार्थना करता है । यरन्तु वह कभी भी अपनी सत्य स्थितिमें, जो कि अनन्त, अप्रतिहत-मानि है, अलग न हो सकनेके कारण, जभी उसके अन्दर 'तीव्र संकल्प'

अथवा किसी विषयके लिये 'तीव्र इच्छा' का उदय होता है, तभी उसके सारे अस्तित्वके अर्गोंमें शक्तिका स्फुरण होता है,—उस शक्ति-फूरणसे, उस इलाचलसे उसका अव्यक्त, अनन्तशक्ति, सर्वव्यापक मन जग जाता है और उसकी उस 'तीव्र इच्छा' के अनुसार काम हो जाता है । सुतरा काम वह स्वयं ही करता है—पर, अपने अज्ञानके कारण, अपने अव्यक्त रूपका ज्ञान न रहनेके कारण वह उस कामका कर्ता अपनेमें अलग, आरम्भतर ईश्वरको समझ लेता है—यदि वह काम प्रिय हो । कामके 'अधिय' होनेमें उसका कर्ता दीतान है, ऐसा समझ बैठता है । इस रीतिमें अपने अज्ञानके कारण, अर्थात् अपने अव्यक्त सत्य रूपके सम्बन्धमें अज्ञानके कारण ही आरम्भतर ईश्वर और दीतानकी कल्पना हो जाती है । किन्तु तथ्वतः मन ही सभ कुछ करता है—सब कुछ मन ही है—'सब मन एक' और यह मन सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, अभन्त आदि गुणोंमें (जिन गुणोंका आरोप अज्ञान आरम्भतर ईश्वरपर करता है) भूषित है—जिसका विवरण 'शिवसंकल्पसूत्र' में ['तन्मे मनः शिवसंकल्प-मन्तुः'] यजुर्वंद करता है । थोड़े मैं—

मैं हूँ,—ईश्वर मैं ही हूँ । सुखमें अलग और कुछ नहीं हूँ । अतः मैं जैसा चाहता हूँ वैसा ही होता है । अव्यक्त यह चाहना मेरा होना चाहिये । इसमें 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' में विरोध न होना चाहिये । 'अव्यक्त' की इच्छाके अनुसार सब कुछ हो रहा है । यह विषयका ज्ञान न रहनेके कारण 'व्यक्त' उसको अपना काम समझ नहीं पाता ।

प्रश्नोंका उत्तर—

१. २. ३-ऐसे ईश्वरपर विश्वास न करना निरर्थक है । अपने अस्तित्वके सम्बन्धमें किसका सन्देह है ? 'सब कुछ' पर सन्देह हो सकता है, परन्तु सन्देह करनेवाले 'मैं' के अस्तित्वपर सन्देह कौन करेगा ?

४-'दया' शब्द निरर्थक है, आशिक दृष्टिका, अज्ञान-का फल है । दया-निष्ठुरता आदि सभी कुछ स्वरूप-दृष्टिमें होते हैं । इस जीवनकी प्रत्येक घटना अपनी तात्कालिक इच्छा (अव्यक्त) में ही सम्भव हुई और हो रही है—यह बात अब सुन्पष्ट है ।

(४१) ह० भ० पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पाञ्चारकर बी० ए०, सम्पादक 'मुमुक्षु'

ईश्वर-विश्वास प्रकाश है, और अविश्वास अन्यकार है; इसमें एक भावान्मक वर्णन है और दूसरी इसके विपरीत केवल अभावात्मक। मैंने अपने सारे जीवनमें प्रायः प्रकाशमें चलनेकी चेष्टा की है और इसीलिये अन्यकार-पर विचार करना भी मेरे लिये आव्यन्त कठिन है। ईश्वर-में विश्वास ईश्वर-प्राप्तिकी पहली सीढ़ी है। यह बारीका विषय नहीं, बल्कि रहस्यमय आनन्दका विषय है; और इस विषयमें मैं अपनी अमर्यथाका अनुभव करता हूँ। तथापि उम सराठी कृष्णके अनुसार कि 'पक्षिगण विमृत आकाशमें अपनी शक्तिके अनुसार ही उड़ते हैं, उमी प्रकार मनुष्य भी अपनी शक्तिके अनुसार (अनन्तशक्तिमप्नज्ञ) भगवान्‌का चिन्तन अथवा गुण-कीर्तन करते हैं' मेरे समान पामर जीव उम प्रथममें लगानेका साहम करता है, जिसमें तुलसीदास और तुकाराम-जैसे महान्‌मन्त अमर्यथा प्रकट करते हैं! भगवन्‌सङ्गत या प्रार्थना आस्माका मंगल-मूर है, उमसे गायक भक्त पवित्र और तल्लीन हो जाता है।

मेरे सामने चार प्रभ रखते रहते हैं—

इनमेंमें पहले तीन प्रभ एक-में हैं और आस्तिकता अथवा नानिकतामें सम्बन्ध रखते हैं; चौथा प्रभ वैयक्तिक है और अधिक उत्थाप्त है। मेरे विश्वासमें तर्क, युक्ति अथवा हेतुओंमें नानिक पुरुष आस्तिक नहीं बनाये जा सकते; और न तकद्दुरा आस्तिक ही आनिकताकी ओर बढ़ता है। तकद्दुरा हम प्रेम नहीं करते। हम विश्वास या प्रेम इसीलिये करते हैं कि वैसा किये जिना हम रह नहीं सकते। माता-पितामें हमारे प्रेमका कारण तर्क नहीं है। प्रेम सम्भवतः एक अन्तर्नाल है, जिसको कुछ अनुष्य साध लेकर जन्मते हैं और कुछ जिना साध लिये। भक्त प्रह्लाद-के विषयमें कहा जाता है कि भगवान्‌में उनका स्वाभाविक प्रेम था—'तस्य नैर्सर्गिकी रूपिः' एकनाथ महाराज कहते हैं कि वह जन्ममें भक्त थे, जन्मने ही वह भगवत्-प्रेमी और भगवान्‌के सेवक थे। सम्भव है यह पूर्व जन्मोंके सुकर्मोंका फल हो। शुद्ध, स्वाभाविक और निर्दोष प्रेम एक (ईश्वरप्रदत्त) उपहार है। कहा जाता है कि कृष्ण और दाशरथिक उत्पत्त होते हैं, बनाये नहीं जाते। इसलिये विशिष्टरूपसे भगवान्‌का प्रेमी सी प्रेमको साध

लेकर ही उत्पत्त होता है। इसमें यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि अविश्वासी पुरुष कभी विश्वासी बन ही नहीं सकता। मैं एक ऐसे मनुष्यको जानता हूँ जिसने पचास वर्षोंतक ईश्वरकी उपेक्षा करते हुए पापमय जीवन बिताया। अचानक उसका परिवर्तन हुआ और अपने जीवनके अन्तके दस वर्षोंको उसने यथार्थतः ही सन्त-जीवनके रूपमें बिताया। मेरा विचार है कि कट्टर मे-कट्टर नानिक भी ईश्वरमें विश्वास, यहाँतक कि प्रेम भी कर सकते हैं। कोई भी ऐसा पापी नहीं हो सकता जो सन्मार्गपर न आ सके और कोई ऐसा नानिक नहीं हो सकता जो आनिकताकी ओर न लौट सके। ऊपर जिस मनुष्यका मैंने महेत किया है, उसे अचानक एक धर्मार्थमा यो तिके घरसङ्गका मुश्ववमर मिला और वह छः महीने उनके माथ रहा, अन्तमें एक दिन प्रातः-काल वह पापी एक मन्त्रके रूपमें परिणत हो गया। मेरा कथन यह है कि नानिक पुरुष तर्क और युक्तियोंमें नहीं बल्कि ईश्वर-प्रेमी और धर्मार्थमा पुरुषोंके सहवासमें ही आनिक बन सकता है। सन्यास या भगवत्प्रेमी पुरुषोंका सहवास एक महती क्रियारिमका शक्ति है जो चहाँओंको तोड़-फोड़कर उसपर पवित्र जलका सोता बहा देती है। अजामिल, अधासुर, द्वजवधु, बकासुर, पिगला प्रभूति इसके उदाहरण हैं। रामायणके प्रणेता महर्षि वाल्मीकि इसके मुन्दर उदाहरण हैं। यहाँतक कि गोस्वामी तुलसीदासजी भी अपनी चीके उपालग्रन्थमें सम्पर्थको प्राप्त हुए हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है कि—

'बिनु सत्सङ्ग विवेक न होई।'

ईश्वरमें विश्वास करना ईश्वर-प्राप्तिकी प्रथम सीढ़ी है। श्रद्धा, भाव, विश्वास, निष्ठा इन सबका एक ही अर्थ है— ईश्वरके अस्तित्वमें असल विश्वास। श्रद्धाहीनता ईश्वर-प्राप्तिके समस्त साधनोंपर पानी केर देती है। विश्वाससे भगवान्-में भक्ति, रति या प्रेम होता है। भगवान् और भगवान्‌की सहिये प्रेम ही भक्ति है। श्रद्धा ही ईश्वरीय ज्ञानका द्वार है—'श्रद्धाऽऽश्वभते ज्ञानम्' कहा है, 'तर्कवान्-लभते ज्ञानम्' कदापि नहीं। सम्भव तर्क और युक्तियाँ उसके सामने छोड़ हो जाती हैं, अथवा उसमें लीन हो जाती हैं, वह इन सबसे परे है—'यो बुद्धे परतस्तु सः।'

वह बुद्धि, मन तथा इनिद्र्योंमें परे है। जब तुम एक बार उन्हें प्राप्त कर लोगे, तब बुद्धि, मन, इनिद्र्याँ और शरीर, यही चीज़ों, अखिल विश्व उसके द्वारा परिचालित तथा उसीमें स्थित अनुभूत होगा। वस्तुतः प्रभुके सिद्धा कुछ ही ही नहीं। बस, केवल एकमात्र ईश्वर ही है। वही सब कुछ है। अपने आपको उसमें सिद्धा देना ही ईश्वर-प्राप्ति है। ज्ञानेका ('नासदीयसूक्त') और भगवतीताका 'ज्ञेय' (अथवाय १५ श्लोक १२ में १८) जहाँतक शब्दकी शक्ति है वहाँतक ईश्वरके परम सत्य भावको अभिभवक करते हैं। यद्यपि ईश्वर भावना नहीं अद्वितीय सत्य तत्त्व है। उसकी प्राप्तिके लिये उच्चतम साधना आवश्यक है। उसके लिये मनुष्यको किसी मार्गांका अनुसरण करना होगा। केवल जानने और विचारनेमें ही काम नहीं चलेगा, बल्कि जीवन और आचरणमें उसमें होना और बनना पड़ेगा। भक्ति या प्रेमके द्वारा आप उस संगुण और निर्गुणवस्तुपूर्व परमारम्भमें एकत्रको प्राप्त हो सकते हैं। एक ही अनेक ही और अनेक ही एक है। अच्छा, वह मार्ग कौन-सा है? आपको कहाँ मिटेगा? कौन उसे दिखलावेगा? जो उस मार्गमें जाकर वहाँ पहुँचे हैं, उनके सिद्धा कौन उस मार्गको दिखला सकता है? केवल सन्त-महात्मा ही उस मार्गको दिखला सकते हैं। स्वानुभवके बलपर वह बतलाते हैं कि ईश्वर तुम्हारे भीतर है, उसको खोजो। मार्ग और साध्य दोनों एक ही हैं। उपनिषद्, गीता, भागवत, संसारके समस्त धर्मग्रन्थ, तथा साधु-महात्माओंके लिये प्रन्थोंका स्वाध्याय, नित्य दैनिक सन्ध्या, पवित्र मन्त्रों और तीर्थोंका दर्शन करना, दूषित प्रन्थों, मनुष्यों और समझारणोंमें बचना—यह समस्त साधकोंके लिये (विशेषकर प्रारम्भिक साधकोंके लिये) कुछ आवश्यक साधनाएँ हैं। इनमें आपमा पवित्र होता है, बनिक यह प्रतीति होती है कि आत्मा सदा ही पवित्र है। ईश्वरका स्वागत करनेके लिये अपने हृदयरूपी मन्त्रिका द्वारा लोल दो और किर देसो कि वह वहाँ पहलेमें ही भौमूद है। तुम्हारे शरीर-यन्त्रका सञ्चालक भी तो वही है। जैसे भक्त ध्रुव कहते हैं—‘जो मेरी इसनामें वाणीका सञ्चाल करता है, हाथ और पैरोंको चलाता है, मुझे शब्द-शब्दके योग्य बनाता है, तथा मेरे समस्त शरीरमें व्याप्त है उसको मैं देखता हूँ—उसके लिये मेरा नमस्कार हो।’ ईश्वर हमारे भीतर है और

बाहर भी। समस्त धर्म साधन है। भद्राकारको नष्ट करके यह अनुभव करना कि केवल वही एक है और वही सब कुछ है, साधन कहलाता है। वही व्यापक और व्याप्त है, वह साकार है और निराकार है। वह सगुण है और निर्गुण है। वही उपाय और उपासक है। वही सब कुछ है। वह ‘सर्वं शिवं अद्वैतं’ है। विश्वास, अद्वा, प्रेम तथा अनुभूति आत्माके लिये अस्यन्त ही शक्तिप्रद और आनन्दप्रद होते हैं। ईश्वर-विभासी सहज ही आन्तरिक शत्रुओंका सामना करता है और शक्तिसम्पन्न होता है। नास्तिकका अवलम्बन क्या हो सकता है? तन, धन, जन और मित्र समय पढ़ेपर नहीं ठहरते। बेघारा नामिक अकेला पढ़ जाता है? आस्तिकके लिये भगवान् उसकी शक्ति तथा आनन्दके सम्बन्ध होते हैं। ‘संशयात्मा विनायति’ और ‘न मे भक्तः प्रणश्यति’ ये दो दिशाएँ हैं, इनमेंमें तुम जो चाहो, चुन सकते हो।

भगवानने दुनियाके महान् ग्रन्थ भगवतीतामें अपने भनोंकी बहुतसे आशासन-वाक्य लिये हैं—

(१) ‘योग्यमेव वद्यमहम् । । १० । २२ ।

(२) ‘ददामि बुद्धिमेव तं येन मामुपयन्ति ते । ।

(१० । १० ।)

(३) ‘तेषामक्षानं तमः—नाशयाम्यात्ममावस्थः । ।

(१० । ११ ।)

(४) ‘तेषामहं समुद्रता सृत्युसंसारसागरात् । ।

(१२ । ३ ।)

(५) ‘अहं त्वा सर्वपापम्यो मोक्षिष्यामि मा तुच्चः । ।

(१८ । ११ ।)

आस्तिकके लिये स्वयं श्रीभगवान् ईसप्रकार अपने ऊपर जिम्मेवारी लेते हैं। परन्तु नामितकके लिये कोई आधार नहीं है! उसे किमके द्वारा और कहाँसे सहायता मिल सकती है? आस्तिकके लिये भगवान्के ये आशासन किलेबन्धियोंके समान हैं और वह इनके भीतर जागरप्रसुके द्वारा रक्षित हुआ सुखमें विश्राम करता है। भगवद्गीता और भगवत्-प्रेमी माता-पिताकी सन्तान होनेके कारण धार्मिक बातावरणमें पाले-पोये जाने तथा अपनी सुदूर और विमृत यात्रामें धार्मिक पुरुष-जियोंके सम्बद्धमें रहनेके कारण, एवं आध्यात्मिक साहित्यके अध्ययनका अस्तु द्वानेके कारण मुझे कभी ईश्वरके अखिलत्वमें विश्वास

करनेके लिये तर्कों आवश्यकता नहीं पड़ी । मैं सदा ही अपने शरीरके रग-रगामें उसके अस्तित्वका अनुभव करता था । उसकी दृष्टि मेरी मूल-सम्पत्ति है, उसकी कल्पना मेरा कवच है, उसका चिन्तन मेरा परम आनन्द है, तथा उसके भक्तोंके साथ सम्भावणा मेरा स्वर्ग है ! क्या मधुली-को पानीसे प्रेम करनेके लिये शिक्षा देनेकी आवश्यकता है ? मैं कह चुका हूँ कि भक्त प्रह्लादका ईश्वरके प्रति नैसर्पिक (स्वाभाविक) प्रेम था । अपने लिये पेसा कहना असङ्गत जान पड़ता है; परन्तु इसमें सरयताकी कुछ भी कमी नहीं । जिसप्रकार जलकी धाराके साथ पुष्प बहता जाता है उसी प्रकार मेरा मन भक्ति-गङ्गाके प्रवाहमें प्रवाहित होता चला जा रहा है । मैं भगवान्में विश्वास और भक्ति रखता हूँ । मम्भव है कि मुझे लट्यको प्राप्त देशमें हो, परन्तु सन्त-महारामाओंहारा सञ्चालित भगवन्मकोंकी मेनाका एक तुच्छ सिपाही होनेमें ही मुझे परा सन्तोष है । मेरी गाड़ी जो मार्गच्युत हो गयी थी, अब तुरुल हो गयी है और अब मैं अपनेको उसकी कृत्रिमायामें सुखी और सुरक्षित पाता हूँ जो मेरी जीवन-रूपी गाड़ीका गार्ड और दूषपर दोनों है । मेरे समन्न तर्क, युक्तियाँ और हेतु बहुत पहले अद्वाके पात्रमें विलोन हो गये हैं । मेरे मन, बुद्धि तथा आस्मापर उन्होंने अधिकार कर लिया है । बस वही, केवल वही, प्रकमात्र अकेला वही रह गया है, उसके सिवा और कुछ भी नहीं है । औह ! उसके चिन्तन और प्रेममें कैसा आनन्दका सागर उछल रहा है ! कैसा परमानन्दका खोल बहता है ।

अब मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मैं नास्तिकताके चक्षरमें किसप्रकार बचा । मन् १८९४ ई० में मैं पूजा फल्युमन्न-कालेजमें पढ़ा था, वह एक परिवर्तनका युग था । प्राचीनताका स्थान नवीनता प्रहण कर रही थी । हमारे अधिकारी शिक्षित पुरुष पाश्चात्य आचार-विचारसे प्रभावित हो रहे थे । पचीस वर्षतक महागङ्गके शिक्षितोंके मनपर मिल, रघेन्सर और हस्सले शासन करते रहे । हमारे अंग्रेजी और लाजिक (तर्कशास्त्र) के अध्यापक फल्युमन्न-कालेजके प्रिसिपल श्रीयुत आगरकर महाशय थे । वह एक महान् सज्जन पुरुष थे, तथा सामाजिक सुधारके कर्णधार समझे जाते थे । वह अपने कालेजके विद्यार्थियों तथा साधारण जनतामें अपने सर्वप्रिय पत्र 'सुधारक' द्वारा क्षीर भावनाओंका प्रचार करते थे ।

उन्होंने प्राचीन साहित्य और प्राचीन आचार-विचारोंसे मुख भोइ लिया था । वह देश-भक्त थे, परन्तु पाश्चात्य सम्बन्धित उनके ऊपर पूर्ण प्रभाव था । मुझे विद्यार्थियोंके रूपमें उनके साथ छः वर्षोंतक रहना पड़ा । वह सुलभमसुल्ला नामितवादका प्रचार करते थे । हिन्दू-धर्म, शास्त्र और प्रत्येक प्राचीन आचार-विचारके ऊपर लेखोंका नवयुग्मकोंके ऊपर बढ़ा ही प्रभाव था और अद्वतक है । युक्ति और तर्क उनके प्रवानां अस्त्र थे और उनके हारा बड़ी ही निष्ठुरतामें उन्होंने प्राचीन आचार-विचारके ऊपर आक्रमण किया था । उनकी प्रेरणासे अविश्वास (नामितवाद) का जातू मुझपर भी काम कर गया । मैंने सोचना आरम्भ किया कि मंसार बिना ही ईश्वरके निरालम्ब है । मेरा मन ईश्वर-विश्वास और अविश्वासके बीच विश्वृतिन होने लगा । ऐसे घर और कालेजके प्रभावोंमें परम्पर युद्ध मच गया । अस्तिकानामी गोदमें अज्ञानकी ओर जाते समय एक वर्ष-तक मुझे ड्याकुला और विद्यादका अनुभव होता रहा । मैं निराश, संशयग्रन्थ और किंकरंत्यविमृद्ध बना रहा । परन्तु मैं तो अद्वा, सन्तोंके जीवन और सन्त-साहित्यके प्रचार तथा पुनरुद्धारके लिये नियुक्त किया गया था, अतएव भगवान्ने मुझे नास्तिकताके गर्तमें निकालना चाहा । एक दिन सायंकालके समय मैं एतामें ३० मील दूर एक वहाड़ीके शिखरपर ध्यान कर रहा था, मैं अचानक इस परिवर्तनशील दृश्य जगत्की नष्टरतामें निकलकर नियम निविकार द्वाहावस्थामें जा पहुँचा । आधे धरेटक मैं अपने आपको पूर्णतया भूल गया और पूर्णनन्दमें निमिज्जित हो उठा । वह एक प्रकारकी समाधि थी । यही मेरे अन्तर्जीवनमें परिवर्तन हो गया । मुझे एक नवीन जन्म प्राप्त हुआ । यह समाधि-दशा मुझे अक्षमान् और केवल भगवान्मकी दयासे प्राप्त हुई थी । क्योंकि उस समय मैं अपनी ओरमें कोई चेष्टा करनेयोग्य न था । और न वह वह समाधि थी जो योगाभ्यासके हारा प्राप्त होती है । मैं पथप्रगत हो रहा था । दयामय प्रभुने मुझे बचाया । मैं अनुभव करने लगा कि प्रभुने अपने आपको सदाके लिये मेरे सामने प्रकट कर दिया । मुझे विश्वासके लिये एक आश्रय मिल गया और मैंने अपने खोये हुए विश्वासको पुनः पा लिया । दूसरे ही दिन मैंने रामदास और तुकारामके प्रन्थ ल्हरीदे और नवीन दृष्टिसे उनकी भावनाओंमें प्रविष्ट किया । बड़से गीड़ा और भागवद, ज्ञानेश्वर और एकनाथ,

रामदास और तुकाराम मेरे उत्साह-वर्दक साथी हो गये। अध्ययन और ध्यान, तथा धार्मिक महारामालोंके सत्सङ्गसे मैं अपनेमें शक्तिका अनुभव करता हूँ। मैं उस सुन्दर पथका पथिक हूँ जो ईश्वरत्वकी ओर ले जाता है। मैं आज भी अपने उस पुराने प्रोफेसरको श्रद्धा तथा प्रेमकी हृषिके देखता हूँ। मेरे विषयमें किसीको आनन्द न हो, हमलिये मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मुझे अभीतक ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुई है। मैं अभीतक अपनी उपासनाको ईश्वरीय द्याके साथ इदत्पूर्वक बढ़ानेमें समर्थ न हो सका हूँ। इस बातमें मैं अस्थिर और अपराधी हूँ। परन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि विश्वाससे श्रद्धाकी ओरका तथा श्रद्धामें ईश्वर-प्राप्तिकी ओरका मार्ग सौम्य, सुखप्रद और आनन्दमय है। ईश्वर सचमुच महान् और द्यातात् है; हम उसे जितना चाहते हैं उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वह हमें संसार-सागरसे उद्धार करनेके लिये चिन्तित रहता है। वह समल दीन-दुल्ही और विपद्ग्रन्थ जीवोंको प्यार करता है, उनके लिये उसकी करणका पार नहीं। हमारे अपने कष्टायासके लिये वह हमलोगोंमें एर्ण आस-समरणकी आशा करता है। वह विवाह गोपियोंमें-निःस्वार्य प्राणियोंमें, जिन्होंने कामनारूपी समम्न वस्तोंको दूर फेंक रखा है, सदा प्रेम करता है। वह अनुग्रहमें एर्ण है और माताके बास्तव्यप्रेममें भी अधिक प्रेमपूर्वक हमारी ओर देखता है। इमें अपनी ओर बढ़ने हुए देख, वह सदा महायता करनेके लिये तैयार रहता है। हमें आगे अर्थात् अनन्तरामाकी ओर यदना चाहिये। वह हमारे सर्वपि है, हमारे भीतर और बाहर है तथा सुषिके प्रथेक रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है। वह हमारी उड़ातिकी निगरानी करता है, और हमें अपनी ओर ले जाता है। हम मममन प्राणियोंके रूपमें उसके साथ प्रेम करना सीखें। हमें आनन्दित होना चाहिये कि इम उस प्रसुके हैं और उसके भीतर हैं। उपनिषद् कहते हैं कि वह आनन्दस्वरूप है—‘रसो वै सः।’ भगवान् तुकाराम कहते हैं कि वह आनन्द-सिन्धु है।

मुझे अपने प्रारम्भिक जीवनकी एक घटना याद आती है जिसमें ईश्वर-प्रार्थनाकी महत्ता भिन्न होती है। उस समय मैं केवल आठ वर्षका था। मेरे पिता रामभाड़ अस्थन्त घर्मामा पुरुष थे। वह प्रतिदिन प्रातःकाल चार

बजे उठते, ज्ञान करते और किर शोपहरतक पूजामें बैठे रहते। वह प्रतिदिन सम्पूर्ण गीताका पाठ और विष्णु-सहस्रनामके उप पाठ करते थे। आधुनिक पुरुष उन्हें सम्मतः शिक्षित ‘educated’ न कहें, क्योंकि वह प्रार्थीय थे और केवल दूटी-कृती संस्कृत जानते थे, अंडेजीसे विस्तृत अनजान थे। परन्तु जीवनकी पवित्रता तथा आरामाकी भक्तिकी हृषिये वह अद्वितीय थे। उस समय हम पूजामें १६ मील पश्चिम और आलंदीमें लगभग १२ मील उत्तर पक्की गाँवमें रहा करते थे। यह वही आलंदी सीर्य है जहाँ गीताके प्रसिद्ध भाष्यकार और महाराष्ट्रके प्राचीन कवि और वार्षिक जानेश्वर महाराजकी समाधि है। उस आठ वर्षकी अवस्थामें मैं सूर्योदयके रोगमें आक्रान्त था, दिनमें मुझे आठ या दस बार मूर्छाएँ आ जानी थी। मेरी माता तथा मेरे दूसरे सम्बन्धी मेरे जीवनमें निराश हो गये थे। मेरे पिता बहुत ही निःस्पृह थे। एक बार वह लोगोंके बहुत कहने-नुगनेपर बाष्य होकर पूजाके चतुर द्वाकरोंदो दिव्यलानेके लिये मुझे ले चले। उन्होंने मुझे बैलगाड़ीमें बिठाया और गाढ़ीवानमें पूजाके बदले आलंदी ले चलनेके लिये कह दिया। इसप्रकार हम आलंदी पैर्वते। पवित्र हन्द्रायगीमें ज्ञान किया और ज्ञानेश्वरके भनिदरमें गये। मेरे पिताने भक्तिपूर्वक पूजा की ओर मेरे पितरोंके श्रीज्ञानेश्वरके चरणोंमें रस दिया, तथा आँखोंमें भ्रौमू भरकर हृत्य भरकर जोरमें प्रार्थना करने लगे—‘हे ज्ञानेश्वर ! हे मेरी माता ! मैं हम लड़कों नुग्हारे चरणोंमें रखता हूँ। मैं तुमसे बढ़कर कोई उत्तम वेद्य नहीं जानता और न तुग्हारे चरणतीर्थमें बढ़कर उपशोगी कोई और वही जानता है। मैं हम लड़कों नुग्हारी नेवामैं अर्ण करता हूँ। तुम्हीं हमके माता-पिता और ऋक हो, यदि तुग्हारी हृच्छा हो तो हमकी रक्षा करो। यह तुग्हारी दशापर छोड़ दिया जाता है।’ मध्ये और यथार्थ प्रार्थकी प्रार्थना मूनी जाती है, उसकी कामना पूरी होती है। मैं शरण-वंडक यह घोरित करता हूँ कि तबमें मुझे इय भौतिक शरीरमें एक बार भी मूर्छाएँ न आयी। इसप्रकार मैं अपने जीवनमें एक दुष्ट रोगसे बचा था और बचपनमें ही अपने पञ्च पिताके हारा महाराष्ट्रके अवतार और प्रधान सन्त ज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंमें मैं अर्पण कर दिया गया था। ज्ञानेश्वर माताकी जय !

(४२) पण्डित श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, प्रिं० मारवाड़ी-संस्कृत-कालेज, काशी

(१)

४—यह उस समयकी घटना है जब मैं बौद्ध वर्षका था। पञ्चाव गया था। बहाँ मेरे ननिहालके लोग आये और मुझे घोड़ेपर सवार कराकर ले चले। मैंने अपने ठाकुरजीको भी साथ ले लिया था। रास्ते में मेरे अन्य साथियोंने अपने-अपने छोड़ दीँदये। मेरा घोड़ा भी उनके पीछे दौँड़ने लगा। मुझे सवारी करनेका पूरा अन्यास न था, इससे मैं घोड़ी ही बूर जाकर घोड़ेपर गिर पड़ा। पास ही एक नहर बढ़े तेजसे वह रही थी, मेरे ठाकुरजी उसमें जा गिरे।

ठठनेके बाद मैंने सबैपे पहले ठाकुरजीको खोजा। बहुत छान-बीन की, पर पता न लगा। फिर तो मैं अधीर हो उठा। मेरे साथियोंने मुझे बहुतेरा समझाया-बुझाया, पर मेरी अधीरता बढ़ती ही गयी। वह लोग मुझे समझा-बुझाकर अपने घर गये और मैं अपने मामाके घर गया। परन्तु ठाकुरजीका वियोग मुझे असहा था। मैं अनाथके समान ब्याकुल होकर रोता रहा। मुझे खानेपीलेकी इच्छा ही नहीं होती थी। मेरे मामाके घरमें सब लोग मेरी इस अवस्थाने बहुत ही उदास हो गये। भोजनके लिये जब उन लोगोंने आप्रह किया तो मैंने कह दिया कि अब तो अबतक ठाकुरजी न मिलेंगे, अब प्रह्लण न करूँगा।

सन्ध्याको मेरे माना-पिता भी आ गये। मुझे रोता हुआ देखकर उन्होंने मुझे आशासन दिया और जबरन् दूष पिलाया। दूषके घृंट बड़ी कठिनाईसे मेरे गलेके नीचे उतरे। रोते-रोते सन्ध्या हो आयी और रोते-ही-रोत मैं रातको सो गया।

सोनेपर मुझे एक स्वप्न दीख पड़ा। एक सुन्दर पुरुष मेरे ठाकुरजीको हाथमें लिये हुए आया और उसने मुझसे कहा—‘लो अपने ठाकुरजीको। पहचानो तो, यही न तुम्हारे ठाकुरजी?’ मैंने उनके हाथसे अपने ठाकुरजीको ले लिया और मैं भन-भी-मन आनन्दित हो उठा। परन्तु नीरके दूटते ही न तो वह मनुष्य ही रहा और न ठाकुरजी ही मेरे पास रहे। मैं पछताने लगा और फिर मुझे निराकार आ देरा।

दूसरे दिन प्रातःकाल दो घण्टे दिन बढ़नेपर खबर मिली कि ठाकुरजी मिल गये। घटना इसप्रकार हुई कि जिस समय मेरे ठाकुरजी नदीमें गिरे थे, उस समय उसमें बाद आयी थी। फिर पीछे पानी कम हो गया। वहाँ एक छोटे अपने एक लड़केको साथ लेकर वह धोनेके लिये गये। ठाकुरजीके खोने और मेरे रोनेकी खबर तो पैकड़ ही रही थी, बाजकने ठाकुरजीको किनारे पाया और उस छोटे उसमें उन्हें लेकर एक थार्माके द्वारा शीघ्र ही मेरे पास भेजवा दिया।

अपने खोये हुए ठाकुरजीको पुनः पाकर मुझे जो आनन्द हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। फिर तो ठाकुरजीकी पूजा करके और उनका प्रसाद पाकर मैं कृतार्थ हो गया। मुझे इस घटनाका वर्णन भेजतं समय ढर लग रहा है, कहीं मैं दरहनीय न थन्।

(२)

करीब साठ वर्षको बात है। बाषु शिवदयालजी अपनी पत्नीको साथ ले पञ्चावसे काशी पहुँचे और वहाँ जाकर उन्होंने यह निश्चय किया कि परमात्मा जैसे रक्खेंगे, वैसे ही रहकर निर्णीह करेंगे पर मोक्षाद्यिती काशीकी न छोड़ेंगे। महाला नीची ब्रह्मपुरीमें उन्होंने एक छोटा-सा मकान खरीदा। साधारण कारोबार शुरू किया और सदाचारपूर्वक सरकारासे भगवानका भजन करते हुए भगवत्-शरण होकर जीवन विताने लगे।

एक दिन रात्रिको उन्हें एक स्वप्न हुआ। आनन्द-कन्दन-नन्द-नन्दन मुरलीमनोहर श्रीकृष्णचन्द्रजीने उन्हें दर्शन देकर कहा—‘भाई! मैं तुम्हारे मकानकी दीवालमें हूँ। पास ही नाली वह रही है। उसमें बड़ी दुर्गंध आती है। मुझे यहाँसे निकालो।’ इस स्वप्नके देखते ही शिवदयालजीकी आँखें लुल गयीं। सामने देखा तो वह परम मनोहर मूर्ति गायब है। इस विचित्र स्वप्नसे उन्हें बड़ा ही कुशुक हुआ। नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प मनमें उठनेलगे। सबेरा होते ही उन्होंने कुछ विद्वानोंसे इस विषयपर सम्मति भाँगी। एक विद्वानने कहा—‘भाई! स्वप्नकी बात है, इसमें क्या कहा जाय? हाँ, आज सगवानकी प्रार्थना करके सोना; पदि भूज; वैसा ही

स्वम हुआ तो कल विचार किया जायगा ।' परिषद्गीको विश्वास नहीं हुआ, उन्होंने यह कहकर सरल शिवदयाल्जीको टाल दिया ।

उन्होंने वैसा ही किया । सोनेके पूर्व पवित्रतापूर्वक शुद्ध हृदयसे भगवान्की प्रार्थना करके सोनेपर उन: वैसा ही स्वम हुआ । भगवान्ते पुनः उसी मनोहर मूर्तिसे दर्शन दिया और बोले—'तुम दूसरे लोगोंसे क्यों पूछते हो ? क्या मैं तुम्हें व्यर्थ ही आदेश देता हूँ ?'

अस, क्या था ! शिवदयाल्जी चाँककर उठ बैठे और भगवत्-अरण करते हुए उन्होंने ज्यों-त्यों रात बितायी । प्रातः होते ही राजोंको बुलाकर मकान सुन्दराना शुरू कर दिया । उनके हम कामको देखकर पढ़ोसके लोग तरह-तरहकी बातें करते और हँसने लगे । इतनेमें एक मजदूरने जैसे ही दीवालमें एक सटका मारा, जैसे ही चूनेके एक ढेलेमें सटी हुई भगवान् छून्दावन-विहारीजालकी एक मनोहर स्वर्ण-मूर्ति बकायक नीचे गिरी । उस समय वहाँ कितने ही झी-पुरुष-वच्चे खड़े थे । श्रीशिवदयाल्जीकी छोटी कन्या भी, जिसका नाम मुझादेवी था, वहाँ खड़ी थी, उसकी निगाह उस ढेलेमें चिपकी हुई मूर्तिके ऊपर पड़ी और उसने शीघ्र ही कहा—'देखिये बाबूजी, मह क्या खीज है ?'

शिवदयाल्जीने जो भगवान्की उस स्वर्णमयी मनोहर मूर्तिको देखा, वह आनन्दसे उछल पड़े । उनके हृषको पारावार न रहा । वह प्रेम-ग्रहद हो उठे, आँखोंसे अशुधारा वह छली । भगवान्की उस मूर्तिको ढेलेसे अङ्ग करके विहानोंको बुलाकर उन्होंने विविर्वक पूजा करके एक घरमें स्थापित किया । उसी दिनमें दग्धपति श्रीभगवान्की सेवामें तन-मन-धनसे लग गये । दिन-रात ठाकुरजीकी चर्चा और अर्चामें बीतने लगे ।

अब भगवान्की कृपासे उनके व्यवहारमें भी उच्चति होने लगी । कुछ ही दिनोंमें उनके पास काफी सम्पत्ति हो गयी । उन्होंने उस मकानको जैव दंगसे बनवाया । चौमासा, सर्दी, गर्मीके किंवे ठाकुरजीके निमित्त भाँति-भाँतिके सामान, शङ्कर आदिके समारोहमें ही उनके दिन थीतने लगे । अब तो उनकी निष्ठा इतनी बढ़ी कि जो कुछ करना होता सब भगवान्के आगे निवेदन करते और उनसे जो आदेश होता उसके अनुसार आचरण करते ।

सुख-नुःङ्ग, शादी-गमी सब प्रकारके व्यवहारमें ठाकुरजीकी आज्ञाका पालन करते हुए उन्होंने अपने जीवनमें अन्त समयतक भगवान्की सेवामें ही शान्ति लाभ किया ॥

(४३) स्वामी श्रीसत्यानन्दजी तीर्थ

१-धर्म, अर्थ, काम, मोक्षस्वरूप चतुर्वर्गकी प्राप्तिके लिये ईश्वरको मानना चाहिये । आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और जानी चारों प्रकारके मनुष्य अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ईश्वरका आराधन करते हैं । सर्वतोभावसे समाराधन किये गये भगवान् अपने आराधकके वशीभूत होकर उसके सकल मनोरथोंको पूर्ण करते हैं । भगवान्की तुष्टि भगवान्को नहीं माननेसे नहीं हो सकती, अतः भगवान्-की सन्नुष्टिके लिये भगवान्को मानना चाहिये तथा भगवान् ही केवल सर्व, आनन्द और ज्ञानस्वरूप है । सदतिरिक्त निखिल प्रपञ्च असर्य, दुःखमय और जड़ है अतः सप्तिदानन्दस्वरूप भगवान् ही माननेयोग्य है । अथव भगवान् ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामिस्तपसे विराजमान होकर उनकी अपनी वासनानुसार उन्हें

शुभाशुभ-मार्गमें प्रेरणा करते हैं अतः वह शुभ-मार्गमें ही हमारी बुद्धिवृत्तियोंको प्रेरणा करें—पृतदर्थ भी भगवान्की अनुकूलता-प्राप्तिके लिये भगवान्को मानना चाहिये । जिसके अज्ञानमें यह संसार-आल विजून्ममाण हो रहा है और जिसके ज्ञानमें हसमें मुक्ति होती है, उस आम-तथ्यके साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्तिके लिये भी भगवान्-के चरण ही शरण है । अतएव यह कहा गया है—

गद्धनामचरणेष्योरमक्या

बेतोमहानि विवेदगुणकमजानि ।

तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यते आदमतत्वं

साक्षाद्यथामलहशोः सवित्रप्रकाशः ॥

२-पूर्वप्रसन्नोत्तरमें ईश्वरको माननेसे जो-जो आम

कृप्य शारीरी महाराजने कृपा करके काशीमें मुसे भगवान्की इस मूर्तिके दर्शन कराये थे । —इनुमानप्रसाद दोहार

દર્શાવે કિયે ગયે હૈ ઈશ્વરકો ન માનનેસે ડનકા અછાભ
હી પ્રથમતઃ હાનિ હૈ । કેવળ યાદી નહીં, કિન્તુ આસુરમાદ-
પ્રાસિ-પૂર્વેક ઘોરતર નરકાંથી ભી પ્રાસિ હોતી હૈ, એવં હૃદ-
નાશ ઔર અનિષ્ટ-પ્રાસિકૃપ હાનિસે વચ્ચનેકે કિયે ભી
ઈશ્વર આરાધનીય હૈ । ઈશ્વરકો ન માનનેબાબે દ્વિરાધકશિતુ,
રાધય, કંદ પ્રભૂતિ અસુર જગતાંકી શરણાન્તિકે દેહું દુરે હૈ

અતઃ ઈશ્વરકો ન માનનેસે જગતકી ભરણાન્તિસ્પય હાનિ ભી
હોતી હૈ ।

૩-ઈશ્વરકે અલિખયમાં સદબે પ્રબળ પ્રમાણ શ્રુતિ (વેદ)
હૈ । અતેવું શ્રીમ્યાસ ભગવાન् ઉત્તર મીમાંસામંને ‘શાસ્ત્ર-
યોનિખાત’ હસુંદ્રમે શાસ્ત્ર (શ્રુતિ) કો હી પરમાત્મા-
કે વિદ્યામંને પ્રમાણસ્પય પે ડયન્યાસ કરતે હૈન, તથા શાસ્ત્રકા
કારણ ભી પરમાત્માકો હી નિરૂપણ કરતે હૈન । × × ×

-०५०८०८०८०-

(૪૪) શ્રીમહમ્મદ હાફિજ સસ્યદ એમ૦ એ૦, લન્ડન

૧-ક્ષોણિકિ ઈશ્વરમાં વિશ્વાસ કરના અભ્યાસ શાન્તિ ઔર
સુખાં ધ્રુવ મારી હૈ । જિન લોગોનો દૂસ બાતકા જ્ઞાન
હૈ કિ શરીર, મન ઔર કુદ્રાની હૈ, બલિક હનકી અપેક્ષા
કોઈ એક મહાન વસ્તુ હૈ, ઉન્ને અનુભવ હોને લગતા હૈ કિ
ડનકે પાસ મન ઔર કુદ્રાની અપેક્ષા કોઈ અધિક સ્થાયી
વસ્તુ હૈ જો ઉને અન્દર નિવાસ કરતી હૈ । યહ આરમ્ભ
હૈ જો વિકાર, ધ્યય અધ્યાત્મ સ્થાયુકો નહીં પ્રાપ્ત હોતા । યહ
સદા સમ રહતા હૈ । દૂસ આરમ્ભાંકા જ્ઞાન તથા અનુભવસે
મનુષ્ય કાળાન્તરમાં ભગવધ્યાસિ કરતા હૈ । જ બે ભગવધ્યાસિ
દ્વારા જાતી હૈ તથ મનુષ્ય શાન્તિ, વિભૂતિ ઔર આનંદ—
સબ કુછ પા જાતા હૈ જો માનવી પ્રયત્નકા પ્રધાન જીવય
હોતા હૈ । હસુંદ્રિયોને વિશ્વયરૂપી જહીલમે હસીલિયે
ભટકતે રહતે હૈન, વાળિક ઔર તુલ્ય વસ્તુઓને પોંઢે દૈદાતે
રહતે હૈ—કિ કહીને ક્ષણભરકે લિયે ભી હૈને સુખ મિલ
જાય પરન્તુ જવ હમકો ડનસે સન્તોષ નહીં હોયા, તથ
હમ ડનકી અપેક્ષા અધિક સ્થાયી વસ્તુકી લોખ કરતે હૈન ।
તથ હમારા ધ્યાન અમ્નતરૂલ હોતા હૈ ઔર હમ દેખતે હૈ
કિ હમારે અન્યેપણા વિષય હમારા અપના હી આરમ્ભ હૈ ।
આરમાંકા વાસ્તવિક સ્વભાવ આનંદ હૈ દૂસિયાં મનુષ્ય
અપને આરમાંથી હર માણન રહના સીખતે હૈન વહ સ્વભાવઃ
પ્રભૂત આનંદકો પ્રાપ્ત કરતે હૈ । હમારા હી આરમા સંબ-
કા શાયા હૈ । આરમા એક હી હૈ જો સમાનરૂપસે સબકે
હૃદયમંને નિવાસ કરતા હૈ । યાદી આરમાઓનો આરમા ઔર
પ્રાર્થનાંકા પ્રાપ્ત હૈ, યાદી જીવન હૈ ઔર આભ્યન્તરિક પ્રકાશ
હૈ । હસુંદ્ર આરમાઓનો જીવના હી સબકો, પ્રાણકો,
પરમાત્માઓનો જીવના હૈ । આરમા જીવાતાંકે રૂપમંને સબતક
કદાપિ યથાર્થ શાન્તિ ઔર સુખાં અનુભવ નહીં કર
સકતા, બરતક ડસે પરમાત્માઓ પ્રથષ્ઠ નહીં હોયા ।

જવ મનુષ્ય અપને દૈનિક જીવનમંને અપની વાસ્તવિક સસ્તા
અર્થાતું આરમાંકા અનુભવ કરતા હૈ તથી ઉને પરમાત્માંકા
પ્રસ્તાવ, જ્ઞાન, વિશ્વાસ ઔર નિષ્ઠા હોતી હૈ ।

૨-હસુંદ્ર પ્રભાકા ડનર ભી પહુલે પ્રશ્નકે ડનરમંને હી
આભાસિત હો ચુકા હૈ । ઊંચે દિષ્ટકોણમંને ઈશ્વરમંને વિશ્વાસ
નહીં કરનેમે ઈશ્વરકા કુછ નહીં વિગવતા, બલિક ઉસ
મનુષ્યકી હી હાનિ હોતી હૈ જો વિશ્વાસ ન રસનેકે કારણ
અપની સસ્તાકે શાશ્વત પ્રોત્કે સાથ સમ્વન્ધ રસને તથા
ઉસકે જ્ઞાનકે દ્વારા પ્રાપ્ત હોનેવાલી શક્નિ, શાન્તિ ઔર
આનંદસે વચ્છિત રહ જાતા હૈ । નિઝી તથા વિકાસકે દિષ્ટ-
કોણમંને કોઈ હાનિ નહીં હૈ । મનુષ્યકે વિશ્વાસ ય અવિશ્વાસ-
કે દ્વારા ઈશ્વરકી વાસ્તવિકતા અથવા શાશ્વત સસ્તાકા દ્વારસ
ય વિકાસ નહીં હોતા ।

ઈશ્વરકી સસ્તાકા ચાહે કિંતના હી ખરણન અથવા
નિષેધ કિયા જાય હસુંદ્રને ઉસમં કિંદ્રિની ભી કરી નહીં આ
સકતી । વહ સદા હી વિદ્યામાન રહતા હૈ । આજ જો
ઈશ્વરમંને વિશ્વાસ નહીં કરતે વહ કલ યા દૂસરે જીવનમંને
અપના મત બદલ સકતે હૈન । સમય આનેપર સબકો
વિકાસિત, પ્રસરિત ભૌત ઉપદ્રત હોયા પદેગા । મનુષ્ય જૈસે
હી વિકાસિત હોતા જાતા હૈ વૈસે હી ક્રમાનુસાર ઈશ્વરકી
સસ્તામંને ઉસકા વિશ્વાસ ભી દરતા જાતા હૈ ।

૩-કોઈ નહીં, ક્ષોણિકિ ઈશ્વરકે અમિતત્વકે સમર્થનમંને
જો દેહું યા પ્રમાણ સામાન્યતઃ ઉપસ્થિત કિયે જાતે હૈ
બે સન્તોષપ્રદ નહીં હોતે । કાર્ય-કારણ-ભાવ, કર્તૃત્વ,
નિયામકતા તથા પાપ-પુરય-સમબંધી હેતુ ઈશ્વરમંને નિષ્ઠા
જીવનેકે લિયે પર્યાસ નહીં હોતે । હનપર ગમ્ભીર આખ્યેપ હો
સકતે હૈ । ડનકા યાદી વિસ્તૃત વિબેચન નહીં કિયા જા
સકતા । એકમાં ઔર અસ્યાનું નિષ્ઠિત પ્રમાણકા

आविभाव मनुष्यके मनमें तब होता है जब वह उस आत्मानुभवके मार्गपर घलने लगता है जिसका उस्खे उपर्युक्त पंक्तियोंमें किया जा सकता है।

४—ईश्वरकी दयासे सम्बन्ध रखनेवाली अपने जीवनकी किसी घटनाका बर्णन मैं नहीं करना चाहता, इसप्रकारकी घटनाएँ मेरे लिये सदासे प्रचुर प्रमाणमें होती आयी हैं।

(४५) हनुमानप्रसाद पोद्दार

इन प्रश्नोपर बहुत बड़े-बड़े प्रातःस्मरणीय ईश्वर-चरण महारथाओं और विद्वानोंने उत्तर लिखने-छिलकानेकी कृपा की है, फिर मुझ-सरोक्षा व्यक्ति क्या किले? पहले तीन प्रश्नों-पर तो कुछ जिलनेकी आवश्यकता ही नहीं। कारण, प्रथम तो ईश्वरके स्वरूप और तत्त्वका यथार्थ ज्ञान भगवत्-प्राप्त-पुरुषोंको ही होता है। और जिनको होता है वे भी वाणी-द्वारा उसका निर्वचन नहीं कर सकते। दूसरे 'ईश्वराक'में और इन प्रश्नोंके उत्तरमें यथेष्ट वातें कही भी जा सकती हैं। तीसरे मेरा कोई अधिकार भी नहीं। वास्तवमें अनुभव-की इच्छे तो ऐसे प्रभ द्वीप नहीं बन सकते। इसके सिवा ईश्वरका जो कुछ वर्णन होता है, वह अधूरा ही होता है। वर्णनका विषय ईश्वर, यथार्थ ईश्वर-स्वरूपसे बहुत ही नीचे उत्तरा हुआ होता है। जो कुद्दि-मन-वाणीके परेकी चीज है, उसका कोई क्या वर्णन करे? निरुद्योग रूप स्वसंबोध है। सगुण-साकार रूप ऐसा मनमोहक और प्राप्त बना देनेवाला है, जिसको देखकर जनक-जैसे ज्ञानी राजर्ष चकित और उन्मत्त हो जाते हैं। भगवान् श्रीराम-कृष्णको पहले पहल देखकर राजर्ष अनक, महर्षि श्रीविश्वामित्रसे कहते हैं—
कद्गु नाय भुन्द्र दांड बालक। मुनिकुल-तिरकि कि नृपकुल-पालक॥
सद्गव विरागरूप मन मोरा। यकित होते जिमि चन्द चकोर॥
इन्दहि विलोकत अति अनुरागा। बरवस ब्रह्ममुखि हि मन सागा॥

अतएव इन प्रश्नोपर मैं कुछ भी न लिखकर, चतुर्थ प्रश्नके उत्तरमें कुछ लिखनेकी चेष्टा करता हूँ।

सविदानन्दघन श्रीभगवान्-की सत्ताका प्राणीमात्रको पञ्च-पञ्च और पञ्च-पदपर प्रत्यक्ष होता है। भगवान्-की सत्तासे ही सबकी सत्ता है। कहने और सुननेवाला चेतन-सत्ता-धारी प्राणी भगवान्-की सत्ताको अस्तीकार कर ही नहीं सकता, जो करता है वह उन्मत्त प्रलाप करता है और प्रकारान्तरसे भगवत्-सत्ताकी ही भोग्यता करता है।

इसी प्रकार, इम विस स्थितिमें स्थित होकर इस समय किया कर रहे हैं, उस स्थितिमें, ईश्वर केवल सविदानन्दघन होनेपर भी, ईश्वरकी दयाका भी वैसे ही

पल-पल और पद-पदपर प्रत्यक्ष होता है जैसे उनकी सत्ताका। भगवान्-की दयासे मनुष्य अपने जीवनमें ऐसे-ऐसे महान् विलक्षण अनुभव करता है जिनके सम्बन्धमें सहसा सर्वसाधारणके सामने कहना-सुनना मोहब्बत अविभासके उपाधन करनेके सिवा और कुछ फल उत्पन्न नहीं करता। जिन दिव्य और अकौटिक इहस्तोंको भगवत्-कृपामें भगवत्-प्रेमी जान पाता है, कहा जाता है कि वे इतने गुण, इतने सूक्ष्म और इतने गम्भीर होते हैं कि न तो उनकी किसी छाँकिक प्रमाणमें सिद्धि की जा सकती है, न किसीकी छाँकिक बुद्धिमें वे बातें आ सकती हैं और न उनके प्रकट करनेकी कोई आवश्यकता ही होती है।

इतना सब होनेपर भी वे बातें इतनी सत्य, इतनी प्रत्यक्ष और इतने तत्त्वकी होती हैं कि दूसरोंको समझाने और उनके साथ सिद्ध करनेका साधन या उपाय ईटिगोचर न रहनेपर भी, जिसको वे प्राप्त होती हैं, उसके लिये वे उत्तरी ही अपरोद्ध हैं जितना अपने लिये अपना आरम्भ। एक मनुष्यको किसी अत्यन्त एकान्त स्थलमें किसीके हारा अमर फल प्राप्त हो जाय और वह उसके महान् स्वादका अनुभव करनेके साथ ही उसे खाकर अमर हो जाय और फिर वह चाहे इस बातको प्रमाणोंसे, युक्तियोंसे सिद्ध न कर सके तो इससे न तो उसका अनुभव गम्भीर होता है और न उसे दूसरोंको समझाकर उससे सचाईका प्रमाण-पत्र लेनेकी आवश्यकता ही रहती है। इसी प्रकारकी अनेकों इहस्तमधी बातें भगवत्-कृपासे भक्तोंके अभ्यास-जीवनमें हुआ करती हैं, पर उनका पता उनको और उनके भगवान्-को ही होता है। भगवान् कहते हैं—

सावदो हृदयं भद्रं सावूनां हृदयं त्वहम्।

मदन्मन्त्रं न जानन्ति नादं तेष्यो मनापापि॥

यों-ज्यों मनुष्य भगवत्-कृपाका अधिकाधिक प्रत्यक्ष करता है यों-ही-स्यों वह भगवत्-हस्तके राज्यमें प्रवेश करता है, परन्तु—

‘भगवतरसिक रसिककी बातें,
रसिक बिना कोठ समुद्दि संकेना।’

ऐसी रहस्यकी बातोंके विषयमें मैं क्या लिखूँ? मेरी तो यही प्रार्थना है कि दैवीसम्पदासम्पत्ति प्रेमी महापुरुषोंके जीवनकी ऐसी, ईश्वरकी दयासे होनेवाली दिव्य घटनाओंकी सत्यतापर पृथ्यं विश्वास करनेमें ही लाभ है।

सांसारिक विषयमें सो भगवान्की दया स्थूल-रूपमें भी दर्शन देती रहती है। परन्तु मनुष्योंको यह एक महाअम हो रहा है कि धन-जन-मान आदि सांसारिक बस्तुओंकी रक्षा और प्राप्तिमें ही वे भगवान्की दया समझते हैं, उनकी अप्राप्ति और विनाशमें नहीं। चास्तवमें भगवान्की दया दोनों ही प्रकारमें होती है। कई बार मनुष्यके जीवनमें ऐसी घटनाएँ होती हैं जो उस समय देखनेमें बड़ी भयानक, अवाञ्छित, दुःखदायिनी और अपनी इच्छाके प्रतिकूल प्रतीत होती हैं और उस समय मनुष्य भ्रम-बया नारदके मोहकी भौति भगवान्को कोसने भी लगता है, परन्तु जब उनका अनिन्दम परिणाम प्रकट होता है, तब भोह-निशाका नाश होता है और भगवद-नुग्रहरू भुवनभास्करके दिव्य प्रकाशसे उसका मन-पश्च प्रफुल्लित हो उठता है। उस समय उसके रोम-रोममें अपने-आप ही भगवान्के प्रति हार्दिक कृतज्ञताकी ध्वनि निकलने लगती है, जिस उस चिन्ताहरण चतुर-चूकामणि-के चिन्तनमें संलग्न हो जाता है। चास्तवमें विषयी पुरुषोंकी दृष्टिमें जो अशुभ घटनाएँ हैं, वही परमारभाकी प्राप्तिके मार्गमें ईश्वर-दयाका एक प्रकारका प्रकाश है, जो साधक-के यथार्थ कल्याणके लिये ही संघटित होती है।

मनुष्यके जीवनमें इसप्रकारकी अवाञ्छित और मनो-वाञ्छित फलके स्पूमें प्रकट होनेवाली दयाके दर्शन अगश्यत बार होते हैं; मेरे जीवनमें भी ऐसी अगश्यत घटनाएँ हुई हैं और ही रही हैं। परन्तु न तो उन सबका सरण ही रहता है और न, जिनका सरण है उन सबके प्रकाश करनेका स्थान, सुधावसर और संकल्प ही है। यहाँ सिर्फ़ भौतिके मुँहसे बचनेकी सीन घटनाओंका बर्णन करना चाहता हूँ, जिनसे भगवान्की सत्ताका कुछ पता लगता है।

(क) सन् १८६६ ई० में आसाममें भयानक भूकंप हुआ था, उस समय मेरी उच्च लगभग चार बर्षकी थी। शिलांग (आसाम) में हमारा कारबाह था। मेरे दादाजी कनीरामजी वहाँ रहते थे। पिताजी

कल्पतेका कारबाह सँभालते थे। माताजीकी बहुत छोटी उम्रमें मृत्यु हो जानेसे मेरी दादीजीने मुझको पाला। उनका मुझपर जो खेड़ था एवं उन्होंने मेरे लिये जितने कष्ट सहे, उसका बदला मैं हजार जन्म सेवा करके भी नहीं चुका सकता। उनके जीवित रहते मैंने इस ओर पूरा व्यान नहीं दिया, अब पछतानेसे कोई लाभ नहीं। जिनके माता-पिता आदि जीते हैं, उन्हें बढ़ा सौभाग्य प्राप्त है, वे जीभर उनकी सेवा करके आनन्द लूट लें, नहीं तो पीछे मेरी तरह पश्चात्तापके सिवा प्रश्नक्षण सेवाका और कोई साधन नहीं रहेगा। असु। मैं दादीजीके पास शिलांगमें रहता था। मेरी एक बूझा भी वहीं आयी हुई थीं, उनके दो सन्तान थीं—एक कन्या और एक पुत्र। वे दोनों मेरे समवयस्क थे। हम तीनों साथ-साथ सेला करते। भूकंपके दिन हमारे निकटवर्ती श्रीभजनलाल श्रीनिवासके यहाँ किसी व्रतका उद्यापन था। उनके यहाँ हमें भोजन करने जाना था। बूझाजीके दोनों बालकोंने जानेसे हङ्कार कर दिया, मैं अकेला ही गया, वे घरपर रह गये। सन्ध्याका समय था, लगभग पाँच बजे हो गये। मैंने श्रीभजनलाल श्रीनिवासके गोठेके पीछे रसोईमें जाकर भोजन किया, रसोईसे निकलकर गोठेमें पुस ही रहा था कि धरती बड़े जोरसे काँप उठी, मैं चिक्काया और मेरे आस-पास पर्यारोंकी वर्षा होने लगी। सारा मकान निरन्तरमें ही ध्वंस हो गया। मैं दब गया। परन्तु आश्वर्य! मेरे चारों ओर पर्यार हैं, उनपर एक सत्सा आ गया और उसके ऊपर पर्यारोंका पहाड़। मैं मानो खोहमें—आली गुफामें पड़ गया। पता नहीं, वायुके आने-जानेका रास्ता कैसे रहा, परन्तु मैं मरा नहीं। भूकंप बन्द होनेपर मूसनधार वर्षा हुई और उसी समय हमारे बगलेके एक गोठेमें आग लग गयी, चारों ओर हाहाकार मचा था। कौन दवा, कौन बचा, कुछ पता नहीं। दादाजी हम तीनों बालकोंकी खोजमें लगे। मेरी बूझाके दोनों बालक गोठेके पर्यारोंके नीचे मेरे भित्ते। मेरी बड़ी बूझाजीके पौत्र मुझपे कुछ बड़ी उम्रके श्रीराम गोदयनकी भी लाश मिली, दूँदते और पुकारते दादाजी भजनलाल श्रीनिवासके गोठेके पास आये। वे बड़े जोरसे पुकार रहे थे ‘महू महू।’ मैंने आवाज सुन की। नगहासा बालक था, भयभीत था, रो रहा था, परन्तु न मालूम किस प्रेरणासे मैंने छक्किमर जोरसे

बत्तर दिया, 'यहाँ हूँ, जलदी निकालिये।' पत्थरोंका देर हटाया गया। मैं निकलकर दादाजीके गोदी चढ़ गया, उन्होंने हृदयमें लगा लिया। दोनों रोने लगे। उनके रोनेके कई अर्थ थे! दादीजी तबतक अपने हृष्ट श्रीहनुमानजीको याद कर रही थीं। हनुमानजीने उनकी पुकार सुनी,— श्रुत्ताजीके बालकोंके दबनेका दुःख क्षणभर के लिये कुछ हल्का हो गया।

तबसे शिलांगमें पथर-चूनेसे मकान नहीं बनते। तस्ते और दीनोंके ही होते हैं।

(ख) सन् १९२६ की बात है मैं बम्बईमें रहता था। रातको अपने फूफाजी श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी कौहियाके घरपर, जो बम्बईमें कुछ दूर बी० बी० एण्ड सी० आर्ह० रेलवेके शान्ताकुञ्ज-स्टेशनके पं० श्रीशिवदत्तरायजी बकीलके बँगलेमें रहते थे, जाकर साया और सोया करता था। एक दिनकी बात है। रातको करीब द बजे थे, कृष्णपालकी अँधेरी रात थी। मैं लोकल ट्रैनमें जाकर शान्ताकुञ्जके प्लाटफार्मपर उत्तरा। अब तो दोनों ओर ड्राटफार्म हैं, उस समय एक ही ओर था और रोशनीका भी प्रबन्ध नहीं था। न हजिनके सर्वलाइट थी। श्रीशिवदत्तरायजीके बँगलेमें आनेके लिये रेलवे लाइन लांघकर उस ओर जाना पड़ता था। मैंने बेकहफूकी की। दौड़कर हजिनके सामनेमें लाइन पार करने चला। लोकल ट्रैन एक ही भिन्नट ठहरती है। मैं नदा था, मैंने समझा, गाड़ी छूटनेमें पहले ही मैं लाइन पार जाऊँगा। परन्तु ज्यों ही मैंने लाइनपर पैर रखला थ्यों ही गाड़ी छूट गयी, परन्तु ईश्वरीयी प्रेरणा और प्रबन्धमें उसी समय, किसी अज्ञात पुरुषने मेरा हाथ पकड़कर जोरमें खींच लिया। मैं दूसरी लाइनपर जाकर तिर पढ़ा, गाड़ी सररोंसे निकल गई। सीन काम एक साथ हुए—मेरा लाइन लांघने आना, गाड़ी छूटना और अज्ञात व्यक्तिकी खींचा जाना। एक-ही-दो सेकण्डके बिलम्बमें मेरा शरीर चकनाचूर हो जाता। परन्तु बच्चानेवाले प्रभुने उस अँधेरी रातमें उसी जगह पहले ही सुझे बच्चानेका प्रबन्ध कर रखता था। मैं धर-धर काँप रहा था, ईश्वरकी दयालुतापर मेरा हृदय गदगद हो रहा था। अँसू वह रहे थे। मैंने स्टेशनके बुधले प्रकाशमें देखा, एक नौजावान बोहरा मुसलमान बड़ा हँस रहा है और वह प्रेमसे खड़ रहा है—'आहूम्दा देखी ग़लती म करना,

आज भरवानने तुम्हारे प्राण बचाये।' मैंने मूक अभिनन्दन किया, कृतज्ञता प्रकट की। लाइनपर रोडोंमें गिरा था, परम्परा दृष्टिने पैरमें एक रोहा जरा-सा गड़नेके सिवा सुझे कई चोट नहीं लगी। मैं दौड़कर घर चका गया। और हँसवरको याद करने लगा।

(ग) सन् १९२६ की बात है। मैं लक्ष्मणगढ़ (जयपुर) के भाई श्रीलक्ष्मीरामजी चूड़ीबालाके धन और परिश्रममें स्थापित आषिकुलके उत्तरसदामें शरीक होनेको बम्बईसे जा रहा था। अहमदाबादमें दिली-एक्सप्रेसके हारा रवाना हुआ। मैं येकएड छासमें था, मेरे साथ एक छोटा ब्राह्मण-बालक अषिकुलमें भर्ती होने जा रहा था। मैं हृषरकी एक सीटपर सोया था और सामनेकी सीटपर वह सोया था। दूसरे दिन सुबह अन्दाज पाँच बजे थे। प्लावर-स्टेशनपर एक टी० टी० महोदय हमारे हिंदूबें सदार हुए। मैं जिस सीटपर सोया था, उसीपर मेरे पैरोंके पास बैठ गये। मैं जग रहा था, अपने पैरोंके पास किसीका बैठना सुझे अच्छा नहीं लगा, इससे शिष्टाचारके नाते मैं उठ बैठा। सोया था तब मेरा सिर सीटकी अनितम तीसरी खिड़कीके पास था, जागकर बैठा सो वह खिड़की खाली हो गयी, मैं बीचकी खिड़कीके पास बैठ गया और टी० टी० महोदय हृषरकी तीसरी खिड़कीके पास बैठे थे। तीनों खिड़कियाँ बन्द थीं, मैं टी० टी० महोदयके साथ बातें कर रहा था। इतनेहीमें पीछेसे बढ़े जोरकी आवाज हुई और दूसरी सीटपर सोये हुए ब्राह्मण-बालकने एक खीख मारी। हमलोग भौंचके रह गये। पीछे घूमकर देखा तो मालूम हुआ कि एक बहुत बड़ा पथर खिड़कीके काँचके लगा, खिड़कीका बहुत भोटा काँच चूर-चूर हो गया और उसके दुकडे उड़ल-उड़लकर सब तरफ विसर गये। उसीका एक जरा-सा दुकड़ा बालकके सिरमें लगा था, हसीसे उसने खीख मारी थी, मैं सोया होता सो अवश्य ही खिड़कीके पास मेरा सिर रहता और वह जल्ह ही परपर और काँचकी चोटसे ढूट जाता। परन्तु बच्चानेवाले टी० टी० महोदयको भेजकर सुझे प्रेरणा की, मैं बैठा हो गया और बच गया। यह घटना अजमेरके पास मकरेरा और सरधाना स्टेशनके बीचकी है। टी० टी० महोदयने कहा कि यहाँ अक्षर ऐसी घटवारैं हुआ करती

है। अजमेरमें दी० दी० महोदयने कमरा साफ करवाया। और उन्हींकी हृषासे मैं शीशा तोड़नेके हल्जामके बखेड़ेसे सहज ही बच गया।

अपने ही सम्पादकस्थमें निकलनेवाले पत्रमें, अपने ही

किये हुए प्रश्नोंके उत्तरमें, अपने ही शीशनकी घटनाओंका वर्णन लिखना दृष्टा है। लिखना नहीं चाहता था, परन्तु कुछ मित्रोंकी इच्छा देखकर अन्तमें संक्षेपमें दो-चार बारें लिख दी है। विद्वान् गुरुजन और पाठकगण चमा करें।

चित्र-परिचय

भगवद्गायत्रन-(रङ्गीन) उपरका मुख्यपृष्ठ, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, राजा-प्रजा, साधु-संन्यासी, श्री-पुरुष सब भक्तिभावमें भगवान्नकी अर्चनामें रहत हैं।

भगवान् श्रीकृष्णरूपमें-(रङ्गीन) पृ० ३० भगवान् श्रीकृष्णरूपमें बाँसुरी लिये विराज रहे हैं। ध्यान करनेयोग्य अस्थन्त ही मनोहर छवि है।

महर्षि वेदव्यास-(सादा) पृ० ८, महर्षि वेदव्यास प्रस्थानत्रीयकी रचना कर रहे हैं।

महर्षि पतञ्जलि-(सादा) पृ० ८, योगसुत्र, ध्याकरण, महाभाष्य आदि शास्त्रोंके रचयिता महर्षि पतञ्जलि समाख्यित बैठे हैं।

भगवान् म-स्थरूपमें-(रङ्गीन) पृ० २४, भगवान् मस्थावतारके रूपमें है। विशेष विवरणके लिये 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

महर्षि कपिल-(सादा) पृ० ४०, सांख्यशास्त्रके निर्माता महर्षि कपिल बनमें नदीके तटपर तप कर रहे हैं।

महर्षि जैमिनि-(सादा) पृ० ४०, भीमांसा-शास्त्रके रचयिता महर्षि जैमिनि मरणपमें बैठे यज्ञ-कुरुक्षेमें हवन कर रहे हैं।

भगवान् कृमरूपमें-(रङ्गीन) पृ० ५१, भगवान् कृमावतारके रूपमें है 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

महर्षि कणाद-(सादा) पृ० ७२, वैशेषिक-शास्त्रके प्रणेता महर्षि कणाद अपने आश्रमके समीप बैठे प्रस्थ लिख रहे हैं।

महर्षि गौतम-(सादा) पृ० ७२, न्यायदर्शकोंके रचयिता महर्षि गौतम अपने आश्रममें बैठे शार्दूर्य कर रहे हैं।

भगवान् धराहरूपमें-(रङ्गीन) पृ० ८०, भगवान् धराहावतारके रूपमें है। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

देवर्षि नारद-(सादा) पृ० ११, देवर्षि नारदजी

भगवान्नके प्रेममें मृत हुए शीशा बजाते हुए हरि-नाम-कीर्तन कर रहे हैं और भगवान् वृक्षकी ओटमें छिपे अपने भक्तीकी भावना देखकर मुख्य हो रहे हैं।

महर्षि शारिंदल्य-(सादा) पृ० ६६, महर्षि शारिंदल्य भगवान्नकी आराधना करके सामने बैठे भक्ति-सूत्र लिख रहे हैं।

भगवान् श्रीनृसिंहरूपमें-(रङ्गीन) पृ० १०४, भगवान् श्रीनृसिंहावतारके रूपमें हैं। भक्त प्रह्लादको गोदमें लेते ही आपका क्रोध शान्त हो गया है और वही ही स्नेहभरी इस्ये आप उसे देख रहे हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

राजा जनक और शुकदेव मुनि-(सादा) पृ० १२०, राजा जनक सिंहासनपर आसीन हैं। बालयोगी श्रीशुकदेव मुनि उनके यहाँ ब्रह्मज्ञान सीखने गये हुए हैं। राजा ने उन्हें अपने सामने सुन्दर ऊँचा आसन दिया है। शुकदेव मुनि आसनपर बैठे विदेह महाराज जनकका उपदेश श्रवण कर रहे हैं।

भगवान् धामरूपमें-(रङ्गीन) पृ० १२८, भगवान् धामावतारके रूपमें है। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

भगवान् परशुरामरूपमें-(रङ्गीन) पृ० १५९, भगवान् परशुरामावतारके रूपमें है। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

भगवान् श्रीरामरूपमें-(रङ्गीन) पृ० १७६, भगवान् श्रीरामावतारके रूपमें है। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

भगवान् श्रीबलरामरूपमें-(सादा) पृ० ११२, भगवान् श्रीबलरामजीके रूपमें हल और मूसल लिये विराजमान हैं। पृष्ठ ४६३ देखिये।

नन्दनन्दन-(रङ्गीन) पृ० २००, भगवान् नन्दनन्दन गौके समीप लड़े बंशी बजा रहे हैं। कैसी मनोहर छवि है!

महर्षि वाल्मीकि-(सादा) पृ० २०८, महर्षि वाल्मीकिजी बनमें मृगछालापर बैठे व्यान कर रहे हैं, उनके पास बनके हरिण, सिंह, और गौ आदि अपने स्वभावको भूलकर प्रेमर्थक विवर रहे हैं ।

भगवान् बुद्धरूपमें-(रङ्गीन) पृ० २४४, भगवान् श्रीबौद्धवतारके रूपमें हैं । 'दशावतार' शीर्षक लेख पृ० ४३३ देखिये ।

भक्त-रश्मा-(सादा) पृ० २५०, द्वौपश्रीका चीर दुःखासन खींच रहा है, भगवान् अन्तरिक्षसे खीर बढ़ा रहे हैं, प्रसिद्ध कथा है ।

भगवान् कल्परूपमें-(रङ्गीन) पृ० २४८, भगवान् श्रीकल्पि-अवतारके रूपमें हैं । 'दशावतार' शीर्षक लेख पृ० ४३३ देखिये ।

श्रीशङ्कराचार्य-(सादा) पृ० २१४, आचार्यप्रबर्ह श्रीशंख शङ्कराचार्य महाराज अपनी शिष्य-मण्डलीको दपदेश दे रहे हैं ।

श्रीविष्णु भगवान्-(रङ्गीन) पृ० २०३, भगवान् विष्णुरूपमें शङ्क, चक्र, गदा, पद्म धारण किये कमलासन-पर स्थित हैं ।

आदर्श हिन्दू-नारी-(सादा) पृ० २८८, सांसारिक भोग-विलासमें मन न लगानेवाली गृह-कार्यमें दक्ष हिन्दू-रमणी आर्यमन्त्र प्रेमर्थक भगवानकी पूजा कर रही है । ऐसी देवियोंसे ही हिन्दू-गृहकी शोभा बढ़ती है । धन्य है वह परिवार, जहाँ हसप्रकारकी भगवत्त्रिपरायणा सुचाला नारी जिवास करती है ।

श्रीनामदेवजी-(सादा) पृ० २८८, महाराष्ट्रके परम भक्त श्रीनामदेवजीने रोटियाँ बनाकर इस्ती थीं, आप लघुसंकाको गये थे कि हत्तेमें कुत्ता रोटी लेकर भाग चला । श्रीनामदेवजी, जो सर्वमें भगवान् देखते थे, उसके पीछे यह कहने हुए दौड़ रहे हैं कि 'भगवान् रोटियाँ रुखी हैं, मुझे थीं लगाने दीजिये तब भीग लगाएँ ।' भगवान्ने कुत्ते का रूप व्यापकर शङ्क-चक्र-गदा-पद्म धारण किये हुए अपने चतुर्मुखरूपसे उन्हें दर्शन दिया ।

श्रीभगवान् शंकर-(रङ्गीन) पृ० २१६, भगवान् शंकररूपमें मृगछालापर व्यानस्थ बैठे हैं ।

श्रीरामानुजाचार्य-(सादा) पृ० ३०४, वेदान्त-विशिष्टाद्वैत-मतके संस्थापक, गीता, वशोपनिषद् और ब्रह्मसूत्रके प्रमुख भाष्यकार श्रीस्वामी रामानुजाचार्य बैठे भगवान्की पूजा कर रहे हैं ।

श्रीबलभाचार्य-(सादा) पृ० ३०४, वेदान्तके सुदाहृत-मतके संस्थापक, श्रीस्वामी बलभाचार्यजी बैठे हुए हैं ।

श्रीमध्बाचार्य-(सादा) पृ० ३०४, वेदान्तके द्वैत-मतके संस्थापक, स्वामी श्रीमध्बाचार्यजी शास्त्र-मनन कर रहे हैं ।

श्रीनिवार्काचार्य-(सादा) पृ० ३०४, वेदान्तके द्वैताद्वैत-मतके संस्थापक स्वामी श्रीनिवार्काचार्य ।

भगवान् शक्तिरूपमें-(रङ्गीन) पृ० ३१०, भगवान् दशमुजाधारिणी शक्तिके रूपमें महिषासुरका नामा कर रहे हैं ।

श्रीचैतन्य महाप्रभु-(सादा) पृ० ३३१, श्रीनौराज्ञ महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य हरि-नाम-कीर्तनमें तन्मय हो रहे हैं । श्रीचैतन्यदेवकी विमृत जीवनी गीताप्रेससे निकल रही है । चैतन्य-चरितावलीके नामसे पहला भाग निकल चुका है ।

स्वामी नित्यानन्द-(सादा) पृ० ३३६, महाप्रभु चैतन्यदेवके साथी परम भक्त श्रीनियानन्दजी सदकपर हरि-नाम-कीर्तन करते हुए चले जा रहे हैं ।

अद्वैताचार्यजी-(सादा) पृ० ३३७, श्रीचैतन्य महाप्रभुके साथी अद्वैताचार्यजी हरि-नाम-कीर्तनमें मत हो रहे हैं ।

भक्त हरिदासजी-(सादा) पृ० ३३७, श्रीभगवत्त्रिपरायणपतिरूपमें-(रङ्गीन) पृ० ३४४, भगवान् श्रीगणेशजीके रूपमें आसीन हैं ।

स्वामी श्रीरामानन्दजी-(सादा) पृ० ३३०, उत्तर-भारतमें भगवद्गीतके प्रचार करनेवालोंमें अग्रगण्य स्वामी श्रीरामानन्दजी विराजमान है ।

श्रीकबीरसाहब-(सादा) पृ० ३३०, हिन्दू और मुसल्मानोंमें समानरूपसे लालिक भगवत्त्रिपत्रिका प्रचार करनेवाले श्रीकबीरसाहब गर्भपर आसीन हैं ।

गोस्वामी तुलसीदासजी-(सादा) पृ० ३३०, भक्तगणण्य, कविकूल-चूडामणि श्रीरामचरित-भालस-जैसे अमृत प्रथके उच्चिता महारामा गोस्वामी श्रीतुलसीदास-जी हाम-नाम-परायण हो शास्त्रावलोकय कर रहे हैं ।

श्रीएवहारीजी और पृथ्वीराज—(सादा)
पृष्ठ ११०।

श्रीज्ञानेश्वर—(सादा) पृष्ठ १६१, महाराष्ट्रके सन्तों-में अग्रगण्य गीताकी ज्ञानेश्वरी ईकाके रचयिता भगवान् श्रीज्ञानेश्वर महाराज आसनपर विराजमान हैं ।

श्रीएकनाथ—(सादा) पृष्ठ ३६१, महाराष्ट्रके परम वैद्यात, कवि सन्त श्रीएकनाथजी सुगच्छमपर बैठे ज्ञान-मग्न हैं । सर्वे ऊपर चढ़ रहा है । एकनाथजीका जीवन-चरित्र अभी गीताप्रेससे निकला है ।

श्रीतुकाराम—(सादा) पृष्ठ १६१, महाराष्ट्रके परम भक्त श्रीतुकारामजी महाराज बैठे हस्तिण्यानमें रत हो रहे हैं ।

सर्वम् श्रीरामदास—(सादा) पृष्ठ १६१, महाराष्ट्रमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके साथ देशमिकिका प्रबल प्रचार करनेवाले और छत्रपति महाराज शिवाजीके गुरु समर्थ श्रीरामदास हाथमें माला लिये भगवान्माका जप करते जा रहे हैं ।

भगवान् सूर्यरूपमें—(रंगीन) पृष्ठ १६८, भगवान् श्रीसूर्यनारायणके रूपमें रथपर बैठे हैं । रथमें सात घोड़े जुते हुए हैं । सारथि अहम घं. दोंको हाँक रहे हैं ।

भगवान् ब्रह्मारूपमें—(रंगीन) पृष्ठ १६२, भगवान् बहुतानन श्रीब्रह्माजीके रूपमें कमलासनपर बैठे हैं ।

गुरु नानकजी—(सादा) पृष्ठ ४००, पञ्चाबमें भक्ति-का प्रचार करनेवाले हिन्दू और सुसलमानोंको समानस्थित्यसे भगवान् के भजनकी शिक्षा देनेवाले सिक्खोंके आदिगुरु नानकजी गहीपर बैठे भगवान्का स्वरण कर रहे हैं ।

श्रीश्रीचन्द्रजी—(सादा) पृष्ठ ४००, गुरु नानकजीके पुत्र तथा उदासीन-सम्प्रदायके संस्थापक श्रीश्रीचन्द्रजी आसनपर बैठे हुए हरिनाम-जप कर रहे हैं ।

श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी—(सादा) पृष्ठ ४००, हिन्दू-जाति के रहक तथा सिक्ख-सम्प्रदायके संस्थापक गुरु गोविन्दसिंहजी गहीपर बैठे हैं ।

श्रीघनकण्डीजी—(नेपालवाले)(सादा) पृष्ठ ४००।

स्वामी श्रीरामतीर्थजी—(सादा) पृष्ठ ४०१, कर्नाटकमें व्यावहारिक वेदान्तकी शिक्षा देनेवाले प्रसिद्ध ब्रह्मनिह स्वामी रामतीर्थजी आसनासीन हैं ।

स्वामी सहजानन्दजी (स्वामिनारायण)—(सादा) पृष्ठ ४०१, स्वामिनारायण-सम्प्रदायके संस्थापक।

स्वामी मङ्गलनाथजी—(सादा) पृष्ठ ४०१, झज्जि केशके मङ्गलकीन महारमा ।

स्वामी सियारामजी—(सादा) पृष्ठ ४०१, हिमाळय-प्रदेशके ब्रह्मालीन महारमा ।

भगवान् अग्निरूपमें—(रंगीन) पृष्ठ ४१५, भगवान् श्रीअग्निरूपके रूपमें बकरके पीठपर आसीन हैं ।

श्रीरामकृष्ण परमहंस—(सादा) पृष्ठ ४३२, परम-भागवत ब्रह्मनिह स्वामी श्रीरामकृष्ण परमहंसको कौन नहीं जानता । बंगालमें भक्तिभावपूर्ण बेदान्त-धर्मके आप सुप्रसिद्ध उपदेश हो गये हैं ।

श्रीग्रन्थ जगद्गुरु—(सादा) पृष्ठ ४३२, बंगालके एक महापुरुष ।

श्रीस्थामी विवेकानन्द—(सादा) पृष्ठ ४३२, परमहंस रामकृष्णके दिव्योंमें स्वामी विवेकानन्द सर्वश्रेष्ठ हैं, हिन्दू-ने बेदान्त-धर्मकी कीर्ति-पताका संसारमें, विशेषकर अमेरिका-में फहराकर हिन्दू-शास्त्रोंके प्रति लोगोंमें अद्वाका प्रसार किया है ।

प्रभुपाद श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी—(सादा) पृष्ठ ४१९, बंगालके प्रसिद्ध महारमा जटिया बाबा ।

स्वामी विशुद्धानन्द—(सादा) पृष्ठ ४३३, काशीके एक प्रसिद्ध विद्वान् महारमा हो गये हैं ।

स्वामी भास्करानन्द—(सादा) पृष्ठ ४३३, काशीके एक परम विद्वान् संम्यासी हो गये हैं ।

तैलङ्ग स्वामी—(सादा) पृष्ठ ४३३, काशीके एक सुप्रसिद्ध महारमा हो गये हैं, आपने २५० वर्षसे अधिक उद्धतक जीवित रहकर इस संसारका स्थाग किया ।

सिद्धारूढ़ स्वामी—(सादा) पृष्ठ ४३३, महाराष्ट्र-देशके प्रसिद्ध महारमा ।

भगवान् दत्तात्रेयरूपमें—(रंगीन) पृष्ठ ४४४, भगवान् श्रीदत्तात्रेय दत्तात्रेयके रूपमें विराज रहे हैं ।

याक्षबल्क्य-मैत्रीयी—(सादा) पृष्ठ ४५६, याक्षबल्क्य-जी संन्यास लेकर धरसे जाने की तद उन्होंने अपनी दोनों पत्नी काल्पयनी और मैत्रीयोंको धरका सामान आधा-आधा बॉट दिया, काल्पयनी तो कुछ नहीं बोली, परन्तु मैत्रीयोंने कहा कि 'भगवन् ! क्या हूस धनसे सुमे शान्ति मिल जायगी ।' यदि नहीं तो मुझे वह धन दीजिये, जिससे शान्ति मिले ।' वृद्धतरयक दपनिषदमें यह कथा बड़ी ही उपदेशप्रद है ।

धेयार्थी नविकेता और यमराज—(सादा) पृष्ठ



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi
Creator of
hinduism
server

४५६, कठोपनिषद्की कथा है। यमराजने आष्ट्रण-बालक नचिकेताको बहुत-मे भोग-पदार्थ देने चाहे, परन्तु उसने आधम-तत्त्व जाननेके सिवा और कुछ भी केना न चाहा, अन्तमें यमराजने उसे ज्ञानोपदेश किया।

गायत्री दर्शी-(रंगीन) पृष्ठ ४६४, प्रसिद्ध हैं।

ईश्वरनन्द विद्यासार-(सादा) पृष्ठ ४८८, बंगालके एठ महापुरुष।

द्वैतेन्द्रनाथ टाटुर-(सादा) पृष्ठ ४८८, आष्ट्रसमाज-के संस्थापकोंमें आप बंगालके महवि देवेन्द्रनाथ ठाकुर-नामसे प्रसिद्ध हैं।

स्त्रामी दयानन्द-(सादा) पृष्ठ ४८८, प्रसिद्ध आर्य-समाजके संस्थापक।

केशवनन्द नेन-(सादा) पृष्ठ ४८८, नवीन आष्ट्र-समाजके संस्थापक।

ऋषि-आश्रम-(रंगीन) पृष्ठ ४९६, वनमें सरिताके तटपर ऋषियोंका आश्रम सुशोभित हो रहा है। ऋषिष्वन्द अपनी-अपनी कुटियोंके सामने बढ़े ध्यान कर रहे हैं। एक ऋषि पुष्पपात्र हाथमें लिये पुष्प-च्यवन कर रहे हैं। आश्रममें एक सिंह अपनी हिंसक वृत्ति छोड़कर बैठा हुआ है, एक ऋषि-बालक उसके पास बैठा हुआ खेल रहा है। एक दूसरा बालक प्रेमर्वक हिंरण्यको पकड़े हुए है। दो और बालक हवनकुरुक्षेके समीप कुदू दीपर जैरे बंद पद रहे हैं। पुष्पोंमें आश्रमकी छटा अपूर्व ही गयी है। आश्रमकी दूसरों प्रोर नदीकी उज्ज्वल धारा अपनी निराली छटामें बह रही है। प्राचीनकालके आश्रमोंका केमा सुन्दर और मनोहर जीवन होता था, उसका कुदू आभास इस विश्रये मिलता है।

महात्मा ईसा-(सादा) पृष्ठ ४०४, ईसाई-वर्मके संस्थापक और पाश्चाय्य देशोंमें भक्तिधा प्रचार करनेवाले।

महात्मा उर्गथोश्च (सादा) पृष्ठ ५०४, महात्मा गृथोश्च पारसी-धर्मके संस्थापक।

सुरहात-(सादा) पृष्ठ ४०५, यूनान-देशके प्रमिद्ध सख्वेता।

एमर्सन-(सादा) पृष्ठ ५०५, अमेरिकाके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता एमर्सन।

टॉल्स्टॉय-(सादा) पृष्ठ ५०५, रूस-देशके प्रसिद्ध

सख्वेता।

जेस्प एलन-(सादा) पृष्ठ ५०५, आधुनिक युगमें इकलौदमें जेस्प एलन एक प्रसिद्ध व्यावहारिक तत्त्वज्ञानी हो गये हैं।

मीरा-(रंगीन) पृष्ठ ५२१, भगवान्की भक्तिमें हन-मन-प्राण व्योद्धावर करनेवाली जगत्की प्रातःस्मरणीया नारियोंमें अग्रगण्य मीराको कान नहीं जानता। यह उसी भक्तिमती मीराका चित्र है। मीरा दीणा हाथमें छिये हरि-गुण-गान कर रही है।

भक्तवत्सलता-(सादा) पृष्ठ ५३०, महाभारत-युद्ध समाप्त होनेपर शिविर-द्वारपर भगवानने अजुनको पहले रथमें उत्तरनेको कहा, रथमें उत्तरत ही घोर्समेत रथ जल गया, हनुमानजी आकाशमें उड़ गये। भगवानने कहा, रथ तो द्रोण-भीष्मादिके बाणोंमें पहले ही जल गया था, हूने तो भीते भगव द्वारे बचा रखा था। महाभारतमें कथा है।

विश्वामी भक्त भ्रव-(रंगीन) पृष्ठ २४६, बाढ़क भ्रव वनमें वृग्न-चर्मपर बंद तप कर रहे हैं।

जगत्-चतुष्प्रय-(रंगीन) पृष्ठ २५६, वर्णन श्री-जयनित्रीके लेस पृष्ठ २२६ में देखिये।

सेंट फ्रान्सिस-(सादा) पृष्ठ २७८, ईसाई महात्मा। भक्तोंकमें जीवनी द्य चुकी है।

सेंट लॉर्ड-(सादा) पृष्ठ २७८, ईसाई महात्मा।

सेंट कैथरिन-(सादा) पृष्ठ २७८, ईसाई भक्त चां, भक्तोंमें जीवनी द्य चुकी है।

सेंट प्लिजावेथ-(सादा) पृष्ठ ५७६, ईसाई भक्त चौ, करुणामें जीवनी निकल चुकी है।

सेंट रोयों-(सादा) पृष्ठ २७६, ईसाई-भक्त-महिला।

सेंट टोरेसा-(सादा) पृष्ठ २७६, ईसाई-भक्त-महिला।

प्रेमी भक्त मूरदाम-(रंगीन) पृष्ठ ५१४, भगवद्गक महात्मा मूरदामजी नमूरा और तबला बजाते हुए हरि-गुण-गानमें मत्त हो रहे हैं।

गजराज-उद्धार-(सादा) पृष्ठ ६१०, गजराजको उद्धारनेके लिये भगवान् गत्व छोड़कर आये हैं और ग्राहको बकद्वारा मारकर उसका भी उद्धार कर रहे हैं।